पं० रतनचन्द जैन मुख्तार !

मान्यवर माननीय विद्वद्वर धर्मप्रेमी, न्याय नीतिवान आप गुण के अगार हैं,
धर्मरत्न कर्मठ कृपालु धीरवीर हैं, विचार के विशुद्ध दुनिया के आर-पार हैं।
तत्त्वमर्मज्ञ हैं, शिरोमणि सिद्धान्त के हैं, मोह को निवार ज्ञान-गज पे सवार हैं,
सहारनपुर के 'रतन' को सराहैं कैसे, हम पर आपके अपार उपकार हैं ।।

—दामोदरचन्द आयुर्वेद शास्त्री, १-७-७७

'शंका-समाधान' की शैली, पर तुमने अधिकार किया,
नय-निक्षेप-प्रमाण आदि से, प्रतिभा का शृंगार किया।
आग्रहयुक्त वचन कहीं भी, कभी न कहते सुने गये,
समाधान सब शंकाओं के, मिलते रहते नये-नये ।।

—मूलचन्द शास्त्री, श्री महावीरजी

* श्रीवीतरागाय नमः *

पं. रतनचन्द जैन मुख्तार व्यक्तित्व और कृतित्व

१

सम्पादक :

पं० जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्रकाशक :

ब्र० लाड़मल जैन

आचार्यश्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

□ पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ आशीर्वचन :

- (स्व.) आचार्यकल्पश्री श्रुतसागरजी महाराज
- मुनिश्री वर्धमानसागरजी महाराज
- आर्यिकाश्री विशुद्धमती माताजी

□ सम्पादक :

- पं० जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर
- डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

□ प्रकाशक :

- ब्र. लाड़मल जैन
  आचार्यश्री शिवसागर दि. जैन ग्रंथमाला
  शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राज०) 32222(

□ प्राप्तिस्थान :

- १. प्रकाशक (उपर्युक्त)
- २. पं० जवाहरलाल जैन
  साटड़िया बाजार, गिरिवर पोल
  भीण्डर (राज०) 313603

□ संस्करण :

प्रथम : १००० प्रतियाँ

□ प्रकाशन वर्ष : १९८९

□ मूल्य : एक सौ पचास रुपये; १५०)
(दो जिल्दों का एक सैट)

□ मुद्रक : कमल प्रिंटर्स
मदनगंज–किशनगढ़ (राजस्थान)

परम पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज

जन्म	मुनिदीक्षा	समाधि
फाल्गुन वदी अमावस्या	भाद्रपद शुक्ला ३	ज्येष्ठ कृष्णा ५
वि.सं. १९५२, बीकानेर	वि.सं. २०१४, खानिया (जयपुर)	वि.सं. २०४५, लाडनूं (नागौर)

*** प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए आशीर्वचन ***

"हमारा आशीर्वाद है, तुम लोगों ने जो काम उठाया है, उसमें तुम्हें पूरी सफलता प्राप्त हो।"*

---

* आचार्यकल्पश्री की सल्लेखना के सातवें दिन दिनांक ४ मई १९८८ को मेरे नमोस्तु निवेदन के बाद वे अत्यन्त क्षीण ध्वनि में उपर्युक्त शब्द बोले थे। —चे० प्र० पाटनी

- पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व

- आशीर्वचन :

  - (स्व.) आचार्यकल्पश्री श्रुतसागरजी महाराज
  - मुनिश्री वर्धमानसागरजी महाराज
  - आर्यिकाश्री विशुद्धमती माताजी

- सम्पादक :

  - पं० जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर
  - डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

- प्रकाशक :

  - ब्र. लाड़मल जैन
आचार्यश्री शिवसागर दि. जैन ग्रंथमाला
शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राज०) 322220

- प्राप्तिस्थान :

  - १. प्रकाशक (उपर्युक्त)
  - २. पं० जवाहरलाल जैन
साटड़िया बाजार, गिरिवर पोल
भीण्डर (राज०) 313603

- संस्करण :

  प्रथम : १००० प्रतियाँ

- प्रकाशन वर्ष : १९८९

- मूल्य : एक सौ पचास रुपये; १५०)
(दो जिल्दों का एक सैट)

- मुद्रक : कमल प्रिंटर्स
मदनगंज–किशनगढ़ (राजस्थान)

परम पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज
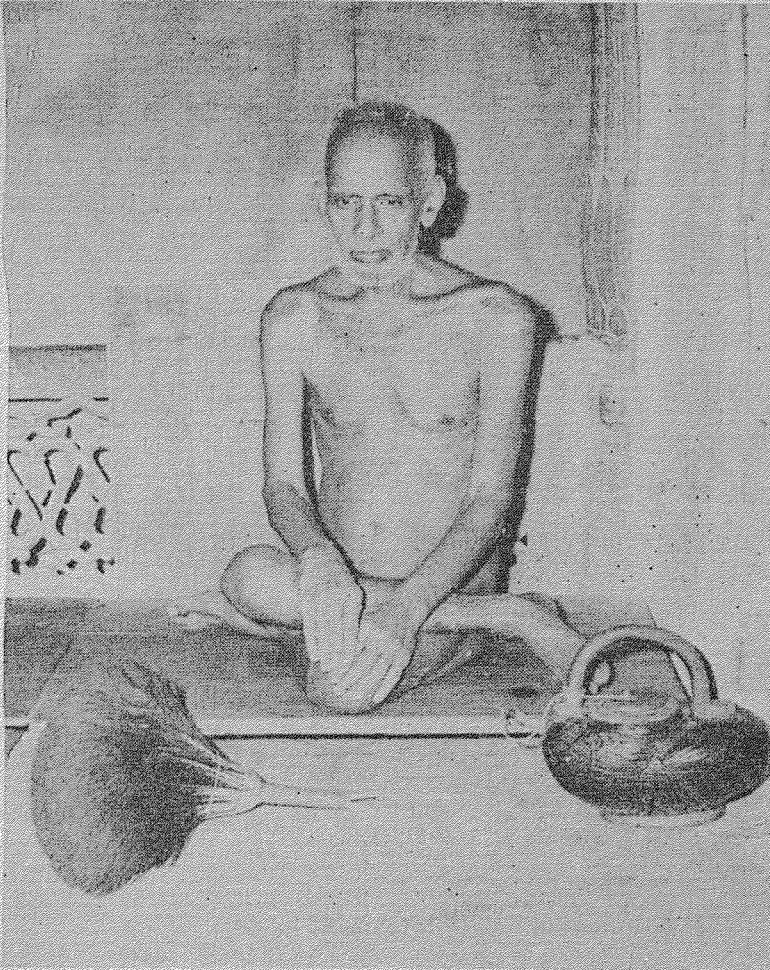
जन्म	मुनिदीक्षा	समाधि
फाल्गुन वदी अमावस्या	भाद्रपद शुक्ला ३	ज्येष्ठ कृष्णा ५
वि.सं. १९६२, बीकानेर	वि.सं. २०१४, खानियां (जयपुर)	वि.सं.२०४५, लूणवां (नागौर)

*** प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए आशीर्वचन ***

"हमारा आशीर्वाद है, तुम लोगों ने जो काम उठाया है, उसमें तुम्हें पूरी सफलता प्राप्त हो।"*

---

* आचार्यकल्पश्री की सल्लेखना के सातवें दिन दिनांक ४ मई १९८८ को मेरे नमोस्तु निवेदन के बाद वे अत्यन्त क्षीण ध्वनि में उपर्युक्त शब्द बोले थे। —चे० प्र० पाटनी
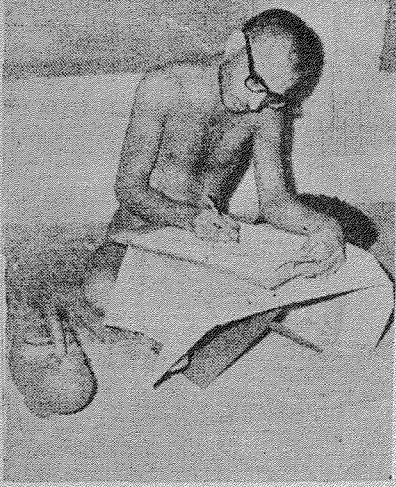
आशीर्वचन

सन् १९८० में परम पूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्यकल्प श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज के मंगलमय चरण-सान्निध्य में श्री जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर अपने मन में वर्षों की एक साध लेकर आये और उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति की। उसी भावाभिव्यक्ति पर समीचीन मार्गदर्शन प्राप्त हुआ परम पूज्य आचार्यकल्पश्री का तथा इस महदनुष्ठान में सहयोगी बने सम्पादन-कलादक्ष डॉ० चेतनप्रकाशजी पाटनी, जोधपुर।

आचार्यकल्पश्री के सम्यक् मार्गनिर्देशन और सम्पादकद्वय की अहर्निश निष्ठापूर्ण लगन से ही (सन् १९५६ से १९७८ तक के) जैन अखबारों में शंका-समाधान के रूप में मुख्तार सा. का जो विशाल कृतित्व था, उसका संकलन, अनुयोगक्रम से विभाजन और कुशल सम्पादन होकर दुरूहतम कार्य सम्पन्न हो सका।

विशालकाय ग्रन्थ को देखकर ही सम्पादन-कार्य के कठोर परिश्रम को समझा जा सकता है। इतने लम्बे समय तक सम्पादकों के धैर्यपूर्वक अनथक परिश्रम के प्रतिफलरूप में यह अनूठी कृति तत्त्वजिज्ञासु एवं विद्वद्जगत् के सम्मुख उपलब्ध हो सकी है। यह ग्रन्थ मुख्तार सा. के व्यक्तित्व की झलक के साथ-साथ उनके कृतित्व को उजागर करने में पूर्णता को भले ही प्राप्त न हो, किन्तु अक्षम तो कदापि नहीं है।

जैन जगत् को अनुपम कृति के रूप में 'पं. रतनचंद जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' ग्रंथ प्रदान करने के लिये स्व. आ. क. श्री के सम्यक् मार्गनिर्देशन के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ एवं सम्पादक-द्वय के प्रति मंगलकामना करता हूँ कि वे इसी प्रकार अनुपम कार्य करते रहें तथा सरस्वती पुत्र सदृश श्रुतपारगामी बनकर शीघ्र ही केवल-ज्ञान लक्ष्मी के भाजन बनें।

तत्त्वजिज्ञासु जन इस अनुपम सन्दर्भ ग्रन्थ से चतुरनुयोग सम्बन्धी अपनी जिज्ञासाओं एवं शंकाओं को शान्त कर अनेकान्तमय जिनागम के प्रति समीचीन श्रद्धा प्राप्त करें, यही भावना है।

—मुनि वर्धमानसागर

आशीर्वचन

आत्महित के साधनों में शाश्वत साधन श्रुतज्ञान है, जो किसी पात्र विशेष की अपेक्षा रखता है। २०वीं शताब्दी में धारणामतिज्ञान के और आगमानुकूल भावात्मक श्रुतज्ञान के क्षयोपशम की विशिष्ट उपलब्धि सरस्वतीपुत्र स्व. पं. रतनचन्दजी मुख्तार को थी। इस ज्ञानोपयोग की उपलब्धि का सदुपयोग कर उन्होंने प्रायः करणानुयोग के शुद्ध प्रकाशन में सहयोग देकर तथा शंकाओं के सप्रमाण समाधान लिखकर जो अद्वितीय योगदान जैन समाज को दिया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा।

पूर्व भवों में विनयपूर्वक पढ़े हुए श्रुतज्ञान के संस्कारों के फलस्वरूप अल्पवय में ही करणानुयोग (धवल, जयधवलादि) को हृदयङ्गत करने वाले तथा गुरुभक्ति में एकलव्य की समानता रखने वाले पं० जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर ने शंकाओं का समाधान पाने हेतु श्री रतनचन्दजी से पत्र व्यवहार किया। उनसे प्राप्त समाधानों से आप बहुत ही सन्तुष्ट एवं प्रभावित हुए और परोक्ष में ही सदा-सदा के लिए शिष्यत्व भाव से उनके प्रति समर्पित हो गये।

शिक्षागुरु प. पू. आ. कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज और विद्यागुरु प. पू. (आचार्य) १०८ श्री अजितसागरजी महाराज का ससंघ वर्षायोग सन् १९७९ में निवाई (राजस्थान) में था। पं० रतनचन्दजी मु० भी आये हुए थे। अचानक श्री जवाहरलालजी भीण्डर से वहाँ पहुँचे। पं० रतनचन्दजी सामने ही बैठे थे, किन्तु प्रत्यक्ष परिचय न होने के कारण श्री जवाहरलालजी पूछ रहे थे कि गुरुजी कहाँ हैं? गुरु-शिष्य के प्रत्यक्षीकरण की उस वेला में भक्ति रस का जो प्रवाह बहते हुए देखा उससे मेरा हृदय गद्गद हो गया और मन ने कहा कि गुरु के प्रति इस प्रकार की निश्छल भक्ति ही श्रुतज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम में कारण बनती है।

सम्भवतः सन् ८०-८१ में भक्तिरस से सराबोर 'रतनचन्द मु. अभिनन्दन ग्रन्थ' की पाण्डुलिपि मेरे पास आई। उसे देखकर मुझे लगा कि श्री जवाहरलालजी की श्रद्धा एवं भक्ति की अपेक्षा तो यह संकलन अति सुन्दर है किन्तु करणानुयोग के मर्मज्ञ विद्वान् के अनुरूप नहीं है।

श्री जवाहरलालजी का सत्प्रयत्न सराहनीय तो है, किन्तु अभी इसे करणानुयोगरूपी कुन्दन बनाने के लिए अनेक ताव देने की आवश्यकता है और वे ताव शास्त्रों की संयोजना के कुशल शिल्पी श्री चेतनप्रकाशजी पाटनी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं दे सकता। मैंने यह सुझाव श्री जवाहरलालजी को दिया, तत्काल पाण्डुलिपि जोधपुर भेज दी गई। मेरी भावना के अनुरूप पूरे तावों के माध्यम से संस्कारित होकर यह जैनागम की अपूर्व कुञ्जी प्राप्त हुई है।

पं० जवाहरलालजी शास्त्री के अवाय एवं धारणा मतिज्ञान के क्षयोपशम की प्रकृष्टता प्रायः अपने गुरु (श्री रतनचन्दजी मु०) के सदृश ही है, किन्तु शरीर अत्यन्त कमजोर है, फिर भी आगमनिष्ठा और गुरुभक्ति की शक्ति से जो अथक परिश्रम उन्होंने किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है।

डॉ० चेतनप्रकाशजी पाटनी के विषय में मैं क्या लिखूँ ? संशोधन की सूक्ष्मदृष्टि, विषयों की यथायोग्य संयोजना एवं ग्रन्थ के हार्द को (अर्थ से भरे हुए) अल्पाक्षरों में गूँथ देने की क्षमता, ग्रन्थ-सम्पादन की ऐसी और भी अनेक विशेषताएँ उनकी उन्हीं में हैं। उनके अध्ययन कक्ष पर कार्यदक्षता का ऐसा कड़ा पहरा रहता है कि आलस्य, प्रमाद आदि वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाते। शारीरिक और मानसिक परिश्रम के लिये वे अनुकरणीय हैं। यही कारण है कि उनके सम्पादकत्व में निकलने वाला प्रत्येक ग्रन्थ अपने आपमें अनूठा ही होता है।

सम्पादकद्वय के अथक परिश्रम की सराहना करती हूँ और ये सरस्वतीपुत्र शीघ्र ही अक्षयज्ञान प्राप्त करें ऐसी मंगलकामना करती हूँ।

इस अनुपम ग्रंथ के माध्यम से अनेक भव्य जीवों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

भद्रं भूयात्।

—आ० विशुद्धमती

दि० ९-२-१९८६

समर्पण

सिद्धान्तमर्मज्ञ, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी,

स्याद्वादशासन के समर्थ प्रहरी, निर्लिप्त आत्मार्थी

मूक विद्याव्यासंगी, श्रुतानुरागी

सरलपरिणामी, विनम्रता की सजीव मूर्ति,

स्थितिकरणसाधक

साधुसेवापरायण, विद्वद्रत्न

मोक्षमार्ग के पथिक

(स्व०) ब्र० पं० रतनचन्दजी मुख्तार को

उनका यह कृतित्व

सविनय

सादर

समर्पित

—जवाहरलाल जैन
—चेतनप्रकाश पाटनी

'पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व'
के सम्बन्ध में प्राप्त
अभिमत

(१)

ब्र० पं० रतनचन्दजी मुख्तार से मेरा पहला परिचय उनके लेखन के माध्यम से ही हुआ। फिर पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी के सान्निध्य में कई बार उनसे मिलना होता रहा। पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के चरणों में भी उनसे कई जगह—श्री महावीरजी, निवाई, प्रतापगढ़—कई बार चर्चा करने का अवसर मिला। वे सही अर्थों में मननशील विद्वान् थे। उनके द्वारा लिखे गये शंका-समाधान पढ़ने की हमेशा उत्सुकता रहती थी। उन्होंने स्वयं की प्रज्ञा के आधार पर स्वाध्याय द्वारा अपना सैद्धान्तिक ज्ञान बढ़ाया। कोई व्यक्ति निरन्तर पुरुषार्थ कर किसी दुर्गम क्षेत्र में भी कितनी गहरी पैठ बना सकता है, वे इसके अप्रतिम उदाहरण थे। मुख्तार सा. ने ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर उस पर कलशारोहण किया, साहित्य-रचना में इनकी देन अनूठी है। इस युग में आप श्रेष्ठ विद्वान् तथा धर्म-समाज सेवी व्यक्ति हो गये है।

उनके स्मृति ग्रन्थ के बहाने जिसप्रकार उनके विस्तृत कृतित्व का यह प्रसाद पुञ्ज पं. जवाहरलालजी तथा डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी ने जिज्ञासुओं में वितरित करने के लिये तैयार किया है, यह सचमुच बहुत उपयोगी बन गया है। भगवान महावीर के उपरान्त ज्ञान की ज्योति आचार्य-परम्परा से इसी प्रकार एक से दूसरे के पास पहुँचती रही है। ज्ञान को स्वयं प्राप्त करना जितना आवश्यक है, इस कलिकाल में उसे दूसरों को उपलब्ध कराना भी उतना ही उपयोगी और आवश्यक है।

श्री जवाहरलालजी आगम के प्रति श्रद्धा और समर्पण भाव से युक्त एक संकल्पशील जिज्ञासु हैं। मुख्तार सा. के प्रति उनके मन में एक समर्पित शिष्य की श्रद्धा रही है। उसी श्रद्धा से अभिभूत होकर उन्होंने सम्भवतः अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करके प्रस्तुत ग्रन्थ को यह रूप दिया है। इसके लिये वे बधाई के पात्र हैं।

मैं समझता हूँ कि किसी अध्येता विद्वान् को आदरपूर्वक स्मरण करने का इससे अच्छा कोई और माध्यम नहीं हो सकता है।

मैं सम्पादक-द्वय के पुरुषार्थ की सराहना करता हूँ। इन्होंने मुख्तार सा. को इतिहास में अमर कर दिया है।

दिनांक ९-९-८८ —ब्र० पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी (म.प्र.)

(२)

दिवंगत पं० रतनचन्दजी सा. मुख्तार का यद्यपि दूरवर्तिता के कारण साक्षात् दर्शन मुझे नहीं हुआ तो भी उनकी लेखनी के द्वारा मुझे उनका परिचय प्राप्त हुआ है। उनकी लेखनी से उनके व्यक्तित्व का अद्वितीयत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उससे उनकी विशिष्ट प्रतिभा का, स्मरणशक्ति का, आगमाभ्यास के सातत्य का, तर्कणा शक्ति का, जिनागम की श्रद्धा का, परिणामों की शुभता का और उनकी लेखन-शैली का पता चलता है। वे एक संयमी विद्वान् थे, देवशास्त्र गुरु के परम भक्त थे। परिणामों की सरलता उनका स्थायी भाव था। मैं उन्हें आसन्न भव्य मानता हूँ। आज ऐसे नररत्नों की समाज के लिए आवश्यकता है। उनके कृतित्व का यह ग्रन्थ सर्वजनोपयोगी है। इसके लिये सम्पादक युगल बधाई का पात्र है।

दिनांक २१–९–८९ —पं० मोतीलाल कोठारी, फलटण

(३)

'पं० रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' ग्रंथ के छपे फर्मे हम लोगों ने देखे एवं पढ़े। ग्रन्थ में संकलित शंका-समाधानों से जहां मुख्तार साहब के आगमिक तलस्पर्शी अध्ययन, अपूर्व स्मृति और असाधारण अवधारणा का परिचय मिलता है, वहीं इनके प्रकाशन से स्वाध्यायी व्यक्ति सिद्धान्त के विषय में बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं। शंका-समाधान में जो आगम-प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, कहीं-कहीं वे स्पष्टीकरण अवश्य चाहते हैं।

विश्वास है, इसमें जो ज्ञानराशि भरी हुई है, विद्वज्जन उसका निश्चय ही समादर करेंगे। युगल सम्पादकों का श्रम गजब का एवं अकल्प्य है। इनकी यह अपूर्व देन विद्वानों और स्वाध्यायी बन्धुओं को अपूर्व लाभ पहुँचावेगी। इसके लिये सम्पादकों को हमारा हार्दिक साधुवाद है।

बीना (म. प्र.) —पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य

दिनांक १९–९–८८ —पं० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

(४)

श्रीमान् पं० रतनचन्दजी मुख्तार, सहारनपुर जैन वाङ्‌मय के अद्वितीय मेधावी विद्वान् थे। मैं इसे पूर्व भव का संस्कार ही मानता हूँ कि उन्होंने किसी विद्यालय में संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी का अध्ययन नहीं किया, फिर भी वे आगम ग्रन्थों के प्रकाशन में रही अशुद्धियों को पकड़ने और उनका मार्जन करने में सक्षम थे। वे शुद्धि पत्रक बनाकर सम्पादकों का ध्यान आकर्षित करते थे। वर्षों तक उन्होंने स्वाध्यायियों की शंकाओं का समाधान किया। उन्हीं शंका-समाधानों का संकलन विद्वज्जनों की अनुशंसा के साथ 'पं० रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' के रूप में प्रकाशित हो रहा है। यह विविध शंकाओं का समाधान करने वाला 'आकर ग्रन्थ' है।

विश्वास है कि यह ग्रन्थ सर्वोपयोगी सिद्ध होगा। मैं सम्पादकों के कठोर श्रम और असीम धैर्य की सराहना करता हूँ।

दिनांक ५–१०–८८ —डॉ. (पं०) पन्नालाल साहित्याचार्य, जबलपुर

(५)

श्री पं० रतनचन्द मुख्तार उन महापुरुषों में थे जिनमें स्वध्याय की अत्यधिक लगन थी। वे अपना अधिकांश समय स्वाध्याय, चिन्तन, मनन तथा नोट्स बनाने में लगाते थे। उनके समय में इतना स्वाध्यायशील कोई साधु, विद्वान् या श्रावक नहीं था। उनमें ज्ञान की जितनी अधिकता थी, विनय भी उतनी ही अधिक थी। उनकी समीक्षा में दूसरे की अवमानना का भाव नहीं था। बिल्कुल वीतरागचर्चा थी और वह भी सिद्धान्त के अनुसार।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन न केवल श्री मुख्तारजी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का साधन है अपितु इसमें चारों अनुयोगों का सार संकलित है। सामान्य श्रावक की बात जाने दें, अनेक ऐसी शंकाओं का समाधान इस ग्रन्थ में है जिन्हें विद्वान् भी नहीं जानते। यह ग्रन्थ एक आचार्यकल्प विद्वान् द्वारा प्रणीत ग्रन्थ की भांति स्वाध्याय योग्य है। मैंने तो निश्चय किया है कि इसमें संकलित सभी शंकाओं के समाधानों की एक-एक पंक्ति पढ़ूंगा। शंकाओं के समाधान से न केवल ज्ञान की वृद्धि होगी बल्कि धर्म के प्रति आस्था भी दृढ़ होगी।

सम्पादकों के अथक श्रम की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

दिनांक १२–१०–८८ —डॉ. कन्छेदीलाल जैन, रायपुर (म.प्र.)

(६)

आदरणीय स्व० ब्र० पं० रतनचन्दजी मुख्तार 'आगमचक्षु·····' पुरुष थे। जीवराज ग्रन्थमाला द्वारा होने वाले 'धवला' ग्रन्थों के पुनर्मुद्रण में आप द्वारा निर्मित शुद्धिपत्रों का सहयोग पण्डित जवाहरलालजी के माध्यम से प्राप्त हुआ, एतदर्थ यह संस्था इन दिवंगत ब्र० पण्डितजी के महान् उपकार का स्मरण करती है। इनके पूरे जीवन चरित्र तथा शंका समाधान रूप विचार-साहित्य-संग्रह का विशाल स्मृति ग्रन्थ रूप से प्रकाशन प्रशंसनीय है।

दिनांक ३–११–८८ —पं० नरेन्द्रकुमार जैन, न्यायतीर्थ, सोलापुर (महाराष्ट्र)

(७)

स्व० पण्डितजी की काया कालकवलित हो चुकी परन्तु उनका पहाड़ सा विशाल, अचल, गगनचुम्बी व्यक्तित्व 'यावत्चन्द्रदिवाकरौ दीपस्तम्भ बन गया। नदी समान उनकी गतिमान धीर, गम्भीर, सुथरी कर्तृत्व-सम्पन्न जीवनी अखण्ड प्रवाहित होकर जन-मन को सुजलां-सुफलां-वरदां बना रही है। इस विशालकाय महाग्रन्थ की संरचना, सम्पादना तथा आयोजना विलक्षण अनूठे ढंग से की गई है। पण्डितजी के उत्तुंग व्यक्तिमत्त्व से बातचीत शुरु होती है। श्री जवाहरलालजी ने स्व. मुख्तार सा. का जीवन चरित्र इतने नपे तुले शब्दों में अंकित किया है जैसे गगनव्यापी सुरभि को शीशी में भर दिया हो। पण्डितजी के दुर्लभ छाया चित्र देखकर वाचक लोह-चुम्बक वत् आकृष्ट होकर पन्ने उलटता-पलटता है। महाग्रन्थ की रचना में जिनवाणी के चारों अनुयोगों के शंका

समाधान का संकलन किया गया है, यह खास विशेषता है। यद्यपि ये शंका-समाधान पूर्व प्रकाशित हैं तथापि इनको अनुयोगों में विभाजित एवं सुसम्पादित करके एक खुशबूदार, शोभादर्शक अनमोल 'गुलदस्ता' बनाया गया है। मुख्तार सा. ने कठिन से कठिन दुर्बोध सिद्धान्तों को 'धुनिया' बन कर धुना तब सिद्धान्तों के ये स्थूल-सूक्ष्म यक्षप्रश्न रुई के समान मुलायम सहज बन गये। पण्डितजी करणानुयोग के 'कम्प्यूटर' थे। उनके अभिनन्दन, स्मरण, कृतज्ञताज्ञापन के निमित्त तैयार किया गया यह ग्रंथ 'शंका-समाधान गणक यंत्र' के रूप में प्रत्येक स्वाध्यायी की चौकी पर 'तत्त्वचर्चा' सुलभ करता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

सोलापुर
दिनांक २–११–८८

—ब्र० प्र० सुमतिबाई शहा
—ब्र० विद्युल्लता हिराचन्द शहा

(८)

इसमें सन्देह नहीं है कि श्री पं० रतनचन्दजी मुख्तार विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। वे आगममर्मज्ञ एवं अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी थे। स्वाध्याय और संयम उनका जीवनव्रत रहा है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि किसी गुरुमुख से कुछ पढ़े बिना तथा संस्कृत और प्राकृत भाषा के अध्ययन के बिना ही उन्होंने केवल स्वाध्याय के बल पर ही जैनागम के चारों अनुयोगों का अगाध ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आप जैन गणित के विशिष्ट ज्ञाता थे। अनेक वर्षों तक 'जैन सन्देश' 'जैन गजट' आदि पत्रों में 'शंका समाधान' के रूप में लेखमाला द्वारा आपने जिज्ञासुओं को ज्ञान-दान कर उनका महान् उपकार किया है।

ऐसे आगममर्मज्ञ महान् विद्वान् की विद्वत्ता का लाभ उनके तिरोधान के बाद भी समाज को मिलता रहे, इस प्रयोजन से मुख्तार सा० के प्रधान शिष्य श्री पं० जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री एवं सहयोगी डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी ने एक बहुत ही अच्छा कार्य किया है। वह कार्य है—'पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' नामक उच्चकोटि के ग्रन्थ का सम्पादन और प्रकाशन। शंका समाधान तथा पत्राचार के रूप में मुख्तार सा. का जो विशिष्ट ज्ञान था, उस ज्ञान को इस बृहदाकार ग्रंथ में भर दिया गया है।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति इस ग्रन्थ का मनोयोगपूर्वक कम से कम तीन बार स्वाध्याय कर ले, वह जैनागम के चारों अनुयोगों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

निःसन्देह, पन्द्रह सौ पृष्ठों के इस ग्रन्थ की विपुल सामग्री के संकलन करने में तथा उसे व्यवस्थित करने मे सम्पादकों को महान् श्रम करना पड़ा होगा। किन्तु मुख्तार सा० की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये उनका यह श्रम बहुत ही सार्थक और सफल सिद्ध होगा। अनेक भव्यों का उपकार तो होगा ही। ऐसे उच्चकोटि के ग्रंथ के सम्पादकों की जितनी भी प्रशंसा की जाये वह अल्प ही रहेगी।

आज इस महान् ग्रंथ को पढ़कर मैं अपने को धन्य समझ रहा हूँ। मेरी इच्छा बार-बार इस कृति को पढ़ने की होती है। अस्तु—

दिनांक १–१–८९

—प्रो० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

(९)

स्व० स्वनामधन्य श्री रतनचन्दजी मुख्तार जिनवाणी माता के यशस्वी सपूत थे। आर्ष परम्परा के शास्त्ररूपी सागर में अवगाहन कर जो रत्नराशि उन्होंने इकट्ठी की, उसे उन्होंने अपने पास ही सीमित नहीं रखा, अपितु खुले हाथ से लुटाया। 'जैन सन्देश' व 'जैन गजट' के माध्यम से जैन तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध विविध गूढ़ प्रश्नों के प्रमाणपुष्ट समाधान उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये। उनके समाधानों की विशेषता यह है कि वे प्रत्येक समाधान को संक्षिप्त व सरल शब्दों में प्रस्तुत करते हुए उसे शास्त्रीय वाक्यों से प्रमाणित भी करते हैं। संक्षेप में, 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नानपेक्षितमुच्यते' की उक्ति उनके समाधानों के लिये चरितार्थ होती है। स्व. श्री मुख्तार सा. के द्वारा प्रस्तुत समाधानों का यह संग्रह वास्तव में एक सन्दर्भग्रन्थ है जिसमें धवला, जयधवला आदि श्रुतसागर को भर दिया गया है। जैनविद्या के अध्येताओं के लिए यह संग्रह पठनीय व मननीय है।

दिनांक २१-१२-८८ —डॉ० दामोदर शास्त्री, सर्वदर्शनाचार्य, दिल्ली

(१०)

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वाध्याय की दिशा में दिगम्बर जैन समाज मे अभूतपूर्व उत्क्रान्ति हुई है। अनेक अप्रचलित और दुरूह ग्रन्थों के वेष्टन सैकड़ों सालों के बाद खोले गये और उनके विषय को समझने की कोशिश की गई है। श्री गणेशप्रसादजी वर्णी से लेकर श्री जिनेन्द्रवर्णी तक होती हुई आगम के स्वाध्याय की यह प्रक्रिया आगे बढ़ी है। इसी शृङ्खला में एक उल्लेखनीय नाम है—स्व. पं० रतनचन्दजी मुख्तार का। मुख्तार सा० ने सम्भवत: स्वप्रेरणा से ही स्वाध्याय के क्रम को अंगीकार किया था, जिसे उन्होंने एकान्तसाधना की तरह सिद्ध किया और जीवन के अन्त समय तक अपने आपको उसमें लगाये रखने का प्रयास किया।

मुख्तार सा० ने स्वाध्याय से अर्जित अपने ज्ञान, चिन्तन और अनुभव को अपने तक ही सीमित नहीं रखा अपितु वे उसे उदारतापूर्वक—चर्चा, तर्कपूर्ण ऊहापोह, शंका समाधान आदि के माध्यम से जिज्ञासुओं को सौंपते रहे। उनका अध्ययन और लेखन इसलिए भी कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण रहा कि वे एक संक्रान्ति काल में उदित हुए। ऐसे काल में जब निश्चय और व्यवहार को लेकर, निमित्त और उपादान को लेकर तथा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग को लेकर संभ्रम का वातावरण बन रहा था। धर्म और पुण्य को एक दूसरे का विरोधी और विघातक बता कर आमने-सामने खड़ा कर दिया गया था। इतिहास इस बात के लिये उनका ऋणी रहेगा कि उन्होंने दृढ़तापूर्वक आगम की कथनी को नाना प्रकार की युक्तियों से प्रकाशित करके संभ्रम के उस कोहरे को बार-बार निरस्त करने का प्रयास किया। उनके द्वारा ज्योतित यह दीपशिखा दीर्घकाल तक मुमुक्षुजनों का पथ प्रदर्शित करती रहेगी।

मुख्तार सा. के सुयोग्य शिष्य और आगम ज्ञान के क्षेत्र में उनके अप्रतिम उत्तराधिकारी श्री जवाहरलाल जी ने जिस निष्ठा और समर्पण भाव से अपने गुरु—स्व. मुख्तार सा.—के प्रति इस स्मृतिग्रन्थ के रूप मे अपनी जो श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत की है वह सचमुच साधुवाद के योग्य है।

यह विशाल ग्रन्थ—'पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' अपनी विस्तृत और प्रामाणिक सामग्री के कारण सहज ही 'आगम ग्रन्थ' की कोटि में रखा जा सकता है। इसे स्व. मुख्तार सा. की स्मृति में

तैयार किया गया है, या कुछ पृष्ठ उनके व्यक्तित्व को रेखांकित करने के लिये अर्पित किये गये हैं, इसलिये भले ही इसे किसी व्यक्ति का स्मृति ग्रन्थ कहा जाए, परन्तु जब हम लगभग पन्द्रह सौ पृष्ठों में बिखरी हुई चारों अनुयोगों की इस बहु-आयामी सामग्री को दृष्टि में लाते हैं तब हम इसे आगम-ग्रंथ से कम कुछ कह ही नहीं सकते।

वास्तव में, यह ग्रंथ अभिनन्दन ग्रंथों या स्मृति ग्रंथों की वर्तमान परम्पराबद्ध प्रणाली के बीच एक नई दिशा, एक नई कल्पना हमारे सामने प्रस्तुत करता है। प्रायः स्मृति ग्रंथ किसी महापुरुष को स्मरण करने के लिए निकाले जाते हैं, परन्तु उनकी संयोजना में कुछ नवीनता लाकर उस महापुरुष का समाज के लिये जो अवदान है, उसे पुनर्वितरित भी किया जा सकता है, यह बात इस ग्रंथ के माध्यम से पहली बार सामने आती है।

सम्पादक द्वय—पं० जवाहरलालजी और डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी का यह प्रयास सफल है, सार्थक है और सराहनीय है।

दिनांक ९-९-८८ —नीरज जैन, सतना

(११)

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद् के अध्यक्ष, जैन जगत् के प्रकाण्ड पण्डित, मर्मज्ञ मनीषी, स्पष्ट वक्ता, अध्यात्म तथा आगम के परिनिष्ठित विद्वान् पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार ने असंख्य बाधाओं का सामना करके भी आर्षमार्ग की महती प्रभावना की। किसी ने ठीक ही कहा है—जिस जीवन में आदर्श के प्रति निष्ठा और चरित्र में दृढ़ता नहीं होती, वह जीवन प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ नहीं सकता।

स्व. पण्डितजी द्वारा तत्त्व जिज्ञासुओं की जिन शंकाओं का आगम के परिप्रेक्ष्य में समाधान किया गया था, उन्हीं को प्रस्तुत ग्रंथ में विद्वद्द्वयं डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर तथा सिद्धान्तविद् पं० जवाहरलाल शास्त्री, भीण्डर ने एकादश वर्ष में अथक परिश्रम और विशिष्ट क्षयोपशम के फलस्वरूप सम्पादित किया है।

यह ग्रंथ विद्वानों और स्वाध्यायी मनस्वी महानुभावों के लिये अत्यधिक उपयोगी है। तत्त्वजिज्ञासुओं की जिज्ञासाओं को शान्त करने में यह प्रबल निमित्त बने, यही शुभ कामना है।

दिनांक २५-१-८९ —डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत (मेरठ)

(१२)

स्वयम्भू पण्डित श्रद्धेय मुख्तार सा. का वैदुष्य अगाध था। वे ज्ञानानुकूल आचरण में भी अग्रणी थे। उन्होंने जिस खूबी के साथ स्वाध्यायी-जनों की शंकाओं का सप्रमाण समाधान प्रस्तुत किया है, वह उनके दीर्घ-कालीन चिन्तन-मनन और स्वाध्याय का जीवन्त निदर्शन है।

प्रस्तुत ग्रंथ—पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व जिज्ञासुओं की शंकाओं के समाधान हेतु एक उपयोगी बृहत् कोश बन गया है। यह जैन वाङ्मय से चुने गये पुष्पों का मोहक गुलदस्ता है। यह जिनवाणी माँ के सपूतों को प्रकाशस्तम्भ का कार्य करेगा। सम्पादकों का श्रम स्तुत्य है।

दिनांक १०-१-८९ —डॉ० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी

☼

आद्य वक्तव्य (१)

सन् १९७६ में मेरा यह भाव बना था कि पूज्य व्रती गुरुवर्य **श्री रतनचन्द मुख्तार** को उनके गौरव के अनुरूप **'अभिनन्दन ग्रन्थ'** भेंट कर समाज द्वारा उनका अभिनन्दन किया जाना चाहिए। महामनीषियों श्रुतसाधकों का अभिनन्दन यथार्थ में उनका नहीं अपितु जिनवाणी का अभिनन्दन है।

प्रथम सोपान : अभिनन्दन ग्रंथ

विचार बनते ही मैंने शीर्षस्थ जैन विद्वानों से *'अभिनन्दन ग्रंथ'* हेतु लेखादि प्रेषित करने के लिए पत्राचार किया, फलस्वरूप लेख आने लगे। जब करीब पन्द्रह लेख आ गये तब सन् १९७८ में मैंने जैन पत्रों **(जैन गजट, जैन मित्र, जैन सन्देश आदि)** में भी **'आवश्यक निवेदन'** शीर्षक से यह प्रकाशित करवा दिया कि जिन त्यागी, साधर्मी, विद्वान्, श्रीमान् आदि को सिद्धान्त मर्मज्ञ गुरुवर्य रतनचन्द मुख्तार के सम्बन्ध में संस्मरण, श्रद्धासुमन, लेख आदि भेजने हों वे यथाशीघ्र भेज दें। इसके साथ ही बहुत से साधु-साध्वियों एवं मनीषियों को और भी व्यक्तिगत निवेदन कर दिया। फलतः अभिनन्दन ग्रन्थ हेतु विपुल सामग्री एकत्र हो गई। सम्पूर्ण सामग्री चार महाधिकारों में समाहित की गई—(१) श्रद्धासुमन, संस्मरण अधिकार (२) रत्नत्रयाधिकार (३) शंका-समाधानाधिकार और (४) विविध अधिकार।

इस अभिनन्दन ग्रंथ की योजना को क्रियान्वित करने और समय-समय पर योग्य सुझाव देकर मुझे प्रोत्साहित करने में तीन महानुभावों का प्रमुख योग रहा—**पं० विनोदकुमारजी शास्त्री** एम कॉम., सी. ए. सहारनपुर, **श्रीमान् रतनलालजी जैन,** पंकज टैक्सटाइल्स, मेरठ सिटी और **श्रीमान् सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी** पटना सिटी। इन सबका गुरुवर्य श्री से निकट का सम्बन्ध रहा है। इन्होंने गुरुजी से प्रत्यक्षतः स्वाध्याय द्वारा एवं पत्राचार द्वारा भी ज्ञान-लाभ प्राप्त किया है। सामग्री-फोटो लेख आदि जुटाने में श्री विनोदजी ने मेरी सहायता की तो ग्रंथ के प्रकाशन हेतु अर्थ संकट के निवारण में सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी एवं श्री रतनलालजी ने मुझे सतत सान्त्वना एवं अन्य सक्रिय सहयोग दिया, अन्यथा मैं अब तक किया गया कार्य कदापि सम्पन्न नहीं कर पाता। अन्य सहयोगी बने **श्रीमान् पं० मिश्रीलालजी शाह** *(हाल मुकाम लाडनूं)* तथा सहारनपुर निवासी **श्री अनिल-कुमारजी गुप्ता** एम. एस सी. **व श्री सुभाषचन्द्रजी जैन** इंजिनीयर सा.।

मुझ अज्ञ पर परम पूज्य १०८ **आ. कल्पश्री श्रुतसागरजी महाराज** (समाधि ६ मई, १९८८) एवं पूज्य १०८ **श्री वर्धमानसागरजी महाराज** का वरद हस्त रहा, इसी से मैं सम्बल प्राप्त कर आगे बढ़ता गया।

इस प्रकार उक्त सब सज्जनों व मुनिराजों के सहयोग, सम्बल व आशीर्वाद से मैंने पं० रतनचन्द मुख्तार अभिनन्दन ग्रंथ की उक्त सामग्री संकलित कर व्यवस्थित की। इसकी वाचना हेतु १७ अक्टूबर १९८० को मैं पूर्वानुमति लेकर संघ में **बाड़ा (पद्मपुरा-जयपुर)** पहुँचा जहाँ आ. कल्पश्री श्रुतसागरजी महाराज मुनि वर्धमान-सागरजी एवं आ. आदिमतीजी, आ. श्रेष्ठमतीजी व आ. श्रुतमतीजी सहित वर्षायोग हेतु विराजमान थे। वाचना

सम्पन्न हुई। श्रद्धेय गुरुवर मुख्तार सा. भी ९-९-८० को पपपुरा पहुँचने वाले थे परन्तु ज्वरग्रस्त हो जाने के कारण वे सहारनपुर से नहीं आ पाये। मैं ग्रंथ के प्रकाशन की पूरी तैयारी सहित भीण्डर लौट आया।

द्वितीय सोपान : स्मृति ग्रन्थ

कुछ समय बाद ही अप्रत्याशित घटित हुआ। दिनांक २८-११-८० की रात्रि में सात बजे पूज्य गुरुवर्यश्री की आत्मा इस नाशवान नर-पर्याय को छोड़कर द्युलोक को प्रयाण कर गई। उस पवित्र आत्मा को अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करने की हमारी अभिलाषा अपूर्ण रही, उनसे ज्ञान लाभ के हमारे स्वप्न भी धरे रह गये। ऐसी परिस्थिति में अभिनन्दन ग्रंथ को परिवर्तित कर **'स्मृति ग्रन्थ'** के रूप में प्रकाशित करने के मेरे भाव बने। तभी **निमोड़िया (जयपुर)** में विराजमान संघ से ९-१२-८० का लिखा पत्र आया कि 'अब अभिनन्दन ग्रंथ का विचार तो रद्द कर दीजिये और इसके प्रकाशन में होने वाले अर्थ व्यय और मुख्तार सा. को भेंट दी जाने वाली सम्मान राशि को मिलाकर उनके नामका स्मारक निधि ट्रस्ट स्थापित करने पर विचार कीजिये।' किन्तु मैंने गुरुदेव की स्मृति में स्मृति ग्रंथ ही प्रकाशित करने के अपने भावों से संघ को अवगत कराया। पं० विनोदकुमारजी शास्त्री और श्रीमान् रतनलालजी मेरठ वालों का भी यही विचार था। हमारे पत्र मिलने पर महाराज श्री ने ग्रंथ को स्मृति ग्रंथ के रूप में ढालने की स्वीकृति दी। **डॉ. पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य** सागर वालों से परामर्श किया तो उन्होंने दि० २४-३-८१ के अपने पत्र में लिखा—'अब अभिनन्दन ग्रंथ की बात तो समाप्त हो गई। अब तो स्मृति ग्रंथ ही प्रकाशित किया जा सकता है। इसके लिए श्रद्धाञ्जलि-संस्मरण खण्ड के वाक्यों को भूतकाल में बदल दीजिये। परिश्रम तो होगा ही, पर वैसा किए बिना कोई चारा भी नहीं।'

विचार-विमर्श के लिए मैं और श्री रतनलालजी मेरठ वाले आचार्यकल्पश्री के संघ के दर्शनार्थ २०-४-८१ को जहाजपुर पहुँचे। निर्णय किया गया कि ग्रंथ में केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री ही प्रकाशित की जाए चाहे कार्य में विलम्ब हो; कारण कि वैसे भी अब अभिनन्दनीय पुरुष तो रहे नहीं, फिर किसको भेंट करने की जल्दी ? और सारी सामग्री **आर्यिका १०५ विशुद्धमती माताजी** को भी दिखाई जाए। लौटते हुए मैं उदयपुर माताजी के पास पहुँचा। माताजी ने देखकर कहा कि बदले वातावरण के अनुसार संशोधित कर फिर दिखाना।

मैंने वैसा ही किया और आवश्यक परिवर्तन कर सकल सामग्री १६-१०-८१ को अपने पिताश्री के हाथों माताजी के पास भिजवा दी। माताजी ने सामग्री देखकर मुझे बुलवाया। मैं १९-११-८१ को पहुँचा। माताजी हँसते हुए मुझसे बोले—"जवाहरलालजी ! 'मुख्तार सा. चिरंजीव रहें'।" मैं सुनते ही समझ गया कि इस वाक्य को और ऐसे ही अन्यत्र भी कतिपय वाक्यों को स्मृतिग्रंथ के अनुसार परिणत करना भूल गया हूँ। माताजी ने अनेक संशोधन तो किए ही, साथ में यह भी परामर्श दिया कि 'आप जोधपुर चले जाइये और **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी** से इस ग्रंथ के परिष्करण में सहयोग लीजिए।' कुछ विचार कर फिर बोले—'अच्छा ! यह सामग्री ही जोधपुर भिजवा दें।' मैंने ऐसा करना ही उचित समझा, सारी सामग्री अविलम्ब जोधपुर भेज दी गई। डॉ. सा. ने भी तत्परता से सामग्री का शोधन कर उसे माताजी को लौटा दिया। साथ में पत्र लिखा—

'स्मृतिग्रंथ की सामग्री का यथाबुद्धि संशोधन और परिष्कार किया है। शंका-समाधान अधिकार अभी मेरे पास ही है। शेष सामग्री प्रेषित कर रहा हूं।'

'पण्डितजी द्वारा मौलिक रूप से लिखित अकालमरण, क्रमबद्धपर्याय, पुण्यतत्त्व का विवेचन आदि ट्रैक्टों का सारसंक्षेप ग्रंथ में आ जाए तो अच्छा रहे। उन पर लिखी हुई कोई समीक्षाएँ हों तो वे भी दी जा सकती हैं।'

'ग्रंथ में कुछ श्रेष्ठ सैद्धान्तिक लेखों की कमी है। करणानुयोग पर समर्थ विद्वानों के कुछ लेख होने चाहिए थे। सम्यग्ज्ञान पर भी लेख तैयार करवाइए। प्रो. एल. सी. जैन से गणित विषय का शोधपरक लेख मंगवाइए। स्वयं शास्त्रीजी (जवाहरलालजी) दस करण, पाँच भाव, सप्रतिपक्ष पदार्थ अथवा अन्य किसी गंभीर विषय पर लेखनी चलावें।'

उक्त आशय का पत्र उन्होंने मुझे भी १-१२-८१ को लिखा। डॉ. सा. ने इसके पूर्व मेरे पत्र के उत्तर में मुझे दिनांक ३-४-८० को प्रथम पत्र लिखा था जिसमें आपने मुख्तार सा. पर संक्षिप्त लेख प्रस्तुत करने हेतु अपनी स्वीकृति भेजी थी। इससे पूर्व मेरा और आपका पत्राचार का सम्बन्ध भी नही था।

बस, यहीं से डॉ. सा. मेरे अनन्य सहयोगी बन गए। इस ग्रंथ के सम्पादक के रूप में साहाय्य देने हेतु मेरे निवेदन को स्वीकार कर आपने अनन्य सहयोग देना आरम्भ किया। अब हम दो हो गये थे और प्रेरणा व आशीर्वाद आ क. श्री श्रुतसागरजी महाराज, मुनि वर्धमानसागरजी महाराज और आर्यिका विशुद्धमती माताजी के थे ही। फिर ग्रंथ की गरिमा के संवर्धन के लिए और क्या चाहिए था।

स्मृति ग्रंथ की सामग्री डॉ. सा. की उक्त भावना के अनुरूप संकलित की गई। मैंने **करणदशक, भावपंचक** तथा **सप्रतिपक्ष पदार्थ** पर लम्बे लेख लिखे। **प्रो. एल. सी. जैन सा. ने 'लब्धिसार की गणित व नेमिचन्द्र'** लेख भिजवाया। पं० विनोदकुमारजी ने 'अकालमरण' ट्रैक्ट का सार-संक्षेप लिखा। उक्त संकलनयुक्त स्मृति ग्रंथ की सामग्री की प्रशंसा उदयपुर में शिक्षण शिविर में समागत पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर ने भी की परन्तु अब तक की करणी का होनहार कुछ और ही था।

तृतीय एवं चरम सोपान : पं० रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व

पूज्य माताजी के सान्निध्य में **'तिलोयपण्णत्ती'** के सम्पादन-प्रकाशन निमित्त जोधपुर से आगत डॉ० पाटनी जी से मिलने दि० १६-७-८२ शुक्रवार को मैं उदयपुर गया। वहां पुनरपि ग्रंथ की रूपरेखा के बारे में विचार-विमर्श हुआ और यह विचार सामने आया कि विद्वानों के लेखों का तो अन्यत्र भी उपयोग हो सकता है, परन्तु मुख्तार सा० द्वारा विगत दो-तीन दशकों में किये गए शंका-समाधानों का संकलन किया जाए। वे सब इस ग्रंथ के अंग बन सकें तो बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे। यह विचार सबको पसन्द आया। आ० कल्पश्री तथा वर्धमानसागर जी महाराज भी हमारी विचारणा से सहमत हुए। अब इस ग्रन्थ का नाम 'पं० रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' रखना तय हुआ।

कार्य का प्रथम एवं मुख्य चरण था प्रकाशित-अप्रकाशित शंका-समाधानों को एकत्र करना। तदनुसार मैंने अजमेर तथा मथुरा में रखी जैन गजट व जैन सन्देश की फाइलों से सामग्री प्राप्त करने हेतु अजमेर के सर सेठ भागचन्दजी सोनी तथा पं० अभयकुमारजी शास्त्री से तथा काशी के पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री एवं पं० खुशालचन्दजी गोरावाला से पत्र व्यवहार किया। सभी ने अत्यन्त सहृदयतापूर्वक स्वीकृति प्रदान की। इसी बीच दिनांक २६-१०-८२ को मेरे पूज्य पिता श्री मोतीलालजी बखावत असाध्य व्याधि कैंसर के कारण असमय में ही काल-कवलित हुए अतः कार्य में विलम्ब स्वाभाविक था।

दिनांक २६-११-८२ को मैं अजमेर पहुँचा। गजट कार्यालय में सुरक्षित फाइलों से अभिप्रेत शंका-समाधान वाले पत्रों के फोटो स्टेट करवाए। ऐसे पत्र लगभग ६५० हो गए। अपने अजमेर प्रवास में मैं सरसेठ भागचन्दजी सोनी का अतिथि रहा। खाना-पीना भी सब उन्हीं के साथ होता था। मुझ अपरिचित के प्रति उनका वह अप्रतिम सत्कार व सौहार्द मैं कभी नहीं भूल सकता। वे सच्चे मायने में प्रशस्य श्रावक थे।

दिनांक २७-११-८२ को मैं मथुरा पहुँचा। वहां पं० जीवनलालजी शास्त्री (वर्तमान में स्याद्वाद महा-विद्यालय अटा मन्दिर ललितपुर के उप प्राचार्य) ने मुझे पूरे तन मन से सहयोग दिया। मैं आपका हृदय से आभारी हूँ। परन्तु मथुरा में फोटो स्टेट की अच्छी और सस्ती सुविधा न होने के कारण मैं 'सन्देश' की अपेक्षित फाइलों को अजमेर ही ले आया। अजमेर में उन फाइलों से अभिप्रेत १५८ पत्रों के फोटो स्टेट कराकर मैं भीण्डर आ गया और वहां से वे फाइलें सुरक्षित रूप से पैक कर रजिस्टर्ड डाक से मथुरा भेज दीं। इस विश्वास के लिये मैं पूरे 'जैन संघ' के कार्यकर्ताओं के प्रति तथा विशेषतः पण्डितजी के प्रति सदैव आभारी हूँ।

प्रकाशित सामग्री उपलब्ध करने के बाद अप्रकाशित सामग्री एकत्र की गई। मेरे पास ऐसी प्रचुर सामग्री थी। सेठश्री बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना सिटी से भी उनके पास की सामग्री मँगवा ली गई। पूज्य गुरुवर्यश्री से विशेष शंका-समाधान करने वाले उनके शिष्य श्री शान्तिलालजी कणजी, दिल्ली के पास भी शंका समाधान की विपुल सामग्री थी परन्तु उनसे हुई बातचीत के अनुसार उनके पास वह सुरक्षित नहीं रही। इन व्यक्तिगत संग्रहों के साथ ही जैनपत्रों में भी ऐसी सामग्री को मंगवाने हेतु सूचना प्रसारित की गई। परन्तु कोई विशेष सामग्री न आ सकी। इस प्रकार एकत्र सारी सामग्री मैंने यथासमय पूज्य माताजी व डॉ० पाटनीजी के सम्मुख रखी। दोनों बहुत प्रसन्न हुए। माताजी ने कहा—'काम का मजा अब आएगा। अब बनने वाला ग्रंथ सचमुच एक निधि होगा।'

संगृहीत सकल सामग्री का मैंने अपने स्तर पर वाचन किया। मैं मूल मैटर को सन्दर्भित ग्रन्थों से मिला-मिला कर शुद्ध करता जाता था। मिलान के समय मेरे इर्द गिर्द इतने ग्रंथ एकत्र हो जाते थे मानो इनकी दुकान लगाई हो। शोध्य स्थल भी सैंकड़ों थे। प्रेस की भी अनेक भूलें थीं। इस कार्य में मुझे सर्वाधिक श्रम हुआ व बहुत समय लगा।

दिनांक १७-१-८४ को मैं जावद (मन्दसौर) गया और अपने साथ श्रद्धासुमन का भाग एवं फोटोस्टेट की सारी सामग्री लेता गया। इस समय प. पू. आचार्य धर्मसागरजी महाराज का संघ यहीं था और पूज्य आ. क.

श्री श्रुतसागरजी महाराज व पू. वर्धमानसागरजी महाराज भी यहीं विराजते थे। लगभग ७ मास तक यह सामग्री मुनिश्री के साथ रही। पूज्य वर्धमानसागरजी महाराज आ. क. श्री के सान्निध्य में इसका वाचन करते थे और यथास्थान योग्य निर्देश/अनुदेश/मार्गदर्शन भी अंकित करते जाते थे। फोटोस्टेट के कुछ पत्रों पर दिनांक न आ पाई थीं अतः पुनः अजमेर जाकर इस अपूर्ण कार्य को भी मैंने पूर्ण किया।

पूज्य वर्धमानसागरजी म० द्वारा देखी जाने के अनन्तर यह सामग्री डॉ० पाटनी सा० के पास जोधपुर पहुँची। फोटोस्टेट पत्रों में रही भाषा सम्बन्धी भूलों का निराकरण करना, कटिंग व सैटिंग जैसे दुरूह/कष्ट साध्य परिश्रम को करते हुए इन ८०० फोटो स्टेट पत्रों में से प्रत्येक पत्र पर स्थित अनेक शंका-समाधानों में से एक-एक शंका-समाधान की अलग-अलग कटिंग करके, प्रत्येक को एक बड़े आकार के खाली कागज पर चिपकाना तथा नीचे शंकाकार का नाम, स्थान, तथा गजट/सन्देश में प्रकाशन की तिथि व पृष्ठांक अंकित करना; यह सब काम डॉक्टर सा० ने बड़ी लगन से निपटाया। इतना ही नहीं, प्रारम्भ में आपने लगभग पचास साठ फोटो स्टेट पत्रों की तो स्वयं स्वच्छ सुन्दर अक्षरों में लिखकर अलग से पाण्डुलिपि भी बनाई। मेरे अपने शंका-समाधानों तथा श्रीमान् बद्रीप्रसादजी सरावगी आदि से प्राप्त शंका समाधान सामग्री की पाण्डुलिपि भी आपने ही बनाई।

उक्त काम करके डॉ० सा० इन्हें मेरे पास भेजते जाते थे। मैं कटिंग-सैटिंग के माध्यम से पृथक् किए गये सुव्यवस्थित शंका-समाधानों को विषयवार विभाजित करता जाता था तथा प्रत्येक पर विषय/उपविषय अंकित करता जाता था। अनेक के विषय/शीर्षक तो यथासम्भव डॉ० सा० भी लिख कर भेजते थे। जबसे डॉ० सा० इस कार्य में मेरे साथ संलग्न हुए, उन्होंने मुझसे भी अधिक लगन व श्रद्धा से अनवरत जो योग दिया है, उसे शब्दों में उतार पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। वे वस्तुतः कर्मठ कर्मयोगी हैं।

मैं व डॉ० सा० दिनांक ७-८-८५ को आचार्यश्री के चातुर्मास स्थल लूणवां पहुँचे। वहां पहुँच कर हमें सारी सामग्री सुव्यवस्थित कर प्रेस में देने योग्य करनी थी तथा मुद्रण सम्बन्धी अनेक बातों का निर्णय भी करना था। परन्तु सामग्री इतनी विपुल थी कि ५०-१०० पृष्ठ इधर-उधर हो जाएँ तो पता भी नहीं लगे। दुर्भाग्य से हुआ भी ऐसा ही। अब भी कुछ सामग्री पुलन्दों में बँधी अव्यवस्थित पड़ी रह गई। अप्रत्याशित कार्य शेष रह जाने से हमें पुनः २३-११-८५ को वहीं लूणवां जाना पड़ा। अबकी बार चारों ने दिन रात बैठकर वहां विषयोपविषयों व अनुयोगों आदि के अनुसार सामग्री को विभाजित करके एक सर्वसम्मत सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया।

ग्रंथप्रकाशन हेतु इस बीच, यथायोग्य द्रव्य, श्रुतप्रेमीदातारों से एकत्र होता गया। डॉक्टर सा० ने अब इस सुव्यवस्थित सामग्री का पुनरावलोकन करते हुए योग्य परिष्कार/परिमार्जन/साजसज्जा कर शनैः शनैः थोड़ा-थोड़ा मैटर कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज–किशनगढ़ को भेजना प्रारम्भ किया। वे समस्त निर्देशों की पालना करते हुए इस ग्रंथराज का मुद्रण करते गए और इसप्रकार लगभग तेरह वर्षों के कठोर श्रम के बाद यह ग्रंथ आज सामने आया है।

विशेष यह है कि मैं तो काम से जल्दी ही छुट्टी पा गया परन्तु डॉ० सा० तो हर १५-२० दिनों में थोड़ी-थोड़ी सामग्री सुसज्जित कर अद्यावधि प्रेस में भेजते रहे हैं अर्थात् वे तो आज तक कार्य-निरत रहे हैं। इतना ही नहीं, विषय सूची, शंकाकार सूची, समाधानों में प्रयुक्त ग्रंथों की सूचि आदि भी डॉ० सा० ने ही विशेष परिश्रम-पूर्वक तैयार की है। डॉ० सा० जोधपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के एसोशिएट प्रोफेसर हैं, साथ ही शोधनिर्देशक भी हैं। आपके पूज्य पिताश्री पण्डित महेन्द्रकुमारजी पाटनी शास्त्री-काव्यतीर्थ थे जो बाद में पूज्य १०८ आ० क० श्रुतसागरजी महाराज से श्रीमहावीरजी में दीक्षित होकर मुनि समतासागरजी हुए थे। डॉ० सा० भी ज्ञान व त्याग दोनों में विशिष्ट हैं।

यदि डा० सा० का सहयोग न मिलता तो मैं ग्रंथ को इतने परिष्कृत व परिवर्धित स्वरूप में आपके समक्ष नहीं रख पाता। इस अमृतमन्थन का हेतुभूत परिश्रम सर्वस्व आपका ही है। आप दीर्घायुष्क व स्वस्थ रहें ताकि जिनवाणी की अनवरत सेवा करते रह सकें। इस ग्रंथ के लिए डॉ० सा० जैसे कुशल एवं अनुभवी सम्पादक को अपने साथ पाकर मैं तो गौरवान्वित हुआ ही हूँ, ग्रंथ में भी चार चांद लगे हैं।

ग्रंथ के परिवर्तित स्वरूप के कारण जिन विद्वानों से आग्रहपूर्वक लेख मंगवाने के बावजूद भी हम उन्हें ग्रंथ में प्रकाशित नहीं कर सके हैं, उनसे हम सम्पादक द्वय सविनय क्षमा याचना करते हैं।

पूर्व में प्रकाशित-प्रवर्णित त्यागियों एवं महानुभावों के अतिरिक्त भी जिन-जिन विद्वानों, त्यागियों एवं अन्य सज्जनों ने इस ग्रंथ के लिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में जो भी सहयोग दिया है उनके प्रति हम दोनों मैं एवं मेरे सहयोगी डॉ० पाटनीजी श्रद्धावनत होकर अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

ग्रंथ प्रकाशन हेतु द्रव्य प्रदान करने वाले समस्त दातारों के प्रति हम हृदय से धन्यवाद अर्पित करते हैं।

श्रीमान् पाँचूलालजी जैन (मालिक, कमल प्रिंटर्स, मदनगंज--किशनगढ़) एवं सभी प्रेस कर्मचारियों के भी हम हृदय से आभारी हैं जिन्होंने इस कष्ट साध्य/श्रम साध्य काम को सुन्दर रीत्या सम्पन्न कर ग्रंथ को आकर्षक रूप प्रदान किया है।

अलं विज्ञेषु ! भद्रं भूयात् । चिरञ्जीयात् जिनशासनम् ।

१-१-८९
साटडिया बाजार, गिरिवर पोल
भीण्डर (उदयपुर)

विनीत :
जवाहरलाल मोतीलाल वकतावत
सम्पादक

आद्य वक्तव्य (२)

पं० रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' ग्रंथ आपके हाथों में सौंपते हुए आज हमें अपार प्रसन्नता है। पर साथ ही इस बात का खेद भी है कि जो काम हमें बहुत पहले सम्पन्न कर लेना चाहिए था, वह इतने विलम्ब से हो रहा है। न तो आज वह अभिनन्दनीय विभूति—**पण्डित रतनचन्द मुख्तार**—ही हमारे बीच हैं और न इस ग्रंथ के लिए हमारा मार्गदर्शन कर हमें आशीष देने वाले परम पूज्य **आचार्य कल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज** ही। आदरणीय विद्वद्वर्य पं० जवाहरलालजी सिद्धान्त शास्त्री ने विस्तार से प्रस्तुत ग्रंथ की उद्भावना का समग्र इतिहास अपने वक्तव्य में लिपिबद्ध किया है। वस्तुतः सामग्री इतनी प्रचुर थी और कार्य इतना दुष्कर लग रहा था कि कोई सही अनुमान बन ही नहीं पाया; ग्रन्थ का कलेवर बढ़ता ही चला गया और साथ-साथ अन्य सभी सम्बद्ध कार्य भी, अतः विलम्ब होता ही गया।

मुझे **स्वर्गीय पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार** के साथ 'त्रिलोकसार' के सम्पादन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और तभी उनके सान्निध्य का सुअवसर भी सुलभ हुआ था। मुख्तार सा० सीधे, सरल, सच्चे श्रावक थे। सीमित परिग्रह, सीमित आवश्यकताएँ, मित भाषण परन्तु ज्ञानार्जन की असीम ललक और अर्जित ज्ञान के मुक्त वितरण की अद्भुत भावना उस श्रुतसाधक के व्यक्तित्व को अद्भुत रूप प्रदान करती थीं। वृद्धावस्था में भी, अस्वस्थ होने पर भी उन्हें प्रतिदिन ८-८, १०-१० घण्टे से कम के स्वाध्याय में सन्तोष नहीं होता था। जो कुछ अर्जित करते थे, उसे पचाकर सरल शब्दों में सबके लिये प्रस्तुत करना उनकी अद्वितीय विशेषता थी। क्लिष्ट से क्लिष्ट विषय को भी वे इतनी सरलता से समझाते थे कि बात शीघ्र समझ में आ जाती। **'शंका-समाधान'** में भी उनकी यही शैली रही है। चाहे किसी अनुयोग से सम्बन्धित शंका हो, पहले वे नपे तुले शब्दों में बड़ी सुबोध शैली में उसका समाधान करते हैं और फिर उसके लिये आगम ग्रन्थों से उस विषय के प्रमाण जुटाते हैं। किसी पर आक्षेप/कटाक्ष करना कभी उनका लक्ष्य नहीं रहा। कटुभाषा का उन्होंने कभी प्रयोग नहीं किया परन्तु गलत समझ और गलत विवेचना का सप्रमाण खण्डन करने में भी वे सरस्वती के वरदपुत्र कभी नहीं हिचके। इस काल में उन जैसा व्यक्तित्व कोई दूसरा नहीं दीखता। **जैन गजट और जैन सन्देश में 'शंका-समाधान' के रूप में अपने जीवन काल में जिस ज्ञान का वितरण उन्होंने किया था, प्रस्तुत ग्रन्थ उसी का पुनर्वितरण आज भी और आने वाली पीढ़ियों को भी करता रहे यही इस महान् विशालकाय प्रकाशन का प्रयोजन है।** पूज्य पण्डितजी के जीवन-काल में जो शंका समाधान 'जैन गजट' कार्यालय को भेजे जा चुके थे, वे उनके स्वर्गस्थ होने के बाद भी कुछ काल तक छपते रहे। वे भी इस संग्रह में हैं।

ग्रन्थ दो जिल्दों में है। कुल पृष्ठ संख्या है १५२८। प्रथम जिल्द की पृष्ठ संख्या है ३२+८७२। इसमें प्रारम्भ में १२ पृष्ठों में पूज्य स्वर्गीय पण्डितजी की सक्षिप्त जीवन झांकी है जिसे उन्हीं के अन्यतम शिष्य पं० जवाहरलालजी सिद्धान्त शास्त्री ने लिखा है। फिर ८ पृष्ठों में आर्ट पेपर पर पूज्य पण्डितजी के जीवन की छाया

छवियाँ हैं। ११ से ७५ पृष्ठ तक त्यागियों, विद्वानों, श्रीमानों और स्वाध्यायप्रेमियों के आशीर्वचन, श्रद्धाञ्जलि और संस्मरण आदि संकलित हैं। अनन्तर ग्रन्थ के प्राण स्वरूप हैं विविध अनुयोगों से सम्बन्धित शंकाओं के प्रमाणपुष्ट समाधान। पृष्ठ ७६ से ९९ तक प्रथमानुयोग से सम्बन्धित ४५ शंकाओं के समाधान संकलित हैं। १०० से ६१९ यानी कुल ५२० पृष्ठों में करणानुयोग से सम्बन्धित ८६९ शंकाओं के समाधान हैं। स्वर्गीय पण्डित जी वर्तमान जैन जगत् में करणानुयोग के अप्रतिम विद्वान् थे। पृष्ठ संख्या ६२० से ८७२ तक चरणानुयोग सम्बन्धी २३१ शंकाओं का समाधान हुआ है।

दूसरी जिल्द में द्रव्यानुयोग विषयक ४०१ शंकाएँ ८७३ से १२५६ यानी ३८४ पृष्ठों में संकलित हैं। अनन्तर जैन न्याय-अनेकान्त और स्याद्वाद, उपादान और निमित्त, कारणकार्य व्यवस्था, नय-निक्षेप, अर्थ एवं परिभाषा एवं विविध शीर्षकों के अन्तर्गत लगभग २०० पृष्ठों की सामग्री (पृ० सं० १२५७ से १४५६ तक) १७० शंका-समाधान के माध्यम से संकलित की गई है और अन्त में स्व० पं० जी के स्वतन्त्र ट्रैक्ट 'पुण्य का विवेचन' को तदविषयक शंका-समाधानों से संयुक्त कर पृ० सं० १४५७ से १५१२ तक मुद्रित किया गया है। अंत में, परिशिष्ट में आधारग्रन्थ सूची, शंकाकारों की सूची और अर्थसहयोगियों की सूची मुद्रित की गई है। इस जिल्द की कुल पृ० संख्या ४ + ६५६ = ६६० है।

सारी सामग्री के सम्पादन में सम्पादकों ने अपनी बुद्धयनुसार पूरी सावधानी रखी है। एक ही/एक सी शंका भिन्न-भिन्न वर्षों में पूछी गई है। इस पुनरावृत्ति से बचने का पूरा प्रयास हमने किया है तथापि जहाँ जरा भी दृष्टिकोण की भिन्नता दिखाई दी है और पुनरावृत्ति औचित्यपूर्ण प्रतीत हुई है, वे शंकाएँ और उनके प्रमाण हटाए नहीं गये हैं। पिष्टपेषण से बचने का पूरा ध्यान रखा गया है। उद्धरणों के ग्रन्थों के सन्दर्भ सही-सही दिये गये हैं। बार-बार एक ही उद्धरण प्रमाण स्वरूप आने पर सम्पादन में उसे हटाया भी है। शंकाओं का अनुयोग या विषयानुसार जो वर्गीकरण सम्पादकद्वय ने किया है, उससे पाठकों का मतभेद हो सकता है।

१७०० से भी अधिक शंकाओं की सूची बनाना भी एक जटिल समस्या थी। प्रत्येक शंका को सूची में सम्मिलित करना अव्यावहारिक था क्योंकि तब लगभग ५०-६० पृष्ठों में सूची बन पाती और विषय को खोजना और भी मुश्किल हो जाता अतः विद्वानों से परामर्श कर संक्षिप्त सी विषय सूची तैयार की गई है और विशेष शीर्षक के अन्तर्गत तद्विषयक शंकाओं को एकत्र रखा गया है। सूची में यह निर्दिष्ट कर दिया गया है कि किस विषय से सम्बन्धित कितनी शंकाएँ संकलित हुई हैं।

पूज्य पण्डितजी ने एक दो शब्दों और एक पंक्ति में भी शंका का समाधान कर दिया है तो किसी-किसी शंका का समाधान ८-१० पृष्ठों में भी हुआ है। पूज्य पण्डितजी कृत समाधानों से विद्वानों का मतवैभिन्य सम्भव है परन्तु इतना अवश्य है कि जो कुछ मुख्तार सा० ने समाधान में लिखा है वह प्रमाणों से पुष्ट है। जहाँ प्रमाण नहीं मिल सका है पण्डितजी ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'इस विषय में मुझे आगम प्रमाण नहीं मिला, विद्वज्जन इस पर विचार करें।' अतः समाधानकर्ता की नीयत पर शक करने की कोई गुञ्जाइश नहीं है। बिना किसी

लाग-लपेट और पक्षव्यामोह के पण्डितजी की लेखनी प्रवाहित हुई है। समाधानों की भिन्नता के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) ग्रंथ के पृष्ठ ७७ पर 'अनन्तवीर्य मुनि का केवलज्ञान के बाद ५०० धनुष ऊर्ध्वगमन' लिखा है। परन्तु ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त में उत्पन्न अपने युग के महान् तपस्वी आचार्य जटासिंहनन्दि ने 'वरांगचरित' में वरदत्त केवली का शिलातल पर बैठना लिखा है—

तस्याग्रशिष्यो वरदत्तनामा सद्दृष्टिविज्ञानतपः प्रभावात्।
कर्माणि चत्वारि पुरातनानि विभिद्य कैवल्यमतुल्यमापत् ॥२॥

*　　　*　　　*

तस्यैकदेशे रमणीयरूपे शिलातले जन्तुविवर्जिते च।
बयापरैर्दान्तमदेन्द्रियाश्वैः सहोपविष्टो मुनिभिः मुनीन्द्रः ॥६॥

—व. च. पृ. २६-२७ सं. ए. एन. उपाध्ये

अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भी केवली का स्पष्टतः शिलातल पर बैठना लिखा है। फिर उसी शिलातल पर बैठे वरदत्तकेवली ने (राजा के प्रश्न के आधार पर) धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया (श्लोक ४४ का भाव)।

(२) पृष्ठ ५०६ पर पं० जवाहरलालजी जैन की शंका के समाधान के दूसरे अनुच्छेद में लिखा है कि 'यदि शैलरूप स्पर्धक का अनुभाग घट कर अस्थिरूप हो जाय तो उसके द्रव्य को ऊपर या नीचे के निषेक में जाने की आवश्यकता नहीं है।' इसका सीधा अभिप्राय यह होता है कि अनुभाग अपकर्षण में स्थिति अपकर्षण की आवश्यकता नहीं होती।

इस सम्बन्ध में पं० जवाहरलालजी ने सूचित किया है कि "जयधवला पुस्तक १४ पृष्ठ ३११ पर इससे भिन्न लिखा है—'सव्वे चेव अणुभागा ट्ठिदिदुवारेण ओकड्डिज्जंति' अर्थात् सभी अनुभाग स्थिति द्वारा अपकर्षित होते हैं। ऐसा भासित होता है कि पुस्तक १४ का यह कथन स्थूलतः है क्योंकि कुल १४८ कर्म प्रकृतियों में से पाप प्रकृतियाँ ही अधिक होती हैं। पाप प्रकृतियों की स्थिति तथा अनुभाग दोनों अशुभ ही होते हैं। (गो० क० गाथा १५४, १६३) अतः पाप प्रकृतियों के अनुभाग के अपकर्षण के समय स्थिति अपकर्षण भी होगा ही; अतः स्थिति अपकर्षण से अनुभाग अपकर्षण होता है, यह कथन बन जाएगा। मात्र अल्पसंख्यक पुण्यप्रकृतियों में यह विशेषता है कि जब संक्लेश भाव होता है तब इन पुण्य प्रकृतियों में स्थिति का तो उत्कर्षण होगा परन्तु अनुभाग का अपकर्षण होगा और विशुद्ध परिणाम के समय स्थिति का तो अपकर्षण होगा पर अनुभाग उत्कर्षित होगा। क्योंकि तीन आयु को छोड़कर सभी पुण्य-प्रकृतियों की स्थिति अशुभ है और अनुभाग शुभ है अतः विशुद्ध परिणामों से पुण्य प्रकृतियों में अनुभाग अपकर्षण न होकर मात्र स्थिति अपकर्षण होता है। इसके विपरीत संक्लेश के समय स्थिति उत्कर्षण व अनुभाग अपकर्षण होता है। अतः पुण्य प्रकृतियों में स्थिति अपकर्षण व अनुभाग अपकर्षण,

दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते क्योंकि ये भिन्न-भिन्न परिणाम साध्य हैं। परन्तु अशुभ प्रकृतियों में विशुद्धि से स्थिति व अनुभाग दोनों अपकर्षण को प्राप्त होते हैं तथा इसके विपरीत संक्लेश से दोनों ही युगपत् उत्कर्षण को प्राप्त होते हैं (दोनों ही अशुभ होने से)। अतः उक्त पुस्तक १४ का कथन अशुभ प्रकृतियों को लक्ष्यगत रख कर ही किया है अन्यथा शुभ प्रकृतियों पर यह कथन लागू नहीं होता। ऐसा हमारा चिन्तन है आगमज्ञ सत्य व अनुकूल लगे तो ही ग्रहण करें और हमें अज्ञ जानकर क्षमा करें।"

(३) पृष्ठ ५५४ पर ब्र० पन्नालालजी की शंका के समाधान में लिखा है कि कृष्ण की अकाल मृत्यु नहीं हुई। परन्तु राजवार्तिक २।५३।६ में लिखा है कि "अन्त्यस्य चक्रधरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासुदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषां च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्तदर्शनात्' अर्थात् अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और नारायण कृष्ण तथा और ऐसे पुरुषों की आयु बाह्य कारणवश अपवर्तन (घात) को प्राप्त हुई देखी जाती है [अतः इससे ऐसा भासित होता है कि पूर्व में कृष्ण और ब्रह्मदत्त ने आयुबन्ध नहीं किया था]।

(४) पृष्ठ १३६३ पर मुद्रित शंका-समाधान के विषय में इतना निवेदन करना है कि न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजी कोठिया का भी यही पवित्र अभिप्राय था कि दुनियां के सभी एकान्त (अर्थात् कथंचित् को साथ लिए हुए एकान्त) मिलकर अनेकान्त को जन्म देते हैं।[1] शंकाकार की शंका का मुख्तार सा० ने अपनी शैली में समाधान किया है, परन्तु इससे कोई यह न समझे कि कोठियाजी का मत विपरीत है।

ग्रंथ में शंकाकारों के प्रश्न/शंकाएँ कहीं कहीं उपालम्भात्मक एवं दोषान्वेषण परक भी देखने को मिलेंगे परन्तु इससे पाठक किसी विद्वान् पर आक्षेप न समझे। शंकाकार तो अपनी समझ के अनुसार ही लेखादि का अभिप्राय समझ कर लेखक के मूलहार्द को नहीं पकड़ते हुए उपरि-उपरि तौर से शंकाएँ कर लेते हैं।

ग्रंथ में पौने दो सौ (१७५) शंकाकारों की शंकाओं का संकलन है, जिनकी अकारादि क्रम से सूची दूसरी जिल्द के परिशिष्ट भाग में दी गई है। समाधाता पं० रतनचन्दजी मुख्तार भी ग्रंथ के पृ० संख्या ४७० और ६७६ पर स्वयं शंकाकार बने हैं और उनकी शंकाओं का समाधान पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज ने किया है।

आभार

'पं० रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' जैसे वृहदाकार ग्रन्थ की प्रकाशन योजना को मूर्तरूप प्रदान करने में हमें अनेक महानुभावों का प्रचुर प्रोत्साहन एवं सौहार्दपूर्ण सहयोग मिला है। यहाँ उन सबका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना हमारा नैतिक दायित्व है।

---

१. "यहाँ यह ध्यान रहे कि सापेक्ष मिथ्यादर्शनों (एकान्तों) के समूह को भद्र कहा है, निरपेक्ष मिथ्यादर्शनों (एकान्तों) के समूह को नहीं।"

—प्रमुख जैन न्यायग्रंथकार और उनके न्याय ग्रंथ : पृ. ५ : लेखक द. ला. कोठिया

सर्व प्रथम स्व० पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार की प्रतिभा और क्षमता का सविनय सादर पुण्य स्मरण करता हूँ और उस पुनीत आत्मा के प्रति अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ।

मैं परम पूज्य (स्व.) आचार्य कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज के पावन चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। आपके आशीर्वचन ही सदैव हमारे प्रेरणास्रोत रहे हैं। खेद है कि आपके संरक्षण एवं मार्गदर्शन में प्रणीत यह ग्रंथ हम आपके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं कर पाए। आपका असीम अनुग्रह ही हमारा सम्बल रहा है। आर्षमार्ग एवं श्रुत संरक्षण की आपको महती चिन्ता थी। लूणवां में मई १९८८ में आपने यमसल्लेखना धारण कर इस युग में जैन शासन की अद्भुत प्रभावना की है। उस परम पुनीत आत्मा को शत-शत नमन।

पूज्य १०८ श्री वर्धमानसागरजी महाराज का भी मैं अतिशय कृतज्ञ हूँ जिनका वात्सल्यपूर्ण वरद हस्त सदैव मुझ पर बना है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली सभी बाधाओं का आपने शीघ्रतया परिहार कर हमें निश्चिन्त किया है। आर्षमार्गपोषक इस निस्पृह आत्मा के पुनीत चरणों में अपना नमोस्तु निवेदन करते हुए इनके दीर्घ स्वस्थ एवं यशस्वी जीवन की कामना करता हूँ।

पूज्य आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी का मैं चिरकृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझ पर अनुकम्पा कर इस ग्रन्थ की प्रकाशन योजना में मुझे सम्मिलित किया। त्रिलोकसार, सिद्धान्तसार दीपक और तिलोयपण्णत्ती जैसे महान् ग्रन्थों की टीकाकर्त्री माताजी अहर्निश श्रुताराधना में संलग्न रहती हैं। मैं यही कामना करता हूँ कि आपकी श्रुतसेवा अबाधगति से चलती रहे। पूज्य आर्यिकाश्री के चरणों में शतशः वन्दामि।

आभारी हूँ, अनन्यगुरुभक्त आदर्श शिष्य पण्डित जवाहरलालजी जैन सिद्धान्त शास्त्री का, जिन्हें इस विशाल 'कृतित्व' को प्रकाश में लाने का सम्पूर्ण श्रेय है। आपने मुझ सर्वथा अपरिचित अल्पश्रुत को अंगीकार कर अपने साथ काम करने का सुअवसर दिया, एतदर्थ मैं आपका चिर कृतज्ञ हूँ। पं० जवाहरलालजी स्वर्गीय पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार के प्रधान शिष्य हैं और सम्प्रति जैन जगत् में करणानुयोग के अप्रतिम विद्वान्। मुझे लगता है मुख्तार सा. की तरह आप भी पूर्वभव के संस्कारी विद्वान् हैं क्योंकि इतनी कम आयु में आपने धवला, जयधवला, महाधवल एवं सम्पूर्ण अन्य जैन वाङ्मय का आलोड़न कर लिया है और करणानुयोग का विषय आपके स्मृति कोष में सतत् विद्यमान है। आप भी मुख्तार सा० की तरह प्रमाण देते हुए धवल पुस्तकों की पृष्ठ और पंक्ति संख्या तक मौखिक बता देते हैं। आपकी शंका-समाधान शैली मुख्तार सा० की ही तरह की है। 'बृहज्जिनोपदेश' आपका इसी शैली का अद्वितीय ग्रन्थ है। आपकी अन्य प्रकाशित मौलिक कृतियाँ हैं—करणदशक, भावपञ्चक, कर्माष्टक, आधुनिक साधु, पद्मप्रभ स्तवन। इसके अलावा अन्य सम्पादित कृतियाँ भी हैं। मुख्तार सा० की भाँति आप भी प्रतिवर्ष मुनिसंघों में जाकर आगम ग्रन्थों की वाचना एवं तद्विषयक चर्चा में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। आपको सच्चे अर्थों में मुख्तार सा. का उत्तराधिकारी ही कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। यों श्री जवाहरलाल जी आत्मगोपन प्रवृत्ति के सरलमना, तत्त्वज्ञानी, भवभीरु युवा पण्डित हैं। गत दो तीन वर्षों से आपका स्वास्थ्य

अनुकूल नहीं रहता और आंखों से भी विशेष काम नहीं हो पाता—यही हम सबके लिए चिन्ता का विषय है; उपचार भी चलता है परन्तु सन्तोषजनक व्यवस्था अभी तक नहीं बन पाई है। मैं आदरणीय पण्डितजी के स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन की कामना करता हूं और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ उनसे अपनी भूलों के लिये क्षमा याचना करता हूं। मुझे सन्तोष इसी बात का है कि मैं उनके चिर अभिलषित स्वप्न को साकार करने में यत्किंचित् सहायक बन सका हूं। इस अनुग्रह के लिए उन्हें कोटि-कोटि धन्यवाद अर्पित करता हूं।

हमारे अनुरोध पर ग्रंथ के मुद्रित फर्मों का अवलोकन कर जिन विद्वानों ने ग्रंथ के सम्बन्ध मे अपने अभिमत भिजवाएं हैं, हम उन सबके हृदय से आभारी हैं।

आभारी हूं **डॉ० पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य** का जिन्होंने हमें समय समय पर सहर्ष सक्रिय सद्-परामर्श देकर हमारे कार्य को सरल बनाया। आदरणीय पण्डितजी के स्वस्थ दीर्घ जीवन की कामना करता हूं।

पं० प्यारेलालजी कोटड़िया तथा **पं० पन्नालालजी सोंरावत (उदयपुर)** का मैं हृदय से आभारी हूं। आपने प्रस्तुत ग्रन्थ की निर्माणावधि में जब जब भी जिस किसी मूल ग्रंथ की आवश्यकता पड़ी, सूचना प्राप्त होने पर उसे तत्काल भिजवाया। दोनों महानुभावों के निजी संग्रह में सहस्राधिक मूल ग्रन्थ विद्यमान हैं, उनमें से कई दुर्लभ हैं। दोनों श्रुत सेवी स्वस्थ रहें व दीर्घजीवी हों, यही कामना करता हूं। श्री धूलजी/डालचन्दजी वोरा चावण्ड के हम आभारी हैं जिनसे हमें सदा अपेक्षित योग मिला है।

देवशास्त्रगुरुभक्त सुश्रावक **श्री निरञ्जनलाल रतनलालजी बैनाड़ा, बैनाड़ा उद्योग**, आगरा से मेरा परिचय भीण्डर में ही कल्पद्रुमविधान की अवधि में हुआ। उस समय मैं पं० जवाहरलालजी के घर पर ही ठहरा हुआ था। आप वहां पधारे और आपने बिना हमारी प्रेरणा के ही आगे होकर यह भावना व्यक्त की कि मैं श्रुतसेवा में आप द्वारा सम्पाद्यमान 'मुख्तार ग्रन्थ' में कुछ अर्थसहयोग करना चाहता हूं, आज्ञा दीजिए। हमारी मूक स्वीकृति पर आपने तत्क्षण इस ग्रंथ के लिये इक्कीस हजार रुपये दान राशि देकर अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। एतदर्थ श्रुतसेवी बैनाड़ाजी को कोटिशः धन्यवाद। ऐसे श्रुतसेवी उदारमना पुरुष उभयविध लक्ष्मी से सदा वर्धमान हों, यही शुभेच्छा है।

अर्थसहयोगियों की विस्तृत सूची दूसरी जिल्द के परिशिष्ट खण्ड में प्रकाशित की गई है। मैं सभी द्रव्य-दातारों का हार्दिक अभिनन्दन करता हूं और उनके इस सहयोग के लिए उन्हें कोटि-कोटि धन्यवाद अर्पित करता हूं।

सभी **शंकाकारों** के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं और कामना करता हूं कि उनकी स्वाध्याय रुचि दिनानुदिन वृद्धिंगत हो। शंकाकारों में सभी वर्गों—मुनि, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, पण्डित, प्रोफेसर, सामान्य पाठक, स्त्री, पुरुष, तरुण आदि सभी का समुचित प्रतिनिधित्व है। सभी शंकाकारों—लगभग १७५ की अकारादि क्रम से नाम सूची दूसरी जिल्द के परिशिष्ट में प्रकाशित की गई है। उनके नाम के सम्मुख ग्रंथ की

पृष्ठ संख्या है जिस पर उनके द्वारा प्रेषित शंका का पण्डितजी द्वारा कृत समाधान है। तीन विशिष्ट शंकाकारों का यहां स्मरण कर मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ जिनकी चतुः अनयोग सम्बन्धी शंकाएँ सम्पूर्ण ग्रन्थ में अथ से इति तक विकीर्ण हैं। वे हैं—

१. सर्व श्री रतनलालजी जैन, एम. कॉम, पंकज टैक्सटाइल्स मेरठ सिटी। आपने पुष्कल अर्थसहयोग भी किया और समय-समय पर आपसे अन्य सहयोग भी प्राप्त हुआ, एतदर्थ आप विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

२. पं० जवाहरलालजी जैन, सिद्धान्त शास्त्री, भीण्डर (प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक)

३. श्री रोशनलालजी जैन मित्तल, मेड़ता सिटी

नाम साम्य के कारण या गजट/संदेश में प्रकाशित अपूर्ण सूचना के कारण, सम्भव है कतिपय शंकाएँ इधर-उधर जुड़ गई हों, उसके लिए मैं सुधी शंकाकारों से क्षमायाचना करता हूँ।

इस विशालकाय ग्रंथ को मुद्रित करने वाले श्रीमान् पाँचूलालजी जैन, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज-किशनगढ़ को हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ जिन्होंने बड़े धैर्य से इस जटिल कार्य को सम्पन्न किया। यद्यपि ग्रंथ प्रकाशन में विलम्ब हुआ है परन्तु ग्रन्थ का मुद्रण स्वच्छ और शुद्ध हुआ है इसके लिए सभी प्रेस कर्मचारी धन्यवाद के पात्र हैं।

वस्तुतः अपने वर्तमान रूप में 'पं० रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' ग्रन्थ की जो कुछ उपलब्धि है, वह सब इन्हीं श्रमशील धर्मनिष्ठ पुण्यात्माओं की है। मैं हृदय से सबका अनुगृहीत हूँ। सम्पादन-प्रकाशन में रही कमियों एवं भूलों के लिये सुधीगुणग्राही विद्वानों से सविनय क्षमायाचना करता हूँ।

वसन्त पंचमी १०-२-८९
श्री पार्श्वनाथ जैन मंदिर
शास्त्रीनगर, जोधपुर

विनीत :
डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी
सम्पादक

पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व–१

卐 अनुक्रम 卐

व्यक्तित्व एवं छाया छवियाँ

आशीर्वचन, मंगलकामना, श्रद्धाञ्जलि और संस्मरण

कृतित्व : शंका समाधान

(क) प्रथमानुयोग (७६-९९)

(ख) करणानुयोग (१००-६११)

(ग) चरणानुयोग (६२०–८७२)

[शेष दूसरी जिल्द में]

पं० रतनचन्द जैन मुख्तार

[जीवन-क्रम]

जो रत्नों का पिटारा था; जो धवल, जयधवल, महाधवल आदि शास्त्रों को सम्यक्तया समझकर उनमें पारायणत्व सम्प्राप्त हुआ था; जो भारतीय दिगम्बर जैन साधुगण द्वारा विशिष्ट श्लाघनीय था; जो आंशिक रत्नत्रयधर्ममय था; जो धवलादिप्रज्ञा-प्रदाता मेरा गुरु था तथा जिसके सम्बन्ध में मेरी लेखनी द्वारा लिखा जाना दुःसम्भव है, उस सिद्धान्तशिरोमणि, सिद्धान्तपारग, पूज्य, करणानुयोगप्रभाकर के बारे में भक्तिवश कुछ लिखने का दुस्साहस करता हूँ। यद्यपि यह सत्य है कि उसके बारे में जितना भी लिखा जाय वह सब 'रविसम्मुख दीपप्रदर्शन' मात्र ही है, इसमें कोई शंका नहीं; तथापि बुद्ध्यनुकूल लिखे बिना मुझे तुष्टि भी नहीं होगी।

जन्म

भारतवर्ष की उत्तरदिशा में स्थित उत्तरप्रदेश प्रान्त में सहारनपुर[1] नामक शहर है। उसके बड़तला यादगार मोहल्ले में आज से करीब ८३ वर्ष पूर्व दिगम्बर जैन अग्रवाल जातीय श्री धवलकीर्ति गर्ग के घर सौभाग्यवती, धर्मधारिणी माता श्रीमती बरफीदेवी के गर्भ से एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ; नाम रखा गया "रतनचन्द"।

कौन जानता था कि यह बालक आगे जाकर विलक्षण प्रतिभा का धनी अद्वितीय शास्त्रमर्मज्ञ होगा और अनेक आत्माओं को ज्ञान-दान कर उनके मिथ्यावरण को दूर करने में निमित्त होगा।

श्री रतनचन्दजी कुल चार भाई थे। सबसे बड़े भाई श्री मेहरचन्द थे, उनसे छोटे श्री रूपचन्द एवं उनसे छोटे आप थे एवं आपसे छोटे श्री नेमिचन्द हैं। आपकी एक बहन श्रीमती जसवन्तीदेवी भी थी। अभी केवल श्री नेमिचन्दजी मौजूद हैं।

प्रारम्भिक अध्ययन

५ वर्ष की अवस्था मे आपको जैन पाठशाला मे अध्ययनार्थ भेजा गया। वहाँ करीब दो वर्ष तक आपने जैनधर्म की एक-दो प्राथमिक पुस्तकों का अध्ययन किया। इसके पश्चात् लौकिक अध्ययन हेतु आप सरकारी पाठशाला में चौथी कक्षा में प्रविष्ट हुए। इसी समय आपने अपनी पूज्य माताजी के साथ तीर्थराज श्री सम्मेद-शिखरजी की यात्रा भी की। यात्रा-काल में ही टाइफॉइड हो जाने के कारग आपको कई मुसीबतें उठानी पड़ीं।

---

१. **'सहारनपुर' एक दृष्टि में :—"स्वयं जिला। १४ जिनमन्दिर। आबादी लगभग ५ लाख। दिगम्बर जैन लगभग दस हजार। पहनावे की विशेषता है कि पगड़ी किसी के भी सिर पर नहीं मिलती। प्रायः जैनों में भी चूड़ीदार पायजामा देखने को मिलता है। लाला जम्बुप्रसादजी रईस सदृश धनी, दानी व प्रख्यात व्यक्ति की नगरी। ब्र० सिद्धान्तशिरोमणि रतनचन्द मुख्तार, पं० अरहदास, पं० नेमिचन्द वकील आदि मान्य विद्वानों की जन्मप्रदात्री भी यही नगरी। औद्योगिक नगर। व्यवसाय का स्थान। नगर के [लगभग ७५ किलोमीटर दूर] पूर्वी दक्षिणी भाग में ऐतिहासिक नगर हस्तिनापुर, उत्तरी भाग में वैष्णवतीर्थ हरिद्वार [पास में ही]। दिगम्बर जैन-करणानुयोग-सूर्य रतनचन्द की नगरी यही सहारनपुर है।"**

ठीक ही कहा गया है कि "ज्ञानी-ध्यानी व आत्मार्थी जनों का जीवन तो दुःखमय ही होता है"। यात्रा से लौटने के बाद भी आप करीब छह मास तक निरन्तर अस्वस्थ रहे। इससे आपकी मातेश्वरी व भाइयों को निरन्तर चिन्ताएँ बनी रहती थीं। आपके पिता का तो सन् १९१० में ही स्वर्गवास हो चुका था, अतः बाल्यकाल में ही आपको पितृ-सुख से वंचित होना पड़ा। विधवा माँ ही चारों पुत्रों का लालन-पालन करती थी।

उस काल में पूरे जिले में मात्र सहारनपुर में एक स्कूल दसवीं कक्षा तक का था। अतः आपकी पढ़ाई दसवीं कक्षा तक ही हुई। कालेज सहारनपुर से काफी दूर मेरठ में था। घर की दुर्बल आर्थिक परिस्थितियों के कारण आप अपना अध्ययन जारी नहीं रख सके। सत्तरह वर्ष की अवस्था में फरवरी १९१९ में आपका विवाह सौ० माला के साथ सम्पन्न हुआ। अठारह वर्ष की अवस्था में हाई स्कूल उत्तीर्ण कर आप व्यापार में लग गये। अपने श्वशुर की दुकान पर रहकर ही लगभग एक वर्ष तक आपने व्यापार का कार्य किया।

प्राड्विवाककर्म

व्यापार को त्याग कर आपने अल्पकाल में ही मुख्तार की परीक्षा पास की और वकालत प्रारम्भ की। इसमें आपने आशातीत सफलता प्राप्त की। अल्प समय में ही आप अपने क्षेत्र के अच्छे वकील माने जाने लगे और अतिशीघ्र "रतनचंद मुख्तार" के नाम से आपने प्रसिद्धि पा ली। परन्तु विधि के विधान में तो कुछ और ही था। इस महान् आत्मा को ऐसे पापकार्यों में कैसे रुचि हो सकती थी। कभी-कभी ऐसे मुकदमे भी आते थे कि उनमें कानूनी शब्दों का अर्थ बदलना पड़ता था और विपरीत अर्थ करके अपराधी को भी जिताना पड़ता था। ऐसे मुकदमों में निर्दोष व्यक्ति को महान् आघात पहुँचना स्वाभाविक ही था। उसके लिये मुकदमा हार जाना अत्यन्त दुःखास्पद होता था। ऐसी घटनाओं से आपको निरन्तर खटक बनी रहती थी कि "मैं यह क्या कर रहा हूँ? १०००-२००० रुपयों की राशि के लिये मैं अपना और साथ ही दूसरों का भी जीवन बेकार कर रहा हूँ, यह न्याय्यवृत्ति नही है।"

एक मुकदमे के सम्बन्ध में आपने बताया कि एक स्त्री थी। उसका पुत्र तो कोई अन्य था परन्तु किसी अन्य व्यक्ति ने यह दावा किया कि मैं पुत्र हूँ। इस मुकदमे में उस व्यक्ति के पक्ष में निर्णय होगया जो असली पुत्र नहीं था। असली पुत्र की हार हुई। ऐसी पैरवी करने पर मुकदमा जीतने के बावजूद भी आपकी आत्मा में अपार कष्ट हुआ। आपने सोचा कि "लक्ष्मी तो चंचल है, मैं इसके उपार्जन के लिये इतना प्रयत्न करके अन्याय से पापार्जन कर रहा हूँ। इससे मेरा कल्याण नहीं हो सकता; क्योंकि इसमें सन्तसमागम या प्रभु-कथा तो है नहीं। गलत व्यक्ति को जिताना पाप है।" इस प्रकार वकालत के महान् पापों का आपको अनुभव होने लगा। आप बारम्बार विचार करते थे कि—

सन्तसमागम प्रभुकथा, तुलसी दुर्लभ होय।
सुत, दारा और लक्ष्मी, पापी के भी होय॥

व्यवसाय त्याग, स्वाध्याय की ओर

परिणामतः २३ वर्ष की सफल वकालत को तिलांजलि देकर आपने स्वाध्याय, चिन्तन-मनन एवं तत्परिणामभूत वैराग्य की ओर अपने कदम बढ़ाये। लेकिन अभी तक आपको धर्मशास्त्रों का ज्ञान बिलकुल नहीं था। आपने मात्र अंग्रेजी व उर्दू ही पढ़ी थी। हिन्दी व संस्कृत भाषा से आप सर्वथा अनभिज्ञ थे। आपने मुझे कई पत्र अंग्रेजी में ही लिखकर भेजे थे। आप कहा करते थे कि "मुझे अंग्रेजी में लिखना सरल पड़ता है; मैं हिन्दी नहीं जानता, मैंने मात्र उर्दू व अंग्रेजी पढ़ी है, अतः इन दोनों भाषाओं का ज्ञान है।"

इन दोनों भाषाओं का तो आपको अच्छा ज्ञान था ही, परन्तु जबसे आपने जिनवाणी का स्वाध्याय प्रारम्भ किया तबसे आत्मबल से हिन्दी, संस्कृत एवं प्राकृत में भी प्रवेश पा लिया और इस स्वाध्याय के फल-स्वरूप बहुत कम समय में ही आप संस्कृत व प्राकृत के जटिल वाक्यों का हिन्दी अर्थ करने में भी दक्ष होगये, यह महान् आश्चर्य था। विद्वज्जगत् की यह पहली विभूति रही है जिसने कि आत्मबल से, बिना गुरु की सहायता के ही हिन्दी, संस्कृत व प्राकृत जैसी भाषाओं का उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। कभी मैं पूछता "गुरुजी ! आपने इन भाषाओं का ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया ? आपने अध्ययन के समय तो ये भाषाएँ पढ़ी नहीं, फिर इतना गजब का ज्ञान कैसे है ?" तब वे उत्तर देते—"जवाहरलालजी ! यह सब जिनवाणी की सेवा का प्रसाद है। जिनवाणी की सेवा से इस संसार में कोई भी कार्य असम्भव नहीं रहता। ठीक ही कहा है कि—किम् अप्राप्यम् जिनभक्तियुक्ताय।"

आपने अपने गहन एवं विशाल अध्ययन का प्रारम्भ उमास्वामी-विरचित तत्त्वार्थसूत्र से किया। इसके पश्चात् परीक्षामुख ग्रन्थ का स्वाध्याय किया। फिर गोम्मटसार कर्मकाण्ड व जीवकाण्ड का स्वाध्याय किया। प्रत्येक शास्त्र का अध्ययन आपने बहुत-बहुत विनयपूर्वक किया तथा हर एक ग्रन्थ का अध्ययन तीन बार करके ही आप दूसरा ग्रन्थ प्रारम्भ करते थे। आप कहते थे कि "जिसमें विनय नहीं है उसने विद्या पढ़कर भी क्या किया" और हमें कहते थे कि देखो भाई ! नीति तो यही कहती है कि —

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मस्ततोजयः॥

गोम्मटसार जैसे शास्त्र में प्रविष्ट होना करणानुयोग में प्रवेश पा जाना है; आपने उसे पूरा आत्मसात् किया। फिर लब्धिसार-क्षपणासार का अध्ययन किया, अनन्तर धवलादि शास्त्रों का। इस प्रकार चार वर्ष की अल्पावधि में ही आपने चतुरनुयोग के सभी उपलब्ध प्रकाशित शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर लिया। यथा— **प्रथमानुयोग में** महापुराण, पाण्डवपुराण, पद्मपुराण, महावीरपुराण, स्वयंभूस्तोत्र, हरिवंशपुराण, जीवन्धरचम्पू आदिका अध्ययन किया।

चरणानुयोग में रत्नकरण्डश्रावकाचार, अमितगतिश्रावकाचार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, चारित्रसार, आचारसार, मूलाचार (उभय), मूलाराधना (भगवती आराधना), गुणभद्रश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, अनगारधर्मामृत, धर्मामृत, वसुनन्दिश्रावकाचार, मूलाचारप्रदीप, उपासकाध्ययन, रयणसार, प्रवचनसार आदि का अध्ययन किया। **द्रव्यानुयोग में** द्रव्यसंग्रह, बृहद्द्रव्यसंग्रह, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि का अध्ययन किया।

करणानुयोग में तत्त्वार्थसूत्र, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, पञ्चसंग्रह, षट्खण्डागम, धवलाटीका, जयधवलाटीका, महाधवल, कसायपाहुडसुत्त, सिद्धान्तसारसंग्रह, त्रिलोकसार, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, सुखानुबोधटीका, तत्त्वार्थभाष्य, अर्थप्रकाशिका, तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थसार, जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, गणितसारसंग्रह, लोकविभाग, लब्धिसार-क्षपणासार आदि का अध्ययन किया।

न्यायविषयक ग्रन्थों में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, परीक्षामुख, आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा, प्रमेयरत्नमाला, न्यायबिन्दु, न्यायविनिश्चय, आलापपद्धति, बृहद्द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, नयचक्रविभाग, युक्त्यनुशासन, सप्त-भंगीतरंगिणी, स्याद्वादमञ्जरी, प्रमेयकमलमार्तण्ड व अष्टसहस्री का अध्ययन किया।

स्मरणशक्ति अद्भुत होने से इस महान् आत्मा को वर्तमान में उपलब्ध समस्त वीरवाणी कण्ठस्थ थी। धवला, जयधवला व महाधवला के सहस्रों प्रकरण मौखिक याद थे। यही नहीं, इन तीनों ग्रन्थों के लगभग २०,००० पृष्ठों में कहाँ क्या उल्लिखित है, यह सब उन्हें स्मरण था। किन्तु घर में जब आपसे पूज्य माताजी (आपकी धर्मपत्नी) चाकू आदि के लिये पूछती कि "कहाँ पड़ा है ?" तो आपको ज्ञात नहीं होने से नकारात्मक ही उत्तर देते। घर की कौनसी वस्तु कहाँ पड़ी है, इसका आपको स्मरण नहीं था, मात्र जिनवाणी का स्मरण था।

एक दिन मैंने आपसे पूछा कि "आप भव्य है या अभव्य ?" तो उत्तर मिला कि "मैं भव्य हूँ, मुझे आत्मा का सच्चा श्रद्धान है;" ऐसा सहज स्वभाव से कह दिया। धन्य हो ऐसे सम्यक्त्वी, देशसंयमी, सहजस्वभावी एवं अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी व्यक्तित्व को।

सिद्धान्तशास्त्रों में शुद्धिपत्रों के निर्माता

करणानुयोग से सम्बद्ध किसी भी ग्रन्थ की टीका में किसी भी विद्वान् ने जिस किसी भी प्रकार की सहायता (संशोधन आदि सम्बन्धी) हेतु निवेदन किया तो उन्हें आपने समुचित सहयोग प्रदान किया। धवला, जयधवला व महाबन्ध (महाधवल) की सैकड़ों अशुद्धियों का आपने संशोधन करके इनके शुद्धिपत्र बनाकर विद्वानों को भेजे। मुख्तारदर्शित ये संशोधन (शुद्धिपत्र) ग्रन्थों के प्रारम्भ में विद्वानों द्वारा ज्यों के त्यों रख दिये गये।[1] धवलादि के अध्ययन के समय मुझे विदित हुआ कि इस पूज्यात्मा ने ये अशुद्धियाँ कैसे निकाली होंगी। अध्ययन के दौरान इन अशुद्धियों की ओर हमारा तो मस्तिष्क ही नही पहुँचता था। धन्य हो इस महान् पावन आत्मा को, जिसने शास्त्रों के गूढ़ अध्ययन में अपना सम्पूर्ण जीवन ही न्योछावर कर दिया।

स्व० पूज्य गुरुवर्यश्री की धवलत्रय सम्बन्धी अशुद्धियों को पकड़ने की अद्भुत क्षमता से सम्बद्ध दो घटनाएँ मैं नीचे लिखता हूँ :—

१. महाबन्ध पुस्तक ३ में अनेक अशुद्धियाँ थीं। गुरुजी ने महाबन्ध के सम्पादक-अनुवादक पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री को शुद्धिपत्र बनाकर भेजा। तब पं० फूलचन्द्रजी का पत्र आया कि "मुख्तार सा० ! आपके पास महाबन्ध की दूसरी प्रति है; जिससे कि मिलान कर आपने ये अशुद्धियाँ ज्ञात की हैं।" उत्तर में गुरुजी ने लिखा कि, "स्वाध्याय करते समय इसी पुस्तक से ये अशुद्धियाँ ज्ञात हुई हैं।" तब उनका पुनः पत्र आया कि "रतनचन्दजी ! आप किस प्रकार से स्वाध्याय करते हो जिससे कि ऐसी सूक्ष्म-सूक्ष्म अशुद्धियाँ भी ज्ञात हो जाती हैं।" इसके उत्तर में गुरुवर्यश्री ने लिखा कि "स्वाध्याय करने का वह ढंग पत्र में नहीं लिखा जा सकता; वह तो प्रत्यक्ष में ही बताया जा सकता है।" इस पत्राचार काल के कुछ दिवसों बाद ही दशलक्षण पर्व था। उसमें सहारनपुर की जैन समाज की ओर से प्रेषित निमन्त्रण से पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री दशलक्षण पर्व के दिवसद्वय पूर्व ही वहाँ (सहारनपुर) आ पहुँचे। तब फिर गुरुवर्यश्री ने फूलचन्द्रजी को प्रत्यक्ष में बतलाया कि स्वाध्याय किस प्रकार की जाती है। वे कहने लगे कि "इस प्रकार स्वाध्याय करने में तो स्मृति एवं समय की आवश्यकता है।" प्रत्युत्तर में गुरुजी ने कहा कि "ग्रन्थों के प्रकाशित होने से पूर्व आप प्रेसकापी डाक द्वारा मेरे पास भेज देवें। मैं उसका स्वाध्याय करके, शुद्धिपत्र बनाकर आपको भेज दूंगा। उनमें जो संशोधन आपको उचित लगें उन्हें शुद्धिपत्र में रख लेना।" तब से फिर पण्डित फूलचन्द्रजी ने प्रेसकापी भेजनी प्रारम्भ कर दी और पूज्य गुरुवर्यश्री उस प्रेसकापी का सूक्ष्म और गहन अध्ययन कर शुद्धिपत्र के साथ प्रेसकापी पुनः पण्डितजी के पास भेज दिया करते थे।

---

१. **एक सूचना के अनुसार पं० जी ने धवला की १६ पुस्तकों का एक नवीन सम्मिलित शुद्धिपत्र और तैयार कर तत्कालीन सम्पादकों को भेजा था परन्तु अद्यावधि उसका उपयोग देखने में नहीं आया है।—सं०।**

२. श्री पण्डित हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री 'कसायपाहुडसुत्त' का सम्पादन कर रहे थे। वे चूर्णिसूत्रों के अर्थ व विशेषार्थ जयधवला के आधार पर लिखते थे। एक स्थल पर जयधवल का प्रकरण उनकी समझ में नहीं आया तो वे सहारनपुर पधारे और गुरुवर्यश्री से कहने लगे कि जयधवल के इन तीन पृष्ठों का अर्थ लिख दो। गुरुवर्यश्री ने कहा कि "मैं संस्कृत व प्राकृत से अनभिज्ञ कैसे अर्थ करूँ? यह मेरी बुद्धि से बाहर है।" पण्डितजी ने कहा कि यह कार्य तो करना ही पड़ेगा। तब फिर पण्डितजी की आज्ञापालन हेतु गुरुजी ने अनुवादकार्य प्रारम्भ कर दिया। गुरुवर्यश्री को प्रकरण देखते ही ज्ञात हुआ कि लिपिकार से कुछ भाग छूट गया है तब गुरुजी के कहने पर पण्डितजी ने मूलबद्री पत्र लिखा कि ताड़पत्रीय प्रति से इसका मिलान कर सूचित करो कि यह प्रकरण ठीक है या कुछ भाग लिखने से रह गया है। तब पत्रानुसार मूलबद्री स्थित एक विद्वान् द्वारा वहाँ की प्रति से मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि लिपिकार से वस्तुतः कुछ अंश छूट गया था। तब पण्डित हीरालालजी ने स्वयं अर्थ कर लिया। यह है गुरुवर्यश्री की अनुपम विद्वत्ता का उदाहरण।

अद्भुत गणितीय बुद्धि

करणानुयोग का बहुभाग गणित से सम्बद्ध है। यही कारण है कि जो गणित का अच्छा विद्वान् हो वह त्रिलोकसार, धवलाटीका आदि में सुगमतया प्रवेश पा जाता है। धवला की तीसरी व दसवीं पुस्तक तथा त्रिलोकसार के चतुर्दशधारा आदि विषयक प्रकरण गणित से ओतप्रोत हैं। पूज्य गुरुवर्यश्री को गणित का अच्छा ज्ञान था। यही कारण है कि वे धवलादि के गणित-सम्बन्धी प्रकरणों को शीघ्र समझ लेते थे। स्वयं गुरुवर्यश्री का कहना था कि 'अगणितज्ञ मस्तिष्क करणानुयोग नहीं समझ सकता।' एक रोचक उदाहरण, जो कि उनके गणितज्ञान का व्यञ्जक है, नीचे प्रस्तुत करता हूँ —

सहारनपुर में श्री अनिलकुमार गुप्ता बी. एससी. में पढ़ते थे। इनके सहपाठी श्री सुभाष जैन प्रतिदिन रात्रि को ७.३० बजे पू० गुरुजी के घर पर 'त्रिलोकसार' पढ़ने जाया करते थे। एक दिन श्री सुभाष जैन के साथ अनिलजी भी आये। घण्टे भर की नियमित स्वाध्याय के बाद श्री गुप्ता ने पूछा कि इस ग्रन्थ में क्या विशेषता है? गुरुजी ने कहा—"इसमें अलौकिक गणित है और जैन गणित का छोटे से छोटा प्रश्न भी आप हल नहीं कर सकते।" श्री गुप्ता ने कहा—"तो कुछ पूछो, मैं अभी हल कर दूँ।" गुरुजी ने पूछा कि "वह संख्या बताओ जिसमें यदि दस जोड़ दिये जावें तो पूर्ण वर्ग बन जावे तथा उस संख्या में से दस घटा दिये जावें तो शेष भी पूर्ण वर्ग संख्या रहे।" इसको श्री गुप्ता वहाँ हल नहीं कर सके। एक सप्ताह बाद आकर उन्होंने गुरुजी से कहा कि मुझसे तो हल नहीं हुआ; मैं अपने प्रोफेसर साहब से हल करा लूँ। गुरुजी ने कहा, "ठीक है, उनसे हल करा लेना।" एक माह पश्चात् आकर श्री गुप्ता ने कहा कि मेरे प्रोफेसर सा० (गणित) यह कहते है कि प्रश्न गलत है। गुरुजी बोले कि प्रश्न समीचीन है, वह संख्या '२६' है। २६ में १० जोड़ने पर ३६ यह पूर्णवर्ग संख्या बन जाती है तथा दस घटाने पर भी १६ (अर्थात् २६—१०=१६) यह पूर्ण वर्ग संख्या प्राप्त होती है। इस प्रकार गुरुजी को ही स्वयं अपने प्रश्न का उत्तर देना पड़ा। फिर गुरुजी ने कहा कि उत्तर तो हमने बता दिया है, अब आप इसकी विधि बता दो तो पाँच रुपये मिठाई खाने के लिये दूंगा। परन्तु विधि ज्ञात करने में भी श्री गुप्ता व उनके प्रोफेसर सा० असफल रहे और गुरुजी से प्रभावित होकर उनसे जैन शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ किया। तत्त्वार्थसूत्र मौखिक याद कर लिया। प्रतिदिन जिनपूजा करने लगे तथा पिण्डदानादि अशुद्ध अजैन प्रथाएँ भी त्याग दी। तब से आज तक श्री गुप्ताजी की जैनत्व के प्रति अटूट श्रद्धा है। अभी श्री गुप्ताजी दिल्ली में इञ्जीनियर हैं तथा आज भी श्रावकोचित कर्त्तव्यों में संलग्न हैं। यह है पूज्य गुरुजी के गणितज्ञान की दर्शिका घटना। वास्तव में, गुरुवर्य को गणित, सिद्धान्त, अध्यात्म आदि नाना विषयों का गहन ज्ञान था, इसमें शंका निरवकाश है।

कतिपय पृच्छाएँ, कतिपय घटनाएँ

पूज्य गुरुवर्यश्री से मैंने एक बार पूछा कि किन्हीं विद्वानों में तो अत्यधिक विद्वत्ता एवं उपकर्तृ-भाव के सद्भाव के बावजूद भी उनकी प्रसिद्धि नहीं देखी जाती है सो......? उत्तर मिला—"भाई जवाहरलालजी ! प्रसिद्धि की चाह जीवन का नाश करने वाली है।" ये शब्द बड़े जोर से कहे। इन शब्दों को सुन कर मैंने अनुभव किया मानों उनके मुख से परम धर्मवाणी ही निकली हो। वास्तव में, विद्वान् यदि प्रसिद्धि के लिए सोचे-विचारे तो वह सच्चा विद्वान् ही नहीं; क्योंकि मोक्षमार्ग और तत्सम्बद्ध विद्वत्ता प्रसिद्धि को अनादेय ही बताते हैं।

इस महान् आत्मा से मैंने एक बार पत्र द्वारा पूछा कि आपके माता-पिता का क्या नाम है ? तो आपने उत्तर लिखा—"जवाहरलाल ! चेतन के माता-पिता होते ही नहीं, ऐसा प्रवचनसार में साफ लिखा है। मैं पुद्गल को जन्म देने वाले पुद्गल का नाम याद रखना नहीं चाहता।" धन्य है इस निर्ममत्व को।

एक बार मैंने पूछा कि गुरुजी करने योग्य क्या है ? उनका उत्तर था—आत्मा को पहिचानो, रागद्वेष का त्याग करो। यही नरजन्म का सार है, अन्य सभी बेकार है। आपका बारम्बार यही कहना था कि "यह मानुष परजाय सुकुल सुनिबो जिनवानी। इह विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी।" संसार एवं तत्कारणभूत रागद्वेष से बचकर रहो; यही जीवन का सार है। एक बार मैंने पूछा कि गुरुवर्यश्री ! रागद्वेष को हम हेय जानते हैं, समझते हैं, चिन्तन भी करते हैं (उनके हेयत्व का) परन्तु छूटता नहीं है, इसका क्या कारण है ? उत्तर मिला "भाई ! रागद्वेष कौन करता है ? यह तो पहले समझो। स्वनिधि की लहर जागे, पर से हटे, तो रागद्वेष छूटे ही छूटे।"

एक बार मैंने पूछा कि गुरुवर्य ! आपको इतना प्रगाढ़, विपुल व सूक्ष्म ज्ञान कैसे हो गया ? किसी गुरु के पास तो पढ़े नही। तो आपने सरल शब्दों में उत्तर दिया कि "मैं अध्ययन के साथ-साथ सदैव विद्वानों की सङ्गति करता आया हूँ। प्रतिवर्ष फाल्गुन मास में हस्तिनापुर में विद्वद्गोष्ठी हुआ करती थी। वहाँ अनेक विद्वान् वर्ष भर की अपनी-अपनी शङ्काएँ लाते थे तथा सभा में बैठ कर परस्पर सुनाते थे; जिससे एक ही शंका का अनेक विद्वानों द्वारा अपनी-अपनी शैली से समाधान हो जाता था। उसमें मैं भी प्रतिवर्ष भाग लिया करता था। साथ ही कई बार स्व० पूज्य वर्णीजी के पास ईसरी भी जाया करता था। इत्यादि कारणों से मैं थोड़ा समझ सका हूँ।" (इनके क्षयोपशम की उत्कृष्टता एवं विनयशीलता के कारण पूज्य वर्णीजी इनसे बहुत-बहुत प्रसन्न व प्रभावित थे।)

जब आप वकालत करते थे तब भी दशलक्षण पर्व के दिनों में वकालत का कार्य बिलकुल नही करते थे तो अन्य साथियों—जैन वकील, पेशकार आदि को आश्चर्य होता था कि एक दिन न करे, दो दिन न करे, चार दिन न करे; परन्तु रतनचन्दजी तो दसों दिनों तक इस कार्य सम्बन्धी (वकालत कार्य सम्बन्धी) बात करने को भी तैयार नहीं होते, धन्य हो इन्हें। ये क्या करते हैं दस दिनों में, आखिर दिन-रात ?

एक बार की बात है कि गुरुवर्यश्री (सहारनपुर) मन्दिरजी में पूजा करके बाहर निकलने के लिये सीढ़ियों से उतर रहे थे। उस समय कुछ श्वेताम्बर साधु उन्हें मिले और पूछने लगे—"क्या नाम है आपका ?" गुरुजी बोले, 'मुझे रतनचन्द कहते हैं।' उन्होंने पुनः पूछा कि क्या आपने धवल का स्वाध्याय किया है ? गुरुजी ने कहा, हाँ, क्यों नहीं ? सम्यक्तया किया है। तब उन्होंने कहा कि "तो फिर अब तो आपको भी स्त्री-मुक्ति को मान लेना पड़ेगा।" गुरुजी ने कहा, "दिगम्बर-सिद्धान्त-ग्रन्थों में ऐसा कहाँ लिखा है ? आप करणानुयोग के आधार पर बात कीजिये। करणानुयोग में हर बात नियम की है। हाँ, आपके भी कुछ ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति का निषेध है।" तब

श्वेताम्बर साधुओं ने कहा कि हमारे ग्रन्थों में ऐसा कहाँ लिखा है कि स्त्री को मुक्ति नहीं हो सकती ? तब गुरुजी ने कहा कि आप कहें तो मैं बता दूँ। तब श्वेताम्बर साधुओं के कहने पर पूज्य गुरुजी श्वे०पञ्चसंग्रह अपने पुस्तकालय से उठा लाये और उसमें से प्रकरण निकालकर उन्हें बताया कि देखो, "यह लिखा है स्त्री-मुक्ति का निषेध, आप ही पढ़िये...............।" श्वेताम्बर साधु पढ़ने लगे और पढ़कर कहने लगे कि भाई ! आप इस श्वेताम्बर ग्रन्थ को कहाँ से लाये हो ? गुरुजी ने कहा, "मैं कहीं से भी लाया हूँ, पर है तो श्वेताम्बर ग्रन्थ ही ना ? आपके ग्रन्थों की बात तो मानिये।" उस प्रकरण में जब साधुओं ने पढ़ा कि स्त्री को तीन हीन संहनन ही होते हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में उत्तम प्रथम संहनन का ही उदय सम्भव है तो वे इसे पढ़कर चकित रह गये और कहा कि "वस्तुतः आपकी (दिगम्बरों की) बात सही है। स्त्री-मुक्ति मानना गलत है; मल्लिनाथ पुरुष थे, न कि स्त्री।" इसी तरह कई स्थानों पर चर्चाओं में जाकर आर्ष प्रमाणों से आपने दिगम्बर सिद्धान्तों की सत्यता प्रकट की थी।

एक बार की बात है कि आपकी पत्नीश्री मन्दिरजी जा रही थीं तो रास्ते में साइकिल से टक्कर लग जाने से इनके पाँवों में भयङ्कर चोट लगी और ये नीचे गिर गयीं। उस समय एक-दो व्यक्तियों ने, जो घटना-स्थल पर थे, मिलकर इन्हें उठाया तथा तत्काल घर पर सूचना भेजी। गुरुजी यह दुःसंवाद सुनकर बिलकुल सामान्य स्थिति में रहते हुए, बिना धैर्य खोए यथोचित निदान में लग गये। सामान्य गृहस्थीजन की तरह उस घटनाकाल में आने वाली बेचैनी का अंश भी नहीं। उस समय उनको विशेष पूछा तो फरमाया कि—"चिन्ता नहीं करनी चाहिये, सद्गृहस्थ चिन्ता नहीं करता है, चिन्ता करना पाप है। उसे तो समयोचित पुरुषार्थ करते जाना चाहिये तथा स्वश्रद्धान नहीं खोते हुए; पर में ममत्व व पर से आशा का त्याग करते हुए उचित कर्त्तव्य निरन्तर करते रहना चाहिए। बस, यही तो मार्ग है।"

पूज्य गुरुवर्यश्री का तो यहाँ तक कहना है कि मोक्ष की भी चिन्ता न करो, चिन्ता से मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष तो श्रद्धानपूर्वक सम्यग्धी की परिप्राप्ति के साथ-साथ संयम की पूर्णता का फलभूत है; चिन्ता का कार्यभूत मोक्ष नहीं।

जब हमने पूछा कि गुरुवर्य ! आत्मा का हित क्या है ? तो पूज्यश्री ने प्रशान्तभाव से मुस्कराते हुए प्रतिवचन दिया कि बस, आत्मा का हित आत्मा है। मैं एक दम विचारमग्न हो गया कि इसमें क्या रहस्य है ? फिर अल्पकालीन विचार के बाद स्वयं मैंने पाया कि "वस्तुतः आत्मा का हित आत्मा है।" इसका विस्तार यह है कि आत्मा अर्थात् जीव का हित अर्थात् कल्याण आत्मा अर्थात् स्व ही है। अर्थात् आत्मा का हित स्व अर्थात् स्वाश्रय ही है। पराश्रय ही आत्मा का अहित है। जब हमने पुनः पूछा कि गुरो ! आत्मा का अहित क्या है ? तो प्रत्युत्तर मिला कि पर से अपनी पूर्ति चाहना अर्थात् पर से अपना हित चाहना। तब इतना सुनते ही पूर्व का उत्तर भी सरलीकृत हो गया था। वास्तव में जो पर से स्व-हित बुद्धि का त्याग करदे वही महामानव बन जाता है। यही सफलता पाने की कुँजी है।

जब किसी ने आपसे पूछा कि पण्डितजी ! पद्मपुराण आदि तो विशेष प्रामाणिक नहीं हैं ना ? तो गुरुजी ने उत्तर दिया कि भाई ! पद्मपुराण आदि भी शतप्रतिशत प्रामाणिक हैं। इसका कारण यह कि वे भी आर्ष-ग्रन्थ हैं और देववाणी हैं, इसमें शङ्का मत करना।

कुरावड़ की प्रतिष्ठा में श्रावक श्री कानजीस्वामी आये थे। प्रतिष्ठा के पश्चात् आप कुछ दिवस उदयपुर ठहरे थे। इस अवधि में मैं भी उदयपुर ही था। आप श्री जितमलजी संगावत (सरबत विलास के पास) के घर ठहरे थे। सायं (७ से ८ बजे तक) शंका-समाधान चलता था तथा सुबह एवं दोपहर में एक-एक घण्टे तक

आपका प्रवचन होता था। दिनांक २४-५-७८ को दोपहर में प्रवचन में आपने कहा था कि मुनि की निद्रा पौण सैकण्ड मात्र होती है। यह सुनकर मैं आश्चर्य में पड़ गया। क्योंकि किसी भी सिद्धान्तशास्त्र में मैंने ३/४ सैकण्ड निद्रा का नियामक वचन नहीं पढ़ा था। तो उसी दिन सायं मैंने शंका की कि—आपने आज प्रवचन में मुनि-निद्रा का काल ३/४ सैकण्ड मात्र बताया सो क्या छठे गुणस्थान का काल ३/४ सैकण्ड मात्र ही है ? यदि हाँ, तो शास्त्रों में कहाँ उल्लिखित है ? यदि नहीं तो स्ववचन विरुद्धत्व का अपरिहार्य प्रसङ्ग समुपस्थित होता है। मुनि-निद्रा इतनी ही क्यों है, बतावें ? इस पर श्री कानजीस्वामी का उत्तर था कि मुनि की निद्रा ३/४ सैकण्ड ही है, इससे ज्यादा नहीं; परन्तु इसके बारे में विशेष तो मुख्तार जाने, मुझे ज्ञात नहीं। इस पर तत्काल डा० भारिल्ल साहब बोल उठे कि कौन मुख्तार ? तो स्वामीजी ने कहा कि "रतनचन्द मुख्तार सहारनपुर वाले।"

जब उन्होंने अपनी एतद्विषयक बुद्धि का मूल ही गुरुवर्यश्री रतनचन्द को बतला दिया तब मैंने आगे प्रश्न करना अनुचित समझा एवं शान्त बैठ गया।

जब उदयपुर के अग्रवाल तेरह पन्थ मंदिरजी में वेदी प्रतिष्ठा थी तब पण्डित हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री को साढुमल से बुलाया गया था। मैं भी पण्डित साहब के दर्शनार्थ उदयपुर गया। वहाँ मैंने अपनी कुछ सैद्धान्तिक शंकाएँ भी रखीं और उन्होंने समाधान प्रस्तुत किये। इसी बीच उन्होंने पूज्य रतनचन्दजी का प्रसङ्ग निकाला और उनके बारे में कहा कि—"ब्रह्मचारी पण्डित रतनचन्द मुख्तार मुझे गुरु मानते हैं परन्तु मैं कहता हूँ कि गुरु गुड़ रह गये, चेला शक्कर हो गये। रतनचन्द मुख्तार का ज्ञान तो गजब का ही है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि वे ज्ञानी होते हुए भी त्यागी हैं। धवलादि का उनका सूक्ष्मतम बोध है।" फिर मैंने पूछा कि मैं आपको सैद्धान्तिक शंकाएँ परिहारार्थ भेजना चाहता हूँ। तो पण्डित हीरालालजी ने एक ही उत्तर दिया कि—धवलादि की शंकाओं के समाधान के लिये रतनचन्दजी से ही मिलिये।

धन्य हो उन्हें कि जिन्हें शीर्षस्थ विद्वान् भी अपने से उच्चस्तरीय बोद्धा के रूप में देखते थे।

एक बार मैंने आपसे कहा कि आपको तो भारत में बहुत कम व्यक्ति जानते हैं। तो पूज्य गुरुवर्य ने तत्काल उत्तर दिया कि "भाई ! ख्याति सम्यक्त्व व मोक्ष का कारण नहीं, अतः जिसे ख्याति की चाह है वह निदान आर्तध्यान वाला है। इस पुद्गल की ख्याति मैं नहीं चाहता। अनन्त चक्रवर्ती हुए उनके नाम भी लोग भूल गये, आज उनके नाम कोई नहीं जानता है। ढाईद्वीप में अभी जो संख्यात अव्रती सम्यक्त्वी मनुष्य हैं उन सभी के नाम हम नहीं जानते हैं। इतना ही नहीं, विहरमान व वर्तमान लाखों केवलियों के भी नाम आप हमको ज्ञात नहीं; तो इससे उनको कोई नुकसान हो गया क्या ? भाई ! इससे उनका क्या होना-जाना है, उनके कोई कमी नहीं हो जाती। उसी तरह से हमारी ख्याति न भी हो तब भी स्वकीय-आत्म गुणों में कमी नहीं हो जाती। ख्याति चाहना जीवन की विफलता है, ख्याति न चाहो।"

अभी-अभी सन् १९७८ की बात है कि सहारनपुर में बाढ़ आई; जिससे आपका मकान भी क्षतिग्रस्त हो गया। दो-तीन दिन तक मकान के चारों तरफ पानी भरा रहा (कुछ ऊँचाई तक)। आप उस समय आनन्दपुर-कालू (राज०) में पूज्य आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज के संघ में थे। घर पर कोई नहीं था। आपको सहारनपुर लौटने पर स्थिति की जानकारी मिली। तब आपने क्षतिग्रस्त मकान की मरम्मत करवाई। कुछ दिनों बाद मुझे भी ज्ञात हुआ, जानकर महान् दुःख हुआ। पत्र द्वारा मेरी दुःखाभिव्यक्ति प्राप्त होने पर आपने उत्तर लिखा—

"देखो भाई ! मकान को बाढ़ से क्षति पहुँची है, यह तो होना था सो हुआ। मकान परिग्रह है तथा परि-ग्रह पाप है। पाप यदि थोड़ा क्षतिग्रस्त (कमी को प्राप्त) हो गया तो इसमें चिन्ता की बात क्या ?"

धन्य हो ऐसे महान् अनुभवी, आत्मसंस्कारी, भावत्यागी प्राणी को; जो विकट परिस्थिति में भी आत्मसुख को ही महत्त्व देते थे तथा सत्य विचारों एवं पारलौकिक मार्ग से च्युत नहीं होते थे।

साधुभक्ति

आपकी साधुभक्ति अनुपम एवं सराहनीय थी। सहारनपुर में ही एक आर्यिका माताजी के समाधिमरण के काल में आपने निरन्तर निकट रहकर सेवा की एवं सुसमाधिमरण कराया। जब-जब भी सहारनपुर में मुनिसंघ आये, आपने प्रायः आहारदान आदि दिया। प्रतिवर्ष आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज के संघ में जाकर ज्ञानदान, आहारदान आदि देते थे। यदा-कदा अन्य साधुसंघों में भी जाकर यथाशक्ति साधुसेवा करते थे। वस्तुतः ज्ञानी तो साधुभक्त होता ही है, होना भी चाहिये।

शंकाओं के समाधाता

आपने सन् १९५४ से आयु के अन्त तक विभिन्न सैद्धान्तिक शंकाओं का समाधान **जैन सन्देश व जैन-गजट** के माध्यम से किया। प्रतिदिन विभिन्न स्थानों से आयी शङ्काओं को उसी दिन समाहित (समाधान) करके शंकाकार को तुरन्त उत्तर भेज देते थे। यद्यपि वर्तमान भव में आपने कोई विशेष अध्ययन नहीं किया था तथापि पूर्वभविक संस्कारों से इतना ज्ञान आपमें था कि जिससे मूल प्राकृत व संस्कृत भाषा में लिखित गूढ़ सिद्धान्तग्रन्थों में भी रही भूलों को आपने सुधारा। शङ्काएँ समाधान सहित इसी ग्रन्थ के शंकासमाधानाधिकार में निहित है जिससे आपके सुसमाधातृत्व की अभिव्यञ्जना स्वयं हो जायगी। काश ! आज वैसा कोई समाधाता होता।

उपदेष्टा, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, आदर्श श्रावक

आप उपदेश बहुत कम देते थे, पर जब भी देते थे तब मर्मभरा व जीवन को राह दिखाने वाला। आपके उपदेश विद्वानों की समझ में तो शीघ्र आ जाते थे; परन्तु अल्पज्ञ श्रावक उपदेशकाल में उठकर चले जाते थे। यतः विशिष्ट प्रज्ञिलों का प्रवचन भी विद्वद्गम्य-सूक्ष्म ही हुआ करता है। आखिर कब तक स्थूल प्ररूपणा होती रहे? यह नरभव तो बार-बार मिलने का है नहीं।

गुरुवर्यश्री विशिष्ट ज्ञानी होते हुए भी बहुत सेवाभावी थे एवं ठीक वैसे ही स्वयं के कार्य में अन्य के साहाय्य की अपेक्षा नहीं रखने वाले पुरुषार्थी भी। इतना ही नहीं, वे श्रावक के सकल नित्य-नियमों के पालन करने व कराने वाले आदर्श श्रावक थे। एक कवि ने आपकी प्रशस्ति में ठीक ही लिखा है—

ज्ञान ध्यान लवलीन है, लीन क्रिया आचार।
सतत ग्रंथ मणतो रहे[1], रतनचन्द मुख्तार ॥१॥
स्वारथ त्यागी गजब है, गजब सुणो जिनभक्त।
श्रावक सुपथ सन्दर्शक, रत्नत्रय अनुरक्त ॥२॥
साधु नो लघुनन्दन वो, अग्रज है नेमितणो।
ज्ञानी नो गुरु मुख्य वो, रतन है कीमती घणो ॥३॥

पूज्य गुरुवर्यश्री भाषाज्ञान, शास्त्रज्ञान, अध्यापनकला एवं विनयगुण के धनी थे। इस युग के आप अद्वितीय अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी धर्मात्मा सत्पुरुष थे, इसमें शंका को अवकाश नहीं है। धन्य है आपके माता-पिता को जिन्होंने

---

१. **"ग्रन्थाध्ययन प्रवीण है" ऐसा भी ठीक है।**

आप सदृश पुत्ररत्न को जन्म दिया। उल्लेखनीय तो यह है कि आपने अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावना को भाते हुए पैंतीस वर्षों में जो कुछ अर्जित किया उस बोध को अन्य तक पहुँचाने की आपकी तीव्र इच्छा थी। आप इतना तक कहते थे कि "मैंने स्वाध्याय से जो कुछ उपार्जित किया है वह किसी पिपासु-जिज्ञासु तक पहुँच जाय। अध्ययन काल में, मैं उस जिज्ञासु को अपने घर रखकर भोजन खिलाऊँ, कुछ मासिक भी दूँ; पर मेरा अर्जित बोध येन केन प्रकारेण अन्य तक पहुँच जाय, ऐसी मेरी भावना है।" धन्य है, ऐसी पावन व अपूर्व ज्ञानदानभावना वाले हे पू० रतनचन्द! आपको धन्य है।

आपके उपदेशों का सार-संक्षेप इस प्रकार है—यो तो संसार मे कई जन्म पाते हैं एवं इस मनुष्य व्यञ्जन-पर्याय को छोड़कर भी चले जाते हैं, परन्तु वास्तव में तो जन्म उसी ने लिया है कि जिसके जन्म लेने से वंश, समाज एवं धर्म समुन्नति को प्राप्त हो जाय। कहा भी है—

स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे, मृतः को वा न जायते॥

आपका विशिष्ट तौर से कहना था कि एक क्षणभर भी बिना स्वाध्याय के न बिताओ, प्रतिक्षण स्वाध्याय करते रहो; क्योंकि यह सर्वोत्कृष्ट तप है। स्वाध्याय प्रशस्त कर्मों के बन्ध व कर्मनिर्जरा का कारण है। आप कहते थे कि संसार में सारभूत कार्य है "स्व-पर विवेक"। जिसे स्व-आत्मरूप अमूल्य निधि का श्रद्धान न हुआ उसने शास्त्र पढ़कर ही क्या किया? आपके प्रवचन थे कि "कुकर्म मत करो, परन्तु कुकर्म होने भी मत दो।" आत्मा तो अजर है, अमर है, शाश्वत है, नित्य है। अनाद्यनन्त इस चेतन आत्मा से शरीर तो त्रिकाल भिन्न (लक्षणों की अपेक्षा) है। नाशवान् शरीर से निर्मम होता हुआ यह चेतन ही चेतन को जानकर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तथा मोक्षमार्ग प्राप्त करता है एवं संयमरूप चारित्र को दुर्लभ नरपर्याय में ग्रहण कर शाश्वतसुख प्राप्त करता है, जो कि आत्मा का अन्तिम कर्तव्य है। बस, यही नरभव का सार है। इस कथन को शब्दों में नहीं, भावों में समझना है और तद्रूप होना है। अन्यथा मनुष्य बने और नहीं बने, दोनों समान हैं। आपका कहना था कि जानना (सम्यग्ज्ञान) तभी सफल है जबकि आचरण में लाया जावे अर्थात् ज्ञान के अनुसार आचरण किया जाय। चारित्र के बिना दशपूर्वज्ञ सम्यग्दृष्टि को भी मोक्ष नहीं होता। पूर्ण चारित्र के बिना शान्ति का स्थान पञ्चमगति नहीं मिल सकती तथा सासारिक सुख नगण्य है, क्षणिक हैं, हेय है, अनुपादेय है। अतः साक्षात् मोक्ष का कारणभूत चारित्र यदि सर्वदेश न पाला जा सके तब भी एक देश तो पाला ही जाना चाहिये। **जिसने आंशिक संयम (देशव्रत) भी न पाला उसका मनुष्यत्व पाना ही व्यर्थ है; क्योंकि मात्र सम्यग्दर्शन तो सर्वगतियों में सम्भव है।**

परिवार परिचय

आपकी अर्द्धांगिनी श्रीमती माला ने दो पुत्रों और तीन पुत्रियों को जन्म दिया। छोटे पुत्र का अल्पायु में ही निधन हो गया। इसके निधन के कुछ समय बाद ही श्रीमती माला का भी देहावसान हो गया। अनन्तर सन् १९३३ में 'सज्जमाला' जी से आपका दूसरा विवाह हुआ। इनसे आपको किसी सन्तान की प्राप्ति नहीं हुई। अभी सज्जमालाजी की आयु ७१ वर्ष है। वात रोग एवं पाँवों में दर्द रहने के कारण आप रुग्ण ही रहती है। गुरुवर्यश्री के इकलौते पुत्र श्री पुरुषोत्तम कुमार जैन—जिनकी आयु इस समय ५६ वर्ष है—कलकत्ता में सर्विस करते हैं। आपके पौत्र भी एक ही है—श्री सुभाषचन्द्र। अभी वे ३८ वर्ष के हैं और देहरादून में रहते हैं। पुत्र व पौत्र दोनों के घर से काफी दूर रहने से घर का सारा भार गुरुवर्यश्री पर ही रहता था। गुरुवर्यश्री की तीन पुत्रियाँ—सुवर्णलता, कुसुमलता और हेमलता हैं; तीनों विवाहिता हैं। पूरा घराना नेकवृत्ति को लिये हुए है।

वियोग :

सन् १९८० में आप कहा करते थे कि "मेरे एक अग्रजश्री की भी ७९वें वर्ष में मृत्यु हुई। माता भी ७९वें वर्ष में ही देहावसान को प्राप्त हुई, अतः मेरी आयु के इस ७९वें वर्ष में मेरी भी मृत्यु होगी, ऐसा आभास होता है।" जीवकाण्ड की टीका कहीं अधूरी न रह जाय, इसकी आपको चिन्ता थी। ता० २६-११-८० तक मात्र सैंतीस गाथाओं की टीका लिखनी बाकी रही थी। दि० २१ से २६ नवम्बर ८० तक तो आपने खड़े-खड़े जिनपूजा की थी; जबकि आप वर्षों से (वृद्धावस्था में) प्रायः बैठे-बैठे ही पूजन करते थे। यद्यपि ता० २७ को आपका स्वास्थ्य विशेष खराब हो चुका था, परन्तु आपने किसी भी नित्यनियम में कमी नहीं आने दी। इसी दिन विनोदकुमारजी को आपने कहा था कि जीवकाण्ड की शेष रही ३७ गाथाओं की टीका अब श्री जवाहरलालजी पूरी करेंगे। हमारी तो आयु पूर्ण हो चुकी सी है। [आपको १७ दिवस पूर्व ही अपने पर्यायान्तर के आसार नजर आ गये थे। इसीलिये तो आपने ता० ११ नवम्बर ८० को ही मुझे लिख दिया था कि "आहारमार्गणा की टीका आपने बहुत सुन्दर लिखी, केवल लिखने का ढंग बदलना पड़ा। सम्भवतः आपके पास कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा नहीं दिखती है, अन्यथा समुद्घात के उदाहरण आप उसमें से देते। अब मुझे विश्वास हो गया है कि आप अवशिष्ट कार्य पूरा कर लेंगे। अब मेरी आयु का भरोसा बिलकुल नहीं है, अतः शेष कार्य आपको ही पूरा करना होगा। मैं मेरी लिखी टीका व ग्रन्थ विनोदजी से भिजवा दूँगा"..............] ता० २८-११-८० को आपकी तबियत बहुत बिगड़ चुकी थी। यह दिवस तो धर्मवृद्ध को ले जाने वाला यमदूत था। आपने इसी दिन सन्ध्या को ७ बजे ईशस्मरणपूर्वक इस नश्वर शरीर का परित्याग कर महाप्रयाण किया। घर पर आपके अनुज ब्र० पं० नेमिचन्दजी, शिष्य विनोदजी, पत्नी श्रीमती सब्जमालाजी आदि सभी नितान्त शोकाकुल थे। जल से सिक्त उनके नेत्रयुगलमय शरीर देखते नहीं बन रहे थे, लेकिन अब क्या हो सकता था? अहो! करणानुयोग का सितारा भारतदेश में नरपर्याय में आकर पुनः पर्यायान्तर को चला गया। आखिर होनहार कौन टाल सकता है?

आप संसार से भयभीत थे। स्वनिधि के प्रति आपको आश्रयबुद्धि थी। पर से ममत्वभाव आपकी बुद्धि में अंशभर भी नहीं था। सम्यगेकान्त या सम्यगनेकान्त ही आपका आश्रय था। रागादि बहुत मन्द (यथा गुणस्थान) थे, आप भावश्रावक थे। देव-गुरु शास्त्र के प्रति आपकी अनन्य विनय थी। आप संसार में रहते हुए भी जलकमलवत् थे। मुझसे पूछो तो आप निकटभव्य एवं आशुमुक्ति के पात्र थे।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वे सद्गति को प्राप्त हों तथा यथाशीघ्र शिवधाम पधारें।

आपको मेरे अनन्त वन्दन !

—पं० जवाहरलाल जैन, सि० शास्त्री

❂

पं० रतनचन्द मुख्तार

की

विविध छाया-छवियाँ

पण्डितजी तरुण रूप में

युवा पण्डितजी

सहारनपुर में पण्डितजी का आवास

पण्डितजी के लघु भ्राता श्री नेमिचन्द मुख्तार व पं० जवाहरलाल जैन सि० शास्त्री

अनुज श्री नेमिचन्द मुख्तार
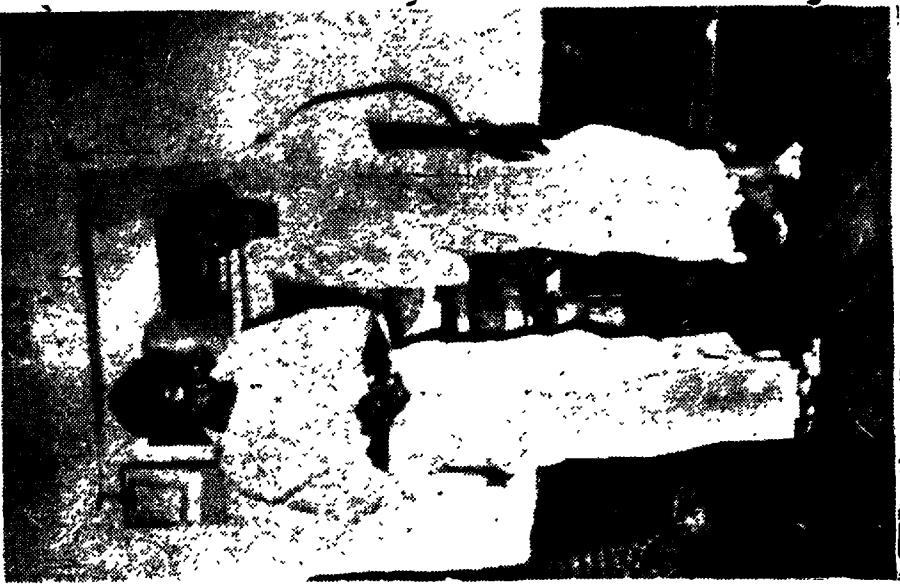
पं० रतनचन्दजी अपने प्रधान शिष्य
पं० जवाहरलालजी के साथ
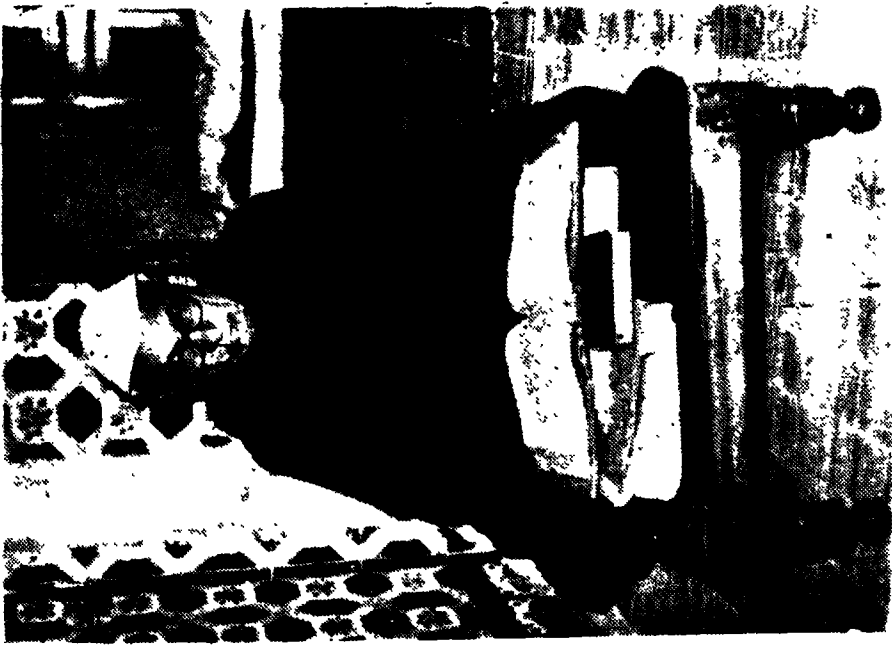
पूज्य पण्डितजी जाप करते हुए

श्रीमती सब्जमालाजी (पत्नी) जाप करते हुए

ज्ञान भण्डार की एक झलक
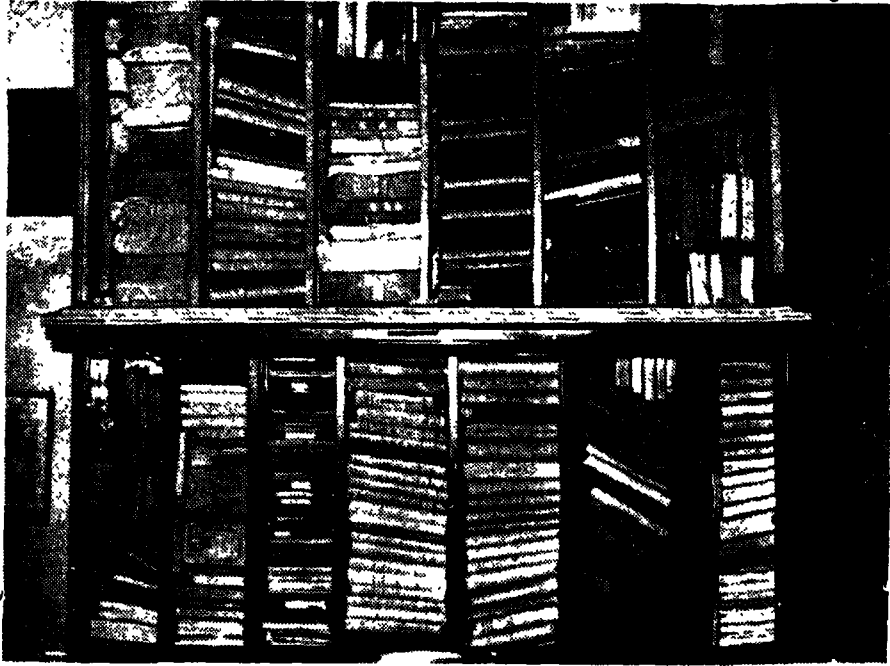
शास्त्र का आधार लेकर शंका का समाधान लिखते हुए
पूज्य पण्डितजी

प. पू. १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज को आहार कराते हुए पूज्य पण्डितजी

प. पू. १०८ आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज व मुनि श्री वर्धमानसागरजी महाराज के साथ स्वाध्याय संलग्न मुख़्तार सा.

आहार-दान की प्रक्रियाओं में संलग्न
पं० रतनचन्द जैन मुख्तार

साधु-सेवा परायण मुख्तार सा० की
विविध छवियां

सिद्धान्तज्ञाग्रणी स्व० रत्नचन्द्र :

*** प० पू० १०८ अजितसागरजी महाराज : आ० शिवसागरजी महाराज के शिष्य**

येन पुरुषेण नरपर्यायं प्राप्य जिनागमसम्मतव्रतनियमादिकं धृतं पालितं च तस्य नरस्य जन्म सफलमस्ति। एतत्सर्वं रत्नचन्द्रेण सफलीकृतम् अतः आत्महितमिच्छद्भिः पुरुषैः स्व० रत्नचन्द्र आदरणीयः स्तुत्योऽनुकरणीयश्चास्ति। ※

मंगल भावना

*** पूज्य १०८ मुनिश्री वर्धमानसागरजी महाराज**

स्वर्गीय पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार सा० जैनजगत् के अद्वितीय विद्वान् थे। सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ आदि उपाधियाँ प्राप्त किये बिना भी आप विद्वानों के श्रद्धा-भाजन बने। किसी भी विद्वान् के सान्निध्य में जैन सिद्धान्त के क्रमबद्ध अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त न होने पर भी आपने स्वयं अपने पुरुषार्थ से जैनागम रूपी सागर में डुबकी लगाकर बार-बार आगम के मन्थन-रोमन्थन से ज्ञान के महार्घ्य मोती प्राप्त किये थे।

पण्डितजी से मेरा प्रथम साक्षात्कार सन् १९६८ में प्रतापगढ़ (राजस्थान) में परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के ससंघ चातुर्मास के मङ्गलमय अवसर पर हुआ। उन दिनों संघस्थ साधुगण चतुरनुयोग सम्बन्धी ग्रन्थों में से विशेषकर करणानुयोग के विभिन्न ग्रन्थों का स्वाध्याय कर रहे थे। मैंने देखा कि करणानुयोग जैसे दुरूहतम विषय को समझाने में पण्डितजी सा० अपना अपूर्व एवं अनुभवपूर्ण योग देते थे। उस समय तक प्रस्तुत अनुयोग सम्बन्धी आपका ज्ञान अगाध हो चुका था। उसके पश्चात् सन् १९७४ के वर्षायोग मे आपका सान्निध्य मिला। यद्यपि मेरी अभिरुचि विद्यार्थीवत् ही थी परन्तु तब मैं अनगार दीक्षा ग्रहण कर चुका था। मैं तो सदैव ही शैक्ष्य अनगार बनकर अध्ययन की ही अभिरुचि रखता हूँ। सन् १९७४ के पश्चात् तो प्रायः पण्डितजी से सम्पर्क बढ़ता ही गया। इन्हीं दिनों मैंने उनके जीवन को निकट से देखा। जो देखा उसके अनुसार मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि पण्डितजी करणानुयोग के तो उत्कृष्ट विद्वान् थे ही परन्तु जैन धर्म के अन्य तीन अनुयोगों पर भी आपका अच्छा अधिकार था। जब वे धवलादि ग्रन्थों का आधार लेकर नवतर बातें उद्धृत करके जिज्ञासुजनों की शङ्काओं का उत्तर देते थे तब कभी-कभी ऐसा आभास होता था कि "कहीं वीरसेनाचार्य ही तो इनके भीतर नहीं बोल रहे हैं।"

यद्यपि आपकी शिक्षा उर्दू और अंग्रेजी माध्यम से ही हुई थी तथापि स्वतः ही सतत अभ्यास के बल से आपने हिन्दी-भाषा की भी अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी। साथ ही नित्य प्रति ८ से १६ घण्टे तक सिद्धान्त-ग्रन्थों एवं अन्य ग्रन्थों के अभीक्ष्ण-आलोड़न से संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में भी प्रवेश पा लिया था। इसका ज्वलन्त उदाहरण है आपके द्वारा लिखी गई "क्षपणासार" टीका जो आपने जयधवल मूल के चारित्रक्षपणाधिकार के अनुसार लिखी थी। कषायपाहुड़ की जयधवल टीका का यह भाग अब हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है।

वकालत आपकी आजीविका का साधन रही किंतु जबसे उसे छोड़ा तभी से आपने जैनदर्शन के विभिन्न ग्रन्थों का गहरा अध्ययन-मनन-चिन्तन लगभग ३५ वर्षों तक किया। जीवन के अन्तिम वर्षों में आपने सिद्धान्तग्रन्थों की

टीकाएँ लिखीं। आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित "लब्धिसार" "क्षपणासार" की टीका तो प्रकाशित हो गई है। "गोम्मटसार" जीवकाण्ड की नवीन वृहद् टीका आप अपने जीवन के उपान्त्य दिवस पर्यन्त लिखते रहे थे। मात्र ३७ गाथाएँ शेष रह गई थीं। "त्रिलोकसार" तथा "गोम्मटसार"-कर्मकाण्ड प्रकाशित हो चुके हैं; नवीन हिन्दी टीका सहित इनके सम्पादन में आपका अहर्निश स्तुत्य सहयोग प्राप्त हुआ था। इनके अतिरिक्त भी आपने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया, जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण विषयों पर छोटे ट्रैक्ट लिखे। इस प्रकार आपने अपना समग्रजीवन "श्रुतसेवा" में व्यतीत किया; यह सेवाक्रम आयुपर्यन्त अबाध गति से चलता रहा।

स्वर्गीय मुख्तार सा० के प्रति मेरी यही मङ्गलभावना है कि वे यथाशीघ्र संसार एवं इसके दुःखों से मुक्ति-लाभ करें।

अभीक्षणज्ञानोपयोगी

* पूज्य १०५ आर्यिका श्री जिनमती माताजी

ज्ञानाभ्यास करें मन मांही, ताके मोह महातम नाहीं ॥

जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ ज्ञान द्वारा गम्य होते हैं अतः ज्ञान को भानु से उपमित किया जाता है। भानु का प्रकाश सीमित है किन्तु ज्ञान रूप प्रकाश अनन्त आकाश से भी अनन्त है, निस्सीम है। यह प्रकाश प्रत्येक आत्मा में स्थित है। कर्मरूपी रज के कारण वह आच्छादित है; अंशरूपेण विकसित है। सत्पुरुषार्थ के बल से ज्ञानीजन कर्मावरण को अल्प करते हुए क्रमशः उस अविनश्वर, व्यापक एवं पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करते हैं—**यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते,** जिस ज्ञान के अन्तर्गत तीनों लोक गौ के खुर समान प्रतीत होते हैं अर्थात् अल्प-अल्पल्प प्रतीत होने हैं।

वर्तमान में ज्ञान का बहुत बोलबाला है। बड़े-बड़े विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालयों में अनेकानेक व्यक्ति अध्ययनरत हैं किन्तु उनका यह ज्ञान एक मात्र भौतिक पदार्थों तक ही सीमित है एवं वासनादि विभावों को विस्तृत करने वाला ही सिद्ध हो रहा है। ज्ञान तो वह है—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥१॥

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ति पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥२॥

अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्वों को जाना जाता है, जिसके द्वारा चित्त का निरोध होता है अर्थात् मन रूपी गन्धहस्ती वश में होता है व जिससे आत्मा सुविशुद्ध होता है, जिनशासन में उसी को ज्ञान कहा है। जिसके द्वारा रागादि विकार नष्ट होते हैं, जिससे श्रेयोमार्ग में रुचि होती है व जिसके द्वारा जीव मात्र के प्रति मित्रता प्रस्फुटित होती है, जिनशासन में उसी को ज्ञान कहा है।

आत्मोन्नतिकारक इस विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करने के लिये सत्य के उपदेष्टा पूर्ण ज्ञानी तीर्थङ्करों द्वारा अर्थरूप से प्रतिपादित एवं गणधर, आचार्यादि द्वारा विरचित ग्रन्थों का अध्ययन-मनन आवश्यक है। इन ग्रन्थों का

सतत अध्ययन अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहलाता है परन्तु इसमें भी यदि ख्यातिलाभ, वित्तोपार्जन आदि की गन्ध है तो यह भी अनुपयोगी सिद्ध होता है।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग केवल अध्ययन या वाचनारूप ही नहीं है अपितु चिन्तन, स्मरण, आम्नाय आदि रूप भी है। भौतिक विकास के वर्त्तमान युग में इस ज्ञान का परिशीलन करने वाले विरले ही जन हैं। उन्हीं गिने-चुने विरले जनों में सर्वोपरि रहे स्वर्गीय पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार ! जैन-जगत् में ऐसा कौन विबुध है जो इनको नहीं जानता हो ! आगम का प्रगाढ़ ज्ञान आपमें विकसित हुआ था। यह ऐसे ही नहीं हो गया, इसमें हेतु था आपका अभीक्ष्णज्ञानोपयोग।

आपने सतत अठारह-अठारह घण्टे तक शास्त्रों का अभ्यास किया, उसके लिये वित्तोपार्जन को भी तिलाञ्जली दी। एक मात्र ज्ञान-पिपासा से प्रेरित होकर हस्तिनापुर आदि एकान्त स्थानों पर शुद्ध सात्त्विक "सकृद्भुक्ति" (एक बार भोजन) करके सिद्धान्तग्रन्थों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुशीलन किया।

जैसे मन्दिर-निर्माण की पूर्णता कलशारोहण के अनन्तर होती है; चारित्र की सफलता अन्तःक्रिया समाधिपूर्वक मरण में है व पुष्पों की सुभगता उनकी सुगन्ध में है; उसी प्रकार ज्ञान की श्रेष्ठता ज्ञानी के सच्चारित्र में निहित है।

ज्ञानं पंगु क्रियाहीनं—भट्टाकलङ्क देव कहते है कि क्रिया (सम्यगाचार) विहीन ज्ञान पंगुवत् है। अतः मुख्तारजी मात्र ज्ञानाभ्यास में ही रत नहीं रहे थे पर साथ ही विकल चारित्रधारी भी थे। इन्होंने व्रतादि सम्बन्धी जो अध्ययन किया, उसे तद्रूप आचरण में भी ढाला; नीरगालन आदि श्रावकधर्म से सम्बद्ध क्रियाएँ पण्डितजी जिस विवेक के साथ करते थे उसके लिये वे स्वयं ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिस्वरूप थे, अन्यत्र ऐसा विवेक शायद ही देखने को मिले। बहुत से व्यक्ति कहा करते हैं कि शास्त्राभ्यास कैसे करें ? कोई ज्ञानी पढ़ावे, समझावे तो सम्भव है; किन्तु सर्वथा यह बात नहीं है, ऐसा मुख्तारजी ने अपने जीवन से सिद्ध कर दिखाया अर्थात् इन्होंने स्वयं के पुरुषार्थ से ही उपलब्ध सम्पूर्ण ग्रन्थों का अभ्यास किया; सिद्धान्तग्रन्थों का तो बहुत ही अधिक गहन, गम्भीर अध्ययन किया। सिद्धान्तभूषण मुख्तार सा० वास्तविक ही सिद्धान्तभूषण थे।

निकट भूत में, जैनजगत् में आर्षग्रन्थों के अध्येता व सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के समाधानकर्त्ता यदि कोई थे तो वे मात्र मुख्तारजी थे।

सप्तति अधिक आयुष्मान् होकर भी आपकी अध्ययनशीलता व कर्मठता युवकों को लज्जित करने वाली थी। आपका प्रत्येक कार्य में यही अनुचिन्तन रहता था कि अब किस प्रकार के परिणाम हो रहे हैं और उनसे किस प्रकार का कर्मसञ्चय हो रहा है। इससे ऐसा लगता था कि अवधिज्ञानी के सदृश इन्हें कार्माणवर्गणाएँ गोचर हो रही हों। वस्तुतः यह आगमाभ्यास की एक सूक्ष्म वीक्षणा ही थी।

आप धर्मजगत् में एक आलोक थे जो धर्मात्माओं के सिद्धान्तग्रन्थों सम्बन्धी अज्ञान तिमिर का परिहार करता था। चित्त में यह विचार एवं क्षोभ है कि अब ऐसा आलोक प्रदान करने वाला नहीं रहा।

अन्त में, यही शुभकामना है कि स्व० पण्डितजी स्वर्ग में भी ऐसे ही अपना ज्ञानालोक प्रदान करते रहें और आगामी भव में कर्मसमूह का विनाश कर लोक और अलोक की जहाँ सन्धि है एवं जो लोक की सीमा है, वहाँ निस्सीम ज्ञानालोक के साथ शाश्वत स्थित हों।

अन्तर्ध्वनि

✻ पूज्य १०५ आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी

सिद्धान्तभूषण ब्रह्मचारी पण्डित श्री रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुर वाले करणानुयोग रूपी नभमण्डल के प्रदीप्त मार्तण्ड थे। इस भव के अभीक्ष्णज्ञानोपयोग और पूर्व भव के संस्कारों वश आपने सिद्धान्तग्रन्थों के अभ्यन्तर रहस्य को समझने की जो कुञ्जी प्राप्त की थी, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आप प्रायः प्रतिवर्ष संघ में आकर दो-दो माह तक रहते और ज्ञानपिपासु साधु-साध्वियों के स्वाध्याय में परम सहायक बनते थे।

ग्रन्थराज षट्खण्डागम का मेरा स्वाध्याय आपके सान्निध्य में ही हुआ था। स्वाध्यायकाल में जटिल स्थलों एवं विषयों को सरल सहज स्पष्ट करने हेतु अनेक संदृष्टियाँ तथा उनके विवरण, चार्ट आदि तैयार करने में अथक परिश्रम हुआ। षट्खण्डागम गणितप्रधान अत्यन्त जटिल ग्रन्थ है किन्तु उन जटिल स्थलों को सरल करने की जो कोटियाँ आपने समझाईं, उन्हीं से ग्रन्थ के अपूर्व प्रमेय बुद्धिगत हो सके।

गणित में पीएच० डी० करने वालों को भी सामान्यतः इतना ज्ञान नहीं होता जितना अङ्कगणित, रेखा-गणित और बीजगणित में आपका था। छोटे-छोटे सूत्रों (फार्मूलों) से आप कठिन से कठिन गणित को हल करने की प्रक्रिया समझाते थे। गणित से अनभिज्ञ व्यक्ति को भी उसमें प्रवेश करा देने का तरीका आपका अद्वितीय था।

एक बार मैंने आपसे पूछा कि आपने धवल-जयधवल के रहस्य को समझने की अपूर्व कुञ्जियाँ किस गुरु से प्राप्त कीं ? तब आपने कहा कि—मैं पहले वकालत करता था। कुछ कारणों से मुझे उससे अरुचि हो गई। मैं उस धन्धे को छोड़कर निश्चिन्ततापूर्वक सरस्वती की आराधना में संलग्न हो गया। मैंने जब सर्व प्रथम ग्रन्थराज धवल का स्वाध्याय किया तब एक-दो आवृत्ति में तो मेरे कुछ समझ में ही नहीं आया, फिर भी मैं हताश नहीं हुआ और ग्रन्थ साथ लेकर एकाकी ही हस्तिनापुर चला गया। मुझे रोटी बनाना नहीं आता था अतः जली-कच्ची, मोटी-पतली जैसी भी रोटियाँ बनती उन्हें एक कटोरे में पानी डालकर गला देता और दिन में मात्र एक बार वह भोजन कर १२-१५ घण्टे तक एकान्त में बैठ कर धवल ग्रन्थों का अध्ययन करता। वहाँ भी एक दो आवृत्ति में तो कोई विशेष रहस्य बुद्धिगत नहीं हुए फिर भी मैं कटिबद्ध रहा। पुनः पुनः स्वाध्याय करते-करते कुछ दिनों में अनायास इसकी कोटियाँ समझ में आ गईं। इसके बाद केवल धवल ही नहीं अपितु जयधवल, महाबन्ध आदि सभी ग्रन्थ सरल हो गये।

प्रायः नीरोग शरीर, चित्त और आसन आदि की स्थिरता, जिह्वादि इन्द्रियों का दमन अर्थात् केवल एक बार भोजन-पान और उत्कट ज्ञानपिपासा आदि अनेक गुणों के अवलम्बन से ही आप जैन सिद्धान्त रूपी रत्नाकर में गोते लगा-लगा कर "जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ" की नीति को चरितार्थ करते हुए अपूर्व-ज्ञान प्राप्त कर सके। आपका जन्म सम्वत् १९५९ में हुआ था। जीवन के अन्तिम वर्षों में भी स्मृति की अपूर्व स्वच्छता तथा विशेष शारीरिक परिश्रम आपके पूर्व पुण्य के द्योतक रहे हैं।

श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य विरचित "त्रिलोकसार" की हिन्दी टीका करने का प्रोत्साहन मुझे सर्वप्रथम आपने ही दिया था। केवल इतना ही नहीं, बल्कि १४० गाथा तक स्वयं स्वाध्याय कराकर उसमें प्रवेश कराने का श्रेय भी आपको ही है। गाथा संख्या १७, १९, २२, २६, ८४, ८६, १०३, ११७, ११९, १६५, २३१, ३२७, ३५९, ३६०, ३६१ और ७८६ आदि की वासनासिद्धि तो आपने ही सिद्ध कराई। कुछ गाथाओं में तो आपको बहुत परिश्रम करना पड़ा। "त्रिलोकसार" की मुद्रित संस्कृत टीकाओं में जो पाठ छूट गये थे अथवा परिवर्तित हो गये थे, उन्हें आपने ब्यावर और पूना से हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होने के पूर्व ही अपनी प्रखर मेधा से संशोधित कर दिये थे।

ग्रन्थगत एवं टीकागत अशुद्धियों को पकड़ने की आपकी क्षमता अद्‌भुत्‌ थी। चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियविजयता और पूर्व भवागत संस्कार ही इस क्षमता के कारण थे। आपकी अवग्रहावरण और धारणावरण कर्मप्रकृतियों के विशेष क्षयोपशम तथा स्वच्छ मति-श्रुत (आगम) ज्ञान के विषय में जितना लिखा जाए, उतना कम है।

आप अपनी आयुपर्यन्त सरस्वती के कोष के बहुमूल्य रत्नों (प्रमेयों) का मुक्तहस्त से वितरण करते रहे थे। मिति मंगसिर कृ० सप्तमी वी० नि० सं० २५०७ के दिन आप समाधिमरणपूर्वक दिवंगत हुए।

हमारी यही भावना है कि आप यथाशीघ्र शाश्वत सुख सम्प्राप्त करें। ❋

स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते

❋ पूज्य १०५ आर्यिकाश्री आदिमती माताजी

विद्वज्जगत्‌ में स्व० पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार का एक विशेष स्थान रहा है। आप पहले वकालात करते थे परन्तु इससे घृणा होने पर आपने इसको छोड़ दिया। एक बार मैंने आपसे पूछा था कि पण्डितजी ! आपने वकालात क्यों छोड़ी ? आपने उत्तर दिया—"यह काम अच्छा नहीं है, इसमें असत्य बहुत बोलना पड़ता है अतएव मैंने इस कार्य का त्याग कर दिया।" आपने हस्तिनापुर में एकाकी रह कर तीन वर्ष तक धवल-जयधवल-महाधवल ग्रन्थों का अध्ययन स्वयमेव किया। करणानुयोग का सूक्ष्म विवेचन जितना और जैसा आप कर सकते थे वैसा करने वाला अब कोई नहीं। आप प्रतिवर्ष आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज के संघ में आकर धवलादि ग्रन्थों के स्वाध्याय में बहुत ही रुचि से अधिक से अधिक समय देते थे। आपकी भावना यही रहती थी कि मेरा एक समय भी व्यर्थ व्यतीत न हो।

वृद्धावस्था में भी आपकी विशिष्ट कर्मठता देखकर सबको आश्चर्यमिश्रित हर्ष होता था कि प्रमाद आपको छूता भी नहीं। जिनवाणी की सेवा व उद्धार के लिए आप प्रतिदिन घण्टों श्रम करते थे। आयु के अन्त तक आप गोम्मटसार जीवकाण्ड की हिन्दी टीका लिखने में संलग्न रहे। आपके व्यक्तित्व की यह प्रशंसा अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। यह तो आपके जीवन में पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होती थी।

७९ वें वर्ष में, २८ नवम्बर १९८० की रात्रि को ७ बजे आपकी आयु पूर्णता को प्राप्त हुई।

मैं यही मङ्गल कामना करती हूं कि आप यथास्व आशु नरदेह पाकर, संयमधारण कर सकलप्रकृति-विमुक्त हों। ❋

पण्डितरत्न

❋ पूज्य १०५ स्व० क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी महाराज, मौजमाबाद

स्व० ब्रह्मचारी पण्डितवर्य रतनचन्दजी मुख्तार सुचरित, परम श्रद्धावान्, मुनिभक्त, सरस्वतीभक्त, मिलनसार, कृतसिद्धान्तपारायण एवं समीचीन शङ्कासमाधानकर्ता पण्डितरत्नों में से एक थे।

मैंने भी उनकी 'प्रत्यक्ष चर्चा' से लाभ उठाया है। करणसूत्र के विषय में उनसे एक विशेष वर्ग सम्बन्धी सूत्र की जानकारी प्राप्त की है जो अब भी स्मृति में है। इनकी "शङ्का समाधान" का अपुनरुक्त तरीके से संकलन होकर प्रकाशित होना चाहिए।*

कुछ पुस्तकें करणसूत्र आदि के विषय में इनसे लिखवा कर प्रकाशित की जातीं तो जनता को बहुत लाभ होता। 'त्रिलोकसार' के हिन्दी अनुवाद में इनका बड़ा हाथ था। बड़े-बड़े ज्ञानी व पूज्यप्रवर मुनिराज भी इनकी 'चर्चा' से लाभान्वित होते थे।

सत् आगम की उपासना करने से ये सरस्वती पुत्र ही जान पड़ते थे।

मैं सोचता हूँ पर्यायान्तर में भी आपके द्वारा की जाने वाली तत्त्वचर्चा से अन्य देवों को लाभ निश्चित मिलता होगा।

महोपकारी मुख्तारजी

* क्षु० योगीन्द्रसागरजी

पण्डितरत्न, सिद्धान्तवारिधि, जिनागम मर्मज्ञ, देवशास्त्रगुरुभक्त श्रीमान् ब्रह्मचारी रतनचन्दजी जैन मुख्तार वर्तमान युग के एक आदर्श विद्वान् थे। आपकी सरल और मधुर भाषा, विनयभाव, गुरुभक्ति एवं अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग हम सबके लिए अनुकरणीय हैं।

विक्रम सम्वत् २०२२ के आश्विन माह में मैं परम पूज्य प्रातः स्मरणीय विश्ववंद्य १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के दर्शनार्थ श्रीमहावीरजी गया था। उस समय आप भी वहां पधारे थे। आपसे परिचय का सौभाग्य यहीं प्राप्त हुआ। आपकी वक्तृत्व शैली शास्त्रोक्त, विद्वत्तापूर्ण अर्थगाम्भीर्यमय थी। तत्त्वप्रतिपादन शैली अकाट्य होती थी। आपसे मैंने पंचपरावर्तन के सम्बन्ध में प्रश्न किया था जिसका आपने अत्यन्त सरल शब्दों में उत्तर दिया था।

विक्रम सम्वत् २०२७ में गृह-त्याग कर मैं पूज्य १०८ आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज के संघ में भीण्डर गया। उस समय मुख्तार सा० का भी पदार्पण हुआ था। आप करीब ढाई माह तक संघ में ठहरे थे। प्रातः सामायिक के बाद श्रीजिनेन्द्र पूजन करके ठीक ७ बजे आर्यिका विशुद्धमती माताजी के साथ 'धवला' का स्वाध्याय चलता था। फिर आहार का समय छोड़कर क्रम-क्रम से धवला, गोम्मटसार, लब्धिसार आदि अनेक ग्रन्थों का मुनिराजों के साथ स्वाध्याय चलता था तथा समय-समय पर "शंका समाधान" भी होता था। रात्रि में भी आप आ० कल्प श्रुतसागरजी महाराज के पास लब्धिसार का स्वाध्याय करते थे और महाराज श्री सुनते थे।

आपका मुझ पर बहुत उपकार है। आचार्यकल्प श्रुतसागरजी के संघ में मुझे लगभग चार वर्ष तक रहने का सौभाग्य मिला। तभी आपके सान्निध्य में चार चातुर्मासों में रहकर ज्ञानार्जन का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।

---

* 'शङ्कासमाधान' का सङ्कलन इसी ग्रन्थ के शङ्कासमाधान अधिकार में देखिए। —सम्पादक

तपोनिधि मुनिश्री वृषभसागरजी महाराज की समाधि के समय हस्तिनापुर में परम पूज्य धर्मदिवाकर १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ससंघ विराजमान थे। मैं भी वहां पहुंचा था। उस समय ब्र० रतनचन्दजी सा० मुख्तार भी वहां उपस्थित थे और साधुसेवा में तत्पर थे।

पूज्य वृषभसागरजी महाराज की समाधि के चार दिन पूर्व मुझे मुनिदीक्षा के लिए सम्बोधित किया गया था परन्तु अपने पैर में फ्रेक्चर होने के कारण मैंने असमर्थता प्रकट की और महाराज श्री से निवेदन किया कि मैं नवमी या दसवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण करना चाहता हूँ।

इस सम्बन्ध में मैंने श्री मुख्तार सा० से भी परामर्श किया। आपने मेरी शारीरिक स्थिति देखकर कहा कि आपको अभी नवमी प्रतिमा से आगे नहीं बढ़ना चाहिए। तदनन्तर मैंने समाधिस्थ महाराज के समक्ष पूज्य आचार्य श्री से नवमी प्रतिमा के व्रत लेने के लिए श्रीफल भेंट किया और वि० सं० २०३० चैत्र शुक्ला चतुर्थी को मुजफ्फरनगर में आचार्यश्री से नवमी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

पण्डितजी के पास बहुत से भाई शंकाएँ लेकर आते थे। आप उन्हें सरलता पूर्वक समझा कर उनकी शंकाओं का समाधान करते थे और यह भी बता देते थे कि "अमुक-अमुक ग्रन्थों में अमुक-अमुक पेज पर देखो।" इससे शंकाकार को बहुत सन्तोष होता था।

ऐसे स्वपर कल्याणकारी महान् विद्वान् इस कलिकाल मे विरले ही पैदा होते है। निश्चय ही सिद्धान्तवारिधि ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार एक विभूति थे।

मैं वीरप्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ कि मुख्तार सा० शीघ्र चिर शान्ति को प्राप्त करे। ❖

समतायुक्त विद्वत्ता

※ जिनेन्द्र वर्णी

विद्वद्वर श्रीमान् ब्रह्मचारी रतनचन्दजी मुख्तार के शंका समाधान विषयक लेख जैन पत्रों में पढ़ा करता था परन्तु उनके साक्षात्कार का अवसर मुझे उस समय प्राप्त हुआ जब स्वयं मेरे हृदय में सिद्धान्त विषयक कुछ शंकाएँ उत्पन्न हुईं और मैंने अपने आपको समाधान प्राप्त करने मे असमर्थ पाया। बाबूजी[1] का नाम पत्रों में तो पढ़ने को मिलता ही था इसलिए उनकी ओर ही दृष्टि उठना स्वाभाविक था। दूसरा, यह भी विश्वास था कि मेरे पिताजी से परिचित होने के कारण वे मुझे अपने बच्चे के समान समझेंगे। इसी आधार पर साहस करके मैंने अपनी बालोचित शंकाएँ एक पत्र द्वारा उनके पास भेज दीं और साथ ही यह प्रार्थना भी की कि इनका उल्लेख पत्रों मे न किया जाए। जैसा सोचा था वैसा ही हुआ। बाबूजी ने अत्यन्त प्रेम पूर्वक आमन्त्रण प्रदान किया। उनका पत्र पढ़ते ही मेरा हृदय आशा तथा उत्साह के कारण आनन्द विभोर हो उठा। अगले ही दिन मैं सहारनपुर के लिए रवाना हो गया। पूछता-ताछता घर तक पहुँचा जहाँ बाबू नेमिचन्दजी ने अपने बच्चे की भाँति मेरा हार्दिक स्वागत किया। पीछे बाबूजी ने मुझे अपने हृदय से लगाया।

---

१. मैंने ब्रह्मचारीजी को सदा अपने धर्म पिता के स्थान पर समझा है अतः ब्र० के स्थान पर मेरे द्वारा प्रयुक्त 'बाबूजी' शब्द किसीप्रकार भी असंगत नहीं है। बाबूजी स्वयं भी इससे सहमत थे, ऐसा मेरा विश्वास है।

शंकाओं का समाधान यद्यपि वे तुरन्त कर सकते थे तदपि वात्सल्यवश उन्हें मुझे अपने पास दो-तीन दिन ठहराना इष्ट था। इधर मैं भी उनकी सङ्गति से लाभान्वित होना चाहता था। फलतः दो-तीन दिन के लिए बड़तला मन्दिर में ठहर गया। वहीं बाबू ऋषभदासजी से भी भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शंकाओं का समाधान तो बाबूजी ने कर ही दिया और मेरी रुचि के अनुसार ही किया परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि अपना बच्चा समझकर उन्होंने अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक मुझे त्यागमार्ग पर चलने के लिये जीवनोपयोगी कुछ ऐसी मार्मिक बातें सुझाईं, जिनसे मैं सर्वथा अनभिज्ञ था और जिन्हें जाने बिना मेरे लिए अवश्य ही व्यवहार पथ पर भटक जाने का भय था। उनसे प्राप्त इस अहैतुकी स्नेह तथा अनुग्रह को मैं कभी नहीं भूल सकता।

बाबूजी के इस द्विदिवसीय सान्निध्य से मैं इतना अवश्य समझ गया था कि साधनापथ पर चलने के लिए केवल शास्त्रज्ञान पर्याप्त नहीं है। व्यवहार से अनभिज्ञ रहते हुए दिग्भ्रान्त की भाँति इस मार्ग पर चलना सम्भव नहीं।

अपना धर्म पिता स्वीकार कर लेने के कारण अब मेरे हृदय में बाबूजी के प्रति कोई झिझक शेष नहीं रह गई थी इसलिए उनके द्वारा उत्साहित तथा प्रेरित किया गया मैं कुछ ही दिनों बाद वर्णीजी के दर्शनार्थ ईसरी पहुँचा। एक बच्चा अपने पिता को छोड़कर अन्यत्र कैसे रह सकता था और फिर उन दिनों में तो माताजी भी बाबूजी के साथ वहीं गई हुई थीं। उनके मधुर वात्सल्य ने मुझे उनके पास ही ठहरने के लिए विवश कर दिया था। वहाँ मैं उनके पास लगभग तीन माह तक ठहरा। अनन्तर, स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण लौट आना पड़ा। उनके साथ माताजी का वह प्रेम आज तक मेरे हृदय में घर किये हुए है।

तीसरी बार, परमपूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के दर्शनार्थ अजमेर जाने पर मुझे उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ और इस प्रकार धीरे-धीरे घनिष्ठता बढ़ती गई। साथ-साथ सैद्धान्तिक शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करने की बाबूजी की समतापूर्ण पद्धति भी मेरे हृदय मे घर कर गई। कहीं भी किसी प्रकार का निजी पक्ष न रख कर उभयनय सापेक्ष प्रस्तुत करना बाबूजी की विशेषता थी। आगम का उल्लंघन करके अपनी इच्छा से हानिवृद्धि करने में उनकी जिह्वा सदा डरती रहती थी। शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् होते हुए भी समाधान देते समय अपने हृदय में अहंकार का प्रवेश न होने देना एक बड़ी बात है जिसने मेरा मन मोह लिया।

उनकी इस समतापूर्ण विद्वत्ता तथा विद्वत्तापूर्ण समता को देखकर मेरे भीतर एक भाव जाग्रत हुआ कि बाबूजी को सोनगढ़ ले जाकर यदि कदाचित् स्वामीजी के साथ मैत्रीपूर्ण चर्चा करने का अवसर दिया जाए तो स्वामीजी तथा पण्डितवर्ग के मनों में एक दूसरे के प्रति दिनोंदिन जो भ्रान्त धारणाएँ घर करती जा रही हैं और जिनके कारण एक अखण्ड दिगम्बर सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हुआ जा रहा है, उनका सहज वारण किया जाना सम्भव हो सकता है। कुछ समय सोनगढ़ में रहकर जैसा मैंने अनुभव किया था उसके आधार पर मुझे विश्वास था कि यह कोई अनहोनी बात नहीं है। अजमेर निवासी श्री हीरालालजी बोहरा के माध्यम से सोनगढ़ से इस सम्बन्ध मे पत्र-व्यवहार किया गया। बाबूजी से स्वीकृति लेकर जाने का प्रोग्राम बना लिया गया परन्तु होना तो वही था जो कि होना नियत था। जिस दिन सोनगढ़ के लिये प्रस्थान करना था उसी दिन सवेरे टेलीग्राम द्वारा सूचना मिली कि सोनगढ़ की समिति बाबूजी का वहाँ आना उचित नहीं समझती।

अनन्तर, समाज के निमन्त्रण पर चातुर्मास के लिए जब मेरा सहारनपुर जाना हुआ तो उन्होंने आग्रह पूर्वक कुछ दिनों के लिये मुझे अपने पास ही ठहराया। शान्तिपथप्रदर्शन (नवीन संस्करण–शांतिपथप्रदर्शन) में उल्लिखित नियतवाद को लेकर जो समीक्षापूर्ण लेख पत्रों में प्रकाशित हुए थे, उनका उत्तर देने के लिए जब

मेरे धर्म गुरु पण्डित रूपचन्दजी गार्गीय ने मुझे लिखा तो मेरे हृदय ने यह बात स्वीकार नहीं की। "पिता बच्चे के हित के लिये उसे कुछ भी कह सकता है परन्तु पिता के समक्ष होना पुत्र का काम नहीं है" यह बात सोच कर मैंने पण्डितजी को यह कह कर समाधान कर दिया कि गहनतम सिद्धान्तों में विद्वानों का मतभेद होना असम्भव नहीं है। ऐसा सदा ही होता रहा है और होता रहेगा। मुझे विश्वास है कि इस सैद्धान्तिक मतभेद के कारण बाबूजी का प्रेम मेरे प्रति कम नहीं हुआ। **मेरी दृष्टि में पक्षपोषण की अपेक्षा प्रेम का मूल्य कहीं अधिक है। जिस दृष्टि से बाबूजी कह रहे थे, वह मुझे सम्मत है क्योंकि भले ही निश्चय दृष्टि से वह सिद्धान्त सत्य रहे परन्तु व्यवहार भूमि पर तो बाधित होता ही है।**

कहाँ तक कहूँ, स्वर्गीय बाबूजी की गुणगरिमा का वर्णन तो बहुत कुछ हो सकता है परन्तु विस्तारभय से यहीं विराम करता हुआ प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि बाबूजी की आगमानुसारी ममता पूर्ण लेखनी समाज में फैली सैद्धान्तिक भ्रान्तियों का (उनकी प्रकाशित रचनाओं के माध्यम से) वारण करती रहे, जिससे मतभेद दूर होकर एकता का वातावरण उत्पन्न हो।

बाबूजी की ज्ञान साधना पर्यायान्तर में भी उत्तरोत्तर वृद्धिंगत हो, यही मङ्गल कामना है। ❖

मंगल कामना

❖ ब्रह्मचारी लाड़मलजी, दशम प्रतिमाधारी

सहारनपुर निवासी ब्रह्मचारी पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार सा० महान् 'सिद्धान्तदीपक' थे। जब से परम पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के संघ में आप सिद्धान्त ग्रन्थों के स्वाध्याय हेतु पधारने लगे थे तब से मेरा आपसे परिचय हुआ। आपमें सबसे बड़ा गुण यह देखा कि आप हठग्राही अंशतः भी नहीं थे। आपमें विशिष्ट क्षयोपशम के साथ-साथ आग्रह का अभाव एवं संयम इन दोनों गुणों का सम्यक् समन्वय था।

आपकी प्रेरणा से ही मुझे वृहद् द्रव्यसंग्रह, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार आदि ग्रन्थों के प्रकाशन का अवसर मिला अतः मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ।

मेरी यही मंगल कामना है कि पण्डित श्री रतनचन्दजी मुख्तार पुनः नरभव की आवाप्ति कर स्वयं मंगलरूप बन जायें। ❖

जिनवाणी की चिरस्मरणीय सेवा

❖ ब्र० धर्मचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

समाज के महान् सौभाग्य से विद्वद्वर्य स्वनामधन्य (स्व०) पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार सा० ज्ञान के प्रकाशपुञ्ज के रूप में प्रकट हुए थे। आपने जैन समाज को अपने सैद्धान्तिक ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान करने का बीड़ा उठाया तथा अन्त तक उसका निर्वाह करने का पुरुषार्थ करते रहे। जिनवाणी माता की जो सेवा आप द्वारा हुई है वह स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है।

जीवन का वास्तविक उद्देश्य तो आत्मकल्याण ही है परन्तु गृहस्थ जीवन विविध उलझनों व कठिनाइयों से भरा रहता है। मानव का मन उसमें ही अवलम्बन चाहता है अतः वह वास्तविक उद्देश्य की उपेक्षा करके अन्य विविध साधनों की ओर झुक जाता है। परन्तु आपने अपने जीवन को सत्य और प्रामाणिकता से सदा ओत-प्रोत रखा। असत्य भाषण की वजह से मुख्तारपना छोड़ कर धर्ममार्ग में प्रवृत्त हुए तथा तभी से जीवन पर्यन्त धर्मग्रन्थों का अवलोकन, आलोड़न, मनन व चिन्तन किया। आपने लगभग सभी उपलब्ध सिद्धान्तग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। चारों अनुयोगों के आप परम श्रद्धालु थे, करणानुयोग के तो आप साक्षात् कोश ही मान लिये जायें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

मुख्तार सा० के व्यक्तित्व में एक साथ अनेक गुणों के दर्शन होते थे। संयम और चारित्र के बिना ज्ञान की शोभा नहीं और ज्ञान के बिना संयम की भी शोभा नहीं, इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुख्तार सा० ज्ञानी तो थे ही, साथ में उज्ज्वल चारित्र के धनी भी। आपका जीवन अत्यन्त सरल और सादा था। जब मुजफ्फरनगर में मासोपवासी मुनि श्री सुपार्श्वसागरजी की सल्लेखना चल रही थी तब आप वहाँ पधारे थे। मुझे वहाँ ढाई माह तक आपके साथ रहने का सौभाग्य मिला तब मैंने देखा कि आपकी निजी आवश्यकताएँ अत्यल्प हैं; मैं तो देखता ही रह गया।

माननीय स्वर्गीय मुख्तार सा० की सेवाएँ इतनी अधिक हैं कि उनके प्रति जितनी कृतज्ञता प्रकट की जाय, थोड़ी है। आपने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया। पत्रों में "शङ्का समाधान" के माध्यम से जो ज्ञान कराया, वह अविस्मरणीय है। मुझे फरवरी १९८० में सहारनपुर जाने का अवसर प्राप्त हुआ था तब आपसे बातचीत के दौरान मालूम हुआ कि आप ७८ वर्ष की उम्र में भी प्रतिदिन ८ से १० घण्टे तक लेखन कार्य करते थे। आप सदैव युवकोचित उत्साह से भरपूर नजर आते थे। यह सब उनकी स्मृति, कार्यक्षमता, लगन, उत्साह एवं जिन-वाणी सेवा की भावना का फल है। इस अवस्था में भी आपकी कार्यक्षमता देखकर यही विचार होता था कि किसी को दीर्घायु मिले तो ऐसी ही मिले, अन्यथा दीर्घायु होना भी आज के युग में एक अभिशाप ही है क्योंकि तब व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा व सेवा पर जीता है।

आयु के अन्तिम वर्षों में भी आपको अध्ययन, चिन्तन व लेखन की ओर ही उन्मुख देखकर प्रसन्नता होती थी। मुख्तार सा० अन्तिम समय तक अपनी साधना में पूर्ण सजग थे। मैं उन्हें अपनी विनय युक्त श्रद्धा अर्पित करता हूँ और यही कामना करता हूँ कि वे शीघ्र केवलज्ञानी बनें। ❀

सरस्वती के उपासक : बाबूजी

* स्व० ब्र० सुरेन्द्रनाथ जैन, ईसरी बाजार, बिहार

बाबूजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनका अल्प शब्दों में किस प्रकार परिचय दिया जाए ? उनमें—अत्यन्त निस्पृह भाव से सरस्वती देवी की उपासना करते हुए निरन्तर ज्ञानोपयोग की रक्षा करने का जो गुण था, इससे मैं सर्वाधिक आकृष्ट हूँ, मेरी दृष्टि में यही संवर-निर्जरा का मुख्य कारण है।

हम सब भी इसी लक्ष्य के साथ अपनी वर्तमान पर्याय को सार्थक बनावें, ऐसी भावना है। ❀

स्वाध्याय ही परम तप है

❋ ब्र० पं० विद्याकुमार सेठी, न्यायकाव्यतीर्थ, कुचामन सिटी

स्वर्गीय ब्रह्मचारी पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार साहब के विषय में क्या लिखूँ। अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी होने के साथ-साथ आप देशव्रती भी थे। इन्होंने वर्तमान में उपलब्ध समस्त द्रव्य श्रुत का सांगोपांग आलोड़न किया था। मैं क्या, पूज्य आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी, पूज्य मुनि श्री श्रुतसागरजी महाराज आदि भी इनका विशेष सम्मान करते थे। 'नहि स्वाध्यायात्परं तपः' उक्ति का आपने जीवन भर निर्वाह कर कर्मों की अपूर्व निर्जरा की।

स्वर्गीय मुख्तार सा० की स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, मैं इस सत्प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। ❋

स्याद्वाद शासन के समर्थ प्रहरी

❋ ब्र० पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर, शास्त्री, न्यायतीर्थ; सिवनी (म० प्र०)

श्रीमान् ब्रह्मचारी सिद्धान्तभूषण, सिद्धान्ताचार्य स्व० रतनचन्दजी सहारनपुर वालों ने अपने परिश्रम पूर्वक सम्पादित आगम-परिशीलन द्वारा जिनवाणी का गम्भीर रहस्य हृदयंगम किया था। उन्होंने स्याद्वाद शासन के समर्थ प्रहरी के रूप में एकान्तवादी साक्षर दस्युवर्ग से धार्मिक समाज का संरक्षण सोत्साह सम्पन्न किया था।

वे निर्भीक, निःस्वार्थ, निर्लोभ, सच्चरित्र तथा सहृदय सत्पुरुष थे।

ऐसे चरित्रसम्पन्न प्रतिभाशाली विद्वान् की स्मृति में प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ के प्रशस्त कार्य की मैं हृदय से अनुमोदना करता हूँ। ❋

•

मूक विद्याव्यासंगी

❋ ब्र० कपिल कोटड़िया, हिम्मतनगर

स्वर्गीय वयोवृद्ध पण्डित रतनचन्द मुख्तार के सीधे-सादे व्यक्तित्व को देखकर जब भेंटकर्ता को यह परिचय दिया जाता कि ये बड़े अनुभवी, शास्त्रज्ञ और करणानुयोग विशेषज्ञ हैं तो यह बात सहसा उसके मानने में नहीं आती। पण्डितजी सादगी की प्रतिमूर्ति थे, किसी प्रकार का कोई आडम्बर नहीं। अत्यन्त मितभाषी थे। उनके पास बैठकर तत्त्व-चर्चा करना जीवन का एक उत्कृष्ट लावा (लाभ) था।

पूज्य आचार्यवर शिवसागरजी महाराज के विशाल संघ का जब उदयपुर में चातुर्मास था तब मुझे उनके प्रथम दर्शन हुए थे। मैं कोई विद्वान् नहीं हूँ, एक सामान्य जिज्ञासु के नाते मैं उनसे मिला था। आर्ष परम्परा का पोषक होने के नाते वे मुझे चाहते थे और उन्होंने अन्त तक मुझ पर पूर्ण स्नेह रखा। उनके समाधानों से मन को सन्तोष होता था। सवाल समझना और उसका आगमानुकूल उत्तर देकर प्रश्नकर्ता को पूरा सन्तोष कराना यह आपकी विशेषता थी। वे वकील रहे थे अतः उनके उत्तरों में पूर्वापर सम्बन्ध रहता था और तर्कबद्धता

होती थी। पूज्य आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज का जहाँ भी चातुर्मास होता था, वहाँ वे मास, दो मास के लिए अवश्य आते थे और अपना अनुभव संघ को समर्पित करके अपने ज्ञानकूप को भरते थे, नित्य नया बनाते थे।

जब मैं उनके शहर में पूज्य मनोहरलालजी वर्णी की जन्म जयन्ती के उपलक्ष में आयोजित समारोह में सम्मिलित होने हेतु सपत्नीक गया था तब उनके घर आतिथ्य भी स्वीकार किया था। ७६ वर्ष की आयु में आप दिवंगत हुए। ऐसे व्यवहारकुशल और विवेकी पण्डितजी के लिये यथाशीघ्र मुक्ति की कामना करते हुए मैं उनकी ज्ञान-गरिमा को अपनी श्रद्धांजलि देकर अपने आपको धन्यभाग्य समझता हूँ। उनका अस्तित्व प्राचीन पंडित परम्परा का एक बहुमूल्य स्तम्भ था। करणानुयोग विद्या के वे अप्रतिम भंडार थे। उनका जितना अच्छा और व्यापक उपयोग होना चाहिये था उतना नहीं हो सका; इसका मुझे और मुझ जैसे अनेक जिज्ञासुओं को आभास है। जैन समाज सजग हो जाती और उनके ज्ञानानुभव का पूर्ण रीति से पूरा-पूरा लाभ उठाती तो यह समाज के हित में होता। वे तो हर दम तैयार थे; लाभ लेने वालों की कमी थी। समय और लहर दोनों कभी किसी की राह देखते नहीं हैं।

स्वर्गीय पूज्य पण्डितजी का नाम करणानुयोग विशेषज्ञ के रूप में अमर रहेगा। इनका अभाव करणानुयोगपिपासुओं को खटकता रहेगा। इत्यलम्

लघुकाय और अगाधज्ञान

✱ पं० राजकुमार शास्त्री, निवाई

इस हीन संहनन के युग में ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार की लघुकाया और अगाधज्ञान को देखकर "उच्चतम संहनन के धारी तीर्थंकर केवली के अनन्त ज्ञान था" इस कथन में न ही शङ्का को स्थान रहता है और न प्रमाण संचित करने की आवश्यकता भी। विद्वद्वर्य मुख्तार साहब के छोटे से शरीर में करणानुयोग और द्रव्यानुयोग का महान् ज्ञान देखकर उस अनन्तज्ञान की पुष्टि स्वयं सिद्ध हो जाती थी। राजस्थान में निवाई जैन समाज श्रद्धालु एवं सम्पन्न समाज है। यही कारण है कि निवाई में करीब-करीब सभी छोटे-बड़े जैनाचार्यों के संघों का चातुर्मास व साधारण समागम होता ही रहता है। हर चातुर्मास में मुख्तार साहब की उपस्थिति अनिवार्य सी थी। आपका जैन तत्वज्ञान अगाध था। कैसा भी जटिल व गम्भीर प्रश्न हो आप उसका समाधान तुरन्त कर देते थे। साथ ही किस ग्रन्थ के कौन से अध्याय व श्लोक में उसका उल्लेख है यह भी स्पष्ट बता देते थे। विद्वद्वर्य को अपने बीच पाकर गौरव महसूस होता था। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी साधुवर्ग भी आपकी ज्ञानगम्भीरता से हर्षित होता था। आप में ज्ञान के साथ चारित्र का भी समावेश था। यह सोने में सुगन्ध वाली बात थी। आप इतने महान् विद्वान् होते हुए भी अभिमान से बहुत दूर थे। प्रत्येक विद्वान् को समादर देते थे। जहाँ भी जाते, उस समाज को उद्‌बोधन देते और कहते कि आप लोग बड़े भाग्यशाली हैं, जो आपकी समाज में इतने विद्वान हैं। समाज को समुन्नत बनाने में दो ही का योग है—(१) निर्ग्रन्थ दि० जैन साधुओं का और (२) जैन विद्वानों का। अगर आप अपना कल्याण और समाजोन्नति करना चाहते हैं तो इनके प्रति श्रद्धा, भक्ति और सम्मान की भावना रखिये।

आधुनिक विज्ञान की चर्चा करते हुए आपने एक दिन कहा—पण्डितजी! जैन समाज को एक जैन लेबोरेटरी स्थापित करनी चाहिये, जिससे दूसरे लोग जैनों के सिद्धान्तों की, और आज से संख्यात, असंख्यात वर्ष

पहिले केवलज्ञानियों द्वारा प्रतिपादित बातों की महत्ता समझ सकें; क्योंकि "केवलज्ञान के द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक सिद्धान्त सर्वथा सही है।" यह थी हमारे महामना मुख्तार सा० की जैनधर्म के प्रचार-प्रसार की उत्कट भावना।

करणानुयोग उनका अपना रुचिकर विषय था। लोकालोक की संरचना कहाँ कैसी है? और उनमें रहने वालों की प्रक्रिया, व्यवस्था, उपलब्धियाँ क्या हैं? इस पर आपने अनेक बार लिखा था। उनके द्वारा लिखे गये सम्पूर्ण साहित्य को प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

प्रेरणास्पद व्यक्तित्व

* पं० बंशीधरजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, बीना

माननीय स्व० ब्र० पं० रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुर, बहुत ही योग्य अनुभवी शास्त्रज्ञ विद्वान् थे। पृथक्-पृथक् संस्थाओं से जो धवला, जयधवला और महाधवला ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन हुआ है उनमें आवश्यक संशोधन करने का श्रेय स्व० ब्र० पं० रतनचन्दजी को ही है।

खानिया तत्त्वचर्चा में पुरातन पक्ष की ओर से आगम के महत्त्वपूर्ण उद्धरणों का संग्रह और उनका विश्लेषण जिस खूबी के साथ किया गया था वह सब आपके ही अनुभव और श्रम का परिणाम था।

आपका आध्यात्मिक जीवन विद्वानों के लिए सदैव प्रेरणादायक था और रहेगा।

अतः आपके प्रति श्रद्धा प्रगट करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

मुख्तारजी की जैनशासन-सेवा

* स्व० श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर)

बातें करना सरल है। बड़े-बड़े सिद्धान्तों और आदर्शों की बातें तो बहुत से लोग करते हैं, पर उनका जीवन तदनुरूप नहीं होता। ऐसी थोथी बातों से न अपना कल्याण होता है, न दूसरों का। अतः जीवन उन्हीं का सार्थक है जिनके विचार और आचार तथा कथनी और करनी में एकरूपता हो। तभी उनका स्वयं का कल्याण होता है और दूसरों को भी वे प्रभावित कर सकते हैं। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अनेक व्यक्ति अपने जीवन को ऊँचा उठा सकते हैं। ऐसे ही आदर्श व्यक्तियों में श्री रतनचन्दजी मुख्तार भी एक थे। वे सादा जीवन और ऊँचे विचार के प्रतीक थे। संयम और स्वाध्याय उनका जीवन व्रत रहा। निरन्तर स्वाध्याय करते रह कर वे शास्त्रज्ञ बने। अतः अनेक लोग, अनेक प्रकार की शंकाओं का सप्रमाण समाधान उनसे पाते रहे थे। यह कोई मामूली बात नहीं है; क्योंकि, प्रश्न अनेक प्रकार के होते हैं, उनका समुचित समाधान करना साधारण पण्डित के लिये सम्भव नहीं होता। शास्त्र में जिनकी गहरी पैठ है, जिनका ज्ञान जागृत है, स्मरणशक्ति तेज है और जो निरन्तर शास्त्रों का वाचन करते रहते हैं वे ही अनेक व्यक्तियों के विविध प्रकार के प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं। श्री मुख्तार सा० ने वर्षों तक यह काम सहज रूप में किया था। विविध शंकाओं के उनके लिखे हुए समाधान अनेक पत्र-पत्रिकाओं में मैं छपते हुए देखता रहता था। जहाँ तक किसी व्यक्ति का समुचित समाधान न हो जाय, वहाँ तक प्रश्नकार का चित्त अशान्त रहता है, मन डांवाडोल और शंकाशील रहता है अतः दूसरों के चित्त को शान्त और समाहित

करने रूप एक बहुत बड़ी सेवा स्व० मुख्तार सा० दीर्घकाल तक करते रहे थे। "षट्खंडागम" आदि प्राचीनतम गम्भीर ग्रन्थों के आप विशिष्ट अध्येता थे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कर्मशास्त्र के विशेष ज्ञाता आचार्य श्री विजयप्रेम सूरि के शिष्य जब नवीन कर्म-शास्त्रों का निर्माण करने को उद्यत हुए तो श्वे० ग्रन्थों के अतिरिक्त दिगम्बर कर्मशास्त्रीय ग्रंथों का आधार लेना भी आवश्यक समझा गया और उन्होंने मुख्तार सा० की इस विषय की विशेष योग्यता से प्रभावित होकर उन्हें पिंडवाड़ा बुलाया तो आपने अपने कुछ व्रत, नियमादि सम्बन्धी असुविधाओं की जानकारी दी तो पूज्य प्रेमसूरिजी ने उनकी इच्छित व्यवस्था करके सन् १९६२ में वहां बुलाया। आपने एक महीना वहाँ रहकर दिग० कर्म शास्त्रों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी दी अर्थात् करणानुयोग का पठन-पाठन चला। इतने बड़े एक श्वेताम्बर आचार्य ने आपके ज्ञान की गरिमा का आदर किया, यह उनकी सरलता और गुणानुरागता का द्योतक तो है ही साथ ही आपका ज्ञान-चर्चा में यश लेना और श्वे० दिग० के भेद-भाव से ऊपर उठकर सहयोग देना विशेष रूप से उल्लेखनीय और सराहनीय है। आपका जीवन बहुत ही नियमबद्ध और संयमित था। अपने व्रत नियमों में तनिक भी ढील या शिथिलता आपको पसन्द नहीं थी। यह आपकी व्रतनिष्ठा और नियम पालन की दृढ़ता का द्योतक है।

आपने अनेक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद और विवेचन लिखा है तथा आयु के चरम दिन तक गोम्मटसार जीवकांड की टीका लिख रहे थे और भी आपके कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

मैंने आपसे अनुरोध किया था कि आप मौलिक ग्रन्थ भी लिखें जिसमें आपके दीर्घकालीन स्वाध्याय का नवनीत या सार प्रकाशित हो सके। कर्मशास्त्र के आप विशिष्ट विद्वान् हैं और उसको ठीक से समझना आज के लोगों के लिये बड़ी टेढ़ी खीर है। इसलिये युगानुरूप भाषा और शैली में स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जाय तो जिज्ञासुओं के लिये बहुत ही उपयोगी रहेगा। किसी अधिकारी विद्वान् के लिखे हुए ग्रन्थ से जानने योग्य बातें सरलता से समझी जा सकती हैं। पुराने ग्रन्थों की भाषा और शैली से नवयुवक आकर्षित नहीं होते हैं।

मेरा आपसे यह भी अनुरोध रहा कि एक ही भगवान महावीर के अनुयायी दिग० और श्वे० दो सम्प्रदायों में विभक्त होकर एक दूसरे से काफी दूर हो गये हैं। उस खाई को पाटना बहुत ही आवश्यक है पर अपनी-अपनी मान्यता को कोई छोड़ने को तैयार नहीं, इसलिये एक दूसरे का खण्डन करते रहकर पारस्परिक सौहार्द और सद्भाव में कमी करते जा रहे हैं। आज के युग की यह सबसे बड़ी मांग है कि दोनों सम्प्रदायों के शास्त्रों का तटस्थतापूर्वक अध्ययन और मनन हो। भगवान महावीर के मूल सिद्धान्तों की खोज करके उनको जन-जन के सामने रखा जाय। उनमें जो परिवर्तन आया है और मान्यता भेद बढ़ते चले गये हैं वे कब और किस कारण से उत्पन्न हुए और बढ़े? इसकी खोज की जाय और समन्वय का उपयुक्त मार्ग ढूंढ़ा जाय। आपने अपने पत्र में लिखा कि "करणानुयोग सम्बन्धी मूल सूत्रों में श्वे० व दिग० सम्प्रदाय में विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु उनके अर्थ करने में तीन विषयों में विशेष अन्तर हो गया है—

(१) द्रव्यस्त्री मुक्ति (२) केवली कवलाहार और (३) सवस्त्र मुक्ति। श्वे० व दि० ग्रन्थों का मिलान करके ग्रन्थ लिखना सरल कार्य नहीं है। इस अवस्था में मेरे लिये तो असम्भव है।" पर मैं इसे असम्भव नहीं मानता, क्योंकि दिग० शास्त्रों का तो आपका पर्याप्त अध्ययन था ही, केवल श्वे० आगमादि ग्रन्थों का अध्ययन तटस्थ भाव से कुछ समय निकालकर वे कर लेते तो प्राचीनतम मान्यताएँ क्या थीं और उनमें परिवर्तन कब व क्यों आया? यह दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों के उद्धरण देकर स्पष्ट कर दिया जाता। अपनी ओर से किसी भी मान्यता को सही या गलत न बतलाकर पाठकों के लिये गम्भीर विचार करने योग्य सामग्री इकट्ठी करके उनके सामने रख दी जाती।

यही अनुरोध मैंने पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री और पं० कैलाशचन्द्रजी जैन सिद्धान्ताचार्य से कई बार किया; पर मुझे सफलता नहीं मिल सकी।

श्वे० तेरापंथी सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी से भी मैंने यही अनुरोध किया है कि उनके एक दो मुनियों को यही काम सौंप दिया जाय कि मुख्य-मुख्य दिग० शास्त्रों को तटस्थता से पढ़ डालें। श्वे० ग्रन्थों का तो उनका अध्ययन है ही, अतः दोनों सम्प्रदायों के सभी प्रधान ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन हो जाने पर वे मूल मार्ग को प्रकाशित करते हुए मान्यता-भेद पर भी गम्भीर विचार प्रस्तुत कर सकें। यदि समन्वय रूप में कोई भी मार्ग उनके चिन्तन-मनन में आजाए तो उसे प्रकाश में लावें, क्योंकि, आज के नवयुवकों में छोटी-छोटी बातों को लेकर जो रस्साकसी चलती है, उसे बिल्कुल पसन्द नहीं करते। वे तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हमें झगड़े वाली बातें नहीं बताकर सरल और सच्चा रास्ता बतायें, जिसे हम पालन कर सकें और आत्म-कल्याण कर सकें।

गत ५० वर्षों में जहाँ तक मैंने अध्ययन किया है व समझा है वहाँ एक बात तो स्पष्ट हो गई है कि जैनधर्म और भगवान महावीर आदि तीर्थङ्करों का सन्देश यही रहा है कि राग, द्वेष व मोह ही कर्म बन्धन के प्रधान कारण हैं। हमारे तीर्थङ्कर वीतरागी होते हैं और हमें भी वीतराग बनने का लक्ष्य एवं प्रयत्न करना चाहिये। समभाव और सम्यक्त्वादि मोक्षमार्ग हैं। जैन धर्म का प्राचीन नाम श्रमण धर्म था और उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समता से ही श्रमण होता है।

अन्ततः, मैं यही कहूँगा कि सिद्धान्त शिरोमणि मुख्तार सा० की कृतियों से निश्चित ही भावी व वर्तमान पीढ़ी उपकृत होगी और करणानुयोग के ज्ञान को अधिकाधिक विकसित कर पावेगी।

स्व० मुख्तार सा०, करीब वर्ष भर पूर्व दिवंगत हुए। वे और रहते तो हमें तो निश्चित ही लाभ था, पर होनहार कौन टाल सकता है ? आयु कर्म किसी के आधीन नहीं।

साधनारत महाविद्वान्

* श्री सत्यन्धर कुमार सेठी, उज्जैन

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि दि० जैन समाज अपने महाविद्वान् पूज्य विद्वद्वर्य (स्व०) श्री रतनचन्दजी साहब की महान साधनाओं व सेवाओं से प्रभावित होकर उनकी स्मृति में एक ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहा है आयोजकों व समाज का यह एक अनुकरणीय सुन्दर प्रयास है।

विद्वान् समाज के गौरव हैं, उन्हीं की प्रेरणाओं से समाज में नैतिक और आध्यात्मिक जागृति पैदा होती है, जिससे समाज का नव निर्माण होता है। जैन समाज के विद्वानों में पूज्य मुख्तार साहब का गणनीय स्थान था। उनका चिन्तन और साधनामय जीवन वास्तव में अनुकरणीय था। वे सिद्धान्तग्रन्थों के विद्वान् तो थे ही, साथ ही परम्परा के पोषक विद्वान् भी थे।

मैं उनके सम्पर्क में बहुत कम आया हूँ। मेरा उनसे प्रथम परिचय इन्दौर में हुआ था, जब श्री कानजी स्वामी से सम्बन्धित विषय को लेकर अखिल भारतवर्षीय दि० जैन महासभा की विशेष मीटिंग आयोजित की गई थी। उस विशेष मीटिंग में मैं भी निमंत्रित किया गया था। मेरे और उनके विचारों में गहरा मतभेद रहा है, लेकिन मैं मतभेद को व विचारभेद को महत्त्व नहीं देता। इन्दौर के सम्पर्क से मुख्तार सा० के प्रति मेरे हृदय में

आस्थाएँ जागृत हुईं और मैंने अनुभव किया कि वे एक आस्थावान साधक और विद्वान् श्रावक हैं। समाज के विद्वानों के प्रति मेरे हृदय में हमेशा ही श्रद्धा रही है और आज भी है, क्योंकि, विद्वान् ही समाज के लिये जीवन है।

इन्दौर के बाद जब परम पूज्य एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज का चातुर्मास सहारनपुर में था तब पुन: आपके दर्शनों का सौभाग्य मिला। मैं आपके घर गया। आपने मेरे प्रति बड़ा आदर व वात्सल्य प्रदर्शित किया व वहीं सामाजिक विषयों पर चर्चाएँ हुईं। मेरी मान्यता है कि वे सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्ययनशील, महान् ज्ञाता विद्वान् थे। उनके विचारों से, चिन्तन से और समय-समय पर पत्रों में प्रकाशित लेखों से समाज के लोगों को प्रेरणाएँ मिली हैं। ऐसे साधनारत विद्वान् के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करता हुआ मैं अपने आपको धन्य मानता हूँ और यही कामना करता हूँ कि दिवंगत आत्मा को शान्ति लाभ हो और निकट भावी काल में मनुष्य भव धारण करके वह पुनीत आत्मा कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष स्थान पावे।

यथार्थ-आत्मार्थी

*** प्रो० खुशालचन्द्र गोरा वाला भदैनी, वाराणसी**

लगभग तीस वर्ष पूर्व एक-रात्रि को दिल्ली में चल रही विचारगोष्ठी में एक अन्तरंग-बहिरंग विरक्त, गम्भीर विचारक मुद्रा के प्रौढ़ व्यक्ति ने जब श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी आदि के साथ मेरा भी प्रति-अभिवादन किया तो मैं धर्म सङ्कट में पड़ गया और मैंने उनसे निवेदन किया कि जैन विनय जो कुछ भी हो किन्तु वैदिक-विनय के अनुसार मैं आपका अनुज हूँ। अतः आपका सादर अभिवादन मेरे शुभ को कम करेगा, क्योंकि आप स्वयं-बुद्ध अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी, विरक्त तथा आत्मार्थी अग्रज हैं, फलतः मेरे प्रणम्य हैं। विशेषकर इसलिये कि कानूनी-दलाली (वकालात) छोड़कर आपने स्व-अर्थ साधना को अपनाया है जो कि इस अवसर्पिणी चक्र में दुष्कर है। अब तक मैं इन प्रौढ़ साधर्मी को जैन-सन्देश में छपने वाले 'शंका-समाधान' स्तम्भ के लेखक के रूप में; नाम से ही जानता था। उस रात्रि को इन श्री रतनचन्द मुख्तार से भेंट करके मन में आया कि "जयचन्द" आदि नाम रखकर भयंकर भूलकर्ता ज्योतिषी भी, कभी-कभी "यथा नाम तथा गुण:" के अनुसार नामकरण कर देते हैं।

अपनी खूब चलती मुख्तारी को छोड़कर स्वाध्याय और संयम-साधना में मुड़ना वास्तव में मुख्तार साहब की पूर्वजन्मों की साधना का ही सुफल है। अन्यथा आज के भोगी-युग में; योग की बात कैसे इनके मन में आयी ? यदि ये रतन थे तो इनके अनुज वकील भी इस साधना के रथ की धुरा (नेमि) बन गये। और दोनों भाइयों ने जिनालय को ही अपने तत्त्वज्ञान की कचहरी बना दिया। तथा उसी रूप में इनका तत्त्वबुभुत्सु-जीवन चलता रहा।

मुख्तार सा० को जैन वाङ्मय की सर्वाधिक उपस्थिति (स्मृति) थी, किन्तु उनकी दिन चर्या तदवस्थ थी। न साधना में कमी थी न स्वाध्याय में। प्रयत्नपूर्वक ये ख्याति-पूजा से भी भागे हुए थे। और लोभ का तो इनके सामने प्रश्न ही नहीं था। आपने लगभग ४० वर्ष पूर्व जो परिग्रहपरिमाण किया था, आयु के अन्त तक आप उस पर दृढ़ रहे। जबकि रुपये की क्रय शक्ति आज दशमांश रह गयी है।

इस विकट आर्थिक दृष्टि के युग में भी ब्र० रतनचन्दजी ने अपना सीमित परिग्रह भी बेच-बाच कर घटाया ही था और अत्यन्त सावधानी के साथ उतना ही खर्च अपने ऊपर करते थे, जितने में कि ४० वर्ष पहिले अत्यन्त संयत एवं विरक्त दम्पति कर सकता था।

दि० जैन समाज में आज फिर पाण्डित्य समाप्त हो रहा है; क्योंकि पण्डित या धर्मशास्त्री का आर्थिक भविष्य घाटे का हो गया है। ५० वर्ष पूर्व पण्डित का मासिक वेतन पचास रुपये था। आज के बाजार को देखते हुए वह न्यूनतम ५०० रुपया महीना होना चाहिये। किन्तु समाज और सामाजिक संस्थाएँ ऐसा नहीं कर रही हैं। फलत: विद्यालयों को छात्र नहीं मिलते और जो मिलते हैं वे धर्म-शिक्षा की आड़में लौकिक शिक्षा की ही साधना करते हैं। यह प्रकट कारण है पाण्डित्य के ह्रास का। मूल कारण यही है कि धर्मशास्त्र का ज्ञान जीव उद्धार की विद्या या कला थी। कालदोष से यह 'जीविका की कला' हुई और धर्म शास्त्र की शिक्षा से अब जीविका असंभव हो गई है। इसलिये धर्मशास्त्री या पण्डित होना बन्द हो रहा है या हुआ है। मुख्तार सा० को धर्मशास्त्र की सर्वाधिक साधना और उपस्थिति इसलिये थी कि इनके लिये यह कला, पुरुष की ७२ कलाओं में से दो मुख्य कलाओं में एक (जीव-उद्धार की कला) थी जीविका की कला नहीं। कहा भी है—

कला बहत्तर पुरुष में, तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥

इस दृष्टि से **गृहस्थों में यदि कोई यथार्थ धर्म शास्त्री है; तो वे सतत स्वाध्यायी व्यक्ति ही हैं जिनमें मुख्तार सा० का नाम अग्रणी रहेगा।** भले ही समाज कुछ पंडितों को प्रधान धर्मशास्त्री मानता हो, किन्तु यह भ्रान्ति है; क्योंकि, इन तथोक्त प्रधान पण्डितों के लिये जीवन के आदि से धर्मशास्त्र आजीविका का ही साधन है और जिस तरह पक्ष-प्रतिपक्ष में पड़कर ये लोग धर्मशास्त्र के बल पर प्रमुखता को दबाये रखने में लगे हैं, उससे स्पष्ट है कि जीवन के अन्त तक भी धर्मशास्त्र इनकी आजीविका की ही कला रहेगा। तथा "फिलोसफर (धर्म शास्त्री) को खुदा मिलता नहीं" उक्ति ही ये चरितार्थ करेंगे। और यथार्थ आत्मार्थी मुख्तार सा० आदि को भी अपने पक्ष में घसीटने का अकृत्य भी करते रहेंगे; जबकि मुख्तार सा० उन जिनधर्मी महामनीषियों की परम्परा में हैं जिन्होंने अपने उद्धार के लिये सन्निकट अतीत में भी धर्मशास्त्र के स्वाध्याय को अपनाया था और प्राकृत–संस्कृत के पूरे जैन वाङ्मय का आलोड़न करके, उनकी भाषा करके हम सबके लिये आत्म-ज्ञान का मार्ग खोल दिया था।

मुख्तार सा० का अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी जीवन अविरत, विरत और महाव्रतियों के लिये भी क्रमश: चारित्र व ज्ञानाराधना का वह निदर्शन (मॉडल) है जो कि पंचम काल में मिल सकता है। इनकी साधना सतत वर्धमान रही है। अब ये शीघ्र ही शिवधाम को पावें, यही भावना है।

आगममार्गदर्शक रतन

※ पण्डित लाडलीप्रसाद जैन पापड़ीवाल 'नवीन', सवाईमाधोपुर

विद्वद्वर ब्र० श्री रतनचन्दजी मुख्तार का जन्म सन् १९०२ में हुआ। प्रारम्भ से ही अध्ययन में आपकी विशेष रुचि रही। मैट्रिक के बाद केवल १८ वर्ष की आयु में ही आपने सहारनपुर न्यायालय में मुख्तारगिरी की परीक्षा उत्तीर्ण कर अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया था। इस कार्य में आपको पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई थी परन्तु आपको केवल इतना ही अभीष्ट नहीं था, आपको तो बहुत आगे बढ़ना था। मुख्तारगिरी छोड़कर आप स्वाध्याय में प्रवृत्त हुए, स्वाध्याय के बल से आपने विशाल श्रुतसमुद्र का अवगाहन करने का पुरुषार्थ किया, छोटे-बड़े अनेक ट्रैक्ट लिखे, सिद्धान्तग्रन्थों की टीकायें प्रस्तुत कीं। 'श्रेयोमार्ग' जैसे आगमनिष्ठ पत्र

का सम्पादन कर आगम प्रचार में सहयोग किया। पिछले कुछ समय से तो आप पूर्ण त्यागी सा जीवन व्यतीत कर रहे थे। जैसे जैसे आपकी स्वाध्याय की रुचि रही वैसे वैसे ही आपकी गुरुभक्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती रही। मुनि-संघों में गुरुओं का आशीर्वाद प्राप्त करना तथा ज्ञान देना और लेना आपने अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा था। मुझे भी आपसे मिलने का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं पत्रों में भी आपके शंका समाधानों को रुचिपूर्वक पढ़ता था। श्री मुख्तार सा० ने 'शङ्का समाधान' स्तम्भ के माध्यम से अनेक व्यक्तियों के हृदयकपाट खोले थे। पर्यायान्तर (देवपर्याय) में भी जहाँ तक मैं सोचता हूँ आप यथासम्भव अपनी बोधि का लाभ अन्य देवों को दे रहे होंगे।

हम पर आपके अपार उपकार हैं

* रचयिता : श्री दामोदरचन्द्र आयुर्वेद शास्त्री / रचनाकाल—१-७-७७

मान्यवर माननीय विद्वद्वर धर्मप्रेमी,
न्याय नीतिवान आप गुण के अगार हैं।
धर्मरत्न कर्मठ कृपालु धीरवीर हैं,
विचार के विशुद्ध दुनिया के आर-पार हैं॥
तत्त्वमर्मज्ञ हैं, शिरोमणि सिद्धान्त के हैं,
मोह को निवार ज्ञान-गज पै सवार हैं।
सहारनपुर के 'रतन' को सराहें कैसे,
हम पर आपके अपार उपकार हैं॥

जब तक तारे उदित गगन में,
सूर्य चन्द्र का रहे प्रकाश।
अवनी और अम्बुधि जब तक,
जब तक गंग–जमुन का वास॥
तब तक रतनचन्द ब्रह्मचारी,
करते रहें सदा उपदेश।
हे जिनेन्द्र भगवान ! इन्हें हो,
कभी नहीं कोई भी क्लेश॥

प्रतिभा के प्यारे सपूत

* रचयिता : श्री मूलचन्द शास्त्री, श्रीमहावीरजी

जैन जाति के जन-जन के तुम,
मन-मन्दिर में चमक रहे ।
ऐसे जैसे देव भवन पर,
स्वर्ण-कलश हों दमक रहे ॥
प्रतिभा के प्यारे सपूत,
जिनवाणी के सेवक महान ।
विद्वज्जन को मोहित करते,
थे तुम जैन धर्म के प्राण ॥

'शंका-समाधान' की शैली,
पर तुमने अधिकार किया ॥
नय, निक्षेप, प्रमाण आदि से,
प्रतिभा का शृंगार किया ॥
आग्रहयुक्त वचन कहीं भी,
कभी न कहते सुने गये ॥
समाधान सब शंकाओं के,
मिलते रहते नये-नये ॥

अद्वितीय महापुरुष

* श्री बाबूलाल जैन शास्त्री, भीण्डर

माननीय मुख्तार सा० के दर्शनों का सौभाग्य मुझे प्रथम बार श्री गजपंथा सिद्धक्षेत्र पर मिला। उस समय माँगीतुंगीजी सिद्धक्षेत्र के मैनेजर श्री गणेशलालजी के सुपुत्र श्री सूरजमलजी भी मेरे साथ थे। आपसे कोई पाँच-दस मिनट ही धर्मचर्चा करने का अवसर मिला। इच्छा तो अधिक रुकने की हो रही थी क्योंकि मुख्तार सा० जैसे उद्‌भट विद्वान् के समागम का पुनः सौभाग्य न जाने कब मिले परन्तु उस समय अधिक नहीं रुक पाया; उसका खेद रहा। हम पूज्य १०८ श्री महावीरकीर्तिजी महाराज के दर्शनार्थ बम्बई से कार द्वारा आये थे। मुझे तो मुख्तार सा० के सान्निध्य में ठहरने की व धर्मश्रवण करने की प्रबल इच्छा थी परन्तु अन्य साथियों का साथ होने के कारण ऐसा करना मेरे लिए सम्भव नहीं हो पाया।

भीण्डर में सन् १९७० में जब आचार्यकल्प परम पूज्य १०८ श्रुतसागरजी महाराज के विशाल संघ का चातुर्मास हुआ तब जैन जगत् के लगभग सभी गणमान्य विद्वान् पधारे थे। पूज्य ब्रह्मचारी मुख्तार सा० भी पधारे थे। मुख्तार सा० से अध्ययन करने का उस समय हमें अच्छा अवसर मिला। इसके बाद पूज्य महाराजश्री के

संघ का अजमेर, किशनगढ़ रेनवाल आदि जिस-जिस स्थान पर भी चातुर्मास हुआ, मैं जाता रहा। वहाँ हमें मुख्तार सा० के दर्शन अवश्य होते थे। आप जैन सिद्धान्तों के विशिष्ट ज्ञाता थे। निकट भव्य थे। आपका कहना था कि सदा निर्मोह निरासक्त रहो, अपने कर्तव्य का पालन करो, जिम्मेदारियों को निर्मोह रूप से निभाओ। सन्तान के योग्य बन जाने पर संसार से मन-वचन-काय द्वारा मोह हटा कर आत्मध्यान में तल्लीन रहने का प्रयास करो। यही महावीर का सन्देश है। मैंने भारतवर्षीय सिद्धान्त संरक्षिणी सभा में बहुत समय तक कार्य किया। जहाँ भी अधिवेशन या अन्य कार्यक्रम होता, वहाँ मुख्तार सा० के दर्शन प्रायः हो जाते एवं मेरे हर्ष का पार नहीं रहता।

मुख्तार सा० सरल स्वभावी गम्भीर व्यक्ति थे। इन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों पर विजय प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया। शास्त्रों को पढ़ना सरल है, रटना सरल है तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञानी होना भी सम्भव है परन्तु तदनुरूप आचरण करना कठिन है। मुख्तार सा० में ज्ञान और आचरण दोनों का सङ्गम था। उन्होंने शास्त्रों का गहन अध्ययन कर बहुत ही सूक्ष्म बातें हम लोगों के सामने रखीं। अन्य पण्डितों का अध्ययन भले ही होगा, व्याख्यान वाचस्पति भी वे होंगे परन्तु सूक्ष्म रूप से जैनसिद्धान्तों को अन्तःकरण में उतार कर उनका मनन करने वाला हमें एक ही विरला पुरुष नजर आया मुख्तार सा० के रूप में।

एक बार वर्षा के दिनों में बाढ़ आई। उनका मकान भी क्षतिग्रस्त हुआ। सुनकर हमें दुःख हुआ। मैंने उनको पत्र भेजा परन्तु उनका जो उत्तर आया वह हम सबके लिए उपादेय है—"भाई! होनहार प्रबल है, होकर रहेगा। पूर्वोपार्जित कर्मों का ऐसा ही योग था। घर-बार आदि धर्मशाला है, मुसाफिरखाना है। यह देह भी मुसाफिरखाना है। जब शरीर भी अपना नहीं तो मकान अपना कैसे हो सकता है? अपनी तो आत्मा है। इसे शुद्ध करने का प्रयास करना चाहिए।"

हमें इनकी प्रत्येक बात याद आती है। कदम-कदम पर धर्म के मर्म को सूक्ष्मरीति से समझाने में आप सफल रहे। प्रसिद्ध वकील होते हुए भी आपने कभी मायाचार को हृदय में स्थान नहीं दिया। सदा लोभ को पाप का बाप माना, संग्रहवृत्ति को कदापि स्थान नहीं दिया। जैनदर्शन, जैनगजट, जैनसन्देश आदि पत्रों में आपके लेख वर्षों तक आते रहे।

सैद्धान्तिक ज्ञान (थ्योरेटिकल नॉलेज) व्यावहारिक (प्रेक्टीकल) रूप में परिवर्तित हो तभी कार्य की सिद्धि होती है, इस बात पर आप बहुत जोर देते थे। धर्म ही संसार में सब कुछ है, ऐसा आपका दृढ़ विचार था। श्री रतनचन्द मुख्तार वास्तव में यथा नाम तथा गुण थे। रतनचन्द चिन्तामणि रत्न ही थे (क्योंकि जिस किसी शङ्का का चिन्तन करो उसका उत्तर आपकी आत्मा में यानी आपके पास था)। मुख्तार यानी जैनसिद्धान्त जानने वाले पण्डितों में आप मुख्य थे। यह बहुत कम देखने में आता है कि विद्वान् का भाई भी विद्वान् हो परन्तु आप महान् पुण्यवान् थे आपके अनुज श्री नेमिचन्दजी भी अधिकारी विद्वान् हैं।

आप व्रती थे। आपने श्रीमद् रायचन्द्र जैसा निरासक्त, निस्वार्थ जीवनयापन कर आने वाले अपने भवों को सुधार लिया। धन्य हैं आपके माता-पिता! जिन्होंने ऐसे पुत्ररत्न को जन्म देकर संसार के पामर जीवों के लिए ज्ञानरूपी दीपक प्रज्वलित किया।

उस अद्वितीय महापुरुष को कोटि-कोटि नमन!

परम श्रद्धेय

✽ पण्डित महेन्द्रकुमार शास्त्री 'महेश', मेरठ

परम श्रद्धेय स्वर्गीय मुख्तार सा० की स्मृति में एक ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह प्रशंसनीय प्रयास है। सिद्धान्तसूर्य ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार एक आदर्श त्यागी एवं अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी विद्वान् थे। ख्याति-लाभ की अभिलाषा से सर्वथा दूर रह कर आपने समाज की भारी सेवा की। जैनपत्रों में प्रकाशित उनकी सैद्धान्तिक शङ्का-समाधान चर्चा से कई व्यक्तियों के ज्ञान की वृद्धि हुई। मैं पूज्य ब्रह्मचारी मुख्तार सा० के लिये यथा शीघ्र परम सुख की प्राप्ति की कामना करता हूँ।

सरस्वती–उपासक : श्रुतानुरागी महात्मा

✽ पं० बाबूलाल सिद्धसेन जैन, अहमदाबाद

कुछ वर्षों पूर्व जब मैं श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास में था तब परमश्रुत प्रभावक मण्डल की ओर से 'लब्धिसार'-'क्षपणासार' ग्रन्थ की नयी आवृत्ति पं० टोडरमलजी की मूल ढूंढारी भाषा टीका सहित नये सम्पादन में प्रकाशित कराने का निर्णय किया गया। एक-दो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करने और सम्पादन-कार्य के विचार से कई विद्वानों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। इसी सन्दर्भ में मैंने (स्व०) परमानन्दजी शास्त्री को भी एक पत्र लिखा। उन्होंने सुझाव दिया कि "इस विषय के विशिष्ट विद्वान् पं० रतनचन्दजी मुख्तार से या श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री से यह कार्य सम्पन्न कराना उचित है और इसमे भी यदि मुख्तार सा० इसके लिये तैयार हो जावें तो और भी उत्तम होगा।" इस अभिप्राय से मुझे आपके विशेष सिद्धान्तज्ञान के अनुभव की प्रतीति हुई और श्रुताभ्यास एवं श्रुतोद्धार के कार्य में मुख्तारों की परम्परा पूरा भाग ले रही है; यह विचार कर मन आनन्दित हुआ (आचार्य समन्तभद्र के अनन्य भक्त पं० जुगलकिशोरजी भी 'मुख्तार' पद भूषित थे। तत्त्वरसिक श्रीमान् नेमिचन्द्रजी सा० भी 'वकील' हैं ही) मैंने श्रीमान् पं० रतनचन्दजी सा० से अवश्य पत्र-व्यवहार किया था, परन्तु इस समय बिलकुल स्मृति में नहीं कि उन्होंने सम्मति रूप से क्या उत्तर दिया था ?

इतना भावार्थ लक्ष्य में है कि उत्तर बड़ा सौजन्य और श्रुतभक्तिपूर्ण था। इसी बीच श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सा० से ग्रन्थ के सम्पादन की स्वीकृति मिल गयी और उसके लिए अपेक्षित सामग्री भी।

यथार्थतः वीतरागमार्ग के प्रचार में रस होना और वैसे क्षयोपशमबल की प्राप्ति का होना निश्चय ही सद्गुरुप्रसाद से मिली पूर्वाराधना का फल है।

निर्ग्रन्थ मार्ग के परम उद्धारक तो सर्वज्ञवीतराग जिनदेव हैं और परम्परा से गणधर, श्रुतकेवली आचार्य, मुनिजन एवं सन्तपुरुष हैं। उन्हीं की महती कृपा से जिन्हें संसार असार लगा, विषय-रस नीरस लगे, उन्होंने आत्मोपयोग के लिए भोग को योग में बदल दिया। फलस्वरूप उन्हें निर्मल और प्रबल साधनाबल मिलता गया। वे पुरुष स्वपर–हितार्थ सर्वज्ञ-वीतराग की वाणी को अधिकाधिक पीते गये और पिलाते गये, उसमें स्वयं रमते गये और रमाते गये।

जिन पुरुषों ने श्रुतभक्ति में (उसके अध्ययन में, चिन्तन में, निज-परकल्याणार्थ जिनवचन उपदेश में, उसके लेखन, शोधन, सम्पादन-प्रकाशनादि कार्यों में) ही अपना जीवन समर्पित किया है, भला उन परम आदरणीय महापुरुषों के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति आखिर प्रगट की जाय तो कैसे की जाय ? सचमुच उनका जीवन धन्य है।

विरागी पुरुषों का कथन है कि आत्मकल्याण ही जिनका लक्ष्य है तथा "यही एक कार्य वर्त्तमान पर्याय में कर लेने योग्य है" ऐसी जिनकी बलवती श्रद्धा है व आचार्यों-सन्तपुरुषों के वचनों में जो अनुरक्त हैं ऐसे महात्मा सहज ही शान्तरसप्रधान वीतराग दशा को प्राप्त होते हैं। स्मृतिग्रन्थ या अभिनन्दन-ग्रन्थ मात्र उनकी प्रशंसा के लिये नहीं होते, जिन्हें वे समर्पित किये जाते हैं या जिनके नाम से वे प्रगट होते हैं; अपितु उनकी महत्ता का विश्व को, समाज को पूरा परिचय मिले, उनके प्रति विश्व श्रद्धावनत होते हुए उनके चरित्र का अनुसरण करे और आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो; यही हेतु समझना उपयुक्त है। यह उन महानुभावों का एक पूर्ण चरित्र ग्रन्थ होता है और इतिहास को लिपिबद्ध करता है।

श्रीमान् श्रद्धेय स्व० ब्र० पण्डित रतनचन्दजी सा० मुख्तार धर्मशास्त्र के मर्मज्ञ और सिद्धान्तग्रन्थों के विशिष्ट अभ्यासी विद्वान् थे, धवलादि ग्रन्थों के शोधन सम्पादन में आपका बड़ा महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा। जिनवाणी की उपासना आपका मुख्य कार्य था। आप वर्षों से शास्त्रिपरिषद् के 'शंका समाधान' विभाग के मंत्री रहे। आयु के अन्त तक भी 'जैन गजट' और 'जैन दर्शन' पत्रों में निरन्तर गूढ़ विषयों की शंकाओं का उत्तम समाधान अपने गहन-श्रुताभ्यास के बल पर देते रहे थे। परन्तु, दूसरों के समाधान में, अपनी साधना में व्यवधान न आने पाये, इसके प्रति सावधान थे।

द्वितीय प्रतिमाधारी व्रती श्रावक होने से जीवन का ज्ञान-ध्यान वैराग्यमय होना अत्यन्त स्वाभाविक था।

इन श्रुतवत्सल, चारित्रवान, मार्गप्रभावक, त्यागी और विद्वान् श्रीमान् आदरणीय मुख्तार सा० के प्रति मैं भक्ति समेत अपने नमन अर्पण करता हूँ। ❀

एक आदरणीय सत्पुरुष

❀ सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, वाराणसी

श्री ब्रह्मचारी रतनचन्दजी मुख्तार समाज की एक विभूति थे। उन्होंने अपनी चलती हुई मुख्तारी से विरत होकर अपने शेष जीवन का सम्पूर्ण समय जिनवाणी के स्वाध्याय को समर्पित कर दिया था। प्रारम्भ में उनका ज्ञान सर्व साधारण की तरह ही सामान्य था। संस्कृत-प्राकृत से एक तरह अनभिज्ञ थे, हिन्दी भी साधारण जानते थे किन्तु सतत स्वाध्याय के बल पर उन्होंने जो ज्ञानार्जन किया वह आश्चर्यजनक ही है। वही एक ऐसे स्वाध्याय प्रेमी थे जिन्होंने दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों (धवल-महाधवल-जयधवलादि) की आद्योपान्त स्वाध्याय की थी। वे करणानुयोग के अधिकारी विद्वान् थे।

उनका जीवन सादा और त्यागमय था। ज्ञान और त्याग दोनों ही दृष्टियों से वे एक आदरणीय सत्पुरुष थे। उनके 'शंका समाधान' अध्ययनपूर्ण होते थे। वे बड़े सरल स्वभावी थे।

यहाँ मैं उनके लघुभ्राता बाबू नेमिचन्दजी वकील का भी उल्लेख करना उचित समझता हूँ। उनका ज्ञान और त्याग भी मुख्तार सा० से कम नहीं है। उन्होंने भी अपनी चलती वकालत त्याग कर शेष जीवन स्वाध्यायपूर्वक बिताया है। चूँकि वे समाचारपत्रों की दुनियाँ से दूर रहते हैं अतः लोग उन्हें जानते नहीं हैं। ये युगल भ्राता आदरणीय हैं। इनके जीवन से शिक्षित समाज को शिक्षा लेनी चाहिए।

स्मरणशक्ति के धनी

*पण्डित मनोरञ्जनलालजी जैन शास्त्री, उदयपुर

श्रीमान् पूज्य ब्रह्मचारी रतनचन्दजी मुख्तार एक आदर्श सच्चरित्र व्यक्ति थे। आप जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानों में थे। आपकी स्मरणशक्ति विलक्षण थी। करणानुयोग के तो आप महत्तम विद्वान् थे। कई वर्षों तक आपने 'जैनसन्देश' के शङ्का-समाधान विभाग का सञ्चालन किया।

श्रीमज्जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि स्व० पण्डितजी अब शीघ्र ही मनुष्यभव पाकर अष्टमभूमि को प्राप्त हों।

आगमज्ञानी अटूट श्रद्धानी

*श्री धर्मप्रकाश जैन शास्त्री, महामंत्री भा० महावीरकीर्ति धर्मप्रचारिणी संस्था, अवागढ़

परमादरणीय पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार का नाम समाज के उन महान् लगनशील ज्ञानियों में प्रमुख है जिन्होंने अपनी लेखनी और वाणी को समाज के कल्याण हेतु अनेक प्रकार से अविरल गतिशील किया है। मैं जिस समय मोरेना विद्यालय में था तभी सन् १९४७ से बराबर उनके ज्ञान स्तम्भों का रसास्वादन करता रहा हूँ। अनेक ट्रैक्टों, पुस्तकों तथा समाचार पत्रों में प्रकाशित लेखों तथा 'शङ्का समाधान' आदि के रूप में उनकी ज्ञान साधना का स्मरण सम्पूर्ण जैनजगत् को है।

यह निर्विवाद सत्य है कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ज्ञान साधना में व्यतीत किया। उनके त्याग, उनकी आगमश्रद्धा, उनकी लगन व उनकी सहनशीलता की प्रशंसा कहाँ तक की जावे, उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करके समाज को सच्चा ज्ञान दिया है।

ऐसे धैर्यवान, कर्मठ, निर्लोभ धर्मात्मा का उनकी महान् सामाजिक सेवाओं के लिए अवश्य स्मरण किया जाना चाहिए। मैं उनकी स्मृति में प्रकाशित ग्रन्थ की सफलता की कामना करता हुआ स्वर्गीय पूज्य मुख्तार सा० के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

श्रद्धा सुमन

❊ डा० पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर

श्री सिद्धान्तसूरि ब्रह्मचारी रतनचन्दजी मुख्तार जैन वाङ्मय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। पूर्वभव के संस्कारवश मात्र अनवरत स्वाध्याय के द्वारा आपने चारों अनुयोगों का अवगम प्राप्त किया था। गृहस्थावस्था में रहते हुए भी आपकी उत्कृष्ट साधना थी।

सन् १९४४ में जब वर्णीजी ईसरी से पैदल चल कर सागर पधारे थे तब भाई नेमिचन्दजी तथा अन्य साथियों के साथ आप भी पर्युषण पर्व में सागर पधारे थे तभी से आपके साथ परिचय हुआ था जो निरन्तर बढ़ता गया।

मैं रथयात्रा के प्रसंग में तीन बार सहारनपुर हो आया हूँ। आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज के पास प्रायः आप प्रत्येक चातुर्मास में पहुँचते थे, जब कभी सौभाग्य से वहाँ भी आपसे मिलना हो जाता था। श्री १०५ विशुद्धमती माताजी द्वारा अनूदित त्रिलोकसार ग्रन्थ के पाठभेद लेने के लिए १०-१२ दिन निवाई में आपके साथ रहने का प्रसङ्ग प्राप्त हुआ था। करणानुयोग की गणित सम्बन्धी गहन गुत्थियाँ आप सरलता से सुलझाते थे।

आपकी स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह जानकर प्रसन्नता है। इस स्मरण की वेला में मैं आपकी आत्मा को अपने श्रद्धासुमन सादर समर्पित करता हूँ। ❁

सिद्धांत शास्त्रों के विशिष्टज्ञाता मुख्तार श्री

❊ रतनलालजी कटारिया, केकड़ी

पू० ब्र० पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार, सहारनपुर संस्कृत प्राकृत भाषाओं के विशेष अध्येता नहीं थे फिर भी उन्होंने हिन्दी के माध्यम से ही अपने शास्त्र-ज्ञान को काफी बढ़ा लिया था। उनका एतद्विषयक क्षयोपशम असाधारण था। श्री धवल-जयधवल-महाधवल जैसे उच्च कोटि के सिद्धांत ग्रन्थों पर उनका अप्रतिम अधिकार था, अच्छे अच्छे विद्वान् जिस विषय को समझने की क्षमता तक नहीं रखते उसमें उनकी अप्रतिहत गति थी इसीका परिणाम है कि उन्होंने उक्त सिद्धांत ग्रन्थों के अनुवादादि की अनेक गलतियों को प्रकट कर श्रुत को प्रांजल किया था।

अनेक दि० श्वे० जैन मुनि संघों में उन्होंने इन सिद्धांत ग्रन्थों का अध्यापन किया था। ऐसे महान् निस्पृह विद्वान् अब कहाँ।

उन्होंने बहुत वर्षों तक 'जैन संदेश' में 'शंका-समाधान' के रूप से ज्ञान की विपुल सामग्री प्रस्तुत की थी इस विधा में भी वे निष्णात थे। मुझे भी इस कार्य में उन्होंने कुछ वर्षों तक सहयोगी बनाया था। ईसरी में पू० गणेशप्रसादजी वर्णीजी को वे मेरे शंका-समाधानों को पढ़कर सुनाया करते और वापिस लिखते कि—वर्णीजी को ये बहुत पसंद आये इस तरह मेरा उत्साहवर्द्धन करते रहते। बाद के वर्षों में 'जैन गजट' में भी अंतिम समय तक इस 'शंका-समाधान' विभाग को उन्होंने चालू रखा।

• कोई संस्था अगर उनकी इस समग्र सामग्री को सुन्दर सम्पादन के साथ पुस्तकाकार प्रकाशित करा देवे तो ज्ञान-रसिकों को काफी लाभ हो और यही उनकी सच्ची सार्थक श्रद्धाञ्जलि हो।

उन्होंने ज्ञान तपस्या में ही अपना अधिकांश जीवन व्यतीत किया था वे सरल स्वभावी, शांत, स्वाध्याय शील, घर-गृहस्थी से प्रायः विरक्त ज्ञानी व्रती नर रत्न थे। मुझ पर तो उनका-अत्यंत स्नेह था। एक दफा मैं सख्त बीमार हो गया था तो वे मुझसे मिलने के लिये पधारे थे उनकी हार्दिक सद्भावना ही कहिये कि—मैं रोग मुक्त हो गया। जो काम दवा से नहीं होता वह दुआ से हो जाता है। ऐसे ज्ञान-समर्पित जीवी महान् विद्वान् के प्रति मैं सादर स्नेहांजलि प्रकट कर कृतज्ञता व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

विशिष्ट विद्वान्

* पं० नाथूलालजी जैन शास्त्री, प्राचार्य, दि० जैन महाविद्यालय इन्दौर

पू० ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार से मेरा दो बार प्रत्यक्ष मिलना हुआ था। प्रथम बार इन्दौर में महासभा प्रबन्धकारिणी की बैठक के अवसर पर जयधवला के प्रतिमाभिषेक प्रकरण पर ग्रन्थाधार पर चर्चा हुई थी। दूसरी बार सर हुकमचन्द संस्कृत महाविद्यालय में मुख्तार सा० पधारे थे।

अभिषेक के विषय में त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि के आधार पर दो बार मुख्तार सा० के प्रश्न भी आये थे जिनका उत्तर भेजा गया था। मुख्तार सा० ने जैन पत्रों में शंका समाधान स्तम्भ के माध्यम से अपने अनुभव से समाज को बहुत लाभ पहुँचाया है। उनकी 'स्वरूपाचरण' व 'पुण्य-शुभोपयोग' आदि पर विस्तृत रचनाएँ मैंने पढ़ी हैं। आचार्य कल्प श्रुतसागरजी महाराज आदि के पास महीनों रहकर मुख्तार सा० ने स्वाध्याय द्वारा साधु-सेवा की है। धवला आदि पर उनका गहरा अध्ययन था। इस दृष्टि से वे जैन समाज के विशिष्ट विद्वान् थे।

जन्म लेने वाले की मृत्यु अटल है, परन्तु स्व० ब्र० रतनचन्दजी का नाम तो अमर रहेगा। वर्षों तक उनका नाम व काम दिगम्बर जैनियों को प्रेरणा देता रहेगा।

सिद्धान्त सूर्य

* पं० फतेहसागर शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य, उदयपुर

कैसे लिखूँ ? क्या लिखूँ ? पूज्य मुख्तार सा० के सम्बन्ध में !

सतत अध्ययनशील, उच्च विचारवान व्यक्तित्व के धनी मुख्तार सा० का सम्पूर्ण जीवन धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ। उनका आदर्श कृतित्व और व्यक्तित्व समाज के लिये प्रेरणास्पद है। सिद्धान्त ग्रन्थों के तलस्पर्शी ज्ञान के धनी होने के कारण हम इन्हें 'सिद्धान्तसूर्य' भी कह सकते हैं। इनकी वाणी में सत्यता, मधुरता, गम्भीरता एवं रोचकता थी। एक बार जो कोई उनके प्रवचन सुन लेता था, वह अप्रभावित नहीं रह पाता था। उनकी कथनी एवं लेखनी दोनों ही में अनेकान्त पक्ष झलकता था। उन्होंने कभी मतभेद जैसी बात

नहीं की, निश्चयपक्ष और व्यवहार पक्ष का सापेक्ष कथन ही किया। आगम की बात पर पूर्ण श्रद्धा करते हुए उन्होंने कभी कुतर्क को महत्त्व नहीं दिया।

करणानुयोग का उनका विशद अध्ययन था। वे ज्ञानमार्ग और ध्यानमार्ग दोनों को ही साथ-साथ महत्त्व देते थे। स्वाध्याय आपके जीवन का प्रमुख उद्देश्य रहा। आपने रागद्वेष, मोह, माया व कषायों से भरसक दूर रह कर अपने जीवन को प्रगतिशील बनाया। स्व० मुख्तार सा० का जीवन हम सबके लिए प्रेरणा प्रदान करने वाला है।

उस प्रेरणास्पद व्यक्तित्व को शतशः नमन !

अद्वितीय प्रश्नसह

✽ डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, भगवाँ (छतरपुर) म० प्र०

पूज्य विद्वद्वर्य श्री रतनचन्दजी मुख्तार समाज के ख्यातिप्राप्त एवं गणमान्य विद्वान् थे। आपकी विद्वत्ता, प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं प्रश्न-सहन-क्षमता अद्वितीय थी। चतुरनुयोग सम्बन्धी शङ्काओं के समाधान में आपकी समानता अन्य विद्वान् नहीं कर सके। मैं आपकी श्रुत सेवा एवं समाजोपकारी कार्यों का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

स्व० पण्डितजी को कोटि-कोटि वन्दन !

मोक्षमार्ग के पथिक

✽ डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

"सः जातो येन जातेन, याति धर्मः समुन्नतिम् ।
अस्मिन् असारसंसारे, मृतः को वा न जायते ॥"

अजीज और एण्ड्रूज, अविनाश और अक्षय, सबके जन्मों का लेखा-जोखा नगर निगम रखते हैं; परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनके जन्म का लेखा राष्ट्र, समाज और जातियों के इतिहास प्यार से अपने अङ्क में सुरक्षित रखते हैं। जुलाई १९०२ में जन्मा यह बालक भी ऐसा ही था रतनचन्द।

मध्यम कद, दुर्बल शरीर, चौड़ा ललाट, भीतर तक झाँकती सी ऐनक धारण की हुई आँखें, धीमा बोल, सधी चाल और सदैव स्मित मुख मुद्रा बस यही था उनका अङ्गन्यास।

सफेद धोती और दुपट्टा, सामान्यतः यही था उनका वेषविन्यास।

सहृदय, मृदुभाषी, सरल परिणामी, करुणाशील, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी; जीवन नियमित, दृष्टि स्पष्ट, शक्ति सीमित पर उसी में सन्तुष्ट, समझदार साथी, कड़वाहट पीकर भी वातावरण को मधुरता प्रदान करने वाले, वात्सल्य के धनी, बस यही था उनका अन्तर आभास।

मुझे ऐसे उदारचित्त, मान्यपुरुष से व्यक्तिगत भेंट करने का प्रथम अवसर मिला अक्टूबर १९७३ में, जब मैं आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज के संघ के दर्शनार्थ निवाई गया। वहां आप समादरणीय पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, परम पूज्य १०८ श्री अजितसागरजी महाराज व पूज्य १०५ आर्यिका विशुद्धमतीजी के साथ 'त्रिलोकसार' की मुद्रित प्रति का तीन हस्तलिखित प्रतियों से मिलान कर आवश्यक संशोधन कर रहे थे। इससे पूर्व जैनपत्रों के 'शंका-समाधान' स्तम्भ के माध्यम से पण्डितजी से परोक्ष परिचय ही था। 'त्रिलोकसार' के संशोधन-सम्पादन के समय पण्डितजी के अगाध ज्ञान, सूक्ष्म ग्रहण शक्ति तथा कार्य में तल्लीनता आदि गुणों से बहुत प्रभावित हुआ। पं० पन्नालालजी ने 'त्रिलोकसार' की प्रस्तावना में सर्वथा उपयुक्त ही लिखा है कि—

"श्री ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार पूर्वभव के संस्कारी जीव हैं। इस भव का अध्ययन नगण्य होने पर भी इन्होंने अपने अध्यवसाय से जिनागम में अच्छा प्रवेश किया है और प्रवेश ही नहीं, ग्रन्थ तथा टीकागत अशुद्धियों को पकड़ने की इनकी क्षमता अद्भुत है। इनका यह संस्कार पूर्वभवागत है, ऐसा मेरा विश्वास है। 'त्रिलोकसार' के दुरूह स्थलों को इन्होंने सुगम बनाया और माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव कृत संस्कृत टीका सहित मुद्रित प्रति में जो पाठ छूटे हुए थे अथवा परिवर्तित हो गए थे, उन्हें आपने अपनी प्रति पर पहले से ही ठीक कर रखा था। पूना और ब्यावर से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों से जब इस मुद्रित टीका का मिलान किया तब श्री मुख्तारजी के द्वारा संशोधित पाठों का मूल्यांकन हुआ।"

निस्सन्देह, उच्चकोटि के सिद्धान्त ग्रन्थों का, आपका ज्ञान असाधारण था। जीवन के अन्तिम दिवसों में भी आप निरन्तर ज्ञान की साधना में तत्पर रहे थे। **आपकी विशिष्ट स्मरणशक्ति हमारे लिए ईर्ष्या की वस्तु थी।** स्वाध्याय करने-कराने के लिए आप प्रत्येक चातुर्मास में मुनिसंघों में जाते रहते थे। इन दिनों आप द्वारा संशोधित गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) छपा है। 'लब्धिसार' व 'क्षपणासार' ग्रन्थों की गाथाओं का सरलार्थ व विशेषार्थ भी जयधवलादि ग्रन्थों के आधार पर आपने तैयार किया था। **आप सच्चे अर्थों में सिद्धान्तभूषण थे।**

आपने १-१२-७८ के पत्र में मुझे लिखा—"प्रतिदिन ८-१० घण्टे से कम स्वाध्याय करने में सन्तोष नहीं होता। शारीरिक स्वास्थ्य व गृहकार्य का भार ५-६ घन्टे से अधिक स्वाध्याय नहीं होने देता।........ हम दो (पति, पत्नी) ही प्राणी हैं और दोनों की वृद्ध व रुग्ण अवस्था, किन्तु जिनवाणी का शरण प्राप्त है इसलिए कष्ट का अनुभव नहीं होता।"

जिनवाणी के प्रति आपकी अटूट भक्ति व आस्था ही आपके जीवन का सम्बल रहा।

'विद्या ददाति विनयम्' के आप साकार रूप थे। अगाध विद्वत्ता के बावजूद मान-अभिमान आपको रञ्चमात्र भी छू तक नहीं सका। पत्रोत्तर देना आपके स्वभाव का अंग था। कहीं से भी कोई शंका-समाधान या जिज्ञासा का पत्र आ जाए वह अनुत्तरित नहीं रहता था। 'त्रिलोकसार' का प्रकाशन-कार्य लगभग डेढ़ वर्ष तक चला। पूज्य पण्डितजी ने मेरी हर शंका का समाधान करते हुए स्नेहसिक्त उत्तर दिये। पूज्य माताजी विशुद्धमतीजी के आदेशानुसार आपको जब मैंने ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ अपना फोटो भेजने के लिए लिखा तो आपने २३-११-७४ को उत्तर दिया—"तीन पत्र मिले। मेरे पास मेरा कोई फोटू नहीं है और न इच्छा है। ख्याति व ख्याति की चाह पतन का कारण है। **'त्रिलोकसार' में कहीं पर मेरा नाम भी न हो, ऐसी मेरी इच्छा है।"** पण्डितजी की इस निस्पृह, निर्लेप वृत्ति की जितनी सराहना की जाए कम है।

व्रतनिष्ठा व चरित्र के प्रति आपकी दृढ़ आस्था सदैव अनुकरणीय है। आपने श्रावक के व्रतों का निर्दोष-रीत्या पालन किया था। मेरे पूज्य पिताश्री पं० महेन्द्रकुमारजी पाटनी काव्यतीर्थ (मदनगंज-किशनगढ़) ने जब

किशनगढ़–रेनवाल में दिसम्बर १९७४ में आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा की प्रार्थना की, तो सूचना पाकर आपने मुझे लिखा "आपके पिताजी क्षुल्लक दीक्षा ले रहे हैं, बहुत हर्ष की बात है।.........कम से कम एक पण्डित तो इस दिशा में आगे बढ़ा।" 'धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि' इस आगमोक्ति में आपका पूर्ण विश्वास था।

आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज के संघ का १९७८ का चातुर्मास आनन्दपुर कालू में हुआ था। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) के संशोधन हेतु आप भी पधारे थे। मैं भी संघ के दर्शनार्थ पहुँचा था, आपने प्रेरणा की थी कि किसी दीर्घ अवकाश में करणानुयोग के ग्रन्थों के स्वाध्याय हेतु सहारनपुर आ जाओ; परन्तु विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के कारण विगत वर्षों में ग्रीष्मावकाश का लाभ ही नहीं मिल सका। तथा अब वह ज्योति कहाँ रही?

कालू से बलूंदा होते हुए नीमाज (पाली–राजस्थान) के मार्ग में चलते-चलते ही पूज्य १०८ श्री समतासागरजी महाराज (पं० महेन्द्रकुमार पाटनी) के निधन के समाचार पाकर आपने ७–१२–७८ को मुझे लिखा—

"इस प्रकार देहावसान की अनेक घटनाएँ होती हैं। दुःख तो इस बात का है कि मैं उनकी सेवा न कर सका। वास्तव में, वे समता के सागर थे। उनके उपदेश का प्रभाव पड़ता था और साधारण मनुष्यों को भी उनके उपदेश को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। इन घटनाओं से भी हमारी आँख नहीं खुलती। हम अपने आपको अमर माने हुए हैं। इस वृद्ध व अस्वस्थ अवस्था में भी परिग्रह त्याग के भाव नहीं होते; किन्तु हर समय उसकी रक्षा की चिन्ता रहती है। आर्त-रौद्र परिणामों से अपनी हानि नहीं मानते; किन्तु परिग्रह की हानि से अपनी हानि मानते हैं।"

पण्डितजी का यह आत्मालोचन प्रेरणास्पद है। आगे लिखते हैं—

"वृद्ध अवस्था है। अब स्वास्थ्य की चिन्ता करना या बात करना व्यर्थ है।

लब्धिसार, क्षपणासार की ३५० गाथाएँ हो चुकी हैं, ३०० शेष हैं; वे भी दो तीन माह में पूर्ण हो जावेंगी। यदि आयु शेष रही तो जीवकाण्ड का कार्य आरम्भ करूँगा। गोम्मटसार कर्मकाण्ड प्रेस में जा चुका है, उसकी विषयसूची व विशेष शब्द-सूची बनानी है।"

"अंतो णत्थि सुईणं कालो, थो ओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं, जं जरमरणं खयं कुणइ॥"

श्रुतियों का अन्त नहीं है, काल अल्प है और हम दुर्मेध हैं, इसलिए वही मात्र सीखने योग्य है कि जो जरामरण का क्षय करे।

यह अत्यन्त प्रशंसा एवं गौरव की बात है कि स्व० पूज्य पण्डितजी ने इस शास्त्र निर्देशन के अनुसार ही अपने पूरे जीवन को ज्ञान की साधना में लगाया।

अपनी आयु के ७९वें वर्ष में आप दिवंगत हुए। उनका अभाव अपूरणीय है। परमात्मा से प्रार्थना है कि भुज्यमान पर्याय से च्युत होकर, शीघ्र नर पर्याय पाकर, अमिट पुरुषार्थ को धारण कर, अक्षय चारित्र के रथ पर चढ़ कर शीघ्र ही अनन्त तथा अक्षय सुख के अनन्त काल भोगी हों।

अध्यवसायी विद्वान्

❋ श्री भँवरलाल जैन न्यायतीर्थ सम्पादक, 'वीर वाणी' जयपुर–४

स्व० पण्डितप्रवर रतनचन्दजी मुख्तार उन सिद्धान्त-मर्मज्ञों में से एक थे जिन्होंने बिना कोई डिग्री पास किये और बिना किसी विद्यालय में नियमित धार्मिक शिक्षण प्राप्त किये–अपने अनवरत स्वाध्याय के बल पर जैन सिद्धान्त के उच्च कोटि के विद्वानों में अपना स्थान बनाया था। उर्दू और अंग्रेजी के माध्यम से मेट्रिक व मुख्तार-गिरी की परीक्षा पास कर कोर्ट कचहरी में काम करने वाला व्यक्ति कभी जैन विद्वानों की कोटि में बैठ सकेगा, ऐसी आपके अभिभावकों या मित्रों की भी कल्पना नहीं थी। परन्तु माता-पिता से विरासत में प्राप्त प्रतिदिन स्वाध्याय और जिनपूजन की प्रवृत्ति ने इन्हें धार्मिक ज्ञान का पिपासु बनाया और इस जिज्ञासा के कारण विभिन्न विद्वानों की संगति में आप बैठने लगे। बाबा भागीरथजी वर्णी, पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी, पं० माणकचन्दजी कौन्देय आदि के संसर्ग में आकर और प्रेरणायें प्राप्त कर निरन्तर स्वाध्याय करते रहे। जैन तत्त्व ज्ञान का ऐसा चस्का लगा कि अपनी मुख्तारगिरी छोड़ बैठे और ज्ञानप्राप्ति में लग गये। दिगम्बर साधुओं के चातुर्मासों में काफी समय आपने दिया और साधु वर्ग के साथ भी गहन अध्ययन किया।

आप परम्परागत प्राचीन पीढ़ी के इने गिने विद्वानों में थे। मेरा आपसे कोई घनिष्ट सम्पर्क तो नहीं हुआ; किन्तु एक पत्र के सम्पादक होने के कारण समाज के प्रायः सभी लेखकों और विद्वानों से थोड़ा बहुत परिचय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में रहता है। वैसे दो-चार बार आपसे मिलना भी हुआ। शांतिवीरनगर श्रीमहावीरजी से प्रकाशित होने वाले कई ग्रन्थों के सम्पादन में आपका सहयोग रहा था। एक बार आगम-अध्ययन प्रारम्भ कर लेने के बाद यावज्जीवन आपके एवं आपके अनुज पं० नेमिचन्दजी के अध्ययन व पठन-पाठन एवं चर्चा बराबर चालू रहे। हाल ही में क्षपणासार की एक और अप्रकाशित टीका आपके पास भिजवाई थी। जिसे देखकर आपने प्रकाशन की प्रेरणा दी थी।

ऐसे लगनशील व्यक्ति की स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशित करना एक उचित, आवश्यक और प्रेरणादायक कार्य है।

लगभग ७९ वर्ष की आयु में (२८ नव० सन् ८० की रात्रि को) वे इस संसार से चल बसे। उनके देहान्त के समाचार सुनकर सभी जिनमार्गियों को गहन दुःख हुआ। ऐसी विभूति के अभाव का पूरक शायद ही कोई हो। उन्हें मैं हृदय से वन्दन करता हुआ; उनके लिये यथा योग्य, यथा शीघ्र परमधाम प्राप्ति की कामना करता हूँ। ❋

ज्ञान और चरित्र के धनी

❋ श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन सरोज, जावरा (म० प्र०)

मुझे यह जानकर अतीव आह्लाद हुआ कि निकट भविष्य में ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार, सहारनपुर की स्मृति में उनकी धार्मिक-सामाजिक सेवाओं के उपलक्ष्य में, एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। विज्ञान की बीसवीं शताब्दी, विचार के इस बिन्दु से भी गौरवान्वित रहेगी कि इस सदी में बहुत से उच्चकोटि के विद्वान् हुए, जिन्होंने

अपनी असीम विद्वत्ता से देश और समाज को विस्मित किया और कृतज्ञ समाज ने उनके उपकारों के ऋण से उऋण होने के लिए उनके कृतित्व को पुरस्कृत-अभिनन्दित करने हेतु उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ग्रन्थ प्रकाशित किया।

ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार प्राचीन परम्पराओं के प्रतिनिधि विद्वान् थे। वे वर्षों तक 'शास्त्रि परिषद्' के अध्यक्ष रहे। 'शंका समाधान' स्तम्भ के लेखक के रूप में उनकी ख्याति रही। 'अकाल मरण', 'पुण्य तत्त्व का विवेचन' जैसी पुस्तकें उन्हें गम्भीर ज्ञान और उज्ज्वल चरित्र का धनी सिद्ध करती हैं। साधुसंघों में सम्मिलित होकर साधुजनों को स्वाध्याय का लाभ भी उन्होंने दिया था।

उनका स्मरण मेरी दृष्टि में उस ज्ञान और चरित्र का स्मरण है, जिसकी आधुनिक भौतिकवादी विश्व-समाज को अत्यन्त आवश्यकता है। मांगलिक आयोजन की दिशा में मेरी सद्भावनायें आपके साथ हैं।

विनयाञ्जलि

*** धर्मालंकार पं० हेमचन्द्र जैन शास्त्री, अजमेर**

विश्ववंद्य १००८ भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण को ढाई हजार वर्ष से ऊपर व्यतीत हो चुके हैं। पूज्यवर गौतमादि गणधरादि महर्षियों के द्वारा श्रुत की परम्परा इतने समय तक अक्षुण्ण चली आई। मस्तिष्क से मस्तिष्क की श्रुताराधना जब विच्छिन्न होने लगी तब पूज्यपाद धरसेनाचार्य व उनके शिष्यों के द्वारा सूत्र व सिद्धान्त ग्रन्थों का लिपिबद्ध होना प्रारम्भ हुआ और श्रुतावतार की निर्मल धारा में अनेक मनीषी आचार्यों ने आप्लावन कर अपने श्रुतज्ञान को निर्मल किया।

आत्मशुद्धि के लिये स्वाध्याय दीर्घकालीन रुचिकर प्रणाली है। ध्यान की एकाग्रता भी श्रुतचिन्तन से ही होती है। ज्ञानी साधुगण इस परम तप के द्वारा ज्ञानध्यान में लवलीन होते हैं और इसी श्रुताराधना द्वारा संवर-निर्जरा करते हुए निर्वाण प्राप्त करते हैं।

बुद्धि-बल व पराक्रम की क्षीणता के साथ ग्रन्थ-प्रणयन की पद्धति प्रचलित हुई और दक्षिणापथ के यशस्वी, मनीषी सरस्वती पुत्रों द्वारा सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन हुआ और अनेक गूढ़ वृत्तियाँ रची गईं। गुरु प्रणीत रचनाओं का उनके शिष्य वर्ग द्वारा अनेकशः पारायण हुआ। वे लिपिबद्ध तो हुईं पर जनसाधारण द्वारा हृदयंगम नहीं की जा सकीं। अतएव जिज्ञासु समर्थ शासकों के द्वारा आचार्यों से निवेदन करने पर गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार जैसे ग्रन्थों की उपलब्धि हुई। साधु वर्ग के साथ-साथ श्रावकों को भी इस अमृत का साररूप अंश पान करने को मिला जिससे गम्भीर शास्त्र अध्येता अनेक विद्वानों का उदय हुआ। दुःखद स्थिति यह है कि इस पीढ़ी के सभी विद्वान् आज हमारे बीच में नहीं हैं।

पू० सिद्धान्ताचार्य स्व० पं० रतनचन्दजी साहब मुख्तार इस विद्वत् शृंखला की एक कड़ी थे। मैंने दि० जैन जम्बू विद्यालय, सहारनपुर में अध्ययन करते समय आपके एवं आपके भाई सा० के दर्शन किये थे, नाम मात्र से परिचित था। इस प्रथम दर्शन के बाद तो आपका समागम परम पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्रुतसागरजी महाराज के सान्निध्य में किशनगढ़, अजमेर, निवाई, सुजानगढ़, मेड़ता आदि राजस्थान के अनेक धर्मस्थलों पर हुआ। चातुर्मासों में आप संघ में ही स्वाध्याय-चिन्तन करते थे। धवला आदि ग्रन्थों के पारायण में ही आप सदा दत्तचित्त रहते थे। आज आप सदृश करणानुयोगी विद्वान् समाज में बिरले ही हैं।

द्रव्यानुयोगी विद्वानों की बढ़ोतरी के साथ करणानुयोगी विद्वान् दुर्लभ हो रहे हैं। आपका तत्त्व-चिन्तन आपके ही अनुरूप था।

आपके साथ मेरी तत्त्वविचारणा शतशः हुई थी। आपका तत्त्वचिन्तन विद्वानों द्वारा अनुग्राह्य है। सरल-भावना से सरलभाषा में श्रोताओं को शास्त्र का अमृतपान करा देना आपकी अनुपम शैली रही। वय के साथ ज्ञान की वृद्धि आप में उत्तरोत्तर हुई।

मैं जिन शास्त्र के आराधक स्व० मुख्तार सा० को अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

विशिष्ट मेधावी प्रज्ञातिशायी मुख्तार साहब

✽ श्री मिश्रीलाल शाह जैन शास्त्री, हाल मु० बाड़ा–पद्मपुरा जयपुर (राज०)

श्री विद्वद्वर्य, सिद्धान्तविशेषज्ञ, महामना ब्र० रतनचन्दजी सा० जैन, मुख्तार, (सहारनपुर) एक महनीय व्यक्तित्व के धनी थे। श्री स्व० १०८ श्री शिवसागरजी व आचार्यकल्प १०८ श्रुतसागरजी महाराज के संघ के दर्शनार्थ लाडनूँ से जाते समय आपसे मेरा पर्याप्त सम्पर्क रहा। एवमेव आलाप-संलाप भी समय-समय पर होता रहता था। आप परम सैद्धान्तिक विद्वान् होते हुए भी चारित्रवान् थे। विद्वत्ता के साथ चारित्र का मेल-जोल अपने आपमें अतिशय महान् समझा जाता रहा है। आप सौम्य प्रशान्त और मृदुभाषी थे। 'शंका-समाधान' प्रसंग में तो आपका नाम विशेष उल्लेखनीय है। त्यागीवर्ग एवं विद्वद्गण आपके इस तीक्ष्ण क्षयोपशम व प्रखर प्रतिभा-शक्ति की आज भी सराहना करते हैं। आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आप हरेक शंका का समाधान आगम प्रमाण पुरस्सर ग्रन्थ का अध्याय, श्लोक संख्या आदि का विवरण देते हुए करते थे, जिससे पाठक का मन निर्भ्रान्त हो जाता था।

आपने तिलोयपण्णत्ति, गोम्मटसार, धवल, जयधवल, महाधवलादि ग्रन्थों का प्रौढ़ स्वाध्यायपूर्वक मनन किया था। चातुर्मासों में मुनिसंघों में आपकी उपस्थिति से जटिल गूढ़ शंकाओं का समाधान, संघस्थ साधु जनों की सरस वीतराग कथा में पारस्परिक उत्तर प्रत्युत्तर से हुआ करता था। आपके सम्पर्क से सभी को तत्त्व ज्ञान का लाभ मिलता था।

श्री १०८ आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज व श्री १०८ अजितसागरजी महाराज बहुत व्युत्पन्न, मर्मज्ञ, श्रुतसेवी व श्रुताभ्यासी हैं, सतत श्रुताराधन में दत्तचित्त रहते हैं। मुख्तार सा० भी विशेषकर उक्त संघों में रहकर धर्मध्यान और विशिष्ट चारित्राराधन में अपना समय लगाते हुए परमशान्ति का अनुभव किया करते थे।

वर्षों तक जैन संसार को लाभ देकर मुख्तार सा० सन् १९८० में अपनी प्रज्ञाज्योति के साथ इस जगत से चल बसे। यदि यह प्रज्ञाज्योति और प्रज्वलित रहती तो हम अपने अज्ञान तिमिर का विशेष क्षय कर पाते। आपको शान्ति का लाभ हो। यही कामना है।

तपस्वी साधक

* श्री नरेन्द्रप्रकाश जैन, प्राचार्य श्री पी० डी० जैन इन्टरकालेज, फिरोजाबाद

'न स्वाध्यायात्परं तपः' अर्थात् स्वाध्याय से उत्तम अन्य कोई तप नहीं है। जिन्हें संयोग से किसी गुरुकुल में अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला और न किसी सुयोग्य आचार्य के चरणों में बैठकर नियमित क्रमिक शास्त्राभ्यास का निमित्त ही मिला, वे भी इस तप की सीढ़ियों पर चढ़कर ज्ञान की ऊँचाइयों को स्पर्श करने में समर्थ हुए हैं। उनके इस अनुपम व अद्वितीय पुरुषार्थ पर जमाना मुग्ध हो गया। पैसा कमाने, घर बसाने या परिवार बढ़ाने में तो सभी लोग पुरुषार्थ करते हैं, किन्तु आत्मविकास के लिये जो पुरुषार्थ करते हैं धन्य तो वे ही हैं, जीवन तो केवल उनका ही कृतकृत्य है।

स्व० पूज्य विद्वद्वर्य श्री रतनचन्दजी मुख्तार समाज की एक ऐसी ही विभूति थे, जिन्होंने स्वकीय पुरुषार्थ से निर्मल-विमल ज्ञान-गरिमा को उपलब्ध किया था। अथाह आगम सिन्धु में बार-बार डुबकियाँ लगाकर उन्होंने जो रत्न ढूंढे या प्राप्त किए वे बहुमूल्य हैं और जैन साहित्य-कोष की अक्षय निधि हैं। अपने तीव्र क्षयोपशम से उन्होंने दर्शन की अनेक दुरूह गुत्थियों को इतनी सरलता से सुलझाया था कि बड़े-बड़े विद्वानों को भी उनकी उस अप्रतिम प्रतिभा पर आश्चर्य होता था। 'जैनदर्शन', 'जैन गजट' एवं 'जैन सन्देश' के माध्यम से उनके द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत किये गये 'शंका-समाधानों' को यदि पुस्तकाकार छपाने की व्यवस्था कर दी जाय तो यह एक ऐसा सन्दर्भ ग्रन्थ होगा, कि जिसे युगों-युगों तक सहज संभाल कर रखा जायेगा तथा आने वाली पीढ़ियाँ उससे निरन्तर मार्गदर्शन प्राप्त करती रहेंगी।[१]

श्रद्धेय स्व० मुख्तार सा० के स्वाध्याय-प्रेम की तुलना हम स्व० पण्डित सदासुखदासजी से कर सकते हैं। स्व० पण्डितजी जयपुर के राजपरिवार में नौकरी करते थे। एक बार महाराजा ने उन्हें बुलाकर उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए वेतनवृद्धि प्रदान करने की घोषणा की। इस पर पंडितजी ने बड़े विनम्र भाव से निवेदन किया कि वे वेतनवृद्धि नहीं चाहते हैं। इस समय उन्हें जितना वेतन मिल रहा है उतने में उनका निर्वाह भली भाँति हो जाता है। उन्होंने महाराजा से आग्रह किया कि यदि वे (महाराजा) सचमुच उन पर प्रसन्न हैं तो वेतनवृद्धि के स्थान पर उनके काम के कुछ घंटे कम कर दें, ताकि वे स्वाध्याय के लिए अधिक समय निकाल सकें। उनके भीतर छिपी ज्ञान की ऐसी अलौकिक ललक को देखकर महाराज इतने भाव-विभोर हुए कि उन्होंने उठकर पण्डितजी को गले लगा लिया तथा स्वाध्याय के लिये उन्हें सभी अपेक्षित सुविधाएँ प्रदान कीं। मुख्तार सा० तो उनसे भी बढ़कर स्वाध्यायी थे। उन्होंने तो आगम के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिये मुख्तारी के पेशे को ही तिलाञ्जलि दे दी।[२]

मान्यवर मुख्तार सा० के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे तीन वर्ष पूर्व सहारनपुर में ही मिला था, जबकि मैं वहाँ एक बारात मे शामिल होकर गया था। आज के सामाजिक, धार्मिक परिवेश पर उनसे लगभग पौन घंटे चर्चा हुई थी। वर्तमान में कुछ विद्वानों द्वारा एकान्त विचारधारा का प्रतिपादन किये जाने से वे चिन्तित थे। उनसे साधुसंगति के अनेक प्रेरक संस्मरण भी सुनने को मिले थे। वे हर वर्ष चातुर्मास में अपना अधिकाधिक समय मुनियों के चरण सान्निध्य में व्यतीत करते थे तथा उन दिनों अध्ययन-अध्यापन का बढ़िया क्रम चलता था। आगम के

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ का शंकासमाधानाधिकार देखिए।

२. आपके अनुज श्री नेमिचन्दजी के लिये भी यही बात है।

गम्भीर से गम्भीर प्रमेयों के सम्बन्ध-सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट था और तत्त्व की व्याख्या करने का ढंग उनका इतना सरल था कि धर्म का "क ख ग" जानने वाला भी उसे आसानी से हृदयंगम कर लेता था। वे नपा-तुला और सन्तुलित बोलते थे। उनके आत्मीयतापूर्ण व्यवहार एवं सरल-शान्त सौम्य व्यक्तित्व का जो अचिन्त्य प्रभाव मेरे हृदय पर पड़ा है, वह अमिट है।

वार्ता की समाप्ति पर उनका चरणस्पर्श करते समय मुझे पंडित प्रवर आशाधरजी का यह कथन स्मरण हो आया—

"जैनश्रुततदाधारौ, तीर्थं द्वावेव तत्त्वतः।
संसारस्तीर्यते ताभ्यां, तत्सेवी तीर्थसेवकः॥"

अर्थात् जिनवाणी और जिनवाणी के ज्ञाता पण्डित ये दो ही वास्तव में तीर्थ हैं, क्योंकि, ये दोनों ही इस जीव को संसार से तारने वाले हैं। जो इनकी सेवा करते हैं वे ही सच्चे तीर्थसेवक कहलाते हैं।

ऐसे तपस्वी साधक के दर्शनों से मुझे सचमुच तीर्थ-वन्दना जैसा ही आनन्द मिला।

यह अणुव्रती आत्मा २८ नवम्बर १९८० ई० शुक्रवार को इस संसार (मनुष्य पर्याय) से चल बसी। अहो! इस पावन आत्मा का अभाव सदा खटकता रहेगा तथा इनकी सम्पूर्ति कोई करेगा, इसमें मुझे संशय है। इस पुनीत प्रज्ञिल के प्रति मेरी सदैव मङ्गल कामना है। मैं आपका अभिवन्दन करता हूँ। ❖

सिद्धान्त ग्रन्थों के पारगामी विद्वान्

* डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

जैन जगत् में विद्वत्ता एवं ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन की दृष्टि से स्व० पं० रतनचन्दजी मुख्तार का नाम अत्यधिक आदर के साथ लिया जाता रहेगा। पण्डितजी साहब यद्यपि अनेक उपाधिधारी विद्वान् नहीं थे, लेकिन **वे धवला, जयधवला, महाधवला, गोम्मटसार, समयसार आदि उच्चस्तरीय सिद्धान्तग्रन्थों के पारगामी विद्वान् थे।** दिन-रात स्वाध्याय एवं तत्त्वचर्चा में लगे रहना ही अपने जीवन का सबसे बड़ा उपयोग समझते थे। भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव को किस प्रकार मनाया जावे इस सम्बन्ध में सहारनपुर में एक वृहद् सम्मेलन आयोजित किया गया था। देश के चोटी के विद्वान् समाज के नेतागण एवं कार्यकर्त्तागण उसमें सम्मिलित हुए थे। मैं भी अपने साथियों के साथ सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए गया था। सहारनपुर जाने पर आपसे मिलने की इच्छा हुई, लेकिन मालूम पड़ा कि "पण्डितजी सम्मेलनों में कम ही आते हैं; अपने घर पर ही स्वाध्याय एवं तत्त्वचर्चा में व्यस्त रहते हैं।" आखिर, घर पर जाना पड़ा। वहाँ देखा कि पण्डितजी तो ग्रन्थ खोल कर बैठे हुए हैं और उनके सामने ३–४ श्रावक बैठे हैं, तत्त्वचर्चा चल रही है। थोड़ी देर बैठकर हम भी तत्त्व-चर्चा सुनते रहे; बड़ा आनन्द आया। वास्तव में इस प्रकार की तत्त्वचर्चायें होती रहनी चाहिये; जिससे ग्रन्थों के मर्म को जाना जा सके। महाकवि बनारसीदास, पं० टोडरमलजी व पं० जयचन्दजी के समय में आगरा, जयपुर, मुलतान, सांगानेर, कामां आदि स्थानों पर ऐसी ही तत्त्वचर्चायें व उपदेश आदि होते थे।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि स्व० पंडित रतनचन्दजी सा० मुख्तार की स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। पण्डितजी जैसे सिद्धान्तवेत्ता, निरभिमानी एवं स्वाध्यायी विद्वान् का मंगल स्मरण हमें भी सम्यग्ज्ञान से आलोकित करे, यही भावना है।

जैनागमों का सचेतन पुस्तकालय

* पण्डित प्यारेलालजी कोटड़िया, उदयपुर

सुतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
'दैवायत्तं कुले जन्म, ममायत्तं हि पौरुषम् ॥

महान् विद्वान्, संस्कृति के प्रणेता एवं परम्परा के सतत सजग प्रहरी होने के कारण स्वर्गीय पूज्य मुख्तार सा० का पुनीत स्मरण करना हम सबका परम कर्तव्य है क्योंकि विद्वान् केवली भगवान् की वाणी की स्थिति सँभाल कर उसका सही दिग्दर्शन कराते हैं और जन-जन जिनवाणी की पूजा-उपासना कर अपना जीवन सफल करते हैं।

यह हमारा सौभाग्य है कि इस धरती पर दर्शन के सम्यक् ज्ञाता और वस्तुस्वरूप का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करनेवाले महापुरुषों ने समय-समय पर जन्म लिया है। ऐसे ही महापुरुषों की शृंखला में परमज्ञानी, उज्ज्वलचारित्र-धारी, कर्मठ, संयमी, सिद्धान्ताचार्य, विद्यावारिधि पण्डित रत्न स्व० श्री रतनचन्दजी सा० मुख्तार का नाम भी प्रथम पंक्ति में रखे जाने योग्य है। आपके जीवन, कार्यकलाप, साहित्य और आगम सेवा से सभी सुपरिचित हैं। जब धवल, जयधवल, महाधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थ सामने आये और छपने प्रारम्भ हुए तभी से आपने अपना सभी लौकिक व्यवसाय छोड़ दिया। आप चिन्तन और ग्रन्थ मन्थन में जुट गए; उनमें से नवनीत निकाल कर अनेक गूढ़ प्रश्नों का साङ्गोपाङ्ग सप्रमाण समाधान प्रस्तुत किया।

आप अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे। धवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में ही नहीं अपितु चारों अनुयोगों में आपका इतनी सरलता से प्रवेश था कि यदि आपको जैनागमों का सचेतन चलता-फिरता पुस्तकालय कहा जाता तो भी अनुचित न होता। आप साक्षात् भगवती सरस्वती की सवाक् मूर्ति ही थे।

आपने चारों अनुयोगों अर्थात् अध्यात्म और आगम का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर प्रमाण नयनिक्षेप के सही स्वरूप का एवं उसकी सापेक्षता का प्रतिपादन किया। आगम का प्रत्येक विषय सापेक्ष, स्याद्वाद और अनेकान्त से ओतप्रोत है।

अध्यात्म और आगम को भिन्न-भिन्न (विपरीत) दृष्टि से देखने वालों और मूल सिद्धान्त के तलस्पर्शी अध्ययन रहित एकान्तवादियों को मार्गदर्शन ही नहीं दिया अपितु सन्मार्ग पर लाने का सुप्रयास भी किया। प्रतिपक्षी नय को झूठा समझने वालों के समक्ष आपने सापेक्ष स्याद्वाद और अनेकान्त स्वरूप का प्रतिपादन कर उन्हें सम्यक्-अध्ययन करने की प्रेरणा भी दी।

---

१. दैव से यहाँ आयु व गोत्रकर्म समझना चाहिए।

अपने दुर्बल स्वास्थ्य और वृद्धावस्था के बावजूद भी आगत शङ्काओं का समाधान कर आप समाज के बुद्धिजीवियों का परम उपकार करते रहे थे।

मगसिर कृष्णा सप्तमी शुक्रवार वीर निर्वाण संवत् २५०७ के दिन आप स्वर्गवासी हुए। यह समाचार सुनकर अत्यन्त वेदना हुई, हृदय रो उठा; एक निधि ही खो बैठे। पर किया भी क्या जा सकता है? होनहार टलती नहीं। आपका अभाव हमें सदैव खटकता रहेगा।

आदर्श-जीवन

※ स्व० पं० हीरालाल सि० शास्त्री, न्यायतीर्थ साढूमल (झांसी)

यों तो सहारनपुर से मेरा सम्बन्ध सन् १९२४ से है, जब मैं बनारस में धर्माध्यापक था और कार्तिक में होने वाले 'उछाह' में शास्त्र प्रवचन के लिए बुलाया गया था। पर श्री रतनचन्दजी मुख्तार और उनके छोटे भाई श्री नेमिचन्दजी वकील सा० से मेरा परिचय तब हुआ जब मैं सन् १९३७ में श्री धवल सिद्धान्त की 'अमरावती प्रति' को सहारनपुर के सुप्रसिद्ध रईस लाला जम्बूप्रसादजी प्रद्युम्नकुमारजी के मन्दिर में स्थित प्रति से मिलाने के लिये वहाँ गया हुआ था। जैसे ही आप दोनों भाइयों को मेरे वहाँ पहुँचने का पता चला तो आप मेरे पास आये और बोले—"आप समय दीजिये और हमें सुनाइये कि इस ग्रन्थ में क्या वर्णन है?"

मैं सुनकर चौंका—क्योंकि मेरे पास किसी से बात करने को भी समय नहीं था। मई-जून की गर्मी और प्रातः ६ बजे से १० बजे तक और मध्याह्न १ बजे से ५ बजे तक मैं प्रतियों के मिलान में लगा रहता था। किन्तु जब दोनों भाइयों का प्रबल आग्रह देखा तो मैंने कहा—यदि आप लोग २ घण्टे का समय हमें प्रतियों के मिलान हेतु प्रातः काल दे दें तो मैं मध्याह्न में १ घण्टे का समय आप लोगों को ग्रन्थराज के प्रवचन के लिए दे सकता हूँ।

दोनों भाइयों ने सहर्ष मेरी बात को शीघ्रता से स्वीकार किया। वे प्रातःकाल प्रतियों का मिलान कराने के लिए अपने घर से मेरे पास आते और चूँकि उन दिनों कचहरी खुली हुई थी, उसके 'लंच-टाइम' में सहारनपुर की भीषण गर्मी में कचहरी से २ मील चल कर आते और ग्रन्थराज का प्रवचन सुनते और फिर वापिस कचहरी चले जाते। यह क्रम मेरे वहाँ रहने तक जारी रहा।

एक दिन मैंने पूछा—'आपके यहाँ तो महाविद्वान् श्रीमान् पं० माणिकचन्द्रजी, न्यायाचार्य रहे हैं, आपने उनसे ग्रन्थराज के प्रवचन सुनने का लाभ क्यों नहीं उठाया?' तब वे बोले—'हम लोगों ने अनेक बार उनसे इसके लिए निवेदन किया था, पर सदा ही उनका एक ही उत्तर था कि इन सिद्धान्तग्रन्थों को पढ़ने और सुनने का गृहस्थों को अधिकार नहीं है।' मैंने कहा—'ऐसी तो कोई बात नहीं है। मैंने तो ग्रन्थराज के सारे पत्र पलटे हैं, कहीं भी गृहस्थों को पढ़ने या सुनने का कोई निषेध नहीं दिखा'—तो आपने बताया कि हमें तो 'सागारधर्मामृत' के 'श्रावको वीर चर्याहः' आदि श्लोक की दुहाई देकर यही बताया गया है। तब मैंने 'सागारधर्मामृत' खोलकर और उक्त श्लोक की स्वोपज्ञ टीका निकालकर कहा—"इसमें तो 'सिद्धान्तस्य परमागमस्य सूत्ररूपस्य' लिखा है और सूत्र तो गणधर-ग्रथित प्रत्येक बुद्ध कथित या श्रुतकेवली-भणित कहे जाते हैं। ये धवलादि ग्रन्थ तो उनमें से किसी के द्वारा भी रचित नहीं हैं", तब आप लोगों ने सन्तोष की साँस ली।

जब मैं वहाँ से चलने लगा तो आप लोगों ने पर्युषण पर्व पर आने के लिए आग्रह किया। इस बीच धवला का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो चुका था, आप लोगों ने बड़े उल्लास के साथ उसका स्वाध्याय किया और अमरावती पत्र पर पत्र पहुँचने लगे कि दूसरा खण्ड कब तक प्रकाशित हो जायेगा। जैसे-जैसे धवला के भाग प्रकाशित होते रहे वैसे-वैसे ही आप दोनों भाई अपने मकान के सामने स्थित लाला अर्हदासजी के मन्दिर में बैठकर नियमित स्वाध्याय करते रहे।

सम्भवतः सन् १९४० के पर्युषण पर्वराज पर आपने मुझे सहारनपुर बुलवाया और अनेक प्रकार की शंकाओं का समाधान करते रहे। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि आपने स्कूल में अपनी शिक्षा उर्दू से प्रारम्भ की थी, हिन्दी का ज्ञान तो स्वोपार्जित ही है और धर्मशास्त्र का ज्ञान तो स्वयं ही स्वाध्याय करके एवं विज्ञजनों से चर्चा कर-करके प्राप्त किया है।

तब से लेकर आयु के अन्त तक आपसे बराबर सम्बन्ध बना रहा। 'कषायपाहुडसुत्त' और 'प्राकृत पंच संग्रह' के प्रकाशन काल में मैं प्रत्येक मुद्रित फार्म आपके पास भेजता रहा और अर्थ करने में या प्रूफ संशोधन में रही हुई भूलों को लिखने के लिए प्रेरणा करता रहा। मेरे निवेदन पर आपने रही हुई अशुद्धियों का शुद्धिपत्र तक तैयार करके भेजा और मैंने उसे सधन्यवाद स्वीकार किया।

आपके संसर्ग से जगाधरी के लाला इन्द्रसेनजी को सिद्धान्तग्रन्थों का स्वाध्याय करने के भाव जाग्रत हुए और उन्होंने आपकी प्रेरणा पर मुझे जगाधरी बुलाया और तीनों सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय किया।

जब कभी आप मिलते तो मैं कहता—"गुरु तो 'गुड़' ही रह गया, आप तो 'शक्कर' हो गये"—तो आप अति कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए कहते—"यह सब तो आपकी ही देन है।" अभी अभी दिनांक १९–२–८० के पत्र में आपने लिखा था—"मेरे पास जो कुछ भी है वह आपकी देन है।" उनकी इस कृतज्ञता अभिव्यक्ति के समक्ष मैं स्वयं नत मस्तक हूँ कि इतने महान् व्यक्ति में कितनी सरलता और विनम्रता है। आजकल तो जिनको ७–८ वर्ष तक लगातार पढ़ाते हैं वे छात्र भी अपने गुरु के प्रति इतनी कृतज्ञता प्रकट नहीं करते हैं; जबकि मैंने वास्तव में उनके साथ कोई ऐसी बड़ी बात नहीं की थी।

आपकी निरीहवृत्ति की मैं क्या प्रशंसा करूँ, वह तो प्रत्येक शास्त्रज्ञ के लिए अनुकरणीय है। आपने जब देखा कि चन्द रुपयों के पीछे जीवन का यह अमूल्य समय मुकदमों की पैरवी करने में जाता है तो आपने अपनी अच्छी चलती हुई प्रेक्टिस को छोड़ दिया और प्राप्त पूँजी में से कुछ अपने जीवन निर्वाह के लिए ब्याज पर रखकर शेष सारी पूँजी अपने पुत्र को सौंप दी। भाग्य का ऐसा चक्र फिरा कि पुत्र सारी पूँजी को व्यापार में खो बैठा। आपके सामने समस्या आई—अब क्या किया जावे ? आपने सहज सरलता से कहा—"भाई, तुम्हें घर की सारी स्थिति मालूम है और तुम वयस्क हो, अब तुम स्वयं ही सोचो कि तुम्हें क्या करना चाहिये ?" अन्त में, पुत्र को नौकरी करने के लिए विवश होना पड़ा—पर आपने पूँजी के लिए किसी के आगे हाथ फैलाना उचित नहीं समझा और जो अति सीमित आय थी उसीमें वे अपना और अपनी पत्नी का निर्वाह करते रहे। इधर ४० वर्षों में महँगाई किस कदर बढ़ी है, सभी जानते हैं। मैं तो अभी भी सोचता हूँ कि उन्होंने इतनी सीमित आय में कैसे अपना निर्वाह किया होगा।

चातुर्मास स्थलों पर शास्त्र प्रवचन और शंकासमाधान के लिए प्रायः साधु संघ आपको पर्व के दिनों में बुलाते थे और आप जाते भी थे। किन्तु अन्त तक आपने कहीं भी किसी साधु से इसका संकेत तो क्या, आभास तक भी नहीं होने दिया कि घर पर क्या गुजरती है।

यदि इनकी ओर से जरा सा भी संकेत होता तो वे अपने भक्तों से इनको मालामाल करा देते; पर ये चुपचाप अपने कर्मोदय को सहर्ष भोगने में ही निर्जरा के साथ अपना उज्ज्वल भविष्य देखते रहते थे।

अपनी वृद्धावस्था में भी, शरीर के उत्तरोत्तर कृश होते रहने पर भी आप बड़ी मुस्तैदी के साथ सिद्धान्त के उच्चग्रन्थों के सम्पादन एवं अनुवाद में लगे रहते थे। इसका आभास उनके विगत काल में आये पत्रों से चलता है, जिनमें उन्होंने लिखा था—"वृद्धावस्था के कारण यद्यपि शरीर जर्जरित हो गया है, किन्तु स्मृति बनी हुई है, जिसके कारण जयधवल के क्षपणाधिकार के आधार पर क्षपणासार की नवीन टीका लिख रहा हूँ।"

एक अन्य पत्र में आपने लिखा था—"जो अवस्था आपकी है, सो ही मेरी भी। ये सब वृद्धावस्था की देन है। श्री पं० भूधरदासजी ने कहा है—"बालों ने वर्ण फेरा, रोगों ने शरीर घेरा" किन्तु अभी तक ग्रन्थों की स्मृति बनी हुई है,"...... सो बैठे-बैठे कुछ न कुछ लिखता रहता हूँ।"...... "आर्त्त-रौद्र परिणाम न हों इसलिए ही उपयोग को सिद्धान्त ग्रन्थों में लगाये रखता हूँ।"

"आपकी बहुत हिम्मत थी जो इस बीमारी की अवस्था में भी आप कार्य करते रहते थे।"

जहाँ तक मैं जानता हूँ आपने अन्तिम ४० वर्षों में ब्रह्मचर्य पूर्वक श्रावक के १२ व्रतों का निर्दोष पालन करते हुए एक आदर्श श्रावक का जीवन व्यतीत किया था। ७६ वें वर्ष में आप यह नर देह छोड़कर चल बसे। आपका जीवन संसार के प्रत्येक गृहस्थ के लिये अनुकरणीय है। मैं आपकी आत्म शान्ति के लिये हृदय से मंगल कामना करता हूँ।

श्रद्धाञ्जलि

✻ पण्डित शान्तिकुमार बड़जात्या साहित्यशास्त्री, केकड़ी

पूज्य विद्वद्वर्य स्वर्गीय श्री रतनचन्दजी मुख्तार सा० दिगम्बर जैन समाज के मान्य विद्वानों में से एक थे। प्रारम्भ में आपके द्वारा 'जैनसन्देश' में 'शङ्का-समाधान' स्तम्भ के अन्तर्गत स्वाध्यायप्रेमी महानुभावों की शङ्काओं के निष्पक्ष रूप से जो समाधान प्रस्तुत किये गये, वे आज भी संग्रह एवं प्रकाशन योग्य हैं। उसके बाद आपने दिगम्बर जैन महा सभा के मुख पत्र 'जैन गजट' में 'शङ्का-समाधान' विभाग को वर्षों तक जिस उत्तमता एवं निष्पक्षता से संचालित किया, वह समाज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। मुझे आपसे व्यक्तिगत रूप से भी परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

मैं जब परम पूज्य तपोनिधि १०८ श्री जयसागरजी एवं नेमिसागरजी मुनिवर के संघ में संस्कृत अध्यापन के लिए था, उस समय धवल, जयधवल, महाधवल, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड) आदि महान् सिद्धान्त-ग्रन्थों का अध्ययन परम पूज्य मुनिराज के चरणसान्निध्य में बैठकर मुझ अल्पज्ञ द्वारा हुआ था। उस समय स्वाध्याय में उपस्थित होने वाले श्रोताओं की शङ्काओं के समाधान के लिए समाज के मान्य विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया गया लेकिन सभी ने मेरे सिद्धान्तग्रन्थों के स्वाध्याय सम्बन्धी विषय को दबाने का ही प्रयास किया। ऐसे समय में मात्र आप द्वारा मुझे पूर्ण आश्वासन मिला एवं उपस्थित शङ्काओं का शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर समाधान भी प्राप्त हुआ।

ऐसे महामान्य विद्वान् स्व० मुख्तार सा० के चरणों में मैं पुनः पुनः सादर वन्दना निवेदन करता हुआ अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

अनुभवी विद्वान्

*** स्व० पण्डित तनमुखलाल काला, बम्बई**

पूज्य स्वर्गीय ब्रह्मचारी रतनचन्दजी मुख्तार के 'शङ्कासमाधान' शीर्षक लेख जैनदर्शन, जैनगजट आदि में निकलते रहते थे। 'शंकासमाधान' में वे अनेक प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रों के प्रमाण सदा देते रहते थे।

धर्म रक्षार्थ 'अकालमरण', 'क्रमबद्धपर्याय' आदि अनेक ट्रैक्ट उन्होंने लिखे। उनके अनुज श्री नेमिचन्दजी जैन का तथा उनका धवलादि ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन हुआ। दोनों बन्धु शास्त्रस्वाध्याय में साथ-साथ संलग्न रहते थे। मेरा उनका बम्बई, इन्दौर, मोरेना आदि कई जगह समागम हुआ। बम्बई में गुलालवाड़ी में तथा श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर भूलेश्वर में उनके प्रवचन भी मैंने सुने थे।

धार्मिक समाज को उनके शंका समाधान शीर्षक लेखों से एवं ट्रैक्टों से अच्छा लाभ पहुँचा। मैं उनके प्रति अपनी विनीत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

सरस्वती के वरद पुत्र

*** स्व० पण्डित तेजपालजी काला, नांदगांव**

धर्मभूषण, विद्वद्रत्न, माननीय पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार से मेरा सबसे पहले कब सम्पर्क हुआ, यह यद्यपि मुझे याद नहीं है तथापि करीब पन्द्रह-बीस वर्षों से भारत० शान्तिवीर दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा तथा भा० दिगम्बर जैन शास्त्रिपरिषद् के एक वरिष्ठ नेता एवं विद्वान् के रूप में मैं उनसे सदैव मिलता रहा। मैंने उनको समस्त भारतीय दिगम्बर जैन समाज में माँ सरस्वती के वरदपुत्र के रूप में पाया। ऐसा लगता है कि उनकी बुद्धिमती माता ने उनको जन्मते ही सरस्वती-गुटिका की वह घूँटी दी थी कि जिसके कारण माननीय पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार समस्त दिगम्बर जैन समाज में एक महान् प्रतिभाशाली विद्वान् के रूप में शोभायमान होते थे। जिनवाणी के चारों अनुयोगों के उपलब्ध महान् ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का जैसा तलस्पर्शी ज्ञान आपको था वैसी योग्यता और क्षमता अन्य विद्वानों में बहुत कम देखने को मिलती है। आपकी स्मृति इतनी विलक्षण थी कि किसी भी अनुयोग सम्बन्धी उत्पन्न शङ्का का समाधान आप तत्काल ग्रन्थों के प्रमाण से जबानी देकर सबको आश्चर्य में डाल देते थे, अतः आप सरस्वती कण्ठ भूषण थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

माननीय मुख्तारजी के ज्ञान और विद्वत्ता की यह विशेषता थी कि उनका ज्ञान अन्य वर्तमान विद्वानों की तरह केवल भार स्वरूप नहीं था। सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ उनकी धर्मश्रद्धा अचल थी और चारित्र निर्मल था। वे द्वितीयप्रतिमाधारी नैष्ठिक व्रती थे। वे यद्यपि सर्वसङ्गपरित्यक्त मुनि नहीं थे तथापि व्रती गृहस्थ जीवन में भी उनका जीवन रत्नत्रय की आभा से अलंकृत था। पण्डितजी घर में भी जल में कमल की तरह निर्मोह और सन्तुष्ट स्थितप्रज्ञ का सा जीवनयापन करते थे।

ज्ञानोपासना, साधुसंगति और व्रतनिष्ठा ये आपके आदर्शजीवन के मूलाधार थे। पण्डितजी अगाधज्ञान की निधि होते हुए भी ज्ञानमदरहित, सरलस्वभावी, मिलनसार, एषणाविरहित, साधुस्वभाव के सत्पुरुष व मानव–रत्न थे। आप दिगम्बर जैन समाज की शोभा थे।

करीब ७९ वर्ष की आयु में आप दिवङ्गत हुए। आपका भौतिक शरीर यद्यपि आज नहीं रहा तथापि आपका आदर्श श्रावक मात्र के मानस पटल पर स्थायीरूपेण अङ्कित है एवं रहेगा।

मैं आपको भक्तिसमेत अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता हूँ। ❖

सेवाभावी, विनयशील मुख्तार सा०

✻ श्री ज्ञानचन्द्र जैन 'स्वतन्त्र' शास्त्री, गञ्जबासौदा, म० प्र०

आदरणीय विद्वान् बन्धु स्व० ब्र० पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुर वाले, जैन समाज के जाने माने विद्वान् थे। बहुश्रुतज्ञ, बहु श्रुताभ्यासी, धवला, जयधवला व महाधवला ग्रन्थों के अच्छे ज्ञाता थे। प्रकरणवश इन्हीं आगम ग्रन्थों का प्रमाण देते थे। मुख्तारी को छोड़कर आत्मकल्याण में लग जाना यही आपके जीवन की विशेषता थी। यही मानव जीवन की सफलता भी थी।

सेवाभावी :

मुख्तार सा० से सबसे पहले मेरा परिचय सन् १९५३ के सितम्बर मास में ईसरी बाजार में हुआ था। पर्युषण के बाद आसोज कृष्णा चतुर्थी को पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी की जन्मजयन्ती प्रतिवर्ष विद्वानों, श्रीमानों एवं समाज की ओर से सुन्दर ढंग से विविधकार्यक्रमपूर्वक मनायी जाती थी। मुझे भी वर्णीजयन्ती समारोह का निमंत्रण मिला था अतः मैं सूरत से जयन्ती समारोह में भाग लेने के लिए ईसरी गया था।

बिहार प्रान्त मच्छरों के लिये प्रसिद्ध है। वहाँ मच्छरों के प्रकोप से मलेरिया होने के कारण प्रतिवर्ष सहस्राधिक व्यक्ति मरते हैं। ब्रह्मचारियों के कमरे में मुझे ठहराया गया था; उसी कमरे में पं० रतनचन्दजी मुख्तार भी ठहरे हुए थे। ईसरी पहुँचने के ५-६ घन्टे बाद ही मुझे मलेरिया ने धर दबोचा। बड़े जोर से बुखार चढ़ आया। ठण्ड और कम्पन के कारण चार-चार रजाइयाँ भी अपर्याप्त थीं। जब मुख्तार सा० को ज्ञात हुआ कि स्वतन्त्रजी को बुखार चढ़ आया है तो वे उसी समय डाक्टर को बुला कर लाये। डॉ० सा० ने दवा दी, इंजेक्शन लगाया पर लाभ न हुआ।

तीन दिन तक बुखार न उतरा। तब मुख्तार सा० सेवाभावी, परोपकारी, धर्मात्मा सज्जन श्रीमान् बद्रीप्रसादजी सरावगी पटनावालों को मेरे कमरे में लेकर आए और मुझे दिखाकर बोले कि स्वतन्त्रजी को अभी पटना ले चलना है। उसी समय उनकी कार में मैं पटना चला आया, साथ में मुख्तारजी भी आये। दो दिन पटना रहने पर बुखार कुछ कम हुआ। इन पाँच दिनों में मुख्तार सा० निरन्तर मेरी सेवा-सुश्रूषा एवं परिचर्या में ही लगे रहे।

छठे दिन जब मैं ज्वरमुक्त हो गया तब मुख्तार सा० और मैं दोनों पटना से साथ-साथ रवाना हुए। वे सहारनपुर उतर गए, मैं सूरत चला आया। इन पाँच दिनों के बीच मुख्तार सा० ने माता-पिता की तरह मेरी

देखभाल एवं सँभाल सेवा की। उनके इस निस्वार्थ सेवाभाव का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा। ऐसे थे सेवाभावी परोपकारी मुख्तार सा०। ईसरी की यह घटना इस समय (लिखते वक्त) प्रत्यक्ष रूप में दिख रही है। आपके लघु भ्राता ब्र० नेमिचन्दजी मुख्तार भी आप जैसी ही प्रवृत्तियों में रत हैं।

विनयशील :

बात बिल्कुल सही है; देखने और अनुभव में भी आती है कि वृक्ष की फलवती शाखा ही झुकती है और आसमान को चूमने वाला ताड़ का वृक्ष—जो पाषाण-स्तम्भ की भाँति ठठाक खड़ा रहता है—उसकी नगण्य तुच्छ छाया में पंछी तक नहीं बैठता। विनय व मार्दवगुण का धारी व्यक्ति सदैव दूसरों का विनय करता है, सहज सरलतावश वह उनकी बात भी मानता है।

एक बार मुख्तार सा० ने 'जैनमित्र' में प्रकाशनार्थ एक सैद्धान्तिक लेख भेजा। लिपि इतनी अस्तव्यस्त थी कि गम्भीरतापूर्वक पढ़ने पर भी सम्बन्ध बराबर नहीं बैठता था। तब गुजराती भाषाभाषी कम्पोजीटर इस लिपि से कम्पोज भी कैसे कर सकते थे ? फिर भी मैंने मुख्तार सा० का यह लेख कम्पोज करने दे दिया। एक घन्टे बाद कम्पोजीटर लेख वापस ले आया और उसने उसे कम्पोज करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

तब मैंने मुख्तार सा० को लिपि के विषय में कुछ कड़े शब्दों में एक पत्र लिखा कि खेद है कि एक विद्वान् व्यक्ति लेख तो छपाना चाहता है पर लिपि ठीक नहीं लिखना चाहता। हम अस्पष्ट लिपि वाले लेख 'जैनमित्र' में छापने में असमर्थ हैं।

छठे दिन मुख्तार सा० का पृथक् से एक पत्र और वही लेख सुवाच्य लिपि में आ गया। पत्र में लिखा था—"भाई स्वतन्त्रजी ! आपके पत्र से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। क्षमाप्रार्थी हूँ। अब लेख सुन्दर लिपि में भेजा है। छापकर अनुगृहीत करें।"

ऐसे थे हमारे मुख्तार सा० जो छोटों की भी बात स्वीकार कर अपनी विनम्रता व विनयशीलता का परिचय देते थे।

स्वर्गीय मुख्तार सा० के प्रति मैं हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूं; उन्हें वन्दना करता हूँ और यह भावना करता हूँ कि वे शीघ्र कर्मकलंक विमुक्त होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करें।

पूज्य गुरुवर्यं रतनचन्द्र मुख्तारः

* श्री जवाहरलालो जैनः सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डरम्

यो धवल कीरत सुतो माता च बरफीति विश्रुता यस्य।
गर्ग गोत्र दिवाकरो भूयात्सुखी स रतनचन्द्रः ॥ १ ॥
सहारनपुरोत्पन्नो नाम्ना रतनचन्द्रः इति प्रसिद्धः।
अग्रवाल वंशजश्च भूयात्सुखी स रतनचन्द्रः ॥ २ ॥
बहुकाल पर्यन्तं हि युवत्वकाले सुधीरः स कृतवान्।
प्राड्विवाक कर्म ततो विरक्ती भूय संसार कर्मणः ॥ ३ ॥

स रागद्वेषाभ्याञ्च निरतोऽभूज् जिनेशागमाध्ययने ।
कर्म क्षपणकारणे सार भूते च सुखदर्शके ॥ ४ ॥
जिनागमाध्ययनरतः सततं ज्ञानोपयोगे निरतश्च ।
यतः सर्व शास्त्राणां पारगोऽभूत् स पद्येव सः ॥ ५ ॥
अचिन्त्य महिमा प्राज्ञोऽनुभूतात्म वैभवो वर्णी गुणी ।
भारतदेशभूषणः करणाद्यनुयोग विज्ञोऽणुव्रती ॥ ६ ॥
श्रावक गुणोपेतः स उररीकृतैककाल संभोजनः ।
रत्नाकरो गुणज्ञो भूयात्सुखी स रतनचन्द्रः ॥ ७ ॥
प्रवक्ता श्लाघनीयश्च सर्वेषां हितचिन्तकः ।
लोकप्रियो विरक्ताशः भूयात्सुखी गुणाकरः ॥ ८ ॥
भव्यानांतु बोधकः प्रापको मोक्ष वर्तमनो हापकः ।
कुज्ञानान्धकारस्य भूयात्सुखी स रत्नचन्द्रः ॥ ९ ॥

दि० २–९–७५ ई०

तत्त्वज्ञानी पण्डितजी

* पण्डित सुमतिबेन शहा, न्यायतीर्थ, सोलापुर

स्वर्गीय पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार जैन समाज के एक महान्, प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने श्री धवल, जयधवल, महाधवल आदि महाग्रन्थों का सखोज अभ्यास किया था। मैं जब-जब परम पूज्य १०८ शिवसागरजी महाराज और श्रुतसागरजी महाराज के संघ में दर्शनार्थ जाती थी, उस वक्त पण्डितजी हमें वहाँ मिलते थे। उस वक्त बहुत सखोज चर्चा रहती थी। मुझे उनसे बहुत लाभ हुआ। महाराज के दर्शन का लाभ और पण्डितजी के ज्ञान का विशेष लाभ मिलता था। हम सहारनपुर में पंडितजी के घर भी गये थे, वहाँ भी उनके अद्भुत ज्ञान का लाभ मिला। मुख्तार सा० जैनसमाज के तत्त्वज्ञानी पण्डित थे। ज्ञान के साथ वे चारित्र का भी पालन करते थे, द्वितीय प्रतिमाधारी थे।

मैं दिवङ्गत पण्डितजी को हार्दिक भावना से श्रद्धासुमन अर्पित करती हूँ।

निरभिमान व्यक्तित्व

* श्री रतनलाल जैन (पंकज टेक्सटाइल्स) मेरठ शहर

पूज्य, श्रद्धेय, अध्यात्म व आगम के विशिष्ट अभ्यासी, सिद्धान्ताचार्य स्व० रतनचन्द मुख्तार सा० के प्रति मेरे जो कुछ भाव हैं, उन्हें शब्दों में उतार पाना मेरे लिए दुःसम्भवसा है। आपके ज्ञान-ध्यान को विद्वद्वर्ग या मुझ जैसे तुच्छ, पर निकटस्थ व्यक्ति ही समझ सकते हैं। व्रतों के सम्यक् अंगीकरण के साथ-साथ समता व निरभिमानता को लिए बुद्धि की सर्वमान्य पराकाष्ठा भी आप में बसी हुई थी; यह अनन्यप्राप्यमाण अवस्थान आश्चर्यप्रद था।

जो कुछ आपसे मुझे मिला है, वह वचनातीत है, उसी के सहारे जीवन को आत्महितपरक मोड़ देने में सजगता बनी रहती है।

कामना है कि आप यथासम्भव अतिशीघ्र मुक्तिरमा का वरण करें।

आपको वन्दन ! वन्दन !! वन्दन !!!

ज्ञान और चारित्र का मणिकाञ्चन योग

* स्व० सरसेठ भागचन्द सोनी, अजमेर

मुझे यह ज्ञात कर प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि दि० जैन समाज सम्माननीय विद्वान् सिद्धान्ताचार्य स्व० ब्र० रतनचन्द्रजी सा० मुख्तार की स्मृति में ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहा है।

श्री मुख्तार सा० मेरे भली प्रकार परिचित पुरुष थे। आप सिद्धान्तशास्त्रों के गहन वेत्ता थे। मुझे अनेक बार आपसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कई अवसरों पर आपका निकट सान्निध्य भी मिला। मुझे एक बार सहारनपुर जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ था तब आपने मुझे अपने दुष्प्राप्य शास्त्रों के दर्शन कराये थे। मैं आपकी इस शास्त्र भक्ति से सदा ही प्रभावित रहा हूँ।

आपका तत्त्वचिन्तन गहन और अन्तस्तलस्पर्शी था। कुछ वर्षों पूर्व धवला आदि महान् सिद्धान्तग्रन्थ केवल दर्शन-पूजन ही के लिये प्रयुक्त होते रहे, परन्तु आपने आचार्य संघों में जाकर साधु वर्ग के सम्पर्क में उक्त ग्रन्थों का वाचन, मनन और मन्थन किया; वह विद्वद्वर्ग के लिये प्रेरणास्पद एवं अनुकरणीय है। मैंने अजमेर में संघों के विराजने पर आपको स्वाध्यायतत्पर संयमियों के मध्य तत्त्वचिन्तन करते हुए गम्भीर मुद्रा में शान्तचित्त देखा था और कभी-कभी थोड़ी देर के लिये उस चर्चा का रसास्वादन मैंने भी किया था। साधु वर्ग ने आपका सामीप्य पाकर जिनवाणी के मनन व मन्थन में प्रवृत्ति की है और सिद्धान्तग्रन्थों के पठन-पाठन का प्रचार-प्रसार हुआ है। आपकी तत्त्वचर्चा और विषय विवेचन प्रणाली गंभीर होते हुए भी रोचक होती थी। चारित्रिक उज्ज्वलता से आपका सम्यग्ज्ञान और भी निखार को प्राप्त हो गया था। आपकी विद्वत्ता आदरणीय एवं अनुकरणीय है।

आप चिरकाल तक स्वस्थ रहकर संयमीजनों को स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, ध्यान, अध्ययन में अपना योग देते रहें तथा चारित्र पर अग्रसर होते रहें; मेरी सदा यही अभिलाषा रहती थी; परन्तु कर्मों का विधान कौन बदल सकता है? २८ नवम्बर, १९८० के दिन आपका निधन हो गया। आपके देहावसान से सकल जैन-समाज को महान् शोक हुआ। मैं श्री शान्ति प्रभु से करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि स्वर्गीय मुख्तार सा० यथा काल परम शान्ति को प्राप्त हों।

जीवनदानी श्रुतसेवी

* श्री कन्हैयालाल लोढ़ा, जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, जयपुर

स्वर्गीय श्री रतनचन्दजी 'मुख्तार' के नाम तथा विद्वत्ता से तो मैं बहुत पहले से ही परिचित था परन्तु आपसे मेरा प्रथम साक्षात्कार आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज के निवाई चातुर्मास में सवाईमाधोपुर

स्वाध्याय संघ की बैठक में भाग लेकर जयपुर लौटते समय हुआ। आपसे कर्म सिद्धान्त पर चर्चा हुई। उससे लगा कि आप कर्म सिद्धान्त के गहन अध्येता हैं और यदि आप जयपुर कुछ दिन बिराजें तो अन्य स्वाध्यायी भी आपके ज्ञान से लाभ उठा सकते हैं; यह सोच कर मैंने आपसे कुछ दिन जयपुर ठहरने के लिए निवेदन किया। आपने मेरे निवेदन को स्वीकार किया और निवाई से सहारनपुर लौटते समय दो दिन जयपुर ठहरे। आप आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार में स्वाध्याय गोष्ठी में पधारे। वहाँ आपकी श्री श्रीचन्दजी गोलेछा, श्री मोहनलालजी मूथा, श्री नथमलजी हीरावत आदि से षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध में प्ररूपित कर्म सिद्धान्त पर वार्ता हुई। आपने बड़े ही सुन्दर ढंग से सरल भाषा में उनकी जिज्ञासाओं का समाधान व विषय का निरूपण किया। आपके समक्ष कर्मसिद्धान्त के विषय में प्रचलित धारणाओं से भिन्न अर्थ प्रस्तुत किए गए। श्री श्रीचन्दजी गोलेछा ने सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों व अनेक जैन कथाओं तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों को रूपात्मक एवं प्रतीकात्मक रूप में रखा तो लगा कि आप परम्परागत रूढ़िवादी विचारों से दूर रह कर निष्पक्ष व तटस्थभाव से भी चिन्तन करने में सक्षम हैं। समयाभाव होने से उस समय आप जयपुर अधिक नहीं ठहर सके। आगे पत्र व्यवहार से आपसे सम्बन्ध जुड़ा रहा। हमें षट्खण्डागम, कषायपाहुड, महाबन्ध, कर्मग्रन्थ आदि के स्वाध्याय में जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती थीं, हम उन्हें पत्र द्वारा आपके पास भेजते और आप बड़े ही प्रेम से उनके उत्तर (मयशास्त्र के निर्देशस्थल के) देते थे। कर्मसिद्धान्त जैसे कठिन व गहन विषय को भी पत्राचार द्वारा सरलता से समझा देना आपकी विशेषता थी। वितण्डावाद से परे रह कर विरोधी युक्तियों पर तटस्थ भाव से चिन्तन कर समझने-समझाने की आपकी प्रवृत्ति प्रशंसनीय थी।

आप शास्त्रसम्मत सिद्धान्त को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त करने में कभी सङ्कोच नहीं करते थे। शास्त्र से असंगत बात का कभी अनुमोदन नहीं करते थे। आपका पूरा जीवन मुख्यतः जैन ग्रन्थों के स्वाध्याय में ही बीता। आपने षट्खण्डागम जैसे महान ग्रन्थ की धवल टीका, महाबन्ध (महाधवला), कषायपाहुड़ की जयधवला टीका, लब्धिसार-क्षपणासार जैसे उच्च कोटि के ग्रन्थों का अनेकबार आद्योपान्त गहन स्वाध्याय किया था। अतिसूक्ष्म व पैनी दृष्टि से इन्हें देखा था। आप इनके अधिकारी विद्वान् थे।

आपको दिगम्बर शास्त्रों का जीता जागता कोष कहें तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। वृद्धावस्था होते हुए भी आपकी स्मरणशक्ति आश्चर्यजनक थी। किसी सिद्धान्त व सूत्र के बारे में पूछा जाय, आप उसी समय किन-किन शास्त्रों में किस-किस स्थल पर उसका उल्लेख है, विश्वास के साथ प्रस्तुत कर देते थे।

उच्चकोटि के विद्वान् होते हुए भी आप 'सादा जीवन, उच्च विचार' के मूर्तिमान रूप थे। बालक से लेकर वृद्ध तक, निरक्षर से लेकर उच्च कोटि के विद्वान् तक कोई भी आपसे मिले, आप उन्हें पूर्ण प्रयास व रुचिपूर्वक सिद्धान्त की बात समझाते थे, टालते नहीं थे। आपको विद्वत्ता का गर्व कहीं छू भी नहीं गया था।

आपने अपना सारा समय श्रुत सेवा-साधना व धर्म के प्रसार में दिया। इसप्रकार आपका जीवन समाज को समर्पित था। वस्तुतः आपका जीवन समाज का जीवन था। निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले ऐसे जीवनदानी विद्वान् की उपस्थिति समाज के लिये गौरव की बात थी।

आप शरीर को अपने से भिन्न समझकर अपने रोगादि के उपचार के प्रति उपेक्षा बरतते थे। परन्तु समाज का कर्तव्य था कि वह आपके शरीर को समाज का अर्थात् अपना शरीर समझकर आपकी सेवा-सुश्रूषा पर विशेष ध्यान देता ताकि आपकी विद्वत्ता व योग्यता से उसे विशेष लाभ मिलता। वृद्धावस्था में शरीर कृश हो चला था, शरीर के निर्बल व रोगग्रस्त होने के साथ-साथ आँखें भी कमजोर हो चली थीं। उस अवस्था में भी

यदि समाज ध्यान देकर एक आशुलिपिलेखक (Shorthand writer) आपकी सेवा में रखता तो आपकी अनन्य विद्या का यथेष्ट लाभ मिल सकता था। परन्तु यह सब कुछ नहीं हो पाया, इसका खेद है। अब वह ज्ञानी इस संसार (नरपर्याय) में नहीं रहा।

यही कामना है कि दिवङ्गत आत्मा को सुख शान्ति प्राप्त हो तथा वह अपनी कर्मकालिमा को नष्ट कर यथाशीघ्र मुक्तिरमा का वरण करे। उस पवित्रात्मा को सश्रद्ध नमन !

महान् आत्मा मुख्तार सा०

※ सेठ श्री बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना सिटी

करीबन ३० वर्ष से भी पहले की बात है जब मैं अपना कारोबार कलकत्ता में करता था। वहाँ सुबह-शाम श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया में करणानुयोग के ग्रन्थ गोम्मटसार (जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड) की स्वाध्याय पूज्य स्व० प्यारेलालजी भगत के सान्निध्य में स्व० पण्डित श्रीलालजी काव्यतीर्थ, श्री फागुलालजी (वर्तमान आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज) एवं ब्रह्मचारी सुरेन्द्रनाथजी (जो बाद में ईसरी शान्ति-निकेतन में रहते थे) के साथ करता था। स्व० पूज्य भगतजी सा० यद्यपि पढ़े-लिखे कुछ भी नहीं थे; संस्कृत, प्राकृत की तो बात ही क्या, साधारण हिन्दी भी कठिनता से लिखते-पढ़ते थे, लेकिन उनका स्वाध्याय का अभ्यास बहुत गहन था। क्षयोपशम इतना विलक्षण था कि गोम्मटसार का पूरा सार उनकी जिह्वा पर था एवं अर्थसंदृष्टियों का भी पूरा अध्ययन था। पूरा विषय ज्यों का त्यों समझा देते थे। ऐसा अध्ययन मैंने तो आज तक किसी विद्वान् का नहीं देखा।

जब सन् १९५० में मेरे व्यापार की एक शाखा पटना (बिहार) में हो गई तो करीबन डेढ़ वर्ष बाद मैं स्वयं भी कलकत्ता छोड़कर पटना रहने लगा। अपने स्वाध्याय का क्रम पटना में भी वैसे ही चालू रखा लेकिन कोई साथी न होने से अकेला ही लब्धिसार-क्षपणासार, षट्खण्डागम धवला टीका की स्वाध्याय करता था। जो शङ्कायें होती थीं, समाधान के लिये कई विद्वानों के पास डाक से भेजता था। किन्तु दुर्भाग्य से किसी का समाधान नहीं मिलता था। कटनी निवासी श्रद्धेय पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री से मेरी बहुत घनिष्टता है। कलकत्ता से पहले मैं बहुत वर्षों तक कटनी में रहा था। उनकी मुझ पर पूर्ण कृपा एवं विशेष स्नेह है। उनके पास मैंने 'लब्धिसार' की कई शङ्काएँ समाधान हेतु भेजीं। उनका उत्तर मिला कि आपकी शङ्काएँ बहुत गहन हैं, बिना ग्रन्थ देखे समाधान नहीं भेजा जा सकता। ग्रन्थ देखने का समय मुझे मिलता नहीं अतः आपकी शङ्काएँ सहारनपुर पण्डित श्री रतनचन्दजी के पास भेज दी हैं। वहीं से आपके पास समाधान आएगा। इससे पहले सिद्धान्तभूषण, श्रद्धेय बाबू रतनचन्दजी सा० मुख्तार से मेरा कोई परिचय नहीं था। श्रीमान् पण्डितजी सा० की कृपा से ही आपसे मेरा परिचय सन् १९५४ के मई मास में पत्रों के द्वारा शुरु हुआ। आपके पास मेरी शङ्काएँ पहुँची, एक दो दिन में ही डाक द्वारा उनका समाधान मिल गया। समाधान पढ़ कर बहुत सन्तोष हुआ। शङ्का-समाधान का यह क्रम डाक द्वारा बराबर चालू रहा।

करीबन एक-डेढ़ वर्ष बाद जब मैं ईसरी आश्रम में पूज्य बड़े वर्णीजी गणेशप्रसादजी के पास था, पं० रतनचन्दजी का भी वहाँ पधारना हुआ। तभी उनके प्रत्यक्ष दर्शन हुए; साक्षात् परिचय हुआ। दुबला-पतला शरीर सादा संयमित जीवन, चारों अनुयोगों का गम्भीर तलस्पर्शी अध्ययन, क्षयोपशम एवं धारणाशक्ति इतनी विलक्षण

कि हर विषय का ज्ञान उपस्थित, कोई भी विषय हो तुरन्त ग्रन्थ का नाम व पृष्ठ संख्या भी जबान पर हाजिर; मैं तो देखकर चकित था। पूछने पर बताया कि "हमारी भाषा तो उर्दू थी, संस्कृत-प्राकृत तो दूर हिन्दी की भी हमारी पढ़ाई नहीं हुई। जो कुछ अर्जित किया है वह सब स्वाध्याय से ही पाया है। १०-१२ घण्टों से लेकर १६ घण्टों तक प्रतिदिन हमारी स्वाध्याय चलती है। पहले वकालात करते थे, कानून की कौनसी किताब में कौनसा कानून कहाँ पर है, यह नजीर याद रखते थे। वकालात छोड़कर वही उपयोग इधर लगा दिया।"

पूज्य वर्णीजी के पास बड़े-बड़े विद्वान् हमेशा आते रहते थे, उनका उपदेश व शास्त्र प्रवचन होता था। जरा भी कोई बात गड़बड़ निकलती तो उसी समय रोक देते थे, ग्रन्थ निकाल कर तुरन्त समाधान करा देते थे।

मुख्तार सा० के साथ महीनों तक ईसरी में रहने का मौका मिला और स्वाध्याय का लाभ मिला। पटना में मेरे घर पर भी आपने कई बार कई-कई दिन के लिये पधार कर रहने की कृपा की।

कटनी में 'विद्वत्परिषद्' की मीटिंग थी। मुख्तार सा० उन दिनों 'विद्वत्परिषद्' के सदस्य थे एवं 'शङ्का-समाधान' विभाग उन्हीं के जिम्मे था। 'जैन सन्देश' में उनका 'शङ्का समाधान' नियमित रूप से हर अंक में प्रकाशित होता था। तब मेरे साथ आप भी कटनी गये थे और मेरे घर पर ही ठहरे थे। मीटिंग के पूरे काल में उनके सान्निध्य से मैंने अतिशय लाभ लिया।

संवत् २०१६ में अजमेर में परम पूज्य आचार्य १०८ (स्व०) श्री शिवसागरजी महाराज के संघ का चातुर्मास था। मैं प्रायः हर चातुर्मास में उनके दर्शनार्थ जाया करता था। एक-दो महीना रहकर लाभ उठाता था। उस चातुर्मास में मुख्तार सा० भी अजमेर आये थे। वहाँ पर सोनगढ़ भक्तों-मुमुक्षुओं का एक दल था। उन लोगों की शास्त्रीय चर्चा एवं शंका समाधान कई दिनों तक मुख्तार सा० के साथ हुए। पण्डितजी की विद्वत्ता से वे लोग बहुत प्रभावित हुए। उन लोगों ने निर्णय लिया कि "आप हमारे साथ कुछ दिनों के लिए सोनगढ़ चलिए, आपके चलने से बहुत लाभ होगा। कानजी स्वामी हठग्राही नहीं है; आपके साथ चर्चा होने से निश्चय ही सैद्धान्तिक विषयों में कानजी स्वामी की जो गलत मान्यता बैठ गई है, उसका निराकरण हो जाएगा। ऐसा हम लोगों को पूर्ण विश्वास है।" मुख्तार सा० की सोनगढ़ चलने की स्वीकृति पाकर उन लोगों ने सोनगढ़ लिखा कि हम मुख्तार सा० को लेकर सोनगढ़ आ रहे हैं। पत्र पहुँचते ही सोनगढ़ से उन लोगों के पास तार आया कि "रोको, रतनचन्द सोनगढ़ नहीं आवे।" यह तार पाकर वे सब लोग हताश हो गए। मुझे भी उनकी कमजोरी पर बहुत खेद हुआ और मुख्तार सा० का सोनगढ़ जाना नहीं हो सका।

मुख्तार सा० का मुनिसंघ में जाने का यह पहला ही मौका था। संघ में भी उनके साथ स्वाध्याय से बहुत लाभ हुआ। पण्डितजी भी मुनिसंघ की चर्या और चर्चा से बहुत प्रभावित हुए। संघ में आचार्य महाराज एक दिन छोड़कर दूसरे दिन आहार करते थे और भी बहुत से साधु उपवास करते थे। मुख्तार सा० भी हमेशा दिन में एक बार ही भोजन करते थे फिर शाम को (गर्मी के दिनों में भी) पानी भी नहीं पीते थे। संघ से घर लौटने के बाद उन्होंने भी कई दिन तक एक दिन छोड़कर (एकान्तर) भोजन किया तथा अभ्यास रूप में केशलोंच भी किया। तब से हर चातुर्मास में वे मुनिसंघ में आते रहते थे व महीनों तक रहते थे। उनका थोड़ा सा भी समय वृथा नहीं जाता था। जब देखो तभी अध्ययन-अध्यापन में ही लगे रहते थे। षट्खण्डागम, धवल, महाधवल एवं जय धवल सरीखे करणानुयोग के रूक्ष ग्रन्थों का अध्ययन चलता रहता था। संघ से त्रिलोकसार जैसे ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय इन्हीं को है। वर्तमान में प्रकाशित धवल, महाधवल व जयधवल ग्रन्थों में गम्भीर सूक्ष्म अध्ययन करके हजारों अशुद्धियाँ आपने ही पकड़ी थीं। कहां पर कितना विषय छूट गया है, कहां पर कितना ज्यादा है, यह

सब आपके पास नोट था। सबका प्रकाशन हो तो स्वयं में एक पूरा ग्रन्थ बन जाएगा। लब्धिसार-क्षपणासार की टीका आपने जयधवल मूल के आधार से लिखी है जिसका प्रकाशन अब हो चुका है। आयु के अन्त तक आप जीवकाण्ड की टीका लिखते रहे। यह कार्य मुख्तार सा० अपना बहुत समय देकर पूर्ण रुचिपूर्वक तल्लीनता से कर रहे थे, जिसका प्रकाशन भी शीघ्र होगा। यद्यपि उनकी शारीरिक शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, दृष्टि भी कमजोर हो चली थी फिर भी दिन-रात सारा जीवन जिनवाणी माता की सेवा में ही लगाये रखते थे। अपने शरीर एवं स्वास्थ्य की जरा भी चिन्ता उन्होंने नहीं की। जो काम उन्होंने किया, उसकी प्रशंसा जितनी की जावे, थोड़ी है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर वाले जो उनसे बहुत उपकृत हैं, मुख्तार स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन की तैयारी कर रहे हैं। ऐसे महान् पुरुष का मंगल स्मरण ससम्मान अवश्य ही किया जाना चाहिये। स्वर्गीय मुख्तार सा० का मुझ पर भी बड़ा उपकार एवं अनुग्रह था। ऐसे सिद्धान्तमर्मज्ञ, सिद्धान्तवारिधि, सिद्धान्तभूषण, महापुरुष बाबू रतनचन्दजी मुख्तार सा० का मैं शत-सहस्र अभिनन्दन करता हूँ और उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ। श्री १००८ वीर प्रभु से सादर सविनय यही करबद्ध प्रार्थना है कि यह महान् आत्मा यथा शीघ्र मोक्षलक्ष्मी का वरण कर शाश्वत सुख में लीन हो। ❀

स्मृति के दर्पण में

सिद्धान्तभूषण पण्डित श्री रतनचन्दजी मुख्तार

※ विनोदकुमार जैन, सहारनपुर

जैन संस्कृति का इतिहास जिस प्रकार अनेक पुरातन मनीषियों, तपस्वियों तथा महान् आचार्यों की गौरवगाथाओं से आलोकित है उसीप्रकार जैन वाङ्मय के आधुनिक विशिष्ट अनेक मूर्धन्य विद्वानों एवं मर्मज्ञों की जीवनचर्या से प्रकाशित भी है। ऐसे आधुनिक विद्वानों में सिद्धान्तवेत्ता, विद्वत्ता की अनुपम विभूति पण्डित श्री रतनचन्दजी सा० मुख्तार का नाम भी चिरस्मरणीय रहेगा।

लौकिक शिक्षा

आपका जन्म भारत देश की हृदयस्थली उत्तरप्रदेश प्रान्तस्थ सहारनपुर नगर में जुलाई सन् १९०२ में हुआ था। ८ वर्ष की अल्पायु में ही आपको अपने पिता श्री धवलकीर्तिजी के वियोग का दुःख सहना पड़ा। उस समय परिवार में आपकी माताजी, दो अग्रज, एक अनुज तथा एक बहिन कुल छह सदस्य थे। सभी परिजनों की जीवन यात्रा अब बड़े भ्राता श्री मेहरचन्दजी के संरक्षण में प्रारम्भ हुई। सन् १९२० में आपने मेट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। दिसम्बर सन् १९२३ में आपने 'मुख्तार' की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा सहारनपुर क्षेत्र के न्यायालय में ही कार्य करने लगे। पूज्य पिताजी के धार्मिक संस्कारों ने आपकी दैनन्दिन चर्या में जिनपूजन व जिनागम पठन पाठन के अमिट संस्कार प्रस्फुटित किए थे।

मुख्तारी से निवृत्ति

न्यायालय में कार्य करते हुए आपने एक सफल मुख्तार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। उच्च प्रशिक्षित वैधानिक परामर्शदाता भी आपसे अनेक कानूनी विषयों पर परामर्श लिया करते थे। अपनी तर्कणाशक्ति व अध्ययन

के परिश्रम से आपने अनेक ऐसे मुकदमों में भी सफलता प्राप्त की जिनमें अन्य मुख्तार व वकील विफल हो जाते। तब यह कौन कह सकता था कि पिता श्री द्वारा पल्लवित धार्मिक संस्कारों की यह लघु कलिका एक दिन एक विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर लेगी।

'मुख्तार' के रूप में सफलतापूर्वक कार्य करने के बावजूद आपको उससे उदासीनता हो चली तथा जिनागम के स्वाध्याय के प्रति तीव्र अभिरुचि जाग्रत हुई। मस्तिष्क पटल पर विचारों के तार झंकृत हो उठे कि क्यों न मुख्तारी से स्थायी अवकाश ग्रहण किया जाय लेकिन आजीविका का भी तो प्रश्न प्रबल था। मन और बुद्धि में द्वन्द्व होने लगा। अन्ततोगत्वा बुद्धि ने मन पर विजय प्राप्त की और आपने ३१ मई सन् १९४७ के दिन मुख्तार के कार्य को समग्र रूप में तिलाञ्जलि दे दी।

स्वाध्याय की ओर

अब अवकाश मिलने पर श्री भागीरथजी वर्णी की प्रेरणा से आप स्वाध्याय की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। यद्यपि आपने अब तक उर्दू व अंग्रेजी भाषा का ही ज्ञान प्राप्त किया था फिर भी विशेषोत्साह के कारण प्रथमानुयोग के ग्रन्थों के स्वाध्याय से हिन्दी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया। शनैः शनैः संस्कृत और प्राकृत में आपने प्रवेश पा लिया।

व्रती जीवन

इस बीच पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी से आपका सम्पर्क हुआ। जब पूज्य वर्णीजी ने आपको व्रती बनने के लिए अभिप्रेरित किया तब आपने श्रावकाचार सम्बन्धी अठारह ग्रन्थों का अध्ययन किया तदुपरान्त सन् १९४९ में पूज्य वर्णीजी से आपने द्वितीय प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये। सन् १९५० में आप मातृस्नेह से भी वञ्चित हो गये।

संघ सान्निध्य

आपकी विद्वत्ता ख्यात हो चली थी। इसीकारण पर्युषण एवं अष्टाह्निका पर्व में प्रवचन हेतु आपको विभिन्न स्थानों के जैन समाज से निमन्त्रण प्राप्त होने लगे। सन् १९४७ से ही पर्युषण पर्व में प्रवचनार्थ आप बाहर जाने लगे थे और तब से निरन्तर प्रति वर्ष भिन्न-भिन्न स्थानों के समाजों को अपने प्रवचनों से लाभान्वित करते रहे। सन् १९५१ में आपका सम्पर्क मुनिसंघों से हुआ। प० पू० चारित्र चक्रवर्ती स्व० १०८ श्री शान्तिसागरजी महाराज, स्व० श्री वीरसागरजी महाराज, स्व० श्री शिवसागरजी महाराज, स्व० श्री ज्ञानसागरजी महाराज एवं वर्तमान में परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज आदि के श्रमणसंघों के सम्पर्क में आप रहे थे। आचार्य-कल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज एवं मुनि श्री अजितसागरजी महाराज के साथ आपका बहुत सम्पर्क रहा। लगभग प्रत्येक वर्षायोग में आप इनके दर्शनार्थ अवश्य ही जाते थे।

आगमोक्त शङ्का-समाधानकर्त्ता

पण्डित दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सन् १९५४ में आपको शङ्का समाधान विभाग सौंपा गया। फलतः जहाँ आपका परिचय अनेक स्वाध्याय प्रेमियों से हुआ, वहीं शंकाकर्त्ताओं को अपनी जटिल शंकाओं का अतीव सरल व सन्तोषप्रद आगमानुकूल समाधान सप्रमाण मिलने लगा। स्वाध्यायकर्त्ताओं की शङ्काएँ आपके पास निरन्तर आती रहती थीं। आपके समाधानों से सभी लाभान्वित होते थे।

अध्यक्ष एवं अधिष्ठाता

व्यावहारिक एवं धार्मिक दोनों ही क्षेत्रों में पर्याप्त योग्यता, अनुभव एवं तर्कणाबुद्धि सम्पन्न होने से आपने सन् १९६५ से १९६८ तक चार वर्ष अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद् के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया किन्तु इस पद की गतिविधियों को स्वहित में बाधक जान कर आपने १९६८ में अध्यक्ष पद से त्याग पत्र दे दिया। आप कई वर्षों तक उदासीन आश्रम, ईसरी व श्रावकाश्रम श्रीमहावीरजी के भी अधिष्ठाता रहे।

ग्रन्थसंग्रह और स्वाध्याय

आपने अपने शास्त्र संग्रहालय में लगभग ४०० आर्षग्रन्थों का सङ्कलन किया। उनमें से चारों अनुयोगों पर आश्रित लगभग २०० ग्रन्थों का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीर स्वाध्याय भी किया। उनमें भी जैन सिद्धान्तों के मूल ग्रन्थ धवल, जयधवल तथा महाबन्ध की ३६ पुस्तकों के लगभग १५००० पृष्ठों का गम्भीर तलस्पर्शी अध्ययन किया था जिसका ही प्रतिफल हुआ कि आप करणानुयोग के पारगामी विद्वान् हो गये। यदि आपको चलता फिरता करणानुयोग भी कहा जाता तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होती।

टीकाएँ, ट्रैक्ट्स (Tracts) एवं समीक्षा

आपने द्रव्यसंग्रह, आलाप पद्धति तथा लब्धिसार, क्षपणासार की हिन्दी टीकाएँ की हैं। आयु उपान्त्य दिवस तक आप गोम्मटसार-जीवकाण्ड की टीका लिख रहे थे। आपकी टीकाओं की अद्वितीय विशेषता यह है कि वे धवल-महाधवलादि ग्रन्थों पर आधारित होने से उन पाठकों के लिए भी अतिशय लाभदायी हैं जो धवलादि ग्रन्थों का स्वाध्याय करने में असमर्थ हैं।

आपने कतिपय विवादग्रस्त विषयों को दृष्टि में रखते हुए कुछ ट्रैक्ट्स भी लिखे जैसे क्रमबद्ध पर्याय, अकालमरण, पुण्य का विवेचन आदि। ये ट्रैक्ट्स अनेक शङ्काओं का समीचीन समाधान प्रस्तुत करते हैं। आपने गुणस्थान-मार्गणास्थान विषयाश्रित एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ट्रैक्ट 'गुणस्थान-मार्गणा चर्चा' का सम्पादन किया। पूर्व प्रकाशित 'चौबीस ठाणा चर्चा' में अनेक सैद्धान्तिक भूलें थीं। उनको दूर करने एवं उसमें उल्लिखित विषय सामग्री को रोचक बनाने के उद्देश्य से ही आपने नये ट्रैक्ट का सम्पादन किया था। इसका प्रकाशन शान्तिवीरनगर श्रीमहावीरजी से हुआ है। पूज्य १०५ आर्यिका श्री आदिमती माताजी ने कुछ वर्ष पूर्व गोम्मटसार कर्मकाण्ड की नवीन हिन्दी टीका लिखी थी। उक्त ग्रन्थ का आपने धवल महाधवलादि ग्रन्थों के साथ मिलान किया तथा अनेक शङ्कास्पद विषयों को सुलझाते हुए अनेक स्थलों पर धवलादि महान् ग्रन्थों के प्रमाण दिये। यह नवीन प्रकाशित ग्रन्थ पाठकों के लिए अतिशय लाभप्रद सिद्ध होगा।

मेरा सम्पर्क

सन् १९७५ में सहारनपुर में परम पूज्य आचार्यप्रवर १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज का ससंघ चातुर्मास हुआ। तब मैंने पूज्य आचार्य श्री से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अङ्गीकार किया। जब संघ का विहार होने लगा तो संघस्थ आर्यिका विदुषी रत्न श्री १०५ जिनमतीजी एवं शुभमतीजी ने मुझे यह प्रेरणा दी कि तुम पण्डित रतनचन्दजी के पास अध्ययन के लिये जाया करो। तभी से मेरा आपसे सम्पर्क हुआ। आपने ही मेरे जीवन में स्वाध्याय का अंकुरारोपण किया। मेरे द्वारा उपार्जित शास्त्रीय ज्ञान के निमित्त का सम्पूर्ण श्रेय आपको ही है। करणानुयोग का ज्ञान प्रदान करके आपने मुझ अज्ञ पर जो उपकार किया है उससे मैं वर्तमान पर्याय में उऋण

नहीं हो सकता। आपकी कर्मठता, उत्साह, धैर्य, साहस एवं प्रमादरहित जीवनचर्या मेरी प्रेरणा एवं मार्गदर्शिका हैं। मैं इन गुणों को अपने जीवन में ढालने का अथक प्रयास करता रहूंगा और जब ये गुण मेरी जीवनचर्या के अभिन्न अङ्ग बन जायेंगे तभी मेरी श्रद्धा पूर्णता को प्राप्त होगी।

संस्मरण

❋ एक बार रात्रि के समय एक मुमुक्षु आपसे कहने लगे कि पण्डितजी ! निमित्त कुछ भी नहीं होता। पण्डितजी ने उन महाशयजी से पूछा कि ऐसा किस आर्षग्रन्थ में लिखा है ? ज्यों ही वे मुमुक्षु ग्रन्थ लाने को तत्पर हुए त्यों ही पण्डितजी ने टेबिल लेम्प बुझा दिया। इस पर मुमुक्षु बोले—पण्डितजी ! आपने लाइट क्यों बुझाई ? अब आपको प्रमाण कैसे दिखलाऊँ ? इस पर पण्डितजी ने उत्तर दिया कि 'निमित्त तो कुछ भी नहीं करता, अतः आप अपने उपादान से प्रमाण दिखलाओ, मैं उसे अपने उपादान से देख लूँगा। लाइट तो निमित्त मात्र है, वह आपके कथनानुसार व्यर्थ है।' इस पर वे मुमुक्षु झेंप गये और उस दिन से निमित्त को मानने भी लगे।

❋ श्री कानजी स्वामी से आपका प्रथम परिचय सन् १९५७ में श्री सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर हुआ। १३ मार्च सन् १९५७ को दिन में दो बजे कानजी स्वामी का प्रवचन हो रहा था। मञ्च पर उनके साथ पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० फूलचन्द्रजी तथा आप भी बैठे हुए थे। स्वामीजी समयसार की ७२वीं गाथा पर प्रवचन कर रहे थे। उपदेश के बीच में वे निमित्त को हेय कह कर उसकी उपेक्षा करते जा रहे थे। उनका उपदेश समाप्त होने से पूर्व ही अचानक वर्षा आगई और पण्डाल में श्रोतासमुदाय पर वर्षा का जल गिरने लगा। यह देख कर स्वामीजी बोले कि उपदेश का समय पूर्ण होने में यद्यपि ७ मिनट शेष रह गए हैं परन्तु वर्षा आ गई है अतः प्रवचन समाप्त किया जाता है। यह सुनकर आप तत्काल ही बोल उठे कि "आज निमित्त की व्याख्या हो गई।" किसी श्रोता ने पूछ लिया कि क्या ? तो आप बोले कि "जो कान पकड़ कर बीच में ही उठा दे उसे निमित्त कहते हैं।" यह सुनकर स्वामीजी खिसिया गए और श्रोतावृन्द खिलखिला कर हँस पड़े।

आदर्श व्यक्तित्व

'सादा जीवन उच्च विचार' की उक्ति आपके जीवन में पूर्ण रूपेण चरितार्थ हुई थी आपका व्यक्तित्व बड़ा सरल था, भोजन भी सामान्य और अत्यल्प। भाद्रमाह में नीरस भोजन लेते थे। आपका कहना था कि जब हम स्वाध्याय करें तो चाहे एक दो पृष्ठ या कुछ पंक्तियाँ ही पढ़ें परन्तु उन्हें मस्तिष्क में अच्छी तरह उतारने का प्रयत्न करें। किसी भी ग्रन्थ का स्वाध्याय कम से कम तीन बार अवश्य करना चाहिए। एक समय में केवल एक ही ग्रन्थ का स्वाध्याय करना चाहिए तथा उस ग्रन्थ का स्वाध्याय पूर्ण होने के उपरान्त ही अन्य ग्रन्थ लेना चाहिए। एक साथ एक से अधिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से उपयोग बदल जाना है जिससे कोई भी विषय ठोस रूप में तैयार नहीं हो पाता। आपका सिद्धान्त था कि—

"Work while you work and play while you play Work done half heartedly is neverdone." अर्थात् कार्य के समय कार्य करो, खेल के समय खेलो। आधे मन से या बिना मन के किया हुआ कार्य न किए हुए के समान है अर्थात् वह असफल होता है।

अन्तिम अवस्था

यह बात मेरी कल्पनाओं में भी नहीं थी कि जिस महापुरुष के साहचर्य में मेरे धार्मिक जीवन का बचपन बीत रहा है वह मेरे धार्मिक वय की तरुणावस्था से पूर्व ही कालकवलित हो जाएगा। परन्तु "जातस्य हि ध्रुवो

मृत्यु:" । वह दिन अकस्मात् आ ही पहुँचा और करणानुयोग की यह महान् सजीव प्रतिमा सदैव के लिए हमसे बिछुड़ गई । घटनाचक्र इसप्रकार घटित हुआ :

आपकी दिनचर्या २६-११-८० तक यथापूर्व चलती रही । यों एक-दो दिन पहले से ही आपके शरीर में अधिक दर्द था । २७-११-८० को प्रातः जिनपूजन से निवृत्त होते ही आप घर चले गये तथा मेरे लिये आदेश दे गये कि मैं स्वाध्याय से निवृत्त होने पर आपसे घर मिलूँ । उस दिन शरीर में दर्द पिछले दिन की अपेक्षा अधिक बढ़ गया था । मिलने पर मैंने उनसे "वैद्यजी को बुलाकर लाऊँ ?" ऐसा कहा तो ज्ञात हुआ कि वे इतनी अधिक शारीरिक वेदना में भी अन्य किसी की सहायता के बिना स्वयमेव वैद्यजी से मिलकर आए थे । वैद्यजी ने औषधि दे दी तथा कोई भी सन्देहात्मक या भयंकर रोग नहीं बताया । वह दिन उनके लिये वेदना पूर्वक बिना कुछ खाये-पीये मात्र औषधि ग्रहण के साथ व्यतीत हुआ । दिन में तथा रात्रि में भी मैंने पर्याप्त समय तक उनके शरीर को सहलाया, दबाया । अर्द्ध रात्रि से उनकी शारीरिक वेदना बढ़ने लगी । २८-११-८० को प्रातः मन्दिरजी में जब शास्त्रसभा चल रही थी कि अचानक घर से सन्देश आया कि उन्होंने अनुज पूज्य पण्डित श्री नेमिचन्दजी को व मुझे यथाशीघ्र बुलाया है । जाने पर हमने देखा कि वे तीव्रतम शारीरिक पीड़ा से व्यग्र थे । उनकी कमर में इतना भयङ्कर दर्द था कि न तो उनसे बैठते बनता था न लेटते । उनके मुख से बार-बार यही शब्द निकल रहे थे कि "भाई नेमचन्द ! बस, अब मैं नहीं बचूंगा ।" ऐसा बार-बार सुनने पर भी हममें से किसी को भी ऐसी आशा नहीं थी कि करणानुयोग की यह सजीव प्रतिमा कुछ ही घण्टों के बाद अचल हो जाएगी । क्योंकि इससे पूर्व भी उनके जीवन में एक-दो अवसर ऐसे गुजरे थे जिनमें वे इससे भी अधिक अस्वस्थ थे ।

एलोपैथिक डाक्टर ने उनकी स्थिति देखकर घर पर ही 'कार्डियोग्राम' कराने के लिये कहा परन्तु दुर्भाग्य से दिन में बिजली न होने से शाम को कराने का निश्चित किया गया । दिन भर आवश्यक उपचार किया भी गया परन्तु वह सब निरर्थक सिद्ध हुआ । उसी दिन २८-११-८०, शुक्रवार, मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी को संध्याकाल ७ बजे वह महान् आत्मा स्वर्गारोहण कर गयी । रात्रि में १० बजे उनके निकटस्थ परिजनों की उपस्थिति के बिना भी, धर्म की मर्यादित दृष्टि से उनके पार्थिव शरीर का दाहसंस्कार किया गया । पूज्य पण्डितजी के निधन से समग्र जैन संस्कृति पर तीव्र वज्रपात हुआ ।

उनके निधन से मुझे जो असीम वेदना हुई है, उसे मैं अपने शब्दों व अश्रुओं से प्रकट नहीं कर सकता । दुःख इस बात का नहीं है कि उनकी मृत्यु हुई क्योंकि मृत्यु तो अवश्यम्भावी है । दुःख का कारण यह है कि उनका ज्ञान उनके साथ ही चला गया । मैं उसका इच्छित लाभ न ले सका । इतना ही लिखकर मैं उस दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी भावप्रसूनाञ्जलि समर्पित करता हूँ और वीर प्रभु से उस आत्मा के प्रति शीघ्र ही मुक्ति प्राप्ति की प्रार्थना करता हूँ ।

बाबूजी : इस शताब्दी के टोडरमल

* श्री शान्तिलाल कागजी, दिल्ली–६

बाबू रतनचन्दजी के लिये लिखना मुझ जैसे मन्द बुद्धि के लिये मुमकिन नहीं है । उनका ज्ञान अगाध था । उनका त्याग अपूर्व था । जैन सिद्धान्त के प्रति उनकी श्रद्धा दृढ़ थी । मुझे यह बात कहने में किंचित् भी संकोच नहीं है कि "उनको इस शताब्दी के पं० बनारसीदास, पं० टोडरमल तथा पं० दौलतराम कह सकते हैं ।"

बाबूजी से मेरा सम्पर्क लगभग पिछले बीस वर्षों से था। बाबूजी का 'शंका–समाधान' जैनदर्शन और जैनगजट में छपा करता था। मैं उनका नियमित अध्ययन करता था और अपनी शंकाएँ भी उनको लिखकर भेजता था; उनका उत्तर भी मुझे बराबर मिलता था। उनके एक पत्र में लिखा हुआ आया कि क्या आप ला० मुसद्दीलाल ब्रह्मचारी के पुत्र हैं ? तब मुझे मालुम हुआ कि मेरे पिताजी का, जिनका स्वर्गवास सन् १६४२ में हो गया था, बाबूजी के साथ अनेक वर्षों तक सम्पर्क रहा है। बाबूजी ने मेरी शङ्काओं से तथा पत्रों के आदान-प्रदान से मुझे पहचान लिया कि मैं ला० मुसद्दीलालजी का पुत्र हूँ और जब मैंने उनको पहली बार दिल्ली के लिये आमन्त्रित किया और उनको रेल्वे स्टेशन पर लेने के लिये गया जिनको कि मैंने पहले कभी देखा भी नहीं था, इतनी बड़ी-भीड़ के अन्दर मैंने उनको फौरन पहचान लिया। मैं यही कह सकता हूँ कि मेरा और उनका पहले भव का धार्मिक संस्कार था।

पिछले बीस वर्षों से ही मैं उनके सम्पर्क में रहा हूँ। अनेक बार बाबूजी दिल्ली आये और मैंने उनके प्रवचन सुने। जो बात उनके प्रवचनों में थी वह बात मैंने पहले किसी विद्वान् के द्वारा नहीं सुनी। बाबूजी के मुख से जो भी शब्द निकलता था वह उनके दिल से निकलता था। उनकी भावना यह रहती थी कि श्रोता वर्ग की जिन सिद्धान्त के विषय से संबद्ध कोई धारणा अगर गलत बैठी हुई है तो वह ठीक हो जाये। वे कहा करते थे कि मेरी बात अच्छी प्रकार सुन करके और उसको मनन करके अगर आपको जँचे तो मानना, वरना नहीं। उनका कहना था कि जब तुम सिद्धान्त का मनन करोगे तो शंकाएँ होनी स्वाभाविक हैं और फिर हम अपनी शंका उनके सामने रखते थे। वे उस शंका का समाधान इस प्रकार करने थे कि जिस प्रकार कोई स्कूल का अध्यापक चौथी या पाँचवीं कक्षा के विद्यार्थियों की शंका को सुलझा देता है। बस, यहीं से हमारा विशेष झुकाव बाबूजी की ओर हो गया। दरियागंज के जैन बाल-आश्रम में एक शास्त्र सभा पहले से ही चलती थी। उस सभा के सदस्य काफी दिशाहीन थे। बाबूजी ने उन सदस्यों को जैन सिद्धान्त के प्रति सही दिशा दी और दिन प्रतिदिन उस सभा के सदस्य अधिक से अधिक बढ़ते ही चले गये। हम लोगों ने अनुभव किया कि अभी तक जो भी हमने जैन सिद्धान्त के प्रति मनन किया है उसमें काफी त्रुटियाँ हैं। अब हमारे सामने सही दिशा आई है। बाबूजी कहा करते थे कि मेरे पास जो ज्ञान है वह मुझसे कोई ग्रहण कर ले। आयु का क्या भरोसा है ? उनके मनमें यह टीस (दुःख) थी कि यह ज्ञान जो मैंने पचास वर्षों में स्वाध्याय करके अर्जित किया है मैं उसे किसी को दे दूँ। परन्तु क्या कोई ऐसा व्यक्ति था जो उनके सान्निध्य में रह करके वह ज्ञान उनसे ले करके उस ज्योति को बराबर जलाये रखता ?

बाबूजी एक बात पर विशेष जोर देते थे कि जैन समाज में जो मिथ्यात्व घुस गया है वह कैसे दूर हो ? वे हमेशा अपने प्रवचनों में इसी विषय पर ज्यादा जोर देते थे कि राग-द्वेष छोड़कर वस्तु तत्त्व को अच्छी प्रकार मनन करके ग्रहण करो। परन्तु इस अर्थ प्रधान युग में किसको समय था, उनकी बात सुनने का। संसार में मिथ्यात्व का बोलबाला है। हर व्यक्ति का जीवन कुछ ऐसा मशीनवत् हो गया है कि प्रातः उठता है, दिन-प्रति दिन के कार्य से निवृत्त होता है, भोजन करता है, अर्थ उपार्जन के लिये घर से निकल जाता है, सायंकाल घर आता है, फिर भोजन करता है और कुछ समय संसार की रंग रेलियों में लीन होता है और सो जाता है। पुनः प्रातः वही क्रिया जो पहले दिन की थी। उसको बिलकुल भी समय नहीं है, यह सोचने का कि, मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाना है, क्या कर रहा हूँ और क्या करना चाहिये। सारा जीवन इस शरीर की सेवा करते–करते ही व्यतीत हो रहा है पर यह शरीर इसका बिलकुल भी साथ नहीं देता। हम यह तो सोचते हैं कि मेरे मरने के पश्चात् मेरी स्त्री, पुत्र, पुत्री, पौत्र, मकान तथा जायदाद वगैरह इसका क्या होगा ? परन्तु यह नहीं सोचते कि मरने के बाद मेरा क्या होगा ? बाबूजी चौबीस घण्टों में से अठारह घण्टे नित्य स्वाध्याय, मनन, प्रवचन पूजा आदि में ही व्यतीत करते थे।

मैंने यह भी देखा है कि दिगम्बर साधु और आर्यिकाएँ, जिनको जैन सिद्धान्त के बारे में जानने की इच्छा थी वे उनके सान्निध्य में जैन सिद्धान्त का मनन करना चाहते थे और बाबूजी भी अपना काफी समय दे करके षट्खण्डागम आदि मूल ग्रन्थों का उनको स्वाध्याय कराते रहते थे। उनका ऐसा सोचना था कि शायद इन्हीं साधु और साध्वियों में से कोई ऐसा निकल आवे कि जो अपना कल्याण करते हुए संसार के दुःखी जीवों का भी (जो मिथ्यात्व में फँसे हुए हैं) कल्याण करदे। बाबूजी खुद में एक संस्था थे। जहाँ वे बैठ जाते थे वहीं जिज्ञासु जीवों की भीड़ लग जाती थी। कुछ लोग ऐसे भी थे जो उनका विरोध भी करते थे। परन्तु वे यही बात कह करके समाप्त कर देते थे कि "इनका कसूर नहीं है। इनके अन्दर जो मिथ्यात्व बैठा हुआ है, वह उसका ही कसूर है और उनकी हम लोगों को यही प्रेरणा रहती थी कि मनुष्य गति, जैन धर्म का समागम, यह नीरोग शरीर, यह सब तुम्हें पिछले पुण्य के उदय से ही मिला है। इस पूँजी को व्यर्थ ऐसे ही मत गँवाओ! आयु तो बीत रही है। चालीस के होगये, पचास के हो गये, साठ के हो गये और कुछ व्यक्ति सत्तर के भी हो गये, क्या अब भी नहीं चेतोगे ?" परन्तु एक हम हैं कि उनकी बातों को इधर से सुनते हैं और उधर से निकाल देते हैं।

मैं अपनी श्रद्धा स्व० बाबूजी के चरणों में अर्पित करता हूँ। स्व० बाबूजी को पार्श्व प्रभु शान्ति प्रदान करें, यही मेरी कामना है। ✽

अद्वितीय विद्वान्

✽ श्री मोतीलालजी मिण्डा, उदयपुर

स्वर्गीय परम श्रद्धेय ब्रह्मचारी पण्डित रतनचन्दजी सा० मुख्तार इस युग के महान् तत्त्वखोजी एवं अद्वितीय विद्वान् थे। आपने साधु संघों में मुनिराजों को जिनवाणी का पठन करा कर महान् सेवा की। जहाँ भी जिनवाणी में शङ्का हुई आपने निष्पक्ष समाधान कर भ्रम दूर करने में महान् योग दिया। आप सरल चित्त, सन्तोषी एवं चरित्रवान श्रेष्ठ सज्जन व्यक्तियों में से एक थे। आपकी स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मैं इसकी सफलता की कामना करता हूँ एवं पूज्य पण्डितजी के लिए शान्ति प्राप्ति की अभिलाषा करता हूँ। ✽

रतनचन्द मुख्तार, सहारनपुर वाले

✽ श्री धूलचन्द जैन, चावण्ड जि० उदयपुर

भारतीय दिगम्बर जैन समाज में विख्यात, पूज्य आत्मा, प्रकाण्ड ज्ञानी, सिद्धान्तभूषण, देशव्रती, सम-परिणामी, समीचीन पंडित, निकट भव्य, साम्प्रतिक काल में उपलब्ध सिद्धान्तार्णव के ज्ञायक, धवला, जयधवला व महाधवला शास्त्रों के ज्ञाता, पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्री रतनचन्द मुख्तार का जन्म जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, आर्य-खण्ड, भारतवर्ष, उत्तरप्रदेश के सहारनपुर शहर में, बड़तला यादगार मोहल्ले में करीब ८३ वर्ष पूर्व हुआ। इस बालक का नाम रतनचन्द रखा गया था। पुरोहितों ने बताया कि यह बालक यथा नाम ज्ञानात्मक हीरों की खान होगा व भारत की धरती पर जिज्ञासु भव्यों को शास्त्रों के ज्ञान से संपोषित करेगा।

धीरे-धीरे श्री रतनचन्द दोज के चाँद के समान बाल्यावस्था को प्राप्त हुए। क्रमशः श्री रतनचन्दजी की पढ़ाई हुई। आपने अंग्रेजी व उर्दू में दक्षता प्राप्त की एवं यथाकाल वकालात आरम्भ की। आयु के पञ्चचत्वारिंशत्तम वर्ष में वकालात का परित्याग कर आपने आत्म मार्ग में अवगाहन की सोची।

यद्यपि इस वृद्धावस्था प्रापक वय तक संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी नहीं जानते थे, परन्तु स्वयोग्यता से आपने स्वयं के लिए अपरिचित संस्कृत, प्राकृतादि भाषा वाले ग्रन्थों का ही सतताऽध्ययन करके ग्रन्थों एवं इन भाषाओं में प्रवेश पाया। कई वर्षों के अध्ययन-नैरन्तर्य ने आपको चतुरनुयोग दक्ष कर दिया और यथा शीघ्र आप सिद्धान्त ज्ञानियों में शिरोभूत हो गये।

आप शास्त्रज्ञान के महान् दानी थे। नाना स्थानों से आने वाली चतुरनुयोगी शंकाओं का तुष्टिप्रद समाधान भी शास्त्रप्रमाण से प्रदान करते थे। करीब सप्तविंशति वर्षों से पर्युषण पर्व में अन्यत्र नगरों व गाँवों में जाकर स्वर्गापवर्गद उपदेश भी देते थे। समय-समय पर साधर्मी भाइयों को यथाकाल यथाशक्ति गुप्त आर्थिक सहयोग भी दिया करते थे; जबकि आप कोई विशिष्ट सम्पन्न (आर्थिक दृष्टि से) नहीं थे। धन्य हो आपको।

आपने अपने जीवन का बहुत समय मुनियों व श्रावकों को प्रज्ञाप्रदान करने में व्यतीत किया था। स्वाध्यायशील मुनिसंघों में आप प्रतिवर्ष यथा सम्भव जरूर पधारते थे एतदर्थ सकल दि० जैन आपके ऋणी हैं।

इस समय के, आप वे प्रथम प्रकाण्ड विद्वान् थे जो विद्वान् होकर आदर्श त्यागी भी थे। यों तो कहलाने में दो प्रतिमाधारी थे, परन्तु पालक इससे भी अधिक थे।

आप कुशल टीकाकार व लेखक भी थे। आलाप पद्धति आदि ग्रन्थों की टीकाएँ भी आप द्वारा लिखी गई हैं। प्रवचनसार, त्रिलोकसार, कर्मकांडादि ग्रन्थों के सम्पादक व धवला सदृश ग्रन्थों के संशोधक भी थे। अभी-अभी लब्धिसार-क्षपणासार, जीवकाण्ड की टीकाएँ भी रची थीं। वस्तुतः इस विभूति को यदि भारत भूषण भी कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा।

पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री आपको सचेल मुनिवत् कहते थे। सभी की दृष्टि में आप करणानुयोग के पारङ्गत सूरि थे।

श्री कानजी स्वामी ने एक चर्चा में, उदयपुर में कहा था कि........"इसके बारे में विशेष तो मुख्तार सा० जानें"। तब श्री डा० हुकमचन्दजी ने कहा कि, कौन मुख्तार? रतनचन्द मुख्तार क्या? स्वामीजी बोले 'हाँ' रतनचन्द मुख्तार, सहारनपुर वाले। धन्य हो, जिन्हें स्वामीजी ने भी क्षेत्र विशेष में अपने से विशिष्ट (ज्यादा) ज्ञानी बताया।

एक बार सैद्धान्तिक चर्चा हो रही थी तथा समाधाता श्री पं० ब्र० कुञ्जीलालजी के द्वारा समाधान के उपरान्त भी शंकाकार की शंका परिहृत होने के बजाय वृद्धिङ्गत ही होती जा रही थी तो ब्र० पं० कुञ्जीलालजी ने कहा कि "इसके विषय में विशेष तो श्री रतनचन्द मुख्तार से जाकर पूछो वे सागमप्रमाण समाधान करेंगे, बस!

धन्य हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष जिनके ज्ञान को सभी ने महान् स्थान दिया है। उनकी बोधि पर जनगण गौरवान्वित अनुभव करता है।

विचार आता है कि परम पूज्य मुनिश्री गणेशप्रसादजी (वर्णीजी) यदि २८-११-८० तक होते तो उन्हें अपने शिष्य रतनचन्द को इतना बड़ा प्राज्ञ देखकर कितना महान् आनन्द होता।

मुख्तार सा० का समस्त अन्तः बाह्य शुद्धि का अंश नियमतः इनकी अरिहन्त अवस्था लावेगा। विशेष इस भव्यात्मा के विषय में क्या कहा जाय ?

मुख्तार सा० के शिष्य श्री जवाहरलालजी जैन सि० शास्त्री, निवासी भीण्डर भी एक अप्रकट शास्त्रज्ञ हैं। आपने मुख्तार सा० की सहायता से प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ धवला, जयधवला व महाधवला का करीब-करीब पूरा अध्ययन किया है एवं कुछ शास्त्रों की रचना भी की है। सन् १९७८ में एक प्रश्न में मैंने सिद्धान्तशास्त्री श्री जवाहरलालजी से पूछा कि वर्तमान में कौन करणानुयोगज्ञ है ? तो प्रश्न के उत्तर में आपने कहा कि "धवलत्रय के २० हजार पृष्ठों के पारायण प्राप्त श्री रतनचन्द मुख्तार का मुकाबला वर्तमान में करणानुयोग में कोई नहीं कर सकता।"

आयु के चरम दिवसों तक भी मुख्तार सा० ग्रन्थों की टीकाएँ लिखते रहे। आप मगसिर कृ० ७ वीर नि० सं० २५०७ को इस संसार से चल बसे। आपके स्वर्गारोहण से हमें जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। मैं विनम्र व श्रद्धावनत होता हुआ आपको श्रद्धासुमन–समर्पित करता हूँ। ❁

शीलवान गुणवान आप थे

❁ श्री शान्तिलाल बड़जात्या, अजमेर

माननीय स्वर्गीय मुख्तार सा० की मुझ तुच्छ व्यक्ति पर भी बड़ी कृपा रही थी। उनकी उदारता व साधर्मी वात्सल्य का एक अनुपम उदाहरण इस प्रकार है—

विक्रम संवत् २०२८ की भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन पण्डित प्रवर श्री मुख्तार सा० ने स्थानीय सेठ साहब श्री भागचन्दजी सोनी की नसियाजी में सहस्रों व्यक्तियों के समक्ष मुझे प्रेरणा दी कि मैं बाजार के भोजन का त्याग करूँ। उस समय परम पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज भी ससंघ विराजमान थे। देव, शास्त्र व गुरु के चरणसान्निध्य में उन धर्मप्राण चरित्रवान सत्पुरुष की प्रेरणा से मैंने तुरन्त ही अशुद्ध भोजन का त्याग कर दिया। आज नियम लिये हुए ९ वर्ष हो चुके हैं; तब से अब तक हजारों मीलों का सफर भी कर चुका हूँ। इस नियम ने सदैव मेरे मन और तन की रक्षा ही की है।

सन्मार्ग के प्रदर्शक, सतत स्वाध्याय में लीन, त्यागी वर्ग को स्वाध्याय में सहयोग देने वाले, निर्भीक, आगम निष्ठ सेनानी, परम तार्किक व महान् तत्त्वज्ञाता स्वर्गीय पण्डितजी आशु शिवरमा का वरण करें, इसी भावना के साथ चार पंक्तियाँ उन्हें सादर भेंट करता हूँ—

शीलवान गुणवान आप थे, पण्डित रतनचन्द्र मुख्तार।
स्वाध्याय के प्राण बने अरु किया जगत का अत्युपकार॥
'ग्रन्थप्रकाशन' की वेला में, नमन करूँ मैं सौ-सौ बार।
किया आपके सद् वचनों ने, मेरे जीवन का उद्धार॥ ❁

सफल स्वाध्यायी

*** श्री मोहनलाल जैन सेठी गया (बिहार)**

स्व० पण्डित श्री रतनचन्दजी सा० मुख्तार से हमारा साक्षात् परिचय उन दिनों हुआ जब हमारे स्व० पूज्य पिता श्री ब्र० छोगालालजी श्री पार्श्वनाथ दि० जैन शान्तिनिकेतन, उदासीन आश्रम ईसरी में रहा करते थे। उस समय पूज्य अध्यात्म योगी स्व० श्री गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य, क्षुल्लक अवस्था में वहाँ विराजमान थे। पूज्य वर्णीजी महाराज स्वाध्याय पर काफी जोर दिया करते थे। श्री पं० रतनचन्दजी एवं उनके भ्राता श्री पं० नेमिचन्दजी भी वहाँ उपस्थित थे। आप दोनों के स्वाध्याय-क्रम का तो कहना ही क्या था, जब भी देखो स्वाध्याय एवं धार्मिक-चर्चा चालू है।

कई विषयों पर मैंने भी आपसे प्रश्न किये थे एवं उचित उत्तर पाकर सन्तुष्ट भी हुआ हूँ। स्वाध्याय करने का जो आगमानुकूल मार्ग आपने बताया वह वास्तव में बहुत ही लाभदायक है। आपका कहना था कि "जिस किसी ग्रन्थ का स्वाध्याय किया जाय, आद्योपान्त किया जाय और कम से कम तीन बार अवश्य किया जाय। इसके बिना स्वाध्याय का सही फल प्राप्त नहीं हो सकता है।" बात बिल्कुल सही है। किन्च सभी बातें ग्रन्थ विशेष के एक ही अध्याय में नहीं लिखी जातीं अतः पूर्ण स्वाध्याय करने के बाद एकान्ती बनने की सम्भावना नहीं रहती है। आज के युग में जो झगड़े चलते हैं, हमारा खयाल है कि उनका एक कारण यह भी है कि आचार्यों द्वारा प्रणीत पूरे ग्रन्थों को न पढ़कर केवल जो जो प्रसंग अपनी मान्यता के अनुकूल पड़ते हैं, उन्हीं को पढ़ लेते हैं। आज प्रायः उपदेश भी इसी तरह का होता है, ऊहापोह में जो समय नष्ट होता है उसका कारण भी यही प्रतीत होता है।

श्री पंडित रतनचन्दजी साहब के लेख, शंका समाधान एवं संशोधन कार्य देखने से मालूम पड़ता है कि आप परम्परा के पोषक थे और जैन सिद्धान्तों की रक्षा हेतु बराबर प्रयत्नशील रहते थे। आज जरूरत है ऐसे ही विद्वानों की, जो अज्ञान अन्धकार से जीवों की रक्षा करें और अनादि के प्रकाश को अस्त न होने दें। यही मेरी श्रद्धांजलि है।

मुझे हर्ष है कि ऐसे विद्वान् के प्रति मुझे श्रद्धांजलि अर्पित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

अपूरणीय क्षति

*** सेठ श्री हरकचन्दजी जैन, रांची**

सिद्धान्तभूषण श्रीमान् स्व० रतनचन्दजी मुख्तार जैन समाज के जाने माने ख्याति प्राप्त विद्वान् थे। आपने चतुरनुयोगमयी जिनवाणी का गहन-अध्ययन कर जैन जनता को उसका रसास्वादन कराया था। आप जैन सिद्धान्त के पारंगत विद्वान थे। अनेक जैन ग्रन्थों का आपने सम्पादन किया। प्रकृति से सौम्य एवं सरल थे। देव-शास्त्र गुरु पर आपकी अकाट्य भक्ति थी। जैन सिद्धान्त के ऐसे विद्वानों का जितना भी सम्मान-अभिनन्दन किया जावे उतना ही जैन समाज के लिये श्रेयस्कर है। आपका अभाव निश्चित ही अपूरणीय है। परमात्मा आपको शान्ति प्रदान करे।

सरल परिणामी

❋ श्री प्रेमचन्दजी जैन, अध्यक्ष "अहिंसा-मन्दिर", नई दिल्ली

विद्वद्वर्य स्व० श्री रतनचन्दजी मुख्तार का जन्म जुलाई १९०२ में हुआ। १९२० में मैट्रिक करने के पश्चात् १९२३ में मुख्तारी की परीक्षा उत्तीर्ण की और सहारनपुर की कचहरी में कार्य करने लगे। जिनेन्द्र पूजन, शास्त्र स्वाध्याय, शास्त्र प्रवचन, गुरु भक्ति व वात्सल्य आपके दैनिक जीवन के अभिन्न अंग थे। आप मृदुभाषी, सरल परिणामी व सन्तोष भाव वाले उच्चकोटि के सिद्धान्त ज्ञाता थे। आपकी सूझबूझ, अकाट्य लेखनी व समय-समय पर विद्वानों व श्रीमानों को दिये गये मार्गदर्शन, आगम पथ पर चलने और जिनवाणी द्वारा बताये गये अनेकान्त सिद्धान्त को यथावत् रखने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। ग्रन्थराज धवल व महाधवल की शुद्धि का कार्य तो आप द्वारा पूर्ण दक्षतापूर्वक किया गया, जिसके लिए त्यागियों व विद्वानों ने आपकी महती सराहना की।

बहुत वर्षों तक आप जैनदर्शन, जैन गजट व जैन संदेश आदि पत्रों में 'शंका-समाधान' विभाग के सर्वेसर्वा रहे व सिद्धान्त सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर लिखते रहे। दि० जैन शास्त्री परिषद् के अध्यक्ष भी आप रहे। आपकी स्मरण-शक्ति उच्चकोटि की थी।

स्व० पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी के तो आप अनन्य भक्त थे और अन्त समय तक आप उनके साथ रहे। हमारा आपसे लगभग ३५ वर्षों से घरेलू सम्बन्ध रहा। आप जब कभी देहली पधारते थे, तो हमें सेवा का अवसर मिल जाता था, आपके लघुभ्राता श्री नेमिचन्दजी जैन, वकील भी आपके ही पद चिह्नों पर चल रहे हैं। इन्हीं शब्दों में, मैं आपको अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। ❋

विनम्रता की सजीव मूर्ति

❋ श्री सौभाग्यमल जैन, भीण्डर-उदयपुर

अद्वितीय शास्त्रवेत्ता, आत्म श्रद्धानी पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार गुणों की खान थे। मैं उनके परम शिष्य का शिष्य हूँ। जब भी वे अपने शिष्य श्री जवाहरलाल शास्त्री को पत्र लिखते, मुझे भी जयजिनेन्द्र लिखकर आशीर्वाद देते थे। कारण कि मैं वर्ष १९७७–७८ में निरन्तर मृत्यु तुल्य गम्भीर अस्वस्थता से ग्रस्त रहा। यह बात मेरे अनुज श्री जवाहरलाल ने उन्हें एक पत्र में यों लिख दी थी कि "मैं अग्रज सौभाग्यमलजी की गम्भीर शारीरिक अस्वस्थता से अतीव आतङ्कित एवं त्रस्त-व्यस्त चल रहा हूँ।" केवल एक बार ऐसी जानकारी दे देने से उन्होंने यावत्स्वास्थ्य-लाभ लिखे ८० पत्रों में से प्रत्येक में मेरे स्वस्थ होने की कामना की थी। श्री जवाहरलाल शास्त्री को लिखे उनके कुछ पत्रों को मैंने पढ़ा तो ज्ञात हुआ कि वे अपने पौत्र तुल्य शिष्य श्री जवाहरलाल को शास्त्रीय शङ्काओं को लिखने की उसकी श्रेष्ठता के कारण गुरु भी लिख देते थे। यह तथ्य उनके अनेक पत्रों से ज्ञात होता है। वे कितने महान् शास्त्र पारगामी थे फिर भी उनमें विनम्रता की कितनी पराकाष्ठा थी!! उनकी विनम्रता हम सबके लिए ईर्ष्या योग्य है।

कभी–कभी मैं भी अपनी शङ्काएँ उन्हें लिख भेजता। उन शङ्काओं के उनसे प्राप्त समाधान निश्चय ही अद्भुत पाण्डित्य एवं उनके शास्त्र पारगामित्व को सूचित करते हैं। मेरी जानकारी में आपके सभी शिष्य ऐसे हैं,

उनके भी कई शिष्य हैं, सभी सुलझे मस्तिष्क के हैं। सभी शिष्य करणानुयोग में पारङ्गत हैं। उनकी तार्किक बुद्धि भी विलक्षण है।

पूज्य पण्डितजी से पत्र द्वारा एवं प्रत्यक्ष चर्चा में चर्चित हुए कुछ प्रश्नोत्तर सब के लाभ के लिए यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

प्रश्न—१ : क्या केवलज्ञान आत्मा को जानता है ?

उत्तर : केवलज्ञान स्वयं पर्याय है अतः उसकी दूसरी पर्याय नहीं हो सकती। अर्थात् यदि केवलज्ञान को स्वपरप्रकाशक माना जाएगा तो उसकी एक काल में स्वप्रकाशक और परप्रकाशक रूप दो पर्यायें माननी पड़ेंगी किन्तु केवलज्ञान स्वयं परप्रकाश स्वरूप ही एक पर्याय है, केवलज्ञान न तो जानता ही है और न देखता ही है; क्योंकि वह स्वयं जानने व देखने रूप क्रिया का कर्ता नहीं है। अतः ज्ञान को अन्तरंग-बहिरंग दोनों का प्रकाशक न मान कर जीव स्व और पर का प्रकाशक है ऐसा मानना चाहिए—

"ण केवलणाणं जाणइ पस्सइ वा, तस्स कत्तारताभावादो"

—जयधवला, पुस्तक १ पृष्ठ ३२५-२६

प्रश्न—२ : क्या परमाणु यन्त्रों से देखा जा सकता है ?

उत्तर : परमाणु को यंत्रों से देख पाना सम्भव नहीं। व्यवहार परमाणु यन्त्रों से देखा जा सकता होगा परन्तु इससे अनन्तगुणा हीन परमाणु वस्तुतः यन्त्रों से देखा जाना सम्भव नहीं है।

प्रश्न—३ : क्या प्रत्येक वस्तु सत् है ? क्या खर विषाण भी सत् है ?

उत्तर : प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत् है और पर चतुष्टय की अपेक्षा असत् है। खर विषाण भी कथञ्चित् सत् है। (जयधवला १/२३१ एवं राजवार्तिक)

प्रश्न—४ : सागर किसे कहते हैं ? यह असंख्यात वर्ष रूप है या अनन्त वर्ष रूप ?

उत्तर : २००० कोस व्यास का २००० कोस गहरा खड्डा खोद कर इसे ७ दिवस पर्यन्त आयुवाले उत्तम भोगभूमि के मेढ़े के अविभागी रोमांशों (बालाग्रों) से ठसाठस भर दिया जाय। तदनन्तर १०० वर्षों में एक-एक रोमांश निकालते-निकालते यावत् काल में खड्डा खाली हो, वह काल व्यवहार पल्य है। उपर्युक्त रोमांश के बुद्धि द्वारा असंख्यात कोटि वर्ष समय समूह प्रमाण और अंश कल्पित करके फिर प्रत्येक अंश को प्रति समय निकालने पर जो समय लगे, उसे उद्धार पल्य कहते हैं। एवं पश्चात् उक्त रोमांश के बुद्धि द्वारा पुनः १०० वर्ष के समय समूह प्रमाण अंश कल्पित करके प्रत्येक रोमांश को एक-एक समय से निकाला जाय तो इसमें लगने वाला काल अद्धापल्य कहलाता है। १० कोटाकोटि अद्धापल्यों का एक सागर होता है। यह असंख्यातवर्षरूप होता है। (षट्खण्डागम–प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि आदि)

प्रश्न—५ : माहेन्द्रकल्प में श्रेणीबद्ध विमान कितने हैं ?

उत्तर : माहेन्द्रकल्प में श्रेणीबद्ध विमान २०३ हैं। (लोकविभाग ग्रन्थ के दशम विभाग में पृष्ठ १८१ पर देखिए।)

प्रश्न—६ : विश्व में जीव में आनन्त्य कैसा ?

उत्तर : अनन्तश अनन्त ईश्वरों ने फरमाया है कि—

(१) विचित्र विश्व में अनन्त वस्तुएँ हैं।
(२) उनमें जीव रूप वस्तु भी अनन्त है।
(३) प्रत्येक जीव के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु हैं।
(४) प्रत्येक कर्मपरमाणु पर अनन्तानन्त नो कर्म परमाणु हैं।
(५) प्रत्येक नोकर्म परमाणु पर अनन्तानन्त विस्रसोपचय हैं।
(६) प्रत्येक विस्रसोपचय भी द्रव्य है यानी वस्तु है अतः उसमें भी अनन्त गुण हैं।
(७) प्रत्येक गुण अनन्त पर्यायों से युक्त है।
(८) प्रत्येक पर्याय की अनन्त (अमिट) सामर्थ्य है।

प्रश्न—७ : क्या अकृत्रिम चैत्यालय भी सचित्त हैं ?

उत्तर : अकृत्रिम चैत्य एवं चैत्यालय तो सजीव हैं लेकिन कृत्रिम चैत्य चैत्यालय निर्जीव हैं। क्योंकि मूर्ति, फर्श आदि पर हाथ पाँवों का घर्षण लगता रहता है परन्तु पण्डित माणिकचन्दजी फिरोजाबाद वालों का कहना था कि कृत्रिम चैत्य और चैत्यालयों में ऊपर का तल ही निर्जीव है, नीचे व भीतर का तो सजीव है। अस्तु, एतद् विषयक आगम वाक्य सम्प्राप्त होने पर ही ग्राह्य हैं।

प्रश्न—८ : क्या मैं जहाँ बैठा हूँ, वहाँ भी अग्निकायिक जीव हैं ?

उत्तर : क्यों नहीं ? अवश्य हैं। पर हैं सूक्ष्म। (धवला ग्रन्थ पुस्तक सं० ४)

अन्त में, मैं पूज्य स्वर्गीय पण्डितजी सा० को परम विनीत भाव से अपने श्रद्धा सुमन सादर समर्पित करता हूँ।

निस्पृह आत्मार्थी

* श्री महावीरप्रसाद जैन, सर्राफ, चाँदनी चौक, दिल्ली

श्रीमान् सिद्धान्तसूरि रतनचन्दजी मुख्तार सा० से लगभग ३० वर्षों से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध था। लगभग १०-१२ वर्षों से तो दशलक्षण पर्व में उनके प्रवचन निरन्तर सुनता रहा हूँ। उन्हें जिनागम पर अटूट श्रद्धा थी, जिनवाणी ही उनका चरम मानदण्ड थी। सफल मुख्तार होते हुए भी अन्तरङ्ग में वीतराग भावों की जागृति होते ही आपने तथा आपके लघुभ्राता श्री मान्यवर बाबू नेमिचन्दजी जैन वकील ने संसार की असारता को जाना और आत्मकल्याणार्थ तन, मन व धन से जिनवाणी की साधना में रत हो गए।

इन्हें आज के युग के उत्कृष्ट विद्वान् कहूँ या त्यागी ······ शब्दों का अभाव है।

जब कभी दशलक्षण पर्व के शुभावसर पर पूज्य पण्डित रतनचन्दजी का अभिनन्दन करना चाहा तो आपने किसी भी प्रकार से कुछ भी न करने का स्पष्ट आदेश व प्रार्थना की।

बहुत ही सादा जीवन, प्रत्येक क्षण स्वाध्याय, मुनिसंघों में जाना, वहाँ भी स्वाध्याय करना-कराना, यही इस आत्मार्थी का सर्वोपरि कार्य रहा। रत्ती भर भी चाहना कभी नहीं की। जिनवाणी व जैनधर्म के ऐसे परम सेवक का नाम अमर रहे और आप भी शीघ्र मुक्तिवधू का वरण करें; यही मङ्गल कामना है।

विद्वानों की दृष्टि में :

स्व० पण्डित रतनचन्द मुख्तार

१. **स्व० पं० खूबचन्दजी शास्त्री** श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित गो० जीवकाण्ड तृतीयावृत्ति के प्रारम्भ में लिखते हैं:—

"एक गाथा छूट जाने के सिवाय और कोई भी इसमें अशुद्धि रह गई हो, जिसे कि सुधारने की आवश्यकता हो तो उसके मालूम कर लेने के सद् अभिप्राय से हमारी सम्मति के अनुसार भाई कुन्दनलालजी ने समाचार पत्रों में विद्वानों के नाम एक विज्ञप्ति भी इसी आशय की प्रकाशित की थी और उन्होंने तथा हमने प्रत्यक्ष भी कुछ विद्वानों से इस विषय में सम्मति मांगी थी, परन्तु एक सहारनपुर के भाई ब्र० श्री रतनचन्दजी सा० मुख्तार के सिवाय किसी से किसी भी तरह की सूचना या सम्मति हमको नहीं प्राप्त हुई। श्री रतनचन्दजी सा० ने जो संशोधन भेजे, हमने उनको बराबर ध्यान में लिया है और संशोधन करते समय दृष्टि में भी रखा है। हम मुख्तार सा० की इस सहृदयता, सहानुभूति तथा श्रुतानुराग के लिये अत्यन्त आभारी हैं और केवल अनेक धन्यवाद देकर ही उनके नि:स्वार्थ श्रम का मूल्य करना उचित नहीं समझते।"

[७-९-१९५६]

२. **श्री बाबू छोटेलाल** कलकत्ता निवासी कषायपाहुड़ सूत्र के प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखते हैं :—

"विद्वद् परिषद् के शंका-समाधान विभाग के मंत्री श्री रतनचन्दजी मुख्तार, सहारनपुर, धर्मशास्त्र के मर्मज्ञ और सिद्धान्त-ग्रन्थों के विशिष्ट अभ्यासी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के बहुभाग का आपने उसके अनुवादकाल में ही स्वाध्याय किया है—और यथावश्यक संशोधन भी अपने हाथ से प्रेस कॉपी पर किये हैं। ग्रन्थ का प्रत्येक फार्म मुद्रित होने के साथ ही आपके पास पहुँचता रहा है और प्रायः पूरा शुद्धिपत्र भी आपने बनाकर भेजा है, इसके लिए हम आपके कृतज्ञ हैं।

—मंत्री श्री वीरशासनसंघ, कलकत्ता, वि० सं० २०१२ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा

३. **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन** मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस लिखते हैं :—

"बहुत दिनों बाद समाज का भाग्य जागा है कि आप जैसे तत्त्वदर्शी और शास्त्रज्ञानी उत्पन्न हुए हैं। आपसे विशेष निवेदन है कि ज्ञानपीठ के प्रकाशन कार्यक्रम को आप अपने सहयोग का सम्बल देते रहें।

[२३-८-१९६०]

४. **श्री एल० सी० जैन,** एम. एस. सी. लेक्चरार, महाकौशल, महाविद्यालय जबलपुर लिखते हैं—

"आपने तिलोयपण्णत्ती के यवाकार आदि क्षेत्रों की आकृतियाँ सुधारे हुए रूप में प्रस्तावित की थीं जो तिलोयपण्णत्ती के गणित में छपी हैं। अपनी प्रारम्भिक प्रस्तावना में आपको धन्यवाद न दे सका। यह जो गलती हुई इसके लिये आप मुझको क्षमा अवश्य ही करेंगे। आपकी गहन अनुभवों रूप फौलाद की नीवों पर ही तो हम बच्चों ने कुछ काम किया है और करेंगे।"

[७–६–५९]

५. **पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य** (सागर) श्री त्रिलोकसार (शान्तिवीरनगर, श्री महावीरजी) की प्रस्तावना में लिखते हैं —

"सिद्धान्तभूषण श्री रतनचन्दजी मुख्तार, सहारनपुर ने इस ग्रन्थ के सम्पादन में भारी श्रम किया है। श्री रतनचन्दजी मुख्तार पूर्व भव के संस्कारी जीव हैं। इस भव का अध्ययन नगण्य होने पर भी इन्होंने अपने अध्यवसाय से जिनागम में अच्छा प्रवेश किया है और प्रवेश ही नहीं, ग्रन्थ तथा टीकागत अशुद्धियों को पकड़ने की इनकी अद्भुत क्षमता है। इनका यह संस्कार पूर्वभवागत है, ऐसा मेरा विश्वास है। त्रिलोकसार के दुरूह स्थलों को इन्होंने सुगम बनाया है और माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवकृत संस्कृत टीका सहित मुद्रित प्रति में जो पाठ छूटे हुए थे अथवा परिवर्तित हो गये थे उन्हें आपने अपनी प्रति पर पहले से ही ठीक कर रखा था। पूना और ब्यावर से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों से जब मैंने इस मुद्रित टीका का मिलान किया तब श्री मुख्तारजी के द्वारा संशोधित पाठों का मूल्याङ्कन हुआ।"

६. **डा० हीरालालजी** M.A. Ph. D. D. Litt. धवल पु० १२, प्राक्कथन में लिखते हैं—

"सहारनपुर निवासी श्री रतनचन्दजी मुख्तार और उनके भ्राता श्री नेमचन्दजी वकील—ये सिद्धान्त ग्रन्थों के स्वाध्याय में असाधारण रुचि रखते हैं। यही नहीं, वे सावधानीपूर्वक समस्त मुद्रित पाठ पर ध्यान देकर उचित संशोधनों की सूचना भी भेजने की कृपा करते हैं जिसका उपयोग शुद्धिपत्र में किया जाता है। इस भाग के लिये भी उन्होंने अपने संशोधन भेजने की कृपा की है। इस निस्पृह और शुद्ध धार्मिक सहयोग के लिये हम उनका बहुत उपकार मानते हैं।

उन्होंने एक शुद्धिपत्र आदि से अन्त तक के भागों का भी तैयार किया है जिसका पूर्ण उपयोग अन्तिम भाग में किया जायगा। मैं अपने इन सब सहायकों का बड़ा आभार मानता हूँ।"

[३–२–१९५५]

७. **श्री इतरसेन जैन,** जैन मेटल वर्क्स, मुरादाबाद से लिखते हैं—

"श्रीमान् रतनचन्दजी, नमस्कार। आज जैनदर्शन व जैन गजट में देखकर बहुत हर्ष हुआ कि आपने व भाई नेमचन्दजी ने सहारनपुर के नाम को धर्म के सम्बन्ध में रोशन कर रखा है। हमारे शहर में पहले भी लाला जम्बूप्रसादजी की बदौलत मुकदमा सम्मेदशिखर में रोशन हो चुका है। जितनी प्रशंसा आपके लिए अखबार में लिखी है वह आपके धार्मिक मेहनत से बहुत कम है। मेरी तो यही प्रार्थना है कि आपका धर्म-प्रताप दिन ब दिन बढ़े और आपका यश हो।"

[९–१२–१९६०]

८. **श्री अमोलकचन्द उड़ेसरीय,** जँवरी बाग, इन्दौर से लिखते हैं :—

"आपके द्वारा संचालित 'शंका समाधान' जो जैनगजट में निकलता है उससे बड़ा धर्मलाभ हो रहा है।" इसके लिए हार्दिक धन्यवाद।

[४-६-६३]

९. **श्री बसन्तकुमार जैन,** २७७२ डी शुभपेठ, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) लिखते हैं :—

"सम्माननीय महाधर्मप्रभावक, सिद्धान्तभूषण श्री रतनचन्दजी मुख्तार, सविनय जयजिनेन्द्र। मैं जैनगजट का नूतन ग्राहक हूँ। आपके शंका-समाधान पढ़कर सचमुच में ही मुझे महान् सन्तोष मिलता है। **सकल शास्त्र-पारंगता आपने प्राप्त की है; यह जैनजगत् के लिए अभिमानास्पद और अत्यन्त गौरव की बात है।**

[२७-२-६४]

१०. **श्री मांगेराम जैन,** अध्यक्ष, जैन विजय प्रिंटिंग प्रेस, गांधी चौक सूरत (गुजरात) लिखते हैं :—

परम आदरणीय श्रद्धेय श्री पं० रतनचन्दजी मुख्तार, पं० नेमिचन्दजी मुख्तार, सादर जयजिनेन्द्र। आदरणीय भाई श्री सरावगीजी ने आपके सम्बन्ध में जो पटना से लेख भेजा था वह प्रकाशित कर दिया है। पत्र देकर प्रेम, वात्सल्य एवं आत्मीयता प्रदान करते रहें। आप मेरे लिये मेरे परिवार के बड़े सदस्य हैं। **आप विद्वानों की समाज में ऐसे शोभित होते हैं जैसे "नक्षत्रमण्डल में चन्द्रमा"** आपके आशीर्वाद से यहाँ प्रसन्न हैं। योग्य सेवा लिखें।

[२०-२-६४]

११. **श्री रेलचन्द जैन** C/o श्री विशनचन्द चंपालाल, मलकापुर जि० बुलडाना (महाराष्ट्र) लिखते हैं :—

श्रीमान् बाबूजी साहब! सादर जयजिनेन्द्र। पत्र श्री रूपचन्दजी को मिला। मैंने भी पढ़ा। श्री रूपचन्दजी तीन भाई हैं। वे सुबह को मन्दिरजी में स्वाध्याय करते हैं। रूपचन्दजी कानजी स्वामी के अनन्य भक्त हैं। एक रोज स्वाध्याय के समय उन्होंने कहा—**"सहारनपुर में बाबू रतनचन्द मुख्तार हैं। उनको करणानुयोग का सारे भारत में सबसे ज्यादा ज्ञान है। स्वामीजी भी यह कहते थे कि "रतनचन्द मुख्तार को ज्ञान का बहुत क्षयोपशम है, हमारे से भी ज्यादा है।"**

[१४-१०-६४]

१२. **श्री सुनहरीलाल जैन** बेलनगंज, आगरा लिखते हैं :—

श्रीमान् श्रद्धेय बाबू रतनचन्दजी जैन मुख्तार, सादर इच्छामि। "शंका-समाधान" लेखावली जैनसमाज के लिए परम कल्याणकारी है। इस सन्दर्भ में यदि अन्य विद्वान् कुछ वाद-विवाद चलाते हैं तो आप उसमें मत उलझिये। कुछ स्पष्टीकरण अनिवार्य हो तो उसमें नाम का उल्लेख न रहे—यह विनम्र सुझाव है।

[२-११-६४]

१३. श्री हजारीलालजी जैन, बी. कॉम., एल-एल. बी., नाई की मण्डी, आगरा लिखते हैं :—

"हमारे सौभाग्य से श्री ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार आगरा नाई की मण्डी में पधारे। आपसे अनेक विषयों पर तत्त्वचर्चा हुई, जिससे परम सन्तोष हुआ। उसमें मुख्य विषय नियतिवाद या क्रमबद्ध पर्याय का था जिसके बारे में यहाँ के लोगों की धारणा कुछ गलत बनी हुई थी। पं० जी साहब से चर्चा होने पर इस बारे में पूर्ण समाधान हुआ। कुछ पर्यायें नियत भी हैं और कुछ पर्यायें अनियत भी हैं। जैसा कि अकलंक देव ने 'राजवार्तिक' में लिखा है कि मोक्ष जाने का काल नियत नहीं है। इसके सिवाय अन्य विषयों पर भी शंका-समाधान हुए जिनसे पर्याप्त सन्तोष मिला।"

[२१-५-६५]

१४. (स्व०) पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद से लिखते हैं :—

"श्रीमान् धर्मप्राण, सज्जनवर्य ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार! योग्य माणिकचन्द्र कृत सादर बन्दना स्वीकृत हो। आपके लेख प्रौढ़ विद्वत्तापूर्ण आगमभृत् होते हैं। मैं उनको दो तीन बार पढ़ता हूँ। आपका नियतिवाद ट्रैक्ट बड़ा ठोस व मर्मस्पर्शी है। आपकी लेखनी में न्याय व सिद्धान्त भरा हुआ है।"

[२-५-६६]

१५. श्री कामताप्रसादजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, विद्यारत्न, सिरसागंज (मैनपुरी) से लिखते हैं :—

"श्री विद्वद्रत्न पूज्य ब्रह्मचारीजी! सविनय वन्दना। 'नियतिवाद' पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा। केवलज्ञान को भानुमती का पिटारा समझने वालों के लिये जयधवला का प्रमाण बहुत ही हृदयग्राही एवं पुष्ट प्रमाण है, मुझे तो एक नई सूझ ही मालूम पड़ी। अस्तु, धन्यवाद।"

[४-५-६६]

१६. पं० जम्बूप्रसाद जैन शास्त्री, मंडावरा (झाँसी) उ० प्र० लिखते हैं :—

"श्रीमान् सिद्धान्तवारिधि, सिद्धान्तभूषण, विद्वद्रत्न, पूज्य श्रद्धेय ब्र० मुख्तारजी सा०! योग्य सविनय बन्दना स्वीकृत हो। आज श्रीमान् की सेवा में कृतज्ञतापूर्ण भावों से पत्र प्रेषित करते हुए हृदय हर्षित हो रहा है। आपके द्वारा लिखित शंका-समाधान के अनेक लेख जैनपत्रों में पढ़कर चित्त आनन्दित हो जाता है। लगता है कि आपकी जिह्वा पर साक्षात् सरस्वती ही निवास करती है। जनता को आपने आगमोक्त मार्ग का जो प्रदर्शन किया है, उसका सारा जैनसमाज चिरकाल तक ऋणी रहेगा। मैं पुनः आपके इस ज्ञान की महिमा की प्रशंसा करता हूँ और मैं आपसे ऐसा शुभाशीष चाहता हूँ कि मुझे भी इस जैन सिद्धान्त के रहस्य को समझने की क्षमता प्राप्त हो तथा जिन भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि आप चिरायु होकर जैन सिद्धान्त का प्रसार कर जन-जन का सन्देह निवारण करते हुए अज्ञानान्धकार को दूर करते रहें।"

१७. कोठारी शान्तिलाल मानालाल कुशलगढ़ (जि० बाँसवाड़ा) लिखते हैं :—

"श्रीमान् श्रद्धेय पंडितप्रवर ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार सा०! सादर अभिवादन! आपका कृपापत्र ता० १८-७-१९६९ का एवं शंका-समाधान का बुक-पोस्ट भी आज प्राप्त हुआ, पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। आप जैसे विद्वान् प्रवर शतायु हों, ऐसी ही जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना है। परवादियों के मत-खण्डन में आप

विग्गज एवं तार्किक शिरोमणि हैं। इससे ज्यादा लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। आप पर्युषण पर्व पर यहाँ न आ सकेंगे, इसका हमें खेद है, परन्तु अगले साल के वास्ते यहाँ का ख्याल जरूर रखेंगे। ऐसी पूर्ण आशा है।

[२३–७–१९६९]

पूज्य श्री नेमिचन्द मुख्तार

※ विनोदकुमार जैन, सहारनपुर

यद्यपि ग्रन्थ का प्रस्तुत खण्ड पूर्ण होने को है, किन्तु यह मेरी दृष्टि में उसी समय पूर्ण होगा जब श्रद्धेय 'पं० श्री रतनचन्दजी मुख्तार' के साथ ही साथ उनके पथानुयायी अनुज पं० श्री नेमिचन्दजी जैन (वकील) साहब का भी स्मरण किया जाय। क्योंकि मुझे प्रथम देशना आपके द्वारा ही प्राप्त हुई थी अतः शिष्यत्व के नाते भी मेरे लिये आप श्रद्धेय, पूज्य एवं अभिनन्दनीय हैं। निःसन्देह ये दोनों भ्राता मेरे श्रुतरूपी नयन युगल हैं। आपके द्वारा तीव्र प्रतिषेध किये जाने पर भी मैं यहाँ आपका अल्प परिचय दे रहा हूँ।

आपका जन्म उत्तर भारत के सहारनपुर नगर में दिसम्बर १९०५ में हुआ था। सन् १९२७ में कानपुर से आपने बी० कॉम० (B. Com.) परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर सन् १९२९ में आगरा से वकालत (LL. B.) की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् सहारनपुर क्षेत्र के न्यायालय में ही वकालत का कार्य करने लगे। चातुर्य एवं विशेष तर्कणाशक्ति के कारण आपने अपने कार्य में विशेष दक्षता प्राप्त कर ली। व्यावहारिक कुशलता के कारण आप जैन धर्मार्थ चिकित्सालय के अध्यक्ष व जे० वी० जैन डिग्री कालेज तथा इन्टर कालेज के सचिव पद पर निर्वाचित किये गये।

पिताश्री के जो धार्मिक संस्कार आपके हृदय पटल पर संस्कृत हुए थे, वे अब अंकुरित होने लगे। शनैः शनैः धार्मिक जीवन की ओर प्रवृत्ति अग्रसर हुई, वकालत और व्यावहारिक व सामाजिक क्षेत्र में रुचि घटती गई तथा इन क्षेत्रों में पूर्ण उदासीनता के कारण सन् १९५५ में वकालत का कार्य अग्रजवत् आपने समग्र रूप में छोड़ दिया। चिकित्सालय एवं कालेज के अध्यक्ष व सचिव आदि पदों से भी त्यागपत्र दे दिया। आत्मकल्याण की दृष्टि से जिनागम का गहन अध्ययन करने लगे। धवल, जयधवलादि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के साथ ही साथ आपने अध्यात्म, न्याय आदि के ग्रन्थों का भी गहन मन्थन किया। प्रतिफल स्वरूप आज सिद्धान्त, अध्यात्म एवं न्याय आदि विषयों पर आपका अधिकार है।

आपकी विद्वत्ता से आकर्षित होकर रुचि रखने वाले श्रावकों ने आपके साथ सामूहिक शास्त्र स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया। सन् १९५५ से ही इस सामूहिक शास्त्र सभा को कक्षा के रूप में आप चला रहे हैं जिसमें लगभग १५–२० श्रावक-श्राविकाएँ पढ़ते हैं। यह सभा श्रावकों के हितार्थ अतिशय लाभप्रद सिद्ध हुई है। श्रावकों की शंकाओं का आप बहुत सरल व वैज्ञानिक ढंग से समाधान करते हैं। श्रावकवृन्द भी इस स्वाध्याय कक्षा के संयोग से अपने को परम सौभाग्यशाली समझते हैं। रात्रि को मन्दिरजी में शास्त्र सभा भी आपके द्वारा ही चलाई जाती है।

पूर्वकाल में जैन पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख व शंका-समाधान भी समय-समय पर निकलते रहे हैं। निश्चय-व्यवहार नामक विषय पर आपने एक बहुत ही सुन्दर व आगमानुकूल ट्रैक्ट 'व्यवहारनय निश्चयनय का साधनभूत है' लिखा है। काफी समय से आप द्वितीय प्रतिमा के व्रत पाल रहे हैं। बड़े एवं छोटे दोनों ही वर्णीजी के साथ आपका घनिष्ट सम्पर्क रहा है। विद्वत्ता के कारण ही आप पर्युषण पर्व में अनेक स्थानों पर जैन समाजों द्वारा आमंत्रित किये गये हैं। आपके विचारों में अतुलनीय समता है और व्यवहार में अनुपम शालीनता। आप लोकेषणा से कोसों दूर हैं। अथक प्रयास किये जाने पर भी अपना फोटो न खिंचने देना आपकी लौकिक निस्पृहता का प्रतीक है। आपके परिवार में आपका एक पुत्र व एक पुत्री है, दोनों विवाहित हैं। आपकी धर्मपत्नी काफी समय से रोगग्रस्त थीं। और वे अब नहीं रहीं। वर्तमान समय में आप जीवन के ७६ वें वर्ष में चल रहे हैं। शारीरिक अवस्था भी क्षीण हो चली है तो भी धार्मिक जीवनचर्या में कहीं भी शिथिलता या प्रमाद दृष्टिगोचर नहीं होता। आपका प्रेरणात्मक संदेश यही है "भैया ! इस समय कल्याण करने के सभी अनुकूल साधन हमें सम्पूर्ण रूप में मिले हुए हैं, सबसे दुर्लभ जिनागम की श्रद्धा, पठन-पाठन एवं श्रवण है, वह भी प्राप्त है। फिर भी यदि हम कल्याण के मार्ग में अग्रसर न हों तो हमारे से बढ़कर तीन लोक में दूसरा कौन मूर्ख है ?"

अन्त में, मैं केवल इतना ही कहूँगा कि जो ज्ञान मुझे आपके सान्निध्य में स्वाध्याय करके प्राप्त हुआ है, उस ऋण से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। परम पूज्य जिनेन्द्रदेव से मैं आपकी दीर्घायु की कामना करता हुआ अतीव श्रद्धा के साथ आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

प्रथमानुयोग

अनन्तवीर्य मुनि का केवलज्ञान के बाद ५०० धनुष ऊर्ध्वगमन

शंका—पद्मपुराण सर्ग ७८ पृ० ८१ पर लिखा है कि कुसुमायुधनामक उद्यान में श्री अनन्तवीर्य मुनिराज को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय वे ५०० धनुष ऊँचे क्यों नहीं गये, जबकि केवलज्ञान होने पर ५०० धनुष ऊपर जाने का नियम है ?

समाधान—श्री अनन्तवीर्य मुनिराज केवलज्ञान उत्पन्न होने पर ५०० धनुष प्रमाण ऊपर गये अन्यथा वे देवनिर्मित सिंहासन पर आरूढ़ नहीं हो सकते थे।

अथ मुनिवृषभं तथाऽनन्तसत्वं मृगेन्द्रासने सन्निविष्टं।

—पद्मपुराण पर्व ७८ पृ० ८१

अर्थात्—अथानन्तर केवलज्ञान उत्पन्न होते ही वे मुनिराज वीर्यान्तराय कर्म का क्षय हो जाने से अनन्त बल के स्वामी हो गये तथा देवनिर्मित सिंहासन पर आरूढ़ हुए।

'देवनिर्मित सिंहासन पर आरूढ़ हुए' इससे जाना जाता है कि केवलज्ञान उत्पन्न होने पर श्री अनन्तवीर्य मुनिराज ५०० धनुष ऊपर गये थे।

—जै. ग. 17-4-69/VII/र. ला. जैन, मेरठ

अनादि जैनधर्म के कथंचित् प्रवर्तक

शंका—जैनधर्म का बानी कौन था ? अजैन व्यक्ति साधारणतया भगवान महावीर को ही जैनधर्म का बानी मानते हैं। डा० राधाकृष्णन् ने Indian Philosophy पुस्तक में भगवान आदिनाथ को जैनधर्म का जन्मदाता बताया है; परन्तु जैनग्रन्थों में जैनधर्म को अनादिकालीन बताया है। फिर भी यह शंका उठती ही है, आखिर इस धर्म का चलाने वाला कौन था ?

समाधान—इस शंका के निवारण के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि धर्म के स्वरूप को समझा जाय अर्थात् धर्म किसको कहते हैं ? **'वत्थु सहावो धम्मो'** अर्थात् जिस वस्तु का जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। जैसे ज्ञान-दर्शन आत्मा का स्वभाव है, उष्णता अग्नि का स्वभाव है, द्रवण करना जल का स्वभाव है; स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पुद्गल का स्वभाव है, आदि। प्रत्येक द्रव्य अनादि अनन्त है अतएव उसका स्वभाव अर्थात् धर्म भी अनादि अनन्त है। कोई भी द्रव्य न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी उसका नाश ही हो सकता है। केवल उसकी पर्याय समय समय बदलती (उत्पन्न व नष्ट होती) रहती है। विज्ञान अर्थात् साइन्स ने भी यही सिद्ध किया है कि Nothing is created, nothing is destroyed, it only changes its phase. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य किसी का बनाया हुआ नहीं है क्योंकि जो वस्तु अनादि है वह किसी की बनाई हुई नहीं हो सकती है। यदि बनाई हुई हो तो उसका आदि हो जाएगा क्योंकि जब वह बनाई गई तभी से उसकी आदि हुई। जब द्रव्य अनादि है तो उसका धर्म (स्वभाव) भी अनादि ही है क्योंकि स्वभावरहित कोई भी वस्तु नहीं हो सकती। अतः धर्म भी अनादि है और किसी का बनाया हुआ नहीं है।

जैनधर्म भी यही कहता है कि प्रत्येक द्रव्य का जैसा स्वभाव है उसको वैसा ही जानो और वैसा ही श्रद्धान करो। इसी का नाम सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है अर्थात् सच्चा श्रद्धान व सच्चा ज्ञान है। जब वस्तु स्वभाव का सच्चा श्रद्धान व ज्ञान हो जाएगा तो किसी वस्तु को भी इष्ट-अनिष्ट मानकर उसमें रागद्वेष नहीं किया जा सकता है किन्तु आत्मा का उपयोग आत्मा में ही स्थिर हो जाता है और परम वीतरागता हो जाती है उसीका नाम सम्यक्चारित्र है अतः सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भी धर्म कहा गया है। दो द्रव्य अर्थात् जीव व पुद्गल ऐसे भी हैं जो बाह्य निमित्त पाकर विभावरूप भी हो जाते हैं। जीव अनादिकाल से विभावरूप होता चला आ रहा है। यह विभावता उपर्युक्त सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र द्वारा दूर की जाकर जीव अपने पूर्ण धर्म (स्वभाव) को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण उनको भी धर्म कहा गया है। अतः परमात्मा द्वारा धर्म नहीं बनाया जाता प्रत्युत् धर्म द्वारा परमात्मा बनता है। धर्म का दूसरा लक्षण यह भी है कि धर्म उसको कहते हैं कि जो जीव को संसार के दुःखों से निकाल कर मोक्ष में पहुँचा दे। उपर्युक्त कथनानुसार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप ही ऐसा धर्म है जो जीव को संसार के दुःखों से निकाल कर मोक्ष में पहुँचा देता है। जब वस्तु अनादि है तो उसका उपर्युक्त श्रद्धान-ज्ञान व चारित्र भी सन्ततिरूप से अनादि ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि जब धर्म अनादि है तो उसके साथ जैन विशेषण क्यों लगाया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि अनादि सिद्धान्त का भी जो कोई महानुभाव ज्ञान करके (Discover करके) साधारण जनता को बतलाता है वह सिद्धान्त उसी के नाम से पुकारा जाता है जैसे माल्थस थ्योरी, न्यूटन थ्योरी। इसका अर्थ यह हरगिज नहीं है कि उस सिद्धान्त या स्वभाव को ही उन महानुभाव ने बनाया या उत्पन्न किया है। स्वभाव या सिद्धान्त तो अनन्त ही है जैसे गुरुत्वाकर्षण या Gravity गुण वस्तु में तो अनादि अनन्त ही है, वह किसी का बनाया हुआ नहीं है। इसी प्रकार धर्म तो अनादि व अनन्त ही है वह किसी का बनाया हुआ या उत्पन्न किया हुआ नहीं है किन्तु 'जिन' ने उसका ज्ञान करके साधारण जनता को बतलाया अतएव वह जैनधर्म कहलाने लगा। जो सर्वज्ञ है अर्थात् जो अपने केवल (पूर्ण) ज्ञान द्वारा तीन लोक व तीन काल की सब चराचर वस्तुओं को उनके अनन्त गुण व अनन्त पर्यायों सहित जानते हैं उनको 'जिन' कहते हैं। 'जिन' भी सन्तति रूप से अनादि हैं।

युगों (Cycle of Time) का परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक युग में (यहाँ युग से आशय उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल का है) ऐसी महानात्मायें पैदा होती हैं जो पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपनी दिव्यध्वनि द्वारा उस अनादि धर्म का प्रचार करती हैं। उन्हीं को जिन कहते हैं। वर्तमान युग की आदि में सर्वप्रथम श्री भगवान आदिनाथ (ऋषभनाथ) ने ही केवल (पूर्ण) ज्ञान प्राप्त कर इस अनादि धर्म का प्रवर्तन किया था। इस युग के वह सर्वप्रथम जिन हुए हैं अतः इस अपेक्षा से उनको इस युग में जैनधर्म के प्रवर्तक कहा गया है। इस युग में २४ तीर्थंकर हुए हैं जिनमें से भगवान श्री महावीरस्वामी अन्तिम तीर्थङ्कर थे। साधारण जनता उन्हीं को जैनधर्म का प्रवर्तक मानती थी और पूर्व के २३ तीर्थङ्करों की सत्ता या उनका ऐतिहासिक पुरुष होना स्वीकार ही नहीं करती थी। डा० श्री राधाकृष्णन् ने Indian Philosophy पुस्तक द्वारा इस मत का खण्डन किया है और जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की है।

—जै. सं 3-1-57/VI/ध. रा. जैन, चकरौता

अनुबद्ध केवलियों के नाम व संख्या

शंका—अन्तिम तीर्थंकर के पश्चात् कितने काल में अनुबद्ध केवली हुए हैं ?

समाधान—श्री १००८ महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् ६२ वर्ष में तीन अनुबद्ध केवली हुए हैं। कहा भी है—

अंतिम-जिण-णिव्वाणे केवलणाणी य गोयम मुणिंदो ।
बारह-वासे य गये सुधम्मसामी य संजादो ॥१॥

तह बारह-वासे पुण संजादो जम्बु-सामी मुणिणाहो ।
अठतीस-वास रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो ॥२॥

बासट्ठि-केवल-वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जंबू य ।
बारह बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीसं ॥३॥

इस नन्दि-आम्नाय की पट्टावली में यह बतलाया गया है कि अन्तिम तीर्थंकर के पश्चात् श्री गौतम स्वामी केवली हुए जिनका काल बारह वर्ष था। उसके पश्चात् श्री सुधर्माचार्य को केवलज्ञान हुआ जिनका काल भी बारह वर्ष था। पुनः श्री जम्बूस्वामी केवली हुए जिनका काल ३८ वर्ष था। इस प्रकार १२+१२+३८=६२ वर्ष तक तीन अनुबद्ध केवली हुए हैं।

—जै. ग. 21-11-66/IX/ज प्र. म. कु.

आदिनाथ बाहुबली आदि कर्मभूमिया थे

शंका—श्री नाभिराय, श्री भगवान आदिनाथ, श्री बाहुबली, श्री भरत आदि तीसरे काल में ही जन्मे हैं, वे भोगभूमि के जीव कहे जा सकते हैं या नहीं ?

समाधान—जिन जीवों की आयु एक कोटि पूर्व से अधिक होती है वे भोगभूमिया मनुष्य व तिर्यंच जीव होते हैं और जिन मनुष्यों या तिर्यंचों की आयु एक कोटि पूर्व वर्ष है वे कर्म-भूमिया हैं (धवल पु. ६ पृ. १६९-१७०)।

श्री नाभिराय की आयु १ कोटि पूर्व वर्ष की थी। कहा भी है—

पणवीसुत्तर पणसयचाउच्छेहो सुवण्णवण्णणिहो ।
इगिपुव्वकोडिआऊ मरुदेवी णाम तस्स वधू ॥४।४९५॥ [ति.प.]

अर्थ—श्री नाभिराय मनु पाँच सौ पच्चीस धनुष ऊँचे, सुवर्ण के सदृश वर्णवाले, और एक पूर्व कोटि आयु से युक्त थे। उनके मरुदेवी नाम की पत्नी थी।

श्री नाभिराय, श्री भगवान आदिनाथ, श्री बाहुबली, श्री भरत की आयु एक कोटि पूर्व से अधिक नहीं थी, इसलिये ये कर्मभूमिया मनुष्य थे।

—जै. ग. 19-9-66/IX/ट. ला. जैन, मेरठ

आदिनाथ के सहस्रवर्ष तक शुभ भाव रहे थे

शंका—छठे व सातवें गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है और धर्मध्यान शुभ भाव है, ऐसा 'भावपाहुड' में कहा है। श्री आदिनाथ भगवान ने एक हजार वर्ष तक तप किया तो एक हजार वर्ष तक शुभ भाव ही रहे ? क्या बीच-बीच में शुद्ध भाव नहीं हुए ?

समाधान—किसी भी आचार्य ने छठे-सातवें गुणस्थानों में शुक्लध्यान नहीं बतलाया है। सभी आचार्यों ने छठे-सातवें गुणस्थानों में विचरण करते हुए मुनियों के धर्म-ध्यान अर्थात् शुभ भाव बतलाया है। कहा भी है—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं, सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥ [भावपाहुड]

अर्थ—जिनेन्द्रदेव भाव तीन प्रकार कह्या है—शुभ, अशुभ, शुद्ध ऐसे। तहाँ अशुभ तो आर्त्त-रौद्र ये ध्यान हैं और धर्म ध्यान सो शुभ भाव है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य की इस गाथा से सिद्ध है कि श्री १००८ आदिनाथ भगवान के एक हजार वर्ष तक छठे व सातवें गुणस्थान में शुभ भाव रहे।

—जै. ग. 4-1-68/VII/ब्रा. कु. ब.

युगादि में इन्द्र द्वारा नवीन जिनमन्दिर स्थापन

शंका—युग के आदि में जब आदिनाथ भगवान का जन्म हुआ तब इन्द्र ने नवीन जिन-मन्दिरों की स्थापना की; उनमें श्री अर्हंत भगवान की प्रतिमा की स्थापना की। उन जिन-मन्दिरों में श्री सीमंधर भगवान की प्रतिमा क्यों नहीं स्थापित की ? क्या श्री सीमंधर भगवान उस समय अर्हंत अवस्था में नहीं थे ?

समाधान—युग के आदि में जब श्री आदिनाथ भगवान का जन्म हुआ उस समय भरत क्षेत्र में कोई भी तीर्थंकर अर्हंत अवस्था में नहीं थे और न अवसर्पिणीकाल में कोई तीर्थंकर हुए थे, अतः जिन-मन्दिरों में सामान्य रूप से श्री १००८ अर्हंत देव की प्रतिमा स्थापन कर दी।

विदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर नाम के तीर्थंकर हमेशा अर्हंत अवस्था में विद्यमान रहते हैं क्योंकि श्री १००८ सीमंधर आदिक २० तीर्थंकर विदेह क्षेत्र में शाश्वत विद्यमान रहते हैं। श्री १००८ सीमंधर विदेह क्षेत्र से सम्बन्धित हैं, अतः इन्द्र ने भरत क्षेत्र के जिन-मन्दिरों में श्री १००८ सीमंधर भगवान की प्रतिमा स्थापित करना उचित नहीं समझा। यदि इसमें अन्य कोई कारण हो तो विद्वत्मंडल आर्ष वाक्य प्रमाण सहित इस पर प्रकाश डालने की कृपा करें।

—जै. ग. 23-5-66/IX/हे. च.

इमली के पत्तों प्रमाण अवशिष्ट भव वाले मुनि कैसे थे ?

शंका—इमली के पत्ते जितने भव धारने के पश्चात् मुक्ति हो जावेगी। भगवान के ऐसे वचनों पर श्रद्धा करके प्रसन्न होने वाले वे मुनि क्या सम्यग्दृष्टि थे या मिथ्यादृष्टि ?

समाधान—उक्त मुनि के यदि दर्शन मोहनीयकर्म का उपशम या क्षयोपशम था तो वे मुनि सम्यग्दृष्टि थे अन्यथा करणानुयोग की अपेक्षा वे मिथ्यादृष्टि थे।

—जै. सं. 8-8-57

कृष्ण ने कौनसी पर्याय में सम्यक्त्व प्राप्त किया ?

शंका—सम्यक्त्व को धारण करने से पहले जिस जीव के नरकायु का बन्ध हो चुका है तो वह जीव मरकर पहले नरक से नीचे नहीं जाता है। इस बारे में शंका यह है कि श्रीकृष्ण का जीव मरकर तीसरे नरक में गया है, ऐसा 'हरिवंश पुराण' में कहा है। श्रीकृष्ण का जीव नरक से आकर भावी तीर्थंकर होकर मोक्ष चला जावेगा। सो श्रीकृष्ण के जीव ने सम्यक्त्व कौनसी पर्याय में धारण किया ?

समाधान—श्री नेमिनाथ तीर्थंकर के समवसरण में श्रीकृष्ण ने क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ किया। किन्तु मृत्यु से एक अन्तर्मुहूर्त पूर्व मिथ्यात्व को प्राप्त होगये और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध भी रुक गया। नरक में पहुँचने के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होकर तीर्थंकर प्रकृति का पुनः बंध होने लगा। नरक से यहाँ भरत क्षेत्र में आकर तीर्थंकर होकर मोक्ष को प्राप्त हो जावेंगे। श्रीकृष्णजी ऊपर स्वर्गलोक से मध्यलोक भरतक्षेत्र में आये, तीन खंड का राज्य किया। यहाँ से अधोलोक में गये, वहाँ से मध्यलोक में आकर पुनः ऊर्ध्वलोक (सिद्धालय) को प्राप्त हो जावेंगे। जिन जीवों को नरकायु-बंध के पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन या कृतकृत्य वेदक सम्यग्दर्शन हो जाता है वे जीव मरकर प्रथम नरक में ही जाते हैं, इससे नीचे नहीं जाते; क्योंकि सम्यग्दर्शनरूपी खड्ग से नीचे की छह पृथिवी की आयु काट दी जाती है (धवल पु० १ पृ० ३२४)। किन्तु तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन से च्युत होकर तीसरे नरक तक जा सकता है। वहाँ अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। राजा श्रेणिक को क्षायिक सम्यग्दर्शन होगया था वे प्रथम नरक में गये और वहाँ से निकलकर इसी भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर होंगे।

—जै. ग. 11-7-63/IX/गो. ला. बा. ला.

कृष्ण अब सोलहवें तीर्थंकर होंगे

शंका—नारायण कृष्ण ने भगवान नेमिनाथ के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था। वे कब कहाँ और कौनसे तीर्थंकर होंगे ?

समाधान—श्रीकृष्णजी तीसरे नरक से निकलकर इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आगामी उत्सर्पिणी काल के दुःखमा सुखमा काल में श्री निर्मल नामक सोलहवें तीर्थंकर होंगे। (तिलोयपण्णत्ती अध्याय ४ गाथा १५८० व १५८५)।

—जै. ग. 22-1-70/VII/क. च. मा. च.

वीर निर्वाण के पश्चात् गौतम आदि ८ केवली हुए

शंका—श्री वीर भगवान के पश्चात् कितने केवली हुए हैं और उनकी कितनी आयु थी ?

समाधान—श्री १००८ वीर भगवान के पश्चात् तीन तो अनुबद्ध केवली हुए हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त पाँच केवली और हुए हैं अर्थात् वीर प्रभु के पश्चात् आठ केवलज्ञानी हुए हैं, जिनमें अन्तिम केवलज्ञानी श्रीधर थे। कहा भी है—

वीरादनन्तरं किल केवलिनोऽष्ट जाता न तु त्रयः।

—षट्प्राभृत संग्रह पृ० ३

अर्थ—वीर भगवान के पश्चात् आठ केवलज्ञानी हुए, तीन नहीं।

जादो सिद्धो वीरो, तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादो तस्सिं सिद्धे, सुधम्मसामी तदो जादो ॥ १४७६ ॥

तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामित्ति केवली जादो ।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥१४७७॥

कुंडलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो ॥१४१९॥

—तिलोयपण्णत्ती अ. ४

अर्थ—जिस दिन भगवान महावीर सिद्ध हुए उसी दिन श्री गौतम गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। पुनः श्री गौतम के सिद्ध होने पर श्री सुधर्म स्वामी केवली हुए। श्री सुधर्म स्वामी के कर्म–नाश करने अर्थात् मुक्त होने पर श्री जम्बूस्वामी केवली हुए। श्री जम्बूस्वामी के सिद्धि को प्राप्त होने पर फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं रहे। केवलज्ञानियों में अन्तिम श्री १००८ श्रीधर कुण्डलगिरि से सिद्ध हुए।

—जै. ग. 12-8-65/V/ब्र. कु. ला.

भगवान महावीर के बाद के केवलियों की संख्या

शंका— कुंडलगिरिम्मि चरिमो, केवलणाणी सुसिरिधरो सिद्धो ।
चारणरिसीसु चरिमा, सुपासचन्दा-भिधा णो य ॥१४७९॥ ति. प. अ. ४

अर्थात् केवलज्ञानियों में अन्तिम श्रीधर मुनि कुंडलगिरि से सिद्ध हुए और चारण ऋषियों में अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र नाम के ऋषि हुए। किन्तु षट्खंडागम पु० ९ पृ० १३० पर लिखा है—'अड़तीस वर्ष केवलविहार से विहार करके श्री जम्बू भट्टारक के मुक्त हो जाने पर भरतक्षेत्र में केवलज्ञान परंपरा का व्युच्छेद हो गया इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण को प्राप्त होने पर बासठ वर्ष पीछे केवलज्ञानरूपी सूर्य भरतक्षेत्र में अस्त हुआ।' श्री कल्पसूत्र में इसप्रकार लिखा है–'महामुनि श्री जंबूस्वामी का अलौकिक सौभाग्य है कि जिस पति को प्राप्त करके मोक्षलक्ष्मी स्त्री अभी तक भी अन्य पति को चाहती नहीं है।'

यहाँ प्रश्न यह है कि उपर्युक्त तीनों बातों में से कौनसी बात ग्राह्य है?

समाधान—तिलोयपण्णत्ती अध्याय ४ गाथा १४७९ के कथन में तथा षट्खंडागम पुस्तक ९ पृष्ठ १३० के कथन में परस्पर कोई विरोध नहीं है। षट्खंडागम पु० ९ पृ० १३० पर जो ये शब्द हैं 'जंबू भट्टारक के मुक्त हो जाने पर भरतक्षेत्र में केवलज्ञान परम्परा का व्युच्छेद हो गया' इसमें 'परम्परा' शब्द 'अनुबद्ध' का द्योतक है। श्री १००८ महावीर भगवान् के मुक्त होने के समय श्री गौतम गणधर को केवलज्ञान होगया, श्री गौतम गणधर के मुक्त होने पर श्री लोहाचार्य को केवलज्ञान हो गया, श्री लोहाचार्य के मुक्त होने पर श्री जंबू भट्टारक को केवलज्ञान हो गया। किन्तु श्री जम्बूस्वामी के मुक्त होते समय अन्य किसी मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, अतः केवलज्ञान की जो धारावाही परम्परा चली आरही थी उसका व्युच्छेद हो गया। इसका यह अर्थ नहीं कि श्री जम्बू स्वामी के पश्चात् भरतक्षेत्र में कोई केवली नहीं होगा। श्री जम्बू भट्टारक के पश्चात् अन्य पाँच केवली हुए हैं जिनमें अन्तिम केवलज्ञानी श्रीधर प्रभु हुए हैं जैसा कि तिलोयपण्णत्ती अध्याय ४ गाथा १४७९ में कथन है। श्री षट्प्राभृतादि संग्रह ग्रंथ के पृ० ३, दर्शनपाहुड़ गाथा २ की टीका में भी लिखा है–'वीरादनन्तरं किल केवलिनोऽष्ट जाता न तु त्रयः।' अर्थात् श्री वीर भगवान के पश्चात् आठ केवली हुए हैं तीन नहीं हुए। 'कल्पसूत्र' दिगम्बर जैन आगम नहीं है, अतः उसके विषय में कुछ नहीं कहा जाता।

—जै. ग. 17-5-62/VII/ओ. च.

जीवन्धर, महावीर के पश्चात् मोक्ष गये

शंका—जीवन्धर और श्री महावीर स्वामी समकालीन थे। इन दोनों में पहले मोक्ष कौन गया है ?

समाधान—श्री महावीर स्वामी पहले मोक्ष गये हैं और श्री जीवन्धर स्वामी बाद में मोक्ष गये हैं।

भवता परिपृष्टोऽयं जीवन्धर मुनीश्वरः।
महीयान् सुतपा राजन् सम्प्रति श्रुतकेवली ॥६८५॥
घातिकर्माणि विध्वंस्य जनित्वा गृहकेवली।
सार्धं विहृत्य तीर्थेशा तस्मिन्मुक्तिमधिष्ठिते ॥६८६॥
विपुलाद्रौ हताशेषकर्मा शर्माप्रमेष्यति।
इष्टाष्टगुणसम्पूर्णो निष्ठितात्मा निरंजनः ॥६८७॥

—उत्तरपुराण पर्व ७५

श्री सुधर्माचार्य राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! तुमने जिनके विषय में पूछा था वे यही जीवन्धर मुनिराज हैं, ये बड़े तपस्वी हैं और इस समय श्रुतकेवली हैं। घातिया कर्मों को नष्ट कर ये केवलज्ञानी होंगे और श्री महावीर भगवान के साथ विहार कर उनके मोक्ष चले जाने के बाद विपुलाचल पर्वत पर समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष का उत्कृष्ट सुख प्राप्त करेंगे।

—जै. ग. 11-5-72/VII/ ....

तीर्थंकरों के लिये स्वर्ग से भोजन

शंका—क्या तीर्थंकरों के वास्ते इन्द्र स्वर्ग से भोजन भेजते हैं जब, वस्त्र तो आते सुना है ?

समाधान—तीर्थंकरों के लिये दूध, भोजन आदि की सब व्यवस्था इन्द्र द्वारा की जाती है, वे माता का भी दूध नहीं पीते। कहा भी है—'इन्द्र ने आदर सहित भगवान् को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, दूध पिलाने, शरीर के संस्कार (तेल, कज्जल आदि लगाना) करने और खिलाने के कार्य के लिये अनेक देवियों को धाय बनाकर नियुक्त किया ॥ १६५ ॥ वे भगवान् पुण्य कर्म के उदय से प्रतिदिन इन्द्र के द्वारा भेजे हुए सुगन्धित पुष्पों की माला, अनेक प्रकार के वस्त्र तथा आभूषण आदि श्रेष्ठ भोगों का—अपना अभिप्राय जानने वाले सुन्दर देव-कुमारों के साथ प्रसन्न होकर अनुभव करते थे ॥ २११ ॥' महापुराण सर्ग १४। पुण्य के उदय से इन्द्र भी सेवा में खड़ा रहता है। पापोदय से मित्र भी शत्रु हो जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्यों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

—जै. ग. 26-9-63/IX/ब्र. प. ला.

शंका—तीर्थंकर गृहस्थ युवा अवस्था में क्या अँगूठा ही चूसते हैं ? यदि आहार करते हैं तो कैसा आहार करते हैं ? क्या माता-पिता द्वारा तैयार किया हुआ आहार करते हैं ?

समाधान—युवा अवस्था को प्राप्त होने पर तीर्थंकर आहार करते हैं किन्तु वह आहार माता-पिता के द्वारा तैयार नहीं किया जाता अपितु इन्द्र से प्राप्त होता है। कहा भी है—

आसनं शयनं यानं भोजनं वसनानि च।
वारणादिकमन्यच्च सकलं तस्य शक्रजम् ॥३/२२॥ पद्मपुराण

आसन, शयन, वाहन, भोजन, वस्त्र तथा धारणादिक जितना भी परिकर था, वह सब आदिनाथ महाराज को इन्द्र से प्राप्त होता था। ज्ञानपीठ पद्मपुराण, प्रथम भाग पृष्ठ ४७।

—जै. ग. 2-2-78/दि० जैन श्र. र. म., फुलेरा

शंका—तीर्थंकर भगवान की गृहस्थ अवस्था में अणुव्रत मानते हैं, लेकिन वे स्वर्ग से देवों का लाया हुआ भोजन करते हैं। जब देव अविरती हैं तो वह भोजन कैसे करें ? भगवान दीक्षा के समय पिच्छी–कमण्डलु रखते हैं या नहीं ?

समाधान—श्री तीर्थंकर भगवान् आठ वर्ष की आयु में देशसंयमी हो जाते हैं।

उत्तर पुराण पर्व ५३ श्लोक ३५ में श्री १०८ जिनसेन स्वामी ने कहा भी है—

स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः, सर्वेषां परतो भवेत्।
उदिताष्ट–कषायाणां तीर्थेषां देशसंयमः ॥३५॥

अर्थ—जिनके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ इन आठ कषायों का ही केवल उदय रह जाता है; ऐसे सभी तीर्थंकरों के अपनी आयु के प्रारम्भिक आठ वर्ष के बाद देशसंयम हो जाता है।

देशव्रती पुरुष को अविरत सम्यग्दृष्टि के हाथ का भोजन कर लेने में कोई बाधा नहीं है।

श्री १००८ तीर्थंकर भगवान् संयम का उपकरण पिच्छी अवश्य रखते हैं।

—जै. ग 8-11-65/VII/ब्र. कैं. ला.

ऋषभादि तीर्थंकरों का शरीर जन्म से ही परमौदारिक कहा जा सकता है

शंका—तीर्थंकर भगवान् के जन्म से ही परमौदारिक शरीर होता है या केवलज्ञान होने पर परमौदारिक शरीर हो जाता है।

समाधान—तीर्थंकर भगवान् के जन्म-समय जो औदारिक शरीर होता है उसमें कुछ विशेषता होती है—

जैसे—वात-पित्त-कफ के दोषों से उत्पन्न हुई व्याधियों का न होना, बुढ़ापा न आना, स्वेद का न होना इत्यादि। इन विशेषताओं के कारण तथा मोक्ष का मूल कारण होने से तीर्थंकर भगवान् के शरीर को केवलज्ञान से पूर्व भी परमौदारिक (उत्तम औदारिक) शरीर कह देने में कोई बाधा नहीं आती है। श्री जिनसेन आचार्य ने कुमार-काल के कथन में कहा भी है—

तदस्य रुरुचे गात्रं, परमौदारिकाह्वयम्।
महाभ्युदय-निःश्रेयसार्थानां, मूलकारणम् ॥ १५/३२ महापुराण

जो महाभ्युदय रूप मोक्ष का मूल कारण था, ऐसा भगवान् का परमौदारिक शरीर अत्यन्त शोभायमान हो रहा था। किन्तु इस परमौदारिक शरीर में और केवलज्ञानी के परमौदारिक शरीर में महान् अन्तर है। जैसे—तीर्थंकर के जन्म-समय के परमौदारिक शरीर में क्षुधा आदि की बाधा होती है किन्तु केवली के परमौदारिक शरीर में क्षुधा आदि की बाधा नहीं होती है। कहा भी है—

"छद्मस्थतपोधना अपि सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीराभावे" छट्ठोत्ति पढम सण्णा, इति वचनात् । "परमौदारिक-शरीरत्वाद् भुक्तिरेव नास्ति" ।

सप्तधातुरहित परमौदारिक शरीर के अभाव के कारण छठे गुणस्थान तक आहार संज्ञा होती है अर्थात् भूख-प्यास लगती है । परमौदारिक शरीर अर्थात् सप्त कुधातु रहित शरीर हो जाने पर भुक्ति नहीं होती, अर्थात् भूख-प्यास आदि का अभाव हो जाता है ।

श्री कुंदकुंद आचार्य ने भी केवली के परमौदारिक शरीर के विषय में **बोधपाहुड में** निम्नप्रकार कहा है—

> **जरवाहिदुक्खरहियं, आहारणिहारवज्जियं विमलं ।**
> **सिंहाण खेल सेओ, णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥३७॥**
> **गोखीरसंख-धवलं मंसं, रुहिरं च सव्वंगे ॥३८॥**

टीका—"(दोसो य)—दोषश्च वातपित्तश्लेष्माणोऽर्हति न वर्तन्ते । (गोखीरसंख धवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे)—गोक्षीरवच्छङ्ख-धवलमुज्ज्वलं मांसं, गोक्षीर-वद्धवलं रुधिरं, गोक्षीर—वद्धवलं सर्वाङ्गे सर्वस्मिन् शरीरे ।"

अरहंत भगवान् का शरीर जरा, व्याधि और दुःख से रहित है । वह आहार—नीहार से रहित है, मल-मूत्र रहित है । अरहन्त भगवान् के नाक का मल, थूंक, पसीना, ग्लानि उत्पन्न करने वाली घृणित वस्तु तथा वात, पित्त, कफ आदि दोष नहीं हैं । भगवान् के समस्त शरीर में गाय के दूध और शङ्ख के समान सफेद मांस और रुधिर होता है ।

आप्त—स्वरूप में भी कहा है—

> **नष्टं छद्मस्थविज्ञानं, नष्टं केशादि-वर्धनम् ।**
> **नष्टं देहमलं कृत्स्नं, नष्टे घातिचतुष्टये ॥८॥**
> **शुद्धस्फटिकसंकाशं, तेजोमूर्तिमयं वपुः ।**
> **जायते क्षीणदोषस्य, सप्तधातुविवर्जितम् ॥१२॥**
> **नष्टा सदेहजा छाया …… ॥ ११ ॥**

ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर केश—नखादि नहीं बढ़ते, शरीर का सर्व मल दूर हो जाता है, स्फटिक के समान तेजस्वी शरीर की मूर्ति हो जाती है, सात धातुएँ नहीं रहती हैं, दोषों का क्षय हो जाता है तथा शरीर की छाया नहीं पड़ती है ।

श्री जिनसेन आचार्य ने भी महापुराण में कहा है—

> **अच्छायत्वमनुन्मेष—निमेषत्वञ्च ते वपुः ।**
> **धत्ते तेजोमयं दिव्यं, परमौदारिकाह्वयम् ॥४६॥**
> **नखकेशमितावस्था, तवाविष्कुरुते विभो ।**
> **रसादिविलयं देहे, विशुद्धस्फटिकामले ॥४९॥ पर्व २५**

हे भगवान् ! आपके तेजोमय और दिव्य स्वरूप परमौदारिक शरीर की न तो छाया ही पड़ती है और न नेत्रों की पलक झपकती है । आपके नख और केश ज्यों के त्यों रहते हैं । उनमें वृद्धि नहीं होती है, इससे ज्ञात होता है कि आपके शरीर में रस, रक्त आदि का अभाव है ।

इनके अतिरिक्त केवली के परमौदारिक शरीर में निगोदिया जीव नहीं रहते हैं, किन्तु केवलज्ञान से पूर्व अवस्था में तीर्थंकरों में निगोदिया रहते हैं—

पुढवीआदिचउण्हं, केवलिआहारदेवणिरयंगा ।
अपदिट्ठिदा णिगोदेहिं, पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥२००॥ गो० जी०

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक जीवों के शरीर में तथा केवलियों के शरीर में, आहारक शरीर में एवं देव—नारकियों के शरीर में बादर निगोद जीव नहीं रहते हैं। शेष मनुष्य और तिर्यंचों के शरीर में बादर निगोद जीव रहते हैं।

किमट्ठमेदे एत्थ मरंति ? झाणेण णिगोदजीवुप्पत्तिट्ठिदिकारणणिरोहादो। झाणेण अणंताणंतजीवरासिणिहंताणं कधं णिव्वुई ? अप्पमादादो। को अप्पमादो ? पंचमहव्वयाणि पंच समदीओ तिण्णि गुत्तीओ। णिस्सेसकसायाभावो च अप्पमादो णाम। .... प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः। धवला टीका पु० १४, पृ० ८९–९०।

ध्यान से जीवों की उत्पत्ति और स्थिति के कारणों का निरोध हो जाने से क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में जीव मरण को प्राप्त होते हैं। ध्यान के द्वारा अनन्तानन्त जीवराशि का हनन करने वाले क्षीणकषाय जीव को अप्रमाद के कारण निर्वृत्ति (मोक्ष) हो जाती है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और समस्त कषायों के अभाव को अप्रमाद कहते हैं। जो प्रमाद रहित है वह अहिंसक है, किन्तु जो प्रमादयुक्त है वह सदैव हिंसक है।

छद्मस्थ अवस्था में भी अन्य मनुष्यों के शरीर की अपेक्षा तीर्थंकरों के शरीर में कुछ विशेषता रहती है; अतः छद्मस्थ अवस्था में भी तीर्थंकर के शरीर को परमौदारिक (उत्तम औदारिक) कह दिया है। किन्तु जब क्षुधा आदि बाधाएँ दूर हो जाती हैं, नेत्र टिमकार रहित हो जाते हैं, रुधिर एवं मांस श्वेत हो जाता है, शरीर की छाया नहीं पड़ती तथा शरीर में निगोद जीव नहीं रहते तभी वह परमौदारिक होता है।

—जै. ग. 20-11-75/V-VII/........

तीर्थंकरों के जन्म से पूर्व रत्नवृष्टि का कारण एवं उस धन-वर्षा से प्राप्त रत्नों का स्वामी कौन ?

शंका—तीर्थंकर के गर्भ में आने से ६ महीने पूर्व से ही उनके माता-पिता के गृहांगन में जो रत्नों की वर्षा होती है वह तीर्थंकर के पुण्य से होती है या उनके माता-पिताओं के पुण्य से ? रत्न मिलते हैं या नहीं ? यदि मिलते हैं तो किनको मिलते हैं ?

समाधान—तीर्थंकर के गर्भ में आने से ६ महीने पूर्व जो रत्नों की वर्षा होती है, वह गर्भकल्याणक का ही एक अङ्ग है। गर्भकल्याणक तीर्थंकर के पुण्य के उदय से होता है। कहा भी है—'महाभाग के स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतार लेने के ६ माह पूर्व से ही प्रतिदिन तीर्थंकर के पुण्य से कुबेर ने साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वृष्टि की।' **महापुराण पर्व ४८, श्लोक १८–२०।** रत्न मिलते थे। कहा भी है–'यह धन-वर्षा प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ प्रमाण होती थी और छोटे-बड़े किसी भी याचक के लिये उसे लेने की रोक-टोक न की जाती थी। सब लोग खुशी से उठा ले जाते थे।' **हरिवंशपुराण पर्व ३७, श्लोक १–३।** अथवा इन्द्र आदि अपनी भक्ति से गर्भ आदि कल्याणक मनाते हैं, जिस प्रकार जिनप्रतिमा की भक्ति करते हैं। इसमें तीर्थंकर या प्रतिमा का कर्मोदय कारण नहीं है।

—जै. सं. 19-3-59/V/भै. ला. जैन

तीर्थंकर-प्रतिमाओं के चिह्न कैसे नियत होते हैं ?

शंका—तीर्थंकर प्रतिमाओं के चिह्न कैसे नियत होते हैं ?

समाधान—यही प्रश्न श्री पं० भूधरदासजी के सामने उपस्थित हुआ था। उन्होंने निम्न गाथा के आधार पर यह समाधान किया था कि—तीर्थंकर के दाहिने पाँव में जो चिह्न जन्म समै होइ, सोई प्रतिमा के आसन विषै जानना। गाथा इस प्रकार है—

> जम्मणकाले जस्स दु दाहिण पायम्मि होइ जो चिन्हं।
> तं लक्खण पाउत्तं आगमसुत्तेसु जिणदेहं ॥

—जै. ग. 10-2-72/VII/क. च.

किसी भी तीर्थंकर की आयु पूर्व कोटि नहीं हुई

शंका—कोटि पूर्व की आयु तीर्थंकरों के होती है या चौथे काल में अन्य मनुष्यों के भी होती है ?

समाधान—इस हुंडावसर्पिणी काल में किसी भी तीर्थंकर की आयु एक कोटि पूर्व की नहीं हुई। श्री आदिनाथ तीर्थंकर की आयु ८४ लाख पूर्व की थी। चतुर्थकाल में उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व की होती है। यह आयु किसी भी मनुष्य की हो सकती है। तीर्थंकर का कोई नियम नहीं है।

—जै. ग. 27-7-69/VI/सु. प्र.

नाभिराय और मरुदेवी जुगलिया नहीं थे

शंका—नाभिराय और मरुदेवी युगलिया उत्पन्न हुए थे या अलग-अलग ?

समाधान—नाभिराय और मरुदेवी युगलिया नहीं उत्पन्न हुए थे। प्रसेनजित नामक तेरहवाँ कुलकर अकेला ही उत्पन्न हुआ था। नाभिराय तो १४ वें कुलकर थे। वे युगलिया कैसे उत्पन्न हो सकते थे। कहा भी है—

> एकमेवासृजत्पुत्रं प्रसेनजितमत्र सः।
> युग्मसृष्टेरिहैवोर्ध्व-मितो व्यपनिनीषया ॥१६६॥

—हरिवंशपुराण सर्ग-७

अर्थ—पहले यहाँ युगल संतान उत्पन्न होती थी, परन्तु इसके आगे युगल संतान की उत्पत्ति को दूर करने की इच्छा से ही मानो मरुदेव ने प्रसेनजित नामक अकेले पुत्र को उत्पन्न किया था, जो तेरहवाँ कुलकर था।*

—जै ग 24-7-67/VII/ज. प्र. म. कु.

---

* बात यह है कि अगला-अगला कुलकर अपने-अपने से पूर्व-पूर्व के कुलकर का पुत्र होता है। प्रसेनजित तेरहवें कुलकर थे। मरुदेव बारहवें कुलकर थे। राजा मरुदेव के राज्य से पहले पुत्र-पुत्री का जोड़ा पैदा होता था, परन्तु इसके जोड़ा न पैदा होकर तेरहवाँ कुलकर एक ही प्रसेनजित नामका पुत्र उत्पन्न हुआ सो उससे यह जाना जाता है कि अबसे युगलिया पैदा न होकर एक ही पुत्र या पुत्री उत्पन्न हुआ करेंगे। राजा मरुदेव ने पुत्र प्रसेनजित का किसी उत्तम कुल की कन्या के साथ विवाह कर दिया। राजा प्रसेनजित के पुत्र चौदहवें कुलकर नाभिराजा (अकेले) पैदा हुए। —सम्पादक

नारद चरमशरीरी नहीं होते

शंका—हरिवंशपुराण सर्ग ४२ में नारद को देशव्रत प्राप्त करने वाला तथा चरमशरीरी कहा है सो कैसे ?

समाधान—त्रिलोकसार और तिलोयपण्णत्ती में नारद नियम से नरक में जाता है ऐसा लिखा है। हरिवंशपुराण (ज्ञानपीठ) पृ० ५०५ के फुटनोट से स्पष्ट है कि श्लोक १३ व २२ में 'अन्त्यदेहस्य' के स्थान पर 'अत्यदेहस्य' पाठ होना चाहिये। लेखक की असावधानी के कारण 'अत्यदेहस्य' के स्थान पर 'अन्त्यदेहस्य' लिखा गया। 'अत्यदेहस्य' का अर्थ है काम-बाधा रहित जिसका शरीर हो। नारद पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं, अतः 'अत्य-देहस्य' विशेषण उचित है। नरकायु बन्ध से पूर्व देशव्रत होने में आगम से कोई विरोध नहीं आता है।

कलहप्पिया कदाइं धम्मरदा वासुदेवसमकाला।
भव्वा णिरयगदिं ते हिंसादोसेण गच्छंति ॥८३५॥ त्रिलोकसार

अर्थ—नारद कलहप्रिय होते हैं, कदाचित् धर्म विषै भी रत हैं, नारायणादि के समकालीन होते हैं, भव्य हैं, हिंसादोष के कारण नरक गति को प्राप्त होय हैं।

तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४ गाथा १४७० में भी 'अधोगया वासुदेवव्व' इन शब्दों के द्वारा यह कहा है कि वासुदेव के समान नारद भी अधोगति (नरक) को प्राप्त हुए।

—जै. ग 10-1-66/VIII/ज. प्र. म. कु.

नारद के आहार, आचरण, गति आदि का वर्णन

शंका—शास्त्रों में जो नारदों का वर्णन आता है वहाँ अब तक उनके आहार का वर्णन देखने में नहीं आता है सो क्या नारद-आहार करते हैं या नहीं ? और किस प्रकार ? तथा शास्त्रों में नारद को देशव्रती बतलाया है साथ में नरकगामी भी, अतः नारद सम्यग्दृष्टि होते हैं या मिथ्यादृष्टि ? तथा व नौ नारदों में एक को स्वर्गगामी बतलाया है सो किस आधार पर ?

समाधान—यद्यपि शास्त्रों में नारद के आहार का कथन नहीं मिलता है तथापि वे अन्नादि का आहार अवश्य करते थे।

त्रिलोकसार गाथा ८३५ में और तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४ गाथा १४७० में नारद को नरकगामी लिखा है। अर्थात्—वासुदेव के समकाल में नारद होते हैं जो भव्य होते हैं और कदाचित् धर्मरत होते हैं, किन्तु कलहप्रिय होते हैं। वे हिंसा-दोष के कारण नरक में जाते हैं।

हरिवंशपुराण सर्ग ४२ श्लोक २० में उन्हें देशसंयमी लिखा है।

नारदो बहु-विद्योऽसौ, नानाशास्त्रविशारदः।
संयमासंयमं लेभे, साधुः साधुनिषेवया ॥ २० ॥

अर्थ—नारद अनेक विद्याओं का ज्ञाता तथा नाना शास्त्रों में निपुण था। वह साधु के वेष में रहता था तथा साधुओं की सेवा से उसने संयमासंयम देशव्रत प्राप्त किया था।

श्री **तिलोयपण्णत्ती** और **हरिवंशपुराण** के कथनों में नारद के विषय में विभिन्नता पाई जाती है। वर्तमान में केवली–श्रुतकेवली का अभाव होने से यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों कथनों में से कौनसा कथन ठीक है। अतः दोनों कथनों का संग्रह करना चाहिये।

—जै. ग. 24-10-66/VI/ब्र. कृ.

नारायण व प्रतिनारायण के भी अनेक शरीर

शंका– जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने अनेक शरीर बना लेता है क्या नारायण व प्रतिनारायण भी अनेक शरीर बना सकते हैं ?

समाधान—नारायण व प्रतिनारायण को अर्धचक्री संज्ञा है। चक्रवर्ती की तरह वे भी अपने-अपने शरीर बना लेते हैं। चक्रवर्ती की अपेक्षा अर्ध चक्री के शरीरों की संख्या अल्प होती है।

—जै. ग. 11-7-66/IX/क. ब.

जिनके नीहार नहीं होता, उनके पसीना आदि भी नहीं होते

शंका—जिन मनुष्यों के आहार तो है किन्तु नीहार नहीं है उनके पसेव, कान का मैल, आंख का मैल भी होते हैं या नहीं ?

समाधान—तीर्थंकर आदि के आहार तो होता है किन्तु मल-मूत्र आदि नीहार नहीं होता है। उनके पसेव, कर्ण–मल, नेत्र–मल आदि भी नहीं होते हैं।

—जै. ग. 26-11-70/VII/ग. म. सोनी

नेमिनाथ के विहार के साथ-साथ लोकान्तिक देवों का गमन

शंका—हरिवंशपुराण सर्ग ५९ में लिखा है कि भगवान नेमिनाथ के विहार करते समय लोकान्तिक देव भी साथ–साथ चल रहे थे। ऐसा कैसे ? वे दीक्षा के समय ही आते हैं ?

समाधान—वहाँ पर लोकान्तिक देव से अभिप्राय लोकपाल देवों से है।

—जै. ग. 13-6-68/IX/र. ला. जैन

पुराणों में उल्लिखित कामविषयक वर्णन भी अश्लीलता की कोटि में नहीं आता

शंका—सुदर्शन चरित्र में सुदर्शन मुनि पर वेश्या द्वारा उपसर्ग के प्रसंग का कथन तथा अन्य अनेक पुराणों में काम-विषयक प्रसंगों के कथन 'अश्लीलता' की कोटि में क्यों नहीं ? ऐसे कथन बालक और किशोरों, बालिकाओं और किशोरियों के लिये पठनीय कैसे कहे जा सकते हैं ?

समाधान—सुदर्शन मुनि का चरित्र पढ़ने वालों को यह शिक्षा मिलती है कि कितना भी उपसर्ग आजाय हमको ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिये। जैसे वीरों का चरित्र पढ़ने से वीरता जागृत होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचारियों का चरित्र पढ़ने से मन में ब्रह्मचर्य की भावना जागृत होती है। कुशील सेवन करने से नरकगति आदि के दुःख भोगने पड़ते हैं। वह वेश्या के चरित्र से शिक्षा मिलती है। इसलिये सबको प्रथमानुयोग की स्वाध्याय करनी चाहिये।

—जै. ग. 19-12-66/VIII/र. ला. जैन

बाहुबली निःशल्य थे

शंका—क्या बाहुबली के शल्य थी, इसीलिये उनके सम्यक्त्व में कमी थी ?

समाधान—श्री बाहुबलीजी सर्वार्थसिद्धि से चय कर उत्पन्न हुए थे। कहा भी है—"आनन्द पुरोहित का जीव जो पहले महाबाहु था और फिर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वह वहाँ से च्युत होकर भगवान वृषभदेव की द्वितीय पत्नी सुनन्दा के बाहुबली नाम का पुत्र हुआ था।" **महापुराण पर्व १६ श्लोक ६**। जो जीव सर्वार्थसिद्धि से चय कर मनुष्य होता है वह नियम से सम्यग्दृष्टि होता है **धवल पु० ६ पृ० ५००**। अतः यह कहना कि श्री बाहुबली के सम्यक्त्व में कमी थी, ठीक नहीं है। तप के कारण श्री बाहुबली को सर्वावधि तथा विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होगया था। **महापुराण पर्व ३६ श्लोक १४७**। अतः श्री बाहुबली के शल्य नहीं था क्योंकि 'निःशल्यो व्रती ॥१८॥' ऐसा **मोक्षशास्त्र अध्याय सात** में कहा है। श्री बाहुबली के हृदय में विद्यमान रहता था कि 'भरतेश्वर मुझसे संक्लेश को प्राप्त हुआ है,' इसलिये भरतजी के पूजा करने पर उनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। **महापुराण पर्व ३६ श्लोक १८६**।

जै. ग. 25-4-63/IX/ब्र. प. ला.

(१) केवलज्ञान होते ही बाहुबली का उपसर्ग दूर हो गया था।
(२) केवलज्ञान होने पर छिन्न-भिन्न अंगोपांग भी पूर्ववत् पूर्ण हो जाते हैं।

शंका—क्या बाहुबली को केवलज्ञान होते ही लताएँ हट गई थीं। सिंह आदि के द्वारा यदि किसी मुनि का शरीर खाया गया हो अथवा बेड़ी आदि पड़ी हो या शरीर का कुछ भाग दग्ध हो गया हो, तो ऐसे मुनि को केवलज्ञान होते ही क्या वह शरीर पूर्ण हो जायगा ? शंका का तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान होने के पश्चात् उपसर्ग तो दूर हो ही जाता है, किन्तु उपसर्ग-काल में जो अंग-उपांग क्षीण हो गये थे, क्या वे भी पूर्ण हो जाते हैं।

समाधान—केवलज्ञान उत्पन्न होते ही शरीर परमौदारिक हो जाता है और जिनेन्द्र संज्ञा हो जाती है। उस शरीर के विषय में **श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार कलश २६** में इस प्रकार कहा है—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

इस श्लोक में जिनेन्द्ररूप अर्थात् जिनेन्द्र के शरीर का वर्णन करते हुए एक विशेषण "सर्वांगम्" दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिनेन्द्र का शरीर सर्वांग पूर्ण होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो सिद्धावस्था में भी आत्मप्रदेशों के आकार को अंगहीन होने का प्रसंग आजायगा, क्योंकि सिद्ध जीव का आकार चरमशरीर के आकार

से कुछ न्यून होता है। यदि उपसर्ग केवली के ही उस विवक्षित अंग की पूर्ति नहीं होती तो सिद्ध जीव के आकार में उस अंग की पूर्ति कैसे सम्भव होगी ? सिद्धों का आकार किंचित् ऊन चरम शरीर के आकार प्रमाण होता है, यह बात निम्नलिखित आर्ष ग्रन्थों से सिद्ध हो जाती है—

> **णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाण ओ दट्ठा।**
> **पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥ ५१॥ द्रव्यसंग्रह**

इस गाथा में सिद्धों के स्वरूप का वर्णन करते हुए सिद्धों को पुरिसायारो कहा है। जिसका अर्थ संस्कृत टीकाकार ने इसप्रकार किया है—**'किञ्चिदूनचरमशरीराकारेणगतसिक्थमूषगर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः'** अर्थात् सिद्धों का आकार अंतिम शरीर के आकार से कुछ कम होता है। मोमरहित मूष के बीच के आकारवत् अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के समान सिद्धों का आकार है।

> **णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।**
> **लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥ द्रव्यसंग्रह**

यहाँ **'सिद्धा चरमदेहदो किंचूणा'** से भी यही कहा गया है कि सिद्धों का आकार चरमशरीर के आकार से कुछ ऊन (न्यून) होता है।

> **गव्यूतस्तत्र चोर्ध्वायास्तुर्ये भागे व्यवस्थिताः।**
> **अन्त्यकायप्रमाणात्तु किंचित्संकुचितात्मकाः ॥११/६ लोकविभाग**

यहाँ पर भी 'अन्त्यकायप्रमाणात्तु' द्वारा यह कहा गया है कि अंतिम शरीर के आकार के प्रमाण से कुछ संकुचित (हीन) आकार सिद्धात्मा का होता है।

इन आर्ष ग्रन्थों के आधार से यह सिद्ध हो जाता है कि केवलज्ञान होने पर परमौदारिक शरीर में सर्व अंगोपांग पूर्ण हो जाते हैं और उसी के आकाररूप सिद्धों का आकार होता है। [केवलज्ञान होने पर बाहुबली की लताएँ हट गई थीं, क्योंकि केवलज्ञान अवस्था में उपसर्ग नहीं रहता।]

— ज० ला० जैन, भीण्डर; पत्र-सत्र 77-78

भद्रबाहु आचार्य श्रुतकेवली थे। गणधर भी सकलश्रुतज्ञ होते हैं।

शंका—क्या भद्रबाहु आचार्य श्रुतकेवली हुए ? क्या उनको द्वादशांग का ज्ञान था ? द्वादशांग का ज्ञान तो गणधर को ही होता है, किन्तु वे श्रुतकेवली नहीं कहलाते ?

समाधान—श्री महावीर भगवान के निर्वाण को प्राप्त होने पर ६२ वर्ष तक केवलज्ञानी भरत क्षेत्र में रहे। तदनन्तर श्री विष्णु आचार्य सकल श्रुतज्ञान के धारण करने वाले हुए। पश्चात् अविच्छिन्न सन्तान स्वरूप से श्री नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु आचार्य सकल श्रुत के धारक अर्थात् श्रुतकेवली हुए। श्री भद्रबाहु भट्टारक के स्वर्ग को प्राप्त होने पर भरत क्षेत्र में श्रुतज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्र अस्तमित हो गया। कहा भी है—

"एवं महावीरे णिव्वाणं गदे बासट्ठि वरसेहि केवलणाण दिवायरो भरहम्मि अत्थमिदि णवरि तक्काले सयलसुदणाणसंताणहरो विण्हुआइरियो जादो तदो अवुट्टुसंताणरूवेण णंदि आइरिओ अवराइदो गोवद्धणो भद्दबाहु त्ति एदे सकलसुदधारया जादा। एदेसिं पंचण्हं पि सुदकेवलीणं कालसमासो वस्ससदं तदो भद्दबाहु भडारए सग्गं गदे संते भरहक्खेत्तम्मि अथमिओ सुदणाण-संपुण्ण-मियंको।" धवल पु० ९ पृ० १३०।

इससे सिद्ध है कि भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे और उनको पूर्ण श्रुत अर्थात् द्वादशांग का ज्ञान था।

गणधर तो द्वादशांग की रचना करते हैं। द्वादशांग के ज्ञान बिना द्वादशांग की रचना नहीं हो सकती, अतः गणधर महाराज को द्वादशांग का ज्ञान भी होता है। कहा भी है—

विमले गोयमगोत्ते जादेण इंदभूदिणामेण।
चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्ध सीलेण ॥१-७८॥

भावसुद पज्जयेहिं परिणदमयिणा बारसंगाणं।
चोद्दसपुव्वाण तहा एक्क-मुहुत्तेण विरचणा विहिदा ॥१-७९॥ ति. प.

निर्मल गौतम गोत्र में उत्पन्न हुए, प्रथमानुयोग–करणानुयोग–चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चारों वेदों में पारंगत विशुद्ध शील के धारक, भावश्रुत में परिपक्व ऐसे इन्द्रभूति (गौतम-गणधर) द्वारा एक मुहूर्त में बारह अंग और चौदह पूर्वों की रचना की गई। इसीप्रकार धवल पु० ९ पृ० १२९ पर भी कथन है।

इसप्रकार गणधर भी श्रुतकेवली होते हैं। किन्तु श्रुतकेवली से गणधर का स्थान ऊँचा है, अतः वे गणधर के नाम से प्रसिद्ध हैं।

—जै. ग. 16-2-78/VI/ब्रा. स. जैनपुरी

"भरत ने चक्र नहीं चलाया", यह कथन मिथ्या है।

शंका—भरतजी ने चक्र नहीं चलाया ऐसा 'भरतेशवैभव' में कहा है। क्या यह ठीक है ?

समाधान—श्री १००८ वीरसेन स्वामी के शिष्य एवं महान् ग्रन्थ जयधवल टीका के रचयिता श्री १०८ जिनसेन आचार्य ने महापुराण पर्व ३६ में निम्नप्रकार कहा है। यह महापुराण ग्रन्थ प्रामाणिक है, इसमें एक शब्द भी श्री वीरसेन स्वामी के शिष्य श्री जिनसेन स्वामी अपनी कल्पना के आधार पर नहीं लिख सकते थे, क्योंकि श्री वीरसेन स्वामी ने धवल ग्रन्थ में कई स्थलों पर स्पष्ट लिखा है कि इस सम्बन्ध में उपदेश प्राप्त नहीं है अतः इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। श्री जिनसेन आचार्य ने जो कुछ भी महापुराण में लिखा है वह आचार्य परम्परागत उपदेश अनुसार लिखा है। श्री जिनसेन आचार्य सत्यमहाव्रत के धारी थे तथा वीतरागी थे, फिर वे महापुराण में अन्यथा कथन क्यों करते। अतः महापुराण प्रामाणिक ग्रन्थ है। जो महापुराण के कथन में संदेह करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। षट्प्राभृत संग्रह पृ० ३।

क्रोधान्धेन तदा दध्ये कर्तुमस्य पराजयम्।
चक्रमुत्क्षिप्तनिःशेषद्विषच्चक्रं निधीशिना ॥६५॥

आध्यानमात्रमेत्याराद् अदः कृत्वा प्रदक्षिणाम्।
अवध्यस्यास्य पर्यन्तं तस्थौ मन्दीकृतातपम् ॥६६॥ म० पु० पर्व ३६

अर्थ—उस समय क्रोध से अन्धे हुए निधियों के स्वामी भरत ने बाहुबली का पराजय करने के लिये समस्त शत्रुओं के समूह को उखाड़ कर फेंकने वाले चक्ररत्न का स्मरण किया। स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरत के समीप आया भरत ने बाहुबली पर चलाया, परन्तु उनके अवध्य होने से वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेज-रहित हो उन्हीं के पास ठहरा।

इन आर्ष वाक्यों से सिद्ध है कि भरतजी ने क्रोध के आवेश में आकर बाहुबली पर चक्र चलाया। यह कथन प्रामाणिक है, इसी की श्रद्धा करनी चाहिये।

—जै. ग. 12-8-65/V/ब्र. कु. ला.

भरत व कैकेयी को परम व निर्मल सम्यक्त्व कब हुआ ?

शंका—पद्मपुराण पर्व ८६ श्लोक ९ में लिखा है कि 'भरत ने परम सम्यक्त्व को पाकर महाव्रत को धारण किया।' इसीप्रकार श्लोक २४ में लिखा है—'निर्मल सम्यक्त्व को धारण करती हुई कैकेयी ने आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण की।' क्या इससे पूर्व भरत और कैकेयी को सम्यक्त्व नहीं था ?

समाधान—श्री भरतजी को तथा उनकी माता कैकेयी को दीक्षा ग्रहण से पूर्व भी सम्यक्त्व था किन्तु वह सम्यक्त्व परम या निर्मल नहीं था, क्योंकि जब तक श्रद्धा के अनुकूल आचरण नहीं होता, उस समय तक श्रद्धा निर्मल अथवा परम कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती।

जो मनुष्य परिग्रह को सब पापों का मूल तथा संसार व रागद्वेष का कारण मानता है फिर भी परिग्रह का त्याग नहीं करता तो उसकी श्रद्धा कैसे निर्मल या परम हो सकती है ? जिस मनुष्य को यह श्रद्धा हो जाती है कि अग्नि में हाथ देने से हाथ जल जायगा, वह मनुष्य भूलकर भी अग्नि में हाथ नहीं देता है। यदि वह अग्नि में हाथ डालता है तो उसकी श्रद्धा दृढ़ नहीं है। जो मनुष्य ज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी जैसी क्रिया करता है, तो वह कैसा ज्ञानी ? इसीलिये श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक में कहा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं।

अर्थात्—ज्ञान के अनुरूप यदि क्रिया नहीं है, तो ऐसा क्रियारहित ज्ञान निरर्थक है।

श्री कुंदकुंद आचार्य ने भी इसी बात को **शीलपाहुड़** में निम्नप्रकार कहा है—

णाणं चरित्तहीणं णिरत्थयं सव्वं।

अर्थ—ज्ञान यदि चारित्र रहित है तो वह सब ज्ञान व्यर्थ है। दीक्षा ग्रहण करने से ज्ञान और श्रद्धान के अनुरूप चारित्र हो जाने से ज्ञान-श्रद्धान सार्थक हो गया, अतः सम्यक्त्व निर्मल तथा परम हो गया।

—जै. ग. 17-4-69/VII/र. ला. जैन

(१) भरत चक्रवर्ती के दीक्षागुरु का आगम में उल्लेख नहीं मिलता।
(२) बलदेव ने स्वयं (बिना गुरु के) दीक्षा ग्रहण करली।

शंका—श्री भरत चक्रवर्ती ने दीक्षा किससे ली थी ? तीर्थंकरों के अतिरिक्त क्या अन्य जन भी स्वयं मुनि-दीक्षा ले सकते हैं ?

समाधान—श्री भरत चक्रवर्ती की दीक्षा का कथन निम्न प्रकार है—

विदितसकलतत्त्वः सोऽपवर्गस्य मार्गं।
जिगमिषुरयसत्त्वैर्दुर्गमं निष्प्रयासम् ॥
यमसमितिसमग्रं संयमं सम्बलं वा।
उदितविदितसमर्थाः किं परं प्रार्थयन्ते ॥४७/३९४॥ आदिपुराण

अर्थ—जिसने समस्त तत्त्वों को जान लिया है और जो हीन जीवों के द्वारा अगम्य मोक्षमार्ग में गमन करना चाहते हैं ऐसे चक्रवर्ती भरत ने मार्ग हितकारी भोजन के समान प्रयासहीन यम तथा समितियों से पूर्ण संयम को धारण किया था सो ठीक ही है, क्योंकि पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझने वाले पुरुष संयम के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की प्रार्थना नहीं करते।

यहाँ पर यह कथन नहीं किया गया कि भरत चक्रवर्ती ने स्वयं दीक्षा ली थी या किसी अन्य से दीक्षा ली थी। जिस समय तक आर्षग्रंथ में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख न मिल जावे उस समय तक ठीक-ठीक उत्तर दिया जाना असम्भव है।

श्रीकृष्णजी के भाई बलदेव ने स्वयं दीक्षा ली थी। कहा भी है—

पल्लवस्थजिननाथशिष्यतां संसृतोऽस्म्यहमिह स्थितोऽपि सन्।
इत्युदीर्य जगृहे मुनिस्थितिं पंचमुष्टिभिरपास्य मूर्धजान् ॥६३/७४॥ हरिवंशपुराण

अर्थ—बलदेव ने, 'मैं यहाँ रहता हुआ भी पल्लव देश में स्थित श्री नेमिजिनेन्द्र की शिष्यता को प्राप्त हुआ हूँ' यह कहकर पंच मुष्टियों से सिर के बाल उखाड़ कर मुनि-दीक्षा धारण करली।

इस प्रकार तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य महान् पुरुष भी परोक्ष रूप से अन्य को गुरु मानकर स्वयं दीक्षा ले सकते हैं।

—जै. ग. 27-5-71/VII/र. ला. जैन

मारीचि को सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं ?

शंका—भरत के पुत्र मारीचि को उसी भव में सम्यक्त्व हुआ था या नहीं ?

समाधान—भरत के पुत्र मारीचि को उसी भव में सम्यक्त्व हुआ था या नहीं, ऐसा कथन आर्ष ग्रन्थ में मेरे देखने में नहीं आया। सम्यक्त्व से च्युत होकर सातवें नरक की आयु बाँध कर सातवें नरक में उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं आती है।

—पत्राचार/ब. प्र. स./१८-६-६९

मरुदेवी का जन्मक्षेत्र

शंका—नाभिराय और मरुदेवी की शादी हुई तो क्या मरुदेवी का जन्म ऐरावत क्षेत्र में हुआ था ?

समाधान—आर्ष ग्रन्थ में ऐसा कथन मेरे देखने में नहीं आया है। आर्ष ग्रन्थ के आधार बिना यह नहीं कहा जा सकता कि मरुदेवी का जन्म ऐरावत क्षेत्र में हुआ था।

—जै. ग. 17-7-67/VI/ज. प्र. म. कु.

मरुदेवी आदि रजस्वला नहीं होती थीं

शंका—तीर्थंकर भगवान की माता क्या रजस्वला होती है ?

समाधान—श्री तीर्थंकर भगवान की माता रजस्वला नहीं होती है किन्तु पुष्पवती होती है। **श्री महापुराण पर्व १२ श्लोक १०१** में 'पुष्पवत्यरजस्वला' शब्दों द्वारा कहा गया है कि श्रीमती मरुदेवी रजस्वला न होकर पुष्पवती थी।

—जै. ग. 29-3-65/IX/ब्र. प. ला.

पाँखुड़ी लेकर भगवान् के दर्शनार्थ जाने वाला मेंढ़क समकिती था या नहीं ?

शंका—मेंढ़क संज्ञी होते हैं या असंज्ञी ? वह भगवान् के दर्शन को कैसे चला ? वह मेंढ़क सम्यग्दृष्टि था या मिथ्यादृष्टि ?

समाधान मेंढक संज्ञी भी होते हैं और असंज्ञी भी। भगवान के दर्शन को जाने वाला मेंढ़क संज्ञी था। यदि उसके दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम या क्षयोपशम था तो वह सम्यग्दृष्टि था अन्यथा मिथ्यादृष्टि।

—जै. सं. 8-8-57/........

रुद्र उत्सर्पिणी काल में भी होते हैं

शंका—बृहत् जैन शब्दार्णव भाग १ पृष्ठ ११७ पर लिखा है—'आगामी उत्सर्पिणी काल के तृतीय भाग "दुःखम सुखम" नामक में होने वाले ११ रुद्रों में से अन्तिम रुद्र का नाम अङ्गज है।' इससे ज्ञात होता है कि उत्सर्पिणी काल में भी हुण्डक काल दोष होता है, क्योंकि ११ रुद्र हुण्डककाल में ही उत्पन्न होते हैं। क्या बृहत् जैन शब्दार्णव का उक्त लेख आगमानुकूल है ?

समाधान—**बृहत् जैन शब्दार्णव** के लिखने में स्वर्गीय पं० बिहारीलाल जैन ने बहुत परिश्रम किया और यथासंभव प्रमाण भी दिये हैं। **बृहत् जैन शब्दार्णव** में जो उपर्युक्त कथन लिखा गया है वह भी '**बृहत्विश्वचरितार्णव**' के आधार से लिखा गया है। यह '**बृहत् विश्व चरितार्णव**' आचार्य रचित ग्रन्थ नहीं है। '**तिलोयपण्णत्ती**' दिगम्बर जैन आचार्य रचित प्रामाणिक ग्रन्थ है। तिलोयपण्णत्ती में केवल हुंडा अवसर्पिणी लिखी है, हुण्डक उत्सर्पिणी नहीं लिखी है। हुण्डावसर्पिणी काल के चिह्नों में ११ रुद्रों की उत्पत्ति भी लिखी है। पर उत्सर्पिणी काल में भी ग्यारह रुद्र होगे और उनमें अंतिम अंगज होगा; ऐसा **हरिवंशपुराण ६०/५७२–७३** में भी लिखा है। इस तरह दो मत हैं।

—जै. सं. 25-12-58/V/घ. म. के. च. मुजफ्फरनगर

विदेह में धनरथ तीर्थंकर

शंका—शान्तिनाथ पुराण में लिखा है कि धनरथ विदेह क्षेत्र में तीर्थंकर हुए हैं, किन्तु सीमन्धर आदि बीस तीर्थंकरों के नाम में धनरथ नाम का कोई तीर्थंकर नहीं है।

समाधान—श्री सीमन्धर आदि जो बीस नाम हैं वे शाश्वत तीर्थंकरों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त १४० अन्य तीर्थंकर विदेह क्षेत्र में होते हैं किन्तु वे शाश्वत नहीं होते हैं। उन १४० में से धनरथ नाम के तीर्थंकर होना संभव है।

—जै. ग. 8-8-68/VI/रो. ला.

शलाका पुरुषों की संख्या ५८ ही कैसे हुई ?

शंका—पं० भूधरदासजी कृत पार्श्वपुराण में ६३ शलाका पुरुषों में से ५८ जन चतुर्थकाल में हुए सो कैसे ?

समाधान—श्री १०८ ऋषभनाथ भगवान तो तीसरे काल में ही मोक्ष पधारे। श्री शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ ये तीनों तीर्थंकर भी थे और चक्रवर्ती भी थे सो तीन ये कम हुए। श्री महावीर स्वामी का जीव ही प्रथम नारायण था, अतः एक यह कम हुआ। इस प्रकार चतुर्थकाल में शलाका पुरुष ५८ जन हुए। **पार्श्वपुराण। अधि० ८। पद्य ४०।**

—जै. सं. 1-1-59/V/मु. ला. जैन, हीरापुर

श्रेणिक का अकालमरण नहीं हुआ

शंका—क्षायिक सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक का अकालमरण हुआ या कालमरण ?

समाधान - राजा श्रेणिक का कालमरण हुआ क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन से पूर्व उन्होंने नरकायु का बंध कर लिया था। जो परभव संबंधी आयु का बंध कर लेता है, उसका अकालमरण नहीं होता है। कहा भी है—परभव संबंधी आयुबंध हो जाने के बाद भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता। **धवल १० पृ० २३७, ३३२, २५६ आदि।**

—जै. ग. 24-7-67/VII/ज. प्र. म. कु.

श्रेणिक सम्यक्त्व को साथ लेकर नरक में गये

शंका—चौथे गुणस्थान वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक जब नरक में गया तो क्या वह सम्यक्त्व से च्युत हो गया था ?

समाधान— मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ और चार अनन्तानुबन्धी कषाय ये सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन की घातक हैं। इन सातों प्रकृतियों के क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। जिन प्रकृतियों का क्षय हो जाता है, उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। कहा भी है—

ण खविदाणं पुणरुप्पत्ती, णिव्वुआणं पि पुणो संसारित्तप्पसंगादो। जयधवल पु० ५ पृ० २०७।

अर्थ—क्षय को प्राप्त हुई प्रकृतियों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो मुक्त हुए जीवों को पुनः संसारी होने का प्रसंग उपस्थित होगा।

मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उदय बिना जीव सम्यक्त्व से च्युत नहीं हो सकता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता है। कहा भी है—

सम्मत्तेण अधिगदा सम्मत्तेण चेव णीति ॥४७॥ कुदो। तत्थुप्पज्जमाणखइयसम्माइट्ठीण कदकरणिज्जवेदगसम्माइट्ठीणं वा गुणंतरसंकमणा भाव। धवल ६/४३८।

अर्थ—सम्यक्त्व सहित नरक में जाने वाले जीव सम्यक्त्व सहित ही वहाँ से निकलते हैं ॥४७॥ क्योंकि, नरक में क्षायिक सम्यग्दृष्टि या कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं और उनका अन्य गुण (मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व में) संक्रमण नहीं होता अर्थात् वे सम्यक्त्व से च्युत नहीं होते हैं।

अतः राजा श्रेणिक का नरक में उत्पन्न होने के समय सम्यग्दर्शन नहीं छूटा, क्योंकि वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि था और क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने के पश्चात् कभी नहीं छूटता।

—जै. ग. 26-11-70/VII/आ. स., रैवाड़ी

सगर के ६० हजार पुत्र मरे या मूर्च्छित हुए ?

शंका—सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र खाई खोदते मरण को प्राप्त हुए थे या मात्र मूर्च्छित हुए थे ?

समाधान—इस सम्बन्ध में **उत्तरपुराण** व **पद्मपुराण** में भिन्न-भिन्न कथन पाया जाता है। दोनों ही महानाचार्य थे। इन दोनों कथनों में से कौनसा कथन ठीक है, यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यहाँ पर वर्तमान में केवली या श्रुतकेवली का अभाव है। अतः उन दोनों कथनों का उल्लेख किया जाता है।

उत्तरपुराण पर्व ४८ के अनुसार सगर चक्रवर्ती के मित्र मणिकेतुदेव सगर को वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये, नाग का रूप धरकर कैलाश पर्वत पर आया और सगर के पुत्रों को भस्म की राशि के समान कर दिया। जब पुत्रों के मरण के समाचार से सगर ने दीक्षा ले ली तो मणिकेतुदेव ने मायामयी भस्म से अवगुण्ठित राजकुमारों को सचेत कर दिया और उन्होंने भी दीक्षा ले ली।

पद्मपुराण पंचम पर्व के अनुसार सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने दण्डरत्न से पाताल तक गहरी पृथ्वी खोद डाली यह देख नागेन्द्र ने क्रोध से प्रज्वलित हो उन राजकुमारों की ओर देखा और उस क्रोधाग्नि की ज्वालाओं से वे चक्रवर्ती के पुत्र भस्मीभूत हो गये। **श्लोक २५१-२५२।**

उत्तरपुराण के कथनानुसार सगर चक्रवर्ती के पुत्र मूर्च्छित हुए थे और **पद्मपुराण** के कथनानुसार वे मरण को प्राप्त हुए थे।

—जै. ग. 27-6-66/IX/हे. च.

समन्तभद्र स्वामी की भावि गति

शंका—पंचमकाल में जघन्य तीन संहनन बतलाये हैं। अर्द्ध नाराच संहननवाला १६ वें स्वर्ग तक जा सकता है। श्री समन्तभद्र आचार्य कौनसे स्वर्ग में गये ? क्या वे आगामी तीर्थंकर होंगे ?

समाधान—**कर्म प्रकृति ग्रन्थ गाथा ८९ 'चउत्थे पंचम छट्ठे कमसो तियछत्तिगेक्क संहणणं।'** द्वारा यह बतलाया है कि चौथे काल में छह संहनन, पंचम काल में तीन संहनन और छठे काल में अन्तिम एक संहनन होगा। **गाथा ८३** में इन संहननों का कार्य बतलाया है।

सेवट्टेण य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलो त्ति।
तत्तो दुजगल-जुगले कीलियणारायणद्धोत्ति ॥८३॥

अर्थ—सृपाटिका संहनन वाला जीव आठवें स्वर्ग तक, कीलक संहनन वाला १२ वें स्वर्ग तक एवं अर्धनाराच संहननवाला १६ वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है।

श्री १०८ समन्तभद्र आचार्य किस स्वर्ग में गये और आगामी तीर्थंकर होंगे, ऐसा कथन किसी आर्ष ग्रन्थ में मेरे देखने में नहीं आया है।[1]

—जै. ग. 10-1-66/XI/ज. प्र. म. कु.

सीता का जीव प्रतीन्द्र सम्बोधनार्थ नरक में नहीं गया

शंका—परमपूज्य प्रभाचन्द्राचार्य विरचित 'तत्त्वार्थवृत्तिपदम्' पृष्ठ ३८८ [पं० फूलचन्द्रजी सि० शास्त्री का सम्पादन-स० सि० के पृष्ठ] पर लिखा है कि 'अष्टावपि कुतो नेति नाराकूनीयम् शुक्ललेश्यानामधोविहाराभावात्' "अर्थात्—शुक्ललेश्या वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि देवों के विहार की अपेक्षा ८ राजू नहीं बनते, क्योंकि शुक्ललेश्या वाले देवों का नीचे [चित्रा पृथिवी के नीचे] विहार नहीं होता" यही बात धवल पु० ४ स्पर्शनानुगम में एवं ध० ७ खुद्दाबन्ध में है। फिर शुक्ल लेश्या वाला, सोलहवें स्वर्ग में स्थित सीता का जीव देव नीचे रावण को सम्बोधन करने कैसे गया था ? यदि सिद्धान्तानुसार नहीं गया तो प्रथमानुयोग में ऐसा कथन क्यों किया गया है ? यदि गया तो क्या सिद्धान्त भी औपचारिक होते हैं ? यदि हाँ, तो फिर वस्तुस्थिति का सम्प्रदर्शक कौन बचेगा ?

समाधान—आपकी शंका ठीक है। करणानुयोग के अनुसार सीता का जीव लक्ष्मण व रावण को सम्बोधन देने हेतु नरक में नहीं गया। प्रथमानुयोग में जो कथन है वह सम्बोधनात्मक है, अथवा मनुष्यों को उनके कर्तव्य बताने के लिए है। वह सिद्धान्तरूप नहीं होता। लक्ष्मण व रावण चतुर्थ नरक में गये हैं। (**त्रिलोकसार व तिलोयपण्णत्ती**) बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव चित्रा पृथ्वी से नीचे नहीं जाते (**धवल० पु० ४, स्पर्शनानुगम**) तथा चतुर्थ नरक में कोई भी देव नहीं जाता।

"रावण के जीव ने सीता के जीव के प्रति बहुत अन्याय किया था। फिर भी सीता का जीव रावण के जीव का उपकार करने हेतु नरक में गया।" इतना कहकर यह उपदेश मात्र दिया गया है कि कोई कितना भी अपकार करे, किन्तु हमें उसका उपकार ही करना चाहिए।

वस्तुतः सिद्धान्त के अनुसार सीता का जीव (देव) नरक में नहीं गया।

—पत्र 15-6-79 एवं 16-6-79/I,I/ज. ला. जैन, भीण्डर

---

१ राजा वलिकथे ने कन्नड़ ग्रन्थ मे समन्तभद्र स्वामी को तपस्या द्वारा चारणऋद्धिधारी बताते हुए उन्हें आगामी तीर्थंकर कहा है। यथा—आ भावि तीर्थंकरन अप्प समन्तभद्रस्वामी गलुपुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदि चतुरंगुल-चारणत्वमं पडे दु रत्नकरण्डकादि जिनागमपुराणम पेल्लि स्याद्वाद वादिगल आदी समाधिय ओडेदरू। (समीचीन धर्मशास्त्र, प्रस्ता० पृ० ५०)

भावितीर्थंकरत्व के विषय में एक और उल्लेख है यथा—

अट्ठ हरी णव पडिहरि चक्कि-चउक्कं च एय बलभद्दो,
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण।

अर्थ—आठ नारायण, नव प्रतिनारायण, चार चक्रवर्ती, एक बलभद्र, श्रेणिक तथा समन्तभद्र, ये चौबीस महापुरुष आगे भी तीर्थंकर होंगे। आप्तमीमांसा, प्रस्ता० पृ० ५, भाषाकार-पं० मूलचंदजी शास्त्री (श्री महावीरजी)

— सम्पादक

त्रिलोकमण्डन हाथी का क्रियाकलाप एवं मोक्षमार्ग में प्रवेश

शंका—पद्मपुराण पर्व ८७ श्लोक २ में त्रिलोकमण्डन हाथी को सम्यक्त्व से युक्त कहा है इससे पूर्व सम्यक्त्व था या नहीं ?

समाधान—पद्मपुराण पर्व ८५ श्लोक १७३ में कहा है—

> **प्रमृद्य बन्धनस्तम्भं बलवानुद्धतः परम् ।**
> **भरतालोकनात् स्मृत्वा पूर्वजन्म शमं गतः ॥८५॥१७३॥ पद्मपुराण**

अर्थ—अत्यन्त उत्कट बल को धारण करने वाला यह त्रिलोक मण्डन हाथी पहले तो बन्धन का खम्भा उखाड़ कर क्षोभ को प्राप्त हुआ परन्तु बाद में भरत को देखने से पूर्वभव का स्मरण कर शांत हो गया। पूर्वभव का स्मरण भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण है। कहा भी है—

"साधनं द्विविधं, अभ्यन्तरं बाह्यं च। अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। बाह्यं तिरश्चां केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषाञ्चिज्जिनबिम्बदर्शनम्।" सर्वार्थसिद्धि १।७।

अर्थ—सम्यग्दर्शन का साधन दो प्रकार का है—अभ्यन्तर और बाह्य। दर्शनमोहनीय का उपशम क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। तिर्यंचों में बाह्य साधन किन्हीं के जातिस्मरण से, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के जिन बिम्ब दर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

अतः जातिस्मरण के पश्चात् त्रिलोकमण्डन हाथी को सम्यक्त्वोत्पत्ति होना सम्भव है। मुनि महाराज के उपदेश से त्रिलोकमण्डन हाथी ने देशव्रत धारण कर लिये। कहा भी है—

> **अथ साधुः प्रशान्तात्मा लोकत्रयविभूषणः ।**
> **अणुव्रतानि मुनिना विधिना परिलम्भितः ॥८७।१॥ पद्मपुराण**

अथानन्तर जिसकी आत्मा अत्यन्त शान्त थी ऐसे उस त्रिलोकमण्डन हाथी को मुनिराज ने विधिपूर्वक अणुव्रत धारण कराया। इससे सिद्ध है कि हाथी को इससे पूर्व सम्यग्दर्शन प्राप्त था।

—जै. ग. 17-4-69/VII/र. ला. जैन मेरठ

करणानुयोग : गुणस्थान चर्चा

गुणस्थानों में आरोहण-अवरोहण सम्बन्धी नियम

शंका—मिथ्यात्व गुणस्थान से जीव सीधा किस-किस गुणस्थान तक जा सकता है ?

समाधान—मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों की सत्त्ववाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थान से तीसरे, चौथे, पाँचवें व सातवें गुणस्थान को जा सकता है किन्तु अनादि मिथ्यादृष्टि जीव या मोहनीय की २६ या २७ प्रकृतियों की सत्त्ववाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान को नहीं जा सकता। **'चर्चाशतक'** में कहा भी है—**"मिथ्या मारग च्यारि, तीनि चउ पाँच सात भनि।"**

—जै. ग. 10-1-57/VI/दि. जै. स. एतमादपुर

शंका—चढ़ते हुए प्रथम गुणस्थान से, चौथे गुणस्थान से या पाँचवें गुणस्थान से सातवाँ ही गुणस्थान होता है, या छठा गुणस्थान होकर सातवाँ भी हो सकता है ?

समाधान—प्रथम गुणस्थान से, चतुर्थ गुणस्थान से या पंचम गुणस्थान से चढ़ते हुए छठा गुणस्थान नहीं होता, किन्तु सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान होता है। **प्राकृत के पंचसंग्रह पृ० १९४ गाथा २५५** की टीका में कहा है—

"अनादिः सादिर्वा मिथ्यादृष्टिः करणत्रयं कुर्वन्ननिवृत्तिकरण लब्धि करण चरमसमये द्वाविंशतिकं बध्नन् अनन्तर समये प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा, वा सादिमिथ्यादृष्टिरेव सम्यक्त्वप्रकृत्युदये सति वेदकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा भूयोऽप्य प्रत्याख्यानोदयेऽसंयतो भूत्वा सप्तदशकं १७ बध्नाति, वा प्रत्याख्यानोदये देशसंयतो भूत्वा त्रयोदशकं १३ बध्नाति, वा संज्वलनोदयेऽप्रमत्तो भूत्वा नवकं ९ बध्नातीति द्वाविंशतिके त्रयोऽल्पतर बन्धाः।"

अनादि मिथ्यादृष्टि या सादि मिथ्यादृष्टि अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण करके अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में २२ प्रकृति का बंध करने वाला अनन्तर समय में प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि होकर अथवा सादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि होकर, अप्रत्याख्यानावरण-कषायोदय से असंयत सम्यग्दृष्टि होता हुआ १७ प्रकृति का बंध करता है या प्रत्याख्यानावरणकषायोदय से देशसंयत होता हुआ १३ प्रकृतियों का बंध करता है या संज्वलनकषायोदय से अप्रमत्त होता हुआ ९ प्रकृतियों का बंध करता है।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि होकर या तो चौथे गुणस्थान में जाता है या पाँचवें गुणस्थान में जाता है या सातवें गुणस्थान में जाता है।

इसी बात को श्री पं० द्यानतराय ने चर्चाशतक में इसप्रकार कहा है—

> मिथ्या मारग च्यारि, तीनि चउ पाँच सात भनि।
> दुतिय एक मिथ्यात, तृतिय चौथा पहला गनि॥
> अव्रत मारग पाँच, तीनि दो एक सात पन।
> पंचम पंच सुसात, चार तिय दोय एक भन॥

अर्थ—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से ऊपर चढ़ने के चार मार्ग हैं। कोई जीव मिथ्यात्व से तीसरे गुणस्थान में जाता है, कोई चौथे गुणस्थान में, कोई पाँचवें में और कोई एकदम सातवें में जाता है। दूसरे सासादन गुणस्थान से एक मिथ्यात्व गुणस्थान में ही जाता है। तीसरे गुणस्थान से यदि ऊपर चढ़ता है तो चौथे गुणस्थान में जाता है और यदि नीचे पड़ता है तो पहले में आकर पड़ता है। चौथे अव्रत सम्यग्दृष्टि से नीचे पड़ता है तो तीसरे, दूसरे, पहले में पड़ता है यदि ऊपर चढ़ता है तो पाँचवें व सातवें गुणस्थान में जाता है। पाँचवें गुणस्थान से ऊपर सातवें गुणस्थान में चढ़ता है, नीचे गिरता है तो चौथे, तीसरे, दूसरे और पहले गुणस्थान में जाता है। **गो० क० ५५६ से ५५९ भी देखो।**

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि चढ़ते हुए छठा गुणस्थान नहीं होता है।

—जै. ग. 4-9-69/VII/ब्रि. प. जैन

अभिन्नदसपूर्वधर मिथ्यात्व में नहीं जाता

शंका—क्या अभिन्नदसपूर्वधारी मिथ्यात्व गुणस्थान में नहीं जा सकता ?

समाधान—इसके लिए **धवल पु० ९ पृ० ६९, ७० व ७१** देखना चाहिए। १४ पूर्वधारी के लिए तो स्पष्टरूप से लिखा है, किन्तु पृष्ठ ६९–७० के पढ़ने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभिन्नदशपूर्वधर भी मिथ्यात्व में नहीं जाते।

—पत्र 9-10-80/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

क्षायिक सम्यक्त्वी श्रेण्यारूढ़ संयमी असंयम के गुणस्थानों को नहीं प्राप्त होते

शंका—"जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज उपशम श्रेणी चढ़कर उतरे वे छठे गुणस्थान से नीचे नहीं आते।" हमने एक मुनिराज श्री के मुख से ऐसा सुना है। क्या यह सिद्धान्ततः ठीक है ?

समाधान—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उपशम श्रेणी से गिरकर असंयत अवस्था को नहीं प्राप्त होता है; किन्तु मरण होने पर असंयत हो जाता है।

—पत्र 5-6-79/I/ज. ला. जैन भीण्डर

उपशान्त कषाय से सासादन की प्राप्ति में दो मत, परन्तु सासादन मिथ्यात्वी ही बनेगा

शंका—उपशांत मोह से गिरकर क्या सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है ? यदि प्राप्त होता है तो वह सासादन से मिथ्यात्व को प्राप्त होता है या अन्य गुणस्थान को भी जा सकता है ?

समाधान—उपशांत मोह से गिरकर सासादन को प्राप्त होने के विषय में दो भिन्न मत हैं। एक मत के अनुसार उपशांत मोह से गिरकर सासादन को प्राप्त हो सकता है और दूसरे मत के अनुसार उपशांत मोह से गिरकर सासादन को प्राप्त नहीं हो सकता है। कहा भी है—

"चरित्तमोहमुवसामेदूण हेट्ठा ओयरिय आसाणं गदस्स अंतोमुहुत्तंतरं किण्ण परूविदं ? ण, उवसमसेढीदो ओदिण्णाणं सासणगमणाभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? एदम्हादो चेव भूदबलीवयणादो।" धवल पु. ५ पृ. ११

श्री भूतबली आचार्य ने सूत्र ७ में एक जीव की अपेक्षा से सासादन का जघन्य अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कहा है। इस पर शंकाकार ने कहा कि एक बार प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरकर सासादन को

प्राप्त होकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। पुनः अन्तर्मुहूर्त पश्चात् क्षयोपशम सम्यक्त्व को और चारित्र को प्राप्त हो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम कर अर्थात् उपशांत मोह गुणस्थान को प्राप्त करके और वहाँ से गिरकर सासादन को प्राप्त होने पर, एक जीव की अपेक्षा सासादन का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त प्राप्त हो जाता है। इस पर आचार्य वीरसेन उत्तर देते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उपशम श्रेणी से उतरने वाले जीवों के सासादन में गमन करने का अभाव है। यह अभिप्राय श्री भूतबली आचार्य के इसी सूत्र से जाना जाता है।

श्री यतिवृषभाचार्य मतानुसार उपशान्त मोह से गिरकर सासादन को प्राप्त हो सकता है। जयधवल पु० १० पृ० १२३ पर चूर्णसूत्र व उसकी टीका निम्नप्रकार है—

"अइ सो कसायउवसामणादो परिवडिदो, दंसणमोहणीय उवसंतद्धाए अचरिमेसु समएसु आसाणं गच्छइ तदो आसाणगमणादो से काले पणुवीसं पयडीओ पविसंति।"

"कसायोवसमणादो परिवडिदस्स दंसणमोहणीयउवसंतद्धा अंतोमुहुत्तो सेसा अत्थि तिस्से छावलियावसेसाए प्पहुडि जाव द्धाचरिमसमयो त्ति ताव सासणगुणेण परिणामेदुं संभवो। कसायोवसामणादो परिवडिदो उवसंत-दंसणमोहणीयो दंसणमोहउवसंतद्धाए दुचरिमादिहेट्ठिमसमएसु अइ आसाणं गच्छइ तदो तस्स सासणभावं पडिवण्णस्स पढमसमए अणंताणुबंधीणमण्णदरस्स पवेसेण बावीसपवेसट्ठाणं होइ। कुदो तत्थाणंताणुबंधीणमण्णदरपवेसणियमो? ण सासणगुणस्स तदुदयाविणाभाविसादो। कथं पुव्वमसंतस्साणंताणुबंधिकसायस्स तत्थुदयसंभवो? ण, परिणाम-पाहम्मेण सेसकसायदव्वस्स तक्कालमेव तदायारेण परिणमिय उदयदंसणादो।" जयधवल पु० १० पृ० १२३-१२४।

अर्थ—यदि वह कषायों की उपशामनासे (उपशांत मोह से) गिरता हुआ दर्शनमोहनीय के उपशामना काल के अचरम समयों में सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है तो उसके सासादन गुणस्थान में जाने के एक समय पश्चात् २५ प्रकृतियाँ प्रवेश करती हैं। कषायोपशामना (उपशांत मोह) से गिरे हुए जीव के दर्शनमोहनीय के उपशमना का काल अन्तर्मुहूर्त शेष बचता है। उसमें जब छह आवलि शेष रहें वहाँ से लेकर उपशामना काल के अन्तिम समय तक सासादन गुणरूप से परिणमन करना सम्भव है। कषायोपशामना से गिरता हुआ उप मोहनीय जीव के दर्शनमोह के उपशमना के काल के अन्तर्गत द्वि चरम आदि अधस्तन समयों में यदि सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है तो सासादन भाव को प्राप्त होने वाले उसके प्रथम समय में अनन्तानुबन्धियों में से किसी एक प्रकृति का प्रवेश होने से बाईस प्रकृतियों का प्रवेशस्थान होता है। सासादनगुणस्थान के साथ अनन्तानुबंधी कषाय के उदय का अविनाभावी संबंध होने के कारण अनन्तानुबंधियों की किसी एक प्रकृति के प्रवेश का नियम है। परिणामों के माहात्म्यवश शेष कषायों का द्रव्य उसी समय अनन्तानुबंधी कषाय रूप से परिणम कर अनन्तानुबंधी का उदय देखा जाता है अतः पूर्व में सत्ता से रहित अनन्तानुबंधी कषाय का सासादन के प्रथम समय में उदय सम्भव है।

विपरीत अभिनिवेश को मिथ्यात्व कहते हैं और वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी इन दोनों के उदय के निमित्त से उत्पन्न होता है। सासादन में अनन्तानुबंधी का उदय पाया जाता है। धवल पु० १ पृ० ३६१ अतः सासादन से गिरकर मिथ्यात्व में ही आता है। ऐसा नियम है।

—जै. ग. 5-1-70/VII/का. ना. कोठारी

आयुबन्ध योग्य गुणस्थानों में ही मरण

शंका—धवल पुस्तक नं० ८ बंधस्वामित्वविचय पृष्ठ १४५ पर जिस गुणस्थान के साथ आयु बंध संभव है उसी गुणस्थान के साथ जीव मरता है अन्य गुणस्थान के साथ नहीं। यदि ऐसा है तो राजा श्रेणिक को आयु बंध किस गुणस्थान में हुआ तथा मरण किस गुणस्थान में हुआ ?

समाधान—धवल पु० ८ पृ० १४५ पर यह कहा गया है कि तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं है क्योंकि तीसरे गुणस्थान में किसी भी आयु का बंध संभव नहीं है। यह साधारण नियम है कि जिस गुणस्थान में किसी भी आयु का बंध नहीं होता उस गुणस्थान में मरण भी नहीं होता, किन्तु उपशम श्रेणी के चार गुणस्थान इस नियम के अपवाद हैं। इस नियम का यह अर्थ नहीं है कि जिस गुणस्थान में विवक्षित आयु का किसी व्यक्ति के बंध हुआ हो उस व्यक्ति का उस ही गुणस्थान में मरण होना चाहिये। किसी व्यक्ति ने देवायु का बंध छट्ठे गुणस्थान में किया उसका मरण पाँचवें, चौथे, दूसरे या पहिले गुणस्थान में भी हो सकता है। किसी ने चौथे गुणस्थान में देवायु का बंध किया है उसका मरण पाँचवें, छट्ठे, सातवें आदि गुणस्थानों में अथवा पहिले दूसरे गुणस्थान में भी सभव है।

राजा श्रेणिक ने नरक आयु का बध मिथ्यात्व गुणस्थान में किया किन्तु मरण चतुर्थ गुणस्थान में हुआ क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। चतुर्थ गुणस्थान में देव व मनुष्य आयु का बध संभव है अतः राजा श्रेणिक का चतुर्थ गुणस्थान में मरण होने से उपर्युक्त नियम के अनुसार कोई बाधा नहीं आती।

—जै. ग. 29-3-62/VII/ज कु.

दूसरे तीसरे गुणस्थान का काल-विषयक अल्पबहुत्व

शंका—सासादन गुणस्थान का काल सम्यग्मिथ्यादृष्टि तीसरे मिश्र गुणस्थान के काल से ज्यादा है या कम है ?

समाधान—सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के काल से सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का काल संख्यातगुणा है। **धवल पु० ३ पृ० २५० सूत्र १२** की टीका में कहा भी है—

"सम्मामिच्छाविट्ठिअद्धाअंतोमुहुत्तमेत्ता, सासणसम्माविट्ठिअद्धा वि छावलिय मेत्ता। किंतु सासणसम्माविट्ठि-अद्धावो सम्मामिच्छाइट्ठिअद्धा संखेज्जगुणा।"

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है और सासादन सम्यग्दृष्टि का काल छह आवली प्रमाण है। किन्तु फिर भी सासादन सम्यग्दृष्टि के काल से सम्यग्मिथ्यादृष्टि का काल संख्यातगुणा है।

—जै. ग. 15-5-69/X/र. ला. जैन, मेरठ

जघन्य अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण

शंका—जघन्य अन्तर्मुहूर्त में कितना समय होता है ?

समाधान—जघन्य अन्तर्मुहूर्त आवली का असंख्यातवां भाग प्रमाण होता है। **धवल पु० ७ पृ० २८७** पर कहा भी है—

"एत्थ आवलियाए असंखेज्जदि भागो अंतोमुहुत्तमिदि घेत्तव्वो। कुदो ? आइरिय परंपरागदुवदेसादो।"

अर्थ—यहाँ आवली का असंख्यातवाँ भाग अन्तर्मुहूर्त है, इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ऐसा आचार्य का परम्परागत उपदेश है।

—जै. ग. 15-5-69/X/ट. ला. जैन, मेरठ

मिथ्यादृष्टि के बन्ध के अकारणभूत भाव

शंका—आस्रव और बन्ध के हेतुभूत भावों के अतिरिक्त आत्मा के अन्य कोई ऐसे भी भाव होते हैं, जिनसे आस्रव-बन्ध नहीं होता है ? यदि हाँ तो प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव के कुछ ऐसे भावों के नाम उल्लेख करने का कष्ट करें ?

समाधान—जीव के औपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक व गति, जाति आदि औदयिक ऐसे भाव हैं जो आस्रव व बन्ध के कारण नहीं हैं। कहा भी है कि योग आस्रव का कारण है। त. सू. ६।१ व २।

ओदइया बंधयरा उवसम-खयमिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ कारणोभयवज्जियो होदि ॥ धवल पु० ७ पृ० ९

औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं तथा पारिणामिक भाव बन्ध तथा मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं।

ओदइया बंधयरा त्ति वुत्ते ण सव्वेसिमोदइयाणं भावाणं गहणं, गदि-जादिआदीणं पि ओदइय भावाणं बंध-कारणत्तप्पसंगा।

औदयिक भाव बंध के कारण हैं ऐसा कहने पर सभी औदयिक भावों का ग्रहण नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वैसा मानने पर गति, जाति आदि नाम कर्म सम्बन्धी औदयिक भावों के भी बंध के कारण होने का प्रसंग आजायगा।

ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानों में ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोदय से अज्ञान व अदर्शन औदयिक भाव हैं किन्तु मोहनीय कर्मोदय के अभाव में बंध नहीं होता है। चौदहवें गुणस्थान में मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति आदि औदयिक भाव हैं किन्तु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग के अभाव में आस्रव व बंध नहीं होता।

कायवाङ्मनः कर्म योगः। स आस्रवः। मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।

शरीर वचन मन की जो क्रिया वह योग है, वही आस्रव है, अथवा आस्रव का कारण है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय योग ये बंध के कारण हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य भाव हैं वे आस्रव व बंध के कारण नहीं हैं। एकेन्द्रिय जीव के भी तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय जाति, अज्ञान, अदर्शन आदि औदयिक भाव तथा जीवत्व पारिणामिक बन्ध व आस्रव का कारण नहीं है।

—जै. ग. 24-12-70/VII/ट. ला. जैन, मेरठ

गृहीत व अगृहीत मिथ्यात्व के भेद व स्वरूप

शंका—एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ये मिथ्यात्व के पाँच भेद अगृहीत मिथ्यात्व के हैं या गृहीत मिथ्यात्व के हैं ?

समाधान—एकांत मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व ये पाँचों मिथ्यात्व परोपदेश से या कुशास्त्र के पढ़ने से होते हैं, अतः ये गृहीत मिथ्यात्व हैं। अनादि काल से मिथ्यात्व कर्मोदय के कारण जो आत्मा व शरीर में भेद नहीं होरहा है वह अगृहीत मिथ्यात्व है। अनादि काल से शरीर में ही 'अहं' बुद्धि हो रही है। मिथ्यात्व के त्याग में ही आत्महित है।

—जै. ग. 25-3-71/VII/र. ला. जैन, मेरठ

शंका—गृहीत मिथ्यात्व का क्या लक्षण है और इसके कितने भेद हैं ?

समाधान—गृहीत मिथ्यात्व का लक्षण तथा उसके भेदों का कथन श्री पूज्यपाद आचार्य ने अ० ८ सूत्र १ की टीका में इस प्रकार से किया है **"मिथ्यादर्शनं द्विविधम्, नैसर्गिकं परोपदेश पूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्, क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिक-वैनयिकविकल्पात्। अथवा पंचविधं मिथ्यादर्शनम् एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैनयिकमिथ्यादर्शनं आज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति।"**

अर्थ—मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है—नैसर्गिक (अगृहीत), परोपदेशपूर्वक (गृहीत)। जो परोपदेश के बिना मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धानरूप भाव होता है, वह नैसर्गिक (गृहीत) मिथ्यादर्शन है। तथा परोपदेश के निमित्त से होने वाला मिथ्यादर्शन चार प्रकार है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी तथा वैनयिक। अथवा मिथ्यादर्शन ५ प्रकार का है—एकान्त मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशयमिथ्यादर्शन वैनयिक मिथ्यादर्शन।

एकान्त-मिथ्यादर्शन आदि मिथ्यादर्शन परोपदेश से होते हैं अतः ये गृहीत मिथ्यादर्शन हैं।

जै. ग. 4-2-71/VII/क. च.

गृहीतागृहीत मिथ्यात्व सर्व गतियों में सम्भव

शंका—गृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व कौन-कौनसी गति में होता है ?

समाधान—अगृहीत मिथ्यात्व तो अनादि काल से लगा हुआ है जो चारों गतियों में होता है। मनुष्यगति में जिसने गृहीत मिथ्यात्व ग्रहण कर लिया है, वह जीव मरकर जब अन्य गति में जाता है तो उसके संस्कार साथ में जाते हैं। इसलिये गृहीत मिथ्यात्व भी चारों गतियों में पाया जाता है।

—जै. ग. 5-6-67/IV/ब. कीं. ला.

एकेन्द्रियादिक में गृहीतमिथ्यात्व

शंका—*क्या मनुष्य ही गृहीत मिथ्यादृष्टि होते हैं ? क्या अन्य जीव गृहीत मिथ्यादृष्टि नहीं होते ? देवों में भी ऐसे बहुत देव देखे जाते हैं जो अपनी पूजा करने के लिए मनुष्यों को प्रेरित करते हैं, नाना मिथ्या मान्यता रखते हैं, विभिन्न मिथ्याऽनुष्ठानों से तृप्त होते हैं, आदि। उन्हें गृहीतमिथ्यात्वी क्यों नहीं माना जाय ?*

शंका—*सार यह है कि गृहीत मिथ्यात्व कितनी गतियों (जातियों) में पाया जाता है ?*

समाधान—धवल पु० १ पृ० २७५ [नया संस्करण पृ० २७७] सूत्र ४३ की टीका—"अथवा ऐकान्तिक सांशयिक, मूढ (अज्ञान), व्युद्ग्राहित, वैनयिक, स्वाभाविक (अगृहीत) और विपरीत; इन सातों प्रकार के मिथ्यात्वों का उन पृथिवीकायिक आदि जीवों में सद्भाव सम्भव है, क्योंकि जिनका हृदय सात प्रकार के मिथ्यात्व-रूपी कलंक से अंकित है ऐसे मनुष्यगति आदि सम्बन्धी जीव पहले ग्रहण की हुई मिथ्यात्व पर्याय को न छोड़कर जब स्थावर पर्याय को प्राप्त होते हैं तो उनके सातों ही प्रकार का मिथ्यात्व पाया जाता है।"

इन वाक्यों से जाना जाता है कि सभी गतियों में गृहीत मिथ्यात्व सम्भव है।[1]

—पत्र 21-4-80/I/ज० ला० जैन, भीण्डर

सातिशय व निरतिशय मिथ्यादृष्टि से अभिप्राय

शंका—*सातिशय मिथ्यादृष्टि का क्या अर्थ है ? सातिशय मिथ्यादृष्टि और निरतिशय मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है ?*

समाधान—जो मिथ्यादृष्टि सम्यग्दर्शन के अभिमुख है, वह सातिशय मिथ्यादृष्टि है। उसके परिणामों में निरंतर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती जाती है। वह गुणश्रेणी निर्जरा करता है। साधारण मिथ्यादृष्टि को निरतिशय मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

—जै. ग. 12-12-66/VII/ज. प्र. म. कु.

सातिशय मिथ्यात्वी कहाँ कहाँ जाता है ?

शंका—*क्या सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव बिना उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किये बीच में पुनः मिथ्यात्व को लौट जाता है ?*

समाधान—यदि सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव पाँचवीं करणलब्धि को प्राप्त होगया है तो उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य होगी। जो सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव करणलब्धि को प्राप्त नहीं हुआ है उसके सम्यक्त्व की प्राप्ति भजनीय है, क्योंकि प्रारंभ की चारों ही लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों मिथ्यादृष्टि जीवों के संभव हैं। लब्धिसार गाथा ३। सातिशय मिथ्यादृष्टि तो मिथ्यादृष्टि है अतः उसका पुनः मिथ्यात्व में लौटने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

—जै. सं. 31-7-58/V/जि. कु. जैन, पानीपत

---

१. दि० १४-३-८० के पत्र में प्रथम समाधान में आपने लिखा था कि गृहीत मिथ्यात्व चारों गतियों में व पाँचों इन्द्रियों वाले जीवों में होता है। एकेन्द्रियों में भी होता है।

मिथ्यादृष्टि के भी सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व करणत्रय होते हैं

शंका—क्या पाँचवें और सातवें गुणस्थान से पूर्व अधःकरणादि होते हैं ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि के पाँचवें या सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने से पूर्व अथवा मिथ्यादृष्टि के क्षयोपशम सम्यक्त्व सहित पाँचवाँ या सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करने से पूर्व अधःकरण व अपूर्वकरण दो ही करण होते हैं। किन्तु जो मिथ्यादृष्टि प्रथमोपशम सहित पाँचवाँ या सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करता है उसके तीनों करण होते हैं, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व तीनों करण होते हैं।

—जै. सं. 11-12-58/V/रा. दा. कैराना

प्रायोग्य लब्धि में स्थिति के अल्प होने का हेतु

शंका—जब यह जीव सम्यक्त्व के सन्मुख होता है तो कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागर रह जाती है। कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर है तो कम किस प्रकार करता है ?

समाधान—अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं। क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि। इनमें से देशना लब्धि का स्वरूप इस प्रकार है—"छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण को देशना लब्धि कहते हैं। छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के स्वरूप के विचारने रूप परिणामों के द्वारा सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और अप्रशस्त कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति में और द्वि स्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। कहा भी है—

> **छद्दव्वणवपयत्थोवदेसयर सूरिपहुदिलाहो जो।**
> **देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु ॥६॥**
>
> **अंतोकोड़ाकोड़ी विट्ठाणे ठिदिरसाण जं करणं।**
> **पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्णा ॥७॥ लब्धिसार।**

इनका अभिप्राय ऊपर कहा जा चुका है। आत्म-परिणामों में बहुत शक्ति है, सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति को छेदकर कर्मों की अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति कर देता है और सम्यक्त्व नामक आत्म परिणाम संसार की अन्त रहित अर्थात् अमर्यादित स्थिति को छेद कर अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र कर देता है अर्थात् मर्यादित कर देता है।

—जै. ग. 30-11-67/VIII/कै. ला.

अनिवृत्तिकरण के परिणामों का स्वरूप

शंका—अनिवृत्तिकरण के लक्षण में बतलाया है कि प्रति समय एक ही परिणाम होता है। इसका क्या अभिप्राय है ? परिणाम तो स्थिर नहीं है फिर इतने काल तक एक परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—अनिवृत्तिकरण में एक समयवर्ती नाना जीवों के एक ही परिणाम होते हैं, उनके परिणामों में विभिन्नता नहीं होती है। किन्तु एक जीव के परिणाम प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धता लिए हुए बढ़ते जाते हैं, अर्थात् अनिवृत्तिकरण में एक जीव के परिणाम नाना समयों में समान (एक जैसे) नहीं होते हैं, भिन्न भिन्न होते हैं।

"अणियट्टीकरणद्धा अंतोमुहुत्तमेत्ता होदि त्ति तिस्से, अद्धाए समया रचेदव्वा। एत्थ समयं पडि एक्केक्को चेव परिणामो होदि, एक्कम्हि समए जहण्णुक्कस्सपरिणामभेदाभावा। पढमसमयविसोही थोवा। बिदियसमयविसोही अणंतगुणा। तत्तो तदियसमयविसोही अजहण्णुक्कस्सा अणंतगुणा। एवं णेयव्वं जाव अणियट्टीकरणद्धाए चरिमसमओ त्ति। एगसमए वट्टंताणं जीवाणं परिणामेहि ण विज्जदे णियट्टी णिव्वित्ती तत्थ ते अणियट्टी परिणामा। एवमणियट्टीकरणस्स लक्खणं गदं।" धवल पु० ६ पृ० २२१-२२२।

अनिवृत्तिकरण का काल अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है, इसलिये उसके काल के समयों की रचना करनी चाहिये। अनिवृत्तिकरण में एक-एक समय के प्रति एक-एक ही परिणाम होता है, क्योंकि यहाँ एक समय में जघन्य और उत्कृष्ट परिणामों के भेद का अभाव है। प्रथम समय संबन्धी विशुद्धि सबसे कम है। उससे द्वितीय समय की विशुद्धि अनन्तगुणित है। उससे तृतीय समय की विशुद्धि अजघन्योत्कृष्ट अनन्तगुणित है। इस प्रकार यह क्रम अनिवृत्तिकरण काल के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिये। एक समय में वर्तमान नाना जीवों के परिणामों की अपेक्षा निवृत्ति या विभिन्नता जहाँ पर नहीं होती है वे परिणाम अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण का लक्षण कहा गया है।

—जै. ग. 4-1-73/V/क. दे.

सासादन का जघन्यकाल

शंका—सासादन गुणस्थान का जघन्य काल क्या है।

समाधान—सासादन गुणस्थान का जघन्य काल एक समय है। **"सासण-सम्माइट्ठी केवचिरं कालादो होंति, जहण्णेण एगसमओ।"**

अर्थ—सासादन सम्यग्दृष्टि जीव कितने काल तक होते हैं ? जघन्य से एक समय तक होते हैं।

धवल पु० ४ पृ० ३२९ व ३३१।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/र. ला. जैन, मेरठ

शंका—सासादन सम्यक्त्व वाला जीव मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर कम से कम कितने जघन्यकाल में किसी भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है ?

समाधान—सासादन दूसरे गुणस्थान वाला जीव नियम से मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। ऐसा जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त पश्चात् वेदक सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो सकता है क्योंकि मिथ्यादर्शन का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट से अर्धपुद्गल परिवर्तन काल पश्चात् प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो जाता है।

—जै. ग. 25-1-62/VII/ब. ला. सेठी, बुरई

अपर्याप्त सासादन० देवगतिचतुष्क का बन्ध नहीं करता

शंका—महाबंध पेज ४४ मिथ्यात्व तथा सासादन में तीर्थंकर तथा सुर चतुष्क का बन्ध नहीं होता है। प्रश्न यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में देवगति देवगत्यानुपूर्वी देवायु बन्ध होता है फिर महाबन्ध में बन्ध का निषेध क्यों किया गया ?

समाधान—महाबन्ध पृ० ४४ पर मिथ्यात्व तथा सासादन गुणस्थानों में जो सुर-चतुष्क के बन्ध का निषेध किया गया है वह औदारिकमिश्रकाययोग की अपेक्षा से किया है। औदारिकमिश्रकाययोग मनुष्य या तिर्यंच के अपर्याप्त अवस्था में होता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच के ही अपर्याप्त अवस्था मे सुरचतुष्क (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग) का बंध होता है। अतः औदारिकमिश्रकाययोगी के मिथ्यात्व व सासादन गुणस्थानों में सुरचतुष्क के बन्ध का निषेध किया गया है। **धवल पु० ८ पृ० २१४-२१५ सूत्र १५२-१५३** में भी कहा है कि औदारिकमिश्रकाययोग में सुरचतुष्क और तीर्थंकर प्रकृति के असंयत सम्यग्दृष्टि ही बंधक हैं, शेष अबन्धक हैं।

—जै. ग. 27-8-64/IX/**ध. ला. सेठी, खुरई**

सासादन गुणस्थान के असंज्ञियों में अस्तित्व सम्बन्धी दो मत

शंका—पंचसंग्रह पृ० ३३ श्लोक नं० ९६ पंचेन्द्रिय असैनी पर्याप्तक के मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान बतलाये हैं। असंज्ञी के पर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान कैसे संभव है ?

समाधान—श्री अमितगति आचार्य कृत पंचसंग्रह में श्लोक ९६ इस प्रकार है—

चतुर्दशसु पंचाक्षः पर्याप्तस्तत्र वर्तते।
एतच्छास्त्रमतेनाद्ये गुणस्थान द्वयेऽपरे ॥९६॥

इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि चौदह जीवसमासों में से पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के आदि के दो गुणस्थान होते हैं आगे के गुणस्थान नहीं होते। ऐसा इस शास्त्र का मत है। श्लोक ९७ इस प्रकार है—

पूर्णः पंचेन्द्रियः संज्ञी चतुर्दशसु वर्तते।
सिद्धान्तमततो मिथ्यादृष्टौ सर्वे गुणे परे ॥९७॥

सिद्धान्त मत के अनुसार संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के चौदह गुणस्थान होते हैं बाकी सर्व जीव समास के मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

श्लोक ९६ में उन असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का कथन है, जिनके पर्याप्तक नाम कर्मोदय है और श्लोक ९६ में पर्याप्तक नामकर्म वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का कथन है। पर्याप्तक नाम कर्म वालों की दो अवस्था होती हैं—अपूर्ण और पूर्ण। **गोम्मटसार कर्मकांड तथा तत्त्वार्थवृत्ति के** अनुसार और **श्री अमितगति आचार्यानुसार** असंज्ञी जीवों के भी अपूर्ण अवस्था में सासादन गुणस्थान संभव है, किन्तु **श्री पुष्पदन्त** तथा **श्री भूतबली आचार्यों के** मतानुसार असंज्ञियों में सासादन गुणस्थान नहीं होता है। प्रमाण इस प्रकार है—

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु सासणो देहे।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥११३॥
ण हि सासणो अपुण्णे साहारण सुहुमगे य तेउदुगे ॥११५॥ गो. क

एकेन्द्रिय तथा विकल चतुष्क (दो इंद्री, ते इंद्री, चौ इंद्री तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय) में उत्पन्न हुआ जीव सासादन गुणस्थान में शरीर पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सकता है, क्योंकि सासादन काल अल्प है और निर्वृति अपर्याप्त अवस्था का काल बहुत है। लब्धि अपर्याप्त अवस्था में, साधारण (निगोदिया) जीवों में, सूक्ष्म जीवों में, तेजोकाय और वायुकाय जीवों में सासादन गुणस्थान नहीं होता है।

इसी बात को तत्त्वार्थवृत्ति में भी कहा गया है—

सासादनः सम्यग्दृष्टिर्हि वायु कायिकेषु तेजः कायिकेषु नरकेषु सर्व सूक्ष्म कायिकेषु च चतुर्थस्थानकेषु नोत्पद्यते इति नियमः तथा चोक्तम्—

वज्जिअ ठाण चउक्कं तेऊ वाऊ य णरेयसुहुमं च।
अण्णत्थं सव्वठाणे उववज्जदि सासणो जीवो॥ पृ० २९।

अर्थात् तेजकायिक, वायुकायिक, नरक और सर्व सूक्ष्मकायिक को छोड़कर बाकी के स्थानों में सासादन जीव उत्पन्न होता है। धवल पु० ५ पृ० ३५ पर भी कहा है—

"सासणं पडिवण्णबिदिय समए जदि मरदि, तो णियमेण देवगदीए उववज्जदि। एवं जाव आवलियाए असंखेज्जदिभागो देवगदिपाओग्गो कालो होदि। तदो उवरि मणुसगदि पाओग्गो आवलियाए असंखेज्ज भाग मेत्तो कालो होदि। एवं सण्णिपंचिदियतिरिक्ख, असण्णिपंचिंदियतिरिक्ख। चउरिंदिय, तेइंदिय, बेइंदिय, एइंदिय पाओग्गाहोदि। एसो णियमो सव्वत्थ सासणगुणं पडिवज्जमाणाणं।"

अर्थ—सासादन गुणस्थान को प्राप्त होने के दूसरे समय में यदि वह जीव मरता है तो नियम से देवगति में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाणकाल देवगति में उत्पन्न होने के योग्य होता है। उसके ऊपर मनुष्यगति के योग्य काल आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इसी प्रकार से आगे आगे संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने योग्य होता है। यह नियम सर्वत्र सासादन गुणस्थान को प्राप्त होने वालों का जानना चाहिये।

श्री पुष्पदंत आचार्य के मतानुसार सासादन सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होता है। श्री धवल पु० १ पृ० २६१ पर कहा भी है—

"एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जदि तं कधं घडदे ? ण एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो।"

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान भी सुनने में आता है, इसलिये उनके केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का कथन करने से वह कैसे बन सकेगा ? ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि इस खंडागम सूत्र में एकेन्द्रियादिकों के सासादन गुणस्थान का निषेध किया है।

"असण्णीणं अण्णमत्ते अत्थिएयं गुणट्ठाणं।" धवल पु० २ पृ० ८३४

असंज्ञी जीवों का आलाप कहने पर एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।

इस प्रकार असंज्ञी जीवों के सासादन गुणस्थान के विषय में दो मत हैं। जिनके मत अनुसार असंज्ञी जीवों के सासादन गुणस्थान होता है वह निर्वृ तिअपर्याप्त अवस्था में ही होता है पूर्ण अर्थात् पर्याप्त अवस्था में नहीं होता है। लब्धि-अपर्याप्तक के सासादन नहीं होता है, पर्याप्तक के ही होता है।

—जै. ग. 24-4-69/V/र. ला. जैन मेरठ

शंका—पृथ्वीकाय, जलकाय, वनस्पति काय के जीवों के अपर्याप्त अवस्था में क्या सासादन गुणस्थान संभव है ? सहजानन्द चौंतीसठाणों में सासादन गुणस्थान बतलाया है।

समाधान—एकेन्द्रिय जीवों में मात्र एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।

"एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे ॥३६॥"

"पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणप्फइकाइया, एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे।४३।" षट् खंडागम संत-परूवणाणुयोगद्वार।

अर्थ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं ॥३६॥

अर्थ—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं ॥४३॥

"जदि एइंदिएसु सासणसम्माइट्ठी उप्पज्जदि तो पुढवीकायादिसु दो गुणट्ठाणाणि होंति त्ति चे ण, छिण्णा-उअपढमसमए सासणगुणविणासादो।" धवल पु० ६ पृ० ४५९।

यदि एकेन्द्रियों में सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं, तो पृथिवीकायादिक जीवों में मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होना चाहिये ? यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि आयु क्षीण होने के प्रथम समय में ही सासादन गुणस्थान का विनाश हो जाता है।

"एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जदि तं कधं घडदे ? ण एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो। विरुद्धत्थाणं कध दोण्हं पि सुत्तत्तणमिदि ? ण दोण्हं एकदरस्ससुत्तत्तादो। दोण्हं मज्झे इदं सुत्तमिदं च ण णव्वदीदि कधं णव्वदि ? उवदेसमंतरेण तदवगमाभावा दोण्हं पि संगहो कायव्वो। दोण्हं संगहं करंतो संसय मिच्छाइट्ठी होदि त्ति ? तण्ण, सुत्तुद्दिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो। उक्तं च—

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो॥ धवल पु० १ पृ० २६१-६२।

अर्थ इस प्रकार है—एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान भी सुनने में आता है, इसलिये सूत्र ३६ में उनके केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कथन करने से वह कैसे बन सकेगा ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि इस षट् खंडागम के सूत्र ३६ में एकेन्द्रियादिकों के सासादन गुणस्थान का निषेध किया है।

प्रश्न—जब दोनों वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किन्तु उन दोनों वचनों में से किसी एक वचन को ही सूत्रपना प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न—दोनों वचनों में यह वचन सूत्र रूप है और यह नहीं है, यह कैसे जाना जाय ?

उत्तर—उपदेश के बिना दोनों में से कौन वचन सूत्र रूप है यह नहीं जाना जा सकता है, इसलिये दोनों वचनों का संग्रह करना चाहिये।

प्रश्न—दोनों वचनों का संग्रह करने वाला संशय-मिथ्यादृष्टि हो जायगा ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि संग्रह करने वाले के 'यह सूत्र कथित ही है' इस प्रकार का श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है। कहा भी है—सूत्र के द्वारा भले प्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव विपरीत अर्थ को छोड़कर समीचीन अर्थ का श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समय से वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान के विषय में दोनों कथन हैं, इन दोनों को ही लिखना चाहिये।

—जै. ग. 27-7-69/VI/सु. प्र.

सम्यग्मिथ्यात्व "जात्यन्तर" कैसे ?

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व को जात्यन्तर सर्वघाति प्रकृति कही है, इसका क्या कारण है ? अन्य सर्वघाति प्रकृतियों और इसमें क्या अन्तर है ?

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिश्र भाव (सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दो विरुद्ध भावों के संयोग से उत्पन्न हुए भाव) उत्पन्न होता है, अतः सम्यग्मिथ्यात्व को जात्यन्तर-प्रकृति कहा गया है। इसके उदय में सम्यग्दर्शन के एक देश का अभाव रहता है अतः इसको सर्वघाति कहा गया है। अथवा इस सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में सम्यक्त्व के अंश का सद्भाव पाया जाता है इस अपेक्षा से यह सर्वघाति नहीं भी है, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति किसी अपेक्षा सर्वघाति है और किसी अपेक्षा सर्वघाति नहीं है, इसलिये भी इसको जात्यन्तर कहा गया है। अन्य सर्वघाति प्रकृतियाँ मिश्ररूप नहीं हैं इसलिये उनको जात्यन्तर नहीं कहा गया है। आगम प्रमाण इसप्रकार है—

सम्मामिच्छाइट्ठित्ति को भावो ? खओवसमिओ भावो ॥१२॥ कुदो ? सम्मामिच्छत्तुदये संतेवि सम्मद्दंसणेगदेसमुवलंभा। सम्मामिच्छत्तभावे पत्तजच्चंतरे अंसंसीभावोणत्थि त्ति ण, तत्थ सम्मद्दंसणस्स एगदेस इदि चे;

होदु णाम अभेदविवक्खाए जच्चंतरत्तं । भेदे पुण विवक्खिदे सम्मद्दंसणभागो अत्थि चेव; अण्णहा जच्चंतरत्तविरोहा। ण च सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघाइत्तमेवं संते विरुज्झइ, पत्तजच्चंतरे सम्मद्दंसणंसाभावादो तस्स सव्वघाइत्ताविरोहा ।" धवल० पु० ५ पृ० २०८ ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह कौनसा भाव है ? क्षायोपशमिक भाव है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय होने पर भी सम्यग्दर्शन का एक देश पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि जात्यन्तरत्व को प्राप्त सम्यग्मिथ्यात्व भाव में अंशांशी भाव नहीं होने से उसमें सम्यग्दर्शन का एक देश नहीं है। यह कहना भले ही अभेद विवक्षा में ठीक हो अर्थात् अभेद विवक्षा में भले ही जात्यंतरत्व रहे आवे, किन्तु भेद-विवक्षा करने पर उसमें सम्यग्दर्शन का एक भाग (अंश) अवश्य है। यदि ऐसा न माना जाय तो उसके जात्यंतरत्व का विरोध आता है। ऐसा मानने पर सम्यग्मिथ्यात्व के सर्वघातिपना भी विरोध को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व के जात्यंतरत्व को प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन के एक देश का अभाव है, इसलिये उसके सर्वघाति मानने में कोई विरोध नहीं आता।

"सम्मामिच्छत्तलद्धि त्ति खओवसमियं, सम्मामिच्छत्तोदयजणिदादो। सम्मामिच्छत्तफद्दयाणि सव्वघादीणि चेव, कधं तदुदएण समुप्पण्णं सम्मामिच्छत्तं उभयपच्चइयं होदि ? ण, सम्मामिच्छत्तफद्दयाणमुदयस्स सव्वघादित्ताभावादो। तं कुदो णव्वदे ? तत्थतणसम्मत्तस्सुप्पत्तीए अण्णहाणुववत्तीदो।" धवल पु० १४ पृ० २१ ।

सम्यग्मिथ्यात्व लब्धि क्षायोपशमिक है, क्योंकि वह सम्यग्मिथ्यात्व कर्मोदय से उत्पन्न होती है। प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्व के स्पर्धक सर्वघाति होते हैं, इसलिये इनके उदय से उत्पन्न हुआ सम्यग्मिथ्यात्व उभय प्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) कैसे हो सकता है ? उत्तर—यह ठीक नहीं, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धकों का उदय सर्वघाति नहीं होता क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व में सम्यक्त्व रूप अंश की उत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती। इससे जाना जाता है कि सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धकों का उदय सर्वघाति नहीं होता।

"सम्मत्त—मिच्छत्तभावाणं संजोगसमुब्भूदभावस्स उप्पाययं कम्मं सम्मामिच्छत्तं णाम। कधं दोण्णं विरुद्धाणं भावाणमक्कमेण एयजीवदव्वम्हि वुत्ती ? ण दोण्णं संजोगस्स कधंचि जच्चंतरस्स कम्मट्ठवणस्सेव वुत्तिविरोहाभावादो।" धवल पु० १३ पृ० ३५९ ।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप इन दो विरुद्ध भावों के संयोग से उत्पन्न हुए भाव का उत्पादक कर्म सम्यग्मिथ्यात्व है। यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि इन दो विरुद्ध भावों की एक जीव द्रव्य में एक साथ वृत्ति कैसे हो सकती है, क्योंकि इन दोनों भावों के कथंचित् जात्यन्तर भूत संयोग के होने से कोई विरोध नहीं है।

—जै. ग. 2-1-75/VIII/के. ला. जी. टा. शाह

मिश्र गुणस्थान में एक समय में दो भाव कैसे ?

शंका—मिश्रगुणस्थान में एक ही समय में दो भाव कैसे सम्भव हैं ? दही और गुड़ के दृष्टान्त में तो मो. मा. प्र. ५२ (वीर सेवा मन्दिर) के उस कथन से बाधा आती है, जिसमें बताया गया है कि छद्मस्थों के एक साथ दो ज्ञानांश नहीं होते और उसमें दृष्टान्त भी ऐसा ही दिया है।

समाधान—तीसरे मिश्रगुणस्थान में दो भाव नहीं होते किन्तु एक मिश्रभाव होता है जो न केवल सम्यक् है और न केवल मिथ्या किन्तु सम्यक् और मिथ्यात्व का मिला हुआ विलक्षण भाव है। छद्मस्थ के एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते हैं। एक उपयोग भी एक समय में एक ही विषय को ग्रहण करता है। सम्यक् अथवा

मिथ्यात्व श्रद्धागुण की पर्याय है। दर्शन मोहनीय कर्म की मिश्र प्रकृति के उदय के कारण दर्शन (श्रद्धा) गुण की मिश्र पर्याय (भाव) होती है। विशेष के लिए देखो—ध० खं० पु० १ पत्र १६६-१६७।

—जै. सं. 28-6-56/VI/र. ला. क. केकड़ी

सम्यग्मिथ्यात्व के स्पर्धक देशघाती कैसे हैं ?

शंका—धवल पु० ५ पृ० २०७ पर सम्यग्मिथ्यात्व के देशघाती स्पर्धक क्यों लिखे ? सम्यग्मिथ्यात्व तो सर्वघाती है।

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में सम्यक्त्व का सम्पूर्ण रूप से घात नहीं होता है इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में देशघाती स्पर्धकों की सिद्धि हो जाती है। धवल पु० १४ पृ० २१ पर कहा भी है—

सम्मामिच्छत्तलद्धि त्ति खओवसमियं, सम्मामिच्छत्तोदयजणिदत्तादो। सम्मामिच्छत्तफद्दयाणि सव्वघादीणि चेव, कधं तदुदएण समुप्पण्णं सम्मामिच्छत्तं उभयपच्चइयं होदि ? ण, सम्मामिच्छत्तफद्दयाणमुदयस्स सव्वाघादित्ताभावादो। तं कुदो णव्वदे। तत्थतणसम्मत्तस्सुप्पत्तीए अण्णहाणुववत्तीदो। सम्मामिच्छत्तदेसघादिफद्दयाणमुदएण तस्सेव सव्वघादिफद्दयाणमुदया–भावेण उवसमसण्णिदेण सम्मामिच्छत्तमुप्पज्जदि त्ति तदुभयपच्चइयत्तं। धवल पु० १४ पृ० २१।

अर्थ—सम्यग्मिथ्यात्व लब्धि क्षायोपशमिक है, क्योंकि, वह सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होती है। यहाँ पर प्रश्न होता है-सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धक सर्वघाति ही होते हैं, इसलिये इनके उदय से उत्पन्न हुआ सम्यग्मिथ्यात्व उभयप्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) कैसे हो सकता है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धकों का उदय सर्वघाति नहीं होता है। पुनः प्रश्न होता है—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ? आचार्य कहते हैं—सम्यग्मिथ्यात्व में सम्यक्त्व रूप अंश की उत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती। इससे जाना जाता है कि सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के स्पर्धकों का उदय सर्वघाति नहीं होता। सम्यग्मिथ्यात्व के देशघाति स्पर्धकों के उदय से और उसी के सर्वघाति स्पर्धकों के उपशम संज्ञावाले उदयाभाव से सम्यग्मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है, इसलिये वह तदुभय प्रत्ययिक (क्षायोपशमिक) कहा गया है।

'सम्मामिच्छादिट्ठित्ति को भावो खओवसमिओ भावो ॥४॥ पडिबंधिकम्मोदए संते वि जो उवलब्भइ जीव गुणावयवो सो खओवसमिओ उच्चइ। कुदो ? सव्वघादणसत्तीए अभावो खओ उच्चदि। खओ चेव उवसमो खओवसमो, तम्हि जादो भावो खओवसमिओ। ण च सम्मामिच्छत्तुदए संते सम्मत्तस्स कणिया वि उव्वरदि, सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादित्तण्णहाणुववत्तीदो। तदो सम्मामिच्छत्तं खओवसमियमिदि ण घडदे। एत्थ परिहारो उच्चदे-सम्मामिच्छत्तुदए संते सद्दहणासद्दहणाप्पओ करंचिओ जीव परिणामो उप्पज्जइ। तत्थ जो सद्दहणंसो सो सम्मत्तावयवो। तं सम्मामिच्छत्तुदओ ण विणासेदि त्ति सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं।" धवल पु० ५ पृ० १९८।

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह कौनसा भाव है। क्षायोपशमिक भाव है ॥ ४ ॥

प्रतिबन्धी कर्म के उदय होने पर भी जीव के गुण का जो अवयव (अंश) पाया जाता है, वह गुणांश क्षायोपशमिक है। यह कैसे संभव है। गुणों के सम्पूर्ण रूप से घातने की शक्ति का अभाव क्षय कहलाता है। क्षय रूप ही जो उपशम होता है, वह क्षयोपशम है। उस क्षयोपशम में उत्पन्न होने वाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता

है। शंका होती है कि सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय रहते हुए सम्यक्त्व की कणिका भी अवशिष्ट नहीं रहती है, अन्यथा सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघातीपन बन नहीं सकता है। इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक है, यह कहना घटित नहीं होता। इस शंका का परिहार—सम्यग्मिथ्यात्व कर्मोदय होने पर श्रद्धान-अश्रद्धानात्मक करंबित अर्थात् शबलित या मिश्रित जीव परिणाम उत्पन्न होता है। उसमें जो श्रद्धानांश है वह सम्यक्त्व का अवयव है तथा सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का उदय इस श्रद्धानांश को नष्ट नहीं करता है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक है।

—जै. ग. 26-11-70/VII/घा. रा.

मिश्रगुणस्थान में कार्माण काय योग क्यों नहीं ?

शंका—मिश्र गुणस्थान में कार्माण काय योग कैसे नहीं है ?

समाधान—मिश्र गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होते हैं, क्योंकि तीसरे गुणस्थान के साथ मरण का अभाव है। तथा अपर्याप्त काल में भी सम्यग्मिथ्यात्व तीसरे मिश्र गुणस्थान की उत्पत्ति नहीं होती। **धवल पु० १ पृ० ३३५**। कार्माण काय योग अपर्याप्त अवस्था में होता है **धवल पु० १ पृ० ३३४** पर समाधान। अतः कार्माण काय योग में मिश्र गुणस्थान नहीं होता।

—जै. ग. 4-7-63/IX/म. ला.

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व नहीं पाता

शंका—मिथ्यात्व से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होकर, अंतर्मुहूर्त पश्चात् गिरकर मिश्रप्रकृति के उदय से तीसरे गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त काल तक रहकर क्या पुनः प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है।

समाधान—प्रथमोपशम सम्यक्त्व के लिये यह नियम है कि उससे अनन्तर पूर्व मिथ्यात्व गुणस्थान होना चाहिये। **श्री १०८ गुणधर आचार्य ने कषायपाहुड सुत्त** में कहा भी है—

सम्मत्त पढमलंभस्साणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं।
लंभस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छदो होदि ॥१०४॥

जयधवल टीका—जो खलु अपढमो सम्मत्तपडिलंभो तस्स पच्छदो मिच्छत्तोदयो भजियव्वो होइ। सिया मिच्छाइट्ठी होदूण वेदयसम्मत्तमुवसमसम्मत्तं वा पडिवज्जइ, सिया सम्मामिच्छाइट्ठी होदूण वेदयसम्मत्तं पडिवज्जइत्ति भावत्थो। जयधवला पु० १२/३१७।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व से अनन्तर पूर्व नियम से मिथ्यात्व होगा। गिरकर मिथ्यात्व में आ जाने के पश्चात् यदि वेदक सम्यक्त्व योग्य काल में सम्यक्त्व होता है तो वेदक सम्यक्त्व होगा। उस काल के पश्चात् सम्यक्त्व होता है तो उपशम सम्यक्त्व होगा, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व के तीसरे गुणस्थान के पश्चात् सम्यक्त्व होता है तो वेदक सम्यक्त्व ही होगा अतः तीसरे गुणस्थान के पश्चात् उपशम सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

—जै. ग. 25-5-78/VI/मु. श्रु. सा. मोरेना

आहारकद्विक का सत्त्वासत्त्व

शंका—दूसरे गुणस्थान में तीर्थंकरप्रकृति, आहारकशरीर व आहारक अंगोपांग का सत्त्व नहीं है और तीसरे मिश्रगुणस्थान में आहारकशरीर व आहारक अंगोपांग का सत्त्व बतलाया है सो किस अपेक्षा से बताया है ?

समाधान—तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यग्दृष्टि के होता है और इस प्रकृति का बन्ध प्रारम्भ होने के पश्चात् वह जीव मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही बना रहता है। यदि तीर्थंकरप्रकृति से पूर्व उस जीव ने दूसरे या तीसरे नरक की आयु का बंध कर लिया है तो ऐसा जीव दूसरे या तीसरे नरक में उत्पन्न होने से एक अन्तर्मुहूर्तपूर्व और उत्पन्न होने के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् तक मिथ्यादृष्टि होता है। केवल ऐसे जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकरप्रकृति का सत्त्व पाया जाता है। नरक में उत्पन्न होने वाले जीव के दूसरे या तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं है क्योंकि नरक में दूसरा या तीसरा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्था में नहीं पाया जाता अतः तीर्थंकरप्रकृति की सत्त्व वाला जीव दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता है। यही कारण है कि दूसरे व तीसरे गुणस्थान में तीर्थंकरप्रकृति के सत्त्व का निषेध किया है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरकर ही दूसरे गुणस्थान को जाता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि के आहारकद्विक का बंध नहीं होता है। जिस जीव के आहारकद्विक का सत्त्व है वह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होता क्योंकि आहारकद्विक की उद्वेलना के बिना सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृति की स्थिति प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य नहीं होती। तेरह उद्वेलन प्रकृतियों में सर्वप्रथम आहारकद्विक की उद्वेलना होती है। अतः दूसरे गुणस्थान में आहारकद्विक का सत्त्व नहीं होता। अथवा आहारकद्विक की सत्त्ववाला जीव सम्यक्त्व से गिरकर दूसरे गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता ऐसा स्वभाव है और स्वभाव तर्क का विषय नहीं है। आहारकद्विक की उद्वेलना के बिना भी आहारकद्विक की सत्त्ववाला मिथ्यादृष्टि जीव मिश्रगुणस्थान को जा सकता है अतः तीसरे गुणस्थान में आहारकद्विक का सत्त्व कहा है।

—जै. सं. 24-1-57/VI/ब. बा. हजारीबाग

पर्याप्त अवस्थाभावी गुणस्थान

शंका—धवल पु० १ पृ० २०६ पर लिखा है "केवल सम्यग्मिथ्यात्व का तो सदा ही सभी गतियों के अपर्याप्तकाल के साथ विरोध है" इसमें केवल शब्द ठीक है क्या ? क्या मूल में भी है ? फिर पृ० २०९ दिया है—ये दो गुणस्थान (तीसरा और पाँचवाँ) पर्याप्त काल में ही पाये जाते हैं, इससे कैसा मेल बैठता है ?

समाधान—धवल पु० १ पृ० २०६ पर अनुवाद पंक्ति ११ में केवल शब्द नहीं होना चाहिये। धवल पु० १ पृ० ३२९ सूत्र ९० में कहा है कि सम्यग्मिथ्यात्व, संयमासंयम और संयत नियम से पर्याप्त होते हैं। इतनी विशेषता है सम्यग्मिथ्यात्व में मरण नहीं होता, किन्तु संयमासंयम व संयत अवस्था में मरण संभव है।

—जै ग. 19-10-67/VIII/र. ला. जैन

असंयत सम्यक्त्व का जघन्य काल

शंका—चतुर्थ गुणस्थान का मिनिट-सैकण्ड में जघन्य काल कितना है ? यदि क्षुद्रभव या देशोनतत्प्रमाण है तो क्षुद्रभव से क्या अभिप्राय है ? क्षुद्रभव का जघन्य काल कैसे प्राप्त होता है ? तथा यह क्षुद्रभव उत्कृष्ट है या जघन्य या अजघन्योत्कृष्ट ?

समाधान—चतुर्थ गुणस्थान का जघन्यकाल क्षुद्रभव से भी कम है।[1] क्षुद्रभव से अभिप्राय $\frac{2}{4}$ सैकण्ड से है। क्षुद्रभव का जघन्य काल अकालमरण से होता है। $\frac{2}{4}$ सैकण्ड प्रमाण काल उत्कृष्ट क्षुद्रभव का है; जघन्य क्षुद्रभव का नहीं।

जघन्य श्वासोच्छ्वास [का काल] एकेन्द्रिय के होता है और उत्कृष्ट श्वासोच्छ्वास सर्वार्थसिद्धि के देवों के होता है, जो जघन्य से संख्यातगुणा है।

जघन्य क्षुद्रभव से उत्कृष्ट क्षुद्रभव भी संख्यातगुणा है, किन्तु यह संख्यात उपर्युक्त संख्यात से बहुत कम है।[1]

पत्र 15 एवं 16 जून 79/I, I/ज. ला. जैन भीण्डर

प्रथम या चतुर्थ गुणस्थान से तृतीय गुण० में गमन

शंका—धवल पु० ७ पृ० १८१ सूत्र १९८ 'मिथ्यात्व से या वेदक सम्यक्त्व से सम्यग्मिथ्यात्व में जाकर' —क्या अनादि मिथ्यादृष्टि भी सीधा सम्यग्मिथ्यात्व में जा सकता है ? या यह कथन सादि मिथ्यादृष्टि जिसके ७ प्रकृतियों की सत्ता है उसकी अपेक्षा से है ? वेदक सम्यक्त्व से सम्यग्मिथ्यात्व बताया तो ऐसा होने पर सम्यक् प्रकृति का उदय बना रहता है या क्या होता है ?

समाधान—अनादि मिथ्यादृष्टि के सर्व प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है। उसके पश्चात् सादि मिथ्यादृष्टि के 'वेदक योग्य काल' में मिथ्यात्व से सम्यग्मिथ्यात्व में जा सकता है। वेदक व उपशम सम्यग्दृष्टि भी सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने पर सम्यग्मिथ्यात्व में जा सकता है। वेदक सम्यक्त्व के काल में सम्यक् प्रकृति का स्तिबुक संक्रमण होकर सम्यक्त्व प्रकृति रूप उदय में आती है और उपशम सम्यक्त्व के काल में सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम होता है।

—जै. ग. 29-8-66/VII/र. ला. जैन, मेरठ

चतुर्थ से ५ वें ७ वें गुण० में गमन

शंका—क्या चतुर्थ गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में जा सकता है या चतुर्थ से पाँचवां और पाँचवें से सातवां गुणस्थान होगा, ऐसा नियम है ?

समाधान—चतुर्थ गुणस्थान से सातवां गुणस्थान भी हो सकता है अथवा चतुर्थ से पाँचवां और पाँचवें से सातवां गुणस्थान भी हो सकता है। इस विषय में कोई एकान्त नियम नहीं है। द्रव्य से पुरुष ऐसे मनुष्य के सातवां गुणस्थान हो सकता है। द्रव्य स्त्री या द्रव्य नपुंसक मनुष्य के सातवां गुणस्थान नहीं हो सकता। मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्य तीन गतियों में भी सातवां गुणस्थान नहीं हो सकता। अतः इस मनुष्य पर्याय की सफलता संयम धारण करने से ही है।

—जै. ग. 21-11-63/IX/ब्र. पन्नालाल

---

१ इसी तरह स्थूल गणना से प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल छह आवलि कम ५-८ मिनिट है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व सम्बन्धी पंचविंशतिपदीय अल्पबहुत्व का कथन लब्धिसार गा० ९२ से ९९ तक है।

मुख्तार सा. का पत्र दि० 16-6-79

बन्ध व्युच्छिन्न प्रकृतियों का पुनः बन्ध

शंका—प्रायोग्यलब्धि में ३४ बंधापसरण होते हैं, जिनमें नरकायु आदि प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति हो जाती है। सम्यग्दर्शन हो जाने पर क्या चौथे गुणस्थान में प्रकृतियों का पुनः बंध होने लगता है या नहीं ?

समाधान—उन प्रकृतियों में से देवायु, अस्थिर, अशुभ, अयश, अरति, शोक और असाता वेदनीय, इन प्रकृतियों का पुनः बन्ध होने लगता है। ३४ बंधापसरण का कथन कर्मभूमिया मनुष्य व तिर्यंच की अपेक्षा से है। सम्यग्दृष्टि के देवायु बंधव्युच्छित्ति सातवें गुणस्थान में होती है और अस्थिर आदि छह प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति छठे गुणस्थान में होती है।

—जै. ग. 17-7-67/VI/ज. प्र. म. कु.

चौथे गुण० से आगे चारित्र में विशुद्धि या सम्यक्त्व में ?

शंका—चौथे गुणस्थान से जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता है, चारित्र में विशुद्धि आती है या सम्यक्त्व में ?

समाधान—चौदह गुणस्थानों में से पहले चार गुणस्थान तो दर्शनमोह की अपेक्षा से हैं और पाँचवें से बारहवें गुणस्थान तक के आठ गुणस्थान चारित्रमोह की अपेक्षा से हैं और अन्त के दो अर्थात् तेरहवां व चौदहवां गुणस्थान योग की अपेक्षा से हैं। क्योंकि पाँचवें से आठ गुणस्थानों में चारित्र की विवक्षा है; अतः चौथे से जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता है चारित्र में तो विशुद्धता आती ही है, सम्यक्त्व में (सम्यग्दर्शन में) विशुद्धता भजनीय है।

—जै. सं. 10-1-57/VI/दि. जै. स. एत्मादपुर

असंयत सम्यक्त्वी के नित्य निर्जरा नहीं होती

शंका—क्या चतुर्थ गुणस्थान में नित्य प्रतिसमय निर्जरा [गुणश्रेणिनिर्जरा] होती रहती है ? मेरे खयाल से तो ऐसा होना असम्भव है। पंचाध्यायी में तो चतुर्थगुणस्थानवर्ती के निरंतर निर्जरा बताई है।

समाधान—पंचाध्यायी अनार्षग्रन्थ है। जयधवल पु० १२ पृ० २८४-२८५ पर स्पष्ट लिखा है कि अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण में प्रारम्भ किये गये वृद्धिरूप परिणाम सम्यक्त्व प्राप्त होने पर जब तक रहते हैं [अर्थात् जब तक एकान्तानुवृद्धिरूप परिणाम रहते हैं] तब तक दर्शनमोहनीय के अतिरिक्त अन्य कर्मों की असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा होती है। उसके पश्चात् विघातरूप [मन्द] परिणाम हो जाते हैं, तब असंख्यातगुण-श्रेणिनिर्जरा, स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात आदि सब कार्य बन्द हो जाते हैं।

यदि चतुर्थगुणस्थान में प्रतिसमय नित्य असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा होने लगे तो ३३ सागर की आयु वाले देव व नारकी सम्यग्दृष्टि के तो सम्पूर्ण कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाने चाहिए थे।

श्री पण्डित माणिकचन्दजी कौन्देय, न्यायाचार्य कहते थे कि करणानुयोग समझना लोहे के चने चबाना है।

—पत्र 9-12-79/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

(१) असंयत सम्यक्त्वी के गुणश्रेणिनिर्जरा का समय
(२) असंयत सम्यक्त्वी को निर्जरा से अधिक बन्ध

शंका—असंयतसम्यक्त्वी को गुणश्रेणिनिर्जरा कब-कब होती है ? एक पुस्तक में ऐसा लिखा है कि उसको निरन्तर संख्यातगुणी निर्जरा होती है ? क्या ऐसा सम्भव है ? क्या सम्यक्त्वी के ज्ञान व दर्शन कार्यकारी हैं ? क्या असंयतसम्यक्त्वी का तप कार्यकारी है ?

समाधान—मूलाचार में लिखा है कि असंयत सम्यग्दृष्टि का तप गुणकारी नहीं होता। यदि उस तप से अविपाक निर्जरा मान ली जाय तो वह गुणकारी हो जायगा। टीकाकार श्री वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं कि जितनी कर्म निर्जरा होती है उससे अधिकतर व दृढ़तर कर्म असंयम के कारण बँध जाते हैं।[1] प्रवचनसार में कहा है कि सम्यग्दर्शन व ज्ञान संयम के बिना व्यर्थ है; यदि स्वाँखा [सुनेत्री] प्रकाश के होते हुए गड्ढे में गिरता है तो उसकी आँखें तथा प्रकाश व्यर्थ हैं।[2]

धवल, जयधवल, महाधवल आदि ग्रन्थों में से किसी में भी ऐसा नहीं लिखा है कि असंयमी के संख्यातगुणी निर्जरा होती है। यदि वह अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना, दर्शनमोह की क्षपणा या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है तो तीन करण होने से (उस समय) असंख्यातगुणी गुणश्रेणिनिर्जरा होती है, अन्य समय नहीं।

—पत्र 18-1-80/I/ज. ला. जैन भीण्डर

चतुर्थ गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व

शंका—चौथे गुणस्थानवर्ती मनुष्य के क्या क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है ? यदि हो सकता है तो किसी ऐसे व्यक्ति का नाम लिखने की कृपा करें।

समाधान—चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक वेदक सम्यग्दृष्टि दर्शन मोह की क्षपणा कर सकता है। कहा भी है—

"विसंजोइदाणंताणुबंधिचउक्को वेदयसम्माइट्ठी असंजदोसंजदासंजदो पमत्तापमत्ताण मण्णदरो संजदो वा सव्वविसुद्धेण परिणामेण दंसणमोहक्खवणाए पयट्टदि त्ति घेत्तव्वं।" जयधवल पु० १३ पृ० १२।

अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना करने वाला वेदक सम्यग्दृष्टि मनुष्य, असंयत या संयतासंयत तथा प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतों में से किसी भी गुणस्थान में, सर्वविशुद्ध परिणामों के द्वारा दर्शन मोह की क्षपणा करने में प्रवृत्त होता है।

राजा श्रेणिक ने मिथ्यात्व अवस्था में नरकायु का बंध किया उसके पश्चात् सम्यक्त्व ग्रहण करके, श्री वीर भगवान के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण किया। नरकायु का बंध हो जाने के कारण राजा श्रेणिक के चतुर्थ गुणस्थान के अतिरिक्त अन्य गुणस्थान संभव नहीं था। कहा भी है—

चत्तारिवि खेत्ताइं, आउगबंधेण होइ सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥३३४॥ गो० क०

---

1 शीलपाहुड, गाथा ५ मूल।
2. भगवती आराधना, गाथा ११, १२।

चारों ही गतियों की आयु में से किसी भी गति की आयु बंध होने पर सम्यक्त्व तो हो सकता है परन्तु देव आयु के अतिरिक्त अन्य तीन गति सम्बन्धी आयु बंध हो जाने पर अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नहीं कर सकता।

—जै. ग. 27-11-75/V/........

(१) असंयत समकिती के शल्य सम्भव है
(२) मायाशल्य एवं मायाकषाय में अन्तर

शंका—माया शल्य और माया कषाय में क्या अन्तर है ? क्या शल्य मिथ्यादृष्टि के ही होती है सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं होती ?

समाधान—पीड़ा देने वाली वस्तु को शल्य कहते हैं। कांटे आदि के समान जो चुभती रहे, शरीर और मन संबंधी बाधा का कारण हो उसे शल्य कहते हैं। कहा भी है—

शृणाति प्राणिनं यस्य तत्वज्ञैः शल्यमीरितम्।
शरीरानुप्रविष्टं हि काण्डादिकमिवाधिकम् ॥ ४/४ ॥ सिद्धान्तसार

अर्थ—जो प्राणियो को पीड़ा देता है वह शल्य है, ऐसी तत्त्वज्ञों ने शल्य शब्द की व्याख्या की है, जैसे शरीर में घुसा हुआ बाणादिक शल्य प्राणी को अधिक व्यथित करता है, वैसे ही माया, मिथ्यात्व, निदान ये तीन शल्य प्राणी को दुःख देते हैं, इसलिये ये शल्य हैं।

व्रती के यद्यपि माया कषाय का उदय होता है तथापि वह इतनी मायाचारी या कपट नहीं करता जो निरंतर उसके चुभती रहे। यदि व्रती से कोई कपट हो भी जाता है तो वह तुरन्त प्रायश्चित द्वारा उस दोष को धो डालता है और व्रत को स्वच्छ कर लेता है। किन्तु अव्रती प्रायश्चित द्वारा उस माया भाव को दूर नहीं करता। इसलिये उसके माया शल्य बना रहता है। शल्य का कथन व्रती और अव्रती की अपेक्षा से है, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से शल्य का वर्णन नहीं है। क्योंकि शल्यरहित व्रती होता है, ऐसा आर्ष वाक्य है। तत्त्वार्थ सूत्र ७/१८। किन्तु शल्य रहित सम्यग्दृष्टि होता है; ऐसा आर्ष वाक्य नहीं है।

—जै. ग. 26-6-67/IX/र. ला. जैन, मेरठ

असंयत सम्यक्त्वी हेय बुद्धि से विषय भोग करता है

शंका—चौथे गुणस्थान में विषयभोग बुद्धिपूर्वक होते हैं या अबुद्धिपूर्वक होते हैं ?

समाधान—चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय रहता है जिसके कारण वह विषय-भोग का त्याग नहीं कर सकता, किन्तु विषय-भोग को हेय तथा त्याज्य मानता है। इसलिये वह अप्रत्याख्यानावरण के उदय की बरजोरी से आत्म-निन्दा पूर्वक विषय-भोगों में इन्द्रिय-सुख का अनुभव करता है, जैसे कोतवाल द्वारा पकड़ा हुआ चोर, कोतवाल की बरजोरी से, अपना मुँह भी काला करता है और अन्य क्रिया भी करता है। कहा भी है—

"स्वाभाविकानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादि परद्रव्यम् हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् ।" बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३ टीका।

अर्थ—"स्वाभाविक अनन्तज्ञान अनन्तगुणों का आधारभूत निजपरमात्म द्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य हेय है तथा सर्वज्ञ कथित निश्चय-व्यवहार नय में परस्पर साध्य-साधक भाव है" ऐसा मानता है, किन्तु भूमि-रेखा समान क्रोधादि दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय से, मारने के लिये कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भाँति, आत्मनिंदादि सहित इन्द्रियसुख का अनुभव करता है, यह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवर्ती का लक्षण है।

श्री १०८ अमृतचन्द्र आचार्य ने कलश ११० में कहा है कि कर्म का उदय अवशपने से होता है और उस मोहनीय कर्मोदय से जो राग-द्वेष भाव होते हैं उनसे बन्ध होता है। वह वाक्य इस प्रकार है—

"किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय।"

अर्थ—किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि के अवशपने से जो कर्म उदय में आता है वह तो बन्ध का कारण है। (वह कर्मबन्ध अनन्तानन्त संसार का कारण नहीं होता)।

का वि अउव्वा दीसहि पुग्गल दव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥ स्वा० का

अर्थ—पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है जिससे जीव का जो केवलज्ञान स्वभाव है, वह भी विनष्ट हो जाता है।

जैसे एक मनुष्य को रोग हो गया और वह रोगजनित पीड़ा को सहन करने में असमर्थ है। अतः वह रोग को दूर करने के लिये इच्छापूर्वक औषधि का सेवन करता है किन्तु चाहता है कि इस औषधि से कब पिंड छूटे अर्थात् हेय बुद्धि से रोग को दूर करने की इच्छा से औषधि का सेवन करता है। उसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के कर्मोदयजनित रोग है जिसकी पीड़ा को वह सहन करने में असमर्थ है, अतः वह उस रोगजनित पीड़ा को दूर करने की इच्छा से बुद्धिपूर्वक विषय-भोग रूप औषधि का सेवन करता है किन्तु उसमें उसके हेय बुद्धि है अर्थात् निरन्तर इस प्रयत्न में रहता है कि किस प्रकार इन भोगों से छुटकारा पाऊँ (त्याग करूं) जिसके विषय-त्याग रूपी संयम धारण करने की चटापटी नहीं है तथा जो संयमियों का आदर नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है।

— जै. ग. 22-11-65/VII/टा. दा. कैराना

असंयतसम्यक्त्वी को कथंचित् उपादेय है

शंका—१० नवम्बर, १९६६ के लेख से यह सिद्ध होता है कि "असंयत सम्यग्दृष्टि के पुण्य और पाप दोनों हेय हैं।" क्या यह सर्वथा आगम-सम्मत है?

समाधान—निर्विकल्प समाधि में स्थित मुनियों के लिये तो पाप के समान पुण्य को हेय मानना उचित है, किन्तु श्रेणी आरोहण से पूर्व अवस्था वालों के लिए पुण्य हेय नहीं है। कहा भी है—"**तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? भगवानाह–यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव। यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि संतो गृहस्थावस्थायां दान–पूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभय-भ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्।**"

अर्थ—यहाँ पर शंका की गई कि यदि पुण्य पाप समान हैं, तो जो पुण्य पाप को समान मान कर बैठे हैं, उनको दूषण क्यों दिया जाता है ? आचार्य कहते हैं—शुद्धात्म-अनुभूति–स्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्प परम समाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुए यदि पुण्य पाप को समान जानते हैं, तो उनका जानना योग्य है। परन्तु जो परम समाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था में दान–पूजा आदि को छोड़ देते हैं और मुनि पद में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ देते हैं वे उभय भ्रष्ट हैं। उनके पुण्य पाप को समान जान कर पुण्य को हेय मानना दोष ही है।

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥

श्री कुन्दकुन्द कृत मोक्षपाहुड

अर्थ—व्रत और तप करि स्वर्ग होय है सो श्रेष्ठ है, बहुरि इतर जो अव्रत और अतप तिनिकरि प्राणी के नरकगति विषैं दुःख होय है सो मति होहु श्रेष्ठ नाहीं (हेय है)। छाया और आतप के विषैं तिष्ठने वाले के जे प्रतिपालक का कारण हैं तिनके बड़ा भेद है (बहुत अंतर है)।

यहाँ कहने का यह आशय है जो जेतैं निर्वाण न होय तेतैं व्रत तप आदिक (शुभ कार्यों) में प्रवर्तना श्रेष्ठ है यातैं सांसारिक सुख की प्राप्ति हो है और निर्वाण के साधन विषैं भी ये सहकारी हैं। विषय कषायादिक (अशुभ कार्यों) की प्रवृत्ति का फल तो केवल नरकादिक के दुःख हैं सो तिन दुःखनि के कारणनिकूं सेवना यह तो बड़ी भूल है, ऐसा जानना। **अष्टपाहुड़ पृ० २९३।**

श्री पूज्यपाद आचार्य ने इष्टोपदेश में भी कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

अर्थ—व्रतों के द्वारा (शुभ भावों के द्वारा) देव पद (पुण्य) प्राप्त करना अच्छा है (उपादेय है) किन्तु अव्रतों (अशुभ) के द्वारा नरक पद (पाप) प्राप्त करना अच्छा नहीं (हेय है)। जैसे छाया और धूप में बैठने वाले में महान् अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत (पुण्य) और अव्रत (पाप) के आचरण व पालन करने वालों में अन्तर पाया जाता है।

श्री अकलंक देव ने अष्टशती में तथा श्री विद्यानन्द आचार्य ने अष्टसहस्री में कारिका ८८ की टीका में परम पुण्य से मोक्ष लिखा है—"**मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्।**"

अर्थ—मोक्ष भी होय है सो परम पुण्य का उदय अर चारित्र का विशेष आचरण रूप पौरुषतैं होय है।

पंचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका में भी इसी बात को कहा गया है—"**यथा रागादिदोषरहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथा निदानरहितपरिणामोपार्जिततीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूप धर्मोपि सहकारिकारणं भवति ।**"

अर्थ—जिस प्रकार रागादि दोष रहित शुद्धात्मानुभूति सहित निश्चयधर्म भव्य जीवों के यद्यपि सिद्ध गति का कारण है, उसी प्रकार निदान रहित परिणामों से बाँधा हुआ तीर्थंकर नाम कर्म-प्रकृति व उत्तम संहनन आदि विशेष पुण्य रूप कर्म अथवा शुभ धर्म भी सिद्धगति का सहकारी कारण है।

वर्तमान पंचमकाल भरत क्षेत्र में वीतरागनिर्विकल्प समाधि (श्रेणी) तो असंभव है। प्रतिदिन पाप रूप प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। जिसका नाम सुनने मात्र से भोजन में साधारण गृहस्थ को अंतराय हो जाती थी, आज का जैन नवयुवक होटल तथा पार्टी में वे पदार्थ ही ग्रहण करता है। ऐसी दशा में पुण्य पाप को समान बतला कर पुण्य को हेय कहना कहाँ तक उचित है।

जिस प्रकार वर्तमान काल में अतदाकार स्थापना का उपदेश नहीं दिया जाता है, क्योंकि अतदाकार स्थापना के द्वारा श्रावकों की प्रवृत्ति, बिगड़ने की संभावना है; उसी प्रकार पुण्य और पाप को समान कहकर पुण्य को हेय बतलाना उचित नहीं है।

धर्म का स्वरूप पूछे जाने पर श्री मुनि महाराज ने चतुर्थ काल में भी भील को मांस का त्याग धर्म है, ऐसा उपदेश दिया था। निर्विकल्प समाधि धर्म है, ऐसा उपदेश भील को नहीं दिया गया था।

"**हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ दुःखमेव वा ॥**" इन सूत्रों द्वारा पाप को ही हेय बताया गया है। पुण्य को हेय नहीं बतलाया, क्योंकि यहाँ श्रावकों के लिए उपदेश था।

—जै. ग. 5-10-67/VII/र. ला. जैन, मेरठ

दिगम्बर आम्नाय में अव्रती के शुद्धोपयोग नहीं कहा

शंका—परमात्मप्रकाश गाथा १२ की संस्कृत टीका में चौथे पाँचवें छठे गुणस्थानों में सराग स्वसंवेदन बताया है, अतः चौथे गुणस्थान में आंशिक शुद्धोपयोग मानने में क्या बाधा है ?

समाधान—श्री प्रवचनसार गाथा १४ में शुद्धोपयोग परिणत आत्मा का कथन **श्री कुंदकुंद आचार्य** ने निम्न प्रकार किया है—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥ १४ ॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थों को और सूत्रों (पूर्वों) को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त हैं जो वीतराग अर्थात् राग रहित हैं और जिन्हें सुख-दुःख समान हैं; ऐसे मुनि को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

इस गाथा से स्पष्ट है कि साधारण मुनि को भी शुद्धोपयोगी नहीं कहा गया है। फिर चौथे गुणस्थान वाला शुद्धोपयोगी कैसे हो सकता है। जो सवस्त्र मुक्ति मानते हैं वे चौथे गुणस्थान में भी वस्त्र सहित के शुद्धोपयोग का विधान करते हैं किन्तु दिगम्बर आम्नाय में सवस्त्र के शुद्धोपयोग का विधान नहीं है।

—जै. ग. 4-1-68/VII/आ. कु. ब.

चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग का अभाव

शंका—क्षायिक सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में धर्मध्यान या शुद्धोपयोग होता है या नहीं ? वारिषेण या सेठ सुदर्शन ने निर्जन स्थान में जाकर ध्यान लगाया, उस समय क्या उनके शुद्धोपयोग नहीं था ?

समाधान—उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक कोई भी सम्यग्दृष्टि हो उसके चतुर्थ गुणस्थान में संयम का अभाव होता है, अतः वह हेय बुद्धि से इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है[1]। उसके तो क्या जो संयमासंयमी या प्रमत्तसंयत हैं उनके भी शुद्धोपयोग संभव नहीं है किन्तु धर्मध्यान रूप शुभोपयोग अवश्य होता है। कहा भी है—मिथ्यात्व सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग होता है। उसके पश्चात् असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से शुभोपयोग होता है। उसके पश्चात् अप्रमत्त आदि क्षीण–कषाय तक छह गुणस्थानों में तरतमता शुद्धोपयोग होता है। सयोगी और अयोगीजन ये दो गुणस्थान शुद्धोपयोग का फल है। **प्रवचनसार गाथा ९ पर श्री जयसेन आचार्य** की संस्कृत टीका, **बृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा** ३४ पर संस्कृत टीका।

—जै. ग. 30-5-63/IX/ब्र. ला. ब.

असंयतों का अन्तर अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन नहीं होता

शंका—धवल पु० ७ पृ० २२६ सूत्र ११७ की टीका में असंयतों का उत्कृष्ट अन्तर काल कुछ कम पूर्व कोटि बतलाया है किन्तु सूत्र ११० में संयतों का उत्कृष्ट अन्तर काल कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्तन बतलाया है। असंयतों का उत्कृष्ट अन्तर काल कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्तन क्यों नहीं कहा ?

समाधान—संयम या संयमासंयम धारण करने से असंयम का अन्तर होता है। संयम या सयमासंयम का उत्कृष्ट काल कुछ कम पूर्व कोटि काल है। "**संजमाणुवादेण संजदा, परिहारसुद्धि संजदा, संजदासंजदा केवचिरं कालादो होंति ।। १४७ ।। उक्कस्सेण पुव्वकोडी देसूणा ।। १४९ ।। धवल पु० ७ पृ० १६६–१६७ ।**

संयम मार्गणा अनुसार जीव संयत और संयतासंयत अधिक से अधिक कुछ कम पूर्व कोटि काल तक रहते हैं।

चूंकि संयम व संयमासंयम का उत्कृष्ट काल कुछ कम पूर्व कोटि है अतः असंयत का उत्कृष्ट अन्तर भी कुछ कम पूर्व कोटि कहा गया है।

संयम से या संयमासंयम से गिरकर असंयत हो जाने पर संयम या संयमासंयम का उत्कृष्ट अन्तर होता है असंयत का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल है '**उक्कस्सेण अद्धपोग्गलपरियट्टं देसूणं ।। १६८ ।।** अर्थात् असंयत का अधिक से अधिक काल-कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन है। अतः संयत व संयतासंयत का उत्कृष्ट अंतर कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र कहा है। पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान वाले सब जीव असंयत होते हैं अतः असंयतों का उत्कृष्ट काल अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन घटित हो जाता है।

—जै. ग. 10-2-72/VII/इन्द्रसेन

---

१. मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् ।
(बृहद् द्रव्यसंग्रह गा० 13 संस्कृत टीका)

असंयत समकिती की तपस्या कार्यकारी नहीं है

शंका—अणुव्रत आदि न पालता हुआ सम्यग्दृष्टि जो तप करता हुआ कहा गया है उस तप की व्याख्या चाहिये ?

समाधान—एक समाधान में **श्री कुंदकुंद आचार्य द्वारा रचित श्री मूलाचार** की निम्न गाथा उद्धृत की गई थी, उस पर यह शंका की गई है।

सम्मादिट्ठिस्स कि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥ ४९ ॥

व्रत रहित सम्यग्दृष्टि का तप महागुण (महोपकारक) नहीं है। अविरत सम्यग्दृष्टि का यह तप हस्ति-स्नान तथा चुंदच्छिद कर्म के समान है।

श्री वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती महानाचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—**"गुणोऽनेन कृत इत्यत्रोपकारे वर्तते इहोपकारे वर्त्तमानो गृह्यते। तेन तपो महोपकारं भवति। कर्मनिर्मूलनं कर्त्तुमसमर्थं तपोऽसंयतस्य दर्शनान्वितस्यापि कुतो यस्माद्भवति हस्तिस्नानं। यथा हस्ती स्नानोपि न नैर्मल्यं वहति पुनरपि करेणार्जित पांसुपटलेनात्मानं मलिनयति तद्वत्तपसा निर्जीर्णोऽपि कर्मांशे बहुतारादानं कर्मणोऽसंयममुखेनेति दृष्टांतांतरमप्याचष्टे चुंदच्छिदकम्मं चुंदं काष्ठं छिनत्तीति चुंदच्छिद्रज्जुस्तस्याः कर्म क्रिया, यथा चुंदच्छिद्रज्जोरुद्वेष्टनं वेष्टनं च भवति तद्वत्तस्यासंयतस्य तत्तपः। अथवा चुंदच्छुदगं व–चुंदच्युतकमिव मंथनचर्मपालिकेव तस्संयमहीनं तपः। दृष्टांत-द्वयोपन्यासः किमर्थ इति चेन्नैष दोषः अपगतात्कर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानो-पन्यासः। आर्द्रतनुतया हि बहुतरमुपादत्त रजः, बंधरहिता निर्जरा स्वास्थ्यं प्रापयति नेतरा बंधसहभाविनीति। किमिवं ? चुंदच्छिदः कर्मेव—एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयतिः तपसा निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति ॥४९॥"**

इस गाथा में गुण शब्द से उपकार ग्रहण किया गया है। कर्मों को निर्मूल कर देना अनशनादि तप का उपकार है। सम्यग्दर्शन से सहित होने पर भी असंयत के तप कर्मों को निर्मूल करने में असमर्थ हैं जैसे गज स्नान; इसलिये अविरत सम्यग्दृष्टि का अनशनादि तप उपकारक नही है। जैसे हाथी स्नान करके भी निर्मलता धारण नहीं करता है पुनः अपनी शूंड से मस्तक पर और पीठ पर धूलि डालकर सर्व अंग मलिन करता है। वैसे तप से कर्मांश निर्जीर्ण होने पर भी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव असंयम के द्वारा बहुतर कर्मांश को ग्रहण करता है।

दूसरा दृष्टान्त चुंदच्छिद कर्म का है। लकड़ी में छिद्र पाड़ने वाला बर्मा छेद करते समय डोरी बांधकर घुमाते हैं। उस समय उसकी डोरी एक तरफ से ढीली होती हुई दूसरी तरफ से उसको दृढ़ बद्ध करती है। वैसे अविरत सम्यग्दृष्टि का पूर्व बद्ध कर्म निर्जीर्ण होता हुआ उसी समय असंयम द्वारा नवीन कर्म बँध जाता है। अतः असंयत सम्यग्दृष्टि का तप महोपकारक नहीं होता।

यहाँ दो दृष्टांतों की क्या आवश्यकता है ? उत्तर—जितना कर्म आत्मा से छूट जाता है उससे बहुतर कर्म असंयम से बँध जाता है ऐसा अभिप्राय निवेदन के लिये हस्तिस्नान का दृष्टांत है। हाथी का शरीर स्नान से गीला होता है, अतः उस समय वह अपने अंग पर बहुत धूलि डालकर अपना अंग मलिन करता है। जो निर्जरा बंधरहित होती है वह आत्मा को स्वास्थ्य की (शुद्धता की) प्राप्ति करने में सहायक होती है। बंधसहभाविनी निर्जरा स्वास्थ्य (शुद्धता) प्रदान में असमर्थ है।

दूसरे दृष्टान्त का अभिप्राय यह है—वर्मा का एक पार्श्वभाग रज्जु से दृढ़ वेष्टित होता है और दूसरा पार्श्वभाग मुक्त होता है, वैसे ही तप से असंयत सम्यग्दृष्टि कर्म की निर्जरा करता है परन्तु असंयम भाव से उससे अधिक (जितनी कर्म निर्जरा हुई उससे अधिक) बहुतर कर्म ग्रहण किया जाता है तथा वह कर्म अधिक दृढ़ भी होता है। फलटण से प्रकाशित मूलाचार पृ० ४७६।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि जिस तप का फल कर्मों को निर्मूल कर देना है, वह तप अविरत (व्रत रहित) सम्यग्दृष्टि को अपना फल देने में असमर्थ है, क्योंकि असंयम के कारण उस अविरत-सम्यग्दृष्टि के अधिकतर व दृढ़तर कर्मों का बंध होता है। इसलिये श्री कुंदकुंद आचार्य ने अष्ट पाहुड़ में 'संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।' इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि यदि संयम रहित मनुष्य तप करता है वह सब निरर्थक है।

इस कथन से उनका खंडन हो जाता है जो अविरत सम्यग्दृष्टि को सर्वथा निरास्रव व बंध रहित मानते हैं।

यहाँ पर 'तप' से पंचाग्नि आदि कुतपों का प्रयोजन नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुतप नहीं कर सकता है और न कुतप का फल कर्मों को निर्मूल कर देना है। अतः यहां पर 'तप' से प्रयोजन अनशन आदि तपस्या का है; क्योंकि ये तप ही कर्मों को निर्मूल कर देने में समर्थ हैं। कहा भी है—"तपसा निर्जरा च ॥३॥ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्य-स्वाध्याय व्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥" मोक्षशास्त्र।

इन सूत्रों का विशेष कथन सर्वार्थसिद्धि आदि शास्त्रों से जान लेना चाहिए।

व्रत धारण करने से ही इस मनुष्य पर्याय की सफलता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो चारों गतियों में हो सकती है, किन्तु संयम को कर्मभूमियों का पुरुष ही धारण कर सकता है, अन्य गति वाला संयम धारण नहीं कर सकता है।

—जै. ग. 2-7-70/VII/ ब्रा. च., दिल्ली

अचारित्री चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सुखी नहीं, बल्कि दुःखी ही है।

शंका—चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि क्या सुख ही वेदता है या दुःख भी वेदता है? उसका वेद्य-वेदक भाव क्या है? उसकी मोक्तृत्व क्रिया क्या है? सम्यग्ज्ञान के प्रबल प्रताप से सुख में लगने की मुख्यता रहती है या दुःख (राग द्वेष) का वेदन करता है? स्वात्मानुभूति के द्वारा क्या एकांत रूप से सुख का ही वेदन करता है? क्या स्वात्मानुभूति शुद्धोपयोग के कारण उसके कर्म बन्ध नहीं होता है और सर्व कर्मों की निर्जरा हो जाती है?

समाधान—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

णो इन्दियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥ गो० क०

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से तथा हिंसा आदि पाँच पापों से विरत नहीं है। श्री १०८ सकलकीर्ति आचार्य ने इन्द्रियों के विषय में इस प्रकार लिखा है—

इन्द्रियैस्तस्करैर्लोको, वराको व्याकुलीकृतः ।
धर्मरत्नं समाहृत्य, मनोराजेन प्रेरितैः ॥
इन्द्रिय तस्करदुर्धरा अपि खला लुण्ठन्ति जीवस्यताम् ।
वृतज्ञानगुणादि-रत्ननिचितं, भाण्डं जगत्तारकम् ॥
ये सन्नह्य यतीश्वरा यमधनुश्चादाय मार्गे स्थितान् ।
घ्नन्ति ध्यानशरेण तत्र सुखिनो, यान्त्येव मुक्त्यालयम् ॥

मनरूपी राजा से प्रेरित होकर इन्द्रियरूपी चोरों ने धर्म रूपी रत्न को चुराकर बेचारे जगत् को व्याकुल कर रक्खा है। इन्द्रियरूपी दुर्धर तथा दुष्ट चोर, जीव के जगत्तारक सम्यक् चारित्र तथा ज्ञान आदि गुणरूपी रत्नों को लूट रहे हैं। जो मुनिराज चारित्ररूपी धनुष को लेकर, मार्ग में खड़े हुए उन इन्द्रियरूपी चोरों को ध्यानरूपी बाणों के द्वारा मारते हैं, वे ही सुखपूर्वक मोक्ष महल को प्राप्त होते हैं।

श्री १०८ कुलभद्राचार्य भी लिखते हैं—

वरं हालाहलं भुक्तं विषं तद्भवनाशनम् ।
न तु भोगविषं भुक्तमनन्तभवदुःखदम् ॥
इन्द्रियप्रभवं सौख्यं, सुखाभासं न तत्सुखम् ।
तच्च कर्मविबन्धाय, दुःखदानैक पण्डितम् ॥
अक्षाण्येव स्वकीयानि, शत्रवो दुःखहेतवः ।
विषयेषु प्रवृत्तानि, कषायवशवर्तिनः ॥ [सार समुच्चय ७६-७९]
किम्पाकस्य फलं भक्ष्यं, कदाचिदपि धीमता ।
विषयास्तु न भोक्तव्या, यद्यपि सुपेशलाः ॥ [सा० स० ८९]
को वा तृप्तिं समायातो, भोगैर्दुरितबन्धनैः ।
देवो वा देवराजो, वा चक्रांको वा नराधिपः ॥

उसी एक जन्म को नाश करने वाले हलाहल विष को खा लेना अच्छा है, परन्तु अनेक जन्मों में दुःख देने वाले इन्द्रिय भोगरूपी विष को भोगना ठीक नहीं है। इन्द्रिय भोगरूपी सुख सुखाभास है सच्चा सुख नहीं है। वह तो विशेष कर्म बन्ध कराने वाला है और महान् दुःखदायक है। विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियाँ ही दुःख का कारण हैं और आत्मा की शत्रु हैं। स्वादिष्ट तथा विषवत् फल को देने वाला किंपाक फल कदाचित् खा लेना अच्छा है किंतु बड़े सुन्दर होने पर भी इन्द्रियों के भोग भोगना अच्छा नहीं है। इंद्रिय-भोग पाप को बाँधने वाले हैं। देव, इंद्र, चक्रवर्ती भी इन भोगों से तृप्त नहीं हुए, अन्य तो कैसे तृप्त हो सकता है।

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकरणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं, सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥

इन्द्रिय जनित सुख पराधीन है, बाधा सहित है, विच्छिन्न है और विषम है; अतः वह सुख नहीं अपितु दुःख ही है।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दष्टि जीव इन्द्रिय विषयों से विरक्त नहीं है अतः वह सुखी नहीं है। परमार्थ से वह दुःखी है, अतः वह दुःख का वेदन करता है। वह पारमार्थिक सुख का वेदन नहीं करता है; किन्तु पारमार्थिक सुख की उसे श्रद्धा है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है—

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥ पंचास्तिकाय गा० ३९

सर्व स्थावरकाय वास्तव में कर्मफल को वेदते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय [नारकी, देव, तिर्यंच तथा मनुष्य]; ये जीव कर्मचेतना सहित कर्म–फल [सुख–दुःख] को वेदते हैं। प्राणों का अतिक्रमण करने वाले अर्थात् केवलज्ञानी जीव ज्ञान को वेदते हैं।

"फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा" कर्मफल इन्द्रिय–जनित सुख व दुःख है। ●●●

असंयत सम्यग्दष्टि पंचेन्द्रियों के विषयों को भोगता है, क्योंकि वह इन्द्रिय विषयों से विरक्त नहीं है। अथवा वह कर्मफल स्वरूप सुख-दुख को भोगता है।

असंयत सम्यग्दष्टि चारित्र धारण नहीं करता है अतः वह राग-द्वेष से निवृत्त नहीं होता है। इस कारण वह रागद्वेष का वेदन करता है, उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। उसका सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कुछ कार्यकारी नहीं है। कहा भी है—"यथा प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेनकूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति, न किमपि। तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्प रूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति।"

जैसे दीपक रखने वाला पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूप पतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धान रूप व दृष्टि (ज्ञान) कुछ भी कार्यकारी नहीं हुई, वैसे यह जीव श्रद्धान और ज्ञान सहित भी है, परन्तु पौरुष के समान चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयम भाव से अपने आपको नहीं हटाता है, तो श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तथा ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) उसका क्या हित कर सकते हैं ? कुछ भी हित नहीं कर सकते।

श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य ने भी समयसार आत्मख्याति टीका में कहा है—"यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते। तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किंवास्रवेभ्योनिवृत्तं। आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः।" स० सा० ७२ आ० ख्या०।

जिस समय आत्मा और आस्रवों का भेद जान लिया, उसी समय वह क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। उन क्रोधादि आस्रवों से जब तक निवृत्त नहीं होता, तबतक उसके पारमार्थिक (सच्ची) भेद ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। यदि ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है तो तेरी आस्रवों में प्रवृत्ति है या निवृत्ति ? यदि तू आस्रवों में प्रवर्त्ता है तो आत्मा और आस्रव के अभेद रूप अज्ञान से तेरे ज्ञान में कोई विशेषता नहीं हुई अर्थात् तेरा ज्ञान (भेदज्ञान) अज्ञान सदृश ही है।

श्री १०८ अकलंक देव ने भी कहा है—"हतंज्ञानं क्रियाहीनं।" अर्थात् चारित्र रहित ज्ञान निकम्मा है।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसण विहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥

इस शीलपाहुड की गाथा में १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने भी बतलाया है कि चारित्र रहित का (असंयत सम्यग्दृष्टि का) ज्ञान निरर्थक है। निम्न गाथा में यह भी कह दिया है कि जो इन्द्रिय विषयों से विरक्त नहीं है, उसका सम्यग्ज्ञान विषयों के द्वारा नष्ट हो जाता है—

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥ २ ॥ शीलपाहुड

विद्वानों ने शील (विषय विराग) और ज्ञान का परस्पर विरोध नहीं कहा है, किन्तु यह कहा है कि शील के बिना विषय (पंचेन्द्रियों के विषय) ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को नष्ट कर देते हैं।

इस प्रकार चारित्र रहित अर्थात् चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि का ज्ञान तप निरर्थक है तथा पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त न होने के कारण, विषयों द्वारा उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है।

तीर्थंकर भगवान भी संयम धारण करने से पूर्व अपने विषय में क्या विचार करते हैं, उसका वर्णन श्री १०८ गुणभद्र आचार्य ने निम्न श्लोकों द्वारा किया है।

सुधीः कथं सुखांशेप्सु विषयामिषगृद्धिमान्।
न पापं बडिशं पश्येन्न चेदनिमिषायते ॥
मूढः प्राणी परां प्रौढिम प्राप्तोऽस्त्वहिता हितः।
अहितेनाहितोऽहं च कथं बोधत्रयाहितः ॥
निरङ्कुशं न वैराग्यं यादृग्ज्ञानं च तादृशम्।
कुतः स्यादात्मनः स्वास्थ्यम् स्वस्थस्य कुतः सुखम् ॥

भगवान ने विचार किया कि अल्प सुख की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान मानव, इस विषय रूपी मांस में क्यों लम्पट हो रहे हैं। यदि यह प्राणी मछली के समान आचरण न करे तो पापरूपी बंसी का साक्षात्कार न करना पड़े 'जो परम चातुर्य को प्राप्त नहीं है, ऐसा मूर्ख प्राणी भले ही अहितकारी कार्यों में लीन रहे, परन्तु मैं तो तीन (मति-श्रुत-अवधि) ज्ञानों से सहित हूँ फिर भी अहितकारी कार्यों में कैसे लीन हो गया ?' जब तक यथेष्ट वैराग्य नहीं होता और यथेष्ट सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा की स्वस्वरूप में स्थिरता कैसे हो सकती है ? और जिनके स्वरूप में स्थिरता नहीं उसके सुख कैसे हो सकता है ?

यहाँ पर यह बतलाया गया कि जो इन्द्रिय-विषयों से विरक्त नहीं है, उसके स्वरूप में स्थिरता (रमणता) संभव नहीं और न वह सुखी हो सकता है। चतुर्थ गुणस्थान वाला अविरत सम्यग्दृष्टि पाँच इन्द्रियों के विषयों से विरत नहीं है, वह तो विषय रूपी अहितकारी कार्यों में लीन है अतः उसके यथेष्ट वैराग्य व ज्ञान सभव न होने से, उसके स्वस्वरूप में स्थिरता (रमण) तथा सुख नहीं हो सकता है।

●●●

अविरत सम्यग्दृष्टि पंच पापों से भी विरक्त नहीं है। पाप दुःख के कारण हैं तथा दुःख स्वरूप हैं अतः आत्मा के शत्रु हैं। श्री १०८ सकलकीर्ति आचार्य ने कहा है—

पापं शत्रुं परं विद्धि श्वभ्रतिर्यग्गति प्रदम्।
रोगक्लेशादिभण्डारं सर्वं दुःखकरं नृणाम्॥
पापवतो हि नास्त्यस्य धनधान्यगृहादिकम्।
वस्त्रालंकारसद्वस्तु दुःखक्लेशानि सन्ति च॥

मनुष्यों के लिये नरक तिर्यंच गति को देने वाले, रोग-क्लेश आदि का भण्डार तथा समस्त दुःखों की खान स्वरूप पाप को सबसे बड़ा शत्रु जानो। पाप युक्त मनुष्य को धन-धान्य, घर आदिक तथा वस्त्र आभूषण आदि उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त नहीं होते, इसके विपरीत दुःख और क्लेश प्राप्त होते हैं।

मोक्षशास्त्र ७/९-१० तथा उसकी सर्वार्थसिद्धि टीका में भी कहा गया है—"हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् दुःखमेव वा॥"

टीका—"अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशकः प्रयोगोऽपायः। अवद्यं गर्ह्यम्।"

हिंसादिक पाँच पापों में इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी अपाय और अवद्य का दर्शन भावने योग्य है। स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करने वाली प्रवृत्ति अपाय है। अवद्य का अर्थ गर्ह्य है। इस प्रकार ये पाँचों पाप इस लोक और परलोक दोनों लोकों में आत्मा का अहित करने वाले हैं। अथवा ये पाँचों पाप दुःख रूप ही हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि न तो पंचेन्द्रिय विषयों से और न पंच पापों से विरक्त है अतः उसके आत्मीक सुख नहीं है और न आत्म-स्थिरता (रमणता) है; साता वेदनीय कर्मोदय के कारण इन्द्रिय जनित सुखाभास होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि को ज्ञान का फल सद्वृत्ति रूप चारित्र भी प्राप्त नहीं है, अतः उसका ज्ञान अपना कार्य न करने से निरर्थक है। श्री १०८ कुलभूषण आचार्य ने कहा भी है—

परं ज्ञान फलं वृत्तं न विभूतिर्गरीयसी।
तया हि वर्धते कर्म सद्वृत्तेन विमुच्यते॥

ज्ञान का फल उत्तम व्रत रूप चारित्र है, न कि विपुल धन का लाभ। विपुल धन के संयोग से तो कर्म-बन्ध होगा जब कि सद्व्रत रूप चारित्र से कर्म-बन्ध का नाश होगा।

सम्यक् चारित्र के अभाव के कारण अविरत सम्यग्दृष्टि के कर्म निर्जरा का अभाव है।

—जै. ग. 23-5-74 से 13-6-74/VII, II, V/........

(१) चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण; 'निश्चल अनुभूति तथा सराग चारित्र नहीं है
(२) 'अनुभूति' स्वरूपाचरण चारित्र है

शंका—श्रेयोमार्ग में स्व० पं० अजितकुमारजी ने लिखा था कि चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता अन्यथा गृहस्थ अवस्था में ही कर्मों का क्षय होकर मुक्ति का प्रसंग आ जायगा।

चौथे गुणस्थान में गृहस्थ के हेय, उपादेय का ज्ञान तथा भेदविज्ञान व स्वानुभूति होती है, वही तो स्वरूपाचरण चारित्र का अंश है। पांचवें गुणस्थान में अणुव्रत हो जाने से स्वरूपाचरण चारित्र के अंश में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते अर्हंतों के सम्पूर्ण रूप से स्वरूपाचरण चारित्र हो जाता है। अतः चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र क्यों न माना जाय ? अन्यथा उस चारित्र को क्या कहा जाय ?

समाधान—यथाख्यात चारित्र को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। कहा भी है—

"रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं।" परमात्मप्रकाश २/३६

अर्थ—रागद्वेष के अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र स्वरूपाचरण चारित्र है वही निश्चय चारित्र है।

"स्वरूपे चरणं चारित्रं वीतरागचारित्रमिति।" परमात्मप्रकाश २/४०

जो वीतराग चारित्र है वही स्वरूपाचरण चारित्र है।

यथाख्यात चारित्र अर्थात् वीतराग चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान से पूर्व नहीं होता है अतः स्वरूपाचरण चारित्र भी ग्यारहवें गुणस्थान से पूर्व नहीं होता है।

'यथाख्यात चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र' चारित्र गुण की पर्याय है जो संज्वलन कषायोदय के अभाव में उत्पन्न होती है। जब तक स्वरूपाचरण चारित्र का घातक संज्वलन कषाय का उदय है उस समय तक यथाख्यात चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र का अंश भी उत्पन्न नहीं हो सकता। चारित्र की अन्य पर्याय उत्पन्न हो सकती है।

चतुर्थ गुणस्थान में जहाँ चारित्र का भी अंश नहीं है वहाँ स्वरूपाचरण चारित्र का अंश कैसे संभव हो सकता है ? चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र का निषेध निम्न आर्ष ग्रन्थों से हो जाता है—

समेतमेव सम्यक्त्वज्ञानाभ्यां चरितं मतम्।
स्यातां विनापि ते तेन गुणस्थाने चतुर्थके ॥७४/५४३॥ उत्तरपुराण

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से सहित ही सम्यक् चारित्र होता है परन्तु चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक् चारित्र के बिना भी सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होता है।

"सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम्।" रा. वा. १/१/७५

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर चारित्र भजनीय है अर्थात् चारित्र हो अथवा न भी हो। जैसे चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तो है किन्तु चारित्र नहीं है, छठे आदि गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्चारित्र भी होता है।

यदि यह कहा जाये कि चतुर्थ गुणस्थान में मोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय का अभाव है अतः उसके अभाव में जो चारित्र उत्पन्न होता है, वह ही स्वरूपाचरण चारित्र है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषायोदय का अभाव तीसरे गुणस्थान में भी होने से तीसरे गुणस्थान में भी स्वरूपाचरण चारित्र का प्रसंग आजायगा जो किसी को भी इष्ट नहीं है। दूसरे जो अनन्त संसार का कारण है वह अनन्तानुबन्धी है ऐसा अनन्तानुबन्धी शब्द का अर्थ होता है। कहा भी है—

"ण चाणंताणुबंधिचउक्कवावारो चारित्ते णिप्फलो, अपच्चक्खाणादिअणंतोदय-पवाहकारणस्स णिप्फलत्त-विरोहा।" धवल पु० ६ पृ० ४३।

अर्थ—चारित्र में अनन्तानुबन्धीचतुष्क का व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानादि के उदय के अनन्त प्रवाह में कारणभूत अनन्तानुबन्धी कषाय के निष्फलत्व का विरोध है।

वास्तव में चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानावरण आदि कषाय हैं, क्योंकि प्रत्याख्यान का अर्थ चारित्र या संयम है, **'प्रत्याख्यानं संयमः'** ऐसा आर्ष वाक्य है। अप्रत्याख्यान का अर्थ ईषत् चारित्र है, क्योंकि **"नञ् ईषदर्थत्वात् नञः।"** जो ईषत् चारित्र को भी न होने देवे वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। ऐसा अप्रत्याख्याना-वरण का अर्थ होता है। प्रथम चार गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है अतः इन चार गुणस्थानों में संयम का अभाव अर्थात् असंयम होता है।

"कथमेवं मिथ्यात्वादित्रयं संसारकारणं साधयतः सिद्धान्तविरोधो न भवेदिति चेन्न, चारित्रमोहोदयेऽन्त-रंगहेतौ सत्युत्पद्यमानयोरसंयममिथ्यासंयमयोरेकत्वेन विवक्षितत्वाच्चतुष्टयकारणत्वासिद्धेः संसरणस्य तत एवावि-रतिशब्देनासंयमसामान्यवाचिना बंधहेतोरसंयमस्योपदेशघटनात्।" श्लोकवार्तिक १ पृ० ५५६।

यहाँ किसी का तर्क है कि मिथ्याचारित्र और असंयत-सम्यग्दृष्टि का असंयम यदि भिन्न-भिन्न है तो संसार के कारण (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और असंयम) चार हुए। फिर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र इन तीन को संसार का कारण कहने वाले सिद्धान्त से क्यों न विरोध होगा? क्योंकि इनसे भिन्न असंयम को ससार का कारण-पना हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्याचारित्र और असंयम इन दोनों भावों का अतरंग कारण चारित्र मोहनीय कर्मोदय है। चारित्र मोहनीय कर्मोदय के उदय होने से उत्पन्न होने वाले अचारित्र और मिथ्याचारित्र की एकरूपपने से विवक्षा पैदा हो चुकी है। अतः संसार के कारणों को चारपना सिद्ध नहीं है। इसीलिए मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग को (अध्याय ८ सूत्र १ में) जो बन्ध का हेतु कहा गया है वहाँ पर भी आचार्य महाराज ने 'अविरति' से, मिथ्या-चारित्र और चतुर्थ गुणस्थान के असंयम इन दोनों को ग्रहण किया है।

यदि प्रथम गुणस्थान के असंयम को और चतुर्थ गुणस्थान के असंयम को अप्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहनीय कर्मोदय का कारण न होता तो द्वादशांग में **'असंजदा एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति॥'** अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक असंयत जीव होते हैं; इस सूत्र की रचना न होती। प्रथम और

दूसरे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय अनन्तानुबन्धी कषायोदय भी होती है अतः इन दो गुणस्थानों में यदि अप्रत्याख्यानावरण के साथ अनन्तानुबन्धी को भी असंयम का कारण कह दिया जाय तो कोई बाधा नहीं है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी उस असंयम में अनन्त प्रवाह उत्पन्न कर रही है।

यदि यह कहा जाय चतुर्थ गुणस्थान में जो निश्चल-अनुभूति होती है वही स्वरूपाचरण चारित्र है भले ही वह एक क्षण के लिए हो सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो निश्चल-अनुभूति है वह वीतराग चारित्र है, चतुर्थ गुणस्थान में सराग चारित्र भी नहीं है वीतराग-चारित्र की बात तो दूर रही।

"सरागचारित्रं पुण्यबन्ध कारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपं वीतराग-चारित्रम-हमाश्रयामि।" प्रवचनसार गाथा ५ की टीका।

अर्थात्—सराग चारित्र पुण्य बन्ध का कारण है ऐसा जानकर उसको छोड़कर वीतराग चारित्र, जो कि निश्चल शुद्धात्मानुभूति रूप है उसका आश्रय लेता है।

"निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थं हे शिष्य ! स्व-समयं जानीहि। पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदास्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यं।" समयसार गाथा २ टीका।

जो निश्चल अनुभूति है वही वीतराग चारित्र है। ऐसे लक्षण वाले निश्चय रत्नत्रय से परिणत जीव को, हे शिष्य तू स्वसमय जान। जो जीव पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रय में स्थित नहीं है उसको परसमय जानो।

इन आर्ष वाक्यों से सिद्ध है कि जो निश्चल-अनुभूति है वह वीतराग चारित्र का स्वरूप है। इसीलिये **प्रवचनसार गाथा २२१ की टीका में "शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणासंयमः।"** इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि असंयमी के शुद्धात्मानुभूति नहीं होती है।

इस पर भी असंयत सम्यग्दृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान में निश्चल अनुभूति अथवा शुद्धात्मानुभूति कहना उपर्युक्त आर्ष वाक्यों का अपलाप करना नहीं तो क्या है ?

अनुभवन या अनुभूति का अर्थ चेतनागुण भी होता है। आलापपद्धति में तथा टिप्पण में कहा भी है— **"चेतनस्य भावश्चेतनत्वम्, चैतन्यमनुभवनम्। चैतन्यमनुभूतिः स्यात्। अनुभूतिर्जीवाजीवादिपदार्थानां चेतनमात्रम्।"**

चेतन के भाव को चेतनत्व कहते हैं। चैतन्य का अर्थ अनुभवन है। वह चैतन्य ही अनुभूति है। जीव अजीव आदि पदार्थों की चेतना अनुभूति है। इस प्रकार अनुभवन या अनुभूति चेतना का पर्यायवाची नाम है।

"ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेन।" प्रवचनसार गाथा २४२ की टीका।

अर्थ—ज्ञेय तत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथा प्रकार (यथार्थ) अनुभूति जिसका लक्षण है, वह ज्ञान की पर्याय है।

इस प्रकार अनुभूति को चेतनागुण अथवा ज्ञान गुण की पर्याय भी कहा है। फिर 'अनुभूति' स्वरूपाचरण चारित्र अर्थात् चारित्र गुण की पर्याय कैसे हो सकती है।

इस प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान में किसी भी आर्ष वाक्य से स्वरूपाचरण सिद्ध नहीं होता, अपितु निषेध ही होता है। इसलिये स्व० पं० अजितकुमारजी ने ठीक ही लिखा है।

—जै. ग. 2-1-69/VII/प्र. मा.

पंचमगुणस्थान की पात्रता

शंका—गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ३२९ में लिखा है कि देवायु का बंध बगैर अणुव्रत महाव्रत नहीं चले। सो कैसे ?

समाधान—नारकी जीवों के तो नित्य अशुभ लेश्या रहती है, इसलिये वे अणुव्रत या महाव्रत धारण नहीं कर सकते। देवों और भोगभूमिया मनुष्यों का आहार नियत है, इसलिये वे भी अणुव्रत या महाव्रत नहीं पालन कर सकते। यद्यपि वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि और अत्यधिक शक्ति वाले होते हैं तथापि वे संयम या संयमासंयम नहीं धारण कर सकते, क्योंकि उनके आहार करने की पर्याय नियत होने से वे आहार संबंधी इच्छा नहीं कर सकते।

अतः मात्र कर्मभूमिया मनुष्य संयम धारण कर सकते हैं। किन्तु जिन मनुष्यों ने नारक, तिर्यंच तथा मनुष्य आयु का बंध कर लिया है वे संयम या संयमासंयम धारण नहीं कर सकते, क्योंकि नरकायु आदि का बंध हो जाने पर उनके अणुव्रत या महाव्रत को ग्रहण करने की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। कहा भी है—

"देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसम्बद्धायुषोपलक्षितानामणुव्रतोपादानबुद्धयनुत्पत्तेः।" धवल पु० १ पृ० ३२६।

अर्थ—देवगति को छोड़कर शेष तीन गति संबन्धी आयुबंध से युक्त जीवों के अणुव्रत ग्रहण करने की बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है।

—जै. ग. 24-7-67/VII/ज. प्र. म. कु.

पंचमगुणस्थान में आस्रवबन्ध की न्यूनता व निर्जरा का नैरन्तर्य

शंका—मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ पेज १९७ पंचम षष्ठम गुणस्थान में गुणश्रेणी निर्जरा होती है आहार विहारादि क्रिया होते परद्रव्य चितवनतें भी आस्रव बंध थोरा हो है। क्या यह सब पंचम गुणस्थान में संभव है ?

समाधान—यहाँ पर कथन चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा से किया गया है। मोक्षमार्ग-प्रकाशक के शब्द इस प्रकार हैं—"बहुरि चौथा गुणस्थान विषै कोई अपने स्वरूप का चितवन करै है ताकै भी आस्रव बंध अधिक है। पंचम षष्ठम गुणस्थान विषै आहार विहारादि क्रिया होते पर द्रव्य चितवनतैं भी आस्रव बंध थोरा हो है वा गुण-श्रेणी निर्जरा हुवा करे है।"

चतुर्थ गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से तत् सम्बन्धी दस प्रकृतियों का आस्रव व बंध होता है किन्तु पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से उन दस प्रकृतियों का आस्रव व बंध नहीं होता। तथा अन्य प्रकृतियों के स्थिति अनुभाग में भी अन्तर पड़ जाता है।

पंचम गुणस्थान में एक देश संयम हो जाता है, संसार देह भोगों से विरक्तता हो जाती है। असीम इच्छा रुक कर सीमित हो जाती है। निरर्गल प्रवृत्ति बन्द हो जाती है। क्रिया यत्नाचार पूर्वक होती है। इसलिये भी चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा पंचम गुणस्थान में आहार-विहार आदि के समय भी आस्रव बंध थोड़ा होता है और एक देश संयम के कारण गुण श्रेणी निर्जरा होती है।

—जै. ग. 27-8-64/IX/ध. ला. सेठी

संयमासंयम एवं संयम के हेतुभूत क्षयोपशम का लक्षण

शंका—तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र ५ की सर्वार्थसिद्धि टीका में जो क्षयोपशम का स्वरूप दिया है तथा अ० ९ सूत्र ४५ की टीका में श्रावक और विरत का लक्षण देते हुए 'क्षयोपशम' शब्द का जो प्रयोग किया है वह प्रायः अन्य सभी ग्रंथकारों से निराला है और इसीलिए ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० १५७ में अनुवादक महाशय ने 'प्रत्याख्यान कषायोदय' पद का देशघाती परक अर्थ किया है, पर तब सर्वघाती स्पर्द्धकों का क्या होगा ? यह नहीं बतलाया गया है। अगर सर्वार्थसिद्धिकार को यही इष्ट होता तो उन्होंने ऐसा क्यों नहीं लिख दिया—'प्रत्याख्यान-कषायस्य च संज्वलन-कषायस्य देशघाती स्पर्द्धकोदये' श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ८४ पर यही भाव लिखा है (देशोदय न लिखकर दोनों का सिर्फ उदय लिखा है)। पर राजवार्तिककार और श्लोकवार्तिककार दोनों सर्वार्थसिद्धि के इस विषय को प्रायः छोड़ गये हैं। इस सबमें क्या रहस्य है ?

समाधान— सर्वार्थसिद्धि अ० २ सूत्र ५ मे क्षयोपशम का लक्षण इस प्रकार दिया है 'सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से, देशघातीस्पर्द्धकों का उदय होने पर क्षयोपशमिक भाव होता है' संयमासंयम का स्वरूप इस प्रकार कहा है "अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय होने पर और संज्वलन कषाय के देशघातीस्पर्द्धकों के उदय होने पर तथा नोकषाय का यथासम्भव उदय होने पर जो विरताविरत रूप क्षयोपशमिक परिणाम होता है वह सयमासंयम कहलाता है।" श्री राजवार्तिक में भी इसी प्रकार कहा है। सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ४५ में इस प्रकार कहा है 'पुनः वह ही चारित्र मोहनीय कर्म के एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की प्राप्ति के समय विशुद्धि का प्रकर्ष होने से श्रावक होता हुआ उससे असंख्यगुण निर्जरावाला होता है।" प्रत्याख्यानावरण कर्म, संज्वलन व नौ नोकषाय का उदय श्रावक के निर्जरा में कारण नहीं है, अतः वहाँ पर निर्जरा का प्रकरण होने से प्रत्याख्यानावरण आदि के उदय का कथन नहीं किया। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से निर्जरा होती है अतः उसका ही कथन किया है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि श्रावक के प्रत्याख्यानावरण आदि कषायों का उदय नहीं होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम कहने का यह अभिप्राय है कि वर्तमान में उदय आने वाले अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के निषेकों का उदयाभावी क्षय और आगामी उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम होता है।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से कषाय चार प्रकार की है। उनमें से अनन्तानुबन्धी कषाय आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करती है और अप्रत्याख्यानादि कषायों के अनन्त उदय रूप प्रवाह का कारणभूत भी अनन्तानुबन्धी कषाय है। 'अप्रत्याख्यान' शब्द देशसंयम का वाचक है। देशसंयम का जो आवरण करता है वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। प्रत्याख्यान, संयम और महाव्रत ये तीनों एक अर्थ वाले नाम हैं। संयम अर्थात् महाव्रत को जो आवरण करता है वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है। जो चारित्र को नहीं विनाश करते हुए संयम में मल को उत्पन्न करते हैं वे संज्वलन कषाय हैं। षट्खंडागम पुस्तक ६।

इन उपर्युक्त लक्षणों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'प्रत्याख्यानावरण कषाय' सकल चारित्र को घात करती है। देशचारित्र अर्थात् संयमा-संयम को घात करने का कार्य प्रत्याख्यानावरण कषाय का नहीं है। अतः प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलचारित्र को घात करने की अपेक्षा सर्वघाती ही है, किन्तु इसके उदय में संयमासंयम हो सकता है अतः संयमासंयम की अपेक्षा देशघाती कहा जा सकता है। विशेष जानकारी के लिये षट्खंडागम पुस्तक ५, पृष्ठ २०२, पुस्तक ७, पृष्ठ ९४ तथा गो० जीवकांड गाथा ३० की जी० प्र० टीका देखनी चाहिए।

—जै. सं. 25-7-57/ ट. ला. क., केकड़ी

छठे गुणस्थान में अशुभ लेश्या का अस्तित्व

शंका—क्या 'बकुश' और कुशीलमुनि छठे गुणस्थान वाले होते हैं, अगर हैं तो छहों लेश्या कैसे हो सकती हैं जबकि पाँचवें गुणस्थान में तीन शुभ लेश्या कही हैं ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९, सूत्र ४७ की टीका में 'प्रतिसेवनाकुशील व बकुश के छहों लेश्या और कषायकुशील के अन्त की चार लेश्या होती हैं' ऐसा कथन है, किंतु यह कथन अपवादस्वरूप है। उत्सर्ग से तो तीन शुभ ही लेश्या होती हैं। ये मुनि भावलिंगी छठे गुणस्थान वाले होते हैं। इसी सूत्र की टीका में 'स्थान' का कथन करते हुए कहा है कि इन मुनियों के संयमलब्धि स्थान होते हैं। संयमलब्धिस्थान छठे गुणस्थान से नीचे गुणस्थान वालों के नहीं होते हैं। उपकरण में आसक्ति के कारण कदाचित् आर्तध्यान संभव है उस आर्तध्यान के द्वारा तीन अशुभ लेश्या भी संभव है।

— जै. सं. 30-1-58/VI/रा. दा. कैराना

प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के सभी जीवों को असाता का उदय व उदीरणा दोनों (जब भी उदय हों) युगपत् होंगे

शंका—क्या तीव्र असाता के उदय में दुख नहीं होता है जब तक कि उदीरणा न हो।

समाधान—छठे गुणस्थान तक जहाँ असाता का उदय है वहाँ असाता की उदीरणा अवश्य है। षट्खण्डागम पुस्तक १५, पृष्ठ ४४ पर कहा है 'वेदनीय कर्म के मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तसंयत तक उदीरक हैं। विशेष इतना है कि अप्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख हुए प्रमत्तसंयत जीव के अन्तिम समय में उसकी उदीरणा व्युच्छिन्न हो जाती है। सातवें गुणस्थान से केवल साता वेदनीय का बंध होता है जिसकी आबाधा अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है। करण व विशुद्धि परिणामों के द्वारा घात को प्राप्त हुए असाता वेदनीय के तीव्र उदय का सातवें आदि गुणस्थानों में अभाव है। सातवें आदि गुणस्थानों में ध्यान अवस्था होने से इन्द्रिय जनित सुख-दुःख का बुद्धिपूर्वक वेदन नहीं होता। छठे गुणस्थान तक असाता का उदय व उदीरणा दोनों होती हैं अतः वहाँ पर उदीरणा के बिना केवल तीव्र उदय से दुःख होने या न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

—जै. सं. 16-1-58/VI/रा. दा. कैराना

स्त्री–छठा गुणस्थान

शंका—स्त्रियों में छठा गुणस्थान होता है; ऐसा आचार्यप्रवर भूतबली ने शास्त्र में लिखा है। अगर ऐसा है तो कृपया बतावें कि स्त्रियों को पूजा क्यों नहीं करनी चाहिए ?

समाधान—आचार्यप्रवर भूतबली ने भावस्त्री के छठा आदि गुणस्थान लिखा है। **श्री वीरसेन स्वामी ने धवला टीका** में द्रव्यस्त्री के छठा आदि गुणस्थान का निषेध किया है। स्त्री नग्न नहीं हो सकती और वस्त्र असंयम का अविनाभावी है अतः स्त्री के भावसंयम भी नहीं हो सकता। **ध० खं० पु० १ सूत्र ९३ की टीका।** इससे स्पष्ट है कि जिस समय तक बाह्यनिमित्त अनुकूल न हो उस समय तक जीव के परिणाम भी उज्ज्वल नहीं हो सकते। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने भी इस विषय को **समयसार बन्ध अधिकार गाथा २८३–२८५** में तथा **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने भी उक्त गाथाओं की टीका में स्पष्ट किया है।

बाह्य द्रव्य और जीव के भावों का अनादि काल से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। सिद्ध भगवान भी इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से अछूते नहीं रहे, ऊर्ध्वगमनस्वभाव होते हुए भी धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण लोकाकाश से आगे नहीं जा सके। **तत्त्वार्थसूत्र, नियमसार और पंचास्तिकाय** की टीका इसमें प्रमाण है।

स्त्रियाँ प्रायः हर नगर में पूजन करती हैं, स्त्रीपूजन में तो किसी को विवाद है नहीं।

—*जै. सं. 25-10-56/VI/मो. ला. उरसेवा*

मुनिराज केवल छठे गुणस्थान में ही नहीं बने रह सकते

शंका—भावलिंगी मुनि छठे व सातवें गुणस्थानों में रहने वाला होता है या सिर्फ छठे गुणस्थान वाला सम्यक्त्व सहित भी मुनि रह सकता है?

समाधान—छठा गुणस्थान अपवाद मार्ग है और सातवाँ गुणस्थान उत्सर्ग मार्ग है। अपवाद अर्थात् छठे गुणस्थान और उत्सर्ग अर्थात् सातवें गुणस्थान की परस्पर मैत्री है। मात्र अपवाद मार्ग में स्थित मुनि असंयमी हो जाता है। **प्रवचनसार** में कहा भी है—

"बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथास्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वाचरणमाचरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा संयतस्य स्वस्ययोग्यमति कर्कशमप्याचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गसापेक्षोपवादः। अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम्॥ २३०॥

अर्थ—बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान को शरीर का जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधन भूत संयम का साधन होने से मूलभूत है, उसका छेद जैसे न हो उस प्रकार से बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण (छठे गुणस्थान का आचरण) आचरते हुए, संयम का जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत है उसका भी छेद न हो ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण (सातवें गुणस्थान का आचरण) आचरे। इस प्रकार उत्सर्ग (सातवां गुणस्थान) सापेक्ष अपवाद (छठा गुणस्थान) है। इस प्रकार हमेशा उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण की सुस्थिरता करनी चाहिये।

जो मुनि उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा से रहित मात्र अपवाद मार्ग का आचरण करता है वह असंयतजनों के समान है। **प्रवचनसार गाथा २३१** में कहा भी है—

"देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य यथेष्टं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजन समानी भूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतया शक्यप्रतिकारो महान्लेपो भवति तन्न श्रेयोनुत्सर्ग निरपेक्षोऽपवादः।"

अर्थ—देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से जो आहारविहार है, उससे होने वाले अल्पलेप को न गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण रूप होकर संयम का विरोधी असंयतजनों के समान हो जाता है। इसलिये उसके उस समय तप का अवकाश नहीं रहता अतः उसके ऐसा महान् लेप होता है जिसका प्रतिकार अशक्य है, इसलिये उत्सर्ग (सातवें गुणस्थान) निरपेक्ष अपवाद (छठा गुणस्थान) श्रेयकर नहीं है।

मुनि के छठा और सातवाँ गुणस्थान होता रहता है, किसी भी एक गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं ठहरता।

—जै. ग. 4-9-69/VII/ब्रि. च. जैन

प्रमत्तसंयत का काल तथा मुनि-निद्रा का काल

शंका—मुनियों की निद्रा का काल कितना है ? छठे गुणस्थान का काल कितना है ? श्री कानजी स्वामी को हमने उदयपुर में पूछा था कि मुनि-निद्रा का काल कितना है, वे कितने समय तक सो सकते हैं ? तो उनका उत्तर था कि "छठे गुणस्थान के काल-प्रमाण निद्रा सम्भव है और वह काल पौन सैकण्ड प्रमाण है.... ..... ऐसा मुख्तार सा० कहते थे।" तो झट से श्री डॉ० भारिल्ल सा० पूछने लगे कि 'कौन मुख्तार ?' तो फिर कानजी स्वामी ने कहा—"रतनचन्द मुख्तार, सहारनपुर वाले। छठे गुणस्थान का यह काल कैसे आता है, यह मुख्तार जाने।" इतना सुनकर प्रमत्तसंयत के काल के विषय में उनसे विशेष चर्चा करना हमने अनपेक्षित समझा और अब आपको ही कष्ट दे रहे हैं।

समाधान—प्रमत्तसंयत का काल तथा मुनिनिद्रा का काल—धवल पु० ५ पृ० १४ पर अन्तर का कथन है। वहाँ अप्रमत्तसंयत जीव के अन्तर का कथन करते हुए लिखा गया है कि अप्रमत्त संयत जीव उपशम श्रेणी पर चढ़कर पुनः लौटा और अप्रमत्त संयत हो गया। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य अन्तर है।

शंका—नीचे के प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानों में भेजकर अप्रमत्तसंयत का जघन्य अन्तर क्यों नहीं कहा ?

समाधान—उपशम श्रेणी के सभी गुणस्थानों के कालों से नीचे के एक गुणस्थान का काल भी संख्यातगुणा है।

अर्थात्—उपशमश्रेणी के अष्टम, नवम, दशम, एकादश, दशम नवम तथा अष्टम गुणस्थानों के सम्मिलित काल से प्रमत्तसंयत का काल सख्यातगुणा है। अतः अष्टम, नवम, दशम तथा एकादश; इन गुणस्थानों का काल ज्ञात होने पर प्रमत्तसंयत का काल ज्ञात हो सकता है।

धवल पु० ६ पृ० ३३८ पर उपशमश्रेणी की अपेक्षा अल्पबहुत्व बताते हुए नं० ४६ पर दर्शनमोह का उपशान्त काल अर्थात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का काल दिया है। इसके पश्चात् ९ स्थान संख्यातगुणे-संख्यातगुणे

जाने पर (नं० ५५ पर) अन्तर्मुहूर्त, अर्थात् ४८ मिनिट प्राप्त होते हैं। यदि संख्यात को कम से कम दो की सख्या भी मान ली जाय तो ४८ मिनिट को ९ बार २ से भाग देने पर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का काल करीब ५ सैकण्ड आता है। इसमें संख्यात बहुभाग प्रमत्त संयत का काल है और संख्यातवाँ भाग शेष गुणस्थानों का काल है। जैसा कि पु० ५ पृ० १४ से विदित होता है। इस प्रकार प्रमत्तसंयत का काल करीब ३ सैकण्ड होना चाहिए।

जयधवल पु० १ गाथा २० पृ० ३४९-३६२ पर इसप्रकार कथन है—

उत्कृष्ट श्वासोच्छ्वास काल ($\frac{3}{4}$ सैकण्ड) से केवलज्ञान व केवलदर्शन का काल विशेषाधिक है। इससे एकत्ववितर्क अवीचार का काल विशेषाधिक है। उससे पृथक्त्ववितर्क सवीचार का काल दूना है। उससे गिरते हुए सूक्ष्मसाम्पराय संयत का काल विशेषाधिक है। उससे चढ़ते हुए सूक्ष्मसाम्पराय व क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय के काल क्रमशः उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं। उससे मान का काल दूना है। उससे क्रोध, माया व लोभ का काल क्रमशः विशेषाधिक है। उससे उत्कृष्ट क्षुद्रभवग्रहण विशेषाधिक है। इससे कृष्टिकरणकाल, संक्रामक का काल व अपवर्तना का काल उत्तरोत्तर विशेषाधिक है। उससे उपशान्त कषाय (ग्यारहवां गुणस्थान) का उत्कृष्ट काल दुगुना है। उससे क्षीणकषाय का काल विशेषाधिक है। उससे उपशामक का उत्कृष्ट काल दुगुना है। **जयधवल पु० १ पृ० ३१९ एवं ३२९-३३० नया संस्करण।**

उक्त अल्पबहुत्व में विशेषाधिकपने को गौण करने पर—उत्कृष्ट श्वासोच्छ्वास-काल को तीन बार दुगुना करने पर उपशान्त कषाय [ग्यारहवें गुणस्थान] का उत्कृष्ट काल छह सैकण्ड प्राप्त होता है। पुनरपि दुगुना करने से उपशामक का उत्कृष्ट काल १२ सैकण्ड प्राप्त होता है, अर्थात् ८ वें से १० वें गुणस्थान का सम्मिलित काल १२ सैकण्ड और ग्यारहवें गुणस्थान का काल ६ सैकण्ड तथा उतरने वाले का [८ वें से १० वें गुणस्थानका] काल १२ सैकण्ड इन तीनों को जोड़ने से [१२ + ६ + १२] उपशम श्रेणी पर चढ़ने और उतरने का सम्मिलित उत्कृष्ट काल ३० सैकण्ड प्राप्त होता है। इससे प्रमत्तसंयत का उत्कृष्ट काल संख्यातगुणा है जो कम से कम ६० सैकण्ड अर्थात् एक मिनिट होना चाहिए।

इस प्रकार प्रमत्तसंयत का काल ३ सैकण्ड से ६० सैकण्ड तक होना चाहिए। मरण की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है।

मुनि-निद्रा का काल—निद्रा और प्रचला का उदय बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय तक रहता है, अतः अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में भी निद्रा अवस्था हो सकती है।

धवल पु० १५ पृ० ८१ के अनुसार दर्शनावरण कर्म के दो उदय स्थान हैं—

(१) चार प्रकृतिक उदय स्थान [चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शना०, अवधिदर्शना० और केवलदर्शना०]

(२) पाँच प्रकृतिक उदय स्थान [उपर्युक्त ४ तथा पाँच निद्राओं में से एक]

निद्रा की उदीरणा का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। [ध० १५/६२] तथा निद्रा की उदीरणा का उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है। [ध० १५/६८] बारहवें गुणस्थान से पूर्व जिस समय निद्रा का उदय होगा

उसी समय निद्रा की उदीरणा होगी; अर्थात् निद्रा के उदय व उदीरणा साथ-साथ होंगे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि कोई भी जीव एक अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक निद्रा नहीं ले सकता और एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक कोई भी जीव जागृत भी नहीं रह सकता। अतः मुनि भी एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक निद्रा अवस्था में नहीं रह सकते। इस अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण इस प्रकार ज्ञात हो सकता है:—

क्षपक के जघन्य काल [१ सैकण्ड] से उत्कृष्ट दर्शनोपयोग का काल विशेषाधिक है। उससे चाक्षुष ज्ञानोपयोग का काल दूना है। इससे श्रोत्र-ज्ञानोपयोग का काल विशेषाधिक है। उससे घ्राणेन्द्रिय ज्ञानोपयोग व जिह्वेन्द्रियज्ञानोपयोग क्रमशः उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं। इससे मनोयोग, वचनयोग व काययोग का काल क्रमशः उत्तरोत्तर विशेषाधिक है। काययोगकाल से स्पर्शनेन्द्रियज्ञानोपयोग, अवायज्ञानोपयोग, ईहा ज्ञानोपयोग; ये क्रमशः उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं। ईहा ज्ञानोपयोग से श्रुतज्ञानोपयोग का काल दुगुना है।

जयधवला पु० १ पृ० ३४९ पुरातन संस्करण एवं पृ० ३१८-१९ नवीन संस्करण।

इस प्रकार दर्शनोपयोग [१ सैकण्ड], मतिज्ञानोपयोग [२ सैकण्ड] तथा श्रुतज्ञानोपयोग [४-५ सैकण्ड] के कालों को जोड़ा जावे तो जाग्रत अवस्था का उत्कृष्ट काल करीब ८ सैकण्ड होता है। धवल० पु० १५ में निद्राकाल तथा निद्रा का अन्तर-काल दोनों अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कहे हैं, अर्थात् बराबर कहे हैं। अतः सुप्तावस्था का काल करीब ८ सैकण्ड होता है। अन्य जीवों की अपेक्षा मुनिराज के अल्प निद्रा होती है, अतः उनके उत्कृष्ट निद्रा-काल ८ सैकण्ड से कुछ कम हो सकता है।[1]

—पत्र, जून 78/I & II/ज ला. जैन भीण्डर

वस्त्रादिक के त्याग बिना सप्तम गुणस्थान नहीं होता

शंका—सातवाँ गुणस्थान कपड़े पहनेवाले के हो सकता है या नहीं? कितने ही लोगों का कहना है कि पहले सातवाँ गुणस्थान होता है उसके बाद छठवाँ गुणस्थान होता है। मुनि होते समय कपड़े उतारते-उतारते बतलाते हैं। योगसार पृष्ठ ७१ में भी ऐसा लेख है कि चौथे गुणस्थान से ५ वाँ व ७ वाँ हो सकता है। सो किस अपेक्षा से है। मैंने फिरोजाबाद को पत्र दिया था समाचार आया कि यह कथन दिगम्बर अवस्था में होता है। सो इसका सम्यक् रीति से खुलासा करें।

समाधान—वस्त्र पहनेवाले के सातवाँ गुणस्थान नहीं हो सकता। छठे से चौदहवें गुणस्थान तक भाव-संयमी होते हैं। अतः सातवाँ गुणस्थान भावसंयमी के ही होता है। भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्र है। वस्त्र पहनेवाले के भाव संयम नहीं हो सकता (**षट्खण्डागम धवलसिद्धान्त ग्रन्थ पुस्तक १, पृष्ठ ३३३**)। अतः वस्त्र पहननेवाले के सातवें गुणस्थान का अभाव है। सातवें गुणस्थानवाला द्रव्य व भाव से निर्ग्रंथ होता है। वस्त्रत्याग के बिना भावनिर्ग्रंथता हो नहीं सकती (**षट्खण्डागम पुस्तक ११, पृष्ठ ११४**)। अतः बिना वस्त्रत्याग के सातवाँ गुणस्थान नहीं हो सकता। इसी प्रकार **श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार गाथा** २८३-२८४ में कहा है, इनकी टीका में **श्री अमृतचन्द्र आचार्य** लिखते हैं—'जो निश्चय कर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का

---

१. यह एक स्थूल गणना [Rough Idea] मात्र है, कोई इसे सूक्ष्मसत्य (परमार्थ स्वरूप) न समझ ले। आगम में मिनिट-सैकण्डों में काल-प्रमाण नहीं मिलता। —सम्पादक

उपदेश है, वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकभाव को विस्तारता हुआ आत्मा के कर्तापने को जतलाता है। यदि ऐसा न माना जावे तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनों के कर्तापन के निमित्तपने का उपदेश है वह व्यर्थ ही हो जायेगा। जबतक निमित्तभूत पर द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न करे तबतक नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नहीं होता।' अतः इन वाक्यों से भी यह ही सिद्ध होता है कि जबतक निमित्तभूत वस्त्र आदि पर द्रव्य का प्रत्याख्यान (त्याग) न करे उस समय तक तन्नैमित्तिकभूत रागादि का भी प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं हो सकता। परद्रव्य सम्बन्धी रागादि त्याग बिना सातवाँ गुणस्थान होना असंभव है।

पहले गुणस्थान से सातवाँ गुणस्थान प्रायः द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के होता है। चौथे तथा पाँचवें गुणस्थान से सातवाँ होता है वह वस्त्र उतारने, केशलोंच करने तथा महाव्रत धारने के पश्चात् होता है। बिना महाव्रत ग्रहण किये सातवाँ गुणस्थान हो नहीं सकता। पंचममहाव्रत परिग्रहत्याग है। अतः परिग्रहत्याग (वस्त्र आदि त्याग) बिना सातवाँ गुणस्थान सम्भव नहीं है।

—जै. सं. 19-2-59/V/की. सा.

त्रिकरण; सातिशय मिथ्यादृष्टि गुणस्थान एवं सातिशय अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

शंका—प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के पूर्ववर्ती तीन करणों की कोई गुणस्थान संज्ञा क्यों नहीं दी, जब कि चारित्र अपेक्षा अपूर्व तथा अनिवृत्तिकरण भावों को पृथक् पृथक् गुणस्थान संज्ञा दी है। इसमें भी अधःकरण भावों को क्यों छोड़ दिया, उसे पृथक् गुणस्थान संज्ञा क्यों नहीं दी गई ?

समाधान—प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व (अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) ये तीन करण होते हैं। किन्तु ये तीनों करण मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं, क्योंकि उस समय भी मिथ्यात्व प्रकृति का उदय रहता है, यद्यपि वह पूर्व की अपेक्षा मंद है। अतः कहीं-कहीं पर इसको 'सातिशय मिथ्यात्व' गुणस्थान संज्ञा दी गई। मिथ्यात्व का उदय होने के कारण मिथ्यात्व गुणस्थान के अतिरिक्त अन्य संज्ञा देना असंभव है।

चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम या क्षपण के लिये भी (अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) ये तीन करण होते हैं। इन में से अधःकरण तो सातवें गुणस्थान में होता है जिसकी 'सातिशय-अप्रमत्त-संयत गुण स्थान' संज्ञा है। अपूर्वकरण में अपूर्व परिणाम होते हैं, अतः उसकी 'अपूर्वकरण शुद्धि संयत गुणस्थान' संज्ञा है। अनिवृत्तिकरण में परिणामों की भेदरहित वृत्ति होती है, अतः उसको 'अनिवृत्ति बादर सांपरायिक प्रविष्ट शुद्धि संयम गुणस्थान' संज्ञा दी गई। इन तीनों करणों में चारित्र में उत्तरोत्तर विशुद्धि होती जाती है। पाँचवें से बारहवें तक चारित्र मोह की अपेक्षा गुणस्थान संज्ञा है, अतः इनकी पृथक्-पृथक् संज्ञा दी गई है। अथवा अपूर्व करण व अनिवृत्तिकरणों से भिन्न-भिन्न कर्मों की बंध-व्युच्छित्ति होती है, अतः इनकी पृथक्-पृथक् गुणस्थान संज्ञा दी गई है। किन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व होने वाले तीन करणों से कर्मप्रकृति की बंध-व्युच्छित्ति नहीं होती, अतः उनकी पृथक् गुणस्थान संज्ञा नहीं दी गई। इसी कारण चारित्र विषयक अधःकरण की भी पृथक् गुणस्थान संज्ञा नहीं दी गई।

—जै. ग 29-3-62/VII/ज. कु.

"अप्रमाद" संज्ञा कहाँ से ?

शंका—जब कि प्रमाद का अभाव पूर्णरूप से चौदहवें गुणस्थान में होता है फिर सप्तम गुणस्थान को अप्रमत्त कैसे कहा ?

समाधान—सप्तमगुणस्थान में बुद्धिपूर्वक प्रमाद का अभाव हो जाता है अतः बुद्धिपूर्वक प्रमाद के अभाव की अपेक्षा सप्तम गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत कहा है।

—जै. ग. 7-10-65/X/प्रेमचन्द

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्रमाद नहीं है

शंका—सातवें गुणस्थान का अप्रमत्तसंयत नाम क्यों है ? जबकि वहाँ पर संज्वलनकषाय का बन्ध व उदय होने से प्रमाद है।

समाधान—अच्छे कार्यों के करने में आदर भाव का न होना यह प्रमाद है। कहा भी है—

"स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः।" सर्वार्थसिद्धि ८/१।

प्रथम गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक के जीव प्रमत्त हैं और सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के जीव अप्रमत्त हैं। कहा भी है—

"प्रमत्त-शब्देन मिथ्यादृष्ट्यादि-प्रमत्तांतानि षड् गुणस्थानानि, अप्रमत्त-शब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यंतान्यष्ट-गुण-स्थानानि गृह्यन्ते।" समयसार गाथा ६ टीका।

अर्थ—प्रमत्त शब्द से मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान से प्रमत्त संयत छठे गुणस्थान तक ग्रहण करना चाहिये। अप्रमत्त शब्द से अप्रमत्त संयत सातवें गुणस्थान से अयोग केवली चौदहवें गुणस्थान तक ग्रहण करना चाहिये।

यद्यपि प्रथम गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक प्रमाद है, किन्तु यह उत्तरोत्तर मंद होता चला गया है। छठे गुणस्थान में प्रमाद इतना मंद हो गया है कि वह संयम को घात करने में समर्थ नहीं है, कहा भी है—

"न हि मन्दतमः प्रमादः क्षणक्षयी संयम-विनाशकोऽसति विबन्धर्यनुपलब्धेः।" धवल पु० १ पृ० १७६।

अर्थ—छठे गुणस्थान में होने वाला स्वल्पकालवर्ती मंदतम प्रमाद संयम का नाश भी नहीं कर सकता है, क्योंकि सकलसंयम का उत्कटरूप प्रतिबन्ध करने वाले प्रत्याख्यानावरण कर्म के अभाव से संयम का नाश नहीं पाया जाता।

जब छठे गुणस्थान में प्रमाद मंदमत हो गया तो सातवें गुणस्थान में उसका सद्भाव संभव नहीं है। दूसरे सातवें गुणस्थान में ध्यान अवस्था होने से संज्वलन कषाय का उदय भी मंद होता है, इसलिये भी वहाँ प्रमाद नहीं हो सकता। कहा भी है—

णट्ठासेस-पमाओ वय-गुण-सीलोलि-मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अक्खवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥ ४६ ॥ गो० जी०

अर्थ—जिसके समस्त प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलों से मण्डित है जो निरन्तर आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान से युक्त है, जो उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ नहीं हुआ है और जो ध्यान में लवलीन है उसे अप्रमत्त संयत कहते हैं।

—जै. ग. 27-6-66/IX/ भ्रा. ला.

३२ बार संयम; भावसंयम की अपेक्षा कहा है

शंका—कर्मकाण्ड गाथा ६१९ में लिखा है कि ३२ भव में मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष जाता है, तब ३२ भव का नियम सादि मिथ्यादृष्टि के लिये है या अनादि मिथ्यादृष्टि के लिये है ?

समाधान—गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ६१९ इस प्रकार है।

चत्तारिवारमुवसमसेढिं समरूहिद खविदकम्मंसो ।
बत्तीसं वाराइं संजममुवलहिय णिव्वादि ॥ ६१९ ॥

भव्य जीव मोक्ष जाने से पूर्व अधिक से अधिक चार बार उपशम श्रेणी चढ़ सकता है और ३२ बार सकल संयम धारण कर सकता है, उसके पश्चात् वह नियम से कर्म-क्षय कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस गाथा में तो यह कथन नहीं है कि मिथ्यादृष्टि ३२ भव में मोक्ष जाता है, अतः सादि मिथ्यादृष्टि या अनादि मिथ्यादृष्टि का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

—जै. ग. 1-1-76/VIII/........

क्षपक से उपशमक की विशुद्धि में अन्तर

शंका—क्षपक श्रेणी के जीवों के परिणामों में और उपशम श्रेणी के परिणामों में क्या अन्तर है और यह किस प्रकार जाना जाता है ?

समाधान—क्षपक श्रेणी के जीवों के परिणाम उपशम श्रेणी के जीवों के परिणामों से अधिक विशुद्ध होते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र ४५** में उपशमक और उपशांत मोह से क्षपक श्रेणी वाले के असंख्यातगुणी निर्जरा बतलाई है। क्षपक श्रेणी वाला सवेद अनिवृत्तिकरण के अन्त में पुरुष वेद का स्थिति बंध आठ वर्ष और संज्वलन चौकड़ी का १६ वर्ष स्थिति बंध करता है (**गाथा ४५४ लब्धिसार**)। जब कि वहाँ पर उपशम श्रेणी वाला पुरुषवेद का स्थिति बंध १६ वर्ष और संज्वलन चतुष्क का ३२ वर्ष स्थिति बंध करता है (**गाथा २६० लब्धिसार**)। इसप्रकार एक ही स्थान पर स्थिति बंध भी दुगुना होता है, इससे भी जाना जाता है कि विशुद्धि में अन्तर है। विशुद्धि में अन्तर होने के कारण एक चारित्र-मोहनीय कर्म का उपशम करता है और दूसरा क्षय करता है।

—जै. ग. 10-7-67/VII/र. ला. जैन मेरठ

अपूर्वकरण गुणस्थान में गुणश्रेणीनिर्जरा

शंका—आठवें गुणस्थान में किसी भी कर्म का क्षय नहीं होता, ऐसा धवल ग्रंथ में कहा है फिर वहाँ पर असंख्यात गुणी निर्जरा कैसे ?

समाधान—आठवें गुणस्थान का नाम 'अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि संयत' है। अर्थात् अपूर्वकरण रूप परिणामों में विशुद्धि को प्राप्त जीव अपूर्व करण-प्रविष्ट शुद्धि संयत होता है। अपूर्वकरण रूप विशुद्ध परिणामों के द्वारा अर्थात् शुभ उपयोग के द्वारा प्रतिसमय कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होय है, किन्तु किसी भी कर्म प्रकृति का समस्त कर्म निर्जरा को प्राप्त नहीं होय है, इसलिये आठवें गुणस्थान में क्षय का अभाव कहा है।

—जै. ग. 27-6-66/IX/ग्रा. ला.

उपशम चारित्र अष्टम गुणस्थान से प्रारम्भ

शंका—उपशम चारित्र किस गुणस्थान में होता है ?

समाधान—प्रारम्भ की अपेक्षा उपशम चारित्र अपूर्वकरण आठवें गुणस्थान से होता है। पूर्णता की अपेक्षा उपशम चारित्र उपशांत मोह ग्यारहवें गुणस्थान में होता है। यदि कहा जाय कि अपूर्वकरण आठवें गुणस्थान में कर्मों का उपशम नहीं होता है फिर इस गुणस्थानवर्ती जीवों को उपशमक या औपशमिक चारित्र कैसे कहा जा सकता है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भावी अर्थ में भूतकालीन अर्थ के समान उपचार कर लेने से आठवें गुणस्थान में उपशमक (उपशम चारित्र) व्यवहार की सिद्धि हो जाती है। कहा भी है—"**अक्षपकानुपशमकानां कथं तद्व्यपदेशश्चेन्न, भाविनि भूतवदुपचारतस्तत्सिद्धे।**" धवल पु० १ पृ० १८१।

इसका भाव ऊपर लिखा जा चुका है।

—जै. ग. 11-5-72/VII/..........

अनिवृत्ति में नाना जीवों सम्बन्धी परिणामों की समानता—असमानता का विवेचन

शंका—अपूर्वकरण के विषय में कहा गया है भिन्न-भिन्न समयों में नाना जीवों के परिणाम विषम होते हैं। जीवों के परिणाम किसी से मिलते नहीं हैं। किन्तु अनिवृत्तिकरण में कहा गया है कि नाना जीवों के परिणाम समान होते हैं। सो इसका क्या अभिप्राय है।

समाधान—अधःकरण में भिन्न समय वाले जीवों के परिणाम सदृश भी हो सकते हैं उस प्रकार अपूर्वकरण के भिन्न समयों में स्थित जीवों के परिणाम सदृश नहीं हो सकते हैं क्योंकि पूर्व समय की उत्कृष्ट विशुद्धता से भी उत्तर समय की जघन्य विशुद्धता अनन्तगुणी है। अपूर्वकरण के प्रत्येक समय के परिणामों की संख्या असंख्यात है अर्थात् एक समय में असंख्यात प्रकार की विशुद्धता वाले परिणाम हो सकते हैं अतः अपूर्वकरण में एक ही समय वाले जीवों के परिणाम सदृश भी हो सकते हैं और विदृश भी हो सकते हैं।

अनिवृत्तिकरण के प्रत्येक समय में एक ही प्रकार के परिणाम होते हैं। इसलिये अनिवृत्तिकरण के एक समय में स्थित सब जीवों के परिणाम सदृश ही होंगे, विदृश नहीं हो सकते हैं। किन्तु अनिवृत्तिकरण के भिन्न-भिन्न समयों में स्थित जीवों के परिणाम विदृश ही होंगे।

इस प्रकार अपूर्वकरण के और अनिवृत्तिकरण के भिन्न-भिन्न समयों में स्थित जीवों के परिणाम विदृश ही होंगे, सदृश नहीं होंगे। अनिवृत्तिकरण के एक समय में स्थित नाना जीवों के परिणाम सदृश ही होंगे, क्योंकि एक ही प्रकार की विशुद्धता है। किन्तु अपूर्वकरण के एक समय में स्थित नाना जीवों के परिणामों की सदृशता का कोई नियम नहीं है, क्योंकि एक समय में असंख्यात प्रकार की विशुद्धता है। जिन जीवों के परिणाम की विशुद्धता एक प्रकार की होती है उनके परिणाम सदृश होंगे और जिन जीवों के परिणामों की विशुद्धता हीनाधिक है उनके परिणाम विदृश होंगे, इसलिये अपूर्वकरण के एक समय वाले नाना जीवों के परिणामों में सदृशता या विदृशता का कोई नियम नहीं है, वे सदृश भी हो सकते हैं, विदृश भी।

—जै. ग. 10-12-70/VI/रो. ला. मि.

नवकसमयप्रबद्ध

शंका—नवक समय प्रबद्ध के सम्बन्ध में किस ग्रन्थ में क्या वर्णन है और वह कब होता है?

समाधान—नवक समय प्रबद्ध उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी में पुरुष वेद, क्रोध, मान, माया का होता है; क्योंकि इन प्रकृतियों का उपशम या क्षय पर प्रकृति रूप संक्रमण होकर उपशम या क्षय होता है। पुरुषवेद के उदय के अन्तिम समय तक पुरुष वेद का बंध होता रहता है, उस बंध में से एक समय कम २ आवलि मात्र बंध का पर प्रकृति रूप संक्रमण नहीं हो पाता, क्योंकि बंध से एक आवलिकाल तक तो संक्रमण आदि का अभाव है क्योंकि वह अचलावलि या बंधावलि है और एक आवलि पश्चात् दूसरी आवलि में फाली द्वारा संक्रमण होता है। इस तरह एक समय कम दो आवलिकाल में जो पुरुष वेद का बंध हुआ है उसको नवकसमयप्रबद्ध के नाम से कहा गया है। इसका कथन धवल पुस्तक ६ पृष्ठ ३६४ तथा लब्धिसार क्षपणासार गा० २७१ व २७७ की टीका में भी है।

—जै. ग. 15-1-78/VIII/श्रा. ला.

नोकषायें अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के साथ नष्ट नहीं होतीं

शंका—साधु की जब कषाय की तीन चौकड़ी खत्म हो जाती हैं और एक चौकड़ी संज्वलन की रह जाती है और नव नोकषाय रह जाती हैं। जब नव नोकषायों को ईषत् कषाय कहा है तो इनको तो अनन्तानुबन्धी कषाय या अप्रत्याख्यान के साथ ही चला जाना चाहिये था। क्या वजह है जो ये आखिर तक बनी रहती हैं?

समाधान—इस जीव का सबसे बड़ा अकल्याणकारी मिथ्यात्व है। कहा भी है—

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थ—तीनों कालों में और तीनों लोकों में जीव को सम्यक्त्व के समान कोई दूसरा कल्याणकारी नहीं है।

अतः सर्व प्रथम सम्यक्त्व की घातक मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का नाश किया जाता है। मानव इन्द्रियों के विषय तथा सर्वघाति कषाय जिनके कारण सम्यग्दृष्टि जीव भी कर्मों का क्षय नहीं कर पाता

है, का अभाव कर संयम धारण करता है जो साक्षात् कल्याण का मार्ग है अर्थात् मन व पाँच इन्द्रियों के विषय-त्याग से तथा पाँच पापों के सर्वथा त्याग स्वरूप पंच महाव्रत धारण करने से अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों के अभाव हो जाने से संयम रूपी रत्न उत्पन्न हो जाता है जिसके द्वारा चार संज्वलन कषाय और नव नोकषाय देशघाति कर्म प्रकृतियों का अभाव करता है। जिन विशुद्ध परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश होता है उससे भी अनन्तगुणे विशुद्ध परिणामों के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों का नाश होता है और उनसे भी अनन्तगुणे विशुद्ध परिणामों के द्वारा नव नोकषाय का नाश होता है और उनसे भी अनन्तगुणे विशुद्ध परिणामों के द्वारा क्रमशः संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ का नाश होता है। तत्पश्चात् शुद्ध परिणामों द्वारा शेष तीन घातिया कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) का नाश करता है।

यद्यपि संज्वलन चतुष्क और नव नोकषाय देशघाति कर्म प्रकृतियाँ हैं तथापि ये आत्मा के यथाख्यात चारित्र अर्थात् सबसे बड़े चारित्र के घातक हैं इस कारण इनमें बहुत अधिक शक्ति है, इसीलिये इनको घात करने के लिये अति विशुद्ध परिणामों की आवश्यकता होती है जो अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के उपरितन भाग में संभव है।

आर्ष ग्रन्थों में मोहनीय कर्म के नाश का क्रम इसी प्रकार वर्णित है। आचार्यों ने सर्वज्ञ के उपदेश अनुसार कथन किया है। यह गुरु परम्परा से उनको प्राप्त हुआ था। आर्ष वाक्य तर्क का विषय नहीं है। तर्क या युक्ति के बल पर आर्ष वाक्यों में संदेह करना अथवा आर्ष वाक्यों के विपरीत एकान्त मिथ्यात्व का उपदेश देना उचित नहीं है। जिन वचन में शंका करने से सम्यक्त्व में दूषण लगता है अथवा वह नष्ट ही हो जाता है।

—जै. ग. 1-11-65/VII–VIII/ज्ञा. ला.

नवम गुणस्थान में सामायिक व छेदोपस्थापना संयम

प्रश्न—नौवें गुणस्थान में सामायिक संयम तथा छेदोपस्थापना संयम कैसे संभव है ?

उत्तर—कर्मों के विनाश करने की अपेक्षा प्रति समय असंख्यातगुणी श्रेणी रूप से कर्म-निर्जरा की अपेक्षा संपूर्ण पाप क्रिया के निरोध रूप संयम नौवें गुणस्थान में पाया जाता है। वह संयम, सम्पूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम को ग्रहण करने वाला होने से सामायिक संयम द्रव्यार्थिकनयरूप है। और उसी एक व्रत रूप संयम को पाँच अथवा अनेक भेद करके धारण करने वाला होने से छेदोपस्थापना संयम पर्यायार्थिक नय रूप है। धवल पु० १ पृ० ३७०।

—जै. ग. 4-1-68/VII/ब्र. कु. ब.

दसवें गुणस्थान में सामायिक संयम क्यों नहीं

शंका—दसवें गुणस्थान में सामायिक व छेदोपस्थापना संयम क्यों नहीं कहे गये ?

समाधान—सांपराय कषाय को कहते हैं। जिनकी कषाय सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्म सांपराय कहते हैं। जो संयत विशुद्धि को प्राप्त हो गये हैं, उन्हें शुद्धि संयत कहते हैं। जो सूक्ष्म कषाय वाले होते हुए शुद्धि प्राप्त

संयत हैं उन्हें सूक्ष्मसांपराय-शुद्धिसंयत कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक या छेदोपस्थापना संयम को धारण करने वाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्म कषाय वाले हो जाते हैं तब वे सूक्ष्म-सांपराय-शुद्धि-संयत कहे जाते हैं। धवल पुस्तक १ पृ० ३७१।

इस आगम प्रमाण से सिद्ध है कि जब अत्यन्त सूक्ष्म कषाय रह जाती है तब सामायिक या छेदोपस्थापना संयम की उस विशेष अवस्था का नाम सूक्ष्म सांपराय-शुद्धि-संयम है।

—जै. ग. 27-4-64/IX/मदनलाल

सूक्ष्मसाम्परायी के अघातिया कर्मों का प्रदेशबन्ध अल्प

शंका—महाबंध पुस्तक ६ पृष्ठ १ पर लिखा है कि 'जस्स दीहाट्ठिदि तस्स भागो बहुगो' तो क्या इस युक्ति का सूक्ष्म साम्पराय मार्गणा में समन्वय हो सकता है कि जिसकी दीर्घ स्थिति हो उसको प्रदेश का भाग बहुत मिलता है, इससे तो अघातिया कर्मों को बहुत प्रदेश मिल जावेंगे।

समाधान—'वेदनीय के अतिरिक्त शेष कर्मों में जिसकी स्थिति अधिक है उसको प्रदेश बंध में बहुभाग मिलता है' इस नियम में 'स्थिति' शब्द से तात्कालिक बंध स्थिति नहीं ग्रहण करनी चाहिये। किन्तु 'कर्म स्थिति' से अभिप्राय है। अघातिया कर्मों की 'कर्म स्थिति' घातिया कर्मों की कर्म स्थिति से न्यून है अतः दसवें गुणस्थान में भी अघातिया कर्मों की अपेक्षा घातिया कर्मों को प्रदेशबन्ध में बहुभाग मिलेगा। अथवा उपर्युक्त नियम साधारण है। श्रेणी में जहाँ पर स्थितिबन्ध का क्रम बदल जाता है वहाँ पर यह नियम लागू नहीं होगा। **महाबंध पुस्तक ६** पृ० २ पर कहा भी है 'छह प्रकार के कर्मों का बंध करने वाले (दसवें गुणस्थान वाले) जीवों के भी नाम व गोत्र कर्म का भाग स्तोक है, इससे ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का भाग विशेष अधिक है और इस से वेदनीय कर्म का भाग विशेष अधिक है।' अतः सूक्ष्मसाम्पराय मार्गणा में भी अघातिया कर्मों को बहुत प्रदेश नहीं मिलेंगे किन्तु अल्प प्रदेश मिलेंगे।

—जै. ग. .... /VII/र. च. ला.

उपशम श्रेणी में तो चारित्रमोह का उपशम ही होता है

शंका—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जो क्षपक श्रेणी चढ़ता है वही नौवें गुणस्थान में तीनों वेद का नाश करता है या उपशम श्रेणी वाला भी ?

समाधान—क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो या उपशम-सम्यग्दृष्टि हो जो भी उपशम श्रेणी चढ़ता है वह नौवें गुणस्थान में तीनों वेदों का उपशम करता है नाश नहीं करता है। ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने पर वही वेद पुनः उदय में आ जाता है जिस वेद से उपशम श्रेणी चढ़ा था।

'अन्तरे कदे पढम-समयादो उवरि अन्तोमुहुत्तं गंतूण असंखेज्ज-गुणाए सेढीए णउंसयवेदमुवसामेदि। तदो अंतोमुहुत्तंगंतूण णउंसयवेदमुवसामिदविहाणेणित्थिवेदमुवसामेदि। तदो अन्तोमुहुत्तं गंतूण तेणेव विहिणा छण्णोक-साए पुरिसवेद चिराणसंत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि।" धवल पु० १ पृ० २१२-२१३।

अर्थ—अन्तरकरणविधि के हो जाने पर प्रथम समय से लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असंख्यातगुणी श्रेणी के द्वारा नपुंसक वेद का उपशम करता है। तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुंसक वेद की उपशमविधि के समान ही स्त्री वेद का उपशम करता है। फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर उसी विधि से पुरुष वेद के साथ प्राचीन सत्ता में स्थित कर्म के साथ छह नो कषाय का उपशम करता है।

जस्सुदएण य चडिदो तम्हि य उक्कट्टियम्हि पडिऊण।
अन्तरमाऊरेदि हु एवं पुरिसोदए चडिदो ॥ ३५७ ॥

जिस कषाय व वेद के उदय सहित चढ़ के पड़ा हो उसी कषाय व वेद के द्रव्य का अपकर्षण होने पर अन्तर को पूरता है।

—जै. ग. 14-12-72/VII/क. दे.

श्रेणी के गुणस्थानों पर चढ़े हुए जीव भी अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक भ्रमण कर सकते हैं

शंका—उपशम श्रेणी से गिरकर जीव क्या संसार में अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक भ्रमण कर सकता है?

समाधान—उपशम श्रेणी से गिरकर जीव संसार में अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक परिभ्रमण कर सकता है। **षट्खण्डागम** में कहा भी है—

चदुण्हमुवसामगाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि?
एगजीवं पडुच्च उक्कस्सेण अद्धपोग्गलपरियट्टं देसूणं ॥१५॥

अर्थ—उपशम श्रेणी के चारों उपशामकों (आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानों) का अन्तर कितने काल तक होता है? उक्त चारों उपशामकों का एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल है।

इस सूत्र की टीका में श्री १०८ वीरसेन महानाचार्य ने इस प्रकार कहा है—"एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने तीनों ही करण करके उपशम सम्यक्त्व और संयम को एक साथ प्राप्त होने के प्रथम समय में ही अनन्त संसार को छेदकर अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र करके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अप्रमत्त-संयत के कालका अनुपालन किया। पश्चात् प्रमत्तसंयत हुआ। वेदकसम्यक्त्वी होकर पुनः उपशमितकर अर्थात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर सहस्रों प्रमत्त-अप्रमत्त परावर्तनों को करके उपशम श्रेणी के योग्य अप्रमत्त संयत हो गया। अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्त कषाय हो गया। वहाँ से गिरकर पुनः सूक्ष्मसाम्पराय अनिवृत्तिकरण अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती हो गया। पश्चात् नीचे गिरकर अन्तर को प्राप्त हुआ और अर्धपुद्गल परिवर्तन काल प्रमाण परिवर्तन करके अन्तिम भवमें दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों का क्षपण करके अपूर्व करण उपशामक हुआ। इस प्रकार कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र अन्तर काल उपलब्ध हो गया।" धवल पु० ५ पृ० १९-२०।

धवल जैसे महान् ग्रन्थ के उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल शेष रहने पर सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता, किन्तु सम्यक्त्व परिणाम के द्वारा अनन्त संसार काल को छेद कर अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र कर दिया जाता है और इस अर्धपुद्गल परिवर्तन काल के प्रारम्भ में और अन्त में उपशम

श्रेणी चढ़ने से उक्त अन्तर काल प्राप्त हो जाता है अर्थात् उपशम श्रेणी से गिरकर अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक जीव संसार में परिभ्रमण कर सकता है।

—जै. ग. 12-2-70/VII/ब. प्र. स., पटना

ग्यारहवें गुणस्थान से प्रतिपात का हेतु

शंका—जीव को ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने में कारण क्या है ? क्या अन्तर्मुहूर्त का समय समाप्त होने से ही यहां से जीव गिरता है या कर्म का उदय आने से। इसमें गिरने में काल प्रधान है या कर्म का उदय प्रधान है ?

समाधान—उपशान्त कषाय ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने के दो कारण हैं, १. मनुष्यभव का क्षय और २. उपशमनकाल का क्षय। इन दोनों में से किसी एक कारण के मिलने पर जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरता है। प्रथम कारण के मिलने पर जीव ग्यारहवें से चौथे गुणस्थान में गिरता है और दूसरा कारण मिलने पर ग्यारहवें से दसवें में आता है। कहा भी है—**उवसंत कसायस्स पडिवादो दुविहो; भवक्खयणिबंधणो, उवसामणद्धाखय णिबंधणो चेदि। तत्थ भवक्खएण पडिवदिदस्स सव्वाणि करणाणि देवेसुप्पण्ण-पढमसमए चेव उग्घाडिदाणि। उवसंतो अद्धारवएण पवंतो लोभे चेव पडिवददि, सुहुमसांपराइयगुणमगंतूण गुणंतर गमणाभावा। (ध० खं० पुस्तक ६ पत्र ३१७-३१८) अर्थ**—उपशान्तकषाय का प्रतिपात दो प्रकार है—भवक्षयनिबन्धन और उपशमनकालक्षयनिबन्धन। इनमें भवक्षय से प्रतिपात को प्राप्त हुए जीव के देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही सभी करण निजस्वरूप से प्रवृत्त हो जाते हैं। उपशान्तगुणस्थान काल के क्षय से प्रतिपात को प्राप्त होने वाला उपशान्तकषाय जीव लोभ में अर्थात् सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान में गिरता है क्योंकि उसके सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थान में जाने का अभाव है।

—जै. सं. 27-9-56/VI/ध. ला. सेठी, खुरई

१. उपशम श्रेणी में द्वितीय शुक्लध्यान नहीं होता। (एक मत)
२. ग्यारहवें तथा बारहवें दोनों गुणस्थानों में से प्रत्येक में दोनों (प्रथम व द्वितीय) शुक्लध्यान संभव हैं। (अपर मत)

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५६ पंक्ति २२ में लिखा है 'वह ध्यान करके पुनः नहीं लौटता है। इस प्रकार उसके एकत्व वितर्क ध्यान कहा गया है।' इसका अर्थ यह हुआ कि एकत्ववितर्क बारहवें गुणस्थान में ही होता है। यह बात पृ० ४५३ के निम्न वाक्यों से विरोध को प्राप्त होती है—'श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते।' क्या ये दोनों वाक्य परस्पर विरोधी हैं ? अर्थात् श्री पूज्यपाद स्वामी के अनुसार ही दोनों श्रेणियों में हो सकते हैं, और उन्हीं के मत अनुसार एकत्ववितर्क शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थान में ही हो सकता है ग्यारहवें में नहीं, ऐसा है या नहीं ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५३ अ० ९ सूत्र ३७ की टीका में जो यह लिखा है **'श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते'** अर्थात् दो श्रेणियों में आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं ऐसा व्याख्यान करना चाहिये। यह सामान्य कथन है। यह कहने का अभिप्राय यह है कि श्रुत केवलियों के दोनों श्रेणियों से पूर्व धर्म ध्यान होता है। उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थानों में प्रथम शुक्लध्यान होता है और क्षीणकषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क नामक दूसरा शुक्लध्यान होता है, यह विशेष कथन है। इसी सूत्र की **तत्त्वार्थवृत्ति** टीका में लिखा है—**"श्रेण्योस्तु द्वे शुक्लध्याने भवतस्तेन सकलश्रुतधरस्यापूर्वकरणात्पूर्वं धर्म्यं ध्यानं योजनीयम्। अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिकरणे सूक्ष्मसाम्पराये**

उपशान्तकषाये चेति गुणस्थानचतुष्टये पृथक्त्ववीचारं नाम प्रथमं शुक्लध्यानं भवति । क्षीणकषायगुणस्थानेषु एकत्व-वितर्क वीचारं भवति ।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मोक्षशास्त्र के टीकाकारों का यह ही एक मत रहा है कि उपशम श्रेणी में एकत्ववितर्क दूसरा शुक्लध्यान नहीं होता है। अतः श्री १०८ पूज्यपाद आचार्य के वचनों में पूर्वापर विरोध नहीं है।

इस सम्बन्ध में श्री १०८ वीरसेन स्वामी का भिन्न मत है। उनके मतानुसार दसवें गुणस्थान तक धर्म-ध्यान होता है। उपशांतमोह ग्यारहवें गुणस्थान में भी पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क दोनों शुक्लध्यान होते हैं और क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्क तथा एकत्ववितर्क दोनों शुक्लध्यान होते हैं। धवल पु० १३ पृ० ८१ पर इस प्रकार कहा है—"मोह का सर्वोपशम करना धर्मध्यान का फल है क्योंकि कषाय सहित धर्मध्यानी के सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन घाति कर्मों का निर्मूलविनाश करना एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान का फल है। परन्तु मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है।

शंका—मोहनीय कर्म का उपशम करना यदि धर्मध्यान का फल है तो इससे मोहनीय का क्षय नहीं हो सकता, क्योंकि एक कारण से दो कार्यों की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है?

समाधान—नहीं क्योंकि धर्मध्यान अनेक प्रकार का है, इसलिये उससे अनेक प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं आता।

शंका—एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान के लिये अप्रतिपाती विशेषण क्यों नहीं दिया गया ?

समाधान—नहीं क्योंकि उपशान्त कषाय जीव के भवक्षय और कालक्षय के निमित्त से पुनः कषायों को प्राप्त होने पर एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान का प्रतिपात देखा जाता है।

शंका—यदि उपशान्त कषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान होता है तो 'उवसंतो दु पुधत्तं' इत्यादि गाथा वचन के साथ विरोध आता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपशांतकषाय गुणस्थान में केवल पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान ही होता है ऐसा कोई नियम नहीं। और क्षीणकषाय गुणस्थान के काल में सर्वत्र एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान ही होता है, ऐसा भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि वहाँ योग परावृत्ति का कथन एक समय प्रमाण अन्यथा बन नहीं सकता। इससे क्षीणकषाय काल के प्रारम्भ में पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।"

—जै. ग. 3-6-65/X/ र. ला. जैन मेरठ

बारहवें गुणस्थान में निद्रा का उदय

शंका—बारहवें गुणस्थान में यदि जागृत अवस्था हो तो दर्शनावरण कर्म की चार प्रकृतियों का उदय होता है। निद्रा अवस्था में दो निद्रा में से किसी एक का उदय हो सकता है अर्थात् बारहवें गुणस्थान में दर्शना-वरण की पाँच प्रकृतियों का उदय हो सकता है तो बारहवें गुणस्थान में निद्रा का उदय क्या करता है।

समाधान—जिस प्रकार वेद कषाय का नवम गुणस्थान के सवेद भाग तक निरंतर उदय रहता है किंतु बालक अवस्था में तथा ब्रह्मचारीगणों को और मुनियों को वेद के उदय का कभी अनुभव नहीं होता और अन्य जीवों को भी निरंतर अनुभव नहीं होता, इसका कारण वेदकषाय का मंदउदय है। इसी प्रकार निद्रा या प्रचला आदि पाँच निद्राओं में से किसी एक का उदय प्रत्येक जीव के हर एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् होता रहता है, क्योंकि इनकी उदीरणा का उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है धवल पु० १५ पृ० ६८ किन्तु प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् हर एक जीव अवश्य सोता हो या निद्रा के उदय का अनुभव हो, ऐसा देखा नहीं जाता। इसमें भी कारण निद्रा या प्रचला प्रकृति का मंदउदय है। निद्रा व प्रचला के उदय का जघन्य काल एक समय है धवल पु० १५ पृ० ६१-६२। बारहवें गुणस्थान में निद्रा या प्रचला का उदय इतना मंद व इतने कम काल के लिये होता है कि उसका बुद्धिपूर्वक अनुभव नहीं होता। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि कर्म बिना फल दिये निर्जीर्ण हो जाता है, क्योंकि कोई भी कर्म बिना फल दिये निर्जीर्ण नहीं होता, ऐसा जैनधर्म का मूलसिद्धान्त है जयधवल पुस्तक ३ पृष्ठ २४५।

—जै. सं. 11-12-58/V/ब्र रा. म.

क्षीण कषाय के निद्रा का उदय सर्वाचार्य सम्मत

शंका—निद्रा का उदय १२ वें गुणस्थान तक आचार्यों ने माना है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में ऐसा नहीं माना है। वे किस आधार पर कहते हैं ?

समाधान दिगम्बर ग्रन्थों में क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में निद्रा का उदय विकल्प से माना है। कषायपाहुड़ की चूर्णि में १०८ यतिवृषभाचार्य ने लिखा है, 'क्षपक-श्रेणी पर चढ़ने वाला जीव आयु और वेदनीय कर्म को छोड़कर उदय प्राप्त शेष सब कर्मों की उदीरणा करता है।' इस पर टीका करते हुए श्री १०८ वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि 'क्षपक श्रेणी वाला जीव पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का नियम से वेदक है किन्तु निद्रा या प्रचला का कदाचित् वेदक है, क्योंकि इनका कदाचित् अव्यक्त उदय होने में कोई विरोध नहीं है।'

श्वेताम्बर कर्म ग्रंथ, कर्म प्रकृति ग्रंथ में क्षपक श्रेणी में निद्रा या प्रचला का उदय नहीं माना है, किन्तु पंचसंग्रह सप्तति गाथा १४ में लिखा है कि 'क्षपक श्रेणी में और क्षीणमोह गुणस्थान में पाँच प्रकृति (निद्रा या प्रचला सहित चार दर्शनावरण) का भी उदय होता है[1]।' श्री मलयगिरि श्वेताम्बर आचार्य ने इस गाथा १४ की टीका में इसे कर्मस्तवकार का मत बतलाया है[2]। इस प्रकार श्वेताम्बर ग्रन्थों में बारहवें गुणस्थान में निद्रा के उदय के विषय में दो मत पाये जाते हैं किन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में एक ही मत है।

—जै. ग. 3-10-63/IX/म. ला. फू. च.

---

१. 'खवगे सुहुमम्मि चउबंधम्मि अबंधगम्मि खीणम्मि।
छस्संतं चउरुदओ पंचण्हं वि केइ इच्छंति॥'

२. 'कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति।'

क्षीण कषाय के जघन्य श्रुतज्ञान

शंका—"पंचास्तिकाय टीका पृ० १५५ बारहवें गुणस्थान में उत्कृष्टतः ११ अंग १४ पूर्व का तथा जघन्यतः अष्ट प्रवचनमात्र का ज्ञान होता है।" प्रश्न—क्या बारहवें गुणस्थान में भी अष्टप्रवचनमात्र का ज्ञान सम्भव है ?

समाधान—बारहवें गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क, ये दो आदि के शुक्लध्यान होते हैं। ये दो शुक्लध्यान पूर्वविद् के होते हैं। कहा भी है—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। [त० सू० ९/३७] यह उक्त सूत्र उत्कृष्ट ज्ञान की अपेक्षा प्रवृत्त हुआ है। **सर्वार्थसिद्धि** ९/४६ में बारहवें गुणस्थान वाले को निर्ग्रन्थ संज्ञा दी है। वहाँ कहा है—**मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः।** अर्थात् जिन्हें अन्तर्मुहूर्त पश्चात् केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होने वाला है वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। फिर उसी ग्रन्थ में उसी अध्याय के ४७ वें सूत्र की टीका में लिखा है—निर्ग्रन्थ के उत्कृष्टतः १४ पूर्व का और जघन्यतः अष्टप्रवचनमातृका प्रमाण ज्ञान होता है।

उत्कर्षेण निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः।
जघन्येन निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः।

इस आर्ष वाक्य के अनुसार बारहवें गुणस्थान में अष्टप्रवचनमातृका प्रमाण ही श्रुतज्ञान हो, यह सम्भव है।

—जै. ग. 20-8-64/IX/ध. ला. सेठी

युगपत्क्षयी घातित्रय की तुल्य स्थिति करने का विधान

शंका—बारहवें गुणस्थान के अन्त समय में ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों का एक साथ क्षय होता है। इनकी समान स्थिति कैसे व कहाँ (अर्थात् किस गुणस्थान में) करली जाती है ?

समाधान—सूक्ष्मसांपराय नामक दसवें गुणस्थान के अन्त समय विषय तीन घातियानि का स्थिति सत्त्व अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाता है, किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त क्षीणकषाय गुणस्थान के काल से असंख्यात गुणा है (**लब्धिसार क्षपणसार बड़ी टीका पृ० ७१२ गाथा ५९९**)। क्षीणकषाय गुणस्थान में तीन घातिया कर्मों का स्थितिकाण्डक घात करे है। संख्यात हजार स्थितिकाण्डक हो जाने पर जब क्षीणकषाय गुणस्थान का संख्यात बहु भाग काल व्यतीत हो जाता है और संख्यातवाँ भाग काल शेष रह जाता है तब अन्तिम स्थितिकाण्डकघात के द्वारा क्षीणकषाय के अवशेष काल से तीन घातिया कर्मों की अधिक स्थिति का घात होय है, अर्थात् तीन घातिया कर्मों की स्थिति क्षीणकषाय गुणस्थान के अवशेष काल के बराबर रह जाती है। **गाथा ६०१ व ६०२ की टीका।**

ऐसे अंत कांडक का घात होते कृतकृत्य छद्मस्थ हो जाता है, क्योंकि इसके पश्चात् तीन घातिया कर्मों का स्थितिकांडक घात नहीं है। केवल उदयावली के बाह्य तिष्ठता कुछ द्रव्य का उदयावली में प्राप्त होने से उदीरणा होय है। क्षीणकषाय के काल में एक समय एक आवली काल शेष रहने तक उदीरणा होय है। उदय आवली काल शेष रहने पर उदीरणा नहीं होती, क्योंकि उदयावली के द्रव्य की उदीरणा नहीं होय है। एक-एक समय विषै एक-एक निषेक क्रम से उदय होय है। क्षीणकषाय के द्विचरम समय में निद्रा व प्रचला कर्मका सत्त्व का नाश होय

है और चरम समय में तीन घातिया कर्मों की शेष १४ प्रकृतियों का क्षय होय है। लब्धिसार क्षपणसार गाथा ६०३ की बड़ी टीका।

—जै. ग. 24-12-64/VIII/र. ला. जैन, मेरठ

क्षीणकषाय के 'कर्मदाह की चाह' कैसे ?

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५६ पंक्ति १८ में लिखा है—"पुनः जो समूल मोहनीय कर्म का दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धि विशेष को प्राप्त होकर बहुत प्रकार की सहायीभूत प्रकृतियों के बंध को रोक रहा है, जो कर्मों की स्थिति को न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञान के उपयोग से युक्त है, जो अर्थ व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति से रहित है, निश्चल मनवाला है, क्षीण कषाय है और वैडूर्यमणि के समान निरुपलेप है, वह ध्यान करके पुनः नहीं लौटता है।" प्रश्न यह है कि क्षीण कषाय वाला मोहनीय कर्म की दाह करने की चाह करने वाला कैसे हो सकता है ? क्षीण कषाय के तो मोहनीय कर्म का क्षय हो चुका है।

समाधान—यहाँ पर 'मोहनीय कर्म का दाह करना चाहता है' इससे क्षीण मोह से नीचे वाला जीव, जो क्षपक श्रेणी पर आरूढ है, वह लेना चाहिए। वह जीव अनन्तगुणी विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ क्षीणमोह हो जाता है। तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय ९ सूत्र ४४ की टीका के निम्न वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है—"स एव पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाक् मुनिः समूलमूलं मोहनीयं कर्म निर्दिधक्षन् मोहकारणभूतसूक्ष्मलोभेन सह निर्दिधक्षन् भस्मसात् कर्तुकामोऽनन्तगुणविशुद्धिकं योगविशेषं समाश्रित्य प्रचुरतराणांज्ञानावरणसहकारि-भूतानां प्रकृतीनां बन्धनिरोधस्थितिह्रासौ च विदधत् सन् श्रुतज्ञानोपयोगः सन् परिहृतार्थव्यञ्जनसङ्क्रान्तिः, सत्रप्रचलितचेताः क्षीण-कषायगुणस्थानेस्थितः सन् वालवाय जर्मणिरिव निष्कलङ्कः सन् पुनरधस्तादनिवर्तमान एकत्ववितर्क वीचारं ध्यानं ध्यात्वा ...."

—जै. ग. 3-6-65/XI/र. ला. जैन मेरठ

अरहन्त देव के तत्काल मुक्ति क्यों नहीं हो जाती है ?

शंका—सूत्रजी में लिखा है कि 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' इस का अर्थ यह हुआ कि इन तीनों की एकता होने से मोक्ष होता है। परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो चतुर्थ गुणस्थान में हो जाती है और चारित्र की प्राप्ति बारहवें गुणस्थान के पहिले समय में होती है, केवलज्ञान की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में हो जाती है तो भी आत्मा को मोक्ष क्यों नहीं होता ?

समाधान—इस प्रकार की शंका श्लोकवार्तिक अध्याय १ सूत्र १ पर श्लोक ४१ में उठाई गई है और इसका समाधान श्लोक ४२ से ४५ तक में किया गया है वे श्लोक इस प्रकार हैं:—

> ननु रत्नत्रयस्यैव मोक्षहेतुत्वसूचने।
> किं नार्हतः क्षणादूर्ध्वं मुक्तिं सम्पादयेत्स तत् ॥ ४१ ॥
> सहकारिविशेषस्यापेक्षणीयस्य भाविनः।
> तदैवासत्त्वतो नेति स्फुटं केचित्प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

कः पुनरसौ सहकारी सम्पूर्णेनापि रत्नत्रयेणापेक्ष्यते ? यदभावात्तन्मुक्तिमर्हतो न सम्पादयेत् इति चेत्—

स तु शक्तिविशेषः स्याज्जीवस्याघातिकर्मणाम् ।
नामादीनां त्रयाणां हि निर्जराकृद्धि निश्चितः ॥ ४३ ॥

दण्ड–कपाट–प्रतरलोकपूरण–क्रियानुमेयोऽपकर्षण–परप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः सोऽन्तरङ्गः सहकारी निःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेर्निःश्रेयसानुत्पत्तेः, आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा न पुनरुपक्रमात्तस्यानपवर्त्यत्वात् । तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्तिं न सम्पादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात् ।

क्षायिकत्वान्न सापेक्षमर्हद्रत्नत्रयं यदि ।
किन्न क्षीणकषायस्य दृक्चारित्रे तथा मते ॥ ४४ ॥
केवलापेक्षिणी ते हि यथा तद्वच्च तत्त्रयम् ।
सहकारिव्यपेक्षं स्यात् क्षायिकत्वेनपेक्षिता ॥ ४५ ॥

अर्थ—**प्रश्न**—रत्नत्रय को ही मोक्ष का कारण सूचन करने पर अर्हंत भगवान को तुरन्त ही रत्नत्रय मुक्ति क्यों नहीं दे देता ? ॥४१॥

उत्तर—भविष्य काल में (चौदहवें गुणस्थान के अन्त में होने वाला चौथा शुक्लध्यान) विशेष सहकारी कारण अपेक्षित हो रहा है वह उस समय (तेरहवें गुणस्थान के आदि में) नहीं है, अतः तब मुक्ति नहीं हो सकती। ऐसा स्पष्ट रूप से कोई आचार्य समाधान कर रहे हैं ॥४२॥

प्रश्न—वह कौनसा सहकारी कारण है जो रत्नत्रय के पूर्ण होने पर अपेक्षित हो रहा है ? जिसके अभाव में वह रत्नत्रय अर्हन्तदेव को मुक्ति नहीं मिला रहा है ?

उत्तर—नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मों की निश्चय से निर्जरा करने वाली जीव की शक्ति विशेष है ॥४३॥ दण्ड, कपाट, प्रतर, लोक पूर्ण, (केवली समुद्घात) क्रिया से जीव के मोक्ष कारण विशेषों का अनुमान किया जाता है तथा अपकर्षण व पर-प्रकृतिरूप संक्रमण के कारण जीव के परिणाम विशेष भी विद्यमान हैं। वे विशेष शक्तियाँ मोक्ष की उत्पत्ति में रत्नत्रय की अंतरंग सहकारी कारण हो जाती हैं। उन शक्तियों के अभाव में नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती और निर्जरा न होने से मोक्ष भी नहीं हो सकेगा। आयु कर्म की तो अपने काल में फल देने रूप अनुभव से निर्जरा होती है। अनपवर्त्य आयु होने से आयु कर्म का उपक्रम नहीं होता। उन कारणों की अपेक्षा रखने वाला रत्नत्रय सयोग केवली के प्रथम समय में मुक्ति को प्राप्त नहीं करा पाता, क्योंकि सहकारी कारणों का अभाव है।

प्रश्न—जो गुण कर्मों के क्षय से उत्पन्न होते हैं वे अपने कार्य में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखते ?

प्रतिशंका—क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ही मोक्ष के उत्पादक क्यों न माने जावें।

प्रतिशंका का उत्तर—वे दोनों (दर्शन और चारित्र) केवलज्ञान की अपेक्षा रखते हैं।

प्रश्न का उत्तर—उसी प्रकार वह रत्नत्रय भी सहकारी कारणों की अपेक्षा रखते हैं। उन सहकारी कारणों के सद्भाव में ही रत्नत्रय से मुक्ति की प्राप्ति होती है ॥ ४४, ४५ ॥

विशेष—यह अर्थ श्रीमान् पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य कृत टीका के आधार से लिखा गया है, विशेष जानकारी के लिये उक्त टीका पुस्तक १ पृष्ठ ४८३ से ४८९ तक देखना चाहिये।

—जै. ग 31-1-63/IX/ मो. ला.

केवली के परोक्षज्ञान का अभाव

शंका—ज्ञानावरण कर्म का क्षय होजाने से श्री अरहन्त भगवान के सर्वज्ञान प्रगट हो गया है, फिर यह कहना कि श्री अरहंत भगवान के परोक्ष ज्ञान नहीं है, उचित नहीं है। यदि उनके परोक्ष ज्ञान नहीं तो सर्व ज्ञान कहना नहीं बन सकता।

समाधान—ज्ञानावरण कर्म के क्षय से श्री १००८ अरहन्त भगवान के सकल प्रत्यक्ष क्षायिक केवलज्ञान प्रगट हुआ है। परोक्ष ज्ञान अथवा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाने पर ज्ञानावरण का क्षयोपशम संभव नहीं है, क्योंकि क्षय हो जाने पर कर्म का सत्त्व नहीं रहता। इसलिये श्री १००८ अरहन्त भगवान के मात्र एक केवलज्ञान है, शेष चार ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि वे क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। कहा भी है—

"उप्पण्णम्मि अणंते णट्ठम्मि य छादुमत्थिए णाणे।" जयधवल पु० १ पृ० ६८

अर्थात्—क्षायोपशमिक ज्ञान के नष्ट होजाने पर अनन्त ज्ञान (क्षायिक केवलज्ञान) उत्पन्न होता है।

इससे स्पष्ट है कि क्षायोपशमिक ज्ञान और क्षायिकज्ञान ये दोनों ज्ञान एक जीव में एक साथ नहीं रहते हैं। इसलिये श्री १००८ अरहन्त भगवान के क्षायोपशमिक रूप परोक्ष ज्ञान नहीं है। किन्तु बाधक-कारण-स्वरूप ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से उनके सर्व ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हो गया।

—जै. ग. 22-2-68/VI/मुमुक्षु

केवली को श्रुत के विकल्प (नय) नहीं हैं

शंका—द्रव्यार्थिक नय से पदार्थ नित्य है, पर्यायार्थिक नय से पदार्थ अनित्य है; कांटा स्वभावनय से तीक्ष्ण है, पिन अस्वभाव नय से तीक्ष्ण है; काल मरण का काल नियत है, अकाल मरण का काल अनियत है; इत्यादि नयों के विकल्प रूप ज्ञान क्या श्री अरहंत भगवान को हैं?

समाधान—नयों का विकल्प तो श्रुतज्ञान है। कहा भी है—

"श्रुतविकल्पो नयः।" आलाप पद्धति।

"सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंग-संभूदो ॥२६३॥" स्वा० का० अ०

अर्थात्—नय श्रुतज्ञान के विकल्प हैं।

श्री १००८ अरहन्त भगवान के एक केवलज्ञान ही है। उनके श्रुतज्ञान नहीं है। अतः श्रुत के विकल्प भी नहीं है।

—जै. ग. 21-12-67/VII/मुमुक्षु

श्री अरहंत के पूर्व पश्चात् आदि विकल्पात्मक परोक्ष ज्ञान का अभाव

शंका— सत्ता सामान्य की अपेक्षा से सब पदार्थ परस्पर में सदृश हैं, यह अमुक अमुक पदार्थों से बड़ा है और अमुक अमुक पदार्थों से छोटा है। अक्टूबर के पश्चात् नवम्बर का माह आवेगा और नवम्बर के पश्चात् दिसम्बर होगा, उसके पश्चात् सन् १९६८ नवीन वर्ष प्रारम्भ होगा, अक्टूबर से पूर्व सितम्बर था, आज अक्टूबर की तीन तारीख है, आश्विन कृष्णा चतुर्थी है, सोमवार है, कल को मंगल होगा, कल रविवार था, इत्यादि विकल्प रूप ज्ञान क्या श्री अरहंत भगवान को है ?

समाधान— सदृशता, गुरु, लघु, हीनाधिक, परत्वापरत्व पूर्व और पश्चात् आदि उपर्युक्त प्रश्न में कहे गए विकल्प सब परोक्ष ज्ञान के विकल्प हैं। कहा भी है—

"परोक्षमितरत् ॥१॥ प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥२॥

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥५॥

—परीक्षामुख, तीसरा अधिकार

अर्थ—जो प्रत्यक्ष से इतर अर्थात् प्रतिपक्ष है वह परोक्ष प्रमाण (ज्ञान) है। उसके पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। वर्तमान में पदार्थ का दर्शन और पूर्व में देखे हुए का स्मरण इन दोनों कारणों से संकलन अर्थात् अनुसन्धान रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही है, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। यह उसके सदृश है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उससे विलक्षण है, यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उस का प्रतियोगी है, यह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है, इत्यादि।

प्रश्न कर्ता ने अपने प्रश्न में जितने भी विकल्प उठाये हैं वे सब परोक्ष ज्ञान स्वरूप हैं जो प्राय: प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भूत होते हैं। श्री १००८ अरहंत भगवान के सकल प्रत्यक्ष ज्ञान है, उनके परोक्ष ज्ञान नहीं है, क्योंकि परोक्षज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रतिपक्षी है। इसलिए श्री १००८ अरहंत भगवान के पूर्व पश्चात् आदि विकल्पात्मक परोक्ष ज्ञान नहीं है।

— जै. ग. 22-2-68/VI/मुमुक्षु

केवली सर्वज्ञ है, और आत्मज्ञ भी

शंका—केवली आत्मज्ञ ही है या सर्वज्ञ भी है ?

समाधान—निश्चय नय की अपेक्षा केवली आत्मज्ञ ही है किन्तु उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा सर्वज्ञ है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥ नियमसार

अर्थ—व्यवहारनय से केवली भगवान सब ज्ञेयों को जानते और देखते हैं, किन्तु निश्चय नय से केवलज्ञानी आत्मा को ही जानते देखते हैं।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने निश्चय नय के कथन की अपेक्षा से गाथा ३५६ से यह बतलाया कि ज्ञायक परद्रव्य का जानने वाला नहीं है, किन्तु व्यवहारनय के कथन की अपेक्षा गाथा ३६१ में यह बतलाया है कि ज्ञाता अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है। श्री देवसेन आचार्य ने भी आलापपद्धति में सिद्धों को पर का ज्ञाता व दर्शक उपचार से बतलाया है।

"स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः। स द्वेधाकर्मज-स्वाभाविक-भेदात्। यथा जीवस्य मूर्तत्वम-चेतनत्वं, यथा सिद्धानां परज्ञता परदर्शकत्वं च। उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता सम्भवति नियमितपक्षत्वात् तथा-त्मनोऽनुपचरितपक्षेपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात्।"

अर्थात्—स्वभाव का अन्यत्र उपचार करना उपचरित स्वभाव है। वह उपचरित स्वभाव दो प्रकार का है (१) कर्मज (२) स्वाभाविक। जैसे जीव को मूर्तिक या अचेतन कहना। यह कर्मज उपचरित स्वभाव है। सिद्धों को पर का जानने वाला या देखने वाला कहना। यह स्वाभाविक उपचरित स्वभाव है। यदि अनुपचरित को न मान कर उपचरित का एकांत पक्ष किया जाय तो सिद्ध भगवान के आत्मज्ञता संभव नहीं होगी। यदि उपचरित को न मानकर अनुपचरित (निश्चय नय) का एकांत पक्ष किया जाय तो परज्ञता (सर्वज्ञता) का विरोध हो जायगा (सर्वज्ञता का निषेध हो जायगा)।

जो मात्र निश्चय नय को सर्वथा सत्यार्थ मान कर उसका एकांत पक्ष लेते हैं और व्यवहार नय (उपचार) को असत्यार्थ सर्वथा असत्यार्थ (झूठ) मानते हैं उनके मत में सर्वज्ञता का विरोध होता है और वे सर्वज्ञ को मानने वाले नहीं हो सकते।

—जै. ग. 12-10-67/VII/म्रा. ला.

अरिहन्त के द्रव्य गुण पर्याय

शंका—अरिहंत परमेष्ठी के द्रव्य गुण पर्याय किस प्रकार जाने जाते हैं ?

समाधान—श्री प्रवचनसार गाथा ८० की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने श्री अरिहंत भगवान के द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—"केवलज्ञानादयो विशेषगुणा, अस्तित्वादयः सामान्यगुणाः, परमौदा-रिक-शरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्यायः, अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः, एवंलक्षणगुणपर्यायाधार-भूतममूर्तमसंख्यातप्रदेशं शुद्धचैतन्यान्वयरूपं द्रव्यं चेति, इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्याय-स्वरूपं पूर्वमर्हदाभिधानं।"

अर्थ—श्री अरिहंत भगवान के केवलज्ञान आदि विशेष गुण हैं, अस्तित्वादि सामान्य गुण हैं। परमौ-दारिक-शरीराकार रूप से आत्म प्रदेशों का अवस्थान वह द्रव्य व्यंजन पर्याय है। अगुरुलघु गुण के द्वारा जो षड्

वृद्धि हानि रूप जो प्रति समय परिणमन है वह शुद्ध अर्थ पर्याय है। इन गुण और पर्यायों के आधारभूत अमूर्त असंख्यात प्रदेश हैं वह द्रव्य है। इस प्रकार ये अरिहंत भगवान के द्रव्य गुण पर्याय कहने चाहिये।

—जै. ग. 7-11-68/XIV/टो. ला. मि.

सयोगी भगवान् कथंचित् निग्राहक व अनुग्राहक होते हैं

शंका—धवल भाग ८ में सूत्र ४८ की टीका में तीर्थंकर भगवान को 'शिष्ट-परिपालक एवं दुष्टों का निग्राहक' कहा है तो वीतराग देव के तेरहवें गुणस्थान में यह कैसे संभव है।

समाधान—शिष्टजन श्री तीर्थंकर भगवान की पूजन-स्तवन वंदन तथा ध्यान कर अपना कल्याण कर लेते हैं अथवा श्री तीर्थंकर भगवान के द्वारा बताये गये मोक्षमार्ग पर चलकर कर्मबंधन से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यदि श्री तीर्थंकर भगवान मोक्ष-मार्ग का उपदेश न देते तो शिष्टजन सांसारिक दुःखों से मुक्त न होते। श्री तीर्थंकर भगवान के धर्म द्वारा शिष्टजन स्वर्ग तथा मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हैं। अतः श्री तीर्थंकर भगवान शिष्ट-परिपालक हैं।

दुष्ट जन श्री तीर्थंकर भगवान की निन्दा करने से पापकर्म का बंध करते हैं, धर्म से विमुख रहते हैं; जिसके कारण वे नरक निगोद में बहुत दुःख उठाते हैं अथवा श्री तीर्थंकर भगवान की निन्दा आदि से जो पापकर्म बंधा था वह पापकर्म उन दुष्ट पुरुषों को नरक-निगोद में पटक देता है जहां पर वे बहुत काल तक तीव्र दुःख सहन करते हैं। इस अपेक्षा से तीर्थंकर भगवान दुष्ट-निग्राहक हैं।

श्री तीर्थंकर भगवान स्वयं न किसी को दुःख देते हैं और न किसी को सुख देते हैं।

—जै. ग. 5-6-67/IV/ब्र. कै. ला.

केवली सर्वशक्तिमान् कैसे ?

शंका—जब श्री अरहंत भगवान जीव को अजीव नहीं बना सकते तो उनको अनन्त शक्तिमान् या सर्व शक्तिमान् क्यों कहा जाता है ?

समाधान—वीर्य का घातक वीर्यान्तराय कर्म है। श्री १००८ अरहंत भगवान के अन्तराय कर्म का क्षय हो गया है। अतः उनके वीर्य अर्थात् शक्ति को रोकने वाला कोई भी बाधक कारण नहीं रहा। इसलिए श्री १००८ अरहंत भगवान के अनन्तवीर्य अर्थात् सर्व वीर्य या सर्व शक्ति प्रगट हो गई है। वस्तुगत स्वभाव को अन्यथा कर देना सर्व शक्ति या अनन्त शक्ति का अर्थ नहीं है। यदि श्री १००८ अरहंत भगवान में अनन्तवीर्य या सर्व वीर्य न होता तो वे अनन्त पदार्थों या सर्व पदार्थों को युगपत् नहीं जान सकते थे। क्योंकि श्री १००८ अरहंत भगवान युगपत् सर्व पदार्थों को जानते हैं इसलिए उनमें सर्व शक्ति है। "आत्मनः सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धिनो वीर्यान्तरायकर्मणोऽत्यन्तसंक्षयादुद्भूतवृत्ति क्षायिकमनन्तवीर्यम्।" राजवार्तिक २।४।६

अर्थ—आत्मा की सामर्थ्य का प्रतिबन्धक वीर्यान्तराय कर्म है। उस वीर्यान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक अनन्त वीर्य प्रगट होता है।

इस आर्ष वाक्य से श्री १००८ अरहंत भगवान के असीम निरवधि अनन्त वीर्य सिद्ध हो जाता है।

—जै. ग. 21-12-67/VII/मुमुक्षु

अनन्त चतुष्टय के स्वामी अरहन्त

शंका—श्री अरहंत भगवान के कौन से चतुष्टय प्रगट होते हैं ?

समाधान—दर्शनावरण कर्म के क्षय से अनन्त-दर्शन, ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान, मोहनीय कर्म के क्षय से अनन्त सुख और अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त वीर्य उत्पन्न होते हैं। इसलिये श्री १००८ अरहंत भगवान सर्व सुखी, सर्व शक्तिमान, सर्वदर्शी और सर्व ज्ञानवान हैं।

शंका—यदि श्री अरहंत भगवान सर्व सुखी हैं तो क्या उनके विषय-भोग-जनित सुख भी है। यदि नहीं तो उनको सर्व सुखी नहीं कह सकते ?

समाधान—विषयभोगों से उत्पन्न हुआ जो सुख, उसका अनुभव इन्द्रियों से होता है। श्री १००८ अरहंत भगवान इन्द्रियातीत हैं अतः उनके न तो विषय-भोग है और न उस सुख का अनुभव होता है। अर्थात् श्री १००८ अरहंत भगवान के इन्द्रिय-जनित सुख नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय-जनित सुख का कारण इन्द्रिय-ज्ञान है। **"इन्द्रिय सौख्य साधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति।" प्रवचनसार, गाथा ५५ की उत्थानिका।**

अर्थ—इन्द्रिय सुख का साधन भूत इन्द्रिय ज्ञान है जो हेय है। इसप्रकार उसकी निंदा करते हैं।

—जै. ग. 21-12-67/VII/मुमुक्षु

अरहन्त सुखी क्यों व कैसे ?

शंका—श्री अरहंत भगवान को सर्व सुखी क्यों कहते हो ?

समाधान—सुख का लक्षण आकुलता का अभाव है, क्योंकि आकुलता ही सुख की विघातक है। **श्री अमृतचंद्र आचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा १९५ व १९८ की टीका में कहा है—**

"अनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यं।" "अनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं।"

अर्थात्—अनाकुलता परम सुख अथवा अक्षय-सुख का लक्षण है।

आकुलता का उत्पादक मोहनीय कर्म है अतः मोहनीय कर्म के अभाव में आकुलता का भी अभाव हो जाता है, इस अपेक्षा से श्री १००८ अरहंत भगवान को सर्व सुखी कहा गया है। कहा भी है—

"तत्सुखं मोहक्षयात्।" तत्त्वार्थवृत्ति ९।४४।
"सौख्यं च मोहक्षयात्।" पद्मनन्दि-पंचविंशति ८।६।

अर्थात्—मोहनीय कर्म के क्षय से अनन्त सुख, अक्षयसुख, परम सुख, सर्व सुख होता है।

श्री १००८ अरहंत भगवान के सुख का प्रतिपक्षी मोहनीय कर्म का क्षय हो गया है अतः उनको किसी प्रकार का दुःख नहीं है, इसलिये वे सर्व सुखी हैं। सर्व सुखी का यह अर्थ नहीं है कि श्री १००८ अरहंत भगवान के इन्द्रियजनित सुख भी है।

—जै ग. 21-12-67/VII/ मुमुक्षु

केवली के विहारादि क्रियाओं का कर्तृत्वाकर्तृत्व

शंका—तीर्थंकर केवली भगवान जब समवसरण में विराजते हैं तो पद्मासन से विराजते हैं और विहार होता है तब खड़े होकर, नियत समय अथवा अनियत समय में वाणी भी खिरती है, दण्ड, कपाट, प्रतर लोकपूर्ण रूप समुद्घात भी होता है। ये क्रियायें करते हैं या होती हैं? यदि होती हैं तो क्यों होती हैं? स्वभाव तो नहीं है।

समाधान—अरहंत भगवान के स्थान (खड़े होना) आसन (बैठना) और विहार तथा धर्मोपदेश देना (नियत और अनियत समय पर वाणी खिरना) ये सब क्रियायें बिना प्रयत्न के अथवा इच्छा के होती हैं इसलिये इन क्रियाओं को स्वाभाविक कहा गया है, किन्तु कर्मोदय से होती हैं इसलिये औदयिकी कहा गया है। इस सम्बन्ध में निम्न आर्ष वाक्य हैं—

> ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
> अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥ प्र. सा.

अर्थ—उन अरहंत देव के उस अरहंत अवस्था में स्थान आसन और विहार तथा धर्मोपदेश ये क्रियायें स्वाभाविक हैं अर्थात् बिना प्रयत्न के होती हैं जैसे स्त्री के मायाचार, तद्गत पर्याय-स्वभाव के कारण, बिना प्रयत्न के होता है। यहाँ पर स्वभाव का अभिप्राय पर्याय स्वभाव से है, द्रव्य स्वभाव से नहीं।

जब ये क्रियायें द्रव्य स्वभाव नहीं हैं तो इन क्रियाओं के पर्याय स्वभाव होने का क्या कारण है? ये क्रियायें पर्यायगत स्वभाव हैं। इसमें कारण कर्मोदय है अतः ये क्रियायें औदयिकी हैं, कहा भी है—

> पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
> मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइगत्ति मदा ॥४५॥ प्र. सा.

अर्थ—पुण्य का फल अरहंत अवस्था है। उनकी क्रिया (स्थान, आसन, विहार, दिव्यध्वनि) शुद्धात्मतत्व से विपरीत होने के कारण औदयिकी अर्थात् कर्मोदय-जनित है। किन्तु ये क्रियायें मोहादि से रहित अर्थात् बिना इच्छा व प्रयत्न के होती हैं इसलिये आगामी कर्म-बंध का कारण नहीं होतीं, किन्तु इन क्रियाओं के द्वारा कर्म फल देकर क्षय को प्राप्त हो जाता है इसलिये इन क्रियाओं को क्षायिकी भी कहा गया है।

ये क्रियायें बिना इच्छा व प्रयत्न के होती हैं इस अपेक्षा से श्री अरहंत भगवान इन क्रियाओं को करते नहीं हैं, किन्तु होती हैं। ये क्रियायें अरहंत की पर्यायें हैं इस अपेक्षा से श्री अर्हंत भगवान इन क्रियाओं के कर्ता भी हैं, जैसा कि कहा है—

> यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
> या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

अर्थ—जो परिणमित होता है सो कर्ता है, जो परिणाम है सो कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है। यह तीनों भिन्न नहीं हैं।

इस प्रकार कर्ता के विषय में अनेकान्त है।

—जै. ग. 10-9-64/IX/ ज. प्र.

तेरहवें गुणस्थान में मोक्ष क्यों नहीं हो जाता ?

शंका—सातवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की पूर्णता तथा बारहवें गुणस्थान में चारित्र की पूर्णता और तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान की पूर्णता हो जाती है फिर मुक्ति-लाभ क्यों नहीं होता है ? इससे रत्नत्रय के असमर्थपना आता है।

समाधान—यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों क्षायिक हो जाते हैं, क्योंकि उनके प्रतिपक्षी कर्म क्षय हो चुका है, तथापि आयुकर्म रूप बाधक कारण का सद्भाव होने से मुक्ति लाभ नहीं होता है। **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने कहा भी है—

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥ १७६ ॥ नियमसार

आयु के क्षयसे शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है फिर वे शीघ्र समय मात्र में लोकाग्र में पहुंचते हैं।

कार्य की सिद्धि में सम्पूर्ण साधक सामग्री के साथ साथ बाधक कारणों के अभाव की भी आवश्यकता है। केवलज्ञान के प्राप्त हो जाने पर भी जितनी मनुष्यायु की स्थिति शेष है उतने काल तक केवली-जिन को मुक्ति नहीं हो सकती है।

"प्रतिबंधकसद्भावानुमानमागमेऽभिमतं तावद सति न घटते।" मू० आ० पृ० २३

आगम में प्रतिबंधक कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा खुलासा है, जैसे सहकारी कारण नहीं होने से कार्य की सिद्धि नहीं होती वैसे ही प्रतिबंधक का सद्भाव होने से भी कार्य नहीं होता। सहकारी कारण होते हुए प्रतिबंधक कारणों का अभाव होगा तो कार्य उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं होगा। अतः प्रतिबन्धक के सद्भाव में कार्य नहीं होता। मू० आ० पृ० २७।

—जै. ग. 1-1-70/VII-VIII/रो. ला. मि.

तेरहवें गुणस्थान में प्रदेशबन्ध का अस्तित्व सकारण है

शंका—तेरहवें गुणस्थान में प्रदेश बंध क्यों माना गया है ? वहां पर चार घातिया कर्मों का बंध नहीं है, फिर वहां पर सूक्ष्म पुद्गल परमाणु आत्मा से किस प्रकार बंध को प्राप्त हो सकते हैं ?

समाधान—तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान में योग है। अतः वहां पर योग से साता वेदनीय कर्म प्रकृति का प्रदेश बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है। कहा भी है—

"जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।"

अर्थ—प्रकृति और प्रदेश बंध ये दोनों ही योग के निमित्त से होते हैं।

"जोगणिमित्तेणेव जं बज्झइ तमीरियावहकम्म ति भणिदं होदि।" धवल पु० १३ पृ० ४७।

योग मात्र के कारण जो कर्म बंधता है, वह ईर्यापथ कर्म है।

"कसायाभावेणट्ठिदिबंधाजोग्गस्स कम्मभावेण परिणदबिदियसमए चेव अकम्मभावं गच्छंतस्स जोगेणागद-पोग्गलक्खंधस्स ट्ठिदिविरहिदएगसमए वट्टमाणस्स कालणिबंधणअप्पत्तदंसणादो इरियावहकम्ममप्पमिदि भणिदं।" धवल पु० १३ पृ० ४८।

कषाय का अभाव होने से स्थिति बन्ध के अयोग्य है, कर्मरूप से परिणत होने के दूसरे समय में ही अकर्म-भाव को प्राप्त हो जाता है और स्थिति बन्ध न होने से मात्र एक समय तक विद्यमान रहता है, योग के निमित्त से आये हुए ऐसे पुद्गल-स्कन्ध में काल निमित्तक अल्पत्व देखा जाता है। इसलिये ईर्यापथ कर्म अल्प है ऐसा कहा है।

—जै. ग. 30-12-71/VI/रो. ला. मि.

केवली की क्रियाएँ निरीह

शंका—केवली समुद्घात उनके विचार (इच्छा) द्वारा होता है? यदि विचार द्वारा होता है तो दिव्यध्वनि भी विचारों द्वारा खिरती होगी। विहार समय भी किस ओर विहार करना है इसका विचार कौन करता है? इन्द्र विचार करता है या केवली? समवसरण का विघटना तथा बनना इसका विचार इन्द्र करता है या केवली?

समाधान—मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से केवली के इच्छा (विचार) का तो अभाव हो जाता है। अतः केवली समुद्घात, दिव्यध्वनि का खिरना, समवसरण का विघटना-बनना तथा विहार आदि कार्य, केवली की इच्छा बिना होते हैं। वेदनीय नाम व गोत्रकर्म की स्थिति-क्षय के लिये केवली समुद्घात स्वयमेव होता है इसके लिये केवली को विचार नहीं करना पड़ता। दिव्यध्वनि और विहार में पूर्वोपार्जित कर्मोदय तथा भव्य पुरुषों का पुण्योदय कारण है। विहायोगति नामकर्म के उदय से तो केवली का विहार होता है, किन्तु विहार किस ओर हो, इसमें विहायोगति नाम कर्म कारण नहीं है; इसमें भव्य जीवों का विशेष पुण्योदय कारण है। दिव्यध्वनि में केवलज्ञान, वचनयोग गणधर आदि विशिष्ट ज्ञानी भव्य जीव तथा भाषा वर्गणा आदि कारण हैं। समवसरण के लिये तीर्थंकर प्रकृति का उदय, इन्द्र आदि की भक्ति, भव्य जीवों का पुण्योदय आदि कारण है। किन्तु इन सब कार्यों के लिए केवली को विचार नहीं करना पड़ता और न केवली के विचार होता है, क्योंकि विचार तो मोही जीवों के होता है।

—जै. ग. 9-1-64/IX/कु आ. सा.

केवली के भावमन के बिना भी मनोयोग

शंका—धवल पुस्तक १ पृ० २७९ पर मनोयोग का लक्षण "भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः" किया है। केवली भगवान के भावमन नहीं होता है अतः उनके मनोयोग नहीं हो सकता?

समाधान—सयोगी केवली जिनके मनोयोग होता है ऐसा द्वादशांग का निम्न सूत्र है—"मणजोगो सच्च-मणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि जाव सजोगकेवलि त्ति ॥५०॥

मनोयोग, सत्यमनोयोग तथा असत्यमृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी केवली तक होता है। धवल पु० १ पृ० २७९ पर।

"भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः ।" अर्थात् 'भावमन की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है वह मनोयोग है।' ऐसा लक्षण किया है वह लक्षण छद्मस्थों की अपेक्षा किया गया है। सयोगी केवली जिनकी अपेक्षा मनोयोग का लक्षण निम्न प्रकार है—

"अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात् । भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्य-मिति चेद भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिक-ज्ञानस्याभावः अपितु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात्। तेनात्मनो योगः मनोयोगः ।" धवल पु० १ पृ० २८४ ।

यदि कहा जाय केवली के, अतीन्द्रिय ज्ञान होने के कारण, मन नहीं पाया जाता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि केवली के द्रव्यमन का सद्भाव पाया जाता है। यद्यपि केवली के द्रव्य मन का क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं है, तथापि द्रव्य मन के उत्पन्न करने में प्रयत्न (परिस्पन्द) तो पाया ही जाता है क्योंकि द्रव्यमन की वर्गणाओं के लाने में होने वाले प्रयत्न (परिस्पन्द) का कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उस द्रव्यमन के निमित्त से जो आत्मा का परिस्पन्द रूप प्रयत्न होता है वह मनोयोग है।

—जै. ग. 5-12-74/VIII/ज. ला. जै. भीण्डर

केवली के वास्तव में मनोयोग है

शंका—केवली के मनोयोग वास्तव में है या उपचार से ?

समाधान—धवला में कहा है कि "उपचार से मन (भावमन) के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।" (**धवल पु० १/३६८**) द्रव्यमन तो केवली के है, अतः मनोवर्गणाएँ आती हैं। मनोवर्गणा के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिष्पन्द होता है। अतः केवली के मनोयोग उपचार से नहीं, वास्तव में है।

क्षायोपशमिक होने से केवली के योग नहीं हो सकता, ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि वास्तव में तो योग औदयिक भाव है।[1]

—पत्र 27-4-74/I/ज. ला. जैन भीण्डर

सयोग केवली के ईर्यापथ आस्रव दो समय स्थिति का नहीं

शंका—कर्मकांड गाथा २७४ की टीका में केवली के साता का अनुभाग अनन्तगुणा माना है। कषाय के अभाव में तीव्र अनुभाग कैसे बँधा ? इसी टीका में साता का स्थिति बंध दो समय का होना मालूम पड़ता है। दो समय का स्थिति बंध कैसे सम्भव ?

---

1. **योग पारिणामिक भाव अथवा औदयिक भाव हैं। [ध० ५/२२५-२२६] योग क्षायोपशमिक व औदयिक भाव हैं। [ध० ७/७५-७६] योग औदयिक भाव हैं। [ध० ७/३१६] योग औदयिक भाव तथा क्षायोपशमिक भाव हैं। [ध० १०/४३६] योग वास्तव में औदयिक भाव हैं।**

[सिद्धान्तशिरोमणि पू० ब्र० रतनचन्द मुख्तार पत्र 27-4-74]

समाधान—सयोग केवली के कषाय का अभाव हो जाने से ईर्यापथ आस्रव होता है। जब द्रव्य कर्म का आस्रव होता है तो यह प्रश्न होता है कि उसकी प्रकृति (स्वभाव) क्या है ? वह साता प्रकृति रूप है क्योंकि अन्य समस्त कर्मों का संवर हो चुका है। उस आस्रव में कितना काल लगता है अर्थात् कितनी स्थिति है ? उसकी स्थिति एक समय मात्र है, क्योंकि किसी भी कार्य में एक समय से कम काल नहीं लगता, कारण कि समय से अन्य कोई छोटा काल नहीं है। वह साता प्रकृति मंद है या तीव्र है ? जैसे 'गन्ना मीठा प्रकृति वाला है' ऐसा कहने पर तुरन्त प्रश्न होता है कि कम मीठा है या अधिक मीठा है, उसी प्रकार प्रश्न होता है वह द्रव्य कर्म मंद साता प्रकृति वाला है या तीव्र साता प्रकृति वाला है अर्थात् अनुभाग तीव्र है या मंद है ? वह साता प्रकृति मंद अनुभाग वाली तो हो नहीं सकती, क्योंकि साता प्रकृति प्रशस्त होने के कारण उसमें मंद अनुभाग संक्लेष से पड़ता है परन्तु सयोग केवली के संक्लेष का सर्वथा अभाव है अतः वह साता प्रकृति अनन्तगुणी अनुभाग वाली होनी चाहिये क्योंकि वहाँ पर विशुद्धता अधिक है।

सयोग केवली के असाता के उदय समय पूर्व बँधी साता का असाता रूप स्तिबुक संक्रमण हो जाता है तो इस नवीन साता का भी असाता रूप क्यों संक्रमण नहीं होता ? इसके उत्तर में टीकाकार ने यह कहा है कि **दो समय स्थिति वाले कर्म का ही स्तिबुक संक्रमण होता है**। यदि इस नवीन साता का संक्रमण माना जावेगा तो इसके दो समय स्थिति का प्रसंग आजायगा, किन्तु इसकी स्थिति एक समय है अतः इस साता का असाता रूप संक्रमण नहीं होता और इस का साता रूप उदय होने से अति हीन अनुभाग वाली असाता का उदय प्रतिहत हो जाता है।

कषाय के उदय में न तो एक समय की स्थिति वाला और ऐसे अनुभाग वाला भी बंध सम्भव नहीं था अतः यह कहा जाता है कि अकषायी जीवों के स्थिति व अनुभाग बंध नहीं होता। **अन्यथा जहाँ पर प्रकृति व प्रदेश है वहाँ पर स्थिति व अनुभाग अवश्य है**। बिना स्थिति व अनुभाग के प्रकृति व प्रदेश बंध सम्भव ही नहीं है। इस प्रकरण की विशेष जानकारी के लिये **धवल पुस्तक १३ पृ० ४७ से ५४** तक देखना चाहिये। यह कथन जो **गोम्मटसार कर्मकांड गाथा २७४** में कहा गया है वह **धवल पुस्तक १३ पृ० ५३** पर है।

गोम्मटसार टीका में सयोग केवली के साता का बंध एक समय स्थितिवाला कहा गया है, दो समय की स्थिति वाला नहीं कहा गया।

—जै. ग. 9-16-5-63/IX/प्रो. म. ला. जैन

(१) केवली की स्व-परज्ञता

(२) उपचार का अर्थ आरोप या मिथ्या कल्पना नहीं

शंका—केवली भगवान स्व को ही जानते हैं या पर को ही जानते हैं या दोनों को ही जानते हैं ? मेरी राय में निश्चयनय से केवली भगवान स्व और पर दोनों को जानते हैं।

समाधान—वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु में अनेकों परस्पर विरोधी धर्म रहते हैं। जिस धर्म की मुख्यता से उस वस्तु को देखा जावे वह वस्तु उस धर्म की अपेक्षा से वैसी ही दिखाई देती है अन्य

रूप नहीं दीखती क्योंकि उस समय उस की दृष्टि में अन्य धर्म गौण हैं, अभाव रूप नहीं हैं। वस्तु के जानने का यह प्रकार है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय पाँच सूत्र ३२ "अर्पितानर्पित सिद्धेः" की सर्वार्थसिद्धि टीका में कहा है।

उन भिन्न २ दृष्टिकोणों को आगम में 'नय' कहा है। नय के द्वारा जो वस्तु का अध्यवसाय होता है वह वस्तु के एक अंश में प्रवृत्ति करता है। अनन्त पर्यात्मक वस्तु की किसी एक पर्याय का ज्ञान करते समय निर्दोष युक्ति की अपेक्षा से जो दोष रहित प्रयोग किया जाता है वह नय है। जयधवल पुस्तक १।

अध्यात्म में इस नय के मुख्य दो भेद हैं—१ निश्चय नय २ व्यवहार नय। यद्यपि निश्चयनय और व्यवहार नय के आगम में अनेकों लक्षण कहे हैं तथापि प्रकृत विषय में 'स्व के आश्रित निश्चय नय, पर के आश्रित व्यवहार नय है' "आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहार नयः" समयसार आत्म ख्याति टीका गाथा २७२। यह लक्षण ग्रहण करना चाहिये। 'पराश्रित' अर्थात् 'पर' के साथ सम्बन्ध का द्योतक व्यवहार नय है।

जब स्वाश्रित निश्चय नय है तो निश्चय नय की अपेक्षा ज्ञान आत्मा को अर्थात् अपने को ही जानता है, पर को नहीं जानता क्योंकि निश्चयनय का विषय पराश्रित नहीं है। यह कथन कपोल कल्पित नहीं है किन्तु श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने इसको अनेकों स्थल पर कहा है—जैसे खड़िया मिट्टी (पोतने का चूना या कलई) पर की नहीं है कलई वह तो कलई है उसी प्रकार ज्ञायक पर का (पर द्रव्य का) नहीं है, ज्ञायक वह तो ज्ञायक ही है (गाथा ३५६) इस गाथा की आत्म ख्याति टीका में कहा है कि 'पुद्गलादि पर द्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता आत्मा के ज्ञेय हैं।' गाथा ३६० में कहा कि यह निश्चय नय का कथन है अब उस सम्बन्ध में व्यवहार नय का कथन सुनो "जैसे सेटिका अपने स्वभाव से पर द्रव्य को सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से पर द्रव्य को जानता है। (गाथा ३६१)।" इसी का समर्थन स्वयं श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार गाथा १५९ में इन शब्दों द्वारा किया है—"व्यवहार नय से केवली भगवान सब जानते और देखते हैं निश्चय से केवलज्ञानी आत्मा को जानते और देखते हैं।" श्री १०८ देवसेन आचार्य ने भी आलापपद्धति में कहा है कि उपचार से सिद्ध भगवान पर के ज्ञाता दृष्टा हैं।

निश्चय नय और व्यवहार नय के लक्षण तथा आगम प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि केवली भगवान निश्चय नय से हैं आत्मा को जानते हैं व्यवहार नय से पर को जानते हैं और प्रमाण से स्व और पर दोनों को जानते हैं। जब कि निश्चयनय पराश्रित है ही नहीं तब निश्चय नय की अपेक्षा केवली पर को जानते हैं ऐसा आचार्य कैसे कथन कर देते। केवलज्ञानी का पर ज्ञेयों के साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है, किन्तु यह सम्बन्ध असद्भूत उपचरित व्यवहारनय की अपेक्षा से है क्योंकि सब ज्ञेय एक क्षेत्र अवगाही नहीं हैं।

जिनकी दृष्टि में व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है उनकी दृष्टि में केवली भगवान पर को जानते हैं यह भी असत्यार्थ हुआ; किन्तु जिन की दृष्टि में व्यवहारनय सत्य भी है अर्थात् स्याद्वादी है उनके लिये इस कथन से सर्वज्ञ का अभाव नहीं होता जैसा कि समयसार गाथा ३६५ की तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका में कहा है "यहाँ शिष्य कहता है कि सौगत (बौद्ध) भी व्यवहार से सर्वज्ञ मानते हैं उनको दूषण क्यों दिया जाता है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि बौद्ध आदिकों के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार मिथ्या है वैसे व्यवहाररूप से भी व्यवहार सत्य नहीं है। परन्तु जैन मत में व्यवहार यद्यपि निश्चय नय की अपेक्षा से मिथ्या है तो भी व्यवहार रूप से सत्य है यदि व्यवहार व्यवहाररूप से भी सत्य न हो तो सर्व ही लोक व्यवहार मिथ्या हो जावे ऐसा होने पर

अति प्रसंग हो जाय। इस से यह कहना ठीक है कि आत्मा व्यवहार नय से पर द्रव्यों को देखता जानता है, परन्तु निश्चय से तो अपने ही आत्मद्रव्य को देखता जानता है।"

शंका—केवलज्ञानी पर पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं यह कथन तो वास्तविक है फिर पूर्व शंका के समाधान में ऐसा क्यों कहा कि केवलज्ञानी पर पदार्थों को जानते हैं। यह उपचार से अर्थात् आरोपित कथन है ?

समाधान—'उपचार' का अर्थ 'आरोप' नहीं है। प्राचीन आचार्य रचित ग्रन्थों में 'उपचार' शब्द का प्रयोग 'मिथ्या कल्पना' के लिये नहीं मिलेगा। 'मिथ्या कल्पना' के लिये प्रायः 'आरोप' शब्द का प्रयोग किया जाता है। दो भिन्न पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध प्रगट करने के निमित्त से अथवा प्रयोजन से उपचरित कथन किया जाता है (**आलाप पद्धति**)। जैसे **तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ सूत्र २** में योग को आस्रव कहा, किन्तु योग तो कर्मों के आस्रव के लिए कारण है और कर्मों का आना आस्रव है। अतः कारण कार्य सम्बन्ध प्रगट करने के प्रयोजन उपचार से 'योग आस्रव है' ऐसा कहा है (**राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २**) यह उपचरित कथन यथार्थ है क्योंकि यह योग और आस्रव में कारण कार्य सम्बन्ध को प्रगट करता है और वह सम्बन्ध यथार्थ है। इसीप्रकार आधार आधेय सम्बन्ध को प्रगट करने के लिये 'घी का घड़ा' आदि वाक्यों का प्रयोग उपचार से होता है इसी प्रकार 'ज्ञेय' और 'ज्ञायक' का परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिये उपचार से 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग होता है।

यदि कोई इस औपचारिक कथन के प्रयोजन कार्य-कारण आधार आधेय ज्ञेय-ज्ञायक आदि वास्तविक सम्बन्धों को न ग्रहण कर, तादात्म्य सम्बन्ध को ग्रहण कर इस औपचारिक कथन में दूषण देने लगे, यह तो न समझने वाले का दोष है, कथन में तो कुछ दोष है नहीं। औपचारिक कथन का प्रयोजन तो दो द्रव्यों में यथार्थ सम्बन्ध प्रकट करने का है अतः जिसका प्रयोजन यथार्थ है वह कथन भी यथार्थ है। यदि दो द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध को सर्वथा अयथार्थ माना जावेगा तो 'सर्वज्ञता' 'दिव्य ध्वनि की प्रमाणता' 'समयसार आदि ग्रन्थों की प्रमाणता' इत्यादि सब को अयथार्थता का प्रसंग आजाने से मोक्षमार्ग का ही लोप हो जावेगा। क्योंकि ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध न रहने से 'सर्वज्ञ' के अभाव का, पौद्गलिक शब्द वर्गणामयी जड़ स्वरूप दिव्यध्वनि का केवलज्ञान से सम्बन्ध न रहने के कारण दिव्यध्वनि की अप्रमाणता का तथा **श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य 'समयसार'** आदि ग्रन्थों के कर्त्ता न रहने से समयसार आदि ग्रन्थों की प्रमाणता के अभाव का प्रसंग अनिवार्य हो जाता।

'केवलज्ञानी पर पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं' यह कथन औपचारिक होते हुए भी दो द्रव्यों के सम्बन्ध प्रगट करने की अपेक्षा से यथार्थ है।

—जै. ग. 23-8-62/V/डी. एल. शास्त्री

केवली के पाँचों प्रकार की वर्गणाएँ आती हैं

शंका—सयोग केवली कार्मण आदि कितने प्रकार की वर्गणा ग्रहण करते हैं और उनके क्या-क्या नाम हैं ?

समाधान—सयोग केवली भगवान के कषायाभाव होने के कारण ईर्यापथ-कर्म-आस्रव होता है। ईर्यापथ-कर्म-आस्रव रूप कार्मण वर्गणा साता रूप होती है। कहा भी है—

"देव-माणुससुहेहिंतो बहुयरसुहुप्पायणत्तादो इरियावहकम्मं सादब्भहियं'। धवल १३ पृ० ५१।

देव और मनुष्यों के सुख से अधिक सुख का उत्पादक है, इसलिये ईर्यापथ-कर्म को 'अत्यधिक साता रूप' कहा है अर्थात् सयोग केवली भगवान साता प्रकृति रूप कार्मण वर्गणा को ग्रहण करते हैं। अन्यत्र भी कहा है—

"अट्ठण्णं कम्माणं समयपबद्धपदेसेहिंतो ईरियावह समयपबद्धस्स पदेसा संखेज्जगुणाहोंति, सादं मोत्तूण अण्णेसिं बंधाभावो।"

आठों कर्मों के समयप्रबद्धप्रदेशों से ईर्यापथ-कर्म के समयप्रबद्धप्रदेश संख्यात गुणे होते हैं, क्योंकि यहाँ साता वेदनीय के सिवाय अन्य कर्मों का बन्ध नहीं होता।

अप्पं बादर मदुअं बहुअं लहुक्खं च सुक्किलं चेव।
मंदं महव्वयं पिय सादब्भहियं च तं कम्मं ॥

वह ईर्यापथ कर्म अल्प है, बादर है, मृदु है. बहुत है, रूक्ष है, शुक्ल है, मधुर है, महान् व्ययवाला है और अत्यधिक साता रूप है।

केवली भगवान भाषा वर्गणा को ग्रहण करते हैं। वह भाषा वर्गणा चार प्रकार की है।

"भाषा दव्ववग्गणा सच्चमोस-सच्चमोस-असच्चमोस भेदेण चउविहा। एवं चउव्विहत्तं कुदो णव्वदे? च उव्विहंभासाकज्जण्णहाणुववत्तीदो।" धवल पु० १४ पृ० ५५०।

भाषाद्रव्य वर्गणा सत्य, मोष, सत्यमोष और असत्यमोष (अनुभय) के भेद से चार प्रकार की है, क्योंकि चार प्रकार का भाषारूप कार्य अन्यथा बन नहीं सकता।

केवली भगवान की दिव्यध्वनि सत्यभाषा रूप व असत्यमोष (अनुभय) भाषा रूप होती है अतः केवली भगवान सत्यभाषा वर्गणा तथा असत्यमोष (अनुभय) भाषा वर्गणा को ग्रहण करते हैं।

केवली भगवान के द्रव्यमन होता है। द्रव्यमन की स्थिति के लिये मनोद्रव्य वर्गणा का ग्रहण होता है। मनो वर्गणा भी सत्य, मोष, सत्यमोष (उभय) असत्यमोष (अनुभय) के भेद से चार प्रकार की है।

"मणदव्ववग्गणा चउव्विहा सच्चमणपाओग्गा, मोसमणपाओग्गा, सच्चमोस मणपाओग्गा, असच्चमोसमणपाओग्गा मणदव्ववग्गणादोणिप्पज्जमाणस्स चउव्विहभावण्णहाणुववत्तीदो।" धवल १४ पृ० ५५२।

इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है। केवली भगवान के सत्य मनोयोग और असत्यमोष (अनुभय) मनोयोग होता है अतः केवली भगवान सत्य मनो वर्गणा व असत्यमोष (अनुभय) मनोवर्गणा को ग्रहण करते हैं। कहा भी है—

"मण जोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥५०॥ भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्वं तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्वात्। नासत्यमोष—मनोयोगस्य सत्वं तत्र संशयानध्यवसाययोरभावादिति न, संशयानध्यवसायनिबन्धनवचनहेतुमनसोऽप्यसत्यमोषमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्वाविरोधात्। भवतु द्रव्यमनसः सत्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः अपितु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात्। तेनात्मनो योगः मनोयोगः। विद्यमानेऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः

किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणक्षयोपशमाभावात् । असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात् ।" धवल पृ० २८२ ।

सत्यमनोयोग तथा असत्यमृषा मनोयोग (अनुभय मनोयोग) संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं । केवली के वचन संशय और अनध्यवसाय के कारण होते हैं और उन वचनों का कारण मन होने से केवली के अनुभय मनोयोग का सद्भाव स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं आता है । केवली के यद्यपि द्रव्यमन का कार्यरूप उपयोगात्मक क्षयोपशमिक ज्ञान का अभाव है तथापि द्रव्यमन के उत्पन्न करने में प्रयत्न तो पाया जाता है क्योंकि द्रव्यमन की वर्गणाओं के लाने के लिये होने वाले प्रयत्न में कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है । केवली के यद्यपि मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि केवली के मानसिक ज्ञान के सहकारी कारण रूप क्षयोपशम का अभाव है, तथापि उपचार से मन के द्वारा सत्य और अनुभय दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान किया गया है ।

इसी प्रकार **धवल पु० १ सूत्र ५३ व ५४** में सयोग केवली के अनुभय वचन योग और सत्य वचनयोग का विधान किया गया है । अतः सयोग केवली सत्यभाषा वर्गणा और अनुभय भाषा वर्गणा को ग्रहण करते हैं ।

सयोग केवली शुक्ल वर्ण, सुगन्धित, मधुर, मृदु, आहारवर्गणा (औदारिक वर्गणा) को ग्रहण करते हैं, क्योंकि उनका रुधिर व मांस दूध व क्षीर के समान शुक्ल वर्ण वाला है । कर्पूरादि के सदृश उनके शरीर में से सुगंधी आती रहती है । उनका शरीर मधुर रसवाला तथा मृदु है क्योंकि उनके शरीर से किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं होती है । **बोधपाहुड व महापुराण पर्व २५** में सयोगकेवली के शरीर का कथन है ।

स्फटिक के समान तेज से युक्त हैं अतः सयोग केवली स्फटिक सदृश तैजस वर्गणा को ग्रहण करते हैं ।

—जै. ग. 22-1-76/... ... / ज. ला. जैन भीण्डर

केवली और आहारवर्गणा

शंका—केवलज्ञान होने के पश्चात् क्या आहारवर्गणा आती है ?

समाधान—केवलज्ञान हो जाने के पश्चात् भी १३ वें गुणस्थान में योग के कारण आहार वर्गणा का ग्रहण होता रहता है ।

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं ।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥६६४॥

आहारदि सरीराणं तिण्हं एयदरवग्गणाओ य ।
भासमणाणं णियदं तम्हा आहारयो भणियो ॥६६५॥

विग्गहगदि मावण्णा केवलिणो समुग्घदो अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥६६६॥ गो० जी०

अर्थ—शरीरनामा नाम कर्म के उदय से देह वचन और द्रव्य मन रूप बनने के योग्य नोकर्म वर्गणा का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं । औदारिक, वैक्रियिक तथा आहारक इन तीनों शरीरों में से किसी भी

एक शरीर के योग्य वर्गणाओं को तथा वचन और मन के योग्य वर्गणाओं को यथायोग्य जीवसमास तथा काल में जीव आहारण-ग्रहण करता है इसलिये इसको आहारक कहते हैं। विग्रह गति को प्राप्त होने वाले चारों गति संबंधी जीव प्रतर और लोक पूर्ण समुद्घात करने वाले सयोग केवली, अयोग केवली, समस्त सिद्ध इतने जीव तो अनाहारक हैं और इनको छोड़कर शेष जीव आहारक होते हैं। इससे सिद्ध है कि सयोग केवली आहार-वर्गणा ग्रहण करते हैं।

"आहारा एइंदिय—प्पहुड जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ १७६ ॥ धवल पु० १ पृ० ४०९।

आहारक जीव एकेन्द्रिय से लेकर सयोग केवली गुणस्थान तक होते हैं।

"अत्र केवल लेपोष्ममनाकर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः।" धवल पु० १ पृ० ४०९।

यहाँ पर आहार शब्द से कवलाहार, लेपाहार, उष्माहार, मानसिक हर और कर्माहार को छोड़ कर नोकर्माहार का ही ग्रहण करना चाहिये।

—जै. ग. 27-7-69/VI/ सु. प्र.

केवली के बद्ध साता का द्रव्य तदनन्तर समय में अकर्म भाव को प्राप्त हो जाता है

शंका—गो० क० गा० २७४ में लिखा है कि 'समयट्ठिदिगो बंधो, सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स। तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि।' इस गाथा के पूर्वार्ध का संस्कृत अनुवाद यह होता है "समयस्थितिको बन्धः सातस्योदयात्मको यतः तस्य।" अब यहाँ यह देखना है कि यहाँ बन्ध का "उदयात्मक" विशेषण दिया है, अतः विशेष्य बन्ध शब्द उदयात्मक विशेषण से विशिष्ट होने से जहाँ-जहाँ विशेष्य होगा वहीं विशेषण की प्रवृत्ति होगी, इस नियम के अनुसार केवली के समय-स्थितिक साता के बन्धकाल में उसी बद्ध द्रव्य का उदय भी आ जाता है, न कि तदनन्तर (द्वितीय) समय में। यदि द्वितीय समय में उदय माना जायगा तो कर्मरूप द्रव्य की स्थिति दो समय होने का अपरिहार्य प्रसंग आवेगा; अतः केवली के साता के बन्ध के समय में ही उसका उदय भी आ जाता है, ऐसा मानना चाहिए ? यही गाथा लब्धिसार क्षपणासार में भी है, तथा सर्वत्र केवली के बन्ध को उदयस्वरूप ही कहा है। अतः क्या उपर्युक्त मेरी विचारणा ठीक है ?

समाधान—आपने गाथा का अर्थ ठीक समझा है। जिस समय में उनके पुद्गलद्रव्य कर्म भाव को प्राप्त हुआ उससे अगले समय में अकर्म भाव को प्राप्त होगया। यदि अगले समय में उदय माना जावे तो कर्मरूप पर्याय की दो समय प्रमाण स्थिति का प्रसंग आयगा। और तीसरे समय में अकर्म भाव को प्राप्त होने का प्रसंग आयगा। विपाकोऽनुभवः। ततश्च निर्जरा। त० सू० ८/२१, २३ तथा धवल पु० १३ में भी यही बात कही है। वहाँ भी "उदयस्वरूप सातावेदनीय का बन्ध" कहा है। धवल १३/५३।

—पत्र 29-10-79/I/ ज. ला. जैन, भीण्डर

सयोगकेवली के असाता का उदय कार्य करने में अक्षम

शंका—१३ वें गुणस्थान में असातावेदनीय कर्म किस रूप में रहता है। उदय रूप में रहता है या नहीं ?

समाधान—१३ वें गुणस्थान में असाता का उदय है किन्तु वह अपना कार्य करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि सहकारी कारणरूप घाति कर्मों का अभाव है। अतः उदय होते हुए भी अनुदय के समान है। अथवा उदय

स्वरूप साता वेदनीय का बंध होने से और उदयागत उत्कृष्ट अनुभाग युक्त सातावेदनीय की सहकारता होने से असाता का उदय प्रतिहत हो जाता है। **धवल पुस्तक १३, पृ० ५३ व जयधवल पु० ३, पृ० ६९।**

—जै. सं. 30-10-58/V/ब्र. चं. ला.

केवली के अघातिया कर्मों का क्षय स्वपर निमित्त से होता है

शंका—**केवली के चार अघातिया कर्म अपने आप नष्ट होते हैं या वे स्वयं केवली नष्ट करते हैं? अपने आप नष्ट होते हैं तो वे अपने स्वकाल से ही नष्ट होते हैं क्या? अर्थात् उनकी तरह से सबकी अपनी अपनी पर्याय निश्चित है या नहीं? केवली भगवान स्वयं नष्ट करते हैं ऐसा मानें तो केवली विकारमय ठहरते हैं?**

समाधान—केवली के चार अघातियाकर्म, एकान्त से न तो अपने आप नष्ट होते हैं और न एकान्त से केवली ही नष्ट करते हैं। चार अघातिया कर्मों के नष्ट होने में अंतरंग कारण तो स्वयं कर्म है और बाह्य कारण अनेक प्रकार हैं। उन सब अंतरंग व बहिरंग कारणों के मिलने पर कार्य की सिद्धि होती है। यदि उन सब कारणों में से एक कारण की भी कमी रहगई तो कार्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि एकान्त से चारों अघातिया कर्म स्वयं नष्ट होते तो केवली समुद्घात का सर्वथा अभाव पाया जाता। किन्तु केवली समुद्घात होता है इससे सिद्ध है कि 'एकान्त से चार अघातिया कर्म अपने आप नष्ट नहीं होते। केवली समुद्घात में कर्मों की स्थिति और अनुभाग का घात होता है। जिन कर्मों का बहुतकाल में घात होता उन कर्मों का केवली समुद्घात द्वारा एक समय में घात हो जाता है' (**षट्खंडागम पुस्तक १, पृष्ठ ३०० व ३०१**) केवली समुद्घात के पश्चात् संयोगकेवली गुणस्थान के अन्त तक स्थिति कांडक द्वारा एक एक अन्तर्मुहूर्त स्थिति का घात होता है (**षट्खंडागम पुस्तक ११, पृष्ठ १३३–१३४**)। अन्य कारण बिना, एक ही के आप ही तैं उपजना विनशना होय नाहीं (**आप्त मीमांसा पृष्ठ ३४ अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला**) भावान्तर की प्राप्ति उभयनिमित्त (अंतरंग बहिरंग) के वश से होती है। (**सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५, सूत्र ३०**) इन उपरोक्त आगमप्रमाणों से सिद्ध है कि केवली के चार अघातिया कर्मों का नाश स्वपर निमित्त से होता है।

केवली के चार अघातिया कर्म स्वकाल से भी नष्ट होते हैं और स्वकाल के बिना भी नष्ट होते हैं, क्योंकि बहुतकाल में घात होनेवाले कर्मों का एक समय में घात होता है (**षट्खंडागम पुस्तक ६, पृष्ठ ४१२**)। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वकाल से भी होती है। और स्वकाल के बिना भी होती है। प्रवचनसार के अन्त में 'कालनय' व 'अकालनय' दोनों नय कही गई हैं। दोनों नयों में से किसी एक के पक्ष की हठ करना एकान्त मिथ्यात्व है।

जिस प्रकार उभयनिमित्तवशात् केवली भगवान खड़े होते हैं, बैठते हैं, विहार करते हैं, उपदेश देते हैं उसी प्रकार उभयनिमित्तवशात् केवली भगवान कर्मों को नष्ट करते हैं। कहा भी है—'अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु के शेष रहने पर केवली समुद्घात को करते हैं। इसमें प्रथम समय में दण्ड समुद्घात को करते हैं। उस समय दण्ड समुद्घात में वर्तमान होते हुए आयु को छोड़कर शेष तीन अघातियाकर्मों की स्थिति के असंख्यात बहुभाग को 'हणदि' नष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त क्षीणकषाय के अन्तिम समय में घातने से शेष रहे अप्रशस्त प्रकृति सम्बन्धी अनुभाग के अनन्त बहुभाग को भी नष्ट करते हैं। इसीप्रकार कपाट आदि समुद्घात में भी नष्ट करते हैं (**षट्खंडागम पुस्तक ६ पृष्ठ ४१२-४१३**)। विहारादि करते हुए भी जिसप्रकार केवली विकारमय नहीं होते। उसीप्रकार कर्मों को नष्ट

करते हुए भी केवली विकारमय नहीं होते। विकार का मूल कारण मोह था, उसका नाश हो जाने से इच्छा आदि रूप विकार नहीं रहा। कहा भी है—

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीरतावकमचिन्त्यमीहितम् ॥४७॥ बृहत्स्व०

अर्थ—हे मुने 'मैं कुछ करूं' इस इच्छा से आपके मनवचन काय की प्रवृत्तियाँ हुईं सो ही बात नहीं है। और वे प्रवृत्तियाँ आपके बिना विचारे हुई है सो भी बात नहीं है। पर होती अवश्य है, इसलिये हे धीर, आपकी चेष्टाएँ अचिन्त्य हैं। भावार्थ—संसार में जितनी भी प्रवृत्तियाँ होती हैं वे इच्छापूर्वक होती हैं और जो प्रवृत्तियाँ बिना विचारे होती हैं वे ग्राह्य नहीं मानी जाती। पर यही आश्चर्य है कि आपकी प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक न होकर भी ग्राह्य हैं।

—जै. सं. 18-9-58/V/बंशीधर

केवली की सर्वज्ञता उपचार नय से है, तथापि है वास्तविक

शंका—केवलज्ञानी क्या निश्चयनय से सर्वज्ञ हैं या व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं ?

समाधान—निश्चयनय और व्यवहारनय का लक्षण इसप्रकार है—'आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनय' अर्थात् स्व आश्रित निश्चयनय है और पर के आश्रित व्यवहारनय है। (समयसार गाथा २७२ आत्मख्याति टीका)। निश्चयनय व व्यवहारनय की इस परिभाषा अनुसार श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार गाथा १५९ में कहा है—'केवली भगवान सर्वपदार्थों को देखते जानते हैं यह कथन व्यवहारनय से है परन्तु नियम करके (निश्चयनय से) केवलज्ञानी अपने आत्मस्वरूप को ही देखते जानते हैं। इस ही विषय को समयसार गाथा ३५६, ३६० व ३६१ में कहा है कि—'निश्चयनय से पर का ज्ञायक नहीं है किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा ज्ञाता अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है।

उपर्युक्त आगम अनुसार केवली भगवान निश्चयनय की अपेक्षा सर्वज्ञ नहीं हैं किन्तु व्यवहारनय अथवा उपचार से सर्वज्ञ अर्थात् तीन लोक और तीन काल की बात को जानने वाले हैं। श्री महंसेन आचार्य ने आलापपद्धति में भी कहा है कि—उपचार से जीव के मूर्तपना व अचेतनपना है और उपचार से सिद्धों के पर का ज्ञातापना है।

इसप्रकार निश्चय व व्यवहार दोनों नयों का आश्रय करनेवाले स्याद्वादियों के मत में तो केवलज्ञानी आत्मज्ञ और सर्वज्ञसिद्ध हो जाते हैं। किन्तु जिनके मत में निश्चयनय ही सत्यार्थ है और व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है उनके मत में केवलज्ञानी के सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं होती। 'सिद्धभगवान केवल आत्मा को जानते हैं बाह्यार्थ को नहीं जानते' ऐसे दुर्नय के निवारणार्थ "बुज्झंति" सिद्धों का ऐसा विशेषण सूत्र में दिया गया है (षट्खंडागम पुस्तक ६ पृष्ठ ५०१)। यदि जिनेन्द्र देव का (केवली का) ज्ञान सर्व क्षेत्र के तीनों काल के समस्त पदार्थों को एक साथ सदा नहीं जानता तो ज्ञान का माहात्म्य ही क्या हुआ ? अर्थात् केवलज्ञान तीनों लोक और तीनों काल के सर्वपदार्थों को युगपत् जानता है। परपदार्थ को जानने की अपेक्षा से सर्वज्ञता यद्यपि व्यवहारनय से अथवा उपचार से है किन्तु यह व्यवहारनय का या उपचार का कथन वास्तविक है, कपोलकल्पित नहीं है।

—जै. सं. 21-8-58/V/मौखिक चर्चा

केवली के अनन्तवीर्य होने पर अघातिया कर्म का तत्क्षण नाश नहीं होता

शंका—केवली के अनन्तवीर्य प्रकट हो जाने पर उसी समय वह वीर्य अघातिया कर्मों का नाश करने में शक्य क्यों नहीं है ?

समाधान—*आयु कर्म की स्थिति पूर्ण होने से पूर्व केवली के आयु कर्म का क्षय नहीं हो सकता है, क्योंकि* आयु कर्म की उदीरणा प्रमत्त संयत छठवें गुणस्थान के बाद नहीं होती है।

"सकमसादं च तहिं मणुवाउगमवणिदं किच्चा।
अवणिदतिप्पयडीणं पमत्तविरदे उदीरणा होदि ॥" गो० क० २८० ।

साता वेदनीय, असाता वेदनीय, मनुष्य-आयु इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा प्रमत्तविरत नामा छठे गुणस्थान तक ही होती है, उससे आगे नहीं होती है। आयु कर्म का क्षय होने पर ही शेष तीन अघातिया कर्मों का क्षय होता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार में कहा भी है—

"आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।" गा० १७६ ।

अनन्त वीर्य उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक मनुष्यायु कर्म की स्थिति शेष है उस समय तक अघातिया कर्मों का क्षय नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 30-11-72/VII/र. ला. जैन, मेरठ

उपसर्ग केवली का स्वरूप

शंका—केवलज्ञान के पश्चात् उपसर्ग नहीं होता तब उपसर्ग केवली आगम में क्यों कहे ?

समाधान— केवलज्ञान हो जाने पर उपसर्ग नहीं होता और पूर्ववर्ती उपसर्ग भी शांत हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में अर्थात् अरहंत अवस्था में किसी प्रकार का कोई उपसर्ग नहीं रहता। जिनको उपसर्गपूर्वक केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वे उपसर्ग केवली कहलाते हैं। अन्तकृत् केवली भी सोपसर्ग होते हैं। इन अन्तकृत् केवलियों का कथन अन्तःकृद्दशांग में है। यह अन्तःकृद्दशांग द्वादशांग का आठवां अङ्ग है।

अन्तःकृद्दशांग इस अङ्ग के २३२८००० पद हैं। इसमें प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थकाल में जिन दश दश मुनीश्वरों ने चार प्रकार का घोर उपसर्ग सहन करके केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध पद प्राप्त किया उन सबका सविस्तार वर्णन है।

अन्तिम तीर्थंकर श्री १००८ महावीर स्वामी के तीर्थकाल में (१) नमि (२) मतङ्ग (३) सोमिल (४) रामपुत्र (५) सुदर्शन (६) यमलोक (७) वलिक (८) विषकम्बिल (९) पालम्बष्ट (१०) पुत्र इन दस मुनीश्वरों ने तीव्र उपसर्ग सहन कर केवलज्ञान प्राप्त किया।

—जै. ग. 7-10-65/IX/म. मा.

सामान्य केवली के दिव्यध्वनि का सद्भाव व गणधर का अभाव

शंका—सामान्य केवली की वाणी खिरती है या नहीं। यदि खिरती है तो क्या उनके भी गणधर होते हैं ?

समाधान—सामान्य केवलियों की वाणी होती है, किन्तु गणधर नहीं होते; क्योंकि उनकी वाणी के द्वारा द्वादशाङ्ग की रचना नहीं होती और गणधर का मुख्य कार्य द्वादशाङ्ग की रचना करना है। सामान्य केवलियों की सभा में बीजबुद्धि आदि ऋद्धि-धारी विशेषज्ञानी आचार्य होते हैं।

—जै. ग. 26-12-68/VII/र. ला.

(१) मूक व अन्तकृत् केवली के गन्धकुटी नहीं होती
(२) केवलज्ञान होने के बाद ही मोक्ष मिलता है

शंका—गंध कुटी क्या प्रत्येक अरिहंत की होती है या किसी विशेष की ? ऐसे ही प्रत्येक जीव की मुक्त होने से पहिले केवलज्ञान होता है या किसी किसी को ?

समाधान—अंतकृत् केवली[1] तथा मूक केवली की गन्धकुटी नहीं होती। जिन केवलियों की दिव्यध्वनि खिरती है उन सबकी गन्ध कुटी होती है।

जितने भी जीव मोक्ष गये हैं जा रहे हैं या जायेंगे उन सबको केवलज्ञान होता है। क्योंकि मोहनीय कर्म का नाश होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीन घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है और घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से केवलज्ञान हो जाता है। कहा भी है—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥ मोक्षशास्त्र अध्याय १०।

अर्थ—मोह का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है।

यदि यह कहा जाय कि मोहनीय कर्म का क्षय तो दसवें गुणस्थान के अंत में हो जाता है, उसी समय केवलज्ञान क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि कर्मों के नाश से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह प्रसिद्धि है ? ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। सर्व प्रथम तो यह सूत्र द्वादशांग के अनुसार महान् आचार्य द्वारा रचा गया है। दूसरे 'मोहक्षयात्' इस पद से स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय का क्षय होने पर ज्ञानावरणादि शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय होता है और ज्ञानावरणादि का घातिया कर्मों का क्षय, केवलज्ञान प्रगट होने में कारण है। इसप्रकार केवलज्ञानोत्पत्ति में मोहनीय कर्म परम्परा कारण है, ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय साक्षात् कारण है। विशेष कथन के लिये सर्वार्थसिद्धि टीका देखनी चाहिये।

---

1. सुदर्शन (सेठ) केवली अपवाद स्वरूप हैं। क्योंकि वे पाँचवें अन्तकृत् केवली थे [सुदर्शन-चरित्र, विद्यानन्दि विरचित 3/3/पृ. १०] उन्हें केवलज्ञान होने पर गन्धकुटी की रचना; तथा दिव्यध्वनि भी खिरी [सु. च. ११/६१-६३]

यदि यह शंका की जावे कि ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने पर तो द्रव्य कर्म की अकर्म अवस्था प्रगट होगी, केवलज्ञान तो जीव की पर्याय है, वह ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय से कैसे प्रकट हो सकता है ?

ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं है क्योंकि कार्योत्पत्ति में जिसप्रकार सम्पूर्ण साधक सामग्री की आवश्यकता होती है उसीप्रकार सम्पूर्ण बाधक कारणों के अभाव की भी आवश्यकता होती है। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म यद्यपि अचेतन हैं तथापि उनमें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि वे जीव के केवलज्ञान स्वभाव को नष्ट कर देते हैं, अर्थात् व्यक्त नहीं होने देते। कहा भी है—

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवल-णाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥ स्वा० का० अ०

अर्थ—पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है जिससे जीव का जो केवलज्ञान स्वभाव है वह भी नष्ट हो जाता है।

अतः जिस समय तक बाधक कारणों अर्थात् ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का क्षय नहीं होगा उस समय तक केवल प्रगट नहीं हो सकता, इसलिये सर्वज्ञ के उपदेशानुसार श्री भगवदुमास्वामी ने मोक्षशास्त्र अध्याय १० प्रथम सूत्र में कहा है कि ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

—जै. ग. 6-13-5-65/XIV/म. मा.

(१) मुनि अवस्था में भग्न शरीर केवलज्ञान होने पर पूर्ण हो जाता है
(२) आत्मा की पवित्रता से शरीर भी पवित्र हो जाता है

शंका—जिन मुनियों को शेर ने भक्षण कर लिया अथवा सिर पर अग्नि जला दी गई इत्यादि उपसर्ग-पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये उनके आत्म प्रदेश सिद्धालय में किस आकार रूप होते हैं ? उनका पूर्व शरीर तो उपसर्ग के द्वारा भग्न हो गया था। सिद्धालय में क्या उनका आकार इस भग्न शरीर से किंचित् ऊन रहता है ?

समाधान—केवलज्ञान के प्राप्त होते ही इन उपसर्ग केवलियों का शरीर पूर्ववत् साङ्गोपाङ्ग बन जाता है। अरहत अवस्था में शरीर कटा-फटा या अङ्गहीन नहीं रहता। अरहंत अवस्था महान् अवस्था है साक्षात् भगवान है, अतः उनका शरीर अङ्गहीन या विद्रूप हो यह संभव नहीं है। वह शरीर तो परमौदारिक बन जाता है उसमें सप्त कुधातु नहीं रहतीं। आत्मा की पवित्रता से शरीर भी पवित्र हो जाता है। बारहवें गुणस्थान में सर्व निगोदिया जीव शरीर से निकल जाते हैं। आत्मा की विशुद्धता का प्रभाव पौद्गलिक शरीर पर पड़ता है और वह अशुचि शरीर भी महान् पवित्र हो जाता है। मोक्ष हो जाने पर आत्मा तो सिद्धालय में जाकर स्थित हो जाती है, क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है। ऊर्ध्वगमन अनन्त शक्ति होते हुए भी धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण लोकाकाश के अन्त में ठहर जाते हैं। मोक्ष कल्याणक में देव उनके शरीर की पूजा करते हैं। इसप्रकार आत्मा की पवित्रता से शरीर भी पवित्र हो जाता है। अर्थात् एक वस्तु का प्रभाव दूसरी वस्तु पर पड़ता है।

—जै. ग. 7-10-65/IX/म मा.

केवली मोक्ष जाने की अभिलाषा नहीं रखते

शंका—केवली मोक्ष जाने की अभिलाषा रखते हैं क्या ?

समाधान—केवली मोक्ष जाने की अभिलाषा नहीं रखते हैं। अभिलाषा अर्थात् इच्छा मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होती है। केवली भगवान के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाने से उसके उदय का अभाव है। मोहनीयकर्म के उदय के अभाव में इच्छा भी उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। कारण के बिना कार्य होने पर अतिप्रसंग दोष आता है। **षट्खंडागम पुस्तक १२, पृष्ठ ३८२, अष्टसहस्री पृष्ठ १५९।**

—जै. सं. 18-9-58/V/**बंसीधर**

सामान्य केवली के मोक्षोत्सव

शंका—सामान्य केवली जब मोक्ष जाते हैं तब भी देवादिक आकर कुछ उत्सव मनाते हैं या वे तीर्थंकरों के ही मोक्ष का उत्सव मनाते हैं ?

समाधान—देवादिक तीर्थंकरों का तो मोक्षोत्सव मनाते ही हैं, किन्तु सामान्य केवलियों के मोक्ष के समय भी देव आकर उत्सव मनाते हैं। कर्मों के बन्धन से छूटना अर्थात् मोक्ष सबको इष्ट है। अतः जब कोई जीव मुक्ति को प्राप्त होता है तो देवादिक को हर्ष होता है और वे आकर उसका उत्सव मनाते हैं। प्रथमानुयोग में इसप्रकार के उत्सवों का कथन पाया जाता है।

—जै. ग. 11-7-66/IX/**क. व.**

'सयोग व अयोग केवली' संसारी नहीं हैं

शंका—क्या चौदहवें गुणस्थान वाला भी पर-समय है ? क्या अरहंत भी संसारी हैं ?

समाधान—समयसार गाथा २ में पर-समय का लक्षण इसप्रकार कहा है—'**पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च, तं जाण परसमयं ॥२॥**'

अर्थात्—'जो जीव पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है उसको परसमय जानो।' इसकी टीका में **श्री १०८ अमृतचन्द्र आचार्य** ने इसप्रकार कहा है—'अनादि अविद्यारूप मूल वाले कंद के समान मोह के उदय के अनुसार प्रवृत्ति के आधीनपने से दर्शनज्ञान-स्वभाव में निश्चित वृत्तिरूप आत्मस्वरूप से छूट पर-द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोहराग-द्वेषादि भावों में एकता रूप लीन हो प्रवर्तता है तब पुद्गल कर्म के कार्माणरूप प्रदेशों में ठहरने से पर-द्रव्य अपने से एकपना कर एक काल में जानता तथा रागादि रूप परिणमता हुआ पर-समय ऐसा प्रतीति रूप किया जाता है।' चौदहवें गुणस्थान में राग-द्वेष का अभाव है और केवलज्ञान क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रगट हैं क्योंकि चार घातिया कर्मों का क्षय हो चुका है अतः चौदहवें गुणस्थान वाले, जो पूर्ण वीतरागी हैं, पर-समय कैसे हो सकते हैं। अर्थात् चौदहवें गुणस्थान वाले पर-समय नहीं हैं।

संसरण करने को संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। यह जिन जीवों के पाया जाता है वे संसारी हैं (**सर्वार्थसिद्धि अध्याय २ सूत्र १०**)। श्री १००८ अरहंत भगवान के मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से

भावबन्ध का सदा काल के लिए अभाव हो गया अर्थात् भाव मोक्ष तो हो गया और द्रव्य मोक्ष के अभिमुख है। अरहंतों के संसरण का अभाव होने से वे संसारी नहीं हैं, किन्तु मुक्त भी नहीं हुए क्योंकि चार अघातिया कर्म मौजूद हैं, अतः वे तो संसारी या असंसारी हैं।

—जै. ग. 21-11-63/IX/ब. प. ला.

सयोगी व अयोगी की उदय प्रकृतियाँ

शंका—भारतीय ज्ञान पीठ काशी से प्रकाशित श्री सर्वार्थसिद्धि के पृष्ठ ४५२-४५३ पर १२ प्रकृतियों का (जिनका उदय चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है) उदय तेरहवें गुणस्थान तक ही क्यों बताया ?

समाधान—एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशकीर्ति, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है, किन्तु वेदनीय और मनुष्यायु की उदीरणा छठे गुणस्थान तक होती है और शेष दस प्रकृतियों की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान तक होती है। विशेषार्थ में अनुवादक महोदय ने इन दस प्रकृतियों के सम्बन्ध में उदीरणा के साथ 'उदय' शब्द भी लिख दिया। आगम एक महान् समुद्र है उसमें अज्ञानता या असावधानी के कारण भूल हो जाना स्वाभाविक है। भूल ज्ञात हो जाने पर भी अपनी बात को पकड़े रखना, भूल को स्वीकार नहीं करना मोक्षमार्ग में उचित नहीं है।

—जै. ग. 16-8-62/ ...... /मु. प्र.

अयोगी के द्विचरम समय में क्षपित प्रकृतियाँ

शंका—षट्खंडागम पुस्तक १० पृ० १६३ पर केवली के द्विचरम समय में ७३ प्रकृतियों का नाश लिखा है जब कि ७२ प्रकृतियों का नाश होता है।

समाधान—कुछ आचार्यों ने चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में ७२ प्रकृतियों के नाश का कथन किया है और कुछ ने उन ७२ प्रकृतियों में 'मनुष्यगत्यानुपूर्वी' प्रकृति मिलाकर ७३ प्रकृतियों के नाश का कथन किया है। दृष्टि-भेद के कारण इन दोनों कथनों में भेद हो गया है। मनुष्यगति व मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन दोनों का एक साथ बंध होता है, क्योंकि बंध की अपेक्षा इन दोनों में अविनाभावि संबंध है। इसलिए जिन आचार्यों की दृष्टि बंध के अविनाभावि संबंध पर रही उन्होंने द्विचरम समय में ७२ प्रकृतियों के नाश का कथन किया है और चरम समय में मनुष्यगति के नाश के साथ 'मनुष्यगत्यानुपूर्वी' प्रकृति के नाश का कथन किया है।

मनुष्यगत्यानुपूर्वी का उदय मात्र विग्रहगति में होता है। चौदहवें गुणस्थान में मनुष्यगति का स्वमुख उदय है और मनुष्यगत्यानुपूर्वी प्रकृति का परमुख उदय है अर्थात् स्तिबुक संक्रमण द्वारा अनुदय प्रकृतियों का द्रव्य स्वजाति उदय प्रकृति रूप परिणम कर उदय में आता है। चौदहवें गुणस्थान के चरम समयवर्ती मनुष्यगत्यानुपूर्वी का द्रव्य द्विचरम समय में मनुष्य गति रूप परिणम जाता है। चौदहवें गुणस्थान के चरम समय में मनुष्यगत्यानुपूर्वी प्रकृति का द्रव्य सत्ता में नहीं रहता इसलिये कुछ आचार्यों ने मनुष्यगत्यानुपूर्वी का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में स्वीकार कर ७३ प्रकृतियों का नाश द्विचरम समय में कहा है। इन दोनों मतों का कथन मूलाराधना पृ० १८, २८, २९ पर है—

"एवमेकसप्तति नामकर्माण्यन्तरवेदनीयं नीचैर्गोत्रं चेति त्रिसप्ततिः। अन्ये मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी-क्षपणं चरम समये वांछंतीति तन्मतेन द्वासप्ततिरुपान्त्यसमये तु चरमसमये तीर्थंकरैस्त्रयोदशान्यैर्द्वादश क्षिप्यन्ते।"

अर्थात्—इस प्रकार ७१ नाम कर्म की प्रकृतियाँ, कोई एक वेदनीय नीचगोत्र इन ७३ प्रकृतियों का चौदहवें गुणस्थान के उपान्त समय में क्षय होता है। अन्य आचार्य मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्वी प्रकृति का क्षय चरम समय में मानते हैं, उनके मत में ७२ प्रकृति का क्षय उपान्त समय में होता है और तीर्थंकर के तेरह प्रकृतियों का तथा सामान्य केवली के १२ प्रकृतियों का क्षय अन्त समय में होता है।

श्री शिवकोटि आचार्य ने चौदहवें गुणस्थान के उपान्त समय में ७३ और अन्त समय में तेरह या १२ प्रकृतियों का क्षय होता है ऐसा कथन किया है।

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण।
अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥२१२४॥
चरिमसमयम्मि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडीओ।
बारस तित्थयरजिणो एक्कारस सेससव्वण्हू ॥२१२५॥

अर्थ—वे अयोगि जिन पंच ह्रस्व स्वर उच्चारण मात्र काल में अनुदय रूप उदय में नहीं आई हुई सब प्रकृतियों का इस गुणस्थान के उपान्त्य समय में क्षय करते हैं, अर्थात् ७३ प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अन्त समय में तीर्थंकर केवली उदयरूप १२ प्रकृतियों का क्षय करते हैं और सामान्य केवली ११ प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

—जै. ग. 8-2-68/IX/ध. ला. सेठी, खुरई

अयोग केवली के भी परमौदारिक शरीर

शंका—सयोग केवली गुणस्थान में तो शरीर विद्यमान रहता है इतना तो विदित है, पर क्या अयोगी भगवान् के भी पूर्व का औदारिक शरीर नोकर्म रहता है? स्पष्ट करें।

समाधान—चौदहवें गुणस्थान में परमौदारिक शरीर का सत्त्व तो रहता है, किन्तु औदारिक शरीर नामकर्म का उदय नहीं रहता; क्योंकि योग का अभाव होने से औदारिकशरीर-वर्गणाओं का आना बन्द हो जाता है।

—पत्र 15-11-75/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

अयोगी के औदयिक भावस्वरूप योग का अभाव हो जाता है, क्षायिकलब्धि से जीव अयोगी होता है

शंका—जब आत्मा १३ वें गुणस्थान से १४ वें गुणस्थान में पहुँचता है तब आत्मा के कौन से गुण में शुद्धता आती है? जो शुद्धता आती है वह क्षयोपशमभाव रूप या उपशमभावरूप या क्षायिकभावरूप आती है? क्या यह तीन भाव बिना शुद्धता आ सकती है? यदि आ सकती है वह कौनसा भाव है?

समाधान—जब आत्मा तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में पहुंचता है तब योग का अभाव होने से आत्मद्रव्य में शुद्धता आती है। यह शुद्धता न तो कर्म के उपशम से आती है, और न क्षयोपशम से आती है किन्तु शरीर आदिक कर्म के उदयाभावरूप से आती है। कहा भी है—"अजोगीणाम कधं भवदि ॥ ३४ ॥ खइयाए

लद्धीए ॥३५॥ (टीका) जोगकारण सरीरादि कम्माणं णिम्मूलक्खएणुप्पण्णत्तादो खइया लद्धी अजोगस्स।" (षट्खंडागम पुस्तक ७)। अर्थ—जीव अयोगी कैसा होता है ? ॥३४॥ क्षायिकलब्धि से जीव अयोगी होता है ॥३५॥ योग के कारणभूत शरीरादिक कर्मों के निर्मूलक्षय से उत्पन्न होने के कारण अयोग की लब्धि क्षायिक है। शरीरनामा नामकर्म के उदय से योग उत्पन्न होता है। कहा भी है—'जोगमग्गणा वि ओदइया, णामकम्मस्स उदीरणोदयजणिदत्तादो।" (षट्खंडागम पुस्तक ९ पत्र ३१६)। अर्थ—योगमार्गणा औदयिक है, क्योंकि वह नामकर्म की उदीरणा व उदय से उत्पन्न होती है। 'शरीरणाम कम्मोदय जणिद जोगो' (षट्खंडागम पुस्तक ७ पत्र १०५)। अर्थ—शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न योग। 'जदि जोगो वीरियंतराइय खओवसमजणिदो तो सजोगिम्हि जोगाभावो पसज्जदे ? ण, उवयारेण खयोवसमियं भावं पत्तस्सओदइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहादो।' अर्थ—यदि योग वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, तो सयोगी केवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है ? नहीं आता, क्योंकि योग में क्षयोपशमिकभाव तो उपचार से माना गया है। असल में तो योग औदयिक-भाव है और औदयिकयोग का सयोगी केवली में अभाव मानने में विरोध आता है। (षट्खंडागम पुस्तक ७ पत्र ९६)। 'तदियेक्कवज्जणिमिणं थिरसुहसरगदि उरालतेजदुगं। संठाणवण्णगुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि॥ २७१॥ (कर्मकाण्ड गोम्मटसार)। अर्थ—तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में औदारिक तेजस व कार्माण शरीर की उदय-व्युच्छित्ति होती है। शरीर की उदयव्युच्छित्ति हो जाने से योग का अभाव हो जाता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव देखा जाता है।

—जै. सं. 20-6-57/....... /स्वा. म.

अयोग केवली के लेश्या के बिना भी नाम व आयु का उदय

शंका—अयोग केवली गुणस्थान में लेश्या का अभाव है, फिर गति नामकर्म और मनुष्यायु कर्म का उदय कैसे सम्भव है ?

समाधान—गति नाम कर्म व आयु कर्म के बंध में लेश्या कारण होती है।

लेस्साणं खलु अंसा, छव्वीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबंधण जोगा, अट्ठट्ठवगरिसकालभवा ॥५१८॥ गो. जी.

लेश्याओं के कुल २६ अंश हैं, इनमें से मध्य के आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष काल में होते हैं वे ही आयु कर्म के बन्ध के योग्य होते हैं।

सेसट्ठारस अंसा, चउगइगमणस्स कारणा होंति ॥ ५१९ ॥ गो. जी.

अपकर्ष काल में होने वाले लेश्याओं के आठ मध्यमांशों को छोड़कर शेष अठारह अंश चारों गतियों के गमन के कारण होते हैं।

लेश्या के बिना गति आयु आदि कर्मोदय नहीं रह सकता, ऐसा नियम किसी भी आर्ष ग्रन्थ में नहीं दिया है। मनुष्य गति नाम कर्म और मनुष्यायु कर्म जो मनुष्य भव के प्रथम समय से उदय में चले आ रहे थे, उन का उदय मनुष्यभव के अन्तिम समय तक बना रहता है। मनुष्य-भव का क्षय होने पर मनुष्य गति व मनुष्यायु

का उदय समाप्त हो जाता है। चौदहवें गुणस्थान में मनुष्य भव है अतः वहाँ पर मनुष्य गति व मनुष्यायु का उदय अवश्य होगा, किन्तु योग व कषाय का अभाव हो जाने के कारण लेश्या का भी अभाव हो जाता है।

—जै. ग. 29-6-72/IX/टो. ला. मि.

चतुर्दश गुणस्थान में भी औदयिक भाव

शंका—क्या चौदहवें गुणस्थान में भी औदयिक भाव होता है? यदि होता है तो कौनसा होता है?

समाधान—चौदहवें गुणस्थान में भी औदयिक भाव होता है, क्योंकि वहाँ पर अघातिया कर्मोदय है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में श्री नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है—

मिच्छतियेतिचउक्के दोसुवि सिद्धे वि मूल भावा हु।
तिग पण पणगं चउरो तिग दोण्णि य संभवा होंति ॥८२१॥

इस गाथा में सयोगी और अयोगी इन दोनों में औदयिक, क्षायिक व पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं।

मनुष्यगति शुक्ललेश्या असिद्धत्व ये औदयिक के तीन, क्षायिक के सर्व नव; जीवत्व भव्यत्व पारिणामिक ऐसे सयोगी केवली विषैं चौदह भाव हैं। बहुरि इन विषैं शुक्ललेश्या घटाएँ, अयोगी (चौदहवें गुणस्थान) विषैं तेरह भाव हैं। गोम्मटसार बड़ी टीका पृ० ९९३।

"अयोगे लेश्यां विना द्वौ, तौ हि मनुष्यगत्यसिद्धत्वे।" गो. क. गा. ८२७ टीका।

अर्थ—अयोग केवली चौदहवें गुणस्थान में लेश्या के बिना मनुष्यगति और असिद्धत्व ये दो औदयिक भाव हैं।

—जै. ग. 26-10-72/VII/ टो. ला. मि.

दिव्यध्वनि का स्वरूप तथा उसे झेलने वाला कौन ?

शंका—केवली भगवान का उपदेश किस रूप में होता है? वाणी खिरती है तो झेलता कौन है?

समाधान—केवली भगवान का उपदेश अक्षरानक्षरात्मक, सात सौ कुभाषा (लघु भाषा) और अठारह भाषा स्वरूप, नाना भेदों से भिन्न बीज पद रूप व प्रत्येक क्षण में भिन्न २ स्वरूप को प्राप्त होने वाली ऐसी दिव्यध्वनि के द्वारा होता है। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि गणधर झेलते हैं। साधारण केवलियों की दिव्यध्वनि को विशेष ज्ञानी आचार्य झेलते हैं, किन्तु उनके बीज बुद्धि आदि ऋद्धि होना चाहिये अन्यथा वे दिव्यध्वनि को कैसे झेल सकेंगे। (विशेष के लिए धवल पु० ९ पृ० ५८-५९ देखना चाहिए)।

—जै. ग. 27-2-64/IX/ चांदमल

दिव्यध्वनि ज्ञान का कार्य है

शंका—केवलज्ञानी की आत्मा का दिव्यध्वनि से क्या सम्बन्ध है? दिव्यध्वनि भाषा वर्गणा तीर्थंकर प्रकृति कर्म वर्गणा में केवली का निमित्त मात्र है, ऐसा कहा जाता है, क्या वह ठीक है?

समाधान—दिव्यध्वनि रूप वचन ज्ञान के कार्य हैं (धवल पु० १ पृ० ३६८)। ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध है अतः अभेदनय से दिव्यध्वनि केवलज्ञानी की आत्मा का कार्य है। भाव वचन की सामर्थ्य से युक्त क्रिया वाले आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचन रूप से परिणमन करते हैं (सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र १९, राजवार्तिक अ० ५ सूत्र १९ वार्तिक १५)। अतः दिव्यध्वनि में भाषावर्गणा उपादान कारण है और केवली निमित्त कारण हैं। तीर्थंकर प्रकृति रूप कार्माण वर्गणा निमित्त कारण भी नहीं है, क्योंकि सामान्य केवलियों की भी दिव्यध्वनि होती है। यदि केवली को निमित्त कारण न माना जावेगा तो दिव्यध्वनि में प्रामाणिकता का अभाव हो जायगा।

—जै. ग. 27-12-64/IX/ चाँदमल

दिव्यध्वनि का नियत व अनियत काल

शंका—क्या तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि अनियत समय पर खिर सकती है ?

समाधान—जैन स्याद्वाद सिद्धान्त में काल नय और अकाल नय ऐसे दो नय माने गये हैं। कुछ कार्यों का तो अपना नियत काल होता है और वे कार्य अपने नियत काल पर ही होते हैं। कुछ कार्यों का नियत काल नहीं होता है। कारणों के मिलने पर हो जाते हैं। दिव्यध्वनि के लिये तीनों संध्या काल तो नियत हैं, किन्तु गणधर, चक्रवर्ती आदि के प्रश्न पर अनियत समय भी खिर जाती है।

'सेसेसुं समएसुं गणहर देविंद चक्कवट्टीणं।
पण्हाणुरूवमत्थं दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ॥४१९॥' तिलोयपण्णत्ती

अर्थ—गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है अर्थात् नियत समयों के अतिरिक्त समय में भी निकलती है।

—जै. ग. 4-9-69/VII/ सु. प्र.

भवि भागन वच जोगे वशाय

शंका—उत्तर पुराण पर्व ७० में लिखा है कि सुप्रतिष्ठ केवली ने अन्धक वृष्टि के प्रश्न को सुनकर उत्तर दिया। क्या केवली प्रश्न सुनते हैं और उत्तर देते हैं। क्या प्रश्न सुनने व उत्तर देने का विकल्प केवली के संभव है।

समाधान—उत्तर पुराण पर्व ७० श्लोक १२५-१२६ में लिखा है—"सब देवों के साथ-साथ अन्धकवृष्टि भी उनकी पूजा के लिए गया था। वहाँ उसने आश्चर्य से पूछा कि हे भगवन् ! इस देव ने पूजनीय आपके ऊपर यह महान् उपसर्ग किस कारण किया है ? अन्धक वृष्टि के ऐसा कह चुकने पर जिनेन्द्र भगवान सुप्रतिष्ठ केवली कहने लगे।"

केवली भगवान के क्षायिक केवलज्ञान होता है, अतः उनको इन्द्रियों व मन से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। अतः प्रश्न सुनकर उत्तर देना यह संभव नहीं है। किन्तु दिव्यध्वनि में भव्य जीव का पुण्य कारण होता है। इसलिये कारण की अपेक्षा से प्रश्न का उत्तर देना संभव है। कहा भी है—

'वीतराग सर्वज्ञ दिव्यध्वनिशास्त्रे प्रवृत्ते किं कारणं ? भव्यपुण्यप्रेरणात् ।' (पंचास्तिकाय गा० १ टीका) वीतराग सर्वज्ञदेव की ध्वनि में भव्य जीव का पुण्य ही कारण है। भव्य जीवों के पुण्योदयवश वचनयोग के निमित्त से दिव्यध्वनि होती है।

—जै. ग. 12-6-69/VII/ रो. ला. मि.

दिव्यध्वनि का स्वरूप एवं कारण

शंका—जिनकी ध्वनि है ओंकार रूप, निरअक्षरमय महिमा अनूप।" ऐसा कहा गया है। दिव्यध्वनि चेतन आत्मा द्वारा प्रकट हुई है इसलिये भगवान की दिव्यध्वनि भी चेतन ही होनी चाहिये पुद्गल रूप नहीं, क्योंकि पुद्गल अक्षर रूप है और वाणी निरक्षरी है।

समाधान—शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। कहा भी है—

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥ द्रव्यसंग्रह

शब्द बंध सूक्ष्म स्थूल संस्थान भेद तम छाया उद्योत और आतप ये सब पुद्गल की द्रव्य पर्यायें हैं।

'शब्दो द्विविधो भाषालक्षणो विपरीतश्चेति। भाषा लक्षणो द्विविधः साक्षरोऽनक्षरश्चेति। अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीत भेदार्यम्लेच्छव्यवहेतुः अनाक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूप–प्रतिपादन–हेतुः। स० सि० पृ० २९१।

भाषा रूप शब्द और अभाषा रूप शब्द इस प्रकार शब्दों के दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं—साक्षर और अनक्षर। जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं और जिससे आर्य और म्लेच्छों का व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब साक्षर शब्द हैं। जिससे उनके सातिशय ज्ञान के स्वरूप का पता लगता है ऐसे दो इन्द्रिय आदि जीवों के शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्द अक्षरात्मक हों या अनक्षरात्मक किन्तु दोनों प्रकार के शब्द पुद्गल की द्रव्य पर्यायें हैं, कोई भी शब्द चेतनात्मक नहीं है।

तीर्थंकर के वचन सर्वथा अनक्षरात्मक हों ऐसा भी एकान्त नहीं है। कहा भी है—

"तीर्थंकर वचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम्। एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वतस्तस्य ध्वनेरनक्षरत्वा सिद्धेः। साक्षरत्वे च प्रतिनियतैक भाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, क्रमविशिष्ट वर्णात्मक भूयः पंक्तिकदम्बकस्य प्रतिप्राणीप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरोधात्। यथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषा रूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः।" धवल पु० १ पृ० २८४।

अर्थ इस प्रकार है—प्रश्न—तीर्थंकर के वचन अनक्षर रूप होने के कारण ध्वनि रूप हैं और इसलिये वे एक रूप हैं और एक रूप होने के कारण वे सत्य और अनुभय दो प्रकार के नहीं हो सकते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि केवली के वचन में 'स्यात्' इत्यादि रूप से अनुभय रूप वचन का सद्भाव पाया जाता है, इसलिये केवली की

ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है। प्रश्न—केवली की ध्वनि को साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषा रूप ही होंगे, अशेष भाषा रूप नहीं हो सकेंगे? उत्तर—नहीं, क्योंकि क्रमविशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तियों के समुच्चयरूप और सर्व श्रोताओं में प्रवृत्त होने वाली ऐसी केवली की ध्वनि संपूर्ण भाषा रूप होती है ऐसा मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। प्रश्न—जबकि वह अनेक भाषा रूप है तो उसे ध्वनि रूप कैसे माना जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि केवली के वचन इसी भाषा रूप हैं, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनि रूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

"यदि यह कहा जाय कि अरिहंत परमेष्ठी में मन का अभाव होने पर मन के कार्यरूप वचन का सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है? सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वचन ज्ञान के कार्य हैं, मन के नहीं। अक्रम ज्ञान से क्रमिक वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? ऐसी शका भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट विषयक अक्रम ज्ञान से युक्त कुंभकार द्वारा क्रम से घट की उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञान से क्रमिक वचनों की उत्पत्ति मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।" धवल पु० १ पृ० ३६८।

यद्यपि यहाँ पर दिव्यध्वनि को ज्ञान का कार्य बतलाया गया है तथापि दिव्यध्वनि का उपादान कारण भाषा वर्गणा है जो पुद्गलमय है। निमित्त की अपेक्षा ज्ञान का कार्य है।

—जै. ग. 6-11-69/VII/रो. ला. मि.

सिद्धों का निवास स्थान तनुवात के अन्त में है

शंका—सिद्धक्षेत्र तनुवातवलय से ऊपर है या सिद्ध शिला पर है?

समाधान—सिद्ध भगवान का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है। कहा भी है—

"विस्ससोड्ढ गई मोक्ष गमन काले विस्रसा स्वभावेनोर्ध्वगतिरचेति"। बृ० द्र० सं०।

जीव मोक्षगमन काल में स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है। अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने के कारण शक्ति भी अनन्त है। किन्तु उस ऊर्ध्व गमन अनन्तशक्ति की व्यक्ति में अर्थात् कार्य रूप परिणत होने में धर्म द्रव्य की सहकारिता की आवश्यकता होती है अर्थात् धर्म द्रव्य की सहकारिता के बिना जीव या पुद्गल का गमन नहीं हो सकता है, अन्यथा धर्म द्रव्य का 'गतिहेतुत्व' लक्षण व्यर्थ हो जायगा। आकाश यद्यपि एक अखण्ड द्रव्य है, तथापि उसमें लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग धर्म और अधर्म इन दो द्रव्यों के कारण हो रहा है।

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च जाण हेतूहिं।
जइ णहि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारं ॥१३५॥ नय चक्र

गमन को हेतु भूत धर्म द्रव्य और स्थिति को हेतु भूत अधर्म द्रव्य इन दोनों के कारण लोकाकाश अलोकाकाश ऐसा विभाग हो रहा है। यदि धर्म द्रव्य गमन के और अधर्म द्रव्य स्थिति के कारण न होते तो लोक अलोक ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता था।

तनुवातवलय के आगे धर्म द्रव्य का अभाव होने से स्वाभाविक ऊर्ध्व गमन अनन्त शक्ति से युक्त सिद्ध जीवों का तनुवातवलय से आगे गमन नहीं हो सकता है अतः वे सिद्ध भगवान तनुवातवलय के अन्त में रुक जाते हैं। श्रीं कुन्कुन्द आचार्य ने नियमसार में कहा भी है—

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥

अर्थ—जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक ही जीवों का और पुद्गलों का गमन जानो। धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव और पुद्गल उससे (धर्मास्तिकाय से) आगे नहीं जाते हैं।

इससे सिद्ध है कि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण श्री सिद्ध भगवान तनुवातवलय से ऊपर नहीं जा सकते हैं, अतः सिद्ध क्षेत्र तनुवातवलय से ऊपर नहीं हो सकता है।

सिद्ध शिला के ऊपर दो कोष का घनोदधिवातवलय, एक कोष का घनवातवलय, १५७५ धनुष का तनुवातवलय है और तनुवातवलय के अन्त तक धर्म द्रव्य भी है। अतः सिद्ध शिला पर सिद्धक्षेत्र न होकर, तनुवातवलय के अन्त में सिद्धक्षेत्र है।

माणुसलोयपमाणे संठियतणुवादउवरिमे भागे ।
सरिस सिरा सव्वाणं हेट्ठिमभागम्मि विसरिसा केई ॥१५॥
जावद्धम्मद्दव्वं तावं गंतूण लोयसिहरम्मि ।
चेट्ठन्ति सव्वसिद्धा पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा ॥१६॥ ति० प०

मनुष्य लोक प्रमाण (४५ लाख योजन गोलाकार क्षेत्र प्रमाण) तनुवात के उपरिम अन्तिम भाग में सब सिद्धों के सिर सदृश होते हैं, अधस्तन भाग में विसदृश होते हैं (क्योंकि सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष और जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ है।) जहां तक धर्म द्रव्य है वहां तक लोक शिखर पर सब सिद्ध पृथक् पृथक् स्थित हो जाते हैं।

—जै. ग. 11-5-72/VII/........

सिद्धों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना एवं उनके द्वारा रुद्ध तनुवातवलय का क्षेत्र

शंका—सिद्ध पूजा की जयमाल में निम्न पद्य आया है—

पन्द्रह सौ भाग महान वसैं, नवलाख के भाग जघन्य लसैं।
तनुवात के अंत सहायक हैं, सब सिद्ध नमौं सुखदायक हैं॥

इस पद्य का क्या भाव है ?

समाधान—इस पद्य में सिद्धों के स्थान का कथन है। अष्ट कर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण सिद्ध भगवान ऊपर की ओर जाते हैं। लोकाकाश के आगे धर्मद्रव्य का अभाव होने के कारण सिद्ध भगवान का लोकाकाश से बाहर गमन नहीं होता है अतः लोक के अन्त में ही ठहर जाते हैं।

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥ (नियमसार)

अर्थ—जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक जीवों और पुद्गलों का गमन जानना चाहिए। धर्मास्तिकाय के अभाव में उससे आगे नहीं जाते।

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः ।। नियमसार पृ० ३-३६७ ।

अर्थ—गति हेतु (धर्मद्रव्य) के अभाव के कारण, त्रिलोक के शिखर से ऊपर जीव और पुद्गल दोनों का कदापि गमन नहीं होता है ।

इसीलिये श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है—

कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ।

अर्थ—कर्म से विमुक्त आत्मा लोकाग्र पर्यन्त जाता है ।

यदि यह कहा जाय कि सिद्ध जीव लोक का द्रव्य है अतः वह लोक से बाहर नहीं जाता सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश द्रव्य में लोक अलोक का विभाजन धर्मास्तिकाय के कारण हुआ है ।

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च हेदूहिं ।
जइ णहि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारं ।।१३५।। नयचक्र

गमण-हेतु (धर्मद्रव्य) और स्थिति-हेतु (अधर्मद्रव्य) इन दोनों के कारण लोक अलोक का विभाजन हो रहा है । यदि धर्मद्रव्य अधर्म द्रव्य दोनों नहीं होते तो लोक अलोक का व्यवहार कैसे होता ? अर्थात् नहीं होता ।

धर्म द्रव्य के अभाव में सिद्ध भगवान लोक के अन्त में ठहर जाते हैं और लोक के अन्त में तनुवातवलय है अतः सिद्धों का निवास तनुवात के अन्त में है ।

तनुवात का बाहल्य १५७५ धनुष है । ये १५७५ धनुष प्रमाणांगुल से हैं और सिद्धों का अवगाहना उत्सेधांगुल से है अतः १५७५ को ५०० से गुणा करना चाहिये । अर्थात् उत्सेधांगुल की अपेक्षा तनुवात वलय का बाहल्य ७८७५०० धनुष है, सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष है । बाहुबली स्वामी की अवगाहना ५२५ धनुष की थी । ७८७५०० धनुष को ५२५ धनुष से भाग देने पर १५०० लब्ध आता है । अतः उक्त पद्य में "पन्द्रह सौ भाग महान बसै" ऐसा कहा है । अर्थात् महान अवगाहन वाले सिद्ध तनुवात के पन्द्रहसौवें भाग में रहते हैं ।

सिद्धों की जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ है । अर्थात् सात धनुष का आठवां भाग है । ७८७५०० धनुष का सात बटा हुआ आठ ($\frac{7}{8}$) धनुष से भाग देने पर ९००००० आते हैं अर्थात् जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध तनुवात के नौ लाखवें भाग में रहते हैं । इसीलिये उक्त पद्य में 'नवलाख के भाग जघन्य लसैं' ऐसा कहा है ।

इस सम्बन्ध में निम्न गाथा उपयोगी है—

पणकदि जुद पंचसयाओगाहणया धणूणि उक्कस्से ।
आउट्ठहत्थमेत्ता सिद्धाण जहण्णठाणम्मि ।।६।।
तणुवाद बहलसंखं पणसयरूवेहिं ताडिदूण तदो ।
पण्णरसयेहिं भजिदे उक्कस्सोगाहणं होदि ।।७।।
तणुवादबहलसंखं पणसयरूवेहिं ताडिदूण तदो ।
णवलक्खेहिं भजिदे जहण्णमोगाहणं होदि ।।८।। तिलोयपण्णत्ति अधिकार ९

सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना पाँच के वर्ग से युक्त पाँच सौ पच्चीस धनुष है और जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ है। तनुवात के बाहल्य १५७५ की संख्या को पाँचसौ रूपों से गुणा करके पन्द्रहसौ का भाग देने पर जो लब्ध ५२५ धनुष आता है वह सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना है। तनुवात के बाहल्य १५७५ की संख्या को पाँचसौ रूपों से गुणा करके नौ लाख का भाग देने पर जो लब्ध साढ़े तीन हाथ आता है वह सिद्धों की जघन्य अवगाहना है।

सिद्ध जीव और तनुवात का परस्पर सम्बन्ध बताने के कारण यह सब कथन व्यवहार नय की अपेक्षा से है जो वास्तविक है, सत्यार्थ है, झूठ नहीं है।

—जै. ग. 6-6-68/VI/क्षु. श्री. सा.

सिद्धों का आकार देशोन शरीर प्रमाण है तो उनके आत्मप्रदेश लोकप्रमाण कैसे ?

शंका— सिद्धों का आकार अन्तिम शरीर से किंचित् ऊन बतलाया गया है और आत्म-प्रदेश असंख्यात [लोकप्रमाण] बतलाये गये हैं सो कैसे ?

समाधान—यद्यपि यह जीव असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् जीव के प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर असंख्यात हैं तथापि संकोच-विस्तार के कारण शरीर प्रमाण हो जाते हैं। कहा भी है—

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥

अर्थ—समुद्घात के बिना यह जीव व्यवहारनय से संकोच तथा विस्तार के कारण अपने छोटे या बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से असंख्यात प्रदेश का धारक है।

"यदुपार्जितं शरीरनामकर्म तदुदये सति अणुगुरुदेहप्रमाणो भवति जीवः उपसंहार–प्रसर्पतः शरीरनामकर्म-जनित–विस्तारोपसंहार धर्माभ्यामित्यर्थः।" टीका द्रव्यसंग्रह

यह जीव पूर्वोपार्जित शरीर नाम कर्म के उदय होने पर अपने छोटे या बड़े देह के बराबर होता है। शरीर नाम-कर्म से उत्पन्न हुए संकोच तथा विस्तार धर्म के कारण यह अपने देह के प्रमाण होता है। देह के प्रमाण होते हुए भी जीव प्रदेशों की संख्या लोकाकाश के बराबर असंख्यात रहती है।

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धाः।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥ १४ ॥ द्रव्यसंग्रह

अर्थ—सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं, अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद व्यय से युक्त हैं।

"कश्चिदाह—यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारोभवति तथा देहाभावे लोक प्रमाणेन भाव्यमिति ? तत्र परिहारमाह—प्रदीपसंबन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वं स्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं, जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति यस्तु प्रदेशानां संबन्धी विस्तारः स स्वभावो न भवति। कस्मा-

विति चेत् पूर्वं लोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव, तन्न, किन्तु पूर्वमेवा-नादिसन्तानरूपेण शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहरो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव, न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति। अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा हस्तचतुष्टय प्रमाण-वस्त्रं पुरुषेण मुष्टौ बद्धं तिष्ठति पुरुषाभावे सङ्कोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्ति काले सद्रि मृन्मय भाजनं वा शुष्कं सज्जलाभावे सति, तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीय-जलस्थानीय शरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति।" द्रव्य-संग्रह गाथा १४ की टीका।

अर्थ—कोई शंका करता है कि जैसे दीपक को ढकने वाले पात्र आदि के हटा लेने पर उस दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार शरीर का अभाव हो जाने पर सिद्धों की आत्मा के प्रदेश भी फैलकर लोकप्रमाण होने चाहिये ? इस शंका का उत्तर यह है—दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से सकुचित होता है, किन्तु जीव का लोकप्रमाण असं-ख्यात प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशों का लोकप्रमाण विस्तार स्वभाव नहीं है। यदि यों कहा जाय कि जीव प्रदेश पहले लोक के बराबर फैले हुए आवरण रहित रहते हैं, फिर जैसे दीपक पर आवरण होता है उसी प्रकार जीव-प्रदेशों का भी आवरण हुआ है ? ऐसा नहीं है, किन्तु जीवप्रदेश तो पहले अनादि काल से सन्तति रूप से चले आये हुए शरीर से आवरण सहित ही रहते हैं। इस कारण जीव प्रदेशों का संहार-विस्तार कर्माधीन है, स्वभाव नहीं है। इसलिये शरीर का अभाव होने पर जीवप्रदेशों का विस्तार नहीं होता।

इस विषय में अन्य उदाहरण दिया जाता है—जैसे किसी मनुष्य की मुट्ठी में चार हाथ लम्बा वस्त्र बंधा (भिचा) हुआ है, मुट्ठी खोल देने पर पुरुष के अभाव में वह वस्त्र संकोच तथा विस्तार नहीं करता जैसा उस पुरुष ने छोड़ा वैसा ही रहता है। अथवा गीली मिट्टी का बर्तन बनते समय तो संकोच अथवा विस्तार को प्राप्त हो जाता है, किन्तु सूख जाने पर जल के अभाव में संकोच विस्तार को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जीवप्रदेश भी, पुरुष के स्थानभूत अथवा जल के स्थानभूत शरीर के अभाव में, संकोच या विस्तार नहीं करते हैं।

"निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्तं परमचिदुच्छलनिर्भरशुद्धस्वभावेन निराकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिदूनचरमशरीराकारेण गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः।" द्रव्यसंग्रह गाथा ५१ टीका।

अर्थ—निश्चयनय की दृष्टि से इन्द्रियागोचर-अमूर्तिक-परमचैतन्य से निर्भर-शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा निराकार हैं, तो भी व्यवहार से भूतपूर्व नय की अपेक्षा अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होने के कारण सिद्ध पुरुषाकार हैं। जैसे मोम रहित मूस (सांचे) के बीच में आकाश प्रदेशों का आकार होता है अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के कारण आकाश प्रदेशों का आकार होता है। उसी प्रकार अमूर्तिक सिद्ध प्रदेशों का आकार होता है।

—जै. ग. 12-8-71/VII/ रो. ला. मि.

सिद्धों के क्षायिक भावों की संख्या

शंका—गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ८४५ में सिद्धों के चार क्षायिक भाव बतलाये हैं सो कौनसे हैं ? क्या अन्यत्र भी सिद्धों में चार क्षायिक भाव बतलाये हैं ?

समाधान—सिद्धों के क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और सिद्धत्व ये चार क्षायिक भाव बतलाये गये हैं। इन चार भावों में ही अन्य सर्व क्षायिक भावों का अन्तर्भाव हो जाता है।

गोम्मटसार गाथा ८४५ के अतिरिक्त श्री उमास्वामी आचार्य ने अध्याय १० सूत्र ४ में भी कहा—

"औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥ अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

औपशमिक आदि भावों के और भव्यत्व भाव का अभाव होने से मोक्ष होता है, किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और क्षायिक भाव का अभाव नहीं होता है।

"यदि चत्वार एवावशिष्यन्ते, अनन्तवीर्यादीनां निवृत्तिः प्राप्नोति ? नैष दोषः, ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वा-दनन्तवीर्यादीनामविशेषः।" सर्वार्थसिद्धि १०।४।

सिद्धों के यदि चार ही भाव रहते हैं तो अनन्त वीर्य आदि अर्थात् अन्य क्षायिक भावों की निवृत्ति प्राप्त होती है ? आचार्य कहते हैं कि ऐसा दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान दर्शन के अविनाभावी अनन्तवीर्यादिक अर्थात् अन्य क्षायिक भाव भी सिद्धों में अवशिष्ट रहते हैं।

—जै. ग. 11-12-69/VI/ र. ला. जैन, मेरठ

ऊर्ध्वलोक सिद्ध व अधोलोक सिद्ध का अर्थ

शंका—त. रा. वा. पृ. ६४७ में ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यग्लोक से सिद्ध बताये हैं सो इनका स्पष्ट क्या है ?

समाधान—जो पृथ्वीतल से ऊपर आकाश में अधर सिद्ध हुए हैं वे ऊर्ध्वलोक सिद्ध हैं जो समुद्र आदि में पृथ्वीतल से नीचे के स्थान से सिद्ध हुए हैं वे अधोलोक सिद्ध हैं। इन दोनों के अतिरिक्त शेष सिद्ध तिर्यग्लोक सिद्ध हैं।

—जै. ग. 27-3-69/IX/ क्षु. श्री. सा.

समवसरण

समवसरण में नीच गोत्री का भी गमन

शंका—नीचगोत्र के उदय वाला मनुष्य भगवान के समवसरण की सभा में आता है या नहीं ?

समाधान—हरिवंशपुराण सर्ग ५७ श्लोक १७३ में कहा है "पापी, विरुद्ध कार्य करने वाले, शूद्र, पाखण्डी, विकलाङ्ग, विकलेन्द्रिय तथा भ्रान्त चित्त के धारक मनुष्य बाहर ही प्रदक्षिणा देते रहते हैं अर्थात् वे सभा में नहीं जाते।" तिलोयपण्णत्ती अध्याय ४ गाथा ९३२ में कहा है कि कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी जीव, अनध्यवसाय से युक्त, संदेह से युक्त और विविध प्रकार की विपरीतताओं से युक्त जीव नहीं होते। इन दोनों ग्रन्थों में नीच गोत्र के उदय वाले मनुष्यों का समवसरण की सभा में जाने का निषेध नहीं है।

—जै. ग. 23-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जैन

समवसरण-गमन से गोत्र-परिवर्तन नहीं

शंका—तिर्यंच नीच गोत्री होता है। जब वह समवसरण में जाता है तो क्या उसका गोत्र बदल जाता है।

समाधान—समवसरण में जाने के कारण तिर्यंचों के उच्च गोत्र का उदय नहीं हो जाता, क्योंकि समवसरण में जाने के कारण गोत्र-परिवर्तन नहीं होता है।

—जै. ग. 24-7-67/VII/ज. प्र. म. कु.

भव्य मिथ्यात्वी तथा अभव्यों का समवसरण में गमन

शंका—मिथ्यादृष्टि या अभव्य मनुष्य या देव समवसरण में जाते हैं या नहीं ?

समाधान—इस सम्बन्ध में विभिन्न आर्ष प्रमाण हैं जो इस प्रकार हैं —

मिच्छाइट्ठिअभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइआइं।
तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा ॥४।९३२॥ ति. प.

अर्थ—समवसरण के बाहर कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते अनध्यवसाय से युक्त, संदेह से संयुक्त और विविध प्रकार की विपरीतताओं से सहित जीव भी इन बारह सभा-कोठों में नहीं होते हैं।

भव्यकूटाख्यया स्तूपा भास्वत्कूटास्ततोऽपरे।
यानभव्या न पश्यन्ति प्रभावान्धीकृते क्षणाः ॥५७।१०४॥ हरिवंशपुराण

अर्थ—समवसरण में सिद्धस्तूप के आगे देदीप्यमान शिखरों से युक्त भव्यकूट नाम के स्तूप रहते हैं, जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते, क्योंकि उन भव्यकूट नामक स्तूपों के प्रभाव से अभव्यों के नेत्र अन्धे हो जाते हैं।

पापशीला विकर्माणः शूद्राः पाखण्डपण्डकाः।
विकलाङ्गेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियन्ति बहिस्ततः ॥५७॥१७३॥ हरिवंशपुराण

अर्थ—पापी, विरुद्ध कार्य करने वाले, शूद्र, पाखण्डी, नपुंसक, विकलाङ्ग, विकलेन्द्रिय तथा भ्रान्त चित्त के धारक मनुष्य समवसरण के बाहर ही प्रदक्षिणा देते रहते हैं।

जिनभाषाऽधरस्पन्दमन्तरेण विजृम्भिता।
तिर्यग्देव मनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत् ॥२।११३॥ हरिवंशपुराण

अर्थ—ओठों के बिना हिलाये निकली हुई भगवान की वाणी ने तिर्यंच मनुष्य तथा देवों का दृष्टि मोह (मिथ्यात्व) नष्ट कर दिया था (इससे यह ज्ञात होता है कि समवसरण में मिथ्यादृष्टि जीव जाते हैं और जिनवाणी को सुनकर उनका मिथ्यात्व दूर हो जाता है।)

तन्निशम्यास्तिकाः सर्वे तथेति प्रतिपेदिरे।
अभव्या दूरभव्याश्च मिथ्यात्वोदयदूषिताः ॥७१॥१९८॥ उत्तर पुराण

अर्थ—भगवान की वाणी को सुनकर जो भव्य जीव थे, उन्होंने जैसा भगवान ने कहा था वैसा ही श्रद्धान कर लिया, परन्तु जो अभव्य अथवा दूर भव्य थे वे मिथ्यात्व के उदय से दूषित होने के कारण संसार-बढ़ाने वाली अनादि मिथ्यात्व वासना नहीं छोड़ सके।

इससे यह विदित होता है कि अभव्य व मिथ्यादृष्टि-भव्य दोनों प्रकार के जीव समवसरण में जाते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि **तिलोयपण्णत्ति** में जो मिथ्यादृष्टि व अभव्य का समवसरण में निषेध किया है वह गृहीत मिथ्यादृष्टि-अभव्य की अपेक्षा कथन किया गया है।

—जै. ग. 12-2-70/VII/ ब. प्र. स. पटना

शंका—मुनिव्रत धारण करके नवग्रैवेयक तक जाने वाले मुनि क्या समवसरण में नहीं जाते ?

समाधान—ऐसे मुनि के समवसरण में जाने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि उनको अरहन्तदेवादि का श्रद्धान है।

—जै. सं. 21-11-57/VI/ ने. च. जै. कोटा

शंका—ग्यारह अंग नौ पूर्व के पाठी मुनि समवसरण में जाते हैं या नहीं ?

समाधान—ग्यारह अंग नौ पूर्व के पाठी मुनियों के समवसरण में जाने में कोई बाधा नहीं है; उनको भी अरहन्तदेवादि में पूर्ण श्रद्धा है।

—जै. सं. 21-11-57/VI/ ने. च. जै. कोटा

अगृहीत मिथ्यात्वी बारह कोठों में जा सकते हैं

शंका—क्या भगवान के समवसरण में अन्तरंग व व्यवहार दोनों तरह के मिथ्यादृष्टि जीव नहीं जाते ?

समाधान—जिनको अरहंतदेव, निर्ग्रंथगुरु, स्याद्वादमयी शास्त्र व दयामयीधर्म की श्रद्धा है किन्तु उनके दर्शन मोहनीय व अनन्तानुबंधी कर्मों का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय नहीं हुआ है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव भी समवसरण (बारह कोठों में जाते हैं, क्योंकि उनके उपचार से सम्यग्दर्शन है। **मोक्षमार्ग प्रकाशक** में कहा है—'अरहत देवादि का श्रद्धान होने ते वा कुदेवादि का श्रद्धान दूर होने करि गृहीतमिथ्यात्व का अभाव होय है तिस अपेक्षा से वाको सम्यक्त्वी कहा। (पत्र ४८१) अथवा याके (मिथ्यादृष्टि के) देवगुरुधर्मादि का श्रद्धान नियमरूप होय है। सो विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान को परंपरा कारणभूत है। यद्यपि नियमरूप कारण नहीं, तथापि मुख्य कारण है। बहुरि कारण विषैं कार्य का उपचार संभवे है। तातैं मुख्यरूप परम्परा कारण अपेक्षा मिथ्यादृष्टि के भी व्यवहार सम्यक्त्व कहिये है (पत्र ४९०)।' अतः व्यवहार (उपचार) से सम्यग्दृष्टि किंतु अन्तरंग मिथ्यादृष्टि जीव बारह कोठों में जा सकते हैं।

—जै. सं. 30-1-58/XI/ गु. ला. रफीगंज

समवसरण में मिथ्यादृष्टि का गमन

शंका—तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४ गाथा ९३२ में कहा है कि 'समवसरण में बारह सभाओं में मिथ्यादृष्टि, अभव्य आदि नहीं जाते।' इसका अर्थ मैंने यह समझा था कि तीर्थंकरों के प्रत्यक्ष दर्शन व दिव्यध्वनि श्रवण लाभ होने पर नियम से सम्यग्दर्शन हो जाता है। क्या बारह सभाओं में सभी सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं ?

समाधान—जितने भी बारहसभा में देव, मनुष्य या तिर्यंच होते हैं उन सबको अरहंत देव निर्ग्रन्थगुरु और अहिंसामयी धर्म पर श्रद्धा होती है इस अपेक्षा से वे सभी सम्यग्दृष्टि हैं किन्तु इनमें से जिनके दर्शन मोह का उपशम, क्षयोपशम या क्षय नहीं हुआ है वे मिथ्यात्व के उदय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि हैं। जिस जीव को अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसामयी धर्म की श्रद्धा नहीं है और कुगुरु आदि की श्रद्धा है, वे बारह सभा के अन्दर नहीं जाते। यहाँ पर मिथ्यादृष्टि शब्द से गृहीत मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। तीर्थंकर भगवान के साक्षात् दर्शन से तथा दिव्यध्वनि के श्रवण से दर्शन मोह का उपशम आदि हो जाता हो ऐसा नियम नहीं है। समवसरण में सभी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव जाते हैं। समवसरण में क्या उन सबके दर्शनमोह का उपशम आदि हो जाते हैं। यदि ऐसा हो तो असंयत सम्यग्दृष्टियों की संख्या पल्य के असख्यातवें भाग से कई गुणी हो जायगी और आगम से विरोध आजायगा क्योंकि सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सूत्र ८ की टीका में असंयत सम्यग्दृष्टि की संख्या पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण कही है।

—जै. ग. 27-6-63/IX-X/मो. ला. सेठी

विहार के समय श्रोताओं का स्वस्थान पर प्रस्थान, समवसरण विघटन; अन्यत्र रचित समवसरण में तत्रस्थ जीवों का आगमन

शंका—भगवान समवसरण से स्वयमेव ही विहार करते हैं या अपनी इच्छा से विहार करते हैं? उनके विहार के साथ क्या समवसरण भी रहता है या पूर्व समवसरण विघट जाता है और आगामी नवीन समवसरण की रचना होती है? भगवान के विहार के साथ समवसरण में बैठे जीव भी उनके साथ विहार करते हैं या नहीं? नवीन समवसरण के जीव देवोपनीत होते हैं या जहाँ समवसरण की रचना होती है वहीं जीव आकर अपने-अपने कोठों में बैठ जाते हैं?

समाधान—भगवान् के मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से इच्छा का अभाव है। उनका विहार भव्य जीवों के भाग्य के कारण व कर्मोदय के कारण होता है। कहा भी है—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले, मायाचारो व्व इत्थीणं ॥४४॥
पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥४५॥ प्रवचनसार

उन अरहंत भगवन्तों के उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश स्त्रियों के मायाचार की भाँति स्वभाविक (प्रयत्न बिना) ही होता है ॥४४॥ अर्हन्त भगवान पुण्यफल वाले हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है, मोहादि से रहित है इसलिये वह क्षायिकी मानी गई ॥४५॥

विहार के समय समवसरण साथ नहीं रहता, विघट जाता है, आगामी स्थान पर पुनः रचना हो जाती है। समवसरण में बैठे सब ही जीव भगवान के साथ विहार नहीं करते, कुछ करते हैं। नवीन समवसरण के जीव देवोपनीत नहीं होते किंतु जहाँ समवसरण की रचना होती है वहाँ के ही जीव आकर अपने-अपने कोठों में बैठ जाते हैं।

—जै. सं. 30-1-58/XI/गु. ला. रफीगंज

समवसरण में सामान्य केवली

शंका—तीर्थङ्करों की समवसरण सभा में सामान्य केवली भी होते हैं। जब वे स्वयं सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी होते हैं तो वहाँ पर उनकी गन्धकुटी व वाणी कैसे खिरती होगी ?

समाधान—तीर्थंकरों के समवसरण में सामान्य केवली भी होते हैं ऐसा ति० प० ४/११००–११६१ में कहा है किन्तु उनकी गन्धकुटी व वाणी खिरने के विषय में कुछ नहीं कहा है। गन्धकुटी की रचना होना सम्भव है, किन्तु वाणी खिरने की सम्भावना नहीं है।

—जै. स./28-6-56/VI/र. ला. क. केकड़ी

समवसरण की २० हजार सीढ़ियों को मनुष्य कैसे पार करके पहुंचते हैं ?

शंका—समवसरण की बीस हजार सीढ़ियों पर मनुष्य चढ़कर पहुँचते हैं या पैर रखते ही किसी अतिशय से समवसरण में पहुँच जाते हैं।

समाधान—बीस हजार सीढ़ियों पर चढ़कर मनुष्य समवसरण में पहुँचता है किन्तु इतना अतिशय है कि मनुष्य को बीस हजार सीढ़ियों के चढ़ने में कष्ट नहीं होता है।

—जै. ग. 1-4-71/VII/र. ला. क. केकड़ी

विहार के समय गन्धकुटी केवली के साथ नहीं जाती

शंका—सामान्य केवली की गन्धकुटी उनके साथ हर जगह जाती है या वहीं रह जाती है ? वरांगचरित्र में लिखा है—'धर्मसेन राजा के अंतपुर नगर में वरदत्तकेवली आये वह उनकी वाटिका में शिला पर शिष्यों सहित विराजमान हो गये।' वहाँ गंधकुटी का कथन नहीं है।

समाधान—तीर्थङ्कर भगवान के विहार के समय जैसे समवसरण साथ नहीं जाता उसी प्रकार सामान्य केवलियों के विहार के समय गंधकुटी साथ नहीं जाती है। जिस प्रकार समवसरण की रचना शिला पर होती है उसी प्रकार गंधकुटी की रचना शिला पर होती है। वरांगचरित्र में धर्मसेन राजा की वाटिका में भी १००८ वरदत्त केवली का शिला पर विराजमान होने का जो कथन है उससे अभिप्राय शिला पर गंधकुटी का है।

—जै. सं. 25-9-58/V/ब. बा. हजारी बाग

समवसरणस्थ मुनि को केवलज्ञान की उत्पत्ति, पृथक् विहार, दिव्यध्वनि आदि संबंधी विचारणा

शंका—तीर्थंकरों के समवसरण में केवलियों की भी संख्या दी है। सो किस प्रकार है ?

समाधान—समवसरण में मुनि होते हैं। जो मुनि वहाँ पर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं वे केवलज्ञानी समवसरण में होते हैं। तीर्थंकरों के विहार के साथ इनके विहार होने का कोई नियम नहीं है। तीर्थंकरों का विहार होने पर इनका अन्य दिशा में विहार होने में कोई बाधा नहीं है। समवसरण में भिन्न भिन्न समयों पर जो केवली हुए हैं उन सबकी संख्या दी गई है। समवसरण में हर समय केवलज्ञानी के होने का भी कोई नियम नहीं है। जब केवलज्ञानी समवसरण से पृथक् हो जाते हैं तब उनकी दिव्यध्वनि होती है। आचार्यों ने इस सम्बन्ध में कुछ कथन नहीं किया है। मैंने मात्र अपनी बुद्धि से लिखा है। विद्वान् इस पर विशेष विचार करने की कृपा करें।

—जै. ग. 4-2-71/VII/क. ब.

दिव्यध्वनि-श्रवण के बाद भी मिथ्यात्व रह सकता है।

शंका—तीर्थंकरों के समवसरण में उनका उपदेश सुनने के पश्चात् भी क्या मिथ्यात्व का सद्भाव रहता है ?

समाधान—जो जीव तीर्थङ्कर के समवसरण में जावे उसको सम्यक्त्व हो जाता है ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

"भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्व तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात्। नासत्यमोषमनो योगस्य सत्त्वं तत्र संशयानध्यवसाययोरभावादिति न संशयानध्यवसाय निबन्धन वचन हेतु मनसोऽप्य सत्यमोषमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात्। किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्स्वार्थानन्त्याच्छ्रोतुरावरण-क्षयोपशमातिशया भावात्।" धवल पु. १ पृ. २८३।

कोई प्रश्न करता है कि केवली जिन के सत्यमनोयोग का सद्भाव रहा आवे, क्योंकि केवली के वस्तु के यथार्थ ज्ञान का सद्भाव पाया जाता है, परन्तु केवली के असत्यमृषामनोयोग का सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि उनके संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञान का अभाव है। आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि उनके संशय और अनध्यवसाय रूप के कारण रूप वचन का कारण मन होने से उसमें भी अनुभय रूप धर्म रह सकता है। अतः सयोगी जिनमें अनुभय मनोयोग का सद्भाव स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं आता है। केवली के वचन संशय और अनध्यवसाय को पैदा करते हैं इसका कारण यह है कि केवल ज्ञान के विषयभूत पदार्थ अनन्त होने से और श्रोता के आवरण कर्म का क्षयोपशम अतिशय रहित होने से केवली के वचनों के निमित्त से संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है।

—जै. ग. 25-6-70/VII/का. ना. कोठारी

जीवसमास

९८ जीव समासों के नाम

शंका—स्थावर जीव ४२ प्रकार के, देव व नारकी दो-दो प्रकार के पंचेन्द्रिय तिर्यंच ३४ प्रकार, मनुष्य ९ प्रकार, विकलेन्द्रिय ९ प्रकार, इस प्रकार ९८ भेद संसारी जीव के श्री ब्रह्मकृष्णदास ने बतलाये हैं। इन भेदों के नाम किस प्रकार हैं।

समाधान—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद, चतुर्गति निगोद ये छह बादर व सूक्ष्म के भेद से दो दो प्रकार के अर्थात् ६×२=१२। इन १२ में प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक ये दो भेद मिला देने से स्थावर १४ प्रकार के हुए। इनमें से प्रत्येक पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। अतः स्थावरों के १४×३=४२ भेद हो जाते हैं।

देव पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त दो प्रकार के। इसी प्रकार नारकी भी पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त दो प्रकार के।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच संमूर्च्छन व गर्भज दो प्रकार, उनमें से संमूर्च्छन १८ प्रकार के और गर्भज १६ प्रकार के कुल १८+१६=३४ प्रकार के। कर्मभूमिज संमूर्च्छन संज्ञी असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जलचर, स्थलचर, नभचर, इस प्रकार संज्ञी और असंज्ञी दोनों तीन-तीन प्रकार के अर्थात् ३×२=६ प्रकार के। इनमें से प्रत्येक के पर्याप्त

निर्वृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीन-तीन भेद अर्थात् ६ × ३ = १८ संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय तिर्यंच के भेद हैं। कर्मभूमिज गर्भज संज्ञी असंज्ञी पंचेन्द्रिय जलचर, स्थलचर, नभचर तिर्यंच (६)। भोगभूमिज गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रिय स्थलचर और नभचर तिर्यंच (२)। ६ + २ = ८। इनमें से प्रत्येक पर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार का। इस तरह गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच के १६ प्रकार के, इनमें संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय तिर्यंच के १८ भेद मिला देने से कुल पंचेन्द्रिय तिर्यंच १६ + १८ = ३४ प्रकार के हुए।

आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड, भोगभूमि, कुभोगभूमि में उत्पन्न होने से गर्भज मनुष्य चार प्रकार के। इनमें से प्रत्येक पर्याप्त निर्वृत्त्यपर्याप्त दो प्रकार के होते हैं अर्थात् गर्भज मनुष्य ४ × २ = ८ प्रकार के और इनमें लब्ध्यपर्याप्त संमूर्च्छन मिला देने से मनुष्य ८ + १ = ९ प्रकार के।

द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में से प्रत्येक पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त तीन प्रकार के। इस प्रकार विकलेन्द्रिय ३ × ३ = ९ प्रकार।

४२ + २ + २ + ३४ + ९ + ९ = ९८ जीव समास हैं।

आगम प्रमाण इस प्रकार है—

पुढवी-जलग्गि-वाऊ चत्तारि वि होंति बायरा सुहुमा।
साहारण-पत्तेया वणप्फदी पंचमा दुविहा ॥१२४॥
साहारणा वि दुविहा अणाइ-काला य साइकाला य।
ते वि य बादर सुहुमा सेसा पुण बायरा सव्वे ॥१२५॥
पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिद तहेव रहिया य।
दुविहा होंति तसा वि य बि-ति चउरक्खा तहेव पंचक्खा ॥१२८॥
पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल आयास-गामिणो तिरिया।
पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य ॥१२९॥
ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भज-जम्मा तहेव संमुच्छा।
भोगभुवा गब्भभुवा थलयर-णहगामिणो सण्णी ॥१३०॥
अट्ठ वि गब्भज दुविहा तिविहा संमुच्छिणो वि तेवीसं।
इदि पणसीदी भेया सव्वेसिं होंति तिरियाणं ॥१३१॥
अज्जव-मिलेच्छ-खंडे भोगमहीसु वि कुभोगभूमीसु।
मणुया हवंति दुविहा णिव्वित्तिअपुण्णगा पुण्णा ॥१३२॥
संमुच्छिया मणुस्सा अज्जवखण्डेसु होंति णियमेण।
ते पुण लद्धि-अपुण्णा णारयदेवा वि ते दुविहा ॥१३३॥ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

गाथा १३१-१३३ की संस्कृत टीका में विशेष कथन है, वह ग्रन्थ से देख लेना चाहिए।

—जै. ग. 25-5-72/IX/ गु. ला. छाबड़ा

सम्मूर्च्छन जीवों का कोई नियत आकार नहीं होता

शंका—सम्मूर्च्छन जीव किस आकार के होते हैं? कितनी इंद्रिय वाले होते हैं और कहाँ पाये जाते हैं?

समाधान—सम्मूर्च्छन जीवों का कोई नियत आकार नहीं होता है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छन होते हैं। सम्मूर्च्छन जीव सर्वलोक में पाये जाते हैं।

—जै. ग. 5-3-70/IX/ जि. प्र.

मोर, मुर्ग आदि जीव नभचर हैं

शंका—मोर, मुर्ग आदि जीव नभचर हैं या थलचर ?

समाधान—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा लोक भावना गा० १२९ में पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के जल-थल-आयास-गामिनः ऐसे तीन भेद कहे हैं। श्री शुभचन्द्राचार्य कृत टीका में आकाशगामिन् अर्थात् नभचर के विषय में लिखा है—

"आकाशगामिनः शुककाकबक चटक सारसहंस मयूरादयः"

पंचेन्द्रिय नभचर जीव जैसे तोता, कौआ, बगुला, चिड़िया, सारस, हंस, मयूर आदि। इस आर्ष प्रमाण से सिद्ध है कि मोर, मुर्ग आदि जीव नभचर हैं।

—जै. ग. 23-3-78/VII/ र. ला. जैन मेरठ

पर्याप्ति

पर्याप्ति, अपर्याप्ति का स्वरूप, प्रारम्भ काल आदि

शंका—छह पर्याप्ति मनुष्य तिर्यंच में भी अन्तर्मुहूर्त जन्म लेने के बाद होते हैं क्या ?

समाधान—संसारी जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जिनके पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं वे पर्याप्त हैं। जिनके पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होतीं वे अपर्याप्त जीव हैं। पर्याप्तियाँ छह हैं। सब पर्याप्तियाँ एक साथ प्रारम्भ होती हैं और अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाती हैं।

पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं।
अंतोमुहुत्त कालेणहियकमा तत्तियालावा ॥१२०॥ गो जी.

अर्थ—सम्पूर्ण पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो युगपत् होता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रम से होती है। इनका काल यद्यपि पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर का कुछ-कुछ अधिक है, तथापि सभी का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है।

"एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात्। निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण। एतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः।" धवल पु. १ पृ. २५५-५६।

अर्थ—इन छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि जन्म-समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु पूर्णता क्रम से होती है, तथा इन पर्याप्तियों की अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं।

—जै. ग. 27-7-69/VI/सु. प्र.

पर्याप्त—अपर्याप्त विचार

शंका—षट्खण्डागम पु० १ सूत्र ७८ की टीका में छठे गुणस्थान वाले के औदारिक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तक, आहारक शरीर सम्बन्धी अपर्याप्तक लिखा है सो ये दोनों बातें एक साथ हो सकती हैं क्या ?

समाधान—मो० शा० अ० २ सूत्र ४३ में कहा है कि एक जीव के एक साथ चार शरीर सम्भव हैं—तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।४३।। तैजस, कार्माण, औदारिक और आहारक ये चार शरीर एक जीव के एक साथ हो सकते हैं। इनमें से तैजस और कार्माण शरीर का सम्बन्ध अनादिकाल से है; किन्तु जिस समय औदारिक शरीर या आहारक शरीर का इस आत्मा के साथ नवीन सम्बन्ध होता है उस समय प्रथम अन्तर्मुहूर्त में औदारिक मिश्र या आहारक मिश्र काययोग होता है। मिश्र काययोग अपर्याप्त अवस्था में होता है। उस शरीर सम्बन्धी पर्याप्ति पूर्ण न होने के कारण अपर्याप्त कहा है। आहारक ऋद्धिधारी प्रमत्त संयत मुनि के जब आहारक शरीर की उत्पत्ति होती है उस समय औदारिक शरीर सम्बन्धी पर्याप्ति तो पूर्ण हो जाती है किन्तु आहारक शरीर सम्बन्धी पर्याप्ति अपूर्ण होती है। अतः औदारिक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तक और आहारक सम्बन्धी अपर्याप्तक लिखा है। इस विषय को स्वय श्री १०८ वीरसेन स्वामी ने ध० ख० पु० १ पत्र ३१८ पर विशेष खोला है।

—जै. स. 7-3-57/ ....../ब. बा., हजारी बाग

अपर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त तथा पर्याप्त जीवों का स्वरूप

शंका—पर्याप्त, अपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त कौन जीव होते हैं ?

समाधान—पर्याप्ति छह हैं—१. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३. इंद्रिय पर्याप्ति, ४. उच्छ्वास-निःश्वास पर्याप्ति, ५ भाषा पर्याप्ति, ६. मनः पर्याप्ति। इन छहों पर्याप्तियों का स्वरूप इस प्रकार है—

"आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वास भाषा मनः सम्बन्धेन षोढा भवतीत्यर्थः। तत्र आहारवर्गणाऽऽयात-पुद्गलस्कन्धानां खलरसभागरूपेण परिणमने आत्मनः शक्तिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः ।।१।। खलभागमस्थ्यादि कठिनावयवरूपेण रसभागं च रसरुधिरादि द्रवावयवरूपेण परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः ।।२।। स्पर्शनादिन्द्रियाणां योग्यदेशावस्थितस्वस्वविषयग्रहणं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिः इंद्रियपर्याप्तिः ।।३।। आहारवर्गणाऽऽयातपुद्गलस्कन्धान् उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिरुच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तिः ।।४।। भाषावर्गणाऽऽयातपुद्गलस्कन्धान् सत्यादिचतुर्विधवाक्स्वरूपेण परिणमयितुं जीवशक्तिनिष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः ।।५।। दृष्टश्रुतानुमितार्थानां गुण-दोष-विचारणादिरूप भावमनः परिणमने मनोवर्गणाऽऽयातपुद्गलस्कन्धान् द्रव्यमनोरूपे-परिणामेन परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः ।। ६ ।। षट् मिलिता एका पर्याप्तिप्रकृतिः।" कर्म प्रकृति पृ० ४७।

अर्थ—पर्याप्तियों के छह भेद हैं—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, उच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति, मन पर्याप्ति। आहार वर्गणा के पुद्गलस्कन्धों को खल और रस रूप से परिणत करने की आत्म-शक्ति की निष्पत्ति आहार-पर्याप्ति है ।।१।। खल भाग को हड्डी आदि कठिन अवयवों के रूप में और रस भाग को रक्त आदि के रूप में परिणत करने की जीव-शक्ति की निष्पत्ति शरीर पर्याप्ति है ।।२।। स्पर्शनादि इंद्रियों के अपने योग्य क्षेत्र में अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने रूप जीव शक्ति की निष्पत्ति इन्द्रिय पर्याप्ति है ।।३।। आहारवर्गणा–पुद्गलस्कन्धों को श्वासउच्छ्वास रूप में परिणत करने की जीव-शक्ति श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है ।।४।। भाषा वर्गणा के पुद्गलस्कन्धों को सत्यादि चार प्रकार के वचन रूप से परिणत करने की जीव-शक्ति भाषापर्याप्ति है ।।५।। मनोवर्गणा के पुद्गलस्कन्धों को, दृष्ट श्रुत अनुमानित पदार्थों के गुण-दोष विचारने रूप भावमन को कारण द्रव्य-मन, ऐसे द्रव्यमनरूप परिणत करने की जीव-शक्ति मनःपर्याप्ति है ।।६।। ये छह पर्याप्ति मिलकर पर्याप्ति नाम कर्म होता है।

जह पुण्णापुण्णाइं गिहघडवत्थादि याइं दव्वाइं।
तह पुण्णिदरा जीवा पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा ॥११८॥
पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव ॥१२१॥
उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि।
अन्तोमुहुत्तमरणं लद्धि, अपज्जत्तगो सो दु ॥१२२॥ गो. जी.

जिस प्रकार घर घट वस्त्रादि अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं उसी प्रकार जिन जीवों की पर्याप्तियाँ पूर्ण हो गई वे पर्याप्त जीव हैं और जिन जीवों की पर्याप्तियाँ अपूर्ण हैं वे अपर्याप्त जीव हैं ॥११८॥ पर्याप्त नाम कर्मोदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण होता है, तथापि जब तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक वह जीव की निर्वृत्यपर्याप्ति है ॥१२१॥ अपर्याप्ति नामकर्म का उदय होने से जो जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्त (श्वास के अठारहवें भाग या एक सैकण्ड के चौबीसवें भाग) काल में ही मरण को प्राप्त हो जाय वह लब्ध्यपर्याप्तक जीव है ॥१२२॥

इस प्रकार पर्याप्त, अपर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त जीवों का स्वरूप श्री नेमचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य ने कहा है।

—जै. ग. 16-7-70/......./रो. ला. मि.

अपर्याप्तक और साधारण में अन्तर

शंका—लब्ध्यपर्याप्त और साधारण जीवों में क्या अन्तर है ?

समाधान—जीव की परतंत्रता के कारण आठ कर्म हैं, क्योंकि जो जीव को परतंत्र करे वह कर्म है। कहा भी है—

"जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि।" आप्तपरीक्षा

अर्थ—जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है, उन्हें कर्म कहते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये आठ कर्म हैं इन आठ कर्मों में से नाम कर्म की बयालीस पिंड प्रकृतियाँ हैं जो इस प्रकार हैं—

गति, जाति, शरीर, बंधन, संघात, संस्थान, अंगोपांग, संहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर ये नाम कर्म की बयालीस पिंड प्रकृतियाँ हैं ॥२८॥ धवल पुस्तक ६ पृ० ५०।

इनमें अपर्याप्त नाम कर्मोदय से जीव लब्ध्यपर्याप्त होता है और साधारण शरीर नाम-कर्मोदय से जीव साधारण होता है।

"षड्विधपर्याप्त्यभाव हेतुरपर्याप्तिनामा"। सर्वार्थसिद्धि ८।११।

उदये दु अपुण्णस्स य, सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि ।
अंतोमुहुत्तमरणं, लद्धिअपज्जत्तगो सो दु ॥१२२॥ गो० जी०

अर्थ—जो छह प्रकार की पर्याप्तियों के अभाव का हेतु वह अपर्याप्ति नाम कर्म है। (स० सि०) अपर्याप्त नाम कर्म का उदय होने से जो जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्त काल में ही मरण को प्राप्त हो जाय उसको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। गो० जी०।

बादरसुहुमेइंदिय, बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णी य ।
पज्जत्तापज्जत्ता, एवं ते चोद्दसा होंति ॥७२॥ गो० जी०

अर्थ—बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव तथा संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, अर्थात् इन सातों ही प्रकार के जीवों के पर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त ऐसे दो भेद होने से जीव समास चौदह प्रकार का होता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन सब जीवों में लब्ध्यपर्याप्तक जीव होते हैं अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त जीव एकेन्द्रिय आदि के भेद से पांच प्रकार के होते हैं।

अब साधारण का स्वरूप कहते हैं—

"बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम।" स. सि. ८।११

साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा ।
ते पुण दुविहा जीवा, बादरा सुहुमात्ति विण्णेया ॥१९१॥
साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं भणियं ॥१९२॥
जत्थेक्कमरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥१९३॥ गो. जी.

अर्थ—बहुत आत्माओं के उपभोग का हेतु रूप से साधारण शरीर जिसके निमित्त से होता है वह साधारण शरीर नाम कर्म है। स० सि०।

जिन जीवों का शरीर साधारण नाम कर्म के उदय से निगोद रूप होता है उनको साधारण या सामान्य कहते हैं। इनके दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म ॥१९१॥

इन साधारण जीवों का साधारण अर्थात् समान ही तो आहार होता है, साधारण अर्थात् एक साथ ही श्वासोच्छ्वास ग्रहण होता है। इस प्रकार साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही बताया है ॥१९२॥

साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर एक साथ अनन्त जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवों का उत्पाद होता है ॥१९३॥

इस प्रकार साधारण जीव एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक निगोद रूप होते हैं।

लक्षण भेद से तथा स्वामी आदि भेद से अपर्याप्त और साधारण जीवों में अन्तर है।

—जै. ग. 29-11-65/IX/श. दा. कैराना

लब्ध्यपर्याप्तक व निर्वृत्यपर्याप्तक में अन्तर

शंका—लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के सभी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती हैं, ऐसा है क्या ? निर्वृत्यपर्याप्तकों की तो आहार पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। ऐसा है क्या ?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तक जीव के कोई भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है।

> उदये दु अपुण्णस्स य, सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि।
> अंतोमुहुत्तमरणं, लद्धिअपज्जत्तगो सो दु ॥१२२॥ गो. जी.

अर्थ—अपर्याप्त नाम कर्म का उदय होने से जो जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्त काल में ही मरण को प्राप्त हो जाय उसको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

"यस्योदयात् षडपि पर्याप्तिः पर्यापयितुम् आत्मा असमर्थो भवति तदपर्याप्तिनाम।" रा. वा. ८।११।३३

जिसके उदय से छहों पर्याप्तियों में से कोई भी पर्याप्ति पूर्ण करने में आत्मा असमर्थ होती है वह अपर्याप्त नाम कर्म है।

> पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।
> जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्तिअपुण्णगो ताव ॥ १२१ ॥ गो. जी.

अर्थ—पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण होता है। तथापि जब तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक वह निर्वृत्यपर्याप्तक है।

—*जै. ग. 13-6-68/IX/ र. ला. जैन मेरठ*

गर्भ में ही जीव पर्याप्तियों से पर्याप्त हो जाता है

शंका—मनुष्य व तिर्यंचों की पर्याप्तियाँ क्या गर्भ से या जन्म से अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती हैं ?

समाधान—गर्भ के प्रथम समय से मनुष्य व तिर्यंचों की पर्याप्तियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण हो जाती हैं।

—*जै. ग. 4-9-69/VII/ सु. प्र.*

गर्भावस्था में निर्वृत्यपर्याप्तक का काल

शंका—गर्भ अवस्था में निर्वृत्यपर्याप्तक का कितना काल है ?

समाधान—निर्वृत्यपर्याप्तक का काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि छहों पर्याप्ति एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाती हैं।

> पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं।
> अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥ १२० ॥
> पज्जत्तस्स य उदये णियणिय पज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।
> जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव ॥१२१॥ गो. जी.

अर्थ—सम्पूर्ण पर्याप्तियों का आरम्भ तो युगपत् होता है किन्तु उनकी पूर्णता क्रम से होती है। यद्यपि पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर का काल कुछ अधिक है, तथापि सबका काल अन्तर्मुहूर्त है। पर्याप्त नाम कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण होता है, तथापि जब तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक वह निर्वृत्यपर्याप्तक है।

—जै. ग. 15-1-68/VII/........

पर्याप्ति व प्राण में भेद, पर्याप्ति द्रव्य-भावरूप नहीं होती

शंका—पर्याप्ति और प्राण में क्या अन्तर है? जैसे प्राण द्रव्य व भावरूप होता है, क्या पर्याप्ति भी द्रव्य व भाव के भेद से दो रूप है। क्या विग्रहगति में प्राणों की तरह पर्याप्ति भी होती है?

समाधान—आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं और जिनके द्वारा आत्मा जीवनसंज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। यही इन दोनों में भेद है। **षट्खण्डागम पुस्तक १, पृष्ठ २५६।** पर्याप्ति द्रव्य और भाव के भेद से दो रूप नहीं है। विग्रहगति में भी 'पर्याप्ति' अपर्याप्तिरूप से पाई जाती है। **षट्खण्डागम पुस्तक २, पृष्ठ ६६८-६६९।**

—जै. सं. 27-3-58/VI/ कपू. दे.

पर्याप्ति—प्राण

शंका—क्या संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नहीं होने पर भी जैसे क्षयोपशम रूप भाव इन्द्रिय मानते हैं वैसे क्या मनःपर्याप्ति पूर्ण नहीं होने पर क्षयोपशम रूप भाव मन नहीं होता; अगर होता है तो क्या द्रव्य मन की रचना से ही मनोबल प्राण माना जायेगा, भाव मन का क्षयोपशम होने से मन प्राण क्यों नहीं होता? इसी तरह भाषा पर्याप्ति पूर्ण हुए बिना भाषा प्राण मानने में क्या बाधा है? जबकि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हुए बिना इन्द्रिय प्राण मानते हैं, क्षयोपशम रूप से इन्द्रिय मानने से इन्द्रिय प्राण माना तो फिर क्या द्वीन्द्रिय आदि जीव के भाषा की व्यक्ति नहीं होने पर क्षयोपशम भी नहीं है। अगर क्षयोपशम है तो फिर भाषा प्राण भी उसी हिसाब से मानना चाहिए।

समाधान—इन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं—भाव इन्द्रिय और द्रव्य इन्द्रिय। भाव इन्द्रिय दो प्रकार की है—(१) लब्धि अर्थात् क्षयोपशम (२) उपयोग अर्थात् स्व और पर को ग्रहण करने वाला परिणाम विशेष (**मो० शा० २।१६-१८**) मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम तो सर्व संसारी जीवों के सर्व अवस्था में रहता है। यदि क्षयोपशम का अभाव हो जावे तो जीव के लक्षण—ज्ञान के अभाव में जीव का भी अभाव हो जाएगा। अतः अपर्याप्त अवस्था में संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के क्षयोपशमरूप पाँचों इन्द्रियाँ तो अवश्य पाई जाती हैं। अतः अपर्याप्त अवस्था में पंचेन्द्रिय प्राण कहा है। किन्तु मनोबल के विषय में ऐसी व्यवस्था नहीं है क्योंकि द्रव्य मन से उत्पन्न हुए आत्मबल को मनोबल कहते हैं। बिना द्रव्य मन के मनोबल नहीं हो सकता। अपर्याप्त अवस्था में द्रव्य मन का अभाव है अतः मनोबल का भी अभाव है। (**ध० खं०/१-२५९-२६०**) भाषा पर्याप्ति से उत्पन्न हुई भाषा वर्गणा के स्कन्धों का श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्याय से परिणमन करने रूप शक्ति को भाषाप्राण कहते हैं। भाषापर्याप्ति कारण है और भाषाप्राण कार्य है। अपर्याप्त अवस्था में भाषा पर्याप्ति नहीं होती अतः भाषा बल भी नहीं होता।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के अपर्याप्त अवस्था में पाँचों इन्द्रियों का क्षयोपशम रहता है। यह क्षयोपशम इन्द्रिय पर्याप्ति का कारण है किन्तु मन के क्षयोपशम अर्थात् भाव मन की इससे भिन्न व्यवस्था है। मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन व भावमन। इनमें अंगोपांग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला द्रव्य मन है। नो-इन्द्रियावरण का क्षयोपशम भाव मन है। भाव मन अपर्याप्त अवस्था में नहीं होता है क्योंकि द्रव्य मन के बिना बाह्य पदार्थों की स्मरणरूप शक्ति (भाव मन) का सद्भाव नहीं होता। यदि बिना द्रव्यमन के ऐसी शक्ति का सद्भाव स्वीकार कर लिया जावे तो द्रव्य मन की कोई आवश्यकता नहीं रहती (ध० खं० १/२५४–२५९; २/४१२)। भाषा रूप से परिणमन करने की शक्ति के निमित्तभूत नो कर्म (ओष्ठ, तालु आदि) पुद्गलप्रचय की प्राप्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं (ध० खं० १/२५५)। भाषा वर्गणा के स्कन्धों का श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्याय से परिणमन करने रूप शक्ति को वचनबल कहते हैं। (ध० खं० २/४१२)। मनोवर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गलप्रचय को मन: पर्याप्ति और उससे उत्पन्न हुए मनोबल को मनोबल प्राण कहते हैं। (ध० खं० २/४१२)। भाषापर्याप्ति और मन: पर्याप्ति कारण है और भाषाबल व मनोबल प्राण कार्य हैं। द्वीन्द्रियादि जीवों में भाषा का क्षयोपशम अपर्याप्त अवस्था में नहीं होता है।

—पत्राचार 9-1-55/ ब. प्र. स. पटना

अपर्याप्त जीवों के कालों में से उत्कृष्ट क्षुद्रभव ग्रहण का काल-प्रमाण

शंका—$\frac{1}{24}$ Second काल उत्कृष्ट क्षुद्रभव का है या जघन्य का ?

समाधान—$\frac{1}{24}$ Second प्रमाण काल उत्कृष्ट क्षुद्रभव का है, जघन्य क्षुद्रभव का नहीं।

—पत्र 25-6-79/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

पर्याप्त जीव की जघन्य आयु श्वास से अधिक होती है

शंका—कोई भी पर्याप्त जीव एक श्वास में १८ बार या कुछ कम बार जन्म मरण कर सकता है क्या ?

समाधान—"उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर बादर निगोद अपर्याप्तकों के उत्कृष्ट आयुप्रमाण तथा अन्य एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ऊपर जाकर औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर और आहारक शरीर के निर्वृत्तिस्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।" धवल पु० १४ पृ० ५१६।

इस आर्ष प्रमाण से सिद्ध होता है कि पर्याप्तक जीव की जघन्य आयु भी एक श्वास से अधिक होती है।

जै. ग. 20-6-68/VI ....

पर्याप्तियों से अपर्याप्त जीव के भी उपयोगरूप ज्ञान सम्भव है

शंका—क्या अपर्याप्त अवस्था में भी उपयोगरूप ज्ञान व दर्शन हो सकते हैं ?

समाधान—अपर्याप्त अवस्था में उपयोगरूप भी ज्ञान-दर्शन हो सकते हैं। जैसे स्मृतिज्ञान, धारणाज्ञान आदि सम्भव हैं। (जयधवल १, पृ० ५१ अंतिम पंक्ति) "इंद्रियों से ही ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा मानने पर अपर्याप्त काल में इंद्रियों का अभाव होने से ज्ञान के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।"

—पत्र 6-4-80/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

अपर्याप्तक मनुष्यों के भाव मन नहीं होता।

शंका—लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों के मनःपर्याप्ति नहीं होती। इसका तात्पर्य यही है कि द्रव्य मन नहीं है पर भाव मन है?

समाधान—अपर्याप्त अवस्था में भाव मन भी नहीं होता, ऐसा कथन श्री १०८ वीरसेन स्वामी ने धवल पुस्तक १ पृ० २५९-२६० पर किया है।

"तत्र भावेन्द्रियणामिव भावमनसः उत्पत्तिकाल एव सत्वादपर्याप्तकालेऽपि भावमनसः सत्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्यद्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। पर्याप्तिनिरूपणात्तदस्तित्वं सिद्धयेदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तेः पर्याप्तिव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्ति-निरूपणोपपत्तेः। न बाह्यार्थस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वं योग्यस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राक्सत्त्वविरोधात्। ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वानिरूपणमिति सिद्धम्।" अर्थ इस प्रकार है—

प्रश्न—जीव के नवीन भव को धारण करने के समय ही भावेन्द्रियों की तरह भाव मन का भी सत्व पाया जाता है, इसलिये जिस प्रकार अपर्याप्त काल में भावेन्द्रियों का सद्भाव कहा जाता है उसी प्रकार वहाँ पर भावमन का सद्भाव क्यों नहीं कहा?

उत्तर—नहीं, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य वस्तुभूत मन का अपर्याप्तिरूप अवस्था में अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमन के असत्व का प्रसंग आ जायगा।

प्रश्न—पर्याप्ति के निरूपण से ही द्रव्यमन का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि बाह्यार्थ की स्मरण शक्ति की पूर्णता में ही "पर्याप्ति" इस प्रकार का व्यवहार मान लेने से द्रव्यमन के अभाव में भी मनः पर्याप्ति का निरूपण बन जाता है। बाह्य पदार्थों की स्मरण शक्ति के पहिले द्रव्यमन का सद्भाव बन जायगा, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्यमन के योग्य द्रव्य की उत्पत्ति के पहले उसका सत्त्व मान लेने में विरोध आता है। अतः अपर्याप्त रूप अवस्था में भावमन के अस्तित्व का निरूपण नहीं करना द्रव्यमन के अस्तित्व का ज्ञापक है ऐसा समझना चाहिये।

इस उपर्युक्त आर्ष वाक्यों से यह स्पष्ट है कि लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों के भाव मन नहीं होता।

—जै. ग. 13-12-65/VIII/र. ला. जैन, मेरठ

लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की आयु (क्षुद्रभव)

शंका—जयधवल पुस्तक १ पृ० ३३० से लेकर आगे तक दिये हुए अद्धा परिमाण के अनुसार क्षुद्रभव ग्रहण का परिमाण जघन्य काल श्वासोच्छ्वास से कहीं अधिक है। फिर निगोदिया जीवों का जन्म मरण एक श्वास में १८ बार कैसे सम्भव है?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की आयु स्थिति जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अनेक प्रकार की होती है, श्वास का काल भी जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अनेक प्रकार का होता है। जैसा कि जयधवल पु० १ गाथा १५, १६, १७ व १८ से स्पष्ट है। धवल पु० १४ पृ० ५१३ पर कहा है—

"बादर निगोद अपर्याप्तकों के मरणयवमध्य को प्रारम्भ करके आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण जाने पर बाद में सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तकों के यवमध्य का प्रारम्भ होता है। सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तकों के यवमध्य के समाप्त होने पर ऊपर आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर बादर निगोद अपर्याप्तकों का मरणयवमध्य समाप्त होता है। यहाँ कितने ही आचार्य अन्तर्मुहूर्त काल कहते हैं। इस प्रकार दोनों यवों के मध्य में देशप्ररूपणा जानकर करनी चाहिये। जघन्य आयु के भीतर संचित हुए सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तकों के मरकर समाप्त होने के बाद जघन्य आयु के भीतर संचित हुए बादर निगोद अपर्याप्त जीव मरकर समाप्त होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।"

धवल पु० १४ पृ० ५१४ पर सूत्र ६५८ व ६५९ की टीका में लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोद जीवों की तथा लब्ध्यपर्याप्त बादर निगोद जीवों की आयु स्थिति के विकल्प कहे हैं।

एक श्वास अर्थात् नाड़ी में जो निगोद जीव का १८ बार जन्म-मरण कहा है, वहाँ पर स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी का प्रमाण ग्रहण करना चाहिए। जो एक मुहूर्त में ३७७३ श्वास होते हैं। क्षुद्र भव ग्रहण से लब्ध्यपर्याप्तक की मध्यम आयु स्थिति ग्रहण करनी चाहिये।

—जै. ग. 20-6-68/VI/........

क्षुद्रभव का प्रमाण

शंका—'क्षुद्र भव ग्रहण प्रमाण' का क्या अर्थ है ?

समाधान—'क्षुद्रभव' का अर्थ छोटा भव। सबसे कम आयु लब्ध्यपर्याप्तक जीव की होती है, अतः लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भव को क्षुद्र भव कहते हैं। 'क्षुद्र भव ग्रहण प्रमाण', यह काल के प्रमाण का द्योतक है। अर्थात् उनका काल जितना काल एक क्षुद्र भव का होता है। यह काल उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण होता है या एक सैकेण्ड के चौबीसवें भाग प्रमाण होता है। एक सैकेण्ड के चौबीसवें भाग प्रमाण काल को 'क्षुद्र भव ग्रहण प्रमाण' कहते हैं।

—जै. ग. 2-1-64/VIII/र. ला. जैन, मेरठ

क्षुद्रभव का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त नहीं है

शंका—धवल पु० १४ पृ० ५१४ पर शंका-समाधान से यह प्रतीत होता है कि क्षुद्रभव ग्रहण का काल अन्तर्मुहूर्त से कम है। क्या यह ठीक है ? क्षुद्रभव का काल भी अन्तर्मुहूर्त होना चाहिए ?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की आयु क्षुद्रभव है जो अन्तर्मुहूर्त काल है किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त पर्याप्तकों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण से कम है अतः क्षुद्रभव को अन्तर्मुहूर्त नहीं कहा है।

—जै. ग. 19-9-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

प्राण

द्रव्य-भाव प्राणों का स्वरूप

शंका—चैतन्य प्राण को ही भाव प्राण कहते हैं क्या ?

समाधान—मुक्त जीवों के तो शुद्ध चेतना ही भाव प्राण है। संसारी जीव के इन्द्रिय, बल, आयु और उच्छ्वास ये चार प्राण हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

> **पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।**
> **सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥ पंचास्तिकाय**

टीका—"यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धचैतन्यादिप्राणैर्जीवति तथाप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यरूपै-स्तथाशुद्धनिश्चयनयेन भावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैः संसारावस्थायां वर्तमानकाले जीवति, जीविस्सदि भाविकाले जीविष्यति यो हि स्फुटं पुव्वं जीवितः स जीवः।"

यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से शुद्धचैतन्यादि प्राणों से जीता है, तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से जो बल, इन्द्रिय, आयु व श्वासोच्छ्वास इन चार द्रव्यों प्राणों से तथा अशुद्ध निश्चयनय से बल इन्द्रिय आयु श्वासोच्छ्वास इन चार भावरूप प्राणों से जीता है, जीवेगा और पहले जीता था वह प्रकटपने में संसारी जीव है।

"पौद्गलिक द्रव्येन्द्रियादि व्यापाररूपाः द्रव्यप्राणाः। तन्निमित्तभूत ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमादि-विजृंभितचेतनव्यापाररूपा भावप्राणाः।" गो० जी० गा० १२९ टीका।

पुद्गल-द्रव्यकरि उत्पन्न द्रव्य इन्द्रियादिक तिनके प्रवर्तन रूप तो द्रव्य प्राण हैं। उनके कारणभूत ज्ञाना-वरण और वीर्य-अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट भया जो चैतन्य का व्यापार सो भावप्राण है।

—जै. ग. 30-11-72/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

द्रव्य आयुप्राण व भाव आयुप्राण आदि का स्वरूप

शंका—भाव प्राण किसे कहते हैं ? भाव आयु प्राण कौनसा है और द्रव्यायु प्राण कौनसा है ? इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास में भी ये भेद कैसे घटित होते हैं ? तथा वचन और काय में भी कैसे घटित होते हैं ?

समाधान—चैतन्य के अन्वयवाले भाव प्राण हैं और पुद्गल अन्वयवाले द्रव्य प्राण हैं। **श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ३० की टीका में कहा भी है—**

"इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणाः तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणः, पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणाः।"

अर्थ—प्राण, इन्द्रिय, बल, आयु तथा उच्छ्वास स्वरूप हैं। चित्सामान्यरूप अन्वयवाले भाव प्राण हैं और पुद्गल सामान्यरूप अन्वयवाले द्रव्यप्राण हैं।

पौद्‌गलिक आयु कर्म द्रव्य आयु प्राण है। आयु कर्मोदय होने पर नरकादि पर्याय रूप भव धारण करने की शक्ति भाव आयु प्राण है। उच्छ्वास निश्वास नाम कर्म श्वासोच्छ्वास-द्रव्यप्राण है। उच्छ्वास निश्वास रूप प्रवृत्ति करने की शक्ति श्वासोच्छ्वास भाव प्राण है। शरीर नाम कर्म कायरूप द्रव्य प्राण है। शरीर नाम कर्मोदय होने पर कायचेष्टा रूप शक्ति काय बल भाव प्राण है। स्वर नाम कर्म वचन द्रव्य प्राण है। वचन व्यापार करने की शक्ति वचन बल भाव प्राण है।

"आयुः कर्मोदये सति नारकादि पर्याय रूप भवधारण शक्ति रूपः आयुः प्राणः। उच्छ्वासनिश्वासनाम-कर्मोदय सहित देहोदये सति उच्छ्वासनिश्वास प्रवृत्तिकारणशक्तिरूप आनपानप्राणः। देहोदये शरीरनामकर्मोदये कायचेष्टा जननशक्तिरूपः कायबलप्राणः। स्वरनामकर्मोदयसहित देहोदये सति वचनव्यापारकारणशक्तिविशेष-रूपोवचोबलप्राणः।"

इसका भाव ऊपर लिखा जा चुका है।

—जै. ग. 24-8-72/VII/र. ला. जैन, मेरठ

बलप्राण व भावयोग, मनोबलप्राण व भावमन, वचनबल प्राण तथा भाव वचन आदि में अन्तर

शंका—(अ) बल प्राण एवं भाव योग में, (ब) मनोबल प्राण एवं भाव मन में, (स) वचन बल प्राण एवं भाव वचन में, (द) इन्द्रिय प्राण एवं भावेन्द्रिय में क्या अन्तर है ?

समाधान—(अ) जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। कहा भी है—"प्राणिति एभिरात्मेति प्राणाः" (धवल पु० १ पृ० २५६) कर्म-आकर्षण की शक्ति योग है। कहा भी है—"कर्माकर्षण शक्तिर्योगः" (त्रिलोकसार गाथा ८७ की टीका) "अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादान निबन्धनवीर्योत्पादो योगः।" (धवल पु० १ पृ० १४०) अथवा आत्मा की प्रवृत्ति के निमित्त से कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत वीर्य (शक्ति) की उत्पत्ति को योग कहते हैं। इस प्रकार बल, प्राण और योग में संज्ञा, लक्षण आदि के भेद से दोनों में अन्तर पाया जाता है।

(ब) मनोबल प्राण में जीव के जीने की मुख्यता है, क्योंकि, "प्राणिति जीवति एभिरिति प्राणाः" अर्थात् जिनके द्वारा जीव जीता है वे प्राण हैं, प्राण की ऐसी व्युत्पत्ति है। मन के निमित्त से आत्मा में जो विशुद्धि पैदा होती है वह भाव-मन है। कहा भी है—

"वीर्यान्तराय नोइन्द्रियावरण क्षयोपशमापेक्षात्मनो विशुद्धिर्भावमनः।" (धवल पु० १ पृ० २५९ मोक्ष शास्त्र २/११ टीका) वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह विशुद्धि भाव मन है। इस प्रकार मनोबल प्राण और भावमन में संज्ञा व लक्षण का अपेक्षा भेद होने से अन्तर है। तथापि वीर्यअन्तराय कर्म के क्षयोपशम और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की दोनों में अपेक्षा है और भाव मन के अभाव से मनोबल प्राण का अभाव हो जाता है (धवल पु० २ पृ० ४४४) इस अपेक्षा से मनोबल प्राण और भावमन में समानता है।

(स) वचन बल प्राण का तो आर्ष ग्रन्थों में कथन पाया जाता है[1] (धवल पु० २ पृ० ४१२) किन्तु 'भाव वचन' का प्रयोग किसी आर्ष ग्रन्थ में मेरे देखने में नहीं आया है। जब 'भाव वचन' ऐसी संज्ञा आर्ष ग्रंथों में नहीं मिलती तब वचन बल प्राण और भाव वचन के अन्तर का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

(द) यद्यपि इन्द्रिय प्राण और भावेन्द्रिय इन दोनों में इन्द्रियावरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म इन दोनों कर्मों के क्षयोपशम की अपेक्षा रहती है, तथापि भावेन्द्रिय प्राण मात्र क्षयोपशम रूप है और भावेन्द्रिय लब्धि (प्राप्ति) और उपयोग (व्यापार) दो रूप है। इसीलिये इन्द्रिय प्राण और भावेन्द्रिय इन दोनों में संज्ञा व लक्षण भेद है। जो इस प्रकार है—

"चक्षुरिन्द्रियाद्यावरण क्षयोपशम लक्षणेन्द्रियाणं" (धवल पु० २ पृ० ४१२) **"लब्ध्युपयोगो भावेन्द्रियम्** (मोक्षशास्त्र २/१८) **लम्भनं लब्धिः। ज्ञानावरणक्षयोपशमे सत्यात्मनोऽर्थ ग्रहणे शक्तिः लब्धिरुच्यते। आत्मनोऽर्थ-ग्रहण उद्यमोऽर्थग्रहणे प्रवर्तनमर्थग्रहणे व्यापरणमुपयोग उच्यते।" "लाभो लब्धिः। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते।"** (तात्पर्यवृत्ति तथा राजवार्तिक २/१८)। चक्षु आदि इंद्रियों के आवरण करने वाले कर्म के क्षयोपशम को इंद्रिय प्राण कहते हैं। लब्धि और उपयोग के भेद से भावेन्द्रिय दो प्रकार की है। लाभ अथवा प्राप्ति का नाम लब्धि है, ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की प्राप्ति जिसके निमित्त मे द्रव्य इंद्रियों की रचना हो, वह लब्धि है।

—जै. ग. 5-2-76/VI/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अपर्याप्त अवस्था में भाव मन तथा मनः प्राण का अभाव

शंका—संज्ञी जीवों के अपर्याप्त अवस्था में मनःप्राण व भाव मन क्यों नहीं माना गया है? जबकि अपर्याप्त काल में मनोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम पाया जाता है।

समाधान—इंद्रियों के समान 'मन' को प्राण नहीं माना गया है किन्तु मनोबल को प्राण स्वीकार किया गया है। मनोबल प्राण पर्याप्त अवस्था में ही होता है अतः अपर्याप्त अवस्था में मनोबल प्राण नहीं कहा गया। मनोबल प्राण पर्याप्ति का कार्य होने से पर्याप्त अवस्था में होता है। कहा भी है—**उच्छ्वास भाषामनोबलप्राणाश्च तत्रैव विलीनाः तेषां पर्याप्ति कार्यत्वात्।** (धवला पु० २ पृ० ४१४)। अपर्याप्त अवस्था में मन-उपयोग का अभाव होने से भाव मन का सद्भाव स्वीकार नहीं किया गया है।

---

1. परन्तु स. सि. ५/१९/५६३/ पृ २१२ में लिखा है कि—**"वाग्द्विधा-द्रव्यवाग् भाववागिति"। अर्थ—वचन दो प्रकार के हैं—द्रव्यवचन और भाववचन। इनमें से भाववचन वीर्यान्तराय और मति-श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के निमित्त से होता है। [पृ. २१२]।**

वचनबल प्राण में जीव के जीने की मुख्यता है। जबकि भाववचन में वह मुख्यता नहीं है। अतः कथंचित् भेद है। दोनों में मति-श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की अपेक्षा रहती है, अतः कथंचित् साम्य भी है।

—सम्पादक

जो कार्य करने से पूर्व कार्य-अकार्य का, तत्त्व-अतत्त्व का विचार करता है, दूसरों के द्वारा दी गई शिक्षाओं को सीखता है और नाम लेने पर आ जाता है, वह समनस्क है। यहाँ पर "लब्धि" को भाव मन नहीं माना है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

आयु, उच्छ्वास की संज्ञा 'भावप्राण' कैसे ?

शंका—पंचास्तिकाय गाथा ३० की जयसेन-तात्पर्यवृत्ति में अशुद्धनिश्चयनय से जीव के भावरूप चार प्राण बतलाये हैं। आयु और उच्छ्वास भावप्राण कैसे घटित होते हैं ?

समाधान—मृतक शरीर में तो आयु व उच्छ्वासरूप प्राण नहीं होते। अतः इन प्राणों में अन्वयरूप से रहने वाला चित्सामान्य ही भाव प्राण है। कहा भी है—

"इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भाव प्राणः।"

अर्थ—प्राण इंद्रिय, बल, आयु तथा उच्छ्वासरूप है। उन प्राणों में चित्सामान्यरूप अन्वयवाले वे भाव प्राण हैं। (पंचास्तिकाय गाथा ३० पर श्री अमृतचंद्र की टीका)।

—जै. ग. 3-4-69/VII/क्षु. श्री. सा.

संज्ञा

संज्ञाओं के स्वामी और गुणस्थान

शंका—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाएँ क्या सब जीवों के होती हैं ? यदि नहीं तो कौन से गुणस्थान तक होती हैं ?

समाधान—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ प्रमत्त गुणस्थान तक हर एक जीव के होती है। असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा का अभाव हो जाने से अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में आहार संज्ञा नहीं होती। भय प्रकृति के उदय का अभाव होने से नवें (अनिवृत्तिकरण) गुणस्थान में भय संज्ञा भी नहीं रहती और इसी गुणस्थान के अवेद भाग में वेद का उदय न रहने से मैथुन संज्ञा भी नहीं रहती। दसवें गुणस्थान के अन्त तक ही कषाय का उदय रहता है अतः उपशान्तमोह आदि गुणस्थानों में परिग्रह संज्ञा का भी अभाव हो जाने से चारों ही संज्ञाएँ नहीं होती हैं।

—जै. सं. 17-5-56/VI/मू. च. मुजफ्फरनगर

मार्गणा

मार्गणा की अपेक्षा जीव के चौदह भेद

शंका—द्रव्यसंग्रह गाथा १३ में १४ मार्गणा व १४ गुणस्थानों की अपेक्षा संसारी जीवों को १४-१४ प्रकार का कहा है। १४ मार्गणा की अपेक्षा १४ प्रकार कैसे बनेंगे ? उन १४ प्रकार के नाम क्या होंगे ?

समाधान—द्रव्यसंग्रह की गाथा १३ निम्न प्रकार है—

मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

अर्थ—संसारी जीव अशुद्धनयकी दृष्टिसे चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानों के भेद से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से सभी शुद्ध हैं। मार्गणाएँ चौदह प्रकार की होती हैं, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

गइ इंदियेसु काय जोगे वेदे कसायणाणे य ।
संयम दंसण लेस्सा भविया समत्त सण्णि आहारे ॥

अर्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार।

इन चौदह मार्गणाओं में से प्रत्येक मार्गणा के द्वारा संसारी जीवों का विभाजन हो सकता है। जैसे कुछ जीव नारकी हैं, कुछ तिर्यंच हैं, कुछ मनुष्य हैं, कुछ देव हैं। इस प्रकार गतिमार्गणा के द्वारा संसारी जीवों का विभाजन होता है। इसी प्रकार अन्य तेरह मार्गणाओं द्वारा संसारी जीवों का विभाजन होता है।

—जै. ग. 25-3-71/VII/र. ला. जैन, मेरठ

गति मार्गणा

नरक में नारकी को असुरकुमार भी पीड़ा देते हैं

शंका—नारकियों को असुरकुमार आप पीड़ा दे हैं या परस्पर लड़ावें हैं? आप पीड़ा दे हैं यह कैसे सम्भव है?

समाधान—"तेऽसुरकुमारास्तान्वज्रश्रृंखलाबद्धगुर्विमोघमहाशिलाकूटकंधरास्तस्यामेव पातयन्ति। तत्र च तेषां कृतनिमज्जनोन्मज्जनानां शिरांसि असुरनिर्मितमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतन्ति।" मूलाराधना पृ० १४ / ३४।

अर्थ—असुरकुमार वज्रकी श्रृंखला से बँधे हुए बड़े-बड़े पत्थर उनके गले में बांधकर पुनः वैतरणी में उनको ढकेल देते हैं। पड़ने पर वे उस नदी में डूबकर पुनः ऊपर आते हैं और पुनः डूब जाते हैं। असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गये मगर नामक प्राणियों के हाथ के आघात होने से उनका मस्तक फूट जाता है और वे पुनः नदी में डूब जाते हैं।

इन आगम प्रमाण से सिद्ध होता है कि असुरकुमार स्वयं भी नारकियों को पीड़ा देते हैं।

—जै. ग. 24-4-69/V/र. ला. जैन, मेरठ

नरकायु का नोकर्म आहार

शंका—मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ९५ पर नारकियों को वहाँ की माटी का भोजन मिलता है। सो कैसे सम्भव है? नारकियों के कर्म आहार लिखा है।

समाधान—मोक्ष मार्गप्रकाशक में जो नारकियों के माटी का आहार लिखा है वह गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ७८ की टीका के आधार पर लिखा है। टीका इस प्रकार है—

"नारकायुषोऽनिष्टाहारः तद्विवक्षितका नोकर्म द्रव्यकर्म।"

नरक की विषरूप माटी का अनिष्ट आहार नरक-आयु का नोकर्म है।

यदि मोक्षमार्ग प्रकाशक में यह प्रमाण टिप्पण में उद्धृत कर दिया जाता तो स्वाध्याय प्रेमियों को यह शंका उत्पन्न न होती।

—*जै. ग. 24-4-69/V/ट. ला. जैन, मेरठ*

सम्यक्त्वाभिमुख नारकी के निद्रोदय

शंका—लब्धिसार पृष्ठ ६४, गाथा २८ पर लिखा है—प्रथम सम्यक्त्व सम्मुख जीव के नरकगति विषें दर्शनावरण की निद्रादि पांच बिना च्यार का उदय है तो बारहवें गुणस्थान में निद्रा का उदय क्यों ?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख जीव के नरकगति में प्रचला व निद्रा में से किसी एक का उदय भी सम्भव है जैसा लब्धिसार की गाथा २८ के इन शब्दों से स्पष्ट है—'**णिद्दा पयलाणमेक्कदरगं तु।**' निद्रा और प्रचला ध्रुव उदय प्रकृति नहीं है। अतः इनका उदय और अनुदय दोनों सम्भव हैं। **लब्धिसार बड़ी टीका के पृ० ६५ के अन्त में तथा ६६ के प्रारम्भ में गाथा २८ की टीका में** प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख नारकी के निद्रा या प्रचला में से किसी एक का उदय कहा है।

—*जै. सं. 5-2-59/V/मां. मु. शौंधका, ब्यावर*

नरक में अग्नि, खून, मांस, धातु की पुतली आदि का प्रादुर्भाव कैसे होता है ?

शंका—नरकों में खाना बनाने आदि की आवश्यकता नहीं तो वहां आग आदि की क्या आवश्यकता पड़ी ? वहां खून मांस कहां से आया ? उनका शरीर कैसा होता है जो उनका ही मांस काट-काट कर उनको खिलाया जाता है ? वहां गर्म धातु की पुतलियां कहां से आती हैं ? धातु को किस प्रकार गर्म किया जाता है ? वहां की वैतरणी नदी क्या है ?

समाधान—नरकों में यद्यपि खाना बनाने आदि की आवश्यकता नहीं, किन्तु नरक में पंच स्थावरकाय हैं अतः अग्नि भी है। अग्नि के निमित्त से भी नारकियों को दुःख होता है। नरकों में यद्यपि द्वीन्द्रियादि तिर्यंच व मनुष्य नहीं हैं जिनके औदारिक शरीर से खून, मांस आदि की उत्पत्ति हो सके, किन्तु वहां पर वैक्रियिकशरीर ही अशुभ विक्रिया के कारण खून, मांस आदि रूप परिणम जाता है जो नारकियों के मुंह में दिया जाता है। धातु पृथिवीकाय है अतः धातु की पुतलियां होने में कोई बाधा नहीं। अग्नि भी है। धातु अग्नि के निमित्त से गर्म हो जाती है। अतः नरक में गर्म धातु की पुतलियां होने में कोई आपत्ति नहीं है। वैतरणी नदी अनेक तरंगों से उछलती है, इसमें अगाध पानी से अनेक सरोवर भरे हुए रहते हैं। विषय का सेवन जैसे तृष्णा को बढ़ाता है वैसे ही यह दुखदायक नदी प्यास को बढ़ाती है। संसार से निकलना जैसे कठिन है वैसे वैतरणी नदी में प्रवेश करने पर उसमें से बाहर निकलना नितांत कठिन है। यह नदी आशा के समान विशाल है। कर्म के पुद्गल जैसे अनेक तरह की आपत्तियों को उत्पन्न करते हैं वैसे यह नदी भी नारकियों को अनेक प्रकार के दुःख देती है। इस नदी का दर्शन

होते ही नारकियों को इसमें प्रवेश करने की उत्कंठा उत्पन्न होती है। अब हमारे सब दुःख नष्ट होंगे और हम सुख से जीयेंगे, ऐसा समझकर वे नारकी उसमें प्रवेश करते हैं। उस नदी में प्रवेश करते ही वे नारकी अपनी अजलियों से तांबे के द्रव के समान लाल रंग का पानी पीना शुरू करते हैं, परन्तु जैसे कठोर भाषण हृदय को संतप्त करता है, वैसे ही वह जल मन को अतिशय दुःख उत्पन्न करता है, अतिशय कठोर वायु से उछले हुए जलतरंग रूप तरवारियों से नारकियों के मस्तक, हाथ, पैर टूट जाते हैं। अतिशय क्षार और उष्णजल कालकूटविष के समान जब व्रणों में प्रवेश करता है तब उनको अत्यन्त दाह-दुःख होने लगता है। मूलाराधना गाथा १५६८ की टीका।

—जै. सं. 12-3-59/V/ मु. च. जैन, आगरा

नारकी अपना आगामी भव नहीं जानता

शंका—नारकी अपने अवधिज्ञान द्वारा क्या यह जान सकता है कि वह अगले भव में कहाँ पर उत्पन्न होगा ?

समाधान—नारकियों में अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र योजन प्रमाण है और काल एक समय कम मुहूर्त-प्रमाण है। कहा भी है—

"गाउअ जहण्ण-ओही णिरएसु अ जोयणुक्कस्स।" धवल पु० १३ पृ० ३२५।

नारकियों में अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र गव्यूति (एक कोस) प्रमाण है और उत्कृष्ट क्षेत्र योजन (४ कोस) प्रमाण है।

"पढमाए पुढवीए णेरइयाणमुक्कस्सोहिक्खेत्तं चत्तारिगाउअपमाणं। तस्सुक्कस्सकालो मुहुत्तं समऊणं।" धवल पु० १३ पृ० ३२६।

पहली पृथ्वी में नारकियों के अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र चार गव्यूतिप्रमाण है और उत्कृष्ट काल एक समय कम मुहूर्तप्रमाण है।

नरक से मरणकर जीव मध्य लोक में उत्पन्न होता है और यह क्षेत्र एकयोजन से बहुत अधिक है अर्थात् अवधिज्ञान के क्षेत्र से बाहर है अतः नारकी यह नहीं जान सकता कि वह मरकर कहाँ पर उत्पन्न होगा।

—जै. ग. 14-8-69/VII/ क. दे.

नरक में आत्मानुभव

शंका—क्या नरक में सम्यग्दृष्टि आत्मानुभव करता है ?

समाधान—नरक में असंयतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान वाले होते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में संयम न होने के कारण मात्र आत्मरुचि-प्रतीति-श्रद्धा-अनुभव होता है। इन्द्रिय विषयों में उसकी हेय बुद्धि होती है। चारित्रमोहनीय-कर्म के तीव्रोदय वश संयम धारण नहीं कर सकता। बाह्य-द्रव्य-क्षेत्र-काल भी संयम के अनुकूल नहीं है।

—जै. ग. 5-12-63/IX/ ब्र. प. ला.

तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रहने पर भी नारकी के बहुधा असाता का उदय

शंका—जिस जीव ने तीर्थंकरप्रकृति का बंध कर लिया है, क्या उस जीव के नरक में मात्र साता का उदय रहता है ?

समाधान—प्रथम नरक से तीसरे नरक तक ऐसे असंख्यात जीव हैं जिनके निरन्तर तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है। इनके भी बहुधा असातावेदनीयकर्म का ही उदय रहता है। नरक में असातावेदनीय के अनुकूल बाह्य-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव होने से साता का उदय नहीं होता। कहा भी है—कर्मों का उदय और उदीरणा, बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावादि निमित्तों के नहीं होती। स० सि० अध्याय ९ सूत्र ३६ की टीका, क० पा० सुत्त पृ० ४६५ व ४९८।

—जै. ग. 5-12-63/IX/ब्र. प. ला.

पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन तो नपुंसक ही होते हैं

शंका—पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में नपुंसक जीव कौन-कौन से होते हैं ?

समाधान—यावत् सम्मूर्च्छनपंचेन्द्रियतिर्यंच नपुंसक ही होते हैं।

'नारक-संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥२।५०॥' तत्त्वार्थ सूत्र।

अर्थ—नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक ही होते हैं।

तन्दुल-मच्छ यद्यपि संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यंच हैं तथापि सम्मूर्च्छन होने के कारण नपुंसक हैं। "शेषा-स्त्रिवेदाः ॥२।५२॥" तत्त्वार्थ सूत्र।

इस सूत्र द्वारा यह भी कहा गया है कि गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी नपुंसकवेदी होते हैं।

—जै. ग. 25-11-71/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

यदि तिर्यंच आयु शुभ है तो तिर्यंचगति अशुभ क्यों ?

शंका—गो० क० गा० सं० ४१ में तिर्यंच आयु को प्रशस्तप्रकृति कहा है और गाथा ४३ में तिर्यंचगति को अप्रशस्तप्रकृति कहा है। इसका क्या कारण है ?

समाधान—तिर्यंचगति में कोई जाना नहीं चाहता है, इसलिये तिर्यंचगति को अप्रशस्तप्रकृति कहा है। किन्तु तिर्यंचगति में पहुंचकर कोई मरना नहीं चाहता, अतः तिर्यंचायु को प्रशस्तप्रकृति कहा है। नरकगति में न तो कोई जाना चाहता है और न ही कोई वहाँ रहना चाहता है, अतः नरकायु तथा नरकगति दोनों को अप्रशस्त-प्रकृति कहा गया है।[1]

—जै. ग. 2-1-75/VIII/के. ला. जी. रा. शाह

---

१. नोट—यही शंका श्री जवाहरलाल जैन, भीण्डर (राज.) ने की थी। जिसके समाधान में आपने इतना विशेष कहा था—राजा शुभ को जब यह ज्ञात हुआ कि वह मरकर विष्ठा का कीड़ा होगा, तो उसने अपने पुत्र को कहा कि तुम उस [कीड़े को] मार देना, क्योंकि वह तिर्यंचगति में जाना नहीं चाहता था, किंतु राजा के वहाँ उत्पन्न होने पर जब राजा का पुत्र राजा की कीड़ेरूप पर्याय को मारने गया तो उस कीड़े ने अपनी रक्षा के लिए विष्ठा में प्रवेश कर लिया, कारण कि अब वह मरना नहीं चाहता था [आयु-क्षय नहीं चाहता था]। इससे विदित होता है कि तिर्यंच आयु प्रशस्त प्रकृति है। — सम्पादक

अधिक से अधिक मनुष्य के ४८ भव ही मिलें; ऐसा कोई नियम नहीं

शंका—दो हजार सागर के काल में मनुष्य के मात्र ४८ भव होते हैं जिसमें १६ भव पुरुष के, १६ भव स्त्री के, और १६ भव नपुंसक के होते हैं। उसी में गर्भपातादि को भी भव की गणना में माना गया है। ऐसा विद्वानों के द्वारा उपदेश में कहा जाता है। ऐसा कथन किस ग्रंथ में है ?

समाधान—उपर्युक्त कथन तथा चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का कथन इत्यादि कुछ ऐसे कथन हैं जो कि किंवदन्ती के आधार पर चले आ रहे हैं जिनका समर्थन किसी भी आर्षग्रंथ से नहीं होता है। विद्वान् बिना खोज किये किंवदन्ती के आधार पर इस प्रकार का कथन कर देते हैं जिससे ऐसी भूलों की परम्परा चल जाती है। यदि इन भूलों का खण्डन किया जाता है तो विद्वान् उससे रुष्ट हो जाते हैं। विद्वानों की विद्वत्ता इसीमें है कि ऐसी भूलों के सम्बन्ध में स्वयं स्वाध्याय द्वारा खोज करें और उन भूलों को दूर करें।

एक जीव की अपेक्षा मनुष्यपर्याय का उत्कृष्ट काल पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक तीनपल्य है। श्री षट्खण्डागम के दूसरे क्षुद्रकबंध की काल प्ररूपणा में कहा है—

"मणुसगदीए मणुसा मणुसपज्जत्ता मणुसिणी केवचिरं कालादो होंति ? ॥१९॥ उक्कस्सेण तिण्णि पलिदोवमाणि पुव्वकोडिपुधत्तेणब्भहियाणि ॥२१॥"

अर्थ—मनुष्यगति में जीव मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त व मनुष्यिनी कितने काल तक रहते हैं ? अधिक से अधिक पूर्वकोटि से अधिक तीन पल्योपम काल तक जीव मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त व मनुष्यिनी रहते हैं।

"अणप्पिदेहिंतो आगंतूण अप्पिदमणुसे सुववज्जिय सत्तेतालीसपुव्वकोडीओ जहाकमेण परिभमिय दाणेण दाणाणुमोदेण वा तिपलिदो वमाउट्ठिदि मणुस्सेसुप्पण्णस्स तदुवलंभादो।"

अर्थ—किन्हीं भी अविवक्षित पर्यायों से आकर मनुष्यों में उत्पन्न होकर सैंतालीसपूर्वकोटि काल परिभ्रमण करके दान देकर अथवा दान का अनुमोदन करके तीन पल्योपम स्थिति वाले भोगभूमिज मनुष्यों में उत्पन्न हुए जीवों के सूत्रोक्त काल पाया जाता है। अर्थात् एक जीव की अपेक्षा मनुष्यों में निरन्तर उत्पन्न होने का उत्कृष्ट काल ४७ कोटिपूर्व अधिक तीनपल्योपम है।

"अणप्पिदजीवस्स अप्पिदमणुसेसु ववज्जिय इत्थि पुरिसणवुंसयवेदेसु अट्ठट्ठपुव्वकोडीओ परिभमिय अपज्जत्तएसुववज्जिय तत्थ अंतोमुहुत्तमच्छिय पुणो इत्थिणवुंसयवेदेसु अट्ठट्ठ पुव्वकोडीओ पुरिसवेदेसु सत्त पुव्वकोडीओ हिंडिय देवुत्तरकुरवेसु तिण्णि पलिदोवमाणि अच्छिय देवेसुववण्णस्स पुव्वकोडिपुधत्त ब्भहियतिण्णि पलि दोवममुवलंभा।" धवल पु० ४ पृ० ३७३।

अर्थ—अविवक्षित जीव के विवक्षित मनुष्यों में उत्पन्न होकर स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदियों में क्रमशः आठ-आठ पूर्वकोटियों तक परिभ्रमण करके लब्ध्यपर्याप्तकों में उत्पन्न होकर वहां पर अन्तर्मुहूर्त काल रहकर पुनः स्त्री और नपुंसकवेदियों में आठ-आठ पूर्वकोटियों तथा पुरुषवेदियों में सात पूर्वकोटि परिभ्रमण करके देवकुरु अथवा उत्तरकुरु में तीन पल्योपम तक रह करके देवों में उत्पन्न होने वाले जीव के ४७ पूर्वकोटियों से अधिक तीन पल्योपम पाये जाते हैं।

मनुष्यों में निरन्तर रहने का यह उत्कृष्टकाल त्रसपर्याय के दो हजार सागर के उत्कृष्टकाल में मात्र एक बार ही प्राप्त होगा ऐसा नियम नहीं है। इस ४७ पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम काल में मात्र ४८ ही भव प्राप्त होंगे ऐसा भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अधिक भव भी संभव हैं।

षट्खंडागम के उपर्युक्त सूत्रों में और धवल टीका में मात्र उत्कृष्टकाल का निरूपण है भवों की संख्या का कथन नहीं है। भवों की संख्या कपोलकल्पित है जिसका मेल आर्षग्रन्थ से नहीं है। लब्ध्यपर्याप्त के अन्तर्मुहूर्त काल में मनुष्यअपर्याप्त के २४ भव संभव हैं।

आशा है कि विद्वत्मण्डल इस पर आर्षग्रन्थों के आधार से विचार करेगा।

—जै. ग. 20-11-69/VII/ब्र. स. सच्चिदा.

लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य निगोदिया नहीं हैं

शंका—मोक्षमार्ग-प्रकाशक में लिखा है—"मनुष्यगति विषै असंख्याते जीव तो लब्ध्यपर्याप्तक हैं, वे सम्मूर्च्छन हैं, उनकी आयु श्वास के अठारहवें भाग है।" क्या ये जीव निगोदिया हैं ? लब्ध्यपर्याप्तक का क्या अर्थ है ?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्य निगोदिया नहीं होते हैं, किन्तु संज्ञीपंचेन्द्रिय अपर्याप्त हैं। लब्ध्यपर्याप्तक का अर्थ है, जिन की छह पर्याप्तियां पूर्ण नहीं होती हैं। अपर्याप्त अवस्था में ही मरण हो जाता है। इनकी आयु श्वांस के अठारहवें भाग अर्थात् एक सैकिंड के चौबीसवें भाग होती है।

—जै. ग./12-3-70/VII/ जि. प्र.

सम्मूर्च्छन मनुष्य आंखों से नहीं दिखते

शंका—'श्रावकधर्मसंग्रह' में लिखा है—'स्त्री की योनि आदि स्थानों में सम्मूर्च्छन सैनी पंचेन्द्रिय जीव सदा उत्पन्न होते हैं'। जब सम्मूर्च्छनमनुष्य सैनी पंचेन्द्रिय हो गये तो अपर्याप्त नहीं रहे ? यदि अपर्याप्त भी हों तो वे आंखों से दिखाई देने चाहिये जैसे बिच्छू वगैरह दिखाई देते हैं मगर ऐसा क्यों नहीं है ?

समाधान—मनुष्य सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं (१) गर्भज (२) सम्मूर्च्छन। जो गर्भज मनुष्य होते हैं वे पर्याप्तक ही होते हैं। गर्भज कर्मभूमियां मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व की होती है और भोगभूमियां की उत्कृष्ट आयु तीनपल्य की होती है।

सम्मूर्च्छनमनुष्य आर्यखण्ड की स्त्रियों के योनि आदि स्थानों में उत्पन्न होते हैं। ये लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं, इनकी आयु एक सैकिण्ड के चौबीसवें भागमात्र होती है, इनकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवेंभाग बराबर होती है। अतः ये आंख से दिखाई नहीं देते हैं।

—जै. ग. 5-3-70/IX/जि. प्र.

मनुष्य, तिर्यंच के रक्त में आत्म प्रदेश हैं; कीटाणुओं में नहीं

शंका—शरीर में खून आदि में जो कीटाणु हैं उनके द्वारा रोके गये स्थान में आत्मप्रदेश हैं या नहीं ? तथा खून में भी आत्मप्रदेश हैं या नहीं ?

समाधान—खून के कीटाणुओं के शरीर में मनुष्य के आत्मप्रदेश नहीं होते हैं, क्योंकि उन कीटाणुओं का शरीर प्रत्येक शरीर है। प्रत्येक शरीर एक ही आत्मा के उपभोग का कारण होता है। कहा भी है—

"शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम।" स० सि० ८।११।

खून में आत्म प्रदेश होते हैं, क्योंकि खून के भ्रमण करने पर आत्मप्रदेशों का भी भ्रमण होता है।

—जै. ग. 25-3-76/VII/ट. ला. जैन, मेरठ

मनुष्यगति मार्गणा का काल

शंका—धवल पु० ५ पृ० ५१-५५ पर मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यिनी के प्रकरण में मनुष्य से क्या मतलब है ? इसमें कौन-कौन शामिल हैं ? तथा 'मनुष्यों का ४८ पूर्व कोटि, मनुष्य पर्याप्त का २४ पूर्व कोटि तथा मनुष्यणी का ८ पूर्व कोटि' से क्या अभिप्राय है।

समाधान—'मनुष्य' से प्रयोजन है ऐसा जीव जिसके मनुष्यगति का उदय हो। इसमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों नाम कर्म के उदय वाले जीव लिये गये हैं। 'मनुष्य पर्याप्त' में केवल पर्याप्त नाम कर्मोदय वाला जीव लिया गया है अपर्याप्त कर्मोदय वाला नहीं। मनुष्य व मनुष्यपर्याप्त में तीनों वेद वाले जीव हैं। मनुष्यणी में मनुष्यगति व पर्याप्त नामकर्मोदय वाला केवल स्त्रीवेदी जीव लिया गया है।

आठकोटि पूर्व पुरुषवेदी पर्याप्त मनुष्य, आठ पूर्वकोटि नपुंसकवेदी पर्याप्त मनुष्य और आठ पूर्वकोटि स्त्रीवेदी पर्याप्त मनुष्य इस प्रकार २४ पूर्वकोटि होकर अन्तर्मुहूर्त के लिये अपर्याप्त मनुष्य (लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य) हुआ। पुनः पूर्ववत् २४ पूर्वकोटि तक मनुष्य में भ्रमण किया। इस प्रकार यह ४८ पूर्वकोटि उत्कृष्ट काल कर्मभूमिया मनुष्यों में भ्रमण करने का, एक जीव की अपेक्षा है। मनुष्य अपर्याप्त से पूर्व के २४ पूर्वकोटि काल मनुष्य पर्याप्त की अपेक्षा उत्कृष्टकाल है। इन २४ पूर्वकोटि में से स्त्रीवेदी को ८ पूर्वकोटि काल मनुष्यणी की अपेक्षा है। यह सब कर्मभूमिया की अपेक्षा उत्कृष्ट काल है।

—जै. ग. 25-1-62/VII/ध ला. सेठी, खुरई

मनुष्य-अपर्याप्तों में स्पर्शन

शंका—महाबंध पु० २ पृ० १०९ पर मनुष्यअपर्याप्त जीवों में सात कर्मों के जघन्यस्थिति के बंधक जीवों का स्पर्शन लोक का असंख्यातवां भाग कहने में सैद्धान्तिक हेतु क्या है ? सर्वलोक क्यों नहीं ?

समाधान—जब असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यंच मरकर मनुष्य अपर्याप्तकों में उत्पन्न होता है उस मनुष्य अपर्याप्तक के प्रथम व दूसरे समय में सात कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध होता है (महाबन्ध पु० २ पृ० ४२, २९४ व २८८)। जघन्य स्थितिबन्धक मनुष्य अपर्याप्तकों के उस समय मारणान्तिक समुद्घात नहीं हो सकता। असंज्ञीपंचेन्द्रिय

तिर्यंचों का तथा मनुष्य अपर्याप्तों का स्पर्शन क्षेत्र लोकका असंख्यातवाँ भाग है। अतः जघन्य स्थितिबन्धक मनुष्य अपर्याप्तों का स्पर्शन क्षेत्र लोकका असंख्यातवाँ भाग कहा।

—जै. ग. 17-1-63/....... /........

देवगति से भी मनुष्यगति की दुर्लभता

शंका—आपने एक स्थल पर लिखा कि 'देवपर्याय मिलना कठिन नहीं है वे असंख्यात हैं, किन्तु पर्याप्त मनुष्य तो संख्यात (२६ अंक) प्रमाण हैं। देवों का क्षेत्र ७ घन राजू है और मनुष्यों का क्षेत्र ४५ लाख योजन है, अर्थात् देवों से मनुष्यों का क्षेत्र भी स्तोक है और आयु भी अल्प है। इसलिये पर्याप्त मनुष्य पर्याय मिलना कठिन है।' इस पर शंका यह है कि जिस प्रकार देवों की संख्या मनुष्यों से असंख्यातगुणी है उसी प्रकार देवों की आयु भी असंख्यातगुणी है, तब वहाँ के उत्पत्ति स्थान की रिक्तता अधिक काल पश्चात् होती होगी। फिर क्या देवपर्याय मिलना कठिन नहीं है ?

समाधान—मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यनियों में जन्म का उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और देवों में भी अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि धवल पु० ९ में मनुष्यपर्याय और मनुष्यनियों में औदारिकशरीर संघातनकृतिका अन्तर पंचेन्द्रिय तिर्यंचपर्याप्त व योनिमतियों के समान अर्थात् अन्तर्मुहूर्त कहा है, और देवों में वैक्रियिक शरीर की संघातन कृतिका अन्तर नारकियों के समान अर्थात् अन्तर्मुहूर्त कहा है। (धवल पु० ९ पृ० ४०४-४०७)। अंतर समान होते हुए भी देवगति में असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं और मनुष्यों में संख्यात जीव उत्पन्न होते हैं (धवल पु० ९ पृ० ३६०)। देवों में निरन्तर उत्पन्न होने का काल आवलिका असंख्यातवाँ भाग अर्थात् असंख्यात समय है और मनुष्यों में निरन्तर उत्पन्न होने का काल संख्यातसमय है। धवल पु० ९ पृ० ३८४-३८५।

इससे जाना जाता है कि देवों की अपेक्षा पर्याप्त मनुष्यों में उत्पन्न होना अति कठिन है। इसलिये मनुष्य आयु का प्रत्येक क्षण बहुमूल्य है इसको संयम के बिना व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। संयम मनुष्यपर्याय में ही हो सकता है, अन्य पर्यायों में नहीं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारों गति में हो सकती है। अतः मनुष्यपर्याय पाकर जिसने संयम धारण नहीं किया उसने इस दुर्लभ पर्याय को व्यर्थ ही भोगों में बरबाद करदी।

—जै. ग. 19-9-66/IX/र. ला. जैन, मेरठ

एक भवावतारी देव

शंका—कौन-कौन देव देवगति से च्युत होकर अगले भव में ही मोक्ष जाते हैं ?

समाधान—त्रिलोकसार में इन देवों का कथन है—

> सोहम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
> लोयंतिय सव्वट्ठा तदो चुदा णिव्वुदिं जांति ॥५४८॥

अर्थ—सौधर्मइन्द्र, शची (पट्ट) देवी, सौधर्मस्वर्ग के सोम आदि चार लोकपाल, सनत्कुमार आदि दक्षिण इन्द्र, सर्व लौकान्तिक देव, और सर्व सर्वार्थसिद्धि के देव तहाँ से चयकर मनुष्य होय निर्वाण को प्राप्त होय हैं।

—जै. ग. 27-6-66/IX/ हे. च.

एक देव के मरण के बाद उसके स्थान पर दूसरे देव की उत्पत्ति का अन्तर आदि

शंका—सौधर्म आदि स्वर्ग के देवों के जन्म और मरण का कितना अन्तराल है ?

समाधान—त्रिलोकसार में देवों के जन्म और मरण का अन्तराल निम्न प्रकार कहा है—

> दुसुदुसु ति चउक्केसु य सेसे जणणंतरं तु चवणे य ।
> सत्तदिण पक्ख मासं दुगचदुछम्मासगं होदि ॥५२९॥
> वरविरहं छम्मासं इंदमहादेविलोयवालाणं ।
> चउ तेत्तीस सुराणं तणुरक्खसमाण परिसाणं ॥५३०॥

अर्थात्—जितने काल तक किसी भी देव का जन्म न हो सो जन्मांतर है और जितने काल किसी भी देव का मरण न हो सो मरणांतर है। सौधर्मादि दो स्वर्ग में जन्मांतर और मरणांतर का उत्कृष्ट काल सात दिन, ऊपर दोस्वर्ग में एकपक्ष, उससे ऊपर चारस्वर्ग में एकमास, फिर चारस्वर्ग में दोमास, फिर चारस्वर्ग में चारमास, उससे ऊपर ग्रैवेयक आदि में छहमास उत्कृष्ट जन्मांतर मरणांतर है ॥५२९॥ एकदेव का मरण हो जाय और उसके स्थान पर जब तक दूसरा देव उत्पन्न न हो उसको विरहकाल कहते हैं। इंद्र, इन्द्र की महादेवी और लोकपाल इनका उत्कृष्ट विरहकाल छहमास है। त्रायस्त्रिंशत, अंगरक्षक, सामानिक और परिषद इन चार जाति के देवों का उत्कृष्ट विरहकाल छह मास है ॥५३०॥

एक जीव सौधर्मादिस्वर्ग से चय कर कम से कम कितने काल के पश्चात् उसी स्वर्ग में उत्पन्न हो सकता है, यह अन्तर निम्न प्रकार है—

भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी व सौधर्म-ईशान स्वर्ग से चयकर संज्ञीपर्याप्त गर्भोपक्रान्तिक तिर्यंच या मनुष्य होकर देवायु बांध पुनः भवनवासी आदि देवों में उत्पन्न हुए जीव का उक्त देवगति से जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। सनत्कुमार-माहेन्द्र का मुहूर्तपृथक्त्व, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर लान्तवकापिष्ठ का दिवसपृथक्त्व, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार का पक्षपृथक्त्व, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत का मासपृथक्त्व, नौग्रैवेयक का वर्षपृथक्त्व तथा यही अनुदिशादि अपराजितपर्यन्त का जघन्य अन्तर है। धवल पु० ७ पृ० १९०-१९६।

—जै. ग. 27-6-66/IX/हे. च.

मनःप्रवीचारी देवों के भी देवियाँ चाहिए

शंका—ऊपर के स्वर्गों में जहाँ पर मन में विचार करने मात्र से प्रवीचार होता है, वहाँ पर देवांगनाओं की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—मन में देवांगनाओं का विचार करने मात्र से प्रवीचार होता है। मन में अपनी ही देवांगना का विचार करना चाहिये। अन्य दूसरे देव की देवांगना का मन में विचार करने से तो ब्रह्मचर्य में दोष आता है। अतः १६ वें स्वर्ग तक प्रत्येक देव के देवांगना होती है, किन्तु लौकान्तिक देवों के देवांगना नहीं होती, क्योंकि उनके प्रवीचार नहीं है।

—जै. ग. 9-1-64/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

देवियों की माला का मुरझाना

शंका—क्या देवांगनाओं की मृत्यु से छह माह पूर्व माला नहीं मुरझाती।

समाधान—जो स्वर्ग से च्युत होकर तीर्थंकर होते हैं उन की माला नहीं मुरझाती। देवांगना मरकर तीर्थंकर नहीं हो सकती, अतः उनकी माला मृत्यु से छह माह पूर्व मुरझा जाती है। त्रिलोकसार गाथा १८५।

—जै. ग. 27-6-66/IX/ हे. च.

स्वर्ग में "मद्य" पान से अभिप्राय

शंका—स्वर्ग के दशांग भोगों में 'मद्य' भी है। तो क्या देव मद्यपान करते हैं ?

समाधान—'मद्य' शब्द 'मद' से बना है। मद का अर्थ 'हर्षातिरेक' तथा 'वीर्य' भी है। अतः यहाँ पर मद्यपान का अभिप्राय शराब पीने का नहीं लेना चाहिये, किन्तु हर्षविभोर अथवा वीर्यवर्द्धक वस्तु पान से प्रयोजन है।

—जै. ग. 23-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जैन

लौकान्तिक देव कौन हैं ?

शंका—पाँचवें स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि तक के क्या सब देव लौकांतिक हैं ?

समाधान—पाँचवें स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि तक के सब देव लौकान्तिक नहीं हैं, किन्तु पाँचवें ब्रह्मलोक स्वर्ग के प्रान्त भाग में रहने वाले देव लौकान्तिक कहलाते हैं।

"ब्रह्मलोकोलोकः तस्यान्तो लोकान्तः तस्मिन्भवा लौकान्तिका इति न सर्वेषां ग्रहणम्। तेषां हि विमानानि ब्रह्मलोकस्यान्तेषु स्थितानि।" सर्वार्थसिद्धि ४।२४।

—जै. ग 1-1-70/VIII/ टो. ला. मि.

देव, नारकी संख्यात वर्षायुष्क कैसे ?

शंका—धवल पुस्तक ११ पृ० ९० पर देव नारकियों को संख्यात वर्षायुष्क बताया, असंख्यात वर्षायुष्क नहीं, सो किस अपेक्षा से ?

समाधान—प्रकाशन में अशुद्धि के कारण यह शंका हुई है। शुद्ध इसप्रकार है—सचमुच में वे (देवनारकी) असंख्यात वर्षायुष्क ही नहीं हैं, किन्तु संख्यातवर्षायुष्क भी हैं। *क्योंकि यहाँ एक समय अधिक पूर्वकोटि को आदि लेकर आगे के आयु विकल्पों को असंख्यातवर्षायु के भीतर स्वीकार किया गया है।*

देव और नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तैंतीस सागर होती है अर्थात् देव व नारकियों की आयु एक कोटि पूर्व से कम व अधिक होने से देव व नारकी संख्यातवर्षायुष्क भी हैं और असंख्यात-वर्षायुष्क भी हैं, किन्तु भोगभूमिया जीवों की आयु एक कोटिपूर्व से अधिक ही होती है अतः भोगभूमिया असंख्यात-वर्षायुष्क ही होते हैं, संख्यातवर्षायुष्क नहीं होते। किन्तु धवल पु० ११ पृ० ८८ सूत्र ८ में देव व नारकियों को असंख्यातवर्षायुष्क कहा है, क्योंकि उनमें अधिकतर एक कोटिपूर्व से भी अधिक आयुवाले होते हैं। अन्यत्र भोग-भूमिया को ही असंख्यातवर्षायुष्क की संज्ञा दी है।

—पत्राचार/ब. प्र. स., पटना

एक देव के देवियों की संख्या

शंका—तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय ४ में लिखा है 'देवों के देवी ३२ नहीं होती यानी ५-६ तक भी होती हैं। गोम्मटसार में ३२ लिखी हैं सो कैसे ?

समाधान—देवों में सबसे अधिक संख्या ज्योतिष देवों की है, उनके ३२ देवियाँ होती हैं अतः गोम्मटसार में उनकी मुख्यता से कथन है किन्तु अन्य सभी देवों की ३२ देवियाँ नहीं होती ५-६ तक भी होती हैं इस अपेक्षा से राजवार्तिक में कथन है। अतः इन दोनों कथनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

—जै. सं. 30-10-58/V/ ब्र. चं. ला.

ऐशान स्वर्ग तक के देवों में मनुष्यवत् कामसेवन है, तदपि उनके शरीर शुक्रशोणित से रहित हैं

शंका—दूसरे स्वर्ग तक के देव मनुष्यों की तरह काम सेवन करते हैं, अतः उनका जन्म भी मनुष्यों की तरह गर्भज होना चाहिये, उपपाद जन्म क्यों कहा गया है ?

समाधान—दूसरे स्वर्ग तक के देव मनुष्यों की तरह काम सेवन करते हैं। **"एते भवनवास्यादय ऐशानान्ताः संक्लिष्टकर्मत्वान्मनुष्यवत्स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थः। सर्वार्थसिद्धिः। ४।७।**

अर्थ—भवनवासी से लेकर ऐशान स्वर्ग तक के देव संक्लिष्टकर्म वाले होने के कारण मनुष्यों के समान स्त्रीविषयकसुख का अनुभव करते हैं।

देवों के वैक्रियिकशरीर में शुक्र और शोणित नहीं होता है अतः उनका गर्भ-जन्म नहीं हो सकता है।

"स्त्रिया उदरे शुक्रशोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भः।" सर्वार्थसिद्धि २।३१।

अर्थ—स्त्री के उदर में शुक्र और शोणित के परस्पर गरण अर्थात् मिश्रण को गर्भ कहते हैं।

—जै. ग. 5-3-70/IX/ जि. प्र.

सौधर्म ऐशान तक के देव मनुष्यवत् काम सेवन करते हैं

शंका—भवनत्रिक तथा सौधर्म व ईशान स्वर्ग में प्रवीचार किस प्रकार होता है ?

समाधान—भवनत्रिक तथा सौधर्म-ईशान स्वर्गों में काय से प्रवीचार होता है। कहा भी है—**"सोहम्मीसाणेसुं देवा सव्वे वि काय पडिचारा।"** ति० प० ८/३३६।

"भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्काः सौधर्मैशानस्वर्गयोश्च देवाः संक्लिष्टकर्मत्वाद् मनुष्यादिवत् संवेशसुखमनुभवन्ति इत्यर्थः।" तत्त्वार्थवृत्ति ४/७।

"काय प्रवीचाराः संक्लिष्टकर्मत्वात् मनुष्यवत् स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थः।" रा० वा० ४।७।

इन आर्ष प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिष-सौधर्म-ईशानस्वर्ग तक के देव मनुष्यों के सदृश काम सेवन के द्वारा स्त्रीविषयक-सुख का अनुभव करते हैं।

—जै. ग. 8-8-74/VI/रो. ला. मित्तल

इन्द्रिय मार्गणा

एकेन्द्रियों में हिताहित का विवेक

शंका—क्या एकेन्द्रिय वनस्पति में इतनी शक्ति है जो अपने भले बुरे की सोच सकता है ?

समाधान—एकेन्द्रियजीव के मन नहीं होता, तथापि मति-श्रुत ये दो ज्ञान होते हैं। इन ज्ञानों के द्वारा ही उस एकेन्द्रियजीव की हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति होती है। कहा भी है—'मन के बिना वनस्पतिकायिक जीवों के हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति देखी जाती है। धवल पु० १ पृ० ३६१।'

जै. ग. 31-10-63/IX/ सु. आ. सा.

रसनादि इन्द्रियाँ स्पर्श करके तथा स्पर्श किये बिना भी जानती हैं

शंका—गोम्मटसार में लिखा है कि एकेन्द्रियजीव के स्पर्शनइन्द्रिय का विषय-क्षेत्र ४०० धनुष है, दो इन्द्रिय जीव के रसनाइन्द्रिय का विषय-क्षेत्र ६४ धनुष है। तो क्या वस्तु के इतने दूर होने पर भी उनको इन्द्रियों द्वारा उस वस्तु का ज्ञान हो जाता है ? अथवा इसका कुछ अन्य अभिप्राय है ?

समाधान—स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ प्राप्त अर्थ को भी ग्रहण करती हैं। कहा भी है—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अप्पुट्ठं चेय पस्सदे रूवं।
गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि ॥५४॥ धवल पु. ९ पृ. १५९

अर्थ—चक्षु रूपको अस्पृष्ट ही ग्रहण करती है, च शब्द से मन भी अस्पृष्ट ही वस्तु को ग्रहण करता है। शेष इन्द्रियाँ गंध, रस, स्पर्श को बद्ध अर्थात् अपनी-अपनी इन्द्रियों में नियमित व स्पृष्ट ग्रहण करती हैं, च शब्द से अस्पृष्ट भी ग्रहण करती हैं। 'स्पृष्ट शब्द को सुनता है' यहाँ भी बद्ध और च शब्द को जोड़ना चाहिये, क्योंकि ऐसा न करने से दूषित व्याख्यान की आपत्ति आती है।

इस आर्षवाक्य से यह सिद्ध हो जाता है कि स्पर्शनइन्द्रिय व रसनाइन्द्रिय पदार्थ को स्पर्श करके भी जानती है और दूरवर्ती पदार्थ को बिना स्पर्श किये भी जानती है। कहा भी है—

'वनस्पतिष्वप्राप्तार्थग्रहणस्योपलंभात्। तदपि कुतोऽवगम्यते ? दूरस्थनिधिमुद्दिश्य प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तेः।' धवल पु० ९ पृ० १५७।

अर्थ—वनस्पतियों में अप्राप्त अर्थ का ग्रहण पाया जाता है, क्योंकि दूरस्थ निधि (खाद्य आदि) को लक्ष्य करके प्रारोह (शाखा) का छोड़ना अन्यथा बन नहीं सकता।

"एइंदिएसु फासिंदियस्स अपत्तणिहिग्गहणुवलंभादो। तदुवलंभो च तत्थ पारोहमोच्छणादुवलब्भदे। घाणिंदिय-जिब्भिंदियफासिंदियाणमुक्कस्सविसओ णव जोयणाणि। जदि एदेसिमिंदियाणमुक्कस्सखओवसमगदजीवो णवसु जोयणेसु ट्ठिददव्वेहिंतो विप्पडिय आगदपोग्गलाणंजिब्भा—घाण—फासिंदिएसु लग्गाणं रस-गंध-फासे जाणदि तो समंतदो णवजोयणब्भंतरट्ठिदगूहभक्खणं तग्गंधजणिद असादं च तस्स पसज्जेज्ज। ण च एवं, तिब्बिंदियखओवसम-

णवचक्कवट्टीणं पि असायसायरंतोपवेसप्पसंगादो। किंच-तिव्वक्खओवसमगदजीवाणं मरणं पि होज्ज, णवजोयण-ब्भंतरट्ठियविसेण जिब्भाए संबंधेण घादियाण णवजोयणब्भंतरट्ठिदअग्गिणा डज्झमाणाणं च जीवणाणुववत्तीदो।" धवल पु० १३ पृ० २२६।

अर्थ—एकेन्द्रियों में स्पर्शन, इन्द्रिय अप्राप्त निधि को ग्रहण करती हुई उपलब्ध होती है और यह बात उस ओर प्रारोहको छोड़ने से जानी जाती है। घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय नौ योजन है। यदि इन इन्द्रियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त हुआ जीव नौ योजन के भीतर स्थित द्रव्यों में से निकलकर आये हुए तथा जिह्वा, घ्राण और स्पर्शनइन्द्रिय से लगे हुए पुद्गलों के रस, गंध और स्पर्श को जानता है तो उसके चारों ओर से नौयोजन के भीतर स्थित विष्टा के भक्षण करने का और उसकी गंध के सूंघने से उत्पन्न हुए दुःख का प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर इन्द्रियों के तीव्र क्षयोपशम को प्राप्त हुए चक्रवर्तियों के भी असातारूपी सागर के भीतर प्रवेश करने का प्रसंग आता है। दूसरे, तीव्र क्षयोपशम को प्राप्त हुए जीवों का मरण भी हो जायगा, क्योंकि, नौ योजन के भीतर स्थित विष का जिह्वा के साथ सम्बन्ध होने से घात को प्राप्त हुए और नौ योजन के भीतर स्थित अग्नि से जलते हुए जीवों का जीना नहीं बन सकता है। (परन्तु ऐसा होता नहीं।)

—जै. ग. 5-1-70/VII/ का. ना. कोठारी

चार इन्द्रियों से मात्र अर्थावग्रह संभव है

शंका—क्या चार शेष इन्द्रियों से 'मात्र' अर्थावग्रह भी होता है? 'मात्र' से यहाँ मेरा तात्पर्य है ऐसा अर्थावग्रह जो व्यंजनावग्रह पूर्वक नहीं हुआ हो।

समाधान—चार इन्द्रियों से मात्र अर्थावग्रह भी होता है, क्योंकि ये अप्राप्यकारी भी हैं। **धवल पु० १३** पृ० २२५ पर व्यंजनावग्रह का कथन है अतः उससे मात्र अर्थावग्रह का निषेध नहीं होता। (**देखिये धवल पुस्तक १३ पृ० २२० अन्तिम शंका-समाधान, धवल पु० ९ पृ० १५६–१५७**)।

—पत्राचार 7-4-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी तथा अप्राप्यकारी हैं

शंका—राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र १९ वार्तिक १ और २ से यह विदित होता है कि आचार्य श्री अकलंकदेव चक्षु व मन के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानना ही इष्ट समझते हैं, किन्तु सर्वार्थसिद्धिकार श्री पूज्यपाद तथा श्री वीरसेन आचार्य ने तो चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकार माना है। क्या इसप्रकार के दो भिन्न-भिन्न मत हैं?

समाधान—श्री अकलंकदेव ने उक्त वार्तिक २ में चक्षु व मन को तो अप्राप्यकारी ही माना है, किन्तु शेष चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी व अप्राप्यकारी दोनों प्रकार का माना है—

"चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषाणामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहः, सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थावग्रहः" इति चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह होता है अर्थात् वे प्राप्यकारी हैं। सभी इन्द्रियों से अर्थावग्रह होता है अर्थात् सर्व इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं।

इसप्रकार श्री पूज्यपाद आचार्य व श्री वीरसेन आचार्य का जो मत है, वही मत श्री अकलंकस्वामी का है। इन आचार्यों में कोई मत भेद नहीं है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

किन-किन कर्मों के उदय से जीव एकेन्द्रिय होता है ?

शंका—ज्ञानपीठ से प्रकाशित त. रा. वा. पृ० १३५ व सर्वार्थसिद्धि पृ० १८० पर स्पर्शनइन्द्रिय की उत्पत्ति का कथन है, उन दोनों कथनों में अन्तर क्यों है ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि अ० २ सूत्र २२ पृ० १८० पर लिखा है—

"वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये च शरीरनामलाभावष्टम्भे एकेन्द्रियजातिनामोदय वशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति।"

अर्थ—वीर्यान्तराय तथा स्पर्शनइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर और शेष इन्द्रियों के सर्वघाती-स्पर्धकों के उदय होने पर तथा शरीरनामकर्म के आलम्बन के होने पर और एकेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय की आधीनता के रहते हुए एक स्पर्शनइन्द्रिय प्रकट होती है।

इसी प्रकार त रा. वा. में कथन है, किन्तु वहाँ पर **'शरीरनामलाभावष्टम्भे'** के स्थान पर **'शरीरांगोपांग-लाभोपष्टम्भे'** है जो लेखक की भूल प्रतीत होती है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीव के **'शरीरांगोपांग'** का उदय नहीं होता है। कहा भी है—

पंचेव उदयठाणा सामण्णेइंदियस्स णायव्वा।
इगि चउ पडछ सत्त य अधियावीसा य होइ णायव्वा ॥१९२॥ पंचसंग्रह पृ. ३७९

अर्थ—*इन्द्रिय मार्गणा की अपेक्षा सामान्यतः एकेन्द्रियजीव के* २१, २४, २५, २६, २७ प्रकृतिक ये पाँच उदयस्थान नामकर्म के होते हैं।

नामकर्म की २१ प्रकृतिक उदयस्थान की प्रकृतियाँ इसप्रकार हैं—

तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, तैजस और कार्मणशरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघुक, स्थावर, बादर और सूक्ष्म इन दो में से कोई एक, पर्याप्त और अपर्याप्त में से एक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यशकीर्ति और अयशकीर्ति में से एक, निर्माण।

इन २१ प्रकृतियों में से आनुपूर्वी को घटाकर (औदारिक शरीर, हुंडकसंस्थान, उपघात, प्रत्येक तथा साधारणशरीर में से एक) इन चार प्रकृतियों को मिला देने पर नामकर्म का २४ प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

पर्याप्तएकेन्द्रिय के पूर्वोक्त २४ प्रकृतियों में परघात मिलाने पर २५ का उदयस्थान होता है। इसमें उच्छ्वास प्रकृति मिला देने पर २६ का उदयस्थान होता है। धवल पु० ७ पृ० ३६–३९।

उपरोक्त उदय प्रकृतियों से स्पष्ट हो जाता है कि एकेन्द्रियजीव के शरीरांगोपांग का उदय नहीं होता है। अतः रा. वा. पृ० १३५ पर **"शरीरांगोपांगलाभोपष्टम्भे"** यह लेखक की भूल का परिणाम प्रतीत होता है। विद्वान् इस पर विचार करने की कृपा करें।

—जै. ग. 3-4-69/VII/ क्ष. श्री. सा.

निगोद के इन्द्रियाँ

शंका—निगोदिया जीव के कितनी इन्द्रियाँ मानी जाती हैं तथा उसे किस प्रकार समझाना चाहिये ?

समाधान—निगोदिया जीव वनस्पति का एक भेद है अतः इसके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। वह अन्य एकेन्द्रियों के समान दो प्रकार होता है—बादर और सूक्ष्म। सूक्ष्म निगोदियाजीव सर्वत्र जल, स्थल और आकाश में भरे पड़े हैं। किन्तु बादर निगोदिया जीव अन्य प्रत्येक वनस्पति और त्रसकायिक जीवों के शरीर के आश्रय से रहते हैं। मात्र पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आहारकशरीर, देव, नारकी और केवली इनके शरीर के आश्रय से निगोदिया जीव नहीं रहते। प्रत्येक वनस्पतिकायिक के दो भेद किये जाते हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक-वनस्पति और अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति। इनमें जो सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति है उसमें निगोद जीव होने से ही वह सप्रतिष्ठित कही जाती है, जैसे–आलू, मूली और अदरख आदि। ये बहुत काल तक बिना आश्रय के भी सजीव रहते हैं। इसका कारण निगोदजीवों का उनमें प्रतिष्ठित होना ही है।

—जै. सं. 6-12-56/VI/ ल. च., धरमपुरी धार

अपर्याप्त एकेन्द्रिय में मोह के उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व का अभाव

शंका—सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त के मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति सत्त्व क्यों नहीं होता ?

समाधान—जिस मनुष्य या तिर्यंच ने मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति बंध सित्तर कोड़ाकोड़ी प्रमाण किया है, वह यदि मरकर सूक्ष्म ऐकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में उत्पन्न होता है तो उत्कृष्ट स्थिति बंध के अंतर्मुहूर्त पश्चात् ही उत्पन्न हो सकता है; इसके पहले नहीं। अतः सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव के मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति सत्त्व नहीं कहा है।[1]

—जै. ग. 4-1-68/VII/ब्र. कु. ब.

विभिन्न एकेन्द्रियों की आयु

शंका—जीवसमास में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, इतर निगोद, नित्य निगोद इन छह के सूक्ष्म और बादर के भेद से १२ तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति को मिलाकर १४ भेद हो जाते हैं। इन चौदह के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से जीवसमास में स्थावर के २८ भेद हो जाते हैं। इन २८ स्थावरों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु क्या है ?

समाधान—स्थावर के इन २८ भेदों में से १४ जीव लब्ध्यपर्याप्तक हैं, उनकी एक भव सम्बन्धी जघन्य व उत्कृष्ट आयु उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है। छह प्रकार के सूक्ष्म पर्याप्तक जीवों की जघन्य व उत्कृष्ट आयु अन्तर्मुहूर्त है। शेष आठ प्रकार के बादर पर्याप्त स्थावर जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट आयु

---

१. स्मरण रहे कि यहाँ अपर्याप्तक की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त कम कहा है। पर्याप्त की अपेक्षा तो एक समय कम ७० कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सत्त्व बन जाता है। यथा—जो देव मोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करके और दूसरे समय में मरकर एकेन्द्रिय में उत्पन्न होते हैं उन एकेन्द्रियों में मोहनीय की स्थिति का उत्कृष्ट अद्धाच्छेद (काल) एक समय कम ७० कोड़ाकोड़ी सागर पाया जाता है। जयधवल ३/११।   —सम्पादक

बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त की बाईस हजार वर्ष, बादर अपकायिक पर्याप्त की सात हजार वर्ष, बादर तेजकायिक पर्याप्त की तीन दिवस, बादर वायुकायिक पर्याप्त की तीन हजार वर्ष, बादर प्रत्येक प्रतिष्ठित वनस्पतिकायिक पर्याप्त और बादर प्रत्येक अप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिक पर्याप्त इन दोनों की १०,००० वर्ष है। बादर नित्यनिगोद पर्याप्त और बादर इतरनिगोद पर्याप्त इन दोनों की उत्कृष्ट आयु अन्तर्मुहूर्त है। देखो धवल पु० ७ पृ० १३३-१४६।

—जै. ग. 16-5-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

निगोदों का शरीर एवं आहार एक (Common) ही होता है

शंका—निगोदिया जीवों का औदारिक शरीर पृथक्-पृथक् होता है, क्योंकि उनका आहार पृथक्-पृथक् है, अर्थात् सब अलग-अलग आहार वर्गणा ग्रहण करते हैं ?

समाधान—विग्रहगति में निगोदिया जीव अनाहारक रहते हैं (तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र ३०)। अनंतानंत निगोदिया जीवों का एक ही शरीर होता है और आहार भी एक ही होता है। (गो० जी० गाथा १९१ व १९२)। इन अनन्त निगोदिया जीवों के औदारिक शरीर व आहार पृथक्-पृथक् नहीं होते। यदि इनके औदारिक शरीर पृथक्-पृथक् हों तो अनन्तानन्त जीव असंख्यात प्रदेशी लोक में नहीं रह सकते थे।

—जै. ग. 10-7-67/VII/र. ला. जैन, मेरठ

एकेन्द्रियों में चेतना आगम गम्य है

शंका—पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेजकायिक तथा वायुकायिक एकेन्द्रिय जीवों में चेतना कैसे जानी जाय ? जबकि जीव का लक्षण चेतना है। हम कैसे जानें कि इनमें जीव है, जिसका लक्षण चेतना है।

समाधान—भरतक्षेत्र में आजकल प्रायः सब जीवों के मति व श्रुतज्ञान है जो क्षयोपशमिक है अर्थात् मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मों के देशघातिया स्पर्द्धकों का निरन्तर उदय रहता है। अतः ज्ञानावरण कर्म के उदय के कारण क्षेत्रांतरित, कालांतरित और सूक्ष्म आदि पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे सुदर्शन-मेरु, माउन्ट एवरेस्ट, विदेहक्षेत्र, ज्योतिषलोक आदि क्षेत्रों का राम, रावण, राणाप्रताप आदि पूर्वजों का और परमाणु, द्विअणुक आदि सूक्ष्म पुद्गलों का तथा पर के मन में स्थितभावों का अथवा सूक्ष्मगुणों का हमको ज्ञान नहीं हो सकता, किंतु आगम प्रमाण से हमको ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेजकायिक तथा वायुकायिक एकेन्द्रिय जीवों में चेतना का ज्ञान आगमप्रमाण से हो जाता है। यदि इंद्रियजनित प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रमाण माना जावे तो सांसारिक व्यवहार व मोक्षमार्ग सर्व का लोप हो जावेगा।

—जै. सं. 12-2-59/V/रा. कै. जैन, पटना

भावेन्द्रियों का आधार [बाह्याधार] द्रव्येन्द्रियाँ हैं

शंका—इंद्रियों का आधार मन है या आत्मा ?

समाधान—इंद्रियावरण रूप मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो इंद्रियजनित मतिज्ञान होता है उसका आधार आत्मा है। असंज्ञी जीवों में इंद्रियजनित मतिज्ञान होता है अतः इस क्षायोपशमिक इंद्रियजनित

मतिज्ञान का आधार मन में नहीं कहा जाता है। क्योंकि यह मतिज्ञान इंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से और इंद्रियों के निमित्त से उत्पन्न होता है अतः इस मतिज्ञान को भावेन्द्रिय भी कहा गया है। कहा भी है—

"लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" ॥२-१८॥ (तत्त्वार्थ सूत्र)।

अर्थ—लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

"ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः लब्धि। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः तदुभये भावेन्द्रियम्। इंद्रिय फलमुपयोगः, तस्य कथमिन्द्रियत्वम् ? कारणधर्मस्य कार्य दर्शनात्।" सर्वार्थसिद्धि।

अर्थ—ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। जिसके संसर्ग से आत्मा द्रव्य इंद्रियों की रचना करता है। उसे लब्धि व द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से जो जाननेरूप आत्मा के परिणाम होते हैं उस आत्म-परिणाम को उपयोग कहते हैं। लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियाँ हैं। यदि कहा जाय कि उपयोग इंद्रिय का फल है, वह इंद्रिय कैसे हो सकता है ? तो आचार्य कहते हैं कि "कारण का धर्म कार्य में देखा जाता है, अतः इंद्रिय के फल उपयोगरूप ज्ञान को इंद्रिय मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

लघीयस्त्रय टीका में भी कहा है—

"अर्थ-ग्रहण-शक्तिः लब्धिः। उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः।"

अर्थ—अर्थग्रहण की शक्ति लब्धि है। अर्थग्रहणरूप व्यापार उपयोग है।

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि भावेन्द्रियों का आधार पुद्गलद्रव्य है, क्योंकि द्रव्येन्द्रियाँ पुद्गल-परिणाम हैं।

—जै. ग. 2-4-70/VII/टो. ला. मि.

सिद्धालय में भी एकेन्द्रिय हैं

शंका—सिद्धक्षेत्र में कौन कौन प्रकार के जीव पाये जाते हैं ?

समाधान—लोक के अन्त में सिद्ध क्षेत्र है। एकेन्द्रिय जीव तथा पाँच स्थावरकाय जीवों का सर्व क्षेत्र है। कहा भी है—

"तदनंतरमूर्ध्वं गच्छंत्यालोकांतात् ॥१०।५॥ (तत्त्वार्थसूत्र) कर्मों से मुक्त हो जाने के पश्चात् जीव अर्थात् सिद्ध जीव लोक के अंत तक जाता है, क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है।

"इंदियाणुवादेण एइंदिया बादरा सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता केवडिखेत्ते, सव्वलोगे ॥१७॥"

—धवल पु० ४ पृ० ८१।

"कायाणुवादेण पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया बादरपुढविकाइया बादरआउकाइया बादरतेउकाइया बादरवाउकाइया बादरवणप्फदिकाइय पत्तेयसरीरा तस्सेव अपज्जत्ता, सुहुमपुढविकाइया सुहुम-

आउकाइया सुहुमतेउकाइया सुहुमवाउकाइया तस्सेव पज्जत्ता अपज्जत्ता य केवडि खेत्ते सव्वलोगे ॥२२॥"

—धवल पु० ४ पृ० ८७।

द्वादशांग के इन दोनों सूत्रों में यह बतलाया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों तथा पृथिवीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक जीवों का क्षेत्र सर्वलोक है।

सिद्ध जीव लोक के अंत में हैं अर्थात् सिद्ध क्षेत्र लोक के अन्त में है और एकेन्द्रिय जीवों का क्षेत्र सर्वलोक है, अतः सिद्धक्षेत्र में एकेन्द्रिय जीव भी पाये जाते हैं।

—जै. ग. 1-6-72/VII/र. ला. जैन, मेरठ

एकेन्द्रियों का निवास सर्वलोक में

शंका—क्या एकेन्द्रिय तिर्यंच समस्त लोक में रहते हैं ? यदि रहते हैं तो किस प्रकार ?

समाधान—एकेन्द्रिय तिर्यंच समस्त लोक में रहते हैं। "इंदियाणुवादेण एइंदिया बादरासुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे ॥१/३/१७॥ षट्खंडागम।

अर्थ—इन्द्रियमार्गणा के अनुवाद से एकेन्द्रिय जीव, बादर एकेन्द्रिय जीव, सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव, पर्याप्त तथा अपर्याप्त कितने क्षेत्र में रहते हैं ? सर्वलोक में।

श्री वीरसेन आचार्य ने इस सूत्र की टीका में लिखा है—

"सत्थाण-वेदण-कसाय-मारणंतिय-उववादगदा एइंदिया केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे।" धवल पु० ४ पृ ८२।

अर्थ—स्वस्थान, वेदना-समुद्घात, कषाय-समुद्घात, मारणान्तिक-समुद्घात और उपपाद को प्राप्त एकेन्द्रिय जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं ? सर्व लोक में रहते हैं।

—जै. ग. 8-1-70/VII/ रो. ला. मि.

सर्प त्रीन्द्रिय जाति में परिगणित नहीं है

शंका—सर्प क्या तीन इन्द्रिय होता है ?

समाधान—सर्प पंचेन्द्रिय जीव होता है। आर्ष ग्रन्थों में सर्प को पंचेन्द्रिय लिखा है। यदि सर्प को तीन इन्द्रिय वाला जीव माना जाय तो वे मर कर नरक में उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि विकलत्रय जीवों का उत्पाद नरक में नहीं होता है। सर्प का उत्पाद नरक में होता है, अतः वह पंचेन्द्रिय-जीव है।

पढमधरंतम सण्णी पढमंबिदियासु सरिसओ जादि।
पढमादीतदियंतं पक्खि भुयंगादि यायए तुरिमं ॥४/२८४॥ ति० प०

अर्थ—प्रथम पृथिवी के अन्त तक असंज्ञी पंचेन्द्रिय जाता है। प्रथम और द्वितीय नरक में सरीसृप (सांप) जाता है। पहिले से तीसरे नरक पर्यंत पक्षी जाता है। चौथे नरक तक भुजंगादि जीव उत्पन्न होते हैं।

—जै. ग. 11-5-72/VII/... ....

देव नारकी के कितनी इन्द्रियाँ हैं ?

शंका—देव व नारकी कितनी इन्द्रिय वाले जीव हैं ? अगर वे पंचेन्द्रिय हैं तो संज्ञी हैं या असंज्ञी ?

समाधान—देव व नारकी संज्ञी पचेन्द्रिय जीव हैं। धवल पु० २ पृ० ४४९ पर नारकियों के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव समास कहा है तथा पृ० ५३२ पर देवों के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव समास कहा है।

"संज्ञिनां समनस्कानां नारकदेव मनुष्यादीनां पंचेन्द्रिय पर्याप्तानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रेन्द्रियमनो-वचनकायप्राणापानायुष्याः दश प्राणाः १० भवंति।" स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १४० टीका।

अर्थ--संज्ञी समनस्क पंचेन्द्रिय पर्याप्त नारकी देव मनुष्यों के पांच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचन बल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दस प्राण होते हैं।

इससे स्पष्ट है कि देव नारकी संज्ञी पचेन्द्रिय जीव हैं।

—जै. ग. 5-3-70/IX/ जि. व.

एकेन्द्रिय को विकलेन्द्रिय नहीं कह सकते

शंका—द्वीन्द्रिय आदि को विकलेन्द्रिय क्यों कहा ? एकेन्द्रिय को विकलेन्द्रिय कहा जा सकता है क्या ?

समाधान—इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। जिसके ये पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं वह सकलेन्द्रिय अर्थात् समस्त इन्द्रियों वाला होता है। जिसके समस्त अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ नहीं होती हैं कम होती हैं वह विकलेन्द्रिय अर्थात् असमस्त इन्द्रियों वाला होता है। आर्ष ग्रन्थों में द्वीन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीवों को विकल कहा है। ये ही विकल त्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं। आर्ष ग्रन्थों में एकेन्द्रिय जीव को विकलेन्द्रिय संज्ञा नहीं दी गई है।

—जै. ग. 24-12-70/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

उत्कृष्ट आयु बन्धक बा० ए० अ० का स्पर्शन

शंका—**आयु की उत्कृष्ट स्थिति बन्धक जीव अल्प होते हुए भी अतीत काल की अपेक्षा अनन्त हैं अतः बादर एक इन्द्रिय अपर्याप्त व औदारिक मिश्र काय योग मार्गणाओं में उनका स्पर्शन क्षेत्र सर्व लोक होना चाहिये था; लोक का असंख्यातवाँ भाग क्यों कहा ?**

समाधान—एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त जीवों का स्पर्शन क्षेत्र (मारणान्तिक समुद्घात व उपपाद के अतिरिक्त) लोक का संख्यातवाँ भाग है (धवल पु० ७ पृ० ३९३)। इनमें भी उत्कृष्ट आबाधा के साथ उत्कृष्ट आयु बाँधने वाले जीव अति अल्प हैं। जिनका स्पर्शन क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग है। यद्यपि अतीत काल की अपेक्षा उनकी संख्या अनन्त है, किन्तु उनका स्पर्शन क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग ही रहता है, क्योंकि उत्कृष्ट आयु बंध के समय मारणान्तिकसमुद्घात व उपपाद नहीं होता।

औदारिक मिश्र काय योग में आयु का बंध लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के होता है। लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में सूक्ष्म जीव भी हैं, जो सर्व लोक में भरे हुए हैं। अतः औदारिक मिश्र काय योग में उत्कृष्ट आयु के बंधक जीवों का

स्पर्शन क्षेत्र सर्वलोक है (महाबंध पु० ३ पृ० २२५)। महाबंध पु० २ पृ० १०५ पर 'ओरालिय मि० अट्ठाण्णं' के स्थान पर 'ओरालिय मि० सत्ताण्णं' होना चाहिये।

—जै. ग. 17-1-63/..../ब्र. प. ला.

विकलत्रय का क्षेत्र

शंका—अढ़ाई द्वीप से भिन्न द्वीप-समुद्रों में विकलत्रय होते हैं या नहीं ?

समाधान—विकलत्रय जीव अढ़ाई द्वीप में तथा स्वयंप्रभ पर्वत से परे भाग में अर्थात् स्वयम्भूरमण द्वीप तथा स्वयम्भूरमण समुद्र में पाये जाते हैं। किन्तु वैरी जीवों के सम्बन्ध से विकलेन्द्रिय जीव सर्वत्र तिर्यक् प्रतर के भीतर होते हैं। देखो धवल पु० ४ पृ० २४३ तथा धवल पु० ७ पृ० ३९५-९६।

—जै. ग. 4-1-68/VII/म्रा. कु. ब.

स्वर्ग, नरक में विकलत्रय नहीं हैं

शंका—विकलत्रय तथा स्थावर जीव नरक या स्वर्ग में हैं या नहीं ?

समाधान—विकलत्रय जीव तिर्यग्लोक में पाये जाते हैं, स्वर्ग व नर्क में नहीं होते। सूक्ष्म स्थावर जीव लोक में सर्वत्र पाये जाते हैं। श्री वीरनन्दि सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य ने आचारसार अध्याय ११ श्लोक १६७ में कहा भी है—

आधारे बादराः सूक्ष्माः सर्वत्र त्रसनालिगाः।
त्रसास्तु विकलाक्षाः स्युस्तिर्यग्लोके व्यवस्थिताः ॥१६७॥

अर्थ—बादर जीव किसी के आधार से रहते हैं। सूक्ष्म समस्त लोक में भरे हुए हैं। त्रस जीव त्रस नाली में रहते हैं। विकलत्रय तिर्यग्लोक में रहते हैं।

—जै. ग. 4-1-68/VII/म्रा. कु. ब.

द्वीन्द्रियादि जीवों का भागाभाग

शंका—धवल पु० ३ पृ० ३२१ पर द्वीन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय और पांच-इन्द्रिय जीवों का कथन है, इन चारों में किसकी संख्या अधिक और किसकी संख्या अल्प है समझ में नहीं आया ? भागाभाग भी समझ में नहीं आया ?

समाधान—धवल पु० ३ पृ० ३१९ पर भागाभाग का कथन है। उससे ज्ञात होता है कि पंचेन्द्रिय जीव स्तोक हैं, चतुरिन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं, त्रीन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं, और द्वीन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। अङ्क संदृष्टि से समझ में आ सकता है जो इस प्रकार है—

मानलो त्रस मिथ्यादृष्टि जीवों का प्रमाण २६२४४०० है और आवली का असंख्यातवां भाग ९ है।

त्रस मिथ्यादृष्टि जीव को आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर २६२४४०० ÷ ९ = २९१६०० ॥ इसको त्रस राशि में घटाने पर २६२४४०० — २९१६०० = २३३२८०० शेष रहते हैं। इसके चार समान खण्ड करने पर ५८३२००, ५८३२००, ५८३२००, ५८३२०० आते हैं।

२९१६०० को आवली के असंख्यातवें भाग ९ से भाग देने पर २९१६००÷९=३२४००। २९१६००—३२४००=२५९२०० को प्रथम समान खण्ड में जोड़ने पर ५८३२००+२५९२००=८४२४०० द्वीन्द्रिय जीवों का प्रमाण॥ ३२४००÷९=३६००; ३२४००—३६००=२८८००; इसको दूसरे समान खंड में जोड़ने पर ५८३२००+२८८००=६१२००० तीन-इंद्रिय जीवों का प्रमाण॥ ३६००÷९=४००; ३६००—४००=३२००; इसको तीसरे समान खंड में जोड़ने पर ५८३२००+३२००=५८६४०० चार-इन्द्रिय जीवों का प्रमाण॥ ५८३२००+४००=५८३६०० पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण॥

—जै. ग. 7-12-67/VII/र. ला. जैन, मेरठ

द्वीन्द्रियादि का अल्पबहुत्व

शंका—पर्याप्त विकलत्रय तथा पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों में अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

समाधान—चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक जीव अल्प हैं, उनसे पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव विशेष अधिक हैं। इनसे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव विशेष अधिक हैं, इन द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों से त्रीन्द्रिय पर्याप्तक जीव विशेष अधिक हैं। श्री धवल पु० ३ पृ० ३२७ पर कहा भी है—

"त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के अवहार काल मे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों का अवहारकाल विशेष अधिक है। द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों के अवहारकाल से पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों का अवहारकाल विशेष अधिक है। पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के अवहार-काल से चतुरिन्द्रियपर्याप्तकों का अवहारकाल विशेष अधिक है।

चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकों की विष्कंभ सूची से पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों की विष्कंभ सूची विशेष अधिक है। पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों की विष्कंभ सूची से द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों की विष्कंभ सूची विशेष अधिक है। द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों की विष्कंभ सूची से त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों की विष्कंभ सूची विशेष अधिक है।"

यहाँ पर अवहारकाल से प्रयोजन भागाहार अथवा भाजक से है। ज्यों-ज्यों भागाहार अधिक होता जायगा त्यों-त्यों द्रव्य प्रमाण कम होता जायगा। इसलिये इस आगम प्रमाण से उपर्युक्त अल्प बहुत्व फलितार्थ होता है। श्री स्वामी कार्तिकेय ने लोकानुप्रेक्षा में कहा भी है—

चउरक्खा पंचक्खा बेयक्खा तह य जाण तेयक्खा।
एदे पज्जत्तिजुदा अहिया अहिया कमेणेव॥ १५५॥

अर्थ—चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकों से पंचेन्द्रिय पर्याप्तक अधिक हैं। पचेन्द्रिय पर्याप्तकों से द्वीन्द्रिय पर्याप्तक अधिक हैं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तकों से त्रीन्द्रिय पर्याप्तक अधिक हैं।

—जै. ग. 14-12-67/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

बादर व सूक्ष्म जीवों में भेद

शंका—स्थावर जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार से कहे हैं। सूक्ष्म जीवों की अवगाहना बादर जीवों से अधिक होती है, किन्तु बादर जीवों का तो घात होता है, सूक्ष्म जीवों का घात नहीं होता; ऐसा क्यों ?

समाधान—यह ठीक है कि कुछ बादर जीवों से सूक्ष्म जीवों की अवगाहना असंख्यातगुणी है जैसे पंचेन्द्रिय (बादर) अपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना से सूक्ष्मनिगोद निर्वृत्तिपर्याप्तक जीव की अवगाहना असंख्यातगुणी है। [**षट्खंडागम वेदना खंडवेदन क्षेत्र विधानअल्पबहुत्व सूत्र ४६-४७**]। इसलिये अवगाहना की हीनता–अधिकता के कारण सूक्ष्म व बादर भेद नहीं हैं, किन्तु सूक्ष्म और बादर नाम कर्मोदय के कारण सूक्ष्म व बादर भेद हैं। कहा भी है—

बादर-सुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तद्देहा। घादसरीरं थूलं अघाद–देहं हवे सुहुमं ॥१८३॥ गो० जी०

अर्थात्—बादर नाम कर्म और सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से शरीर बादर और सूक्ष्म होता है। जो शरीर घात को प्राप्त हो जावे वह बादर शरीर और जो घात को प्राप्त न हो वह सूक्ष्म शरीर है।

"परैर्मूर्तद्रव्यैरप्रतिहन्यमानशरीर-निर्वर्तकं सूक्ष्म कर्म। तद्विपरीतशरीरनिर्वर्तकं बादर कर्मेतिस्थितम्।"

अर्थ—इस कथन से यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थों से प्रतिघात नहीं होता है ऐसे शरीर को निर्माण करने वाला सूक्ष्म नाम कर्म है, और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थों से प्रतिघात को प्राप्त होने वाले शरीर को निर्माण करने वाला बादर नाम कर्म है **धवल पु० १ पृ० २५३**।

अतः बादर शरीर अवगाहन में हीन होता हुआ भी मूर्त पदार्थों से प्रतिघात को प्राप्त होता है और सूक्ष्म शरीर अवगाहन में अधिक होते हुए भी दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा प्रतिघात को प्राप्त नहीं होता है। यही बादर व सूक्ष्म नाम कर्म की विशेषता है।

—जै. ग. 27-6-66/IX/ श्रा. ला.

किस ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को 'लब्धि' कहा गया है ?

शंका—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र १८ वाँ इसप्रकार है—लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। इसकी सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि 'ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः लब्धिः।' यहाँ यह शंका होती है कि दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम को लब्धि क्यों नहीं कहा ? अर्थात् 'ज्ञानदर्शनावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः लब्धिः', ऐसा क्यों नहीं कहा ? पाँच ज्ञानावरण में से यहाँ किन–किन ज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम को लब्धि कहा है, यह भी स्पष्ट करें।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २, सूत्र १८ में दर्शनोपयोग या ज्ञानोपयोग की अपेक्षा कथन नहीं है। इसमें तो द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय; इन दो प्रकार की इन्द्रियों में से भावेन्द्रिय का कथन है। इस सूत्र का अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि उनमें '**तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्**' सूत्र लागू नहीं होता है। यह (अ० १ सूत्र १४) सूत्र मात्र मतिज्ञान से सम्बन्धित है। द्वितीय अध्याय के चौदहवें सूत्र में बताया गया है जो द्वीन्द्रिय आदि जाति वाले जीव हैं वे त्रस हैं। इस सूत्र में आये हुए 'इन्द्रिय' शब्द का विशेष विवरण **सूत्र १५, १६, १७ तथा १८** में है। प्रथम अध्याय के चौदहवें सूत्र '**तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्**' का सम्बन्ध दर्शन से भी नहीं है। अतः अठारहवें सूत्र का सम्बन्ध भी दर्शनोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, अवधि लब्धि, मनःपर्यय लब्धि व मनःपर्ययज्ञानोपयोग से नहीं है। दर्शन इन्द्रियनिमित्तक नहीं है। उपयोग जब बाह्य पदार्थ को ग्रहण नहीं करता है तब वह अन्तरङ्ग में रहता है। इस स्थिति में दर्शनोपयोग होता है। उस दर्शन (दर्शनोपयोग) के पश्चात् यदि चक्षुइन्द्रिय से मतिज्ञान हुआ हो तो उस दर्शन को '**चक्षुदर्शन**' संज्ञा दी जाती है। यदि दर्शन के पश्चात् चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से मतिज्ञान हुआ हो तो उस दर्शन को '**अचक्षुदर्शन**' संज्ञा दी जाती है। यदि दर्शन

के पश्चात् अवधिज्ञान होता है तो उस दर्शन को "अवधिज्ञान" संज्ञा दी जाती है। इसलिये अठारहवें सूत्र का सम्बन्ध मतिज्ञान लब्धि तथा मतिज्ञानोपयोग के अतिरिक्त अन्य ज्ञान लब्धि व अन्य ज्ञानोपयोग से नहीं है और न ही दर्शन लब्धि या दर्शनोपयोग से है।

पत्राचार /अगस्त ७७/ ज. ला. जैन, भीण्डर

भावेन्द्रिय व भावमन को पौद्गलिक कहने का कारण

शंका—इन्द्रिय व मन की सहायता से मतिज्ञान उत्पन्न होता है। द्रव्य और भाव के भेद से इन्द्रिय व मन दो-दो प्रकार के हैं। भावेन्द्रिय तो ज्ञान स्वरूप है। फिर उसको पौद्गलिक क्यों कहा जाता है ?

समाधान—'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।' लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय है।

"ज्ञानावरणक्षयोपशमे सत्यात्मनोऽर्थग्रहणे शक्तिः लब्धिरुच्यते। आत्मनोऽर्थग्रहण उद्यमोऽर्थग्रहणे प्रवर्तनमर्थग्रहणे व्यापरणमुपयोग उच्यते। ननु इन्द्रियफलमुपयोगः, तस्य इन्द्रियफलभूतस्य उपयोगस्य इन्द्रियत्वं कथम् ? इत्याह-सत्यम्। कार्यस्य कारणोपचारात्।" तत्त्वार्थ वृत्ति २/१८।

ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मा में अर्थ ग्रहण करने की शक्ति को लब्धि कहते हैं। अर्थ-ग्रहण करने के लिये आत्मा का उद्यम अथवा प्रवृत्ति रूप व्यापार को उपयोग कहते हैं। कोई प्रश्न करता है कि उपयोग तो इन्द्रिय का फल है। इन्द्रियों के फल स्वरूप उपयोग को इन्द्रिय क्यों कहा गया है ? आचार्य कहते हैं—यद्यपि यह सत्य है तथापि कार्य में कारण का उपचार करके उपयोग को इन्द्रिय कहा गया है।

पौद्गलिक द्रव्येन्द्रिय व ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम इन दोनों कारण होने पर भावेन्द्रिय होती है, क्योंकि भावेन्द्रिय का कारण पौद्गलिक है अतः भावेन्द्रिय को पौद्गलिक कहा जाता है।

"भावमनोऽपि लब्ध्युपयोगलक्षणम्। तदपि पुद्गलावलम्बनं पौद्गलिकमेव।" तत्त्वार्थवृत्ति ५/१९।

लब्धि उपयोग लक्षण वाला भाव मन भी पुद्गल के अवलम्बन के कारण पौद्गलिक है।

—जै. ग. 7-1-71/VII/ रो. ला. मि.

प्रथम से चतुर्दश गुणस्थान तक के जीव पंचेन्द्रिय होते हैं; इसका अभिप्राय

शंका—धवला में एक सूत्र है कि—पहले गुणस्थान से १४ वें गुणस्थान तक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। आप इस ग्रन्थ को भाव की अपेक्षा मानते हों तो बतायें कि १३-१४ वें गुणस्थान में भावइन्द्रिय कैसे संभव है ? द्रव्य-इन्द्रिय संभव है सो आप धवला में द्रव्य की अपेक्षा कथन मानते नहीं। इस सूत्र में भाव की अपेक्षा कैसे घटित होता है ?

समाधान—षट्खंडागम ग्रन्थ में भाव की अपेक्षा कथन है जैसा कि धवल पुस्तक १ पृष्ठ १३१ पर कहा है। शंकाकार का जिस सूत्र से अभिप्राय है वह सूत्र ३७, धवल पु० १ पृ० २६२ पर है। यह सूत्र भी भाव की अपेक्षा है। १३-१४ वें गुणस्थान में पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय रहता है। पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुये औदयिकभाव १३ वें १४ वें गुणस्थान में पाये जाते हैं। इस सूत्र ३७ में द्रव्येन्द्रिय या भावेन्द्रिय से

प्रयोजन नहीं है। यदि द्रव्येन्द्रिय से अभिप्राय हो तो विग्रहगति में द्रव्येन्द्रिय का अभाव होने से वहाँ पर जीव पंचेन्द्रिय नहीं हो सकेगा। यदि भावेन्द्रिय से प्रयोजन हो तो १३ वें १४ वें वाले पंचेन्द्रिय नहीं हो सकते। अतः इस सूत्र ३७ में पंचेन्द्रिय जातिनामकर्म के उदय की विवक्षा है। धवला पु० १ पृ० २६४।

—जै सं. 30-10-58/V/ ब्र. चं. ला.

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय की संख्या

शंका—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय आदि जीवों का प्रमाण बतलाते हुए सर्व जीवराशि के अनन्त खण्ड करने पर उनमें से बहुभाग प्रमाण एकेन्द्रिय जीव और शेष एक खण्ड प्रमाण विकलेन्द्रियादि जीव होते हैं। प्रश्न यह है कि एकेन्द्रिय जीव तो अनन्त हैं और विकलेन्द्रियादि जीव असंख्यात हैं फिर उनकी समानता कैसी ?

समाधान—एकेन्द्रियों के अतिरिक्त शेष विकलेन्द्रियादि जीव असंख्यात हैं। वे असंख्यात होते हुए भी सर्व जीवराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण ही तो हैं। सर्व जीवराशि अनन्तानन्त है उसको अपने-अपने योग्य अनन्त का भाग देने से संख्यात, असंख्यात व अनन्त लब्ध आता है। अतः सर्व जीवराशि को ऐसे अनन्त से भाग दिया जावे जिससे असंख्यात लब्ध आवे और वह असंख्यात विकलेन्द्रियादि जीवों के प्रमाण के बराबर हो। सर्व जीवराशि के इस अनन्तवें भाग को समस्त जीवों की संख्या में से घटा देने पर शेष सर्व जीवों के अनन्त बहुभाग एकेन्द्रियों का प्रमाण अनन्तानन्त आता है।

—जै. सं. 4-10-56/VI/ कपू. दे. गया

द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशों का भ्रमण

शंका—षट्खण्डागम प्रथम खण्ड सूत्र ३३ पत्र ११६-११७ (शास्त्राकार) की पंक्ति १६ में इन्द्रिय मार्गणा का स्वरूप करते हुए जो समाधान किया है, वह समझ में नहीं आया है क्योंकि यदि द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीव प्रदेशों का भ्रमण नहीं माना जावे तो अत्यन्त द्रुतगति से भ्रमण करते हुए जीवों को भ्रमण करती हुई पृथ्वी आदि का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए आत्मप्रदेशों का भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिए। कृपया समझावें—आत्मप्रदेश कैसे भ्रमण करता है ?

समाधान—कभी-कभी बालक बहुत तेजी के साथ चक्कर लाते हैं अर्थात् पृथ्वी पर एक स्थान पर खड़े होकर तेजी से चारों ओर घूमते हैं अथवा किसी बाँस के खम्भे को पकड़ कर उस बाँस के चारों ओर घूमते हैं। जब वे तेजी से घूमते-घूमते थक जाते हैं तो उनको चक्कर अर्थात् घिरणी आ जाती है। उस समय उनकी द्रव्य इन्द्रियों के आत्मप्रदेश बहुत शीघ्रता से भ्रमण करते हैं जिसके कारण उन बालकों को पृथ्वी भ्रमण करती हुई दिखलाई देती है। यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि यदि यह माना जावे कि इन्द्रिय प्रमाण जीव प्रदेशों का भ्रमण नहीं होता तो तेजी से गोल चक्कर रूप घूमने वाले उन बालकों को भी पृथ्वी घूमती हुई दिखाई न देती, किन्तु उन बालकों को पृथ्वी घूमती हुई दिखलाई देती है। अतः द्रव्य इन्द्रिय प्रमाण जीवप्रदेश भी भ्रमण करते हैं। काँच के एक बर्तन में पानी गर्म होने को रख दो। उस पानी में एक लाल रंग (पोटेशियम परमेंगनेट) की कणिका डाल दो तो यह दिखाई देगा कि नीचे का लाल रंग का पानी गर्म होकर ऊपर आता है और ऊपर का सफेद पानी उसके स्थान पर नीचे जाता है। इस प्रकार काँच के उस बर्तन में जल नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे भ्रमण करता हुआ गर्म होता है। इसीप्रकार से जीव के सिर के प्रदेश पैरों में और पैरों के प्रदेश सिर की ओर भ्रमण करते हैं।

— जै. सं. 24-5-56/VI/ कपू. दे. गया

शंका—स० सि० २/७ [सम्पा० पं० फूलचन्दजी शास्त्री] के विशेवार्थ से यह शंका होती है कि आभ्यन्तर निवृत्तिरूप जो आत्मप्रदेश हैं क्या वे सब भी अपने स्थान से हटकर उनके स्थान पर अन्य आत्मप्रदेश आकर आभ्यन्तर निवृत्ति रूप बन जाते हैं या पूर्व निवृत्तिरूप आत्मप्रदेशों में से कुछ आत्मप्रदेश तो ज्यों के त्यों निवृत्तिरूप बने रहते हैं और कुछ आत्मप्रदेश भ्रमण कर जाते हैं तथा उनके स्थान पर अन्य आत्मप्रदेश पूर्व निवृत्तिरूप आत्मप्रदेशों के साथ हो जाते हैं ?

समाधान—आत्मा के ८ मध्यप्रदेश तो हमेशा अचल हैं, अर्थात् उनका पारस्परिक सम्बन्ध नहीं छूटता[1], किन्तु शेष आत्मप्रदेश चल भी हैं अथवा चलाचल भी हैं। अभिप्राय यह है कि शेष आत्मप्रदेशों में से कुछ चलायमान हो जाते हैं और कुछ अचल रहते हैं, अथवा (कदाचित) शेष सब ही आत्मप्रदेश चलायमान हो जाते हैं। कहा भी है—

"सर्वकालं जीवाष्टमध्यप्रदेशा निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव, केवलीनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशाः स्थिता एव, व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानाम् इतरे प्रदेशाः अस्थिता एव, शेषाणां जीवानां स्थिताश्चास्थिताश्च।" रा० वा० ५।८।१६।

अर्थ—सब जीवों के ८ मध्य के प्रदेश सर्वकाल अचल हैं, अयोगिकेवली तथा सिद्ध जीवों के सर्व प्रदेश अचल हैं। व्यायाम, दुःख परिताप और उद्रेक परिणत जीवों के अष्ट मध्यप्रदेशों के अतिरिक्त शेष सर्व प्रदेश चल हैं। शेष जीवों के कुछ प्रदेश चल हैं और कुछ अचल हैं।

इसप्रकार व्यायाम आदि अवस्था में तो इन्द्रिय निवृत्तिरूप सब ही आत्मप्रदेश भ्रमण करने के कारण चल हैं। इतर अवस्था में इन्द्रिय निवृत्तिरूप आत्मप्रदेशों में से कुछ भ्रमण कर जाते हैं और कुछ अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। निवृत्तिरूप जो आत्मप्रदेश भ्रमण कर जाते हैं उनके स्थान पर दूसरे आत्मप्रदेश आकर निवृत्तिरूप हो जाते हैं।

[विशेष के लिए देखो धवल पु० १ पृ० २३४-२३६ तथा पु० १२ पृ० ३६४-३६८]

सर्व आत्मप्रदेशों में इन्द्रियावरण (ज्ञानावरण) कर्म का क्षयोपशम रहता है अतः प्रत्येक आत्मप्रदेश (विवक्षित किसी भी) निवृत्तिरूप कार्य कर सकता है।

—पत्राचार 77-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

आभ्यन्तरनिवृत्ति रूप आत्मप्रदेश भिन्न-२ होते रहते हैं

शंका—सर्वार्थसिद्धि २।१७ के विशेषार्थ में श्री श्रद्धेय पण्डित फूलचन्दजी ने लिखा है कि "नियत आत्मप्रदेश ही सदा विवक्षित इन्द्रियरूप बने रहते हैं, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु प्रदेश परिस्पन्द के अनुसार प्रतिसमय अन्य अन्य प्रदेश आभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप होते रहते हैं।" क्या यह सही है ? यदि हाँ तो कैसे ? क्या बाह्य निर्वृत्तिरूप भी अन्य-अन्य ही पुद्गल होते रहते हैं ?

समाधान—तेरहवें गुणस्थान तक शरीर नामकर्म का उदय रहता है, अतः तेरहवें गुणस्थान तक योग रहता है। इसी कारण त्रयोदश गुणस्थानवर्ती अर्हन्त की "सयोगजिन" संज्ञा है। योग का लक्षण इस प्रकार है—

---

1. आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होने पर प्रदेश से प्रदेशान्तर होता ही है। (यानी परिस्पन्दन में स्थानान्तर होता है। [जैनगजट १४-२-६३ ई०, ब० रतनचन्द मुख्तार]

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१५॥ गो.जी.

यहाँ योग का कारण पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्मोदय कहा गया है और यह योग जीवप्रदेशों के परिस्पन्द का हेतु है। श्री वीरसेनस्वामी ने धवल पु० १२ पृ० ३६५ में कहा भी है—

"जीवपदेसपरिफंदहेदू चेव जोगो त्ति ।"

यह जीव-प्रदेश-परिस्पन्द संसारी जीव के ही होता है और वह परिस्पन्द तीन प्रकार का है। कहा भी है—

सव्वमरूवी दव्वं अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि ।
रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥५९२॥ गो. जी

अर्थ—सम्पूर्ण अरूपी द्रव्य जहाँ स्थित रहते हैं वहीं स्थित रहते हैं तथा उनके प्रदेश भी चलायमान नहीं होते। कर्मबन्ध के कारण संसारी जीव रूपी हैं। उसके प्रदेश चलायमान होने के कारण तीन प्रकार के होते हैं। आठों मध्य प्रदेशों के अतिरिक्त (i) कभी सब ही जीव-प्रदेश चलायमान होते हैं (ii) कभी कुछ प्रदेश चलायमान होते हैं और कुछ अचल रहते हैं तथा (iii) अयोगी जीवों के सभी प्रदेश अचल रहते हैं। श्री १०८ अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक ५-८-१६ में कहा है—

"सर्वकालं जीवाष्टमध्यप्रदेशा निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव, केवलिनाम् अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशाः स्थिता एव, व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेश वर्जितानां इतरे प्रदेशाः अस्थिताः एव, शेषाणां स्थितास्चास्थिताश्च ।"

अर्थ—निरपवादरूपेण सर्व जीवों के आठ मध्यप्रदेश सर्वकाल अचल (स्थित) ही हैं। अयोग केवली और सिद्ध जीवों के सर्व प्रदेश अचल ही हैं। व्यायाम, दुःख, परिताप और उद्रेक आदि से परिणत जीवों के अष्ट मध्य प्रदेशों के अतिरिक्त शेष सर्व प्रदेश चल ही हैं। शेष जीवों के कुछ प्रदेश चल हैं और कुछ अचल हैं। इस विषय में **धवल पु० १२ पृष्ठ ३६४-३६७** भी द्रष्टव्य है।

धवल पु० १ पृ० २३२-२३३ पर यह शंका की गई है कि "रसना आदि इंद्रियों का क्षयोशम सर्व आत्म-प्रदेशों में नहीं पाया जाता, क्योंकि सर्वांग से रस आदि का ज्ञान नहीं होता है। यदि अन्तरंग निर्वृत्तिरूप आत्मप्रदेशों में क्षयोपशम माना जाय तो उन प्रदेशों का अपने अन्तरंग निर्वृत्तिरूप स्थान से हट जाने पर फिर वर्तमान स्थान पर अन्तरंग निर्वृत्ति को बाह्य निर्वृत्ति आदि पौद्गलिक इंद्रियों का सहयोग न मिलने पर इंद्रियों द्वारा ज्ञान के अभाव का प्रसंग आयेगा।

वेदनाखण्ड में आत्मप्रदेशों को चल भी कहा है, अतः अन्तरंगनिर्वृत्तिरूप आत्मप्रदेशों का अपने स्थान से चलायमान होना अवश्यंभावी है।" इस शंका का जो समाधान किया गया है वह निम्न प्रकार है—

नैष दोषः सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। न सर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिरपि तत्सहकारि-कारणबाह्यनिर्वृत्तेरशेषजीवावयवव्यापित्वाभावात्। धवल १-२३३।

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है। परन्तु ऐसा मान लेने पर भी जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों के द्वारा रूपादि की उपलब्धि का प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि रूपादिक के ग्रहण करने में सहकारी कारणरूप बाह्य निर्वृत्ति जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में नहीं पाई जाती है। इस पर पुनः शंका हुई कि द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीव-प्रदेशों का भ्रमण नहीं होता, अर्थात् वे अचल हैं ऐसा क्यों नहीं मान लिया जावे ? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है—

इति चेन्न, तद्भ्रमणमन्तरेणाशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादिदर्शनानुपपत्तेः इति। धवल पु. १ पृ. २३६।

अर्थ—यदि ऐसी शंका की जाती है तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीव-प्रदेशों का भ्रमण नहीं माना जावे तो अत्यन्त द्रुतगति से भ्रमण करते हुए (तेजी से चक्कररूप भ्रमण करते हुए) जीवों को भ्रमण करते हुए मकान आदि का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये आत्मप्रदेशों के भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्म-प्रदेशों का भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिए। इसका यह अभिप्राय है कि बालक जब सबसे छोटे गोल घेरे रूप तेजी से चक्कर काटता है तो व्यायाम के कारण उसके आत्मप्रदेश भी तेजी से भ्रमण करने लगते हैं। यही कारण है कि थककर बैठ जाने पर भी कुछ देर तक उस बालक को दृश्यमान पदार्थ भ्रमण करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

बाह्य निवृत्तिरूप जो पुद्गलद्रव्य है उसमें से भी प्रतिसमय नवीन नोकर्म वर्गणा आती रहती है और पुरातन नोकर्म वर्गणा निर्जीर्ण होती रहती है।

— पत्राचार/77-78 ज. ला. जैन, भीण्डर

कायमार्गणा

निगोद की काय का निर्णय

शंका—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः सूत्र में निगोद को क्यों शामिल नहीं किया ? क्या निगोद वनस्पति में ही होता है ? अन्यत्र नहीं ?

समाधान—वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं। एक 'साधारण' और दूसरे 'प्रत्येक'। प्रत्येक के भी दो भेद हैं। एक निगोद रहित और दूसरे निगोद सहित। जो निगोद सहित प्रत्येक हैं उनको भी कोई-कोई साधारण कह देते हैं। साधारण ही निगोद है। वह 'नित्य निगोद' और चतुर्गति के भेद से दो प्रकार का है। ये दोनों निगोद भी 'बादर', 'सूक्ष्म' के भेद से दो प्रकार के हैं। जो प्रत्येक वनस्पति है वह बादर ही होती है अतः निगोद वनस्पतिकायिक ही होता है।

—जै. सं. 28-6-58/VI/ र. ला. क, केकड़ी

खान से निकले पत्थर में सचित्तता—अचित्तता

शंका—खान से निकलने के पश्चात् पत्थर में जीव रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो पत्थर बढ़ता क्यों नहीं, जब कि खान में बढ़ता है ? उसका भोजन पानी क्या है और उसे कहां से मिलता है ?

समाधान— खान से निकलने के पश्चात् पत्थर में जीव रह भी सकता है और नहीं भी। पत्थर जो हमको दृष्टिगोचर होता है उसमें असंख्याते जीव हैं। क्योंकि पृथिवी निर्वृत्तिपर्याप्तक जीव की उत्कृष्ट अवगाहना भी घनांगुल के असंख्यातवेंभाग प्रमाण है जैसा कि **गोम्मटसार जीवकांड गाथा ९६ से १३२ तक तथा धवल पुस्तक ११ पृ० ५६ से ७३ तक** के कथन से स्पष्ट है। खान में रहते हुए भी पृथिवीकायजीव की अवगाहना नहीं बढ़ती, किन्तु पत्थर के सम्बन्ध से अन्य पुद्‌गल पत्थर रूप परिणम जाता है और उसमें पृथिवी जीव उत्पन्न हो जाता है। खान से बाहर निकलने के पश्चात् पत्थर के साथ उस प्रकार के पुद्‌गल का सम्बन्ध नहीं होता जो पत्थर रूप परिणम जावे; अतः पत्थर नहीं बढ़ता। जीव के कारण पत्थर नहीं बढ़ता। बाह्य वायुमंडल में जो रजोकण तथा जलकण मिश्रित हैं वे ही उसके आहार का साधन हैं। अथवा आहार वर्गणा सर्वत्र है, जिनको वह पृथिवीकायजीव ग्रहण करता रहता है। कितना भी छोटे से छोटा पत्थर हो जो भी पत्थर हमको दृष्टिगोचर होता है उसमें एक जीव नहीं है, किन्तु असंख्यात जीव हैं। उस पत्थर के बढ़ने पर उसमें नवीन जीवों की उत्पत्ति होने से जीवों की संख्या भी बढ़ जाती है। पूर्व जीव की अवगाहना नहीं बढ़ती।

—जै. ग. 16-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जै.

स्थावर व एकेन्द्रिय में भेद

शंका—'बृहद्‌ द्रव्य संग्रह' पृ० २८ पर ऐसा लिखा है—"स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर, एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से स्पर्शनइंद्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं।" यह बात समझ में नहीं आई कि स्थावर व एकेन्द्रिय में क्या भेद है?

समाधान—एकेन्द्रिय नामकर्म में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु व वनस्पति भेद नहीं है। एकेन्द्रिय नामकर्म इंद्रिय की मुख्यता रखता है। जिस जीव के केवल एक स्पर्शन इंद्रिय होगी वह एकेन्द्रिय जीव कहलायेगा किन्तु स्थावर नामकर्म काय की मुख्यता रखता है; एकेन्द्रिय होते हुए भी वह जीव पृथ्वी आदि में से किस काय को धारण करेगा, यह स्थावर नामकर्म का काम है। जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों की एकेन्द्रिय जीवों के साथ एकेन्द्रिय भाव से सदृशता होती है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है। **ध० खं ६/६७।**

—जै. सं. 17-5-56/VI/ मू. च. मुजफ्फरनगर

१. सभी सूक्ष्म जीव सर्वत्र रहते हैं। २. अग्निकायिक जीव अग्निरूप हैं

शंका—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक या अग्निकायिक आदि कहाँ किस प्रकार रहते हैं? क्या सूक्ष्म अग्निकायिक अग्निरूप नहीं हैं?

समाधान—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अग्निकायिक आदि सूक्ष्म जीव सर्व लोक में रहते हैं। कहा भी है—**"सुहुम पुढविकाइय सुहुम आउकाइय सुहुमतेउकाइय सुहुमवाउकाइय, तस्सेव पज्जत्ता अपज्जत्ता सत्थाणेण समुग्घादेण उववादेण केवडिखेत्ते? सव्वलोगे॥" धवल पु० ७।**

सूक्ष्म पृथिवीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक, सूक्ष्म तैजसकायिक, सूक्ष्म वायुकायिक, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त जीव स्वस्थान समुद्‌घात और उपपाद पद से कितने क्षेत्र में रहते हैं? उक्त जीव सर्वलोक में रहते हैं।

सूक्ष्म का लक्षण इस प्रकार है—**"जस्स कम्मस्स उदएण जीवो सुहुमत्तं पडिवज्जदि तस्स कम्मस्स सुहुममिदि सण्णा।"**

जिस कर्म के उदय से जीव सूक्ष्मता को प्राप्त होता है, उस कर्म की सूक्ष्म संज्ञा है।

"अण्णेहि पोग्गलेहिं अपडिहम्ममाणसरीरो जीवो सुहुमो त्ति घेत्तव्वं।" ध. पु. ३ पृ. ३३१।

जिसका शरीर अन्य पुद्गलों से प्रतिघात रहित है वह सूक्ष्म जीव है।

"ण य तेसिं जेसिं पडिखलणं पुढवी तोएहिं अग्गिवाएहिं।
ते जाण सुहुम कायां इयरा थूलकायां य ॥ १२७ ॥ स्वा का. अ.।

जिन जीवों का शरीर पृथ्वी से, जल से, आग से और वायु से प्रतिघात नहीं होता, उनको सूक्ष्म-कायिक जानो।

"आधारानपेक्षितशरीराः जीवा सूक्ष्मा भवन्ति। जलस्थलरूपाधारेण तेषां शरीरगतिप्रतिघातो नास्ति।"

आधार की अपेक्षा रहित जिनका शरीर है वे सूक्ष्म जीव हैं। जिनकी गति का जल स्थल आधारों के द्वारा प्रतिघात नहीं होता है, वे जीव सूक्ष्म हैं।

अतः सूक्ष्म अग्निकायिक जीव अग्नि रूप होते हुए भी किसी को बाधा नहीं पहुँचाते हैं।

—जै. ग. 4-5-78/VI/र. ला. जैन, मेरठ

सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों व अग्निकायिकों का अवस्थान एवं स्वरूप

शंका—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक व सूक्ष्म अग्निकायिक जीव कहाँ किस प्रकार रहते हैं? क्या सूक्ष्म अग्निकायिक जीव अग्नि रूप नहीं होते?

समाधान—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक व सूक्ष्म अग्निकायिक जीव सर्व लोक में रहते हैं।

धवल ग्रन्थ में कहा भी है—

"कायाणुवादेण पुढविकाइय आउकाइय तेउकाइय वाउकाइय सुहुमपुढवि काइय, सुहुम आउकाइय, सुहुम तेउकाइय, सुहुमवाउकाइय तस्सेव पज्जत्ता अपज्जत्ता सत्थाणेण समुग्घादेण उववादेण केवडिखेत्ते ॥ ३२ ॥ सव्वलोगे ॥ ३३ ॥

"सुहुम पुढविकाइया सुहुमआउकाइया, सुहुम तेउकाइया, सुहुम वाउकाइया तस्सेव पज्जत्ता अपज्जत्ता य केवडि खेत्ते? सव्वलोगे ॥ २२ ॥" धवल पु. ४ पृ. २८७।

द्वादशाङ्ग के इन सूत्रों द्वारा यह बतलाया गया है कि सूक्ष्म पृथ्वीकायिक व सूक्ष्म अग्निकायिक जीव सर्व लोक में रहते हैं। ये जीव सूक्ष्म हैं और सर्वलोक में रहते हैं, इससे जाना जाता है कि वे निराधार रहते हैं।

सूक्ष्म अग्निकायिक जीव अग्नि-रूप होते हैं, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण वे दूसरे जीवों को बाधा नहीं पहुँचाते।

"यस्योदयादन्यजीवानुग्रहोपघातायोग्य सूक्ष्म शरीर निर्वृत्ति भवति तत्सूक्ष्मं नाम।" सुखबोधाख्यवृत्ति।

—जै. ग. 16-3-78/VIII/र. ला. जैन, मेरठ

लोक में सर्वत्र सूक्ष्म अग्निकायिक जीव ठसाठस भरे हुए हैं।

शंका—क्या एकेन्द्रिय जीव सर्व लोक में रहते हैं ? क्या सूक्ष्म तैजसकायिक जीव सर्वत्र हैं ? क्या लोक का ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ कि सूक्ष्म तैजसकायिक जीव न हों ?

समाधान—केवली समुद्घात की अपेक्षा एक जीव का सर्वलोक क्षेत्र होता है। नाना एकेन्द्रिय जीवों का सर्वलोक क्षेत्र है। लोक का ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जो नाना एकेन्द्रियों की अपेक्षा अस्पृष्ट रहा हो। एकेन्द्रिय जीव सर्वत्र होते हैं। सूक्ष्म तैजसकायिक जीव भी लोक में ठसाठस भरे हुए हैं। लोक का ऐसा एक भी प्रदेश नहीं जहाँ सूक्ष्म तैजसकायिक जीव न हों।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

अग्निकायिकों व वायुकायिकों का औपचारिक त्रसत्व

शंका—पंचास्तिकाय टीका ब्र० शीतलप्रसादजी गाथा ११९ में वायुकाय और अग्निकाय के जीवों को त्रस संज्ञा कैसे दी गई है ?

समाधान—स्वयं श्री १०८ कुंदकुंद आचार्य ने गाथा के 'अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।' इन शब्दों द्वारा वायुकाय और अग्निकाय को त्रस कहा है। 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' अर्थात् जो चलते फिरते हैं उनको त्रस कहते हैं। इस निरुक्ति अर्थ की दृष्टि से वायुकाय और अग्निकाय को त्रस कहा गया है। किन्तु मोक्षशास्त्र में इस दृष्टि से कथन नहीं किया गया है क्योंकि **'द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः'** अध्याय २ सूत्र १४ के द्वारा एकेन्द्रिय जीवों को त्रस नहीं कहा गया है। वहाँ पर गमन करने और न करने की अपेक्षा नहीं होकर त्रस और स्थावर कर्मों के उदय की अपेक्षा से है। श्री सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है।

'आगमे हि कायानुवादेन त्रसाद्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन इति। तस्मान्न चलनाचलनापेक्षं त्रस-स्थावरत्वम्। कर्मोदयापेक्षमेव।'

अर्थ—कायानुवाद की अपेक्षा कथन करते हुए आगम में बतलाया है कि द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर अयोग केवली तक के सब जीव त्रस हैं। इसलिये गमन करने और न करने की अपेक्षा त्रस और स्थावर में भेद नहीं है, किन्तु त्रस स्थावर कर्म के उदय की अपेक्षा से हैं।

इस प्रकार भिन्न दृष्टियों के कारण पंचास्तिकाय और मोक्षशास्त्र में अग्निकाय और वायुकाय के सम्बन्ध में दो भिन्न-भिन्न कथन पाये जाते हैं।

—जै. ग. 20-8-64/IX/ध. ला. सेठी, खुरई

शंका—श्री १०८ कुंदकुंद आचार्य ने पंचास्तिकाय में अग्निकाय और वायुकाय जीवों को त्रस क्यों कहा है ?

समाधान—अग्नि और वायु कायिक जीवों के यद्यपि स्थावर नाम कर्म का उदय है तथापि उनमें चलन क्रिया होने के कारण से आगम में उनको त्रस भी कहा है। श्री १०८ जयसेन आचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १११ की टीका में निम्न प्रकार कहा है—

"अनलानिलकायिकाः तेषु पंचस्थावरेषु मध्ये चलनक्रियां दृष्ट्वा व्यवहारेण त्रसा भण्यंते।"

अर्थ—उन पाँच स्थावरों में से अग्नि और वायु काय जीवों के चलन क्रिया को देखकर व्यवहार से उनको त्रस कहते हैं।

—जै. ग. 31-7-67/VII/ ज. प्र. म. कु.

वायुकायिक जीवों का क्षेत्र

शंका—वायुकायिक बादर पर्याप्त जीव का क्षेत्र ५ राजू बाहल्य राजू प्रतर बताया है सो वह क्षेत्र कहाँ से कहाँ तक है ? इससे बाहर क्या वायुकायिक जीव नहीं होते हैं ?

समाधान—बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव मन्दराचल के मूल भाग से लेकर ऊपर शतार सहस्रार कल्प तक पाँच राजू में पाये जाते हैं। इस पाँच राजू से बाहर भी बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव हैं परन्तु बहुत कम हैं। ध० खं० पु० ४/८३, ९९-१०० ।

—जै. सं. 2-8-56/VI/ब. प्र. स. पटना

सप्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित

शंका—मूंगफली जमीकंद है या नहीं ? यदि जमीकंद नहीं तो फिर जमीन में पैदा होते हुए जमीकंद क्यों नहीं है ?

समाधान—मूंगफली जमीन में नीचे लगती है जैसे आलू, सकरकन्द आदि। अतः मूंगफली जमीकन्द है किन्तु वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति नहीं है क्योंकि गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १८७-१८९ में दिये हुए सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के लक्षण पक्व मूंगफली में नहीं पाये जाते। मूंगफली की गिरी पर लाल-लाल छाल पतली है अतः मूंगफली अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। गो० सा० जी० गाथा १८८।

—जै. ग. 8-2-62/VI/ मू. च. छ. ला.

निगोदों का अवस्थान सर्वत्र है

शंका—नित्य निगोद सातों नरक के नीचे है या वनस्पति अथवा स्थावर आदि एकेन्द्रिय ही निगोदिया में शामिल हैं ?

समाधान—नित्य निगोद सातवें नरक के नीचे भी है और लोक में सर्वत्र भी है। धवल पु० ४ पृ० १०० सूत्र २५ में कहा है कि निगोद जीव सर्व लोक में रहते हैं। वह सूत्र इस प्रकार है—"वणप्फदि-काइय-णिगोद-जीवा बादरा सुहुमा पज्जत्तापज्जत्ता केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे ॥२५॥"

पाँच प्रकार के स्थावरों में वनस्पतिकाय प्रत्येक और साधारण के भेद से दो प्रकार की है। साधारण वनस्पति को निगोद भी कहते हैं। पृथ्वीकाय आदि शेष चार स्थावरों के आश्रित निगोद जीव नहीं रहते। जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय निगोद जीव होते हैं वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती है।

—जै. ग. 6, 13-5-65/XIV/ म. मा.

त्रसनाली से बाहर बादर निगोदों का आधार

शंका—त्रसनाली से बाहर निगोदिया जीव किस के आधार रहते हैं ? वहाँ आकाश में भी वे किसके आधार रहते हैं ?

समाधान—त्रसनाली से बाहर और त्रसनाली के अन्दर बादरनिगोद जीव पृथ्वियों के आश्रय से रहते हैं (धवल पु० ४ पृ० १००; धवल पु० ७ पृ० ३३९) । आठों पृथ्वियाँ उत्तर-दक्षिण सात राजू हैं और दूसरी तीसरी चौथी पाँचवीं छठी और सातवीं पृथ्वियाँ पूर्व-पश्चिम भी त्रसनाली से बाहर हैं, अतः त्रसनाली के बाहर आठों पृथ्वियों के आश्रय से बादर निगोद जीव रहते हैं ।

—जै. ग. 26-9-63/IX/ ह. ला. जैन, मेरठ

साधारणवनस्पतिकाय अर्थात् निगोद में अवस्थान का उत्कृष्ट काल
[इतर निगोद की अपेक्षा]

शंका—जो मनुष्यादि मरकर निगोद में उत्पन्न होता है वह अधिक से अधिक कितने काल तक निगोद में रह सकता है ?

समाधान— निगोद में एक भव की उत्कृष्ट आयु यद्यपि अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है तथापि एक जीव इतर निगोद में निरंतर अढ़ाई पुद्गल परिवर्तन तक परिभ्रमण कर सकता है । कहा भी है—

"णिगोद जीवा केवचिरं कालादो होंति ॥८६॥ जहण्णेण खुद्दाभवग्गहणं ॥८७॥ उक्कस्सेण अड्ढाइज्ज-पोग्गलपरियट्टं ॥८८॥ अणिगोदजीवस्स णिगोदेसु उप्पण्णस्स उक्कस्सेण अड्ढाइज्जपोग्गलपरियट्टेहिंतो उवरि परिभव-णाभावादो । बादरणिगोदपज्जत्ताण पुण उक्कस्सकालो अंतोमुहुत्तं ।" धवल पु० ७ ।

अर्थ—निगोद जीव कितने काल तक रहते हैं ? जघन्य से क्षुद्रभवग्रहण काल तक निगोद जीव रहता है और उत्कृष्ट से अढ़ाई पुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल तक निगोद जीव रहता है । क्योंकि, निगोद जीव में उत्पन्न हुए 'निगोद से भिन्न जीव' का उत्कर्ष से अढ़ाई पुद्गल परिवर्तनों से ऊपर परिभ्रमण है ही नहीं । बादर निगोद पर्याप्तक की उत्कृष्ट आयु अंतर्मुहूर्त ही है ।[1]

—जै. ग. 26-11-70/VII/अ. स., टेवाड़ी

पंचेन्द्रियों का उपपाद क्षेत्र

शंका—धवल पुस्तक ७ पृ० ३७७ पर पंचेन्द्रिय तिर्यंच का उत्पाद क्षेत्र सर्वलोक बतलाया । महाबंध पु० १ पृ० १९९ पर पंचेन्द्रिय तिर्यंच मार्गणा में पंचेन्द्रिय जाति बंधक का स्पर्शन १२/१४ राजू बतलाया है । महाबंध में सर्वलोक क्यों नहीं बतलाया ? सूक्ष्म जीव पंचेन्द्रिय तिर्यंच में आ सकते हैं साथ ही पंचेन्द्रिय जाति का बंध है तो सर्वलोक क्यों नहीं ।

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक । धर्मपुरा से प्रकाशित । पृ० ४३-४७ भी द्रष्टव्य है ।   —सम्पादक

समाधान—जो एकेन्द्रिय जीव मरकर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न हो रहे हैं उनकी अपेक्षा से पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का उत्पाद क्षेत्र सर्वलोक **धवल पु० ७ पृ० ३७७** पर बतलाया है। **महाबंध पु० १ पृ० १९९** में जो जीव वर्तमान में पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं और पंचेन्द्रिय जाति का बंध कर रहा है वह मरकर पंचेन्द्रियों में ही उत्पन्न होगा अतः मारणान्तिक समुद्घात अथवा उत्पाद की अपेक्षा उसका स्पर्शन क्षेत्र सर्व लोक नहीं हो सकता है, क्योंकि त्रस नाडी से बाहर ऐसे जीव का उत्पाद नहीं हो सकता है।

शंकाकार सूक्ष्म तिर्यंच की अपेक्षा सर्व लोक सिद्ध करना चाहता है किन्तु वह यह भूल गया कि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में सूक्ष्म नहीं होते। मात्र एकेन्द्रियों में ही सूक्ष्म होते हैं।

—जै. ग. 31-7-69/V/ ध. वि. घो.

प्रत्येक और साधारण शरीर

शंका—**क्या एक औदारिक शरीर में बहुत सी आत्माएँ हो सकती हैं अर्थात् जीव तो अनंत हों और औदारिक शरीर एक हो? मैं तो इसका यह अभिप्राय समझा हूँ कि उस स्थूल औदारिक शरीर में जो अनंत जीव हैं वे सब ही पृथक्-पृथक् औदारिक शरीर वाले होते हैं। सब जीव अपने-अपने कर्मों को पृथक्-पृथक् भोगते हैं और बंध करते हैं। जितना बड़ा यह स्थूल शरीर होता है उन सब जीवों का शरीर भी उतना ही स्थूल होता है।**

समाधान—जीवों के शरीर दो प्रकार के होते हैं १. प्रत्येक २ साधारण। प्रत्येक शरीर में एक शरीर का एक ही स्वामी होता है। अनन्ते जीव जब एक औदारिक शरीर के स्वामी होते हैं उसे साधारण शरीर कहते हैं। यह साधारण शरीर निगोदिया जीवों का होता है जो वनस्पतिकाय होते हैं। साधारण अनन्ते जीवों का एक ही औदारिक शरीर होता है, एक ही आहार और एक ही श्वासोच्छ्वास होता है। यद्यपि इन जीवों के अपने-अपने कर्मबन्ध पृथक्-पृथक् होते हैं और पृथक्-पृथक् ही अपने कर्मों का फल भोगते हैं फिर भी उनका एक औदारिक शरीर होने में कोई बाधा नहीं आती किन्तु कार्माण व तैजस शरीर सब जीवों का पृथक् पृथक् होता है। **देखिये ष० ख० पुस्तक १४।**

—जै. सं. 24-1-57/VI/रा. दा. कैराना

साधारण वनस्पति कायिक (निगोद) सिद्धालय में भी हैं

शंका—**कहा जाता है कि सिद्धालय में भी निगोदिया जीव होते हैं। क्या यह सत्य है? यदि सत्य है तो वे निगोदिया जीव मुक्त है या संसारी?**

समाधान—सूक्ष्म निगोदिया लोक मे सर्वत्र पाये जाते हैं। **श्री षट्खण्डागम** में कहा भी है—**"वणप्फदि-काइय णिगोदजीवा सुहुमवणप्फदिकाइया सुहुमणिगोदजीवा तस्सेव पज्ज-अपज्जत्ता सत्थाणेण समुग्घादेण उववादेण केवडिखेत्ते? सव्व लोए ॥४५-४६॥ कुदो? सव्वलोगं णिरंतरेणवाविय अवट्ठाणादो।" धवल पु. ७ पृ. ३३७-३३८।**

अर्थ—वनस्पतिकायिक पर्याप्त, वनस्पतिकायिक अपर्याप्त, निगोदजीव, निगोद जीव पर्याप्त, निगोद जीव अपर्याप्त, सूक्ष्म वनस्पतिकायिक, सूक्ष्म वनस्पति पर्याप्त, सूक्ष्म वनस्पतिकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद जीव, सूक्ष्म निगोद जीव पर्याप्त और सूक्ष्म जीव अपर्याप्त, ये स्वस्थान समुद्घात व उपपाद की अपेक्षा कितने क्षेत्र में रहते हैं? ॥ ४५ ॥ उपर्युक्त जीव सर्वलोक में रहते हैं ॥ सूत्र ४६ ॥ क्योंकि निरंतर रूप से सर्वलोक को व्याप्त कर इनका अवस्थान है।

इस द्वादशांग वाक्य से सिद्ध होता है कि निगोदिया जीव सिद्धालय में भी हैं। ये निगोदिया जीव संसारी हैं, मुक्त नहीं हैं, क्योंकि इनके निरंतर आठों कर्मों का सत्व व उदय पाया जाता है।

—जै. ग. 10-4-69/V/दि. जैन, पं. फुलेरा

साधारण वनस्पति कायिक (निगोद) का निवास, जन्म, इन्द्रियाँ एवं गति

शंका—लोक में निगोदिया जीव किस जगह पर हैं? उनका जन्म किस प्रकार का है? कितनी इंद्रियाँ होती हैं और कौनसी गति है?

समाधान—निगोद जीव सर्व लोक में रहते हैं। कहा भी है—

"वणप्फदिकाइय-णिगोदजीवा बादरा सुहुमा पज्जत्तापज्जत्ता केवडि खेत्ते, सव्वलोगे॥ १-३-२५॥ षट्खण्डागम।

बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त वनस्पतिकायिक निगोद जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं? सर्व लोक में रहते हैं।

निगोदिया जीव का सम्मूर्च्छन जन्म होता है। निगोदिया जीव एकेन्द्रिय होते हैं और उनकी तिर्यञ्च गति होती है।

—जै. ग. 5-3-70/IX/ जि. प्र.

एक निगोद शरीर में, अनन्त तैजस कार्मण शरीर

शंका—एक निगोद शरीर में औदारिक शरीर तो साधारण अर्थात् एक है, परन्तु तैजस-कार्मण शरीर तो सब जीवों के अलग-अलग हैं। क्या हमारा यह विचार आगमानुकूल है?

समाधान—ठीक है। एक साधारण औदारिक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। उनमें हर एक जीव का कार्मण व तैजस शरीर अलग-अलग है। इस प्रकार एक साधारण औदारिक शरीर में अनन्त कार्मण व तैजस शरीरों के होने में कोई बाधा नहीं होती, क्योंकि तैजस व कार्मण दोनों शरीर सूक्ष्म होते हैं।

—पत्राचार/जून 78/III/ ज. ला. जैन, भीण्डर

सर्वकाल सिद्धों से एक निगोद शरीरस्थ जीव अनंतगुणे हैं

शंका—क्या एक निगोद शरीर में इतने जीव हैं जो भविष्यकाल में भी मुक्तों की संख्या के तुल्य नहीं होंगे? क्या एक निगोद के जीवों की संख्या प्रमाण भी मुक्त जीव कभी नहीं होंगे?

समाधान—एक निगोद शरीर में इतने निगोदिया जीव हैं कि अनन्तकाल बीत जाने पर भी वे सिद्धों से अनन्तगुणे ही रहेंगे।[1] यदि एक निगोद-शरीर के जीवों की संख्या के तुल्य सिद्ध हो जावें तो सर्व भव्यराशि के मोक्ष चले जाने का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि निगोद शरीर असंख्यात हैं, अनन्त नहीं हैं। भव्यों का अभाव हो

---

१ स्याद्वाद मंजरी २९/331 में भी इसी कथन की पुष्टि है। —सम्पादक

जाने पर अभव्यों के अभाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि सब पदार्थ सप्रतिपक्ष हैं। भव्य तथा अभव्य दोनों का अभाव हो जाने पर संसारी जीवों का अभाव हो जायगा। संसारी जीवों का अभाव होने पर मुक्त जीवों का भी अभाव हो जायगा तथा जीव का अभाव होने पर अजीव द्रव्य का भी अभाव हो जायगा और प्रत्यक्ष से विरोध आयगा। धवल १४/२३३-३४।

—पत्राचार 22-10-79/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

१. निगोदों का स्वरूप २. एक निगोद शरीर में स्थित जीवों के भी सुख-दुःख, ज्ञान आदि असमान होने सम्भव हैं।

शंका—धवल पु० १३ में लिखा है कि "एक शरीर में रहने वाले अनन्तानन्त निगोद जीवों का जो परस्पर बंध है वह जीवबंध कहलाता है।" इस पर निम्न प्रश्न है—

१. जब एक निगोद जीव को दुःख होता है तब क्या सभी जीवों को, जो उस शरीर के स्वामी हैं, दुःख होता है तथा एक को सुख होने पर सबको सुख होता है ?

२. क्या उनके दुःख सुख का अनुभव अर्थात् वेदन एक जैसा होता है या कुछ अंतर होता है ?

३. आयु कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मों का उदय भी क्या समान होता है ?

४. एक शरीर में स्थित सब निगोदिया जीवों के आयु कर्म की स्थिति बराबर होती है तो वे उन सबके आयु कर्म का बंध एक जैसे परिणामों से होना चाहिये ?

५. क्या उन सब निगोदिया के ज्ञान आदि गुणों की एक समय में एक-सी पर्याय होती है ?

समाधान—जीव और नो कर्म-शरीर रूपी पुद्गल के परस्पर बंध होने से मनुष्य तिर्यञ्च आदि असमान-जातीय द्रव्य पर्याय उत्पन्न होती है। कहा भी है—

"तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्य-प्रतिपत्तिनिबंधनो द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मकोदेवो मनुष्य इत्यादि। यथैव चानेककौशेयककार्पासमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः।" प्रवचनसार गाथा ९३ टीका।

अर्थ—अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्य पर्याय होती है। वह दो प्रकार है—१. समानजातीय २. असमानजातीय। जीव और पुद्गल की उभयात्मक पर्याय असमानजातीय-द्रव्यपर्याय है जैसे देव मनुष्य इत्यादि। जैसे रेशमी और सूती धागों (सूतों) से बना हुआ कपड़ा द्विपटक त्रिपटक असमानजातीय-द्रव्यपर्याय है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलों से बनी हुई देव, मनुष्य ऐसी असमानजातीय द्रव्य पर्याय है।

नोकर्मरूप शरीर एक जीव का भी होता है और बहुत जीवों का भी एक शरीर होता है। धवल पु० १४ में कहा भी है—

"अत्थि जीवा पत्तेय-साधारण सरीरा ॥११९॥ एक्कस्सेव जीवस्स जं सरीरं तं पत्तेयसरीरं। तं सरीरं जीवाणं अत्थि ते पत्तेयसरीराणाम। बहूणं जीवाणं जमेगं सरीरं तं साहारणसरीरं णाम। तत्थ जे वसंति जीवा ते साहारणसरीरा।" धवल पु० १४ पृ० २२५।

अर्थ—जीव प्रत्येक शरीर वाले और साधारण शरीर वाले होते हैं ॥११९॥ एक ही जीव का जो शरीर है उसकी प्रत्येक शरीर संज्ञा है। वह शरीर जिन जीवों के है वे प्रत्येक-शरीर जीव कहलाते हैं। बहुत जीवों का जो एक शरीर है वह साधारण शरीर है, उसमें जो जीव निवास करते हैं वे साधारण शरीर जीव हैं।

अनन्त जीव और एक नोकर्म शरीर इनके परस्पर बंधन से जो एक निगोदिया तिर्यञ्च पर्याय बनी है वह साधारण शरीर जीव पर्याय है। अनन्त जीवों का एक शरीर से बन्ध होने पर यह पर्याय उत्पन्न होती है। निगोदिया जीवों का परस्पर बंध हुए बिना उन सबका एक ही शरीर से बन्ध होना सम्भव नहीं है। अत: धवल पु० १३ में निगोद जीव के परस्पर बंध को जीव बंध कहा गया है।

अनन्त निगोदिया जीवों का एक औदारिक शरीर होते हुए भी उन सबका कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न है। किन्तु साधारण शरीर नामकर्मोदय के कारण उनके आहार व उच्छ्वास-नि:श्वास भी साधारण है।

१. जब एक निगोद जीव को दु:ख होता है उस समय उस साधारण शरीर में रहने वाले सभी निगोदिया जीवों को दु:ख हो ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न होने के कारण उनके कर्मोदय एकसा होने का नियम नहीं है।

२. एक शरीर में रहने वाले सभी निगोदिया जीवों के सुख-दु:ख का वेदन एक प्रकार का भी हो सकता है और भिन्न-भिन्न प्रकार का भी हो सकता है।

३. आयु कर्म, साधारण शरीर और साधारण शरीर से सम्बन्धित कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मोदय के समान होने का कोई नियम नहीं है।

४. सभी निगोदिया जीवों के आयु कर्म एक जैसे परिणामों से होने का भी नियम नहीं है, क्योंकि असंख्यात लोक परिणामों से एक प्रकार की आयु का बंध हो सकता है।

५. सभी निगोदिया जीवों के एक समय में ज्ञानादि गुणों की एकसी पर्याय होने का भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न हैं।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं ॥१२२॥
एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स ॥१२३॥
समगं वक्कंताणं समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती।
समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो ॥१२४॥
जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थणंताणं ॥१२५॥

बादरसुहुम णिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण ।
ते हु अणंता जीवा मूलयथूहल्लयादीहि ॥१२६॥ ध० १४/२२६-२३१ ॥

साधारण आहार और साधारण उच्छ्वास निःस्वास का ग्रहण यह साधारण (निगोदिया) जीवों का साधारण लक्षण कहा गया है। एक जीव का जो अनुग्रह है वह बहुत साधारण (निगोदिया) जीवों का है और इसका भी है। तथा बहुत जीवों का जो अनुग्रहण है, वह मिलकर इस विवक्षित जीव का भी है। एक साथ उत्पन्न होने वाले निगोदिया जीवों के शरीर की निष्पत्ति एक साथ होती है, एक साथ अनुग्रह होता है और एक साथ उच्छ्वास-निःश्वास होता है। जिस शरीर में एक जीव मरता है वहां अनन्त जीवों का मरण होता है और जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है, वहाँ अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है। बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव परस्पर में बद्ध और स्पृष्ट होकर रहते हैं। तथा वे अनन्त जीव हैं जो मूली थूवर और आर्द्रक आदि के निमित्त से होते हैं ॥१२२-१२६॥

टीका—एक शरीर में स्थित बादर निगोद जीव वहाँ स्थित अन्य बादर निगोद जीवों के साथ तथा एक शरीर में स्थित सूक्ष्म निगोद जीव वहाँ स्थित अन्य सूक्ष्म निगोद जीवों के साथ बद्ध अर्थात् समवेत होकर रहते हैं। वह समवाय देश-समवाय और सर्व समवाय के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से देश समवाय प्रतिषेध करने के लिये कहते हैं—'**पुट्ठा य एयमेएण**' परस्पर सब अवयवों से स्पृष्ट होकर ही वे रहते हैं। अबद्ध और अस्पृष्ट होकर वे नहीं रहते। धवल पु० १४ पृ० २३१।

—जै. ग. 6-4-72/VII/ अ. कु.

प्रकरणानुसार "निगोद" शब्द का तीन अर्थों में प्रयोग

शंका—वनस्पति स्थावर नामकर्म के उदय से वनस्पति काय स्थावर जीवों की उत्पत्ति होती है। और इन वनस्पतिकायिक जीव के साधारण और प्रत्येक वनस्पति ऐसे दो भेद हैं। साधारण वनस्पति काय जीवों के नित्य निगोद और इतर निगोद ऐसे दो भेद हैं। ऐसा भी बताते हैं कि मंस मंसाविकों के मांस के आश्रित उसी जाति के निगोदिया जीव रहते हैं। और भी कहा है कि देव नारकी आदि इन आठ शरीर के सिवाय बाकी सब संसारी जीवों के शरीर प्रतिष्ठित होते हैं। इसलिये यहाँ प्रश्न उठता है कि वनस्पति नाम के स्थावर नाम कर्म के उदय से वनस्पति काय जीवों में स्थावर जीवों की उत्पत्ति होती रहती है यह ठीक है परन्तु यहाँ मनुष्य और तिर्यञ्च त्रस जीवों के शरीर में भी निगोदिया जीवों की उत्पत्ति बताते हैं। गाय भैंसादिकों की बिना पकी या पकी हुई तथा पकती हुई भी मांस की डलियों में उसी जाति के संमूर्च्छन (निगोद) जीवों का निरन्तर ही उत्पाद होता रहता है। यहाँ इन त्रस जीवों को भी वनस्पति स्थावर नाम कर्म का उदय होना यह कैसे सम्भव है ?

समाधान—धवल पु० १४ में निगोद का इस प्रकार कथन पाया जाता है—

"के णिगोदा णाम ? पुलवियाओ णिगोदा त्ति भणंति। संपहि पुलवियाणं एत्थ सरूवपरूवणं कस्सामो। तं जहा-खंधो अंडरं आवासो पुलविया णिगोदसरीरमिदि पंच होंति। तत्थ बादरणिगोदाणामासयभूदो बहुएहि वक्खारएहि सहियो वलंजंतवाणियकच्छउडसमाणो मूलयथूहल्लयादिववएसहरो खंधोणाम। ते च खंधा असंखेज्जलोगमेत्ता, बादर-णिगोदपदिट्ठिदाणमसंखेज्जलोगमेत्तसंखुवलंभादो। तेसिं खंधाणं ववएसहरो तेसिं भवाणमवयवा वलंजुअकच्छउडपुव्वावर भागसमाणा अंडरं णाम। अंडरस्स अंतोट्ठियो कच्छउडंडरंतोट्ठियवक्खार समाणो आवासो णाम। आवासब्भंतरे संट्ठिदाओ कच्छउडंडरवक्खारंतोट्ठियपिसिवियाहि समाणाओ पुलवियाओ णाम। एक्केक्कम्हि

एक्केक्किस्से पुलवियाए असंखेज्जलोगमेत्ताणि णिगोदसरीराणि ओरालियतेजा-कम्मइयपोग्गलोवायाणकारणाणि कच्छउडंडरवक्खारपुलवियाए अंतोट्ठिददव्व-समाणाणि पुध पुध अणंताणंतेहि णिगोदजीवेहि आउण्णाणि होंति। पुणो एत्थ खीणकसायसरीरं खंधो णाम; असंखेज्जलोगमेत्तअंडराणमाधार भावादो। पृ० ८५-८६। खीणकसाओ अणिगोदो कधं बादरणिगोदो होदि ? ण, पाधण्णपदेण तस्सवि बादरणिगोदवग्गणाभावेण विरोहाभावादो। पृ० ९९।"

अर्थ—निगोद किन्हें कहते हैं ? पुलवियों को निगोद कहते हैं। यहां पर पुलवियों के स्वरूप का कथन करते हैं—स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवी और निगोद शरीर ये पाँच होते हैं। उनमें से जो बादर निगोद का आश्रयभूत है, बहुत वक्खारों से युक्त है तथा वलंजंतवाणिय कच्छउड समान है, ऐसे मूली थूअर और अद्रक आदि संज्ञा को धारण करने वाला स्कन्ध कहलाता है। वे स्कन्ध असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं, क्योंकि बादर निगोद प्रतिष्ठित जीव असंख्यात लोकप्रमाण पाये जाते हैं। जो उन स्कन्धों के अवयव हैं और जो वलंजु अकच्छउड के पूर्वापर भाग के समान हैं, उन्हें अण्डर कहते हैं। जो अण्डर के भीतर स्थित हैं तथा कच्छउड के भीतर स्थित वक्खार के समान हैं उन्हें आवास कहते हैं जो आवास के भीतर स्थित हैं और जो कच्छउड अण्डर वक्खार के भीतर स्थित पिशवियों के समान हैं उन्हें पुलवि कहते हैं। एक-एक आवास की अलग-अलग एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीर होते हैं, जो कि औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गलों के उपादान कारण होते हैं और कच्छउडअंडर वक्खार पुलवि के भीतर स्थित द्रव्य के समान अलग-अलग अनन्तानन्त निगोद जीवों से आपूर्ण होते हैं।

यहाँ पर क्षीणकषाय जीव के शरीर की स्कन्ध संज्ञा है, क्योंकि वह असंख्यात लोक प्रमाण अण्डरों का आधार भूत है।

यदि यह कहा जाय कि क्षीणकषाय जीव निगोदपर्याय रूप नहीं है, इसलिये वह बादर निगोद कैसे हो सकता है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्राधान्यपद की अपेक्षा उसे भी बादर निगोद वर्गणा होने में कोई विरोध नहीं आता है।

पुरुषार्थ सिद्धिउपाय गाथा ६७ में जो यह कहा है कि "बिना पकी या पकी हुई तथा पकती हुई भी मांस की डलियों में उसी जाति के निगोद जीवों का निरन्तर ही उत्पाद होता रहता है।" यहाँ पर लब्ध्य अपर्याप्त सम्मूर्च्छन जीवों की निगोद संज्ञा है।

—जै. ग. 22-3-73/V/ मुनि आदिसागरजी, शेडवाल

लब्ध्यपर्याप्तक निगोदों के भेद, पर्याप्ति, प्राण, व्यपदेश व योग

शंका—लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव '१. क्या बादर भी होते हैं या सूक्ष्म ही होते हैं ? २. उनके कितनी अपर्याप्तियाँ होती हैं ? ३. उनके श्वासोच्छ्वास प्राण होता है या नहीं ? ४. विग्रहगति में वे लब्ध्यपर्याप्तक कहलाते हैं या नहीं ? ५. क्या उनके कार्मण काययोग कहा जा सकता है ?

समाधान—(१) लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव बादर भी होते हैं और सूक्ष्म भी होते हैं। जिसमें द्वादशांग के सूत्र उद्धृत हैं ऐसे षट्खंडागम में कहा भी है—

वणप्फइकाइया दुविहा, पत्तेय सरीरा साधारण सरीरा। पत्तेय सरीरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा, बादरा सुहुमा। बादर दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता पज्जत्ता चेदि ॥४१॥ सतपरूवणाणुयोगद्दार।

वणप्फदिकाइया-णिगोद जीवा बादरा सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया ? ॥७९॥ अणंता ॥८०॥ खुद्दाबंधो दव्वपमाणाणुगम।

उपर्युक्त सूत्रों में साधारण शरीर अर्थात् निगोद जीव दो प्रकार के बतलाये गये हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर निगोद जीव तथा सूक्ष्म निगोद जीव पर्याप्त और अपर्याप्त (लब्ध्यपर्याप्त) के भेद से दो दो प्रकार के होते हैं।

"पर्याप्तनाम कर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः। तदुदयवतामनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्तनाम कर्मोदय सहचाराद्वा। (धवल पु० १ पृ० २५३-५४) अपर्याप्त नाम कर्मोदय जनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः अपर्याप्ताः। (धवल पु० १ पृ० २६७) जस्स कम्मस्स उदएण जीवो पज्जत्तीओ समाणेदुं ण सक्कदि तस्स कम्मस्स अपज्जत्तणाम सण्णा। धवल पु० ६ पृ० ६२।"

जो पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से युक्त है वह पर्याप्ति है, जिसका शरीर अभी निष्पन्न नहीं हुआ है किन्तु पर्याप्त नाम कर्मोदय से युक्त है, वह भी पर्याप्त है, क्योंकि नियम से शरीर को निष्पन्न करेगा, अतः पर्याप्त संज्ञा देने में कोई विरोध नहीं आता है। यहाँ पर होने वाले कार्य में यह कार्य हो गया इस प्रकार का उपचार किया गया है। अपर्याप्त नाम कर्मोदय से उत्पन्न हुई शक्ति से जिस जीव की शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व मरणरूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है वह अपर्याप्त है। जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्तियों को समाप्त करने के लिये समर्थ नहीं होता वह अपर्याप्त नामकर्म है। जिन जीवों के अपर्याप्त नाम कर्म का उदय होता है वे लब्ध्य-पर्याप्त जीव कहलाते हैं।

(२) लब्ध्यपर्याप्त निगोद जीव के चार पर्याप्तियाँ होती हैं। १. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ आनपान पर्याप्ति, किन्तु इन चारों पर्याप्तियों में से कोई भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है; अपर्याप्त रूप से उन पर्याप्तियों का सद्भाव रहता है। कहा भी है—

"अपर्याप्त रूपेण तत्र तासां सत्त्वात्। किमपर्याप्तरूपमिति चेन्न, पर्याप्तीनामर्द्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः। (धवल पु० १ पृ० २५७) "एतासामेवानिष्पत्तिरपर्याप्तिः।" धवल पु० १ पृ० ३१२।

लब्ध्यपर्याप्त निगोद जीवों के भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति नहीं होती, क्योंकि उनके रसना इंद्रिय व मन का अभाव है।

"चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ ॥७४॥ आहारशरीरेन्द्रियानापानपर्याप्तयः। एइंदियाणं।"

चार पर्याप्तियाँ और चार अपर्याप्तियाँ होती हैं। आहार पर्याप्ति; शरीर पर्याप्ति, इंद्रिय पर्याप्ति और आनपान पर्याप्ति। ये चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवों के होती हैं।

(३) लब्ध्यपर्याप्त निगोद जीवों के श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होता है, क्योंकि आनपान पर्याप्ति पूर्ण निष्पन्न नहीं होती है। प्राण और पर्याप्ति में कार्यकारण भाव है। अतः आनपान पर्याप्ति की निष्पत्ति रूप कारण के अभाव में कार्यरूप श्वासोच्छ्वास का सद्भाव संभव नहीं है। कहा भी है—

"पर्याप्तिप्राणानां नाम्नि विप्रतिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्, पर्याप्तिष्वायुषोऽसत्त्वान्मनो-वागुच्छ्वास-प्राणानामपर्याप्तकालेऽसत्त्वाच्चतयोर्भेदात् । धवल पु० १ पृ० २५७ ।

(४) विग्रहगति में अपर्याप्त नाम कर्म का उदय रहने से लब्ध्यपर्याप्तक कहने में कोई विरोध नहीं है। कहा भी है—

"तिरिक्खगदी-एइंदियजादितेजा-कम्मइयसरीर-वण्ण-गंध-रस-फास तिरिक्खगदिपाओग्गाणुपुव्वी अगुरु-लहुअ-थावर बादर सुहुमाणमेक्कदरं पज्जत्तापज्जत्ताणमेक्कदरं थिराथिरं सुभासुभं दुभगं अणादेज्जं जसअजसकित्तीणमेक्कदरं णिमिणमिदि एदासिं एक्कवीसपयडीणं उदओ विग्गहगदिए वट्टमाणस्स एइंदियस्स होदि।" धवल पु० ७ पृ० ३६ ।

यहाँ यह बतलाया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों के विग्रह गति में पर्याप्त या अपर्याप्त इन दोनों में से किसी एक नाम कर्म का उदय रहता है। विग्रह गति में जिन एकेन्द्रिय निगोद जीवों के अपर्याप्त नाम कर्म का उदय होता है वे विग्रह गति में भी लब्ध्यपर्याप्तक निगोद एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

(५) लब्ध्यपर्याप्त निगोद जीव के विग्रहगति में कार्मणकाययोग होता है। द्वादशांग में कहा भी है—

"कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं ॥६०॥ षट्खंडागम संतपरूवणा ।

विग्रहगति को प्राप्त चारों गतियों के जीवों के कार्मण-काय योग होता है।

—जै. ग. 13-5-76/VI/र. ला. जैन, मेरठ

मनुष्य शरीर पृथ्वीकाय नहीं, मनुष्यकाय है

शंका—त० सू० २।१३ की सर्वार्थसिद्धि टीका से समुत्पन्न शंका—क्या मनुष्य पृथ्वीकायिक पंचेन्द्रिय है? जिससे कि मृतक मनुष्य शरीर को पृथ्वीकाय कहा गया है? तथा ऐसा होने पर ३६ पृथ्वियों में से मनुष्य-शरीर कौनसे नाम की पृथ्वी है, यह बात भी निर्णय हो जाती है?

समाधान—पृथ्वीकायिक तो स्थावर एकेन्द्रिय जीव होता है। मनुष्य तो पंचेन्द्रिय है, अतः वह पृथ्वी-कायिक नहीं हो सकता। वह तो त्रस है। मृतक मनुष्य-शरीर को पृथ्वीकाय नहीं कहा गया है और न वह मात्र पृथ्वीकाय है; उसमें जल, वायु अग्नि आदि भी हैं। स० सि० २।१३ में वह स्थल ऐसा है—**"पृथिवीकायिकजीव-परित्यक्तः पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकायवत् ।"** इन शब्दों से शंकाकार को भ्रम हो गया है। इन शब्दों द्वारा तो यह बताया गया है कि जैसे मरे हुए मनुष्य का शरीर मनुष्यकाय कहलाता है उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीव के द्वारा जो शरीर छोड़ा गया वह पृथ्वीकाय कहलाता है। मर जाने पर मनुष्य जीव के द्वारा छोड़ा हुआ शरीर मनुष्यकाय कहलाता है, पृथ्वीकाय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मनुष्य शरीर पृथ्वीकायिक जीव के द्वारा नहीं छोड़ा गया है।

—पत्राचार 77-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

योग मार्गणा

१. योग का स्वरूप (लक्षण) २. स्थित जीव प्रदेशों में भी योग
३. योग औदयिक भाव है ४. किसी भी आचार्य ने योग को क्षायिक नहीं कहा

शंका—योग किसे कहते हैं ? वह कौनसा भाव है।

समाधान—श्री नेमीचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती ने योग का लक्षण निम्न प्रकार कहा है।

पुग्गलविवाइदेहोदयेण, मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१६ गो. जी. ॥

अर्थ—पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है वह योग है।

कायवाङ्मनः कर्म योगः। मोक्षशास्त्र।

अर्थ—काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं।

"वाङ्मनःकायवर्गणानिमित्तः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति।" धवल १ पृ० २९९।

अर्थ—वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द होता है उसे योग कहते हैं।

"कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात्।" धवल १ पृ० ३१६।

अर्थ—कर्मजनित आत्मप्रदेशपरिस्पन्द ही आस्रवका कारण है। योग में यह अर्थ विवक्षित है।

योग का लक्षण तीन प्रकार कहा गया है। १. शरीरनामकर्म के उदय से जीव की जो कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूतशक्ति, वह योग है। २. मन, वचन, काय की क्रिया योग है। ३. आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द वह योग है।

इन तीन लक्षणों में प्रथम लक्षण के अनुसार योग आत्मा के समस्त प्रदेशों में होता है, यह सिद्ध होता है।

कार्य में कारणका उपचार करके दूसरा और तीसरा लक्षण कहा गया है। श्री वीरसेन आचार्य ने कहा भी है—"मन, वचन एवं कायसम्बन्धी क्रिया की उत्पत्ति में जो जीव का उपयोग (प्रयत्न) होता है वह योग है। और वह कर्मबन्ध (कर्म आस्रव) का कारण है। परन्तु वह थोड़े से जीव-प्रदेशों में नहीं हो सकता, क्योंकि एक जीव में प्रवृत्त हुए उक्त योग की थोड़े से ही अवयवों में प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है, अथवा एक जीव में उसके खण्ड-खण्डरूप से प्रवृत्त होने से विरोध आता है। इसलिये स्थित (परिस्पन्द रहित, अचल) जीव प्रदेशों में भी कर्मबन्ध होता है, यह जाना जाता है। दूसरे योग से जीवप्रदेशों में नियम से परिस्पन्द होता है, ऐसा नहीं है; क्योंकि योग से अनियम से उसकी उत्पत्ति होती है। तथा एकांततः नियम नहीं है, ऐसी भी बात नहीं है,

क्योंकि यदि जीवप्रदेशों में परिस्पन्द उत्पन्न होता है तो वह योग से ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम पाया जाता है। इस कारण स्थित (परिस्पन्द रहित, अचल) जीवप्रदेशों में भी योग के होने से कर्मबन्ध को स्वीकार करना चाहिये।" धवल १२/३७।

परिस्पन्द यद्यपि आत्मा के समस्तप्रदेशों में नहीं होता, क्योंकि मध्य के आठप्रदेश हमेशा अचल रहते हैं, तथापि योग समस्त आत्मप्रदेशों में होता है। इससे सिद्ध है कि मन, वचन, काय की क्रिया अथवा आत्मप्रदेश परिस्पन्द कार्य है और योग कारण है।

योग औदयिकभाव है, क्योंकि उपर्युक्त "पुग्गलविवाइदेहोदयेण" और 'कर्मजनितस्य' शब्दों द्वारा योग की उत्पत्ति कर्मोदय के कारण कही गई है।

"जोगमग्गणा वि ओदइया, णामकम्मस्स उदीरणोदयजणिदत्तादो।" धवल ९ पृ० ३१६।

अर्थ—योगमार्गणा भी औदयिक है, क्योंकि वह नामकर्म की उदीरणा व उदय से उत्पन्न होती है।

"एत्थ ओदइयभावट्ठाणेण अहियारो, अघादिकम्माणमुदएण तप्पाओग्गेण जोगुप्पत्तीदो। जोगो खओव-समिओ त्ति के वि भणंति। तं कधं घडदे? वीरियंतराइयक्खओवसमेण कत्थ वि जोगस्स वड्ढिमुवलब्भिय खओव-समियत्तपदुप्पायणादो घडदे।" धवल पु० १० पृ० ४३६।

अर्थ—योग की उत्पत्ति तत्प्रायोग्य अघातियाकर्मोदय से होती है इसलिये यहाँ औदयिकभावस्थान है। कितने ही आचार्यों ने योग को क्षायोपशमिक भाव कहा है, वह वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से योग की वृद्धि होने की अपेक्षा से कहा है।

"सरीरणामकम्मोदयजणिदजोगो"........धवल ७ पृ० १०५।

अर्थ—'योग' शरीर नाम कर्म जनित है।

"ओदइओ जोगो, सरीरणामकम्मोदयविणासाणंतरं जोगविणासुवलंभा।" धवल ५।२२५।

अर्थ—'योग' यह औदयिक भाव है, क्योंकि शरीर नामकर्म के उदय का विनाश होने के पश्चात् ही योग का विनाश पाया जाता है।

"पुद्गल विपाकिनः शरीरनामकर्मण उदयापादिते कायवाङ्मनोवर्गणान्यतमालम्बने सति वीर्यान्तराय-मत्यक्षरावावरणक्षयोपशमापादिताभ्यंतरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुख्यस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः।" रा० वा० ६-१-१०।

अर्थ—पुद्गलविपाकी शरीरनामा नामकर्म के उदयकरि किया काय, वचन, मन सम्बन्धी वर्गणानि में वचनवर्गणा का आलम्बन होते संते वीर्यान्तराय मति तथा श्रुत अक्षरादि ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम करि प्राप्त भई जो अभ्यन्तर वचन की लब्धि कहिये बोलने की शक्ति ताकी निकटता होते वचन परिणाम के सन्मुख भया जो आत्मा ताके प्रदेशनि का चलना सो वचनयोग है।

"यदि क्षयोपशमलब्धिरभ्यन्तर हेतुः, क्षये कथम् । क्षयेपि हि सयोगकेवलिनः त्रिविधो योग इष्यते । अथ क्षयनिमित्तोऽपि योगः कल्प्यते, अयोगकेवलिनां सिद्धानां च योगः प्राप्नोति ? नैष दोषः, क्रिया परिणामिन आत्मनस्त्रिविधवर्गणालम्बनापेक्षः प्रदेशपरिस्पंदः सयोगकेवलिनो योगविधिर्विधीयते, तदालम्बनाभावात् उत्तरेषां योगविधिर्नास्ति ।" रा० वा० ६।१।१० ।

आज से ७० वर्ष पूर्व श्री पं० पन्नालालजी न्यायदिवाकर कृत अर्थ इस प्रकार है—

प्रश्न—जो वीर्यान्तराय अर ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम जनित लब्धिको योग की प्रवृत्ति में अभ्यन्तर कारण कह्या, सो क्षय अवस्था में कैसे संभवे ? जातैं वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होते भी सयोगकेवलीभट्टारक के तीन प्रकार योग आगम में कह्या है। बहुरि क्षय निमित्त कभी योग कल्पिए तो अयोगकेवली भगवान के अर सिद्धों के योग का सद्भाव प्राप्त होय। तातैं पूर्वोक्त योग का लक्षण में अव्याप्ति अतिव्याप्ति नामा दोष प्राप्त होय है ?

उत्तर—यहाँ यह दोष नहीं है, जातैं पुद्गलविपाकी शरीरनामा नामकर्म के उदय करि मन, वचन, काय करि विशिष्ट क्रिया परिणामी आत्मा के ही योग का विधान है। ऐसैं आत्मा के मन, वचन, काय सम्बन्धी वर्गणानि के अवलम्बन की अपेक्षा प्रदेशपरिस्पन्दात्मक सयोगकेवली के योगविधि कही है। यहाँ अयोगकेवली के तथा सिद्धनि के तिन वर्गणानि के अवलम्बन का अभाव है जातैं तिन के योगविधि का सद्भाव नाहीं ऐसा जानना।

इसप्रकार श्री अकलंकदेव ने भी योग को शरीरनामकर्मोदय जनित ही माना है। योग क्षायिकभाव नहीं होता है। किसी भी आचार्य ने योग को क्षायिकभाव नहीं कहा है।

"जदि जोगो वीरियंतराइयखओवसमजणिदो तो सजोगिम्हि जोगाभावो पसज्जदे ? ण, उवयारेण खओवसमियं भावं पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहादो ।" धवल ७ पृ० ७६ ।

अर्थ—यदि योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तो सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है ? नहीं आता, क्योंकि योग में क्षायोपशमिकभाव तो उपचार से माना गया है। असल में तो योग औदयिकभाव है और औदयिकयोग का सयोगिकेवली में अभाव मानने में विरोध आता है।

"योगसम्बन्धाभावः आत्मनः क्षायिकः ।" रा० वा० ९-७-११ ।

अर्थात्—आत्मा के योग के सम्बन्ध का अभाव सो क्षायिकभाव है।

"अजोगिकेवलिम्मि णट्ठासेसजोगम्मि जीवपदेसाणं संकोचविकोचाभावेण अवट्ठाणुवलंभादो ।" धवल १२ पृ० ३६७ ।

अर्थ—अयोगकेवली जिनमें समस्त योगों के नष्ट हो जाने से जीव-प्रदेशों का संकोच व विस्तार नहीं होता है, अतएव उनके आत्मप्रदेश अवस्थित पाये जाते हैं।

इसप्रकार चौदहवें गुणस्थान में समस्त योग नष्ट हो जाता है, अतः अयोगकेवली और सिद्ध भगवान में योग शक्तिरूप से भी विद्यमान नहीं है। भूतनैगमनय की अपेक्षा से उनमें योग का उपचार हो सकता है।

—जै. ग. 7-11-66/VII/ला. च.

योग औदयिक भाव है, किन्तु बारहवें गुण० तक उपचारतः क्षायोपशमिक भाव भी है

शंका—सन् १९६४ की चर्चा में श्री पं० कैलाशचन्दजी ने तेरहवें गुणस्थान में योग को क्षायिक कहा था, किन्तु २३ दिसम्बर १९६५ के जैनसंदेश में तेरहवें गुणस्थान में योग को औदयिक और उपचार से क्षायोपशमिक तथा अन्य गुणस्थानों में मात्र क्षायोपशमिक कहा है। इस पर शंका यह है कि छद्मस्थ जीवों के योग कौन भाव है और सयोगकेवली के कौन भाव है? क्या श्री वीरसेन आचार्य का मत श्री पुष्पदन्त, भूतबलि आदि अन्य आचार्यों के मत से विपरीत है?

समाधान—जिनागम में अपेक्षा कृत कथन पाया जाता है। अपेक्षा को न समझने के कारण हम क्षुद्र प्राणी जो महानाचार्य की पद-रज के समान भी नहीं हैं, इन महानाचार्यों की कथनी पर नाना प्रकार के दोषारोपण करने लगते हैं। श्री वीरसेन आदि महानाचार्य हुए हैं जो असत्य को महापाप समझते थे, उसका सर्वदेश त्यागकर जिन्होंने सत्य महाव्रत ग्रहण किया था, जिनको गुरु परम्परा से उपदेश प्राप्त हुआ था, उसीको उन्होंने लिपिबद्ध किया है, जिसका उनको उपदेश प्राप्त नहीं हुआ था उस विषय में अपनी ओर से कुछ न लिखकर यह लिख दिया कि उपदेश प्राप्त न होने के कारण इस विषय का ज्ञान नहीं है। ऐसे महानाचार्यों की कथनी पर हमको नत मस्तक हो श्रद्धान कर लेना चाहिये। किसी भी आचार्य ने किसी से राग के वश या किसी के मत को पुष्ट करने के लिये या पक्षपात के कारण कोई असत्य कथन नहीं किया है। मेरी तो इस प्रकार की श्रद्धा है इसीलिये जिनवाणी को सर्वोपरि समझता हूँ। उसके कथन के सामने न कोई तर्क है, न कोई युक्ति है।

षट्खंडागम के दूसरे खण्ड क्षुद्रकबंध के स्वामित्वअनुगम के सूत्र ३२ में यह शंका उठाई गई है कि योग-मार्गणा अनुसार जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी कैसे होते हैं? इस सूत्र की टीका में श्री वीरसेन आचार्य ने योग को औपशमिक आदि पाँचों भावों के मानने से क्या-क्या दोष आते हैं उनको बतलाकर शंका को स्पष्ट किया है। जैनसंदेश २३ दिसम्बर १९६५ पृ० ३५२ कालम ३ में यह टीका उद्धृत की गई है। न मालूम क्यों बीच में से यह वाक्य छोड़ दिया गया है—छोड़ा हुआ वाक्य इस प्रकार है—"योग घातिकर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न भी नहीं है, क्योंकि इससे भी सयोगीकेवली में योगके अभाव का प्रसंग आ जायगा।"

यदि यह वाक्य न छूटता तो संभवतः इस प्रकार का लेख जैनसंदेश में न लिखा जाता। पूर्वोक्त शंकारूपी सूत्र का उत्तर देते हुए श्री भूतबलि आचार्य ने सूत्र ३३ द्वारा यह उत्तर दिया है कि "क्षयोपशमलब्धि से जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होता है।" सूत्र होने के कारण इसमें संक्षेप रूप से कथन है। इसकी विशेष व्याख्या के लिये श्री वीरसेन आचार्य ने धवल टीका रची है। किन्तु उनसे पूर्व श्री पूज्यपाद तथा श्री अकलंकदेव भी महानाचार्य हुए हैं। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों की विशेष व्याख्या के लिये सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका रची हैं। उक्त दोनों आचार्यों के समक्ष भी षट्खण्डागम मूल ग्रन्थ था।

तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय में आस्रवतत्त्व का कथन है। आस्रव का कारण योग है अतः "कायवाङ्मनः कर्म योगः।" अर्थात् मन, वचन, काय की क्रिया योग है; ऐसा प्रथम सूत्र रचा गया। इस सूत्र में मात्र योगका लक्षण कहा गया है यह नहीं बतलाया गया है कि 'योग' कौनसा भाव है। अतः इस सूत्र के टीकाकारों ने भी इस सूत्र की टीका में स्पष्ट रूप से यह विवेचन नहीं किया कि योग कौनसा भाव है, क्योंकि उनके समक्ष यह प्रश्न ही नहीं था। इन दोनों महान् आचार्यों ने योग के बाह्य और आभ्यन्तर दो कारण बतलाये हैं। शरीरनामकर्म के उदय से प्राप्त हुई काय वचन, मनोवर्गणाओं में से किसी एक जाति की वर्गणाओं का आलम्बन तो बाह्य कारण है और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम अन्तरंग कारण है। वचनयोग और मनोयोग में ज्ञानावरण के क्षयोपशम को

भी अन्तरंग कारण कहा गया है। अर्थात् योग के लिये शरीरनामकर्म का उदय बाह्यकारण और अन्तरायकर्म का क्षयोपशम अन्तरंगकारण ये दो कारण कहे गये हैं। बारहवें गुणस्थान तक तो अन्तरंग और बहिरंग ये दोनों कारण रहते हैं। और तेरहवें गुणस्थान में अंतरायकर्म और ज्ञानावरण का उदय हो जाने पर इन कर्मों के क्षयोपशम का अभाव हो जाने से अंतरंग कारण का अभाव हो जाता है। अतः सयोगकेवली जिन के मात्र शरीरनामकर्मोदय से प्राप्त तीन प्रकार की वर्गणाओं का आलम्बन बाह्य कारण रह जाता है। इसी बात को श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि टीका में कहा है—

"क्षयेऽपि त्रिविधवर्गणापेक्षः सयोगकेवलिनः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो वेदितव्यः।" (स० सि० ६।१) अर्थात् वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणकर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोगकेवली के शरीरनामकर्मोदय से प्राप्त तीन-वर्गणाओं की अपेक्षा आत्मप्रदेशपरिस्पन्द होता है उसको योग जानना चाहिए।

श्री अकलंकदेव ने भी अध्याय ६ सूत्र १ की टीका में इसी बात को इन शब्दों में कहा है—

"यदि क्षयोपशमलब्धिरभ्यन्तरहेतु, क्षये कथम्। क्षयेऽपि हि सयोगकेवलिनः त्रिविधयोग इष्यते। अथ क्षयो-निमित्तोपि योगः कल्पयेत, अयोगकेवलिनां सिद्धानां च योगः प्राप्नोति ? नैष दोषः, क्रियापरिणामिन आत्मनस्त्रिविध-वर्गणालम्बनापेक्षः प्रदेशपरिस्पन्दः सयोगकेवलिनो योगविधिर्विधीयते, तदालम्बनाभावात् उत्तरेषां योगविधिर्नास्ति।"

स्वर्गीय श्री पं० पन्नालाल न्यायदिवाकरकृत अर्थ—यहाँ कोई पूछै है, जो वीर्यान्तराय अर ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमजनित लब्धि को योग की प्रवृत्ति में अभ्यन्तरकारण कहा सो क्षय अवस्था में कैसे संभवै। जातैं वीर्यान्तराय अर ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होते भी सयोगकेवलीभट्टारक के तीन प्रकार का योग आगम में कहा है। बहुरि क्षय निमित्तक भी योग कल्पिए तो अयोगकेवलीभगवान के अर सिद्धों के योग का सद्भाव प्राप्त होय। तातैं पूर्वोक्त योग का लक्षण में अव्याप्ति अतिव्याप्तिनामा दोष प्राप्त होय है ?

समाधान—यहाँ यह दोष नहीं, जातैं पुद्गलविपाकी शरीरनामा नामकर्म के उदय करि मन, वचन, काय करि विशिष्ट क्रिया परिणामी आत्मा के ही योग का विधान है। ऐसे आत्मा के मन, वचन, कायसम्बन्धी वर्गणानि के अवलम्बन की अपेक्षा प्रदेशपरिस्पन्दात्मक सयोगकेवली के योगविधि कही है। तहाँ अयोगकेवली तथा सिद्धनिके तिन वर्गणानि के अवलम्बन का अभाव है। तातैं तिनके योगविधि का सद्भाव नाहीं, ऐसा जानना।' ला० जम्बू-प्रसाद के मंदिर की प्रति पृ० १२६४।

श्री पूज्यपादस्वामी व श्री अकलंकदेव ने अध्याय ६ प्रथम सूत्र की टीका में यह कथन नहीं किया कि योग कौन भाव है। कर्मका उदय व क्षयोपशम में दोनों कारण बतलाये गये हैं और तेरहवेंगुणस्थान में मात्र शरीर नाम का उदय ही कारण बतलाया गया और उसके उदय के अभाव में योग का अभाव बतलाया गया। कर्म का उदय व क्षयोपशम इन दोनों कारणों में से मात्र कर्म के क्षयोपशम को ग्रहण कर यह कहना कि श्री पूज्यपाद स्वामी तथा अकलंकदेव ने योग को क्षायोपशमिक कहा है, और श्री वीरसेन आचार्य योग को औदयिकभाव कहकर इन दोनों आचार्यों का विरोध किया है; उचित नहीं है। यदि श्री पूज्यपादस्वामी या श्री अकलंकदेव का योग को क्षायोप-शमिकभाव कहने का अभिप्राय रहा होता तो वे तेरहवेंगुणस्थान में मात्र शरीरनामकर्मोदय को कारण न कहते। श्री वीरसेन स्वामी ने इन दोनों आचार्यों के कथन की पुष्टि ही की है, किन्तु विरोध नहीं किया है। श्री वीरसेन स्वामी के कथन से एकान्त मान्यता का विरोध अवश्य होता है।

टीकाकार का कर्त्तव्य सूत्र की विशद व्याख्या करना है, न कि सूत्र का खंडन करना। **षट्खंडागम, दूसरा खंड, क्षुद्रकबंध के स्वामित्वअनुयोगद्वार के सूत्र ३३ में श्री भूतबली आचार्य** ने योग को क्षायोपशमिकभाव बतलाया है। **श्री वीरसेन आचार्य** ने उस सूत्र की टीका में यह बतलाया है कि "वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम के अनुसार वीर्य में वृद्धि होती है और उस वीर्य की वृद्धि से आत्मप्रदेशपरिस्पन्द बढ़ता है इसलिए योग क्षायोपशमिकभाव कहा गया है। इस कथन में सूत्र से कोई विरोध नहीं आता है। योग क्षायोपशमिकभाव है ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में योग तो है, किन्तु क्षायोपशमिकभाव नहीं है। शरीरनामा नामकर्मोदय तेरहवें गुणस्थान में भी योग का कारण है और उससे पूर्व के सर्वगुणस्थानों में भी योग का कारण है इसलिए योग औदयिकभाव है, किन्तु योग में हानि-वृद्धि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है इसलिए योग उपचार से क्षायोपशमिकभाव है। इस कथन में यह स्पष्टीकरण किया गया कि **श्री भूतबली आचार्य** ने योग को क्षायोपशमिकभाव विशिष्ट अपेक्षा से बतलाया है, जिससे मूढ़मति योगको एकांत से क्षायोपशमिकभाव न मान लेवें। इसी सूत्र की टीका में मनोयोग, वचनयोग और काययोग को क्षायोपशमिक सिद्ध भी किया है। **धवल पु० ७ पृ० ७७।**

धवल पु० १० पृ० ४३६ पर योग कौन भाव है, ऐसा पुनः प्रकरण आया है। वहाँ पर भी **श्री वीरसेन आचार्य** ने लिखा है—"नोआगमभावस्थान औदयिक आदि के भेद से पाँच प्रकार है। यहाँ पर औदयिकभावस्थान का अधिकार है, क्योंकि योगकी उत्पत्ति तत्प्रायोग्य अघातियाकर्म के उदय से होती है। कहीं पर वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से योग की वृद्धि को पाकर चूंकि उसे क्षायोपशमिक प्रतिपादित किया गया है, अतएव वह भी घटित होता है।

जो विद्वान् योग को औदयिक नहीं मानते उनको सयोगकेवली के योग को क्षायिकभाव मानना पड़ेगा।

श्री वीरसेन आचार्य ने तो "योग औदयिकभाव है, किन्तु बारहवेंगुणस्थान तक उपचार से क्षायोपशमिक भाव भी है;" ऐसा कहा है। इस कथन का अन्य आचार्यों के कथन के साथ विरोध भी नहीं आता है। आर्षवाक्यों पर श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है अथवा निर्मल होता है। युक्ति के बल पर आर्षवाक्यों का खण्डन करने से मिथ्यात्व पुष्ट होता है।

—जै. ग. 28-2-66/XI/ ट. ला. जैन, मेरठ

१. परमाणु में कर्णेन्द्रिय के विषय होने की शक्ति नहीं है
२. योग उपचार से क्षायोपशमिक तथा परमार्थ से औदयिक भाव है
३. सिद्धों में निष्क्रियत्व शक्ति है, योग शक्ति नहीं
आत्मप्रदेशपरिस्पन्द, क्रिया व योग; ये एकार्थवाची हैं

शंका—प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखा है—'पर्यायशक्ति समन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी' अर्थात् द्रव्य-शक्ति पर्यायशक्ति के साथ ही कार्यकारी है। इसी प्रकार क्या ऐसा भी है कि पर्यायशक्ति द्रव्यशक्ति के साथ ही कार्यकारी है? घट में जलधारणशक्ति पर्यायशक्ति है तो विवक्षित घटकी मिट्टी में जलधारणशक्ति द्रव्यरूप से है या नहीं? यह प्रश्न योगके विषय को स्पष्ट समझने के लिये है। योग आत्माकी पर्यायशक्ति है या द्रव्यशक्ति है? क्या द्रव्यशक्ति के बिना पर्यायशक्ति नहीं हो सकती?

समाधान—द्रव्यशक्ति नित्य होती है, क्योंकि द्रव्य का अनादिनिधन स्वभाव है, और पर्यायशक्ति अनित्य होती है, क्योंकि पर्याय सादिपर्यवसानरूप है। **"द्रव्यशक्तिर्नित्यैव अनादिनिधनस्वभावत्वाद्द्रव्यस्य। पर्यायशक्ति-स्त्वनित्यैव सादिपर्यवसानत्वात्पर्यायाणाम्।" (प्रमेयकमलमार्तण्ड २।२)** इससे स्पष्ट है कि पर्यायशक्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं किन्तु द्रव्यशक्ति नित्य रहती है।

द्रव्यशक्ति नित्य होने के कारण पर्यायशक्तियों के साथ रहती है, किन्तु पर्यायों और शक्तियों के कार्यकारी होने में द्रव्यशक्ति की सहकारिता का नियम नहीं है। घट में जलधारणशक्ति पर्यायशक्ति है, किन्तु पुद्गलपरमाणु में जलधारण करने की शक्ति नहीं है। जैसे शब्द में कर्णइंद्रिय का विषय होने की शक्ति है, किन्तु परमाणु में कर्णइंद्रिय का विषय होने की शक्ति नहीं है, क्योंकि परमाणु अशब्द है। कहा भी है—

> **सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।**
> **सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिभवो ॥७७॥**
> **आदेशमत्तमुत्तो धादु चदुक्कस्स कारणं जो दु।**
> **सो णेओ परमाणू परिणाम गुणो सयमसद्दो ॥७८॥ पंचास्तिकाय ॥**

अर्थ— सर्वस्कन्धों का जो अंतिमभाग है उसको परमाणु जानो। वह अविभागी एक शाश्वत मूर्तरूप से उत्पन्न होने वाला है और अशब्द है ॥७७॥ जो आदेशमात्र से मूर्त है और पृथ्वी आदि चारधातुओं का कारण है वह परमाणु जानना। जो कि परिणाम गुणवाला है और स्वयं अशब्द है ॥७८॥

इसी की टीका में **श्री अमृतचन्द्राचार्य** लिखते हैं—

"यथा च तस्य परिणामवशादव्यक्तो गंधादिगुणोऽस्तीतिप्रतिज्ञायते, न तथा शब्दोऽप्यव्यक्तोऽस्तीति ज्ञातुं शक्यते तस्यैकप्रदेशस्यानेकप्रदेशात्मकेन शब्देन सहैकत्वविरोधादिति।"

अर्थ— जिस प्रकार परिणामवश परमाणु के गंधादि गुण अव्यक्त ज्ञात होते हैं उसी प्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा जानना शक्य नहीं है, क्योंकि एकप्रदेशी परमाणु का अनेक प्रदेशात्मकशब्द के साथ एकत्व होने में विरोध है।

परमाणु में गंधादिगुण भले ही अव्यक्त हों, किन्तु होते अवश्य हैं। परन्तु परमाणु में शब्द अव्यक्तरूप से रहता हो ऐसा नहीं है। शब्द तो परमाणु में व्यक्तरूप से या अव्यक्तरूप से बिलकुल होता ही नहीं है। अनन्त-परमाणुओं की स्कन्धरूप पर्याय शब्दवर्गणा है। बाह्यनिमित्त पाकर वे शब्दवर्गणायें शब्दरूप परिणम जाती हैं जो कर्णइंद्रिय का विषय बन जाता है।

परमाणु में, शीत-उष्ण में से एक और स्निग्ध-रूक्ष में से एक, ऐसे दो स्पर्श पाये जाते हैं, किन्तु स्थूल-स्कन्धों में, ये दो और नरम-कठोर व हल्का-भारी इन चार में से कोई दो, इस प्रकार चार स्पर्श पाये जाते हैं। नरम, कठोर, हल्का, भारी ये पर्याय-शक्तियाँ हैं जो परमाणु द्रव्य में नहीं पाई जाती हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ८१ की टीका में कहा भी है—

"सर्वत्रापि परमाणौ रसवर्णगंधस्पर्शाः सहभुवोगुणाः। चतुर्णां शीतस्निग्धशीतरूक्षोष्णस्निग्धोष्णरूक्षरूपाणां स्पर्शपर्यायद्वन्द्वानामन्यतमेनैकेनैकदा स्पर्शोवर्तते।"

अर्थ—सर्वत्र परमाणुमें रसगंध-वर्ण-स्पर्श सहभावीगुण होते हैं। शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष उष्ण-स्निग्ध, उष्ण-रूक्ष चार स्पर्शपर्यायों के युगल में से एक समय किसी एक युगलसहित स्पर्श वर्तता है।

पुद्गलद्रव्यों के परस्पर बंध से तथा जीव-पुद्गलों के परस्पर बंध से अनेक पर्यायें उत्पन्न हो जाती हैं, जो परमाणुरूप भेद हो जाने पर अथवा जीव-पुद्गल का सर्वथा भेद हो जाने पर नष्ट हो जाती हैं। योग भी इसी

प्रकार की पर्याय है इसीलिए इसको औदयिकभाव स्वीकार किया है। वीर्यअन्तरायकर्म के क्षयोपशम के कारण योग में हानि-वृद्धि होती है अतः इस अपेक्षा से योग को क्षायोपशमिकभाव भी कहा है, अर्थात् योग में क्षायोपशमिकभाव का उपचार किया गया है। श्री वीरसेन स्वामी ने कहा भी है—

"एत्थ ओदइय भावट्ठाणेण अहियारो, अघाविकम्माणमुदएण तप्पाओग्गेण जोगुप्पत्तीदो। जोगो खओव-समिओ त्ति के वि भणंति। तं कधं घडदे ? वीरियंतराइयक्खओवसमेण कत्थ वि जोगस्स वड्ढिमुवलक्खिय खओव-समियत्तपदुप्पायणादो घडदे।" धवल १० पृ० ४३६।

अर्थ—यहाँ औदयिकभाव स्थान का अधिकार है, क्योंकि योग की उत्पत्ति तत्प्रायोग्य अघातियाकर्म के उदय से है। यदि यह कहा जाय कि कुछ आचार्यों ने योग को क्षायोपशमिक कहा है वह कैसे घटित होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ पर वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से योग की वृद्धि को देखकर योग को क्षायोपशमिक प्रतिपादन किया गया है, अतएव वह भी घटित हो जाता है।

इस प्रकार योग कर्मजनित (औदयिक) भाव है, आत्मा का निज स्वभाव नहीं है; अतः तत्प्रायोग्य कर्मोदय के अभाव में योग का अथवा कर्मग्रहण शक्ति का भी अभाव हो जाता है। जो योग को औदयिकभाव स्वीकार नहीं करते, किन्तु मात्र आत्मा से ही उत्पन्न हुई शक्ति मानते हैं, वे योग का सद्भाव सिद्ध अवस्था में भी शक्तिरूप से मानते हैं, किन्तु उनका यह श्रद्धान आर्षग्रंथ अनुकूल नहीं है।

"कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥१॥ स आस्रवः ॥२॥" त० सू० अध्याय ६।

अर्थात्—शरीर, वचन और मनरूप क्रिया योग है और वह योग आस्रवका कारण होने से आस्रव है।

शरीर, वचन और मनरूप क्रिया अर्थात् आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द वह योग है और वह कर्मआस्रव का कारण है।

"जीवस्सप्पणियोओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो।" धवल पु० १ पृ० १४०।

जीव के प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दरूप क्रिया को योग कहते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कथन किया है।

'कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात्।' धवल पु० १ पृ० ३१६।

अर्थ—कर्मजनित चैतन्य परिस्पन्द (आत्म प्रदेश परिस्पन्द) ही आस्रव का कारण है।

'परिस्पन्दनरूप पर्य्यायः क्रिया।' पंचास्तिकाय गाथा ९८ टीका।

अर्थात्—परिस्पन्दनरूप जो पर्याय है वह क्रिया है।

इसप्रकार 'आत्मप्रदेशपरिस्पन्दन' 'क्रिया' और 'योग' ये तीनों एकार्थवाची हैं। आत्मा में निष्क्रियत्वशक्ति है, क्योंकि आत्म-स्वभाव निष्क्रिय है।

'सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।'

अर्थ—समस्त कार्यों के उपरम (अभाव) से प्रवृत्त आत्मप्रदेशों की निस्पन्दतास्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है। समयसार आत्मख्याति टीका का परिशिष्ट।

'शुद्धात्मानु-भूतिबलेन कर्मक्षये जाते कर्मनोकर्मपुद्गलानामभावात्सिद्धानां निःक्रियत्वं भवति।' पंचास्तिकाय गाथा ९८ श्री जयसेनाचार्य कृत टीका।

अर्थात्—निष्क्रिय निर्विकार शुद्धात्मा की अनुभूति के बल से कर्मों का क्षय हो जाने पर कर्म नोकर्मरूप पुद्गलों का अभाव हो जाने से सिद्धों के निष्क्रियपना होता है।

जिस प्रकार आत्मा में अमूर्तत्त्व शक्ति है उसी प्रकार आत्मा में निष्क्रियत्व (अयोग) शक्ति है। ये स्वाभाविक शक्तियाँ हैं। कर्मबंध के कारण जिस प्रकार अमूर्तत्व स्वाभाविक शक्ति वाला आत्मा मूर्त हो जाता है, इसी प्रकार निष्क्रियत्व स्वाभाविक शक्तिवाला आत्मा सक्रिय (सयोग) हो जाता है।

सिद्धों में क्रियावतीशक्ति या योगशक्ति का उल्लेख किसी भी प्राचीन आचार्य ने नहीं किया है, किन्तु निष्क्रियत्वशक्ति का उल्लेख अवश्य किया है।

योग औदयिकभाव है। तत्प्रायोग्य कर्मके अभाव में योग का अभाव हो जाता है। अतः सिद्धपर्याय में योग का सद्भाव मानना उचित नहीं है।

—जै. ग. 29-11-65/IX/र. ला. जैन, मेरठ

बादर योग व सूक्ष्म योग

शंका—तेरहवें गुणस्थान के अन्त में बादरयोग और सूक्ष्मयोग का कथन पाया जाता है, बादरयोग और सूक्ष्मयोग से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—संसारी जीव के कर्मोदय से जो कर्मग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह योग है। कहा भी है—

पुग्गलविवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१६॥ (गो. जी.)

अर्थ—पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काययुक्त जीव की जो कर्मोंके ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है वह योग है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'योग' औदयिक भाव है; क्योंकि वह शरीर नामकर्म के उदय से होता है, क्षायिकभाव नहीं है। योग अर्थात् संसारी जीव की कर्मों को ग्रहण करने की जो शक्ति है वह विकारीशक्ति है, जो शरीर नामकर्मोदय के अभाव में नष्ट हो जाती है, क्योंकि यह अशुद्ध पर्यायशक्ति है।

तेरहवें गुणस्थान के अन्त में इस शक्तिके क्षीण होने पर अपूर्वस्पर्द्धक हुए जिससे बादर काययोग के द्वारा बादरमनोयोग, बादरवचनयोग, बादरउच्छ्वास का अभाव होकर बादरकाययोग का भी अभाव हो जाता है। अपूर्व-स्पर्द्धक के पश्चात् पुनः शक्ति के क्षीण होने पर कृष्टियाँ होती हैं, जिससे सूक्ष्मकाययोग के द्वारा सूक्ष्ममनोयोग

सूक्ष्मवचनयोग, सूक्ष्मउच्छ्‌वास का अभाव होकर सूक्ष्मकाययोग का भी निरोध तीसरे शुक्लध्यान में हो जाता है। इस क्रम से सम्पूर्ण योगका निरोध हो जाने पर अयोगिजिन हो जाते हैं। धवला पु० पृ० ४१४-४१६।

—जै. ग. 5-6-77/IV/ब्र. कै. ला.

व्याघात से योग परिवर्तन

शंका—योग का पलटन व्याघात से भी होता है। व्याघात का क्या अर्थ है।

समाधान—शरीर को धक्का लगने पर या अचानक किसी प्रकार की ऐसी जोर से आवाज हो, जिससे शरीर उचक पड़े या अन्य कोई आघात जिससे यकायक शरीर में विशेष क्रिया हो जावे, उस व्याघात के कारण मनोयोग या वचनयोग पलटकर काययोग हो जाता है, किन्तु व्याघात के कारण काययोग पलटकर मनोयोग या वचनयोगरूप नहीं होता।

—जै. ग. 16-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जै.

एक योग द्वारा प्रतिसमय एकाधिक प्रकार की वर्गणाओं का ग्रहण

शंका—क्या यह निश्चित एवं जरूरी है कि आहारककाययोग से आहारकवर्गणा ही आती हों. इसी तरह वचनयोग से वचनवर्गणा (भाषावर्गणा) और मनोयोग से मनोवर्गणा ही आती हों, अन्य वर्गणा न आती हों ?

समाधान—आहारककाययोग के समय आहारकशरीर वर्गणा तो आती ही हैं, किन्तु भाषावर्गणा और मनोवर्गणा भी आती हैं। इसीप्रकार वचनयोग के समय आहारकवर्गणा (अर्थात् औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिक-शरीरवर्गणा, आहारकशरीरवर्गणा में से कोई एकवर्गणा) तथा भाषावर्गणा तो आती ही है यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय है तो मनोवर्गणा भी आती है। इसी प्रकार मनोयोग के समय आहारवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणा तीनों प्रकार की वर्गणा आती हैं, क्योंकि मन, वचन, काय की युगपत् प्रवृत्ति सम्भव है। कहा भी है—

'मनोवाक्काय प्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिर्दृष्टत्वात्, न तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिस्तथोपदेशाभावादिति। पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्तिर्दृश्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्त प्रयत्नसम्बन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वात्।' धवल पु० १ पृ० २७९-२८३।

यदि मन, वचन, काय की युगपत् प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ, परन्तु इससे मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के लिये युगपत् प्रयत्न सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि आगम में इस प्रकार का उपदेश नहीं मिलता है। पूर्व प्रयोग से प्रयत्न के बिना भी यदि मनकी प्रवृत्ति होती है तो होने दो, क्योंकि ऐसे मन से होने वाले योग को मनोयोग कहते हैं, ऐसा अर्थ यहाँ पर विवक्षित नहीं है, किन्तु मन के निमित्त से जो परिस्पन्दरूप प्रयत्न विशेष होता है, वह योग है ऐसा विवक्षित है।

यदि वचनयोग के समय मात्र भाषावर्गणाओं का ही ग्रहण हो और मनोवर्गणा व आहारवर्गणा का ग्रहण न हो तो द्रव्य मन व शरीर की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के प्रत्येक योग के द्वारा मनोवर्गणा, भाषावर्गणा आहारवर्गणा, कार्मणवर्गणा व तैजसवर्गणा का ग्रहण होता है।

—जै. ग. 5-2-76/VI/ज. ला. जैन, भीण्डर

आस्रव संज्ञा को प्राप्त योग के कार्य

शंका—पुद्गल संचय होने पर उनके आलम्बन से आत्मप्रदेशों का जो संकोच-विकोच होता है उसे योग कहते हैं। ऐसा मानें तो योग आस्रव है ऐसा कैसे ? क्योंकि पुद्गल संचय और उसका शरीर रूप परिणमन तो शरीरनामकर्म द्वारा हो जायगा। उस आलम्बन से आत्मप्रदेशों में जो परिस्पन्द हुआ, वह योग तो उसका फिर कार्य क्या हुआ ?

समाधान—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २१६ में "जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो"। अर्थात् जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत जो शक्ति है वह योग है, ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि कर्म व नोकर्मरूप पुद्गलप्रदेशों का आगमन योग के द्वारा होता है। अतः पुद्गल संचय भी योग के द्वारा होता है। उत्कृष्ट योग के द्वारा अधिक पुद्गलप्रदेशों का संचय होता है और जघन्य योग के द्वारा अल्प पुद्गलप्रदेशों का संचय होता है। धवल पु० १० पृ० ४३२।

जीव प्रदेशों में जो परिस्पन्द (संकोच विकोच) होता है उसका कारण भी योग ही है।

"जीवपदेस परिप्फन्दहेदू चेव जोगो।" धवल पु० १२ पृ० ३६५।

योग के द्वारा जो नोकर्मवर्गणा आती हैं, उनकी शरीररूप रचना शरीरनामकर्म के उदय से होती है।

कर्मवर्गणा व नोकर्मवर्गणा का आगमन तथा जीवप्रदेशों का परिस्पन्द-ये योग के कार्य हैं। कार्य में कारण का उपचार करके योग को आस्रव कहा गया है ?

"यथासरस्सलिलावाहिद्वारं तदाऽऽस्रवकारणत्वात् आस्रव इत्याख्याते तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव व्यपदेशमर्हति।" सर्वार्थसिद्धि ६/२।

अर्थ—जिस प्रकार तालाब में जल आने का दरवाजा जल के आने का कारण होने से आस्रव कहलाता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ बँधने के लिये कर्म योगरूपी नाली के द्वारा आते हैं, इसलिये योग आस्रव संज्ञा को प्राप्त होता है।

—जै. ग. 30-11-72/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

योग के इच्छापूर्वक होने का नियम नहीं है

शंका—बारहवें गुणस्थान तक योग क्रिया क्या इच्छा पूर्वक होती है ? इच्छा तो मोह की पर्याय है। बारहवें गुणस्थान में मोह रहा नहीं तो इच्छा पूर्वक योग की क्रिया कैसे ?

समाधान—शरीरनाम कर्मोदय से योग होता है।

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयण कायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागम कारणं जोगो॥२१६॥ गो. जी.

पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव के जो कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है वह योग है।

योग में, मोहनीयकर्मोदय या अनुदय निमित्त नहीं है। तेरहवें गुणस्थान तक शरीरनामकर्मका उदय पाया जाता है अतः तेरहवें गुणस्थान तक योग है।

तदियेक्क वज्जणिमिणं थिरसुहसरगदि उरालतेजदुगं।
संठाणं वण्णागुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि ॥२७१॥ गो. क.

इस गाथा में यह बतलाया है कि तेरहवेंगुणस्थान में औदारिकशरीर, औदारिकशरीरअङ्गोपांग, तैजसशरीर व कार्मणशरीर की उदय से व्युच्छित्ति है अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में इन तीनशरीर का उदय रहता है, चौदहवें गुणस्थान में इनका उदय नहीं रहता है। गाथा २६६ में कहा है कि वैक्रियिक शरीर की उदय व्युच्छित्ति चौथे गुणस्थान में होती है, गाथा २६७ में कहा कि आहारक शरीर की उदय व्युच्छित्ति छठे गुणस्थान में हो जाती है। सकषाय जीव के योग इच्छा पूर्वक ही हो, ऐसा भी नियम नहीं है।

—*जै. ग. 8-1-76/VI/ टो. ला. मि.*

एक आत्मप्रदेश के सकम्प होने पर शेष प्रदेशों के सकम्पत्व का नियम नहीं है

शंका—आत्मा का एक प्रदेश सकम्प होने से क्या आत्मा के समस्त प्रदेशों में कम्पन होता है ?

समाधान—आत्मा के सर्व ही प्रदेशों में कम्पन हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि आत्मप्रदेश स्थित और अस्थित दो प्रकार के हैं। कहा भी है—

"स्थितास्थितवचनात्। भवान्तर-परिणामे सुखदुःखानुभवने क्रोधादिपरिणामे वा जीवप्रदेशानाम् उद्वलिग्रवपरिस्पन्दस्याप्रवृत्तिः स्थितिः प्रवृत्तिरस्थितिरित्युच्यते। तत्र सर्वकालं जीवाष्टमध्यप्रदेशा निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव, केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशाः स्थिता एव। व्यायामदुःखपरितापोद्रेक परिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेश-वर्जितानाम् ता इतरे प्रदेशाः अस्थिता एव, शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चास्थिताश्च।" रा. वा. ५/८/१६।

अर्थ—आगम में जीव के प्रदेशों को स्थित और अस्थित दो रूप में बताया है। सुख दुःख का अनुभव भवपरिवर्तन या क्रोध आदि दशा में जीव के प्रदेशों की उथलपुथल को अस्थित तथा उथलपुथल न होने को स्थित कहते हैं। जीव के आठ मध्यप्रदेश सदा निरपवादरूप से स्थित ही रहते हैं। अयोगकेवली और सिद्धों के सभी प्रदेश स्थित हैं। व्यायाम के समय या दुःख, परिताप आदि के समय जीवों के उक्त आठ मध्यप्रदेशों को छोड़कर बाकी प्रदेश अस्थित होते हैं। शेष जीवोंके प्रदेश स्थित और अस्थित दोनों प्रकार के हैं। इसी बात को श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी कहा है—

सव्वमरूवी दव्वं अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि।
रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥५९२॥ गो. जी.

सम्पूर्ण अरूपी द्रव्योंके प्रदेश अवस्थित और अचलित हैं। किन्तु रूपी जीवद्रव्य के अर्थात् संसारीजीव के प्रदेश तीन प्रकार के हैं—चल, अचल, तथा चलाचल। अर्थात् आठ मध्यप्रदेशों के अतिरिक्त शेष सर्वप्रदेश चल हैं, सर्वप्रदेश अचल हैं तथा कुछ चल हैं कुछ अचल हैं।

यह कहना भी ठीक नहीं कि जो आत्मप्रदेश स्थित हैं उनमें कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि योग थोड़े से जीव प्रदेशों में नहीं होता, एक जीव में प्रवृत्त हुए योग की थोड़े से ही अवयवों में प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है अथवा एकजीव में उसके खण्ड-खण्डरूप से प्रवृत्त होने में विरोध आता है। इसलिये स्थित जीवप्रदेशों में कर्मबन्ध होता है यह जाना जाता है। दूसरे योगसे समस्त जीवप्रदेशों में नियम से परिस्पन्द होता हो ऐसा नहीं है। धवल पु० १२ पृ० ३६६-३६७।

—जै. ग. 26-12-68/VII/ म. मा.

स्थित (अचल) जीव प्रदेशों में भी योग एवं कर्मबन्ध होता है

शंका—क्या आत्मा का योगगुण एक ही समय में सकम्प और अकम्प रूप रहता है? ऐसा कथन सुनकर कोई कोई यह कहते हैं कि आत्मा का अमुकप्रदेश शुद्ध है और अमुकप्रदेश अशुद्ध है, सो वास्तविकता क्या है?

समाधान—'योग' आत्मा का कोई गुण नहीं है, किन्तु विभावपर्याय है, क्योंकि योग मात्र अशुद्धजीव में होता है। श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में योग का लक्षण निम्न प्रकार कहा—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो॥२१६॥

अर्थ—मन, वचन, काय से युक्त जीवकी पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मोदय से जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है वह योग है।

कर्मों के ग्रहण करने की शक्ति अर्थात् योग जीवकी पर्यायशक्ति है, क्योंकि यह शक्ति मन, वचन, काय से युक्त जीवमें अर्थात् अशुद्ध-जीव में ही पाई जाती है और शरीर नामकर्मोपाधि जनित है। अतः योग न तो आत्मा का गुण है और न आत्मा की द्रव्यशक्ति है।

धवल पु० १२ में इसी प्रकार की शंका उठाते हुए शंकाकार ने कहा है—

"जो जीवप्रदेश अस्थित हैं उनके कर्मबन्ध भले ही हो, क्योंकि वे प्रदेश योगसहित हैं, किन्तु जो जीवप्रदेश स्थित हैं उनके कर्मबन्ध का होना संभव नहीं है, क्योंकि वे योग से रहित हैं।"

इसका समाधान श्री वीरसेनआचार्य ने निम्नप्रकार किया है—

"मण-वयण-कायकिरिया समुप्पत्तीए जीवस्स उवजोगो जोगो णाम। सोच कम्मबंधस्स कारणं। ण च सो थोवेसु जीवपदेसेसु होदि, एगजीवपयत्तस्स थोवावयवेसु चेव वुत्तिविरोहादो एक्कम्हि जीवे खंडखंडेण पयत्तविरोहादो वा। तम्हा ट्ठिदेसु जीवपदेसेसु कम्मबंधो अत्थि त्ति णव्वदे। ण जोगादो णियमेण जीवपदेसपरिप्फंदो होदि, तस्स तत्तो अणियमेण समुप्पत्तीदो ण च एकांतेण णियमो अत्थि चेव, जदि उप्पज्जदि तो तत्तो चेव उप्पज्जदि त्ति णियमु-वलंभादो। तदो ट्ठिदाणं पि जोगो अत्थि त्ति कम्मबंध भूयमिच्छियव्वं।"

अर्थ—मन, वचन और काय सम्बन्धी क्रिया की उत्पत्ति में जीव का उपयोग होता है वह योग है और वह कर्मबंध का कारण है। परन्तु वह थोड़े से जीवप्रदेशों में नहीं हो सकता, क्योंकि एक जीव में प्रवृत्त हुए उक्त

योग की थोड़े से ही अवयवों में प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है, अथवा एकजीव में उसके खंडखंडरूप में प्रवृत्त होने में विरोध आता है। इसलिये स्थित जीव प्रदेशों में कर्मबंध होता है, यह जाना जाता है। दूसरे योग से जीवप्रदेशों में नियम से परिस्पन्द होता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि यदि जीवप्रदेशों में परिस्पन्द उत्पन्न होता है तो वह योग से ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम पाया जाता है। इस कारण स्थित जीवप्रदेशों में भी योग के होने से कर्मबंध को स्वीकार करना चाहिये।

—जै. ग. 18-6-70/V/ का. ला. कोठारी

आत्मप्रदेश का संकोच–विस्तार किस कर्म के उदय से ?

शंका—आत्मप्रदेश शरीरप्रमाण संकोच-विस्तार को प्राप्त होते रहते हैं, इसमें किस कर्म-प्रकृति का निमित्त रहता है ?

समाधान—शरीरनामकर्मोदय से आत्मप्रदेश शरीर प्रमाण संकोच–विस्तार को प्राप्त होते रहते हैं। वृहद्द्रव्यसंग्रह में कहा भी है—

"शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्य प्रदीपवत् स्वदेह परिमाणः शरीरनामकर्मतदुदये सति अणुगुरुदेहप्रमाणो भवति। शरीरनामकर्मजनितस्वदेहपरिमाणः। शरीरनामकर्म तदुदये सति अणुगुरुदेहप्रमाणो भवति। शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः।" वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २ व १० की टीका।

अर्थ—शरीरकर्मोदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के अधीन होने से, घटादि में स्थित दीपक की तरह अपने शरीरके बराबर है। शरीरनामकर्मोदय से जीव अपने छोटे तथा बड़े शरीर के बराबर होता है, क्योंकि शरीर-नामकर्म से जीव में संकोच-विस्तार शक्ति हो जाती है।

—जै. ग. 23-1-69/VII-IX/ र. ला. जैन, मेरठ

योग से स्थिति–अनुभाग बन्ध नहीं होता

शंका—जिस समय जीव के शुभयोग होता है क्या उस समय पुण्यप्रकृतियों का स्थिति–अनुभागबंध होता है और जिस समय अशुभ योग होता है, उस समय पापप्रकृतियों का स्थिति-अनुभागबंध होता है ?

समाधान—योग से स्थिति–अनुभागबंध नहीं होता है। स्थिति–अनुभागबंध कषाय से होता है। कहा भी है—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥ बृ. द्र. सं.

प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध इन भेदों से बंध चार प्रकार का है। योग से प्रकृति तथा प्रदेशबंध होता है और कषाय से स्थिति तथा अनुभाग बंध होता है।

—जै. ग. 6-7-72/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

योग और क्षायोपशमिक वीर्य में कार्य-कारण सम्बन्ध है

शंका—वीर्य आत्मा का स्वतन्त्र गुण है तब उसका योग से क्या सम्बन्ध है ?

समाधान—क्षायोपशमिकवीर्य की वृद्धि से योग में वृद्धि होती है, अतः क्षायोपशमिकवीर्य व योग में कारण-कार्य सम्बन्ध है। कहा भी है—

"विरियंतराइयस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावेण तेसिं संतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदएण समुब्भवादो लद्धखओवसमववएसं विरियं वड्ढदि, तं विरियं पप्प जेण जीवपदेसाणं संकोचविकोचो वड्ढदि तेण जोगो खओवसमिओ त्ति वुत्तो। विरियंतराइयखओवसम जणिदबलवड्ढि हाणीहिंतो जदि जीवपदेसपरिप्फंदस्स वड्ढिहाणीओ होंति तो खीणंतराइयम्मि सिद्धे जोगबहुत्तं पसज्जदे ? ण खओवसमियबलादो खइयस्स बलस्स पुधत्तदंसणादो। ण च खओवसमियबलवड्ढि-हाणीहिंतो वड्ढि-हाणीणं गच्छमाणो जीवपदेसपरिप्फंदो खइयबलादो वड्ढिहाणीणं गच्छदि, अइप्पसंगादो। जदि जोगो वीरियंतराइय खओवसमजणिदो तो सजोगिम्हि जोगाभावो पसज्जदे ? ण, उवयारेणखओवसमियं भावं पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहादो।" धवल पु० ७ पृ० ७५-७६।

अर्थ—वीर्यान्तरायकर्म के सर्वघातीस्पर्धकों के उदयाभाव से व उन्हीं स्पर्धकों के सत्त्वोपशम से तथा देशघातीस्पर्धकों के उदय से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक कहलानेवाला वीर्य (बल) बढ़ता है तब उस वीर्य को पाकर अर्थात् उस वीर्य के कारण चूंकि जीव-प्रदेशों का संकोच-विकोच बढ़ता है, इसलिये योग क्षायोपशमिक कहा गया है। यहाँ पर यह शंका होती है—यदि वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए बल की वृद्धि और हानि से प्रदेशों के परिस्पंद की वृद्धि और हानि होती है, तब तो जिसके अन्तरायकर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीव में योग की बहुलता का प्रसंग आता है ? आचार्य कहते हैं—सिद्ध जीव में योग की बहुलता का प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि क्षायोपशमिकबल से क्षायिकबल निरन्तर भिन्न देखा जाता है, क्षायोपशमिकबल की वृद्धिहानि से वृद्धि-हानि को प्राप्त होने वाला जीवप्रदेशों का परिस्पन्द क्षायिक बल से वृद्धि-हानि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने से तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा। पुनः शंका—यदि योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तो सयोगिकेवली में योग के अभाव-का प्रसंग आता है। आचार्य कहते हैं कि सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि योग में क्षायोपशमिकभाव तो उपचार से माना गया है, असल में तो योग औदयिक-भाव ही है और औदयिकयोग का सयोगिकेवली में अभाव मानने में विरोध आता है।

षट्खण्डागम में वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम के कारण ही योग को क्षायोपशमिकभाव कहा गया है, क्योंकि वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से वीर्य में हानि-वृद्धि होती है और वीर्य की हानि-वृद्धि से योग में हानि-वृद्धि होती है, इसप्रकार योग और क्षायोपशमिकवीर्य में कार्य कारण संबंध है।

—जै. ग. 16-7-70/ / रो. ला. मि.

हीनाधिक कर्म-ग्रहण में योग व वीर्य क्रमशः साक्षात् व परम्परया कारण हैं

शंका—आत्मा में जो कर्म-नोकर्मपुद्गलों का संचय होता है उसकी हीनाधिकता में कारण क्या है ? क्या शरीरनामकर्म कारण है या वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम कारण है ?

समाधान—कर्म-नोकर्मप्रदेशों के हीनाधिक संचय में कारण योग है, क्योंकि योग से कर्म व नोकर्मप्रदेशों का आगमन होता है। गुणित कर्मांशिक (प्रदेश बहुत संचय वाले) जीव को तत्प्रायोग्य उत्कृष्टयोगों से ही घुमाना

चाहिये, क्योंकि उत्कृष्टयोग के बिना बहुत प्रदेशों का संचय घटित नहीं होता। क्षपितकर्मांशिक (जघन्यप्रदेश संचयवाले) जीव को तत्प्रायोग्य जघन्य योगों से प्रवर्ताना चाहिये, क्योंकि अन्य प्रकार से कर्म और नोकर्म के प्रदेशों की अल्पता नहीं बन सकती है। कहा भी है—

"पदेसअप्पाबहुएत्ति जहा जोग अप्पाबहुगं णीदं तधा णेदव्वं ॥१७४॥ जोगादो कम्मपदेसाणमागमो होदि त्ति कधं णव्वदे ? एदम्हादो चेव पदेस अप्पाबहुगसुत्तादो णव्वदे। तेण गुणिद कम्मांसिओ तप्पाओग्ग उक्कस्सजोगेहि चेव हिंडावेदव्वो अण्णाहा बहुपदेस संचयाणुववत्तीदो। खविद कम्मंसिओ वि तप्पाओग्ग जहण्ण जोग पतीए खग्ग-धार सरिसीए पयट्टावेदव्वो अण्णहा कम्म-णोकम्मपदेसाणं थोवत्ताणुववत्तीदो।" धवल १० पृ० ४३१।

योग के अल्पबहुत्व के कारण प्रदेश संचय में अल्पबहुत्व होता है, अतः जिस प्रकार योग अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार प्रदेशअल्पबहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिये। गुणितकर्मांशिक जीव को उत्कृष्ट-प्रदेश संचय के लिये तत्प्रायोग्य उत्कृष्टयोगों से ही घुमाना चाहिये, क्योंकि इसके बिना उसके बहुत प्रदेशों का संचय घटित नहीं होता है। क्षपितकर्मांशिक जीव को जघन्यप्रदेश संचय के लिये तत्प्रायोग्य जघन्ययोगों को पंक्ति से प्रवर्ताना चाहिये, क्योंकि अन्य प्रकार से कर्म-नोकर्म-प्रदेशों की अल्पता नहीं बनती है।

वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशमकी वृद्धि से योग में वृद्धि होती है, इसलिये पुद्गलप्रदेशों की हीनाधिकता संचय में वीर्यान्तरायकर्म को भी कारण कहा जा सकता है।

"शरीरणामकम्मोदएण सरीरपाओग्गपोग्गलेसु बहुसु संचयं गच्छमाणेसु विरियंतराइयस्स सव्वघादि फद्द-याणमुदयाभावेण तेसिं संतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदएण समुब्भावादो लद्धखओवसमववएसं विरियं वड्ढदि, तं विरियं पप्प जेण जीवपदेसाणं संकोच-विकोचो वड्ढदि तेण जोगो खओवसमिओ त्ति वुत्तो।" धवल पु० ७ पृ. ७५।

"वीरियांतराइयक्खओवसमेण कत्थ वि जोगस्स वड्ढिमुवलक्खियं खओवसमियत्तपदुप्पायणादो घडदे।" धवल पु० १० पृ० ४३६।

वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम में वृद्धि होने से आत्मा की शक्ति में वृद्धि होती है जिससे कर्म-नोकर्म ग्रहण की शक्ति अर्थात् योग में वृद्धि होती है। योग में वृद्धि होने से पुद्गल-प्रदेश संचय में वृद्धि होती है।

—जै. ग. 23-11-72/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

[योग हेतुक] क्षायोपशमिक वीर्य से क्षायिकवीर्य भिन्न होता है

शंका—धवल पु० ७ पृ० ७६ पर लिखा है—'क्षायोपशमिकबल से क्षायिकबल भिन्न देखा जाता है।' इसका यही तो अभिप्राय हुआ कि क्षायोपशमिकबल से क्षायिकबल विशेष अधिक होता है या कुछ अन्य अभिप्राय है ? क्षायोपशमिकबल से जो प्रदेशपरिस्पन्दरूप योग होता है उससे बहुत अधिक क्षायिकबल से होना चाहिये ?

समाधान—धवल पु० ७ पृ० ७५ सूत्र ३३ में योग को क्षायोपशमिकभाव बतलाया गया है, क्योंकि क्षायोपशमिकवीर्य में हानि-वृद्धि होने से योग में हानि-वृद्धि होती है। इस पर यह शंका की गई कि यदि क्षायोप-शमिकवीर्य में हानि-वृद्धि से यदि योग में हानि-वृद्धि होती है तो सिद्ध भगवान में क्षायिकवीर्य हो जाने से योग की बहुलता का प्रसंग आता है ? इसके समाधान में कहा गया है—"क्षायोपशमिकबल से क्षायिकबल भिन्न देखा जाता

है। क्षायोपशमिकबल की वृद्धि-हानि को प्राप्त होनेवाला जीव-प्रदेशों का परिस्पन्द क्षायिकबल से वृद्धि-हानि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने से तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा।"

यहाँ पर विचारणीय यह है कि क्षायोपशमिकबल और क्षायिकबल में क्या अन्तर है? यह बात सुनिश्चित है कि क्षायोपशमिकबल से क्षायिकबल में अनन्तगुणी वृद्धि हो जाती है। क्षायोपशमिकबल की उत्पत्ति वीर्यअन्तरायकर्म के क्षयोपशम के आधीन है। वीर्यअन्तराय कर्मके देशघातीस्पर्धकों के उदय में जैसी हानि-वृद्धि होगी वैसी ही हानि-वृद्धि वीर्य में होगी। अत: क्षायोपशमिकबल वीर्यअन्तरायकर्म के देशघातीस्पर्धकों के उदय के आधीन होने से क्षायोपशमिकबल चेतना-आत्माका विभावभाव, विकारीभाव अथवा विचेतनभाव है। क्षायिक-बल कर्मोदय आधीन नहीं होने से स्वभाव भाव है। कहा भी है—

कर्मणामुदयसंभवा गुणाः शामिकाः क्षयशमोद्भवाश्च ये।
चित्रशास्त्रनिवहेन वर्णितास्ते भवन्ति निखिला-विचेतनाः ॥४९॥

—योगसार प्राभृत अजीवाधिकार

जो भाव (गुण) कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए औदयिक हैं, कर्मों के उपशमजन्य औपशमिक हैं तथा कर्मों के क्षयोपशम से प्रादुर्भूत हुए क्षायोपशमिक हैं और अनेक शास्त्रों में जिनका वर्णन है वे सब भाव विचेतन हैं।

क्षायोपशमिकवीर्य विकारीभाव होने से योग (विकारीभाव) का कारण हो सकता है, किन्तु क्षायिक-भाव स्वभावभाव होने के कारण योग-रूप विकारीभाव का कारण नहीं हो सकता है। यदि क्षायिकभाव भी आत्मा के विकाररूप परिणमन में कारण होने लगे तो आत्मा कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा। इसीलिये धवल पु० ७ पृ० ७६ पर कहा गया है कि क्षायिकबल योग की वृद्धि या हानि में कारण नहीं है। क्षायिकबल से योग में वृद्धि व हानि मानी जायगी तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा।

—जै. ग. 23-11-72/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

काययोग में युगपत् उपयोगद्वय सम्भव है

शंका—ध० खं० पु० २ में काययोगी जीवों के सामान्य आलाप में उपयोग युगपत् कहा है सो कैसे?

समाधान—सयोगीकेवली के औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग व कार्मणकाययोग संभव है। काययोगी जीवोंके सामान्यआलाप में चौदहगुणस्थानवर्ती सब जीव लिये गये हैं। अत: काययोगीजीवों के सामान्य आलाप में सयोगकेवली की अपेक्षा ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग युगपत् संभव हैं।

—जै. ग. 20-3-58/VI/ क्षु. दे.

औदारिक काययोग व काययोग का काल

शंका—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २४१ में कार्माणकाययोग के अतिरिक्त शेष योगोंका काल अव्याघात की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त बताया है तो इसप्रकार औदारिककाययोग का काल भी अन्तर्मुहूर्त रहा तो एकेन्द्रियजीवों में एक अन्तर्मुहूर्त औदारिककाययोग के पश्चात् दूसरा कौनसा योग होगा?

समाधान—गोम्मटसार जीवकांड गाथा २४१ की टीका में जो योग का अन्तर्मुहूर्त काल बतलाया है वह त्रस जीवों की अपेक्षा से है। एकेन्द्रिय जीवोंमें औदारिककाययोग का उत्कृष्टकाल कुछ कम २२ हजार वर्ष है और काययोग का उत्कृष्टकाल 'अनन्तकाल' है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीव में काययोग के अतिरिक्त अन्य कोई योग नहीं होता है?

—जै. ग. 15-11-65/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

औदारिक शरीर सम्बन्धी योग का चिरकाल तक रहना बन जाता है

शंका—वैक्रियिककाययोगियों का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त क्यों है? औदारिककाययोगियोंवत् अपनी उत्कृष्टस्थितिप्रमाण ३३ सागर क्यों नहीं? यदि योग परिवर्तन के कारण ऐसा नियम है तो यह नियम औदारिक-काययोग में क्यों नहीं लागू होता?

समाधान—योग परिवर्तन के कारण वैक्रियिककाययोग, आहारककाययोग, मनोयोग व वचनयोग में से किसी एक योगका उत्कृष्टकाल एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता, क्योंकि योग पलट जाता है। (धवला पु० ७ पृ० १५२ सूत्र ९८ व पृष्ठ १५३-१५४ सूत्र १०५ व १०७) पर्याप्तएकेन्द्रियजीव के मात्र एक औदारिककाययोग होता है अतः वहाँ पर योग परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य दूसरा योग नहीं है। एकेन्द्रियजीव की उत्कृष्ट-आयु २२ हजार वर्ष है। अतः एक अन्तर्मुहूर्तप्रमाण औदारिकमिश्रकाल को बिताकर पर्याप्ति को प्राप्त हो एक अन्तर्मुहूर्त कम २२ हजार वर्ष तक औदारिककाययोग का काल होता है। द्वीन्द्रियआदि तिर्यंच व मनुष्यों के औदारिककाययोग का उत्कृष्टकाल एक अन्तर्मुहूर्त होता है।

—जै. ग. 31-7-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

औदारिक मिश्र० तथा औदारिक० योग के उत्कृष्ट अन्तर का खुलासा

शंका—औदारिककाय-योगी और औदारिकमिश्रकाययोगी का उत्कृष्ट अन्तर बताने के लिये ३३ सागरोपम आयुस्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न कराया तो इतनी ही आयुस्थिति वाले नारकियों में उत्पन्न कराने से भी यह उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त हो सकता है या नहीं? तथा उत्कृष्ट अन्तर ९ अन्तर्मुहूर्त अधिक ३३ सागर क्यों कहा? आहारकमिश्र और आहारककाययोग के दो अन्तर्मुहूर्त मिलाकर ११ अन्तर्मुहूर्त क्यों नहीं कहे? औदारिकमिश्र-काययोग का अन्तर प्रारम्भ करने के लिये 'नरक से आकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ' ऐसा क्यों कहा? अन्यगति से आकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, ऐसा क्यों नहीं कहा?

समाधान—जो जीव नारकियों से आकर मनुष्य या तिर्यंचों में उत्पन्न होता है उसका औदारिकमिश्र-काययोग-काल सर्वलघु होता है और देवों से आकर जो उत्पन्न होता है उसका औदारिक-मिश्र-काय-योग-काल उत्कृष्ट होता है। ध० पु० ७ पृ० २०८ पर औदारिककाययोग के उत्कृष्ट-अन्तरकाल का प्रकरण है, और औदारिकमिश्रकाययोग के उत्कृष्ट-काल के द्वारा यह उत्कृष्ट-अन्तर प्राप्त हो सकता है। अतः 'देवों से आकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा है।

जिसका आहारक-समुद्घात में मरण हो वह ३३ सागर की आयुवाले देवों में उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः आहारक और आहारकमिश्र इन दो काययोग के दो अन्तर्मुहूर्त मिलाकर ११ अन्तर्मुहूर्त अधिक ३३ सागर नहीं कहा जा सकता था।

औदारिकमिश्रकाय-योग का उत्कृष्ट अन्तर प्रारंभ करने के लिये 'नारकी जीव से निकलकर पूर्वकोटिआयु-वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ', ऐसा इसलिये कहा कि पूर्वकोटिआयु में औदारिकमिश्र काययोग का काल अतिअल्प होने से औदारिककाययोगकाल अधिक हो जावेगा जिससे अन्तरकाल अधिक हो जाता है। अन्यगति से आकर मनुष्यों में उत्पन्न होने वालों का औदारिकमिश्रकाययोग काल अल्प नहीं होता।

—जै. ग. 5-9-66/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

औदारिकमिश्रकाययोग का जघन्य अन्तर

शंका—धवल पु० ७ पृ० २०७ सूत्र ६६ में औदारिकमिश्रकाययोग का एक समय का अन्तर बतलाया है। टीका में 'औदारिकमिश्रकाययोग से एक समय कार्मण काययोग में रहकर पुनः औदारिकमिश्रकाययोग हो गया' ऐसा कथन किया है। औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्त अवस्था में होता है तो क्या अपर्याप्त अवस्था में मरण संभव है?

समाधान—निर्वृ त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त ऐसे दो प्रकार के अपर्याप्त के जीव होते हैं। उनमें से निर्वृ त्य-पर्याप्ति अवस्था में तो मरण नहीं होता है, पर्याप्ति होने के पश्चात् मरण होता है, क्योंकि उनके पर्याप्तिनामकर्म का उदय होता है। निर्वृ त्यपर्याप्ति अवस्था में पर भव की आयु का बन्ध नहीं होता है, पर्याप्ति पूर्ण होने के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पर भव आयु का बंध संभव है, परभव आयुबन्ध बिना मरण सम्भव नहीं है।

लब्ध्यपर्याप्त का अपर्याप्त अवस्था में ही मरण होता है, क्योंकि उसके अपर्याप्तनामकर्म का उदय होता है। लब्ध्यपर्याप्त जीवों के औदारिकमिश्रकाययोग होता है। अतः लब्ध्यपर्याप्त जीव की अपेक्षा औदारिकमिश्रकाय-योग में मरण होने से और एकविग्रह करके उत्पन्न होने वाले जीवों में औदारिकमिश्रकाययोग का एक समय अन्तर घटित हो जाता है।

—जै. ग. 30-7-76/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

आहारककाययोग का काल एक समय कैसे ?

शंका—आहारककाययोगी जीव के जघन्य एकसमय काल कैसे संभव है? आहारककाययोगी क्या एकसमय में मरण कर सकता है?

समाधान—एक प्रमत्त-संयत के अन्तर्मुहूर्त तक आहारकमिश्रकाययोग हुआ उसके पश्चात् आहारककाय-योग हुआ उसके पश्चात् मनोयोग अथवा वचनयोग हो गया। आहारकशरीर के मूलशरीर में प्रविष्ट होने से एक-समय पूर्व आहारककाययोग हो गया, अगले समय में आहारकशरीर के मूलशरीर में प्रविष्ट हो जाने से आहारक-काययोग नहीं रहा। जिस काल में आहारकशरीर मूलशरीर से बाहर होता है उस काल में मनोयोग व वचनयोग भी हो सकता है। मनोयोग या वचनयोग के पश्चात् एक समय के लिये आहारककाययोग हुआ और अगले समय में मृत्यु को प्राप्त हो गया। इस प्रकार भी आहारककाययोग का एक समय काल प्राप्त होता है। **धवल पु० ७ पृ० १५४ सूत्र १०६ की टीका।**

—जै. ग. 20-4-72/IX/ ब पा.

आहारक काययोग संबंधी विभिन्न विशेषताएँ

शंका—(१) आहारककाययोग होने पर आहारकशरीर को लौटने में कितना काल लगता है ? क्या एक समय में भी लौट सकता है ?

(२) जब आहारककाययोग में मरण होता है तो वह आहारककाययोग का व्याघात क्यों नहीं ?

(३) आहारकमिश्रकाययोग पूर्वक ही आहारककाययोग होता है। आहारकमिश्रकाययोग का काल अन्तर्मुहूर्त है फिर आहारककाययोग का जघन्य अन्तर एक समय कैसे सम्भव है ?

समाधान—(१)आहारककाययोग होने पर आहारकशरीर को लौटने में एक अन्तर्मुहूर्त काल लगता है।

(२) 'व्याघात' का अभिप्राय मरण नहीं है; किन्तु 'आघात' 'बाधा' 'विघ्न' 'खलल' है।

(३) सर्व प्रथम आहारककाययोग से पूर्व आहारकमिश्रकाययोग होता है। आहारककाययोग होने के पश्चात् मनोयोग या वचनयोग होकर पुनः आहारककाययोग हो जाता है। जिसके आहारकसमुद्घात हो रहा है उसके मनोयोग या वचनयोग का जघन्यकाल एकसमय व्याघात के कारण नहीं होता है, (धवल पु० ७ पृ० २१० सूत्र ७५ की टीका) किन्तु औदारिक या वैक्रियिकशरीर वालों के व्याघात के कारण मनोयोग या वचनयोग का एकसमय काल पाया जाता है (धवल पु० ७ पृ० २०७ सूत्र ६६, पृ० २०९ सूत्र ६९)। इसीलिये आहारककाययोग का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त कहा है और औदारिककाययोग व वैक्रियिककाययोग का जघन्य अन्तर एक समय कहा है।

—जै. ग. 19-9-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

आहारकमिश्रकाययोग के एक समय बाद मरण

शंका—धवल पु० ७ पृ० २११ पर आहारककाययोग का उत्कृष्ट अन्तर आठ अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन और आहारकमिश्र का ७ अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन बताया है। यह कैसे ? दोनों का अन्तर एक होना चाहिये, क्योंकि आहारकमिश्रके तुरन्त पश्चात् आहारककाययोग प्रारम्भ हो जाता है।

समाधान—यह ठीक है कि आहारकमिश्रकाययोग के तुरन्त पश्चात् आहारककाययोग प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु आहारकमिश्रकाययोग का जघन्यकाल भी अन्तर्मुहूर्त है जबकि आहारककाययोग का जघन्यकाल एक समय है। [धवल पु० ७ पृ० १५३ सूत्र १०६ व पृ० १५५ सूत्र १०८] आहारकमिश्रकाययोग के पश्चात् एकसमय तक आहारककाययोगी रहकर मरण को प्राप्त हो जाने पर आहारककाययोग का अन्तर्मुहूर्त कम हो जाने से आहारकमिश्रकाययोग के उत्कृष्ट अन्तर में ७ अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल सुघटित हो जाता है।

—जै. ग. 19-9-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

तैजस शरीर आत्मप्रदेश परिस्पन्दन का कारण नहीं

शंका—तैजसशरीर नामकर्म के उदय से तैजसवर्गणायें आती होंगी। उनके आलम्बन से भी तो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द होता होगा, यदि हां तो वह कौन-से योग में गर्भित है ? उसे अलग क्यों नहीं कहा ?

समाधान—तैजसवर्गणायें तो योग से आती हैं। तैजसशरीर नामकर्मोदय के कारण उन तैजसवर्गणाओं से तैजसशरीर की रचना हो जाती है। श्री वीरसेन आचार्य ने कहा है—

"जस्स कम्मस्स उदएण तेजइयवग्गणक्खन्धा णिस्सरणाणिस्सरणपसत्थापसत्थप्पयतेयासरीरसरूवेण परिणमंति तं तेयासरीरं णाम।" धवल पु० ६ पृ० ६९।

जिस कर्मोदय से तैजसवर्गणा के स्कन्ध निस्सरण अनिस्सरणात्मक और प्रशस्त-अप्रशस्तात्मक तैजसशरीर के स्वरूप से परिणत होते हैं, वह तैजसशरीर नामकर्म है। आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द भी योग के कारण होता है। धवल पु० १२ पृ० ३६५।

तैजसशरीर नामकर्म का उदय आत्मा की योगशक्ति में कारण नहीं होता है। अतः तैजसकाययोग नहीं कहा गया है। श्री अमितगति आचार्य ने पंचसंग्रह में कहा भी है—

तैजसेन शरीरेण बध्यते न न जीर्यते।
न चोपभुज्यते किंचिद्यतो योगोऽस्य नास्त्यतः॥ १७९॥ पृ० ६३

अर्थ—तैजसशरीर के द्वारा न कर्म बँधते हैं और न कर्म निर्जरा होती है। तैजसशरीर के द्वारा किंचित् भी उपभोग नहीं होता है। इसलिए तैजसकाययोग नहीं होता है।

—जै. ग 30-11-72/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

आगम में तैजसकाययोग न कहने का कारण

शंका—तैजसशरीर का सम्बन्ध भी इस जीव के साथ अनादिकाल से है और कार्मणशरीर का सम्बन्ध भी अनादिकाल से है। कार्मणकाययोग का कथन तो आगम में पाया जाता है, किन्तु तैजसकाययोग का कथन आगम में नहीं पाया जाता है। इसका क्या कारण है?

समाधान—कर्मों को ग्रहण करने की शक्ति योग है। योग वैभाविकपर्यायशक्ति है, द्रव्य-शक्ति नहीं है, क्योंकि शरीरनामकर्मोदय से यह शक्ति जीव में उत्पन्न होती है। चौदहवें गुणस्थान में शरीरनामकर्मोदय के अभाव में योगरूप वैभाविकशक्ति का भी अभाव हो जाता है, इसीलिये चौदहवें गुणस्थान की अयोगकेवली संज्ञा है। जितनी भी वैभाविकशक्तियाँ हैं वे सब पर्यायशक्तियाँ होती हैं, क्योंकि दूसरे द्रव्य के साथ बंध होने पर वैभाविकशक्तियाँ होती हैं और बंध से मुक्त हो जाने पर इन वैभाविकशक्तियों का अभाव हो जाता है।

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१६॥ जीवकाण्ड गोम्मटसार

पुद्गल-विपाकी शरीरनामकर्म के उदय से, मन, वचन, काय युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूतशक्ति है वह योग है।

कर्मग्रहण की शक्ति जीव में विग्रहगति के समय कार्मणशरीर से उत्पन्न होती है। मनुष्य व तिर्यंचों के अपर्याप्त अवस्था में कार्मणशरीर व औदारिकशरीर इन दोनों के मिश्रण से उत्पन्न होती है, तथा पर्याप्त अवस्था में

औदारिकशरीर नामकर्मोदय से उत्पन्न होती है। देव व नारकियों के कर्मग्रहणशक्ति अपर्याप्त अवस्था में कार्मण-शरीर व वैक्रियिकशरीर के मिश्रण से उत्पन्न होती है और पर्याप्त अवस्था में वैक्रियिकशरीरनामकर्मोदय से उत्पन्न होती है। प्रमत्तसंयत मुनि के आहारकशरीर नामकर्मोदय से उत्पन्न होती है।

तैजसशरीरवर्गणा न तो कर्म-वर्गणा है और न नोकर्मवर्गणा है, अतः तैजसशरीर नामकर्मोदय से आत्मा में कर्मग्रहणशक्ति उत्पन्न नहीं होती है।

"परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया। जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपा पुद्गला इति ते पुद्गल करणः। तद भावान्निःक्रियत्वं सिद्धानाम्। पं. का. ९८।

प्रदेशपरिस्पंदनरूप पर्याय क्रिया (योग) है। कर्म-नोकर्म के संचयरूप पुद्गल (शरीर) के निमित्त से क्रिया (योग) होता है। उसके अभाव होने से सिद्ध निष्क्रिय (अयोगी) हैं।

—जै. ग. 3-2-72/VI/ स. कु. टोकले

कार्मणकाययोग के उत्कृष्ट अन्तर की सिद्धि

शंका—धवल पु० ७ पृ० २१२ सूत्र ७९ में कार्मणकाययोग का उत्कृष्ट अन्तर बताया है सो कैसे ?

समाधान—कार्मणकाययोग विग्रहगति व केवलीसमुद्घात में होता है। केवलीसमुद्घात की अपेक्षा कार्माण-काययोग का अन्तर संभव नहीं है। अंगुल के असंख्यातवेंभागप्रमाण असंख्यातासंख्यात कल्पकाल तक जीव जन्म-मरण करता रहे, किन्तु ऋजुगति से ही उत्पन्न होता रहे विग्रहगति से उत्पन्न न हो, ऐसा संभव है। इसीलिये कार्माणकाययोग का उत्कृष्ट अन्तर अंगुल के असंख्यातवेंभागप्रमाण असंख्यात कल्पकाल बतलाया है तथा आहार-मार्गणा में आहारक का उत्कृष्टकाल भी अंगुल के असंख्यातवेंभागप्रमाण असंख्यातासंख्यात कल्पकाल कहा है, धवल पु० ७ पृ० १८५ सूत्र २१२।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

कार्मणकाययोग में औदारिक शरीरनामकर्म का उदय नहीं रहता

शंका—धवल पु० १ पृ० १३८ पर लिखा है—"नोकर्मरूप पुद्गलों के संचय का कारण पृथिवी आदि कर्म सहकृत औदारिकादि नामकर्म का उदय कार्मणकाययोग रूप अवस्था में भी पाया जाता है, इसलिये उस अवस्था में भी कायपने का व्यवहार बन जाता है।" क्या कार्मणकाययोग में औदारिकशरीर का उदय रह सकता है ?

समाधान—कार्मणकाययोग विग्रहगति में होता है या केवलीसमुद्घात में होता है, किन्तु वहाँ पर औदा-रिकशरीर नामकर्मोदय नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर आहारवर्गणाओं का ग्रहण नहीं होता है। कहा भी है—

"तिर्यग्गतिद्वयं २, पंचेन्द्रियं १, तैजस-कार्मणद्वयं २, वर्णचतुष्कं ४, अगुरुलघुकं १, त्रसं १, बादरं १, स्थिरास्थिरयुग्मं २, शुभाशुभद्वयं २, निर्माणं १, सुभगादुर्भगयशोऽयशः-पर्याप्तापर्याप्ताऽऽदेयानादेयानां चतुर्युगलानां मध्ये एकतरं १।१।१।१ इत्येकविंशतिर्नामप्रकृतयो विग्रहगतौ उदयन्ति २१, उद्योतोदयरहितपंचेन्द्रियजीवस्य विग्रह-गतौ कार्मणशरीरे इदमेकविंशतिकमुदयगतं भवतीत्यर्थः अत्रैकः समयो द्वौ समयौ वा।" ज्ञानपीठ से प्रकाशित पंचसंग्रह पृ० ३६३।

कार्मण-काय-योग में नामकर्म की २१ प्रकृतियों का उदय पाया जाता है, उनमें औदारिकशरीर नामकर्मोदय नहीं है। धवल पु० १ पृ० ११८ पर उपर्युक्त वाक्य में 'उदय' के स्थान पर 'सत्त्व' होना चाहिये, क्योंकि मूल में 'सत्त्वतः' है।

—जै. ग. 3-2-72/VI/ ब्या. ला. ब.

वेद मार्गणा

विभिन्न गतियों में वेदों की प्ररूपणा

शंका—किसी भी गति में वेद ३ व २ व १ मान लेवें या इससे हीनाधिक मान लेवें तो क्या अन्तर पड़ता है? क्या आगम से बाधा आती है? परवस्तु के अन्यथा मानने से क्या फर्क पड़ता है?

समाधान—आर्षग्रन्थों में जिस गतिमें जितने वेद कहे गये हैं, उतने ही मानने चाहिये। हीनाधिक मानने से आर्षग्रन्थ विरुद्ध श्रद्धा होती है। जिसको आर्षग्रन्थ के कथन पर श्रद्धा नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

श्री तत्त्वार्थ सूत्र दूसरे अध्याय में किस गति में कौनसा वेद होता है उसका कथन निम्नप्रकार है—

नारक संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥ न देवाः ॥५१॥ शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

अर्थ—नारकगति और सम्मूर्च्छन 'मनुष्य व तिर्यंच' जीवों में मात्र नपुंसकवेद होता है अर्थात् स्त्री व पुरुष वेद नहीं होता है। देवों में नपुंसक वेद नहीं होता है, मात्र पुरुष व स्त्री ये दो ही वेद होते हैं। गर्भज-मनुष्य व तिर्यंचों में स्त्री, पुरुष व नपुंसक तीनों वेद होते हैं।

"तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदा-संजदा त्ति ॥१०७॥ मणुसा तिवेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥१०८॥ [संतपरूवणाणुयोगद्दार]

अर्थ—तिर्यंच असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक तीनों वेदों से युक्त होते हैं। १०७। मनुष्य मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरणगुणस्थान तक तीनों वेद वाले होते हैं।

इन आर्षवाक्यों के विरुद्ध यदि किसी की यह श्रद्धा हो कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के तीनों वेद नहीं होते मात्र नपुंसकवेद ही होता है, तो उसकी यह श्रद्धा ठीक नहीं है।

जो इन आर्षवाक्यों को प्रमाण नहीं मानता, किन्तु अपनी निज की इनसे पृथक् मान्यता रखता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। कहा भी है—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ ३९ ॥ मूलाराधना

अर्थ—सूत्र में कहे हुए एक पद की और एक अक्षर की भी जो श्रद्धा नहीं करता है और शेष की श्रद्धा करता हुआ भी वह मिथ्यादृष्टि है।

टीका—महति कुण्डे स्थितं बह्वपि पयो यथा विषकणिका दूषयति । एवमश्रद्धानकणिका मलिनयत्यात्मन-मिति भावः ॥

टीकार्थ—बड़े पात्र में रक्खे हुए बहुत दूध को भी छोटी सी विषकणिका बिगाड़ती है। इसी तरह आर्ष वाक्यों की अश्रद्धा का छोटा सा अंश भी आत्मा को मलिन (मिथ्यादृष्टि) करता है ऐसा समझना चाहिये।

—जै. ग. 19-10-67/VIII/ कपू. दे.

वेद परिवर्तन

शंका—क्या भाववेद परिवर्तन होता रहता है या जन्मसमय जो भाववेद हो वही बना रहता है ?

समाधान—जन्मसमय से मरण पर्यन्त एक ही भाववेद रहता है, परिवर्तन नहीं होता। ध० पु० १ पृ० ३४६ सूत्र १० की टीका में कहा है—"जैसे विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहती है वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्त पर्यंत नहीं रहते हैं क्योंकि जन्म से लेकर मरण तक भी किसी एक वेद का उदय पाया जाता है।

—जै. ग. 1-2-62/VI/ ध. ला. सेठी, खुरई

विवक्षित गति से गत्यन्तर में जाने पर वेद परिवर्तन

शंका—यहाँ से स्त्री पर्याय से जो जीव विदेह क्षेत्र जाते हैं सो वे वहाँ स्त्री ही होते हैं या पुरुष भी हो सकते हैं ?

समाधान—एक पर्याय (भव) में एक भाववेद जन्म से मरण पर्यन्त रहता है ऐसा तो आगम में कहा है, किन्तु मरण के पश्चात् भी वेद परिवर्तन नहीं होता, ऐसा नियम देखने में नहीं आया। वह आगम इस प्रकार है—"तीनों वेदों की प्रवृत्ति क्रम से होती है युगपत् नहीं, क्योंकि वेद पर्याय है। जैसे विवक्षितकषाय केवल अन्त-र्मुहूर्त पर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त नहीं रहते हैं, क्योंकि जन्म से लेकर मरण तक किसी भी एक वेद का उदय पाया जाता है।" (धवल पु० १ पृ० ३४६)। धवल पु० ७ के कथन से भी सिद्ध होता है कि मरण के पश्चात् वेद परिवर्तन हो सकता है। अतः यहाँ से स्त्री पर्याय से जो जीव विदेहक्षेत्र जाते हैं सो वे वहाँ स्त्री ही हों, ऐसा नियम नहीं, पुरुष भी हो सकते हैं।

—जै. ग. 23-4-64/IX/ म. मा.

असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के तीनों वेद

शंका—पंचाध्यायी दूसरा अध्याय श्लोक १०८८ में असंज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यंचों के भाव व द्रव्य से एक नपुंसक वेद कहा है अन्य वेद का निषेध किया है, किन्तु असंज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यंचों के अण्डे आदि देखे जाते हैं सो कैसे ?

समाधान—असंज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यंचों के तीनों वेद होते हैं। श्री पुष्पदन्त आचार्य ने षट्खंडागम सत्प्ररूपणा सूत्र १०७ में कहा है कि "तिर्यंच असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर संयतासंयतगुणस्थान तक तीनों वेदों से युक्त होते हैं।" द्वादशांग के अङ्ग के एक देश के ज्ञाता श्री धरसेनाचार्य ने यह सूत्र श्री पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य को पढ़ाया था।

जिसको उन्होंने षट्खंडागम ग्रंथ में लिपिबद्ध कर दिया था। अर्थात् यह सूत्र श्री गौतम गणधर द्वारा रचा गया था। इस सूत्र के सामने पं० राजमलजी के वाक्य कैसे प्रमाणभूत माने जा सकते हैं; जिनको गुरु परम्परा से उपदेश नहीं प्राप्त हुआ है वे ग्रंथ रचने में प्रायः स्खलित हुए हैं। उनके बनाये हुए ग्रंथ स्वयं प्रमाण रूप नहीं हैं; किन्तु उनकी प्रमाणता सिद्ध करने के लिये आचार्य-वाक्यों की अपेक्षा करनी पड़ती है।[1]

— जै. ग 6-6-63/IX/ प्र. च.

वेद परिवर्तन का अभाव

शंका—पंचाध्यायी दूसरा अध्याय श्लोक १०९२ में कहा है कि "कोई एक पर्याय में क्रमानुसार तीन वेद वाला होता है।" जब एक ही पर्याय में भाववेद बदलता है तो सभी जीव मात्र पुरुषवेद से क्षपक श्रेणी चढ़ने चाहिये, क्योंकि वहाँ पर परिणाम अतिविशुद्ध होते हैं वहाँ पर अतिअप्रशस्तनपुंसक व स्त्रीवेद का उदय कैसे संभव हो सकता है?

समाधान—कषाय के समान वेद एक ही पर्याय में नहीं बदलता। जन्म से मरणपर्यंत एक ही वेदनोकषाय का उदय रहता है। कहा भी है—

नान्तर्मौहूर्तिका वेदास्ततः सन्ति कषायवत्।
आजन्म मृत्युतस्तेषामुदयो दृश्यते यतः ॥१९१॥ संस्कृत पंचसंग्रह

कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदाः आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्। धवल पुस्तक १ पृ० ३४६।

अर्थ—जैसे विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त नहीं रहते हैं, क्योंकि जन्म से लेकर मरण तक किसी एक वेद का उदय पाया जाता है।

जिस प्रकार कषाय व योगमार्गणा में योग व कषाय के परिवर्तन की अपेक्षा काल व अन्तर की प्ररूपणा की है उस प्रकार वेदमार्गणा में काल व अन्तर की प्ररूपणा नहीं की है यह धवल व जयधवल के स्वाध्याय से स्पष्ट हो जाता है। जो स्त्रीवेद से श्रेणी चढ़े हैं वे मिथ्यात्व व स्त्रीवेद सहित मनुष्यपर्याय में उत्पन्न हुए हैं जैसा कि जयधवल पुस्तक ९ पृ० २६७-२६८ से ज्ञात होता है। अतः एक पर्याय में भाववेद परिवर्तन नहीं होता।

—जै. ग. 6-6-63/IX/ प्र. च.

द्रव्यवेद एवं भाववेद

शंका—गोम्मटसारजीवकाण्ड में मनुष्यनी के चौदह गुणस्थान कहे हैं वे क्या भाव की अपेक्षा कहे या द्रव्य की अपेक्षा? तिर्यंचनी और देवांगना का कथन भी भाव की अपेक्षा है या द्रव्य की अपेक्षा?

समाधान—गोम्मटसार में 'मनुष्यनी' भाव की अपेक्षा कहा है। द्रव्य की अपेक्षा 'महिला' कहा है। महिला के तीन हीन संहनन होते हैं तथा वह वस्त्र का त्याग नहीं कर सकती, अतः उसके संयम का अभाव होने से

---

१. पण्डितजी के इस कथन का अभिप्राय यह है कि पण्डितों द्वारा लिखे गये ग्रन्थ जितने अंश में आगम से [आर्ष ग्रन्थों से] मेल खाते हैं; उतने अंशों में तो प्रमाण हैं ही; परन्तु उनमें जो आगम विपरीत अंश है उन्हें प्रामाणिक कैसे स्वीकार किया जा सकता है। —सम्पादक

आदि के पाँच गुणस्थान होते हैं। जो जीव द्रव्य से पुरुष हैं, किन्तु भाव से स्त्री हैं ऐसी मनुष्यनियों के वस्त्र का त्याग, उत्तम संहनन आदि संभव हैं, उनके संयम भी हो सकता है और चौदह गुणस्थान भी हो सकते हैं। गोम्मट-सार में ऐसी मनुष्यनी के चौदह गुणस्थान कहे हैं। विशेष के लिये धवल पु० १ सूत्र ९३ की टीका देखनी चाहिये।

तिर्यंचनी का कथन भी भाव की अपेक्षा से है, क्योंकि कर्म-भूमियों के तिर्यंचों में भी वेद-वैषम्य पाया जाता है। देवों में वेद-वैषम्य नहीं है। देवों में जैसा द्रव्यवेद है वैसा ही भाववेद होता है। देवांगनाओं का कथन यद्यपि भाव की अपेक्षा से है किन्तु द्रव्यवेद की अपेक्षा से भी कोई विषमता नहीं आती।

—जै. ग. 12-12-63/IX/ प्र. च.

कषाय-मार्गणा

पत्थर की रेखा के समान संज्वलन कषाय

शंका—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २८४ की टीका में पं० खूबचन्दजी ने फुटनोट तथा भावार्थ में लिखा है कि अनन्तानुबन्धी आदि चारप्रकार के क्रोध में प्रत्येक के चार-चार भेद समझना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि संज्वलनक्रोध भी चार प्रकार का होता है; अर्थात् संज्वलनक्रोध में भी पत्थर की रेखा, पृथिवी की रेखा, धूलि और जल रेखा होती है, किन्तु गाथा २९२ में लिखा है कि पत्थर की रेखा समान क्रोध में केवल कृष्णलेश्या होती है और गाथा २९३ में आयुबंध केवल नरक का होता है। जबकि गाथा ५३२ के अनुसार संज्वलनक्रोध केवल छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके होता है और उनके सिर्फ तीन शुभ लेश्या ही होती हैं, कृष्ण लेश्या नहीं होती और मरकर भी स्वर्ग में जाता है। संज्वलनकषाय में पत्थर की रेखा, कैसे संभव है।

समाधान—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के क्रोध, मान, माया व लोभ का उदय रहता है। तीसरे चौथे गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं रहता, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन इन तीन प्रकार की कषाय का उदय रहता है। पाँचवेंगुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन दो प्रकार की कषायका उदय रहता है। छठे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक मात्र संज्वलन का उदय रहता है।

इस प्रकार असंयतगुणस्थानों में भी संज्वलनकषाय के सर्वघातियास्पर्धकों का उदय रहता है जिनमें पत्थर की रेखा समान संज्वलनकषाय का उदय भी संभव है। संज्वलनकषाय में सर्वघातियास्पर्धक भी होते हैं जो पृथिवी-अस्थि-शैल-रेखा समान होते हैं।

छठे गुणस्थान में संज्वलन के देशघातिया स्पर्धकों का ही उदय होता है।

—जै. ग. 15-11-65/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

लोभ कथंचित् स्वर्ग व मोक्ष का कारण है

शंका—प्रवचनसार पृ० ४४८ पर "लोहो सिया पेज्जं" ऐसा लिखा है इसका प्रयोजन क्या है ?

समाधान—जयधवल पुस्तक १ पृ० ३६९ पर श्री यतिवृषभाचार्य ने चूर्णिसूत्र में कहा है—

"सद्दस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो लोहो दोसो। कोहो माणो माया णोपेज्जं लोहो सियापेज्जं।"

अर्थ—शब्दनय की क्रोध दोष (द्वेष) है, मान दोष है, माया दोष है और लोभ दोष है। क्रोध मान माया पेज्जं (राग) नहीं हैं किन्तु लोभ कथंचित् राग है।

जब कि "सर्वगुणविनाशको लोभः।" लोभ सर्वगुणों का विनाशक है तो लोभ कथंचित् राग कैसे हो सकता है। **श्री वीरसेनाचार्य** लोभ को कथंचित् पेज्ज (राग) होने का हेतु देते हैं—

"लोहोसिया पेज्जं वि, रयणत्तयसाहण-विसय लोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो।

अवसेस वत्थुविसयलोहो णोपेज्जं तत्तो पावप्पत्तिदंसणादो।" ज. ध. पु. १ पृ. ३६९।

अर्थ—रत्नत्रय के साधन विषयक लोभ से स्वर्ग और मोक्ष (सुख) की प्राप्ति देखी जाती है इसलिये लोभ कथंचित् राग है तथा शेष पदार्थ विषयक लोभ पेज्ज नहीं है, क्योंकि उससे पाप की उत्पत्ति देखी जाती है।

—जै. ग. 15-6-72/VII/ रो. ला. मि.

ज्ञान मार्गणा

(मतिज्ञान, श्रुतज्ञान)

मत्यादिज्ञान केवलज्ञान के अंश हैं [कथंचित्]

शंका—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान इन दोनों की जाति एक है अथवा ये दोनों ज्ञान केवलज्ञान के अंशरूप हैं? वास्तविकता क्या है?

समाधान—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं। कहा भी है—**"आद्ये परोक्षम् ॥१।११॥" (तत्त्वार्थ सूत्र) "कुतोऽस्य परोक्षत्वम्? पराधीनत्वात्। (स. सि. १।११)**

प्रथम दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण हैं, क्योंकि ये दोनों ज्ञान पराधीन हैं अतः ये परोक्ष हैं।

परोक्ष की अपेक्षा मतिज्ञान व श्रुतज्ञान इन दोनों की जाति एक है।

केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है, मति-श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। इस अपेक्षा इन की जाति एक नहीं है, तथापि अविभाग प्रतिच्छेद की अपेक्षा मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) के अंश हैं।

"रजोजुषां ज्ञानदर्शने न मङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्तयोस्तयोरसत्त्वात्। मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न तदवस्थानां मत्यादिव्यपदेशात्।" धवल १।३७।

क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन से भिन्न ज्ञान और दर्शन का सद्भाव नहीं पाया जाता है, अतः आवरण से युक्त जीवों के जो ज्ञान और दर्शन हैं वे केवलज्ञान और केवलदर्शन के अवयव (अंश) हैं। यदि कहा जाय कि

केवलज्ञान और केवलदर्शन से अतिरिक्त मतिज्ञान आदि पाये जाते हैं, सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि केवलज्ञान, केवलदर्शन के उन अवयवों को मतिज्ञान आदि कहा गया है।

—जै. ग. 6-1-72/VII/... ....

इन्द्रिय व मन द्वारा विषय-प्रवृत्ति मतिज्ञान का धर्म है

शंका—'पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन अपने-अपने योग्य विषय को ग्रहण करते हैं' यह किसका धर्म है ? यदि आत्मा का धर्म है तो सिद्धों में भी पाया जाना चाहिये था, यदि पुद्गल का धर्म है तो मृत कलेवर में भी पाया जाना चाहिये था। यदि जीव और पुद्गल दोनों के संयोग का धर्म है, तो सयोगकेवली में भी पाया जाना चाहिये था।

समाधान—यह क्षायोपशमिक मतिज्ञान का धर्म है। सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है—

"इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः।" [सूत्र १/९ टीका] इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन (ग्रहण) किये जाते हैं, जो मनन करता है या मनन मात्र मतिज्ञान है।

"तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १/१४ ॥ [मोक्षशास्त्र]

वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है।

"स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राणि ॥ २/१९ ॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २/२० ॥"

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियाँ हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रम से उन इन्द्रियों के विषय हैं।

सिद्धों में क्षायिकज्ञान है। सयोगकेवली के भी क्षायिकज्ञान है, क्षायोपशमिक मतिज्ञान नहीं है अतः उनके इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण नहीं पाया जाता है। मृतकशरीर अचेतन है, उसमें भी क्षायोपशमिक मतिज्ञान नहीं पाया जाता, अतः इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण कैसे संभव हो सकता है।

—जै. ग. 8-1-76/VI/ टो. ला. मित्तल

चक्षु के अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियों से अप्राप्त अर्थ भी जाना जाता है

शंका—जिसप्रकार मन और चक्षु अप्राप्यकारी हैं क्या अन्य इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार अप्राप्यकारी हैं ?

समाधान—चक्षु और मन तो अप्राप्यकारी हैं, प्राप्यकारी नहीं हैं, क्योंकि ये दूरवर्ती पदार्थ को जानते हैं, भिड़कर नहीं जानते हैं जैसे—चक्षु नेत्र में डाले गये अंजन को नहीं जानतीं। शेष इन्द्रियाँ स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ये चारों प्राप्यकारी भी हैं अप्राप्यकारी भी हैं। कहा भी है—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अप्पुट्ठं चेय पस्सदे रूवं।
गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि ॥

"रूपमस्पृष्टमेव चक्षुर्गृह्णाति । च शब्दान्मनश्च । गंधं रसं स्पर्शं च बद्धं स्वकस्वकेन्द्रियेषु नियमितं पुट्ठं स्पृष्टं चशब्दावस्पृष्टं च शेषेन्द्रियाणि गृह्णन्ति । पुट्ठं सुणेइ सद्दं इत्यत्रपि बद्ध च-शब्दौ योज्यौ, अन्यथा दुर्व्याख्यान-तापत्तेः ॥ (धवल पु० ९ पृ० १६०)

अर्थ—चक्षुरूप को अस्पृष्ट ही ग्रहण करती है । च शब्द से मन भी अस्पृष्ट ही वस्तु को ग्रहण करता है । शेष इन्द्रियाँ गंध, रस और स्पर्श को बद्ध अर्थात् अपनी-अपनी इन्द्रियों में नियमित व स्पृष्ट ग्रहण करती हैं, च शब्द से अस्पृष्ट भी ग्रहण करती हैं । 'स्पृष्ट शब्द को सुनता है' यहाँ भी बद्ध और च शब्दों को जोड़ना चाहिये, क्योंकि ऐसा न करने से दूषित व्याख्यान की आपत्ति आती है ।

"न श्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टये अर्थावग्रहः तत्र प्राप्तस्यैवार्थस्य ग्रहणोपलंभादिति चेन्न, वनस्पतिष्वप्राप्तार्थग्रहणस्योपलंभात् । तदपि कुतोऽवगम्यते ? दूरस्थनिधिमुद्दिश्य प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तेः ।" (धवल पु० ९ पृ० १५७)

अर्थ—शंकाकार कहता है कि श्रोत्रादि चारइन्द्रियों में अर्थावग्रह नहीं है, क्योंकि उनमें प्राप्त ही पदार्थ का ग्रहण पाया जाता है । आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वनस्पतियों में अप्राप्त अर्थ का ग्रहण पाया जाता है तथा दूरस्थ निधि (जलादि) को लक्ष्य कर प्रारोह (शाखा) का छोड़ना अन्यथा बन नहीं सकता, इससे भी जाना जाता है कि श्रोत्रादि चार इन्द्रियों में अर्थावग्रह पाया जाता है अर्थात् वे इन्द्रियाँ अप्राप्त अर्थ का भी ग्रहण करती हैं ।

—जै. ग. 23-7-70/VII/ रो. ला. मि.

एकेन्द्रिय के मतिज्ञान

शंका—आपने लिखा है कि एकेन्द्रियजीव को स्पर्शनइन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानावरण के सर्वघातीस्पर्द्धकों का वर्तमान में उदयाभावी क्षय और शेष चारइन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानावरण कर्म के सर्वघातीस्पर्द्धकों के उदय के कारण एकेन्द्रिय जीव के रसना आदि इन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानावरण के उदय से जीवका ज्ञान क्रमवर्ती होता है । यहाँ प्रश्न है कि—जिसप्रकार क्षयोपशमसम्यग्दर्शन में सर्वघातीमिथ्यात्व तथा मिश्रप्रकृतियों का उदयाभावीक्षय और उसका सत्ता में रहना सो उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृति के उदय में जो जीव की अवस्था होती है उसीको क्षयोपशम-सम्यग्दर्शन कहते हैं उसी प्रकार एकेन्द्रियजीव को रसना आदि चारइन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानावरणकर्म का उदय होना चाहिए या उदयाभावीक्षय होना चाहिए । आपने उदय लिखा है और प्रकृति का सत्ता में रहना सो उपशम तथा स्पर्शनइन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानावरणकर्मका उदय होना चाहिये । आप उसीका अर्थात् स्पर्शनइन्द्रियसम्बन्धी मति-ज्ञानावरणकर्म का उदयाभावीक्षय लिखते हैं तो यथार्थ में क्या होना चाहिए ?

समाधान – एकेन्द्रियजीव के स्पर्शनइन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानावरण के सर्वघातीस्पर्द्धकों के उदयक्षय से उन्हीं सर्वघाती के सत्त्वोपशम से और देशघातीस्पर्द्धकों के उदय से और जिह्वा, घ्राण, चक्षु व श्रोत्रइन्द्रियावरण के सर्वघातीस्पर्द्धकों के उदय से और इन चार इन्द्रियों के आवरण करने वाले देशघातीस्पर्द्धकों के उदयक्षय से तथा सत्त्वोपशम से, क्षयोपशममतिज्ञान होता है । विशेष के लिए देखो ध० खं० ७/६४ । क्षयोपशमसम्यक्त्व के विषय में ध० खं० १/१७२ तथा पत्र १६८-१७० तक देखने चाहिए ।

—जै. सं. 7-6-56/VI/ क. दे. गया

"पर्याय" संज्ञा मतिज्ञान की भी है एवं तज्जन्य श्रुतज्ञान की भी है

शंका—धवल सिद्धान्त ग्रंथ में पु० ६ पृष्ठ २१ पर श्रुतज्ञान के बीस भेद बतलाते हुए पहिला भेद पर्याय-नामक श्रुतज्ञान बतलाया है किन्तु पृ० २२ पर पर्यायज्ञान को मतिज्ञान कहा है सो क्यों ?

समाधान—'पर्यायज्ञान' मतिज्ञान का सर्वजघन्य भेद है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, जैसा कि मोक्षशास्त्र प्रथम अध्याय सूत्र २७ में 'श्रुतं मतिपूर्वं' शब्दों द्वारा कहा है। यहाँ पर 'पूर्व' का अर्थ 'निमित्तकारण' है। कहा भी है—"पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्।" अर्थात् पूर्व, निमित्त और कारण ये एकार्थवाची हैं। पर्यायनामक मतिज्ञान के निमित्त से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता उसको भी कार्य में कारण का उपचार करके पर्याय-नामक श्रुतज्ञान कहते हैं। कहा भी है—

"एदम्हादो सुहुमणिगोदलद्धिअक्खरादो जमुप्पज्जइ सुदणाणं तं पि पज्जाओ उच्चदि, कज्जे कारणोव-यारादो।" ध० पु० ६ पृ० २२।

इस सूक्ष्म-निगोदलब्धि-अक्षर मतिज्ञान से जो श्रुतज्ञान होता है, वह भी कार्य में कारण के उपचार से पर्यायश्रुतज्ञान कहलाता है।

—जै. ग. 28-3-74/... ... / ज. ला. जैन, भीण्डर

द्रव्यश्रुत का प्रमाण

शंका—द्रव्यश्रुत का प्रमाण क्या और कितना है ?

समाधान—द्रव्यश्रुत का प्रमाण १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ अक्षरप्रमाण है। कहा भी है—

एयट्ठ च च य छ सत्तयं च च य सुण्ण सत्त तिय सत्तं।
सुण्णं णव पण पंच य एगं छक्केक्कगो य पण्णं च ॥३५२॥

—गो. जी. धवल पु० १३ पृ० २५४

अर्थ—एक, आठ, चार, चार, छह, सात, चार, चार, शून्य, सात, तीन, सात, शून्य, नौ, पाँच, पाँच, एक, छह, एक और पाँच।

—जै. ग. 19-10-67/VIII/ क. दे. गया

(१) जघन्य लब्ध्यक्षरज्ञान में अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों का आगम प्रमाण
(२) अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेदों से ज्ञानाविभाग प्रतिच्छेद अधिक होते हैं

शंका—लब्ध्यक्षरज्ञान सबसे जघन्यज्ञान है, उसमें अनन्त अविभागप्रतिच्छेद कैसे ?

समाधान—'परिकर्म' ग्रन्थ में लब्ध्यक्षरज्ञान के अनन्त अविभागप्रतिच्छेद कहे हैं जो निम्न प्रकार है—
"सव्वजीवरासी वग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्वपोग्गलदव्वं पावदि। पुणो सव्वपोग्गलदव्वं वग्गिज्जमाणं वग्गिज्जमाणं अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्वकालं पावदि।

पुणो सव्वकाला वग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सव्वागाससेढिं पावदि। पुणो सव्वागाससेढी वग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण धम्मत्थिय—अधम्मत्थिय-दव्वाणम-गुरुअलहुअगुणं पावदि। पुणो धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-अगुरुलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणो अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुणं पावदि। पुणो एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणो अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गंतूण सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स लद्धिअक्खरं पावदि त्ति परियम्मे भणिदं।" (धवल पु० १३ पृ० २६२-२६३)

अर्थ—सर्व जीव राशि का उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्तलोकप्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सर्व पुद्गल-द्रव्य प्राप्त होता है। पुनः सर्व पुद्गलद्रव्य का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सर्व-काल (व्यवहार काल के समय) प्राप्त होते हैं। पुनः सर्वकाल का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सर्व आकाशश्रेणी प्राप्त होती है। पुनः सर्व आकाशश्रेणी का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त-लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य का अगुरुलघुगुण प्राप्त होता है। पुनः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अगुरुलघुगुण का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर एक जीव का अगुरुलघुगुण प्राप्त होता है। पुनः एकजीव के अगुरुलघुगुण का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोक-मात्र वर्गस्थान आगे जाकर सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्त का लब्ध्यक्षरज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् लब्ध्यक्षरज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों की संख्या प्राप्त होती है। ऐसा परिकर्म में कहा है।

इस आर्षग्रन्थ से जाना जाता है कि लब्ध्यक्षरज्ञान के अनंतानंत अविभागप्रतिच्छेद हैं।

—जै. ग. 29-8-66/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

निरावरण पर्याय श्रुतज्ञान का स्वरूप

शंका—पर्यायश्रुतज्ञान क्या है जिसका कभी आवरण नहीं होता है जबकि केवलज्ञान का आवरण हो जाता है ?

समाधान— पर्यायश्रुतज्ञान का लक्षण गोम्मटसार जीवकाण्ड में इस प्रकार कहा है—

णवरि विसेसं जाणे सुहुमजहण्णं तु पज्जयं णाणं।
पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाणभेदम्हि ॥ ३१९ ॥

सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणम् ॥३२०॥

सुहुमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण।
चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे ॥३२१॥

सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ॥३२२॥ (गो. जी.)

अर्थ—सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तक के जो सबसे जघन्यज्ञान होता है उसको पर्यायज्ञान कहते हैं। पर्याय-ज्ञानावरणकर्मोदय का फल पर्यायज्ञान को आवरण करनेरूप नहीं होता है, किन्तु पर्यायसमास-ज्ञान को आवरण

करनेरूप होता है। यदि पर्यायज्ञानावरणकर्म का फल पर्यायज्ञान को आवरण करने में हो जाय तो ज्ञानोपयोग का अभाव होने से जीव का भी अभाव हो जाय। सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तकजीव के उत्पन्न होने के प्रथमसमय में सबसे जघन्यज्ञान होता है, इसी को पर्यायज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान सदैव निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है। सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तकजीव के छहहजारबारहभव संभव हैं। उनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्तशरीर को तीन मोड़ों के द्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथममोड़े के समयमें अर्थात् उत्पन्न होने के प्रथमसमय में स्पर्शनइंद्रिय-जन्य मतिज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है।

"आत्मनोऽर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः भावेन्द्रियम्, तद्रूपमक्षरं लब्ध्यक्षरम्।" (राजवार्तिक पृ० ६५)

आत्मा की अर्थ ग्रहण करने की शक्ति को लब्धि अथवा भावेन्द्रिय कहते हैं। उस शक्तिका नाश न हो सो लब्ध्यक्षर है। अर्थात् इतना ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है।

"यच्च लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाटं निरावरणं ज्ञानं श्रूयते तदपि सूक्ष्मनिगोदसर्वजघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं, न च सर्वथा। कस्मादिति चेत्? तदावरणे जीवाभावः प्राप्नोति।" (द्रव्यसंग्रह पृ० ९६)

अर्थ—लब्धिअपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदियाजीव में जो नित्यउद्घाटित तथा आवरणरहित ज्ञान है, वह भी सूक्ष्मनिगोद में ज्ञानावरणकर्म का सर्वजघन्यक्षयोपशम की अपेक्षा से आवरणरहित है, सर्वथा आवरणरहित नहीं है। यदि उस जघन्यज्ञान का भी आवरण हो जावे तो जीव का ही अभाव हो जायगा।

"वस्तुत उपरितनक्षायोपशमिकज्ञानापेक्षया केवलज्ञानापेक्षया च तदपि सावरणं, संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावाच्च क्षायोपशमिकमेव। यदि पुनर्लोचनपटलस्यैकदेशनिरावरणवत्केवलज्ञानांशरूपं भवति तर्हि तेनैकदेशेनापि लोकालोकप्रत्यक्षतां प्राप्नोति, न च तथा दृश्यते। किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्यबिम्बवन्निबिडलोचनपटलवद्वास्तोकं प्रकाशयतीत्यर्थः।" (द्र. सं. गाथा ३४ टीका, पृ. ९६)

अर्थ—वास्तव में तो ऊपरवर्ती क्षायोपशमिकज्ञान की अपेक्षा और केवलज्ञान की अपेक्षा वह लब्ध्यक्षरज्ञान भी आवरणसहित है, क्योंकि संसारी जीवों के क्षायिकज्ञान का अभाव है, इसलिये निगोदिया का वह लब्ध्यक्षरज्ञान क्षायोपशमिक ही है। यदि नेत्रपटल के एक देश में निरावरण के समान वह लब्ध्यक्षरज्ञान निरावरण क्षायिक-केवलज्ञान का अंशरूप हो अर्थात् आत्मप्रदेशों में से एक अंशप्रदेश में भी केवलज्ञान हो तो उस एकदेश से भी लोकालोकप्रत्यक्ष हो जाय, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, किन्तु अधिक बादलों से आच्छादित सूर्य-बिम्ब के समान या निविड़ नेत्रपटल के समान, निगोदिया का वह लब्ध्यक्षरज्ञान सबसे कम जानता है, यह तात्पर्य है।

"खरणाभावा अक्खरं केवलणाणं। तस्स अणंतिमभागो पज्जाओ णाम मदिणाणं। तं च केवलणाणं व णिरावरणमक्खरं च। एदम्हादो सुहुमणिगोदलद्धिअक्खरादो जमुप्पज्जइ सुदणाणं तं पि पज्जाओ उच्चदि, कज्जे कारणोवयारादो।" (धवल पु० ६ पृ० २१-२२)

अर्थ—क्षरण अर्थात् नाश के अभाव होने से केवलज्ञान अक्षर कहलाता है। उसका अनन्तवाँभाग पर्यायनाम का मतिज्ञान है। वह पर्यायनाम का मतिज्ञान तथा केवलज्ञान निरावरण और अविनाशी है। इस सूक्ष्म-निगोद के लब्धि-अक्षर से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह भी कार्य में कारण के उपचार से पर्याय कहलाता है।

"सुहुमणिगोदलद्धि अपज्जत्तयस्स जं जहण्णयं णाणं तं लद्धिअक्खरं णाम। कधं तस्स अक्खरसण्णा? खर-णेण विणा एगसरूवेण अवट्ठाणादो केवलणाणमक्खरं, तत्थवड्ढि-हाणीमभावादो। दव्वट्ठियणए सुहुमणिगोदणाणं तं

वेवे त्ति वा अक्खरं। किमेदस्स पमाणं ? केवलणाणस्स अणंतिमभागो। एदं णिरावरणं, 'अक्खरस्साणंतिमभागो णिच्चुग्घाडियओ' त्ति वयणादो एदम्मि आवरिदे जीवाभावप्पसंगादो वा। एदम्हि लद्धिअक्खरे सव्वजीवरासिणा भागेहिदे सव्वजीवरासीदो अणंतगुणणाणा-विभाग-पडिच्छेदा आगच्छंति।" (धवल पु० १३ पृ० २६२)

अर्थ—सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तकजीव के जो जघन्यज्ञान होता है, उसका नाम लब्ध्यक्षर है। नाश के बिना एक स्वरूप से अवस्थित रहने से केवलज्ञान अक्षर है, क्योंकि उसमें वृद्धि और हानि नहीं होती। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा चूंकि सूक्ष्मनिगोद-लब्ध्यपर्याप्तकजीव का ज्ञान भी वही है, इसलिये इस ज्ञान की भी अक्षर-संज्ञा है। इसका प्रमाण केवलज्ञान का अनन्तवाँभाग है। यह ज्ञान निरावरण है, क्योंकि अक्षर का अनन्तवाँभाग नित्य उद्घाटित रहता है, ऐसा आगम वचन है अथवा इसके आवृत्त होने पर जीव के अभाव का प्रसंग आता है। इस लब्ध्यक्षरज्ञान में सब जीवराशिका भाग देने पर ज्ञानाविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा सब जीवराशि से अनन्त-गुणा लब्ध होता है। अर्थात् लब्ध्यक्षरज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद सर्वजीवराशि से अनन्तगुणे हैं।

—जैं. ग. 19-8-71/VII/ रो. ला. मि.

जिस श्रुतज्ञान के भेद का हमें ज्ञान नहीं, उसके सर्वघाती स्पर्धकों का उदय ज्ञातव्य है

शंका—किसी जीव के 'अक्षरसमास' श्रुतज्ञान वर्तमान में है तो उसके अक्षरसमास से ऊपर वाले ज्ञान 'पद', 'पदसमास' आदि सम्बन्धी ज्ञानावरणों के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय है ना ?

समाधान—पद, पदसमास आदि सम्बन्धी सर्वघाती ज्ञानावरण का उदय है।

—पत्र 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

देशघाती स्पर्धकोदय का कार्य

शंका—जिसे अक्षरसमासश्रुतज्ञान हो गया है उसके 'अक्षरसमास' श्रुतज्ञानावरणीयकर्म के देशस्पर्धकों का उदय है या नहीं ? यदि जिसे अक्षरसमासश्रुतज्ञान है और उसके अक्षरसमास श्रुतज्ञानावरणीय कर्मों के देशघाती-स्पर्धकों का उदय भी है तो प्रश्न यह है कि जब उस जीव के अक्षरसमासश्रुतज्ञान पूरा-पूरा ही है तब उस जीव के अक्षर समासावरणीयकर्म के देशघातीस्पर्धकों ने उदित होकर क्या किया ? किञ्च, जिस उपर्युक्त जीव को अक्षर-समास श्रुतज्ञान है उस जीव के अक्षरसमास श्रुतज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम न मानकर क्षय माना जावे तो भी बनता नहीं, क्योंकि श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षय से श्रुतज्ञान का प्रकट होना बनता नहीं, ऐसा आर्षवाक्य है, समाधान करें।

समाधान—देशघातीस्पर्धक यह कार्य करते हैं, क्रमसे ज्ञान होता है। क्षेत्र के भीतर आने पर पदार्थ का ज्ञान होता है। इन्द्रिय, मन व प्रकाश आदि के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान में हीनाधिकता देशघातिया कर्मोदय से ही होती है।

—पत्र 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

एकेन्द्रियों में श्रुतज्ञान का अस्तित्व

शंका—'श्रुतमनिन्द्रियस्य' सूत्र में बतलाया गया है कि श्रुतज्ञान मन का विषय है। एकेन्द्रियादि असंज्ञी जीवों के श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान—इस सूत्र में 'सुश्रुत' ज्ञान से प्रयोजन है। सुश्रुतज्ञान मात्र संज्ञी जीवों के ही होता है, क्योंकि संज्ञी जीव ही सम्यग्दृष्टि होते हैं। असंज्ञीजीवों को सम्यग्दर्शन नहीं होता। एकेन्द्रियादि असंज्ञीजीवों के कुश्रुतज्ञान होता है। धवल पु० १ सूत्र ११६ में कहा है कि मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानीजीव एकेन्द्रिय से लेकर सासादन-गुणस्थान तक होते हैं। इसकी टीका में श्रुताज्ञान के विषय में निम्नप्रकार से लिखा है—

"अमनसां तदपि कथमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्ति निवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।" मनरहित जीवों के श्रुताज्ञान कैसे सम्भव है ? नहीं, क्योंकि मन के बिना वनस्पतिकायिक जीवों के हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति देखी जाती है।

—पत्राचार / ज. ला. जैन, भीण्डर

एकेन्द्रियों में श्रुतज्ञानोपयोग

शंका—एकेन्द्रिय आदि में श्रुतज्ञान-उपयोगरूप होता है या नहीं ? या लब्धिरूप ही रहता है ?

समाधान—धवलाकार के मतानुसार एकेन्द्रियादि जीवों में भी श्रुतज्ञान-उपयोगरूप होता है। 'मन के बिना वनस्पतिकायिक जीवों के हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति देखी जाती है, इसलिये मनसहित जीवों के ही श्रुतज्ञान मानने में उनसे अनेकान्त दोष आता है।' (धवल पुस्तक १, पृ० ३६१)। एकेन्द्रिय जीवों में मन के बिना भी जाति विशेष के कारण लिंगीविषयक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं आता।" धवल पु० १३ पृ० २१०।

—जै. सं. 30-10-58/V/ ब्र. चं. ला.

एकादशांगधारी उसी भव में च्युत होकर मिथ्यात्व में चला जाता है

शंका—क्या ग्यारह अंग का पाठी उस भव में मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—ग्यारह अंग का पाठी उसी भव में मिथ्यात्व व असंयम को भी प्राप्त हो सकता है। जैसे रुद्र आदि।

—पत्राचार 16-10-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

पूर्वश्रुत पठन का अधिकारी एवं उसके संसार-निवास का काल

शंका—यद्यपि दसपूर्व का ज्ञाता हो परन्तु यदि वह चारित्ररहित हो तो उस आत्मा का निश्चय ही संसार में ही भ्रमण होता है या नहीं ?

समाधान—असंयमी को दसपूर्व का ज्ञान नहीं हो सकता, एक अंग का भी ज्ञान नहीं हो सकता। भिन्न-दसपूर्वी गिरकर असंयमी हो सकता है, किन्तु अभिन्नदशपूर्वी संयम से च्युत नहीं होता। भिन्नदशपूर्वी भी अर्ध-पुद्‌गलपरावर्तन से अधिक संसार में भ्रमण नहीं करता।

—पत्राचार 4-7-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

परोक्षज्ञान का भवान्तर में साथ जाना

शंका—आप सरीखे पण्डित मरकर मनुष्य भव पावे तब भी पाँच वर्ष तक वह बच्चा। (अपण्डित) 'क' 'ख' 'ग' और बालबोध जैनधर्म भाग एक आदि पढ़ता है तो पूर्व भव में जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह कहाँ चला गया ?

समाधान—मृत्यु के समय अधिक वेदना होती है जिसके कारण परिणामों में अतिसंक्लेश होता है। इससे ज्ञानावरण आदि कर्मों का तीव्रउदय हो जाने से वह ज्ञान वहीं पर नष्ट हो जाता है। दूसरे, मतिज्ञान व श्रुतज्ञान इन्द्रियों व मन के निमित्त से होते हैं। वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ और मन शिथिल हो जाते हैं अतः ज्ञान भी निर्बल हो जाता है।

जिन्हें मृत्यु के समय वेदना नहीं होती और जो ऋजुगति से उत्पन्न होते हैं उनके प्रायः पूर्वभव का ज्ञान नष्ट नहीं होता। ऐसा देखा भी जाता है कि कोई-कोई बालक बिना पढ़े अनेक भाषाओं के जानकार हो जाते हैं। तीसरे नरक के नीचे जहाँ धर्मोपदेश नहीं है वहाँ भी पूर्वभव के संस्कार के कारण सम्यग्दर्शन हो जाता है।

—जै. ग. 11-1-62/VIII/ .. ....

संशय अनिश्चयात्मक ज्ञान है

शंका—रा. वा अध्याय १ सूत्र १५ वा० १२ में लिखा है कि अवग्रह के पश्चात् संशय होता है, उसके पश्चात् ईहा ज्ञान होता है अतः संशय ईहा नहीं है। अवग्रहज्ञान और ईहाज्ञान के बीच में जो संशय होता है, वह ज्ञान है या दर्शन है ?

समाधान—संशय भी ज्ञान है, किन्तु प्रमाण नहीं है, क्योंकि संशय में ज्ञान पदार्थ के दो विशेषों में दोलायमान रहता है। संशय में किसी एक का निश्चय नहीं होता और न किसी एक विशेष के निर्णय की ओर झुकाव होता है। अतः संशय ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से प्रमाणकोटि में नहीं आता। 'संशय' उत्पन्न हुए बिना विशेष जानने की आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती इसलिये अवग्रह ज्ञान और ईहा ज्ञान के बीच में संशय होता है। संशय के पश्चात् विशेष के निर्णय की आकांक्षा होते हुए किसी एक विशेष के निर्णय की ओर झुकाव होता है, वह ईहाज्ञान है।

'संशय' दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि संशय अवग्रह अर्थात् अर्थग्रहण के पश्चात् होता है और दर्शन अवग्रह से पूर्व होता है।

पत्राचार—ज. ला. जैन, भीण्डर

निगोद जीव में ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या

शंका—केवलज्ञान में अनन्तअविभागप्रतिच्छेद होते हैं और निगोदिया जीव के जघन्य ज्ञान में भी अनन्त-अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। यह तो ज्ञान की शक्ति की अपेक्षा से है। पर्याय की अपेक्षा से निगोदिया का जघन्य-ज्ञान केवलज्ञान का अनंतवांभाग है। उस ज्ञान के कितने अविभागप्रतिच्छेद हैं, क्या एक है ?

समाधान—निगोदियाजीव के जघन्यज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद अनन्त हैं, क्योंकि उस जघन्यज्ञान को जीवराशि से भाग देने पर जो लब्ध आवे उस को उसी जघन्यज्ञान में मिलाने पर पर्यायज्ञान होता है। यदि पर्याय

की अपेक्षा निगोदिया के उस जघन्यज्ञान के अनन्त अविभागप्रतिच्छेद न हों तो उसको जीवराशि से भाग देना संभव न होगा। कहा भी है—"एक जीव के अगुरुलघुगुण का उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्त का लब्ध्यक्षरज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं।" धवल पु० १३ पृ० ३६३।

—जै. ग. 7-8-67/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

ज्ञान मार्गणा

अवधिज्ञान

क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान के भेद

शंका—अवधिज्ञान के अनुगामी आदि छहभेद भवप्रत्ययअवधिज्ञान में भी होते हैं या नहीं? तत्त्वार्थसार से ऐसा मालूम पड़ता है कि ये छह भेद अवधिज्ञानसामान्य के हैं।

समाधान—तत्त्वार्थसार श्लोक २६ में अनुगामी आदि छह भेदों का कथन है उसके पश्चात् श्लोक २७ वें के पूर्वार्ध में भवप्रत्ययअवधिज्ञान का और उत्तरार्ध में क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान का कथन है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अनुगामी आदि छह भेद भवप्रत्यय और क्षयोपशमहेतुक दोनों अवधिज्ञान के हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने प्रथम अध्याय सूत्र २१ व २२ से यह स्पष्ट कर दिया है कि अनुगामी आदि छह भेद भवप्रत्ययअवधिज्ञान के नहीं हैं, किन्तु क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान के हैं। वे सूत्र इस प्रकार हैं-'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥ क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥' अर्थ—भवप्रत्ययअवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है॥ २१॥ क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का है जो शेष अर्थात् मनुष्य और तिर्यंचों के होता है॥ २२॥

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीका में भी अनुगामी आदि छह भेद भवप्रत्ययअवधिज्ञान के नहीं कहे हैं, किन्तु क्षयोपशम-हेतुक अवधिज्ञान के कहे हैं। तत्त्वार्थसार के श्लोक २६ व २७ का अर्थ भी तत्त्वार्थसूत्र प्रथम अध्याय सूत्र २१ व २२ की दृष्टि से करना चाहिए। अर्थात् अनुगामी आदि छः भेद क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान के हैं।

—जै. ग. 27-2-64/IX/ सरणाराम

(१) देव आगामी भव को जानते हैं, पर नारकी नहीं जानते
(२) सर्व भावी पर्यायें नियत नहीं

शंका—देव-नारकी आगामीभव को जान सकते हैं या नहीं?

समाधान—नारकी आगामी भव को नहीं जान सकते हैं, क्योंकि नारकियों में अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र मात्र एक योजन प्रमाण है। कहा भी है—

"पढमाए पुढवीएणेरइयाणमुक्कस्सोहिक्खेत्तं चत्तारिगाउअपमाणं। तत्थुक्कस्सकालोमुहुत्तं समऊणं।" धवल पु० १३ पृ० ३२६।

अर्थ—पहली पृथिवी में नारकियों के अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र चारकोशप्रमाण है और उत्कृष्टकाल समयकम मुहूर्त है।

नारकी मरकर पुनः नरक में उत्पन्न नहीं हो सकता, मध्यलोक में मनुष्य या तिर्यंच होगा अर्थात् नारकी के आगामीभव का क्षेत्र चारकोस से बाहर के क्षेत्र में होगा, जो उसके अवधिज्ञान के क्षेत्र में नहीं है अतः नारकी आगामीभव को नहीं जान सकता।

देव मरकर मध्यलोक में उत्पन्न होते हैं। देव मध्यलोक में सर्वत्र जा सकते हैं, समवसरण में भी जा सकते हैं। उनके अवधिज्ञान का क्षेत्र व काल भी बहुत अधिक है अतः वे अपने आगामीभव को जान सकते हैं। जिस प्रकार खदिरसार भील का आगामीभव अनियत था उसीप्रकार जिसका आगामीभव अनियत है वह अपने आगामीभव को नियतरूप से नहीं जान सकता है। यदि नियतरूप से जानेगा तो वह गलत हो सकता है। जिसप्रकार यक्षिणी ने खदिरसार भील के आगामी अनियत भव को नियतरूप से (खदिरसार भील मरकर मेरा पति होगा) जान लिया था उसका अवधिज्ञान द्वारा उस प्रकार जानना गलत सिद्ध हुआ, क्योंकि भील मरकर यक्षिणी का पति नहीं हुआ, किन्तु प्रथम स्वर्ग का देव हुआ।[1]

—जै. ग. 30-11-67/VIII/ कँ. ला.

देवों द्वारा दूसरों के मुख से आगामी भव बतलाना

शंका—क्या सम्यग्दृष्टिदेव दूसरे की देह में आकर अपने अवधिज्ञान द्वारा दूसरे के आगामीभव बतला सकता है ? अगर बतला सकता है तब कौनसी अवधि हुई ?

समाधान—देव तो स्वयं इस अपवित्र मनुष्यशरीर में प्रवेश नहीं करता, किन्तु विक्रिया से अपने अवधिज्ञान द्वारा दूसरे के मुख से किसी अन्य के आगामी भव बतला सकता है। यहाँ पर भी मेसमेरेजम से मेसमेरेजम करने वाला अपने ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को दूसरे के मुख से बतला देता है। उस सम्यग्दृष्टिदेव के भवप्रत्यय-देशावधिज्ञान होता है।

—जै. ग. 21-11-63/IX/ ब. प्र. ला.

पंचमकाल में अवधिज्ञानी का सद्भाव

शंका—क्या पाँचवें काल में अवधिज्ञानधारी मुनि हो सकता है ? यदि हो सकता है तो किस प्रमाण से ?

समाधान—पाँचवेंकाल के अंत तक अवधिज्ञानीमुनि होंगे। तिलोयपण्णत्ती महाअधिकार ४, गाथा १५२८ में इस प्रकार कहा है "**काढूणमंतरायं गच्छवि पावेदि ओहिणाणं पि। अक्कारिय अग्गिलयं पंगुसिरी विरदि सव्वसिरी।**

अर्थ—वे मुनि अंतराय करके वापिस चले जाते हैं तथा अवधिज्ञान को भी प्राप्त करते हैं। उस समय वे मुनीन्द्र, अग्निल श्रावक, पंगुश्री श्राविका और सर्वश्री आर्यिका को बुलाते हैं। "**भासइ पसण्णहिदओ दुस्समकालस्स जादमवसाणं। तुम्हम्ह तिदिणमाऊ एसो अवसाणकक्को हु॥ १५२९॥**

---

१. उ० पु० ७४।३६०।पृष्ठ ६१७।

अर्थ—वे मुनि प्रसन्नचित्त होते हुए कहते हैं कि अब दुषमाकाल का (पंचमकाल का) अन्त आ चुका है, तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है, और यह अन्तिम कल्की है।

—जै. सं. 21-3-57/....../ टा. दा कैराना

सभी सम्यक्त्वी जीवों के अवधि नहीं होती

शंका—षट्खण्डागम सत्प्ररूपणा ज्ञानमार्गणा में दिया है कि चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक सर्व के ही मतिश्रुतअवधिज्ञान होता है। क्या अवधिज्ञान सर्व जीवों में माना जायगा ? यह किस अपेक्षा से दिया है ?

समाधान—षट्खण्डागम सत्-प्ररूपणा ज्ञानानुयोगद्वार सूत्र १२० निम्नप्रकार है—

आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीदराग-छदुमत्था त्ति ॥ १२० ॥

अर्थ—अभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थगुणस्थान तक होते हैं।

इस सूत्र में तो यह बतलाया है कि मति, श्रुत और अवधिज्ञान में चौथे से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि जिन जीवों के अवधिज्ञान है उनके चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक ९ गुणस्थान हो सकते हैं, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि चौथे से बारहवें गुणस्थानवर्ती सब जीवों के अवधिज्ञान अवश्य होगा।

श्री वीरसेन आचार्य ने इस सूत्र की धवल टीका में भी लिखा है—

"विशिष्टसम्यक्त्वं तद्धेतुरिति न सर्वेषां तद्भवति।"

अर्थ—विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। इसलिये सभी सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में अवधिज्ञान नहीं होता है।

—जै. ग. 23-9-65/IX/ ब्र. प. ला.

'अवधि अधिकतर नीचे के विषय को जानती है', इसका अभिप्राय

शंका—ज्ञानपीठ से प्रकाशित सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सूत्र ९ की टीका में लिखा है—"अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से अवधिज्ञान कहलाता है" यहाँ पर 'अधिकतर नीचे के विषय' से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—'अधिकतर नीचे का विषय' इस सम्बन्ध में श्री वीरसेन आचार्य ने निम्न प्रकार लिखा है—

"अवाग्धानादवधिः। अधोगौरवधर्मत्वात् पुद्गलः अवा नाम तं दधाति परिच्छिनत्तीति अवधिः।"

यहाँ पर यह कहा गया है कि अवधिज्ञान का मुख्यविषय पुद्गल है। पुद्गल भारी होने से नीचे की ओर जाता है। अतः 'नीचे का विषय' से पुद्गलद्रव्य का अभिप्राय है।

श्री श्रुतसागरआचार्य ने तत्त्वार्थवृत्ति में निम्न प्रकार लिखा है—

"अवाग्धानं अवधिः। अधस्ताद्बहुतर विषयग्रहणादवधिरुच्यते। देवाः खलु अवधिज्ञानेन सप्तमनरक-पर्यन्तं पश्यन्ति, उपरिस्तोकं पश्यन्ति, निजविमानध्वजदण्डपर्यन्तमित्यर्थः।"

यहाँ पर यह कहा गया है कि नीचे का विषय होने से अवधिज्ञान संज्ञा है। अवधिज्ञानियों में अधिकतर संख्या देवों की है। अतः देवों की अपेक्षा से नीचे के विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि देव नीचे तो सातवें-नरक तक जानते हैं, किन्तु ऊपर की नाप अपने विमान के ध्वजदण्ड तक जानने से स्तोक जानते हैं। अतः क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान का नीचे की ओर का विषय है।

श्री वीरसेनआचार्य ने द्रव्य की अपेक्षा 'नीचे के विषय' को स्पष्ट किया है और श्री श्रुतसागरआचार्य ने क्षेत्र की अपेक्षा 'नीचे के विषय' को स्पष्ट किया है। विवक्षा भेद से दोनों कथनों में भेद है।

—जै. ग. 11-3-76/....... / र. ला. जैन, मेरठ

तीर्थंकर की माता को अवधिज्ञान होता है या नहीं ?

शंका—तीर्थंकर के माता-पिता दोनों ही अवधिज्ञानी होते हैं या पिता ही अवधिज्ञानी होता है ?

समाधान—तीर्थंकर के पिता के अवधिज्ञानी होने का कथन तो आर्षग्रन्थ में पाया जाता है किन्तु माता के अवधिज्ञानी होने का कथन देखने में नहीं आया है।

अथासाववधिज्ञान विबुद्धस्वप्नफलः।
प्रोवाच तत्फलं देव्यै लसद्दशनदीधितिः॥१२/१५४ महापुराण

इस श्लोक में यह कहा गया है कि अवधिज्ञान के द्वारा स्वप्नों का उत्तम फल जानकर महाराज नाभिराय मरुदेवी के लिये स्वप्नों का फल कहने लगे।

—जै. ग. 10-12-70/VI/ र. ला. जैन, मेरठ

देवों को अवधि द्वारा तिथियों का ज्ञान

शंका—स्वर्ग में ज्योतिष देवों का संचार नहीं है। वहाँ पर दिन रात ऋतु अयन आदि का भेद नहीं है। फिर देवों को अष्टाह्निका पर्व के दिवस का कैसे ज्ञान हो जाता है जिससे वे नन्दीश्वरद्वीप में जाकर पूजन करने लगते हैं ?

समाधान—नृलोक अर्थात् मनुष्य लोक में ही सूर्य आदिकों के गमन के कारण दिन, रात आदि काल का विभाग होता है।

"ज्योतिष्काः सूर्याचंद्रमसौग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च। मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके। तत्कृतः कालविभागः।" [तत्त्वार्थसूत्र]

सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे ये ज्योतिष देव हैं। मनुष्यलोक में ये निरन्तर मेरु की प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इससे काल का विभाग होता है।

देवों को अवधिज्ञान होता है। वे अवधिज्ञान द्वारा इस कालविभाग को जानते हैं। और इसी से उनको अष्टाह्निका पर्व के दिनों का ज्ञान हो जाता है जिससे वे प्रत्येक अष्टाह्निकापर्व में नंदीश्वरद्वीप में जाकर पूजन करते हैं।

—जै. ग. 28-8-69/VII/ जैन चैत्यालय, टोहतक

नर-तिर्यञ्च में अवधिज्ञान के स्वामी कौन हैं ?

शंका—मनुष्य व तिर्यंचों में अवधिज्ञान क्या केवल सम्यग्दृष्टियों के ही संभव है या मिथ्यादृष्टियों के भी हो सकता है ?

समाधान—मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी इन चारों गतियों में अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होता है। मिथ्यादृष्टि के अवधिज्ञान नहीं होता है, किन्तु विभंग-ज्ञान (कु-अवधिज्ञान) होता है।

"आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीदराग-छदुमत्था त्ति ॥१२०॥ भवतु नाम देवनारकासंयतसम्यग्दृष्टिष्ववधिज्ञानस्य सत्त्वं तस्य तद्भवनिबन्धनत्वात्। देशविरताद्युपरितनानामपि भवतु तत्सत्त्वं तन्निमित्तगुणस्य तत्र सत्त्वात्, न तिर्यङ्मनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिषु तस्य सत्त्वं तन्निबन्धनभवगुणानां तत्रासत्त्वादिति चेन्न, अवधिज्ञाननिबन्धनसम्यक्त्वगुणस्य तत्र सत्त्वात्।" (धवल पु० १ पृ० ३६४-३६५)

अर्थ—आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थगुणस्थान तक होते हैं ॥१२०॥ इस पर यह प्रश्न हुआ कि देव और नारकीसंबन्धी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों में अवधिज्ञान का सद्भाव भले ही रहा आवे, क्योंकि उनके अवधिज्ञान भवनिमित्तक होता है। उसी प्रकार देशविरति आदि ऊपर के गुणस्थानों में भी अवधिज्ञान रहा आवे, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत गुणों का वहाँ पर सद्भाव पाया जाता है। परंतु असंयतसम्यग्दृष्टितिर्यंच और मनुष्यों में उसका सद्भाव नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारण भव और गुण असंयतसम्यग्दृष्टितिर्यंच और मनुष्यों में नहीं पाये जाते हैं ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञान की उत्पत्ति में कारण है और असंयत-सम्यग्दृष्टिमनुष्य व तिर्यंचों में सम्यग्दर्शन का सद्भाव पाया जाता है।

"विभंगणाणं सण्णि-मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा ॥११७॥

विभंगज्ञान (कु-अवधिज्ञान) मिथ्यादृष्टिजीवों के तथा सासादन-सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है।

—जै. ग. 10-2-72/VII/ क. च.

सर्वावधि द्वारा विषयीकृत उत्कृष्ट संख्या (तत्संख्यक पदार्थ)

शंका—क्या सर्वावधिज्ञान उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात को विषय करता है ? क्या जघन्य परीतानन्त को सर्वावधि विषय कर सकता है ? स्पष्ट करें ?

समाधान—उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात सर्वावधिज्ञान का विषय है, किन्तु जघन्य अनन्त अवधिज्ञान का विषय नहीं है।

—पत्राचार 17-2-80 /ज. ला. जैन, भीण्डर

चिह्नों से उत्पन्न अवधिज्ञान का Reaction सर्वत्र होता है

शंका—अवधिज्ञान संपूर्ण आत्मप्रदेशों से नहीं जानता किन्तु समस्त चिह्नों में स्थित आत्मप्रदेशों से जानता है। अनुभव समस्त आत्मप्रदेशों में होता है। जब गुणप्रत्ययअवधिज्ञान सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से नहीं जानता तो उसका अनुभव सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में कैसे हो सकता है।

समाधान—गुणप्रत्ययअवधिज्ञान चिह्नों में स्थित आत्मप्रदेशों के द्वारा जानता हुआ भी उसका अनुभव समस्त आत्मप्रदेशों में होता है। जिसप्रकार चक्षुइन्द्रिय में अंतरंग निवृत्तिरूप से स्थित आत्मप्रदेशों के द्वारा रूप का ज्ञान होता है किन्तु उस रूप का अनुभव समस्त आत्मप्रदेशों में होता है, अन्यथा उस रूप के देखने के कारण उत्पन्न हुआ हर्ष-विषाद संपूर्ण आत्मप्रदेशों में न होता। चक्षुइन्द्रिय में स्थित आत्मप्रदेशों के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान का Reaction संपूर्ण आत्मप्रदेशों द्वारा अनुभव में आता है, उसी प्रकार समस्त चिह्नों में स्थित आत्मप्रदेशों के द्वारा उत्पन्न हुए अवधिज्ञान का भी Reaction संपूर्ण आत्मप्रदेशों में होता है, क्योंकि आत्मा एक अखंडद्रव्य है। अखंडद्रव्य के एकअंश में तो अनुभव हो और दूसरे अंश में अनुभव न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

—जै. सं. 24-7-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

अवधिज्ञान का अनुभव सर्व आत्मप्रदेशों में होता है

शंका—यदि कर्मों का क्षयोपशम सर्व आत्मप्रदेशों में समान है तो सर्वप्रदेशों से जानने में क्या बाधा आती है। यदि फिर भी बाधा मानी जाय तो उन प्रदेशों में कर्मों के क्षयोपशम का क्या फल हुआ? वहाँ तो उदयवत् आत्मशक्ति प्रतिहत ही रही। इससे क्षयोपशम तथा आत्मशक्ति के आविर्भाव में व्याप्ति खंडित हो जाती है। ऐसा होने पर उदय तथा आत्मशक्ति के तिरोभाव में व्याप्ति को भी अनिश्चितता का प्रसंग आ जाता है।

समाधान—सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में क्षयोपशम होते हुए भी सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में करणपने का अभाव होने से सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से अवधिज्ञान नहीं हो पाता। करणपना उन्हीं आत्मप्रदेशों में होता है जिन प्रदेशों का संबंध शरीर के उन अवयवों से हो रहा है जहाँ शरीर पर चिह्न बने हुए हैं। यदि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में क्षयोपशम स्वीकार न किया जावे और प्रतिनियत आत्मप्रदेशों में ही अवधिज्ञान का क्षयोपशम स्वीकार किया जावे तो भ्रमण करते हुए आत्मप्रदेशों के चिह्नों के स्थान पर से हट जाने के काल और उस स्थान पर अन्य आत्मप्रदेश आ जाने से (जिनमें अवधिज्ञान का क्षयोपशम नहीं माना गया) अवधिज्ञान से जानना असंभव हो जावेगा, क्योंकि जिन आत्मप्रदेशों में अवधिज्ञान का क्षयोपशम था वे तो भ्रमण के करण चिह्नोंवाले स्थान से हट गये इसलिये उनमें क्षयोपशम रहते हुए भी करण का अभाव होने से अवधिज्ञान नहीं हो सकेगा और चिह्नों से जिन आत्मप्रदेशों का भ्रमण द्वारा संबंध हुआ है उनमें क्षयोपशम नहीं अतः करण चिह्न होते हुए भी वे जान नहीं पावेंगे। अतः अवधिज्ञान का क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में होता है और वे क्रम से अपना कार्य भी करते हैं। अथवा सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में क्षयोपशम होने के कारण सम्पूर्ण आत्मा में अवधिज्ञान का अनुभव होता है।

—जै. सं. 26-6-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों में क्षयोपशम होने पर भी अवधिज्ञान चिह्नस्थ प्रदेशों से ही जानता है

शंका—अवधि या विभंगज्ञान उन प्रदेशों से उत्पन्न होकर उन प्रदेशों में ही अनुभव होता है जैसा कि चक्षुइन्द्रिय से अथवा सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में अनुभव होता है ? यदि प्रतिनियत प्रदेशों में ही अनुभव होता है और उनस्वरूप प्रदेशों के आश्रय से ही उत्पन्न होता है तो प्रत्यक्ष का लक्षण बाधित होता है।

समाधान—आत्मा के कुछ प्रदेशों से ज्ञान उत्पन्न होने पर भी उसका अनुभव सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में होता है। **समयसार गाथा १३ की टीका** में प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण इस प्रकार दिया है—उपात्त (इन्द्रिय) और अनुपात्त (प्रकाशादि) पर द्वारा प्रवर्ते अर्थात् पर की सहायता द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है। केवल (मात्र) आत्मा में ही प्रतिनिश्चित रूप से (बिना पर पदार्थ की सहायता के) प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान एक कालमें उन समस्त चिह्नों में स्थित आत्मप्रदेशों से उत्पन्न होते हुए भी उन चिह्नों की सहायता नहीं लेता अथवा उन चिह्नों द्वारा नहीं प्रवर्ता, क्योंकि उन चिह्नों का कोई नियत विषय नहीं है और समस्त चिह्नों में स्थित आत्म-प्रदेशों द्वारा एक साथ जानता है, किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है और एक काल में एक ही इन्द्रिय द्वारा प्रतिनियत विषय को जानता है। अतः उस अवधिज्ञान के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं आती। संपूर्ण आत्म-प्रदेशों में क्षयोपशम होने पर भी अवधिज्ञान सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से नहीं जानता, किन्तु चिह्नों में स्थित आत्म-प्रदेशों से जानता है। अतः इसको एक क्षेत्री कहा है।

—जै. सं. 19-6-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

(१) आत्मा के एक देश में ज्ञान नहीं होता
(२) चिह्नों और इन्द्रियों में अन्तर

शंका—'गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अथवा विभङ्गज्ञान मनुष्यों तथा तिर्यंचों को नाभि के ऊपर शंखादि शुभ चिह्नों द्वारा तथा नाभि के नीचे गिरगटादि अशुभ चिह्नों द्वारा होता है। देव, नारकियों व तीर्थंकरों को सर्वाङ्ग से ही होने का नियम है।' ऐसा आगम वाक्य है। इस पर निम्न शंकाएँ हैं—

अखंड आत्मा के एकदेश में ज्ञान का क्या तात्पर्य है ? क्या यह शुभ व अशुभ चिह्न चक्षु आदि इन्द्रियवत् हैं ? ऐसा तो हो नहीं सकता। क्योंकि ध० पु० १३, पृष्ठ २९६, सूत्र ५७ की टीका में अवधिज्ञान चिह्न का इन्द्रियवत् प्रतिनियत आकार होने का निषेध किया है।

समाधान—ज्ञान का क्षयोपशम आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों पर होता है, क्योंकि आत्मा अखंड है। आत्मा के कुछ प्रदेशों पर ज्ञान का क्षयोपशम होता है ऐसा तो माना नहीं जा सकता, अन्यथा आत्मा अखंड नहीं रहेगी। शुभ या अशुभ चिह्न चक्षु आदि इन्द्रिवत् भी नहीं हैं, क्योंकि इनका प्रतिनियत आकार व संख्या आदि नहीं होती। जिसप्रकार श्रोत्रइन्द्रिय का आकार यवनाली के समान होता है और संख्या में दो होते हैं इस प्रकार शुभ व अशुभ चिह्नों का कोई नियत आकार नहीं होता। और न इनकी संख्या का कोई नियम है। चिह्न एक भी हो सकता है और एक साथ दो भी हो सकते हैं, तीन भी हो सकते हैं, इससे अधिक भी हो सकते हैं। इन्द्रियों की रचना अंगोपांग नामकर्म के उदय से होती है, किन्तु चिह्नों की रचना शरीर नामकर्म से नहीं होती है। अतः चिह्नों और इन्द्रियों में अंतर है।

—जै. सं. 19-6-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

अवधिज्ञानोत्पत्ति में "चिह्नों" का स्वरूप, स्थान एवं उत्पत्ति में करणपना

शंका—चिह्नों को 'करण स्वरूप शरीर प्रदेशों के संस्थान' कहा है। करण स्वरूप शरीर प्रदेशों से क्या तात्पर्य है? क्या चक्षुरादि इंद्रियवत् शरीर के अवयव विशेष स्वरूप में स्थित इन प्रदेशों का आश्रय करके जानता है?

समाधान—वर्तमान में भी शरीर पर रेखाओं द्वारा अनेक आकार के चिह्न बने हुए देखे जाते हैं। रेखा द्वारा मत्स्य आदि के आकार शरीर पर बन जाते हैं। काले वर्णवाला बिन्दु के समान गोल आकारवाला शरीर पर 'तिल' रूपी चिह्न भी देखने में आता है। किन्तु इन चिह्नों को इन्द्रिय नहीं कहा जाता।

अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम सर्वाङ्ग होते हुए भी वह अवधिज्ञान इन आत्मप्रदेशों से ही जानता है; अर्थात् उपयोग होता है, जहाँ पर शरीर में अवधिज्ञानसम्बन्धी चिह्न होते हैं, अतः इन चिह्नों को करण कहा है। 'करण' उसे कहते हैं जिसके द्वारा कार्य किया जावे। इन चिह्नों में स्थित आत्मप्रदेशों द्वारा अवधिज्ञान जानता है, अतः इन चिह्नों की 'करण' सार्थक संज्ञा है। कोई एक चिह्न द्वारा जानता है व अन्य कोई एक साथ दो चिह्नों द्वारा जानता है, तीसरा कोई तीन आदि चिह्नों द्वारा जानता है, किन्तु इन्द्रियों की संख्या नियत होने से वे उससे अधिक नहीं होतीं। इसलिए भी इन्द्रियों और चिह्नों में समानता नहीं है। द्रव्यइन्द्रिय ज्ञान में सहायक होती है, किन्तु चिह्न सहायक नहीं होते यह भी इन्द्रियों व चिह्नों में अन्तर है।

—जै. सं. 19-6-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

एकक्षेत्र अवधि प्रत्यक्ष है

शंका—धवल पु० १३ पृ० २९६ नीचे से सातवीं पंक्ति—इस पंक्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि "एकक्षेत्र" अवधिज्ञान तो परोक्ष है। तीन काल में प्रत्यक्ष नहीं है। सो ठीक है क्या?

समाधान—एकक्षेत्र अवधिज्ञान की प्रारम्भ में उत्पत्ति प्रतिनियतक्षेत्र से होती है, किन्तु ज्ञान का परिणमन सर्वात्मप्रदेशों से होता है। ज्ञान के परिणमन में सहायता की आवश्यकता नहीं रहती इसलिए प्रत्यक्ष है। डाइरेक्ट (Direct) आत्मप्रदेशों से जानता है।

—पत्र 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम सर्वांग में या एकदेश में ?

शंका—अवधिज्ञान का क्षयोपशम सर्वांग में होता है या एक देश में, क्योंकि श्री अर्थप्रकाशिका शास्त्र में (लिखा है कि) भवप्रत्यय नामक अवधिज्ञान का क्षयोपशम सर्वाङ्ग में होता है, गुणप्रत्यय जिसके नाभि के ऊपर चिह्न विशेष हो, उसमें क्षयोपशम होता है। आत्मा अखण्ड है फिर क्षयोपशम एकदेश में कैसे सम्भव है?

समाधान—श्री अर्थप्रकाशिका शास्त्रजी के पत्र ४४ पर इसप्रकार लिखा है—"गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है सो पर्याप्त मनुष्यनि के तथा संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यंचनि के उपजै है सो नाभि के ऊपर शङ्ख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, मत्स्य, कलशादिक शुभ चिह्न करि सहित आत्मा के प्रदेशनि में तिष्ठता है। जो अवधि ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम तैं उत्पन्न होय है।" इन पंक्तियों द्वारा पण्डितप्रवर सदासुखदासजी का यह अभिप्राय रहा है

कि मनुष्य तथा तिर्यंचों के जो अवधिज्ञान उपयोगात्मक होता है वह उन्हीं आत्मप्रदेशों के क्षयोपशम द्वारा होता है जो नाभि के ऊपर उक्त चिह्नों में स्थित हैं। पण्डितजी का यह अभिप्राय नहीं है कि अवधिज्ञान का क्षयोपशम शुभ चिह्न करि सहित आत्मप्रदेशों पर ही होता है, सर्वाङ्ग में नहीं। पण्डितजी ने गोम्मटसार आदि महान् ग्रन्थों का मनन किया था, उनको जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ था। वे केवल एक अनुयोग के नहीं अपितु चारों अनुयोगों के जानकार थे। वे आगम के विरुद्ध एक शब्द भी लिखते हुए डरते थे। अतः पण्डितजी कैसे लिख सकते थे कि अवधिज्ञान का क्षयोपशम मनुष्य व तिर्यंचों के सर्व आत्मप्रदेशों में नहीं होता। आत्मा के सर्वप्रदेशों में अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, किन्तु मनुष्य व तिर्यंचों के सर्वांग से उपयोगात्मक न होकर उन्हीं आत्मप्रदेशों से ज्ञान होता है जो आत्मप्रदेश शुभ चिह्नों करि सहित हैं क्योंकि अन्यत्र करण का अभाव है। विशेष के लिए देखो ध० खं० १३ वीं पुस्तक तथा जयधवला पु० १।

—जै. सं. 14-6-56/VI/ क. दे. गया

अवधि गुण नहीं पर्याय है

शंका—मेरे अभी अवधिज्ञान गुण की 'अनवधिज्ञानरूप पर्याय' है या ? यदि नहीं तो जब मुझे देव पर्याय में अवधिज्ञान होगा तब वहाँ असत् गुण का उत्पाद मानना पड़ेगा।

समाधान—अवधिज्ञान गुण नहीं है। ज्ञान गुण की पर्याय है। क्षायोपशमिक भाव है।

—पत्राचार 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अवधिक्षेत्र में प्रमाण योजन अपेक्षित है

शंका—भवनवासी आदि के अवधिज्ञान के क्षेत्रप्रकरण में कहा जाने वाला योजन, प्रमाणयोजन है, आत्मयोजन है अथवा उत्सेधयोजन है ?

समाधान—भवनवासी आदि देवों के अवधिज्ञान के क्षेत्र का माप प्रमाणांगुल से बने योजन अर्थात् प्रमाण योजन से है, क्योंकि उत्सेधांगुल से देवादि चारों गतियों के जीवों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण तथा देवों के निवासस्थान व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है और झारी, कलश, दर्पणादि व मनुष्यों के निवासस्थान व नगरादि का प्रमाण आत्मांगुल से होता है। देखिये ति० प० १/११०–११३।

—पत्राचार / ज ला. जैन भीण्डर

अवधि का विषय-तैजसकार्मण

शंका—देह त्याग कर तैजस-कार्मणशरीर सहित विग्रहगति में गमन करने वाले जीव को क्या अवधिज्ञानी देख सकता है या नहीं ? यदि देख सकता हो तो कौनसा अवधिज्ञानी ?

समाधान—तैजस व कार्मणशरीर मूर्तिक हैं और उनसे बद्ध आत्मा भी कथंचित् मूर्तिक है। अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानांजीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः। जीव के प्रदेश अनादिकालीन बन्धन से बद्ध होने के कारण मूर्त हैं अतएव उनका मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं। ध० खं०

पु० १ पत्र २९२ । **अणादिसरूवेण संबद्धो अमुत्तो वि मुत्तत्तमुवगओ जीवो।** अनादि स्वरूप से सम्बन्ध को प्राप्त अमूर्त भी यह जीव मूर्तत्व को प्राप्त है। (ध० खं० पु० ६ पत्र १४)। **अणादिबंधणबद्धस्स जीवस्स संसारावत्थाए अमुत्तत्ताभावादो।** अनादिकालीन बन्धन से बद्ध रहने के कारण जीव का संसार अवस्था में अमूर्त होना सम्भव नहीं है। (ध० खं० पु० १५ पत्र ३२)। **ववहारा मुत्ति बंधादो** (वृ० द्र० सं० गाथा) । व्यवहारनय की अपेक्षा जीव मूर्तिक है क्योंकि कर्मबन्ध से बँधा हुआ है। **व्यवहारेण कर्मभिः सहैकत्व परिणामान्मूर्तोऽपि** (पं० का० गाथा २७ तत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः) व्यवहारनय से कर्मों के साथ एक रूप से परिणमन होने के कारण जीव मूर्तिक भी है। इस प्रकार कर्मबन्ध के कारण जीव विग्रहगति में भी मूर्तिक है और अवधिज्ञान का विषय रूपी अर्थात् मूर्तिक पदार्थ है-**रूपिष्ववधेः** (त० सू० १/२७) अतः कार्माण व तैजस शरीर सहित विग्रहगति में गमन करने वाला जीव अवधिज्ञान का विषय है। **रूपिषु इत्यनेन पुद्गलाः पुद्गलद्रव्यसम्बन्धाश्च जीवाः परिगृह्यन्ते।** (स.सि. १/२७) 'रूपिषु' पद द्वारा पुद्गलों और पुद्गलों से बद्ध जीवों का ग्रहण होता है। **अमुत्तो जीवो कधं मणपज्जवणाणेण मुत्तट्ठपरिच्छेदियोहिणाणादो हेट्ठिमेण परिच्छिज्जदे ? ण, मुत्तट्ठकम्मेहि अणादिबंधणबद्धस्स जीवस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीदो।** (ध० खं० पु० १३ पत्र ३३३)। यतः जीव अमूर्त है अतः वह मूर्त अर्थ को जानने वाले अवधिज्ञान से नीचे के मनःपर्ययज्ञान के द्वारा कैसे जाना जाता है ? नहीं, क्योंकि संसारी जीव मूर्त आठ कर्मों के द्वारा अनादिकालीन बन्धन से बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता अर्थात् मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जाना जाता है।

—*जै. सं. 13-12-56/VII/ सौ. च. का. डबका*

कुअवधिज्ञानी के विभंगदर्शन

शंका—कुअवधिज्ञान वालों के भी अवधिदर्शन होता है या नहीं ?

समाधान—धवल पु० १ पृ० ३८५ तथा पु० १३ पृ० ३५६ पर कुअवधि (विभंग) ज्ञानी के अवधिदर्शन का कथन किया है—

"विहंगदंसणं किण्ण परूविदं ? ण, तस्स ओहिदंसणे अंतब्भावादो। तथा सिद्धिविनिश्चयेऽप्युक्तम् अवधिविभंगयोरवधिदर्शनमेव।" धवल पु० १३ पृ० ३५६।

अर्थ—विभंगदर्शन क्यों नहीं कहा है ? विभंगदर्शन का अवधिदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा ही सिद्धिविनिश्चय में भी कहा गया है—अवधिज्ञान और विभंगज्ञान के अवधिदर्शन होता है।

किन्तु ध० पु० १ पृ० ३८४ पर सूत्र १३४ में अवधिदर्शन वाले के चौथे से बारहवें गुणस्थान तक ९ गुणस्थान बतलाये हैं। पहला या दूसरा गुणस्थान नहीं बतलाया है। पृ० ३६२ सूत्र ११७ में विभंगज्ञान पहले और दूसरे इन दो गुणस्थानों में बतलाया है। इससे यह ज्ञात होता है कि विभंग (कुअवधि) ज्ञान वाले के अवधिदर्शन नहीं होता है।

"विभंगणाणं सण्णिमिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा ॥११७॥ आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जावखीणकसायवीदरागछदुमत्था त्ति ॥१२०॥ ओधिदंसणी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीदरागछदुमत्था त्ति ॥१३४॥"

अर्थ—विभंगज्ञान संज्ञी, मिथ्यादृष्टिजीवों के तथा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवों के होता है। ११७॥ सुमति-ज्ञान, सुश्रुतज्ञान और सु-अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान तक होते हैं॥ १२०॥ अवधिदर्शनवाले जीव असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान तक होते हैं॥१३४॥

—जै. ग. 8-2-68/IX/ ध. ला. सेठी

(१) विभिन्न गतियों में विभंग ज्ञान का काल
(२) मिथ्यात्वी तिर्यंच व मनुष्यों के भी विभंग ज्ञान की उत्पत्ति
(३) सम्यक्त्वी के मिथ्यात्व में आने पर विभंग का अस्तित्व काल
(४) चारों गतियों में अपर्याप्तावस्था में विभंग-निषेध

शंका—'भव प्रत्ययअवधि या विभंगज्ञान तो मनुष्य तिर्यंचों को होता नहीं, गुणप्रत्यय होता है। वह भी सम्यक्त्व आदि के निमित्त होने पर ही होता है। मिथ्यात्व व असंयम हो जाने पर वह (देशावधि) छूट जाता है।' परन्तु ध० पु० १३ पृ० २९७ पर तो मनुष्य व तिर्यंच मिथ्यादृष्टियों के विभंगज्ञान भी स्वीकार किया है जो अशुभ चिह्नों से उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व हो जाने पर वह ही विभंग ज्ञान अवधिज्ञान नाम पाता है और मिथ्यात्व हो जाने पर अवधिज्ञान का नाम विभंग हो जाता है। परन्तु अवधिज्ञान की अपेक्षा दोनों में कोई भेद नहीं है। सम्यक्त्व हो जाने पर अशुभ चिह्न शुभ हो जाते हैं और मिथ्यात्व हो जाने पर शुभ चिह्न अशुभ हो जाते हैं। इससे 'मिथ्यात्वादि होने पर अवधिज्ञान टूट जाता है' यह नियम बाधित होता है। यदि कहा जावे कि अवधि टूटकर विभंग नाम पाना ही अवधि का टूटना है सो भी नहीं, क्योंकि जिसप्रकार देव, नारकियों के अपर्याप्त अवस्था में अवधिज्ञान माना गया है—उसप्रकार विभंगज्ञानी मनुष्य, तिर्यंच मरकर देवनारकियों में उत्पन्न होने वालों की अपेक्षा अपर्याप्त अवस्था में विभंग ज्ञान क्यों स्वीकार नहीं किया गया ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिअवधिज्ञानी मनुष्य या तिर्यंचों के सम्यक्त्व छूट जानेपर अवधिज्ञान संक्लेशपरिणामों के कारण सर्वथा नष्ट भी हो जाता है और कभी यदि नष्ट नहीं होता तो उसका नाम अवधिज्ञान न रह कर विभंग ज्ञान तो हो ही जाता है, किन्तु सम्यग्दर्शन आदि विशुद्धता के अभाव के कारण वह भवानुगामी भी नहीं रहता और उसके क्षयोपशम का [यानी अस्तित्व का] उत्कृष्ट काल एक अंतर्मुहूर्त हो जाता है। मिथ्यादृष्टिमनुष्य व तिर्यंचों के भी विभंगज्ञान की उत्पत्ति होती है, किन्तु वह भी भवानुगामी नहीं होता और उसके भी क्षयोपशम का काल एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता है। देवों में विभंगज्ञान का उत्कृष्टकाल ३१ सागर और नारकियों में ३३ सागर है, किन्तु वह विभंगज्ञान भी भवानुगामी नहीं है। अपर्याप्त अवस्था में विभंग उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि देव, नारकियों का पर्याप्त भव ही भवप्रत्यय विभंगज्ञान के लिये कारण है। मनुष्य व तिर्यंचों के भी अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि अपर्याप्तकाल में पर्याप्ति पूर्ण न होने से उस प्रकार की शक्ति का अभाव है। अतः अपर्याप्त अवस्थाओं में चारों गतियों में किसी भी जीव के विभंगज्ञान नहीं पाया जाता।

—जै. सं. 26-6-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

सम्यक्त्वी को विभंगज्ञान नहीं होता

शंका—सम्यग्दृष्टि नारकी के विभंगावधि ज्ञान होता है या सम्यगवधि ज्ञान होता है ?

समाधान—विभंगावधिज्ञान तो मिथ्यादृष्टि तथा सासादनसम्यग्दृष्टि के होता है। सम्यग्दृष्टि के तो अवधिज्ञान होता है।

"विभंगणाणं सण्णि-मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा ॥ ११७ ॥ ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति ॥ १२० ॥" धवल पु० १।

अर्थ—विभंगज्ञान संज्ञीमिथ्यादृष्टिजीवों के तथा सासादन-सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है। अवधिज्ञान असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान तक होता है।

"संपहि णेरइय-मिच्छाइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि तिण्णि अण्णाण। सासणसम्माइट्ठीणं, भण्णमाणे अत्थि तिण्णि अण्णाण।" असंजदसम्माइट्ठीणं भण्णमाणे अत्थि तिण्णि णाण। धवल पु० २।

नारकी मिथ्यादृष्टि का आलाप कहने पर कुमति, कुश्रुत और विभंग ये तीन अज्ञान होते हैं। नारकी सासादन-सम्यग्दृष्टि का आलाप कहने पर कुमति, कुश्रुत और विभंग ये तीन अज्ञान होते हैं। नारकी असंयत-सम्यग्दृष्टि का आलाप कहने पर मति, श्रुत, अवधि ये तीन सुज्ञान होते हैं।

अतः सम्यग्दृष्टिनारकी के विभंगज्ञान नहीं होता है, अवधिज्ञान होता है।

—जै. ग. 14-8-69/VII/ क. दे. जैन

विभंगज्ञान के पूर्व अवधिदर्शन होता है

शंका—विभंगावधि में अवधिदर्शन क्यों नहीं? यदि विभंगज्ञान चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन पूर्वक होता है तो ऐसा क्यों? तथा अवधिज्ञान को भी चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन पूर्वक क्यों न माना जाय?

समाधान—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन पूर्वक विभंगज्ञान नहीं होता है। विभंगज्ञान से पूर्व में होने वाले दर्शन का अवधिदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। कहा भी है—

"विभङ्गदर्शनं किमिति पृथग् नोपदिष्टमिति चेन्न, तस्यावधिदर्शनेऽन्तर्भावात्।" धवल पु० १ पृ० ३८५।

"विहंगदंसणं किण्ण परूविदं? ण, तस्स ओहिदंसणे अंतब्भावादो। तथा सिद्धिविनिश्चयेऽप्युक्तम् "अवधि-विभंगयोरवधिदर्शनमेव।" धवल पु० १३ पृ० ३५६।

विभंग दर्शन क्यों नहीं कहा? नहीं कहा, क्योंकि उसका अवधिदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा ही सिद्धिविनिश्चय में भी कहा गया है—"अवधिज्ञान और विभंगज्ञान के अवधिदर्शन होता है।"

—जै. ग. 1-6-72/VII/ र. ला. जैन

मिथ्यात्वी मनुष्य-तिर्यंच को कुअवधि कैसे उत्पन्न होती है?

शंका—मिथ्यादृष्टि तिर्यंच व मनुष्यों में कु-अवधिज्ञान कैसे होता है अर्थात् उसका क्या कारण है?

समाधान—मिथ्यादृष्टि तिर्यंच व मनुष्यों में अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से विभंग ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि अवधिज्ञानी सम्यग्दृष्टितिर्यंच या मनुष्य सम्यक्त्व से च्युत हो जाय तो उसका अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन के अभाव में विभंगज्ञान हो जायगा। इसका जघन्यकाल एकसमय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। ध. पु. ९ पृ. ३९७।

—जै. ग. 2-3-72/VI/ क. च. जैन

ज्ञानमार्गणा

मनःपर्ययज्ञान

मनःपर्यय के उत्पत्ति योग्य गुणस्थान

शंका—मनःपर्ययज्ञान कौन से गुणस्थान में उत्पन्न होता है और किन गुणस्थानों में रहता है? सभी संयमियों के मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता?

समाधान—मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में होती है उसके पश्चात् प्रमत्तसंयतगुणस्थान में भी रहता है। कहा भी है—'दोनों मनःपर्ययज्ञान विशुद्धपरिणाम में अप्रमत्तमुनि के उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर उत्पत्तिकाल के लिये नियम है, पश्चात् प्रमत्तसंयत के भी होता है।' (पंचास्तिकाय पृ० ८७ रायचन्द्र ग्रन्थमाला)। मनःपर्ययज्ञान प्रमत्त-संयतगुणस्थान से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ नामक बारहवें गुणस्थान तक होता है। (धवल पु० १ पृ० ३६६)। यदि केवल संयम ही मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता तो सभी संयमियों के मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति हो जाती। किन्तु अन्य भी मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति के कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओं के न रहने से समस्त संयतों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। विशेष जाति के द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं। जिनके बिना सभी संयमियों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

—धवल पु० १ पृ० ३६७।

—जै. ग. 16-4-64/IX/ एस. के. जैन

मनःपर्यय का विषय मन या पदार्थ

शंका—मनःपर्ययज्ञान का विषय मात्र मन के विचारों को जान लेना है या मन में विचार किये गये पदार्थ को प्रत्यक्ष जानकर उस पदार्थ के सम्बन्ध में कुछ विशेष जानना भी है?

समाधान—इस शंका के समाधान के लिये धवल पु० १३ पृ० ३३२ सूत्र ६३ व उसकी टीका देखनी चाहिये। वह सूत्र इस प्रकार है—"मन के द्वारा मानस को जानकर मनःपर्ययज्ञान काल से विशेषित दूसरों की संज्ञा, स्मृति, मति, चिंता, जीवित-मरण, लाभालाभ, सुख-दुःख, नगरविनाश, देशविनाश, जनपदविनाश, खेटविनाश कर्वटविनाश, मडंबविनाश, पट्टनविनाश, द्रोणमुखविनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय और रोगरूप पदार्थों को भी जानता है ॥६३॥ यह सूत्र श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक में भी उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त धवल पु० १३ पृ० ३३१ पर भी कहा है—"यह राज्य या यह राजा कितने दिन तक समृद्ध रहेगा, ऐसा चिन्तवन करके ऐसा ही कथन करने पर यह ज्ञान चूंकि प्रत्यक्ष से राज्य परम्परा की मर्यादा को और राजा की आयुस्थिति को जानता है।" पृ० ३३७ पर कहा है—'द्रव्य की अपेक्षा वह जघन्य से

अनन्तानन्त विस्रसोपचयों से सम्बन्ध रखने वाले औदारिकशरीर के एक समय में निर्जरा को प्राप्त होने वाले द्रव्य को जानता है और उत्कृष्टरूप से एक समय में होने वाले इन्द्रिय के निर्जरा द्रव्य को जानता है।' पृ० ३३८ पर सूत्र ६७ की टीका में कहा है—'जीवों की गति, आगति, मुक्त, कृत और प्रतिसेवित अर्थ को जानता है।' इस आगमप्रमाण से विदित होता है कि मन:पर्यय का विषय मात्र मनके विचार नहीं हैं, किन्तु वह पदार्थ भी है जिसका मन मे विचार किया जा रहा है।

—जै. ग. 16-4-64/IX/ एस. के. जैन

विपुलमतिमन:पर्ययज्ञानी उपशम श्रेणी नहीं चढ़ता

शंका—क्या विपुलमतिमन:पर्ययज्ञानी उपशम श्रेणी मांड सकता है ?

समाधान—विपुलमतिमन:पर्ययज्ञान वर्धमान चारित्र वाले के ही होता है जैसा कि श्री अकलंकदेव आचार्य ने तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय १ सूत्र २४ की टीका में "स्वामिनो प्रवर्धमानचारित्रोदयत्वात्" शब्दों द्वारा कहा है। यदि विपुलमतिमन:पर्ययज्ञानी उपशम श्रेणी चढ़ता है तो ११ वें गुणस्थान से गिरते समय उसके हीयमानचारित्र का प्रसंग आ जाता है, किन्तु विपुलमतिमन:पर्ययज्ञानी के हीयमानचारित्र होता नहीं। इससे सिद्ध होता है कि विपुलमति-मन:पर्ययज्ञानी उपशमश्रेणी नहीं चढ़ता। ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञानी ही उपशमश्रेणी चढ़ सकता है, क्योंकि वह प्रतिपाती भी है।

—जै. ग. 5-1-78/VIII/ ज्ञा. ला.

मन:पर्ययज्ञान

शंका—ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान वाला जीव इस ज्ञानसहित क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है या नहीं ?

समाधान—जीव दो ज्ञान सहित (मति, श्रुत), तीन ज्ञान सहित (मति, श्रुत, अवधि या मति, श्रुत, मन:पर्ययज्ञान) तथा चार ज्ञान सहित (मति, श्रुत, अवधि व मन:पर्यय) क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है (मोक्षशास्त्र अध्याय १० अन्तिम सूत्र की टीका) मन:पर्ययज्ञान से विपुलमति मन:पर्ययज्ञान ग्रहण करना चाहिए, ऐसा नियम करने वाला कोई आगम वाक्य नहीं है। मन:पर्ययज्ञान से ऋजुमति व विपुलमति इन दोनों में से किसी एक का ग्रहण हो सकता है। अत: ऋजुमतिज्ञान सहित भी क्षपकश्रेणी चढ़ सकता है, इसमें युक्ति व आगम से कोई बाधा नहीं आती है।

—जै. सं. 12-7-56/VI/ ब्र. प. जैन, इन्दौर

शंका—मन:पर्यय (ऋजुमति) छूट जाने पर कितने भव संसार में और लेता है ?

समाधान—ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान के छूटने के पश्चात् उस भव से भी मोक्ष जा सकता है और उत्कृष्ट से अर्धपुद्गलपरावर्तन तक संसार में अनन्त भव धारण करके मोक्ष को जाता है। मध्य के अनन्ते विकल्प हैं। ष० खं० पु० ७/२२०-२२१ क्षुद्राबंध सूत्र १०५ देखना चाहिए।

—जै. सं. 9-8-56/VI/ ब्र. प. जैन, इन्दौर

मनःपर्यय ज्ञानी मानुषोत्तर से बाहर कितना क्षेत्र जानता है ?

शंका—एक मनःपर्ययज्ञानी (उत्कृष्ट) जो नरलोक के अन्तछोर पर वहाँ बैठा है जहाँ से एक सूत भर भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता, क्योंकि उसके बाद मानुषोत्तर पर्वत आ जाता है अर्थात् चित्रानुसार वह 'T' बिन्दु

पर बैठा है—तो वह ज्ञानी यहाँ से बाहर कितनी दूरी तक जान लेगा ? अर्थात् नरलोक से बाहर कितनी दूरी तक जान लेगा ? मेरे हिसाब से तो २२½ लाख योजन बाहर तक जान लेगा। नरलोक की परिधि के किसी भी बिन्दु पर बैठा व्यक्ति बाहर २२½ लाख योजन तक जान सकेगा, ऐसा मैं सोचता हूँ क्योंकि "४५ लाख योजन उत्कृष्ट क्षेत्र है।" न कि नरलोक। अर्थात् जहाँ मनःपर्ययज्ञानी बैठा है वहाँ उस मनःपर्ययज्ञानी को केन्द्र मानकर यदि २२½ लाख योजन अर्द्ध व्यास का नाप लेकर एक वृत्त बनाया जाय तो वह उस मनःपर्ययज्ञानी के ज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र होगा ? क्या यह ठीक है ?

समाधान—मनःपर्ययज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र ४५००००० योजन के विषय में आपका कथन ठीक है।

पत्राचार 1-3-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

मनःपर्यय का घनरूप क्षेत्र

शंका—क्या मनःपर्ययज्ञान का उत्कृष्टक्षेत्र घनरूप स्थापित करने पर "$\sqrt{१०} \times \left(\frac{\text{४५ लाख योजन}}{२}\right)^{२}$ × १ ला० ४० योजन" प्रमाण होता है; जहाँकि ऊँचाई तो ऊपर जाने पर भी परिवर्तित नहीं होगी पर तिर्यक्रूप से क्षेत्र भिन्न हो सकता है, जबकि मनःपर्ययज्ञानी सुमेरु से दूर होता जावे और मानुषोत्तरपर्वत की तरफ जाता जावे तब क्षेत्र नरलोक से बाहर की ओर बढ़ता जायेगा, क्या यह ठीक है ? ज. ध. पु. १ पृ. १९।

समाधान—यह भी ठीक है, किन्तु ऊँचाई एक लाख योजन है न कि एक लाख ४० योजन। जम्बूद्वीप की ऊँचाई एक लाख योजन है। जहाँ यह मनःपर्ययज्ञानी है उसे केन्द्र मानकर २२½ लाख योजन अर्द्धव्यास वाला गोला बनाने से मनःपर्ययज्ञानी का उत्कृष्ट क्षेत्र प्राप्त हो सकता है।

—पत्राचार 1-3-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

मनःपर्ययज्ञान का घनक्षेत्र

शंका—जो मेरी प्रस्तुयमान शंका है, उसके कारण निम्नलिखित स्थल हैं—धवल पु० ९/६८; ज० ध० १/१९; ध० १३/३४४ वा २४४ तथा जीवकांड गाथा ४५६।

धवल पु० ९ पृ० ६८, नीचे से तृतीय पंक्ति में "घनाकार से स्थापित करने पर", ऐसा शब्द आया है। सो घनाकाररूप स्थापित करने का क्या मतलब ? क्या ऐसा अर्थ समझलें कि ४५ लाख योजन लम्बा, इतना ही

चौड़ा एवं इतना ही ऊँचा ? क्योंकि घनाकार का मतलब तो "४५ लाख योजन × ४५ लाख योजन × सुमेरु पर्वत की ऊँचाई" होता है।

धवल ९।६७ की द्विचरम पंक्ति में लिखा है कि ४५ लाख योजन घन प्रतर को जानता है। इससे क्या अभिप्राय है ? लगता है कि गो० जी० गाथा ४५६ की संस्कृत टीका में लिखित वाक्य "मानुषोत्तरपर्वत के बाहर चारों कोणों में स्थित तिर्यंच अथवा देवों के द्वारा चिन्तितपदार्थ को भी मनःपर्ययज्ञानी जानता है;" गलत है। [धवल पु० ९।६७-६८ को देखते हुए] चारों कोणों की बात वहाँ है ही नहीं।

शंकासार—(अ) मनःपर्ययज्ञान कितनी ऊँचाई तक जानता है। सुमेरुपर्वत की चोटी तक मनःपर्यय क्षेत्र है अथवा अन्य ? जयधवल १।१९ के विशेषार्थ को देखते हुए तो चारणऋद्धिधारी मनःपर्ययज्ञानी मुनि ऊपर आकाश में गमन करते हुए फिर अपनी स्थिति से १ लाख योजन ऊँचाई के भीतर होने से प्रथम स्वर्गस्थ देवों की बातें भी जानने लगेंगे।

(ब) जीवकाण्ड गा० ४५६ की संस्कृत टीका गलत है या सही ?

(स) किसी जीव ने लोकान्त में स्थित पुद्गल (निगोद) के बारे में विचार किया। तब क्या इतना तो मनःपर्ययज्ञानी कह देगा कि आपने लोकान्त की वस्तु (निगोद) के बारे में विचार किया है, पर वह मुझे प्रत्यक्ष नहीं है; अथवा विचार [विचार्यमाणवस्तु का नाम] भी नहीं कहेगा ?

समाधान—गो० जी० गा० ४५६ की टीका ठीक नहीं है, गलत है। इसका विवक्षित अर्थांश इस प्रकार होना चाहिए—गा० ४५५ के अन्त में णरलोयं है और गाथा ४५६ में य वयणं शब्द है। इनका परस्पर सम्बन्ध है, क्योंकि इनकी एक विभक्ति है। गाथा ४५६ में "णरलोए" में सप्तमी विभक्ति है। इसका सम्बन्ध 'ण' से है। 'णरलोयं य वयणं वट्टस्स विक्खंभ-णियामयं, ण णरलोए त्ति।' अर्थात् नरलोक यह वचन विष्कम्भ (Diameter) का नियामक है, न कि नरलोक के अन्दर का। तात्पर्य यह है कि गाथा ४५५ में नरलोक शब्द नरलोक का नियामक नहीं है, किन्तु वृत्ताकार जो नरलोक है उसके व्यास का नियामक है, जो कि ४५ लाख योजन है। इसप्रकार गाथा ४५६ का अर्थ धवला से विरुद्ध नहीं है। घन से अभिप्राय $\overline{\wedge}\ R^2 \times \text{Height} = \sqrt{10} \times \left(\frac{\text{४५ लाख योजन}}{२}\right)^2$ × एक लाख योजन। नरलोक की ऊँचाई सुदर्शनमेरु है जो ९९ हजार ४० योजन है। सुदर्शनमेरु जड़ सहित १ लाख योजन + ४० योजन (चूलिका)।

किसी भी आगम में ऐसा कथन नहीं है कि मेरु की चोटी पर बैठा हुआ मनःपर्ययज्ञानी उससे ऊपर एक लाख योजन की बात जान लेगा। मात्र तर्क के आधार पर यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मनःपर्ययज्ञानी उसके क्षेत्र के अन्दर स्थित जीव के विचार को जान लेगा, किन्तु यदि वह चिन्तित पदार्थ क्षेत्र से बाहर है तो उस पदार्थ को नहीं जान सकेगा।

—पत्राचार 17-2-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

मनःपर्ययज्ञान का उत्कृष्ट विषय भी स्कन्ध है

शंका—मनःपर्ययज्ञान का उत्कृष्ट विषय द्रव्य की अपेक्षा परमाणु से बड़ा है या छोटा है या बराबर है।

समाधान—मनःपर्ययज्ञान का उत्कृष्टविषय स्कन्ध है, परमाणु नहीं है। कहा भी है—

"उत्कृष्टद्रव्य के ज्ञापनार्थ उसके योग्य असंख्यातकल्पों के समयों को शलाकारूप से स्थापित करके मनोद्रव्यवर्गणा के अनन्तवेंभाग का विरलनकर विस्रसोपचय रहित व आठ कर्मों से सम्बद्ध अजघन्यानुत्कृष्ट एक समयप्रबद्ध को समखण्ड करके देने पर उनमें एक खण्डद्रव्य का द्वितीय विकल्प होता है। इस समय शलाकाराशि में से एकरूप कम करना चाहिये। इसप्रकार इस विधान से शलाकाराशि समाप्त होने तक ले जाना चाहिए। इनमें अन्तिमद्रव्यविकल्प को उत्कृष्ट विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान जानता है।" (धवल पु० ९ पृ० ६७)

"तस्यापि ऋजुमतिविषयस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागो विपुलमतेर्विषयोऽनन्तस्यानन्तभेदत्वात् सङ्ख्येयासङ्ख्येययोः सङ्ख्येयासङ्ख्येयभेदवत्। सोपि स्कंधो न परमाणुः।" (सुखबोध टीका १/२४)

यहाँ पर भी विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान का विषय स्कंध ही बतलाया है।

—जै. ग. 3-2-72/VI ज्या. ला.

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान भी मतिज्ञानपूर्वक होता है

शंका—क्या विपुलमति मनःपर्यय के पूर्व ईहामतिज्ञान नहीं होता है ? या ऋजु एवं विपुल दोनों मनःपर्ययज्ञान के पूर्व ईहामतिज्ञान होता है ?

समाधान—ऋजुमति एवं विपुलमति दोनों ही ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होते हैं, क्योंकि मनःपर्ययदर्शन का कथन आगम में नहीं किया है।

धवल की तेरहवीं तथा प्रथम पुस्तक में कहा भी है—"सुदमणपज्जव दंसणाणि किण्ण सुत्ते परूविदाणि ? ण तेसिं मदिणाणपुव्वाणं दंसणपुव्वत्तविरोहादो।" [ध० १३।३५६]

अर्थ—सूत्र में श्रुतदर्शन तथा मनःपर्ययदर्शन क्यों नहीं कहे गये ? नहीं कहे गये, क्योंकि वे श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होते हैं, इसलिए उनको दर्शनपूर्वक मानने में विरोध आता है। **मनःपर्ययदर्शनं तर्हि वक्तव्यमिति चेन्न, मतिपूर्वकत्वात्तस्य दर्शनाभावात्।** [धवल० पु० १।३८५]

अर्थ—मनःपर्ययदर्शन को भिन्नरूप से कहना चाहिये ? नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसलिए मनःपर्ययदर्शन नहीं होता है।

परमणसि ट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय।
पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा॥ गो. जी. गाथा ४४७।

इस गाथा में यद्यपि ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान को ईहामतिज्ञान पूर्वक कहा है, तथापि देहली-दीपकन्याय से यह सिद्ध हो जाता है कि विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान भी ईहामतिज्ञान पूर्वक होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो

विपुलमतिमन:पर्ययज्ञान को दर्शनपूर्वक होने का प्रसंग आयगा, किन्तु किसी भी आचार्य ने मन:पर्ययदर्शन का कथन नहीं किया। अतः विपुलमतिमन:पर्ययज्ञान भी ईहामतिज्ञानपूर्वक होता है।

—पत्राचार 77-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

मन:पर्ययज्ञानी के ज्ञान तो एक, पर दर्शन ३ होते हैं

शंका – धवल पु० २ मन:पर्ययज्ञान के 'आलाप' में ज्ञानमार्गणा में मात्र एकज्ञान बतलाया है और दर्शनमार्गणा में तीनदर्शन का कथन है। एकज्ञानलब्धि की अपेक्षा कहा है या उपयोग की अपेक्षा? यदि लब्धि की अपेक्षा कथन है तो चारज्ञान कहने चाहिये थे, क्योंकि उसके मति, श्रुत व अवधिज्ञान का भी क्षयोपशम है। यदि उपयोग की अपेक्षा कथन है तो तीनदर्शन नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ज्ञानोपयोग के समय दर्शनोपयोग संभव नहीं है।

समाधान—धवल पुस्तक २ में ज्ञानमार्गणा व दर्शनमार्गणा का कथन क्षयोपशम की अपेक्षा है, अन्यथा मन:पर्ययज्ञान का काल कुछ कम पूर्वकोटि संभव नहीं हो सकता। कहा भी है—

"मणपज्जवणाणी केवलणाणी केवचिरं कालादो होंति? उक्कस्सेण पुव्वकोडी देसूणा ॥" जीव मन:पर्ययज्ञानी कितने काल तक रहते हैं? अधिक से अधिक कुछकम पूर्वकोटिवर्ष तक जीव मन:पर्ययज्ञानी रहते हैं।

यह सत्य है कि जिसके मन:पर्ययज्ञान का क्षयोपशम होगा उसके मति, श्रुत व अवधिज्ञानों का क्षयोपशम होगा, अतः चार ज्ञान कहने चाहिये थे, किन्तु मन:पर्ययज्ञान के 'आलाप' में मन:पर्ययज्ञान की विवक्षा होने से एक ज्ञान का कथन किया गया है।

—जै. ग. 18-3-76/......../ र. ला. जैन, मेरठ

अवधिज्ञान एवं मन:पर्ययज्ञान से विषयीकृत द्रव्य एवं मतवैभिन्न्य

शंका—अवधिज्ञान के विषय के प्रकरण में उत्कृष्ट अवधि का द्रव्य धवला में (पु० ९।४८) परमाणु बताया है। तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य ॥ त० सू० १।२८ के अनुसार जो अवधिज्ञान के द्वारा उत्कृष्टतः द्रव्य जाना गया उसका अनन्तवाँ भाग अर्थात् परमाणु का अनन्तवाँ भाग द्रव्य यानी परमाणु का अनन्तवाँ शक्त्यंश मन:पर्ययज्ञान का विषय होना चाहिए। कहा भी है—"जैसा परमाणु अवधिज्ञान जान्या तिसके अनन्तवें भाग कूं मन:पर्ययज्ञान जाने है। एक परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं। तिनिके घटने-बधने की अपेक्षा अनन्तवा भाग सम्भवे है।" [सर्वार्थसिद्धिवचनिका १।२८।८८] परन्तु जीवकाण्ड [गा० ४५४], आदि में मन:पर्यय का विषय स्कन्ध कहा है। धवला [पु० ९।९६], श्लोकवार्तिक [पु० ४ पृ० ६६] आदि में विपुलमति का विषय भी स्कन्ध कहा गया है। फिर सर्वावधि का 'परमाणु' विषय कैसे माना जाय? अथवा, "तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य" को किस विधि से माना जाय? कृपया समझाइए।

समाधान—अवधिज्ञान व मन:पर्ययज्ञान के द्रव्य के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार, सर्वार्थसिद्धिकार आदि टीकाकारों का मत है कि सर्वावधिज्ञान का विषय स्कन्ध है। अकलंकदेव ने राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र २४ वार्तिक २ की टीका में कहा है—कार्मणद्रव्यानन्तभागोऽन्त्यः सर्वावधिना ज्ञातः तस्य पुनरनन्तभागी-

कुतस्य मनःपर्ययज्ञेयोऽनन्तभागः अनन्तस्यानन्त भेदत्वात् ऋजुमतिकामंणद्रव्याऽनन्तभागाद् दूरविप्रकृष्टोऽल्पीयाननन्त-भागः विपुलमतेर्द्रव्यम्। वहीं पर प्रदत्त टिप्पण संख्या ३ के अनुसार सर्वावधि का विषयभूत द्रव्य परमाणु नहीं है, किन्तु अनंतपरमाणुओं का स्कन्ध है। इसीप्रकार ऋजुमति का विषय भी स्कन्ध है। "अनन्त के अनंत भेद होते हैं", इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है। किन्तु धवलाकार व गोम्मटसारकार के मतानुसार सर्वावधि का विषय परमाणु है, इसीलिए उन्होंने मनःपर्ययज्ञान के विषय को अवधिज्ञान से विषयीकृत द्रव्य का अनन्तवाँ भाग नहीं कहा। धवला की नवम पुस्तक में पृष्ठ संख्या ४८ पर सर्वावधि का विषय परमाणु बताया है और पृष्ठ संख्या ६३ व ६७ पर मनःपर्ययज्ञान का विषय स्कन्ध बताया है। परन्तु उस पुस्तक में कहीं पर भी ऐसा नहीं कहा गया है कि मनःपर्ययज्ञान का विषय सर्वावधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग है, क्योंकि वे सर्वावधि का विषय परमाणु स्वीकार करते हैं। राजवार्तिककार 'अनन्त के अनन्त भेद हैं', ऐसा कहकर सर्वावधि का विषय अनन्त परमाणुओं का स्कन्धरूप स्वीकार करते हैं। उस स्कन्ध के अनन्तवें भागरूप स्कन्ध ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान का विषय है और उसका भी अनन्तवाँ भाग विपुलमति का विषय है। यह भी स्कन्ध है, परमाणु नहीं है।

इस विषय को समझने के लिए आचार्य श्रुतसागरजी कृत तत्त्वार्थवृत्ति टीका तथा सुखानुबोध टीका भी द्रष्टव्य हैं। राजवार्तिक [१।२४।२] की टीका से सम्बद्ध टिप्पण उक्त टीकाद्वय के आधार से ही लिखे गये हैं।

— पत्र 23-8-77/ ज. ला. जैन, भीण्डर

ज्ञानमार्गणा

केवलज्ञान

केवलज्ञान को Supremum Adoptable Set कह सकते हैं

शंका—केवलज्ञान को Supremum adoptable set लिखने में क्या कोई हानि है ?

समाधान—मान दो प्रकार का है। लौकिक मान और अलौकिक मान। लौकिक मान छह प्रकार का है—मान, उन्मान, अवमान, गणिमान, प्रतिमान और तत्प्रतिमान [त्रिलोकसार गा० ९]। लोकोत्तर मान चार प्रकार का है—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव [गा० १०]। लोकोत्तर द्रव्यमान में जघन्यमान परमाणु है और उत्कृष्ट सकल द्रव्य है, क्षेत्र मान में जघन्यमान एक प्रदेश है, उत्कृष्ट मान सर्व आकाश है। कालमान में जघन्यमान एक समय है और उत्कृष्टमान सर्वकाल है। भावमान में जघन्यमान सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तक का पर्यायनामकज्ञान है और उत्कृष्ट केवलज्ञान है [गा० ११-१२]। द्रव्यमान दो प्रकार का है—(१) संख्या प्रमाण (२) उपमा प्रमाण। संख्या प्रमाण तीन प्रकार का है— (१) संख्यात, (२) असंख्यात, (३) अनन्त। संख्यात एक ही प्रकार का है किन्तु असंख्यात और अनन्त तीन-तीन प्रकार के हैं–(१) परीतासंख्यात, (२) युक्तासंख्यात, (३) असंख्यातासंख्यात, (१) परीतानन्त, (२) युक्तानन्त, (३) अनन्तानन्त [गा० १२–१३]। इसप्रकार संख्या-प्रमाण सात प्रकार का है, उनमें से प्रत्येक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार संख्या प्रमाण के (७ × ३) = २१ भेद हो जाते हैं [गा० १३–१४]। संख्या प्रमाण का जघन्य दो है [गा० १६] और उत्कृष्ट संख्या उत्कृष्ट अनन्तानन्त है जो केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद प्रमाण हैं। [गाथा ५१]।

त्रिलोकसार गाथा ५४ की टीका में श्री माधवचन्द्राचार्य त्रैविद्यदेव ने कहा है कि सर्वधारा में एक को आदि करके एक एक बढ़ते हुए केवलज्ञान पर्यन्त सर्व गणना गर्भित है। द्विरूप घनधारा का अन्तिम स्थान केवलज्ञान के द्वितीय वर्गमूल का घन है, किन्तु द्विरूप वर्गधारा चरम और द्विचरम राशि का घन, इस द्विरूप घनधारा का अन्तिम स्थान नहीं है, क्योंकि द्विरूप वर्गधारा की चरमराशि केवलज्ञान और द्विचरमराशि केवलज्ञान का प्रथम वर्गमूल का घन करने पर जो संख्या राशि उत्पन्न होगी वह केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के प्रमाण से अधिक हो जायगी [गाथा ८१-८२]। केवलज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदों के प्रमाण से अधिक प्रमाण वाला न कोई द्रव्य है, न कोई क्षेत्र है, न काल है, न कोई भाव है। केवलज्ञान के और केवलज्ञान के प्रथमवर्गमूल के घन स्वरूप संख्याओं का कोई (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) आधार न होने से उन संख्याओं को द्विरूपघनधारा का अन्तिम स्थान स्वीकार नहीं किया गया है। केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के प्रमाण से अधिक प्रमाण वाला कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव नहीं है; अतः केवलज्ञान को सर्वोत्कृष्ट राशि स्वीकार की गई है। इसलिये केवलज्ञान को Supremum adoptable Set लिखने में कोई बाधा नहीं है।

—जै. ग. 17-4-75/VI/ ल. च. जैन

केवलज्ञान का परद्रव्यों के साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध

शंका—केवलज्ञान का परद्रव्यों व पर्यायों के साथ क्या कारण-कार्य सम्बन्ध है ?

समाधान—द्रव्य तो अनादि-अनन्त है। द्रव्य न तो नवीन उत्पन्न होता है और न द्रव्य का विनाश होता है। कहा भी है—**एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।** सत्पदार्थ जीवका नाश और असत् पदार्थ जीवका उत्पाद नहीं होता। द्रव्य अनादि-अनन्त होने से स्वयं न कारण है और न कार्य है। द्रव्यदृष्टि से द्रव्य में अकार्य-अकारण शक्ति पड़ी हुई है, किन्तु पर्याय सादि-सान्त है। सत्पर्यायका विनाश और असत्पर्याय का उत्पाद भी होता है। जैसे जीवद्रव्य अनादि-अनन्त होते हुए भी मनुष्य सत्पर्याय का विनाश और असत्देवपर्याय का उत्पाद देखा जाता है। पर्याय सादि-सान्त होने से कार्य भी है और कारण भी है। पर्याय की उत्पत्ति अन्तरंग व बहिरंग दोनों कारणों से होती है। (**उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः।** स० सि० अ० ५ सूत्र ३०) पूर्वपर्याय संयुक्तद्रव्य तो अन्तरंग कारण है (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २२२ व २३०) और अनेक प्रकार के सहकारी निमित्तकारण बाह्य कारण हैं। जिसप्रकार काल (समय, टाइम) बाह्य कारण हैं उसी प्रकार अन्य द्रव्य की पर्याय व क्षेत्र भी निमित्त है। हर एक पर्याय अपने अन्तरंग व बहिरग कारणों से उत्पन्न होती है। अन्य द्रव्यों की पर्यायों के लिए केवलज्ञान न अन्तरंगकारण है और न बहिरंगकारण है। अन्य द्रव्यों की पर्यायों के साथ केवलज्ञान का कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। केवलज्ञान स्वयं पर्याय है जिसके लिए क्षीणकषाय-गुणस्थान के अन्तिम समयवर्ती जीव तो अन्तरंग कारण है और ज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षय बहिरंगकारण है।

अन्य द्रव्य व पर्यायों का केवलज्ञान के साथ कार्यकारण सम्बन्ध न होते हुए भी ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध अवश्य है। **सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य** अर्थात् केवलज्ञान का विषय सब द्रव्य और उनकी सब पर्याय हैं। पर द्रव्य के साथ केवलज्ञान का ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध व्यवहारनय से है **जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणयेण केवलीभयवं** (नियमसार)। किन्तु व्यवहारनय का यह कथन असत्यार्थ नहीं है। यदि व्यवहारनय के कथन को असत्यार्थ माना जावेगा तो सर्वज्ञता का अभाव हो जावेगा अतः व्यवहारनय का कथन भी वास्तविक है। **परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्व**

दव्वपज्जाया (प्रवचनसार) अर्थात् वास्तव में ज्ञानरूप से परिणमित होते हुए केवलीभगवान के सर्व द्रव्य-पर्याय प्रत्यक्ष हैं।

—जै. सं. 26-9-57/......./.......

केवलज्ञान, दिव्यध्वनि में निरूपण, द्वादशांग; ये यथाक्रम अनन्तगुणे हीन हैं

शंका—केवलज्ञानी ने जो जाना है, क्या वह सब दिव्यध्वनि में नहीं कहा गया है ? और जितना दिव्यध्वनि में निरूपण किया गया है, क्या वह सब द्वादशांग में नहीं आ गया है ? जितना केवलीभगवान ने जाना है वह समस्त हमको उपलब्ध है, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ?

समाधान—इस प्रश्न का उत्तर श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीआचार्य के अनुसार इस प्रकार है—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुणं अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥३३४॥ (गो. जी)

जो पदार्थ मात्र केवलज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, किन्तु जिनका वचनों के द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता, ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं। उनके अनन्तवेंभाग में वे पदार्थ हैं जिनका निरूपण किया जा सकता है। उनका भी अनन्तवाँभाग द्वादशांगश्रुत में निबद्ध है। जितना द्वादशांग में निबद्ध है वह भी पूर्ण हमको उपलब्ध नहीं है।

शंका—केवलज्ञानी क्या जानते हैं ? किसप्रकार जानते हैं ?

समाधान—केवलज्ञानी समस्त ज्ञेयों को जानते हैं, क्योंकि प्रतिबन्धक कर्मों का अभाव हो गया है। कोई भी ज्ञेय ऐसा नहीं है, जिसको केवलज्ञानी न जानते हों।

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥ (अष्टसहस्री पृ० ५०)

प्रतिबन्धक के नहीं रहने पर ज्ञाता ज्ञेय के विषय में अज्ञ कैसे रह सकता है अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा ज्ञेय पदार्थों को अवश्य जानेगा।

केवलज्ञान आत्मा और अर्थ के अतिरिक्त किसी इन्द्रिय प्रकाश आदि की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये केवलज्ञान असहाय है।

"आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्।" (जयधवल पु० १ पृ० २३) केवलज्ञान इन्द्रिय व प्रकाशादि की सहायता के बिना जानता है। वह तो प्रत्यक्ष जानता है अर्थात् समस्त ज्ञेय उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष हैं।

जो ज्ञेय जिस रूप से है उसको उसी रूप से जानता है, अन्यथा नहीं जानता है, क्योंकि अन्यथा जानने का कोई कारण नहीं रहा।

—जै. ग. 11-11-71/XII/ अ. कु.

केवलज्ञान की सामर्थ्य युगपत् अनन्तलोक जानने की है

शंका—जीव अक्षय-अनन्त हैं। उनके अनन्तानन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं, उनसे भी अनन्तानन्तगुणे काल के समय हैं। उनसे भी अनन्तानन्तगुणे आकाशद्रव्य के प्रदेश हैं। इन सब अनन्तानन्तराशियों को युगपत् एकसमय में केवलज्ञान कैसे जान सकता है ?

समाधान—इन सब अक्षयअनन्तानन्तराशियों का जितना योग होता है उससे भी अनन्तानन्तगुणे केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद हैं जिनकी संख्या उत्कृष्टअनन्तानन्त है। श्री नेमचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने त्रिलोकसार में कहा भी है—

अवराणंताणंतं तिप्पडिरासिं करित्तु विरलादिं।
तिसलागं च समाणिय लद्धे पक्खिवेदव्वा ॥४८॥

सिद्धा णिगोदसाहियवणप्फदिपोग्गलपमा अणंतगुणा।
काल अलोगागासं छच्चेदेणंतपक्खेवा ॥ ४९ ॥

तं तिण्णिवारवग्गिदसंवग्गं करिय तत्थ दायव्वा।
धम्माधम्मागुरुलघुगुणाविभागप्पडिच्छेदा ॥ ५० ॥

लद्धं तिवार वग्गिदसंवग्गं करिय केवले णाणे।
अवणिय तं पुण खित्ते तमणंताणं तमुक्कस्सं ॥ ५१ ॥

अर्थ—जघन्यअनन्तानन्त की तीन प्रतिराशि स्थापित करके विरलनादि के क्रमतें तीन शलाकाओं को समाप्त करने पर जो मध्यमअनन्तानन्तराशि उत्पन्न होती है, उसमें सिद्धजीवराशि, तातैं अनन्तगुणी निगोदजीवराशि, तातैं साधिक वनस्पतिराशि, तातैं अनन्तगुणी पुद्गलराशि, तातैं अनन्तगुणा काल के समयनिका प्रमाण कालराशि, तातैं अनन्तगुणा अलोकाकाश के प्रदेश; इन छह अनन्तराशियों का क्षेपण करना चाहिए। छह राशि को मिलाने के बाद जो लब्ध आवे उस महाराशि को तीनबार वर्गित संवर्गित करना है स्वरूप जिसका, ऐसे विरलन, देय और गुणन आदि क्रियाओं की पुनरावृत्ति द्वारा शलाकात्रय निष्ठापन कर जो विशदराशि उत्पन्न हो उसमें धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य के अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेद मिलावने। इस प्रकार जो राशि उत्पन्न होय ताको तीन बार वर्गित-संवर्गित करनेपर जो प्रमाण आवे उसको केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों में से घटाय जो लब्ध आवे, उस लब्ध को पूर्वोक्त केवलज्ञान की ऋणराशि में मिलाने पर केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण होय है जो उत्कृष्ट-अनन्तानन्त संख्या है।

केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण सर्वज्ञेयों से अनन्तानन्तगुणा होने के कारण, केवलज्ञान के द्वारा सर्वज्ञेयों का जानना संभव है। श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक में कहा भी है।

"यावांल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तः तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्युः तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमतीत्यपरिमित-माहात्म्यंतत् केवलज्ञानं वेदितव्यम्।" (१।२९।९)

जितना यह लोक-अलोक है यदि उतने अनन्तलोक-अलोक हों तो उन्हें भी केवलज्ञान जान सकता है।

—जै. ग. 11-11-71/XII/ अ. कु. जैन

केवलज्ञान द्वारा अनादि अनादिरूप से तथा अनंत अनन्तरूप से जाना गया है

शंका—यदि केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक अलोक तथा भूतकाल व भविष्यत्काल के समस्त समय जान लिये गये हैं तो समस्त काल सान्त व सादि हो जायगा। आकाश के प्रदेश अनन्त हैं, भूतकाल अनादि है और भविष्यत्काल अनन्त है, यह सब उपदेश व्यर्थ हो जायगा ?

समाधान—आकाश के प्रदेश अनन्त हैं, भूतकाल प्रवाहरूप से अनादि है, भविष्यत्काल भी प्रवाहरूप से अनन्त है, ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। आज्ञासिद्ध इन तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते हैं।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥५॥ (आलापपद्धति)

जिनेन्द्र भगवान के वचन सूक्ष्म हैं। उनको कुतर्कों के द्वारा खंडित नहीं किया जा सकता। उन आज्ञा-सिद्ध सूक्ष्मतत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र-भगवान अन्यथावादी नहीं हैं।

जिनेन्द्र-भगवान ने जैसा उपदेश दिया है वैसा ही जाना है, क्योंकि वस्तुस्वरूप वैसा ही है। भूतकाल अनादि है; अनादिरूप से केवली ने जाना है और अनादि का उपदेश दिया है। भूतकाल न सादि है, न सादिरूप से जाना गया है और न सादि का उपदेश है। इसीप्रकार अनन्त के विषय में जान लेना चाहिये।

भूतकालीनपर्यायों का प्रध्वंसाभाव है, केवली ने प्रध्वंसाभावरूपसे जाना है और प्रध्वंसाभाव का उपदेश दिया है। इसी प्रकार भावीपर्यायों का प्राक्-अभाव है, केवली ने प्राक्-अभावरूपसे जाना है और प्राक्-अभाव का उपदेश दिया है।

—जै. ग. 11-11-71/XII/ अ. कु. जैन

केवलज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों में हानि–वृद्धि नहीं होती

शंका—अगुरुलघुगुण के द्वारा केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों में षट्गुणहानिवृद्धि होती रहती है। केवलज्ञान के अविभागीप्रतिच्छेदों की संख्या उत्कृष्ट अनन्तानन्त कहना उचित नहीं है, क्योंकि जघन्य व उत्कृष्ट संख्या एक होती है और मध्यम संख्या के अनेक भेद होने के कारण अनेक होती हैं ?

समाधान—केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों में हानि-वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि स्वभावअर्थपर्याय मात्र अगुरुलघुगुण में हानि–वृद्धि के कारण होती है। कहा भी है—

"अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्हानिरूपाः।"

अगुरुलहुगा अणंता समयं समयं समुब्भवा जे वि।
दव्वाणं ते भणिया सहावगुण पज्जया जाण ॥ २२ ॥ (नय चक्र)

अगुरुलघुगुण अनन्तअविभाग प्रतिच्छेदवाला है। उस अगुरुलघुगुण में प्रतिसमय पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। अगुरुलघुगुण की पर्यायों को शुद्धद्रव्य की स्वभावपर्याय जानना चाहिये।

यदि केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों में हानि-वृद्धि मान ली जाय तो उनकी संख्या उत्कृष्टअनन्तानन्त नहीं रहेगी, क्योंकि उत्कृष्ट संख्या में हानि-वृद्धि संभव नहीं है और उत्कृष्ट संख्या न रहने से त्रिलोकसार गाथा ५१ से विरोध आ जायगा। अतः केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों की हानि-वृद्धि द्वारा स्वभावपरिणमन मानना नितांत भूल है।

—जै. ग. 11-11-71/XII/ अ. कु. जैन

ज्ञेयों के परिणमन की अपेक्षा केवलज्ञान में भी परिणमन होता है

शंका—यदि केवलज्ञान में अविभागप्रतिच्छेदों की हानि-वृद्धि के कारण परिणमन नहीं है तो किस प्रकार परिणमन है?

समाधान—ज्ञान ज्ञेयों को जानता है अर्थात् ज्ञान की ज्ञेयों को जाननेरूप पर्याय होती है। प्रतिसमय जैसा-जैसा ज्ञेयों में परिणमन (उत्पाद-व्यय) होता रहता है, जानने की अपेक्षा वैसा-वैसा परिणमन ज्ञान में भी होता रहता है। यदि ज्ञान में तदनुकूल परिवर्तन न हो तो ज्ञान ज्ञेयों को जान ही नहीं सकता। आगम इस प्रकार है—

"ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति।"
(प्र० सा० गा० १८ टीका)

"येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति।" (बृ० द्र० सं० गाथा १४ टीका)

"प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि केवलं कथं परिछिनत्तीति चेन्न, ज्ञेयसमविपरिवर्तिनः केवलस्य तदविरोधात्। ज्ञेयपरतन्त्रतया विपरिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुनर्नैवोत्पत्तिरिति चेन्न, केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात्। विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोक मनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात्।"
(ध० पु० १ पृ० १९८)

"ण च णाणविसेसदुवारेण उप्पज्जमाणस्स केवलणाणंसस्स केवलणाणत्तं फिट्टदि, पमेयवसेण परियत्तमाणसिद्धजीवणाणंसाणं पि केवलणाणत्ताभावप्पसंगादो।" (ज० ध० पु० १ पृ० ५०-५१)

अर्थ—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप से ज्ञेयपदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करते हैं उसी प्रकार केवलज्ञान में भी जानने की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणमन होता है।

यहाँ पर शंका है कि अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समय में परिवर्तनशील पदार्थों को कैसे जानता है? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञेयपदार्थों को जानने के लिये तदनुकूल परिवर्तन करने वाले केवलज्ञान के ऐसा परिवर्तन मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। पुनः शंका है कि ज्ञेय की परतन्त्रता से परिवर्तन करने वाले केवलज्ञान की फिर से उत्पत्ति क्यों न मानी जाय? केवलज्ञान की फिर से उत्पत्ति नहीं मानी जाती, क्योंकि केवलज्ञानरूप उपयोग सामान्य की अपेक्षा केवलज्ञान की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। विशेष की अपेक्षा केवलज्ञान

की उत्पत्ति होती है तो भी वह केवलज्ञानोपयोग इन्द्रिय मन और आलोक से उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि जिसके ज्ञानावरणादिकर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसे केवलज्ञान में इन्द्रियादि की सहायता मानने में विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि केवलज्ञान का अंशज्ञान विशेषरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये उसका केवलज्ञानत्व ही नष्ट हो जाता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर ज्ञेय के निमित्त से परिवर्तन करने वाले सिद्ध जीवों के ज्ञानांशों के भी केवलज्ञानत्व के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

—जै. ग. 11-11-71/XII/अ. कु. जैन

शंका—ज्ञेयों के परिणमन की अपेक्षा केवलज्ञान में परिणमन कहना तो औपचारिक कथन है, जो सत्य नहीं है?

समाधान—ज्ञेयों के परिणमन से केवलज्ञान में परिणमन होता है यह उपचरितनय का विषय होते हुए भी उपचरितस्वभाव का कथन है। यदि उपचरितस्वभाव के कथन को सत्य न माना जाय तो सर्वज्ञता भी सत्य नहीं होगी, क्योंकि सर्वज्ञता अर्थात् परज्ञता उपचरित स्वभाव की अपेक्षा से है। कहा भी है—

"स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितः स्वभावः ॥१२३॥ स द्वेधा-कर्मज-स्वभाविक-भेदात्। यथा जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वम्। यथा सिद्धात्मनां परज्ञता परदर्शकत्वं च ॥१२४॥ (आलापपद्धति)

स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करना उपचरितस्वभाव है। वह उपचरितस्वभाव कर्मज और स्वाभाविक के भेद से दो प्रकार का है। जैसे जीव मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मज-उपचरित-स्वभाव है। तथा जैसे सिद्ध आत्माओं के परका ज्ञानपना तथा परका दर्शकत्व अर्थात् सर्वज्ञता स्वभाविकउपचरितस्वभाव है।

जैसे केवलज्ञान के सर्वज्ञता सत्यार्थ है, वैसे ही ज्ञेयों के परिणमन की अपेक्षा केवलज्ञान का परिणमन भी सत्यार्थ है, क्योंकि दोनों उपचार स्वभाव का कथन होने से उपचारनय का विषय है।

—जै. ग. 11-11-71/XII/ अ. कु. जैन

संयममार्गणा

संयममार्गणा में असंयम भेद कैसे

शंका—गोम्मटसार में संयममार्गणा में असंयमको संयम कैसे कहा है?

समाधान—मार्गणा का अर्थ—खोज, तलाश, अनुसंधान है। यदि संयम की अपेक्षा समस्त जीवों की खोज की जाय तो वे जीव तीन अवस्था में मिलते हैं। कुछ जीव तो संयमअवस्था में मिलते हैं। कुछ जीव मिश्र अर्थात् संयमासंयमअवस्था में पाये जाते हैं और शेष जीव संयमरहित अर्थात् असंयमअवस्था में दिखाई देते हैं। अर्थात् संयम की अपेक्षा जीवों के तीन भेद हैं—(१) संयम सहित जीव, (२) संयमरहित जीव, (३) त्रसघात त्याग की अपेक्षा संयम और स्थावरघात अत्याग की अपेक्षा असंयम ऐसी संयमासंयमरूप मिश्रअवस्थावाले जीव।

संयममार्गणा का अभिप्राय संयम के भेद से नहीं है, किन्तु संयम की अपेक्षा नानाजीवों की अवस्था बतलाने से है।

संयमसहित जो जीव हैं वे भी सामायिक-छेदोपस्थापना-शुद्धिसंयत, परिहारशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत हैं। षट्खंडागम सूत्र में कहा भी है—

"संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा परिहारसुद्धिसंजदा सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥ १२३ ॥

अर्थ—संयममार्गणा के अनुवाद में सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहारशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत ये पांच प्रकार के संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं।

संयमकी अपेक्षा जीवों का अन्य कोई भेद संभव नहीं है।

—जै. ग. 7-10-65/X/ प्रेमचन्द

संयत, असंयत व संयतासंयतों की राशि एवं तत्संबंधी गुणकार/भागहार

शंका—धवल पु० ७ पृ० ५१२ सूत्र ६० की टीका में सब जीवों का अनन्तवाँभाग प्राप्त करने के लिये सर्वजीवराशि को अनन्त का भाग दिया है। सूत्र ६२ की टीका में अनन्तबहुभाग प्राप्त करने के लिये भी सर्वजीवराशिको अनन्तका भाग देकर एकभाग ग्रहण किया है, सो कैसे ?

समाधान—धवल पु० ७ पृ० ५१२ सूत्र ६० में 'संयतजीव सर्वजीवों के अनन्तवेंभाग हैं' ऐसा कहा है। अतः संयतजीवों को अनन्तवाँभाग सिद्ध करने के लिये टीका में सर्वजीवराशि में संयतजीवों का भाग देने पर अनन्त लब्ध प्राप्त होता है। ऐसा कहा है जिससे सिद्ध होता है कि संयतजीव अनन्तवें भाग हैं अन्यथा अनन्त लब्ध प्राप्त नहीं होता।

सूत्र ६२ में यह कहा है कि 'असंयतजीव सर्वजीवोंके अनन्तबहुभाग हैं अर्थात् असंयतोंके अतिरिक्त शेष रहे संयत व संयतासंयतजीव वे सर्वजीवों के अनन्तवेंभाग हैं। अतः संयत आदि जीवोंका सर्वजीवराशि में भाग देने पर अनन्त प्राप्त होते हैं। $\frac{\text{सर्वजीव राशि}}{\text{अनन्त}}$ = सर्व संयतजीव अर्थात् $\frac{\text{सर्वजीवराशि}}{\text{संयतजीव}}$ = अनन्त।

सर्वजीवराशि—अनन्तबहुभागप्रमाण असंयतजीव = सर्वजीवराशि के अनन्तवेंभागप्रमाण संयतजीव। सर्वजीवराशि ÷ संयतजीव = अनन्त।

—जै. ग. 20-4-72/IX/ यशपाल

(१) बारह प्रकार के असंयम का कारण
(२) अविरति के तीन एवं बारह भेदों का समन्वय

शंका—जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न नं० ४२८ के उत्तर में अविरति तीन प्रकार की बतलाई है—'अनंतानुबंधीकषायोदयजनित, अप्रत्याख्यानावरणकषायोदयजनित व प्रत्याख्यानावरणकषायोदयजनित।' इसप्रकार

के भेद आर्षग्रंथों में भी कहीं वर्णित हैं ? यदि हैं तो ये तीन भेद बारहभेदों से किसप्रकार समन्वय को प्राप्त होते हैं ?

समाधान—**सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र १ की टीका** में अनन्तानुबन्धी आदि कषायोदय से तीनप्रकार के असंयम का कथन इस प्रकार है—

"असंयमस्त्रिविधः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात् ।"

अर्थ—असंयम तीन प्रकार का है—अनन्तानुबन्धीका उदय, अप्रत्याख्यानावरणका उदय और प्रत्याख्यानावरणका उदय।

इसमें से अनन्तानुबन्धीउदयजनित असंयमसे चारित्रकी घातक अप्रत्याख्यानावरणआदि का उदय अनन्तप्रवाहरूप हो जाता है और निद्रानिद्रा आदि २५ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है। कहा भी है—

"ण चाणंताणुबंधिचउक्क वावारो चारित्ते णिप्फलो, अपच्चक्खाणादिअणंतोदयपवाहकारणस्स णिप्फलत्त-विरोहा।" (धवल पु० ६ पृ० ४३)

चारित्र में अनन्तानुबंधीचतुष्कका व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि चारित्र के घातक अप्रत्याख्यानादि के उदयरूप अनन्तप्रवाह के कारणभूत अनन्तानुबंधीकषाय के निष्फलत्व का विरोध है।

"पंचविंशतिप्रकृतीनामनन्तानुबन्धिकषायोदयकृतासंयमप्रधानास्रवाणामेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्ट्यन्ता बन्धकाः।" (सर्वार्थसिद्धि ९/१)

अनन्तानुबन्धीकषायोदयकृत असंयम से मुख्यरूप से २५ प्रकृतियों का आस्रव होता है। इन प्रकृतियों का एकेन्द्रिय से लेकर सासादनगुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं।

"प्रत्याख्यानं संयमः, न प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानमिति।" (ध० पु० ६ पृ० ४३)

प्रत्याख्यान संयम को कहते हैं। जो प्रत्याख्यान रूप नहीं वह अप्रत्याख्यान है।

अतः अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय कृत १२ प्रकार का असंयम होता है, क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान तक पाँच इन्द्रिय और छठे मन के विषयों का त्याग नहीं है तथा पाँच स्थावरकाय और छठे त्रसकाय की हिंसा से विरक्तता नहीं है।

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥ (गो० जी०)

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावरजीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है, वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

"असंजमपच्चओ दुविहो इंदियासंजम-पाणासंजमभेएण। तत्थ इंदियासंजमो छव्विहो परिस-रसरूव-गंध-सद्द-णोइंदियासंजम भेएण। पाणासंजमो वि छव्विहो पुढवि-आउ-तेउ-वाउ-वणप्फदितसासंजमभेएण असंजमसव्व-समासोबारसं।" (धवल पु० ८ पृ० २१)

असंयम, इन्द्रिय-असंयम और प्राण्यसंयम के भेद से दो प्रकार है। उनमें इन्द्रियासंयम स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द और नोइन्द्रिय (मन) जनित असंयम के भेद से छह प्रकार है। प्राण्यसंयम भी पृथिवी, अप, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों की अपेक्षा से उत्पन्न असंयम छहप्रकार का है। सब असंयम मिलकर बारह होते हैं।

अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणकषायोदय अभाव हो जाने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषायोदय होने से छहप्रकार के इन्द्रियसंयम तथा पाँचस्थावरसम्बन्धी असंयम का त्याग नहीं होता, किन्तु त्रसघात का त्याग हो जाने से पंचमगुणस्थान में ११ अविरति होती है।

इसप्रकार अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरणकषायोदयजनित असंयम तीनप्रकार का है। इन्द्रियासंयम व प्राण्यसंयम के भेद से असंयम दो प्रकार का है। इन्द्रियासंयम छहप्रकार का और प्राण्यासंयम छह-प्रकार का इस प्रकार असंयम बारहप्रकार का है।

अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरणकषायोदय से १२ प्रकार का असंयम होता है। प्रत्याख्यानावरण-कषायोदय से त्रसघात के अतिरिक्त ११ प्रकार का असंयम होता है।

—जै. ग. 1-6-72/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

सामायिक व छेदोपस्थापना में भेद

शंका—प्रमत्तगुणस्थान में सामायिकसंयम किसप्रकार है? अप्रमत्तादिगुणस्थानों में छेदोपस्थापनासंयम किसप्रकार है?

समाधान—'मैं सर्वप्रकार के सावद्ययोग से विरत हूँ' इसप्रकार द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सकलसावद्ययोगके त्यागको सामायिकशुद्धिसंयम कहते हैं। 'सर्वसावद्य योग' पद के ग्रहण करने से ही, यहाँ पर अपने सम्पूर्ण भेदों का संग्रह कर लिया गया है, यह बात जानी जाती है। यदि यहाँ पर संयम के किसी एकभेद की ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि ऐसे स्थल पर 'सर्व' शब्द के प्रयोग करने में विरोध आता है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जिसने सम्पूर्णसंयम के भेदों को अपने अन्तर्गत कर लिया है ऐसे अभेदरूप से एक यम को धारण करनेवाला जीव सामायिकशुद्धिसंयत कहलाता है। (धवल पु० १ पृ० ३६९-३७०)

उस एकव्रत के छेद अर्थात् दो, तीन आदि के भेद से उपस्थापन करने को अर्थात् व्रतके आरोपण करने को छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयम कहते हैं। सम्पूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एकयम को ग्रहण करने वाला होने से सामायिकशुद्धिसंयम द्रव्यार्थिकनयरूप है। उसी एक व्रत को पाँच अथवा अनेक प्रकारके भेद करके धारण करने वाला होने से छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयम पर्यायार्थिकनयरूप है। यहाँ पर तीक्ष्ण बुद्धि मनुष्यों के अनुग्रह के लिए द्रव्यार्थिकनय का उपदेश दिया गया है। मन्दबुद्धि प्राणियों का अनुग्रह करने के लिये पर्यायार्थिकनय का उपदेश दिया गया है। इसलिये इन दोनों संयमों में अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है। उपदेश की अपेक्षा संयम को दो प्रकार का कहा गया है, वास्तव में तो वह एक ही है। इसी अभिप्राय से सूत्र में स्वतंत्ररूप से सामायिकपद के साथ 'शुद्धिसंयत' पद का ग्रहण नहीं किया गया। (धवल पु० १ पृ० ३७०)

इस उपर्युक्त आगम से स्पष्ट हो जाता है कि विवक्षा भेद से दो प्रकार का संयम कहा गया है, किन्तु अनुष्ठानकृत कोई विशेषता न होने से दोनों संयम वास्तव में एक हैं। जो संयम अभेद-दृष्टि से सामायिकसंयम है

वही भेददृष्टिसे छेदोपस्थापनासंयम है। अतः प्रमत्तसंयत आदि चारों गुणस्थानोंमें द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे सामायिक-संयम और पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे छेदोपस्थापनासंयम इसप्रकार दोनों संयम सिद्ध हो जाते हैं।

—जै. ग. 23-4-64/IX/ मदनलाल

परिहार विशुद्धि की अस्थिरता

शंका—परिहारविशुद्धिसंयतजीव नीचे के गुणस्थानों में उसी जीवन में आता है या नहीं? यदि आता है तो कौन से गुणस्थान तक?

समाधान—परिहारविशुद्धिसंयत उसी भवमें संयम से च्युत होकर नीचेके गुणस्थानोंमें प्रथमगुणस्थान तक आ सकता है (ध० पु० ७ पृ० २२३)। परिणामों की तथा कर्मोदय की विचित्रता है। मुनि यथाख्यातचारित्र से भी गिरकर मिथ्यात्वगुणस्थान में आकर कुछकम अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक संसार में परिभ्रमण कर सकता है।

—जै. ग.………/………/………

यथाख्यातचारित्र का उत्कृष्ट काल

शंका—धवल पु० ७ पृ० १७१ सूत्र १६२ 'कुछकम पूर्वकोटि' का तात्पर्य क्या 'आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्तकम पूर्वकोटि' है?

समाधान—सूत्र १६२ में यथाख्यातचारित्र के उत्कृष्टकाल का कथन है और यथाख्यातचारित्र का उत्कृष्ट-काल आठवर्ष व अन्तर्मुहूर्तकम एकपूर्वकोटि है, क्षायिकसम्यग्दृष्टि एककोटिपूर्व की आयुवाला मनुष्य गर्भसे आठवर्षों को बिताकर संयमको प्राप्तकर, सर्वलघुकाल में चारित्रमोहनीय का क्षयकर यथाख्यातचारित्र को धारणकर शेष आयुकाल यथाख्यातचारित्र के साथ बिताकर अबन्धक (मोक्ष) अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

—जै. ग. 15-8-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

यथाख्यात संयमियों में भी चारित्रगत असंख्यात भेद

शंका—सर्वार्थसिद्धि ९/४७ में अकषायी जीवों के भी चारित्रस्थान बताये हैं। अकषायी जीवों में चारित्र-स्थान कैसे सम्भव हो सकते हैं?

समाधान—अकषायी जीवों में कषायोदयजनित चारित्रस्थान सम्भव नहीं है, किन्तु चारित्र की पूर्णता, अपूर्णता की अपेक्षा अकषायी जीवों में चारित्रस्थान सम्भव हैं।

प्रागेव क्षायिकं पूर्णं क्षायिकत्वेन केवलात्।
नत्वघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतः ॥ ८५ ॥ [श्लोकवार्तिक अ० १ सू० १]

केवलात्प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं सम्पूर्णं ज्ञानकारणमिति न शंकनीयम्। तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिकारणविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तेः। विवक्षितस्वकार्यकरणे ह्यन्त्यप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णं, तच्च न केवला-त्प्रागस्ति चारित्रस्य ततोऽप्युर्ध्वमघातिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्योदयात्। (श्लोकवार्तिक)

यहाँ पर यह बताया गया है कि क्षायिकचारित्र क्षायिकपने से पूर्ण है। तथापि अघाती कर्मों को सर्वथा नष्ट करके मुक्तिरूप कार्य को उत्पन्न करने की अपेक्षा अपूर्ण है। वह शक्ति चौदहवें गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रिया-निवृत्ति नामक चतुर्थशुक्लध्यान से उत्पन्न होती है। कहा भी है—

समुच्छिन्नक्रियस्यातो ध्यानस्याविनिवर्तिनः।
साक्षात्संसारविच्छेदसमर्थस्य प्रसूतितः ॥ ८६ ॥ [श्लो० वा०]

जीवकाण्ड गाथा ६५ में चौदहवें गुणस्थान के स्वरूप का कथन करते हुए सर्वप्रथम 'सेलेसि' शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है—

"शीलानां अष्टादशसहस्रसंख्यानां ऐश्यं ईश्वरत्वं स्वामित्वं सम्प्राप्तः।"

अर्थात्—चौदहवें गुणस्थान में शील के १८ हजार भेद पूर्ण पलते हैं। इससे स्पष्ट है कि चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है।

—पत्राचार 77-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

दर्शनमार्गणा

लब्ध्यपर्याप्तक चतुरिन्द्रियादि के चक्षुदर्शन नहीं है, पर अचक्षुदर्शन तो है

शंका—जिसप्रकार लब्ध्यपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रियजीवों के चक्षुदर्शन नहीं माना गया है, क्योंकि उनका क्षयोपशम चक्षुदर्शनोपयोगरूप नहीं होता, उसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय जीवों के अचक्षुदर्शन भी नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि उनके अचक्षुदर्शन का क्षयोपशम भी अचक्षुदर्शनोपयोगरूप नहीं होता है ?

समाधान—जिसप्रकार धवल पु० ३ पृ० ४५४ पर लब्ध्यपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय जीवों के चक्षुदर्शन का निषेध किया गया है, उसप्रकार उन जीवों के अचक्षुदर्शन का निषेध करनेवाला कोई आगम वाक्य नहीं है। धवल पु० ३ में ऐसे जीवों की अचक्षुदर्शनियों में गणना की गई है। "आगमचक्खूसाहू" अर्थात् साधु पुरुषों की चक्षु आगम है। ऐसा भी कुंदकुंद आचार्य का वाक्य है अतः हमारा श्रद्धान आगम वाक्य अनुकूल होना चाहिये। "आगमोऽतर्कगोचरः"। आगम तर्क का विषय भी नहीं है। अतः धवल पु० ३ पृ० ४५४ के कथन को तर्क का विषय बनाना उचित नहीं है।

—जै. ग. 22-4-76/VIII/ जे. एल. जैन

चक्षुदर्शन का उत्कृष्ट काल

शंका—धवल पु० ७ पृ० १७३ सूत्र १७१ की टीका में चक्षुदर्शनी का उत्कृष्टकाल २००० सागर बतलाया, किन्तु त्रसकायिक का उत्कृष्टकाल पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक २००० सागर है। तो चक्षुदर्शनी का भी उत्कृष्टकाल उतना ही क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—त्रसकायिक सामान्य अर्थात् त्रसकायिकपर्याप्त और अपर्याप्त दोनों का मिलकर उत्कृष्टकाल पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक दो हजार सागर है, किन्तु त्रसकायिक पर्याप्तकों का उत्कृष्टकाल दो हजार सागर है [धवल पु० ७ पृ० १५० सूत्र ९२]। त्रसकायिक लब्ध्यपर्याप्तकों के चक्षुदर्शनोपयोग उसी भव में संभव नहीं है, अतः चक्षुदर्शनी का जीवों में लब्ध्यपर्याप्तक जीवों का ग्रहण नहीं किया गया और त्रसपर्याप्तकों के उत्कृष्ट काल की अपेक्षा चक्षुदर्शनी जीवों का उत्कृष्टकाल दोहजारसागरोपम कहा है। धवल पु० ४ पृ० ४५४ सूत्र २७८ की टीका।

—जै. ग. 15-8-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

चक्षुदर्शनी निवृत्त्यपर्याप्तकों का काल

शंका—धवल पु० ७ पृ० १७२ सूत्र १७० की टीका में कहा है 'चक्षुदर्शनी अपर्याप्तकों में क्षुद्रभव ग्रहण मात्र जघन्य काल नहीं पाया जाता' जब चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तकों का काल क्षुद्रभव है तो चक्षुदर्शनी अपर्याप्तकों का जघन्यकाल क्षुद्रभव क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक जीव दो प्रकार के हैं १. लब्ध्यपर्याप्तक, २. निवृत्त्यपर्याप्तक। लब्ध्यपर्याप्तकों की उस भव में पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होतीं, अतः उनको अपर्याप्तक कहा गया है। यद्यपि इनका जघन्यकाल क्षुद्रभव है तथापि इनको चक्षुदर्शनी में भी ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि इनके उसी भव में चक्षुदर्शनोपयोग सम्भव नहीं है। निवृत्त्यपर्याप्तकों का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। इनके उस भव में नियम से पर्याप्तियाँ पूर्ण होंगी और चक्षुदर्शनोपयोग भी होगा। यद्यपि निवृत्त्यपर्याप्त जीवों के पर्याप्तनामकर्म का उदय है और इनको पर्याप्तकों में ही ग्रहण किया गया है तथापि जब तक पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होतीं उस समय तक ये जीव अपर्याप्त (निवृत्त्यपर्याप्त) हैं और इनकी अपेक्षा से चक्षुदर्शनी अपर्याप्तकों का जघन्यकाल क्षुद्रभव न रहकर अन्तर्मुहूर्त कहा है। धवल पु० ४ पृ० ४५४।

—जै. ग. 15-8-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

सभी दर्शनों की स्व में ही प्रवृत्ति होती है

शंका—धवलाकार ने ज्ञान का कार्य पर को जानना कहा है और दर्शन का कार्य स्व को जानना कहा है, किन्तु दर्शन के चार भेद भी कहे हैं—१. चक्षुदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन, ४. केवलदर्शन। इन सबका विषय परपदार्थ कहा है। जैसे अवधिदर्शन का विषय परमाणु से लेकर महास्कंध तक सब ही मूर्तिक पदार्थ बतलाये हैं तो फिर स्व को ग्रहण करने वाली बात कैसे ?

समाधान—इसप्रकार की शंका धवल पुस्तक ७ पृ० १०० पर उठाई गई है। वहाँ उसका समाधान इसप्रकार किया है—

"जो चक्षुओं को प्रकाशित होता है दिखता है अथवा आँख द्वारा देखा जाता है वह चक्षु दर्शन है।" ऐसा जो आगम में कहा गया है उसका अर्थ यह समझना चाहिये कि चक्षु इन्द्रिय ज्ञान से पूर्व ही जो सामान्यस्वशक्ति का अनुभव होता है और जो कि चक्षुज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तरूप है वह चक्षुदर्शन है।

प्रश्न—उस चक्षुइन्द्रिय के विषय से प्रतिबद्ध अंतरंग शक्ति में चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—नहीं, यथार्थ में तो चक्षुइन्द्रिय की अन्तरंग में ही प्रवृत्ति होती है, किन्तु बालकजनों को ज्ञान कराने के लिये अंतरंग में बहिरंग पदार्थों के उपचार से चक्षुओं को जो दिखता है वही चक्षुदर्शन है, ऐसा प्ररूपण किया गया है।

प्रश्न—गाथा में तो 'चक्खूण जं पयासदि दिस्सदि तं चक्खुदंसणंबेंति' ऐसा कहा गया है फिर आप सीधा अर्थ क्यों नहीं करते ?

उत्तर—सीधा अर्थ नहीं करते, क्योंकि वैसा अर्थ करने में अनेकों दोषों का प्रसंग आता है। चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियज्ञानों की उत्पत्ति से पूर्व ही अपने विषय में प्रतिबद्ध स्वशक्ति का अचक्षुज्ञान की उत्पत्ति का निमित्तभूत जो सामान्य से संवेद या अनुभव होता है वह अचक्षुदर्शन है, ऐसा कहा गया है।

"परमाणु से लेकर अन्तिम स्कंधपर्यंत जितने मूर्तिकद्रव्य हैं उन्हें जिसके द्वारा साक्षात् देखता है या जानता है वह अवधिदर्शन है।" ऐसा जो आगम में कहा गया है उसका अर्थ ऐसा जानना चाहिये कि परमाणु से लेकर अन्तिमस्कंधपर्यंत जो पुद्‌गलद्रव्य स्थित है उनके प्रत्यक्षज्ञान से पूर्व ही जो अवधिज्ञानकी उत्पत्ति का निमित्तभूत स्वशक्ति विषयक उपयोग होता है वही अवधिदर्शन है, ऐसा ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा ज्ञान और दर्शन में कोई भेद नहीं रहेगा। [धवल पु० ७ पृ० १०१ व १०२]

यद्यपि आगम में इस प्रकार की गाथा है जिनमें दर्शन का विषय बाह्यपदार्थ कहा गया है, किन्तु वीरसेन आचार्य ने यह कहा है कि इस प्रकार का कथन बालकजनों को ज्ञान कराने के लिए अंतरंग में बहिरंग पदार्थों का उपचार करके किया गया है। यदि दर्शन का विषय भी बाह्यपदार्थ मान लिया जावे तो ज्ञान और दर्शन दोनों का विषय बाह्यपदार्थ हो जाने से ज्ञान और दर्शन में कोई भेद नहीं रहेगा।

—जै. ग. 8-8-66/VII/ ब्र. ला. जैन

चक्षुदर्शन–अचक्षुदर्शन के काल

शंका—धवल पु० ७ पृ० १७३ सूत्र १७४ में अचक्षुदर्शन को अनादि-सान्त बतलाया है और सादि होने का निषेध किया है तब क्या चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन दोनों साथ रह सकते हैं ?

सूत्र १७० की टीका में 'अचक्षुदर्शनसहित स्थित जीव के चक्षुदर्शनी होकर कम से कम अन्तर्मुहूर्त रहकर पुनः अचक्षुदर्शनी होने पर चक्षुदर्शन का अन्तर्मुहूर्तकाल प्राप्त हो जाता है। जो यह लिखा है उसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—क्षयोपशम की अपेक्षा अचक्षुदर्शन का काल अनादि-अनन्त अभव्यों के और अनादि-सान्त भव्यों के कहा है, क्योंकि क्षायिकदर्शन (केवलदर्शन) होने पर क्षयोपशमदर्शन नहीं रहता। अचक्षुदर्शन और चक्षुदर्शन दोनों का क्षयोपशम चतुरिन्द्रिय आदि जीवों के एक साथ होता है अतः चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन दोनों दर्शन एक जीव में एक साथ रह सकते हैं।

सूत्र १७० में अचक्षुदर्शन का एक जीव की अपेक्षा जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है। उस काल को सिद्ध करने के लिए लिखा है कि 'अचक्षुदर्शन सहित स्थित जीव' अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय अथवा तीनइन्द्रिय जीव,

'चक्षुदर्शनी होकर' अर्थात् चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय पर्याप्त होकर कम से कम अन्तर्मुहूर्त जीवित रहकर पुनः 'अचक्षुदर्शनी होने पर' अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय या तीनइन्द्रिय होने पर चक्षुदर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है, क्योंकि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय या तीनइन्द्रिय जीवों के चक्षुदर्शन नहीं होता है। इस टीका का यह अभिप्राय नहीं है कि जिसके चक्षुदर्शन होता है उसके अचक्षुदर्शन नहीं होता है। जिसके चक्षुदर्शन होता है उसके अचक्षुदर्शन भी होता है, क्योंकि छद्मस्थअवस्था में अचक्षुदर्शन का क्षयोपशम सदैव रहता है।

—जै. ग. 15-8-66/IX/र. ला. जैन, मेरठ

निद्रा का काल

शंका—क्या एक जीव अन्तर्मुहूर्त से अधिक निद्रावस्था में नहीं रह सकता, सोता हुआ मनुष्य एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् अवश्य जाग जायगा? इसी प्रकार क्या जागृतअवस्था भी एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहती अर्थात् जागते हुए मनुष्य को एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् अवश्य निद्रा आ जाती है? सविस्तार उत्तर देने की कृपा करें।

समाधान—दर्शनावरणकर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं। १. चक्षुदर्शनावरण, २. अचक्षुदर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण, ५. निद्रा, ६. निद्रानिद्रा, ७. प्रचला, ८. प्रचलाप्रचला, ९. स्त्यानगृद्धि। इन नौ दर्शनावरणप्रकृतियों में से प्रथम चारप्रकृतियों का तो छद्मस्थ के निरन्तर उदय रहता है। अतः यह चारप्रकृतिक-उदयस्थान हैं। यदि इन चारप्रकृतियों के साथ अन्य पाँच प्रकृतियों में से किसी एक निद्रा का भी उदय हो जाता है तो पाँचप्रकृतिक उदयस्थान हो जाता है। दर्शनावरणकर्म के १. चारप्रकृतिक २. पाँचप्रकृतिक ये दो ही उदयस्थान हैं (पंचसंग्रह पृ० ४२४–२५)। निद्रा आदि पाँच प्रकृतियों का उदय व उदीरणाकाल जघन्य से एकसमय और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है (धवल पु० १५ पृ० ६१-६२)। अतः सुप्त अवस्था अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकती। निद्रा आदि पाँच प्रकृतियों के उदय, उदीरणा का जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त कहा है (धवल पु० १५ पृ० ६८)। अतः जागृतअवस्था भी एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकती।

दर्शनावरण के चारप्रकृतिक उदय से पाँचप्रकृतिक उदय होना 'भुजाकार' कहलाता है। पाँचप्रकृतिक उदय से चारप्रकृतिक उदय होना 'अल्पतर' कहलाता है। प्रकृतियों का एक समय से अधिक उदय रहना अथवा पाँचप्रकृतियों का एकसमय से अधिक उदय रहना 'अवस्थित' कहलाता है। धवल पु० १५ पृ० ९७ पर अवस्थिति का जघन्यकाल एकसमय और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त कहा है। इससे भी सिद्ध है कि किसी भी जीव के जागृत-अवस्था या सुप्तदशा एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकती। इस आगमप्रमाण से सिद्ध है कि सोता हुआ मनुष्य एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् अवश्य जाग जायगा। जागता हुआ मनुष्य एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् कम से कम एक-समय के लिये अवश्य सो जायगा। सुप्तदशा में जागने का काल और जागृतअवस्था में सोने का काल इतना सूक्ष्म होता है जो साधारण व्यक्तियों के अनुभव में नहीं आता। अतः यह कथन आगम प्रमाण से ही जाना जा सकता है।

आजकल बहुत से व्यक्तियों ने अपने अनुभव के आधार पर पुस्तकें लिखनी प्रारम्भ करदी हैं जिनमें आगम के विरुद्ध भी कथन पाया जाता है। पुस्तकों में सरल भाषा में होने के कारण तथा कथन रोचक होने के कारण

साधारण जनता को इनका पठनपाठन सरल लगता है अतः बहुत से भोले पुरुष आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय छोड़कर इन पुस्तकों को पढ़ते हैं जिसके कारण उनका श्रद्धान भी एकान्तमिथ्यात्वरूप हो जाता है।

—जै. ग. 20-6-63/IX-X/ ज्ञा. ला. जैन

लेश्या मार्गणा

लेश्या का स्वरूप और कार्य

शंका—लेश्या का कार्य संसार को बढ़ाना कहा गया है, किन्तु यह कार्य कषाय का है। क्या कषाय के बिना लेश्या संसार बढ़ा सकती है?

समाधान—श्री पूज्यपादआचार्य ने द्रव्यलेश्या और भावलेश्यारूप दो प्रकार की लेश्या बतलाकर भावलेश्या का लक्षण निम्न प्रकार किया है।

"भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिः" (सर्वार्थसिद्धि २।६)।

अर्थात्—कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप भाव लेश्या है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने, श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ६ वार्तिक ८ में तथा श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पु० १ पृ० १४९ पर इसी प्रकार लेश्या का लक्षण किया है। ऐसा लक्षण करने पर दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं। प्रथम तो उपशांतकषायगुणस्थान, क्षीणकषाय गुणस्थान और सयोगकेवली गुणस्थान में शुक्ललेश्या कही गई है, किन्तु कषायोदय का अभाव होने से लेश्या का उपर्युक्त लक्षण घटित नहीं होता। दूसरा प्रश्न यह है कि योग और कषाय का पृथक् पृथक् कथन हो जाने के पश्चात् लेश्या का कथन निरर्थक हो जाता है।

प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री पूज्यपादआचार्य तथा श्री अकलंकदेव ने सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ६ की टीका में निम्न प्रकार लिखा है—

"पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया याऽसौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते।"

अर्थात्—जो योगप्रवृत्ति कषाय के उदय से अनुरंजित है; वही यह है इस प्रकार पूर्वभाव प्रज्ञापननय की अपेक्षा उपशांतकषाय आदि गुणस्थानों में भी लेश्या को औदयिकभाव कहा गया है।

किन्तु श्री वीरसेन स्वामी इसका उत्तर अन्य प्रकार से निम्न शब्दों द्वारा देते हैं—

"लेश्या इति किमुक्तं भवति ? कर्मस्कन्धैरात्मानं लिम्पतीति लेश्या। कषायानुरञ्जितैव योगप्रवृत्तिर्लेश्येति नात्र परिगृह्यते सयोगकेवलिनोऽलेश्यत्वापत्तेः। अस्तु चेन्न, 'शुक्ललेश्यः सयोगकेवली' इति वचनव्याघातात्। [धवल १ पृ० ३८६]।

अर्थ—'लेश्या' इस शब्द से क्या कहा जाता है ? जो कर्मस्कन्धों से आत्मा को लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं। यहाँ पर 'कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं' यह अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इस अर्थ का ग्रहण करने पर सयोगकेवली के लेश्या रहितपने की आपत्ति प्राप्त होती है। यदि यह कहा जावे कि सयोगकेवली को लेश्यारहित मान लिया जाये तो क्या हानि है ? ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मान लेने पर 'सयोगकेवली के शुक्ललेश्या पाई जाती है, इस वचन का व्याघात हो जायगा। इसलिये जो कर्म स्कंधों से आत्मा को लिप्त करती है वह लेश्या है। (धवल पु० १ पृ० ३८६)।

श्री वीरसेन आचार्य ने इसी प्रश्न का दूसरा उत्तर यह भी दिया है कि 'कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं' ऐसा मान लेने पर ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में लेश्या का अभाव नहीं हो जाता क्योंकि 'लेश्या' में योग की प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है। कषाय योगप्रवृत्ति का विशेषण है वह प्रधान नहीं हो सकती।

"कषायानुविद्धायोगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम्। ततोत्र वीतरागीणां योगी लेश्येति, न प्रत्यवस्थेयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तन्त्रं विशेषणत्व-तस्तस्य प्रधान्याभावात्।" (धवल पु० १ पृ० १५०)।

अर्थ—'कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं' ऐसा सिद्ध हो जाने पर ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है, कारण कि वह योग प्रवृत्ति का विशेषण है, अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है।

'कषायानुरंजित योगकी प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं' इस लक्षण में योग की प्रधानता करने से 'जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं' यह दूसरा लक्षण भी सिद्ध हो जाता है।

लिपदि अप्पीकीरदि एदीए णियय पुण्ण-पावं च।
जीवो त्ति होइ लेस्सा लेस्सागुण-जाणयक्खादा ॥ (गो० जी० ४८९)

अर्थ—जिसके द्वारा जीव पुण्य और पाप से अपने को लिप्त करता है; उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं ऐसा लेश्या के स्वरूप को जानने वाले गणधरदेव आदि ने कहा है—

"आत्म–प्रवृत्ति–संश्लेषणकरी लेश्या।" (धवल १ पृ० १४९, धवल ७ पृ० ७)।

अर्थ—जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्मका सम्बन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं।

"जीव-कम्माणं संसिलेसणयरी मिच्छत्तासंजम-कषाय-जोगा त्ति भणिदं होदि।" (धवल ८ पृ० ३५६)।

अर्थ—जो जीव व कर्म का सम्बन्ध कराती है वह लेश्या कहलाती है। मिथ्यात्व, असंयम कषाय और योग ये लेश्या हैं; अर्थात् मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये जीव और कर्म के संबंध के कारण हैं, अतः इनको लेश्या कहा है।

उपशांतकषाय आदि गुणस्थानों में आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का कारण योग पाया जाता है इसलिये कषाय का अभाव होने पर भी इन गुणस्थानों में लेश्या का सद्भाव पाया जाता है। कहा भी है—

"कथं क्षीणोपशान्तकषायाणां शुक्ललेश्येति चेन्न, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्ललेश्या-स्तित्वाविरोधात् ।" (धवल पु० १ पृ० ३९१)

अर्थ—जिन जीवों की कषाय उपशांत अथवा क्षीण हो गई है उनके शुक्ललेश्या होना कैसे संभव है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उनमें कर्मलेप का कारण योग पाया जाता है, इस अपेक्षा से उनके शुक्ललेश्या का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

"केण कारणेण सुक्कलेस्सा कम्म-णोकम्म-लेव-णिमित्त-जोगा अत्थि त्ति" (धवल पु० २ पृ० ४३९) ।

अर्थात्—जब उपशांतकषायगुणस्थान में कषायों का उदय नहीं पाया जाता है तो शुक्ललेश्या का क्या कारण है ? उपशांतकषायगुणस्थान में कर्म और नोकर्म के निमित्तभूत योग का सद्भाव पाया जाता है, इसलिये शुक्ललेश्या है।

केवल योग या केवल कषाय को लेश्या नहीं कह सकते हैं क्योंकि लेश्या का लक्षण कषायानुरंजित योग-प्रवृत्ति है। कहा भी है—

"कषायानुरंजिताकायवाङ्-मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या । ततो न केवलः कषायोलेश्या, नापि योगः अपितु कषाया-नुविद्धायोगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम् ।" (धवल पु० १ पृ० १४९)

अर्थ—कषाय से अनुरंजित काययोग, वचनयोग और मनोयोग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर केवल कषाय या केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं, किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।

"योगकषायकार्याद्व्यति-रिक्तलेश्याकार्यानुपलम्भान्नताभ्यां पृथग्लेश्यास्तीति चेन्न, योगकषायाभ्यां प्रत्यनी-कत्वाद्यालम्बनाचार्यादिबाह्यार्थसंनिधानेनापन्नलेश्याभावाभ्यां संसारवृद्धिकार्यस्य तत्केवलकार्याद्व्यतिरिक्तस्योपल-म्भात् ।" (धवल १ पृ० ३८७)

अर्थ—योग और कषाय के कार्य से भिन्न लेश्या का कार्य नहीं पाया जाता है इसलिये उन दोनों से भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती है ? नहीं, क्योंकि विपरीतता को प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदि के आलम्बन-रूप आचार्यादि बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषायों से केवल योग और केवल कषाय के कार्य से भिन्न संसार की वृद्धिरूप कार्य की उपलब्धि होती है, जो केवल योग और केवल कषाय का कार्य नहीं कहा जा सकता है, इसलिये लेश्या उन दोनों से भिन्न है यह बात सिद्ध हो जाती है।

इसके कहने का अभिप्राय यह है कि कषाय के बिना मात्र योग से मात्र ईर्यापथआस्रव होता है जो उसी समय निर्जरा को प्राप्त हो जाता है अतः वह संसारवृद्धि का कारण नहीं हो सकता। मात्र कषाय भी संसार वृद्धि का कारण नहीं है, क्योंकि योग के द्वारा होने वाले कर्मास्रव बिना स्थिति व अनुभागबंध किसमें होगा ? इसलिये कषायानुरंजित योगप्रवृत्ति संसारवृद्धि का कारण है।

श्री अकलंकदेव इस प्रश्न का उत्तर अन्य प्रकार से देते हैं—

"ननु च योगप्रवृत्तिरात्मप्रदेशपरिस्पन्दःक्रिया, सा वीर्यलब्धिरिति क्षायोपशमिकी व्याख्याता, कषायश्चौदयिको व्याख्यातः, ततो लेश्याऽनर्थान्तरभूतेति, नैष दोषः, कषायोदयतीव्रमन्दावस्थापेक्षाभेदाद् अर्थान्तरत्वम्। सा षड्विधा-कृष्णलेश्यानीललेश्याकापोतलेश्या तेजोलेश्यापद्मलेश्याशुक्ललेश्या चेति। तस्यात्मपरिणामस्याऽशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षापेक्षया कृष्णादिशब्दोपचारः क्रियते।" (रा. वा. २।६।८)।

अर्थात्—यद्यपि योगप्रवृत्ति आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप होने से क्षायोपशमिक वीर्यलब्धि में अन्तर्भूत हो जाती है और कषाय औदयिक होती हैं फिर भी कषायोदय के तीव्र मन्द आदि तारतम्य से अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है। आत्मपरिणामों की अशुद्धि की प्रकर्षता, अप्रकर्षता की अपेक्षा लेश्या के छह भेद हो जाते हैं जिनका कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल शब्दों के द्वारा उपचार किया जाता है।

"कर्मलेपैककार्यकर्तृत्वेनैकत्वमापन्नयोर्योगकषाययोर्लेश्यात्वाभ्युपगमात्। नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति द्वयात्मकैकस्य जात्यान्तरमापन्नस्य केवलेनैकेन सहैकत्व–समानत्वयोर्विरोधात्।" (धवल पु० १ पृ० ३८७)

अर्थ—कर्मलेपरूप एक कार्य को करने वाले होने की अपेक्षा एकपने को प्राप्त हुए योग और कषाय को लेश्या माना है। यदि कहा जाय कि एकता को प्राप्त हुए योग और कषायरूप लेश्या होने से उन दोनों में लेश्या का अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दो धर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए द्वयात्मक, अतएव किसी एक तीसरी अवस्था को प्राप्त हुए किसी एक धर्म का केवल एक के साथ एकत्व अथवा समानता मान लेने में विरोध आता है।

"षड्विधः कषायोदयः। तद्यथा, तीव्रतमः तीव्रतरः तीव्रः मन्दः मन्दतरः मन्दतमः इति। ऐतेभ्यः षड्भ्यः कषायोदयेभ्यः परिपाट्या षड् लेश्या भवन्ति। कृष्णलेश्यानीललेश्याकापोतलेश्यापीतलेश्यापद्मलेश्याशुक्ललेश्या चेति।" (धवल पु० १ पृ० ३८८)

अर्थ—कषाय का उदय छः प्रकार का होता है। वह इस प्रकार है—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकार के कषाय के उदय से उत्पन्न हुई परिपाटीक्रम से लेश्या भी छह हो जाती हैं। कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

"मिच्छत्तासंजम–कसाय–जोगजणिदो जीवसंस्कारो भावलेस्साणाम। तत्थ जो तिव्वो सा काउलेस्सा। जो तिव्वयरो साणीललेस्सा। जो तिव्वतमो सा किण्णलेस्सा जो मंदो सा तेउलेस्सा। जो मंदयरो सा पम्मलेस्सा। जो मंदतमो सा सुक्कलेस्सा।"

अर्थ—मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग से उत्पन्न हुए जीव के संस्कारों को भावलेश्या कहते हैं। उसमें जो तीव्र संस्कार हैं उसे कापोतलेश्या, उससे जो तीव्रतर संस्कार हैं उसे नीललेश्या और जो तीव्रतम संस्कार हैं उसे कृष्णलेश्या कहा जाता है। जो मंद संस्कार हैं उसे तेज (पीत) लेश्या, जो मंदतर संस्कार हैं उसे पद्मलेश्या, मंदतम संस्कार हैं उसे शुक्ललेश्या कहते हैं।

—जै. ग. 8-8-66/VII–VIII/ प्रा. ला. जैन

आयुबन्ध और तद्योग्य लेश्या

शंका—आयुबन्ध कापोतलेश्या के जघन्य से लेकर तेजोलेश्या के उत्कृष्ट तक ८ अंशों में बताया, दूसरी लेश्याओं में नहीं, तो जहाँ पर ये लेश्यायें सर्वथा ही नहीं हैं, नरकों या स्वर्गों में वहाँ पर आयुबन्ध कैसे होता है ?

समाधान—गो० जी० बड़ी टीका पत्र ९१३ पर जो कापोतलेश्या के उत्कृष्ट अंश के आगे और तेजोलेश्या के उत्कृष्ट अंश के पहले जो आठ अंश आयु के बन्ध के कारण कहे और वहीं पर जो नक्शा दिया है उसमें छहों लेश्याओं में चारों आयु का बन्ध दिखाया है। इन दोनों कथनों की संगति महाधवल व धवल से नहीं बैठती है। महाबन्ध पुस्तक २ पत्र २७८ से २८१ व षट्खंडागम पुस्तक ८ पत्र ३२०—३५८ के देखने से ज्ञात होता है कि तीनों अशुभ लेश्याओं में चारों आयु का बन्ध होता है और पीत व पद्म में नरकायु को छोड़कर शेष तीन आयु का और शुक्ल में मनुष्य व देव आयु का ही बन्ध होता है।

—पत्राचार 24-29/5/54/ ब. प्र. स., पटना

छहों लेश्याओं में आयुबन्ध

शंका—गोम्मटसार जीवकांड गाथा २९० से २९५ तक पृष्ठ ६१८ में लेश्या के २६ अंशों में से कापोत लेश्या के जघन्यअंश से लेकर कापोतलेश्या के उत्कृष्टअंश तक के ८ मध्यम भेदों में आयुबन्ध होना बताया है तो क्या बाकी की चार लेश्याओं में आयु का बन्ध नहीं होता ?

समाधान—गोम्मटसार जीवकांड गाथा २९० से २९५ तक का यह आशय नहीं है कि कापोत और पीत-लेश्या में ही आयु का बन्ध होता है, किन्तु इन गाथाओं का स्पष्ट यह आशय है कि छहों लेश्याओं में आयु का बन्ध होता है, तथापि कृष्णलेश्या के उत्कृष्टअंशों और पीत, पद्म, शुक्ललेश्याओं के उत्कृष्टअंशों में से कुछ ऐसे अंश हैं जिनमें आयु का बन्ध नहीं होता। गोम्मटसार जीवकांड बड़ी टीका पृ० ६३९ पर जो यन्त्र दिया गया है उससे यह स्पष्ट है कि छहों लेश्याओं में आयुका बन्ध हो सकता है ध० पु० ८ पृ० ३२९ से पृ० ३५३ तक लेश्या-मार्गणा के कथन में सब ही लेश्याओं में आयुबन्ध कहा है तथा महाबन्ध पु० २ पृ० २७८-२८१ पर छहों लेश्याओं में आयु के बन्ध का निर्देश है।

—जै. ग. 21-3-63/IX/ ब. प्र. स. पटना

लेश्या व कषाय में अन्तर

शंका—लेश्या व कषाय में क्या अन्तर है ?

समाधान—कषाय और लेश्या के लक्षणों में अन्तर है। इन दोनों का लक्षण निम्न प्रकार है—

"सुखदुःखबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः।" (धवल पु० १ पृ० १४१)

सुह-दुक्ख-सुबहु-सस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओ त्ति णं बेंति ॥ २८२ ॥ (गो. जी.)

अर्थ—सुख-दुःखरूपी नाना प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्मरूपी क्षेत्र को जो कर्षण करती हैं, अर्थात् फल उत्पन्न करने योग्य करती हैं, उन्हें कषाय कहते हैं।

लेश्या का लक्षण निम्न प्रकार है—

"आत्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या। कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या। ततो न केवलः कषायो लेश्या, नापियोगः, अपितु कषायानुविद्धा योगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम्।" (धवल पु० १ पृ० १४९)

अर्थ—जो आत्मा और कर्म का संबंध करनेवाली है, उसको लेश्या कहते हैं। कषाय से अनुरंजित काय-योग, वचनयोग और मनोयोग की प्रवृत्ति को लेश्या कह सकते हैं। इसप्रकार लेश्या का लक्षण करने पर केवल कषाय को या केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं, किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं। यह बात सिद्ध हो जाती है।

लिंपदि अप्पीकीरदि एदीए णियय-पुण्ण-पावं च।
जीवो त्ति होइ लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥४८९॥ (गो० जी०)

अर्थ—जिसके द्वारा जीव पुण्य और पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके अधीन करता है, उसको लेश्या कहते हैं, ऐसा लेश्या के स्वरूप को जानने वाले गणधरदेव आदि ने कहा है।

—जै. ग. 29-2-68/XII/ मगनमाला

कृष्णलेश्या में सम्यक्त्व व मिथ्यात्व का अन्तरकाल

शंका—धवल पु० ५ पृ० १४४ में लिखा है छह अन्तर्मुहूर्त से कम तेंतीससागर कृष्णलेश्या का अन्तर है, सो कैसे?

समाधान—धवल पु० ५ पृ० १४४ पर कृष्ण लेश्या का अन्तर नहीं कहा गया है, किन्तु कृष्ण लेश्या में मिथ्यात्व व असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान का अन्तर कहा गया है। अर्थात् कृष्णलेश्या तो बनी रहे और उसमें मिथ्यात्वगुणस्थान होकर छूट जावे उसके पश्चात् मिथ्यात्वगुणस्थान पुनः होने में उत्कृष्ट अन्तर कितना हो सकता है यह बतलाया गया है। अथवा कृष्ण लेश्या तो छूटे नहीं और उसमें चौथा गुणस्थान होकर छूट जावे वह चौथा गुणस्थान पुनः उत्कृष्ट से कितने काल पश्चात् हो सकता है, यह बतलाया गया है। यह सातवें नरक में ही संभव है क्योंकि वहाँ पर ३३ सागर तक कृष्णलेश्या तो रहेगी ही, किन्तु गुणस्थान परिवर्तन होने से गुणस्थानों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम ३३ सागर हो जाता है।

—जै. ग. 5-3-64/IX/ स. कु. सेठी

तेजोलेश्या का उत्कृष्टकाल

शंका—षट्खंडागम पुस्तक १४ पेज २८२ पर पीतलेश्या में उत्कृष्टकाल साधिक दो सागर है जबकि पीतलेश्या चौथे स्वर्ग तक पाई जाती है स्थिति अधिक है फिर दो सागर कैसे?

समाधान—पीतलेश्यावाला जीव मरकर तीसरे या चौथेस्वर्ग के नीचे के विमानों में उत्पन्न होगा, जहाँ पर आयु साधिक दो सागर होती है। धवल पु० ४ पृ० २९६ पर कहा भी है कि "सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के

अधस्तन विमानों में ही तेजोलेश्या के होने का उपदेश पाया जाता है।" अतः धवल पु० ७ पृ० १७६ पर तेजोलेश्या का उत्कृष्टकाल अढाई सागर कहा है।

—जै. ग. 27-8-64/IX/ ध. ला. सेठी, खुरई

नरक में द्रव्य-भावलेश्या एवं राजवार्तिककार का मत

शंका—सर्वार्थसिद्धिकार तथा राजवार्तिककारने तीसरे चौथे अध्याय में जो लेश्याओं का वर्णन किया है वह द्रव्यलेश्या का है या भावलेश्या का ? तथा उन्होंने नरकों में छहों लेश्या मानी हैं जबकि वहाँ पर तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक के चौथे अध्याय में तो देवों की भावलेश्या का कथन है। तीसरे अध्याय में नारकियों के तीन अशुभलेश्या द्रव्य की अपेक्षा से कही, किन्तु भाव की अपेक्षा छहों अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती हैं। यहाँ पर 'षडपि' शब्द विचारणीय है। प्रत्येक लेश्या में छह स्थानपतित हानि-वृद्धि लिये हुए अनेकों स्थान होते हैं। जैसे कृष्णलेश्या के अनेक विकल्प या भेद या स्थान हैं। पूर्वस्थान की अपेक्षा अन्य स्थान अनन्तभागवृद्धि या हानिरूप भी हो सकता है, असंख्यातभाग, संख्यातभाग, संख्यातगुणी, असंख्यातगुणी और अनन्तगुणीवृद्धि या हानिरूप भी हो सकता है। इसप्रकार एक ही लेश्या में छहप्रकार की वृद्धि या हानिरूप स्थान संभव हैं। इनको 'षडपि' शब्द से कहा गया है। 'षडपि' का अर्थ छहों लेश्या हो सकता है, किन्तु नरक में छहों लेश्या होती हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता। नरकों में अपनी-अपनी अशुभलेश्या में ही छहप्रकार की वृद्धि या हानिरूप परिणमन होता रहता है।

श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पु० २ पृ० ४४९ पर नारकियों में द्रव्य की अपेक्षा एक कृष्णलेश्या बतलाई है; किन्तु सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में तीन अशुभ लेश्या कही हैं। इसप्रकार नारकियों में द्रव्य-लेश्या की अपेक्षा मतभेद है।

—जै. ग. 20-8-64/IX/ ध. ला. सेठी, खुरई

नारकियों के लेश्या

शंका—कर्मकाण्ड हस्तलिखित टीका पं० टोडरमलजी पृ० ८२२—"यद्यपि नरक विषैं नियमतें अशुभ लेश्या है तथापि तहाँ तेजोलेश्या पाइये है, तिस लेश्या के मन्दय उदय होते प्रथम स्पर्द्धक प्राप्त होता है" इसमें तेजोलेश्या बतलाई है लेकिन तेजोलेश्या नरक में कहाँ सम्भव है ? यह समझ में नहीं आता क्योंकि नरक में तो तीनों अशुभ लेश्या पाई जाती हैं इसलिये कृपया इसका समाधान करिये।

समाधान—श्री पुष्पदन्त भूतबलि के मतानुसार नरक में तेजोलेश्या नहीं होती है। लेश्या का लक्षण इस प्रकार है—आत्मप्रवृत्ति संश्लेषकरी लेश्या अथवा लिम्पतीति लेश्या अर्थः आत्मा और प्रवृत्ति (कर्म) का संश्लेषण अर्थात् संयोग करनेवाली लेश्या कहलाती है अथवा जो (कर्मों से आत्मा का) लेप करती है वह लेश्या है। (ध० खं० पु० ७ पत्र ७)। कृष्ण, नील और कापोतलेश्या का उत्कृष्ट काल साधिक तैंतीस, सत्तरह व सात सागर क्रमशः कहा है। क्योंकि तिर्यंचों या मनुष्यों में कृष्ण, नील व कापोत लेश्या सहित सबसे अधिक अन्तर्मुहूर्तकाल रहकर फिर तैंतीस, सत्तरह व सात सागरोपम आयु स्थितिवाले नारकियों में उत्पन्न होकर कृष्ण, नील व कापोत-

लेश्या के साथ अपनी-अपनी आयुस्थिति प्रमाण रहकर वहाँ से निकल अन्तर्मुहूर्त काल उन्हीं लेश्याओं सहित व्यतीत करके अन्य अविरुद्ध लेश्या में गए हुए जीव के उक्त तीन लेश्याओं का दो अन्तर्मुहूर्त सहित क्रमशः तैंतीस, सत्तरह व सात सागरोपम काल पाया जाता है। अतः इस कथन के अनुसार नरकों में अन्य लेश्यारूप परिवर्तन नहीं होता। इस कारण वहाँ पर तेजोलेश्या सम्भव नहीं है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार—जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य-पाप से लिप्त करे उसे लेश्या कहते हैं (गाथा ४८८)। नरकों मे कापोत, नील व कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्या प्रथमादि पृथ्वियों में होती हैं। यह स्वामी अधिकार का कथन भावलेश्या की अपेक्षा से है (गाथा ५२८)। कृष्णलेश्या का उत्कृष्टकाल तैंतीससागर, नीललेश्या का सत्तरहसागर, कापोत लेश्या का सातसागर है। यह उत्कृष्टकाल नरक में होता है क्योंकि सातवें नरकमें तैंतीससागर, पाँचवें नरक में सत्तरहसागर और तीसरे नरक में सातसागर उत्कृष्ट आयु होती है (गाथा ५५१)। इससे भी स्पष्ट है कि नरक में आयु पर्यंत अपनी-अपनी ही लेश्या रहती है। एकलेश्या पलटकर दूसरी लेश्या नहीं हो जाती है। लेश्याओं में दो प्रकार का संक्रमण है—(१) स्वस्थान संक्रमण (२) परस्थान संक्रमण। नरकों में परस्थानसंक्रमण नहीं होता है। स्वस्थानसंक्रमण में षट्स्थानपतित हानिवृद्धि होती है। नारकियों में अपनी-अपनी लेश्याओं का षट्स्थानरूप स्वस्थान संक्रमण सम्भव है जो अन्तर्मुहूर्त बाद होता रहता है (गाथा ५०३–५०५)। कहीं पर इस षट्स्थान परिवर्तन को इन शब्दों में भी लिख दिया है भावलेश्यास्तु यद्यपि प्रत्येक मन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्यः। गो० जी० गाथा ४९५ में सम्पूर्ण नारकियों के कृष्ण वर्ण द्रव्यलेश्या कही है, किन्तु सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थराजवार्तिक में कृष्ण, नील और कापोत तीनों द्रव्यलेश्या नारकियों के कही गई हैं।

—जै. सं. 27-9-56/VI/ ब्र. ला. सेठी, खुरई

पहले आदि नरकों में कापोत आदि लेश्या बदल कर नील आदिरूप नहीं हो जाती

शंका—नरक में भावलेश्या होती है ऐसा तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० १६४ अध्याय ३ सूत्र ३ की टीका में लिखा है। यह कैसे संभव है ?

समाधान—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृष्ठ १६४, अध्याय ३ सूत्र ३ की टीका में यह शब्द है 'भावलेश्यस्तु यद्यपि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्यः।' इसका अर्थ यह है कि 'प्रत्येकभावलेश्या में अविभाग की अपेक्षा षट्पतित हानि-वृद्धि के असंख्याते स्थान होते हैं। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् भावलेश्या अपने षट्पतित हानिवृद्धि स्थानों में से किसी एक स्थान में परिवर्तन कर जाती है।' इसका यह अर्थ नहीं है कि पहिले दूसरे नरक में कापोतलेश्या पलट कर पीत या नील आदि हो जाती हो। पृ० १६४, पंक्ति ६-७ में यह नियम बतला दिया है कि—पहले दूसरे और तीसरे नरक के उपरिभाग में कापोत लेश्या है। इसके बाद पाँचवें नरक के उपरिभाग तक नील लेश्या है शेष में कृष्णलेश्या है। कह कथन भावलेश्या का है द्रव्यलेश्या का नहीं। (राजवार्तिक पृ० २४०) नारकियों में सबके पर्याप्तअवस्था में द्रव्य से कृष्णलेश्या होती है (धवल पु० २ पृ० ४५०, गो० जी० गाथा ४९५)। नारकियों की यह द्रव्यलेश्या आयु पर्यन्त एकसी रहती है जैसा कि राजवार्तिक पृ० १६४ पर कहा है 'एतेषां नारकाणां स्वायुः प्रमाणावधृता द्रव्यलेश्या उक्ताः' नोट—'उक्ता' शब्द से कापोतनील व कृष्णलेश्या का ग्रहण नहीं करना चाहिये। अतः राजवार्तिक में ऐसा नहीं कहा गया कि नरक में 'पीत पद्म व शुक्ल' लेश्या भी होती है। नरक में तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं।

—जै. सं. 30-10-58/V/ ब्र. च. ला.

विग्रहगतिस्थ नारकियों के भी भावलेश्या शुभ नहीं होती

शंका—नारकियों के विग्रहगति में शुक्ललेश्या कैसे होती है ? शुक्ललेश्या तो बहुत शुभ परिणाम वालों के होती हैं ?

समाधान—नारकियों के विग्रहगति में भावलेश्या तो अशुभ ही होती है, किन्तु द्रव्यलेश्या शुक्ल होती है। क्योंकि शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते हैं, और संपूर्ण कर्मों का विस्रसोपचय शुक्ल ही होता है, इसलिये विग्रहगति में विद्यमान संपूर्ण जीवों के शरीर की शुक्ललेश्या होती है। आर्षप्रमाण इसप्रकार है—

"वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ॥४९४॥" (गो० जी०)

"जम्हा सव्वकम्मस्स विस्ससोवचओ सुक्किलो भवदि तम्हा विग्गहगदीए वट्टमाण-सव्व-जीवाणं सरीरस्स सुक्कलेस्सा भवदि।" (धवल पु० २ पृ० ४२२)

धवल पु० २ पृ० ४५० पर "भावेण किण्ह-णील-काउलेस्साओ।" इन शब्दों द्वारा यह कहा गया है कि नारकियों के अपर्याप्तअवस्था में कृष्ण-नील-कापोत ये तीन अशुभ भावलेश्या होती हैं। किसी भी आर्षग्रन्थ में नारकियों के पीत-पद्म-शुक्ल इन तीन शुभ-भाव-लेश्या का कथन नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि नारकियों के भी शुभ-लेश्यारूप भाव नहीं होते हैं।

—जै. ग. 2-3-72/VI/ क. दा. जैन

सभी नारकियों के द्रव्य एवं भाव से लेश्याएँ

शंका—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४९६ में कहा है कि नारकियों के कृष्ण लेश्या होती है, किन्तु सर्वार्थसिद्धि में नारकियों के तीन लेश्या बतलाई है। गोम्मटसार में किस अपेक्षा यह कथन है ?

समाधान—गोम्मटसार जीवकांड गाथा ४९४ से ४९८ शरीर के वर्ण की अपेक्षा द्रव्यलेश्या का कथन है। कहा भी है—

वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
सा सोढा किण्हादी अणयभेया समेयेण ॥ ४९४ ॥

अर्थ—वर्ण नामकर्मोदय से जो शरीर का वर्ण होता है उसको द्रव्य-लेश्या कहते हैं। इसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये छह भेद हैं। तथा प्रत्येक के उत्तर भेद अनेक हैं।

णिरया किण्हा कप्पा भावाणुगया हु तिसुरणरतिरिये।
उत्तरदेहे छक्के भोगे रविचंदहरिदंगा ॥ ४९६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकी कृष्ण वर्ण ही हैं, कल्पवासीदेवों के शरीर का वर्ण अर्थात् द्रव्यलेश्या भावलेश्या अनुसारी होती है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, मनुष्य, तिर्यंचों की द्रव्यलेश्या छहों होती हैं। देवों के विक्रिया द्वारा उत्पन्न होनेवाले उत्तर शरीर का वर्ण छहों प्रकार में से किसी एक प्रकार का होता है। उत्तमभोगभूमिवालों

का शरीर सूर्यसमान, मध्यमभोगभूमिवालों का शरीर चन्द्रसमान तथा जघन्यभोगभूमिवालों का शरीर हरितवर्ण का होता है। इसप्रकार नारकियों के द्रव्यलेश्या कृष्ण कही गई है। भावलेश्या का कथन गोम्मटसारजीवकाण्ड गाथा ५२९ में है जो निम्न प्रकार है—

काऊ काऊ काऊ, णीला णीला य णील किण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा पढमादि पुढवीणं ॥ ५२९ ॥

अर्थ—पहली धम्मा या रत्नप्रभा पृथ्वीमें कापोतलेश्या का जघन्य अंश है। दूसरी वंशा या शर्कराप्रभा पृथ्वीमें कापोतलेश्या का मध्यम अंश है। तीसरी मेघा या वालुकाप्रभा पृथ्वीमें कापोतलेश्या का उत्कृष्ट अंश और नीललेश्या का जघन्य अंश है। चौथी अंजना या पंकप्रभा पृथ्वी में नील लेश्या का मध्यम अंश है। पाँचवीं अरिष्टा या धूमप्रभा में नीललेश्या का उत्कृष्ट अंश और कृष्णलेश्या का जघन्य अंश है। छट्ठी मघवी या तमःप्रभा पृथ्वीमें कृष्णलेश्या का मध्यम अंश है। सातवीं माघवी या महातमःप्रभा पृथ्वी में कृष्णलेश्या का उत्कृष्ट अंश है।

इसीप्रकार सर्वार्थसिद्धि में भावलेश्या का कथन अ० ३ सू० ३ की टीका में है।

"प्रथमाद्वितीययोः कापोतलेश्या, तृतीयायामुपरिष्टात् कापोती अधो नीला, चतुर्थ्यां नीला, पंचम्यामुपरि नीला अधः कृष्णा, षष्ठ्यां कृष्णा, सप्तम्यां परमकृष्णा।"

अर्थ—प्रथम और दूसरी पृथिवी में कापोतलेश्या है। तीसरी पृथिवी में ऊपर के भाग में कापोतलेश्या है और नीचे के भाग में नीललेश्या है चौथी पृथिवी में नीललेश्या है। पांचवीं पृथिवी में ऊपर के भाग में नीललेश्या है और नीचे के भाग में कृष्णलेश्या है। छठी पृथिवी में कृष्णलेश्या है और सातवीं पृथिवी में परमकृष्णलेश्या है।

इस प्रकार गोम्मटसार और सर्वार्थसिद्धि दोनों ग्रन्थों में नारकियों के तीन अशुभ भावलेश्या कही हैं।

—जै. ग. 1-6-72/VII/ र. ला. जैन

भवनत्रिकों में अपर्याप्तकाल भावी लेश्याएँ

शंका—सर्वार्थसिद्धि (ज्ञानपीठप्रकाशन) में पृष्ठ १७४ पर पं० फूलचन्द्रजी सा० ने विशेषार्थ में लिखा है कि भवनत्रिकों के अपर्याप्तअवस्था में पीतान्त चार लेश्याएँ कही हैं, किन्तु जीवकाण्ड गाथा ५३५ में अशुभ तीन लेश्याएँ कही हैं। कौनसा कथन ठीक है ?

समाधान—इस कथन में पं० फूलचन्दजी साहब से भूल होगई। उनको यह ध्यान नहीं रहा कि भवनत्रिक या कर्म-भूमिया मनुष्य तिर्यंच में उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादृष्टि के अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभलेश्याएँ होती हैं यदि मरण के समय शुभ लेश्या भी हो तो भी मरण होते ही [तत्पश्चात्] वह शुभ लेश्या अशुभरूप परिणमन कर जायगी। जैसे सोलहवें स्वर्ग के मिथ्यादृष्टि देव के अन्त समय तक शुक्ललेश्या है, किन्तु देवायु पूर्ण होते ही मनुष्यायु के प्रथम समय में ही शुक्ललेश्या अशुभ लेश्यारूप परिणमन कर लेगी। कहा भी है—मज्झिमसुक्कलेस्सिओ देवो जहा छिण्णाउओ होदूण जहण्णसुक्काइना अपरिणमिय असुहतिलेस्साए णिवददि। [धवल पु० ८ पृ० ३२२]।

इसी प्रकार भोगभूमिया मिथ्यादृष्टि मनुष्य के यद्यपि अन्त समय में पीतलेश्या है, किन्तु आयु क्षीण होते ही अशुभ तीन लेश्याओं में गिरता है। इसलिए धवल पु० २ पृ० ५४४-५४५ पर मिथ्यादृष्टि भवनत्रिक देवों के अपर्याप्त अवस्था में 'भावेण किण्ह-णील-काउलेस्सा' यानी कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभलेश्याएँ कही हैं। वहाँ पीत लेश्या (अपर्याप्त अवस्था में) नहीं कही।

—पत्राचार 77-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

भवनत्रिक देवों के लेश्या

शंका—भवनत्रिकदेवों के पर्याप्तअवस्था में कौनसी लेश्या हो सकती है ?

समाधान—भवनत्रिकदेवों के पर्याप्तअवस्था में पीतलेश्या होती है। कहा भी है—**भवणवासियवाणवेंतर-जोइसियाणं पज्जत्ताणं भण्णमाणे अत्थि दव्वेण छलेस्सा, भावेण जहण्णिया तेउलेस्सा।** भवनत्रिक देवों के पर्याप्तकाल सम्बन्धी आलाप कहने पर द्रव्य से छहों लेश्याएँ, भाव से जघन्य तेजोलेश्या होती है। (ध० ख० पु० २/५४४)।

—जै. सं. 10-1-57/VI/ दि. जै. स. एत्मादपुर

अशुभ लेश्या वाला भी कदाचित् भावलिंगी होता है

शंका—स० सि० ९/४७ में "पुलाक के आगे की तीन लेश्या होती है", ऐसा लिखा है। आगे की तीन कौनसी ? यह भी बतावें कि कृष्णादि अशुभलेश्यावाला भावलिंगी मुनि कैसे हो सकता है ?

समाधान—'पुलाक के आगे की तीन लेश्या होती हैं'। इसमें 'आगे की तीन' इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि अन्त की तीन पीत, पद्म, शुक्ललेश्या होती हैं।

इस ४७ वें सूत्र की टीका में लिखा है—**बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि;** अर्थात् बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्याएं होती हैं। लेश्या में कुछ ऐसे अंश भी हैं जो छहों लेश्याओं में Common (समान रूप से) हैं। इसीलिए जीवकाण्ड में छहों लेश्याओं में चारों गतियों व आयु का बन्ध बताया है। **"धूलिगछक्कठाणे चउराऊ।"** टीका—**धूलिरेखासदृशशक्तिगतेषु लेश्याषट्कस्थानेषु केषुचित् चत्वार्यायूंषि बध्यन्ते।** अर्थ—धूलिभेदगत छहों लेश्यावाले प्रथम भेद के कुछ स्थानों में चारों आयुका बन्ध करता है।

अतः छहों लेश्याओं में होनेवाले समान अंशों की अपेक्षा बकुश और प्रतिसेवनाकुशील के छहों लेश्याएँ कही गई हैं। किन्तु धवल में पाँचवें गुणस्थान से मात्र तीन शुभ लेश्या कही गई हैं।

पुलाक, बकुश, कुशील आदि पाँचों ही सम्यग्दृष्टि भावलिंगी मुनि होते हैं। कहा भी है—**सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः। चारित्रगुणस्योत्तरोत्तर प्रकर्षे वृत्तिविशेषख्यापनार्थः पुलाकाद्युपदेश क्रियते।** (रा० वा० ९/४७।१२।६३७)।

अकलंकदेव ने कहा है कि पुलाक, बकुश आदि पाँचों ही प्रकार के मुनि सम्यग्दर्शन व चारित्र से सहित होते हैं तथा परिग्रह रहित होते हैं अतः वे निर्ग्रन्थ हैं। उन मुनियों के चारित्र में तारतम्य बतलाने के लिए पुलाक आदि का व्याख्यान किया गया है।

भावलिंगी मुनि भी द्रव्यलिंगी अवश्य होते हैं, क्योंकि जो नग्न नहीं हैं वे भावलिंगी नहीं हो सकते। प्रथम तो नग्नतारूप द्रव्यलिंग होगा उसके पश्चात् भावलिंग होगा।

—पत्राचार 77-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

भव्य मार्गणा

भव्य व अभव्य पर्यायें

शंका—भव्य अभव्य क्या वस्तु है ? द्रव्य या गुण या पर्याय ?

समाधान—भव्य और अभव्य भाव जीव की व्यंजनपर्याय है (ध० पु० ७ पृ० १७८) चार अघातिया कर्मोदय से उत्पन्न हुआ असिद्धभाव है। वह दो प्रकार का है—अनादिअनन्त और अनादि-सान्त। इनमें से जिनके असिद्धभाव अनादि-अनन्त हैं वे अभव्यजीव हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्यजीव हैं। इसलिए भव्यत्व और अभव्यत्व ये भी विपाक प्रत्ययिक ही हैं; किन्तु असिद्धत्व का अनादि-अनन्तपना और अनादि-सान्तपना निष्कारण है, यह समझकर तत्त्वार्थसूत्र में इसको पारिणामिक कहा है (ध० पु० १४ पृ० १३ व १४)। अतः भव्यत्व अभव्यत्वभाव पर्याय हैं, द्रव्य या गुण नहीं हैं।

—जै. ग. 27-2-64/IX/ स. टा. जैन

भव्य व अभव्य दोनों अनन्तबार ग्रैवेयकों में उत्पन्न हो सकते हैं

शंका—अनन्तबार नव ग्रैवेयकों में मात्र अभव्य ही जाते हैं या भव्य व अभव्य दोनों ?

समाधान—भव्य और अभव्य दोनों अनन्तबार ग्रैवेयकों में उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि मिथ्यात्व की अपेक्षा भव्य और अभव्यों में कोई अन्तर नहीं है।

—जै. ग. 25-5-78/VI/ मुनिश्रुतसागरजी मोरेनावाले

(१) विशुद्धि से अभव्यों के भी प्रायोग्यलब्धि में स्थिति घट जाती है
(२) भव्य के भी प्रायोग्य के बाद करणलब्धि होनी जरूरी नहीं

शंका—प्रायोग्यलब्धि में भव्य और अभव्य दोनों की कर्मस्थिति अन्तःकोटाकोटीसागर हो जाती है। भव्य चूंकि करणलब्धि को प्राप्त होगा अतः उसकी कर्मस्थिति का तो अन्तःकोटाकोटीसागर हो जाना संभव है, किन्तु अभव्य की कर्मस्थिति किसकारण से अन्तःकोटाकोटीसागर होती है ?

समाधान—प्रायोग्यलब्धि के पश्चात् भव्य के करणलब्धि अवश्य हो, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। देसनालब्धि में यथार्थ उपदेश मिलने पर भव्य और अभव्य दोनों के तत्त्वचिंतन तथा विचार होता है जिससे उनकी विशुद्धि इतनी बढ़ जाती है कि कर्मों की स्थिति कटकर अन्तःकोटाकोटीसागर रह जाती है। प्रायोग्यलब्धि का कोई काल नियत नहीं है जब यह संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्तजीव बुद्धिपूर्वक प्रयोजनभूततत्त्वों का यथार्थ चिंतन या विचार

करने का पुरुषार्थ करता है, तब उसके कर्मों की स्थिति कटकर अन्तःकोटाकोटीसागर रह जाती है। जो जीव पर्यायों को सर्वथा नियत मानकर यह कहते हैं जब काललब्धि अथवा होनहार होगी उस समय स्वयमेव प्रयत्नरूप पर्याय तथा प्रायोग्य लब्धि हो जावेगी; उन एकान्त मिथ्यादृष्टियों के यथार्थ तत्त्वविचार भी नहीं होता। यथार्थ तत्त्वविचार बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है। तत्त्वविचार और तत्त्वश्रद्धान इन दोनों में अन्तर है।

—जै. ग. 29-7-65/XI/ ज्ञा. ला. जैन

विदेह क्षेत्र में अभव्य

शंका—विदेहक्षेत्र में केवल भव्य जीव ही होते हैं या अभव्य भी होते हैं?

समाधान—ध० पु० ७ पृ० ३०७ सूत्र १०८ में कहा गया है अभव्य का क्षेत्र सर्वलोक है। इस सूत्र की टीका में श्री वीरसेन आचार्य ने कहा है कि अभव्य जीव सर्वलोक में रहते हैं, क्योंकि वे अनन्त हैं। सर्वलोक में विदेहक्षेत्र भी आगया। अतः विदेहक्षेत्र में अभव्यजीव रहते हैं, यह उक्त आगम-प्रमाण से सिद्ध है।

—जै. ग. 2-4-64/IX/ मगनमाला

एक ही जीव में भव्यत्व भाव में कथंचित् परिवर्तन

शंका—धवल पु० ७ पृ० १७७ सूत्र १८५ की टीका में कहा है कि सम्यक्त्व ग्रहण कर लेने पर भव्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है। पृ० १७६ सूत्र १८४ की टीका में ऐसा क्यों कहा कि 'अनादिस्वरूप से आये हुए भव्यभाव का अयोगकेवली के अन्तिमसमय में विनाश पाया जाता है?

समाधान—धवल पु० ७ पृ० १७७ सूत्र १८५ में भव्यभाव को सादि-सान्त पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से विशेष भव्यत्वभाव का कथन किया है, क्योंकि जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक भव्यत्वभाव अनादिअनन्त है इसका कारण यह है कि तब तक उस जीव का संसार अन्त रहित है, किन्तु सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर अनन्त संसार की स्थिति छिदकर केवल अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र काल तक संसार में स्थित रहती है।

पृ० १७६ सूत्र १८४ में द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सामान्य भव्यत्वभाव का कथन है। अतः नयविवक्षा से दोनों सूत्रों के कथन में कोई विरोध नहीं है।

—जै. ग. 15-8-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

दूरातिदूर भव्यों को भव्य व्यपदेश क्यों ?

शंका—दूरातिदूर भव्यजीव जब मोक्ष नहीं जावेंगे तो उनको भव्य क्यों कहा है?

समाधान—भव्यजीवों में संसार के अविनाशशक्ति का अभाव है। अर्थात् यद्यपि अनादि से अनन्तकालतक रहनेवाले भव्यजीव हैं, पर उनमें संसार विनाश की शक्ति है। (धवल पु० ७ पृ० १९४)।

सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण उ मल विगमे णियमो ताणं कणगोवलाणमिव ॥१५॥

(धवल पु० १ पृ० १५०)

अर्थ—जो जीव सिद्धत्व पाने के योग्य हैं उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं, किन्तु उनके कनकोत्पल (स्वर्णपाषाण) के समान मलका नाश होने का नियम नहीं है। जिसप्रकार स्वर्णपाषाण में सोना रहते हुए भी अग्नि आदि बाह्य साधनों के ऊपर निर्भर होने के कारण उसके मलका अभाव होना निश्चित नहीं है, उसी प्रकार सिद्धअवस्था की योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामग्री के नहीं मिलने से सिद्धपद की प्राप्ति नहीं होती है।

—जै. ग. 25-7-66/IX/ ब्र. सच्चिदानन्द

(१) मोक्ष नहीं जाने पर भी भव्यशक्ति के सद्भाव से भव्य हैं
(२) अभव्य समान भव्यों में ध्रुवपद नहीं है
(३) अभव्य व्यवहार राशि में हैं तथा अभव्य समान भव्य सब नित्य निगोद में पड़े हैं

शंका—क्या कोई ऐसे भी भव्य हैं जो कभी मोक्ष नहीं जायेंगे ? यदि हैं तो उनमें और अभव्यों में क्या अन्तर है ?

समाधान—धवल पु० १४ पृ० १३—चार अघातियाकर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्धभाव है। वह दो प्रकार का है। अनादिअनंत और अनादिसान्त। जिनके अनादिअनंत हैं वे अभव्य हैं दूसरे भव्य हैं। अनादिअनन्तपना और अनादिसान्तपना निष्कारण है, अतः पारिणामिक माना है।

"जिसने निर्वाण को पुरस्कृत किया है उसको भव्य कहते हैं। इनसे विपरीत अभव्य हैं।"

धवल पु० १ पृ० १५० ।

जो जीव सिद्धत्व के योग्य हैं उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं, किन्तु उनके कनकोपल-मल का नाश होने का नियम नहीं। गो० जी० गाथा ४८९।

धवल १ पृ० ३९३—मुक्ति जाने की योग्यता की अपेक्षा मुक्ति को नहीं जानेवाले जीवोंके भव्य संज्ञा बन जाती है। जितने भी जीव मुक्ति जाने के योग्य होते हैं वे सब नियम से कलंकरहित होते हैं ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि सर्वथा मान लेने पर स्वर्णपाषाण से व्यभिचार आ जायगा (सर्व ही स्वर्ण-पाषाण को शुद्ध स्वर्णरूप हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा है नहीं। यदि ऐसा मान लिया जावे तो एक दिन स्वर्णपाषाण के अभाव का प्रसंग आ जायगा)। भव्यों से विपरीत अर्थात् मुक्ति-गमन की योग्यता न रखनेवाले अभव्यजीव हैं।

जिन जीवों की अनंतचतुष्टयरूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं तथा इनसे विपरीत अभव्य होते हैं। जो संसार से निकलकर कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं। गो० जी० गा० १९६।

सिद्धि पुरस्कृत अर्थात् मुक्तिगामी जीवों को भव्य और इनसे विपरीत जीवों को अभव्य कहते हैं। धवल पु० ७ पृ० २४२।

शंका—अभव्यों के समान भी तो भव्य जीव होते हैं तो फिर भव्यभाव को अनादिअनन्त क्यों नहीं कहा?

समाधान—नहीं कहा, क्योंकि भव्यत्व में अविनाशशक्ति का अभाव है। यहाँ भव्यत्व शक्ति का अधिकार है उसकी व्यक्ति का नहीं। पर्यायार्थिक नय के अवलम्बन से भव्यका संसार अन्तरहित है, किन्तु सम्यक्त्व ग्रहणकर

लेनेपर अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न होता है, क्योंकि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर फिर केवल अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कालतक संसार में स्थिति रहती है। (धवल पु० ७ पृ० १७६-१७७)

जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है वे मोक्षसुख के सुधापान से दूर रहने वाले अभव्य मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते हैं। और जो उस वचन को इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्री के भाजन आसन्न भव्य हैं। और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर भव्य हैं। प्र० सा० गाथा ६२ की टीका।

जो भव्यजीव नित्यनिगोदिया हैं उनमें ध्रुवपद (अनादि-अनन्तपना) देखा जाता है सो ऐसी आशंका करनी भी ठीक नहीं है, क्योंकि उनके भी मोहनीय के नाश करने की शक्ति पाई जाती है। यदि उनके मोहनीय के नाश करने की शक्ति न मानी जाय तो वे भव्य न होकर अभव्य की समानता को प्राप्त हो जायेंगे। ज० ध० पु० २ पृ० २४।

अभव्यों के समान जो भव्य हैं उनके भी ध्रुवपद (अनादि अनंतपना) नहीं है, क्योंकि उनके नाश करने की शक्ति पाई जाती है। ज० ध० पु० २ पृ० ९०।

किन्हीं जीवों के अवस्थित विभक्ति स्थान (मोहनीयकर्म की २६ प्रकृति की अवस्थिति अर्थात् २६ की बजाय २८ नहीं होती, २६ ही होती हैं—२६ ही बनी रहती हैं। सम्यक्त्व होने पर ही मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होकर २६ की बजाय २८ प्रकृतिक स्थान होता है) अनादिअनंत होता है, क्योंकि जो अभव्य हैं या अभव्यों के समान नित्य-निगोद को प्राप्त हुए भव्य हैं उनके अवस्थित स्थान (२६ प्रकृति का स्थान) के सिवाय भुजगार (२८ प्रकृति का स्थान) और अल्पतर (२८ से घटकर २७ का हो जाना) नहीं पाये जाते हैं। (ज० ध० पु० २ पृ० ३८९)

आगमप्रमाण लिख दिये। समझने की बात यह है कि भव्यजीव अनन्त हैं जो नित्यनिगोद में पड़े हुए हैं जिनमें से ६०८ जीव प्रत्येक ६ माह ८ समय में निकलते रहते हैं। भविष्यकाल भी अनन्त है। जिसप्रकार भविष्य-काल में से ६ माह ८ समय निकलते रहते (व्यतीत होते) हैं, किन्तु भविष्य काल का कभी अन्त नहीं आयेगा, *क्योंकि यदि भाविकाल का क्षय मान लिया जावे तो काल की समस्तपर्यायों का क्षय हो जाने से दूसरे द्रव्यों की* स्वलक्षणरूप पर्यायों का भी अभाव हो जायेगा और इसलिये समस्त वस्तुओं के अभाव की आपत्ति आ जायगी (ध० पु० १ पृ० ३९३)। उसी प्रकार भव्यजीव नित्यनिगोद में से निकलने पर भी कभी नित्यनिगोदिया भव्य-जीवों का अन्त नहीं आयेगा अर्थात् ऐसे भी नित्यनिगोदिया हैं जो कभी निगोद से नहीं निकलेंगे (ध० पु० १ पृ० २७१)। यदि यह मान लिया जावे कि सब भव्यजीव नित्यनिगोद से निकलकर मोक्ष चले जावेंगे तो भव्य-जीवों का अभाव हो जाने से उसके प्रतिपक्षी अभव्यों का भी अभाव हो जायेगा और अभव्यों का भी अभाव हो जाने से संसारी जीवों का अभाव हो जायेगा और संसारी जीवों का अभाव होने से प्रतिपक्षी मुक्त जीवों का भी अभाव हो जायेगा। (ध० पु० १४ पृ० २३५-२३६)

दो Parallel (समानान्तर) Line हैं जिनका प्रमाण अनन्त है। उनमें से एक व्यवहार काल की Line है दूसरी जीवराशि की। जब काल का कभी अन्त नहीं होगा तो भव्य जीवों का अन्त कैसे होगा? उनका भी कभी अन्त नहीं होगा। इस अपेक्षा से कहा जाता है कि ऐसे भी भव्यजीव हैं जो कभी नित्यनिगोद से नहीं निकलेंगे उनको दूरातिदूर भव्य कहा है, किन्तु बात यह है कि भावीकाल भी चलता रहेगा और नित्यनिगोद से

जीव निकलकर मोक्ष को जाते रहेंगे। इन दोनों में से कभी भी किसी का अन्त नहीं होगा। यदि काल का अन्त हो जावे और भव्यजीव नित्यनिगोद में पड़े रह जावें तो कह सकते हैं कि ये जीव कभी मोक्ष नहीं जावेंगे, क्योंकि अब निगोद से निकलना बन्द हो गया; परन्तु ऐसा है नहीं।

अनेकान्त है—ऐसा भी कह सकते हैं कि ऐसे भी भव्यजीव हैं जो अनन्तकाल तक मोक्ष नहीं जावेंगे, अथवा यह भी कह सकते हैं कि ऐसे भी भव्य जीव हैं जो कभी मोक्ष नहीं जावेंगे। दोनों का अभिप्राय एक है मात्र विवक्षा भेद है। नित्यनिगोद में पड़े रहने के कारण उन भव्यों को मोक्ष जाने का निमित्त नहीं मिलता, इसलिये मोक्ष नहीं जा पाते किन्तु अभव्यों को निमित्त मिलता रहता है क्योंकि वे व्यवहारराशि में हैं किन्तु शक्ति के अभाव के कारण वे मोक्ष नहीं जा पाते। इनके लिये क्रमशः शीलवती विधवा स्त्री और बांझ स्त्री का दृष्टान्त है।

—जै. ग. 25-6-64/IX/ ट. ला. जैन, मेरठ

दूरातिदूर भव्य को सम्यक्त्व नहीं होता

शंका—दूरातिदूरभव्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है या नहीं? अगर नहीं होती तो फिर 'भव्य' नाम कैसे? और होती है तो फिर मुक्ति क्यों नहीं?

समाधान—दूरातिदूरभव्य को सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती है। उनको (दूरातिदूर भव्यों को) भव्य इसलिए कहा गया है कि उनमें शक्तिरूप से तो संसारविनाश की सम्भावना है, किन्तु उसकी व्यक्ति नहीं होगी। (ध० खं० ७/१७६-१७७)

—जै. सं. 28-6-56/VI/ट. ला. जैन, केकड़ी

दूरातिदूर भव्यों का मोक्षाभाव

शंका—दूरातिदूर भव्य का क्या अर्थ है? क्या वे कभी भी मोक्ष नहीं जावेंगे?

समाधान—भविष्यकाल समाप्त नहीं होगा और भव्यजीवों का मोक्ष जाना भी समाप्त नहीं होगा। इसलिये जो जीव अनन्तानन्तकाल तक मोक्ष नहीं जायेंगे वे दूरातिदूरभव्य कहलाते हैं। कहा भी है—

"केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति।" (राजवार्तिक १।३।९)।

अर्थ—कोई भव्य संख्यातकाल में, कोई असंख्यातकाल में, कोई अनन्तकाल में मोक्ष चले जायेंगे। दूसरे जीव अनन्तानन्तकाल तक भी मोक्ष नहीं जायेंगे।

"योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेत्, न भव्यराश्यन्तर्भावात्।" (राजवार्तिक २।७।९)

अर्थ—जो अनन्तकाल तक मोक्ष नहीं जायेंगे वे अभव्य हैं, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि उनका भी भव्यराशि में अन्तर्भाव है।

—जै. ग. 10-1-66/VIII/ ज. प्र. म. कु.

सम्यक्त्व मार्गणा

उपशम सम्यक्त्व :

(१) सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है

(२) अनादि मिथ्यात्वी को प्रथम सम्यक्त्व लाभ के बाद पतन का नियम नहीं

शंका—उपशमसम्यक्त्व अनादिमिथ्यादृष्टि को होकर नियम से छूटता है तो उसी भव से मोक्ष जाने में क्या बिना उपशमसम्यक्त्व के क्षयोपशम या क्षायिकसम्यक्त्व हो जाता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति (मोक्षशास्त्र अ० ८ सूत्र ९)। इस तीन में से मिथ्यात्वप्रकृति का बंध होता है और शेष दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता, किन्तु सम्यग्दर्शन हो जानेपर मिथ्यात्वद्रव्यकर्म के तीन खंड होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति बन जाती है (गो० सा० क० व ल० सा०)। अनादिमिथ्यादृष्टि के दर्शनमोहनीयकर्म की मिथ्यात्वप्रकृति का सत्त्व पाया जाता है अतः अनादिमिथ्यादृष्टि को प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अतिरिक्त अन्य सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती। कहा भी है—

सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण।
भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ॥ १०४ ॥ (कषायपाहुड सुत्त)

अर्थ—अनादिमिथ्यादृष्टिजीव के जो प्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व होता है।

ज० ध० पु० ९ पृ० ३१४-३१७ पर कहा है 'अनादिमिथ्यादृष्टिजीव ने उपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करके गुणसंक्रम के व्यतीत हो जाने पर विध्यातसंक्रम के द्वारा अल्पतरसंक्रम का प्रारम्भ करके तथा वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त हो अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागरकाल तक उसके साथ परिभ्रमण करके दर्शनमोहनीय की क्षपणा की।' इससे सिद्ध होता है कि जयधवल के मतानुसार अनादिमिथ्यादृष्टि के उपशमसम्यक्त्व होने के पश्चात् सम्यग्दर्शन छूटने का नियम नहीं है। अनादिमिथ्यादृष्टि के उपशमसम्यक्त्व होने के पश्चात् सम्यग्दर्शन छूट भी जावे तो पुनः क्षयोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न कर क्षायिकसम्यक्त्व हो सकता है (ज० ध० पु० ९ पृ० ३१४-३६९) अतः अनादिमिथ्यादृष्टि मनुष्य उपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न कर उसी भव से मोक्ष जा सकता है।

—जै. ग. 14-5-64/IX/ ब्र. स. म.

प्रथमोपशम सम्यक्त्व में संयत से असंयत नहीं होता

शंका—धवल पुस्तक ७ पृ० १७२ सूत्र १६८ पर लिखा है कि 'उपशमसम्यक्त्वके कालमें छह आवलियाँ शेष रहने पर असंयमको प्राप्त होकर'—तो क्या उपशमसम्यक्त्वके कालमें छह आवलियों से अधिक शेष रहने पर चतुर्थगुणस्थान नहीं हो सकता ?

समाधान—अनादिमिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्व ग्रहण करने के प्रथमसमय में अनन्तसंसारको छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र काल करता है। उसी समय संयम को भी ग्रहण कर लेता है। प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन में छठे और सातवें गुणस्थान के अतिरिक्त अन्य गुणस्थान परिवर्तन नहीं होता है। अत: प्रथमोपशमसम्यक्त्व के काल में संयतसे अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थान होना असंभव है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व के काल में छह आवलियों के शेष रहने पर सासादनगुणस्थान होना संभव है। इसीलिये सूत्र १६८ की टीका में कहा है—"अर्धपुद्गलपरिवर्तन के प्रथम समय में संयम को ग्रहणकर उपशमसम्यक्त्व के काल में छह आवलियां शेष रहने पर असंयम को प्राप्त होकर होता है।"

—जै. ग. 15-8-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

(१) क्षयोपशम व विशुद्धि लब्धि के पूर्व आत्मबोध नहीं होता
(२) क्षयोपशम व विशुद्धि लब्धि में स्थितिबन्ध नहीं घटता

शंका—नवम्बर १९६७ के जैनसंदेश में लिखा है कि "यह आत्मबोध ही है जो मिथ्यात्व से विमुख करता है। उसके होने पर आत्मा में क्रांति की लहरें उठने लगती हैं और मिथ्यात्व का सिंहासन हिलने लगता है। तभी तो क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धि होती है। जिनसे कर्मों की स्थिति एकदम घट जाती है।" इस पर निम्न शंका उपस्थित होती है।

(क) क्या आत्मबोध होने के पश्चात् ही क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धि होती हैं तथा क्या उससे पूर्व ये दोनों लब्धियां नहीं होतीं ?

(ख) क्या क्षयोपशम व विशुद्धिलब्धियों में स्थितिबंध घट जाता है ?

समाधान—(क) क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना तथा प्रायोग्य; ये प्रथम चार लब्धियां भव्य और अभव्य दोनों के ही संभव हैं। कहा भी है—

"एदाओ चत्तारि वि लद्धीओ भवियाभवियमिच्छाइट्ठीणं साहारणाओ, दोसु वि एदासं संभवादो। उक्तं च—

खयउवसमिय विसोही देसण पाओग्ग करणलद्धीय।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते॥"

अर्थ—प्रारम्भ की ये चारों ही लब्धियां भव्य और अभव्यमिथ्यादृष्टिजीवों के साधारण हैं, क्योंकि दोनों ही प्रकार के जीवों में इन चारों लब्धियों का होना संभव है। कहा भी है—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें से पहली चार तो सामान्य हैं, अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों के होती हैं, किन्तु करण लब्धि सम्यक्त्व होने के समय होती है।

यदि जैन संदेश के लेखानुसार यह मान लिया जाय कि आत्मबोध होने पर ही क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धियां होती हैं तो अभव्य के भी आत्मबोध का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि अभव्यों के भी क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धियां होती हैं। दूसरे देशनालब्धि व्यर्थ हो जायगी, क्योंकि आत्मबोध तो क्षयोपशमलब्धि से पूर्व हो चुका था।

क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धि के स्वरूप से यह ज्ञात हो जायगा कि आत्मबोध अर्थात् जीवादि पदार्थों के ज्ञान के बिना भी क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धि होती है।

कम्ममलपडलसत्ती पडिसमयम णंतगुणविहीणकमा।
होदूणदीरदि जदा तदा खओवसमलद्धी दु ॥ ४ ॥
आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीणं।
सत्थाणं पयडीणं बंधणजोगो विसुद्धलद्धी सो ॥ ५ ॥ (लब्धिसार)

अर्थ—कर्ममलरूप जो अशुभ ज्ञानावरणादि कर्मसमूह उनका अनुभाग जिस काल में समय-समय पर अनन्तगुणा क्रमसे घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशमलब्धि होती है। इस क्षयोपशमलब्धि से उत्पन्न हुआ जो जीव के सातादि शुभ प्रकृतियों के बंधने के कारण शुभ परिणाम उसकी प्राप्ति विशुद्धिलब्धि है।

इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों लब्धियों में आत्मबोध की आवश्यकता नहीं।

(ख) *प्रश्न यह कि क्षयोपशम व विशुद्धिलब्धि में स्थितिबंधापसरण अर्थात् स्थिति बंध का घटना होता है या नहीं।*

(क) में क्षयोपशम व विशुद्धिलब्धियों का स्वरूप दिया गया है उससे सिद्ध होता है कि क्षयोपशमलब्धि व विशुद्धिलब्धि में स्थितिबंधापसरण अर्थात् स्थितिबंध का घटना नहीं होता है। तीसरी देशनालब्धि में भी स्थिति-बंधापसरण नहीं होता है। चौथी प्रायोग्यलब्धि में स्थितिबंधापसरण होते हैं। कहा भी है—

सम्मत्तहिमुहमिच्छो विसोहिवड्ढीहि वड्ढमाणो हु।
अंतोकोडाकोडिं सत्तण्हं बंधणं कुणई ॥ ९ ॥
तत्तो उदय सदस्स स पुधत्तमेत्तं पुणो पुणोदरिय।
बंधम्मि पयडिम्हि य छेदपदा होंति चोत्तीसा ॥ १० ॥ (लब्धिसार)

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्व के सन्मुखमिथ्यादृष्टि विशुद्धपने की वृद्धि से बढ़ता हुआ प्रायोग्यलब्धि के प्रथम-समय से लेकर पूर्वस्थितिबंध के संख्यातवेंभाग अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण आयु के बिना सातकर्मों की स्थिति बाँधता है। उस अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर स्थितिबंध से पल्यका संख्यातवाँभाग मात्र घटता हुआ स्थितिबंध अन्त-र्मुहूर्ततक समानता लिये हुए करता है। फिर उससे पल्य के संख्यातवेंभाग घटता स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त तक करता है। इस तरह क्रम से संख्यातस्थितिबंधापसरणों द्वारा पृथक्त्वसौसागर घटने से पहला प्रकृतिबंधापसरण होता है। फिर उसी क्रम से उससे भी पृथक्त्वसौसागर घटने से दूसरा प्रकृतिबंधापसरणस्थान होता है। ऐसे प्रकृतिबंधापसरण के ३४ स्थान होते हैं।

इन दोनों गाथाओं में यह स्पष्ट हो जाता है कि चौथी प्रायोग्यलब्धि में स्थितबंधापसरण प्रारम्भ होता है। प्रथम क्षयोपशमलब्धि और दूसरीविशुद्धिलब्धि में स्थितिबंधापसरण नहीं होते।

—जै. ग. 15-8-68/VIII/……

नैसर्गिक सम्यक्त्व से पूर्व देशनालब्धि की आवश्यकता नहीं

शंका—वर्तमान भव में जिसे निसर्गजसम्यग्दर्शन हो रहा है, उसको उसी भव में देशनालब्धि की प्राप्ति होना क्या जरूरी है ? क्या पूर्वभव में देशनालब्धि के बिना भी निसर्गजसम्यग्दर्शन हो सकता है ?

समाधान—जो सम्यग्दर्शन परोपदेश के बिना होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।

"यद् बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम् ।" (सर्वार्थसिद्धि) १।३

"यथा लोके हरिशार्दूलवृकभुजंगादयो निसर्गतः क्रौर्यशौर्याहारादिसंप्रतिपत्तौ वर्तन्त इत्युच्यन्ते ।
न चासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात् । अनाकस्मिक्यपि सती नैसर्गिकी भवति, परोपदेशाभावात् ।
तथेहाप्यपरोपदेशपूर्वके निसर्गाभिप्रायः ।" (राजवार्तिक १।३।६)

जो सम्यग्दर्शन परोपदेश के बिना उत्पन्न होता है वह नैसर्गिकसम्यग्दर्शन है। नैसर्गिकसम्यग्दर्शन में अपेक्षा नहीं रहती है। संसार में भी सिंह-शार्दूल-बिच्छू-सर्प आदि के स्वभाव से क्रूरता, शूरता आदि देखी जाती है। यद्यपि उनमें ये सब कर्मोदयरूप निसर्ग से होने के कारण सर्वथा आकस्मिक नहीं है तथापि परोपदेश के अभाव के कारण वे नैसर्गिक हैं। इसी प्रकार परोपदेश निरपेक्ष जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।

जिस प्रकार सिंह आदि की नैसर्गिक क्रूरता आदि में कर्मोदय निमित्त पड़ता है, उसी प्रकार नैसर्गिक सम्यग्दर्शन में जिनबिम्बदर्शन आदि बाह्य निमित्त होते हैं। कहा भी है—

णइसग्गियमवि पढमसम्मसं तच्चट्ठे उत्तं, तं हि एत्थेव दट्ठव्वं, जाइस्मरण जिणबिंबदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गिय पढमसम्मत्तस्स असंभवादो। (धवल पु० ६ पृ० ४३०)

तत्त्वार्थसूत्र में नैसर्गिकसम्यक्त्व का भी कथन किया गया है, उसका भी पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए, क्योंकि जातिस्मरण या जिनबिम्बदर्शन के बिना नैसर्गिकसम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता।

श्रीपूज्यपाद, अकलंकदेव आदि आचार्यों का इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी श्री केशववर्णी ने लब्धिसार गाथा ६ की टीका में निम्नप्रकार से लिखा है—

उपदेशकरहितेषु नारकादिभवेषु पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कारबलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति इति सूच्यते ।

श्री पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने इसका अर्थ किया है—नारक आदि विषैं जहाँ उपदेश देने वाला नहीं, तहाँ पूर्व भव विषैं धारया हुआ तत्त्वार्थ के संस्कारबल तें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जाननी।

यद्यपि लब्धिसार गाथा ६ में निसर्गजसम्यग्दर्शन का प्रकरण नहीं है, मात्र देशनालब्धि के प्रकरण में यह लिखा गया है तथापि कोई-कोई इस टीका के आधार पर नैसर्गिकसम्यक्त्व में भी पूर्वभव की देशना को कारण मानते हैं जो आर्ष ग्रन्थों के अनुकूल नहीं है। ऐसा मानने से जिनबिम्बदर्शन की महिमा का लोप हो जाता है। जिनबिम्ब के दर्शन से मिथ्यात्वकर्म के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। धवल पु० ६ पृष्ठ ४२७–२८ पर कहा भी है—

जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो । "दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुञ्जरम् । शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा ।" जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्व आदि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

जिनेन्द्र के दर्शन से पाप संघातरूपी कुञ्जर के (घातिया कर्मों के) सौ टुकड़े हो जाते हैं अर्थात् खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, जिसप्रकार वज्र के आघात से पर्वत के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं।

"जिणपूयावंदणणमंसणेहि य बहुकम्मपदेस णिज्जरुवलंभादो ।" (धवल पु० १० पृ० २८९)

जिनपूजा, वन्दना, नमस्कार से भी बहुत कर्मप्रदेशों की निर्जरा होती है।

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी ।
सो सव्वदुक्ख मोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ।। मूलाचार ७१९ ।।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी मूलाचार मे कहा है—जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त संसारदुःख से मुक्त हो जाता है अर्थात् संसार समुद्र से पार होकर मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

—पत्राचार / ज. ला. जैन, भीण्डर

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रस्थापक (प्रारम्भक) के निद्रा और प्रचला का वेदन असम्भव है

शंका—प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख जीव के चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवल इन चार दर्शनावरणीयकर्म का उदय तो संभव है, किन्तु उसके प्रचला या निद्राप्रकृति का उदय किस प्रकार संभव है, जबकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव जागृत होता है ?

समाधान—धवल पु० ६ पृ० २०७ से प्रथमोपशम-सम्यक्त्व के अभिमुख जीव का कथन प्रारम्भ हुआ है उसी जीव के विषय में पृ० २१० पर यह कहा गया है कि "यह जीव चक्षु-अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरणीय इन चार प्रकृतियों का वेदक होता है, यदि निद्रा या प्रचला में से किसी एक का उदय हो तो दर्शनावरणीयकर्म की पाँच प्रकृतियों का वेदक होता है।"

प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख जीव प्रस्थापक से लेकर निष्ठापक तक होता है। अतः उसके दर्शनावरणीयकर्म की चार व पाँचप्रकृतियों का उदय संभव है, किन्तु प्रस्थापक के पाँचप्रकृतियों का उदय संभव नहीं है, क्योंकि प्रस्थापक के साकारउपयोग होता है। कहा भी है—

सायारे पट्ठवओ णिट्ठवओ मज्झिमो य भयणिज्जो । (ज० ध० पु० १२ पृ० ३०४) "दर्शनमोह के उपशमन का प्रस्थापकजीव साकारउपयोग में विद्यमान होता है, किन्तु उसका निष्ठापक और मध्य अवस्थावर्तीजीव भजितव्य है।"इसकी टीका में श्रीजयसेन आचार्य ने इस प्रकार लिखा है:—(सागारे पट्ठवगो) **"एवं भणिदे दंसण मोहोवसामणमाढवेंतो अधापवत्तकरण पढमसमयप्पहुडि अंतोमुहुत्तमेत्तकालं पट्ठवगोणाममवदि । सो पुण तदवत्थाए**

णाणोवजोगे चेव उवजुत्तो होइ, तत्थ दंसणोवजोगस्साविचारप्पयस्स पवुत्तिविरोहादो। तदो मदि-सुद-विभंगणाणमण्णदरो सागारोवजोगो चेव एदस्स होइ, णाणागारोवजोगोत्ति घेत्तव्वं। एदेणा जागरावत्था परिणदो चेव सम्मत्तुप्पत्ति पाओग्गो होदि, णाण्णो पि एवं पि जाणाविदं, णिद्दापरिणामस्स सम्मत्तुप्पत्तिपाओग्गविसोहि परिणामेहि विरुद्धसहावत्तादो। एवं पट्ठवगस्स सागारोवजोगत्तं णियामिय संपहि णिट्ठवगमज्झिमवत्थासु सागाराणगारअमण्णदरोवजोगेण भयणिज्जत्तपदुप्पायणट्ठमिदमाह (णिट्ठवगो मज्झिमो य भजिदव्वो) एत्थ णिट्ठवगो त्ति भणिदे दंसणमोहोवसामणकरणस्स समाणगो घेत्तव्वो। सो पुण कम्हि उद्देसे होदि त्ति पुच्छिदे पढमट्ठिदिं सव्वं कमेण गालिय अंतरपवेसाहिमुहावत्थाए होइ। सो च सागरोवजुत्तो का अणागारोवजुत्तो वा होदि त्ति भजियव्वो, दोण्हमण्णदरोवजोगपरिणामेण णिट्ठवणत्तो विरोहाभावादो। एवं मज्झिमस्स वि वत्तव्वं। को मज्झिमोणाम ? पट्ठवगणिट्ठवगपज्जायणमंतराल काले पयट्टमाणो मज्झिमो त्ति भण्णदे, तथ्य दोण्हं पि उवजोगाणं कमपरिणामस्स विरोहाभावादो भयणिज्जत्तमेदमवगंतव्वं।"

अर्थ—'**सागार पट्ठवगो**' ऐसा कहने पर दर्शनमोह की उपशमविधि का आरम्भ करनेवाला जीव अधःप्रवृत्तकरण के प्रथमसमय से लेकर अन्तर्मुहूर्तकाल तक प्रस्थापक कहलाता है, परन्तु वह जीव उस अवस्था में ज्ञानोपयोग में ही उपयुक्त होता है, क्योंकि उस अवस्था में अविचारस्वरूप दर्शनोपयोग की प्रवृत्तिका विरोध है इसलिये मतिश्रुत और विभंगज्ञान में से कोई एक साकारोपयोग ही इसके होता है, अनाकार उपयोग नहीं होता ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये। इस वचन द्वारा जागृतअवस्था से परिणत जीव ही सम्यक्त्वोत्पत्ति के योग्य होता है, अन्य नहीं, इस बात का ज्ञान करा दिया गया है, क्योंकि निद्रारूप परिणाम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य विशुद्धरूप परिणामों से विरुद्ध स्वभाववाला है। इस प्रकार प्रस्थापक में साकारोपयोगपने का नियम करके अब निष्ठापकरूप और मध्यम (बीच की) अवस्था में साकारउपयोग और अनाकारउपयोग में से अन्यतर उपयोग के साथ भजनीयपने का कथन करने के लिये यह वचन कहा है—(**णिट्ठवगो मज्झिमो य भजिदव्वो**) इस वचन में निष्ठापक ऐसा कहने पर दर्शनमोह के उपशमकरण को समाप्त करने वाला जीव लेना चाहिए। परन्तु यह किस अवस्था में होता है ? ऐसा पूछने पर समस्त प्रथम स्थिति को क्रम से गलाकर अन्तरप्रवेश के अभिमुख अवस्था के होने पर होता है। और वह साकारोपयोग में उपयुक्त होता है या अनाकारोपयोग में उपयुक्त होता है, इसलिये भजनीय है, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक परिणाम के साथ निष्ठापकपने का विरोध नहीं है। इसीप्रकार मध्यम अवस्थावाले के भी कहना चाहिए। प्रस्थापक और निष्ठापकरूप पर्यायों के अन्तरालकाल में प्रवर्तमान जीव मध्यम कहलाता है। इस अन्तरालकाल में दोनों ही उपयोगों (ज्ञान और दर्शन) का क्रम से परिणाम होने में विरोध का अभाव होने से भजनीयपना जानना चाहिए।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व के प्रस्थापक के तो दर्शनावरणकर्म की चारप्रकृतियों का ही उदय रहता है, निद्रा आदि पाँचप्रकृतियों का उदय सभव नहीं है, किन्तु निष्ठापक व मध्यम अवस्थावाले के निद्रा या प्रचला इन दोनों प्रकृतियों में से किसी एक का उदय भी संभव है।

—जै. ग. 11-4-74/......../ ज. ला. जैन, भीण्डर

प्रायोग्यलब्धि तक पहुंचे जीव के गृहीत मिथ्यात्व नहीं रहता

शंका—**प्रायोग्यलब्धि में क्या सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है ? क्या प्रायोग्यलब्धि गृहीतमिथ्यादृष्टि के भी हो जाती है ?**

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि के पाँच लब्धियाँ होती हैं १. क्षयोपशमलब्धि २. विशुद्धिलब्धि, ३. देशनालब्धि, ४. प्रायोग्यलब्धि, ५. करणलब्धि। कहा भी है—

खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं सम्मत्तचारित्ते ॥ ३ ॥ (लब्धिसार)

अर्थ—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य तथा करण ये पाँच लब्धियाँ हैं। उनमें से पहली चार तो साधारण हैं अर्थात् भव्य जीव और अभव्य जीव दोनों के होती हैं। पाँचवीं करणलब्धि सम्यक्त्व और चारित्र की तरफ झुके हुए भव्य जीव के होती है।

"छद्दव्व-णवपयत्थोवदेसो देसणा णाम। तीए देसणाए परिणदआइरियादीणमुवलंभो, देसिदत्थस्स गहण-धारण-विचारणसत्तीए समागमो अ देसणलद्धीणाम।" (धवल पु० ६ पृ० २०४)

अर्थ—छहद्रव्य और नौपदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं।

उपदिष्ट छहद्रव्य और नौपदार्थों के ग्रहण, धारण और विचारण का फल प्रायोग्यलब्धि है, जिसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

"सव्वकम्माणमुक्कस्स ट्ठिदिमुक्कस्साणुभागं च घादिय अंतोकोडाकोडीट्ठिदिम्हि बेट्ठाणाणुभागे च अवट्ठाणं पाओग्गलद्धी णाम।"

अर्थ—सर्वकर्मों की उत्कृष्टस्थिति और अप्रशस्तकर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का घात करके अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। (धवल पु० ६ पृ० २०४)

इन आर्षवाक्यों से यह स्पष्ट है कि 'प्रायोग्य' चौथी लब्धि में सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख है।

देशनालब्धि के स्वरूप से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस जीव को सर्वज्ञ कथित छहद्रव्य नौपदार्थ का उपदेश मिलता है और वह उन छहद्रव्य नौपदार्थों को ग्रहण करता, धारण करता है और विचार करता है जिसके फलस्वरूप कर्मों का स्थितिघात और अनुभाग घात हो जाता है। गृहीतमिथ्यादृष्टि के यह संभव नहीं है। अतः प्रायोग्यलब्धि में गृहीतमिथ्यात्व भी नहीं रहता है। मिथ्यात्व का हल्का उदय रहता है।

—जै. ग. 17-6-71/IX/ ट्रो. ला. मित्तल

सम्यक्त्वप्राप्ति के पूर्व प्रायोग्यलब्धि में मिथ्यात्व का बन्ध नहीं रुकने का कारण

शंका—प्रायोग्यलब्धि का क्या स्वरूप है? बन्धापसरण क्या है? प्रायोग्यलब्धि में ४६ प्रकृतियों का बंध रुक जाने पर भी मिथ्यात्व का बन्ध क्यों नहीं रुकता है?

समाधान—धवल पु० ६ पृ० २०४ पर प्रायोग्यलब्धि का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

"सव्वकम्माणमुक्कस्सट्ठिदिं मुक्कस्साणुभागं च घादिय अंतोकोडाकोडीट्ठिदिम्हि बेट्ठाणाणुभागे च अवट्ठाणं पाओग्गलद्धी णाम।"

सबकर्मों की उत्कृष्टस्थिति को और पापकर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अन्त.कोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विःस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं।

कर्मों के स्थितिबंध के घटने को बंधापसरण कहते हैं। प्रत्येक बंधापसरण में स्थितिबंध पृथक्त्व सौसागर घटता है। एक बंधापसरण का काल अन्तर्मुहूर्त है। प्रायोग्यलब्धि में ३४ बंधापसरण होते हैं।

तत्तो उदय सदस्स य पुधत्तमेत्तं पुणो पुणोदरिय।
बंधम्मि पयडिम्हि य छेदपदा होंति चोत्तीसा ॥ १० ॥ (लब्धिसार)

अंतःकोड़ाकोड़ीसागर स्थितिबंध से पृथक्त्वसौसागर घटने पर पहला बंधापसरण होता है। उससे भी पृथक्त्वसौसागर घटने पर दूसरा बंधापसरण होता है। इस तरह इसी क्रम से प्रथक्त्वसौसागर-प्रथक्त्वसौसागर स्थितिबंध घटने पर एक-एक बन्धापसरण होता है। ऐसे ३४ बंधापसरण होते हैं।

यद्यपि इन ३४ बंधापसरणों के द्वारा नरकायु आदि ४६ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है तथापि परिणामों में इतनी विशुद्धता नहीं हुई और न मिथ्यात्व का अनुभाग इतना क्षीण हुआ कि मिथ्यात्व प्रकृति का बंध प्रायोग्य-लब्धि में रुक जावे।

अनिवृत्तिकरणलब्धि के अन्तिम समय तक मिथ्यात्व का बंध होता रहता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व होने पर मिथ्यात्व का उदय व बंध दोनों एक साथ रुक जाते हैं।

—जै. ग. 18-3-71/VII/ रो. ला. मित्तल

सम्यक्त्व—सम्मुख जीव की योग्यता का परिचय

शंका—सम्यक्त्व की प्राप्ति के सम्मुख जीव की योग्यता कैसी होती है? जब तक कर्मस्थिति को घटाकर अन्तःकोटाकोटिसागरप्रमाण तथा अनुभाग को घटाकर द्विस्थानिक नहीं कर देता क्या उस समय तक सम्यक्त्वोत्पत्ति नहीं होती?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूर्व क्षयोपशमादि पाँच लब्धियाँ होती हैं उनमें से चौथी प्रायोग्यलब्धि है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

अंतोकोडाकोडी विट्ठाणे ठिदिरसाण जं करणं।
पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामाणा ॥ ७ ॥ (लब्धिसार)

पूर्वोक्त क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धिवाले जीव के द्वारा प्रतिसमय विशुद्धता की बढ़वारी होने से आयु के बिना सातकर्मों की स्थिति घटाते हुए अंतःकोड़ाकोड़ी मात्र रखना और कर्मफलदान शक्ति को भी कमजोर करते हुए अनुभाग को द्विस्थानीय अर्थात् लता, दारुरूप कर देना सो प्रायोग्यलब्धि है।

कर्मों का स्थिति व अनुभाग परिणामों की विशुद्धता द्वारा घटाया जाता है। इसी प्रकार आत्मपरिणामों के द्वारा अनन्तसंसार घटाकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कर दिया जाता है।

प्रायोग्यलब्धि के पश्चात् करणलब्धि होती है उसके पश्चात् प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इन पाँच लब्धियों के बिना प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है।

—जै. ग. 12-8-71/VII/ रो. ला. मित्तल

प्रथमसम्यक्त्व से पूर्व ज्ञान व प्रशस्त आचरण आवश्यक है

शंका—क्या दर्शन के सम्यक् बनने में ज्ञान व चारित्र भी कारण हैं?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व पाँचलब्धियाँ होती हैं। उनमें से दूसरी विशुद्धिलब्धि है जो पाप प्रवृत्ति में सम्भव नहीं है। तीसरी देशनालब्धि है जो तत्त्वों व द्रव्यों के अयथार्थज्ञान में सम्भव नहीं है। अतः ये दोनों लब्धियाँ प्रशस्त आचरण व ज्ञान की द्योतक हैं। इन दोनों लब्धियों के बिना प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति में विशुद्धिलब्धि (प्रशस्त आचरण) तथा देशनालब्धि (प्रशस्त-ज्ञान) कारण है।

चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भज विसुद्ध सागारो।
पढमुवसमं स गिण्हदि पंचमवरलद्धिचरिमम्हि ॥ २ ॥ (लब्धिसार)

चारों गतियों का मिथ्यादृष्टि संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्ध और ज्ञानोपयोग वाला पंचमलब्धि का अन्त होते ही प्रथमोपशमसम्यक्त्व को ग्रहण करता है।

यहाँ पर विशुद्ध और ज्ञानोपयोग ये दो विशेषण दिये गये हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीणं।
सत्थाणं पयडीणं बंधणजोगो विसुद्धलद्धी सो ॥ ५ ॥ (लब्धिसार)

पहली क्षयोपशमलब्धि से उत्पन्न हुआ जो साता आदि प्रशस्तप्रकृतियों के बंधने का कारणभूत शुभपरिणाम, उस शुभपरिणाम की प्राप्ति विशुद्धिलब्धि है। शुभपरिणाम प्रशस्तआचरण का अविनाभावी है। अतः यह विशुद्धलब्धि प्रशस्त आचरण की द्योतक है।

छद्दव्वणवपयत्थोपदेसयर सूरि पहुदिलाहो जो।
देसिदपयत्थधारण लाहो वा तदियलद्धी दु ॥ ६ ॥ (लब्धिसार)

छहद्रव्य और नौपदार्थ के उपदेश करनेवाले आचार्य आदि का लाभ अर्थात् उपदेश मिलना तथा उपदेशित पदार्थों के यथार्थ स्वरूप धारण करने की प्राप्ति वह तीसरी देशनालब्धि है।

इस प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से पूर्व प्रशस्तआचरण व ज्ञान आवश्यक है।

—जै. ग. 26-10-72/VII/ रो. ला मित्तल

करण परिणाम कब होते हैं ?

शंका—सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीन परिणाम होते हैं। ये परिणाम क्या व्यवहारसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं या निश्चयसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ? क्या उपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ? क्या क्षयोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ? क्या क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ? क्या आज्ञा मार्ग आदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले होते हैं ? क्या सब ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ?

समाधान—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीनों परिणाम प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं। क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिजीव जब द्वितीयोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होता है उस समय भी ये तीनों करण द्वितीयोपशमसम्यक्त्व तथा क्षायिकसम्यक्त्व से पहले होते हैं। क्षयोपशमसम्यक्त्व से पहले ये तीनों करण नहीं होते। इन तीनों करणों का कथन करणानुयोग की अपेक्षा से है। करणानुयोग की अपेक्षा से निश्चयसम्यक्त्व तथा व्यवहारसम्यक्त्व ऐसे दो भेद अथवा आज्ञा-मार्ग आदिक दस भेद सम्यक्त्व के नहीं कहे गए हैं। करणानुयोग में तो दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम से उपशमसम्यक्त्व की, क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व की तथा क्षयोपशम से क्षयोपशम-सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय कारण है और उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति कार्य है। दर्शनमोह के उपशम तथा क्षय में अधःकरण आदि तीन करण कारण हैं। द्रव्यानुयोग में निश्चय व व्यवहारसम्यक्त्व का कथन है व्यवहारसम्यक्त्व कारण है और निश्चयसम्यक्त्व कार्य है। जिस प्रकार तीन करणों के बिना दर्शनमोह का उपशम तथा क्षय नहीं होता उसी प्रकार व्यवहारसम्यक्त्व के बिना निश्चयसम्यक्त्व नहीं होता। जिस प्रकार तीनों करण क्रमशः पहले होते हैं तत्पश्चात् उपशम अथवा क्षायिकसम्यक्त्व होता है, उसी प्रकार निश्चयसम्यक्त्व से पूर्व व्यवहारसम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार उपशम या क्षायिकसम्यक्त्व के पश्चात् तीनों करण नहीं होते, उसी प्रकार निश्चयसम्यक्त्व के पश्चात् व्यवहारसम्यक्त्व नहीं होता। कार्य से पूर्व कारण होता है, कार्य के पश्चात् कारण नहीं होता। पंचलब्धिरूप परिणाम तो व्यवहारसम्यक्त्व हैं और उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिकसम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्व हैं, ऐसा द्रव्यानुयोग और करणानुयोग का समन्वय हो सकता है। सम्यक्त्व के जो आज्ञादि दस भेद किये हैं उनमें से 'आज्ञा आदि' आठ भेद तो बाह्य कारणों की अपेक्षा से हैं और अवगाढ़ व परम अवगाढ़रूप सम्यक्त्व के भेद, ज्ञान की अपेक्षा से हैं। सम्यक्त्व के वास्तविक तीन भेद हैं—उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक—क्योंकि दर्शनमोहनीयकर्म की ये तीन अवस्था होती हैं। दर्शनमोहनीयकर्म की उदय, उदीरणा आदि अवस्था सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं।

—जै. सं. 17-1-57/VI/ ब्रो. ब. का. ढकका

दर्शनमोह के उपशमाने का काल

बन्धसमय से अचलावली बीत जाने पर ही नवीन बँधे हुए कर्म को उपशमाता है। उपशमाने में एक आवली लगती है अतः अन्तरकृत होने के पश्चात् जो नवीनकर्म बँधता है उसकी उपशमना बन्ध समय सहित दो आवली में पूर्ण होती है अर्थात् बन्ध समय को छोड़कर एक समय कम दो आवली में उपशमना पूरी होती है। अतः प्रथमस्थिति की अन्तिम दो आवलियों में जो नवीन मिथ्यात्वकर्म बँधा है उसको उपशमाने में दो आवली लगेंगी अर्थात् प्रथमस्थिति के अन्तिमसमय में जो मिथ्यात्वकर्म बँधा है उसके उपशमाने में भी अन्तिम समय सहित दो आवली अथवा प्रथमस्थिति के पश्चात् एकसमय कम दो आवली उसके उपशमाने में लगेगी। अब गाथा ८७

व ९४ लब्धिसार का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। मान लो प्रथम स्थिति १० बजे समाप्त होती है और चार मिनट की आवली होती है। एक मिनट एक समय है। दो आवली में आठ मिनट होते हैं। इस मान्यता के अनुसार—जो मिथ्यात्व कर्म ८ मिनट कम १० बजे बँधा था वह ४ मिनट कम दस बजे तक तो अचल रहेगा, क्योंकि बन्ध से ४ मिनट (एक आवली) तक हर एक कर्म अचल रहता है। इसके पश्चात् ४ मिनट (एक आवली) इसके उपशमाने में लगेगी। अर्थात् इसकी उपशमना १० बजे तक समाप्त हो जावेगी। जो कर्म ७ मिनट कम १० बजे बँधा था, वह ३ मिनट कम १० बजे तक तो अचल रहेगा फिर ४ मिनट (एक आवली) उसके उपशमाने में लगेंगे अर्थात् उसकी उपशमना १० बज कर एक मिनट पर समाप्त होगी अथवा प्रथम स्थिति बीत जाने के एक समय बाद समाप्त होगा। इसी प्रकार जो कर्म ६ मिनट कम १० बजे बँधा था वह चार मिनट (एक आवली) तक अर्थात् २ मिनट कम १० बजे तक अचल रहेगा फिर चार मिनट (एक आवली) उसके उपशमाने में लगेंगे अर्थात् उसकी उपशमना १० बजकर २ मिनट पर समाप्त होगी अथवा जो कर्म प्रथम स्थिति से दो समय कम दो आवली पहले बँधा था, उसकी उपशमना प्रथम स्थिति के दो समय बाद तक पूर्ण होगी। इसी प्रकार जो कर्म ५ मिनट कम १० बजे (तीन समय कम दो आवली प्रथम स्थिति की समाप्ति से पहले) बँधा था उसकी उपशमना १० बज कर तीन मिनट (प्रथम स्थिति के तीन समय) बाद पूर्ण होगी अतः जो मिथ्यात्व कर्म प्रथम स्थिति के अन्तिम समय (१० बजे) बँधा है उसकी उपशमना एक समय कम दो आवली बाद (१० बज कर ७ मिनट) तक पूर्ण होगी।

—पत्राचार 9-11-54/ ····/ ब. प्र. स.

प्रथमोपशम सम्यक्त्व का जघन्य अन्तरकाल

शंका—प्रथमोपशम सम्यक्त्व का जघन्य अन्तरकाल कितना है ?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व का जघन्य अन्तरकाल पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है, क्योंकि उद्वेलनकाण्डकों के द्वारा सम्यक्त्व और मिश्रप्रकृति की स्थिति का खण्डन करके पृथक्त्वसागर करने में पल्य का असंख्यातवाँभाग काल लगता है। कहा भी है—

"पढम सम्मत्तं घेत्तूण अंतोमुहुत्तमच्छिय सासणगुणं गंतूणंदि करिय मिच्छत्तं गंतूणंतरिय सव्व जहण्णेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तेणच्छेण कालेण सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणं पढमसम्मत्तपाओग्ग सागरोवमपुधत्तमेत्त ट्ठिदि संतकम्म ठविय तिण्णि वि करणाणि पुणो पढमसम्मत्तं घेत्तूण। (धवल पु० ७ पृ० २३३) ताणं ट्ठिदीओ अंतोमुहुत्तेण घादिय सागरोवमादो सागरोवम-पुधत्तादो वा हेट्ठा किण्ण करेदी ? ण, पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-मेत्तायामेण अंतोमुहुत्तु क्कीरणकालेहि उव्वेल्लण खंडएहि घादिज्जमाणाए सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तट्ठिदीए पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागमेत्तकालेण विणा सागरोवमस्स व सागरोवमपुधत्तंस्स वा हेट्ठा पदणाणुववत्तीदो।" (धवल पु० ५ पृ० १०)

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व से गिरकर सासादन व मिथ्यात्व में आकर सम्यक्त्व और मिश्रप्रकृतियों का स्थितिसत्त्व, उद्वेलना के द्वारा, सागरोपम या सागरोपमपृथक्त्व या इससे कम हो जाता है, तब प्रथमोपशमसम्यक्त्व पुनः हो सकता है। इस स्थितिसत्त्व को करने में पल्योपम का असंख्यातवाँभाग काल लगता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त उत्कीर्णकाल वाले उद्वेलनाकाण्डकों से घात की जाने वाली सम्यक्त्व और सम्यग्मि-

करण परिणाम कब होते हैं ?

शंका—सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीन परिणाम होते हैं। ये परिणाम क्या व्यवहारसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं या निश्चयसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ? क्या उपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ? क्या क्षयोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ? क्या क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ? क्या आज्ञा मार्ग आदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले होते हैं ? क्या सब ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं ?

समाधान—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीनों परिणाम प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले होते हैं। क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिजीव जब द्वितीयोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होता है उस समय भी ये तीनों करण द्वितीयोपशमसम्यक्त्व तथा क्षायिकसम्यक्त्व से पहले होते हैं। क्षयोपशमसम्यक्त्व से पहले ये तीनों करण नहीं होते। इन तीनों करणों का कथन करणानुयोग की अपेक्षा से है। करणानुयोग की अपेक्षा से निश्चयसम्यक्त्व तथा व्यवहारसम्यक्त्व ऐसे दो भेद अथवा आज्ञा-मार्ग आदिक दस भेद सम्यक्त्व के नहीं कहे गए हैं। करणानुयोग में तो दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम से उपशमसम्यक्त्व की, क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व की तथा क्षयोपशम से क्षयोपशम-सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय कारण है और उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति कार्य है। दर्शनमोह के उपशम तथा क्षय में अधःकरण आदि तीन करण कारण हैं। द्रव्यानुयोग में निश्चय व व्यवहारसम्यक्त्व का कथन है व्यवहारसम्यक्त्व कारण है और निश्चयसम्यक्त्व कार्य है। जिस प्रकार तीन करणों के बिना दर्शनमोह का उपशम तथा क्षय नहीं होता उसी प्रकार व्यवहारसम्यक्त्व के बिना निश्चयसम्यक्त्व नहीं होता। जिस प्रकार तीनों करण क्रमशः पहले होते हैं तत्पश्चात् उपशम अथवा क्षायिकसम्यक्त्व होता है, उसी प्रकार निश्चयसम्यक्त्व से पूर्व व्यवहारसम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार उपशम या क्षायिकसम्यक्त्व के पश्चात् तीनों करण नहीं होते, उसी प्रकार निश्चयसम्यक्त्व के पश्चात् व्यवहारसम्यक्त्व नहीं होता। कार्य से पूर्व कारण होता है, कार्य के पश्चात् कारण नहीं होता। पंचलब्धिरूप परिणाम तो व्यवहारसम्यक्त्व हैं और उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिकसम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्व हैं, ऐसा द्रव्यानुयोग और करणानुयोग का समन्वय हो सकता है। सम्यक्त्व के जो आज्ञादि दस भेद किये हैं उनमें से 'आज्ञा आदि' आठ भेद तो बाह्य कारणों की अपेक्षा से हैं और अवगाढ़ व परम अवगाढ़रूप सम्यक्त्व के भेद, ज्ञान की अपेक्षा से हैं। सम्यक्त्व के वास्तविक तीन भेद हैं—उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक—क्योंकि दर्शनमोहनीयकर्म की ये तीन अवस्था होती हैं। दर्शनमोहनीयकर्म की उदय, उदीरणा आदि अवस्था सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं।

—जै. सं. 17-1-57/VI/ सौ. च. का. डबका

दर्शनमोह के उपशमाने का काल

बन्धसमय से अचलावली बीत जाने पर ही नवीन बँधे हुए कर्म को उपशमाता है। उपशमाने में एक आवली लगती है अतः अन्तरकृत होने के पश्चात् जो नवीनकर्म बँधता है उसकी उपशमना बन्ध समय सहित दो आवली में पूर्ण होती है अर्थात् बन्ध समय को छोड़कर एक समय कम दो आवली में उपशमना पूरी होती है। अतः प्रथमस्थिति की अन्तिम दो आवलियों में जो नवीन मिथ्यात्वकर्म बँधा है उसको उपशमाने में दो आवली लगेंगी अर्थात् प्रथमस्थिति के अन्तिमसमय में जो मिथ्यात्वकर्म बँधा है उसके उपशमाने में भी अन्तिम समय सहित दो आवली अथवा प्रथमस्थिति के पश्चात् एकसमय कम दो आवली उसके उपशमाने में लगेगी। अब गाथा ८७

व ९४ लब्धिसार का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। मान लो प्रथम स्थिति १० बजे समाप्त होती है और चार मिनट की आवली होती है। एक मिनट एक समय है। दो आवली में आठ मिनट होते हैं। इस मान्यता के अनुसार—जो मिथ्यात्व कर्म ८ मिनट कम १० बजे बँधा था वह ४ मिनट कम दस बजे तक तो अचल रहेगा, क्योंकि बन्ध से ४ मिनट (एक आवली) तक हर एक कर्म अचल रहता है। इसके पश्चात् ४ मिनट (एक आवली) इसके उपशमाने में लगेगी। अर्थात् इसकी उपशमना १० बजे तक समाप्त हो जावेगी। जो कर्म ७ मिनट कम १० बजे बँधा था, वह ३ मिनट कम १० बजे तक तो अचल रहेगा फिर ४ मिनट (एक आवली) उसके उपशमाने में लगेंगे अर्थात् उसकी उपशमना १० बज कर एक मिनट पर समाप्त होगी अथवा प्रथम स्थिति बीत जाने के एक समय बाद समाप्त होगा। इसी प्रकार जो कर्म ६ मिनट कम १० बजे बँधा था वह चार मिनट (एक आवली) तक अर्थात् २ मिनट कम १० बजे तक अचल रहेगा फिर चार मिनट (एक आवली) उसके उपशमाने में लगेंगे अर्थात् उसकी उपशमना १० बजकर २ मिनट पर समाप्त होगी अथवा जो कर्म प्रथम स्थिति से दो समय कम दो आवली पहले बँधा था, उसकी उपशमना प्रथम स्थिति के दो समय बाद तक पूर्ण होगी। इसी प्रकार जो कर्म ५ मिनट कम १० बजे (तीन समय कम दो आवली प्रथम स्थिति की समाप्ति से पहले) बँधा था उसकी उपशमना १० बज कर तीन मिनट (प्रथम स्थिति के तीन समय) बाद पूर्ण होगी अतः जो मिथ्यात्व कर्म प्रथम स्थिति के अन्तिम समय (१० बजे) बँधा है उसकी उपशमना एक समय कम दो आवली बाद (१० बज कर ७ मिनट) तक पूर्ण होगी।

—पत्राचार 9-11-54/ ····/ ब. प्र. स.

प्रथमोपशम सम्यक्त्व का जघन्य अन्तरकाल

शंका—प्रथमोपशम सम्यक्त्व का जघन्य अन्तरकाल कितना है ?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व का जघन्य अन्तरकाल पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है, क्योंकि उद्वेलनकाण्डकों के द्वारा सम्यक्त्व और मिश्रप्रकृति की स्थिति का खण्डन करके पृथक्त्वसागर करने में पल्य का असंख्यातवाँभाग काल लगता है। कहा भी है—

"पढम सम्मत्तं घेत्तूण अंतोमुहुत्तमच्छिय सासणगुणं गंतूणंवि करिय मिच्छत्तं गंतूणंतरिय सव्व जहण्णेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तद्धेण कालेण सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणं पढमसम्मत्तपाओग्ग सागरोवमपुधत्तमेत्त ट्ठिदि संतकम्म ठविय तिण्णि वि करणाणि पुणो पढमसम्मत्तं घेतूण। (धवल पु० ७ पृ० २३३) ताणं ट्ठिदीओ अंतोमुहुत्तेण घादिय सागरोवमादो सागरोवम-पुधत्तादो वा हेट्ठा किण्ण करेदी ? ण, पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-मेत्तायामेण अंतोमुहुत्तुक्कीरणकालेहि उव्वेल्लण खंडएहि घादिज्जमाणाए सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तट्ठिदीए पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागमेत्तकालेण विणा सागरोवमस्स व सागरोवमपुधत्तंस्स वा हेट्ठा पदणाणुववत्तीदो।" (धवल पु० ५ पृ० १०)

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व से गिरकर सासादन व मिथ्यात्व में आकर सम्यक्त्व और मिश्रप्रकृतियों का स्थितिसत्त्व, उद्वेलना के द्वारा, सागरोपम या सागरोपमपृथक्त्व या इससे कम हो जाता है, तब प्रथमोपशमसम्यक्त्व पुनः हो सकता है। इस स्थितिसत्त्व को करने में पल्योपम का असंख्यातवाँभाग काल लगता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त उत्कीर्णकाल वाले उद्वेलनाकांडकों से घात को प्राप्त होने वाली सम्यक्त्व और सम्यग्मि-

थ्यात्व प्रकृति का, पल्योपम के असंख्यातवेंभागमात्र काल के बिना सागरोपम के अथवा सागरोपमपृथक्त्व के नीचे पतन नहीं हो सकता।

—जै. ग. 25-5-78/VI/ मुनि श्रुतसागरजी मोरेना वाले

प्रथमोपशम सम्यक्त्वी के अनन्तानुबंधी की विसंयोजना के विषय में मतद्वय

शंका—क्या प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबंधी की विसंयोजना होना संभव है? यदि नहीं तो क० पा० पुस्तक २, पृष्ठ २३२ पर उपशमसम्यग्दृष्टि के २४ प्रकृति विभक्ति का स्थान क्यों बताया गया? क्या यह द्वितीयोपशमसम्यक्त्व की अपेक्षा से है, यदि प्रथमोपशमसम्यक्त्व की अपेक्षा से है तो पृ० ४३१ पर उपशम-सम्यग्दृष्टि को वृद्धि, हानि व अवस्थान पदों के न होने का नियम क्यों किया गया?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करता है या नहीं इस पर आचार्यों के दो मत हैं। एक आचार्य के मत के अनुसार प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी की विसंयोजना कर सकता है और दूसरे आचार्य के मतानुसार प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी की विसंयोजना नहीं कर सकता। यह दोनों ही मत ग्रहण करने योग्य हैं, क्योंकि वर्तमानकाल में केवली, श्रुतकेवली का अभाव होने के कारण ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे यह निर्णय किया जा सके कि इन दोनों में से अमुक उपदेश सूत्रानुसार है। इस विषय को स्वयं वीरसेनस्वामी ने क० पा० पु० २, पृष्ठ ४१७-४१८ पर विशद रूप से स्पष्ट किया है। पृष्ठ २२० पर विशेषार्थ में भी इस संबंध में लिखा गया है। विशेष के लिये उक्त प्रकरण ग्रन्थ से देखने चाहिये।

—जै. स. 24-7-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

प्रथम व द्वितीय उपशम सम्यक्त्व में से कब कौनसा सम्यक्त्व होता है?

शंका—धवल पु० ६ पृ० २४१—"जो जीव सम्यक्त्व से गिरकर जल्दी ही पुनः पुनः सम्यक्त्व को ग्रहण करता है वह सर्वोपशमना और देशोपशमना से भजनीय है।" प्रश्न यह है कि सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृति की उद्वेलना बिना सर्वोपशमना किस प्रकार संभव है? क्या द्वितीयोपशमसम्यक्त्व से अभिप्राय है?

समाधान—धवल पु० ६ पृ० २४१ पर जो गाथा ११ है वह क० पा० की गाथा १०४ है। इसका उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—

'भजिदव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण।"

अर्थात्—जो जीव सम्यक्त्व से गिरकर अभीक्ष्ण अर्थात् जल्दी ही पुनः पुनः सम्यक्त्व को ग्रहण करता है वह सर्वोपशम और देशोपशम स भजनीय है।

"तत्थ सव्वोवसमो णाम तिण्हं कम्माणमुदयाभावो। सम्मत्तदेसघादि-फद्दयाणमुदओ देसोवसमो त्ति भण्णदे।" (जयधवल)

यहाँ पर दर्शनमोहनीय की, सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृति इन तीनों प्रकृतियों के उदयाभाव को सर्वोपशम कहते हैं। देशघातिरूप सम्यक्त्वप्रकृति के उदय को देशोपशमना कहते हैं। अर्थात सर्वोपशम से अभिप्राय उपशमसम्यक्त्व का है और देशोपशमना का अभिप्राय क्षयोपशमसम्यक्त्व से है।

सम्यक्त्व से गिरने के पश्चात् जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व हो सकता है, द्वितीयोपशमसम्यक्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि द्वितीयोपशमसम्यक्त्व क्षयोपशमसम्यक्त्व से होता है और प्रथमोपशमसम्यक्त्व को मिथ्यात्वी प्राप्त करता है। अतः यहाँ पर सर्वोपशमना से अभिप्राय प्रथमोपशमसम्यक्त्व का है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व से गिरकर जब तक सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति को उद्वेलना के द्वारा, सागरोपमपृथक्त्व से नीचे नहीं करता उस समय तक उसको पुनः प्रथमोपशमसम्यक्त्व नहीं हो सकता है और पल्योपम के असंख्यातवेंभागमात्र काल के बिना, सम्यक्त्व व मिश्रप्रकृति की स्थिति का सागरोपमपृथक्त्व काल से नीचे पतन नहीं हो सकता है, अतः पल्योपम के असंख्यातवेंभाग के पश्चात् ही पुनः प्रथमोपशमसम्यक्त्व होना संभव है। कहा भी है—

"उवसमसम्माइट्ठी मिच्छत्तं गंतूण सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ताणि उव्वेल्लमाणो तेसिमंतोकोडाकोडीमेत्तट्ठिदिं घादिय सागरोवम पुधत्तादो जाव हेट्ठा ण करेदि ताव ताव उवसमसम्मत्तगहणसंभवाभावा। पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तकालेण विणा सागरोवमपुधत्तस्स हेट्ठा पदणाणुववत्तीदो।" (धवल पु० ५ पृ० १०)

इसका अभिप्राय ऊपर कहा जा चुका है।

अर्धपुद्गल-परिवर्तन काल की अपेक्षा पल्यका असंख्यातवाँभाग बहुत अल्प है, अतः प्रथमोपशमसम्यक्त्व को भी पुनः पुनः अतिशीघ्र होना कहा गया है।

—जै. ग. 24-4-69/V/ र. ला. जैन

(१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व एक भव में कई बार हो सकता है
(२) उद्वेलना काण्डक के द्वारा स्थिति घात होते हैं

शंका—धवल पु० ६ पृ० २४१ पर "उपशमसम्यक्त्व पुनः पुनः होता है सर्वोपशम व देशोपशम से भजनीय है" ऐसा लिखा है। किन्तु प्रथमोपशमसम्यक्त्व तो पल्य के असंख्यातवें भाग पश्चात् होता है, एकभव में एक ही बार संभव है। सो प्रथमोपशमसम्यक्त्व पुनः पुनः कैसे हो सकता है ?

समाधान—धवल पु० ६ पृ० २४१ पर जो गाथा उद्धृत की गई वह कषायपाहुड की गाथा नं० १०४ है। क्षयोपशमसम्यग्दर्शन तो छूटने से एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् हो सकता है इसलिए कर्मभूमियामनुष्य या तिर्यंच के एकभव में कई बार हो सकता है, किन्तु प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन का जघन्य अन्तरकाल भी पल्य का असंख्यातवाँभाग अर्थात् असंख्यातवर्ष है जैसा धवल पु० ५ पृ० १० पर कहा है—

"उपशमसम्यग्दृष्टिजीव मिथ्यात्व को प्राप्त होकर, सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की उद्वेलना करता हुआ, उनकी अंतःकोड़ाकोड़ीप्रमाण स्थिति को घात करके सागरोपम से अथवा सागरोपमपृथक्त्व से जब तक नीचे नहीं करता है तब तक उपशमसम्यक्त्व का ग्रहण करना ही संभव नहीं है। पल्योपम के असंख्यातवेंभागमात्र स्थिति का एक उद्वेलनाकांडक के द्वारा घात होता है। अन्तर्मुहूर्त उत्कीर्णकालवाले उद्वेलनाकांडकोंसे घात की जानेवाली *सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति का पल्योपम के असंख्यातवेंभागमात्र काल के बिना* सागरोपम के अथवा सागरोपमपृथक्त्व के नीचे पतन नहीं हो सकता है।"

इसलिए *कर्मभूमिया के एकभव में प्रथमोपशमसम्यक्त्व होना असंभव है, किन्तु पल्योपम आयुवाले भोग*भूमिया मनुष्य व तिर्यंच तथा सागरोपम आयुवाले देव व नारकियों के प्रथमोपशमसम्यक्त्व भी एक भव में कई बार

हो सकता है। अतः उनकी अपेक्षा सर्वोपशमसम्यक्त्व भी पुनः पुनः होता है, ऐसा लिखा गया है। ये जीव कर्मभूमियामनुष्यों से असंख्यातगुणे हैं। इसलिए इन असंख्यातवर्ष आयुवालों की अपेक्षा से कथन करना अनुचित भी नहीं है, क्योंकि हम अल्प आयुवाले कर्मभूमिया हैं इसलिए इस कथन को पढ़ते समय हमारी दृष्टि असंख्यातवर्ष आयु वाले जीवों पर नहीं जाती और शंका उत्पन्न हो जाती है।

—जै. ग. 14-12-67/VIII/ र. ला. जैन

प्रथमबार सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद मिथ्यात्व में जाने का नियम नहीं

शंका—अनादिमिथ्यादृष्टि के उपशमसम्यक्त्व होने के पश्चात् नियम से मिथ्यात्व होगा या नहीं ? जिसने द्वितीय या तृतीय बार उपशमसम्यक्त्व प्राप्त किया है, ऐसे सादिमिथ्यादृष्टिजीव के उपशमसम्यक्त्व के पश्चात् मिथ्यात्व ही होगा या क्षयोपशम भी हो सकता है ?

समाधान—अनादिमिथ्यादृष्टि के उपशमसम्यक्त्व होने के पश्चात् मिथ्यात्व ही होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। धवल पु० ५ पृ० १९ पर कहा भी है—

"एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव ने तीनों ही करण करके उपशमसम्यक्त्व और संयम को एक साथ प्राप्त होने के प्रथम समय में ही अनन्तसंसार को छेदकर अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र करके अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण अप्रमत्तसंयत के काल का अनुपालन किया, पीछे प्रमत्तसंयत हुआ, पुनः वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त हो द्वितीयोपशमसम्यक्त्व को ग्रहणकर, सहस्रों प्रमत्त-अप्रमत्तपरिवर्तनों को करके उपशमश्रेणी के योग्य अप्रमत्त-संयत हो गया, पुनः अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय उपशांतकषाय हो गया।"

इस में यह बतलाया गया है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त कर मिथ्यात्व में नहीं गया, किन्तु क्रमशः क्षयोपशम व द्वितीयोपशमसम्यक्त्वी होकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँच गया।

ज० ध० पु० ९ पृ० ३०९–३१० पर तो अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यक्त्व के पश्चात् वेदक व क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति बतलाई गई है, जो इस प्रकार है—

"अनादिमिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व को उत्पन्न करने पर अन्तर्मुहूर्तकाल तक गुणसंक्रमण होता है, उसके बाद विध्यातसंक्रमण को प्राप्त हुए उसके निरंतर अल्पतरसंक्रमण अंतर्मुहूर्त प्रमाण उपशमसम्यक्त्व का काल शेष रहने तक तथा कुछ कम छ्यासठसागरप्रमाण वेदकसम्यक्त्व के काल के पूर्ण होने तक होता रहता है। उसमें वेदकसम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त काल के शेष रहने पर क्षपणा (क्षायिकसम्यक्त्व) के लिये उद्यत हुए उसके अपूर्वकरण (दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा के लिए अपूर्वकरण) के प्रथमसमय में गुणसंक्रमण का प्रारम्भ होने से अल्पतरसंक्रमण का अन्त होता है।"

इससे सिद्ध होता है कि अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होने के पश्चात् मिथ्यात्व में जाने का नियम नहीं है, किन्तु वह वेदकसम्यग्दृष्टि होकर क्षायिकसम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।

धवल पु० २ पृ० ५६६ तथा पु० ६ पृ० २४२ व कषायपाहुड़ सुत्त आदि में अशुद्ध अर्थ होने के कारण यह भ्रम हो जाता है कि अनादिमिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् नियम से मिथ्यात्व में जाता है, किन्तु उपर्युक्त आर्षग्रन्थों से यह सिद्ध होता है कि ऐसा नियम नहीं है।

सादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यक्त्व के पश्चात् क्षयोपशमसम्यक्त्व हो सकता है इसमें भी कोई बाधा नहीं है।

—जै. ग. 7-12-67/VII/ र. ला. जैन

प्रथमबार सम्यक्त्व लाभ के बाद मिथ्यात्व में जाना जरूरी नहीं

शंका—ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन पृ० ११२ पर भावार्थ में श्री पं० कैलाशचन्द्रजी ने लिखा है कि—"अनादिमिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्तकाल पूरा होने पर नियम से मिथ्यात्व में ही आता है।" क्या यह ठीक है ?

समाधान—ऐसा लिखना ठीक नहीं है। अनादिमिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न करके मिथ्यात्व में जाता है, ऐसा नियम नहीं है, जैसा कि जयधवल के निम्न कथन से ज्ञात होगा।

"अणादियमिच्छाइट्ठिणा सम्मत्ते समुप्पाइदे अंतोमुहुत्तकालं गुणसंकमो होदि, तदो विज्झादे पदिदस्स णिरंतरमप्पयरसंकमो होदूण गच्छदि जावंतो मुहुत्तमेत्तुवसमसम्मत्तकालसेसो वेदगसम्मत्तकालो च देसूण छावट्ठि-सागरोवम्मेत्तो त्ति। तत्थंतो मुहुत्तसेसे वेदगसम्मत्तकाले खवणाए अब्भुट्ठिदस्सापुव्वकरणपढमसमए गुणसंकमपारंभेणा-प्पयरसंकमस्स पज्जवसाणं होइ।" (जयधवल पु० ९ पृ० १०८)

"अणादिय मिच्छाइट्ठिउवसमसम्मत्तमुप्पाइय गुणसंकमकाले वोलीणे विज्झाद संकमेणप्पयरवारंभं काढूण वेदयसम्मत्तं पडिवज्जिय अंतोमुहुत्तूण छावट्ठिसागरोवमाणि परिभमिय दंसणमोहक्खवणाए अब्भुट्ठिदो तस्सापुव्वकरण-पढमसमए गुणसंकमपारंभेण अप्पयरसंकमस्साभावो जादो।" (जयधवल पु० ९ पृ० ३१४)

जयधवल के इन दोनों स्थलों पर बतलाया गया है कि अनादिमिथ्यादृष्टिजीव ने प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न किया, अन्तर्मुहूर्त काल प्रथमोपशमसम्यक्त्व में रहकर वेदकसम्यग्दृष्टि होगया, अन्तर्मुहूर्त कम छ्यासठसागर तक वेदक सम्यक्त्व के साथ रहकर दर्शनमोहनीय की क्षपणा के लिये उद्यत हुआ और अपूर्वकरण में गुणसंक्रमण प्रारम्भ हो गया।

इसप्रकार अनादिमिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्व में न जाकर वेदकसम्यक्त्व उत्पन्न करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो गया।

श्री गुणधराचार्य प्रणीत कषायपाहुड की निम्न गाथा के अर्थ में विपर्यास के कारण श्री पं० कैलाशचन्द्रजी ने लिख दिया कि 'अनादिमिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करके नियम से मिथ्यात्व में आता है। किन्तु ऐसा नियम नहीं है।

सम्मत्तपढमलंभस्सऽणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं।
लंभस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छदो होदि ॥१०५॥

जयधवल टीका—सम्मत्तस्स जो पढमलंभो अणादियमिच्छाइट्ठिविसओ तस्साणंतरं पच्छदो अणंतर पच्छि-मावत्थाए मिच्छत्तमेव होइ। तत्थ जाव पढमट्ठिदि चरिमसमओ त्ति ताव मिच्छत्तोदयं मोत्तूण पयारंतरासंभवादो।

संजमस्स अपढमस्स दु जो खलु अपढमो सम्मत्तपडिलंभो तस्स पच्छदो मिच्छत्तोदयो भजियव्वो होइ। (ज० ध० १२।३१७)

अर्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि के जो प्रथमबार सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, इसके अनन्तरपूर्वअवस्था में मिथ्यात्व का ही उदय रहता है, क्योंकि उसके प्रथमस्थिति के अन्तिमसमय तक मिथ्यात्वोदय के अतिरिक्त सम्यक्त्वप्रकृति आदि के उदय की संभावना नहीं है, परन्तु जब दूसरी आदि बार सम्यक्त्व प्राप्त होता है तब अनन्तरपूर्वअवस्था में मिथ्यात्व का उदय भजितव्य है अर्थात् मिथ्यात्व का भी उदय हो सकता है और कदाचित् सम्यग्मिथ्यात्व का भी उदय हो सकता है।

यहाँ पर 'पच्छदो' का अर्थ पूर्व है। धवल पु० १ पृ० ४०८; पु० ४ पृ० ३४९; ज० ध० पु० ७ पृ० ३२० पर भी 'पच्छाद' का अर्थ पूर्व किया गया है।

—जै. ग. 28-12-72/VII/ क. दे.

(१) उद्वेलनाकाण्डक का प्रकथन
(२) २८ प्रकृतियों के सत्त्व वाला मिथ्यात्वी भी प्रथम सम्यक्त्व पा सकता है

शंका—२६ प्रकृति की सत्तावाले मिथ्यादृष्टि के उपशमसम्यक्त्व पल्योपम के असंख्यातवेंभाग काल व्यतीत हो जाने पर पुनः होता है, ऐसा ध० पाँचवीं पुस्तक में लिखा है। प्रश्न यह है कि २८ प्रकृति की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि भी क्या इतने ही काल के व्यतीत होने पर उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करेगा या पहले भी ?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्वगुणस्थान में पहुँचने पर सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की उद्वेलना प्रारंभ करता है। प्रत्येक उद्वेलनाकाण्डक में पल्य के असंख्यातवेंभाग सम्यक्त्व व मिश्रप्रकृति की स्थिति का सत्त्व कम होता जाता है। एक उद्वेलनाकाण्डक का उत्कीर्णकाल अन्तर्मुहूर्त है। असंख्यातउद्वेलनाकाण्डकों के द्वारा अर्थात् पल्यके असंख्यातवेंभाग काल के द्वारा सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर से घटकर पृथक्त्वसागर या एक सागर रह जाती है, तब यह जीव पुनः प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन उत्पन्न करने के योग्य होता है। सम्यक्त्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की जब तक एक-सागर स्थिति न रह जावे उस समय तक क्षयोपशमसम्यक्त्व तो हो सकता है, किन्तु प्रथमोपशमसम्यक्त्व नहीं हो सकता है। इसप्रकार सम्यक्त्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की एकसागर या पृथक्त्वसागर की स्थिति सत्तावाला अर्थात् मोहनीय की २८ प्रकृतियों का सत्तावाला मिथ्यादृष्टिजीव भी पल्योपम के असंख्यातवाँ काल व्यतीत होने से पूर्व पुनः प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रथमोपशमसम्यक्त्व का जघन्य अन्तर भी पल्योपम का असंख्यातवाँभाग है। इस सम्बन्ध में धवल पु० ५ पृ० १० देखना चाहिये।

—जै. ग. 7-12-67/VII/ र. ला. जैन

उपशम सम्यक्त्व से सीधा क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता

शंका—क्या उपशमसम्यग्दर्शन से सीधा क्षायिकसम्यग्दर्शन हो सकता है ?

समाधान—उपशमसम्यग्दर्शन से क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। उपशमसम्यग्दर्शन से क्षयोपशम-सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् उपशमसम्यग्दर्शन का काल समाप्त हो जाने पर सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने से क्षयोप-

शमसम्यग्दर्शन होता है। क्षयोपशमसम्यग्दर्शन में तीन करणों के द्वारा प्रथम अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसंयोजना करता है। पुनः तीन करणों द्वारा मिथ्यात्वप्रकृति का क्षय करता है, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का क्षय करता है उसके पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति क्षय करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो जाता है।

—जै. ग. 21-11-63/IX/ ब्र. प. ला.

प्रथमोपशम सम्यक्त्वी के निर्जरा की अवधि

शंका—प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि को प्रथम अन्तर्मुहूर्त में असंख्यातगुणी निर्जरा कही, परन्तु उसके बाद रुक जाती है। क्या कारण है?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन होने पर एक अन्तर्मुहूर्त तक परिणामों में प्रतिसमय विशुद्धता अधिक-अधिक होती जाती है। उसके पश्चात् विशुद्धता में उत्तरोत्तर वृद्धि होने का नियम नहीं। अतः प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन होने के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त तक ही असंख्यातगुणी निर्जरा कही।

—जै. ग. 31-10-63/IX/ आदिसागर

देवों में सम्यक्दर्शन की उत्पत्ति के कारण

शंका—देवों के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाह्य निमित्तों में बारहवें स्वर्ग तक देव-ऋद्धि दर्शन को भी कारण कहा है। १३ वें से १६ वें स्वर्ग तक देवों में भी किल्विषक आदि देव पाए जाते हैं तो वहाँ पर देव-ऋद्धि दर्शन को कारण क्यों नहीं कहा?

समाधान—आनत आदि चार कल्पों में अर्थात् १३ वें से १६ वें तक स्वर्गों में महर्द्धिसम्पन्न ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता, इसलिए वहाँ महर्द्धिदर्शनरूप प्रथमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं पाया जाता और उन्हीं कल्पों में स्थित देवों की महर्द्धि का दर्शन प्रथमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त हो नहीं सकता, क्योंकि उसी ऋद्धि को बार-बार देखने से विस्मय नहीं होता। अथवा उक्त कल्पों में शुक्ललेश्या के सद्भाव के कारण महर्द्धिदर्शन से कोई सक्लेशभाव उत्पन्न नहीं होते। (धवल पु० ६ पृ० ४३५) अतः बारहवें आदि चार स्वर्गों में देवर्द्धिदर्शन को प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण नहीं कहा है।

—जै. ग. 8-2-62/VI/ मू. च. छ. ला.

जन्म के मुहूर्तपृथक्त्व पश्चात् तिर्यंच सम्यक्त्व पा सकता है

शंका—उपासकाध्ययन पृ० १०७ पर भावार्थ में श्री पंडित कैलाशचन्दजी ने लिखा है—"तिर्यंचगति में जन्म लेने के आठ-नौ दिन बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है।" क्या ऐसा सम्भव है?

समाधान—तिर्यंचगति में जन्म लेने से मुहूर्तपृथक्त्व के पश्चात् ही वेदकसम्यक्त्व हो सकता है। श्री वीरसेन आचार्य ने धवल ग्रन्थराज में कहा भी है—

"तिरिक्खस्स मणुस्सस्स वा अट्ठावीससंतकम्मिय मिच्छाविट्ठिस्स देवुत्तरकुरु पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु उप्पज्जिय बे मासे गब्भे अच्छिदूण णिक्खंतस्स मुहुत्तपुधत्तेण विसुद्धो होदूण वेदगसम्मत्तं पडिवज्जिय।' (धवल ४ पृ० ३७०)

मोहकर्म की अट्ठाईसप्रकृतियों की सत्तावाला मिथ्यादृष्टि तिर्यंच अथवा मनुष्य देवकुरु अथवा उत्तरकुरु के पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिमतियों में उत्पन्न हुआ और दोमास गर्भ में रहकर जन्म लेकर मुहूर्तपृथक्त्व से विशुद्ध होकर वेदकसम्यग्दृष्टि हो गया।

इसी प्रकार धवल पु० ४ पृ० ३७१ सूत्र ६४ की टीका में संयमासंयम का कथन करते हुए लिखा है—"बे मासे अंतोमुहुत्तेहि ऊणिया त्ति वत्तव्वं।" इससे भी यही ज्ञात होता है कि कर्मभूमिया का तिर्यंच भी दोमास गर्भ में रहकर, जन्म लेकर पृथक्त्वअंतर्मुहूर्त पश्चात् सम्यक्त्व व संयमासंयम को धारण कर सकता है।

श्री पं० कैलाशचन्दजी ने 'तिर्यंचगति में जन्म लेने के आठ-नौ दिन बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है' किस आधार पर लिख दिया, समझ में नहीं आता है। [1]सम्भव है पृथक्त्वमुहूर्त की बजाय पृथक्त्वदिवस की धारणा के कारण ऐसा लिखा गया हो, किन्तु उनका ऐसा लिखना आर्ष अनुकूल नहीं है।

—जै. ग. 4-1-73/V/ कमलादेवी

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वी श्रेणी-आरोहण अवश्य करता है

शंका—द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि क्या नियम से उपशमश्रेणी चढ़ेगा या आठवें गुणस्थान से पूर्व भी द्वितीयोपशमसम्यक्त्व छूट जाता है ?

समाधान—द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी पर अवश्य आरोहण करेगा। अपूर्वकरणगुणस्थान अर्थात् आठवें गुणस्थान के प्रथमभाग के पश्चात् उसका मरण हो सकता है। आठवें गुणस्थान से पूर्व द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन छूटना सम्भव नहीं है। यदि बीच में मरण नहीं होता है तो द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि उपशांतमोह गुणस्थान में नियम से पहुँचेगा। भव-क्षय या उपशमनकाल-क्षय इन दो कारणों से उपशांतकषाय गुणस्थान से गिरता है।

"उवसंतकसायस्स पडिवादो दुविहो भवक्खयणिबंधणो उवसामणद्धाक्खयणिबंधणो चेदि।" (धवल पु० ६ पृ० ३१७)

अर्थ—उपशांतकषाय का प्रतिपात दो प्रकारका है, भवक्षय-निबन्धन और उपशमनकालक्षय-निबन्धन।

—जै. ग. 26-12-68/VII/ मगनमाला

---

१. ध्यान रखना चाहिए कि गर्भज तिर्यंच जो प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्राप्त करते हैं वे भी जन्म के बाद बहुत से दिवसपृथक्त्व (यानी अनेक बार सात-आठ दिवस समूह) व्यतीत होने पर ही प्रथमसम्यक्त्व ग्रहण के योग्य होते हैं; एक मात्र ७-८ दिन व्यतीत होने के बाद ही नहीं।

वेदकसम्यक्त्व तिर्यंचों में जन्म के मुहूर्तपृथक्त्व बाद ही हो जाता है। (ध० ६ । ४२६)

—सम्पादक

सम्यक्त्वमार्गणा

क्षयोपशम/वेदकसम्यक्त्व

वेदकसम्यक्त्व के पूर्व तीन करण नहीं

शंका—सादिमिथ्यादृष्टि जब क्षयोपशमसम्यक्त्व ग्रहण करता है तब तीनकरण करता है या नहीं ?

समाधान—सादिमिथ्यादृष्टिजीव को क्षयोपशमसम्यक्त्व से पूर्व तीनकरण करने की आवश्यकता नहीं है। ज० ध० पु० ३ पृ० १९५ पर कहा है—

"अट्ठावीस संत कम्मिय मिच्छाइट्ठिणा बद्धमिच्छत्त‌ुक्कस्स ट्ठिदिणा अंतोमुहुत्तपडिहग्गेण पुणो सम्मत्तग्गहण-पढमसमए चेव पडिग्गहकालेणूण सत्तरिसागरोवमकोडाकोडी मेत्त मिच्छत्तट्ठिदीए सम्मत्त सम्मामिच्छत्तेसु संकामि-दाए सम्मत्त सम्मामिच्छत्ताणमुक्कस्स अद्धाछेदो होदि।"

अर्थ—अट्ठाईसप्रकृतियों की सत्तावाला मिथ्यादृष्टिजीव जब उत्कृष्टस्थिति के साथ मिथ्यात्वकर्म को बांध-कर उत्कृष्टस्थितिबंध के योग्य उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामों से निवृत्त होने में लगनेवाले अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालके द्वारा पुनः सम्यक्त्वके ग्रहण करने के प्रथमसमय में ही उक्त प्रतिभग्नकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण से न्यून सत्तरकोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण मिथ्यात्व की स्थिति को सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वमें संक्रांत कर देता है, तब सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्या-त्वका उत्कृष्टअद्धाच्छेद होता है।

इससे सिद्ध होता है कि क्षयोपशमसम्यक्त्व से पूर्व तीनकरण नहीं होते अन्यथा सम्यक्त्व और सम्यग्मि-थ्यात्व की उत्कृष्टस्थिति अन्तर्मुहूर्त कम सत्तरकोड़ाकोड़ी सम्भव नहीं हो सकती।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/ र. ला. जैन

क्षयोपशम सम्यक्त्व के सात भेद

शंका—पं० दौलतरामजी ने क्रियाकोष में क्षयोपशमसम्यक्त्व के सात भेद कहे हैं, सो कैसे ?

समाधान—पं० दौलतरामजी ने ही नहीं, किन्तु पं० बनारसीदासजी ने भी क्षयोपशमसम्यग्दर्शन के सात भेद कहे हैं तथापि आगम में क्षयोपशमसम्यग्दर्शन के वेदक व कृतकृत्यवेदक ऐसे दो भेद कहे हैं। फिर भी उन सात भेदों को इस प्रकार घटित करने का प्रयास किया जा सकता है—

१—उपशमसम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति की उदीरणा होकर उदय हो जानेपर मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतियों की उदीरणा न होने से उदयावलि में मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व के द्रव्यका अभाव होने से वहाँपर इन दो प्रकृतियों का उदयाभावीक्षय नहीं पाया जाता, किन्तु उपशम पाया जाता है। (धवल पु० १ पृ० १६९/१७२)

२—मिथ्यात्वगुणस्थान से क्षयोपशमसम्यग्दर्शन को प्राप्त होनेवाले जीव के मिथ्यात्व व मिश्रप्रकृति का उदयाभावीक्षय सदवस्थारूप उपशम होता है।

३—क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि जब अनन्तानुबन्धी का क्षय कर देता है तो उसके मोहनीयकर्म की २४ प्रकृतियों की सत्ता रह जाती है।

४—मोहनीयकर्म की २४ प्रकृतिक सत्तावाला क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिजीव क्षायिकसम्यग्दर्शन के अभिमुख जब मिथ्यात्वप्रकृति का क्षय कर देता है उसके मोहनीयकर्म की २३ प्रकृति की सत्ता रह जाती है।

५—२३ प्रकृति की सत्तावाला क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि जब सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का भी क्षय कर देता है तब उसके मोहनीयकर्म की २२ प्रकृति की सत्ता रह जाती है।

ये पांच भेद क्षयोपशमसम्यग्दर्शन की अपेक्षा से हुए।

सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान में भी दर्शनमोह की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव कहा है (धवल पु० ५ पृ० १९८) अतः दो भेद सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान की अपेक्षा बन जाते हैं।

६—मोहनीयकर्म की २८ प्रकृति की सत्तावाला जीव सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान को प्राप्त होता है उसकी २८ प्रकृति का सत्त्व होता है।

७—अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना करके २४ प्रकृति की सत्तावाला सम्यग्दृष्टिजीव जब सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान को प्राप्त होता है उसके मोहनीयकर्म की २४ प्रकृति की सत्ता होती है।

राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ५ वार्तिक ९ की टीका में कहा भी है, क्षयोपशमसम्यक्त्व के ग्रहण करने से सम्यग्मिथ्यात्वका भी ग्रहण हो जाता है।

—जै. ग. 13-6-63/IX/ स. म.

क्षयोपशम सम्यक्त्व में अनिवृत्तिकरण तथा गुणश्रेणी नहीं

शंका—क्षयोपशमसम्यक्त्व में अनिवृत्तिकरण तथा गुणश्रेणी क्यों नहीं होती ?

समाधान—क्षयोपशमसम्यक्त्व निर्मल नहीं है। सम्यक्त्वप्रकृति के उदय के कारण चल-मल-अगाढ़ दोष लगते रहते हैं। क्षयोपशमसम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए परिणामों में इतनी विशुद्धता नहीं होती जितनी उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त करने के समय होती है। अतः क्षयोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय अनिवृत्तिकरण तथा गुण-श्रेणी नहीं होती।

—पत्राचार / ब. प्र. स. पटना

क्षायोपशम सम्यक्त्वी वीतराग सम्यक्त्वी नहीं है

शंका—मई १९६५ के सन्मतिसंदेश पृ० ६३ पर श्री पं० फूलचन्दजी ने लिखा है—"दर्शनमोहनीयकी तीन और अनन्तानुबन्धी आदि चार इन सातप्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम होनेपर स्वभावसन्मुख हुए आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह वीतरागसम्यक्त्व है।" क्या क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के भी वीतरागसम्यक्त्व हो सकता है ?

समाधान—श्री अकलंकदेव ने लिखा है कि सातप्रकृतियों के अत्यन्त अपगम ही जानेपर जो आत्मविशुद्धि होती है वह वीतरागसम्यक्त्व है।

"सप्तानां कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते।" (रा० वा० १।२।३१)

अर्थात्—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धीक्रोध-मान-माया-लोभ इन सातकर्मप्रकृतियों के आत्यन्तिक अपगम होजाने पर जो आत्मविशुद्धि होती है वह वीतरागसम्यक्त्व है।

क्षयोपशमसम्यग्दर्शन में सम्यक्त्वप्रकृति का उदय रहता है इसलिये सातकर्मप्रकृतियों का आत्यन्तिक अपगम नहीं होता अतः क्षयोपशम-सम्यग्दृष्टि के वीतरागसम्यक्त्व नहीं होता है।

—जै. ग. 1-7-65/VII/ ......

सम्मूर्च्छनों को वेदकसम्यक्त्व व पंचमगुणस्थान हो सकते हैं

शंका—क्या सम्मूर्च्छनजीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है? यदि हो सकता है तो वह कौनसा जीव है?

समाधान—मच्छ, कच्छप, मेंढकादि संमूर्च्छनसंज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्ततिर्यञ्चों के वेदकसम्यग्दर्शन हो सकता है।[1] कहा भी है—

"एक्को तिरिक्खो मणुस्सो वा मिच्छाइट्ठी अट्ठावीससंतकम्मिओ सण्णिपंचिदिय-तिरिक्खसंमुच्छिमपज्जत्त-मंडूक-कच्छ-मच्छयादीसु उववण्णो। छहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो १. विस्संतो २. विसुद्धो ३. संजमासंजमं पडिवण्णो। एदेहितीहि अंतमुहुत्तेहि ऊणपुव्वकोडिकालं संजमासंजममणुपालिदूण मदो देवो जादो।" (धवल पु० ४ पृ० ३६६)

मोहकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाला एक तिर्यंच या मनुष्य मिथ्यादृष्टि, संज्ञीपंचेन्द्रियसम्मूर्च्छिम पर्याप्त मंडूक, कच्छप आदि तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ। छहों पर्याप्तियों से पर्याप्त होता हुआ। १. विश्राम लेकर २. और विशुद्ध होकर ३. संयमासंयम को प्राप्त हुआ। इन तीन अन्तर्मुहूर्तों से कम पूर्वकोटि कालप्रमाण संयमासंयम को परिपालन करके मरा और देव हो गया। इसप्रकार सम्मूर्च्छिमतिर्यंच के भी देशोन पूर्वकोटिकाल तक सम्यक्त्व तथा संयम सिद्ध हुआ।

—जै. ग. 10-2-72/VII/ इन्द्रसेन

शंकादिक २५ दोष वेदकसम्यक्त्व में ही कदाचित् लगते हैं

शंका—क्षयोपशमसम्यक्त्व में शंकादि दोष लगते हैं या व्यवहारसम्यक्त्व में लगते हैं? यदि व्यवहार-सम्यक्त्व में लगते हैं तो व्यवहारसम्यक्त्व ही नहीं है।

समाधान—सर्वप्रथम व्यवहारसम्यग्दर्शन व निश्चयसम्यग्दर्शन के स्वरूप का विचार किया जाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इसप्रकार कहा है—

---

१. सम्मूर्च्छन जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व नहीं प्राप्त करते (ध. ६/४२८)   —सम्पादक

जीवादी सद्दहणं सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्त ॥२०॥ दर्शनपाहुड

अर्थ—जीवादि कहे जे पदार्थ तिनका श्रद्धान सो तो व्यवहारतें सम्यक्त्व जिन भगवान ने कहा है बहुरि निश्चयतें अपना आत्मा ही का श्रद्धान सो सम्यक्त्व है ।

अथ व्यवहार सम्यग्दर्शनं कथ्यते —

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावदो भावे ।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदि जुत्ते ॥ पं. का. गा. १०७ ।

अर्थ—इसप्रकार वीतरागसर्वज्ञ द्वारा कहे हुए पदार्थों को रुचिपूर्वक श्रद्धान करनेवाले भव्यजीव के ज्ञान में सम्यग्दर्शन उचित होता है । (यह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है)

नियमसार में व्यवहारसम्यग्दर्शन को इसप्रकार कहा है—'अत्तागमतच्चाणं, सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ।' अर्थात्—आप्तआगम व तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन होता है ।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ में भी व्यवहारसम्यग्दर्शन का लक्षण इसप्रकार कहा है—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि ॥४१॥

अर्थ—जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान वह तो सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है । तथा इस सम्यक्त्व के होने पर संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय इन तीनों दुरभिनिवेशों से रहित सम्यग्ज्ञान होता है ।

इस गाथा की टीका में लिखा है 'तीनमूढता, आठमद, छहअनायतन और शंकादिरूप आठदोषों से रहित तथा शुद्ध जीवादि तत्त्वों के श्रद्धानरूप सरागसम्यक्त्व नामक व्यवहारसम्यक्त्व जानना चाहिए । और इसीप्रकार उसी व्यवहारसम्यक्त्व द्वारा परम्परा से साधने योग्य शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लादरूप सुखामृतरस का आस्वादन ही उपादेय है, इंद्रियजन्यसुख आदिक हेय हैं ऐसी रूचिरूप तथा वीतराग-चारित्र के बिना न होनेवाला वीतरागसम्यक्त्व नामक निश्चयसम्यक्त्व जानना चाहिये ।'

इसीप्रकार समयसार की टीका में श्रीमद्जयसेनाचार्य ने निश्चयचारित्र का अविनाभावी वीतरागसम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्व है ऐसा कहा है । गाथा १३ की उत्थानिका ।

व्यवहारसम्यक्त्व में भी मिथ्यात्वकर्म का उदय नहीं होता और यह व्यवहारसम्यक्त्व निश्चयसम्यक्त्व का बीज है । पं. का. गाथा १०७ की टीका में श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने कहा भी है—"भावाः खलु कालकलित-पंचास्तिकायविकल्परूपा नवपदार्थास्तेषां मिथ्यादर्शनोदयापादिताश्रद्धानाभावस्वभावं, भावांतरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजं ।"

इन उपर्युक्त आगमप्रमाणों के अनुसार २५ दोष व्यवहार व निश्चय दोनों सम्यग्दर्शन में नहीं लगते हैं । इस ही को रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इसप्रकार कहा है—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं, दर्शनं जन्म-संततिम् ।
न ही मंत्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम् ॥२१॥

अर्थ—अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्ममरण की परम्परा का नाश नहीं कर सकता जैसा कि हीन अक्षरवाला मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा २२ की उत्थानिकारूप से संस्कृत टीका में कहा है—'परिपूर्ण अङ्ग वाले सम्यग्दर्शन के होते हुए भी जब तक मूढ़भाव दूर न किया जायगा तब तक वह संसार का नाश नहीं कर सकता।' २५ दोषरहित सम्यग्दर्शन संसारसंतति को छेदने में कारण है।

मोक्षशास्त्र, अध्याय सात, सूत्र २३ में सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों का कथन है, इन पाँच अतिचारों में २५ दोष आ जाते हैं। गृहस्थ व मुनि दोनों के सम्यक्त्व में ये पाँचअतिचार दर्शनमोह के उदय से लगते हैं। (त० रा० वा० अ० ७, सूत्र २३-वार्तिक २ व ३ टीका)। दर्शनमोहका उदय क्षयोपशमसम्यक्त्व में होता है। उपशम व क्षायिकसम्यक्त्व में दर्शनमोह का उदय नहीं होता है। अतः २५ दोष क्षयोपशमसम्यक्त्व में ही संभव हैं। गोम्मटसारजीवकाण्ड गाथा २५ में भी वेदक अर्थात् क्षयोपशमसम्यक्त्व के 'चल' 'मलिन' और 'अगाढ़' तीन दोष बताये हैं। किन्तु क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के ये २५ दोष हर समय नहीं लगते। मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार ९ में कहा है 'बहुरि सम्यक्त्व विषै पचीस मल कहे हैं। आठ शंकादिक, आठ मद, तीन मूढ़ता, षट् अनायतन, सो ए सम्यक्त्वी कै न होय। कदाचित् काहू के मल लागे सम्यक्त्व का नाश न होय है, तहाँ सम्यक्त्व मलिन ही होय है।' यदि क्षयोपशमसम्यक्त्व में दर्शनमोह के उदय से ये पच्चीस दोष सदा लगते रहते तो क्षयोपशमसम्यक्त्व में तीर्थंकर-प्रकृति का बंध न होता, क्योंकि तीर्थंकरप्रकृति का बंध दर्शनविशुद्धि भावना के द्वारा होता है। सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में 'दर्शनविशुद्धि' का अर्थ 'पचीस दोषों से रहित व अष्टअंगसहित सम्यक्त्व' कहा है। गोम्मटसारकर्मकांड गाथा ९३ में क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के तीर्थंकर का बंध कहा है।

इस सबका सारांश यह है कि पच्चीस दोष क्षयोपशमसम्यक्त्व में दर्शनमोह की सम्यक्त्वप्रकृति के तीव्र उदय में कदाचित् लगते हैं जिनसे सम्यक्त्व मलिन हो गया है।

—जै. 16-1-58

वेदकसम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल

शंका—वेदक सम्यक्त्व का काल १३२ सागर किस प्रकार सम्भव है?

समाधान—वेदकसम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर है, १३२ सागर नहीं है। अन्तर्मुहूर्त कम ६६ सागर तक वेदकसम्यग्दृष्टि रहकर एक अन्तर्मुहूर्त तक मिश्रगुणस्थान में आकर पुनः ६६ सागर के लिये वेदक-सम्यग्दृष्टि हो सकता है। धवल पु० ५ पृ० ६ पर कहा है—

कोई एक तिर्यंच अथवा मनुष्य चौदहसागरोपम आयुस्थितिवाले लांतव-कापिष्ठ कल्पवासीदेवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ एकसागरोपमकाल बिताकर दूसरेसागरोपम के आदिसमय में सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तेरहसागरोपम-काल वहाँ पर रहकर सम्यक्त्व के साथ ही च्युत हुआ और मनुष्य हो गया। वहाँ पर संयम या संयमासंयम पालन-कर इस मनुष्यभवसम्बन्धी आयुसे कम बाईससागरोपम आयुवाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से पुनः मनुष्य हुआ।

इस मनुष्यभव में संयम को पालनकर उपरिमग्रैवेयिक में मनुष्यआयु से कम इकतीससागर की आयुवाला अहमिन्द्र हुआ। वहाँ पर अन्तर्मुहूर्तकम छयासठसागर के चरमसमय में सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान को प्राप्त हुआ। अन्तर्मुहूर्त-के पश्चात् पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त हो, विश्राम ले, च्युत हो मनुष्य हो गया। यहाँ पर संयम या संयमासंयम को पालनकर, इस मनुष्यायु से कम बीससागर की आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। पुनः मनुष्य होकर, मनुष्यायु से कम बाईससागरवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँ से मनुष्य होकर पुनः इस मनुष्यायु से कम चौबीससागर की आयुवाले देवों में उत्पन्न हुआ। अन्तर्मुहूर्तकम दो छयासठसागरोपम काल के अन्तिमसमयमें मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/ र. ला. जैन

मिथ्यात्व के सत्त्वाभाव वाला वेदकसम्यक्त्वी मिथ्यात्वी नहीं बनता

शंका—जिस क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व की सत्ता नहीं है और अभी जिसने सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्रप्रकृति का क्षय नहीं किया है तो ऐसा क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि नियम से क्षायिकसम्यग्दृष्टि होगा या मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है?

समाधान—जिस क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि ने मिथ्यात्वप्रकृति का क्षय कर दिया है वह नियम से एक अन्तर्मुहूर्त में मिश्र व सम्यक्त्वप्रकृति का भी क्षय करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि होगा, मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता। मिथ्यात्व-प्रकृति का क्षय हो जाने पर पुनः उसकी सत्ता, बन्ध या उदय नहीं हो सकता। मिथ्यात्वप्रकृति के उदय के बिना जीव मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता, अर्थात् मिथ्यात्वगुणस्थान को प्राप्त नहीं हो सकता।

—जै. ग. 10-1-66/VIII/ र. ला. जैन

कृतकृत्यवेदकसम्यक्त्वी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता

शंका—क्या कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टिजीव भी मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है?

समाधान—मिथ्यात्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति इन दोनों के सत्त्वक्षय के हो जाने पर 'कृतकृत्यवेदक-सम्यग्दृष्टि' होता है। सम्यग्दृष्टिजीव के मिथ्यात्व का बंध नहीं होता, क्योंकि मिथ्यात्वप्रकृति की बंधव्युच्छित्ति प्रथमगुणस्थान में हो जाती है। कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि के न तो मिथ्यात्वप्रकृति का सत्त्व है और न बंध है अतः कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का उदय असंभव है। मिथ्यात्वप्रकृति के उदय के बिना कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व को कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि कर्मोदय बिना भी जीव के विकारीभाव होने लगे तो सिद्धों के भी विकारीभावों के होने का प्रसंग आजावेगा। मिथ्यात्वप्रकृति का सर्वथा अभाव हो जाने से कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हो सकता। विशेष के लिये षट्खंडागम पुस्तक ६ पृष्ठ २५८ से २६३ तक देखना चाहिए और बंध व्युच्छित्ति के लिये षट्खंडागम पु० ७ पृष्ठ १० देखना चाहिए।

—जै. सं. 24-7-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

कृतकृत्यवेदक सम्यक्त्वी क्षायिकसम्यक्त्वी बनता ही है

शंका—कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि क्या नियम से क्षायिकसम्यग्दृष्टि बनता है?

समाधान—कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्त पश्चात् नियम से क्षायिकसम्यग्दृष्टि बनता है, क्योंकि मिथ्यात्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का क्षय होने के पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति का अन्तिम स्थितिकांडक समाप्त होने पर कृतकृत्यवेदक होता है।

"चरिमेट्ठिदि खंडए णिट्ठिदे कदकरणिज्जो त्ति भण्णदि।" (धवल पु० ६ पृ० २६२)

अर्थ—अन्तिम स्थितिकाण्डक के समाप्त होने पर 'कृतकृत्यवेदक' कहलाता है।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/ र. ला. जैन

वेदक व उपशम सम्यक्त्व में अंतर

शंका—क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व में कौन ज्यादा श्रेष्ठ है और क्यों ? सप्रमाण बताइये।

समाधान—सम्यक्त्वप्रकृति के उदय के कारण क्षयोपशमसम्यक्त्व मलिन है और सम्यक्त्वप्रकृति के उदय के अभाव से उपशमसम्यक्त्व निर्मल है, किन्तु उपशमसम्यक्त्व का उत्कृष्टकाल भी अन्तर्मुहूर्त है और क्षयोपशम-सम्यक्त्व का उत्कृष्टकाल ६६ सागर है।

—जै. सं. 5-7-56/VI/ र. ला. जैन, केकड़ी

सम्यक्त्व पर्याय तथा सम्यक्त्व प्रकृति में अन्तर

शंका—सम्यक्त्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन दोनों में क्या अन्तर है ?

समाधान—'सम्यक्त्व' यह सम्यग्दर्शन का संक्षेप है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है, जिसका लक्षण प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रगटता है।

'सम्यक्त्व-प्रकृति' यह दर्शनमोहनीय की प्रकृति है जो पुद्गलद्रव्य की अशुद्धपर्याय है, जो सम्यक्त्व में शिथिलता और अस्थिरताकी कारणभूत है, किन्तु सम्यक्त्व का नाश नहीं करती अतः सम्यक्त्व की सहचारी होने से इसकी सम्यक्त्वप्रकृति संज्ञा है। आर्ष प्रमाण इस प्रकार है—

"प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम्। सत्येवमसंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्याभावः स्यादिति चेत् ? सत्यमेतत् शुद्धनये समाश्रीयमाणे।" (धवल पु० १ पृ० १५१)

अर्थ—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रगटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं। प्रश्न होता है कि इस प्रकार सम्यक्त्व का लक्षण मान लेने पर असंयतसम्यग्दृष्टि के चौथे गुणस्थान का अभाव हो जायगा, क्योंकि असंयतसम्यग्दृष्टि के प्रशम, संवेग और अनुकम्पा नहीं पाई जाती है। आचार्य कहते हैं कि प्रश्नकर्त्ता का कहना सत्य है, किन्तु सम्यक्त्व का यह लक्षण शुद्धनय के आश्रय से कहा गया है।

इससे इतना स्पष्ट है कि शुद्धनय के आश्रय से सम्यग्दर्शन का जो लक्षण कहा गया है उसमें असंयतसम्यग्दृष्टि का कोई स्थान नहीं है।

"उप्पण्णस्स सम्मत्तस्स सिढिलभावुप्पाययं अथिरत्तकारणं च कम्मं सम्मत्तं णाम। कथमेदस्स कम्मस्स सम्मत्तववएसो ? सम्मत्तसहचारादो।" (धवल पु० १३ पृ० ३५८)

अर्थ—उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में शिथिलता का उत्पादक और अस्थिरता का कारणभूत कर्म सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व का सहचारी होने से इसकर्म की सम्यक्त्व संज्ञा है।

—जै. ग. 9-4-70/VI/ रो. ला. मि.

(१) वेदकसम्यक्त्वी के अनन्ता० ४ तथा मिथ्यात्वद्विक का परमुखोदय
(२) वेदकसम्यक्त्वी के विविध सत्त्वस्थान एवं स्वामी

शंका—क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वप्रकृति का वर्तमान में उदय रहता है और सर्वघाती का उपशम है। उसके २८ प्रकृति की सत्ता कैसे होगी ?

समाधान—सम्यग्दर्शन की घातक अनन्तानुबंधीकषाय तथा दर्शनमोहनीयकर्म की तीन प्रकृतियाँ हैं (१) मिथ्यात्वप्रकृति, २. सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, ३. सम्यक्प्रकृति। इन तीन में से मिथ्यात्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति सर्वघाती हैं, क्योंकि इनके उदय में सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है। सम्यक्त्वप्रकृति देशघाती है, क्योंकि इसके उदय में भी सम्यग्दर्शन रहता है।

श्री जयसेनाचार्य ने समयसारग्रन्थ में कहा भी है—

"सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषो भवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विषं मरणं न करोति। तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मंत्रस्थानीयविशुद्धिविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्तिः सन् क्षायोपशमिकादिलब्धिपंचकजनितप्रथमोपशमिक सम्यक्त्वानन्तरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीव परिणामं न हंति।"

जिसप्रकार मंत्र आदि के द्वारा विष की मारणशक्ति का अभाव करके विष को निर्विष कर दिया जाता है; ऐसा विष मरण नहीं कराता है; उसी प्रकार शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूप विशुद्धिविशेषमंत्र के द्वारा जिस मिथ्यात्वकर्म की शक्ति नाश कर दी गई है ऐसा सम्यक्त्वप्रकृतिरूप दर्शनमोहनीय कर्म आत्मा के सम्यक्त्वस्वभाव अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणामों को नाश नहीं करता है।

क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वप्रकृति का उदय रहता है और मिथ्यात्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का स्वमुख उदय का अभाव है, किन्तु अनुभाग का क्षय होकर परमुख अर्थात् सम्यक्त्वप्रकृतिरूप उदय होता है। इसीप्रकार अनन्तानुबन्धीचतुष्क का भी स्वमुख उदय नहीं होता, अनुभाग क्षय होकर परमुख उदय होता है और इन्हीं छह प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधीचतुष्क) का सदवस्थारूप उपशम रहता है। इसप्रकार क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के मोहनीयकर्म की २८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

अनन्तानुबन्धीचतुष्क का विसंयोजन हो जाने पर २४ प्रकृतियों का सत्त्व रह जाता है। क्षायिकसम्यक्त्व के अभिमुख के मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर २३ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है, और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का भी क्षय हो जाने पर २२ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। इसप्रकार क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि के २८, २४, २३, २२ में मोहनीयकर्म के चारप्रकृति स्थान होते हैं।

श्री वीरसेनाचार्य ने ज० ध० पु० २ में कहा भी है—

"वेदगसम्माइट्ठी० अत्थि अट्ठावीस-चउवीस-तेवीस-बावीसपयडिट्ठाणाणि ।" (पृ० २०८)

अर्थ—वेदकसम्यग्दृष्टियों के अट्ठाईस, चौबीस, तेईस और बाईसप्रकृतिरूप स्थान होते हैं।

"वेदगसम्माइट्ठिस्स अट्ठावीस-चउवीसविह०" कस्स ? अण्णदरचउगइसम्माइट्ठिस्स । तेवीसविहत्तिकस्स ? मणुस्सस्स मणुस्सिणीए वा । बावीसविह० कस्स ? अण्ण० चउगइसम्माइट्ठिस्स अक्खीणदंसणमोहणीयस्स ।" (पृ० २१२)

अर्थ—वेदक सम्यग्दृष्टियों में अट्ठाईस और चौबीस विभक्तिस्थान किसके होते हैं ? चारोंगतियों के किसी भी सम्यग्दृष्टि के होते हैं। तेईस विभक्ति स्थान किसके होते हैं ? मनुष्य या मनुष्यनी के होते हैं। बाईस विभक्ति स्थान किसके होता है ? जिस ने दर्शन मोहनीय का पूरा क्षय नहीं किया ऐसे चारों गतियों के किसी भी कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि जीव के होता है।

—जै. ग. 19-12-68/VIII/ मगनमाला

(१) यह आवश्यक नहीं कि क्षयोपशमसम्यक्त्वी सम्यक्त्व सामान्य से च्युत न हो
(२) दो छासठ सागर सम्यक्त्व (बीच में मिश्रावस्था) में बिताने वाला भी मिथ्यात्वी हो जाता है

शंका—समाधिशतक पृ० ६५ में लिखा है कि क्षयोपशमसम्यक्त्व क्षायिक में बदल कर ही छूटता है। तो क्या क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि कुछकाल बाद नियम से क्षायिक में जायगा या मिथ्यात्व में भी जा सकता है ? यदि क्षायिक में बदलकर ही छूटता है तो और कौन से महान् ग्रंथों में इसका उल्लेख है ? यदि मिथ्यात्व में भी जा सकता है तो समाधिशतक में और कौनसा आशय लेकर लिखा गया है ? कहीं-कहीं पर क्षयोपशमसम्यक्त्व की ६६ सागर की उत्कृष्टस्थिति बतलाई गई है तो इतने काल पश्चात् क्या वह क्षायिक में ही जायगा या मिथ्यात्व में भी जा सकता है ?

समाधान—समाधिशतक की टीका पृ० ६५ पर श्री ब्र० शीतलप्रसाद ने इस प्रकार लिखा है— "इस मनुष्य को निरन्तर सोऽहं के भाव का अभ्यास करना चाहिये। बार-बार अभ्यास के बल से सम्यक्त्व ऐसा मजबूत हो जाता है कि वह फिर कभी छूटता नहीं, चाहे क्षयोपशमसम्यक्त्व रहे या क्षायिक। क्षयोपशम यदि होता है तो क्षायिक में बदल कर ही मिटता है।"

यहाँ पर उस क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि का कथन है जिसने बार-बार अभ्यास के बल से दर्शनमोहनीयकर्म को अत्यन्त कृश करके अपने सम्यक्त्व को ऐसा मजबूत बना लिया है जो कभी नहीं छूटेगा। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जिसने बार-बार अभ्यास नहीं किया और दर्शनमोहनीयकर्म को कृश करके अपने सम्यक्त्व को दृढ़ नहीं बनाया है उसका सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वकर्मोदय आने पर छूट भी जाता है। बार-बार की भावना से जिसका दर्शनमोहनीयकर्म कृश हो गया है वह तीनकरण द्वारा अनन्तानुबन्धीकर्मप्रकृतियों की विसंयोजना करता है। पुनः तीनकरण द्वारा क्रमशः दर्शनमोहनीयकर्म का क्षयकर क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर वह जीव कभी सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं होता।

क्षयोपशमसम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल ६६ सागर प्रमाण है उसके पश्चात् वह मिथ्यात्व में भी जा सकता है, सम्यग्मिथ्यात्व में भी और क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है। कहा भी है—

"अधिक से अधिक छयासठसागरोपमकाल तक जीव वेदकसम्यग्दृष्टि रहते हैं ॥ ११६ ॥ क्योंकि, एक जीव उपशमसम्यक्त्व से वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त होकर शेष भुज्यमान आयु से कम बीससागरोपम आयुस्थितिवाले देवों में उत्पन्न हुआ। फिर वहाँ से मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः मनुष्यायु से कम बाईससागरोपम आयुस्थिति वाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से पुनः मनुष्यगतिमें आकर भुज्यमान मनुष्यायु से तथा दर्शनमोह के क्षपण पर्यंत आगे भोगी जानेवाली मनुष्यायु से कम चौबीससागरोपम आयुस्थितिवाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से पुनः मनुष्यगति में आकर वहाँ वेदकसम्यक्त्व काल के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर दर्शनमोह के क्षपण को स्थापित कर कृतकरणीय हो गया। ऐसे कृतकरणीय के अन्तिमसमय में स्थित जीव के वेदक (क्षयोपशम) सम्यक्त्व का छयासठ सागरोपम मात्र काल पाया जाता है।" (धवल पु० ७ पृ० १८०)

"कोई एक तिर्यंच अथवा मनुष्य चौदहसागरोपम आयुस्थितिवाले लांतव-कापिष्ठ कल्पवासीदेवों में उत्पन्न हुआ। वहां एकसागरोपमकाल बिताकर दूसरेसागरोपम के आदिसमय में सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। तेरहसागरोपम काल वहाँ पर रहकर सम्यक्त्व के साथ ही च्युत हुआ और मनुष्य हो गया। उस मनुष्यभव में संयम को अथवा संयमासंयम को अनुपालन कर इस मनुष्यभवसम्बन्धी आयु से कम बाईससागरोपम आयु की स्थितिवाले आरण-अच्युतकल्प के देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर पुनः मनुष्य हुआ। इस मनुष्यभव में संयम को अनुपालन कर उपरिम ग्रैवेयक में मनुष्यायु से कम इकतीससागरोपम आयु की स्थितिवाले अहमिन्द्र देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ पर अन्तर्मुहूर्तकम ६६ सागरोपमकाल के चरमसमय में परिणामों के निमित्त से सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। उस सम्यग्मिथ्यात्व में अन्तर्मुहूर्तकाल रहकर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त होकर, विश्राम ले, च्युत हो मनुष्य हो गया। उस मनुष्यभव में संयम को अथवा संयमासंयम को परिपालन कर, इस मनुष्यभवसंबंधी आयु से कम बीससागरोपम आयु की स्थितिवाले आनत-प्राणतकल्पों के देवों में उत्पन्न होकर पुनः यथाक्रम से मनुष्यायु से कम बाईस और चौबीससागरोपम की स्थितिवाले देवों में उत्पन्न होकर, अन्तर्मुहूर्तकम दो छयासठ सागरोपमकाल के अन्तिमसमय में मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ।" (धवल पु० ५ पृ० ६ सूत्र ४)

—जै. ग. 18-1-68/VII/ भ. दा.

सर्वोपशम, देशोपशम, वेदककाल

शंका—उपशम क्षयोपशमसम्यक्त्व के प्रकरण में 'सर्वोपशमन' 'देशोपशमन' और 'वेदकप्रायोग्यकाल' इन का क्या तात्पर्य है ?

समाधान—जयधवलग्रंथ में कहा है—"सव्वोवसमो णाम तिण्हं कम्माणमुदयाभावो। सम्मत्तदेसघादि-फद्दयाणमुदओ देसोवसमो त्ति भण्णदे।" अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व) का उदयाभाव (उपशम) सर्वोपशम है। मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों का उदयाभाव (उपशम) और देशघातीस्पर्धक (सम्यक्त्वप्रकृति) का उदय, यह देशोपशम है।

उवधिपुधत्तं तु तसे पल्ला संखूणमेगमेयक्खे।
जाव य सम्मं मिस्सं वेदगजोग्गो य उवसमस्सतदो ॥६१५॥ गो. क.।

अर्थ—उद्वेलन करने वाले मिथ्यादृष्टिजीव के सम्यक्त्व मोहनीय की और सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय की स्थिति पृथक्त्वसागरप्रमाण त्रस के शेष रहे अथवा पल्यके असंख्यातवें भाग कम एक सागरप्रमाण एकेन्द्रिय के शेष रह जावे वहां तक 'वेदकप्रायोग्यकाल' है, क्योंकि ऐसा जीव वेदकसम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है। उपशम-सम्यग्दर्शन को नहीं प्राप्त कर सकता। जब इन दोनों प्रकृतियों की स्थिति इससे भी कम रह जाय तो वह उपशम काल है, क्योंकि उस समय वेदकसम्यक्त्व नहीं हो सकता, उपशमसम्यक्त्व हो सकता है।

—जै. ग. 4-7-66/IX/ र. ला. जैन मेरठ

सम्यक्त्व मार्गणा

क्षायिक सम्यक्त्व

दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्म भूमिज मनुष्य ही कर सकता है

शंका—क्या देवपर्याय में भी क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि देव तो समवसरण आदि में सर्वत्र जा सकता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणाका प्रारम्भ कर्मभूमि का मनुष्य ही कर सकता है अन्य तीनगति के जीव अर्थात् देवादि दर्शनमोहनीय कर्म की क्षपणा का प्रारम्भ नहीं कर सकते हैं। लब्धिसार में श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य ने कहा भी है—

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।
तित्थयरपायमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥ ११० ॥

अर्थ—जो मनुष्य कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ हो, तीर्थंकर व अन्य केवली या श्रुतकेवली के चरणकमलों में रहता हो वही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारंभ करनेवाला होता है।

"दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेंतो कम्हि आढवेदि, अड्डाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पण्णारस कम्मभूमिसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आढवेदि ॥११॥ धवल पु० ६ पृ० २४३।

दर्शनमोहनीयकर्म का क्षपण करने के लिये आरम्भ करता हुआ यह जीव कहाँ पर आरम्भ करता है ? अढाईद्वीप समुद्रों में स्थित पन्द्रह-कर्मभूमियों में जहाँ जिस काल में जिन-केवली और तीर्थंकर होते हैं वहाँ उस काल में आरम्भ करता है।

"कम्मभूमिसु ट्ठिद देव-मणुसतिरिक्खाणं सव्वेसिं पि गहणं किण्ण पावेदि त्ति भणिदे ण पावेदि कम्म-भूमीसुप्पण्णमणुस्साणमुवयारेण कम्मभूमिववदेसादो। तो वि तिरिक्खाणं गहणं पावेदि, तेसिं तत्थ वि उप्पत्ति संभवादो ? ण, जेसिं तत्थेव उप्पत्ती, ण अण्णत्थ संभवो अत्थि, तेसिं चेव मणुस्साणं पण्णारस कम्मभूमिववएसो, ण तिरिक्खाणं सयंपहपव्वदपरभागे उप्पज्जणेण सव्वहिचाराणं।" धवल पु० ६ पृ० २४५।

"पन्द्रह कर्मभूमियों में ऐसा सामान्य पद कहने पर कर्मभूमियों में स्थित देव, मनुष्य और तिर्यंच इन सभी का ग्रहण क्यों नहीं प्राप्त होता है ? नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए मनुष्यों की उपचार से 'कर्मभूमिया' यह संज्ञा दी गई है यदि कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए जीवों की 'कर्मभूमि' यह संज्ञा है तो भी तिर्यंचों का ग्रहण प्राप्त होता है, क्योंकि उनकी भी कर्मभूमियों में उत्पत्ति होती है ? यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिनकी वहाँ पर ही उत्पत्ति है और अन्यत्र उत्पत्ति संभव नहीं है, उन्हीं मनुष्यों के पन्द्रह कर्मभूमियों का व्यपदेश किया गया है, न कि स्वयंप्रभपर्वत के परभाग में उत्पन्न होने से व्यभिचार को प्राप्त तिर्यंचों के।

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥११०॥ क. पा. सुत्त।

अर्थ—नियम से कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ और मनुष्यगति में वर्तमान जीव ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करने वाला होता, किन्तु निष्ठापक चारों गतियों वाला हो सकता है।

—जै. ग. 28-12-72/VII/ क. दे.

वेदक सम्यक्त्वी तीर्थंकर का जीव केवलिद्वय के पादमूल बिना भी दर्शनमोह की क्षपणा कर लेता है

शंका—क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि नरक या स्वर्ग से आकर तीर्थंकर का जन्म लेता है उनको क्षायिकसम्यक्त्व कैसे प्राप्त हो सकेगा ? कारण तीर्थंकर तो छद्मस्थ-अवस्था में मुनियों का दर्शन नहीं करते हैं, फिर उनको केवली या श्रुतकेवली का सान्निध्य कैसे संभव है ? केवली-श्रुत केवली के सान्निध्य के बिना क्षायिकसम्यक्त्व नहीं हो सकता। क्षायिकसम्यक्त्व के बिना मुक्ति नहीं हो सकती।

समाधान—तीर्थंकरप्रकृति का बंध करनेवाला क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिजीव नरक या स्वर्ग से आकर, स्वयं श्रुतकेवली होकर, क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो सकता है। इस सम्बन्ध में श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पु० ६ सूत्र ११ की टीका में निम्न प्रकार कहा है—

"एदाणं तिण्हं पि पादमूले दंसणमोहक्खवणं पट्ठवेंति त्ति। एत्थ जिण सद्दस्स आवत्तिं काऊण जिणा दंसणमोहक्खवणं पट्ठवेंति त्ति वत्तव्वं, अण्णहा तदियपुढवीदो णिग्गयाणं कण्हादीणं तित्थयरत्ताणुववत्तीदो त्ति के वि वक्खाणं।"

अर्थ—तीर्थंकरकेवली, सामान्यकेवली, श्रुतकेवली इन तीनों के पादमूल में कर्मभूमिजमनुष्य दर्शनमोह का क्षपण प्रारम्भ करते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये। यहाँ पर 'जिन' शब्द की आवृत्ति करके अर्थात् दुबारा ग्रहण करके, जिन दर्शनमोहनीयकर्म का क्षपण प्रारम्भ करते हैं ऐसा कहना चाहिये। अन्यथा तीसरी पृथ्वी से निकले हुए कृष्ण आदिकों के तीर्थङ्करत्व नहीं बन सकता है।

श्री कृष्णजी ने श्री नेमिनाथ भगवान के समवसरण में तीर्थंकरप्रकृति का तो बंध कर लिया था, किन्तु उनको क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हुआ था। सम्यक्त्व से पूर्व श्रीकृष्ण ने नरकायु का बंध कर लिया था। अतः वे मरकर तीसरे नरक में उत्पन्न हुए। वहाँ से क्षयोपशमसम्यक्त्व के साथ निकल कर तीर्थंकर होंगे। अब प्रश्न

होता है कि उनको क्षायिकसम्यक्त्व कैसे प्राप्त होगा। इसके समाधान के लिये श्री वीरसेनआचार्य ने धवलग्रंथ में लिखा है जो स्वयं 'जिन' अर्थात् श्रुतकेवली होते हैं वे स्वयं दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा प्रारम्भ करते हैं, उनको अन्य केवली या श्रुतकेवली के पादमूल की आवश्यकता नहीं होती है।[1]

—जै. ग. 16-4-70/VII/ ब्र. ही. ब्रु. दोशी, फलटण

क्षायिक सम्यक्त्व की पहिचान

शंका—क्षायिक सम्यग्दर्शन की क्या पहचान है ?

समाधान—दर्शनमोहनीयकर्म की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, मिश्र) के नाश से तथा अनन्तानुबंधीचतुष्क (अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ) के विसंयोजनारूप क्षयसे जो अविनाशी सम्यग्दर्शन होता है वह क्षायिकसम्यग्दर्शन है। अर्थात् कर्म की सातप्रकृतियों के क्षय से क्षायिकसम्यग्दर्शन होता है।

अवधिज्ञानी मुनि इन सात प्रकृतियों के द्रव्यकर्म की सत्ता के अभाव को देखकर अनुमान-ज्ञान द्वारा क्षायिकसम्यग्दर्शन को जान सकते हैं। कार्मणवर्गणा सूक्ष्म हैं, अतः वह पाँच इन्द्रियों का विषय नहीं है और न बाह्य में क्षायिकसम्यग्दर्शन का कोई ऐसा चिह्न है जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सके अतः क्षायिकसम्यग्दर्शन की पहिचान मतिज्ञान द्वारा नहीं हो सकती है।

—जै. ग. 23-12-71/VII/ जै. म. जैन

अव्रती के क्षायिकसम्यक्त्व हो सकता है, क्षायिक दर्शन नहीं

शंका—क्षायिकदर्शन क्या चौथे गुणस्थान में भी हो सकता है या तेरहवें गुणस्थान में ही होता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों के तथा अनन्तानुबन्धीक्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिकसम्यग्दर्शन चतुर्थगुणस्थान में हो सकता है। दर्शनावरणकर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला क्षायिकदर्शन चतुर्थगुणस्थान में नहीं हो सकता, वह तेरहवें गुणस्थान में ही होगा, क्योंकि दर्शनावरण कर्म का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्त समय तक रहता है।

—जै. ग. 11-5-72/VII/ ......

क्षायिक सम्यक्त्वी पंचमगुणस्थान वाले भी होते हैं

शंका—भेदज्ञान पुस्तक के पृ० १५६ पर यह कहा गया है कि जिस जीव ने तीर्थंकर-गोत्र का बंध किया है वह अणुव्रत धारण करता ही नहीं है, मुनिव्रत ही धारण करता है। इस पर शंकाकार ने उत्तरपुराण पर्व ५३ श्लोक ३५ के आधार पर यह कहा कि तीर्थंकर अणुव्रती होते हैं। इसके समाधान में उक्त भेदज्ञान में यह लिखा है 'तीर्थंकर की तो बात छोड़ दो, परन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टि अणुव्रत धारण नहीं करता है अपितु सीधा महाव्रत ही धारण करता है। यही बात धवलग्रंथ नं० ५ पृ० २५६ पर लिखी है।' क्या क्षायिकसम्यग्दृष्टि अणुव्रती नहीं होते ?

---

1. See Also जयधवल पु0 13 पृ0 ४ एवं प्रस्ता0 पृ0 १।

समाधान—क्षायिकसम्यग्दृष्टि अणुव्रती, देशसंयमी, संयमासंयम पंचमगुणस्थान वाले होते हैं। श्री षट्खंडागम धवल पुस्तक १ पृ० ३९६, पत्र १४५ में लिखा है 'क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं।' अर्थात् क्षायिकसम्यग्दृष्टि के पाँचवाँ गुणस्थान भी होता है। धवल पुस्तक २ पृ० ८११ पर क्षायिकसम्यग्दृष्टि संयतासंयत का आलाप है। इसी प्रकार पृ० ४३१ पर संयतासंयत जीवों के क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा है। धवल पुस्तक ३ पृ० ४७४ व ४७५ सूत्र १७६ व टीका में कहा है 'क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयतगुणस्थानवाले संख्यात होते हैं।' धवला पु० ४, पृ० १३३ सूत्र ७९ व टीका, पृष्ठ ३०३ सूत्र १६९ व टीका, पृ० ४८१ सूत्र ३१७ व टीका में क्षायिकसम्यग्दृष्टि संयतासंयतगुणस्थानवालों का क्षेत्र, स्पर्शन व काल का कथन है। धवल पुस्तक ५, सूत्र ३४० से ३४२ तक, पृ० १५७ व १५८ पर क्षायिकसम्यग्दृष्टिजीव के संयतासंयतगुणस्थान के अन्तर का कथन है। धवल पुस्तक ५, पृ० २५६ सूत्र १८ में क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयतगुणस्थानवाले सबसे कम हैं ऐसा कहा है। इसी प्रकार धवल की अन्य पुस्तकों में, महाबंध में व जयधवल ग्रन्थों में क्षायिकसम्यग्दृष्टि के सयमासंयम अर्थात् अणुव्रत का विधान है, निषेध नहीं है।

—जै. सं. 16-10-58/VI/ स. म. जैन, सिरोंज

(१) स्त्रियों को क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता
(२) शरीर का प्रभाव आत्म परिणामों पर पड़ता है

शंका—सत्प्ररूपणा के सूत्र १६४-१६५ में जो मनुष्यनियों के तीनों सम्यक्त्व माने हैं सो किस अपेक्षा से ?

समाधान—भाववेद की अपेक्षा मनुष्यनियों में उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व पाये जाते हैं। द्रव्य मनुष्यनियों में उपशम और क्षयोपशम ये दो सम्यक्त्व होते हैं, क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता। कहा भी है—"मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्। क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव।" (सर्वार्थसिद्धि १।७)

अर्थ—मनुष्यनियों के उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक तीनों सम्यक्त्व पर्याप्तअवस्था में होते हैं, अपर्याप्त-अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु क्षायिकसम्यक्त्व भावमनुष्यनियों में ही होता है, द्रव्यमनुष्यनियों में नहीं होता।

षट्खंडागम में भावमार्गणास्थानों का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है—

"इमानि" इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षीभूतानि निर्दिश्यन्ते नार्थमार्गणस्थानानि। (धवल पु० १ पृ० १३२)।

अर्थ—सूत्र दो के 'इमानि' पद से प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणा स्थानों का ग्रहण करना चाहिये, द्रव्य मार्गणाओं को ग्रहण नहीं किया गया है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि षट्खंडागम सत्प्ररूपणा के सूत्र १६४ व १६५ में मनुष्यनियों के तीनों-सम्यग्दर्शन भावकी अपेक्षा से कहे गये हैं, द्रव्य की अपेक्षा से नहीं कहे। द्रव्यस्त्री शरीर के कारण मनुष्यनियों के क्षायिकसम्यक्त्व नहीं हो सकता, इससे यह सिद्ध है कि शरीर का प्रभाव आत्म-परिणामों पर पड़ता है।

—जै. ग. 30-9-65/XI/ ब. सुखदेव

महिलाओं को क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता

शंका—क्या द्रव्यस्त्री को सम्यक्त्व नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान—द्रव्यस्त्री को उपशम तथा क्षयोपशमसम्यक्त्व हो सकता है, किन्तु क्षायिकसम्यक्त्व नहीं हो सकता है। श्री पूज्यपादआचार्य ने सर्वार्थसिद्धिग्रंथ में कहा भी है—

"द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासम्भवात्। मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्। क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव।"

अर्थ—द्रव्यस्त्रियों के क्षायिकसम्यक्त्व संभव नहीं है। मनुष्यनियों में उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व पर्याप्तअवस्था में होते हैं अपर्याप्तअवस्था में नहीं होते हैं, किन्तु क्षायिकसम्यक्त्व मात्र भावस्त्री के होता है।

जो द्रव्य से पुरुष है, किन्तु स्त्रीवेद चारित्रमोहनीयकर्मोदय के कारण भाव से स्त्री है उस मनुष्यनि के क्षायिकसम्यक्त्व हो सकता है। जो द्रव्य से भी स्त्री है उसके क्षायिकसम्यक्त्व संभव नहीं है।

—जै. ग. 25-6-70/VII/ का. ना. कोठारी

प्रथम नरक में क्षायिक सम्यक्त्वी असंख्यात हैं

शंका—प्रथमनरक में क्षायिकसम्यग्दृष्टि क्या संख्यात हैं या असंख्यात ?

समाधान—प्रथम नरक में क्षायिकसम्यग्दृष्टि अर्थात् मोहनीयकर्म की २१ प्रकृतियों की सत्तावाले जीव असंख्यात हैं, क्योंकि उत्कृष्टकाल पल्योपम के असंख्यातवेंभागकम एकसागर है। ज० ध० पु० २ में कहा भी है—

"आदेसेण णिरयगईए णेरईएसु अट्ठावीस-सत्तावीस छब्बीस-चउवीस-एक्कवीसवि० केत्ति० ? असंखेज्जा। बावीसविह० के० ? संखेज्जा। एवं पढमपुढवि०।" (जयधवल पु० २ पृ० ३१९)

आदेश की अपेक्षा नरकगति में नारकियों में अट्ठाईस, सत्ताईस, छब्बीस, चौबीस और इक्कीस विभक्ति-वाले जीव कितने हैं ? असंख्यात हैं। बाईस विभक्तिवाले जीव कितने हैं ? संख्यात हैं। इसी प्रकार पहलीपृथ्वी के नारकियों में जानना चाहिये। इक्कीसप्रकृति विभक्तिवाले जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही होते हैं, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चतुष्क और तीनदर्शनमोहनीयकर्म के क्षय से २१ प्रकृति का सत्त्व मोहनीयकर्म का रह जाता है।

"आदेसेण णिरयगईए णेरईएसु एक्कवीस विह० जह० चउरासीदि वस्ससहस्साणि अंतोमुहुत्तूणाणि। उक्क० सागरोवमं पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेणूणं। एवं पढमाए पुढवीए।" (ज० ध० पु० २ पृ० २७)

आदेश की अपेक्षा नरकगति में नारकियों में इक्कीसप्रकृति विभक्ति (सत्त्व) स्थान का कितना काल है ? जघन्य अन्तर्मुहूर्तकम चौरासीहजारवर्ष और उत्कृष्ट पल्योपमके असंख्यातवेंभागकम एकसागर है। इसी प्रकार पहले नरक में जानना चाहिए।

—जै. ग. 29-4-76/VI/ ज. ला. जैन, भीण्डर

(१) क्षायिक सम्यक्त्व दूसरे आदि में नहीं होता
(२) विसंयोजना तथा क्षपणा शब्द कथंचित् समान हैं।

शंका—विसंयोजना और क्षपणा यदि पर्यायवाची शब्द नहीं है तो क० पा० पु० ५, पृष्ठ ५० पर 'जो दूसरे नरकादि में अनन्तानुबन्धीचतुष्क की क्षपणा कर लेता है' इन शब्दों से दूसरे नरक में भी क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति की सूचना मिलती है।

समाधान—विसंयोजना और संयोजना पर्यायवाची नाम नहीं हैं। अनन्तानुबन्धीचतुष्क के स्कन्धों के परप्रकृतिरूप से परिणमा देने को विसंयोजना कहते हैं। विसंयोजना का इसप्रकार लक्षण करने पर जिनकर्मों की परप्रकृति के उदयरूप से क्षपणा होती है उनके साथ व्यभिचार आ जावेगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त पररूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं पाई जाती है; और अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना हो जाने पर भी मिथ्यात्व का उदय आ जाने से पुनः संयोजना (उत्पत्ति) हो जाती है। अतः विसंयोजना का लक्षण क्षपणा से भिन्न है (क० पा० पु० २, पृ० २१९)। क० पा० पु० ५, पृष्ठ ५० पर विशेषार्थ में जो अनन्तानुबन्धी की क्षपणा लिखी है वहाँ पर 'क्षपणा' से 'विसंयोजना' का अभिप्राय समझना चाहिए।

मिथ्यात्वकर्म (दर्शनमोह) की क्षपणा का आरंभ मनुष्य ही केवली के पादमूल में करता है, अन्यगति का जीव दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ नहीं कर सकता। नरक में क्षायिकसम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है, किन्तु वह भी प्रथमनरकमें उत्पन्न होता है, दूसरे आदि नरकों में उत्पन्न नहीं होता। अतः दूसरे आदिनरकों में क्षायिकसम्यक्त्व का अस्तित्व नहीं है।

—जै. सं. 12-2-59/V/ मां. सु. टोंग्या, ब्यावर

पंचमकाल में किसी भी प्रकार से क्षायिकसम्यक्त्व नहीं उत्पन्न होता

शंका—विदेहक्षेत्र से मरकर जो मनुष्य भरतक्षेत्र में पंचमकाल में जन्म लेता है, क्या वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो सकता है ?

समाधान—जो मनुष्य विदेहक्षेत्र से मरकर भरतक्षेत्र में पंचमकाल में जन्म लेता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। षट्खंडागम पु० ६ पृ० ४७३-४७४ सूत्र १६३ व १६४ में यह कहा गया है कि संख्यातवर्षायुष्क मनुष्य, मनुष्य-पर्याय से मरकर एकमात्र देवगति को ही जाता है। इसपर यह शंका की गई कि जिन कर्मभूमिज मनुष्यों ने देवगति को छोड़ अन्य गतियों की आयु बाँधकर पश्चात् सम्यक्त्व ग्रहण किया है, उनका सूत्र १६४ में कथन क्यों नहीं किया गया ? श्री वीरसेन आचार्य ने इस शंका का उत्तर देते हुए कहा है कि जिन मनुष्यों ने देवगति के अतिरिक्त अन्य आयु अर्थात् नारक, तिर्यंच या मनुष्यायु का बंध किया है और उसके पश्चात् सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है उन मनुष्यों का आयुबंध के वश से मरणकाल में सम्यक्त्व छूट जायगा। वे आर्ष वाक्य इस प्रकार हैं—

"मणुससम्माइट्ठी संखेज्जवासाउआ मणुस्सा मणुस्सेहि कालगद समाणा कदि गदीओ गच्छंति ? ॥ १६३ ॥ एक्कं हि चेव देवगदिं गच्छन्ति ॥ १६४ ॥ देवगदिं मोत्तूणण्णगदीणमाउअं बंधिदूण जेहि सम्मत्तं पच्छा पडिवण्णं ते एत्थ किण्ण गहिदा ? ण, तेसिं मिच्छत्तं गंतूणुप्पत्ती बंधाउअवसेण उप्पज्जमाणं सम्मत्ताभावा।"

भरतक्षेत्र में पंचमकाल में मनुष्य क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, क्योंकि केवली और तीर्थंकर का अभाव है। कहा भी है—

"दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेंतो कम्हि आढवेदि, अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पण्णरसकम्मभूमीसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आढवेदि ॥११॥ (धवल पु० ६ पृ० २४३)

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्म का क्षपण करने के लिये प्रारम्भ करता हुआ यह जीव कहाँ पर आरम्भ करता है? अढाई द्वीप समुद्रों में स्थित पन्द्रह कर्मभूमियों में जहाँ जिसकाल में जिन, केवली और तीर्थंकर होते हैं वह उस काल में आरम्भ करता है।

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो ।
तित्थयरपायमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥ ११० ॥
णिट्ठवगो तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य ।
किदकरणिज्जो चदुसुवि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ॥१११॥ (लब्धिसार)

अर्थ—जो मनुष्य कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ हो वही मनुष्य केवली, श्रुतकेवली या तीर्थंकर के पादमूल में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भक होता है। जहाँ पर प्रारम्भक होता है वहाँ पर भी निष्ठापक होता है अथवा सौधर्मादि वैमानिकदेवों में, भोगभूमिया मनुष्यमें, भोगभूमिया तिर्यंचमें, घम्मा नामक प्रथम नरक में भी निष्ठापक होता है, क्योंकि कृतकृत्यवेदक या क्षायिकसम्यग्दृष्टि मरकर वैमानिकदेवों में, भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यंचों में तथा प्रथमनरक में ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र उत्पन्न नहीं होता।

इन आर्षवाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि मरकर न भरतक्षेत्र में पंचमकाल में उत्पन्न होता है और न पंचमकाल का उत्पन्न हुआ मनुष्य क्षायिकसम्यग्दर्शन को उत्पन्न कर सकता है।

—जै. ग. 11-3-71/VII/ सुल्तानसिंह

उपशमसम्यक्त्वी से क्षायिकसम्यक्त्वी अतिविशुद्ध है

शंका—क्या उपशमसम्यक्त्वी से क्षायिकसम्यक्त्वी की विशुद्धि अधिक है? कैसे?

समाधान—उपशमसम्यग्दृष्टि से क्षायिकसम्यग्दृष्टि की विशुद्धि अधिक है, क्योंकि उपशमसम्यक्त्वी के कर्मपुद्गल की सत्ता है और वह अन्तर्मुहूर्त पश्चात् नियम से च्युत हो जाता है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि के दर्शनमोह की सत्ता नहीं है और वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि कभी स्वसम्यक्त्व से च्युत नहीं होता। धवल पु० १२ में प्रथम चूलिका में निर्जरा का कारण विशुद्धपरिणाम कहा है। उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होनेवाले जीव की अपेक्षा दर्शनमोहक्षपक जीव के अधिक निर्जरा होती है, ऐसा निर्जरा के ११ स्थानों के कथन में कहा गया है।

हाँ, अनुदय की अपेक्षा इन दोनों सम्यक्त्वों में कोई अन्तर नहीं है।

—पत्राचार 14-11-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

क्षायिक सम्यक्त्वी के भवों की जघन्य व उत्कृष्ट संख्या

शंका—यदि किसी मनुष्य को क्षायिकसम्यक्त्व हो जावे तो उसके मोक्ष जाने का क्या नियम है ?

समाधान—क्षायिकसम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने के पश्चात् मनुष्य उसीभव से भी मोक्ष जा सकता है। मनुष्य से देव या नारकी होकर तीसरेभव में मोक्ष जावेगा यदि सम्यक्त्व से पूर्व मनुष्यायु या तिर्यंचायु का बंध हो गया है तो वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर भोगभूमि का मनुष्य या तिर्यंच होगा और वहाँ से सौधर्म-ईशान-स्वर्ग का देव होकर कर्मभूमिया का मनुष्य होकर मोक्ष चला जायगा। इस प्रकार क्षायिकसम्यग्दृष्टि मनुष्य अधिक से अधिक चौथेभव में अवश्य मोक्ष चला जाता है, इससे अधिक काल तक वह संसार में नहीं रह सकता है।

—जै. ग. 28-12-72/VII/ क. दे.

अविनष्ट सम्यक्त्वी जीवों में भी कथंचित् भेद

शंका—प्राप्त होकर जिनका सम्यक्त्व छूटता नहीं उन सबमें समानता है या कुछ विशेषता है ?

समाधान—प्राप्त होकर जिनका सम्यक्त्व छूटता नहीं उन सबमें कथंचित् विशेषता भी है, क्योंकि कोई तद्भव मोक्षगामी है, कोई एकभवावतारी है, कोई सात-आठ भवावतारी भी होते हैं। जीवों के मोक्ष जाने के काल का नियम नहीं है। श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—'कालानियमाच्च निर्जरायाः। ततश्च न युक्तमुभव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः।' 'भव्यजीव अपने नियतकाल पर मोक्ष जायगा।' ऐसा कहना उचित नहीं है।

—जै. ग. 8-1-70/VII/ रो. ला. मि.

क्षपणा में ८ वर्ष स्थिति करने के समय में अपकृष्ट द्रव्य का निक्षेपण

शंका—धवल पु० ६ पृ० ३६०-३६१ पर इन पंक्तियों का भाव समझ में नहीं आया—"विसेसाहियं चेव दिस्समाणं होदि। कुदो ? विदिय समय ओकड्डिदव्वस्स अट्ठवस्सेगट्ठिदिणिसित्तस्स अट्ठवसेयट्ठिदिदव्वं णिसेगभागहारेण खंडिदेगखंडमेत्तगोउच्छविसेसादो असंखेज्जगुणस्स अट्ठवस्सेगट्ठिदि-पदेसग्गं पेक्खिदूण असंखेज्जगुण-हीणत्तादो। एस कमो जाव पढमट्ठिदिखंडयदुचरिमफालि त्ति" इन पंक्तियों का भाव क्या है ?

समाधान—यह दर्शनमोह की क्षपणा से सम्बन्धित प्रकरण है। इसका भाव यह है—सम्यक्त्वप्रकृति की आठवर्ष की स्थिति करने के दूसरे समय जो द्रव्य अपकर्षण किया गया है, उस अपकृष्टद्रव्य में जो द्रव्य आठवर्ष की स्थिति के प्रत्येकनिषेक में निक्षेपण किया जाता है, वह द्रव्य गोपुच्छ-विशेष (चय) से असंख्यातगुणा है और प्रत्येक निषेक के सत्तारूप द्रव्य (प्रदेशाग्र) के असंख्यातवेंभाग हैं। यद्यपि पूर्व गुणश्रेणीशीर्ष की अपेक्षा वर्तमान गुणश्रेणीशीर्ष में अपकृष्टद्रव्य व काण्डकफाली द्रव्य असंख्यातगुणा निक्षेपण किया गया है, तथापि वह द्रव्य पूर्व सत्तारूप द्रव्य के असंख्यातवेंभाग है। पूर्वगुणश्रेणीशीर्ष के सत्तारूपद्रव्य से वर्तमान गुणश्रेणीशीर्ष का सत्तारूप द्रव्य चयहीन है अतः पूर्वगुणश्रेणीशीर्ष से वर्तमान गुणश्रेणीशीर्ष विशेष का दृश्यमान द्रव्य विशेषहीन है, गुणाकाररूप नहीं है।

—जै. ग. 16-5-74/VI/ ज. ला. जैन, भीण्डर

क्या क्षायिकसम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है ?

शंका—अमितगति श्रावकाचार २।६५-६६ में क्षायिकसम्यक्त्व को वीतरागसम्यक्त्व और उपशम-क्षयोपशम को सरागसम्यक्त्व कहा है। ऐसा कथन किस अपेक्षा से है ? 'वीतरागचारित्र से अविनाभूत वीतरागसम्यक्त्व है' इस कथन का अमितगतिश्रावकाचार के कथन से कैसे समन्वय हो सकता है ?

समाधान—श्री अमितगतिआचार्य ने यह कथन श्री तत्त्वार्थ-राजवार्तिक प्रथम अध्याय सूत्र २ वार्तिक २९–३०–३१ के आधार पर किया है। इसका ऐसा अभिप्राय ज्ञात होता है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही क्षपकश्रेणी में चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयकर पूर्ण वीतरागी हो सकता है, अतः क्षायिकसम्यग्दर्शन को वीतराग कहा है। क्षयोपशम और उपशमसम्यग्दृष्टि चारित्रमोह का क्षय नहीं कर सकते, अतः उनको सरागसम्यग्दर्शन कहा है।

चारित्रमोह का क्षय हो जाने पर वीतरागचारित्र होता है उसके साथ रहने वाला क्षायिकसम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन है। इस कथन में उपशांतमोह की विवक्षा नहीं है, क्योंकि वहाँ पर चारित्रमोह का सद्भाव है।

इस पर भी यह विषय विशेष विचारणीय है।

—जै. ग. 6-12-65/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

(१) विभिन्न यथाख्यात चारित्र
(२) औपशमिक भाव से क्षायिक भाव प्रकृष्ट शुद्धिवाला है
(३) चतुर्थगुणस्थान के क्षायिकसम्यक्त्व से त्रयोदशगुणस्थान के क्षायिकसम्यक्त्व में अन्तर नहीं है

शंका—जिसप्रकार ११–१२–१३–१४ वें गुणस्थान के यथाख्यातचारित्र में कोई अन्तर नहीं है उसी-प्रकार क्षायिकसम्यक्त्व होनेपर चौथे गुणस्थान के सम्यग्दर्शन में और १३ वें गुणस्थान के सम्यग्दर्शन में भी कोई अन्तर नहीं होना चाहिये।

समाधान—११–१२–१३–१४ वें गुणस्थान में चारित्रमोहनीयकर्म के उदय का अभाव होने से सब कषायों का अभाव है। इन चारों गुणस्थानों में पूर्णवीतरागता होने से एक ही संयमलब्धिस्थान है। कहा भी है—

"एदं जहाक्खादसंजमट्ठाणं उवसंतखीण-सजोगी-अजोगीणमेक्कं चेव जहण्णुक्कस्सवदिरित्तं होदि. कसाया-भावादो।" (धवल पु० ६ पृ० २८६)

अर्थ—यह यथाख्यातसंयमस्थान उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इनके एक ही जघन्य व उत्कृष्ट भेदों से रहित होता है, क्योंकि इन सबके कषायों का अभाव है।

यद्यपि कषाय के अभाव की अपेक्षा चारों गुणस्थानों में यथाख्यातचारित्र का एक ही संयमलब्धिस्थान है और उस स्थान में हीनाधिकता भी नहीं है तथापि ग्यारहवें गुणस्थान के औपशमिकयथाख्यातचारित्र की अपेक्षा बारहवें आदि गुणस्थान के क्षायिकचारित्र में अधिक विशुद्धता है, क्योंकि कर्मों से अत्यन्त निवृत्त होने पर क्षायिक-भाव होता है। कहा भी है—

"औपशमिकाद्धि क्षायिकः प्रकृष्टशुद्धयुपेतः। आत्मनोऽपि कर्मणोऽत्यन्त विनिवृत्तौ विशुद्धिरात्यन्तिकी क्षय इत्युच्यते।' (रा० वा० २/१/१० व २)

अर्थात्—औपशमिकभाव से क्षायिकभाव प्रकृष्टशुद्धिवाला होता है। आत्मा से कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति के द्वारा जो आत्यन्तिकविशुद्धि होती है वह क्षय है।

बारहवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय होने से आत्यन्तिकविशुद्धि हो जाती है फिर उसमें हानि-वृद्धि नहीं होती है। जैसा श्लो० वा० प्रथम अ० प्रथम सूत्र की टीका में कहा है—

'क्षायिकभावानां न हानिर्नाऽपि वृद्धिरिति।'

अर्थात्—क्षायिकभावों में न हानि होती है और न वृद्धि होती है।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध होता है कि बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें क्षायिकचारित्र होने से आत्यन्तिकविशुद्धि होती है तथा हानि-वृद्धि नहीं होती, अर्थात् इन तीनों गुणस्थानों में क्षायिकयथाख्यातचारित्र के अविभागप्रतिच्छेद समान होते हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि बारहवें गुणस्थान का क्षायिकचारित्र अपूर्ण है।

यदि बारहवें गुणस्थान में यथाख्यातक्षायिकचारित्र में कोई कमी नहीं रही और तेरहवें गुणस्थान के प्रथमसमय में क्षायिककेवलज्ञान हो गया फिर तुरंत मोक्ष क्यों नहीं हो जाता है ?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्षायिक हो जाने पर भी मनुष्यायुरूप बाधक कारण के सद्भाव में मोक्ष नहीं होता है। क्षायिकभावों में यह शक्ति नहीं है कि स्थितिकाण्डकघात आदि के द्वारा मनुष्यायु की स्थिति का अपकर्षण कर क्षय कर देवे। अपनी स्थिति पूर्ण होने पर ही चरमशरीरी के आयुकर्म का क्षय होता है। कहा भी है—

"औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।" (२।५३॥ मो० शा०)

अर्थ—उपपादजन्मवाले अर्थात् देव, नारकी, चरमोत्तम देहवाले अर्थात् तद्भवमोक्षगामी, असंख्यातवर्ष की आयुवाले अर्थात् भोगभूमिया जीव अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं अर्थात् इनकी आयु नहीं घटती।

आयु के क्षय से नाम, गोत्र व वेदनीयकर्मों का क्षय होता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है— "आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होई सेसपयडीण।" (नियमसार गा० १७६)

अर्थ—केवली के फिर आयु के क्षयसे शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है।

केवली के इस मनुष्यशरीर से मुक्ति का कारण तथा इस शरीर में रुके रहने का कारण चारित्र की पूर्णता या अपूर्णता नहीं है, किन्तु मनुष्यायु का क्षय व उदय कारण है।

चौथे गुणस्थान के क्षायिक सम्यग्दर्शन और तेरहवें गुणस्थान के सम्यग्दर्शन में क्षायिकभाव की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।

—जै. ग. 5-9-66/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

सम्यक्त्व : विविध

सम्यक्त्व का जघन्यकाल

शंका—धवल पुस्तक ७ पृ० १७८ सूत्र १८९—सम्यग्दृष्टि का जघन्यकाल क्या अनेक बार सम्यक्त्व-पर्याय प्राप्त कर लेने वाले के ही होगा ? अन्य के क्यों नहीं ?

समाधान—जिस जीव ने बहुत बार सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया है ऐसे जीवका, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व में आने जाने का अभ्यासी होने के कारण, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व में रहने का काल अल्प होना संभव है, जो क्षुद्र-भव से कम होता है।

"खुद्दाभवग्गहणं पेक्खिदूण जहण्ण मिच्छत्तकालस्स थोवत्तादो।" (धवल पु० ४ पृ० ४०७)

अर्थात्—क्षुद्रभवग्रहणकाल की अपेक्षा मिथ्यात्वका जघन्यकाल और भी कम है।

"जहण्णिया संजमासंजमद्धा सम्मत्तद्धा, मिच्छत्तद्धा, संजमद्धा असंजमद्धा, सम्मामिच्छत्तद्धाओ एदाओ छप्पि अद्धाओ तुल्लाओ।" (धवल पु० ६ पृ० २७४)

अर्थ—संयमासंयम का जघन्यकाल, सम्यक्त्वप्रकृति के उदय का अर्थात् क्षयोपशमसम्यक्त्व का जघन्यकाल, मिथ्यात्वोदय का अर्थात् मिथ्यात्व का जघन्यकाल, संयम का जघन्यकाल, असंयम का जघन्यकाल और सम्यग्मिथ्यात्व के उदय का अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व तीसरेगुणस्थान का जघन्यकाल ये छहोंकाल परस्पर तुल्य हैं।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का जघन्यकाल बराबर है जो क्षुद्रभव से भी कम है। यह काल उसी क्षयोपशम-सम्यग्दृष्टि के संभव है जिसने अनेक बार सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया है।

—जै. ग. 29-8-66/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

मिथ्यात्वी भी वेदकसम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है

शंका—धवल पु० ७ पृ० १८० सूत्र १९५ क्या मिथ्यादृष्टि के वेदकसम्यक्त्व हो सकता है, यदि नहीं तो यहाँ ऐसा क्यो लिखा ? सूत्र १९६ में उपशमसम्यक्त्व से वेदकसम्यक्त्व होना लिखा है।

समाधान—सूत्र १९५ में वेदक सम्यक्त्व के जघन्यकाल का कथन है। जो जीव अनेकबार सम्यक्त्व से मिथ्यात्व को और मिथ्यात्व से सम्यक्त्व को प्राप्त हो चुका है उसी जीव के सम्यग्दर्शन का जघन्यकाल होता है। उस जीव के वह सम्यक्त्व 'वेदकसम्यग्दर्शन' होता है। जब तक सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्रप्रकृति की स्थिति पृथक्त्वसागर नहीं हो जाती उससमय तक 'वेदकप्रायोग्यकाल' है अर्थात् उससमय तक मिथ्यादृष्टिजीव के वेदक-सम्यक्त्व ही होगा, उपशमसम्यक्त्व नहीं हो सकता।

उवधिपुधत्तं तु तसे पल्लासंखूणमेगमेयक्खे।
जाव य सम्मं मिस्सं वेदगजोग्गो य उवसमस्स तदो ॥६१५॥ (गो० क०)

अर्थ—जबतक सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति और मिश्रप्रकृति की स्थिति त्रसके पृथक्त्वसागर और एकेन्द्रियके पल्य के असंख्यातवेंभागकम एकसागरप्रमाण शेष रह जावे तब तक वह 'वेदकयोग्य' काल है अर्थात् उसकाल में वेदकसम्यक्त्व की प्राप्ति होगी, उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। उक्त दोनों प्रकृतियों की स्थिति जब इससे भी कम हो जाय वह उपशमकाल है अर्थात् उस काल में प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति होगी, वेदकसम्यक्त्व की नहीं। इससे सिद्ध है कि मिथ्यात्व से वेदकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

सूत्र १९६ में वेदकसम्यक्त्व के उत्कृष्टकाल का कथन है। वह काल उसी जीव के प्राप्त हो सकता है जो बहुतकाल तक मिथ्यात्व में रहा है। ऐसे जीव के मिथ्यात्व से वेदकसम्यक्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि उसके वेदकयोग्यकाल समाप्त हो जाता है। अतः सूत्र १९६ की टीका में उपशमसम्यक्त्व से वेदकसम्यग्दर्शन ग्रहण कराया है।

—जै. ग. 29-8-66/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

सम्यग्दर्शन के असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं

शंका—सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् उपयोग कभी स्व में कभी पर में होता है। फिर सम्यग्दर्शन का परिणमन एक सा कैसे रह सकता है?

समाधान—उपयोग तो चैतन्य का परिणाम है। वह उपयोग दो प्रकार का है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठप्रकार का है और दर्शनोपयोग चारप्रकार का है।

"उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥" (त० सू०)

"उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।"

उपयोग जीव का लक्षण है। जो अंतरंग और बहिरंग दोनोंप्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता; वह परिणाम उपयोग कहलाता है। वह उपयोग दोप्रकार का है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठप्रकार का है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोगके चार प्रकार—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

"उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः।" (लघीयस्त्रय टीका)

अर्थ—ग्रहण के लिये जो व्यापार है वह उपयोग है।

इसप्रकार उपयोग यद्यपि चेतनागुणरूप है, श्रद्धागुणरूप नहीं है तथापि उपयोग का और सम्यग्दर्शन का निमित्त-नैमित्तिकसंबंध है, क्योंकि जबतक तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा उससमय तक यथार्थ श्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता है। तत्त्वचिंतन से अथवा शुद्धात्मस्वरूप चिंतन से सम्यग्दर्शन दृढ़ होता है। श्रुतकेवली के ही अवगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है और केवलीभगवान के परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है। इस कथन से भी स्पष्ट होता है कि ज्ञान और सम्यग्दर्शन का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

सम्यग्दर्शन एक प्रकार का नहीं है वह असंख्यातलोकप्रमाण प्रकार का है। अतः स्व-स्वरूप के या परस्वरूप के यथार्थ चिंतन से सम्यग्दर्शन में निर्मलता आती है। (See Also धवल पु० १ पृ० ३६८)

—जै. ग 18-3-71/VII/ टोडनलाल

सम्यग्दर्शन की पूर्णता

शंका—आपने लिखा है कि आचार्य महाराज (श्री शान्तिसागरजी) पूर्ण सम्यग्दृष्टि थे। अपूर्ण सम्यग्दर्शन कौनसा है तथा अपूर्ण सम्यग्दृष्टि के पहचानने के क्या चिह्न हैं ?

समाधान—जिनागम में सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे गए हैं—१. निःशंकित २. निःकाङ्क्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढदृष्टि ५. उपगूहन ६. स्थितिकरण ७. वात्सल्य ८. प्रभावना। जो सम्यग्दर्शन इन आठों अंगों सहित होता है वह पूर्ण सम्यग्दर्शन है और जो इन अंगों से रहित है वह अपूर्ण सम्यग्दर्शन है। यदि मनुष्य का शरीर अंग रहित हो तो वह शरीर पूर्ण नहीं कहलाता उसीप्रकार अंगरहित सम्यग्दर्शन पूर्ण नहीं होता—

> नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
> न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥ २१ ॥ र० श्रा० ॥

अर्थ—अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म-मरण की परम्परा का नाश नहीं कर सकता जैसे कि हीन अक्षरवाला मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता।

अष्ट अंगों के अभाव के द्वारा अपूर्ण सम्यग्दर्शन की पहचान हो सकती है।

—जै. सं. 31-1-57/VI/ मो. ला. ज. सीकर

सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र का क्षयोपशम, उपशम

शंका—सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र का क्षयोपशम किस-किस गुणस्थान तक रहता है। उपशमश्रेणी में और द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है ? उपशमश्रेणी सातवें गुणस्थान के अन्त तथा आठवें गुणस्थान के प्रारम्भ में शुरू हो जाती है और उपशमश्रेणी चारित्रमोह की २१ प्रकृतियों की अपेक्षा से है, किन्तु क्षयोपशमचारित्र दसवेंगुणस्थान तक कहा है। सो उपशम और क्षयोपशम दोनों एक ही चारित्रसम्बन्धी एक साथ कैसे होते हैं ?

समाधान—क्षयोपशमसम्यग्दर्शन चौथेगुणस्थान से सातवेंगुणस्थान तक होता है। क्षयोपशमचारित्र पाँचवें से सातवें तक अथवा किसी अपेक्षा दसवेंगुणस्थान तक होता है। द्वितीयोपशमसम्यक्त्व का काल अधिक है और उपशमश्रेणी का काल कम है। अतः द्वितीयोपशमसम्यक्त्व उपशमश्रेणी से पूर्व और पश्चात् भी चतुर्थादि गुणस्थानों में होता है। चारित्रमोह की २० प्रकृतियों का उपशम नवेंगुणस्थान में होता है और सूक्ष्मलोभ का उपशम दसवेंगुणस्थान में होता है, किन्तु उपशमश्रेणी में आठवें गुणस्थान में चारित्र की उपशमचारित्र संज्ञा हो जाती है, क्योंकि वह आगामी चारित्रमोह का उपशम करेगा। (देखो ध० खं० पुस्तक १ पत्र १८१-१८२, २१०-२११, पु० ५ पत्र २०४, १९५-१९६ व पु० ६ पत्र ३३७-३३८) किन्तु छठेगुणस्थान से दसवेंगुणस्थान तक देशघातिप्रकृति संज्वलनकषाय का उदय रहता है अतः दसवेंगुणस्थान तक क्षयोपशमचारित्र भी कहा गया है। अपेक्षाभेद के कारण एक ही चारित्र को उपशमचारित्र भी कह सकते हैं और क्षयोपशमचारित्र भी कह सकते हैं। जिस अपेक्षा से उपशमचारित्र कहा है, उस अपेक्षा से क्षयोपशमचारित्र नहीं कह सकते हैं, जिस अपेक्षा से क्षयोपशमचारित्र कहा है, उस अपेक्षा से उपशमचारित्र नहीं कह सकते।

उपशमश्रेणीमें चारित्रमोह का उपशम होता है और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व में दर्शनमोह का उपशम होता है।

—जै. स. 14-6-56/VI/ क. दे. गया

सम्यक्त्व अनन्त संसार को काट कर सान्त कर देता है

शंका—समयसार गाथा ३२० की टीका के भावार्थ में 'समुद्र में बूंद की गिनती क्या' ऐसा लिखा है। यह दृष्टान्तरूप में है, किन्तु यह कथन दार्ष्टान्त पर कैसे घटता है ?

समाधान—भावार्थ में लिखा है—"मिथ्यात्व के चले जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है, समुद्र में बूंद की क्या गिनती ?" यहाँ पर यह बतलाया गया है कि समुद्र में जल अपरिमित है और जलबिन्दु परिमित है तथा समुद्रजल की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म अंश है। इसी प्रकार अनादिमिथ्यादृष्टि का संसारपरिभ्रमणकाल समुद्रजल की तरह अपरिमित है अनन्तानन्त है, किन्तु मिथ्यात्व चले जानेपर अर्थात् सम्यग्दर्शन हो जाने पर अपरिमित अनन्तानन्त संसारपरिभ्रमणकाल कटकर मात्र अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल रह जाता है, जो अनन्तानन्त संसारकाल की अपेक्षा बहुत अल्पकाल है अर्थात् समुद्रमें जलबिन्दु के समान है। श्री वीरसेनादि आचार्यों ने कहा है—

"एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि काऊण गहिदसम्मत्त-पढमसमए सम्मत्तगुणेण अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।" (धवल पु० ५ पृ० १५)

अर्थ—एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव ने अधः प्रवृत्तादि तीनोंकरण करके सम्यक्त्व ग्रहण करने के प्रथम समय में सम्यक्त्वगुण के द्वारा अनन्तसंसार छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण किया।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यादृष्टि अनन्तसंसार को छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाणकाल नहीं कर सकता, किन्तु मिथ्यात्व के चले जाने पर सम्यग्दृष्टि ही सम्यक्त्वगुण के द्वारा अनन्तसंसारकाल को छेद कर अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र कर देता है।

—जै. ग. 25-3-81/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

सम्यक्त्व का माहात्म्य

शंका—जिसे एक बका भी सम्यक्त्व हो गया क्या उसे कभी न कभी मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी ? प्रमाणपूर्वक खुलासा कीजिए।

समाधान—जिसको प्रथमबार सम्यक्त्व ग्रहण हुआ है वह अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन काल में अवश्य मोक्ष को प्राप्त होगा। (ध० खं० ५/१४-१७ तक अन्तर प्ररूपणा सूत्र ११ की टीका से यह बात सिद्ध होती है।)

—जै. सं. 28-6-56/VI/ र. ला. जैन, केकड़ी

सम्यक्त्व ही अनन्त संसार को अर्द्ध पुद्गल प्रमाण करता है

शंका—सम्यग्दर्शन होने पर संसार की स्थिति अर्धपुद्गलपरावर्तन रह जाती है या जब अर्धपुद्गल परावर्तन स्थिति रह जाती है तब सम्यग्दर्शन होता है ?

समाधान—सम्यग्दर्शन होने के प्रथमसमय में संसार की अनन्तस्थिति कटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र रह जाती है। अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का और संसारस्थिति कटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तन-

संसारकाल रह जाने का एक ही समय है। यद्यपि इस एकसमय की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अर्धपुद्गल-परिवर्तनकाल शेष रहनेपर सम्यग्दर्शन होता है, तथापि कार्य-कारण की दृष्टि से देखा जाय तो सम्यग्दर्शनरूप परिणाम में ही यह शक्ति है कि अनादिमिथ्यादृष्टि का अनन्त संसार (अंतरहित संसारकाल) काटकर अर्ध-पुद्गलपरिवर्तनमात्रकाल कर देवे। इसलिये सम्यग्दर्शन कारण है और अर्धपुद्गलपरिवर्तनसंसारकाल रह जाना कार्य है। कहा भी है—

"एक अनादिमिथ्यादृष्टि अपरीतसंसारी (जिसके संसार की अवधि न हो अथवा अन्त न हो) जीव, अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनोंकरणों को करके सम्यक्त्व ग्रहण के प्रथमसमय में ही सम्यक्त्व-गुण के द्वारा पूर्ववर्ती अन्त-रहित संसार को छेदकर परीत (सान्त, सावधि) संसारी हो, अधिक से अधिक अर्ध-पुद्गलपरिवर्तन काल तक संसार में रहता है।" (धवल पु० ४ पृ० ३३५)

"एक्को अणादियमिच्छादिट्ठी तिण्णि करणाणि करिय सम्मत्तं पडिवण्णो। तेण सम्मत्तेण उप्पण्णमाणेण अणंतो संसारो छिण्णो संतो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।" (धवल पु० ४ पृ० ४७९)

अर्थ—एक अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यजीव तीनोंकरणों को करके सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। उत्पन्न होने के साथ ही उस सम्यक्त्व से अनन्त (अन्तरहित) संसार छिन्न होता हुआ अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल मात्र कर दिया गया।

"एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि काढूण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।" (धवल पु० ५ पृ० ११, १२, १४, १५, १६, १९)

अर्थ—एक अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यजीव ने अधःप्रवृत्तादि तीनोंकरण करके उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथमसमयमें अनन्त (अन्त रहित, अमर्यादित) संसार को छिन्नकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र किया। (यह कथन धवल पु० ५ पृ० ११, १२, १४, १५, १६ व १९ पर भी है।

"अप्पडिवण्णे सम्मत्ते अणादिअणंतो भविय-भावो अंतावीदसंसारादो; पडिवण्णे सम्मत्ते अण्णो भवियभावो उप्पज्जइ, पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तसंसारावट्ठाणादो।" (धवल पु० ७ पृ० १७७)

अर्थ—जब तक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व अनादि-अनन्तरूप है, क्योंकि तब तक उसका संसार अंतरहित है, किन्तु सम्यक्त्व के ग्रहण करलेने पर अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर फिर केवल अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक संसार में स्थिति रहती है। (यह कथन धवल पु० ४ पृ० ४७७ पर भी है)

"अणादियमिच्छादिट्ठिम्मि तिण्णि वि करणाणि काऊण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णम्मि अणंतसंसारं छेत्तूण दुविय-अद्धपोग्गलपरियट्टम्मि।" (जयधवल पु० २ पृ० २५३)

अर्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तीनों करणों को करके "उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और अनन्त (अंतरहित) संसार को छेदकर संसार में रहने के काल को अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण किया।"

"एगो अणादिय मिच्छादिट्ठी तिण्णि वि करणाणि काऊण पढमसम्मत्तं पडिवण्णो। तत्थ सम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए संसारमणंतं सम्मत्तगुणेण छेत्तूण पुणो सो संसारो तेण अद्धपोग्गल-परियट्टमेत्तो कदो।" (जयधवल पु० २ पृ० ३९१)

अर्थ—एक अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव तीनों ही करणों को करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। "तथा सम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथम समय में सम्यक्त्व गुण के द्वारा अनन्त संसार को छेदन कर उसने संसार को अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र कर दिया।"

"संसारतटे निकटः सम्यक्त्वोत्पत्तितः उत्कृष्टेन अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालपर्यन्तं संसार-स्थायीत्यर्थः।" (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)।

अर्थ—जिसका संसार तट निकट हो अर्थात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिकाल से जिसकी संसार स्थिति का उत्कृष्ट काल अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र रह गया हो।

"मिथ्यादर्शनस्यापक्षयेऽसंयतसम्यग्दृष्टेरनन्तसंसारस्य क्षीयमाणत्व सिद्धेः।" (श्लोकवार्तिक १।१।१०५)।

अर्थात्—मिथ्यादर्शन (दर्शनमोहनीय) कर्म के उदय का अभाव हो जाने पर (सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर) अनन्त संसार का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार अनेक आचार्यों ने यह बतलाया है कि जिस भव्य अनादि मिथ्यादृष्टि जीव का संसार काल अन्त रहित था अर्थात् जिसके मोक्ष जाने का काल निश्चित या नियत नहीं था, सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने पर उसका संसारकाल उत्कृष्ट रूप से अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र रह जाता है अर्थात् यह निश्चित हो जाता है कि वह भव्यजीव अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल में मोक्ष चला जायगा। श्री कुन्दकुन्द आचार्य भी इसी बात को भावपाहुड़ गाथा ८२ में निम्न शब्दों द्वारा कहते हैं।

"तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भावि भवमहणं।"

अर्थात्—धर्मों में सर्व श्रेष्ठ जिनधर्म है। जिसकी श्रद्धामात्र से (सम्यग्दर्शन से) भावि अनन्तसंसार का नाश हो जाता है।

"जो यह मानते हैं कि सब जीवों के अर्थात् अनादिमिथ्यादृष्टि जीवों के भी मोक्ष जाने का काल नियत है अन्यथा सर्वज्ञता की हानि हो जायगी, क्या उनको उपर्युक्त सर्वज्ञवाणी पर श्रद्धा है। जिसको सर्वज्ञ-वाणी पर श्रद्धा नहीं है वह सर्वज्ञ के मानने वाला नहीं हो सकता।

—जै. ग. 16-11-67/VII/ क. च.

सम्यक्त्व के प्रथम समय में अनन्त संसार छिद कर सान्त हो जाता है

शंका—२८ नवम्बर १९६६ के जैनगजट में समाधान करते हुए यह लिखा है कि जब तक जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो तब तक उसका अनन्तसंसार रहता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर अनन्तसंसार छिदकर अर्धपुद्गल परिवर्तनप्रमाण रह जाता है, किन्तु इसके विपरीत १२ दिसम्बर के जैनगजट में समाधान में यह लिखा है कि मूलाराधना में बतलाया है कि भरतचक्रवर्ती के ९२३ पुत्र नित्य-निगोद से निकलकर मनुष्यभव धारण कर केवलज्ञान प्राप्त कर उसी भव से मोक्ष गये। इन्होंने अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल कब किया था, जब उसी भव से मोक्ष गये ?

समाधान—नित्य-निगोद से निकलकर मनुष्य होकर प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन के प्रथमसमय में अनन्तानन्त संसारकाल का छेद होकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल रह जाता है। यदि उस जीव का समाधिमरण हो तो अर्ध-पुद्गलपरिवर्तनकाल छिदकर मात्र सात-आठ भवप्रमाण रह जाता है। (मूलाचार अ. २ गा ४१) यदि वह जीव उसी भव में क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो जावे तो अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल कटकर चार भव रह जाता है। यदि तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेवे तो तीन भव रह जाता है यदि क्षपकश्रेणी पर आरोहण करे तो तद्भव की शेष आयु प्रमाण काल शेष रह जाता है। इसप्रकार जीव का परिणामों के द्वारा संसारकाल छिद जाता है। भरतजी के वर्धनकुमार आदि ९२३ पुत्रों ने जब क्षायिकसम्यग्दर्शन ग्रहण किया और क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए तो वह अर्धपुद्गलपरिवर्तन संसारकाल कटकर तद्भव शेषायु प्रमाण रह गया। अतः उक्त दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है।

—जै. ग. 1-2-68/VII/ र. ला. सेठी

सम्यक्त्व का माहात्म्य—१. सम्यक्त्व से ही अनन्त संसार सान्त होता है
२. नियतिवाद-एकान्त मिथ्यात्व से सम्यक्त्व के माहात्म्य को आँच आती है
३. मोक्ष जाने का काल नियत नहीं है

शंका—ऐसा कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन के द्वारा अनंतसंसारकाल कटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र रह जाता है। प्रत्येक जीव के मोक्ष जाने का कालनियत है। जब मोक्ष जाने का काल नियत है तो उसका संसार काल भी नियत है। यदि संसारकाल घट सकता है तो मोक्ष जाने का काल नियत नहीं रहता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि मोक्षपर्याय अपने नियत काल पर ही होगी आगे-पीछे नहीं हो सकती। अतः सम्यग्दर्शन के द्वारा अनन्त संसारकाल कटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र काल नहीं रहता है।

समाधान—नियतिवाद एकांतमिथ्यात्व का ऐसा नशा चढ़ा है कि दिगम्बर जैन आर्ष ग्रंथों पर भी श्रद्धा नहीं रही और सम्यग्दर्शन के महात्म्य से भी इन्कार होने लगा।

अनादिमिथ्यादृष्टि जिसका संसारकाल अनन्त है वह सम्यक्त्व गुण के द्वारा अनन्तसंसार काल को घटाकर अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र कर देता है। श्री वीरसेन आचार्य ने कहा भी है—

"एगो अणादिय मिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्ठिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि काढूण सम्मत्तं गहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कसेण चिट्ठदि।" (धवल पु. ४ पृ. ३३५)।

अर्थात्—एक अनादिमिथ्यादृष्टि अपरीत (जिसका संसार अमर्यादित अर्थात् अनन्तसंसार शेष है) संसारी जीव, अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनो ही करणों को करके सम्यक्त्वग्रहण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्वगुण के द्वारा पूर्ववर्ती अनन्तसंसारीपना घटाकर अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र शेष संसार काल की मर्यादा कर देता है।

"एक्को अणादियमिच्छादिट्ठी तिण्णि करणाणि करिय सम्मत्तं पडिवण्णो तेण सम्मत्तेण उप्पज्जमाणेण अणंतो संसारो छिण्णो संतो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो" (धवल पु. ४ पृ. ४७९)।

अर्थ—कोई एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव तीनोंकरणों को करके सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। उत्पन्न होने के साथ ही उस सम्यक्त्व के द्वारा शेष अनन्त संसार काटकर अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल मात्र कर दिया गया।

"एक्केण अणादिय मिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि काऊण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।" (धवल पु. ५ पृ. ११)।

अर्थ—एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने अधः प्रवृत्तादि तीनोंकरण करके उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथमसमय में शेष अनंतसंसार को छिन्नकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र किया।

"अप्पडिवण्णे सम्मत्ते अणादि-अणंतो भविय भावो अंतादीदसंसारादो, पडिवण्णे सम्मत्ते अण्णो भविय भावो उप्पज्जइ, पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तसंसारावट्ठाणादो।" (धवल पु. ७ पृ. १७७)।

अर्थ—जब तक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व भाव अनादि-अनन्त है, क्योंकि तब उसका संसारकाल अन्तरहित है। किन्तु सम्यक्त्व के ग्रहण कर लेने पर अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व के उत्पन्न हो जाने पर केवल अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्रकाल तक संसार मे स्थिति रहती है।

इन आर्षग्रंथों से सिद्ध है कि अनादिमिथ्यादृष्टिजीव का शेष संसारकाल घट जाता है। जब शेष संसार काल घट सकता है तो मुक्तिकाल नियत नहीं हो सकता, क्योंकि संसारकाल की समाप्ति और मुक्तिकाल का प्रारंभ दोनों का एक ही समय अर्थात् समकाल है। इसीलिए सब जीवों का मुक्तिप्राप्तकाल नियत नहीं है।

भव्य जीव अपने नियतकाल के अनुसार ही मोक्ष जायगा इस शंका के उत्तर में श्री अकलंकदेव ने कहा है कि मोक्ष जाने का काल नियत नहीं है।

"यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वक मोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनंतानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति, ततश्च न युक्तम्-भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः इति।" 'यदि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात्।' (राजवार्तिक १।३)।

अर्थात्—भव्यों के समस्त कर्मों की निर्जरा से होने वाले मोक्ष के काल का कोई नियम नहीं है। कोई जीव संख्यातकाल में मोक्ष जायगा, कोई असंख्यात और कोई अनन्तकाल में मोक्ष जायगा। कोई अनन्तानन्तकाल तक भी मोक्ष नहीं जायेंगे। 'इसलिये भव्यों के मोक्ष जाने के काल का नियम है', ऐसा कहना ठीक नहीं है। यदि सब ही के काल का नियम मान लिया जावे अर्थात् सबही में एक काल को ही कारण मान लिया जावे तो प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण के विषयभूत बाह्य और अभ्यन्तर कारणों से विरोध आजावेगा अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर कारणों के अभाव का प्रसंग आजायगा।

सम्यग्दृष्टि विचार करे हैं 'काललब्धि व होनहार तो किछु वस्तु नाहीं। जिस काल विषै जो कार्य होय है सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार है।' जो मिथ्यादृष्टि ऐसा कहते हैं कि जब होनहार होगी तब सम्यग्दर्शन होगा, उससे आगे पीछे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। उसको सम्यग्दृष्टि कहता है—'यदि तेरा ऐसा श्रद्धान है तो सर्वत्र कोई कार्य का उद्यम मति करे। तू खान-पान, व्यापार आदि का तो उद्यम करे, और यहाँ होनहार बतावे, सो जानिए है तेरा अनुराग यहाँ नहीं है।'

—जै. ग. 6-3-66/IX/..................

सम्यग्दृष्टि के संसार-वास का काल

शंका—उपशमसम्यग्दर्शन होने पर अनादिमिथ्यादृष्टि का अनन्तसंसारकाल कटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तन-मात्र संसारकाल शेष रह जाता है। जब वह जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर पुनः मिथ्यात्व में जाता है तो क्या उसका संसार काल पुनः बढ़ जाता है।

समाधान—प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन के द्वारा जो अनंतसंसारकाल कटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र रह जाता है वह काल समाधि-मरण आदि के द्वारा कम तो हो सकता है, किन्तु बढ़ नहीं सकता है; क्योंकि जिस जीव को एकबार सम्यग्दर्शन हो गया है वह अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक ही संसार में भ्रमण कर सकता है। क्योंकि सादिमिथ्यादृष्टि का उत्कृष्टकाल अर्धपुद्गलपरिवर्तन है। (धवल पु० ४ पृ० ४२५ सूत्र ४)

—जै. ग. 21-11-66/IX/ मगनमाला

अर्द्ध पुद्गल परावर्तन का जघन्य काल भी अनन्त है

शंका—अर्धपुद्गलपरिवर्तन का जघन्य और उत्कृष्ट काल कितना है ?

समाधान—पुद्गलपरिवर्तन का जघन्यकाल भी अनन्त है और उत्कृष्टकाल भी अनन्त है, किन्तु जघन्य से उत्कृष्ट का काल अनन्तगुणा है। धवल पु० ४ पृ० ३३१। इसीप्रकार अर्धपुद्गलपरिवर्तन के विषय में भी जानना चाहिए।

—जै. ग. 1-2-68/VII/ श. ला. सेठी

"अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तन" का प्रमाण

शंका—अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन का कितना काल है ?

समाधान—अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन में भी अनन्त सागर होते हैं।[1]

—पत्राचार 16-10-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप

शंका—अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन काल कितना होता है ? यह कौनसे अनन्त में गर्भित है ? यह अक्षय है या सक्षय ?

समाधान—कार्मणवर्गणा और नोकर्मवर्गणा इन दोनों की अपेक्षा से एक पुद्गलपरिवर्तनकाल होता है। यह अनन्तरूप है। इनमें से एक की अपेक्षा अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तनकाल है। यह अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तन

---

१. परन्तु यहाँ 'अनन्त' से सक्षय अनन्त लेना चाहिये, अक्षय अनन्त नहीं; इतना विशेष ज्ञातव्य है।
"सम्पादक"

काल अपने समयों की संख्या की अपेक्षा मध्यम अनन्तानन्तस्वरूप है। यह काल अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान के विषय से बाहर है। यह मात्र केवलज्ञान का विषय होने से भी "अनन्त" कहलाता है। (त्रिलोकसार) यह औपचारिक अनन्त है, क्योंकि इसकी समाप्ति देखी जाती है। आय बिना मात्र व्यय होने पर भी जो संख्या समाप्ति को प्राप्त न हो वह वास्तविक अनन्त है—अक्षय अनन्त है।

—पत्राचार 17-2-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

(१) पुद्गल परिवर्तन का काल वास्तविक है
(२) अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल कथंचित् असंख्यातरूप है, कथंचित् अनंतरूप

शंका—पंचपरावर्तन का पृथक्-पृथक् जो काल बताया गया है और एक से दूसरे का काल अनन्तगुणा कहा है। यह सब अतीतकाल की विशालता प्रगट करने के लिये कि मैं कितने अथवा कितने लम्बे काल से भ्रमण कर रहा हूँ, इसका अज्ञानी जीव को परिज्ञान कराने के लिये उपदेश है या वास्तव में कुछ ज्ञेयपदार्थ है जो केवलज्ञान का विषय बना है। इस पर चर्चा होते-होते यहाँ तक सहमत हुये कि यदि भगवान के ज्ञान का ज्ञेय है तो छद्मस्थ जीवों के विकल्परूप तो हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह स्वयं ज्ञेय है, यह निर्णय नहीं हो सका। इस पर आगमप्रमाण क्या है ?

समाधान—पंचपरावर्तन का पृथक् पृथक्काल आर्षग्रन्थों में कहा गया है वह दिव्यध्वनि अर्थात् जिनवाणी अनुसार कहा गया है। यद्यपि यह काल अक्षयअनन्त नहीं तथापि इसकी संख्या इतनी अधिक है कि जो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के विषय से बाहर है। अनन्तज्ञान का विषय होने से इन पंचपरिवर्तनकालों को अनन्त कहा है। पुद्गलपरिवर्तनकालमात्र काल्पनिक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर संसारपरिभ्रमणकाल अर्धपुद्गलपरिवर्तन रह जाता है। श्री वीरसेन आचार्य ने कहा भी है—

"अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तनकालः सक्षयोऽप्यनंतः छद्मस्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात्। केवलमनन्तस्तद्विषयत्वाद्वा। जीवराशिस्तु पुनः संख्येयराशिक्षयेऽपि निर्मूलप्रलयाभावादनन्त इति। (धवल पु० १ पृ० ३९३)

अर्थ—अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल क्षय सहित होते हुए भी इसलिये अनन्त है कि छद्मस्थ जीवों के द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है, किन्तु केवलज्ञान वास्तव में अनन्त है अथवा अनन्त को विषय करनेवाला होने से वह अनन्त है। संख्यातराशि के क्षय हो जाने पर भी जीवराशि का निर्मूल नाश नहीं होता, इसलिये अनन्त है।

"किमसंखेज्जं णाम ? जो रासी एगेगरूवे अवणिज्जमाणे णिट्ठादि सो असंखेज्जो। जो पुण ण समप्पइ सो रासी अणंतो। जदि एवं तो वयसहिदसव्वयअद्धपोग्गलपरियट्टकालो वि असंखेज्जो जायदे ? होदु णाम। कधं पुणो तस्स अद्धपोग्गलपरियट्टस्स अणंतववएसो ? इदि चे ण, तस्स उवयारणिबंधणत्तादो। तं जहाअणंतस्स केवलणाणस्स विसयत्तादो अद्धपोग्गलपरियट्टकालो वि अणंतो होदि। केवलणाणविसयत्तं पडिविसेसाभावादो सव्वसंखाणमणंतत्तं जायदे ? चे ण, ओहिणाणविसयवदिरित्तसंखाणे अणण्णविसयत्तेण तदुवयारपवुत्तीदो। अहवा जं संखाणं पंचिंदियविसओ तं संखेज्जंणाम। तदो उवरि जमोहिणाणविसओ तमसंखेज्जं णाम तदो उवरि जं केवलणाणस्सेव विसओतमणंतं णाम।' (धवल पु० ३ पृ० २६७-२६८)

अर्थ—अनन्त से असंख्यात में क्या भेद है ? एक-एक संख्या के घटाते जाने पर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंख्यात है और जो राशि समाप्त नहीं होती है वह अनन्त है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो व्ययसहित होने से नाश को प्राप्त होनेवाला अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल भी असंख्यातरूप हो जायगा ? उत्तर—हो जाओ। प्रश्न—तो फिर उस अर्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल को अनन्त संज्ञा कैसे दी गई है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि अर्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल को जो अनन्त संज्ञा दी गई है वह उपचार निमित्तक है। आगे उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—अनन्तरूप केवलज्ञान का विषय होने से अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल भी अनन्त है, ऐसा कहा जाता है। प्रश्न—सभी संख्या केवलज्ञान का विषय हैं अतः उनमें कोई विशेषता न होने से सभी संख्याओं को अनन्तत्व प्राप्त हो जायगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि जो संख्याएँ अवधिज्ञान का विषय हो सकती हैं उनसे अतिरिक्त ऊपर की संख्याएँ केवलज्ञान को छोड़कर दूसरे अन्य किसी ज्ञान का भी विषय नहीं हो सकती हैं, अतएव ऐसी संख्याओं में अनन्तत्व के उपचार की प्रवृत्ति हो जाती है। अथवा जो संख्या पाँचों इन्द्रियों का विषय है वह संख्यात है। उसके ऊपर जो संख्या अवधिज्ञान का विषय है वह असंख्यात है। उसके ऊपर जो संख्या केवलज्ञान के विषयभाव को ही प्राप्त होती है वह अनन्त है।

जावदियं पच्चक्खं जुगवं सुदओहिकेवलाण हवे।
तावदियं संखेज्जमसंखमणंतंकमा जाणे ॥५२॥ (त्रिलोकसार)

युगपत् प्रत्यक्ष प्रतिभासनेरूप विषय श्रुतज्ञान का संख्यात है, अवधिज्ञान का प्रत्यक्ष प्रतिभासनेरूप विषय असंख्यात है और केवलज्ञान का विषय अनन्त है।

इससे स्पष्ट है कि पुद्गलपरिवर्तन आदि पंचपरिवर्तनरूप वास्तविक काल है।

—जै. ग. 29-5-69/VI/ ब्र..... ...

"अर्द्धपुद्गलपरावर्तन शेष रहने पर", का अर्थ

शंका—श्री मुनिसंघ में सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक के आधार पर निम्न चर्चा चली है—

अध्याय २ सूत्र ३ की टीका में काललब्धि के प्रकरण में बतलाया है कि जिस जीव के १. कर्मस्थिति अन्तःकोटाकोटी हो, २. संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्त विशुद्धपरिणामवाला हो, ३. अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रह गया हो। उस जीव के प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता होती है।

इनमें प्रथम काललब्धि अर्थात् 'अन्तःकोटाकोटी प्रमाण कर्मस्थिति' अनेक बार हो सकती है। इसीप्रकार द्वितीयकाललब्धि 'संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्त विशुद्धपरिणाम' भी अनेक बार हो सकते हैं। इसीप्रकार तीसरीकाललब्धि 'अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रहना' भी अनेक बार होता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—एक पुद्गलपरावर्तनकाल में से आधाकाल बीत जाने के पश्चात् उस पुद्गलपरावर्तन का जब अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रह जाता है तब उस जीव की तीसरी काललब्धि प्रारम्भ होती है। यदि इस अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल में सम्यक्त्वोत्पत्ति नहीं हुई तो यह काललब्धि समाप्त हो जाती है। दूसरा पुद्गलपरावर्तनकालप्रारम्भ होता है इस दूसरे पुद्गलपरावर्तनकाल में से जब आधाकाल बीत जाता है और अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रहता है तब इस जीव के पुनः तीसरी काललब्धि का प्रारम्भ होता है। यदि इस अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल में भी सम्यक्त्वोत्पत्ति नहीं

हुई तो यह तीसरी काललब्धि पुनः समाप्त हो जाती है। इसप्रकार प्रत्येक पुद्गलपरावर्तनकाल के आधाकाल बीत जाने पर और शेष अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल रह जाने पर तीसरी काललब्धि आती रहती है। अर्द्धपुद्गलपरावर्तन-काल शेष रहने पर, इसका इस प्रकार अर्थ करना क्या आर्ष विरुद्ध है ? यदि है तो उस आर्षग्रन्थ का प्रमाण क्या है ? सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर शेष संसारकाल अर्द्धपुद्गलपरावर्तनमात्र रह जाता है या संसारकाल अर्द्धपुद्-गलपरावर्तनमात्र रह जाने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक अ० २ सू० ३ की टीका में "कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽव-शिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिक इतीयं काललब्धिरेका।"

अर्थ—अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकाल अवशिष्ट रहने पर प्रथमसम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता होती है। अधिक-काल अवशिष्ट रहने पर योग्यता नहीं रहती, यह एक काललब्धि है।

इसमें 'ससार' का शब्द नहीं है अतः 'संसारकाल अर्धपुद्गलपरिवर्तन अवशिष्ट रहने पर' ऐसा अर्थ किस आधार पर किया जावे ? यदि श्री अकलंकदेव तथा पूज्यपादस्वामी को यह अर्थ इष्ट होता तो वे 'संसार' शब्द का प्रयोग अवश्य करते, किन्तु उन्होंने 'संसार' शब्द का प्रयोग नहीं किया है इससे तो यह अर्थ हो सकता है कि प्रत्येक पुद्गलपरिवर्तनकाल में अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल अवशिष्ट रहने पर प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता होती है।[1]

श्री स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३०८ की टीका पृ० २१७ पर भी 'कर्मवेष्टितो भव्यजीवः अर्धपुद्गल-परिवर्तकाले उद्धरिते सति औपशमिकसम्यक्त्वग्रहणयोग्यो भवति। अर्धपुद्गलपरिवर्तनाधिके काले सति प्रथम-सम्यक्त्वस्वीकारयोग्यो न स्यादित्यर्थः।"

अर्थ—कर्म से घिरे हुए भव्य जीव के अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल शेष रहने पर औपशमिकसम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता होती है। अर्धपुद्गलपरिवर्तन से अधिककाल होने पर प्रथमसम्यक्त्व स्वीकार करने की योग्यता नहीं होती।

यहाँ पर भी 'संसार' शब्द नहीं है। अतः राजवार्तिक से इसमें कोई विशेषता नहीं है। यदि टीकाकार को 'अर्धपुद्गलपरिवर्तनसंसारकाल शेष रहने पर', ऐसा अर्थ इष्ट होता तो 'संसार' शब्द का प्रयोग अवश्य किया जाता, जैसा कि "तद्विविधपरिणामैः उत्कृष्टतः अर्धपुद्गलावर्तकालं संसारे स्थित्वा पश्चात् मुक्तिं गच्छतीत्यर्थः।" इस वाक्य में संसार शब्द का प्रयोग किया है। इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि प्रथमसम्यक्त्व से मिथ्यात्वउदय

---

१. "अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल शेष रहने पर"; इस वाक्यांश का उपर्युक्त अर्थ विचारणीय लगता है। वास्तव में तो सम्यक्त्व में अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र संसार शेष रखने की सामर्थ्य होने से, जो सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त करने वाला है ऐसे सातिशयमिथ्यात्वी को भी यह कह दिया जाता है कि इसके अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन-काल शेष रहा है। क्योंकि निकट भविष्य [अन्तर्मुहूर्त बाद] में अवश्यम्भावी सम्यक्त्व की सामर्थ्य का वर्तमान मिथ्यात्व अवस्था में भी उपचार किया है।

अथवा अनन्त संसार मिथ्यात्व अवस्था में सान्त हो जाता है, यह भी एक मत है। [देखो—जैनगजट दि० 5-6-75/VI/ भूषणलाल की शंका का समाधान, जै. ग. दि० 14-8-69 एवं दि० 29-3-73 आदि]

के कारण गिरकर अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक संसार में रहकर पश्चात् मोक्ष जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्यक्त्व परिणाम में ही शक्ति है कि वह अनन्तसंसारकाल को छेदकर अर्धपुद्गल-परिवर्तन संसारकाल कर देता है।

सम्यक्त्वोत्पत्ति की योग्यता का कथन गाथा ३०७ में है जो इस प्रकार है—

चदुगदि भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण-पज्जत्तो।
संसार-तडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥ ३०७ ॥ (स्वा० का०)

अर्थ—चारोंगति का भव्यसंज्ञी-पर्याप्त-विशुद्धपरिणामी, जागता हुआ, ज्ञानीजीव संसारतट के निकट होने-पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

इसकी संस्कृत टीका में पृ० २१६ पर 'ससार तट निकट' का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

"संसारतटे निकटः सम्यक्त्वोत्पत्तितः उत्कृष्टेन अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालपर्यन्तं संसारस्थायीत्यर्थः।"

अर्थ—'संसारतट निकट' इसका अभिप्राय है कि सम्यक्त्वोत्पत्ति से उत्कृष्टसंसारस्थिति अर्धपुद्गल-परिवर्तनकालपर्यंत रह जाती है।

इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्व हो जाने पर उत्कृष्ट संसारकाल अर्धपुद्गलपरिवर्तमानमात्र रह जाता है न कि सम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्व संसारकाल अर्धपुद्गलपरिवर्तमानमात्र रह जाना हो, क्योंकि सम्यक्त्व-परिणाम में ही यह शक्ति है कि अनन्तसंसारकाल को काटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कर देता है। यह ही सम्य-क्त्व का वास्तविक महत्त्व है।

इसी बात को श्री वीरसेनस्वामी षट्खंडागम की धवल टीका में कहते हैं—

"एगो अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि काऊण सम्मत्तं गहिद पढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गल-परियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि।" (धवल पु० ४ पृ० ३३५)

अर्थ—एक अनादिमिथ्यादृष्टि अपरीत संसारी (जिसका संसार बहुत शेष है ऐसा) जीव, अधः प्रवृत्त-करण-अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण, इन तीनों ही करणों को करके सम्यक्त्वग्रहण के प्रथमसमय में ही सम्यक्त्वगुण के द्वारा पूर्ववर्ती अपरीत (दीर्घ) संसारीपना हटाकर परीत (निकट) संसारी हो करके अधिक से अधिक पुद्गल-परिवर्तन के आधेकाल प्रमाण ही संसार में ठहरता है।

इस आर्षवाक्य में यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्यक्त्वग्रहण के प्रथमसमय में सम्यक्त्वगुण के द्वारा दीर्घ-संसार को हटाकर अर्धपुद्गलपरिवर्तमानकाल करता है अर्थात् सम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्व उसका अर्धपुद्गलपरिवर्तन संसारकाल नहीं हुआ, किन्तु उसका अनन्तकाल था।

इस बात को धवल पुस्तक पांच में भी स्पष्ट किया गया है, जो इस प्रकार है—

"एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण गहिदसम्मत्तपढमसमए सम्मत्तगुणेण अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।" पृ० ११, १२, १५, १६, १९) ।

अर्थ—एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव ने तीनोंकरण करके सम्यक्त्व ग्रहण करने के प्रथमसमय में सम्यक्त्वगुण के द्वारा अनन्तसंसार छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण किया।

इन आर्ष वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन से पूर्व अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल नहीं रहता, किन्तु अनन्तसंसारकाल रहता है जिसको सम्यक्त्वगुण के द्वारा छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण संसारकाल कर देता है।

इसीलिये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३०७ की संस्कृत टीका में 'संसारतटे निकटः' का अर्थ यह किया गया है कि सम्यक्त्वोत्पत्ति से संसार स्थिति अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल पर्यंत रह जाती है।

—जै. ग. 3-9-64/IX/ जयप्रकाश

(१) मोहनीय के तीन टुकड़े होने का कारण [मतद्वय]
(२) अनंत संसार को सान्त करने का कारण [मतद्वय]
(३) अर्द्ध पुद्गल० संसार का भी संयम द्वारा अल्प करना

शंका—यह जीव सम्यग्दर्शन के बल पर अथवा उसके होने पर संसारस्थिति को अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण बना लेता है। जबकि कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि संसारस्थिति अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण संसारकाल शेष रह जाने पर इस जीव में सम्यग्दर्शन प्रकट होने की योग्यता उत्पन्न होती है अधिक में नहीं। इस विषय में क्या समझना चाहिए ?

समाधान—अनादिमिथ्यादृष्टि के दर्शनमोहनीय की एकमात्र मिथ्यात्वप्रकृति की सत्ता होती है और संसार काल भी अपरीत (अमर्यादित) होता है। प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के प्रथमसमय में मिथ्यात्वप्रकृति द्रव्य के तीनटुकड़े होकर दर्शनमोहनीयकर्म का सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृति इन तीन प्रकृतिरूप सत्त्व हो जाता है, तथा अपरीत संसार (अमर्यादित संसार) काल कटकर मात्र अर्धपुद्गलपरिवर्तन रह जाता है। यह एक मत है। कहा भी है—

"ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥७॥ एदेण सुत्तेण मिच्छत्तपढम-ट्ठिदिं गालिय गालिय सम्मत्तं पडिवण्णपढमसमयप्पहुडि उवरिमकालम्मि जो वावारो सो परूविदो। तेण ओहट्टे-दूणेत्ति उत्ते कंडयघादेण विणा मिच्छत्ताणुभागं घादिय सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त अणुभागागारेण परिणामिय पढम-सम्मत्तप्पडिवण्णपढमसमए चेव तिण्णि कम्मंसे उप्पादेदि।" (धवल पु० ६ पृ० २३४-२३५)

अर्थात्—मिथ्यात्वकी प्रथमस्थिति को गलाकर सम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथम से लेकर उपरिमकाल में जो व्यापार (कार्य विशेष) होता है वह इसमें प्ररूपण किया गया है। 'अन्तरकरण करके' ऐसा कहने पर कांडकघात के बिना मिथ्यात्वकर्म के अनुभाग को घातकर उसे सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के अनुभाग-रूप आकार से परिणामाकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथमसमय में ही मिथ्यात्वरूप एक कर्म के तीन कर्मांश (खंड) उत्पन्न करता है।

"एगो अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि-तिण्णि करणाणि काऊण सम्मत्तंगहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि।"

अर्थ—एक अनादिमिथ्यादृष्टि अपरीतसंसारी (जिसका संसार काल अमर्यादित है ऐसा) जीव अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इस प्रकार तीनों ही करणों को करके सम्यक्त्वग्रहण के प्रथमसमय में ही सम्यक्त्वगुण के द्वारा पूर्ववर्ती अपरीत (अमर्यादित) संसारीपना हटाकर व परीतसंसारी होकर अधिक से अधिक पुद्गलपरिवर्तन के आधेकालप्रमाण ही संसार में ठहरता है। (धवल पु० ४ पृ० ३३५)

"एक्को अणादि मिच्छादिट्ठी तिण्णि करणाणि करिय सम्मत्तं पडिवण्णो। तेण सम्मत्तेण उप्पज्जमाणेण अणंतो संसारो छिण्णो संतो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।"

अर्थ—कोई एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव तीनोंकरणों को करके सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। उत्पन्न होने के साथ ही उस सम्यक्त्व से अनन्तसंसार छिन्न होता हुआ अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालमात्र कर दिया गया।

"मिथ्यादर्शनस्यापक्षयेऽसंयतसम्यग्दृष्टेरनंतसंसारस्य क्षीयमाणत्वसिद्धेः।" (श्लोकवार्तिक १।१।१०५)

अर्थ—मिथ्यादर्शन का नाश हो जाने पर असंयतसम्यग्दृष्टि के अनन्तकालतक परिभ्रमणरूप संसार का क्षय हो जाता है, यह बात सिद्ध है।

इसी बात को **स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा** में भी कहा है—

> **चदुगदि-भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण-पज्जत्तो।**
> **संसार-तडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं॥ ३०७॥**

संस्कृत टीका—संसारतटे निकटः सम्यक्त्वोत्पत्तितः उत्कृष्टेन अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालपर्यन्तं संसारस्थायी-त्यर्थः॥ ३०७॥

इस गाथा में **'संसार तडे णियडो'** आये हुए वाक्य का अर्थ करते हुए **श्री शुभचन्द्राचार्य** ने लिखा है कि 'जिसके सम्यक्त्वउत्पत्ति से संसारकाल उत्कृष्टरूपसे अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र रह जाता है वह जीव संसार तट निकट है।' यहाँ पर भी सम्यक्त्वोत्पत्ति से ही संसारकाल अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र बतलाया है। यदि अर्धपुद्गल-परिवर्तनसंसारकाल शेष रहने पर सम्यक्त्वोत्पत्ति की योग्यता मानी जायगी तो सम्यक्त्व के द्वारा संसार स्थिति का क्षय संभव नहीं है। तब तो सम्यक्त्व का फल इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पद की प्राप्ति अर्थात् सांसारिकसुख की प्राप्ति रह जायगी। अतः सम्यग्दर्शन के द्वारा संसारस्थिति छिदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र रह जाती है। ऐसा **श्री वीरसेन आदि आचार्यों** ने कहा है।

यह एक मत है, किन्तु दूसरा मत भी है। इस दूसरे मतानुसार प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व होने वाले करणलब्धि के द्वारा (१) दर्शनमोहनीयकर्म की मिथ्यात्वप्रकृति-द्रव्यके तीनभाग (सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति) कर दिये जाते हैं और (२) अनादिमिथ्यादृष्टि अपरीत (अमर्यादित) संसारस्थिति को छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र संसारस्थिति कर देता है तथा उत्कृष्ट कर्मस्थिति को काटकर अन्तः कोटाकोटी कर

देता है, अतः इस मतानुसार यह कहा जाता है कि अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल शेष रहने पर तथा कर्म-स्थिति अन्तः-कोटाकोटी प्रमाण रह जाने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। कहा भी है—

"जं तं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधादो एयविहं, तस्स संतकम्मं पुण तिविहं-सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि ॥२१॥ बंधेण एयविहं दंसणमोहणीयं कधं संतादो तिविहत्तं पडिवज्जदे ? ण एस दोसो, जंतएण दलिज्जमाण-कोद्दवेसु कोद्दव-तंदुलद्धतंदुलाणं व दंसणमोहणीयस्स अपुव्वादि करणेहि दलियस्स तिविहत्तुवलंभा।"
(धवल ६।३८-३९)

सूत्रार्थ—जो दर्शनमोहनीय कर्म है वह बन्ध की अपेक्षा एक प्रकार का है, किन्तु उसका सत्कर्म तीन प्रकार का है-सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ॥ २ ॥

टीकार्थ—बंध से एक प्रकार का दर्शनमोहनीयकर्म सत्त्व की अपेक्षा तीन प्रकार का कैसे हो जाता है ? यह कोई दोष नहीं, क्योंकि जांते से (चक्की से) दले गये कोदों में- कोदों, तन्दुल और अर्ध-तन्दुल इन तीन विभागों के समान अपूर्व करणआदि परिणामों के द्वारा दले गये दर्शनमोहनीय की त्रिविधता पाई जाती है।

प्रथम मतानुसार दर्शन मोहनीय के तीन टुकड़े सम्यग्दर्शन के द्वारा होते हैं और इस दूसरे मतानुसार दर्शनमोहनीय के तीन टुकड़े करणलब्धि द्वारा बतलाये गये हैं। अर्थात् दूसरे मतानुसार मिथ्यात्व के तीन खंड हो जाने पर प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार प्रथम मतानुसार सम्यग्दर्शन के द्वारा अनन्तसंसार छिदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र रह जाता है। दूसरे मतानुसार अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्रकाल शेष रहने पर प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन होता है। कहा भी है—

"कर्मवेष्टितो भव्यजीवः अर्धपुद्गल-परिवर्तनकाले उद्धरिते सति औपशमिकसम्यक्त्व-ग्रहणयोग्यो भवति। एका काललब्धिरियमुच्यते। यदा अन्तःकोटाकोटिसागरोपमस्थितिकानि कर्माणि बन्धं प्राप्नुवन्ति, भवन्ति निर्मल-परिणामकारणात् सत्कर्माणि, तेभ्यः संख्येयसागरोपमसहस्रहीनानि अन्तः कोटाकोटिसागरोपमस्थितिकानि भवन्ति, तदा औपशमिक सम्यक्त्वग्रहणयोग्य आत्मा भवति। इयं द्वितीय काललब्धिः। (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

कर्मवेष्टित भव्यजीव के परिणामों के अतिशय से जब अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल अवशेष रह जाता है तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता होती है। यह एक काललब्धि है। जब परिणामों की विशुद्धता से अन्तःकोटाकोटी स्थितिवाला कर्मबंध व कर्मसत्त्व रह जाता है तब प्रथमोपशमसम्यक्त्व की योग्यता होती है यह दूसरी काललब्धि है।

इससे यह न समझना चाहिये कि ७० कोटाकोटीस्थितिवाले कर्म का एक-एक निषेक उदय में आकर निर्जरा होते होते अन्तःकोटाकोटीस्थिति शेष रह जाने पर प्रथमोपशमसम्यक्त्व की योग्यता है, किन्तु विशुद्ध परिणामों के अतिशय से ७० कोटाकोटी कर्मस्थिति काटकर अन्तःकोटाकोटी करनेपर प्रथमोपशमसम्यक्त्व की योग्यता होती है उसीप्रकार विशुद्धपरिणामों से अनन्तानन्तसंसार को काटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कर देता है तब प्रथमोपशमसम्यक्त्व की योग्यता होती है, अन्यथा आर्ष ग्रन्थों से विरोध आजायगा। श्री कुंदकुंदआचार्य ने भाव-पाहुड में कहा भी है—

"जिणधम्मं भाविभवमहणं।"

श्री पं० जयचन्दजी कृत अर्थ—कैसा है जिनधर्म भाविभवमथन कहिये आगामी संसार का मथन करने वाला है, यातैं मोक्ष होय है।

इससे सिद्ध है कि संसारकाल परिणामों के द्वारा छेदा जा सकता है। श्री कुन्दकुन्दआचार्य ने मूलाचार में कहा है—

"एक्कं पंडिदमरणं छिददि जादी सदाणि बहुगाणि।"

एकहूं पंडितमरण हैं सो बहुत जन्म के सेकड़ेनि को छेदे है। इससे जाना जाता है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व के समय जो अर्धपुद्गलपरिवर्तन संसारकाल अवशेष रह गया था वह भी पंडितमरण आदि संयम परिणामों से छेदा जा सकता है।

अतः प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्ववर्ती विशुद्ध परिणामो से अथवा प्रथमोपशमसम्यक्त्व से अनन्त-संसार काटकर मात्र अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कर दिया जाता है।

—जै. ग. 3-7-69/VII/ ब० ……

(१) किसी मिथ्यात्वी के करणलब्धि में तथा किसी के सम्यक्त्वोत्पत्ति होने पर अनन्त संसार सान्त होता है।

(२) किसी मिथ्यादृष्टि के करणलब्धि में तथा किसी मिथ्यादृष्टि के सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होते हैं।

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ० २ सूत्र ३ की टीका में काललब्धि बतलाते समय कहते हैं कि कर्म युक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरिवर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथमसम्यक्त्व के ग्रहण करने की योग्यता रखता है। अर्थात् जिस जीव के संसार में रहने का इतना काल शेष रहा है। उसे ही सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। पर इतने काल के शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। तो भी इसके पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती इतना सुनिश्चित है। अस्तु, यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि संसारमें रहने का काल अभव्यजीव की अपेक्षा अनादिअनन्त है और भव्यजीव की अपेक्षा अनादिसांत है तो यह सांतकाल सम्यक्त्व की प्राप्ति से ही प्राप्त होने वाला है देखो कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में संसारानुप्रेक्षा के प्रकरण में पुद्गलपरिवर्तनसंसार के वर्णन करते समय कहते हैं कि 'इस पुद्गलपरिवर्तनसंसार में जीव अनन्तबार पुद्गलपरि-वर्तनरूप संसार का उपयोग लेकर त्याग किया है।' और भी कहते हैं कि 'जब तक इस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है तब तक इस जीव की संसार की समाप्ति नहीं होती।' इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन प्राप्ति के समय से लेकर यह जीव इस संसार में रहे तो अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक रह सकता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि की टीका में लिखा है कि अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रहने पर या रहा है उसे ही सर्व-प्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। यह कैसे सम्भव है? इसलिए प्रश्न है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल इस संसार का रहता है या संसार का अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र काल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है? इसका स्पष्ट उत्तर चाहिये। यदि इतने काल के शेष रहने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तो फिर इतने काल के शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनी ही चाहिए ऐसा

कोई नियम नहीं है। ऐसा क्यों लिखा है ? और भी प्रश्न खड़ा होता है कि भव्यजीव की अपेक्षा संसार का सांत-काल किस कारण से प्राप्त होता है ? यदि सम्यक्त्व के सिवाय और कोई दूसरा कारण हो तो अवश्य बतलाना चाहिये। इस विषय में पंचाध्यायी उत्तरार्ध में श्लोक ४३ देखो:—उसमें लिखा है कि 'जीव और कर्म का सम्बंध अनादि से चला आया है इसी सम्बंध का नाम संसार है, अर्थात् जीव की रागद्वेषरूप अशुद्ध अवस्था का ही नाम संसार है। यह संसार बिना सम्यग्दर्शन आदि भावों के छूट नहीं सकता है ?' इसका अभिप्राय यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक मिथ्यात्वकर्म आत्मा के स्वाभाविक भावों को ढके रहता है। परन्तु जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वह मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। इस तरह सम्यग्दर्शन आदि भावों से ही संसार छूटता है।

भावार्थ—'संसरणं संसारः' परिभ्रमण का नाम संसार है। चारों गतियों में जीव उत्पन्न होता रहता है, इसी को संसार कहते हैं। इस परिभ्रमण का कारण कर्म है। यह संसार तभी छूट सकता है जब कि संसार के कारणों को हटाया जाय। संसार के कारण मिथ्यादर्शनादि हैं। इनके प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शनादि हैं। जब ये सम्यग्द-र्शनादिक भाव आत्मा में प्रकट हो जाते हैं तो फिर इस जीव का संसार भी छूट जाता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि, सम्यग्दर्शन प्राप्ति के समय से लेकर ससार का काल अर्धपुद्गलपरावर्तन रह सकता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि में अर्धपुद्गल परावर्तनकाल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है ऐसा कैसे कहते हैं ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि अ० २ सूत्र ३ की टीका में बतलाया है कि 'अनादिमिथ्यादृष्टिभव्य के काललब्धि आदि के निमित्त से मोहनीयकर्म का उपशम होता है। वहाँ पर काललब्धि तीन प्रकार की बतलाई है (१) अर्ध-पुद्गलपरिवर्तन नामक काल के शेष रहने पर प्रथमसम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य होता है। (२) जब बंधनेवाले कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर पड़ती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यातहजारसागरकम अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथमसम्यक्त्व के योग्य होता है। (३) जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथमसम्यक्त्व को उत्पन्न करता है।

इन तीन काललब्धियों में से तीसरी काललब्धि (भव्य, संज्ञी पर्याप्तक, सर्वविशुद्ध) का समय (Time) से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध तो नाम कर्मोदय तथा आत्मपरिणामों से है। दूसरी काललब्धि का भी कोई सम्बन्ध समय (Time) से नहीं है, किन्तु आत्मपरिणामों की विशुद्धता से है, क्योंकि विशुद्धपरिणामों के कारण ही अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण कर्मस्थिति का बंध होता है। और पूर्व बंध हुए कर्मों की स्थिति का घात होकर संख्यातहजारसागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण स्थिति रह जाती है। अतः यहाँ पर काललब्धि का अर्थ है "शुद्धात्मस्वरूपाभिमुख परिणाम की प्राप्ति।" पंचास्तिकाय की टीका में कहा भी है—

"आगमभाषया कालादिलब्धिरूपं अध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं।"

'काल' शब्द का अर्थ 'विचाररूप परिणाम' करना अयुक्त भी नहीं है, क्योंकि कालशब्द कल धातु से बना है। कल धातु का अर्थ 'विचार करना' ऐसा भी पाया जाता है।

'अर्धपुद्गलपरिवर्तन नामक काल के शेष रहने पर' इसका ऐसा अर्थ करना—'संसारकाल के अर्धपुद्गल-परिवर्तनमात्र शेष रह जाने पर' युक्त नहीं है, क्योंकि आचार्य-वाक्य में 'संसार' शब्द नहीं है। इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है—"[प्रत्येक पुद्गलपरिवर्तन में] अर्धपुद्गल परिवर्तन नामक काल के शेष रहने पर" प्रायोग्यलब्धि में जिस प्रकार सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति का, आत्माभिमुख परिणामों के द्वारा, घात करके

संख्यातहजारसागरकम अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण कर्मस्थिति करदी जाती है, उसी प्रकार आत्माभिमुख परिणामों के द्वारा पंचलब्धि में या सम्यक्त्व के प्रथमसमय में अनन्तानन्तकालप्रमाण संसारस्थिति को काटकर अर्धपुद्गल-परावर्तनमात्र कर देता है।

जिस जीव ने पंचलब्धि में अनन्तसंसारस्थिति को काटकर अर्धपुद्गलपरावर्तनमात्र कर दिया उस जीव को अर्धपुद्गलपरावर्तनससारकाल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन होता है। अन्यथा सम्यक्त्वोत्पत्ति के प्रथमसमय में ही अनन्तसंसारस्थिति कटकर अर्धपुद्गलपरावर्तनमात्र हो जावेगी ही।

इस सम्बन्ध में आगम प्रमाण निम्न प्रकार है—

(१) "एगो अणादिमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि काढूण सम्मत्तं गहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो उक्कस्सेण चिट्ठदि।" (धवल पु० ४ पृ० ३३५)

अर्थ—एक अनादि मिथ्यादृष्टि अपरीतसंसारी (जिसका संसार अमर्यादित है ऐसा) जीव, अधःप्रवृत्त-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों ही करणों को करके सम्यक्त्व ग्रहण के प्रथमसमय में ही सम्यक्त्व-गुण के द्वारा पूर्ववर्ती अपरीत—संसारीपना हटाकर व परीतसंसारी हो करके उत्कृष्ट से अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल-प्रमाण ही संसार में ठहरता है।

(२) "एक्को अणादियमिच्छादिट्ठी तिण्णि करणाणि करिय सम्मत्तं पडिवण्णो। तेण सम्मत्तेण उप्पण्ण-माणेण अणंतो संसारो छिण्णो संतो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।" (धवल ४/४७९)।

अर्थ—कोई एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव तीनोंकरणों को करके सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। उत्पन्न होने के साथ ही उस सम्यक्त्व के द्वारा अनन्त संसार छिन्न होता हुआ अर्धपुद्गल परिवर्तनकालमात्र कर दिया गया।

(३) एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि काढूण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो। (धवल पु० ५ पृ० ११)

अर्थ—एक अनादि मिथ्यादृष्टिजीव ने तीनोंकरण करके उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथमसमय में अनन्तसंसार को छिन्नकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र किया।

नोट—इसी प्रकार का कथन पृ० १२, १४, १५ व १६ धवल पु० ५ में है।

(४) "पज्जवट्ठियणयावलंबणादो अप्पडिवण्णे सम्मत्ते अणादि-अणंतो भवियभावो अंतादीदसंसारादो, पडिवण्णे सम्मत्ते अण्णो भवियभावो उप्पज्जइ, पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तसंसारावट्ठाणादो।"

(धवल पु० ७ पृ० १७७)

अर्थ—पर्यायार्थिकनय के अवलम्बन से जब तक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व अनादि-अनन्तरूप है, क्योंकि तब तक उसका संसार अन्तरहित है, किन्तु सम्यक्त्व के ग्रहण कर लेने पर अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर फिर केवल अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्रकाल तक संसार में स्थिति रहती है।

(५) "मिथ्यादर्शनस्यापक्षयेऽसंयत–सम्यग्दृष्टेरनन्तसंसारस्य क्षीयमाणत्वसिद्धेः संख्यातभवमात्रतया तस्य संसारस्थितेः।" (श्लोकवार्तिक पु० १ पृ० ५४८)

चौथे गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यादर्शन का अभाव हो जाने पर अनन्तकाल तक होनेवाले संसार का अभाव हो जाना सिद्ध हो जाता है। उसकी संख्यातभवमात्र संसारस्थिति रह जाती है।

(६) "अणादियमिच्छादिट्ठिम्मि तिण्णि वि करणाणि काऊण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णम्मि अणंतसंसारं छेत्तूणट्ठविद-अद्धपोग्गलपरियट्टम्मि।" (जयधवल पु० २ पृ० २५३)

अर्थ—अनादिमिथ्यादृष्टिजीव तीनोंकरणों को करके उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और अनन्तसंसार को छेदकर संसार में रहने के काल को अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण किया।

(७) एगो अणादियमिच्छादिट्ठी तिण्णि वि करणाणि काऊण पढमसम्मत्तं पडिवण्णो। तत्थ सम्मत्तं पडिवण्ण–पढमसमए संसारमणंतं सम्मत्तगुणेण छेत्तूण पुणो सो संसारो तेण अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।"
(जयधवल पु० २ पृ० ३९१)

अर्थ—एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव तीनोंकरणों को करके प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। तथा सम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथमसमय में सम्यक्त्वगुण के द्वारा अनन्तसंसार को छेदनकर उस संसार को अर्धपुद्गल-परिवर्तनमात्र कर दिया।

इन आगम प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्व अनादिमिथ्यादृष्टि का संसारकाल अमर्यादित-अनन्तरूप है और सम्यक्त्वोत्पत्ति के प्रथमसमय में वह अमर्यादित-अनन्तसंसारकाल कटकर अर्धपुद्गल-परिवर्तनमात्र रह जाता है। किसी अनादिमिथ्यादृष्टि का अमर्यादित–अनन्तसंसारकाल करणलब्धि में कटकर अर्ध-पुद्गलपरिवर्तनमात्र संसारकाल रह जाता है। आगम प्रमाण निम्नप्रकार है—

"अणादियमिच्छादिट्ठिस्स तिण्णि वि करणाणि अद्धपोग्गलपरियट्टस्स बाहिं काऊण अद्धपोग्गलपरियट्टादिसमए उवसमसम्मत्तं घेत्तूण।" (धवल पु० ७ पृ० १६३)

अर्थ—अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल करने से पूर्व अनादिमिथ्यादृष्टिजीव अधःप्रवृत्त आदि तीनों करणों को करके अर्धपुद्गल परिवर्तन के प्रथमसमय में उपशमसम्यक्त्व को ग्रहण करता है।

नोट—इसी प्रकार का कथन धवल पु० ७ पृ० २१५ व २२४ पर भी है।

सम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्व करण परिणामों के द्वारा चूंकि अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल कर दिया गया है अतः यह कहा जाता है कि अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल शेष रहने पर सम्यक्त्वउत्पन्न होता है।

यही बात मिथ्यात्वद्रव्य के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वरूप तीन खण्ड के संबंध में है। किसी अनादिमिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व के तीनखण्ड प्रथमोपशमसम्यक्त्व के प्रथम समय में होते हैं (धवल पु० ६ पृ० २३४) और किसी के करण लब्धि में तीन टुकड़े होते हैं (धवल पु० ६ पृ० ३८)।

—जै. ग. 29-3-73/VII/मुनि श्री आदिसागरजी

अनादि मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व के तीन भेद कब होते हैं, इस विषय में दो मत

शंका—अनादिमिथ्यादृष्टि के मोहनीयकर्म की २६ प्रकृतियों का सत्त्व होता है या २८ प्रकृतियों का सत्त्व होता है ?

समाधान—अनादिमिथ्यादृष्टि के चारित्रमोहनीय की २५ प्रकृतियों का और दर्शन-मोहनीय की एक मिथ्यात्वप्रकृति का इस प्रकार २६ प्रकृतियों का सत्त्व होता है।

खय उवसमिय-विसोही देसणा पाओग्ग—करणलद्धी य ।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते ॥

अनादिमिथ्यादृष्टि के सर्वप्रथम प्रथमोपशमसम्यक्त्व होता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व क्षयोपशमलब्धि विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, करणलब्धि ये पाँच लब्धियाँ होती हैं।

इनमें से पहली चार तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों के होती हैं, किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होने के समय होती है।

कुछ आचार्यों का मत है कि इस करणलब्धि के द्वारा मिथ्यात्वद्रव्य के तीनखण्ड होकर तीनप्रकृतियों का सत्कर्म हो जाता है।

"जं तं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधादो एयविहं, तस्स सतकम्मं पुण तिविहं सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि ॥२१॥ बंधेण एयविहं, दंसणमोहणीयं कधं संतादो तिविहत्तं पडिवज्जदे ? ण एस दोसो, जंतएण दलिज्जमाण कोद्दवेसु कोद्दव—तंदुलद्ध-तंदुलाणं व दंसणमोहणीयस्स अपुव्वादि करणेहि तिविहत्तुवलंभा। (धवल पु ६ पृ. ३८)

"अणियट्टिकरणसहिद जीव संबंधेण एगविहस्स मोहणीयस्स तधाविहभावाविरोहादो।
(धवल पु० १३ पृ० ३५८)

अर्थ—जो दर्शनमोहनीयकर्म है वह बन्ध की अपेक्षा एक प्रकार का है, किन्तु उसका सत्कर्म तीन प्रकार का है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। इस पर यह प्रश्न होता है कि बंध से एक प्रकार का दर्शनमोहनीयकर्म सत्त्व की अपेक्षा तीन प्रकार का कैसे हो जाता है ? यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, जांते से (चक्की से) दले गये कोदों में कोदों, तन्दुल और अर्धतन्दुल; इन तीन विभागों के समान अपूर्वकरण आदि परिणामों के द्वारा दले गये दर्शनमोहनीय के त्रिविधता पाई जाती है। अनिवृत्तिकरणसहित जीव के सम्बन्ध से एक प्रकार के मोहनीय का तीन प्रकार परिणमन होने में कोई विरोध नहीं आता।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व भी दर्शनमोहनीय कर्म के तीन खण्ड होकर २८ का सत्त्व हो जाता है। जिनके मत से अनिवृत्तिकरण से दर्शनमोहनीय के तीन खण्ड हो जाते हैं उन्हीं के मतानुसार अनिवृत्तिकरण के द्वारा अनन्तसंसार कटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र संसारकाल रह जाता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि अर्धपुद्गल-परिवर्तनकाल शेष रहने पर प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

दूसरा मत यह है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व के प्रथमसमय में मिथ्यात्व के तीन भाग करता है और उसी समय अनन्तसंसार को काटकर अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र करता है। कहा भी है—

"ओहट्टे दूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥ ७ ॥ तेण ओहट्टे दूणेत्ति उत्ते कंडयघादेण विणा मिच्छत्ताणुभागं घादिय सम्मत्तसम्मामिच्छत्त अणुभागागारेण परिणामिय पढमसम्मत्तं पडिवण्ण पढमसमए चेव तिण्णि कम्मं से उप्पादेदि ।" (धवल पु० ६ पृ० २३४-२३५)

अर्थ—अन्तर करण करके मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ॥ ७ ॥ 'अन्तर करण करके' ऐसा कहने पर कांडकघात के विना मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग को घात कर और उसे सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व के प्रकृति अनुभाग रूप आकार से परिणमाकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व कर्म के तीन कर्मांश अर्थात् भेद या खंड उत्पन्न करता है।

"एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि काढूण उवसमसम्मत्तं पडिवण्ण पढमसमए अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्ट मेत्तो कदो ।" (धवल पु० ५ पृ० ११)

एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव ने अधःप्रवृत्तादि तीनोंकरण करके उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथम समय में अनन्तसंसार को छिन्नकर अर्धपुद्‌गलपरिवर्तनमात्र किया।

इसप्रकार २८ प्रकृति के सत्त्व के विषय में दो मत हैं जिनका उल्लेख स्वयं श्री वीरसेन आचार्य ने धवल ग्रंथ में किया है।

—जै. ग. 14-8-69/VII/कमला जैन

मिथ्यात्व के तीन टुकड़े एवं अनन्त संसार की सान्तता कब होती है; इस विषय में मतद्वय

शंका—उपासकाध्ययन में सम्यक्त्व के माहात्म्य का कथन करते हुए लिखा है कि सम्यक्त्व संसार को सान्त कर देता है किन्तु सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि अर्धपुद्‌गलपरिवर्तन शेष रहने पर सम्यग्दर्शनोत्पत्ति की योग्यता आती है। सो कैसे ?

समाधान—इस संबंध में दो मत पाये जाते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि करणलब्धि में अनादि-मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वद्रव्य के तीन टुकड़े करके (१) सम्यक्त्वप्रकृतिरूप, (२) सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूप, (३) सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमा देता है तथा अनादिमिथ्यादृष्टिजीव करणलब्धि में अनन्तसंसार को काटकर सान्त कर देता है अर्थात् अर्धपुद्‌गलपरिवर्तनमात्र कर देता है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में इस मत का अनुसरण किया गया है। इसीलिये पाँचप्रकृति (एक मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबन्धी कषाय) के उपशमसम्यक्त्व का कथन नहीं किया है किन्तु "आसां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वं ।" इन शब्दों द्वारा सात प्रकृतियों (सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, अनन्तानुबन्धीक्रोध, अनन्तानुबन्धीमान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धीलोभ) के उपशम से औपशमिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कथन किया है।

इसी प्रकार जिस अनादिमिथ्यादृष्टि ने करणलब्धि द्वारा अनन्तसंसार को काटकर अर्धपुद्‌गलपरिवर्तनमात्र कर दिया है तथा प्रायोग्यलब्धि के द्वारा जिसने उत्कृष्ट कर्मस्थिति को काटकर अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थितिप्रमाण कर दिया है वह जीव प्रथमोपशम-सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य होता है। इस मत की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में

"कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गल-परिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः। अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिः" इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कर्मयुक्त भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरिवर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य होता है, इससे अधिककाल के शेष रहनेपर नहीं होता यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धि का संबंध कर्मस्थिति से है।

दूसरा मत यह है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व के उत्पन्न होने के प्रथमसमय में मिथ्यात्वकर्म द्रव्य के तीनटुकड़े करता है और अनन्तसंसार को काटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालप्रमाण कर देता है अर्थात् सान्त कर देता है।

श्री वीरसेन आचार्य ने इन दोनों मतों का प्रयोग किया है। जैसे—

"दंसणमोहणीयस्स अपुव्वादिकरणेहि दलियस्स तिविहत्तुवलंभा।" (धवल पु० ६ पृ० ३८)

अर्थात्—अपूर्वकरण आदि परिणामों के द्वारा दलकर दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म के तीन टुकड़े कर दिये जाते हैं।

"एत्थ वि अणियट्टिकरणसहिदजीव संबंधेण एगविहस्स मोहणीयस्स तधाविहभावाविरोहादो।"

(धवल पु० १३ पृ० ३५८)

अनिवृत्तिकरण सहित जीव के सम्बन्ध से एक प्रकार के दर्शनमोहनीयकर्म के तीनप्रकार (सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, मिथ्यात्व) परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार प्रथम मत के अनुसार करणलब्धि में दर्शनमोहनीय कर्म के (सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व) तीन टुकड़े हो जाने पर सात प्रकृतियों के उपशम से अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसी के अनुसार सर्वार्थसिद्धि में सातप्रकृतियों के उपशम से प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कथन किया गया है।

"अणादियमिच्छाइट्ठिस्स तिण्णि वि करणाणि काऊण अद्धपोग्गलपरियट्टस्सादिसमए सम्मत्तं संजमं च जुगवं घेत्तूण।" (धवल पु० ७ पृ० २१५)

"अणादियमिच्छाइट्ठिस्स तिण्णि वि करणाणि काढूण अद्धपोग्गलपरियट्टस्स आदिसमए पढमसम्मत्तं संजमं च जुगवं घेत्तूण।" (धवल पु० ७ पृ० २२४)

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अनादिमिथ्यादृष्टि तीनकरणों (करण लब्धि) के द्वारा अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल करके अर्धपुद्गलपरिवर्तनके प्रथमसमय में प्रथमोपशमसम्यक्त्व को ग्रहण करता है।

इस प्रथम मत के अनुसार ही सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल के शेष रहने पर प्रथमोपशमसम्यक्त्व की योग्यता होती है।

दूसरे मत के अनुसार श्री वीरसेनआचार्य ने इस प्रकार कथन किया है—

"पढमसम्मत्तप्पडिवण्णपढमसमए चेव तिण्णि कम्मंसे उप्पादेदि।" (धवल पु० ६ पृ० २३५)

प्रथमोपशमसम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथमसमय में ही मिथ्यात्वरूप एककर्म के तीनकर्मांश अर्थात् भेद या खंड उत्पन्न करता है।

"मिच्छत्तस्स बंधोदयाणं वोच्छेदं काऊण तदणंतरउवरिमसमए अंतरं पविसिय पढमसमयउवसमसम्माइट्ठी जादो। तम्हि चेव समए बिदियट्ठिदीए ट्ठिदमिच्छत्तस्स पदेसग्गं मिच्छत्त-सम्मत्तसम्मामिच्छत्तसरूवेण परिणमदि।"

(जयधवल पु० २ पृ० ८३)

मिथ्यात्व के बंध और उदय की व्युच्छित्तिकरके उसके अनन्तरवर्ती ऊपर के समय में अन्तर में प्रवेश करके प्रथम समयवर्ती उपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है। जिस समय में उपशम सम्यग्दृष्टि हुआ उसी समय दूसरी स्थिति में स्थित मिथ्यात्व के प्रदेश समूह को मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वरूप से परिणमाता है अर्थात् तीनटुकड़े कर देता है।

इस दूसरे मत के अनुसार मिथ्यात्व के तीन खण्ड प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होने के प्रथम समय में होते हैं अतः अनादिमिथ्यादृष्टि के पाँच प्रकृतियों के उपशम से ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होगा। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में इस मत की विवक्षा नहीं है।

"एगो अणादियमिच्छादिट्ठी तिण्णि वि करणाणि काऊण पढमसम्मत्तं पडिवण्णो। तत्थ सम्मत्तं पडिवण्ण पढमसमए संसारमणतं सम्मत्तगुणेण छेत्तूण पुणो सो संसारो तेण अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।"

(जयधवल पु० २ पृ० ३९१)

कोई एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तीनों ही करणों को करके प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। सम्यक्त्वप्राप्ति के प्रथमसमय में ही सम्यक्त्वगुण के द्वारा अनन्त संसार का छेदनकर संसार को अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कर देता है।

"एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि काऊण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो ससारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।" (धवल पु० ५ पृ० ११, १२, १४, १५, १९)

"एगो अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि काऊण सम्मत्तं गहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गल-परियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि।" (धवल पु० ४ पृ० ३३५ व ४७९)

एक अनादिमिथ्यादृष्टि अपरीत संसारी (अमर्यादित अथवा अनन्त संसारी) जीव अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों ही करणों को करके प्रथमोपशमसम्यक्त्व ग्रहण के प्रथमसमय में ही सम्यक्त्वगुण के द्वारा पूर्ववर्ती अपरीत (अनन्त) संसारीपने को छेदकर परीतसंसारी होकर अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण काल तक ही संसार में ठहरता है।

"असंयतसम्यग्दृष्टेरनन्त संसारस्य क्षीयमाणत्वसिद्धेः।" (श्लोकवार्तिक)

असंयतसम्यग्दृष्टि के अनन्तसंसार का क्षय हो जाता है।

इस दूसरे मत के अनुसार 'अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र काल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की योग्यता होती है' ऐसा नहीं माना गया है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के प्रथमसमय में अनन्तसंसार का क्षय होता है उससे पूर्व तो अनन्त (अपरीत) संसारी था, क्योंकि सम्यग्दर्शन के द्वारा ही अनन्तसंसार क्षीण होकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण रह जाता है।

इस दूसरे मत के अनुसार उपासकाध्ययन में सम्यक्त्व के माहात्म्यमें लिखा है कि सम्यक्त्व संसार को सांत कर देता है। यहाँ पर प्रथम मत की विवक्षा नहीं है।

अनन्तसंसार का क्षय होकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल स्वयं नहीं रह जाता, किन्तु करणलब्धि द्वारा या सम्यग्दर्शन द्वारा अनन्तसंसार का क्षय करके अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल किया जाता है।

—जै. ग. 5-6-75/VI/भूषणलाल

(१) केवली व चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के सम्यक्त्व में भेद
(२) सम्यक्त्व के असंख्य भेद

शंका—धवल पु० ७ पृ० १०७ सूत्र ६९ की टीका में लिखा है—'इन तीनों सम्यक्त्वों का जो एकत्व है उसीका नाम सम्यग्दृष्टि है' अर्थात् किसी भी सम्यग्दृष्टि में वह एकत्व तो रहना चाहिये। तब उस एकत्व की अपेक्षा किसी भी सम्यग्दृष्टि में अन्तर नहीं होना चाहिये। ऐसा होने पर केवली के सम्यग्दर्शन और चौथेगुणस्थान-वाले के सम्यग्दर्शन में भी कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा है तो फिर तेरहवेंगुणस्थान के समान चौथे गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग या निश्चयसम्यग्दर्शन का प्ररूपण करना चाहिये?

समाधान—पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने कहा भी है—

"सामान्य विशेषात्मकपदार्थो विषयः।" ४।१ (परीक्षामुख)

अर्थ—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण (ज्ञान) का विषय है।

सम्यग्दर्शन भी पदार्थ है, प्रमाण का विषय है अतः वह भी सामान्य-विशेषात्मक है।

"सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥ सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ४ ॥ परापर विवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वतामृदिव स्थासादिषु ॥५॥ विशेषश्च ॥६॥ पर्याय-व्यतिरेक-भेदात् ॥७॥ एकस्मिन् द्रव्ये क्रम-भाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहि-षादिवत् ॥९॥ (परीक्षामुख अ० ४)

अर्थ—तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का है ॥३॥ सदृश परिणाम को तिर्यक् सामान्य परिणाम कहते हैं, जैसे खन्डी मुन्डी आदि गायों में गोपना सामान्य रूप से रहता है ॥४॥ पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहनेवाले द्रव्य को ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं। जैसे स्थास, कोश, कुशूल आदि घट की पर्यायों में मिट्टी रहती है ॥५॥ विशेष भी दो प्रकार का है ॥६॥ पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष दो प्रकार का है।७। एकद्रव्य में क्रमसे होनेवाले परिणाम को पर्याय कहते हैं। जैसे आत्मा में हर्ष-विषाद आदि परिणाम क्रमसे होते हैं, वे ही पर्याय हैं ॥८॥ एक पदार्थ की अपेक्षा अन्यपदार्थ में रहनेवाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं। जैसे गाय-भैंस आदि में विलक्षणपना पाया जाता है ॥९॥

इस उपर्युक्त आर्ष-वाक्य मे तिर्यक्सामान्य का कथन करते हुए सूत्र ४ में कहा है कि 'सदृशपरिणाम को तिर्यक्सामान्य कहते हैं जैसे खण्डी, मुण्डी आदि गायों में गोपना सामान्य है, किन्तु सूत्र ९ में व्यतिरेक विशेष का कथन करते हुए कहा है कि 'एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले सदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं।'

खण्डी, मुण्डी आदि गायों को गोपना की दृष्टि से देखें तो अभेद है और उन खण्डी, मुण्डी आदि गायों को खण्ड, मुण्ड आदि विसदृशपरिणामों की दृष्टि से देखा जावे तो उन्हीं गायों में व्यतिरेक विशेष के कारण भेद है।

इसी प्रकार यदि चौथे गुणस्थानवर्तीसम्यग्दृष्टि और तेरहवें गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को सामान्यसम्यग्दर्शन, अर्थात् व्यवहार-निश्चय के भेद से रहित अथवा उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक के भेद से रहित अथवा आज्ञा, मार्ग आदि दस भेदों की अपेक्षा से रहित अथवा सराग-वीतराग के भेद से रहित, की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान से तेरहवेंगुणस्थान के सम्यग्दर्शन में अन्तर नहीं है, क्योंकि विसदृशपरिणाम विशेषों से रहित सदृशपरिणाम की अपेक्षा है। परन्तु विसदृशपरिणामरूप व्यतिरेकविशेष की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान और तेरहवें गुणस्थान के सम्यग्दर्शन में भेद है। तेरहवें गुणस्थान में परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन है, किन्तु चौथे गुणस्थान में परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन नहीं है। कहा भी है—

"केवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढे ति रुढा" ॥१४॥ (आत्मानुशासन)

अर्थ—केवलज्ञान करि जो अवलोक्या पदार्थ विषै श्रद्धान सो यहाँ परमावगाढ़दृष्टि प्रसिद्ध है।

चौथे गुणस्थान में सराग-व्यवहारसम्यग्दर्शन है किन्तु तेरहवें गुणस्थान में परमवीतरागनिश्चयसम्यग्दर्शन है। चौथे गुणस्थान में उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक तीनोंसम्यग्दर्शन हैं। तेरहवेंगुणस्थान में एक क्षायिकसम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन सामान्य-विशेषरूप है। सामान्य (सदृश परिणाम) की अपेक्षा सभी सम्यग्दर्शनों में एकत्व है। विशेष (विसदृश परिणाम) की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के असंख्याततलोकप्रमाण भेदों में विभिन्नता है अन्यथा सम्यग्दर्शन के असंख्याततलोकप्रमाण भेद नहीं हो सकते थे।

चौथे गुणस्थान में संयमाचरणचारित्र नहीं होने से शुद्धोपयोगी नहीं होता है। प्रवचनसार की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने कहा है कि चौथे गुणस्थान में शुभोपयोग होता है।

—जै. ग. 5-9-66/VII/र. ला. जैन, मेरठ

(१) सम्यग्दर्शन गुण नहीं, पर्याय है
(२) असंयत व केवली के सम्यक्त्व में अन्तर

शंका—दिनांक २ फरवरी ५६ के शंका-समाधान (एक) में जो आपने 'सम्यग्दर्शन' को गुण बताया तो फिर 'दर्शन' क्या रहा और उसकी पर्याय क्या रही ? चतुर्थगुणस्थानवर्ती के सम्यक्त्व में और केवली के सम्यक्त्व में फर्क बताते हुए जो शुद्धता की बात कही गई है वह तो ज्ञान और चारित्र की दृष्टि से है, सम्यग्दर्शन की दृष्टि से अन्तर बताइये, सम्यक्त्व की ऐसी कौनसी प्रकृतियाँ हैं जो दोनों में भेद रेखा खींचती हैं, इसे उदाहरण और प्रमाणों से फिर खुलासा कीजिये। दोनों के आत्मानुभव में भी अगर कोई भेद हो तो उसे भी स्पष्ट कीजिए।

समाधान—गुण 'दर्शन' श्रद्धा है। उसकी स्वाभाविक व वैभाविक दो अवस्थाएँ हैं। स्वाभाविक अवस्था को सम्यक्त्व और विभावावस्था को मिथ्यात्व कहते हैं। गुण की स्वाभाविक अवस्था को भी गुण कहते हैं जैसे सिद्धों के आठ गुणों में प्रथम गुण सम्यक्त्व कहा है। केवली के परमावगाढ़ सम्यक्त्व होता है, किन्तु चतुर्थगुणस्थान-

वर्ती के क्षायिकसम्यक्त्व होते हुए भी परमावगाढ़ सम्यक्त्व नहीं होता है। यह भेद दर्शनमोहनीयकर्म कृत नहीं है। जीवद्रव्य की शुद्धता के भेद से सम्यक्त्व में भेद है। लकड़ी के एक तख्ते को रन्दे व रेजमाल आदि से चिकना करके उसपर रोगन किया जावे और एक खुरदरे लकड़ी के तख्ते पर वही रोगन किया जावे, रोगन एक होते हुए भी लकड़ी की सचिक्कणता व रूक्षता के कारण रोगन की चमक में अन्तर हो जाता है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि और केवली के आत्मानुभव में अन्तर है। केवली को केवलज्ञान व यथाख्यातचारित्र द्वारा आत्मानुभव हो रहा है, किन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती के न तो केवलज्ञान है और न यथाख्यातचारित्र है। अतः इन दोनों के अनुभव में ज्ञान व चारित्र की अपेक्षा अन्तर है।

—जै. सं. 5-7-56/VI/ र. ला. जैन, केकड़ी

अंगहीन सम्यक्त्व से अभीष्ट सिद्धि नहीं होती

शंका—क्या अंगहीन सम्यग्दर्शन से भी अभीष्ट की सिद्धि होती है? क्या अंगहीन सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण ही नहीं है?

समाधान—अंगहीन सम्यग्दर्शन से कार्य की सिद्धि नहीं होती है। श्री समन्तभद्र आचार्य ने कहा भी है—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥२१॥

अङ्गहीन सम्यग्दर्शन जन्ममरण की परम्परा का नाश नहीं कर सकता जैसा कि हीन अक्षर वाला मन्त्र विष-वेदना को दूर नहीं कर सकता।

अङ्गहीन के निर्मल सम्यग्दर्शन संभव नहीं है। क्वचित् कदाचित् अतिचार लगने से सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है।

—जै. ग. 8-1-70/VII/ रो. ला. मित्तल

सम्यक्त्व छूट जाने पर वह जीव सम्यक्त्वी नहीं कहलाता

शंका—जब उपशम या क्षयोपशमसम्यक्त्व छूट जाता है तो क्या उस छूट जाने के काल में भी जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है?

समाधान—मिथ्यात्वप्रकृति, अनन्तानुबन्धीकषाय चारित्रमोहनीयकर्म या सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के स्वमुख उदय होनेपर जीव सम्यक्त्वच्युत हो जाता है। उसकाल में वह जीव सम्यग्दृष्टि नहीं रहता है। मिथ्यात्वप्रकृति के उदय आ जाने पर वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। अनन्तानुबन्धीकषाय के उदय होने पर वह जीव सासादन हो जाता है। सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय आ जाने पर वह जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

—जै. ग. 11-3-71/VI/ सुलतानसिंह

मिथ्यात्व से किस-किस सम्यक्त्व की प्राप्ति सम्भव है ?

शंका—मिथ्यात्व से क्या प्रथमोपशमसम्यक्त्व ही होता है या क्षयोपशम या क्षायिकसम्यक्त्व भी हो सकते हैं ?

समाधान—अनादिमिथ्यादृष्टि के दर्शनमोह की एक मात्र मिथ्यात्वप्रकृति का ही सत्त्व होता है अतः उसके प्रथमोपशमसम्यक्त्व ही उत्पन्न होता है। श्री गुणधर महाआचार्य ने कषायपाहुड सुत्त में कहा है—

सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण ।
भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ॥१०४॥

श्री जयधवल टीका—जो सम्मत्तपढमलंभो अणादियमिच्छाइट्ठि विसओ सो सव्वोवसमेणेव होइ, तत्थ पयारंतरासंभवादो। मिच्छत्तं गंतूण जो बहुअं कालमंतरिदूण सम्मत्तं पडिवज्जइ सो वि सव्वोवसमेणेव पडिवज्जइ। सम्मत्तं घेत्तूण पुणो मिच्छत्तं पडिवज्जिय सम्मत्तसम्मामिच्छत्ताणि उव्वेल्लिदूण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तकालेण वा अद्धपोग्गलपरियट्ट मेत्तकालेण वा [अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तकालेण वा] जो सम्मत्तं पडिवज्जइ, सो वि सव्वोव समेणेव पडिवज्जइ त्ति भणिदं होइ। जइ वेदगपाओग्गकालब्भंतरे चेव सम्मत्तं पडिवज्जइ तो देसोवसमेण अण्णहा पुण सव्वोवसमेण पडिवज्जइ। सम्मत्त देसघादि फद्दयाणमुदओ देसोवसमो त्ति भण्णदे।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अनादिमिथ्यादृष्टि के उपशमसम्यक्त्व ही होगा। जिसको सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में गये हुए जघन्य से पल्यका-असंख्यातवाँभागकाल और उत्कृष्ट से अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल हो गया है, उसके भी उपशमसम्यक्त्व होगा। जिसको वेदकसम्यक्त्व योग्यकाल में सम्यक्त्व होता है उसको क्षयोपशम-सम्यक्त्व होता है। इसमें देशघातियासम्यक्त्वप्रकृति का उदय रहता है। वेदक सम्यक्त्वयोग्यकाल को बतलाने वाली निम्न गाथा है—

उदधिपुधत्तं तु तसे पल्लासंखूणमेगमेयक्खे ।
जाव य सम्मं मिस्सं वेदगजोग्गो य उवसमस्सतत्तो ॥६१५॥ गो. क.

जब तक सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृति की स्थिति पृथक्त्वसागरप्रमाण त्रस के शेष रहे और पल्यके असंख्यातवेंभागहीन एकसागरप्रमाण एकेन्द्रिय के शेष रह जावे, तब तक वह वेदक सम्यक्त्वयोग्य-काल है। यदि इन दोनों प्रकृतियों की सत्त्वस्थिति इससे भी कम रह जावे तो वह उपशम सम्यक्त्वकाल है।

"उवसंतदंसणमोहणीय पढमसमए तिण्णि कम्मंसा उप्पादिदा। मिच्छत्त, सम्मत्त, सम्मामिच्छत्त" उस ही उपशांतदर्शनमोहनीय के प्रथमसमय में मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व ऐसे मिथ्यात्व के तीन कर्मप्रकृति भेद उत्पन्न करता है। (जयधवल पु० १२ पृ० २८१)

क्षायिक सम्यग्दर्शन तो अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना वाले अर्थात् मोहनीय कर्म की २४ प्रकृतियों की सत्तावाले क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि जीव के होता है। मिथ्यात्व से क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता, मात्र प्रथमोपशम-सम्यक्त्व व क्षयोपशम सम्यक्त्व ही होते हैं।

—जै. ग. 25-5-78/VI/ मुनि श्रुतसागरजी मोरेनावाले

सशल्य को सम्यक्त्व दुर्लभ है

शंका—माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्य में से किसी भी एक शल्य का अस्तित्व बाकी रहते हुए आत्मा को सम्यक्त्व उपलब्ध हो सकता है या नहीं ? अगर नहीं हो सकता तो भगवान बाहुबली को कैसे हुआ ? अगर हो सकता है, तो मिथ्यात्व शल्य रहते हुए सम्यक्त्व कैसे हो सकेगा ?

समाधान—तीनों शल्य का स्वरूप इसप्रकार है—'राग के उदय से परस्त्री आदि की वांछा रूप और द्वेष से अन्य जीवों को मारने, बाँधने अथवा छेदने आदि की वांछारूप मेरा दुर्ध्यान है, उसको कोई भी नहीं जानता है, ऐसा मानकर, निजशुद्धात्म भावना से उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षणवाले सुखअमृतरसरूप निर्मलजल से अपने चित्त की शुद्धि को न करता हुआ, यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर, लोक को प्रसन्न करता है, यह मायाशल्य कहलाती है।' 'अपना निरंजन दोषरहित परमात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व से विलक्षण, मिथ्यात्वशल्य कहलाती है।' 'निर्विकार परमचैतन्यभावना से उत्पन्न एक परम आनन्दस्वरूप सुखामृतरस के स्वाद को प्राप्त न करता हुआ, यह जीव देखे सुने और अनुभव में आये हुए भोगों में जो निरन्तर चित्त को देता है वह निदान-शल्य है।' (बृहद्द्रव्य संग्रह गाथा ४२ टीका)। इन तीनों शल्य का स्वरूप सिद्धान्तसारसंग्रह चतुर्थऽध्याय में दिया है। इससे प्रतीत होता है कि माया, मिथ्या, निदान-शल्य होते हुए सम्यक्त्व होना दुर्लभ है। मिथ्यात्वशल्य होते हुए सम्यक्त्व होना असंभव है।

श्री बाहुबली स्वामी को माया मिथ्या निदान इन तीन शल्यों में से एक भी शल्य नहीं था। अतः उनको सम्यक्त्व होने में कोई बाधा नहीं है।

—जै. सं. 25-12-58/V/ ट. च. महाजन, सिरडशाहपुर

सम्यक्त्वी मरकर द्रव्यस्त्रीवेद व भावस्त्रीवेद में जन्म नहीं लेता

शंका—सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता। तब क्या यह समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन को लेकर जो पर्याय होगी उसमें भाववेद व द्रव्यवेद दोनों ही स्त्रीवेद नहीं होंगे ?

समाधान—यह एक साधारण नियम है कि सम्यग्दृष्टि मरकर जिस गति में भी उत्पन्न होता है उसमें विशिष्ट वेदादिक में ही उत्पन्न होता है। कहा भी है—

"यत्र क्वचन समुत्पद्यमान सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यत इति गृह्यताम्।

(धवल पु० १ पृ० ३२८ सूत्र ८८ की टीका)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जिस किसी गति में उत्पन्न होता है उस गतिसम्बन्धी विशिष्टवेदादिक में ही उत्पन्न होता है। यह अभिप्राय यहाँ पर ग्रहण करना चाहिये।

स्त्रीपर्याय व स्त्रीवेद चूंकि निकृष्ट हैं, अतः सम्यग्दृष्टि सब प्रकार की स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् द्रव्यस्त्री, भावस्त्री तिर्यंच अथवा तिर्यंचनी, मनुष्यनी और देवांगनाओं में उत्पन्न नहीं होता।

"सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषां प्राणिनां तत्तद्गत्यायुः सामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गति-विशेषोत्पत्तिविरोधित्वो-पलम्भात्। तथा च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकपृथ्वीषट्कस्त्रीनपुंसकविकलेन्द्रियलब्ध्य-पर्याप्तककर्म-भूमिजतिर्यक्षु चोत्पत्त्या विरोधोऽसंयत सम्यग्दृष्टेः सिद्धयेदिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते।"

(धवल पु० १ पृ० ३३७)

अर्थ—जिन्होंने पहले आयुकर्म का बन्ध कर लिया है ऐसे जीवों के सम्यग्दर्शनका उस गतिसम्बन्धी आयु-सामान्य के साथ विरोध न होते हुए भी उस उस गतिसम्बन्धी विशेष में उत्पत्ति के साथ विरोध पाया जाता है। ऐसी अवस्था में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवों में, नीचे के छहनरकोंमें सबप्रकार की स्त्रियोंमें, नपुंसकवेद में, विकलत्रयों में लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में और कर्मभूमिजतिर्यंचों में असंयत-सम्यग्दृष्टि का उत्पत्ति के साथ विरोध सिद्ध हो जाता है, इसलिये इतने स्थानों में सम्यग्दृष्टिजीव उत्पन्न नहीं होता है।

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइसवण-भवण-सव्वइत्थीसु। णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ॥ १३३ ॥

(धवल पु० १ पृ० २०९)

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि जीव होता है। वह प्रथमपृथिवी के बिना नीचे की छहपृथिवियों में, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासीदेवों में और सर्व प्रकार की स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है।

सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सूत्र ७ की टीका से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि मरकर भाव या द्रव्यवेदसहित तिर्यंचनी, मनुष्यनी या देवांगना में उत्पन्न नहीं होता।

—जै. ग. 27-12-65/VIII/र. ला. जैन, मेरठ

सम्यक्त्व का फल

शंका—रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ३५ व ३६ में लिखा हुआ फल कौनसे सम्यक्त्वधारी को मिलता है?

समाधान—रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ३५ इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शनकरि शुद्ध हैं ते व्रत रहित हूं नारकीपणा, तिर्यंचपणा, नपुंसकपणा, स्त्रीपणा कूं नाहीं प्राप्त होय है और नीचकुली, विकृतअंगी, अल्प आयुवाले तथा दरिद्री नहीं होय हैं।

उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिक तीनों सम्यग्दृष्टि इन अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु जिस जीव ने मिथ्यात्वअवस्था में नरक या तिर्यंचायु का बन्ध कर लिया हो तत्पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया हो या कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि हो गया हो वह सम्यग्दृष्टिजीव मरकर प्रथमनरक में नपुंसकवेद सहित नारकी तथा भोगभूमि में तिर्यंच हो सकता है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति से बँधी हुई आयु का छेद नहीं होता। आयुकर्म बहुत

बलवान है। जिस जीव ने जिस आयु का बन्ध कर लिया है, उस आयु का फल उस जीव को अवश्य भोगना पड़ेगा। एक आयु का दूसरी आयु में संक्रमण भी नहीं होता।

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
माहाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन करि पवित्र पुरुष हैं ते मनुष्यनि का तिलक होय है, पराक्रम, प्रताप, अतिशयरूप ज्ञान, अतिशयरूप वीर्य, उज्ज्वल यश, गुण व सुख की वृद्धि, विजय और विभव इन समस्त गुणनि का स्वामी होय है।

ये सब गुण उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिक इन तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीवों को प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शन एक अनोखा गुण है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, उस वस्तु का उस स्वभाव सहित, विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह गुण अतिसूक्ष्म है, इसका जघन्यकाल भी बहुत थोड़ा है। अतः किसी भी जीव के विषय में यह निश्चयरूप से नहीं कहा जा सकता कि यह जीव सम्यग्दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि। उपर्युक्त गुण मिथ्यादृष्टिजीव को भी प्राप्त हो जाते हैं।

—जै. सं. 17-1-57/VI/ सों. व. का. ढबका

स्वयंभूरमण समुद्र में देशना-प्राप्ति कैसे?

शंका—अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्याते तिर्यंच संयमासंयमी हैं। उनको उपदेश कौन देता है, क्योंकि वहाँ मनुष्य तो जा नहीं सकता?

समाधान—देवों के उपदेश द्वारा अथवा जातिस्मरण से स्वयम्भूरमण समुद्र में सम्यक्त्व व संयमासंयम हो जाता है।

—जै. ग. 12-12-66|VII/ ज. प्र. म. कु. जैन

सम्यग्दृष्टि के बन्ध व सत्त्व में तारतम्य

शंका—एक मिथ्यादृष्टि जीव तीन करण करके सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, उस समय कर्मों की स्थिति अंतःकोटाकोटीप्रमाण रह जाती है। इसके बाद वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त होकर बहुतकाल तक सम्यक्त्वसहित रह सकता है। उससमय वह जीव यदि कर्मों का बंध करे तो जो पूर्व में बंध करता था उससे जितना समय बीत गया उतना हीनबंध करेगा या पूर्व में किया उतना ही कर लेगा?

समाधान—सम्यग्दृष्टिजीव के कर्मों का जितना भी स्थितिसत्त्व होता है स्थिति बंध उस स्थितिसत्त्व से बहुत कम होता है। स्थितिबंध कभी भी स्थितिसत्त्व से अधिक नहीं होता, क्योंकि स्थितिसत्त्व की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के बन्ध मात्र अल्पतर ही होता है भुजगार नहीं होता (जयधवल पु० ४ पृ० ५) और इस अल्पतर का उत्कृष्टकाल कुछ अधिक ६६ सागर है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का उत्कृष्टकाल भी इतना ही है। इस ६६ सागरकाल के भीतर जीव संयम से असंयम में और असंयम से संयम को प्राप्त होता है अतः स्थितिबंध कभी हीन और कभी अधिक होता है। इसलिये स्थितिबंध की अपेक्षा वेदकसम्यग्दृष्टि के भुजगार व अल्पतर दोनों होते हैं (महाबंध पु० ३ पृ० ३२८)।

— जै. ग. 5-3-64/IX/ ल. कु. सेठी

सर्व गतियों के सम्यक्त्वी अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हैं

शंका—कषायपाहुड पुस्तक ५ पृष्ठ ५० विशेषार्थ में 'दूसरे आदि नरकों में अनंतानुबंधी चतुष्क की क्षपणा लिखी है, सो कैसे ?

समाधान—प्रथमनरक में क्षायिकसम्यग्दृष्टि या कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि उत्पन्न हो सकता है, द्वितीयादि ६ नरकों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ही उत्पन्न होता है। नरकों में मिथ्यादृष्टि जीव भी उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न कर सकता है। प्रत्येक गति का उपशम व क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिजीव अनन्तानुबंधीकषाय की विसंयोजना कर सकता है। अतः प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि व क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि नारकीजीव भी अनन्तानुबंधी कषाय की विसंयोजना कर सकते हैं। (कषायपाहुड पु० २ पृ० २२०, २३२)।

—जै. सं. 27-11-58/V/ ब्र. राजमल (आ. श्री शिवसागरजी संघस्थ)

सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व के सत्त्वी जीवों का स्पर्शन सर्व लोक है

शंका—सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतिवालों के सर्वलोकप्रमाण क्षेत्रका स्पर्शन कषायपाहुड पुस्तक ५ पृष्ठ २२९ पर कहा है सो मिश्र में कैसे संभव है ?

समाधान—कषायपाहुड पुस्तक ५ पृ० २२९ पर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की सत्तावालों का स्पर्शन सर्वलोक क्षेत्र कहा है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व के प्राप्त होने पर मिथ्यात्व द्रव्यकर्म के तीन टुकड़े हो जाते हैं। पुनः मिथ्यात्व में जाकर एकेन्द्रिय में उत्पन्न होनेवाले जीवों के भी पल्य के असंख्यातवेंभाग काल तक सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का सत्त्व रहता है, क्योंकि इन दोनों (सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व) प्रकृति की उद्वेलना होकर मिथ्यात्वरूप परिणमने में पल्य का असंख्यातवाँ भाग काल लगता है। सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की सत्तावाले एकेन्द्रियों में असंख्याते जीव हैं। ऐसे एकेन्द्रियजीवों की अपेक्षा से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की सत्तावाले जीवों का स्पर्शन सर्वलोक कहा है।

—जै. सं. 1-1-59/V/ मा. सु. रांवका, ब्यावर

सम्यक्त्वी के "२६ प्रकृति से २८ प्रकृति के सत्त्व रूप वृद्धि" नहीं होती

शंका—उपशमसम्यग्दृष्टि के वृद्धि, हानि व अवस्थान पदों के न होने का नियम स्वीकार करनेपर तो २६ प्रकृतिरूप से २८ प्रकृतिरूप वृद्धि करनेवाले सम्यग्दृष्टि के बाधा क्यों नहीं पड़ती ?

समाधान—मोहनीयकर्म की २६ प्रकृति के सत्त्व का स्वामी सम्यग्दृष्टिजीव नहीं होता है, क्योंकि प्रथमोपशम के प्रथमसमय में ही मिथ्यात्वकर्म के तीन टुकड़े होकर मोहनीय की २८ प्रकृति का सत्त्व हो जाता है (धवला पुस्तक ६ पृ० २३४) मोहनीय की २६ प्रकृति के सत्त्व का स्वामी नियम से मिथ्यादृष्टिजीव ही होता है (क. पा. पु. २ पृष्ठ २२१)। अतः सम्यग्दृष्टि के २६ प्रकृति के सत्त्व से २८ प्रकृति की वृद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

—जै. सं. 24-7-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

सम्यक्त्वमार्गणा में मिथ्यात्व नामक भेद का संग्रह उचित है

शंका—सम्यक्त्वमार्गणा में सम्यक्त्व के छह भेद कहे गये हैं। उन छह भेदों में से एक भेद मिथ्यात्व भी है। 'मिथ्यात्व' सम्यक्त्व का भेद कैसे हो सकता है वह तो सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है ?

समाधान—यह सत्य है कि 'मिथ्यात्व' सम्यक्त्व का भेद नहीं है, क्योंकि वह सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है, किन्तु सम्यक्त्वमार्गणा में मात्र सम्यक्त्व के भेदों का कथन नहीं है, किन्तु सम्यक्त्व की अपेक्षा समस्त संसारी जीवों का कथन किया गया है। नाना संसारी जीवों में सम्यक्त्व की क्या क्या अवस्था पाई जाती है ? इस प्रकार सम्यक्त्वमार्गणा में सम्यक्त्व की नाना अवस्थाओं की अपेक्षा समस्त संसारी जीवों की खोज की गई है। 'मार्गणा' का अर्थ ही खोज है।

सम्यक्त्व की अपेक्षा खोज करने पर यह देखा जाता है कि "किन्हीं जीवों में उपशम सम्यक्त्व पाया जाता है जो दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबन्धी इन सातप्रकृतियों के उपशम हो जानेपर उत्पन्न होता है। कुछ जीवों में क्षायिकसम्यक्त्व पाया जाता है जो उपर्युक्त सातप्रकृतियों के क्षय होने से उत्पन्न होता है। कुछ जीवों में क्षयोपशमसम्यक्त्व पाया जाता है जो छह प्रकृतियों के अनुदय और सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से प्रगट होता है। कुछ जीवों के सम्यक्त्व का अभाव पाया जाता है, जिनकी दो अवस्था होती हैं अर्थात् सम्यक्त्व के अभाव में मिथ्यात्वप्रकृति का उदय पाया जाने से 'मिथ्यात्व' अवस्था होती है और अनन्तानुबन्धी के उदय के कारण सम्यक्त्व से च्युत हो जाने पर 'सासादनसम्यक्त्व' अवस्था होती है। कुछ जीवों के दधिगुड़ मिश्रण के समान, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों का एक साथ सद्भाव पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्रप्रकृति के उदय होने से यह सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्रअवस्था होती है।"

सम्यक्त्व का अभाव भी तो सम्यक्त्व की अवस्था है। अतः नानाजीव अपेक्षा सम्यक्त्व की अवस्थाओं का कथन करने के लिये सम्यक्त्वमार्गणा में सम्यक्त्व के अभावस्वरूप मिथ्यात्व का कथन किया गया है, अन्यथा सम्यक्त्वमार्गणा में समस्त संसारी जीवों का कथन नहीं हो सकता था।

सर्वज्ञदेव ने सम्यक्त्वमार्गणा के निम्न छह भेद कहे हैं जिनको गणधर द्वारा द्वादशांग में गुंथित किया गया है और गुरु परम्परा से प्राप्त उस उपदेश को आचार्यों ने ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया है। वह आर्षग्रन्थ इस प्रकार है—

सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि ॥१४४॥ [ष. खं., जीवस्थान, सत्प्ररूपणा]

अर्थ—सम्यक्त्वमार्गणा अनुवाद से सम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं।

—जै. ग. 1-11-65/VIII/ शांतिलाल

संज्ञी मार्गणा

केवली संज्ञी असंज्ञी के विकल्प से रहित हैं

शंका—धवल पु० २ पृ० ४४७ नक्शे में संज्ञी मार्गणा के कोष्ठक में १ व अनु० लिखा है क्या यह ठीक है ?

समाधान—धवल पुस्तक २ पृ० ४४७ पर आयोगकेवली का नक्शा है। अयोगकेवली संज्ञी नहीं है, क्योंकि इनके अतीन्द्रिय केवलज्ञान है और एकेन्द्रिय आदि तिर्यंचों के समान असंज्ञी भी नहीं हैं। संज्ञीमार्गणा के दो ही भेद हैं–संज्ञी व असंज्ञी। इसलिए अयोगकेवली के संज्ञीमार्गणा के कोष्ठक में शून्य होना चाहिए था, एक का अंक अशुद्ध है। "अनु०" अनुभय का द्योतक है जिसका अर्थ होता है "संज्ञीअसंज्ञी से रहित" अतः "अनु०" ठीक है।

—जै. ग. 26-10-67/VII/ र. ला. जैन,

मन कथंचित् मुक्ति को जाता है

शंका—मन मुक्ति को जाता है या नहीं ?

समाधान—मन के द्वारा जब मुक्ति का स्वरूप विचारा या जाना जाता है उस समय मन मुक्ति को चला जाता है, यह उपचार नय से है। द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म का नाशकर जब जीव मुक्ति को जाता है, उस समय जीव द्रव्यमन व भावमन दोनों से रहित होता है, क्योंकि द्रव्यमन तो शरीराश्रित है और भावमन क्षयोपशमज्ञानाश्रित है। मुक्त जीव अशरीरी और क्षायिकज्ञानवाले होते हैं अतः उनके शरीर व क्षयोपशमज्ञान नहीं होता है। इससे सिद्ध हुआ कि मन मुक्ति को नहीं जाता।

—जै. सं. 4-9-58/V/ भा. च. जैन, बनारस

संज्ञी–असंज्ञी

शंका—असंज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य या तिर्यंच कौन हैं ?

समाधान—देव, नारकी तथा मनुष्य गर्भज व सम्मूर्च्छन (पर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त) सब संज्ञी ही होते हैं। चतुरिन्द्रिय तिर्यंच तक सब असंज्ञी होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी व असंज्ञी दो प्रकार के होते हैं। देव, नारकी और मनुष्य असंज्ञी नहीं होते।

—जै. सं. 13-12-56/VII/ सौ. च. का. डबका

असंज्ञी के भी हित में प्रवृत्ति तथा अहित से निवृत्ति

शंका—दृष्ट, श्रुत अनुभूत को विषय करनेवाले मानसज्ञान का दूसरी जगह सद्भाव मानने में विरोध आता है। जब कि मनरहित जीवके इन समस्त धर्मों का अभाव है, तो उनकी हित में प्रवृत्ति और अहित में निवृत्ति कैसे संभव है ?

समाधान—इन्द्रिय जनित ज्ञान से भी हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति होती है। ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। चींटी आदि मिष्टान्न पदार्थों की ओर जाती है और उष्णस्पर्श से दूर हटती है। जिस ओर जलाशय होता है वनस्पतिकायिक जीवों की जड़ें उसी ओर बढ़ती हैं।

"एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥१।३०॥ (तत्त्वार्थ सूत्र)

अर्थात्—एक आत्मा में एक साथ एक ज्ञान से लेकर चारज्ञान तक होते हैं। यदि एक होता है तो वह केवलज्ञान होता है। दो होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होते हैं। तीन होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान होते हैं, तथा चार होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्यय-ज्ञान होते हैं। एक साथ पाँच ज्ञान नहीं होते। अर्थात् जिसके मतिज्ञान होगा उसके श्रुतज्ञान अवश्य होगा। कहा भी है—

"एकं केवलज्ञानं। द्वे मतिश्रुते। त्रीणि मतिश्रुतावधि ज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा। चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि। न पञ्च सन्ति।"

—जै. ग. 23-1-69/VII/ टो. ला. मित्तल

असंज्ञी जीवों [असंज्ञी पंचेन्द्रियों] में तीनों वेद सम्भव है

शंका—षट्खंडागम पु० २, पृ० ६७४ पर स्त्रीवेदी जीवों के पर्याप्त आलाप में संज्ञीपर्याप्तक व असंज्ञी-अपर्याप्तक दो जीवसमास क्यों कहे, क्योंकि स्त्रीवेदी जीव असंज्ञी कैसे हो सकते हैं? मेरे ख्याल में सब असंज्ञी नपुंसक होते हैं।

समाधान—षट्खंडागम पु० २ पृष्ठ ६७४ पंक्ति ३ पर संज्ञीपर्याप्तक व असंज्ञीपर्याप्तक कहा है। अपर्याप्तक अशुद्ध छप गया था जो शुद्धिपत्र के द्वारा शुद्ध करा दिया गया। असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचजीव गर्भज भी होते हैं और सम्मूर्च्छन भी होते हैं। जो सम्मूर्च्छन होते हैं वे तो नियम से नपुंसक होते हैं (मोक्षशास्त्र अध्याय २ सूत्र ५०)। जो गर्भज होते हैं वे तीनों वेदवाले होते हैं। गर्भज–असंज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यंचजीवों में स्त्री भी संभव है। कहा भी है—'तिरिक्खा तिवेदा असण्णि पंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदात्ति ॥ १०७ ॥ (ष० खं० पु० १, पृ० ३४६)।'

अर्थ—तिर्यंच–असंज्ञीपंचेन्द्रिय से लेकर संयतासंयतगुणस्थान तक तीनों वेदों से युक्त होते हैं ॥ १०७ ॥

—जै. सं. 20-3-58/VI/ कपूरीदेवी

असंज्ञी जीवों में मन के बिना भी बन्ध सिद्ध है

शंका—मन और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। मन आत्मा के दश प्राणों में से एक प्राण है। कर्मबन्ध में मन ही कारण है क्या? यदि मन ही बन्ध का कारण है तो क्या असैनीजीव के बन्ध नहीं होता? भाव क्या मन से पैदा होते हैं या सीधे आत्मा से? आत्मा और मन का क्या सम्बन्ध है?

समाधान—मन दो प्रकार का है द्रव्यमन और भावमन। उनमेंसे द्रव्यमन पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से होता है। वीर्यान्तराय औरनोइन्द्रियावरण कर्मकी अपेक्षा रखने वाली आत्मविशुद्धि 'भावमन' है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है—

"मनो द्विविधम्—द्रव्यमनो भाव मनश्चेति। तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः ॥ २।११॥

द्रव्यमन पुद्गल की पर्याय है और भावमन आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय है, किन्तु द्रव्यमन के बिना भावमन नहीं हो सकता। कहा भी है—

'तत्र भावेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाले एव सत्त्वादपर्याप्तकालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्यद्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्यासत्त्वप्रसङ्गात्।' (धवल पु० १ पृ० २५९)।

जीव के नवीन भव को धारण करने के समय ही भावेन्द्रियों की तरह भावमन का सत्त्व पाया जाता है, इसलिये जिस प्रकार अपर्याप्तकाल में भावेन्द्रियों का सद्भाव कहा जाता है, उसी प्रकार वहाँ पर भावमन का सद्भाव क्यों नहीं कहा ? नहीं कहा, क्योंकि बाह्यइन्द्रियों के द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य वस्तुभूत मन का अपर्याप्त अवस्था में स्वीकार कर लेने पर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमन के असत्त्व का प्रसंग आ जायगा।

ज्ञानावरणादि कर्मों से लिप्त आत्मा स्वतः पदार्थों को ग्रहण करने में असमर्थ है। अतः इन्द्रिय आदि के निमित्त से मति आदि ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। जैसा कहा भी है—

'उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपकरणं लिङ्गमितिकथ्यते।' (धवल पु० १ पृ० २६०)

'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।'

इस प्रकार ज्ञानोपयोग रूप भाव में मन बलावान कारण है।

बंध के कारण पाँच हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ ८।१ ॥' (त. सू.)

इन पाँच बन्ध कारणों में योग भी बंध का कारण है। मन, वचन और कायके भेद से वह योग तीन प्रकार का है। कहा भी है—

'कायवाङ्मनःकर्मयोगः ॥ ६।१ ॥ (त. सू.)

मन, वचन व काय की क्रिया योग है। इस प्रकार मनोयोग प्रकृति व प्रदेशबन्ध का कारण है। 'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति।'

असंज्ञी जीवों के मन नहीं होता अतः मनोयोग भी नहीं होता; किन्तु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व काययोग बंध के कारण तो सभी असंज्ञी जीवों के होते हैं। अतः उन असंज्ञी जीवों के प्रतिसमय बंध होता रहता है।

—जै. ग. 11-9-69/VII/ बसन्तकुमार

आहार मार्गणा

षड्विध आहारों के स्वामी

शंका—केवली नोकर्मआहार करते हैं, देव मानसिकआहार करते हैं और नारकीकार्मण आहार करते हैं। ये आहार किस प्रकार के हैं?

समाधान—औदारिकादि तीन शरीरों की स्थिति के लिये जो पुद्गलपिण्ड ग्रहण किया जाता है, वह आहार है। कहा भी है—

"शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः।" (धवल पु० १ पृ० १५२)

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीनशरीर के योग्य पुद्गलपिण्ड के ग्रहण करने को आहार कहते हैं।

शरीर की स्थिति आयु कर्मोदय में कारण है अतः आहार को आयुकर्म का नोकर्म कहा गया है।

णिरयायुस्स अणिट्ठाहारो सेसाणमिट्ठमण्णादी।
णादिणोकम्मं दव्वं चउण्णदीणं हवे सेसं ॥ ७८ ॥ (गो. क.)

टीका—नरकायुषोऽनिष्टाहारः तद्विषमृत्तिका नोकर्म द्रव्यकर्म शेषायुषामिष्टान्नादयः।

अनिष्ट-आहार अर्थात् नरक की मिट्टी आदि नरकायु का नोकर्म है और शेष तिर्यंचादि तीन आयुकर्म का नोकर्म इन्द्रियों को प्रिय लगे ऐसा अन्न-पानादि है।

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य।
उज्जमणो विय कमसो आहारो छव्विहो णेओ ॥११०॥

णोकम्म कम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं।
कवलाहारो णरपसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो ॥१११॥

पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्झेसु वट्टमाणाणं।
देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवलिणो ॥११२॥ (भाव संग्रह)

अर्थ—नोकर्मआहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिकआहार इस प्रकार आहार के छह भेद हैं। इनमें से नोकर्माहार और कर्माहार चारों गतिवाले जीवों के होता है। कवलाहार मनुष्य तथा पशुओं के होता है और वृक्षों के लेपाहार होता है। अंडे के भीतर रहनेवाले पक्षियों के ओजआहार होता है और देवों के मानसिकआहार होता है। इनमें से चारप्रकार का आहार केवलीभगवान के नहीं होता है।

—जै. ग. 23-12-76/VII/ नै. म. जैन

अनाहारक का जघन्यकाल

शंका—शास्त्राकार त. रा. वा. पृ० १८६ में लिखा है "जिस पर्याय में एक समय जीकर मर जाता है उस पर्याय की अपेक्षा जीव की स्थिति एक समय है" यह कथन कैसे घटित होता है ?

समाधान—यह कथन अनाहारकपर्याय की अपेक्षा से है, क्योंकि एक जीवका अनाहारकपर्याय का जघन्यकाल एक समय है। कहा भी है—

"अणाहारा केवचिरं कालादो होंति ॥१२३॥ जहण्णेणेगसमओ ॥१२४॥" (धवल ७।१८५)

अर्थ—जीव अनाहारक कितने काल तक रहता है ? जघन्य से एक समय तक जीव अनाहारक रहता है ॥ २१२, २१३ ॥ (धवल पु० ७ पृ० १८५)

—जै. ग. 27-3-69/IX/ क्षु. शीतलसागर

केवली के तीन समय संबंधी अनाहारता का प्रपंच

शंका—केवली समुद्घात में तीनसमय तक अनाहारक रहते हैं। अनाहारक रहने का कारण क्या है ? उस समय नोकर्मवर्गणा का क्या होता है, क्योंकि केवली के नोकर्मवर्गणा का ही आहार है ?

समाधान—तीन समय तक अर्थात् प्रतर व लोकपूर्ण केवलीसमुद्घात अवस्था में मात्र कार्माणकाययोग रहता है, अतः उन तीन समय तक मात्र कर्मवर्गणा ही आती हैं; नोकर्मवर्गणा का ग्रहण नहीं होता इसलिये अनाहारक कहा है। सयोगकेवली के मात्र नोकर्मवर्गणा का ही आहार होता है, किन्तु तीन समय तक नोकर्मवर्गणा नहीं आती है, अतः अनाहार कहा है।

—जै. सं. 25-9-58/V/ ब्र. बसंतीबाई, हजारीबाग

मरणोपरान्त जीव का ऊपर जाकर मोड़ा लेना आवश्यक नहीं

शंका—क्या जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ? ऐसी दशा में नरक में जाने वाला जीव अथवा ठीक नीचे जाने वाला जीव कितने मोड़े लेता है ? किस जीव को तीन मोड़े लेने पड़ते हैं ?

समाधान—जीव अनादिकाल से कर्मों से बँधा है। यद्यपि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, किन्तु अनादि कर्मबन्ध के कारण इस ऊर्ध्वगमन स्वभाव का घात (अभाव) हो रहा है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव जीव का लक्षण नहीं अतः उसके घात से जीव का घात नहीं होता। जीव का लक्षण चेतना है अतः चेतना के अभाव में जीव का अभाव अवश्य हो जावेगा। ऐसी दशा में नरक में जाने वाला जीव बिना मोड़े, एक मोड़ा अथवा दो मोड़े लेकर उत्पन्न होता है और ठीक नीचे जाने वाला जीव बिना मोड़े वाली ऋजुगति से उत्पन्न होता है। ऐसा नहीं है कि पहले समय में जीव ठीक ऊपर जावे तत्पश्चात् अन्य दिशा को गमन करे। ऐसा मानने से जो ऊपर तनुवातवलय के अन्त में स्थित एकेन्द्रिय जीव मरण करे और यदि उसका ऊर्ध्वगमन हो तो उसका अलोकाकाश में गमन होना चाहिए, किन्तु आगम से विरोध आता है। दूसरे यदि जीव मरण के समय ठीक ऊपर जावे तत्पश्चात् ठीक नीचे या तिर्यक्दिशा को आवे तो उसको एक समय के लिए अनाहारक रहना होगा किन्तु ठीक नीचे, ऊपर या तिर्यक्-

दिशा में जन्म लेने वाले जीव के ऋजुगति कही है और ऋजुगति में अनाहारक होता नहीं है अतः इस प्रकार भी आगम से विरोध आता है। जो एकेन्द्रिय जीव सातवें नरक से नीचे त्रसनाड़ी से बाहर एक तरफ मरा है और उसको मध्यलोक से साढ़े तीन राजू ऊपर जाकर त्रसनाड़ी के बाहर दूसरी तरफ उत्पन्न होना है, उस एकेन्द्रिय जीव को तीन मोड़े लेने पड़ते हैं।

—जै. सं. 2-8-56/VI/ टी. च. जै. देहरादून

विग्रहगति में भी निरन्तर गतिबन्ध

शंका—विग्रहगति में क्या जीव अपने परिणामों द्वारा गति का बंध कर सकता है ?

समाधान—विग्रहगति में कार्माणकाययोग होता है। कहा भी है '*विग्रहगतौ कर्मयोगः*' (मो. शा. अ. २ सूत्र २५)। कार्मणकाय योग में संसारी जीव के नरकादि चार गतियों में से किसी न किसी गति का बंध अवश्य होता है, किन्तु आयु का बंध नहीं होता (गो. क. गाथा ११९)।

—जै. ग. 31-10-63/IX/ क्षु. आदिसागर

विग्रहगति में कार्य

शंका—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १८५ की संस्कृत टीका का भाव क्या है अर्थात् क्या विग्रहगति में भी जीव कृषि, वाणिज्य आदि कर सकता है या उनके करने का विचार कर सकता है, क्या ?

समाधान—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १८५ की संस्कृत टीका में 'घट, पट, कृषि, वाणिज्य आदि कार्य तथा ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मों को करता है।' ऐसा कहा है। विग्रहगति में जीव के औदारिक या वैक्रियिकशरीर नहीं होता; अतः विग्रहगति में घट, पट, कृषि, वाणिज्य आदि कार्य तो नहीं कर सकता और मनोबल का अभाव होने के कारण इन कार्यों का विचार भी नहीं कर सकता, किन्तु विग्रहगति में ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मों का बन्ध अवश्य होता है, क्योंकि कषाय व योग का सद्भाव है, अतः विग्रहगति में जीव ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मों को करता है। संस्कृत टीकाकार का यह भाव समझना चाहिये।

—जै. ग. 9-1-64/ क्षु. आदिसागर

विग्रहगति में अनाहारक अवस्था में सम्भव ज्ञान व गुणस्थान

शंका—विग्रहगति में कौन गुणस्थान व ज्ञान सम्भव है ?

समाधान—'विग्रहगतौ कर्मयोगः।'' इस सूत्र के अनुसार विग्रहगति में कार्मणकाययोग होता है। विग्रहगति कार्मणकाययोग में मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान ये पाँच ज्ञान विग्रहगति में होते हैं। (धवल पु० २ पृ० ६६८-६६९)

—जै. ग. 23-7-70/VII/ रो. ला. मित्तल

विग्रहगति में जीव के शरीर, योग व कर्मग्रहण

शंका—कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १८५ में बतलाया है कि जीव शरीर से मिला हुआ होने पर भी सब कार्य करता है। विग्रहगति वगैरह का जो कथन है किस अपेक्षा से है ? खुलासा देवें, भाव की अपेक्षा या किसी दूसरी तरह ?

समाधान—विग्रहगति में यद्यपि जीव के साथ औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीर नहीं होता तथापि कार्माणशरीर तो रहता है। उसके कार्माणकाय-योग होता है और कर्मों का आस्रव तथा बन्ध करता है। विग्रह-गति में सुख-दुःख का वेदन व कषाय भी होती है। अतः यह जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है।

—जै. ग. 30-10-63/IX/ म. ला. फू. च.

विग्रहगति में कर्म-ग्रहण का हेतु

शंका—जब तक जीव के साथ आयुकर्म का संबंध है तभी तक जीव कर्म ग्रहण करता है, आयु के सम्बन्ध के बिना कर्म ग्रहण नहीं करता है। आयु का सम्बन्ध पूर्वशरीर और उत्तरशरीर के साथ है, आयु का सम्बन्ध छूटने पर शरीरका सम्बन्ध भी छूट जाता है अतः शरीर के अभाव में विग्रहगति में कर्म का ग्रहण किस कारण से होता है ?

समाधान—संसारी जीव के आयुकर्म का सम्बन्ध सदा बना रहता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक आयुकर्म का सम्बन्ध रहता है, किन्तु आयुकर्म बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में आयुकर्म का सम्बन्ध तो है, किन्तु कर्मग्रहण नहीं है। पूर्वशरीर तथा उत्तरशरीर के साथ भी आयुकर्म का अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि विग्रहगति में आयुकर्म का सम्बन्ध तो है किन्तु पूर्व शरीर व उत्तर शरीर नहीं है। कर्म ग्रहण का कारण योग है। कहा भी है—

'कायवाङ्मनः कर्म योगः ।६।१। स आस्रवः ।।६।२।।' (तत्त्वार्थसूत्र)

अर्थ—काय वचन और मन की क्रिया योग है। योग ही आस्रव है अर्थात् योग के द्वारा ही कर्मों का ग्रहण होता है।

काय अर्थात् शरीर पाँच प्रकार के हैं—

"औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।।२।३६।। (तत्त्वार्थसूत्र)

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर हैं। विग्रहगति में कार्मण शरीर के निमित्त से योग होता है उस योग से कर्मों का ग्रहण होता है। कहा भी है—

"विग्रहगतौ कर्मयोगः ।।२।२५।।" (त. सू.)

अर्थ—विग्रहगति में कार्मणकाययोग होता है।

—जै. ग. 26-2-70/IX/ रो. ला. मि.

इषुगति वाला विग्रहगति नहीं करता

शंका—मोक्षशास्त्र अध्याय २ सूत्र ३० की टीका में कहा है कि इषुगतिवाला जीव विग्रहगति में आहारक रहेगा, सो कैसे ?

समाधान—मोक्षशास्त्र अध्याय २ सूत्र ३० की टीका में तो यह लिखा है—

"उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्व्यां गतौ आहारकः" [सर्वार्थसिद्धि]।

सद्भावे विद्यमाने सति उपपाद क्षेत्रं प्रति अविग्रहायां गतौ ऋज्व्यां गतावाहारकः।" [तत्त्वार्थवृत्ति]।

यहाँ पर तो यह बतलाया गया है कि यदि उपपादक्षेत्र के लिये बिना मोड़े वाली गति अर्थात् सिद्धि गति होती है तो आहारक ही रहता है।

इषु अर्थात् ऋजुगति वाले जीव के विग्रह अर्थात् मोड़े वाली गति कैसे संभव है। अर्थात् इषु गति वाले जीव के विग्रह-गति संभव नहीं है ? अतः 'इषुगति वाला जीव विग्रहगति में आहारक कैसे रहेगा' यह शंका ही उत्पन्न नहीं होती है।

"विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः।"

विग्रह का अर्थ व्याघात या कुटिलता (मोड़ा) है।

संसारी जीव के जो एक समयवाली गति है वह मोड़े रहित अर्थात् ऋजु है। क्योंकि "एकसमयाऽविग्रहाः" ऐसा सूत्र है।

ऋजुगति वाला जीव उसी समय में उत्पन्न हो जाने के कारण आहारक हो जाता है और उससे पूर्वके समय में पूर्व पर्याय के शरीर में आहारक था। एक या दो या तीन मोड़े वाली गति में एक या दो या तीन समय तक उपपाद क्षेत्र को प्राप्त न करने के कारण जीव एक या दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है। जैसा कि "विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः। एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः।" इन सूत्रों द्वारा कहा गया है।

—जै. ग. 1-1-76/VIII/ ....

बन्ध

उपशम सम्यक्त्वी के भी आहारक शरीर का बन्ध

शंका—आहारकद्विकका बंध और उदय उपशम सम्यक्त्व में होता है या नहीं ?

समाधान—उपशम सम्यक्त्व में आहारकशरीर व आहारकशरीर अंगोपांग का बंध हो सकता है, किन्तु उदय नहीं हो सकता।

"आहारसरीर-आहारसरीर-अंगोवंगाणं को बंधो को अबंधो ? ॥३१५॥"

"अप्पमत्तापुव्वकरण-उवसमा बंधा" (धवल पु० ८ पृ० ३८०)

अर्थ—उपशमसम्यक्त्व में आहारशरीर व अंगोपांग का कौन बंधक है कौन अबंधक ? अप्रमत्त व अपूर्वकरणगुणस्थानवाले उपशमसम्यग्दृष्टि बंधक हैं।

मणपज्जव परिहारा उवसमसम्मत्त दोण्णि आहारा। एदेसु एक्कपयदे णत्थि त्ति य सेसयं जाणे ॥ (धवल)

अर्थ—मन:पर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धिसंयम उपशमसम्यक्त्व, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग इनमें से किसी एक के होने पर शेष नहीं होते।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

निगोदिया जीव के अगली आयु के बन्ध योग्य परिणाम व काल

शंका—जो जीव निगोदिया था वहां कौन से परिणामों द्वारा अगली गति का बंध किया ? अगली आयु का बंध किस अवस्था में किया ?

समाधान—निगोदियाजीव परभवसम्बन्धी आयु का बंध संक्लेशपरिणामों द्वारा भी कर सकता है तथा विशुद्धपरिणामों द्वारा भी कर सकता है, इसमें कोई एकान्त नियम नहीं है। जो लब्ध्यपर्याप्तनिगोदियाजीव हैं वे अपर्याप्तअवस्था में और पर्याप्तनिगोदियाजीव पर्याप्तअवस्था में आयुका बंध करते हैं, किन्तु उनके दो तिहाई आयु बीत जाने से पूर्व आयु बंध नहीं होता है।

—जै. ग. 15-1-68/VII/ ....

लब्ध्यपर्याप्त अपर्याप्तावस्था में तथा पर्याप्त जीव पर्याप्तावस्था में ही आयु का बन्ध करते हैं

शंका—अगली आयु का बंध पर्याप्तअवस्था में होता है या अपर्याप्त अवस्था में ?

समाधान—जो लब्ध्यपर्याप्त जीव हैं वे तो अपर्याप्तअवस्था में ही आयु बंध करते हैं, क्योंकि उनकी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती और जिनके पर्याप्त नामकर्म का उदय है वे पर्याप्तअवस्था में ही बंध करते हैं, अर्थात् सब पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् ही उनके आयुबंध संभव है (धवल पु० १० पृ० २४०)

—जै. ग. 15-1-68/VII/ ....

मन के बिना भी निगोद के आयुबन्ध का हेतु

शंका—निगोदिया जीव के मन नहीं होता है अतः मन के बिना वह आयुबंध किस प्रकार करता है ?

समाधान—आयुबंध के लिये या अन्य सात कर्मों के बंध के लिये भी मन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि असंज्ञी जीवों के आठों प्रकार का कर्मबंध पाया जाता है। कर्मबंध के कारण मिथ्यात्व, कषाय और योग हैं। कहा भी है—

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥१॥" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ८)

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु अर्थात् कारण हैं। यदि मन को ही बंध का कारण माना जाय तो असंज्ञी जीवों के बंधाभाव का प्रसंग आ जायगा, किन्तु असंज्ञी जीव अबंधक नहीं होते। कहा भी है—

सण्णियाणुवादेण सण्णी बंधा, असण्णी बंधा ॥ ३८ ॥ (धवल पु० ७ पृ० २१)

अर्थ—संज्ञी मार्गणानुसार संज्ञी बंधक है, असंज्ञी बंधक है।

—जै. ग. 15-1-68/VII/ ....

कदलीघात से मरने वाले जीव के आयुबन्ध कब होता है, इसका खुलासा

शंका—भुज्यमान आयु ७५ वर्ष है किन्तु ५० वर्ष से पूर्व अपघात कर लिया, तब किस समय अगली आयु का बंध होगा ?

समाधान—अपघात अर्थात् आयु का कदलीघात उन्हीं कर्मभूमिया-मनुष्य या तिर्यंचों का होता है जिन्होंने परभवसम्बन्धी आयु का बंध नहीं किया है, किन्तु जिन्होंने परभवसम्बन्धी आयु का बंध कर लिया है, उन जीवों की भुज्यमानआयु का कदलीघात नहीं होता है। कहा भी है—

"परभवियआउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउअस्स कदलीघादो णत्थि।" (धवल पु० १० पृ० २३७)

अर्थ—परभवसम्बन्धी आयु के बँधने के पश्चात् भुज्यमानआयु का कदलीघात नहीं होता। कदलीघात-मरणवाले जीव के असंक्षेपाद्धाकाल शेष रहने पर परभवसम्बन्धीआयु का बंध होता है, क्योंकि आयुकर्म का जघन्य आबाधाकाल असंक्षेपाद्धा है। (धवल पु० ६ पृ० १९४)

—जै. ग. 15-1-68/VII/ ....

आगामी मनुष्यायु का बंध कर लेने वाला मनुष्य वर्तमान भव से मोक्ष नहीं जा सकता

शंका—जिसने इस मनुष्यभव में अगली मनुष्यायु का बंध कर लिया होवे, बाद में मुनि बनकर तपस्या करके कर्म काटकर, क्या मोक्ष जा सकता है ?

समाधान—जिस मनुष्य ने परभवसम्बन्धी मनुष्यायु, नरकायु या तिर्यंचायु का बंध कर लिया है वह अणुव्रत या महाव्रत भी धारण नहीं कर सकता अर्थात् मुनि भी नहीं बन सकता। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा भी है—

चत्तारिवि खेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥३३४॥

अर्थ—चारों ही गतियों में किसी भी आयु के बंध होने पर सम्यक्त्व हो सकता है, परन्तु देव-आयु के बंध के सिवाय अन्य तीनआयु के बन्धवाला अणुव्रत तथा महाव्रत नहीं धारण कर सकता।

जिसने परभव की आयु का बंध कर लिया है उस मनुष्य को उस भव से मोक्ष नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 18-1-68/VII/ दि. जै. स. रेवाड़ी

गर्भ में भी त्रिभागी पड़ सकती है

शंका—गर्भ अवस्था में भी क्या त्रिभागी आजावेगी और आयु बंध हो जावेगा ?

समाधान—पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् गर्भअवस्था में भी परभव की आयु बँध सकती है। (धवल पु० ७ पृ० १९२ सूत्र १६ की टीका)

—जै. ग. 15-1-68/VII/........

आयुबन्ध के समय गतिबन्ध

शंका—'आयु का अबंध विषै चारगति का बंध नहीं' यह कैसे ?

समाधान—चारों गतियों में से किसी एकगति का प्रत्येकसमय आठवेंगुणस्थान तक बंध अवश्य होता है, किन्तु आयु का बंध प्रत्येक समय नहीं होता। 'आयु का अबंध विषै चार गति का बंध नहीं' यह कहना ठीक नहीं। आयुबंध के समय उसीगति का बंध होता है जिस आयु का बंध हो रहा है।

शंका—पूर्व बँधी आयु में क्या आस्रव हुए कर्मों का बँटवारा नहीं जाता ?

समाधान—जिससमय आयुबंध होता है उसीसमय आस्रव हुई कार्माण वर्गणाओं में से आयु का बँटवारा होता है। जिससमय आयु का बंध नहीं होता उससमय आयुकर्म को बँटवारा भी नहीं मिलता। आयुबंधकाल अंतर्मुहूर्त है उसके समाप्त होने पर आयुकर्म को बँटवारा मिलना भी रुक जाता है। उसके पश्चात् पुनः जब आयुबंध होता है उससमय पुनः आयुकर्म को बँटवारा मिलने लगता है। ऐसा नहीं कि एकबार आयुबंध होने के पश्चात् आयुअबंध काल में भी आयुकर्म को बँटवारा मिलता रहे।

—जै. ग. 4-7-63/IX/ म. ला. जैन

देवों द्वारा बद्ध जघन्य आयु का घात नहीं होता

शंका—धवल पु० ७ पृ० १९२-१९६ में देवों का अन्तर बताया, उसमें उनके आगामी आयु जघन्यस्थितिबंध बताकर यही जघन्य-अन्तर बताया तो इससे क्या यह तात्पर्य लेना चाहिये कि ऐसे जीवों के यहाँ मनुष्य या तिर्यंच होनेपर कदलीघातमरण नहीं होता ?

समाधान—देवों द्वारा बाँधी गई जघन्य मनुष्यायु या तिर्यंचायु का कदलीघात नहीं होता है। कहा भी है—"देवे हि (जहण्ण) बद्धाउअस्स घादा भावादो।" (धवल पु० ९ पृ० ३०६)

अर्थात्—देवों द्वारा बाँधी गई जघन्यआयु का घात नहीं होता है।

—जै. ग. 29-8-66/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

आयुबन्ध के योग्य परिणाम

शंका—अगली आयु का बन्ध करनेवाले कौन से विशेष परिणाम होते हैं अथवा उन परिणामों की क्या दशा होती है ?

समाधान—आयुबन्ध के लिये न तो अत्यन्त तीव्रसंक्लेश परिणाम होने चाहिए और न ही अत्यन्त विशुद्ध-परिणाम होने चाहिये, किन्तु मध्यमपरिणाम होने चाहिये।

लेस्साणं खलु अंसा छव्वीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबंधणजोगा, अट्ठट्ठवगरिसकाल-भवा ॥ ५१८ ॥ (गो. जी.)

अर्थ—लेश्याओं के कुल २६ अंश हैं, इनमें से मध्य के आठ अंश जो कि आठ अपकर्षकाल में होते हैं वे ही आयुकर्म के बंध के योग्य होते हैं।

भुज्यमानआयु के तीन भागों में से दो भाग बीतने पर अवशिष्ट एकभाग के प्रथम अन्तर्मुहूर्तकाल को प्रथम अपकर्ष कहते हैं। शेष एक भाग के दो बटा तीन भाग बीतने पर दूसरा अपकर्ष होता है। इस प्रकार शेष के दो बटा तीन भाग बीतने पर आयु–बंध का अपकर्ष काल आता है। इन आठ अपकर्षों में से जिस अपकर्षमें लेश्या के आठ मध्यम अंशों में से यदि कोई अंश होगा तो उसी अपकर्ष में आयु का बन्ध होगा। दूसरे अपकर्षों में आयु बन्ध नहीं होगा।

देव, नारकी तथा भोगभूमिया जीवों की आयु के अन्तिम छह माह में आठ अपकर्ष होते हैं।

—जै. ग. 29-8-68/VI/ टो. ला. मित्तल

चतुर्गति के जीवों के आयुबन्ध का विस्तृत नियम

शंका—मनुष्यगति वाले अपनी आयु के त्रिभाग शेष रहने पर परभवसम्बन्धी आयु बाँधते हैं। क्या देव और नारकियों के भी आयु का त्रिभाग शेष रह जाने पर ही परभविक आयु का बन्ध होता है ?

समाधान—जीव दो प्रकार के होते हैं, सोपक्रमायुष्क (अर्थात्–जिनकी अकालमृत्यु संभव है) दूसरे निरुपक्रमायुष्क (अर्थात्–जिनकी अकाल मृत्यु संभव नहीं है; देव, नारकी, भोगभूमिया के मनुष्य व तिर्यंच)। जो निरुपक्रमायुष्क जीव हैं (देव, नारकी, भोगभूमिया) वे अपनी भुज्यमानआयु में छह माह शेष रहने पर पर-भवसम्बन्धी आयुबन्ध के योग्य होते हैं। इस छह माह के त्रिभाग शेष रहने पर अथवा शेष के त्रिभाग शेष रहनेपर आयुबन्ध के योग्य होते हैं। इसप्रकार छहमाह से लेकर असंक्षेपाद्धाकाल तक आठ बार परभवसम्बन्धी आयु को बाँधने के योग्य काल होते हैं।

जो सोपक्रमायुष्क हैं (कर्मभूमि के मनुष्य तिर्यंच) उनके अपनी-अपनी भुज्यमान आयुस्थिति के दो-त्रिभाग बीत जाने पर वहाँ से लेकर असंक्षेपाद्धाकाल तक आठबार परभवसम्बन्धी आयु को बाँधने के योग्य काल होते हैं। उनमें आयुबन्ध के योग्यकाल के भीतर कितने ही जीव आठबार, कितने ही सातबार, कितने ही छहबार, कितने ही पाँचबार, कितने ही चारबार, कितने ही तीनबार, कितने ही दोबार, कितने ही एकबार आयुबन्ध के योग्य परिणामों से परिणत होते हैं। जिन जीवों ने आयु के तृतीय त्रिभाग के प्रथमसमय में परभवसम्बन्धी आयुका

बन्ध प्रारम्भ किया है वे अन्तर्मुहूर्त में आयुकर्म के बन्ध को समाप्त कर फिर भी आयु के नौवेंभाग में आयुबन्ध के योग्य होते हैं। तथा फिर भी आयु के सत्ताईसवाँ भाग शेष रहनेपर पुनरपि आयुबन्ध के योग्य होते हैं। इसप्रकार उत्तरोत्तर जो त्रिभाग शेष रहता जाता है उसका त्रिभाग शेष रहने पर यहाँ आठवें अपकर्ष तक प्राप्त होने तक आयुबन्धके योग्य होते हैं। त्रिभाग के शेष रहने पर आयु नियम से बँधती है ऐसा एकान्त नहीं, किन्तु उस समय जीव आयु-बन्ध के योग्य होते हैं (धवल पु० १० पृ० २३३-२३४)।

—जै. ग. 21-3-63/IX/ जिनेश्वरदास

आयुबन्ध के बाद गतिबन्ध का नियम

शंका—मिथ्यात्वगुणस्थान में आयुके साथ में गतिबंध के बाद में दूसरी-गतियों का बंध हो सकता है या नहीं ? इसी तरह अन्य गुणस्थानों में भी स्पष्ट स्थिति क्या है ?

समाधान—मिथ्यात्वगुणस्थान में जिससमय आयुका बन्ध होता है उससमय तो आयु के अनुसार ही गति का बंध होता है; अन्य समय एक ही गति का निरंतर बन्ध नहीं, किन्तु चारों गतियों में से कभी किसी गति कभी किसी गति का बन्ध होता रहता है। आयुबन्ध के पश्चात् भी आयु के विरुद्ध अन्य गतियों का बन्ध होता रहता है। सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में नरकगति के अतिरिक्त अन्य तीनगतियों का बन्ध होता रहता है। इससे ऊपर तीसरे-चौथे गुणस्थानवर्ती देव व नारकी मात्र मनुष्यगति का ही बंध करते हैं। तिर्यंच तीसरे चौथे पाँचवें गुणस्थानों में देवगति का ही बंध करते हैं। मनुष्य तीसरे से आठवें गुणस्थान तक देवगति का ही बंध करते हैं। इससे ऊपर के गुणस्थानों में गतिनामकर्म का बन्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में धवल पुस्तक ८ पृ० ३३, ४४, ४७, ६८ देखना चाहिये।

—जै. ग. 8-5-63/IX/ म. ला. जैन

आयु के जघन्य प्रदेश बन्ध का स्वामी

शंका—महाबंध पुस्तक ६ पृ० २२ पर 'आयु के जघन्यप्रदेशबन्ध के स्वामी सूक्ष्मनिगोदअपर्याप्तक को भवके तृतीयभाग के प्रथमसमय में ही आयुबन्ध होता है' ऐसा कहा है। प्रश्न यह होता है कि परिणामयोगवाले प्रथमसमयवाले भी पाये जाते हैं और दूसरे भी, तो फिर प्रथमसमयवाले ही क्यों कहा ?

समाधान—सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकजीव के सबसे जघन्ययोग होता है। विग्रहगति में उपपादयोग होता है। उसके पश्चात् एकान्तानुवृद्धियोग होता है। भुज्यमान आयुका तृतीयभाग शेष रहनेपर परिणामयोग प्रारम्भ होता है। ये तीनों प्रकार के योग अपने-अपने प्रथमसमय में ही जघन्य होते हैं जैसा कि धवल पुस्तक १० पृ० ४२१-४२२ से ज्ञात होता है। (यहाँ पर एकान्तानुवृद्धियोग तथा लब्ध्यपर्याप्तकजीवोंके परिणामयोगका कथन लेखक की भूल से छूट गया है।) किन्तु धवल पु० १० पृ० ४२६ पर जघन्यपरिणामयोग का काल जघन्य से एकसमय उत्कर्ष से चारसमय कहा है। यह काल आयुबन्धयोग्य अर्थात् परिणामयोग के प्रथमसमय से प्रारंभ होता है। जघन्यपरिणामयोग के समय ही जघन्य प्रदेशबन्ध होगा। अतः महाबंध पुस्तक ६ पृ० २२ पर आयुकर्म के जघन्यप्रदेशबंध का स्वामी सूक्ष्मनिगोदअपर्याप्तजीव क्षुल्लकभवग्रहण के तृतीय-त्रिभाग के प्रथमसमय में आयु बन्ध कर रहा है, जघन्य योगवाला है और जघन्य प्रदेशबन्ध में स्थित है वह आयुकर्म के जघन्य-प्रदेशबन्ध का स्वामी है, ऐसा जीव कहा है।

—जै. ग. 20-6-63/IX/ पन्नालाल

भोगभूमियों के आयुबन्ध की योग्यता कब होती है ? (दो मत)

शंका—भोगभूमियामनुष्य और तिर्यंचों के भुज्यमानआयु के ९ माह अवशेष रहने पर आगामीभव के आयुबंध की योग्यता बतलाई है। गाथा ९१७ में बड़ी टीका में ६ माह अवशेष रहने पर आयुबंध की योग्यता बतलाई है सो कैसे ?

समाधान—भोगभूमियामनुष्य व तिर्यंच के भुज्यमानआयु के ९ मास व छहमास शेष रह जानेपर पर-भविकआयुबंध की योग्यता होती है, ये दोनों कथन गोम्मटसार-कर्मकांड की बड़ी टीका में पाये जाते हैं। इन दोनों कथनों में संभवतः भरत-ऐरावत में सुखमादि तीनकाल की तथा हैमवत आदि क्षेत्रों की शाश्वतभोगभूमिया की विवक्षा रही है। भरत और ऐरावत क्षेत्रों में शाश्वतभोगभूमि नहीं है अतः यहाँ पर भुज्यमानआयु के ९ माह शेष रहनेपर परभवआयु बंधकी योग्यता हो जाती है और शाश्वतभोगभूमियों में ६ माह आयु शेष रहने पर परभव-आयुबंध की योग्यता होती है, किन्तु श्री धवल ग्रंथ में ६ माह आयु शेष रहनेपर परभवआयु बंधकी योग्यता बतलाई है।

"णिरुवक्कमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअबंध-पाओग्गा होंति।" (धवल पु० १० पृ० २३४)

अर्थ—जो निरुपक्रमायुष्क जीव हैं वे अपनी भुज्यमानआयु छहमाह शेष रहनेपर आयुबंध के योग्य होते हैं।

"औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।" ॥५३॥ (मो० शास्त्र अ० २)

अर्थात्—औपपादिक (देव व नारकी), चरमोत्तमदेहा (तद्भवमोक्षगामी) और असंख्यातवर्ष की आयुवाले (भोगभूमिया) ये जीवों की अनपवर्त आयुवाले (निरुपक्रमायुष्क) होते हैं।

श्री धवल-ग्रंथराज के अनुसार सभी भोगभूमियाजीव भुज्यमानआयु के ६ मास शेष रह जाने पर परभविकआयु बंध के योग्य होते हैं।

—जै. ग. 9-5-66/IX/ र. ला. जैन

कर्मभूमिया मनुष्य की आयु पूर्वकोटि से अधिक नहीं होती

शंका—श्री ध० पु० १० पृष्ठ ३०७ पर इसप्रकार कहा है—'समऊण पुव्वकोडिं संजममणुपालिय खीण-कसाओ जादो' यह कैसे घटित होगा ? मनुष्यों की आयु पूर्वकोटि से अधिक भी होती है क्या ?

समाधान—श्री ध० पु० १० पृ० ३०६ के अन्तिम पेरे के प्रारम्भ में कहा है—'अब काल की हानि का आश्रयकर गुणितकर्मांशिक के अजघन्य द्रव्यका प्रमाण कहते हैं।' इससे प्रतीत होता है कि संयमकाल में उत्तरोत्तर एक-एक समय की हानि कर अजघन्यद्रव्य के प्रमाण का कथन किया गया है। अतः पृष्ठ ३०७ पर 'समऊणपुव्व-कोडिं संजममणुपालिय खीणकसाओ जादो।' इस पंक्ति का अर्थ यद्यपि 'एकसमयकम पूर्वकोटि तक संयम का पालन कर क्षीणकषाय हुआ' यह होता है; किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त 'सात मास अधिक आठवर्षकम पूर्वकोटि' से एकसमयकम अर्थात् सातमास आठवर्षकम पूर्वकोटिसे भी एकसमयकम कालतक संयम का पालनकर क्षीणकषाय हुआ। कर्मभूमिज मनुष्यों की आयु एकपूर्वकोटि से अधिक नहीं होती और आठवर्ष से पूर्व संयमग्रहण करना अशक्य है, अतः एकसमयकम पूर्वकोटितक संयम का पालन करना असंभव है। 'कुछकम पूर्वकोटि' को स्थूलरूप से 'पूर्वकोटि' कहा है। पूर्वापर संबंध से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

—जै. सं. 8-1-59/V/ मा. सु. रांवका, ब्यावर

पूर्वकोटि से उपरिम आयुवाला परभविक आयु कब बांधता है, इसका स्पष्टीकरण

शंका—क्या पूर्वकोटि से उपरिम आयुवाला जीव भुज्यमान आयु में छहमाह शेष रहने पर अगले भवकी आयु को बांधता है ?

समाधान—एकसमय आदि अधिक पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्य व तिर्यंच भोगभूमिया होते हैं, क्योंकि कर्मभूमिया मनुष्य व तिर्यंच की आयु एकपूर्वकोटि से अधिक नहीं होती है।

"समयाहियपुव्वकोडिआदि उवरिमआउआणि असंखेज्जवस्साणि त्ति अतिदेसादो।"

(धवल पु० १० पृ० २२८)

एकसमयअधिक पूर्वकोटि आदि रूप आगे की सब आयु असंख्यातवर्ष प्रमाण मानी जाती है, ऐसा अतिदेश है। असंख्यातवर्ष आयुवाले मनुष्य व तिर्यंच भोगभूमिया होते हैं। असंख्यातवर्ष की आयुवाले जीवों की आयु का कदलीघात नहीं होता है क्योंकि वे अनपवर्त्य (निरुपक्रम) आयुवाले होते हैं। कहा भी है—

"औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।" (मोक्षशास्त्र २।५३)

औपपादिक (देव, नारकी), चरमशरीरी, असंख्यातवर्ष की आयुवाले (भोगभूमिया) जीव अनपवर्त्य (निरुपक्रम) आयुवाले होते हैं, क्योंकि उनकी आयुका उपक्रम नहीं होता है।

जो जीव निरुपक्रम आयुवाले होते हैं वे भुज्यमान आयु में छहमाह शेष रहनेपर परभविक आयुबंध के योग्य होते हैं। कहा भी है—

"णिरुवक्कमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअबंधपाओग्गा होंति। तत्थ वि एवं चेव अट्ठागरिसाओ वत्तव्वाओ।" (धवल पु० १० पृ० २३४)

जो निरुपक्रमायुष्क जीव होते हैं वे अपनी भुज्यमानआयु में छहमाह शेष रहनेपर आयुबंध के योग्य होते हैं। यहाँ भी उत्तरोत्तर दो-दो तिहाई बीत जानेपर और एक-एक तिहाई शेष रहनेपर आठअपकर्ष (आयुबंधयोग्य-काल) होते हैं।

इस प्रकार पूर्वकोटि से उपरिम आयुवाले जीव भुज्यमानआयु में छहमाह शेष रहनेपर परभविक आयुबंध के योग्य होते हैं।

शंका—"एकसमय अधिक पूर्वकोडिआदि उपरिम आयुविकल्पों का घात नहीं होता। जो जीव ऐसी आयु का बंध करता है वह परभवसम्बन्धी आयुका बंध किये बिना ही छह महीने के सिवाय सब भुज्यमानआयु को गला देता है।" इसका भाव समझ में नहीं आया ?

समाधान—इसका भाव यह है—जिन मनुष्य या तिर्यंचों की आयु एकपूर्वकोटि से अधिक होती है वे असंख्यातवर्ष की आयुवाले माने जाते हैं। कहा भी है—

"समयाहियपुव्वकोडिआदिउवरिमआउआणि असंखेज्जवस्साणि त्ति अतिदेसादो।"

(धवल पु० १० पृ० २२८)

जो असंख्यातवर्ष की आयुवाले हैं, उनकी आयु का कदलीघात नहीं होता, ऐसा निम्न सूत्र है—

"औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।"

जिन जीवों की आयु का कदलीघात नहीं होता अर्थात् जो निरुपक्रमायुष्कजीव हैं वे अपनी आयु में छहमाह शेष रहनेपर आयुबंध के योग्य होते हैं, ऐसा पारिणामिक नियम है। अतः उनकी आयु के अन्तिम छहमास के अतिरिक्त शेष भुज्यमानआयु परभविकआयुबंध के बिना बीत जाती है।

"णिरुवक्कमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअबंधपाओग्गा होंति।"

जो निरुपक्रमायुष्कजीव होते हैं वे अपनी भुज्यमान आयु में छहमाह शेष रहनेपर आयुबंध के योग्य होते हैं।

—जै. ग. 3-6-76/VI/ सु. प्र. जैन

चारों गतियों के जीव कब आयुबंध के योग्य होते हैं?

शंका—पूर्वकोटि या उससे कम आयुवाले जीव भुज्यमान आयु का त्रिभाग शेष रहने पर ही परभव-सम्बन्धी आयु का बंध करते हैं क्या?

समाधान—पूर्वकोटि या उससे कम आयुवाले मनुष्य व तिर्यंच संख्यातवर्ष आयुवाले कर्मभूमिया होने से वे अनपवर्त्य (निरुपक्रम) आयुवाले नहीं होते हैं अर्थात् सोपक्रमायुवाले होते हैं, जो सोपक्रमायु वाले होते हैं, वे भुज्यमानआयु का दो-त्रिभाग बीतजाने पर अर्थात् एक तिहाई भुज्यमानआयु शेष रहने पर अगले भवसम्बन्धी आयुबंध के योग्य होते हैं।

"जे सोवक्कमाउआ ते सगसग भुंजमाणाउट्ठिदीए बे तिभागे अदिक्कंते परभवियाउअबंधपाओग्गा होंति जाव असंखेयद्धा त्ति।" (धवल पु० १० पृ० २३३)

जो जीव सोपक्रमायुष्क हैं (जिनकी आयु का कदलीघात संभव है) वे अपनी-अपनी भुज्यमान आयु स्थिति के दो त्रिभाग बीत जाने पर वहाँ से लेकर असंक्षेपाद्धाकाल तक परभविक आयु को आठ-अपकर्षों में बांधने के योग्य होते हैं।

"ण ताव देव-णेरइएसु बहुसागरोवमाउट्ठिदिएसु पुव्वकोडितिभागादो अहिया अबाधा अत्थि, तेसिं छम्मासावसेसे भुंजमाणाउए असंखेपद्धापज्जवसाणे संते परभवियमाउअं बंधमाणाणं तदसंभवा। ण तिरिक्ख-मणुसेसु वि तदो अहिया आबाधा अत्थि, तत्थ पुव्वकोडीदो अहियभवट्ठिदीए अभावा। असंखेज्जवस्साऊ तिरिक्ख-मणुसा अत्थि त्ति चे, ण, तेसिं देव-णेरइयाणं व भुंजमाणाउए छम्मासादो अहिए संते पर भवियाउअस्स बंधाभावा। संखेज्जवस्सा उआ वि तिरिक्खमणुसा कदलीघादेण वा अधट्ठिदि गलणेण वा जाव भुंजमाणाउट्ठिदीए अद्धमाणेण तदो हीणमाणेण वा भुंजमाणाउअं ण कदं ताव ण पर भवियमाउअं। कुदो? परिणामियादो। तम्हा उक्कस्सा-बाधा पुव्वकोडितिभागादो अहिया णत्थि त्ति घेत्तव्वं।' (धवल पु० ६ पृ० १७०)

अनेक सागरोपमों की आयुस्थितिवाले देव और नारकियों में पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक आयुकर्म की अबाधा नहीं होती है, क्योंकि उनकी भुज्यमानआयु में छहमास से असंक्षेपाद्धाकाल के अवशेष रहनेपर वे आयुबंध

के योग्य होते हैं। कर्मभूमिया-तिर्यंच व मनुष्यों की पूर्वकोटिसे अधिक आयु नहीं होती है असंख्यातवर्ष की आयु-वाले भोगभूमिया-तिर्यंच और मनुष्यों में देव और नारकियों के समान छहमास से अधिक आयु रहनेपर परभव-सम्बन्धी आयु के बंध का अभाव है।

संख्यातवर्ष की आयुवाले (कर्मभूमिया) मनुष्य व तिर्यंच कदलीघात से अथवा अधःस्थिति के गलन से, जब तक भुज्य और अवभुक्त आयुस्थिति में भुक्त आयुस्थिति के अर्धप्रमाण से अथवा उससे हीन प्रमाणसे भुज्यमान-आयु को नहीं कर देते हैं, तब तक परभवसम्बन्धी आयुबन्ध के योग्य नहीं होते हैं। यह नियम पारिणामिक है। इसलिए आयुकर्म की उत्कृष्ट आबाधा पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक नहीं होती है।

इन आर्षप्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकोटि या उससे कम आयुवाले मनुष्य, तिर्यंचों के भुक्तआयु के अर्धभाग या उससे कम शेष रहने पर अर्थात् आयु का त्रिभाग या उससे कम शेष रहनेपर वे परभविक आयुबंध के योग्य होते हैं।

—जै. ग. 17-6-66/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

शंका—नरक व स्वर्ग में पल्य व सागरों की आयुवालों के आयुबंध कालका क्या नियम है ?

समाधान—नारकी व देव अपनी-अपनी आयु में छहमास शेष रहनेपर परभविक आयुबंध के योग्य होते हैं। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य ने कहा है—

"सुरणिरया णरतिरियं छम्मासवसिट्ठगेसगाउस्स।"

अपनी अपनी आयु में अधिक से अधिक छह महीने शेष रहनेपर देव और नारकी मनुष्यायु अथवा तिर्यंच-आयुका बंध करने के योग्य होते हैं। छहमाह से अधिक आयु शेष रहने पर देव और नारकी परभविक आयुबंध करने के अयोग्य रहते हैं।

—जै. ग. 17-6-76/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

नरकायु के बन्ध में पूर्व कर्मोदय तथा कुपुरुषार्थ; दोनों कारण हैं

शंका—नरकायु का बन्ध मनुष्य के पुरुषार्थ के दोष से होता है या पूर्व कर्मोदय से होता है ?

समाधान—मनुष्यों में संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्त-कर्मभूमिया मनुष्य ही नरकायु का बंध कर सकता है। संज्ञी-पंचेन्द्रियपर्याप्तमनुष्य सुशिक्षा आदि ग्रहण करके देव व मनुष्यआयु का बंध भी कर सकता है और कुशिक्षा ग्रहण करके नरक तिर्यंचआयु का भी बंध कर सकता है।

संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्तमनुष्य के ज्ञान का क्षयोपशम तो है। यदि वह उस क्षयोपशम का सदुपयोग करे तो वह अपना उत्थान कर सकता है, यदि वह उसका दुरुपयोग करे तो अपना पतन कर लेता है।

इस प्रकार नरकायु के बन्ध में पुरुषार्थ के दुरुपयोग की मुख्यता है तथापि दैव (पूर्व कर्मोदय) भी गौणरूप से कारण है, क्योंकि दैव या पुरुषार्थ का एकान्त नहीं है।

—जै. ग. 7-1-71/VII/ रो. ला. मित्तल

आयु का घटाना अबन्ध अवस्था में सम्भव है

शंका—महाबन्ध पु० १ में आयुबंध के आठ-अपकर्षकाल बतलाये हैं। इन अपकर्षकालों में जीव आगामी-भव की आयु का बंध करता है। परभव की बँधी हुई आयु की स्थिति का घटना यानी अपकर्षण इन आठ-अपकर्ष-कालों में ही होता है या अन्य समय में भी होता है ?

समाधान—परभव की बँधी हुई आयु का हर समय अपकर्षण हो सकता है, क्योंकि उसके अपकर्षण के लिये बन्धकाल का नियम नहीं है। जिस जीव ने मिथ्यात्व अवस्था में सातवें नरक की आयु का बन्ध कर लिया, उसके पश्चात् उसको सम्यग्दर्शन हो गया, तो वह जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा सातवें नरक आयु की स्थिति को घटा-कर (अपकर्षणकर) प्रथम नरक आयु के समान कर लेता है। कहा भी है—'न नरकायुषः सत्त्वं सम्यक्त्वोत्पत्तेः कारणं सम्यग्दर्शनासिना छिन्नषट् पृथिव्यायुष्कत्वात्। न च तच्छेदोऽसिद्धः आर्षात्तत्सिद्ध्युपलम्भात्।'

(धवल पु० ३ पृ० ३२४)

सम्यग्दृष्टि के नरकायु का बन्ध नहीं होता है, क्योंकि नरकायु की बन्धव्युच्छित्ति प्रथमगुणस्थान में हो जाती है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के नरकायु का बंधकाल संभव नहीं है अतः सम्यग्दृष्टि के नीचे की छह पृथिवियों की आयु का अपकर्षण हर-समय हो सकता है। इसीप्रकार अन्य आयु के विषय में भी जानना चाहिये।

—जै. ग. 1-4-76/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

एक त्रिभाग शेष रहने पर आयुबन्ध का अन्तर्मुहूर्त कौनसा होता है ?

शंका—भुज्यमान आयु के तीन भागों में से दो-भाग बीत जानेपर एक अन्तर्मुहूर्त तक आयुबन्ध होता है, तो वह अन्तर्मुहूर्त कहाँ पर होता है ?

समाधान—कर्मभूमिया मनुष्य, तिर्यंचों की दो-त्रिभाग आयु बीत जाने पर जो प्रथम अन्तर्मुहूर्त होता है वह अन्तर्मुहूर्त आयुबंध के योग्य होता है। कहा भी है—

> सुरणिरया णरतिरियं छम्मासवसिट्ठगे सगाउस्स।
> णरतिरिया सव्वाउं तिभाग सेसम्मि उक्कस्सं ॥६३९॥
>
> भोगभुमा देवाउं छम्मासवसिट्ठगे य बंधंति।
> इगिविगला णरतिरियं ते उतुगा सत्तगा तिरियं ॥६४०॥ (गो. क.)

—देव, नारकी भुज्यमान आयु के उत्कृष्टरूपसे छहमास अवशेष रहनेपर अथवा छहमास के उत्तरोत्तर त्रिभाग का त्रिभाग शेष रहनेपर परभविक मनुष्यायु या तिर्यंचायु को बाँधते हैं अर्थात् उस काल में परभविक-आयु के बंधयोग्य होते हैं। भोगभूमिया भी इसीप्रकार भुज्यमान-आयु के छहमास अवशेष रहनेपर अथवा छह-मास के उत्तरोत्तर त्रिभाग का त्रिभाग शेष रहने पर परभविक-देवायु बंधयोग्य होते हैं। कर्मभूमि के मनुष्य व तिर्यंच-भुज्यमानआयु का त्रिभाग अथवा त्रिभाग का उत्तरोत्तर त्रिभाग शेष रहनेपर परभविक चारों आयु के बन्ध-योग्य होय है।

जैसे किसी कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यंच की आयु ८१ वर्ष की है। उस ८१ वर्ष में से दो त्रिभाग अर्थात् ५४ वर्ष बीतजाने पर शेष त्रिभाग (२७ वर्ष) का प्रथम अन्तर्मुहूर्त काल आयुबंध योग्यकाल है। शेष २७ वर्ष के दो त्रिभाग १८ वर्ष बीत जाने पर और एक त्रिभाग शेष रहने पर अर्थात् ९ वर्ष आयु शेष रहने के प्रथम-अन्तर्मुहूर्त में आयुबन्ध योग्य होता है। शेष ९ के दो त्रिभाग (६ वर्ष) बीत जाने पर शेष एक त्रिभाग अर्थात् आयु में तीनवर्ष शेष रहने के प्रथमअन्तर्मुहूर्त में आयुबंध योग्यकाल होता है। शेष तीनवर्ष के भी दो त्रिभाग बीत जाने पर और एक त्रिभाग अर्थात् आयु में एक वर्ष अवशेष रहनेपर प्रथमअन्तर्मुहूर्त आयुबंध योग्यकाल होता है। शेष एक वर्ष के दो त्रिभाग (८ माह) बीत जानेपर शेष एक त्रिभाग अर्थात् आयु में चारमाह अवशेष रहने पर प्रथमअन्तर्मुहूर्त बंधयोग्यकाल होता है। इसी प्रकार आगे भी विशेष एक त्रिभाग का प्रथम अन्तर्मुहूर्त आयुबन्ध योग्य काल होता है।

—जै. ग. 13-7-72/VII/ ट. ला. जैन

"सम्यक्त्वं च" सूत्र द्वारा किस-किस आयु के बन्ध का विधान व प्रतिषेध होता है

शंका—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र २१ से क्या सम्यक्त्व के द्वारा देव आयु के अतिरिक्त अन्य आयुबन्ध का निषेध हो जाता है ?

समाधान—"सम्यक्त्वं च" (६।२१) इस सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है कि मनुष्य व तिर्यंचों के सम्यक्त्व के द्वारा मात्र वैमानिकदेवों की आयु का ही बंध होता है, किन्तु इससे सम्यग्दृष्टिदेव व नारकियों के मनुष्यायु के बंध का निषेध नहीं होता है, क्योंकि देव और नारकियों में सम्यक्त्व से मात्र मनुष्यायु का ही बन्ध होता है।

सर्वापवादकं सूत्रं केचिदित्याचक्षते सति ।
सम्यक्त्वेऽन्यायुषां हेतोर्विफलस्य प्रसिद्धितः ॥२॥
तन्नाप्रच्युतसम्यक्त्वा जायंते देवनारकाः ।
मनुष्येष्विति नैवेदं तद्बाधकमितीतरे ॥३॥ (श्लोक वार्तिक ६।२१)

यदि कोई कहे कि यह 'सम्यक्त्वं च' सूत्र पहिले कहे गये सभी आयु-आस्रवों के प्रतिपादक सूत्रों का अपवाद करने वाला है, क्योंकि सम्यक्त्व के होने पर नारक, तिर्यंच व मनुष्य आयु के आस्रवों के कारणों के विफल हो जाने की प्रसिद्धि है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिनका सम्यक्त्व च्युत नहीं हुआ है ऐसे देव व नारकी जीव मरकर मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण यह सूत्र देव और नारकियों में मनुष्यायु के आस्रव का निषेधक नहीं है।

—जै. ग. 11-5-72/VII/ ....

चारों ही गतियों में आयुबन्ध आठ बार हो सकता है

शंका—एकभव में आयुकर्म का बंध अधिक से अधिक कितनी बार हो सकता है ? क्या यह नियम चारों गतियों में समान है ?

समाधान—एकभव में आयुकर्म का बंध अधिक से अधिक आठ बार हो सकता है। श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पु० १० पृ० २३३ पर कहा भी है—

"जे सोवक्कमाउआ ते सगसगभुंजमाणाउट्ठिदीए बे तिभागे अदिक्कंते परभवियाउअबंधपाओग्गा होंति जाव असंखेयद्धा त्ति। तत्थ आउअबंधपाओग्गकालब्भंतरे आउअबंधपाओग्गपरिणामेहि के वि जीवा अट्ठवारं के वि सत्तवारं के वि छव्वार के वि पंचवारं के वि चत्तारिवारं के वि तिण्णिवारं के वि दो वारं के वि एक्कवारं परिणमंति। ……… णिरुवक्कमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअबंधपाओग्गा होंति। तत्थ वि एवं चेव अट्ठागरिसाओ वत्तव्वाओ।"

जो जीव सोपक्रमायुष्क हैं वे अपनी भुज्यमान आयुस्थिति के दो त्रिभाग बीत जाने पर वहाँ से लेकर असंक्षेपाद्धा काल तक परभवसम्बन्धी आयु को बाँधने के योग्य होते हैं। उनमें आयुबन्ध के योग्य-काल के भीतर कितने ही जीव आठबार, कितने ही सातबार, कितने ही छहबार, कितने ही पाँचबार, कितने ही चारबार, कितने ही तीनबार, कितने ही दोबार और कितने ही एकबार आयुबन्ध के योग्य परिणामों से परिणत होते हैं। जो निरुपक्रमायुष्क जीव होते हैं, वे अपनी भुज्यमानआयु में छहमाह शेष रहनेपर आयुबन्ध के योग्य होते हैं। यहाँ भी इसी प्रकार आठ-अपकर्षों को कहना चाहिये।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चारों ही गतियों में आयुबन्ध अधिक से अधिक आठबार हो सकता है।

—जै. ग. 10-2-72/VII/ कस्तूरचन्द

परभविक आयु के उत्कर्षण–अपकर्षण विषय स्पष्टीकरण

शंका—परभव सम्बन्धी बद्धआयु की उदीरणा नहीं हो सकती है। फिर उसकी स्थिति में उत्कर्षण व अपकर्षण किस प्रकार हो सकता है?

समाधान—उदीरणा उस कर्म की होती है जिसका उदय होता है, क्योंकि अपक्व कर्मों को पकाने (उदय में लाने) का नाम उदीरणा है। कहा भी है—

"अपक्व पाचनमुदीरणा। (ध. पु. १५ पृ. ४३); जे कम्मक्खंधा महंतेसुट्ठिदि अणुभागेसु अवट्ठिदा ओकड्डिदूण फलदाइणो कीरंति, तेसिमुदीरणा त्ति सण्णा, अपक्वपाचनस्य उदीरणाव्यपदेशात्।"

(ध० पु० ६ पृ० २१४)

अर्थ—जो महान् स्थिति और अनुभागों में अवस्थित कर्म-स्कन्ध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते हैं, उन कर्मों-स्कन्धों की 'उदीरणा' यह संज्ञा है, क्योंकि अपक्वकर्मस्कन्धों के पाचन करने को उदीरणा कहा गया है।

वर्तमान में भुज्यमानआयु का उदय है, परभविक बद्धआयु का उदय नहीं है, अतः परभवबद्धआयु के अपक्वकर्मस्कन्धों को उदय में नहीं लाया जा सकता है, अतः उसकी उदीरणा संभव नहीं है। परभव बद्धआयु के उपरिमस्थितिद्रव्य को अपकर्षण करके उदयावलि के बाहर आबाधा के भीतर नहीं दिया जा सकता है किन्तु अवलम्बनाकरण के द्वारा उपरिस्थिति के निषेकों का द्रव्य नीचे के निषेकों में दिया जा सकता है। कहा भी है—

"परभवियाउअउवरिमट्ठिदिदव्वस्स ओकड्डणाए हेट्ठा णिवदणमवलंबणाकरणंणाम। एदस्स ओकड्डणसण्णा किण्ण कदा ? ण उदयाभावेण उदयावलियबाहिरे अणिवदमाणस्स ओकड्डणाववएसविरोहादो।"

(धवल पु० १० पृ० ३३०)

अर्थ—परभव सम्बन्धी आयु की उपरिमस्थिति में स्थितद्रव्य का अपकर्षण द्वारा नीचे पतन करना अवलम्बनकरण कहा जाता है। इसकी अपकर्षण संज्ञा नहीं दी गई, क्योंकि परभविक आयु का उदय नहीं होने से इसका उदयावलि के बाहर [तथा आबाधा के अन्दर] पतन नहीं होता, इसलिये इसकी अपकर्षण संज्ञा करने का विरोध है।

आशय यह है कि यह परभवसम्बन्धी आयुका अपकर्षण होने पर भी उसका पतन आबाधाकाल के भीतर न होकर आबाधा से ऊपर स्थित स्थितिनिषेकों में ही होता है, इसीलिये अवलंबनकरण को अपकर्षण से भिन्न बतलाया है।

यदि परभवआयुबंध के पश्चात् दूसरे किसी अपकर्ष में अधिक स्थितिवाली परभविकआयु का पुनः बंध हो तो परभविकआयु स्थिति का उत्कर्षण हो सकता है। बिना बंध के उत्कर्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि "बंधाणुसारिणीए उक्कड्डणाए" उत्कर्षण बंध का अनुसरण करने वाला होता है, ऐसा सूत्र वचन है।

(धवल पु० १० पृ० ४३)

—जै. ग. 30-12-71/VI/ रो. ला. मित्तल

आनतादिक देवों के मासपृथक्त्व प्रमाण आयुबन्ध

शंका—धवल पुस्तक ९ पृ० ३०७ पर लिखा है—आनत०-प्राणत और आरण-अच्युत स्वर्ग के देवों में से मासपृथक्त्व की आयु बाँधकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। प्रश्न यह है कि शुक्ललेश्यावाला देव भी क्या इतनी अल्प-आयु का बंध कर सकता है ?

समाधान—यह ठीक है कि आनतआदि स्वर्गों में शुक्ललेश्या होती है, किन्तु इन स्वर्गों में मिथ्यादृष्टिदेव भी होते हैं। इन स्वर्गों के मिथ्यादृष्टिदेव संक्लेशपरिणामों से मासपृथक्त्व की आयु का बंध कर लेते हैं।

"ण च आणद-पाणद असंजद सम्माइट्ठिणो मणुस्साउअस्स जहण्णट्ठिदिं बंधमाणा वासपुधत्तादो हेट्ठा बंधंति, महाबंधे जहण्णट्ठिदि बंधद्धाछेदे सम्माइट्ठीणमाउअस्स वासपुधत्तमेत्तट्ठिदिपरूवणादो। तदो आणद-पाणदमिच्छाइट्ठिस्स मणुस्साउबंधमासपुधत्तमेत्तं बंधिय—।" (धवल पु० ७ पृ० १९५)

अर्थ—आनत-प्राणत कल्पवासी असंयतसम्यग्दृष्टिदेव जब मनुष्यायु की जघन्यस्थिति बाँधते हैं तब वे वर्षपृथक्त्व से कम की आयुस्थिति नहीं बाँधते, क्योंकि महाबंध में जघन्यस्थितिबंध के काल-विभाग में सम्यग्दृष्टि-जीवों की आयुस्थिति का प्रमाण वर्षपृथक्त्वमात्र प्ररूपित किया गया है। अतः आनत-प्राणत कल्पवासी देवों के मासपृथक्त्वमात्र मनुष्यायु का बंध करता है।

—जै. ग. 17-4-69/VII/ र. ला. जैन

सभी अपर्याप्तकों को आयु श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है

शंका—एक श्वास में अठारहबार जन्ममरण निगोदिया ही करते हैं या और सभी ?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तकएकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी जीव एक श्वास (नाड़ी) में १८ बार जन्म-मरण करता है। कहा भी है—**"सव्वेसिमपज्जत्ताणमुक्कस्साउअं सरिसंति।"** (ध० पु० १४ पृ० ५१५) सब अपर्याप्तकों की उत्कृष्ट-आयु समान होती है।

—जै. ग. 25-5-78/VI/ मुनि श्रुतसागरजी मोटेगावाले

गतिबन्ध तथा आयुबन्ध संबंधी ऊहापोह एवं श्रेणिक का उदाहरण

शंका—एकपर्याय में एक ही गति का बंध होगा या विशेष का अर्थात् दो, तीनगति का बंध हो जाता है। यदि एक पर्याय में दो, तीनगति का बंध होगा तो आयु के त्रिभाग में बंध होना कैसे संभव होता है ? श्रेणिक महाराज का एक गति से दो दो बंध माने गये। एक नरकगति का दूसरे तीर्थंकरप्रकृति का बंध हुआ तो उन्हें मनुष्यगति का बन्ध हुआ कि नहीं या नरक ही में उनको मनुष्यगति का बन्ध होगा ?

समाधान—शंका से ऐसा प्रतीत होता है कि आयु और गति को एक समझा है। कर्म आठ प्रकार के हैं। उन आठ में से एक नामकर्म है और एक आयुकर्म है। नामकर्म की ९३ उत्तरप्रकृति हैं और एकप्रकृति का दूसरी प्रकृतिरूप संक्रमण भी हो जाता है, किन्तु आयुकर्म की ४ उत्तरप्रकृति हैं और आयुकर्म की एक उत्तरप्रकृति का दूसरी उत्तरप्रकृतिरूप संक्रमण नहीं होता है।

नामकर्म की ९३ उत्तरप्रकृतियों में 'गति' नाम की भी पिंडरूप उत्तरप्रकृति है जिसके नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवरूप चार भेद हैं। इनमें से जिस समय किसी एक गति का उदय होता है तो अन्य तीन गतियाँ स्तिबुक-संक्रमण द्वारा उदयगत गतिरूप संक्रमण होकर उदय में आती हैं। अतः एकजीव के एक ही पर्याय में यथासंभव चारों गतियों का यथाक्रम बंध हो सकता है। एक जीव के एकपर्याय में एकसे अधिक गति का भी बंध हो सकता है, किन्तु एक जीव के एकपर्याय में एक ही आयु का बंध होगा अन्य आयु का बंध नहीं हो सकता। जिस समय आयु का बंध होता है उससमय गति का बंध भी आयु के अनुसार होगा, अर्थात् जिस आयु का बंध होगा उस समय उस ही गति का बंध होगा। एक पर्याय में एक ही आयु के बँधने में कारण यह है कि 'एक आयु का दूसरी आयुरूप संक्रमण नहीं होता है।'

मरण के अनन्तर समय में जिस आयु का उदय होगा उस ही गति का भी उदय होगा और उस ही गति में जीव जन्म लेगा। उस समय विवक्षितगति के अतिरिक्त अन्य तीन गतियाँ स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा विवक्षितगति-रूप संक्रान्त होकर उदय में आती हैं।

राजा श्रेणिक के मिथ्यात्व अवस्था में परिणाम अनुसार चारों गतियों का बंध संभव है, किन्तु जिस समय नरकायु का बंध किया उस समय तो नरकगति का ही बंध हुआ। सम्यक्त्व काल अथवा तीर्थंकरप्रकृति के बंधकाल में मात्र एक देवगति का ही निरन्तर बंध हुआ, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच के अन्य तीनगति की बंधव्यु-च्छित्ति हो जाने से अन्य तीनगति का बंध नहीं होता। सम्यग्दृष्टिदेव व नारकी निरन्तर एक मनुष्यगति का ही

बंध करते हैं अन्य गति का नहीं। अतः श्रेणिकमहाराज नरक में निरन्तर मनुष्यगति का बंध कर रहे हैं और छह-माह आयु शेष रह जाने पर मनुष्यायु का ही बंध करेंगे।

—जै. सं. 12-6-58/V/ दि. जैन पंचान, गुहाटी

गति व आयु बन्धों के क्रमशः छूटने व नहीं छूटने सम्बन्धी स्पष्टीकरण

शंका—गतिबंध छूट जाता है आयुबंध नहीं छूटता सो कैसे ?

समाधान—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति के भेद से गतिबंध चारप्रकार का होता है किन्तु एक समय में एक ही गति का बंध होता है किन्तु एकभव में एक से अधिक का बंध होता है। सत्ता में भी एक से अधिक गति रहती है। एकभव में परभवसंबंधी एक ही आयुका बंध होता है, एक से अधिक आयु का बंध नहीं हो सकता है। इस परभविक आयु का अबाधाकाल भी पूर्वभव का शेष आयुकाल प्रमाण होता है। गतिबंध के अबाधाकाल का ऐसा नियम नहीं है। इसप्रकार एककाल में एक ही आयु का उदय संभव है, किन्तु गति का ऐसा नियम नहीं है। जिस आयु का उदय होता है उसी गति का स्वमुख उदय होता है और अन्य गतियों का उदयागत गतिरूप स्तिबुकसंक्रमण द्वारा परमुख उदय होता है। कोई भी कर्म, स्वमुख या परमुख उदय बिना निर्जरा को प्राप्त नहीं होता है। कहा भी है—

"ण च कम्मं सगसरूवेण परसरूवेण वा अदत्तफलमकम्म भावं गच्छदि।" (जयधवल पु० ३ पृ० २४५)

अर्थ—कर्म स्वरूप से या पररूप से फल बिना दिये अकर्मभाव (निर्जरा) को प्राप्त नहीं होता। जिस-प्रकार अनुदय गतिप्रकृति का स्तिबुकसंक्रमण द्वारा परस्वरूप अर्थात् उदय-गति प्रकृतिरूप उदय होता है उसप्रकार आयुकर्म प्रकृति का उदय परस्वरूप नहीं होता है, किन्तु स्वरूप से ही उदय होता है। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि आयुबंध नहीं छूटता है।

जो गतिकर्म प्रकृति उदयमें है, उसके अतिरिक्त अन्य गतिप्रकृतियों का स्तिबुकसंक्रमण हो जाता है अर्थात् वे प्रकृतियाँ उदयागत गतिप्रकृतिरूप संक्रमण होकर परस्वरूप से उदय में आती हैं।

—जै. ग. 19-8-71/VII/ टो. ला. मित्तल

बन्ध में मात्र एकक्षेत्रावगाहना ही नहीं होती, अन्य भी वैशिष्ट्य आता है

शंका—संसारीजीव तथा पौद्गलिककर्म-नोकर्म (शरीर) का मात्र एक क्षेत्रावगाहसंबंध है या इनके परस्परसंबंध में कोई विशेषता है ? एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध तो छहों द्रव्यों में है।

समाधान—संसारीजीव और पौद्गलिककर्म व शरीर का मात्र एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध नहीं है, किन्तु इनका परस्पर बंध हो जाने के कारण कथंचित् एकत्व हो जाता है और दोनों अपने स्वभाव से च्युत होकर एक तृतीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है। लक्षण की अपेक्षा जीव और कर्म दोनों में नानापन है।

"परस्पर-श्लेषलक्षणः बंधः।" (स० सि० व रा० वा०)

दो द्रव्यों का परस्पर संश्लेष होना बंध का लक्षण है।

'ओरालिय वेउव्विय आहार तेया कम्मइयवग्गणाणं जीवाणं जो बंधो सो जीवपोग्गलबंधो णाम। एकीभावो बंधः, सामीप्यं संयोगो वा युतिः।' (धवल पु० १३ पृ० ३४७ व ३४८)

औदारिकवर्गणाएं, वैक्रियिकवर्गणाएं, आहारकवर्गणाएं, तैजसवर्गणाएं और कार्मणवर्गणाएं इनका और जीवों का जो बंध होता है वह जीव–पुद्गल–बंध है। एकीभाव को प्राप्त होना बंध है और समीपता या संयोग का नाम युति है।

'बंधो णाम दुभावपरिहारेण एयत्तावत्ती। ण च तत्थ फासो अत्थि, एयत्ते तव्विरोहादो। ण च सव्वफासेण विवहिचारो, तत्थ एगत्तावत्तीए विणा सव्वावयवेहि फासब्भुवगमादो।' (धवल पु० १३ पृ० ७)

अर्थ—द्वित्व का त्याग कर एकत्व की प्राप्ति का नाम बंध है। परन्तु एकत्व के रहते हुए स्पर्श नहीं पाया जाता, क्योंकि एकत्व में स्पर्श के मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि इस तरह तो सर्वस्पर्श के साथ व्यभिचार हो जायगा। सो भी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ पर एकत्व की प्राप्ति के बिना सब अवयवों द्वारा स्पर्श स्वीकार किया गया है।

श्लोकवार्तिक पु० ६ पृ० ३९१ पर लिखा है—

'अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धि जनकसम्बन्धविशेषो बन्धः।'

अनेक पदार्थों में एकत्वज्ञान कराने का हेतु ऐसा सम्बन्ध विशेष सो बन्ध है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी तत्त्वार्थसार में लिखा है—

बन्धं प्रति भवत्यैक मन्योन्यानुप्रवेशतः।
युगपद्द्रावितः स्वर्ण रौप्यवज्जीव कर्मणोः ॥१८॥

बन्ध होनेपर जिसके साथ बन्ध होता है उसके साथ एक दूसरे में प्रवेश हो जाने पर परस्पर एकता हो जाती है। जैसे सुवर्ण और चाँदी को एक साथ गलाने से दोनों एकरूप हो जाते हैं उसीप्रकार जीव और कर्मों का बन्ध होने से परस्पर एकरूप हो जाते हैं।

श्री पूज्यपादआचार्य ने भी सर्वार्थसिद्धि में इसी बात को कहा है—

'बन्ध पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं।'

आत्मा और कर्म बन्धकी अपेक्षा एक हैं, किन्तु लक्षण की अपेक्षा वे भिन्न-भिन्न हैं।

—जै. ग. 11-3-71/VII/ सुलतानसिंह

१७ प्रकृतियों का बन्ध एक स्थानिक है; उदय व सत्त्व किन्हीं का एक स्थानिक होता है

शंका—पंचसंग्रह गाथा ४८६ पृ० २७६ एवं गो० क० गा० १८२ में, १७ प्रकृतियों का अनुभागबन्ध एक स्थानिक कहा है और अन्य सर्व-प्रकृतियों का अनुभागबन्ध एकस्थानिक सम्भव नहीं है, ऐसा कहा है। क्या यह कथन मात्र बन्धकी अपेक्षा से है या सत्त्व व उदय की अपेक्षा से भी है?

समाधान—पंचसंग्रह गाथा ४८६ इसप्रकार है—

> आवरण देसघादंतराय संजलण पुरिस सत्तरसं।
> चउविहभाव परिणया तिभावसेसा सयं तु सत्तहियं ॥४८६॥
> आवरण देसघादंतराय संजलण पुरिस सत्तरसं।
> चउविहभावपरिणदा तिविहा भावा भवे सेसा ॥११४॥
>
> (पं० सं० पु० ६२३) गो० क० गा० १८२

टीका—आवरण देससेस चउणाणावरण तिण्हं दंसणावरण चउसंजलण पुरिसवेद पंचअंतराइय सत्तरस पयडीणं उक्कस्स अणुभागबंधो चउट्ठाणिओ। अणुक्कस्स अणुभागबन्धो चउट्ठाणिओ वा तिट्ठाणिओ वा विट्ठाणिओ वा एक्कट्ठाणिओ वा। जहण्ण-अणुभागबन्धो इक्कट्ठाणिओ वा। अजहण्ण अणुभागबन्धो एक्कट्ठाणि वा विट्ठाणि वा विट्ठाणिओ वा चउट्ठाणिओ वा। केवलणाणावरण-छदंसणावरण-सादासाद-मिच्छत्त-बारसकसाय-अट्ठणोकसाय-चउआउसव्वाणाम पयडी-उच्चणिच्चगोदाणं उक्कस्स अणुभागबन्धो चउट्ठाणिओ। अणुक्कस्स अणुभागबन्धो चउट्ठाणिओ वा तिट्ठाणिओ वा विट्ठाणिओ वा। जहण्ण अणुभागबन्धो विट्ठाणिओ। अजहण्ण अणुभागबन्धो-विट्ठाणिओ वा तिट्ठाणिओ वा चउट्ठाणिओ वा।

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, संज्वलन–क्रोध–मान–माया–लोभ, पुरुषवेद, दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय इन १७ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध एकस्थानिक है, किन्तु शेष सर्व प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध द्विस्थानिक है, एक स्थानिक नहीं है। यह सब कथन अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है।

सत्त्व व उदय की अपेक्षा सम्यक्त्वप्रकृति, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद का क्षपणा के अन्तिमसमय में एकस्थानिक होता है। ज० ध० पु० ५ में कहा भी है।

'दंसणमोहणीयक्खवणाए मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्ताणि खइय पुणो सम्मत्तं पि विणासिय कदकरणिज्जो होदूण तस्स कदकरणिज्जस्स चरिमसमए सम्मत्तस्स जहण्णमणुभागसंतकम्मं तं च देसघादि एगट्ठाणियं।

(ज० ध० पु० ५ पृ० १४३)

दर्शनमोहनीय की क्षपणा के समय मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करके पुनः सम्यक्त्वप्रकृति का भी नाश करने के लिये, कृतकृत्य होकर, उस कृतकृत्यवेदक के अन्तिमसमय में सम्यक्त्वप्रकृति का जघन्य–अनुभाग-सत्त्व होता है। वह जघन्य-अनुभाग-देशघाती और एकस्थानिक होता है।

"तस्स चरिमसमयसवेदयस्स इत्थिवेदाणुभाग संतकम्मं देसघादी एगट्ठाणियं च होदि, उदयसरूवत्तादो।"

(ज० ध० पु० ५ पृ० १४८)

अन्तिम–समयवर्ती सवेदक का स्त्रीवेदसम्बन्धी अनुभागसत्कर्म देशघाती और एक स्थानिक होता है, क्योंकि वह उदयस्वरूप है।

'खवगस्स चरिमसमयणवंसयवेदयस्स अणुभाग संतकम्मं देसघादी एगट्ठाणियं।' (ज०ध० पु० ५ पृ० १५१)

अन्तिमसमयवर्ती नपुंसकवेदी क्षपक का अनुभाग सत्कर्म देशघाती और एकस्थानिक होता है।

—जै. ग. 29-4-76/VI/ ज. ला. जैन, भीण्डर

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध

शंका—किसी जीव ने तीर्थंकरप्रकृति का बंध कर लिया है तो उस जीव के जब तक तीर्थंकरप्रकृति का उदय नहीं आया तब तक क्या तीर्थंकरप्रकृति का आस्रव होता रहेगा ? या तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होने के पश्चात् उसका आस्रव रुक जाता है ?

समाधान—जिस जीव ने तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध कर लिया है उसके इस प्रकृति का निरन्तर बन्ध होता रहेगा। इसकी बन्धव्युच्छित्ति आठवें गुणस्थान में है। अतः वहाँ पर इसका बन्ध रुक जाता है। जिसको दूसरे या तीसरे नरक में उत्पन्न होना है उसके मरण समय अन्तर्मुहूर्त के लिए मिथ्यात्वगुणस्थान हो जाने से और दूसरे व तीसरे नरक में उत्पन्न होने के समय एक अन्तर्मुहूर्त मिथ्यात्वगुणस्थान रहने से तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध नहीं होता, किन्तु सम्यक्त्व होते ही पुनः तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होने लगता है। इसप्रकार अपूर्वकरणगुणस्थान में बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाने पर या मिथ्यात्वकाल में तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध नहीं होता अन्यत्र निरन्तर बन्ध होता रहता है।

—जै. सं. 4-10-56/VI/ क. दे. गया

आहारकमिश्र० योग में तीर्थंकरप्रकृति का बन्धकाल एक समय

शंका—आहारकमिश्रकाययोग में तीर्थंकरप्रकृति का जघन्य-बन्धकाल एकसमय किसप्रकार संभव है ?

समाधान—तीर्थङ्कर नामकर्मप्रकृति निरंतर बन्धनेवाली प्रकृति है। कहा भी है—

सत्तेताल धुवाओ तित्थयराहार-आउचत्तारि।
चउवण्णं पयडीओ बज्झंति निरंतरं सव्वा॥ (ध० पु० ८ पृ० १६)

सैंतालीस ध्रुवप्रकृतियाँ, तीर्थङ्कर, आहारकशरीर, आहारकशरीरांगोपांग और चार आयु ये सब ५४ प्रकृतियाँ निरंतर बँधती हैं।

'परमत्थदो पुण एगसमयं बंधिदूण बिदियसमए जिस्से बंधविरामो दिस्सदि सा सांतर बन्धपयडी। जिस्से बन्धकालो जहण्णो वि अंतोमुहुत्तमेत्तो सा णिरंतरबंधपयडि त्ति घेत्तव्वं।' (धवल पु० ८ पृ० १००)

एकसमय बन्धकर द्वितीयसमयमें जिस प्रकृति की बन्धविश्रान्ति देखी जाती है वह सान्तर-बन्धप्रकृति है। जिसका बन्धकाल जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है वह निरंतर-बंधप्रकृति है। तीर्थंकर निरंतर-बंधप्रकृति है, अतः तीर्थंकरप्रकृति का जघन्य बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त होना चाहिये, किन्तु महाबन्ध पु० १ पृ० ५५ पर आहारकमिश्र-काययोग-मार्गणा में तीर्थंकरप्रकृति का जघन्य बंधकाल एकसमय कहा है (णवरि तित्थय. आहा. एग. उक्क. अंतो.)। इसीप्रकार पृ० ४४४ पर कहा गया गया है।

आहारकमिश्रकाययोग के कालमें जब एकसमय शेष रहा तब तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध प्रारम्भ हुआ। एक समय आहारकमिश्रकाययोग में तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध हुआ, दूसरे समय में तीर्थंकरप्रकृति का बंध तो होता रहा, किन्तु आहारकमिश्रकाययोग का काल समाप्त हो जाने के कारण आहारकमिश्रकाययोग नहीं रहा, अन्य योग हो गया। इसप्रकार आहारकमिश्रकाययोग में तीर्थंकरप्रकृति का जघन्य बंधकाल एकसमय सम्भव है।

—जै. ग. 1-4-74/VIII/ र. ला. जैन

तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का अंतर पीत-पद्म लेश्या में नहीं होता

शंका—महाबंध प्रथम पुस्तक में तीर्थङ्करप्रकृति के बंध का अन्तर पीत, पद्मलेश्या में नहीं बताया, किन्तु शुक्ललेश्या में अन्तर बताया है। इसका क्या कारण है ? तीर्थंकरप्रकृति के बंधक देव के भले ही अन्तर न हो, परन्तु तीर्थंकरप्रकृति के बंधकमनुष्य को तीनों ही शुभलेश्याओं के परस्पर परिवर्तन से अन्तर्मुहूर्त अन्तर प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं है कि तीर्थंकरप्रकृतिबंधक की लेश्याओं में परिवर्तन न होता हो। साधारणतया मनुष्यों व तिर्यंचों में लेश्या का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है।

यदि देवोंकी अपेक्षा ही कथन करना अभीष्ट हो तो शुक्ललेश्या में तीर्थंकरप्रकृति के बंध का अन्तर नहीं बनता। यदि देवगति से निर्गमन की अपेक्षा शुक्ललेश्या में अन्तर कहा जावे तो वह नियम पीतपद्म लेश्या में भी होना चाहिये, क्योंकि देवगति से च्युत होनेवाला जीव अवश्य कापोतलेश्या को प्राप्त हो जाता है ऐसा नियम है।

समाधान—तीर्थंकरप्रकृति निरंतर बंधप्रकृति है। इसके बंध का अन्तर दो अवस्था में पड़ता है। (१) तीर्थंकरप्रकृति का बंधक जीव जब उपशमश्रेणी चढ़ता है तो अपूर्वकरणगुणस्थान में तीर्थंकरप्रकृति की बंधव्युच्छित्ति हो जानेपर बंध का अन्तर प्रारंभ हो जाता है। गिरने पर पुनः बंध प्रारंभ हो जाता है। उपशमश्रेणी में शुक्ल-लेश्या होती है इस अपेक्षा से शुक्ललेश्या में तीर्थंकरप्रकृति के बंधका अन्तर कहा है। (२) जिसने दूसरे या तीसरे नरकका आयुबंध किया है ऐसा मनुष्य यदि क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि हो तीर्थङ्करप्रकृति का बंध प्रारम्भ करता है तो उसके मरणसमय सम्यक्त्व छूट जाने से तीर्थङ्करप्रकृति का बंध भी नहीं होता। नरक में उत्पन्न हो पर्याप्ति हो सम्यक्त्व को प्राप्तकर पुनः तीर्थंकरप्रकृति का बंध होने लगता है। इसप्रकार कापोतलेश्या में तीर्थंकरप्रकृति के बंध का अन्तर होता है।

देवगति से च्युत होनेवाला जीव अवश्य कापोतलेश्या को प्राप्त हो जाता हो ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिजीव के देवगति में जो लेश्या थी वही लेश्या मनुष्य में उत्पन्न होने के बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक बनी रहती है। यदि देव मिथ्यादृष्टि है तो स्वर्ग से च्युत होने पर ही नियम से अशुभ लेश्या हो जावेगी।

—जै. सं. 31-7-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ नरकगति से नहीं होता

शंका—आगम में लिखा है कि तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर हो सकता है। तो क्या वह जीव तीर्थंकरप्रकृति का बंध तीसरे नरक में ही कर लेता है या वहाँ से निकलने के बाद मनुष्यभव में ?

समाधान—तीर्थंकरप्रकृति के बंध का प्रारंभ मनुष्य ही केवली या श्रुतकेवली के निकट करता है (गो.क. गाथा ९३)। जिसने पहिले नरकायु का बंध कर लिया है, ऐसा मनुष्य, सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकरप्रकृति का बंध-कर यदि दूसरे या तीसरे नरक में उत्पन्न होता है तो उसके मिथ्यात्व में जाने के कारण एक अन्तर्मुहूर्त तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध रुक जाता है। दूसरे या तीसरे नरक में उत्पन्न होने पर एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सम्यग्दृष्टि होकर पुनः तीर्थङ्करप्रकृति का बंध करने लगता है। नरक से निकलकर मनुष्य होने पर भी निरन्तर तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता रहता है। आठवेंगुणस्थान में तीर्थंकरप्रकृति की बंधव्युच्छित्ति हो जाती है। दोनों मनुष्यभवों व नरक-भव में तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है, किन्तु प्रारम्भ मनुष्यभव में होता है। कृष्णजी ने यहाँ पर तीर्थंकरप्रकृति-का बंध कर लिया था, अब तीसरे नरक में तीर्थंकरप्रकृति का बंध हो रहा है। वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होंगे।

—जै. सं. 19-3-59/V/ भैं. ला. जैन, कुचामन

तीर्थंकर प्रकृति का स्थिति बन्ध

शंका—तिर्यंच्चायु का स्थितिबन्ध तो विशुद्धता से अधिक और संक्लेशता से कम होता है लेकिन तीर्थंकर-प्रकृति का स्थितिबन्ध विशुद्धता से कम और संक्लेशता से अधिक होता है, सो क्या कारण है ?

समाधान—तिर्यंच-मनुष्य-देवआयु के अतिरिक्त अन्य सब कर्मप्रकृतियों का स्थितिबन्ध संक्लेशता से अधिक और विशुद्धता से कम होता है, किन्तु उक्त तीन-आयु का स्थितिबन्ध संक्लेशता से कम और विशुद्धता से अधिक होता है। इसमें प्रकृतिविशेष ही कारण है। अथवा तिर्यंच्चायु और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति भोग-भूमिया जीवों के होती है। दानादि के कारण विशुद्धपरिणामों से भोगभूमिया की आयु का बन्ध होता है। संक्लेश-परिणामों से भोगभूमिया का बन्ध नहीं होता। देवायु की उत्कृष्टस्थिति अनुत्तरविमानों में होती है। सम्यग्दृष्टि-संयमीमनुष्य शुक्ललेश्या सहित ही अनुत्तरविमानों में उत्पन्न होता है अतः देवायु की उत्कृष्टस्थिति का बन्ध विशुद्ध-परिणामों से होता है। तीर्थंकर आदि अन्य पुण्यप्रकृतियों का स्थितिबन्ध विशुद्धपरिणामों से कम और संक्लेश से अधिक होता है।

संसार में अधिक काल तक रहने का कारण संक्लेश है। संसारविषै रहना स्थितिबन्ध के अनुसार है। तातैं संक्लेश से (तीन आयु के अतिरिक्त) सर्व प्रकृतिनि का स्थितिबन्ध बहुत होय है। **(लब्धिसार क्षपणासार बड़ी टीका पृ० १७)**

—पत्राचार ब. प्र. स., पटना

इन्द्र भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध प्रारम्भ नहीं कर सकता

शंका—क्या भगवान के समवसरण में इन्द्र या देव तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ कर सकते हैं ?

समाधान—मात्र मनुष्य ही तीर्थंकरप्रकृति का बंध प्रारम्भ कर सकता है।

'तित्थयरबंध पारंभया णरा केवलिदुगंते ॥९३॥' (गो. क.)

मनुष्य ही केवली या श्रुतकेवली के निकट तीर्थंकरप्रकृति के बंध का प्रारम्भ करते हैं। इस आर्षवचन से सिद्ध होता है कि इन्द्र या देव तीर्थंकरप्रकृति के बंध का प्रारम्भ नहीं कर सकते हैं। जिस मनुष्य ने तीर्थंकरप्रकृति के बंध का आरम्भ कर दिया है जब वह मरकर देव या इन्द्र होता है उस देव या इन्द्र के तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता रहता है।

—जै. ग. 4-9-69/VII/ सु. प्र. जैन

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का अर्थ

शंका—पंचसंग्रह पृष्ठ २५३ "तीर्थंकरप्रकृति का उत्कृष्टस्थितिबन्ध चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि मनुष्य के होता है।" यहाँ प्रश्न यह है कि उत्कृष्टस्थितिबंध का क्या अर्थ है ? क्या तेरहवें गुणस्थान में रहने के काल से मतलब है या स्थितिसत्त्व की अपेक्षा से ?

समाधान—समस्तप्रकृतियों का उत्कृष्टस्थितिबंध संक्लेशपरिणामों से होता है। तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध सम्यग्दृष्टि के होता है। जिस मनुष्य ने दूसरे या तीसरे–नरककी आयुका बन्ध कर लिया है तत्पश्चात् क्षयोपशम-सम्यक्त्व उत्पन्न कर केवली के पादमूल में तीर्थंकरप्रकृति बन्धका प्रारम्भ कर दिया है ऐसे मनुष्य के मरण के समय सम्यग्दर्शन छूट जाता है। अतः जब वह मनुष्य मिथ्यात्व के अभिमुख होता है तब उसके उत्कृष्टसंक्लेशपरिणाम होता है। अत उससमय उस अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य के उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामों के कारण तीर्थंकरप्रकृति का उत्कृष्टस्थितिबन्ध होता है, अर्थात् जो कर्मप्रदेश तीर्थंकरप्रकृतिरूप से उस समय बँधते है उनमें से अन्तिमनिषेक में उत्कृष्टस्थिति पड़ती है।

तीर्थंकरप्रकृति प्रशस्तप्रकृति है और संक्लेश से प्रशस्तप्रकृतियो मे अनुभागस्तोक पड़ता है। अतः उत्कृष्ट संक्लेशपरिणामों के समय तीर्थंकरप्रकृति में जघन्यअनुभागबन्ध होता है।

—जै. ग. 27-8-64/IX/ ध. ला. सेठी

तीर्थंकरप्रकृति का स्थितिबन्ध शुभ संक्लेश से

शंका—तत्त्वार्थ सूत्र की सम्यग्दर्शनचन्द्रिका टीका में लिखा है कि तीर्थंकरप्रकृति का बंध शुभ-संक्लेश-परिणामों से होता है। यहाँ पर शुभ–संक्लेश–परिणाम का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—सम्यग्दर्शनचंद्रिकाआर्षग्रन्थ प्रतीत नहीं होता है। यह ग्रन्थ मेरे पास नहीं है। तीर्थंकरप्रकृति शुभ है इसलिये जिन परिणामों से तीर्थंकरप्रकृति बँधती है वे परिणाम शुभ होते हैं; किन्तु उत्कृष्टस्थितिबंध संक्लेशपरिणामों से होता है अतः उनको संक्लेश कहा है। इस प्रकार 'शुभसंक्लेश' का समन्वय हो सकता है।

—जै. ग. 10-7-67/VII/ र. ला. जैन,

तीर्थंकर प्रकृति के जघन्य स्थिति बंध के स्वामी

शंका—तीर्थंकर नामकर्म का उत्कृष्टअनुभागबन्ध तथा जघन्य–स्थितिबन्ध विशुद्धपरिणामों से होता है। कार्मण काययोगी जीवों में तीर्थंकरप्रकृति के जघन्यस्थितिबन्ध का स्वामी दो-गति का जीव कहा है (महाबन्ध पु० २ पृ० ३०३) किन्तु उत्कृष्ट अनुभागबन्ध का स्वामी तीनगति का जीव कहा है (महाबन्ध पु० ४ पृ० १९८) तीर्थंकरप्रकृति के जघन्यस्थितिबन्ध व उत्कृष्ट अनुभागबन्ध ये दोनों विशुद्ध परिणामों से होते हैं तो फिर स्वामित्व-प्ररूपण में एकत्र दो गति का जीव अन्यत्र तीनगति का जीव ऐसा कहने में सैद्धान्तिक क्या हेतु है ?

समाधान—महाबन्ध पु० २ पृ० ३०३ पर 'तित्थय दुगदियस्स' अशुद्ध लिखा गया ऐसा प्रतीत होता है जो नीचे टिप्पण से भी ज्ञात होता है कि मूलप्रति में (जो कि ताड़पत्र न होकर कागज प्रति है। लिखा है "दुगदियस्स तित्थय० इत्थि०।" महाबन्ध पुस्तक २ पृ० ३०१–३०२ पर वैक्रियिककाययोगी वैक्रियिकमिश्रकाययोगी जीवोंमें तीर्थंकरप्रकृति के जघन्यस्थितिबंध के स्वामी देव और नारकी दोनों-गति के जीव कहे हैं। महाबन्ध पु० ४ पृ० १९८ पर कार्मणकाययोगी जीवों में तीर्थंकरप्रकृति के उत्कृष्टअनुभागबंध के स्वामी तीनोंगति के जीव कहे हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि कार्मणकाययोगी जीवों में तीर्थंकरप्रकृतिके जघन्यस्थितिबंधके स्वामी नारकी भी हैं जैसा कि पु० २ पृ० ३०१–३०२ पर कहा गया है। किन्तु पृ० ३०३ पर लेखक की असावधानी से तीनगति के स्थान पर दो-गति लिख दी गई। यदि ताड़पत्र प्रति से मिलान किया जावे तो यह अशुद्धि स्पष्ट हो जावे।

—जै. ग. 3-1-63/IX/ पन्नालाल

तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध में कारणभूत सामग्री

शंका—जो आत्मा तीर्थंकर-परमात्मा बनकर सिद्ध होता है उनके तीर्थंकर होने के पूर्व तीसरेभव में दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारणभावना की आराधना करनेवाला है वह आत्मा तीर्थंकर ही होता है या सामान्य-केवली भी ?

समाधान—तीर्थंकरप्रकृतिबन्ध-प्रारम्भ के लिये उपशम या क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि मनुष्य होना चाहिये, जिसके मनुष्य या तिर्यंच आयु का बन्ध न हुआ हो, केवली या श्रुतकेवली के निकट हो ऐसा जीव दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारणभावना द्वारा तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध चतुर्थ आदि तीन गुणस्थानों में प्रारम्भ करता है। तीर्थंकर-प्रकृति की बन्ध-व्युच्छित्ति अपूर्वकरणगुणस्थानकाल के संख्यात-बहुभाग बीतने पर होती है। विशेष के लिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ९३ तथा धवल पु० ८ पृ० ७३ से ९१ तक देखना चाहिये।

समस्त अनुकूल कारणों के मिल जाने पर और प्रतिकूल कारणों के अभाव हो जाने पर कार्य की सिद्धि को कोई भी रोकने में समर्थ नहीं, अर्थात् अवश्य होती है।

—जै. ग. 9-1-64/IX/ ब्र. लाभानन्द

आहारकद्विक व तीर्थंकरप्रकृति का युगपत् बन्ध सम्भव

शंका—क्या तीर्थंकर और आहारकद्विक का बंध एकपर्यायमें साथ ही हो सकता है ? होकर क्या उस-पर्याय में एक का बंध छूट सकता है ? या दोनों आगे साथ-साथ जा सकते हैं ?

समाधान—तीर्थंकरप्रकृति का बंध चौथेगुणस्थान से आठवें गुणस्थान तक हो सकता है, किन्तु आहारक-द्विक का बंध सातवें और आठवें इन दो ही गुणस्थान में संभव है (ध० पु० ८ पृ० ७१ व ७३)। सातवें और आठवें गुणस्थान में एक जीव के एक ही मनुष्यपर्याय में एकसाथ आहारकद्विक और तीर्थंकरप्रकृति का बंध संभव है जैसा कि बंध-सन्निकर्ष में कहा है (महाबंध पु० ३ पृ० ६, १२४) सातव गुणस्थान से गिरकर छठे से चौथे गुणस्थान में आने वाले जीवके आहारकद्विकका बंध तो नहीं होता, किन्तु तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता रहता है। आठवें गुणस्थान का संख्यातबहुभाग बीत जाने पर आहारकद्विक और तीर्थंकरप्रकृति की एक साथ बंधव्युच्छित्ति होती है। आहारकद्विक का बंध मात्र मनुष्यपर्याय में ही होता है; किन्तु तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नारक, मनुष्य और देव तीनों-गतियों के सम्यग्दष्टिजीवों के हो सकता है इतनी विशेषता है कि तीर्थंकरप्रकृति का बंध प्रारम्भ तो मनुष्यपर्याय में ही होता है।

—जै. ग. 4-7-63/IX/ म. ला. जैन

संक्लेश-विशुद्धि के काल में पाप व पुण्य दोनों प्रकृतियों का बन्ध

शंका—शुभप्रकृति का संक्लेश-परिणामों से जघन्य अनुभाग और विशुद्धपरिणामों से पापप्रकृतियों का जघन्यअनुभागबन्ध होता है, ऐसा आगम में लिखा है। जब कोई जीव शुभकार्य करता है तो क्या उस समय उसके तीव्र-संक्लेशपरिणाम होते हैं जिससे पुण्यप्रकृतियों में जघन्यअनुभागबन्ध होता है ?

समाधान—शुभकार्य करते समय प्रायः तीव्रसंक्लेशपरिणाम नहीं होते, क्योंकि तीव्र संक्लेशपरिणामों के समय पापकार्य होते हैं। जिसके तीव्रसंक्लेशरूप परिणाम होते हैं उसके भी शरीरआदि पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है और उन पुण्यप्रकृतियों में जघन्यअनुभागबन्ध होता है।

—जै. ग. 10-1-66/VIII/ र. ला. जैन

पुण्यपाप प्रकृतियाँ

शंका—नरकायु के अतिरिक्त शेष तीनों आयु पुण्यप्रकृति कही गई है, किन्तु नामकर्म में तिर्यंचगति व नरकगति दोनों पापप्रकृति कही गई है ऐसा भेद क्यों है अर्थात् तिर्यंचायु को पुण्यप्रकृति क्यों कहा गया है ?

समाधान—जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट-अनुभागबन्ध विशुद्धपरिणामों से होता है वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं। जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशपरिणामों से होता है वे पापप्रकृतियाँ हैं। (गो० सा० कर्म० गा० १६४) विशुद्धपरिणामवाले मिथ्यादृष्टिके तिर्यंचायु का उत्कृष्ट-अनुभागबंध होता है (गो० सा० कर्म० १६५) अतः तिर्यंचायु पुण्यप्रकृति है। तिर्यंचगति का उत्कृष्ट अनुभागबंध संक्लेशपरिणामवाले मिथ्यादृष्टिदेव व नारकी-जीव के होता है। (गो० सा० क० १६९) अतः तिर्यंचगति पापप्रकृति है।

तिर्यंचगति में कोई जीव जाना नहीं चाहता अतः तिर्यंचगति पापप्रकृति है, किन्तु तिर्यंचगति में पहुँच जाने के पश्चात् वहाँ से मरना नहीं चाहता, क्योंकि तिर्यंच भी मरने से डरते हैं, अतः तिर्यंचायु पुण्यप्रकृति है। नरकगति में कोई जीव जाना नहीं चाहता और न वहाँ कोई रहना चाहता है, किन्तु अतिशीघ्र मरण चाहता है अतः नरकगति व नरकायु दोनों पापप्रकृतियाँ हैं।

—जै. ग. 15-2-62/VII/ म. ला.

शुभाशुभ कर्मस्थिति

शंका—मनुष्य-तिर्यंच-देवायु की स्थिति के अतिरिक्त शेष सब पुण्यप्रकृति की स्थिति अशुभ ही है तो क्या तीर्थंकरप्रकृति की स्थिति भी अशुभ ही है ? ये तीनों आयु तो संसार में रोकती ही हैं फिर इनको स्थिति को शुभ क्यों कहा ?

समाधान—जिन प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति शुभ अर्थात् विशुद्धपरिणामों से बँधती है उन प्रकृतियों की स्थिति शुभ कहलाती है और जिनप्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति संक्लेश अर्थात् अशुभ परिणामों से बँधती है उन प्रकृतियों की स्थिति अशुभ होती है, क्योंकि कारण के अनुसार कार्य होता है। जिस स्थिति का कारण अशुभ है, वह अशुभस्थिति और जिस स्थिति का कारण शुभ है वह शुभ स्थिति। "नरक बिना तीन आयु का स्थितिबन्ध विशुद्धता तें अधिक होय है अन्य सर्व शुभाशुभ प्रकृतिनि का स्थितिबन्ध संक्लेश तें बहुत होय है (लब्धिसार बड़ी टीका पृ० १७)। इसप्रकार मनुष्य, तिर्यंच और देवआयु की अधिकस्थिति शुभपरिणामों से होती है अतः यह स्थिति शुभ है। तीर्थंकरप्रकृति की उत्कृष्टस्थिति अशुभ-परिणामों से होती है अतः तीर्थंकरप्रकृति की स्थिति अशुभ है। जो असंयत-सम्यग्दृष्टिमनुष्य साकार, जागृत है, तत्प्रायोग्य संक्लेशवाला है और मिथ्यात्व के अभिमुख है ऐसा जीव तीर्थंकरप्रकृति के उत्कृष्टस्थितिबन्ध का स्वामी है। (महाबन्ध पु० २ पृ० २५७) पृ० २५६ पर

विशुद्धपरिणामवाले को तिर्यंच–मनुष्य–देवायु के उत्कृष्टस्थितिबंध का स्वामी कहा है। इसप्रकार तीन-आयु की शुभस्थिति और शेष प्रकृतियों की स्थिति अशुभ है।

—जै. ग. 1-2-62/VI/ मू. च. छ. ला.

संक्लेश व विशुद्धि दोनों ही के समय पुण्य व पापप्रकृतियों का बन्ध

शंका—"शुभप्रकृति का संक्लेश–परिणामों से जघन्यअनुभागबन्ध होता है और विशुद्धपरिणामों से पाप-प्रकृतिका जघन्य–अनुभागबन्ध होता है" ऐसा गोम्मटसार कर्मकांड गाथा १६३ की बड़ी टीका के पृ० १९९ पर लिखा है। इसमें शंका यह है कि प्रथम तो संक्लेश-परिणामों से शुभप्रकृति का बन्ध ही नहीं होता, क्योंकि संक्लेशपरिणामों को पाप परिणाम कहते हैं और पापपरिणामों से शुभका बन्ध नहीं होता, पापपरिणामों से पाप ही का बन्ध होता है। उदाहरण सहित स्पष्ट करें।

समाधान—शुभ परिणामों से शुभप्रकृतियों का ही आस्रव व बन्ध होता है और अशुभ परिणामों से पाप-प्रकृतियों का ही आस्रव और बंध होता है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि ४७ ध्रुवबन्धीप्रकृतियों में पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ हैं जिनका शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के परिणामों में निरन्तर आस्रव व बंध होता रहता है। वे ध्रुवबन्धी ४७ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

> णाणंतरायदसयं दंसण णव मिच्छ सोलस कसाया।
> भय कम्म दुगुंछा वि य तेजा कम्मं च वण्णचदू ॥
> अगुरुअलहु-उवघादं णिमिणं णामं च होंति सगदालं।
> बंधो चउव्वियप्पो धुवबंधीणं पयडिबन्धो ॥ (धवल पु० ८ पृ० १७)

अर्थ—ज्ञानावरण और अंतराय की दश, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलहकषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस-शरीर, कार्माणशरीर, वर्णादिक–चार, अगुरुकलघु, उपघात और निर्माण नामकर्म, ये सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं।

इन ४७ ध्रुवबन्धी प्रकृतियों में से तैजसशरीर, कार्माणशरीर, अगुरुकलघु और निर्माण ये चार पुण्य (शुभ) प्रकृतियाँ हैं और शेष ४३ अशुभ (पाप) प्रकृतियाँ हैं। (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ८ सूत्र २५ व २६)।

इस प्रकार अशुभ परिणामों में उपर्युक्त चार शुभप्रकृतियों का तो अवश्य ही बंध होता है। इनके अति-रिक्त औदारिक या वैक्रियिकशरीर, पंचेन्द्रियजाति, त्रसकाय, बादरपर्याप्त, प्रत्येकशरीर, अतिर्यंचायु का भी यथा-योग्य बन्ध सम्भव है। जिनमें जघन्य-अनुभागबन्ध होता है। शुभ परिणामों में उपर्युक्त ४३ ध्रुवबन्धी अशुभ-प्रकृतियों का बन्ध होता है, जिनमें जघन्यअनुभागबन्ध होता है।

"शुभ–परिणाम–निर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभ–परिणाम–निर्वृत्तश्चाशुभः। न पुनः शुभाशुभ–कर्म–कारणत्वेन। यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्ध–हेतुत्वाभ्युपगमात्।"

(सर्वार्थसिद्धि ६।३)

अर्थ—जो योग शुभपरिणामों के निमित्त से होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह अशुभ योग है। शायद कोई यह माने कि शुभ और अशुभकर्मका कारण होने से शुभ और अशुभयोग होता है सो बात नहीं है, यदि इसप्रकार इनका लक्षण कहा जाता है तो शुभयोग ही नहीं हो सकता, क्योंकि शुभयोग को भी ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध का कारण माना है।

—जै. ग. 16-5-66/IX/ र. ला. जैन

द्रव्यस्त्री के बन्ध योग्य प्रकृति

शंका—बन्ध के प्रकरण में गाथा नं० ११० में मनुष्यगति के बन्ध में स्त्रीवेदी मनुष्य के १२० प्रकृतियों का बन्ध बतलाया है। अगर यह कथन भाववेद की अपेक्षा है तो फिर द्रव्यवेदी स्त्री के कितनी प्रकृतियोंका बंध होता है ? गोम्मटसार-कर्मकांड में द्रव्यस्त्री का कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—षट्खण्डागम एवं धवलग्रंथ (ष० खं० टीका) के विषय का कथन संक्षेप से गोम्मटसार में किया गया है। षट्खंडागम एवं धवलग्रंथ में भावस्त्री की अपेक्षा कथन है, द्रव्यस्त्री की अपेक्षा कथन नहीं है। धवल पुस्तक १ पृ० १३१ पर लिखा है कि सूत्र १ में 'इमाणि' पद से प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानों का ग्रहण करना चाहिये, द्रव्यमार्गणाओं का ग्रहण नहीं किया गया है; क्योंकि द्रव्यमार्गणाएँ देश, काल और स्वभाव की अपेक्षा दूरवर्ती हैं। देवांगनाओं तथा तिर्यंचनियों का कथन भी भाव की अपेक्षा है। द्रव्य की अपेक्षा नहीं है।

द्रव्य-मनुष्य-स्त्री के तिर्यंचों के समान ११७ प्रकृतियां बन्ध योग्य हैं, क्योंकि उनके भी तीर्थंकर व आहारकशरीर व आहारकशरीरांगोपाङ्ग इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता।

—जै. ग. 10-1-66/VIII/ र. ला. जैन

स्त्रीवेद के हेतुभूत परिणाम

शंका—मनुष्य से मनुष्यनी तथा देवी किन परिणामों से बनता है ?

समाधान—कपट, धोखे आदि के परिणामों से स्त्रीवेद का तीव्र अनुभाग लिये बंध होता है। जिस मनुष्य के मरते समय कपटआदिरूप परिणाम होते हैं वे मरकर मनुष्यनी व देवी होते हैं।

—जै. ग. 14-12-67/VIII/ र. ला. जैन

सम्यक्त्वी प्रथम समयवर्ती देव के भुजगार प्रकृति बन्ध का स्पष्टीकरण

शंका—गो० क० गाथा ४५३ बड़ी टीका पृ० ६०३ पर प्रश्न किया जो उपशांतकषाय से मरकर देव-असंयतगुणस्थानवर्ती होय तहाँ एक ते सात का बंध व एक ते आठ का बंध होई भुजाकार बंध संभवे है, ते क्यों न कहे ? इसका समाधान अबद्धायुष्क की अपेक्षा एक से सात का भुजाकार का अभाव बतलाया सो तो ठीक, परन्तु जिसने पहले आयु का बंध कर लिया है ऐसा बद्धायु उपशांतकषायवाला मरकर देव होने पर एक से सात का भुजाकार बंध क्यों नहीं बतलाया, जो कि सम्भव है ?

समाधान—गोम्मटसार कर्मकांड बड़ी टीका पृ० ६०३ पर बद्धायुष्क-जीव उपशांतकषाय से मरकर देवों में उत्पन्न होनेवाले के एक कर्म से ८ कर्म बंधरूप भुजाकार का निषेध किया है क्योंकि देवों में मरण से छहमाह पूर्व आयु बंध संभवे हैं, किन्तु एक से सातवाला बंध भुजाकार का निषेध नहीं है। उपशांतकषाय-गुणस्थान में जिसके एक वेदनीयकर्म का बंध हो रहा था मरण करके देवों में उत्पन्न होने के प्रथमसमय में ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र, अन्तराय इन सात कर्मों को युगपद् बाँधने लगता है, अतः उसके एक से सातवाला बंध भुजाकार होता है। इसके निषेध पृ० ६०३ पर नहीं है।

—जै. ग. 25-7-66/IX/ र. ला. जैन

बंध के पूर्व भी कार्मणवर्गणा के आठ भेद

शंका—कार्मणवर्गणाएँ बंध के पहले भी क्या ज्ञानावरणादि आठप्रकार की होती हैं या बंध के पश्चात् ?

समाधान—बंध से पूर्व भी कार्मणवर्गणा आठप्रकार की होती हैं। श्री वीरसेन आचार्य ने कहा भी है—

"ज्ञानावरणीयकर्म के योग्य जो द्रव्य हैं वे ही मिथ्यात्वआदि प्रत्ययों के कारण पाँच ज्ञानावरणीयरूप से परिणमन करते हैं, अन्यरूप से वे परिणमन नहीं करते, क्योंकि वे अन्य के अयोग्य होते हैं। इसी प्रकार सब कर्मों के विषय में कहना चाहिये, अन्यथा ज्ञानावरणीय के योग्य जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहण कर मिथ्यात्वआदि प्रत्ययवश ज्ञानावरणीयरूप से परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं; यह सूत्र नहीं बन सकता है। यदि ऐसा है तो कार्मण-वर्गणाएँ आठ हैं, ऐसा कथन क्यों नहीं किया है ? नहीं किया, क्योंकि अन्तर का अभाव होने से उस-प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है। ये आठवर्गणाएँ पृथक्-पृथक् नहीं रहती हैं, किन्तु मिश्रित होकर रहती हैं। आयुकर्म का भाग स्तोक है, नाम और गोत्रकर्म का भाग उससे अधिक है, इस गाथा से जाना जाता है कि ये वर्गणाएँ मिश्रित होकर रहती हैं।" (धवल पु० १४ पृ० ५५३)।

—जै. ग. 7-8-67/VII/ र. ला. जैन

गुणस्थानों में प्रतिसमय बध्यमान मूल कर्मों की संख्या

शंका—क्या आठों कर्म प्रत्येक समय बँधते हैं ? यदि नहीं तो क्यों ?

समाधान—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठप्रकार के कर्म हैं। इनमें से आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सातकर्मों का नौवेंगुणस्थान तक निरंतर-बंध होता रहता है, किन्तु आयुकर्म का एकभव में आठ बार से अधिक बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अधिक से अधिक आठ बार ही ऐसी योग्यता होती है जिसमें आयुकर्म का बंध हो सकता है। कहा भी है—"जो जीव सोपक्रमायुष्क हैं, (जिनकी अकालमृत्यु हो सकती है), वे अपनी-अपनी भुज्यमानआयु के दो त्रिभाग बीत जाने पर वहाँ से लेकर असंक्षेपाद्धा-काल तक परभवसम्बन्धी आयु को बाँधने योग्य होते हैं। उनमें आयुबन्धकाल के भीतर कितने ही जीव आठबार, कितने ही सातबार, कितने ही छहबार, कितने ही पाँचबार, कितने ही चारबार, कितने ही तीनबार, कितने ही दोबार, और कितने ही एकबार आयुबन्ध के योग्य परिणामों से परिणत होते हैं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। उनमें भी जिन जीवों ने तृतीय त्रिभाग के प्रथमसमय में परभवसम्बन्धी आयुका बंध प्रारम्भ किया है वे अन्तर्मुहूर्त आयु-कर्म के बन्ध को समाप्त कर फिर समस्त आयु के नौवेंभाग के शेष रहने पर फिर से आयुबन्ध के योग्य होते हैं।

तथा समस्त आयुस्थिति का सत्ताईसवाँ भाग शेषरहनेपर पुनरपि आयुबन्ध के योग्य होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर जो त्रिभाग शेष रहता जाता है उसका त्रिभाग शेष रहनेपर यहाँ आठवें-अपकर्ष के प्राप्त होने तक आयुबन्ध के योग्य होते हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिये। परन्तु त्रिभाग के शेष रहनेपर आयु नियम से बँधी है, ऐसा एकान्त नहीं है, किन्तु उससमय जीव आयुबन्ध के योग्य होते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। जो निरुपक्रमायुष्क जीव हैं वे अपनी भुज्यमानआयु में छहमाह शेष रहनेपर आयुबन्ध के योग्य होते हैं। यहाँ भी इसी प्रकार छहमाह में आठ-अपकर्षों को कहना चाहिये।" (धवल पुस्तक १० पृ० २३३-२३४)।

इस आगम प्रमाण से जाना जाता है कि आयुकर्म का बन्ध प्रत्येक समय नहीं होता है। अतः प्रत्येक समय सातकर्मों का बन्ध होता है। और आयुबन्ध के समय एक-अन्तर्मुहूर्त तक आठकर्मों का बन्ध होता है उसके पश्चात् पुनः सातकर्मों का बन्ध होने लगता है। आयुकर्म का बन्ध तीसरे गुणस्थान के अतिरिक्त सातवेंगुणस्थान तक होता है। दसवेंगुणस्थान में मोहनीयकर्म का भी बन्ध नहीं होता, छहकर्मों का ही बन्ध होता है। ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें इन तीन गुणस्थानों में मात्र सातावेदनीय का एकसमय की स्थितिवाला बन्ध होता है। चौदहवें में योग का अभाव हो जाने से बन्ध का भी अभाव हो जाता है।

—जै. ग. 20-6-63/IX-X/ अ. ला. जैन

उदय व सत्त्व से रहित प्रकृतियों का भी बन्ध सम्भव है

शंका—जो कर्म उदय व सत्ता में नहीं हैं क्या उन कर्म प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता ?

समाधान—कर्मबन्ध का कारण मोहनीयकर्म के उदय से होनेवाले औदयिकभाव हैं। धवल पु० ७ पृ० ९ पर बताया है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग (कषायसहित योग) बन्ध के कारण हैं।

"मिच्छत्ताविरदी वि य कसाय य आसवा होंति।" (धवल पु० ७ पृ० ९)

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्ध-हेतवः।" (तत्त्वार्थ सूत्र ८/१)

अर्थात्—मिथ्यादर्शन, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं।

अतः इन भावों के होते हुए बन्ध होता है। बन्ध के लिये अन्य कर्मों के उदय या सत्त्व की अपेक्षा नहीं है जैसे मनुष्य व तिर्यंचों के देवायु या नरकायु का सत्त्व व उदय न होते हुए भी बन्ध होता है। तीर्थंकरप्रकृति का उदय व सत्त्व नहीं होने पर भी केवली के पादमूल में बंध प्रारम्भ होता है। जिनके आहारकशरीर व आहारक-अंगोपांग के सत्त्व व उदय नहीं है वे भी आहारकद्विक का बंध करते हुए पाये जाते हैं। जिन्होंने देवगतिद्विक, नरकगतिद्विक, वैक्रियिकद्विक, मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र की उद्वेलना कर सत्त्व का नाश कर दिया है, ऐसे जीव भी अग्नि व वायुकायिक से निकलकर इनका उदय व सत्त्व न होते हुए भी देवगतिद्विक आदि का बंध करते हैं। अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करके मिथ्यात्वगुणस्थान में जानेवाला अनन्तानुबंधीचतुष्क का बंध करता है।

—जै. ग. 12-10-67/VII/ अ. ला. जैन

प्रायोग्यलब्धि एवं प्रथमसम्यक्त्व के स्थितिबन्ध में तुलना

शंका—प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं। चौथी प्रायोग्यलब्धि में ३४ बंधापसरण होते हैं। उनमें जो स्थितिबंध घट जाता है, क्या प्रथमोपशमसम्यक्त्व होने पर उतना ही स्थितिबंध होता है या हीनाधिक ?

समाधान—अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण इन तीन प्रकार की करणलब्धि में परिणामों की विशुद्धि के कारण अनेकों बंधापसरण होते हैं। अतः प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति के समय जो स्थितिबंध होता है वह प्रायोग्यलब्धि में स्थितिबंध की अपेक्षा संख्यातगुणाहीन होता है। कहा भी है—

"अधापवत्त करणपढमसमयट्ठिदिबंधादो चरिमसमयट्ठिदिबंधो संखेज्जगुणहीणो। अपुव्वकरणस्स पढमसमयट्ठिदिसंत–ट्ठिदिबंधेहिंतो अपुव्वकरणस्स चरिमसमयट्ठिदिसंतट्ठिदिबंधाणं थोहत्तं संखेज्जगुणहीणं होदि। तदणंतर उवरिमसमए अणियट्ठिकरणं पारभदि। ताधे चेव अण्णो ट्ठिदिखंडओ अण्णो अणुभागखंडओ, अण्णो ट्ठिदिबंधो च आढत्तो।" (धवल पु० ६)

अर्थ—अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी स्थितिबंध से उसीका अन्तिमसमयसंबंधी स्थितिबंध संख्यातगुणहीन होता है। अपूर्वकरणके प्रथमसमयसम्बन्धी स्थितिबंध से अपूर्वकरणके अन्तिमसमयसम्बन्धी स्थितिबंध संख्यातगुणाहीन होता है। अपूर्वकरणका काल समाप्त होनेके अनन्तर आगे के समय में अनिवृत्तिकरण को प्रारम्भ करता है। उसीसमय में ही अन्य स्थितिबंध को प्रारंभ करता है।

इसप्रकार प्रायोग्यलब्धि के समय जो कर्म-स्थिति-बंध होता है उससे संख्यातगुणाहीन कर्मस्थितिबंध प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति के समय होता है।

—जै. ग. 28-8-69/VII/ मन्त्री जैन चैत्यालय, रोहतक

विभिन्न प्रकृतियों में विभिन्न स्थिति–अनुभाग बन्ध के कारण

शंका—शुभपरिणामों से सर्व शुभप्रकृतियों में स्थिति व अनुभाग अधिक बंधता होगा और अशुभपरिणामों से अशुभप्रकृतियों में स्थिति व अनुभाग अधिक पड़ता होगा ?

समाधान—संक्लेशपरिणामों से तीनआयु के अतिरिक्त शेष समस्त–प्रशस्त–अप्रशस्त कर्मों में स्थितिबंध अधिक होता है, किन्तु देवायु मनुष्यायु तिर्यंचायु इनमें विशुद्धपरिणामों से अधिकस्थिति बँधती है। कहा भी है—

सव्वाट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥१३४॥ (गो० क०)

तिर्यंच-मनुष्य-देवायु इन तीनआयु के बिना अन्य सब ११७ प्रकृतियों का उत्कृष्ट-स्थितिबंध उत्कृष्ट-संक्लेशपरिणामों से होता है और जघन्यस्थितिबंध उत्कृष्ट विशुद्धपरिणामों से होता है। तीनआयु प्रकृतियों के स्थितिबंध का क्रम इससे विपरीत है अर्थात् विशुद्धपरिणामों से उत्कृष्टस्थिति बंध होता है तथा जघन्यस्थितिबंध संक्लेशपरिणामों से होता है।

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥१६३॥
बादालं तु पसत्था विसोहिगुणमुक्कडस्स तिव्वाओ।
बासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसंकिलिट्ठस्स ॥१६४॥ (गो० क०)

शुभ (पुण्य) प्रकृतियों का अनुभागबंध विशुद्धपरिणामों से उत्कृष्ट होता है। अशुभप्रकृतियों का उत्कृष्ट-अनुभागबंध संक्लेशपरिणामों से होता है। अशुभप्रकृतियों का जघन्यअनुभागबंध विशुद्धपरिणामों से होता है और शुभप्रकृतियों का जघन्यअनुभागबंध संक्लेशपरिणामों से होता है। पुण्यप्रकृतियाँ ४२ हैं। उनका उत्कृष्ट-अनुभागबंध उत्कृष्टविशुद्धता गुणवाले के होता है। पाप प्रकृतियाँ ८२ हैं, उनका उत्कृष्ट-अनुभागबंध उत्कृष्ट-संक्लेशरूप परिणामवाले के होता है।

अतः शंकाकार का यह लिखना, कि शुभपरिणामों से पुण्यप्रकृतियों में अधिक स्थितिबंध होता होगा, ठीक नहीं है।

—जै. ग. 6-7-72/IX/ र. ला. जैन

बध्यमान अनुभाग में अनुभाग निक्षेपण का विधान

शंका—बध्यमान प्रथमनिषेक में जघन्यअनुभाग होता है। फिर उत्तरोत्तर अनुभाग-निक्षेपण विशेषाधिक होता हुआ चरम-बध्यमान-निषेकमें सर्वाधिक अनुभाग निक्षिप्त होता है। इसके अनुसार तो जघन्य निषेक में सब प्रकार के स्पर्धक नहीं मिल सकेंगे। इसी तरह चरमनिषेक में जघन्य आदि स्पर्धक नहीं मिल सकेंगे। अथवा अन्य कोई परिहार-सूचक विधान है; कृपया स्पष्ट करें।

समाधान—प्रत्येक निषेक में देशघाती तथा सर्वघाती; दोनों प्रकार के स्पर्धक होते हैं। (महाबंध पु० ४ पृ० २ तथा प्रस्ता० पृ० १६) यदि प्रथम निषेक में जघन्य अनुभाग और अन्तिमनिषेक में उत्कृष्ट अनुभागबन्ध स्वीकार किया जाय तो प्रथम निषेक में सर्वघाती—स्पर्धक और अन्तिम निषेक में देशघातीस्पर्धक नहीं होने से आगम से विरोध आयगा। अतएव प्रत्येक निषेक में भिन्न—भिन्न स्पर्धक होते हैं, ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती।

क्षपक—सूक्ष्मसाम्पराय के अन्तिमसमय में साता का सर्वोत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। उसमें स्पर्धक-रचना भी होती है तथा बारहमुहूर्त प्रमाण निषेक—रचना भी होती है। किन्तु प्रत्येक निषेक में सर्वोत्कृष्ट अनुभाग पाया जाता है। शंका में जैसी व्यवस्था लिखी गई है वैसा मैं भी सुनता आया हूँ, किन्तु इसप्रकार का कथन आगम में मेरे देखने में नहीं आया।

—पत्राचार 25-11-78/ ज. ला जैन, भीण्डर

कषायाध्यवसाय स्थान [कषायोदय स्थान] तथा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान का स्वरूप—भेद

शंका—कषायअध्यवसायस्थान और अनुभागबन्धअध्यवसायस्थान किन्हें कहते हैं? कषायोदयस्थान और कषायअध्यवसायस्थान में क्या अन्तर है?

समाधान—अध्यवसाय का अर्थ 'ज्ञान' है, जैसा कि श्री कुंदकुंदआचार्य ने कहा है।

बुद्धि ववसाओविय अज्झवसाणं मईय विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥ (समयसार)

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ वाची हैं।

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥२६५॥ (स० सा०)

टीका—बाह्य पंचेन्द्रियविषय भूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति तस्माद्यध्यवसानाद् बंधो भवतीति पारंपर्येण वस्तु बंधकारणं भवति न साक्षात् ?

इन्द्रियों के विषयभूत बाह्य वस्तु के निमित्त से जो अध्यवसान होता है वह अध्यवसान साक्षात् बंध का कारण है; बाह्य-वस्तु साक्षात् बंध का कारण नहीं है, परम्परा-बंध का कारण है।

इस प्रकार रागादि मिश्रित अध्यवसाय बंध का कारण है, मात्र अध्यवसाय या अध्यवसान बंध के कारण नहीं हैं, क्योंकि वह विज्ञान व चित्तस्वरूप है।

कषायअध्यवसायस्थान कषायोदयसे उत्पन्न होते हैं। उसके मूल में दो भेद हैं—संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान। असातावेदनीय के बन्धयोग्य कषायोदयस्थानों को संक्लेश कहा जाता है। वे जघन्यस्थिति में स्तोक होकर आगे द्वितीयस्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थिति तक विशेषाधिकता के क्रम से जाते हैं। ये सब मूल प्रकृतियों के समान हैं, क्योंकि कषायोदय के बिना बंध को प्राप्त होने वाली कोई मूल-प्रकृति पायी नहीं जाती। सातावेदनीय के बंधयोग्य परिणामों को विशुद्धिस्थान कहते हैं। ये उत्कृष्ट स्थितिमें स्तोक होकर आगे द्विचरमस्थिति से लेकर जघन्यस्थिति तक गणना की अपेक्षा विशेष अधिकता के क्रम से जाते हैं। (धवल पु० ११ पृ० ३०९)

अनुभागबंधस्थानों को अनुभागबंधाध्यवसानस्थान कहते हैं (धवल पु० १२ पृ० ८८) सब मूल प्रकृतियों की स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध के लिए कषायोदयस्थान अर्थात् कषायाध्यवसायस्थान समान हैं, किन्तु अनुभागबन्ध-स्थान सब प्रकृतियों के समान नहीं हैं। जैसा कि महाबन्ध पुस्तक ५ पृ० ३७८ पर कहा है—

"सातावेदनीय के अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान सबसे अधिक है। इससे यशकीर्ति और उच्चगोत्र के अनु-भागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणेहीन हैं। इससे देवगति के अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणेहीन हैं; इत्यादि" कषाय के अतिरिक्त अनुभागबन्ध के अन्य भी कारण हैं, जिनका कथन तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र १०–२७ में है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कषायाध्यवसायस्थान से अनुभागबन्धअध्यवसायस्थान भिन्न हैं। इसी प्रकार कषायाध्यवसायस्थान से स्थिति बन्धाध्यवसायस्थान भी भिन्न हैं। (धवल पु० ११ पृ० ३१०)।

—जै. ग. 18-3-76/......../ र. ला. जैन

स्थितिबंधस्थान, स्थिति एवं अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान तथा तद्विषयक अविभाग प्रतिच्छेद

शंका—धवल पु० ६ पृ० २००–"सव्वट्ठिदिबंधट्ठाणाणं एक्केक्कट्ठिदिबन्धज्झवसाणट्ठाणस्स हेट्ठ छविट्ठिकमेण असंखेज्जलोगमेत्ताणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि होंति। ताणि च जहण्णकसाउदय अणुभागबन्ध-ज्झवसाणट्ठाणप्पहुडि उवरि जाव जहण्णट्ठिदि-उक्कस्सकसाउदयट्ठाण अणुभागबन्धज्झवसाणट्ठाणाणि त्ति विसेसा-हियाणि। विसेसो पुण असंखेज्जालोगा। तस्स पडिभागो वि असंखेज्जालोगा।" इसका क्या भाव है समझ में नहीं आया ?

समाधान—प्रत्येक स्थिति बंध स्थान को असंख्यात लोक प्रमाण स्थिति बन्धाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। प्रत्येक स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान में असंख्यातलोक प्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान होते हैं। इन असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थानों में से जघन्य, अनुभाग, बन्धाध्यवसाय स्थान के अविभाग प्रतिच्छेदों को असंख्यातलोक से भाग देने पर जो लब्ध आवे उसको जघन्य अनुभागबन्धध्यवसाय स्थान के अविभाग प्रतिच्छेदों में जोड़ देने से दूसरा अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान प्राप्त हो जाता है। इस दूसरे अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान के अविभाग प्रतिच्छेदों का असंख्यात लोक से भाग देकर जो लब्ध प्राप्त हो, उसको दूसरे अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान में जोड़ने पर तीसरा अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक एक स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थान सम्बन्धी असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान प्राप्त करने चाहिये।

—जै. ग. 28-3-74/...... / ज. ला. जैन, भीण्डर

स्थिति बन्ध

शंका—धवल पुस्तक ११ पृष्ठ १४९–१५०, २२९ में विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों के पर्याप्त के जघन्यस्थितिबन्ध से अपर्याप्त का जघन्यस्थितिबन्ध विशेष बताया सो शक्ति तो अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्त की विशेष होनी चाहिए इसी हिसाब से बन्ध भी होना चाहिए।

समाधान—स्थितिबन्ध की हीनता व अधिकता में विशुद्धि व संक्लेश कारण हैं। अपर्याप्त जीवों की अपेक्षा पर्याप्त जीवों में विशुद्धि व संक्लेशता दोनों अधिक होती हैं अतः अपने-अपने अपर्याप्तजीवों की अपेक्षा अपने-अपने पर्याप्तजीवों में जघन्यस्थितिबन्ध स्तोक होता है और उत्कृष्टस्थितिबन्ध का क्रम इससे विपरीत है अर्थात् अपने-अपने पर्याप्तजीवों की अपेक्षा अपने-अपने अपर्याप्त जीवों का उत्कृष्टस्थितिबन्ध स्तोक होता है।

—पत्राचार/ ब. प्र. स., पटना

स्थितिबन्धस्थान

शंका—'स्थितिबन्धस्थानविशेष' से 'स्थितिबन्धस्थान' एक अधिक बताया है। सो 'स्थितिबन्धस्थानविशेष' किसको कहते हैं ?

समाधान—उत्कृष्टस्थितिबन्धस्थान में से जघन्यस्थितिबन्धस्थान को घटा देने से जो 'स्थितिबन्धस्थान' शेष रहें वे 'स्थितिबन्धस्थानविशेष' कहलाते हैं और उनमें एक जोड़ देने से स्थितिबन्धस्थानों की संख्या आ जाती है। अथवा जघन्यस्थितिबन्धस्थान के अतिरिक्त अन्य स्थितिबन्धस्थानविशेष हैं, क्योंकि वे जघन्यस्थितिबन्धस्थान से

विशेष हैं (अधिक हैं)। उन स्थितिबन्धस्थानविशेषों में जघन्यस्थितिबन्धस्थान मिला देने से (जघन्य) स्थिति-बन्धस्थानों की संख्या आ जाती है। जैसे ४ समय तो जघन्यस्थितिबन्धस्थान है और १० समय उत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्थान है। १० में से ४ घटा देने पर छह शेष रहते हैं। छह स्थितिबन्धस्थानविशेषों की संख्या है, किन्तु स्थिति-बन्धस्थान चारसमय से दससमय तक सात हैं जो 'स्थितिबन्ध स्थानविशेष' से एक अधिक है।

—पत्राचार/ब. प्र. स., पटना

स्थितिबन्ध में आबाधा–विषयक नियम

शंका—कर्मस्थिति बंध में आबाधाकाल का क्या नियम है ?

समाधान—एककोड़ाकोड़ीसागरोपम कर्मस्थितिबंध का आबाधाकाल सौवर्ष होता है। एक कोड़ाकोड़ी-सागरोपम से अधिक कर्मस्थितिबंध होनेपर त्रैराशिक क्रम से उन-उन स्थितिबंधों की आबाधा प्राप्त हो जाती है। कहा भी है—

"सागरोवमकोडाकोडीए वाससदमाबाधा होदि, तं तेरासियकमेणागद।" (धवल पु० ६ पृ० १७१)

एककोड़ाकोड़ीसागरोपम से कम कर्मस्थितिबंध होने पर आबाधाकाल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त हो जाता। यदि वहाँ पर त्रैराशिकक्रम लगाया जाय तो क्षपकश्रेणी में होनेवाले अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थितिबन्धों की आबाधा के अभाव का प्रसंग आ जायगा। कहा भी है—

"सग–सगजादिपडिबद्धट्ठिदिबंधेसु आबाधासु च एसो तेरासियणियमो, ण अण्णत्थ, खवगसेडीए अंतोमुहुत्त-ट्ठिदिबंधाणमाबाधाभावप्पसंगादो। तम्हा सगसगुक्कस्सट्ठिदिबंधेसु।

सग–सगुक्कस्साबाधाहि ओवट्टिदेसु आबाधाकंडयाणि आगच्छंति त्ति घेत्तव्वं। तदो एत्थ अंतोमुहुत्ताबाधाए वि संतीए अंतो कोड़ाकोड़ी ट्ठिदिबंधो होदि त्ति।"

अर्थ—अपनी–अपनी जाति से प्रतिबद्ध स्थितिबन्धों में और आबाधाओं में यह त्रैराशिक का नियम लागू होता है, अन्यत्र नहीं, अन्यथा क्षपकश्रेणी में होनेवाले अन्तर्मुहूर्तप्रमित स्थितिबन्धों की आबाधा के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिये अपने–अपने उत्कृष्ट स्थिति बन्ध को अपनी–अपनी उत्कृष्टआबाधाओं से अपवर्तन करने पर आबाधाकांडक आ जाते हैं, ऐसा नियम ग्रहण करना चाहिये। अतएव यह सिद्ध हुआ कि अन्तर्मुहूर्तमात्र आबाधा के होने पर भी स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ीसागरोपमप्रमाण होता है।

—जै. ग. 30-12-71/VI-VII/ टो. ला. मित्तल

तिर्यंचगति आदिक का उत्कृष्ट बन्धकाल तीनहजार वर्ष है

शंका—औदारिककाययोगमें तिर्यंचगतित्रिक का उत्कृष्टबंधकाल तीनहजारवर्ष कैसे सम्भव है ?

समाधान—एकेन्द्रियस्थावरपर्याप्त जीवोंके आयुपर्यंत एक औदारिककाययोग ही होता है, क्योंकि उनके वचन और मन का अभाव है। तैजस (अग्नि) कायिक और वायुकायिकएकेन्द्रियजीवों के तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्या-

नुपूर्वी और नीचगोत्र का ही निरन्तर बंध होता रहता है, क्योंकि उनके अन्यगति व उच्चगोत्र के बंध का अभाव है। वायुकायिक की उत्कृष्टआयु तीनहजारवर्ष की है। अतः वायुकायिक की अपेक्षा औदारिककाययोग में तिर्यंचगतित्रिक का उत्कृष्टबंधकाल तीनहजारवर्ष है।

"तेउकाइय-वाउकाइय-बादरसुहुम पज्जत्तापज्जत्ताणं सो चेव भंगो, णवरि विसेसो मणुस्साउमणुसगइ-मणुसगईपाओग्गाणुपुव्वी-उच्चागोदं णत्थि ॥ १३८ ॥ तिरिक्खगई-तिरिक्खगईपाओग्गाणुपुव्वीणीचागोदाणं सांतर-णिरंतरो बंधो, सव्वेइंदिएसु सांतरबंधाणमेदासितेउ-वाउकाइएसु णिरंतरबंधुवलंभादो।"

(धवल पु० ८ पृ० १९९ व १६१)

तेजकायिक और वायुकायिक जीवों में मनुष्यगति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी व उच्चगोत्र का बंध नहीं होता है इसलिये उनमें तिर्यग्गति, तिर्यंगतिप्रायोग्यानुपूर्वी और नीचगोत्र का निरंतर बंध पाया जाता है।

"णरदुग-णराउ-उच्चूण तेउवाउइगिवियपयडीओ। मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्व्यद्वय-मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रैर्विना एकेन्द्रियोक्तप्रकृतय १०९ तेजस्काये वायुकाये च मिथ्यादृष्टौ १०५ बंधयोग्याः।" (प्रा. पं. सं. पृ० २३१)

एकेन्द्रिय जीवों के नरकगति व देवगति आदि से रहित १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। उनमें से मनुष्यगति, मनुष्यागत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु और उच्चगोत्र इनके कम करने से १०५ प्रकृतियाँ तैजसकायिक व वायुकायिक जीव बाँधते हैं।

"वायुकायिकानां त्रीणि वर्षसहस्राणि।" वायुकायिक जीवों की तीनहजारवर्ष की उत्कृष्ट आयु होती है।

—जै. ग. 1-4-76/VIII/ र. ला. जैन

सर्वबन्ध तथा नोसर्व बन्ध का अर्थ

शंका—मोहनीयकर्म तथा नामकर्म में दर्शनावरण के समान सर्वप्रकृतियों के बन्ध करनेवाले के सर्वबन्ध और कुछ न्यून प्रकृतियों के बन्ध करनेवाले नोसर्वबन्ध होता है, ऐसा महाबन्ध पुस्तक १ में लिखा है? मोहनीय की २६ प्रकृतियों का और नामकर्म की ९३ प्रकृतियों का कभी भी किसी भी जीव के बन्ध नहीं होता है, तो सर्वबन्ध किस प्रकार लागू हुआ?

समाधान—मोहनीयकर्म की यद्यपि २६ प्रकृतियाँ हैं, किन्तु उनमें उत्कृष्टप्रकृतिबंधस्थान २२ प्रकृति वाला है। कहा भी है—

बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव नव पंच।
चउ-तिय-दुर्ग च एयं बन्धट्ठाणाणि मोहस्स ॥२५॥ (प्रा. पं. सं. पृ. ३१५)

मोहनीयकर्म के दश बन्धस्थान हैं,—२२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३, २ और १ प्रकृतिक। २२ प्रकृतिक बंधस्थान सर्वबन्ध है और शेष नोसर्वबंध है।

नामकर्म की यद्यपि ९३ प्रकृतियाँ हैं तथापि उनमें उत्कृष्टप्रकृतिबन्धस्थान ३१ प्रकृतिवाला है।

तेवीसं पणुवीसं छव्वीसं अट्ठावीसमुगुतीसं।
तीसेक्कतीसमेगं बंधट्ठाणाणि णामस्स ॥ ५२ ॥ (प्रा. पं. सं. पृ ३३५)

नामकर्म के आठ बंधस्थान हैं—३१, ३०, २९, २८, २६, २५, २३ और एक प्रकृतिक। इनमें ३१ प्रकृतिकबन्ध नामकर्म का सर्वबन्ध है और शेष नोसर्वबन्ध है।

—जै. ग. 1-4-76/VIII/ र. ला. जैन

ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ

शंका—प्राकृतपंचसंग्रह पृष्ठ २८९ पर सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान में १७ प्रकृतियों का ध्रुवबन्ध व अध्रुवबन्ध कहा है। दसवेंगुणस्थानवाला जीव भव्य ही होता है। भव्य के ध्रुवबन्ध होता नहीं है। मात्र अभव्य के होता है (देखो धवल पु० ८ पृ० २१) फिर दसवें गुणस्थानवाले के ध्रुवबन्ध कैसे संभव है ?

समाधान—धवल पु० ८ में ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्ध की जो विवक्षा है वह विवक्षा पंचसंग्रहग्रंथ पृ० २८९ पर नहीं है। पंचसंग्रह पृ० ४९ गाथा ९ में ४७ ध्रुवबन्धीप्रकृतियों का नाम उल्लेख है उनमें से ज्ञानावरण की ५ प्रकृतियाँ, दर्शनावरण की ४ प्रकृतियाँ और अंतराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ ये ध्रुव बन्धी प्रकृतियाँ दसवेंगुणस्थान में बन्धती हैं अतः इन १४ प्रकृतियों की अपेक्षा ध्रुवबन्ध कहा है, क्योंकि दसवेंगुणस्थान तक इन १४ प्रकृतियों का निरन्तर बंध होता रहता है।

आवरण विग्घ सव्वे कसाय मिच्छत्त णिमिण वण्णचदुं।
भयणिदाऽगुरु तेयाकम्मुवघायं धुवाउ सगदालं ॥ ९ ॥

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, अंतराय ५, कषाय १६, मिथ्यात्व १, निर्माण १, वर्णचतुष्क ४, भय १, जुगुप्सा १, अगुरुलघु १, तैजसशरीर १, कार्मणशरीर १, उपघात १, ये सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि बन्धयोग्य गुणस्थानों में इसका निरन्तर बन्ध होता है।

—जै. ग.………/……/……

अनुभाग बन्ध मूल व उत्तर प्रकृतियों में होता है

शंका—अनुभागबन्ध का लक्षण क्या है ? अनुभागबन्ध क्या मूलप्रकृतियों में ही होता है या उत्तरप्रकृतियों में भी होता है ?

समाधान—कर्मों के अपने कार्य उत्पन्न करने की शक्ति को अथवा फलदानशक्ति को अनुभाग कहते हैं। यह अनुभागबंध मूलप्रकृतियों में भी होता है और उत्तरकर्मप्रकृतियों में भी होता है।

"को अणुभागो ? कम्माणं सगकज्ज करणसत्ती अणुभागो णाम।" (जयधवल पु० ५ पृ० २)

"अणुभागो णाम कम्माणं सगकज्जुप्पायण सत्ती।" (जयधवल पु० ९ पृ० २)

अर्थ—कर्मों की अपने कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति का नाम अनुभाग है।

"पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु।" (गो० क० गाथा ६)

अर्थ—पुद्गलपिंडरूप द्रव्यकर्म में फल देने की जो शक्ति है वह भावकर्म अर्थात् अनुभाग है।

"कम्मदव्वंसावो णाणावरणादिदव्वकम्माणं अण्णाणादिसमुप्पायण सत्ती।" (धवल पु० १२ पृ० २)

अर्थ—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों की अज्ञानादि को उत्पन्न करनेरूप शक्ति है वह कर्मद्रव्य भाव अर्थात् द्रव्यकर्म का अनुभाग कहा जाता है।

—जै. ग. 3-12-70/X/ टो. ला. मित्तल

उदय

चोर को ताले खुले मिलना आदि पुण्योदय से संभव है, पर वह पुण्य पापानुबंधी पुण्य है

शंका—कसाई को छुरी मिलना, चोर को ताले खुले मिलना, वेश्यागामी को वेश्या मिलना, शराबी को शराब मिलना पाप का फल है कि पुण्य का? इसी प्रकार परिग्रह की सामग्री धन संपदा, राज्य वैभव और अधिक स्त्रियों का होना पाप का फल है कि पुण्य का? जब चारों व्रतोंकी सामग्री पाप का फल है तो परिग्रह भी (पांचवां भी) पाप का ही फल होना चाहिये।

समाधान—कसाई को छुरी मिलना, चोर को ताला खुला मिलना, वेश्यागामी को वेश्या का मिलना, शराबी को शराब मिलने से सुख का अनुभव होता है अतः इन सामग्रियों के मिलने में सातावेदनीय का उदय व अन्तरायकर्म का क्षयोपशम कारण है। कहा भी है 'दुःख उपशमन के कारणभूत सुद्रव्यों के सम्पादन में सातावेदनीय-कर्म का व्यापार होता है।' (ष० खं० पु० ६ पृष्ठ ३६)। दुःख के प्रतिकार करने में कारणभूत सामग्री के मिलानेवाला और दुःख के उत्पादक कर्मद्रव्य की शक्ति का विनाश करनेवाला कर्मसातावेदनीय कहलाता है (ष० खं० पु० १३ पृ० ३५७)। 'दुःखोपशान्ति के कारणभूत द्रव्यादि की प्राप्ति होना, इसे सुख कहा जाता है। उनमें वेद-नीयकर्म निबद्ध है, क्योंकि वह उनकी उत्पत्ति का कारण है। (ष० खं० पु० १५ पृष्ठ ६)। यह कथन दैव की मुख्यता से है, किन्तु पुरुषार्थ की मुख्यता से इससे भिन्न कथन है वह भी विचारणीय है। यह पापानुबंधी पुण्य कर्म है, क्योंकि जिसके उदय होने से जीव की प्रवृत्ति पापकर्म में हो उसे पापानुबंधी पुण्य कर्म कहते हैं।

परिग्रह की सामग्री, धन, संपदा, राज्यवैभव और अधिक स्त्रियों का होना यदि दुःखोत्पत्ति के कारण हैं तो उनके मिलने में असातावेदनीय को भी और यदि उनसे सुखोत्पत्ति होती है तो उनके मिलने में सातावेदनीय को भी कारण कह सकते हैं, किन्तु प्रत्येक सामग्री के मिलने में सातावेदनीय या असातावेदनीय का उदय निमित्त कारण हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि सुख और दुःख का वेदन कराना (मोहनीय की सहायता से) वेदनीयकर्म का कार्य है। पुरुषार्थ द्वारा भी सामग्री की प्राप्ति देखी जाती है। एक ही समय में एक ही सामग्री एक को दुःख का अनुभव कराने में कारण है और दूसरे को सुख का अनुभव कराने में कारण है। एक ही जीव को

एक ही सामग्री से कभी दुःख का अनुभव होता है और कभी सुख का अनुभव होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साता के उदय में सुख वेदन में जो सामग्री आश्रय पड़ रही थी, वही सामग्री असाता के उदय होने पर दुःख वेदन करने में आश्रय पड़ गई। बाह्य सामग्री के मिलने में पुण्य या पाप कर्मोदय निमित्त होना ही चाहिये ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। इस विषय में अनेकान्त द्वारा विशेष जानकर विचार करना चाहिये।

—जै. सं. 9-1-58/VI/ रा. दा. कैराना

कर्मोदय के लिए द्रव्य क्षेत्रादि निमित्त आवश्यक होते हैं

शंका—जिस कर्म का अबाधा काल समाप्त हो गया उस कर्म के निषेक क्रम-क्रम से उदय में आते रहते हैं और अपना फल देकर निर्जरा को प्राप्त होते रहते हैं उस कर्मोदय के लिये बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-कालआदि निमित्तों की क्या आवश्यकता ?

समाधान—कार्य के लिए अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणों की आवश्यकता होती है। कर्मोदय भी कार्य है अतः कर्मोदय के लिये भी बाह्य द्रव्य, क्षेत्रआदि की आवश्यकता है क. पा. सुत्त गाथा ५९ के उत्तरार्ध में कहा है—**'खेत्त-भवकालपोग्गल—ट्ठिदिविवागोदयखयदु।'** इसकी विभाषा करते हुए **चूर्णि सूत्रकार चूर्णिसूत्र २२०** में लिखते हैं—**'कम्मोदयो खेत्त–भवकालपोग्गल—ट्ठिदिविवागोदयक्खओ भवदि।'** अर्थात्—'क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलद्रव्य का आश्रय लेकर जो स्थितिविपाकरूप उदय होता है, उसे क्षय कहते हैं।' 'वह कर्मोदय क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलद्रव्य के आश्रय से स्थिति के विपाकरूप होता है, इसी को उदय या क्षय कहते हैं।'

'क्षेत्र' पद से नरकादि क्षेत्र का, 'भव' पद से जीवों के एकेन्द्रियादि भवों का, 'काल' पद से शिशिर-वसन्त आदि काल का अथवा बाल-यौवन-वार्धक्य आदि काल-जनित पर्याय का और पुद्गल पद से गंध ताम्बूल वस्त्र आभरण आदि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों का ग्रहण होता है। सारांश यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव आदि का निमित्त पाकर कर्मों का उदय और उदीरणारूप फल–विपाक होता है।

गोम्मटसारकर्मकांड में कर्मों का नोकर्मद्रव्य का कथन करते हुए गाथा ७२ में कहा है—**'पाँच निद्राओं का नोकर्म, भैंस का दही, लहसन इत्यादिक निद्रा की अधिकता करने वाली वस्तुएं हैं।'** अर्थात् भैंस का दही आदि खाने से निद्रा का विपाकोदय हो जाता है।

सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र ३६ की टीका में विपाक–विचय धर्मध्यान का कथन करते हुए लिखा है **'कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः।'** अर्थात्–ज्ञानावरणादिकर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव निमित्तक फलके अनुभव के प्रति उपयोग का होना विपाकविचय धर्मध्यान है। सन् १९५५ ई० में श्री पं० **फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री** इसके विशेषार्थ में इस प्रकार लिखते हैं 'मान लो एक व्यक्ति हँस खेल रहा है, वह अपने बाल-बच्चों के साथ गप्पगोष्ठी में तल्लीन है। इतने में अकस्मात् *मकान की छत टूटती है और वह उससे घायल होकर दुःख का वेदन करने लगता है तो यहाँ उसके दुःख वेदन के* कारणभूत असातावेदनीय के उदय और उदीरणा में टूटकर गिरने वाली छत का संयोग निमित्त है। टूटकर गिरनेवाली छत के निमित्त से उस व्यक्ति के असातावेदनीय की उदय–उदीरणा हुई और असातावेदनीय के उदय-उदीरणा से उस व्यक्ति को दुःख का अनुभवन हुआ।' यह उक्त कथन का तात्पर्य है। काल के निमित्तक होने का विचार दो प्रकार से किया जाता है एक तो प्रत्येककर्म का उदय-उदीरणा काल और दूसरे वह काल जिसके निमित्त से

बीच में ही कर्मों की उदय-उदीरणा बदल जाती है। आगम में अध्रुवोदयरूप कर्म के उदय-उदीरणाकाल का निर्देश किया है, उसके समाप्त होते ही विवक्षित कर्म के उदय-उदीरणा का अभाव होकर उसका स्थान दूसरे कर्म की उदय-उदीरणा ले लेती है। जैसे सामान्य से हास्य और रति का उत्कृष्ट उदय उदीरणाकाल छह-महीना है। इसके बाद इनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोक की उदय-उदीरणा होने लगती है, किन्तु छहमहीना के भीतर यदि हास्य और रति के विरुद्ध निमित्त मिलता है तो बीच में ही इनकी उदय-उदीरणा बदल जाती है। यह कर्म का उदय-उदीरणाकाल है। अब एक ऐसा जीव लो जो निर्भय होकर देशान्तर को जा रहा है, किंतु, किसी दिन मार्ग में ही ऐसे जंगल में रात्रि हो जाती है जहाँ हिंस्र जन्तुओं का प्राबल्य है और विश्राम करने के लिये कोई निरापदस्थान नहीं है। यदि दिन होता तो उसे रंचमात्र भी भय न होता, किन्तु रात्रि होने से वह भयभीत होता है इससे उसके असाता, अरति, शोक और भयकर्म उदय-उदीरणारूप होने लगता है। यह कालनिमित्तक उदय-उदीरणा है।

साता और असाता दोनों का अबाधाकाल समाप्त हो जाने से एक साथ दोनों ही प्रकृतियों के निषेक उदय होने के योग्य होते हैं। किन्तु इन दोनों प्रकृतियों में से एक का स्वमुख उदय (फलानुभवन) होगा और दूसरी प्रकृति का परमुख उदय होगा। इन दोनों प्रकृतियों में से जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव होंगे उसी का फलानुभवनरूप स्वमुख उदय होगा और दूसरीप्रकृति का स्तिवुकसंक्रमण के द्वारा परमुख उदय होगा।

—जै. ग. 21-5-64/IX, XI/ सुरेशचन्द

अत्यन्त भिन्न नोकर्म के आश्रित कर्मोदय है

शंका—तीर्थंकर की दिव्यध्वनि गणधरादि के बिना नहीं खिरती ऐसा आगमवचन है तो फिर भगवान की वाणी तथा वचनवर्गणा का उदय भी गणधर के आश्रित ही रहा। अत्यन्त भिन्न नोकर्म के आश्रित द्रव्य-कर्म कैसे है ?

समाधान—दिव्यध्वनि का उपादान कारण भाषावर्गणा (शब्दवर्गणा) हैं जो सकल लोक में भरी हुई हैं, किन्तु जहाँ-जहाँ (ओष्ठयुगलव्यापार, घंटाभिघात मेघ आदि) बहिरंग कारण मिल जाते हैं वहाँ-वहाँ की भाषावर्गणा शब्दरूप परिणमती है सर्वत्र नहीं परिणमती (पंचास्तिकाय गाथा ७९ की उभय टीकाएँ)। दिव्यध्वनि में भाषावर्गणा तो उपादान कारण है, केवलज्ञान (ध० खं० पु० १, पृ० ३६८), वचनयोग, भव्यजीवों का भाग्य, गणधर समवसरणरूपी क्षेत्र, संध्याकाल आदि अनेक निमित्त-कारण हैं। उपादान-कारण एक होता है और निमित्त-कारण अनेक होते हैं। जिससमय तक उपादानकारण और समस्त निमित्त-कारण न मिल जावें उससमय तक कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भाव अनुकूल होते हैं तो द्रव्यकर्म अपने स्वरूप से उदय में आता है अन्यथा पररूप से उदय में आता है। कहा भी है—

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव आदि का आश्रय लेकर उदय और उदीरणारूप फलविपाक होता है। यहाँ 'क्षेत्र' पद से नरकादि क्षेत्र का, 'भव' पद से जीवों के एकेन्द्रियादिभवों का, 'काल' पद से शिशिर-बसन्त आदि काल का, अथवा बाल, यौवन, वार्धक्य आदि कालजनित पर्यायों का; और 'पुद्गलद्रव्य' पद से गंध-ताम्बूल-वस्त्र-आभरण आदि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए (क० पा० सुत्त पृ० ४६५)। इस आगमप्रमाण से सिद्ध है कि अत्यन्त भिन्ननोकर्म के आश्रित द्रव्यकर्मोदय है।

—जै. ग. 27-3-58/VI/ कपूरीदेवी

(१) किन्हीं कर्मोदय के निमित्त बाह्य सामग्री तथा अन्य जीवों में भी परिणमन होता है
(२) कर्म का कार्य निमित्त जुटाना है भी और नहीं भी

शंका—क्या बाहरी सामग्री पर या किसी दूसरे प्राणी पर हमारे कर्म का असर है, यदि है तो किस कदर? मान लीजिये मेरे तीव्र क्रोधकषाय का उदय है और क्रोध करने की सामग्री नहीं मिली और मैंने अपने पुरुषार्थ से क्रोध के बल गाली दे दी। दूसरा उसका बुरा नहीं मानता तो मेरा कर्म दूसरे पर अन्य क्या असर कर सकता है।

शंका—क्या कर्म का काम निमित्त जुटाना भी है? ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में आत्मा और शरीर सम्बन्धी ऐसे निमित्त तो मिल सकते हैं जैसे इन्द्रिय का न मिलना, बल का न होना, उपयोग का न लगना। क्या इनके अतिरिक्त अन्य निमित्त भी ज्ञानावरणकर्म के उदय से मिलते हैं?

समाधान—हमारे कर्म का बाहरी सामग्री व दूसरे प्राणी पर असर पड़ता भी है और नहीं भी, एकान्त नियम नहीं है। हमारा कर्मोदय निमित्तमात्र होता है जैसे पं० दौलतरामजी ने कहा भी है—'भविभागन वचजोगे वसाय, तुम ध्वनि ह्वै सुनि विभ्रम नसाय।' यहाँ भव्यजीवों का भाग्य ध्वनि के खिरने में निमित्त हुआ और वचनयोग से निकली वचनवर्गणा, भव्य जीवों का भ्रम दूर करने में कारण हुई। चक्रवर्ती के तथा गणधर की शंका के निमित्त से भी भगवान की वाणी खिर जाती है। इस प्रकार अनेक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं। मनुष्य स्वयं खोटा (बुरा) या अच्छा अपने कर्मोदय व विचारों से होता है, किन्तु उसकी संगति का दूसरों पर भी असर पड़ता है। कहा भी है—

"जबलौं नहीं शिवलहूं तबलौं देहु यह धन पावना।
सत्संग शुद्धाचरण श्रुताभ्यास आत्म भावना॥"

सर्वप्रथम सत्संगति पाने की भावना की है।

उत्तरपुराण पृष्ठ २, सर्ग ४८, श्लोक १८–२० में लिखा है 'तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृति के प्रभाव से राजा जितशत्रु के घर में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वृष्टि की।' जब तीर्थंकर गर्भ में आते हैं उस निमित्त से माता १६ स्वप्न देखती है। तीर्थंकर के जन्म के प्रभाव से देवों के दुन्दुभि बाजे बिना बजाये बजने लगते हैं, इन्द्र तथा देवों के आसन कम्पित होने लगते हैं, कल्पवासी देवों के घरों में घंटा, ज्योतिषी देवों के घरों में सिंहनाद, व्यन्तर देवों के घरों में भेरी और भवनवासी देवों के घरों में शंखों के शब्द अपने आप होने लगते हैं (महापुराण पर्व १३)। तपकल्याणक के समय देवों के आसन कम्पायमान होने लगते हैं। (महापुराण पर्व १७)। जिसप्रकार जन्म के समय कल्पवासी आदि देवों के घरों में घंटा आदि के शब्द अपने आप होने लगते हैं उसी प्रकार केवलज्ञान के समय भी देवों के घरों में अपने आप घंटा आदि के शब्द होने लगते हैं (महापुराण पर्व २२)। समवशरण में जीव जातिविरोधी बैर को तजदेते हैं। षट्ऋतु के फल फूल आजाते हैं। इसप्रकार बाह्य सामग्री और दूसरे जीवों पर तीर्थंकरप्रकृति कर्म का असर (प्रभाव) पड़ता है।

प्रद्युम्नचरित्र में यह कथन है कि जो दुःखदायक सामग्री थी वह ही सामग्री प्रद्युम्न के पुण्योदय से सुखोत्पन्न करनेवाली होगई। सास ने घड़े में सांप डाला, किन्तु वह सांप पुण्योदय से फूलमाला बन गई। इस प्रकार के अनेक कथन प्रथमानुयोग में मिलेंगे।

इन सब कथनों से यह स्पष्ट है कि तीर्थंकर नामकर्म आदि कर्मों के निमित्त से बाह्य सामग्री व अन्य जीवों में भी परिणमन होता है किंतु उस रूप परिणमन का उपादान कारण बाह्य सामग्री व अन्य जीव स्वयं हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध चला आ रहा है।

गाली बाह्य निमित्त है अन्तरंग निमित्त तज्जाति क्रोधकषाय कर्म का उदय है। उपादान-कारण संसारी-जीव है, इन तीनों निमित्तों के मिलने पर दूसरा जीव, जिसको गाली दी गई है बुरा मान सकता है। मात्र बाह्य-निमित्त अकिंचित्कर है। अन्य दो निमित्तों में से किसी एक के न होने पर गाली का असर नहीं हुआ। असर पड़ना अवश्यंभावी नहीं।

कर्म का कार्य निमित्त जुटाना है भी और नहीं भी, कोई एकान्त नियम नहीं है। ष० खं० पु० ६ व १३ में तथा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि सातावेदनीय-कर्मोदय से बाह्यसामग्री मिलती है।

प्रमाण अर्थात् ज्ञान दो प्रकार का है प्रत्यक्ष और परोक्ष। उपात्त और अनुपात्त परपदार्थों द्वारा प्रवर्तें वह परोक्ष है (समयसार गाथा १३ टीका)। प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पदार्थ हैं। 'प्रकाश व उपदेश आदि का न मिलना' इसमें कर्मोदय भी निमित्त है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जावे तो ज्ञानावरण कर्मोदय भी एक निमित्त-कारण है।

—जै. सं. 10-4-58/VI/ रा. दा. कैराना

छठे गुणस्थान तक असाता का उदय

शंका—छठे गुणस्थान के बाद असातावेदनीयकर्मकी क्या अवस्था होती है?

समाधान—छठे गुणस्थान में असातावेदनीयकर्म की उदीरणाव्युच्छित्ति तथा बंधव्युच्छित्ति हो जाती है (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा २७९-२८१, ९८)। अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में असातावेदनीयकर्म का उदय रहता है। अपकर्षण व संक्रमण भी होता है, किन्तु उत्कर्षण नहीं होता, क्योंकि बंध का अभाव है।

—जै. सं. 4-12-58/V/ रा. दा. कैराना

संहनन नामकर्म का कार्य—कीलक, अर्द्धनाराच व नाराच में अन्तर

शंका—कीलकसंहनन किसे कहते हैं? नाराच और अर्धनाराच में भी पूरी कीलें तथा आधी कीलें रहती हैं तब उनसे कीलक में क्या अन्तर है?

समाधान—कीलक संहनन बीच की हड्डी में दोनों तरफ चूल होती है जो हड्डियों के गड्ढों में फंस जाती है जैसे चूल के किवाड़ होते हैं। नाराच संहनन में बीच की हड्डी और दोनों तरफ की दोनों हड्डियों में आरपार कील होती है जैसे कबजे में आरमपार कील होती है। अर्धनाराच में आरमपार कील नहीं होती, किन्तु बीच में कील होती है।

—जै. ग. 13-5-68/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

एक ही भव में संहनन नहीं बदलता

शंका—भेदज्ञान पुस्तक के पृष्ठ ३६४ पर इस प्रकार लिखा है—'निगोद से निकला जीव मनुष्य हुआ, वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं था। परिणाम निर्मल करते ही वज्रवृषभनाराचरूप शरीर हो गया।' क्या परिणामों की निर्मलता से एक ही भव में संहनन स्वयमेव बदल जाता है ?

समाधान—'जिस मनुष्य या तिर्यंच के जन्म के समय वज्रवृषभनाराच संहनन न हो, किन्तु परिणामों के कारण बाद को वज्रवृषभनाराच संहनन हो जावे' ऐसा कथन दिगम्बर जैन आगम में देखने या सुनने में नहीं आया। किन्तु यह कथन पाया जाता है 'संहनन आदि शक्ति के अभाव से शुद्धात्मस्वरूप में स्थित होना असंभव है जिसके कारण उस भव में तो वह पुण्यबंध करता है और भवान्तर में मोक्ष जाता है।' (पंचास्तिकाय गाथा १७० तात्पर्य-वृत्ति टीका पृ० २४३ व गाथा १७१ तात्पर्यवृत्ति टीका पृ० २४४) इस आगम कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि उस ही भव में एक ही जीव के अन्य संहनन पलटकर वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता है।

—जै. सं. 16-10-58/VI/ स. म. जैन, सिरोंज

हमारे-आपके हुण्डकसंस्थान है

शंका—समचतुरस्रसंस्थान के अतिरिक्त अन्य पाँच-संस्थानों का जो स्वरूप आगम में कहा है वह हमारे और आपके नहीं पाया जाता है, हमारे और आपके तो समचतुरस्रसंस्थान होना चाहिये ?

समाधान—जिसके अंगोपाङ्गों की लम्बाई, चौड़ाई सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार ठीक-ठीक बनी हो वह समचतुरस्रसंस्थान है। यदि कहीं पर एक बाल बराबर भी अन्तर होगया तो वह समचतुरस्रसंस्थान नहीं रहता, किन्तु अन्य पाँच सस्थानों में से किसी एक संस्थानरूप हो जाता है। स्थूलदृष्टि से तो हमारे और आपके शरीर की लम्बाई-चौड़ाई ठीक-ठीक ज्ञात होती है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखा जावे तो ठीक नहीं है। इसलिये हमारे और आपके प्रायः हुंडकसंस्थान है।

—जै. ग. 25-7-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

पंचमकाल में उदययोग्य संस्थान

शंका—पंचमकाल में मनुष्यों के कौन से संस्थान का उदय होता है ?

समाधान—पंचमकाल में मनुष्यों के प्राय हुंडक संस्थान का उदय होता है।

—जै. ग. 10-1-66/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

तीर्थंकरप्रकृति का उदय गर्भ से नहीं होता। (उनके जन्मसमय में नारकी भी वस्तुतः सुखी होते हैं।)

शंका—तीर्थंकरप्रकृति का उदय १३ वें गुणस्थान में होता है या गर्भ में आने से ? तीर्थंकर के जन्म के समय नरक में क्षणभर के लिए सुख होता है ऐसा व्यवहार से है या निश्चय से ?

समाधान—तीर्थंकरप्रकृति का उदय १३ वें गुणस्थान में होता है, किन्तु तीर्थंकरप्रकृति के साथ अन्य पुण्य प्रकृतियों का भी बंध होता है जिनके कारण गर्भादि कल्याणक होते हैं। कहा भी है—जिसके उदय से जीव पाँच महाकल्याणकों को प्राप्त करके तीर्थ अर्थात् बारह अङ्गों की रचना करता है वह तीर्थंकर नामकर्म है। (षट्खंडागम धवलसिद्धांतग्रंथ पुस्तक १३, पृष्ठ ३६६)। तीर्थंकर के जन्म के समय नरक में क्षणभर के लिये सुख होता है वह कथन वास्तविक है। इन्द्रादि अपनी भक्तिवश गर्भादि कल्याणक मनाते हैं।

—जै. सं. 19-3-59/V/ पं. ला. जैन, कुचामन सिटी

तीर्थंकरप्रकृति के उदय के पूर्व भी अतिशय क्यों ?

शंका—आपने बताया कि तीर्थंकरप्रकृति का उदय १३ वें गुणस्थान में ही होता है, इससे पूर्व नहीं। इस पर हमारी प्रतिशंका यह है कि तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप कल्याणक, जन्म के १० अतिशय, तीन ज्ञान की प्राप्ति, नरक में भी तीर्थंकर के जीव को मृत्यु के ६ मास पूर्व से रियायत, स्वयंबुद्धता आदि अलौकिक बातें किस प्रकृति के उदय से होती हैं ? जन्मते ही वे तीर्थंकर क्यों कहे जाते हैं ? इन सबका कारण तीर्थंकरप्रकृति के आबाधाकाल की समाप्ति मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—तीर्थंकरप्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में ही होता है, उससे पूर्व तीर्थंकरप्रकृति का परमुख उदय होता है अर्थात् दूसरी प्रकृति का रूप संक्रमण होकर उदय होता है। तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध के समय अन्य पुण्य-प्रकृतियाँ भी बँधती हैं जिनके उदय में गर्भ, जन्म व तपकल्याणक तथा जन्म के दस अतिशय आदि होते हैं। द्रव्यनिक्षेप व नैगमनय से जन्मते ही तीर्थंकर कहे जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान से पूर्व होनेवाली सब अलौकिक बातों का कारण तीर्थंकरप्रकृति का उदय नहीं माना जा सकता, क्योंकि आगम से विरोध आता है।

—जै. सं. 21-6-56/VI/ र. ला. जैन, केकड़ी

कर्म उदयावस्था में एवं इससे पूर्व भी आत्मा को प्रभावित करता है

शंका—रागद्वेषादि तथा हिंसादि पाप किये जाते समय भी आत्मा को दुःख का वेदन कराते हैं या उनके द्वारा बाँधे गये कर्म के उदय में ही दुःख का वेदन होता ? यदि कहा जाय रागद्वेष आदि पूर्व कर्मोदय के फलस्वरूप हैं तो उन उदयागत भावों के अतिरिक्त जो भाव नये कर्मों के आस्रव में कारण हैं, उसके लिये ही उपर्युक्त प्रश्न है ? समझना यह है कि कर्मबन्ध स्वयं भी आत्मा के लिये दुःखकारी है या कर्मोदय ही आत्मा को प्रभावित करता है ? यह प्रश्न तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ७ के सूत्र 'दुःखमेव वा' के सन्दर्भ में भी है।

समाधान—"अनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं" अर्थात् सुख का लक्षण अनाकुलता है। (प्रवचनसार पृ० ४४, ६१, १६१)। इससे विपरीत अर्थात् आकुलता दुःख का लक्षण है। दुःख का दूसरा लक्षण खेद है। परतन्त्रता तो दुःखरूप ही है।

राग-द्वेषभाव आकुलतारूप हैं अतः दुःखमय हैं। हिंसादिपाप करते समय आकुलता भी होती है, खेद भी होता है तथा कर्मबन्ध भी होता है जो जीव को परतन्त्र करते हैं। आकुलता, खेद और परतन्त्रता दुःखरूप होने से हिंसा आदि पाप करते समय दुःख होता है।

"जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि ।" (आप्त परीक्षा पृ० २४६)

अर्थ—जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं।

कर्मके आस्रव व बंध के कारणभूत जो भी आत्म–परिणाम हैं वे विभावभाव हैं और विभावभाव बिना कर्मोदय के नहीं हो सकते हैं। अतः नवीनबंध के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पूर्वोपार्जित कर्मोदय से ही होते हैं, अन्यथा नहीं हो सकते। यदि मिथ्यात्वआदि भाव–कर्मोदय बिना हो जायें तो ये जीव के स्वभावभाव हो जायेंगे, किन्तु ये स्वभावभाव नहीं हैं, क्योंकि कर्मों के क्षय होने पर इनका भी अभाव हो जाता है।

पौद्गलिककर्मबंध के प्रभाव से अमूर्तिक आत्मा भी मूर्तिक हो जाता है।

अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः।
अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥१७॥
बन्धं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुप्रवेशतः।
युगपद् द्रावितस्वर्ण रौप्यवज्जीवकर्मणोः ॥१८॥
तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।
न ह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१९॥ (तत्त्वार्थसार पंचमाधिकार)

अर्थ—कर्मों के साथ अनादिकालीन नित्यसम्बन्ध होने से आत्मा और कर्मों में एकत्व हो रहा है। इसी एकत्व के कारण अमूर्तिक-आत्मा भी मूर्तिक हो जाता है। जिसप्रकार एक साथ पिघलाये हुए सुवर्ण और चांदी का एक पिण्ड बनाये जाने पर परस्पर प्रदेशों के मिलने से दोनों में एक रूपता होती है उसी प्रकार बन्ध की अपेक्षा जीव और कर्मों के प्रदेशों के परस्पर मिलने से दोनों में एकरूपता होती है। आत्मा के मूर्तिक मानने में एक युक्ति यह भी है कि उसपर मदिरा का प्रभाव देखा जाता है, इसलिये आत्मा मूर्तिक है, क्योंकि मदिरा अमूर्तिक आकाश में मद को उत्पन्न नहीं करती।

जिस जीव के नरकायु का सत्त्व है वह अणुव्रत या महाव्रत धारण नहीं कर सकता है। (इससे यह सिद्ध होता है कि उदय व बन्ध (या सत्त्व) भी आत्मा को प्रभावित करता है।)

—जै. ग. 27-7-72/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

ध्रुवोदयी के नाम

शंका—१४८ कर्म प्रकृतियों में से कुल ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ कितनी हैं ? नाम व संख्या लिखें।

समाधान—पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, कार्मण, तैजसशरीर, वर्णादि ४, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर और निर्माण ये २६ ध्रुवउदयी प्रकृतियाँ हैं।

—पत्राचार 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

मिथ्यात्व ध्रुवोदयी नहीं है

शंका—मिथ्यात्व को ध्रुवोदयी क्यों नहीं माना, ध्रुवबंधी तो माना है, क्योंकि यह प्रकृति बंधव्युच्छित्ति तक बराबर निरन्तर बंध होने से ध्रुवबंधी कहलाती है वैसे ही उदयव्युच्छेद तक निरन्तर उदय आते रहने से इसे ध्रुवोदयी भी कहना चाहिए; पर मिथ्यात्व को ध्रुवोदयी नहीं कहा तो फिर इसे ४७ ध्रुवबंधी प्रकृतियों में भी नहीं कहना चाहिए या फिर ध्रुवोदयी भी कहा जाए ?

समाधान—जब तक बन्धव्युच्छित्ति नहीं होती तब तक निरन्तर बँधनेवाली प्रकृति ध्रुवबंधी है, किन्तु उदय में यह विवक्षा नहीं है। संसार (छद्मस्थ) अवस्था में जिसका निरन्तर उदय रहे वह ध्रुवउदयी प्रकृति है। आपके मतानुसार तो नित्यनिगोदियाजीव (गो० जी० गाथा १९७) के तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति स्थावरकाय नीचगोत्र का निरन्तर उदय होने से ये भी ध्रुव उदयी हो जावेंगी। यदि ये ध्रुवउदयी नहीं हैं तो मिथ्यात्व भी ध्रुवउदयी नहीं है।

—पत्र 22-6-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

(१) कर्म का स्वरूप, भेद, उपभेद, शक्ति, बलवत्ता, जीवस्वभावघातकत्व आदि
(२) घातिया कर्मों के उदयानुसार ही फल प्राप्ति

शंका—कर्म किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार का होता है ?

समाधान—जो जीव को परतंत्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं; अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं वे कर्म हैं, वे कर्म दो प्रकार के हैं—

१. द्रव्यकर्म २. भावकर्म। उनमें द्रव्यकर्म मूलप्रकृतियों के भेद से आठप्रकार का है—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. मोहनीय, ४. अंतराय, ५. वेदनीय, ६. आयु, ७. नाम, ८. गोत्र। उत्तरप्रकृतियों के भेद से एक सौ अड़तालीस प्रकार का है, तथा उत्तरोत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक प्रकार का है और वे सब पुद्गल परिणामात्मक हैं क्योंकि वे जीव की परतंत्रता के कारण हैं, जैसे निगड़ आदि।

यदि यह कहा जावे कि जीव की परतंत्रता के कारण क्रोधादिक हैं, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्रोधआदि जीव के परिणाम हैं, इसलिए वे परतंत्रतारूप हैं—परतंत्रता में कारण नहीं। जीव का क्रोधादि परिणाम स्वयं परतंत्रता है, परतंत्रता का कारण नहीं।

भावकर्म चैतन्य परिणामरूप हैं, क्योंकि क्रोधादिकर्मों के उदय से होनेवाले क्रोधादि आत्मपरिणाम यद्यपि औदयिक हैं तथापि वे कथंचित् आत्मा से अभिन्न हैं, इसलिये उनके चैतन्यरूपता का विरोध नहीं[१]। श्री समयसार में भी कहा है कि द्रव्यकर्म के द्वारा भावकर्म किये जाते हैं।

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादिहिं दव्वेहिं ॥२७८॥

---

१. आप्त परीक्षा कारिका ११४–११५ की टीका।

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होने से ललाई-आदिरूप से अपने आप परिणमता नहीं है, परन्तु अन्य रक्तादि द्रव्यों से वह रक्त (लाल) आदि किया जाता है, इसी प्रकार आत्मा शुद्ध होने से रागादिरूप अपने आप परिणमता नहीं, परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागी आदि किया जाता है।

इन आगम प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि द्रव्यकर्मों के द्वारा आत्मा परतंत्र किया जाता है और द्रव्यकर्मों के द्वारा ही आत्मा रागीद्वेषी किया जाता है अर्थात् क्रोधादि भावकर्म किये जाते हैं।

शंका—द्रव्यकर्म तो जड़ हैं उनमें आत्मा के ज्ञानादि गुणों को घातने की शक्ति नहीं होने से उनके द्वारा जीव परतंत्र कैसे किया जा सकता है ?

समाधान—द्रव्यकर्म पौद्गलिक होने से जड़ हैं। पुद्गलद्रव्य में भी अनन्तशक्ति है अतः जीवके केवलज्ञान-आदि स्वभाव पुद्गलद्रव्य के द्वारा विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, कहा भी है—

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गल दव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवल-णाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥ (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—पुद्गलद्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है, जिससे जीव का जो केवलज्ञान स्वभाव है वह भी विनष्ट हो जाता है। इसकी संस्कृत टीका में कहा है कि 'ऐसी शक्ति पुद्गलद्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में नहीं पाई जाती, अतः अपूर्व शक्ति कहा है। यह शक्ति जीव के अनन्तचतुष्टय स्वरूप का विनाश करती है, क्योंकि मोह और अज्ञान को उत्पन्न करना पुद्गल का स्वभाव है।'

श्री परमात्मप्रकाश में भी कहा है—

कम्मइं दिढ-घण-चिक्कणइं गुरुवइं वज्ज समाइं ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं ॥ ७८ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणआदि कर्म बलवान हैं, बहुत हैं, जिनका विनाश करना अशक्य है, चिकने हैं, भारी हैं और वज्र के समान अभेद्य हैं। वे ज्ञानादिगुण से चतुरजीव को खोटेमार्ग में पटकते हैं। इसकी संस्कृत टीका में भी कहा है—यह जीव एकसमय में लोकालोक के प्रकाशनेवाले केवलज्ञानआदि अनन्तगुणों से बुद्धिमान चतुर हैं तो भी इस जीव को वे संसार के कारण कर्म ज्ञानादिगुणों का आच्छादन करके अभेद रत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग से विपरीत खोटेमार्ग में डालते हैं।'

मूलाराधना में भी इसी प्रकार कहा है—

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे ।
सव्वबलाइं कम्म मलेदि हत्थीव णलिणिवणं ॥१६२१॥

अर्थात्—जगत में कर्म ही अतिशय बलवान है उससे दूसरा कोई भी बलवान नहीं, जैसे हाथी कमल वन का नाश करता है। वैसे ही यह बलवान कर्म सब कुछ नाश करता है।

शंका—क्या घातिया कर्मोदय अनुसार ही उसका फल होता है या हीन-अधिक भी होता है या घातिया कर्मोदय तो होवे और उसका फल न भी होवे ?

समाधान—उदयका लक्षण इस प्रकार है—'अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ जो कर्मअवस्था वह उदय है[1]। अथवा द्रव्यादि निमित्त के वश से कर्मों के फल का प्राप्त होना उदय है[2]। अथवा कर्म का अनुभव 'उदय' है[3]। अथवा कर्मस्कंध फल देने के समय में 'उदय' संज्ञा को प्राप्त होते हैं[4]।' जब कर्म-फल का अनुभव ही उदय है तब यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता कि कर्म के उदय के अनुसार ही उसका फल होय है या हीनाधिक होय है।' घातियाकर्मों के उदय के अनुसार ही आत्मा के परिणाम होते हैं एक अंश भी हीनाधिक नहीं होते हैं अर्थात् कर्मोदय की डिग्री टु डिग्री (Degree To Degree) आत्मपरिणाम होय हैं। जैसे जितना जल में उष्णता होगी उतना ही तापमान में पारा चढ़ जायगा। दोनों में एक अंश का अंतर नहीं हो सकता। इसी प्रकार जितने फलदान परिमाण को लिए हुए घातियाकर्म उदय में आते हैं उतने परिमाणरूप आत्मा के परिणाम हो जाते हैं।

क्षपकश्रेणी के दसवें गुणस्थान में कृष्टिकरणआदि के द्वारा कृष की गई संज्वलनलोभप्रकृति अतिसूक्ष्मरूप से उदय में आती है और उससमय अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणआदि के द्वारा आत्मपरिणाम की विशुद्धता बहुत अधिक होती है, अर्थात् दसवें गुणस्थान में आत्मा की शक्ति प्रबल होती है और मोहनीयकर्मकी शक्ति अत्यन्त क्षीण होती है। फिर भी उस सूक्ष्मसंज्वलनलोभ कषाय के उदय के अनुसार (अनुरूप) आत्मपरिणाम भी सूक्ष्मलोभ-कषायरूप हो जाते हैं। जिसके कारण चौदह पाप और तीन पुण्य प्रकृतियों (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अंतराय ५, यशः कीर्ति, उच्चगोत्र, सातावेदनीय) का चारों प्रकार का (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश) बंध होता है। जब क्षपकश्रेणी गत दसवें गुणस्थानवाले जीव के परिणाम कर्मोदय के साथ डिग्री टू डिग्री होते हैं तब हम क्षुद्रप्राणियों के परिणाम तो अवश्य घातियाकर्मोदय के साथ डिग्री टु डिग्री होंगे। उसमें एक अंश भी हीन या अधिक नहीं हो सकता। कर्मोदय की यह विचित्र शक्ति है।

जैसा कर्म पूर्व में बाँधा था उस पूर्व बँधे कर्म के उदय के अनुरूप आत्मा के परिणाम होते हैं। कहा भी है—"काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की उत्पत्ति जामें होय है, ऐसा भाव संसार है। सो अनेक प्रकार है, जातें यामें सुख-दुःख आदि अनेक प्रकार होय हैं। जो यह विचित्ररूप संसार है सो कर्मबंध के अनुरूप होय है। जैसा कर्म पूर्व बांध्या था ताके उदय के अनुसार होय है।" (आप्तमीमांसा कारिका ९९, श्री पं० जयचन्दजी कृत अनुवाद)। इसीप्रकार पंचास्तिकाय की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है—"जीव वास्तव में मोहनीय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति के वश रंजित-उपयोगवाला होता हुआ, परद्रव्य में शुभ या अशुभ भावों को धारण करता है (गाथा १५६)। अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करके परिणति करने के कारण उपरोक्त उपयोगवाला होता है (गाथा १५५)। वास्तव में संसारी आत्मा अनादिकाल से मोहनीयकर्म के उदय का अनुसरण

---

१. 'यानि स्वफलसंपादनकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि। (स. सा. गाथा ५३ की आत्मख्याति टीका)।

२. द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः।' (स. सि. अ. २ सूत्र १)।

३. 'कर्मणामनुभवनमुदयः।' (प्राकृतपंचसंग्रह पृ. ६७६)।

४. 'ते च्चेय फलदाणसमए उदयववएसं पडिवज्जंति। (जयधवल १ पृ. २९१)।

करती हुई परिणति के कारण अशुद्ध है (गाथा १५०–१५१) वरांगचरित्र में भी इसी प्रकार कहा है—' जिस प्रकार कोई नट रङ्गस्थली को प्राप्त होकर नृत्य के अनुरूप नाना वेष धारण करता है, उसी प्रकार यह जीव भी संसाररूपी रङ्गस्थली में कर्मों के अनुरूप नाना पर्यायों को स्वीकार करता है।"

इन आगम प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि मोहनीयादि घातियाकर्मों का उदय जिस अनुभाग के साथ होता है उस अनुभाग के अनुरूप ही आत्मा के परिणाम अवश्य होते हैं। उसमें किंचित् भी हीन या अधिकता नहीं होती। यदि उदय की डिग्री टू डिग्री आत्मपरिणाम न माने जावें अर्थात् हीन या अधिकता मानी जावे तो उपर्युक्त आगम से विरोध आजावेगा। आगम अनुकूल नहीं मानने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

—जै. ग. 19-9-66/IX/ प्रेमचन्द

(१) प्रत्येक कर्म फल अवश्य देता है
(२) क्रोधोदय के समय मानादिक का परमुख उदय
(३) स्तिबुक संक्रमण के उदाहरण

शंका—जिस समय क्रोध का उदय होता है उस समय मान आदि कषाय रसोदय होकर खिरती हैं या प्रदेशोदय रूप। तथा भाववेद एक पर्याय में एक ही उदय होता है तब अन्य दो वेद भी क्या प्रदेशोदय होकर खिरते हैं ?

समाधान—कोई भी कर्म बिना फल दिये नहीं खिरता। कर्म का फल अपने रूप हो या पररूप हो। (ज. ध. पु० ३ पृ० २४५)। इस आगमानुसार किसी भी कर्मका मात्र प्रदेशोदय नहीं होता, किन्तु अनुभागोदय भी अवश्य होता है। जिससमय क्रोध का उदय है उससमय उदय में आनेवाले मान, माया, लोभ रूपकर्म (उस समय से) एक समय पूर्व ही स्तिबुकसंक्रमण द्वारा क्रोधरूप परिणम जाते हैं। अतः क्रोधोदय के समय में उदय आनेवाला मान, माया, लोभवाला कर्म भी क्रोधरूप संक्रमित हो चुकता है। इस प्रकार मान, माया, लोभ द्रव्यकर्म का अपनेरूप उदय न होकर क्रोधरूप उदय पाया जाता है।

जिस द्रव्यवेद का उदय होगा वैसा ही भाववेद होगा; अन्य दो द्रव्यवेदों का एक समय पूर्व स्तिबुकसंक्रमण द्वारा उदयवेदरूप संक्रमण हो जाता है और दोवेदरूप द्रव्यकर्म अपनेरूप फल न देकर उदयवेदरूप फल देकर खिर जाता है।

—जै. सं. 20-3-58/VI/ कपूरीदेवी

(१) बिना फल दिये कोई कर्म नहीं झरता
(२) "कर्म कटना" से अभिप्राय

शंका—जो कर्म किया जा चुका है उसका फल भोगना ही होगा। यह कहना कि 'कर्म कट सकता है' यह बात समझ में नहीं आती। कर्म कट कैसे सकता है ? यह बात दूसरी है कि अच्छे कर्म करेगा तो अच्छा फल मिलेगा, लेकिन जो कर चुके हैं उनको भरना तो अवश्य होगा ?

समाधान—जीव के परिणामोंका निमित्त पाकर, नानाप्रकार के अनुभाग व स्थिति को लेकर अनेककर्म प्रतिसमय जीवके साथ बँधते हैं। कहा भी है—'जीव परिणाम हेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।' (समयसार गाथा ८०)। चूंकि जीव के परिणाम का निमित्त पाकर कर्म बँधते हैं अतः जीव के परिणाम का निमित्त पाकर उन कर्मों का संक्रमण, स्थिति व अनुभाग अपकर्षण-उत्कर्षण व खंडन होता है। आत्मा के शुभ या शुद्धपरिणामों के निमित्त से जब पूर्वबँधे हुए कर्मों के स्थिति व अनुभाग का अपकर्षण व खंडन होकर स्थिति व अनुभाग अतिअल्प रह जाता है अथवा जब कर्म का सर्वसंक्रमण हो जाता है उससमय उस कर्म का स्वमुखउदय नहीं होता अथवा पूरा फल नहीं होता, कर्म की यह अवस्था 'कर्म का कटना' कहलाती है। यह बात सत्य है जो कर्म बँध गया, वह फल अवश्य देगा, किन्तु फल हीनाधिक हो सकता है अथवा कर्म स्वमुख फल न देकर परमुख फल दे सकता है। बिना फल दिये कोई भी कर्म निर्जरा को प्राप्त नहीं होता (कषायपाहुड-जयधवल पु० ३ पृ० २४५)।

—जै. सं. 9-10-58/VI/ क. से. जैन, मुरादाबाद

कर्म फल दिये बिना नष्ट नहीं होता

शंका—(अ) कर्म—शुभ अथवा अशुभ—क्या उदय में आकर बिना फल दिये भी नष्ट हो जाते हैं और यदि ऐसा है तो किस प्रकार व क्यों ?

शंका—(ब) क्या द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव का संयोग न मिलने पर कर्म उदय में आकर भी बिना फल दिये नष्ट हो जाता है ?

समाधान—सर्व प्रथम 'उदय' के लक्षण का विचार किया जाता है—कम्मेण उदयो कम्मोदयो, अपक्कपाचणाएविणा जहाकाल जणिदो कम्माणं ट्ठिदिक्खएण जो विवागो सो कम्मोदयोत्ति भण्णदे। सो पुण खेत्त-भव-काल-पोग्गल-ट्ठिदी विवागोदय त्तिएदस्सगाहावच्छद्धस्स समुदायत्थो भवदि। कुदो, खेत्तभवकालपोग्गले अस्सिऊण जो ट्ठिदिक्खयो उदिण्णफलक्खंध परिसडणलक्खणो सोदयोत्ति सुत्तत्थावलंबणादो।—(जयधवल, वेदक अधिकार) भावार्थ—कर्म के द्वारा उदय को कर्मोदय कहते हैं। अपक्वपाचन के बिना यथाकालजनित स्थितिक्षय से कर्मों के विपाक को कर्मोदय कहते हैं। वह कर्मोदय क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलद्रव्य के आश्रय से स्थिति के विपाकरूप होता है। कर्म उदय में आकर अपना फल देकर झड़ जाते हैं। इसको उदय या क्षय कहते हैं। इसीप्रकार कषायपाहुड गाथा ५९ में कहा है—

खेत्त-भव-काल-पोग्गल-ट्ठिदिविवागोदय खयदु।

यहाँ 'क्षेत्र' पद से नरकादि क्षेत्र, 'भव' पद से जीवों के एकेन्द्रियादि भवों का, 'काल' पद से शिशिर, बसन्त आदि काल का अथवा बाल, यौवन, वार्धक्य आदि कालजनित पर्यायों का और 'पुद्गल' शब्द से गन्ध-ताम्बूल-वस्त्र-आभरण आदि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए। इस कथन का सारांश यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव आदि का आश्रय लेकर कर्मों का उदयरूप फल विपाक होता है।

इसप्रकार उदय का लक्षण करने पर (अ) शंका का स्वतः समाधान हो जाता है कि कर्म उदय में आकर बिना फल दिए नष्ट नहीं होता। शंका (ब) का भी समाधान हो जाता है कि द्रव्य, क्षेत्र काल और भव का अनुकूल संयोग न मिलने पर उत्तरकर्मप्रकृति स्वमुख से उदय में नहीं आती, किन्तु स्तिबुकसंक्रमण द्वारा उदयरूप

स्वजाति कर्मप्रकृति में संक्रमण हो जाता है। जैसे क्रोध के उदय के समय अन्य तीन (मान; माया, लोभ) कषायों का स्वमुख उदय न होकर स्तिबुकसंक्रमण द्वारा क्रोधरूप संक्रमण हो जाता है और इसप्रकार उन तीन कषायों का द्रव्य क्रोधरूप फल देकर उदय में आता है।

—जै. सं. 6-9-56/VI/ बी. एल. पदम, मुजफ्फरपुर

कर्मोदय का प्रभाव

शंका—क्या मोहमन्द या मोहरहित जीवों पर कर्मों के उदय का प्रभाव नहीं होता ?

समाधान—संसार में मोहमन्द जीव तो सूक्ष्मसाम्पराय दसवें गुणस्थानवाले हैं, क्योंकि उनसे अधिक मन्दमोह और किसी संसारी जीव के नहीं पाया जाता है। उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली अर्थात् ११ वें, १२ वें १३ वें और १४ वें गुणस्थानवाले मोहरहित जीव हैं, क्योंकि इन चार गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के उदयका अभाव है।

मोहमन्दजीव—दसवेंगुणस्थान के अन्तसमय तक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय नाम और गोत्र इन छह कर्मों का प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग चारों प्रकार का बन्ध होता है। ऐसा कसायपाहुड सिद्धान्तग्रन्थ का वाक्य है। स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय से होता है। ठिदि अणुभागा कसायदो होंति। यदि दसवें गुणस्थानवाले जीव सूक्ष्मलोभ के उदय के प्रभाव से रहित होते तो उनके कषायका अभाव होना चाहिए था और कषाय के अभाव में स्थिति, अनुभागबन्ध के अभाव का प्रसंग आ जायगा। ऐसा होने से सिद्धान्त-आगम से विरोध हो जावेगा। जिस कथन का आगम से विरोध हो वह कथन ग्रहण करने योग्य नहीं हो सकता।

मोहरहित जीव—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवाले जीवों के; ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों के द्वारा जीव के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य स्वभाव घाते जाते हैं। इन दोनों गुणस्थानवाले जीवों के असत्य और उभय मनोयोग व वचनयोग भी सम्भव हैं। षट्खण्डागम में कहा भी है—**मोस मणजोगो सच्चमोस मणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीण-कसाय-वियरायछदुमत्था त्ति ॥५१॥ मोसवचिजोगो सच्चमोस वचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाय वियराय छदुमत्था त्ति ॥५५॥**

अर्थ—असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग संज्ञीमिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ-गुणस्थान तक पाये जाते हैं ॥५१॥ मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञीमिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थगुणस्थान तक पाये जाते हैं ॥५५॥

जिन जीवों के असत्यमनोयोग व वचनयोग पाया जाता हो उन जीवों को कर्मोदय के प्रभाव से रहित कैसे कहा जा सकता है अतः ११ वें व १२ वें गुणस्थानवाले जीव भी कर्मोदय-प्रभाव से रहित नहीं हैं।

सयोगकेवली भी कर्मप्रभाव से रहित नहीं हैं, क्योंकि उनके मन, वचन व काय तीनों योगों का सद्भाव पाया जाता है, उनकी वाणी खिरती है और विहार आदि होता है। योग औदयिकभाव हैं, ऐसा आगमवाक्य है—**ओदइओ जोगो सरीरणामकम्मोदय विणासाणंतरं जोग विणासुवलंभा।** योग औदयिकभाव हैं क्योंकि शरीरनामकर्म के उदय के विनाश होने के पश्चात् ही योग का विनाश पाया जाता है। (ध० खं० पु० ५।२२६) **जोगमग्गणावि ओदइया, णामकम्मस्स उदीरणोदय जणिदत्तादो।** योगमार्गणा भी औदयिक है, क्योंकि वह नामकर्म की उदीरणा

व उदय से उत्पन्न होती है। (ध० खं० पु० ९।३१६) अथावि कम्माणमुदएण तप्पाओग्गेण जोगुप्पत्तीदो। योग की उत्पत्ति तत्प्रायोग्य अघातिया कर्म के उदय से होती है। जदि जोगो वीरियंतराइय खओवसम जणिदो तो सजोगिम्हि जोगाभावो पसज्जदे ? ण उवयारेण खओवसमियं भाव पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहादो। ध० ख० पु० ७।९६। यदि योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तो सयोगकेवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है ? नहीं आता, क्योंकि योग में क्षायोपशमिकभाव तो उपचार से माना गया है। असल में तो योग औदयिकभाव ही है और औदयिकयोग को सयोगकेवली में अभाव मानने में विरोध आता है।

अयोगकेवली के भी मनुष्यगति असिद्धत्व आदि भाव पाए जाते हैं और ये भाव आगम में औदयिकभाव कहे गए हैं। गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। मो० शा० अ० २। सू० ६। गति चार, कषाय चार, वेद तीन, मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक, असंयत एक, असिद्ध एक, लेश्या छह ये इक्कीस औदयिक भाव हैं। यह कथन औपचारिक भी नहीं है। कर्मोदय के कारण सिद्धत्व भाव और ऊर्ध्वगमन स्वभाव का घात पाया जाता है अतः अयोगकेवली भी कर्मोदय के प्रभाव से रहित नहीं है।

सिद्ध भगवान के कर्मोदय नहीं अतः वे कर्मोदय के प्रभाव से रहित हैं।

—जै. सं. 15-11-56/VI/ दे. च.

(१) अचेतन कर्म भी फल देते हैं; ऐसी भगवान् की वाणी है
(२) कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करता है—"कुन्दकुन्द"

शंका—कर्म तो अचेतन हैं वे फल कैसे दे सकते हैं ? आत्मा स्वयं अपनी भूल से अपने आप सुखी, रागी, दुःखी होय है।

समाधान—श्री अमितगतिश्रावकाचार में इसीप्रकार की शंका उठाकर उसका समाधान किया गया है, जो निम्न प्रकार है—

> सत्त्वेऽपि कर्तुं न सुखादिकार्यं, तस्यास्ति शक्तिर्गतचेतनत्वात् ।
> प्रवर्त्तमानाःस्वयमेव दृष्टाः, विचेतनाः क्वापि मया न कार्ये ।७।५३।।
>
> विलोकमानाः स्वयमेव शक्तिं, विकारहेतुं विषमद्यजाताम् ।
> अचेतनं कर्म करोति कार्यं, कथं वदंतीति कथं विदग्धाः ।।७।६१।।
>
> यैर्निषेधं चेतनामुक्तमुक्तं, कार्याकारि ध्वस्तकार्यावबोधैः ।
> धर्माधर्माकाशकालादि सर्वं, द्रव्यं तेषां निष्फलत्वं प्रयाति ।।७।६३।।

अर्थ—प्रश्न—जीव विषं सुख-दुःखरूप कार्य करने की शक्ति कर्म में नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है। अचेतन स्वयं कोई कार्य करता हुआ दिखाई नहीं देता ?

उत्तर—विष व मदिरा अचेतनपदार्थ हैं, किन्तु उनमें विकार करने की शक्ति पाई जाती है। फिर ऐसा कौन चतुर पुरुष होगा जो अचेतनकर्मों में कार्य करने की शक्ति को न माने ? जो पुरुष चेतनरहित अर्थात् अचेतन-द्रव्य को सर्वथा कार्य का करने वाला नहीं मानते उनके मत में धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि सर्वद्रव्य निष्फल-पने को प्राप्त होय हैं। ऐसे पुरुषों को कार्य का ज्ञान नहीं है।

रागद्वेषमदमत्सरशोकक्रोध लोभभयमन्मथमोहाः ।
सर्वजंतुभिरहरनुभूताः, कर्मणा किमु भवंति विनैते ॥७।५५॥
ते जीवजन्याः प्रभवंति नूनं, नैवापि भावा खलु युक्तियुक्ताः ।
नित्य प्रसक्तिः कथमन्यथैषां, संपद्यमाना प्रतिषेधनीया ॥७।५६॥

अर्थ—राग, द्वेष, मद, मत्सर, शोक, क्रोध, लोभ, भय, काम, मोह इत्यादि विकारभाव सर्वजीवों के अनुभव में आवे हैं। ते विकार भावकर्म बिना कैसे होय ? यदि ते रागादिभाव जीव ही तें उपजें तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि रागादि जीव ही तें उपजें तो इनका सम्बन्ध नित्य हो जायगा और इनका निषेध नहीं हो सकेगा। अर्थात् यदि रागादि की उत्पत्ति कर्म बिना मात्र जीव ही से मान ली जावे तो इनका सम्बन्ध नित्य होने से इनका अभाव नहीं हो सकेगा और इसप्रकार मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जायगा। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि रागादि-भाव कर्मजनित हैं।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्र आचार्य समयसार में कहते हैं—

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥१७४॥

अर्थ—रागादि बन्ध के कारण हैं और शुद्ध-चैतन्य मात्र आत्मा से भिन्न कहे गये। यहाँ शिष्य पूछता है कि रागादि के होने में आत्मा निमित्त है या अन्य ? श्री कुन्दकुन्द आचार्य उत्तर देते हैं—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहि ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥ (समयसार)

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह ललाई आदि रंगस्वरूप आप तो नहीं परिणमती, परन्तु वह दूसरे लाल, काले आदि द्रव्यों से ललाई आदि रंगस्वरूप परिणमती है। इसी प्रकार जीव आप शुद्ध है वह रागादि भावोंरूप आप तो नहीं परिणमता, परन्तु रागादि दोषों से युक्त अन्य से (द्रव्यकर्म से) रागादिरूप किया जाता है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

"अकेला आत्मा परिणमनस्वभाव होने पर भी अपने शुद्ध स्वभावपने कर रागादि निमित्तपने के अभाव से आप ही रागादि भावों कर नहीं परिणमता, अपने आप ही रागादिपरिणाम का निमित्त नहीं है, परन्तु परद्रव्य स्वयं रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा के रागादिक का निमित्तभूत है। उस कर (कर्म-उदय कर) शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ ही रागादिरूप आत्मा परिणमता है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।"

श्री पं० जयचन्दजी कृत भावार्थ—आत्मा एकाकी तो शुद्ध ही है, परन्तु परिणाम-स्वभाव है, जिसतरह का पर का निमित्त मिले वैसा ही परिणमता है। इसलिये रागादिकरूप परद्रव्य के निमित्त से परिणमता है। जैसे

स्फटिकमणि आप तो केवल एकाकार शुद्ध ही है, परन्तु जब पर-द्रव्य की ललाई आदि का डंक लगे तब स्फटिक-मणि ललाई आदिरूप परिणमती है। ऐसा यह वस्तु का ही स्वभाव है, इसमें अन्य कुछ भी तर्क नहीं।

श्री परमात्मप्रकाश में भी कहा है—

"दुक्खु वि सुक्खु वि बहु विहउ जीवहं कम्मु जणेइ।"

अर्थ—जीवों के अनेक तरह के सुख और दुख दोनों ही कर्म उपजाता है।

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥६६॥ (अधि० १ प० प्र०)

अर्थ—यह आत्मा पंगु के समान है, आप न कहीं जाता है न आता है। तीनों लोक में इस जीव को कर्म ही ले जाता है और कर्म ही ले आता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी प्रवचनसार में कहा है—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥

अर्थ—'नाम' संज्ञावाला कर्म अर्थात् नामकर्म अपने कर्मस्वभाव से आत्मस्वभाव का पराभव करके आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच, नारकी या देवरूप कर देता है।

—जै. ग. 2-5-66/IX/ प्रेमचन्द

(१) जीव के क्रोधादि परिणाम परतन्त्रतारूप हैं

(२) जो जीव को परतन्त्र करे उसे कर्म कहते हैं

(३) प्रत्येक द्रव्य कथंचित् स्वतंत्र है, कथंचित् परतन्त्र

शंका—आपने लिखा है कि क्षपकश्रेणी के दसम गुणस्थान में होनेवाले कर्मोदय का और आत्मा के भावों का परस्पर डिग्री टू-डिग्री (Degree to degree) निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अब प्रश्न उठता है कि जिसकी समझ ने स्वयं निःशंक होकर डिग्री-टू डिग्री कर्माधीनता स्वीकार की, उसकी समझ पराधीन होने से, उसके उपदेश की प्रामाणिकता कैसे ?

समाधान—जिसने कर्मोदय का यथार्थ स्वरूप समझ लिया उसका उपदेश अप्रामाणिक कैसे हो सकता है ? अर्थात् अप्रामाणिक नहीं हो सकता। कर्म का स्वरूप श्री विद्यानन्दस्वामी ने आप्त-परीक्षा कारिका ११४-११५ की टीका में निम्न प्रकार कहा है—

"जो जीव को परतंत्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं।" द्रव्यकर्म मूल प्रकृतियों के भेद से ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का है तथा उत्तरप्रकृतियों के भेद से १४८ प्रकार का है, तथा उत्तरोत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक प्रकार का है और वे सब पुद्गल परिणामात्मक हैं, क्योंकि वे जीव की परतन्त्रता में कारण हैं; जैसे निगड आदि।

प्रश्न—उपर्युक्त हेतु (जीव की परतन्त्रता में कारणता) क्रोधादि के साथ व्यभिचारी है ?

उत्तर—नहीं; क्योंकि क्रोधादि जीवके परिणाम हैं और इसलिये वे परतंत्रतारूप हैं, परतन्त्रता में कारण नहीं हैं। प्रकट है कि जीव का क्रोधादि परिणाम स्वयं परतंत्रता है, परतंत्रता का कारण नहीं। अतः उक्त हेतु क्रोधादि के साथ व्यभिचारी नहीं है।

प्रश्न - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातियाकर्म ही अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्यरूप जीवके स्वरूप के घातक होने से परतन्त्रता के कारण हो सकते हैं। नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार अघातिकर्म परतन्त्रता के कारण नहीं हैं, क्योंकि वे जीव के स्वरूपघातक नहीं हैं। अतः उनके परतन्त्रता की कारणता प्रसिद्ध है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि नामादि अघातिकर्म भी जीव के स्वरूप सिद्धपने के प्रतिबंधक हैं और इसलिए उनके भी परतन्त्रता की कारणता उत्पन्न है।

यदि वह आत्मा की पराधीनता का कारण नहीं है तो वह कर्म नहीं हो सकता, अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आवेगा। अर्थात् कर्म वही है जो आत्मा को पराधीन बनाता है, यदि आत्मा को पराधीन न बनाने पर उसको कर्म माना जाय तो जो कोई पदार्थ कर्म हो जायगा।

जिसने इसप्रकार कर्म का यथार्थ स्वरूप समझ लिया है उसके उपदेश में प्रामाणिकता अवश्य होगी। यदि ऐसा न माना जाय तो श्री अर्हंत भगवान् के उपदेश को भी अप्रामाणिकता का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि आयु-कर्म की पराधीनता से वे स्वयं शरीर में रुके हुए हैं और उन्होंने ही कर्मपराधीनता का उपदेश दिया है।

जिनकी समझ जिन-वचनानुसार नहीं है, किन्तु मनघड़ंत है उनका उपदेश प्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि वे स्वयं, रागी, द्वेषी, अज्ञानी और परिग्रहवान हैं।

प्रत्येक द्रव्य सर्वथा स्वतंत्र नहीं है, किन्तु द्रव्यार्थिकनय से स्वतंत्र और पर्यायार्थिकनय से परतंत्र है। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य नित्य है और पर्यायार्थिक नय से द्रव्य अनित्य है अर्थात् उत्पाद-व्यय सहित है। और उपजना, विनशना एक ही के आप ही ते अन्य कारण बिना होय नाहीं। कहा भी है—

"नैकं स्वस्मात् प्रजायते।" (आप्तमीमांसा कारिका २४)

इसीप्रकार श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है—

"उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्।" (५।३०)

अर्थ—अंतरंग और बहिरंग निमित्त के वश से जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है वह उत्पाद है। जैसे मिट्टी के पिंड अन्तरंग कारण और दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल आदि बहिरंग कारणों के घटपर्याय का उत्पाद होता है। प्रमेयरत्नमाला में भी कहा है—

"तत्रान्यानपेक्षत्वं तावदसिद्धम्, घटाद्यभावस्य मुद्गरादिव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्कारणत्वो-पपत्तेः। कपालादिपर्यायान्तरभावो हि घटादेरभावः।" (पृ० २६६)।

अर्थात्—विनाश स्वभाव में अन्य अनपेक्षत्वरूप जो हेतु कहा है, वह असिद्ध है, क्योंकि घट आदि के अभाव का मुद्गर आदि के व्यापार के साथ अन्वय-व्यतिरेकपना पाया जाने से विनाश के प्रति मुद्गरादि के व्यापार की कारणता बन जाती है। अर्थात् मुद्गरादि के प्रहार द्वारा घटादि का विनाश देखा जाता है और मुद्गरादि के प्रहार के अभाव में घटादि का विनाश नहीं देखा जाता है, अतः यह सिद्ध होता है कि घटादि के विनाश में मुद्गरादि के प्रहार का कारणपना है। यदि कहा जाय कि मुद्गरादि का प्रहार तो कपाल आदि की उत्पत्ति में कारण है, घट के अभाव में कारण नहीं। ऐसा कहनेवालों को जैनों का कहना है कि कपाल आदि अन्य पर्याय का होना ही घटादि का अभाव कहलाता है।

श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने भी परीक्षामुख सूत्र में कहा है—

"परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ॥ ६.६४ ॥"

अर्थ—दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर पदार्थों के परिणामीपना प्राप्त होता है, अन्यथा कर्म नहीं हो सकता है।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध है कि द्रव्यका परिणमन अथवा उत्पाद-व्यय दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है और दूसरे सहकारी कारणों के बिना द्रव्यका परिणमन अथवा उत्पादव्यय नहीं हो सकता। अतः पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा द्रव्य परतन्त्र (पराधीन) है।

द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य नित्य है, न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है अतः द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा स्वतंत्र (स्वाधीन) है।

इसप्रकार द्रव्य स्वतन्त्र भी है और परतंत्र भी है। जो द्रव्य को सर्वथा स्वतंत्र मानते हैं उनके मत में बंध तथा मोक्ष दोनों सिद्ध नहीं होने से मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जाता है।

जैनधर्म का मूलसिद्धांत अनेकान्त है, क्योंकि वस्तुस्वरूप अनेकान्तमयी है। जिसने अनेकांत को यथार्थ समझ कर निर्ग्रन्थ अवस्था अर्थात् रत्नत्रय धारण कर लिया है उन्हीं का उपदेश प्रामाणिक है।

—जै. ग. 18-4-66/IX/ ज्ञानचन्द M.Sc.

मोहोदय में फल अवश्य मिलता है; पर बाह्य सामग्री की प्राप्ति विषयक कोई नियम नहीं

शंका—मोहोदय का कार्य जीव के परिणामों में विकार उत्पन्न करना है या उस समय उपलब्ध परपदार्थों में प्रवृत्त कराना भी है। क्या स्त्री का रूप देखने की जिज्ञासा अन्तर में उत्पन्न होने पर यह आवश्यक है कि अवश्य ही स्त्री की ओर निहारने लगे। यदि ऐसी जिज्ञासा होने पर भी निहारता नहीं तो उसका क्या फल है? इसी प्रकार क्रोधादि होने पर क्या दूसरों से लड़ना आवश्यक है?

समाधान—मोहोदय का कार्य जीव के परिणामों में विकार उत्पन्न कराना है। क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलद्रव्य का आश्रय लेकर कर्म उदय में आता है (क० पा० सुत्त पृष्ठ ४६५)। विकार भी वस्तु का अवलम्बन कर होता है (वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं। समयसार गाथा २६५) जीव के परिणामों में विकार होने में बाह्य वस्तु भी कारण होती है, किन्तु उस बाह्यवस्तु अर्थात् परपदार्थ में प्रवृत्ति करना या न करना अन्य अनेक कारणों पर निर्भर है। जैसे तीव्र या मन्द उदय, वीर्य की हीनाधिकता आदि।

स्त्री के रूप देखने की अंतरंग में जिज्ञासा होने पर भी स्त्री की ओर अवश्य देखे, ऐसी बात नहीं है। देखे भी अथवा न भी देखे जैसी परिस्थिति हो। अंतरंग में जिज्ञासा होने पर भी यदि नहीं निहारता तो भी उसकी आत्मा विकारी तो अवश्य हो गई और उस विकार के कारण कर्मबंध भी अवश्य होगा। यह ही उस जिज्ञासा का फल है।

क्रोधादि होने पर दूसरों से लड़ना आवश्यक नहीं है। एकेन्द्रिय जीवों के क्रोध का उदय होने पर भी वे दूसरों से नहीं लड़ते।

—जै. सं. 8-8-57/....... /..........

क्रोध कर्म के उदय के समय ही क्रोध भाव होते हैं

शंका—*जिस समय कर्म का उदय है क्या जीव उसी समय क्रोधरूप परिणमन करता है अथवा उत्तर समय में ?*

समाधान—जिस समय क्रोध का उदय है उसी समय जीव क्रोधरूप परिणमता है। यदि ऐसा न माना जाय तो दसवें गुणस्थान के अन्तिमसमय में जो सूक्ष्मलोभ का उदय हुआ उसके निमित्त से ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों के प्रथम समय में सूक्ष्मलोभरूप जीव के परिणाम होने से ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव सकषाय और अकषाय दोनों रूप होगा। जिससे सर्वज्ञ वाक्यों में विरोध आ जायेगा।

कोधकसाई माणकसाई मायाकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥११२॥

लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुमसांपराइयसुद्धि संजदा त्ति ॥११३॥

अकसाई चदुसुट्ठाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति ॥११४॥ [धवल प्रथम पुस्तक पृ० ३५१-३५२]।

अर्थ—एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्ति गुणस्थान तक क्रोधकषायी, मानकषायी और मायाकषायी जीव होते हैं ॥ ११२ ॥

लोभकषाय से युक्त जीव एकेन्द्रिय से लेकर सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत (दसवें) गुणस्थान तक होते हैं ॥११३॥

कषायरहित जीव उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानों में होते हैं ॥११४॥

"सकलकषायाभावोऽकषायः।" अर्थात् सम्पूर्णकषाय के अभाव को अकषाय कहते हैं। सूत्र ११४ की टीका में श्री वीरसेन आचार्य ने निम्न प्रकार कहा है।

"यद्यपि उपशांतकषाय गुणस्थान में अनन्त द्रव्यकषाय का सद्भाव है तथापि कषाय के उदय के अभाव की अपेक्षा उसमें कषायरहितपना बन जाता है।"

यदि यह कहा जाय कि दसवेंगुणस्थान के अन्तिम समय का सूक्ष्म लोभकर्म बिना फल दिये निर्जरा को प्राप्त हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी कर्म स्वरूप से या पररूप से फल बिना दिये अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता है।

"ण च कम्मं सगसरूवेण परसरूवेण वा अदत्तफलमकम्मभावं गच्छदि।" (जयधवल ३।२४५)।

अर्थ—कर्म स्वरूप से या पररूप से फल बिना दिये अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होते।

कर्म का अनुभवन ही कर्म का उदय है, अथवा जो भोज्यकाल है वह उदयकाल है।

"कर्मणामनुभवनमुदयः। उदयो भोज्यकालः" (कर्मस्तवाख्यः तृतीयः संग्रहः)।

श्री वीरसेन आचार्य ने भी कहा है—"ते चेव फलदाणसमए उदयववएसं पडिवज्जंति।"

अर्थात्— वे ही कर्मस्कंध फल देने के समय में 'उदय' इस संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध है जिस समय क्रोध का उदय है उसी समय जीव क्रोधरूप परिणमता है।

—जै. ग. 3-1-66/VIII/ म. ला. जैन

दर्शनमोहनीय कर्म चारित्रगुण का घात नहीं करता

शंका—२७ फरवरी १९६९ के जैनसंदेश में लिखा है कि दर्शनमोहनीयकर्म चारित्रगुण का भी घात करता है, क्या यह ठीक है?

समाधान—दर्शनमोहनीय कर्म सम्यग्दर्शनगुण का घातक है। कहा भी है—

"दंसणं अत्तागम पयत्थेसु रुई पच्चओ फोसणमिदि एयट्ठो। तं मोहेदि विवरियं कुणदि त्ति दंसणमोहणीयं। जस्स कम्मस्स उदएण अणत्ते अत्तबुद्धी, अणागमे आगमबुद्धी, अपयत्थे पयत्थबुद्धी, अत्तागमपयत्थेसु सद्धाए अत्थिरत्तं, दोसु वि सद्धा वा होदि तं दंसणमोहणीयमिदि उत्तं होदि।" (धवल ६।३८)।

अर्थ—दर्शन, रुचि, प्रतीति, श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थ वाचक नाम हैं। आप्त, आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। उस दर्शन को जो मोहित करता है, विपरीत करता उसे दर्शनमोहनीयकर्म कहते हैं। जिस कर्मोदय से अनाप्त में आप्तबुद्धि, अनागम में आगमबुद्धि, अपदार्थ में पदार्थबुद्धि होती है, अथवा आप्त-आगम-पदार्थों में श्रद्धान की अस्थिरता होती है, अथवा आप्त-अनाप्त, आगम-अनागम पदार्थ-अपदार्थ में श्रद्धा होती है वह दर्शनमोहनीयकर्म है।

"मोहयतीति मोहणीयं कम्मदव्वं। अत्तागमपयत्थेसु पच्चओ रुई सद्धा फासो च दंसणं णाम। तस्स मोहयं तत्तो विवरीयभावजणणं दंसणमोहणीयं णाम।"

अर्थ—जो मोहित करता है वह मोहनीय द्रव्यकर्म है। आप्त, आगम और पदार्थों में जो प्रतीति, रुचि, श्रद्धा और दर्शन होता है उसका नाम दर्शन है। उस दर्शन को मोहित करनेवाला विपरीतभाव को उत्पन्न करने वाला कर्म दर्शनमोहनीय कर्म है।

इन आर्षवाक्यों से स्पष्ट है कि दर्शनमोहनीयकर्म सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा गुण को मोहित करता है। किसी भी आचार्य ने दर्शनमोहनीयकर्म को चारित्रगुण को मोहित करनेवाला नहीं कहा है।

'दर्शनमोहनीयकर्म चारित्र का घातक है' ऐसी जो कुछ विद्वानों की निजी कल्पना है वह आर्ष वचनों के अनुकूल नहीं है। जिस सिद्धान्त का समर्थन आर्षवाक्यों से नहीं होता है वह सिद्धान्त मिथ्या है।

—जै. ग. 30-4-70/IX/ ट. ला. जैन

उपघात तथा परघात का एक साथ उदय सम्भव है

शंका—क्या उपघात व परघात प्रकृतियों का उदय एक साथ हो सकता है ?

समाधान—उपघात व परघात नामकर्म का स्वरूप निम्न प्रकार है—

"उपेत्य घात उपघातः आत्मघात इत्यर्थः। जं कम्मं जीवपीडाहेउअवयवे कुणदि, जीवपीडाहेदुदव्वाणि वा विसासि पासादीणि जीवस्स ढोएदि तं उवघादं णाम। के जीवपीडा कार्यवयवा इति चेन्महाश्रृङ्ग-लम्बस्तन-तुंदोदरादयः। जदि उवघादणामकम्मं जीवस्स ण होज्ज, तो सरीरादो वादपित्तसेंभदूसिदादो जीवस्स पीड़ा ण होज्ज। ण च एवं अणुवलम्भादो।" (धवल पु० ६ पृ० ५९)।

स्वयं प्राप्त होने वाले घात को उपघात अथवा आत्मघात कहते हैं। जो कर्म शरीरअवयवों को जीव की पीड़ा का कारण बना देता है, अथवा विष, पाश आदि जीव पीड़ा के कारण स्वरूप द्रव्यों को जीव के लिये ढोता है, अर्थात् लाकर संयुक्त करता है, वह उपघात नामकर्म कहलाता है। महाश्रृंग, लम्बेस्तन, विशाल तोंदवाला पेट आदि जीव को पीड़ा करने वाले अवयव हैं। यदि उपघात नामकर्म न हो तो वात, पित्त और कफ से दूषित शरीर से जीव के पीड़ा नहीं होना चाहिये, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता।

"परेषांघातः परघातः। जस्स कम्मस्स उदएण परघादहेदुसरीरे पोग्गला णिप्फज्जंति तं कम्मं परघादं णाम। तं जहा सप्पदाढासु विसं, विच्छियपुंछे परदुःखहेउपोग्गलोवचओ, सीह-वग्घच्छवलादिसु णह दंता, सिंगिवच्छणाहीधत्तूरादओ च परघादुप्पायया।" (धवल ६।५९)।

परजीवों के घातको परघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में परका घात करने के कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं, वह परघात नामकर्म कहलाता है। जैसे सांप की दाढ़ों में विष, बिच्छू की पूंछ में परदुःख के कारणभूत पुद्गलों का संचय, सिंह, व्याघ्र और चीता आदि में तीक्ष्ण नख और दन्त तथा सिंगी व वत्स्यनाभि और धतूरा आदि विषैले वृक्ष पर को दुख उत्पन्न करनेवाले हैं। उपघात और परघात इन दोनों के लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों प्रकृतियों का एक साथ उदय होने में कोई बाधा नहीं है।

—जै. ग. 16-5-74/VI/ ज. ला. जैन, भीण्डर

परघात की भिन्न-भिन्न व्याख्या

शंका—सर्वार्थसिद्धि ८।११।२९७ में लिखा है जिसके उदय से पर-शस्त्र आदि का निमित्त पाकर व्याघात होता है वह परघात नामकर्म है। इस लक्षण से तो परघातप्रकृति को अप्रशस्तप्रकृतित्व प्राप्त होता है, किन्तु सूत्र २५ की टीका में परघात को पुण्य प्रकृति कहा है और सूत्र २६ की टीका में 'उपघात' को पापप्रकृति कहा है। सो कैसे ?

समाधान—यद्यपि सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं में परघात की व्याख्या इसी प्रकार की गई है, किंतु धवल आदि ग्रंथों में परघात की व्याख्या इसप्रकार की गई है—जस्स कम्मस्सुदएण सरीरं परपीडायरं होदि तं परघादं णाम। (धवल १३।३६४) परेषां घातः परघातः। जस्स कम्मस्स उदएण परघादहेदू सरीरे पोग्गला णिप्फज्जंति तं कम्मं परघादं णाम। तं जहा—सप्पदाढासु विसं, विच्छियपुंछे परदुक्खहेउ पोग्गलोवचओ, सीह-वग्घ-च्छवलादिसु णह-दंता, सिंगि वच्छणाहीधत्तूरादओ च परघादुप्पायया (धवल ६।५९)।

जिस कर्म के उदय से शरीर दूसरों को पीड़ा करनेवाला होता है वह परघात नामकर्म है। पर जीवों के घात को परघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में पर को घात करने के कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं वह परघात नामकर्म है। जैसे सांप की दाढ़ में विष, बिच्छू की पूंछ में पर दुःख के कारणभूत पुद्गलों का संचय, सिंह व्याघ्र और चीता आदि में तीक्ष्ण नख और दाँत तथा सिंगी, धतूरा आदि विषैले वृक्ष पर को दुःख उत्पन्न करने वाले हैं।

इसप्रकार परघात नामकर्म को पुण्यप्रकृति कहने में कोई बाधा नहीं आती।

—पत्राचार 77-78 ई. / ज. ला. जैन, भीण्डर

ज्ञानावरण व दर्शनावरण के उदय उपयोग में बाधक साधक नहीं वे तो लब्धि में बाधक-साधक हैं

शंका—क्या दर्शनोपयोग के समय ज्ञानावरणकर्म के सर्वघातिया-स्पर्धकों का उदय हो जाता है जिसके कारण ज्ञानोपयोग नहीं हो सकता? छद्मस्थों के यदि दर्शनोपयोग के समय भी ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम रहता है तो उनके ज्ञानोपयोग होने में क्या बाधा है, क्योंकि कर्मों के अनुसार ही छद्मस्थों के दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग होता है?

समाधान—सभी संसारी जीवों के अचक्षुदर्शनावरण का तथा मतिज्ञानावरण व श्रुतज्ञानावरण कर्मों का तो क्षयोपशम रहता ही है अर्थात् इन कर्मों के सर्वघाती-स्पर्धकों का तो स्वमुख से अनुदय रहता है और देशघाति-स्पर्धकों का स्वमुख से उदय रहता है। सर्वघातिस्पर्धक स्तिबुकसंक्रमण द्वारा देशघातिरूप उदय में आते हैं। इन कर्मों के क्षयोपशम होने पर आत्मा में जो अर्थ ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न होती है वह लब्धि है। कहा भी है—

'ज्ञानावरणक्षयोपशमे सत्यात्मनोऽर्थग्रहणेशक्तिःलब्धिरुच्यते।'

लब्धिस्वरूप से नाना दर्शन और ज्ञान एक जीव में एक साथ पाये जाते हैं। क्षयोपशम अर्थात् लब्धि की अपेक्षा ही ज्ञानमार्गणा में मति आदि ज्ञानों के और दर्शनमार्गणा में चक्षु आदि दर्शनों के काल आदि का कथन किया गया है, किंतु अर्थग्रहण में जो उद्यम, प्रवृत्ति अथवा व्यापार है वह उपयोग है। कहा भी है—

"आत्मनोऽर्थग्रहण उद्यमोऽर्थग्रहणे प्रवर्तनमर्थग्रहणे व्यापारणमुपयोग उच्यते।"

इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है। श्री वीरसेन आचार्य ने भी इसी प्रकार कहा है—

"स्वपरग्रहणपरिणाम उपयोगः। न स ज्ञानदर्शनमार्गणयोरन्तर्भवति; ज्ञानदृगावरणकर्मक्षयोपशमस्य तदुभय-कारणस्योपयोगत्वविरोधात्।" (धवल पु० २ पृ० ४१३)।

स्व और पर को ग्रहण करने वाले परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं। वह उपयोग ज्ञानमार्गणा और दर्शनमार्गणा में अन्तर्भूत नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शन दोनों के कारणरूप ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम को उपयोग मानने में विरोध आता है अतः उपयोग की अपेक्षा एक जीव में एक काल में एक ही उपयोग हो सकता है। युगपत् दो उपयोग नहीं हो सकते हैं। कहा भी है—

एक्के काले एक्कं णाणं, जीवस्स होदि उवजुत्तं।
णाणा-णाणाणि पुणो, लद्धि-सहावेण वुच्चंति ॥२६०॥ (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

टीका—"जीवस्यात्मनः एकस्मिन् काले एकस्मिन्नेव समये एकं ज्ञानम् एकस्यैवेन्द्रियस्य ज्ञानं स्पर्शनादिजम् उपयुक्तं विषयग्रहणव्यापारयुक्तम् अर्थग्रहणे उद्यमनं व्यापारणम् उपयोगि भवति। यदा स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञानेन स्पर्शो विषयो गृह्यते तदा रसनादीन्द्रिय ज्ञानेन रसादिविषयो न गृह्यते इत्यर्थः। एवं रसनादिषु योज्यम्। तर्हि अपरेन्द्रियाणां ज्ञानानि तत्र इश्यन्ते तत्कथमिति चेदुच्यते। पुनः नाना ज्ञानानि अनेक प्रकार ज्ञानानिस्पर्शनाद्यनेकेन्द्रियज्ञानानि लब्धिस्वभावेन अर्थग्रहण शक्तिर्लब्धिर्लाभः प्राप्तिः तत्स्वभावेन तत्स्वरूपेण उच्यन्ते कथ्यन्ते ॥२६०॥"

जीव के एक समय में एक ही ज्ञानोपयोग होता है, किन्तु लब्धिरूप से एक समय में अनेक ज्ञान कहे हैं। जिस समय स्पर्शन इन्द्रिय विषय ग्रहण में उपयुक्त है उस समय जीव को स्पर्श का ही ज्ञान होगा, उस समय रसनादि इन्द्रियों के द्वारा रस आदि का ग्रहण नहीं होता है। यही क्षायोपशमिक दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के सम्बन्ध में है।

दंसणपुव्वं णाणं, छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ॥४४॥ (बृहद् द्रव्यसंग्रह)

छद्मस्थ जीवों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान होने में दर्शन कारण होता है। यहाँ पर पूर्व का अर्थ कारण है, क्योंकि 'पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्।' ऐसा श्री पूज्यपाद आचार्य का वाक्य है। छद्मस्थों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है इसलिये छद्मस्थों के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग ये दोनों उपयोग युगपत् नहीं हो सकते अर्थात् ये दोनों उपयोग क्रम से होंगे, किन्तु केवली भगवान् के ये दोनों उपयोग युगपत् होते हैं, क्योंकि केवली भगवान के दर्शन पूर्वक ज्ञान नहीं होता है।

छद्मस्थों के दर्शनावरणकर्म का और ज्ञानावरण का क्षयोपशम तो एक साथ रहता ही है, किंतु देशघातिया-स्पर्धकों के उदय के कारण दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग युगपत् नहीं होते हैं, किन्तु क्रम से होते हैं। दर्शनोपयोग के समय ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम तो रहता है, किन्तु अर्थग्रहण व्यापार नहीं होता है। इसीप्रकार ज्ञानोपयोग के समय दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम तो होता है, किंतु अर्थ ग्रहण के लिये व्यापाररूप उपयोग नहीं होता है।

ज्ञानोपयोग के समय यदि दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम भी न रहे तो कालानुयोगद्वार में जो अचक्षुदर्शन का काल अनादि-अनन्त कहा है उससे बाधा आ जायगी। इसीप्रकार दर्शनोपयोग के समय यदि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न रहे तो कुमति व कुश्रुतज्ञान का काल अनादि-अनन्त कहा है उससे बाधा आ जायगी।

क्षयोपशम अर्थात् लब्धि की अपेक्षा ज्ञान व दर्शन के काल का कथन धवल पु० ७ में है और उपयोग की अपेक्षा काल का कथन जयधवल पु० १ गाथा १५ से २०; पृष्ठ ३३०-३६२ तक है।

अभव्यों के दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग का काल एक-एक अन्तर्मुहूर्त है, किन्तु क्षायोपशमिक दर्शन व ज्ञान का काल अनादि अनन्त है।

—जै. ग. 26-2-76/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

बन्धन व संघात के कार्यों में अन्तर

शंका—संघात नामकर्म व बंधन नामकर्म के कार्यों में क्या अन्तर है ?

समाधान—औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से जो औदारिक आदि वर्गणा आईं उन नवीन औदारिक आदि शरीरवर्गणाओं का जीव के साथ बँधी हुई पूर्व शरीरवर्गणाओं के साथ परस्पर संश्लेष संबंध प्राप्त होता है, वह शरीरबंधन नामकर्म है। वह बंधन दो प्रकार का हो सकता है, एक छिद्र सहित जैसे तिल का मोदक, छलनी, धोत्तर, कपड़ा इत्यादि, दूसरा बंध छिद्ररहित होता है जैसे कांच आदि। निम्न प्रमाण देखने योग्य है।

"*शरीरनामकर्मोदय वशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेश संश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धननाम। यदुदया-दौदारिकादि शरीराणां विवरविरहितान्योऽन्य प्रदेशानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम।*" (सर्वार्थ-सिद्धि ८।११)।

"जस्स कम्मस्स उदएण ओरालिय सरीर परमाणू अण्णोण्णेण बंधमागच्छंति तमोरालिय शरीर बंधणंणाम। एवं सेस सरीरबंधणाणं पि अत्थो वत्तव्वो।" (धवल पु० ६ पृ० ७०)।

"जस्स कम्मस्स उदएण ओरालिय सरीरक्खंधाणं सरीरभावमुवगयाणं बंधणणाम कम्मोदएण एगबंधणबद्धाण मट्ठत्तं होदि तमोरालियसरीर संघादं णाम। एवं सेस सरीरसंघादाणं पि अत्थो वत्तव्वो।" (धवल पु. ६ पृ. ७०)।

"जस्स कम्मस्स उदएण जीवेण संबद्धाणं वग्गणाणं संबंधो होदि तं कम्मं सरीरबंधणणामं। जस्स कम्मस्स उदएण अण्णोण्णसंबद्धाणं वग्गणाण मट्ठत्तं तं सरीर संघादणामं, अण्णहा तिलमोअओ व्व विसंठुल सरीरं होज्ज।" (ध० १३ पृ० ३६४)।

—जै. ग. 16-3-78/VIII/ ट. ला. जैन, मेरठ

ज्ञानावरणीय तथा मोहनीय में अन्तर

शंका—हित-अहित की परीक्षा का न होना ही मोह है। मोह ही अज्ञान है। इस ही का समस्त कर्मों पर आवरण पड़ा हुआ है। ज्ञानावरणकर्म के उदय में भी हित-अहित की परीक्षा का अभाव हो जाता है। अतः ज्ञान पर आवरण करना मोह का ही कार्य है। ज्ञानावरणकर्म और मोहनीयकर्म दोनों एक हैं या कुछ अन्तर है ?

समाधान—ज्ञान का स्वरूप इसप्रकार है—

जाणइ तिकाल-सहिए दव्वगुणे पज्जए बहुभेए।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणे त्ति णं बेति ॥२९९॥ (गो० जी०)

अर्थ—जिसके द्वारा त्रिकाल विषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से जाने वह ज्ञान है।

इस ज्ञान को जो आवरण करता है वह ज्ञानावरणकर्म है।

"मोहयतीति मोहनीयम् ।" (धवल पु० ६ पृ० ११)

अर्थ—जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है।

पर पदार्थों का ज्ञान न होना यह ज्ञानावरण का कार्य है, किन्तु जानकर उनमें इष्ट, अनिष्ट अर्थात् अच्छे-बुरे की कल्पना करना मोहनीयकर्म का कार्य है। जैसे एक की आंख में मोतियाबिन्दु हो गया है वह स्थूल पदार्थ को निकट से जानता है, किन्तु जिसको जानता है उसको यथार्थ जानता है। दूसरे की आंख में पीलिया रोग हो गया। वह सूक्ष्म व दूरवर्ती पदार्थों को जानता तो है, किंतु धवल को भी पीला जानता है अर्थात् अयथार्थ जानता है।

—जै. ग. 26-2-70/IX/रो. ला. मित्तल

सर्वघाति निद्राद्विक के उदय में साधु की स्थिति—सुप्त

शंका—जबकि दर्शनावरण की निद्रा आदि ५ प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं तो साधु के जब उनका अन्तर्मुहूर्त तक उदय होता है तब साधु की क्या स्थिति होती है ?

समाधान—निद्रा आदि ५ प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं अतः इनका उदय होने पर दर्शनोपयोग का घात हो जाता है और छद्मस्थों के ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग पूर्वक होता है, इसलिये दर्शन के अभाव में ज्ञान भी नहीं हो पाता। उस समय साधु की सुप्त अवस्था होती है। निद्रा आदिक के उदय का काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। निद्रा का यदि अल्पकाल के लिये उदय होता है तो वह पकड़ में नहीं आता।

—जै. ग. 5-1-78/VIII/ शान्तिलाल

शंका—संदेह की उत्पत्ति में कारणभूत कर्म मोहनीय व ज्ञानावरण हैं

शंका—शंका, संशय, संदेह यह तीनों व्यक्ति में क्यों उत्पन्न होते हैं ? इनकी उत्पत्ति में मुख्य क्या कारण है ?

समाधान—प्रयोजन भूत तत्त्वों में शंका, संशय, संदेह दर्शन मोहनीय व ज्ञानावरण कर्मोदय के कारण उत्पन्न होते हैं यह तो अंतरंग कारण है। अयथार्थ उपदेश आदि बहिरंग कारण तत्त्व निर्णय में पुरुषार्थ की हीनता भी कारण है। विवक्षावश इनमें से कोई भी कारण मुख्य हो सकता है।

—जै. ग. 26-2-70/IX/ रो. ला. मित्तल

ज्ञान की कमी में कर्म भी कारण है

शंका—ज्ञान में जो कमी हुई, जीव का स्वभाव तो केवलज्ञान है और वर्तमान में जो हमारी संसारी अवस्था में जितने भी जीव हैं उनके ज्ञान में जो कमी हुई वह क्या कर्म के उदय की वजह से हुई या बिना कर्म के उदय की वजह से ?

समाधान—इसमें दोनों कारण हैं। कर्म का उदय कारण है और उपादान कारण आत्मा है। कर्म का उदय यदि न हो तो कभी भी न्यूनाधिक परिणमन को प्राप्त नहीं होगा।

विभाव और बात है। यह तो ज्ञानावरणादिकर्म का इस प्रकार का क्षयोपशम है तत् तरतम भाव से आत्मा का ज्ञानादिक विकास होता है, जितना उदय होता है उतना अज्ञान रहता है और जितना ज्ञानावरणादिक कर्म का उदय होगा उतना ही अज्ञान रहेगा। जितना ज्ञानावरणादिक कर्म का क्षयोपशम होगा उतना ही ज्ञान रहेगा।* —समाधानकर्ता : पू० क्षुल्लकवर्णीजी महाराज

—जै. सं. 11-7-57/..... / ब्र. रतनचन्द मुख्तार

कर्म कुछ नहीं करते; सर्वथा ऐसा मानना मिथ्या है

प्रश्न—कानजी स्वामी यह कहते हैं, महाराज, ज्ञानावरणादिक कर्म कुछ नहीं करते अपनी योग्यता से ही ज्ञान में कमी-बेसी होती है। क्या यह ठीक है?

उत्तर—यह ठीक है? आप ही समझो, कैसे ठीक है। यह तो ठीक नहीं है। कोई भी कहे चाहे, हम तो कहते हैं कि अंगधारी भी कहे तो भी ठीक नहीं है। —समाधानकर्ता : पू० क्षु० वर्णीजी महाराज

—जै. सं. 11-7-57/ /ब्र. रतनचंद मुख्तार

वेदनीय, आयु आदि चौदहवें गुणस्थान तक उदित रहते हैं

शंका—भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित श्री सर्वार्थसिद्धि के ३४६-४७ पृष्ठ पर उन प्रकृतियों का उदय, जिनका उदय चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है, तेरहवें गुणस्थान तक ही क्यों बताया?

समाधान—एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर तथा उच्चगोत्र; इन बारह प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है, परन्तु वेदनीय व मनुष्यायु की उदीरणा छठे गुणस्थान तक होती है और शेष दस प्रकृतियों की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान तक होती है। विशेषार्थ में अनुवादक महोदय की लेखनी के द्वारा इन दस प्रकृतियों के सम्बन्ध में उदीरणा के साथ 'उदय' शब्द भी लिखा गया। यद्यपि उनका ऐसा भाव नहीं था। अनुवादक महोदय से इस सम्बन्ध में मेरी बातचीत हुई, उन्होंने स्पष्ट हृदय से लेखनी की भूल स्वीकार की। आगम एक महान् समुद्र है। उसमें अज्ञानता या असावधानी के कारण भूल हो जाना स्वाभाविक है। भूल ज्ञात हो जाने पर भी अपनी बात को पकड़े रखना और भूल को स्वीकार नहीं करना मोक्षमार्ग में उचित नहीं है।

—जै. सं. 25-7-57/....... / ब. प. सरावगी, पटना

---

*नोट—यहाँ पर स्वयं मुख्तार सा. शंकाकार के रूप में प्रस्तुत हुए हैं तथा समाधाता हैं पूज्य महाविद्वान् क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य। अत्युपयोगी जानकर इन्हें यहाँ संकलित किया गया है। —सम्पादक

वीतरागियों के साता व असाता का युगपत् उदय सम्भव है

शंका—यह तो ठीक है कि अयोगकेवली के साता व असाता में से अन्यतर का उदय ही सम्भव है? परन्तु उपशान्तकषायादि गुणस्थानवर्ती महात्माओं के उदयस्वरूप साता के साथ जब असातावेदनीय उदित होता है तब उनके दोनों साथ में उदित मानने पड़ेंगे? इसका भी कारण यह है कि सयोगकेवली तक के सब जीवों के असाता का उदय सम्भव है। (गो० क० २७१) तथा ईर्यापथ आस्रवत्व को परिप्राप्त नवबद्ध साता तो उदय-स्वरूप होने से नित्य उदित है ही। स्पष्ट करें।

समाधान—ठीक है। चौदहवें गुणस्थान में साता व असाता में से एक का ही उदय रहता है। ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थानों में जब प्राचीन काल में बद्ध असाता का उदय होता है उस समय एक समय स्थिति वाली नवकबद्ध साता भी उदित होती है; अत. इन तीन गुणस्थानों में नवीन बँधने वाली साता तथा प्राचीन असाता; इन दोनों का युगपत् उदय सम्भव है।

—पत्र 22-10-79/I, II/ज. ला. जैन, भीण्डर

मनुष्यायु का उदीरणाकाल १ समय कैसे ?

शंका—धवल पुस्तक १५ में मनुष्यायु का उदीरण-काल एक समय बताया, सो कैसे ?

समाधान—कोई जीव अपनी आयु में एक समय अधिक आवलीकाल शेष रहने पर अप्रमत्त से प्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त होकर एक समय के लिये मनुष्यायु का उदीरक होकर अगले समय में अनुदीरक हो गया। देखो—ध० पु० १५।४५

इसीप्रकार पृ० ६३ पंक्ति ७-८ के कथन को समझ लेना चाहिये।

—पत्र 14-11-80/I,II/ज. ला. जैन, भीण्डर

देवायु व नरकायु की उदीरणा होती है

शंका—गाथा ४४१ गो. क. में चारों आयु की उदीरणा बतलाई है और गाथा १५९ में भुज्यमान आयु की उदीरणा बतलाई, बध्यमान आयु की उदीरणा नहीं। गाथा ४४८ में नरकायु की उदीरणा असंयत तक बतलाई, देवायु की नहीं बतलाई। हमारी शंका है कि देवायु और नरकायु की उदीरणा ही नहीं होती, क्योंकि देव और नारकी की अकालमृत्यु नहीं होती। फिर यह उपर्युक्त कथन गाथा ४४१ व ४४८ का किस प्रकार है ?

समाधान—कुछ अपवादों के साथ छठे गुणस्थान तक जिन प्रकृतियों का उदय है उनकी उदीरणा अवश्य होती है। कहा भी है—

'उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो।'' (गो० क० गा० २७८)

अर्थात्—उदय और उदीरणा में स्वामीपने की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं है।

नारकियों के नरकायु का और देवों के देवायु की उदीरणा मरण से एकआवली पूर्व तक होती रहती है।

उदीरणा का अर्थ अकालमरण नहीं है, क्योंकि मरण से एक आवली पूर्व आयुकी उदीरणा रुक जाती है। उदयावली से बाहिर स्थित कर्म के द्रव्य को अपकर्षण के द्वारा उदयावली काल में प्राप्त कराना उदीरणा है। कहा भी है—

'अण्णत्थठियस्सुदये संधुहणमुदीरणा' (गो. क गा. ४३९)

अर्थात्—उदयकाल के बाहर स्थित कर्मद्रव्य को अपकर्षण के बल से उदयावलीकाल में प्राप्त कराना उदीरणा है।

अतः देवायु और नरकायु की उदीरणा है, किन्तु कदलीघात अर्थात् अकालमरण नहीं है।

—जै. ग. 25-7-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का अल्पबहुत्व

शंका—षट्खण्डागम पु० १६ पृ० ५४४ पर जो अल्पबहुत्व लिखा है वह किस वस्तु का है अर्थात् अनुभाग सत्कर्म का है या और किसी का ?

समाधान—षट्खण्डागम धवल टीका पुस्तक १६ पृ० ५४४ पर जो अल्प-बहुत्व लिखा है वह उत्कृष्ट-अनुभाग-उदीरणा का है। किंतु लेखक के प्रमाद के कारण प्रारम्भ में बहुत पाठ छूट गया है जिससे प्रथम तीन पंक्तियों का पाठ "णिरयगईएणेरइएसु ······ मिच्छत्त० अणंतगुणो।" अशुद्ध हो गया है। शुद्ध पाठ इसप्रकार होना चाहिये—"अप्पा बहुअ दुविहं जहण्णमुक्कस्सं च। उक्कस्सए पयदं। तं जहा—सव्वतिव्वाणुभागं सादं। उच्चागोद-जस कित्तीओ अणंतगुणहीणाओ। कम्मइय० अणंतगुणहीणा। तेजइय० अणंतगुणहीणा। आहार० अणंतगुणहीणा। वेउव्विय० अणंतगुणहीणा। मिच्छत्त० अणंतगुणहीणा। केवलणाणावरण-केवलदंसणावरण-असाद० अणंतगुणहीणा। अण्णदरो अणंताणुबंधि० अणंतगुणहीणा। अण्ण० संजलण० अणंतगु० हीणा। अण्ण० पच्चक्खाण० अणंतगुणहीणा। अण्ण० अपच्चक्खाण० अणंतगु० हीणा। मदिणाणावरण अणंतगुणहीणा। सुदावरण० अणं० गु० हीणा। ओहि-णाणव० ओहिदसणा व० अणं० गु० हीणा। मणपज्जव० अणं० गु० हीणा। णवुंसय० अणं० गु० हीणा। थीण-गिद्धि० अणं० गु० हीणा। दुगुंच्छा० अणं० गु० हीणा। णिद्दाणिद्दा० अणं० गु० हीणा। पयलापयला अणं० गु० हीणा। णिद्दा० अणं० गु० हीणा। पयला० अणं० गु० हीणा। णीचा० अजस० अणं० गु० हीणा। णिरयगई० अणं० गु० हीणा। देवगइ० अणं० गु० हीणा। रदि० अणं० गु० हीणा। हस्स अणं० गु० हीणा। देवाउ० अणं० गु० हीणा। णिरयाउ० अणं० गु० हीणा। मणुसगई० अणं० गु० हीणा। ओरालिय० अणं० गु० हीणा। मणुसाउ० अणं० गु० हीणा। तिरिक्खाउ० अणं० गु० हीणा। इत्थि० अणं० गु० हीणा। पुरि० अणं० गु० हीणा। तिरिक्ख० अणं० गु० हीणा। चक्खुदं० अ० गु० हीणा। सम्मामिच्छ० अ० गु० हीणा। दाणांतराइय० अ० गु० हीणा। लाहंतराइय० अ० गु० हीणा। भोगंतराइय० अणंत० गु० हीणा। परिभोगंतराइय० अ० गु० हीणा। अचक्खुदं० अ० गु० हीणा। वीरियंतराइय० अ० गु० हीणा। सम्मत्त० अ० गु० हीणा।

णिरयगईए णेरइएसु सव्वतिव्वाणुभागं मिच्छत्तं। केवलणाणाव. केवलदंसणाव. असादाअणंतगुणहीणा। अण्ण. अणंताणुबंधि. अ. गु. हीणा। अण्ण. संजलण. अ. गु. हीणा। अण्ण. पच्चक्खाण. अ. गु. हीणा। अण्ण. अपच्च. अ गु. हीणा। मदि अ. गु. हीणा। सुद अ. गु. हीणा। मणपज्जव अ. गु. हीणा। णवुंसय. अ. गु.। अरदि. अ. गु. हीणा। सोग. अ. गु हीणा। भय अ गु. हीणा। दुगुंछा. अ. गु. हीणा। णिद्दा. अ. गु. हीणा।

पयला. अ. गु. हीणा। णीचा. अ. गु. हीणा। णिरयगइ. अ. गु. हीणा। णिरयाउ. अ. गु. हीणा। साता. अ. गु. हीणा। रदि. अ. गु. हीणा। हस्स. अ. गु. हीणा। कम्मइय. अ. गु. हीणा। तेजइय. अ. गु. हीणा। वेउ. अ. गु. हीणा।

—जै. ग. 4-7-63/IX/ गुणरत्नविजय, (श्वेताम्बर साधु)

आयु कर्म

शंका—आयुकर्म में अनुभागबन्ध होता है तो उसका रसास्वाद क्या है ? स्थिति तो समझ में आती है परन्तु अनुभाग क्या करता है ? यह समझ में नहीं आया। कृपया खुलासा करें।

समाधान—कम्माण सगकज्जकरण सत्ती अणुभागोणाम (जयधवल पु. ५ पृ. २) अर्थात् कर्मों के अपना कार्य करने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। कम्मदव्वभावोणाणावरणादिदव्वकम्माणं अण्णाणादि समुप्पायणसत्ती (धवल पु. १२ पृ. २) अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों की जो अज्ञानादि को उत्पन्न करनेरूप शक्ति है वह द्रव्यकर्म भाव (अनुभाग) है। आयुकर्म भवविपाकी है (महाबंध पु. ४ पृ. ७) भव में रोके रखना आयुकर्म का विपाक है, अपना कार्य है। यदि आयुकर्म में अनुभाग बन्ध न हो तो वह जीव को भव में रोकने के लिये असमर्थ रहेगा। अतः भव में रोके रखना यही आयुकर्म के अनुभाग का कार्य है। कहा भी है—"जो पुद्गल मिथ्यात्वादि बन्ध कारणों के द्वारा नरक आदि भव धारण करने की शक्ति से परिणत होकर जीव में निविष्ट होते हैं, वे आयु संज्ञा वाले होते हैं।" (धवल पु० ६ पृ० १२)।

—जै. ग. 8-2-62/VI/ मू. च. छ. ला.

भुज्यमान व बद्ध आयुकर्म के उदय निषेक

शंका—भुज्यमान आयु का काल एक आवली से कम शेष रहने पर उदय आवली में भविष्य आयु के निषेक आ जाते हैं और उनका संक्रमण नहीं होता इसमें क्या आगम प्रमाण है ?

समाधान—भविष्यायु का अबाधाकाल भुज्यमान आयु का शेष काल है (धवल पु. ६ पृ. १६७-१७०) अर्थात् भुज्यमान आयु के अन्तिम निषेक के पश्चात् ही भविष्य आयु का प्रथम निषेक प्रारम्भ हो जाता है अन्यथा भुज्यमान आयु के समाप्त होने पर जीव का चतुर्गति के बाहर हो जाने से अभाव प्राप्त होता है (धवल पु. १० पृ. २३७)। यदि भुज्यमान शेष आयु एक आवली से कम रह गई तो उदयावली में आगामी आयु के निषेक अवश्य होंगे, क्योंकि भुज्यमान आयु के अन्तिम निषेक और भविष्य आयु के प्रथम निषेक के मध्य अंतराल नहीं है। चार आयुकर्म का संक्रमण नहीं होता, ऐसा स्वभाव है (धवल पु. १६ पृ. ३४१) उदयावली गत निषेकों का भी संक्रमण नहीं होता (धवल पु. १६ पृ. ३४१ व ३४२)। जिसप्रकार बंधावली व्यतिक्रान्त ज्ञानावरणादि कर्मों के समयप्रबद्धों के अपकर्षण और पर-प्रकृति-संक्रमण के द्वारा बाधा होती है, उस प्रकार आयुकर्म के अबाधाकाल पूर्ण होने तक अपकर्षण और पर-प्रकृति-संक्रमण आदि के द्वारा बाधा का अभाव है। (धवल पु. ६ पृ. १६८)।

जै. ग. 17-1-63 /...... /........

आयु कर्मोदय का कार्य

शंका—आयुकर्म के उदय का कार्य क्या है ? यदि कहा जाय कि आयुकर्म के उदय का कार्य जीवन मात्र प्रदान करना है। तो फिर संसार में यह व्यवहार प्रचलित है कि आयु शेष है तो कोई मार नहीं सकता। आयु

खत्म होने के पश्चात् कोई रोक नहीं सकता। यह व्यवहार किस आधार पर है बताने की कृपा करें।

समाधान—उस भव के शरीर में अर्थात् उस भव में रोके रखना आयुकर्म का कार्य है। कहा भी है—

पडपडिहारसिमज्जाहलि, चित्त कुलाल भंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा ॥२१॥ (गो. क.)

इस गाथा में आयुकर्म के स्वभाव के लिये हलि अर्थात् काठ के यंत्र का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे काठ का यंत्र पुरुष को अपने स्थान में स्थित रखता है दूसरी जगह नहीं जाने देता, ठीक उसी प्रकार आयुकर्म जीव को मनुष्यादि पर्यायों में स्थित रखता है दूसरे भव में नहीं जाने देता।

"तस्स आउअस्स अत्थित्तं कुदोवगम्मदे ? देहट्ठिदि अण्णहाणुववत्तीदो।" (धवल पु. ६ पृ. १२)

अर्थ—उस आयुकर्म का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ? देह की स्थिति अन्यथा हो नहीं सकती है, इस अन्यथानुपपत्ति से आयुकर्म का अस्तित्व जाना जाता है।

जितनी आयु शेष है उससे पूर्व मरण नहीं हो सकता है ऐसा एकान्त नियम नहीं है। विष, शस्त्रघात आदि के द्वारा उससे पूर्व मरण भी सम्भव है।

—जै. ग. 17-7-69/....... / रो. ला. मित्तल

स्त्री-पुत्र आदि इष्ट की प्राप्ति सातावेदनीय के उदय एवं लाभान्तराय के क्षयोपशम से होती है।

शंका—दुनिया के प्राणी को जो स्त्री-पुत्र धन मकान आदि बाह्य सामग्री का संयोग या वियोग होना है उसमें अन्तरायकर्म का क्षयोपशम कारण है या वेदनीयकर्म का अथवा पुण्य पाप या अन्य कोई कारण है ? इसीप्रकार सरोगता और नीरोगता होने में भी क्या कारण है ?

समाधान—समयसार गा. २४८ से २५८ तक यह बतलाया गया है कि सुख-दुख जीवन मरण सब कर्मोदय से होता है।

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तह्मा ण मारदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य भी लिखते हैं—"सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तयोर्भवितुम-शक्यत्वात्।"

जीवों के सुख, दुःख अपने कर्मोदय से ही होते हैं। कर्मोदय का अभाव होने से सुख, दुःख नहीं हो सकते।

ण य को विदेदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं सुहासुहं कुणदि ॥ ३१९ ॥ (स्वा. का. अ.)

यहाँ पर भी यही कहा गया है कि उपकार या अपकार जीव का शुभ व अशुभ कर्म करते हैं।

संस्कृत टीका—पूर्वोपार्जितप्रशस्ताप्रशस्तं कर्म पुण्यकर्म पापकर्म जीवस्य उपकारं लक्ष्मीसंपदादिकं सुखहित-वाञ्छितवस्तुप्रदानम् अपकारम् अशुभमसमीचीनं दुःख-दारिद्र्यरोगाहितलक्षणं च कुरुते। शुभाशुभकर्म जीवस्य सुख दुःखादिकं करोतीत्यर्थः ॥३१९॥

पूर्वोपार्जित प्रशस्तकर्म पुण्यकर्म जीव को लक्ष्मी संपदा सुख व हितकारी वांछित वस्तुओं को देता है। पूर्वोपार्जित अप्रशस्त कर्म पापकर्म जीव को दुःखी, निर्धन, रोगी आदि करता है। जीव के शुभ-अशुभकर्म ही जीव को सुखी, दुःखी करते हैं।

"बाल-जोव्वण—रायादिपज्जायाणं विणासण्णहाणुववत्तीए तव्विणाससिद्धीदो।"

(जयधवल पु० १ पृ० ५७)

कर्मों के कार्यभूत बाल, यौवन, और राजा आदि पर्यायों का विनाश कर्मों के विनाश हुए बिना नहीं बन सकता है। अर्थात् राजा आदि पर्यायें कर्मोदय जनित हैं।

"मुत्तो सहसंबंधेण परिणामंतरगमणण्णहाणुववत्तीदो। ण च परिणामंतरगमणमसिद्धं, तस्स तेण विणा जरकुट्ठक्खयादीणं विणासाणुववत्तीए परिणामंतरगमणसिद्धीदो।" (जयधवल पु. १ पृ. ५७)।

कर्म मूर्त है, क्योंकि रुग्णावस्था में औषधि का सेवन करने से रोग के कारणभूत कर्मों में उपशान्ति वगैरह देखी जाती है। यदि कहा जाय कि मूर्त औषधि के सम्बन्ध से रोग के कारणभूत कर्म में परिणामान्तर की प्राप्ति किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि परिणामान्तर की प्राप्ति के बिना ज्वर कुष्ठ और क्षय आदि रोगों का विनाश बन नहीं सकता है इसलिये औषधि आदि से कर्म में परिणामान्तर की प्राप्ति होती है। इससे सिद्ध है कि बाह्य द्रव्य क्षेत्र काल भव आदि के निमित्त से कर्मोदय होता है। यदि द्रव्य आदि अनुकूल नहीं है तो उनका स्वमुख उदय नहीं होता है अर्थात् वे कर्म अपना फल नहीं देते हैं। परमुख उदय होता है। अर्थात् दूसरे कर्मरूप संक्रमण होकर उस रूप फल देते हैं।

'दव्वकम्माइं जीव संबंधाइं संताइं किमिदि सगकज्जं कसायरूवं सव्वद्धं ण कुणंति? अलद्धविसिट्ठ-भावत्तादो। तदलंभे कारणं वत्तव्वं? पागभावो कारणं। पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवा वेक्खाए जायदे। तदो ण सव्वद्धं दव्वकम्माइं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धं।' (जयधवल पु. १ पृ. २८९)।

जब द्रव्यकर्मों का जीव के साथ संबंध पाया जाता है तो वे अपने कार्य को सर्वदा क्यों नहीं उत्पन्न करते हैं? सभी अवस्थाओं में फल देनेरूप विशिष्टअवस्था को प्राप्त न होने के कारण द्रव्यकर्म सर्वदा अपने कार्य को नहीं करते हैं। द्रव्यकर्म फल देनेरूप विशिष्ट अवस्था (उदयरूप अवस्था) को सर्वदा प्राप्त नहीं होते, इसमें क्या कारण है?

प्रागभाव के कारण द्रव्यकर्म सर्वदा उदय अवस्था को प्राप्त नहीं होते हैं। प्रागभाव का विनाश हुए बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और प्रागभाव का विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा लेकर होता है, इसलिये द्रव्यकर्म सर्वदा अपने कार्य को उत्पन्न नहीं करते हैं यह सिद्ध होता है।

"विवागसुत्तं णाम अंगं दव्वखेत्तकालभावे अस्सिदूण सुहासुहकम्माणं विवागं वण्णेदि।"

(जयधवल पु० १ पृ० १३२)

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर शुभ और अशुभ कर्मों के विपाक (फल) का वर्णन करने वाला विपाकसूत्र अंग है।

"कम्मोदयो खेत्त-भवकालपोग्गल-ट्ठिदिविवागोदयखओ भवदि।" (कषायपाहुडसूत्र पृ. ४९८)।

"खेत्त-भव-काल-पोग्गल-ट्ठिदिविवागोदयखयो दु ॥५९॥" (क. पा. सु. पृ. ४६५)।

कर्मोदय क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलद्रव्य के आश्रय से स्थिति के विपाकरूप होता है, अर्थात् कर्म उदय में आकर अपना फल देकर झड़ जाते हैं। इसी को उदय या क्षय कहते हैं।

"कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकाल-भवभावप्रत्ययफलानुभवनं।" (सर्वार्थसिद्धि ९।३६)।

द्रव्य, क्षेत्र, काल भव, भावको निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों के फल का अनुभवन होता है अर्थात् कर्मोदय होता है।

"द्रव्यादिबाह्यप्रत्ययवशात् परिपाकमुपयाति।" (रा. वा. ५।२०)।

द्रव्यादि बाह्यनिमित्त के वश से ही कर्म उदय में आकर फल देता है। साता-असातावेदनीय कर्म के उदय से ही सुख दुःख की सामग्री मिलती है।

'ण च सुह-दुक्खहेउदव्वसंपादयमण्णं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो।' (धवल पु. ६ पृ. ३६)।

सुख और दुःख के कारणभूत द्रव्यों का संपादन करने वाला वेदनीयकर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म नहीं है, क्योंकि वैसा कोई कर्म पाया नहीं जाता।

"अभिलषितार्थप्राप्तिर्लाभः।"

अर्थात् अभिलषित अर्थ की प्राप्ति होना लाभ है। (ध. पु. १३ पृ. ३८९)।

"जस्स कम्मस्स उदएण लाहस्स विग्घं होदि तल्लाहंतराइयं।"

जिस कर्म के उदय से लाभ में विघ्न होता है वह लाभान्तराय कर्म है। (धवल पु. ६ पृ. ७८)।

अतः स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इच्छित बाह्यसामग्री की प्राप्ति लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से होती है, क्योंकि इस सामग्री के मिलने से दुःख का उपशमन होता है अतः साता वेदनीय कर्मोदय भी कारण है।
(धवल पु. ६ पृ. ३५; पु. १३ पृ. ३५७; पु. १५ पृ. ६)

स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इच्छित बाह्यसामग्री का वियोग या अप्राप्ति लाभान्तराय कर्मोदय से होता है, क्योंकि इस इष्ट सामग्री के वियोग से या अप्राप्ति से दुःख होता है अतः असातावेदनीय कर्मोदय भी कारण है। (धवल पु. १३ पृ. ३५७)।

—जै. ग. 16-3-72/VIII/ क्षु. शीतलसागर

शरीर नामकर्मोदय के कार्य—१. शरीर रचना २. योगोत्पत्ति ३. कर्म नोकर्म संचय

शंका—शरीरनामकर्म के उदय का कार्य आहार तैजस व कार्मणवर्गणाओं को शरीररूप परिणमाना है तथा योग भी शरीर नामकर्मोदय से होता है। शरीर बनने योग्य बहुत से पुद्गलों का संचय भी शरीर नामकर्मोदय से होता है। इसप्रकार शरीर नामकर्म के तीन कार्य हो जाते हैं। क्या यह ठीक है ?

समाधान—एक से अनेक कार्यों का उत्पन्न होना सम्भव है। कहा भी है—

> अनेककार्यकारित्वं न चैकस्य विरुध्यते।
> दाहपाकादिहेतुत्वं दृश्यते हि विभावसोः ॥२८॥ (त. सा. अ. ६)

एक ही अनेक कार्यों को करने वाला हो, इसमें विरोध नहीं है, क्योंकि एक ही अग्नि गर्मी तथा भोजन पकाना आदि कार्यों का कारण देखी जाती है।

"एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्। यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते।"
(सर्वार्थसिद्धि ९। ३)

अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं।

अनेक क्रियाकारित्व सिद्धान्त के अनुसार एक ही शरीर नामकर्मोदय से भिन्न-भिन्न तीन कार्यों का होना सम्भव है, किन्तु इसका मुख्य कार्य शरीर की रचना है।

"यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम।" (सर्वार्थसिद्धि ८।११)

जिसके उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है वह शरीर नामकर्म है।

"जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए पोग्गलक्खंधा तेजकम्मइयवग्गणपोग्गलक्खंधा च सरीरजोग्ग-परिणामेहि परिणदा संता जीवेण संबज्झंति तस्स कम्मक्खंधस्स सरीरमिदि सण्णा। जदि सरीरणाम कम्मं जीवस्स ण होज्ज, तो तस्स असरीरत्तं पसज्जदे असरीरत्तादो अमुत्तस्स ण कम्माणि विमुत्तमुत्ताणं पोग्गलप्पाणं संबंधा-भावादो।" (धवल पु. ६ पृ. ५२)।

जिस कर्मोदय से आहारवर्गणा के पुद्गलस्कन्ध तथा तैजस व कार्मणवर्गणा के पुद्गलस्कन्ध शरीरयोग्य परिणामों के द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं, उस कर्मस्कन्ध की शरीर यह संज्ञा है। यदि शरीर नामकर्म जीव के न हो, तो जीव के अशरीरता का प्रसंग आता है। शरीररहित होने से अमूर्त आत्मा के कर्मों का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि मूर्तपुद्गल और अमूर्त आत्मा के सम्बन्ध होने का अभाव है।
(धवल पु० ६ पृ० ५२)

श्री धवलसिद्धान्तग्रंथ के इस कथन से यह स्पष्ट है कि शरीर के कारण ही आत्मा का कर्मों से सम्बन्ध होता है। इसलिये शरीर नामकर्मोदय के कारण जीव में कर्मग्रहणशक्ति अर्थात् योग होता है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य ने कहा भी है—

> पुग्गलविवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
> जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१६॥ (गो. जी.)

पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मोदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है वह योग है।

शरीर नामकर्मोदय से जीव में कर्म-ग्रहणशक्ति उत्पन्न होती है जो योग है अतः योग औदयिकभाव भी माना गया है। कहा भी है—

"जोगमग्गणा वि ओदइया, णामकम्मस्स उदीरणोदयजणिदत्तादो।" (धवल पु. ९ पृ. ३१६)।

योग मार्गणा भी औदयिक है, क्योंकि वह नामकर्म की उदीरणा व उदय से उत्पन्न होती है।

"ओदइयभावट्ठाणेण अहियारो, अघादिकम्माणमुदएण तप्पाओग्गेण जोगुप्पत्तीदो।" (धवल पु० १० पृ० ४३६)।

औदयिक भावस्थान का अधिकार है, क्योंकि योग की उत्पत्ति तत्प्रायोग्य अघातियाकर्मों के उदय से होती है।

"जदि जोगो वीरियंतराइयखओवसमजणिदो तो सजोगिम्हि जोगाभावो पसज्जदे ? ण, उवयारेण खओव-समियं भावं पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहादो।" (धवल पु. ७ पृ. ७६)।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से यदि योग उत्पन्न होता है तो सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है ? सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि योग में क्षायोपशमिकभाव तो उपचार से माना गया है। असल में तो योग औदयिकभाव ही है और औदयिकयोग का सयोगिकेवली में अभाव मानने में विरोध आता है।

ओदइओ जोगो, सरीरणामकम्मोदयविणासाणंतरं जोगविणासुवलंभा।" (धवल पु. ५ पृ. २२६)

योग औदयिकभाव है, क्योंकि शरीर नामकर्मोदय का नाश होने पर ही योग का विनाश पाया जाता है।

शरीर नामकर्मोदय से शरीर की रचना होती है, शरीर संयुक्त होने के कारण जीव मूर्त हो जाता है तथा उसमें कर्म व नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसे योग कहते हैं। उस योग से ही प्रदेशों का ग्रहण होकर संचय होता है।

पदेस अप्पाबहुए त्ति जहा
जोगअप्पाबहुगं णीदं तधाणेदव्वं ॥१७४॥

जोगादो कम्मपदेसाणमागमो होदि त्ति कधं णव्वदे ? एदम्हादो चेव पदेसअप्पाबहुगसुत्तादो णव्वदे। ण च पमाणंतरमवेक्खदे, अणवत्थापसंगादो। तेण गुणिदकम्मंसिओ तप्पाओग्ग उक्कस्सजोगेहि चेव हिंडावेदव्वो अण्णहा बहुपदेससंचयाणुववत्तीदो। खविदकम्मंसिओ वि तप्पाओग्गजहण्णजोगपंतीए आगमणकारणसरिसीए पयट्टावेदव्वो, अण्णहा कम्मणोकम्मपदेसाणं थोवत्ताणुववत्तीदो।" (धवल पु० १० पृ० ४३१-४३२)।

जिसप्रकार योग अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है, उसी प्रकार प्रदेशअल्पबहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिये ॥ १७४ ॥

योग से कर्मप्रदेशों का आगमन होता है, यह कैसे जाना जाता है ? वह इसी प्रदेश-अल्पबहुत्व सूत्र से जाना जाता है। वह किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वैसा होने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। इस कारण गुणितकर्मांशिक को तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट-योगों से ही घुमाना चाहिये, क्योंकि इसके बिना उसके बहुत प्रदेशों का संचय घटित नहीं होता। क्षपितकर्मांशिक को भी खड्गधारा सदृश तत्प्रायोग्य जघन्ययोगों की पंक्ति से प्रवर्ताना चाहिये, क्योंकि अन्य प्रकार से कर्म और नोकर्म के प्रदेशों की अल्पता नहीं बनती।

इसप्रकार शरीर नामकर्म से शरीर की रचना, शरीर से योगोत्पत्ति, योग से कर्म नोकर्म का संचय होता है।

जै. ग. 16-11-72/VII/रतनलाल जैन

बाह्य परिग्रह मात्र मूर्च्छा का फल नहीं है

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० २५३—'इससे ज्ञात होता है कि बाह्यपरिग्रह पुण्य का फल न होकर मूर्च्छा का फल है।' इसे स्पष्ट करने का कष्ट करें। क्या बाह्यपरिग्रह आदि का संयोग सातावेदनीय के उदय का फल नहीं है ? क्या लाभान्तराय के क्षयोपशम का फल नहीं है ?

समाधान—शंकाकार ने सर्वार्थसिद्धि से जो शब्द उद्धृत किये हैं वे मूलग्रन्थ के अनुवाद के शब्द नहीं हैं, किन्तु पं० फूलचन्दजी के विशेषार्थ के शब्द हैं, अतः वे प्रमाण कोटि में नहीं आते। आगम-अनुसार इस विषय पर विचार किया जाता है।

दुःख नाम की जो कोई भी वस्तु है वह असातावेदनीयकर्म के उदयसे होती है, क्योंकि वह जीव का स्वरूप नहीं है। यदि जीव का स्वरूप माना जाय तो क्षीण कर्म अर्थात् कर्मरहित जीवों के भी दुःख होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान और दर्शन के समान कर्म के विनाश होने पर दुःख का विनाश नहीं होगा, किन्तु सुख कर्म से उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि वह जीव का स्वभाव है, और इसलिये वह कर्म का फल नहीं है। सुख को जीव का स्वभाव मानने पर सातावेदनीय कर्म का अभाव भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि दुःख-उपशमने के कारणभूत सुद्रव्यों के सम्पादन में सातावेदनीय कर्म का व्यापार होता है। इस व्यवस्था के मानने पर सातावेदनीयप्रकृति के पुद्गल-विपाकित्व प्राप्त होगा, ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि दुख के उपशम से उत्पन्न हुए, दुख के अविनाभावी उपचार से ही सुख संज्ञा को और जीव से अपृथग्भूत प्राप्त ऐसे स्वास्थ्य कण का हेतु होने से सूत्र में सातावेदनीय कर्म के जीवविपाकित्व और सुख-हेतुत्व का उपदेश दिया गया है। यदि यह कहा जाय कि उपर्युक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीयकर्म के जीवविपाकीपना और पुद्गलविपाकीपना प्राप्त होता है, सो भी कोई दोष नहीं, क्योंकि यह बात इष्ट है। यदि कहा जाय कि उक्त प्रकार का उपदेश प्राप्त नहीं है, सो भी नहीं, क्योंकि जीव का अस्तित्व अन्यथा बन नहीं सकता है, उसप्रकार के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। सुख और दुख के कारणभूत द्रव्यों का सम्पादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है, क्योंकि वैसा कोई कर्म पाया नहीं जाता।

(धवल पु० ६ पृ० ३५-३६)

उपर्युक्त आगम से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो जीव बाह्यपरिग्रह के अभाव में दुखी हो रहे हैं, उनके दुःख दूर होने का कारणभूत बाह्यपरिग्रह सातावेदनीय कर्मोदय से मिलता है, किन्तु जिन जीवों ने बाह्य-परिग्रह का त्याग कर दिया है अथवा जो जीव बाह्यपरिग्रह के अभाव में सुख का आनन्द ले रहे हैं। जैसे मुनि महाराज आदि, उनके पुण्य का उदय होते हुए भी बाह्यपरिग्रह का संयोग नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर दुःख नहीं है

जिसको दूर करने के लिये बाह्यपरिग्रह की आवश्यकता हो। जयधवल पुस्तक १ पृ० ५७ पर भी कहा है कि 'कर्मों के कार्यभूत बाल, यौवन और राजादि पर्याय है।' राजा के बाह्यपरिग्रह अधिक होता है जिसको कर्म का कार्य बतलाया है। यदि मात्र मूर्च्छा का फल बाह्यपरिग्रह मान लिया जावे तो दरिद्री पुरुष के मूर्च्छा तो बहुत है, किंतु उसके बाह्यपरिग्रह का अभाव है, अतः इसप्रकार की मान्यता में व्यभिचार आता है। इसप्रकार पं० फूलचन्दजी की मान्यता उपर्युक्त आगम के अनुकूल नहीं है।

—जै. ग. 28-11-63/IX/र. ला. जैन, मेरठ

बुढ़ापा एवं कमजोरी के कारणभूत कर्म

शंका—बुढ़ापा लाना किस कर्मप्रकृति का कार्य है? शरीर में शिथिलता आदि कमजोरी किस प्रकृति के कारण होती है?

समाधान—असातावेदनीय तथा नामकर्म के कारण बुढ़ापा आता है। उपघात नामकर्म से शिथिलता आदि आती है।

—जै. ग. 19-12-66/VIII/र. ला. जैन

जीव विपाकी पुद्गल विपाकी

शंका—तैजस शरीर औदारिक तथा वैक्रियिक आदि शरीरों की कान्ति में निमित्त होता है और आदेय-प्रकृति से भी शरीर में प्रभा और कान्ति होती है तो फिर तैजस शरीर और आदेयप्रकृति में क्या अन्तर है? आदेयप्रकृति जीवविपाकी है फिर शरीर में कैसे काम करती है?

समाधान—औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीर में दीप्ति करने वाला तैजस शरीर है। (राजवार्तिक अ० २ सूत्र ३६ वार्तिक २ सूत्र ४९ वार्तिक ८) किंतु जिस कर्म के उदय से जीव के बहुमान्यता उत्पन्न होती है, वह आदेय नामकर्म है। क्योंकि आदेयता, ग्रहणीयता और बहुमान्यता ये तीनों शब्द एक अर्थ वाले हैं (धवल पु० ६ पृ० ६५) इसप्रकार आदेय प्रकृति शरीर में दीप्ति का कारण नहीं है, किन्तु जीव की बहुमान्यता में कारण है। जीव विपाकी भी है, क्योंकि उसका कार्य जीव की बहुमान्यता में हो रहा है, शरीर में कोई कार्य आदेयप्रकृति से नहीं होता है।

—जै. ग. 1-2-62/VI/मू. च. छ. ला.

विग्रहगति में उदय

शंका—जबकि विग्रहगति में शरीर ही नहीं है तो वहाँ पर स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ का उदय क्या काम करता है?

समाधान—विग्रहगति में उक्त प्रकृतियों का अव्यक्त उदयरूप से अवस्थान रहता है जैसे सयोगकेवली के परघातप्रकृति का अव्यक्त उदय होता है। (धवल पु० ६ पृ० ६४)।

—जै. ग. 8-2-62/VI/मू. च. छ. ला.

निन्दा का कारणभूत कर्म

शंका—प्राणी दूसरे प्राणी की निन्दा किस कर्म के उदय से करता है? निन्दक के कौन से कर्म का उदय है?

समाधान—निन्दक कषाय के उदय में दूसरे प्राणी की निन्दा करता है। निन्दा करने में मुख्यता से मानकषाय का उदय रहता है। क्रोध कषाय के उदय में भी निन्दा की जा सकती है। दूसरे को प्रसन्न करने के लिए भी अन्य की निन्दा की जाती है उसमें माया या लोभ कषाय का उदय भी सम्भव है। इसप्रकार चारों कषायों के उदय में निन्दा सम्भव है। कषायोदय बिना निन्दा सम्भव नहीं है।

—जै. ग. 8-2-62/मु. च. छ. ला.

अग्नि एवं सूर्य की किरणों में अन्तर

शंका—सूर्य की किरणों को 'अग्नि' में कहा जा सकता है या नहीं। यदि नहीं तो क्यों, फिर वह क्या है ?

समाधान—सूर्य की किरणें अग्नि नहीं हैं। अग्नि मूल में उष्ण होती है और उसकी आभा भी उष्ण होती है। सूर्य मूल में ठंडा है, किंतु उसकी आभा उष्ण है, अतः वह आतप है।

(सर्वार्थसिद्धि अ० ८ सूत्र ११ की टीका)

—जै. ग. 28-11-63/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

मानव की विभिन्न शक्लों (चेहरों) का कारण

शंका—मनुष्यादि जीवों की शक्ल में भिन्नता पाई जाती है। वह अङ्गोपाङ्ग की भिन्न-भिन्न आकार की रचना के कारण। तो यह अंगोपांग की भिन्न रचना किस प्रकृति के उदय से होती है? तथा उस प्रकृति का भिन्न २ बंध किन भावों से होता है? केवलज्ञानी जीवों के चेहरे की आकृति समान होती है या पृथक्-पृथक् अर्थात् किसी की नाक छोटी, किसी की लम्बी, किसी के ओंठ मोटे, किसी के पतले आदि और वर्ण में भी अन्तर रहता है या नहीं ?

समाधान—कर्मबन्ध की आठ मूलप्रकृति हैं। उनमें से एक नामकर्म भी है। नामकर्म की ९३ उत्तर प्रकृतियाँ हैं। उनमें से अङ्गोपाङ्ग नामकर्म, निर्माण नामकर्म, वर्ण नामकर्म, संस्थान नामकर्म भी उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इनके भी अवान्तर भेद असंख्यात हैं। इन कर्मों के उदय के कारण मनुष्यादि जीवों की भिन्न-भिन्न शक्लें पाई जाती हैं। कषायस्थान व योगस्थान भी असंख्यात हैं। कषायस्थानों व योगस्थानों की विभिन्नता के कारण अंगोपांग आदि प्रकृतियों के बंध में विभिन्नता आ जाती है।

केवलज्ञानी जीवों के चेहरे की आकृति भिन्न-भिन्न होती हैं, क्योंकि उनके अंगोपांग आदि नामकर्म के उदय में विभिन्नता है। वर्ण में भी अन्तर रहता है क्योंकि भिन्न-भिन्न वर्णनामकर्म का उदय पाया जाता है। कर्मप्रकृति के उदय के अनुरूप परिणाम होता है।

—जै. ग. 28-11-63/IX/ र. ला. जैन

चार कषायों के अक्रम उदय में व्यवस्था

शंका—क्या अनन्तानुबन्धी के उदय में सोलह कषायों का उदय होता है या अनन्तानुबन्धी का ही उदय रहता है और समझा जाता है सोलह का ही उदय है ?

समाधान—कषाय चार प्रकार की हैं—१ क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ। इन चारों में से प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार की हैं। इसप्रकार कषाय के सोलह भेद हो जाते हैं। इन सोलह कषायों का एक साथ उदय नहीं हो सकता, क्योंकि जिस समय क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक कषाय का उदय होता है उस समय अन्य तीन कषायों का उदय नहीं होता है। अर्थात् जब क्रोध का उदय होगा तो मान, माया, लोभ का उदय नहीं होगा। जब मान का उदय होगा उस समय क्रोध, माया, लोभ का उदय नहीं। जिसके अनन्तानुबन्धीक्रोध का उदय है उसके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलनक्रोध का उदय अवश्य होगा, क्योंकि उसके देशव्रत, महाव्रत तथा यथाख्यातचारित्र का अभाव पाया जाता है जो कि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के उदय का कार्य है। ऐसा नहीं है कि केवल अनन्तानुबन्धीक्रोध का उदय हो और अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलनक्रोध का उदय न हो। अप्रत्याख्यानावरणक्रोध के उदय में प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनक्रोध का उदय अवश्य होगा किंतु अनन्तानुबन्धी क्रोध का उदय भजितव्य है अर्थात् उदय हो और न भी हो। प्रत्याख्यानावरणक्रोध के उदय में संज्वलन का उदय अवश्य होगा, किंतु अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरणक्रोध का उदय भजितव्य है। संज्वलन-क्रोध के उदय में शेष अनन्तानुबन्धी आदि तीन का उदय होना भजितव्य है। इसीप्रकार मान, माया व लोभ के विषय में जानना चाहिये।

—जै. ग. 17-5-62/VII/ रामदास कैराना

दानान्तरायादि से घातित आत्म-गुणों का विचार

शंका—अन्तरायकर्म की दान, लाभ, भोग, उपभोग ये प्रकृतियाँ आत्मा के कौन से गुणों की घातक हैं। इन प्रकृतियों के क्षयोपशम से प्राप्त लब्धियाँ आत्मा में क्या कार्य उत्पन्न करती हैं? यह कार्य आत्मा का गुण कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—जो दो पदार्थों के अन्तर अर्थात् मध्य में आता है वह अन्तरायकर्म है **"अन्तरमेति गच्छति द्वयोः इत्यन्तरायः।"** (**धवल पुस्तक ६ पृ० १३**) वह अन्तरायकर्म दान, लाभ, भोग और उपभोग आदिकों में विघ्न करने में समर्थ है। दान आदि का स्वरूप इसप्रकार है—

"रत्नत्रयवद्भ्यः स्ववित्तपरित्यागो दानं रत्नत्रयसाधनवित्सा वा। अभिलषितार्थप्राप्तिर्लाभः। सकृद्भुज्यते इति भोगः गन्ध-ताम्बूल-पुष्पाहारादिः। परित्यज्य पुनर्भुज्यत इति परिभोगः स्त्री-वस्त्राभरणादिः। वीर्यः शक्ति-रित्यर्थः। एतेषां विघ्नकृदन्तरायः।" (धवल १३ पृ० ३८९)

अर्थ—रत्नत्रय से युक्त जीव के लिये अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रदान करने का नाम दान है। अभिलषित अर्थ की प्राप्ति होना लाभ है। जो एक बार भोगा जाय वह भोग है। यथा गंध, पान, पुष्प और आहार आदि। छोड़कर जो पुनः भोगा जाता है वह उपभोग है। यथा स्त्री, वस्त्र, आभरण आदि। वीर्य का अर्थ शक्ति है। इनकी प्राप्ति में विघ्न करनेवाला अन्तरायकर्म है।

त्याग, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य आत्मा के धर्म हैं। समस्त जीवों के प्रति अभयदान, रत्नत्रय का लाभ अपनी पर्याय का अथवा अपने भावों का भोग अपने गुणों का अथवा अपनी व्यंजनपर्याय का उपभोग और वीर्य ये आत्मा के निश्चयनय की अपेक्षा से धर्म हैं।

"उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपंचेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखं भुंक्ते । शुद्धनिश्चयनयेन तु परमात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणं सुखामृतं भुंक्त इति ।" (बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ९ की टीका)

अर्थ—उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय से इष्ट, अनिष्ट पाँच इंद्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख दुःख को भोगता है । शुद्धनिश्चयनय से तो परमात्म-भाव के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरण से उत्पन्न अविनाशी आनन्दरूपवाले सुखामृत को भोगता है ।

इसप्रकार नयविकल्पों के द्वारा आत्मा के धर्मों को जान लेने पर अन्तरायकर्म का ज्ञान हो जाता है ।

—जै. ग. 6-12-65/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

'दूसरों को उपहास का पात्र बनाना' मान कषाय का कार्य है

शंका—हास्यप्रकृति के उदय का कार्य हास्य उत्पन्न करना है या उपहास का पात्र बनाना है ? यदि हास्य उत्पन्न करना है तो उपहास का पात्र बनाना किस कर्म के उदय का फल है ? दूसरे, हास्य के आस्रव के हेतुओं से तो ऐसा लगता है कि हास्यप्रकृति के उदय का कार्य उपहास का पात्र बनाना ही होना चाहिये ?

समाधान—आर्ष ग्रन्थों में हास्यप्रकृति का कार्य निम्न प्रकार बतलाया है—

"जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के हास्यनिमित्तक राग उत्पन्न होता है, उस कर्मस्कंध की 'हास्य' यह संज्ञा है ।" (धवल पु. ६ पृ. ४७)

"जिसके उदय से हास्य का आविर्भाव होता है वह हास्यप्रकृति है ।" (रा. वा. ८।९।४)

"जिसके उदय से उत्सुक होता हुआ हास्य प्रकट हो वह हास्यकर्म है ।" (हरिवंशपुराण ५८।२३५)

गो० क० गाथा ७६ की टीका में हास्यप्रकृति का नोकर्म विटंवरूप भूत व बहुरूपिया व हंसने के पात्र इत्यादिक हैं । इनके निमित्त से हास्यप्रकृति का उदय होता है ।

बहुत जोर से हंसना, दीन पुरुषों को देखकर हास्य करना, अशिष्टवचन प्रयोग से हंसना, बहुत बोलने से हँसना, ये सब हास्यवेदनीयकर्म के आस्रव के हेतु हैं । (रा. वा. ६।१४।३)

धर्म का उपहास आदि करने से हास्यरूप स्वभाव का होना, हास्य-अकषायवेदनीय के आस्रव का कारण है । (हरिवंश पुराण ५८।९९)

इन आर्षग्रन्थों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि हास्यप्रकृति के उदय का कार्य दूसरों को उपहास का पात्र बनाना नहीं है, किंतु ये हास्य के उदय का नोकर्म है अथवा हास्य के आस्रव का कारण है ।

मानकषाय के उदय में दूसरों को उपहास का पात्र बनाकर उसको नीचे दिखाने के भाव हो सकते हैं । अतः यह मान कषायोदय का कार्य हो सकता है ।

—जै. ग. 20-6-68/VI/........

कर्म आत्मा को परिभ्रमण कराते हैं

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव के पृ. ३३४ पर लिखा है—"कर्म आत्मा को परिभ्रमण नहीं कराते।" क्या यह ठीक है ?

समाधान—'कर्म आत्मा को परिभ्रमण नहीं कराते' सोनगढ़ वालों का ऐसा लिखना ठीक नहीं है। दि० जैन महानाचार्य श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है—

"यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादितारगर्तभ्रान्ति घटीयन्त्रभ्रान्ति जनिकां बलीवर्दपरिभ्रमणाभावे चारगर्तभ्रान्त्यभावाद् घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिं च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतोदृष्टादनुमानाद् बलीवर्दतुल्यकर्मोदयापादितां चतुर्गत्यरगर्त-भ्रान्तिं शारीरमानसविविधवेदनाघटीयन्त्र-भ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञानदर्शनचारित्राग्नि-निर्दग्धस्य कर्मण उदयाभावे चतुर्गत्यरगर्तभ्रांत्यभावात् संसारघटीयन्त्र भ्रांतिनिवृत्त्या भवितव्यमित्यनुमीयते।"

(त. रा. वा. भाग १ वा. ९ पृ. २)

जैसे बैलों के घूमने से घटीयन्त्र का धुरा घूमता है जो घटीयन्त्र को घुमाता है। यदि बैल का घूमना बन्द हो जाय तो धुरे का घूमना बन्द हो जाता है, जिससे घटीयन्त्र का घूमना रुक जाता है। उसीप्रकार कर्मरूपी बैल के उदयरूप चलने पर चतुर्गतिभ्रमणरूप धुरा चक्र लगाने लगता है जिससे अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनारूप घटीयंत्र घूमता है। कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति भ्रमण रुक जाता है जिससे संसाररूपी घटीयन्त्र का परिचलन समाप्त हो जाता है।

"यदुपार्जितं चतुर्गतिनामकर्म तदुदयवशेन देवादिगतिषूत्पद्यं त इति सूत्रार्थः ॥११८॥ (पंचास्तिकाय)

पूर्व में बँधे हुए देवादि चतुर्गति नामकर्म के उदय के वश से यह जीव देवादि गतियों में उत्पन्न होता है अर्थात् भ्रमण करता है। इन आर्षप्रमाणों से यह सिद्ध है कि आत्मा कर्म-परतंत्रता के वश से चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता है। श्री कुंदकुंदआचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११८॥ (प्रवचनसार)

टीका—यथा खलु ज्योतिः स्वभावेन तैल स्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिकार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् ॥११७॥

गाथार्थ—'नाम' संज्ञावाला नाम-द्रव्यकर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके चतुर्गतिरूप मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देवपर्यायों को करता है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्र आचार्य दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

टीका अर्थ—जैसे ज्योति (लौ) अपने स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योति का (लौ का) कार्य है, उसी प्रकार द्रव्यकर्म अपने स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाने वाली चतुर्गतिरूप मनुष्य आदि पर्यायें कर्म के कार्य हैं।

श्री कुंदकुंद तथा श्री अमृतचन्द्र इन दोनों आचार्यों ने स्पष्टरूप से यह उल्लेख किया है कि चतुर्गतिरूप संसार कर्म का कार्य है।

—जै. ग. 8-2-73/VII/ सुलतानसिंह

निद्रा दर्शनावरण प्रकृतियाँ सामान्य दर्शन की विनाशक हैं

शंका—निद्रा, प्रचला आदि पांच निद्रा दर्शनावरणकर्म प्रकृति कौन-से दर्शन की घातक हैं ?

समाधान—ये पाँचों निद्रा सामान्य दर्शन का विनाश करती हैं।

"सगसंवेयणविणासहेदुत्तादो एदाओ पंचविहपयडीओ दंसणावरणीयं। एदाओ पंच वि पयडीओ दंसणावरणीयं चेव; सगसंवेयणविणासकरणादो। णिद्दाए विणासिदबज्झत्थगहणजणणसत्तित्तादो। ण च तज्जणणसत्ती णाणं, तिस्से दंसणप्पयजीवत्तादो।" (धवल पु. १३ पृ. ३५४ व ३५५)

अर्थ—स्वसंवेदन (अंतर्चित्तमुखप्रकाश) के निवास में कारण होने से ये निद्रादि पाँचों ही प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय हैं। ये पाँचों निद्रा प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय ही हैं, क्योंकि वे स्वसंवेदन का विनाश करती हैं। निद्रा बाह्यअर्थ के ग्रहण को उत्पन्न करनेवाली शक्ति की विनाशक है और बाह्यार्थग्रहण को उत्पन्न करनेवाली यह शक्ति ज्ञान तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह दर्शनात्मक जीवस्वरूप है।

—जै. ग. 13-1-72/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

निद्रा के समय कोई भी उपयोग नहीं होता

शंका—जब पांच निद्रा में से अन्यतम निद्रा का उदय आता है तब जो निद्रा आने के पूर्व वाले समय में ज्ञानोपयोग चल रहा था वह टूट जाता है या नहीं ? यानी किसी भी (अन्यतर) निद्रा के उदयोदीरणा काल में क्या उस विवक्षित वर्त्तमान समय का ज्ञानोपयोग टूट जाता है क्या ? मेरे हिसाब से तो अत्यधिक शिथिलतादायक तथा दर्शनचेतना की नाशक व प्रमादकर्त्री निद्रा का उदय होने पर उस समय प्रवर्तते हुए ज्ञानोपयोग को भी नष्ट कर देती है यानी तोड़ देती है।

समाधान—निद्रा का उदय होने पर दर्शनोपयोग तो होता नहीं। दर्शन पूर्वक होने के कारण ज्ञान भी नहीं होता। (धवल पु० १३ पृ० ३५५)

—ज. ला. जैन, भीण्डर/पत्र/6-5-80

अन्तराय सबसे अन्त में क्यों कहा ?

शंका—अन्तरायकर्म सब कर्मों के अन्त में क्यों रखा गया ?

समाधान—यही प्रश्न गोम्मटसार में उठाया गया है और उसका उत्तर श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने निम्न प्रकार दिया है—

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि ॥१७॥ (गो. क.)

अन्तरायकर्म घातिया है, तथापि अघातियाकर्मों की तरह समस्तपने से जीव के गुणों को घातने में वह समर्थ नहीं है। नाम, गोत्र तथा वेदनीय इन तीनों अघातियाकर्मों के निमित्त से ही अन्तरायकर्म अपना कार्य करता है, इस कारण अघातियाकर्मों के भी अन्त में अन्तरायकर्म कहा गया है।

—जै. ग. 13-1-72/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

पुद्गलविपाकी कर्मों का आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसा एकान्त नहीं है

शंका—शरीर नामकर्म शायद पुद्गलविपाकी प्रकृति है। यदि ऐसा है तो वह जीव में योगशक्ति को जो जीव की पर्याय शक्ति है कैसे उत्पन्न करती है? उसको जीवविपाकी क्यों न माना जाय?

समाधान—शरीर नामकर्म पुद्गलविपाकी प्रकृति है, क्योंकि इस प्रकृति का कार्य पौद्गलिक शरीर की रचना है, किन्तु पुद्गलविपाकी प्रकृतियों का आत्मा पर कुछ भी प्रभाव न पड़ता हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है। उत्तम संहनन नामकर्म ध्यान में कारण होता है, इसीलिये उत्तमसंहनन वाले के ही एक अन्तर्मुहूर्ततक ध्यान हो सकता है, हीनसंहननवाले के नहीं हो सकता। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ में कहा भी है—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्तात् ॥२७॥"

किंतु संहनन नामकर्म का कार्य हड्डियों की निष्पत्ति है, इसलिये संहनननामकर्म पुद्गलविपाकी कहा गया है।

"जस्स कम्मस्स उदएण सरीरे हड्डणिप्फत्ती होदि तं सरीरसंघडणं णाम।" (धवल १३ पृ. ३६४)

अर्थ—जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की निष्पत्ति होती है वह शरीरसंहनन नामकर्म है।

यद्यपि शरीर नामकर्म के उदय से आहारवर्गणा तैजसवर्गणा व कार्मणवर्गणा के पुद्गलस्कंध शरीररूप परिणत होते हैं तथापि उस शरीर की रचना आत्मप्रदेशों में होती है आत्मा से भिन्न प्रदेशों में नहीं होती है, इसीलिये शरीर और आत्मा का परस्पर बन्ध होता है। शरीर का और आत्मा का परस्पर बन्ध होने के कारण ही जीव मूर्तभाव को प्राप्त हो जाता है और जीव में योगशक्ति उत्पन्न हो जाती है। कहा भी है—

असरीरत्तादो अमुत्तस्स ण कम्माणि, मिमुत्तमुत्ताणं पोग्गलप्पाणं संबंधाभावादो। होदु चेण, सिद्धसमाणत्तावत्तीदो संसाराभावप्पसंगा।" (धवल पु. ९ पृ. ५२)

यदि आत्मा के शरीर न हो तो आत्मा अमूर्त हो जायेगी जैसे सिद्धभगवान शरीररहित होने से अमूर्त हैं और अमूर्त आत्मा के कर्मों का बन्ध होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि मूर्त पुद्गल और अमूर्त आत्मा के सम्बन्ध होने का अभाव है। यदि अमूर्त-आत्मा और मूर्तपुद्गल इन दोनों का सम्बन्ध न माना जाय तो सभी संसारी जीवों के सिद्धों के समान होने की आपत्ति से संसार के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः शरीर के कारण आत्मा मूर्त हो रही है और आत्मा के साथ कर्म व नोकर्म का सम्बन्ध हो रहा है। नवीनकर्म व नोकर्म का सम्बन्ध योग से होता है। अतः शरीर नामकर्मोदय से योग की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं आता है। शरीर पौद्गलिक है, अतः शरीर नामकर्म को पुद्गलविपाकी कहने में भी कोई हानि नहीं है।

—जै. ग. 16-11-72/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

असंयत तिर्यंचों के भी उच्चगोत्र का उदय नहीं

शंका—संयतासंयत तिर्यंचों में उच्चगोत्र भी संभव है, क्योंकि उच्चगोत्र का उदय गुणप्रत्ययिक और भव प्रत्ययिक दो प्रकार का होता है। असंयतसम्यग्दृष्टितिर्यंच के उच्चगोत्र का उदय क्यों नहीं होता, क्योंकि सम्यग्दर्शन तो विशेष गुण है, इसके बिना ज्ञान व चारित्र सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होते हैं?

समाधान—यह ठीक है कि सम्यग्दर्शन भी आत्मा का गुण है और सम्यग्दर्शन ही ऐसी परम पैनी छैनी है जो अनन्तानन्त संसार स्थिति को काटकर अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र कर देता है, किन्तु सम्यग्दर्शन इतना अधिक विशेष गुण नहीं जितना अधिक विशेष संयमगुण है। सम्यग्दर्शन तो चारों गतियों मे हो सकता है, किंतु संयम मात्र मनुष्यगति में कर्मभूमिया के हो सकता है तथा संयमासयम कर्मभूमिया-मनुष्य व तिर्यंचों के हो सकता है। संयम से निरन्तर असंख्यातगुणीकर्म निर्जरा होती रहती है, किंतु सम्यक्त्व के मात्र उत्पत्तिकाल में ही निर्जरा होती है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन से संयम में विशेषता है। इस विशेषता के कारण ही संयतासंयत व संयत जीवों को गुणप्रतिपन्न कहा जाता है। धवल पु १५ पृ. १७३-१७४ पर कहा भी है—

"उच्चागोदाणमुदीरणा गुणपडिवण्णेसु परिणामपच्चइया, अगुणपडिवण्णेसु भवपच्चइया। को पुण गुणो? संजमो संजमासंजमो वा।" (धवल पु. १५ पृ. १७३-७४)

उच्चगोत्र की उदीरणा गुणप्रतिपन्न जीवों में परिणाम-प्रत्ययिक और अगुणप्रतिपन्न जीवों में भवप्रत्ययिक होती है। गुण से क्या अभिप्राय है? "गुण से अभिप्राय संयम और संयमासंयम का है।"

यहाँ पर गुण शब्द से सम्यग्दर्शन को ग्रहण नहीं किया गया है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी 'चारित्तं खलु धम्मो' वाक्य द्वारा चारित्र को ही धर्म कहा है।

—*जै. ग. 29-6-72/IX/ रो. ला. जैन*

म्लेच्छों व आर्यों के गोत्र

शंका—कर्मभूमिज आर्य व म्लेच्छ क्या उच्चगोत्री हैं या नीचगोत्री भी हैं?

समाधान—कर्मभूमिज आर्य उच्च गोत्री हैं। कहा भी है—

"आर्यप्रत्ययाभिधान-व्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां सन्तानः उच्चैर्गोत्रं।" (धवल पु. १३ पृ. ३८९)

अर्थ—जो 'आर्य' इसप्रकार के ज्ञान और वचनव्यवहार के निमित्त हैं, उन पुरुषों की परम्परा को उच्च गोत्र कहा जाता है।

इन्हीं शब्दों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि म्लेच्छ नीचगोत्री है तथा कहा भी है—

"न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः म्लेच्छराज समुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्।"

अर्थ—सम्पन्न जनों से जीवों की उत्पत्ति में उच्चगोत्र का व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसप्रकार तो म्लेच्छ राजा से उत्पन्न हुए बालक के भी उच्चगोत्र का उदय देखा जाता है।

म्लेच्छखंड में उत्पन्न हुए म्लेच्छ तथा आर्य खण्ड में उत्पन्न हुए शक, यवन आदि भी म्लेच्छ हैं।

"कर्मभूमिजाश्च शकयवनशबरपुलिन्दादयः।" (सर्वार्थसिद्धि ३/६) शक, यवन, शबर, पुलिन्द आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

—जै. ग. 19-11-70/VII/ ज्ञा. कु. बड़जात्या

पंचम गुणस्थानवर्ती क्षायिकसम्यक्त्वी के उच्चगोत्र के उदय के बारे में मतद्वय

श्री ब्र० राजमलजी [आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी संघस्थ की शंका]

शंका—पंचमगुणस्थानवर्ती क्षायिकसम्यग्दृष्टि मनुष्य के नीचगोत्र का उदय हो सकता है या नहीं ?

समाधान—इस सम्बन्ध में गोम्मटसार के कर्ता श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती तथा धवलाकार श्री वीरसेन आचार्य के भिन्न-भिन्न मत हैं। गोम्मटसार के मतानुसार तो *'पंचमगुणस्थानवर्ती क्षायिकसम्यग्दृष्टि मनुष्य'* नीच गोत्री हो सकता है जैसा कि कहा भी है—'खाइयसम्मो देसो णर एव जदो तहिं ण तिरियाऊ। उज्जोव तिरयगदी तेसिं अयदम्हि वोच्छेदो ॥३२९॥' कर्मकांड। अर्थ—देशसंयतनामक पाँचवें गुणस्थान में रहनेवाला क्षायिकसम्यग्दृष्टि मनुष्य ही होता है, इस कारण उसके तिर्यंचायु, उद्योत और तिर्यंचगति इन तीनों का उदय नहीं है। इसीलिये इन तीनों की उदयव्युच्छित्ति असंयतगुणस्थान में हो जाती है। नोट—यहाँ पर नीचगोत्र की उदयव्युच्छित्ति नहीं कही गई है, अतः पंचमगुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि के नीचगोत्र का उदय भी संभव है। धवल पुस्तक ८ पृष्ठ ३६३ पर कहा है—'खइयसम्माइट्ठिसंजदासंजदेसु उच्चागोदस्स सोदओ णिरंतरो बंधो' अर्थ—क्षायिकसम्यग्दृष्टि संयतासंयतों में उच्चगोत्र का स्वोदय एवं निरंतर बंध होता है। नोट—इससे स्पष्ट है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि संयतासंयत के उच्चगोत्र का ही उदय होता है अन्यथा उच्चगोत्र का बंध परोदय से भी कहते।

—जै. सं. 11-12-58/V/VI/........

म्लेच्छों के नीचगोत्र का उदय है तथा कथंचित् उच्चगोत्र का भी

शंका—म्लेच्छखण्ड में कौनसा गोत्र सम्भव है ?

समाधान—मलेच्छखण्ड में नीच गोत्रसम्भव है कहा भी है—"न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः। म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्।" (धवल पु. १३ पृ. ३८८)

सम्पन्न जनों में जीवों की उत्पत्ति में इसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो म्लेच्छ राजा से उत्पन्न हुए बालक के भी उच्चगोत्र का उदय प्राप्त होता है।

उच्चगोत्र का उदय किन मनुष्यों के पाया जाता है, उसका कथन करते हुए श्री वीरसेनआचार्य ने धवल पु. १३ पृ. ३८९ पर निम्न प्रकार कहा है।

"दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधान व्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां सन्तानः उच्चैर्गोत्रं तत्रोत्पत्ति हेतु कर्माप्युच्चैर्गोत्रम्।"

जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधु आचार वालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है, तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त हैं, उन पुरुषों की परम्परा को उच्चगोत्र कहा जाता है। तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है।

"म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसंबन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्।"

(लब्धिसार गा० १९५ टीका)

यहाँ पर यह शंका की गई है, यदि म्लेच्छखण्डवाले मनुष्यों के नीचगोत्र का उदय है तो उनके सकल-संयम कैसे सम्भव है? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जो म्लेच्छमनुष्य चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्ड विषै आवे और चक्रवर्ती-आदिक के साथ विवाहादि सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, तिनके ऊँचगोत्र का उदय हो जाने से संयम ग्रहण करने में कोई विरोध नहीं आता है।

नोट—वर्णव्यवस्था के कारण जो म्लेच्छ हैं उनका यहाँ पर कथन नहीं है।

—जै. ग. 29-6-72/IX/रो. ला जैन

गोत्रकर्म की सूक्ष्मव्याख्या केवलज्ञान-गम्य है

शंका—गोत्रकर्म की शास्त्रीय व्याख्या क्या है?

समाधान—जो उच्च और नीच कुल को ले जाता है वह गोत्रकर्म है। कहा भी है—

"गमयत्युच्चनीचकुलमिति गोत्रम्।" (धवल पु. ६ पृ. १३)

"गमयत्युच्चनीचमिति गोत्रम्।" (धवल पु. १३ पृ. २०९)

अर्थात् जो उच्च-नीच का ज्ञान कराता है वह गोत्रकर्म है।

सर्वदेव और भोगभूमिज मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं। नारक और तिर्यंच नीचगोत्री होते हैं। तथा कर्मभूमिजमनुष्यों में उच्चगोत्र भी होता है और नीच भी होता है। धवल पु. १५ पृ. ६१ पर कहा भी है—

'उच्चागोदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि चरिमसमओ त्ति उदीरणा। णवरि मणुस्सो वा मणुस्सिणी वा सिया उदीरेदि, देवो देवी वा संजदो वा णियमा उदीरेंति, संजदासंजदो सिया उदीरेदि। णीचा-गोदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदस्स उदीरणा। णवरि देवेसु णत्थि उदीरणा, तिरिक्ख-णेरइएसु णियमा उदीरणा, मणुसेसु सिया उदीरणा।'

अर्थ—उच्चगोत्र की उदीरणा मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली के अन्तिम समय तक होती है। विशेष इतना है कि मनुष्य और मनुष्यनी उसकी कदाचित् उदीरणा करते हैं। देव-देवी तथा संयतजीवों के उच्चगोत्र की उदीरणा नियम से होती है तथा संयतासंयत कदाचित् उच्चगोत्र की उदीरणा करते हैं। नीचगोत्र की उदीरणा मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक होती है। विशेष इतना है कि देवों में नीचगोत्र की उदीरणा नहीं होती है। तिर्यंच व नारकियों में नीचगोत्र की उदीरणा नियम से होती है। मनुष्यों में नीचगोत्र की उदीरणा कदाचित् है।

यद्यपि तिर्यंचों में नियम से नीचगोत्र बतलाया गया है तथापि संयतासंयततिर्यंचों में उच्चगोत्र भी संभव है, क्योंकि उच्चगोत्र का उदय गुणप्रत्ययिक और भवप्रत्ययिक दो प्रकार का है अर्थात् किन्हीं जीवों के उच्चगोत्र के उदय में भव कारण होता और किन्हीं जीवों के गुणरूप (संयम व संयमासंयमरूप) परिणाम कारण होता है।

"तिरिक्खेसु संजमासंजमं परिवालयंतेसु उच्चागोदत्तुवलंभादो । उच्चागोदाणमुदीरणा गुणपडिवण्णेसु परिणामपच्चइया, अगुणपडिवण्णेसु भवपच्चइया । को पुण गुणो ? संजमो संजमासंजमो वा ।"

(धवल पु. १५ पृ. १५२, १७४)

अर्थ—संयमासंयम को पालनेवाले तिर्यंचों में उच्चगोत्र पाया जाता है। ऊँचगोत्र की उदीरणा गुणप्रतिपन्न जीवों में परिणामप्रत्ययिक और अगुणप्रतिपन्न जीवों में भवप्रत्ययिक होती है। गुण से अभिप्राय संयम और संयमासंयम का है।

गोत्रकर्म की व्याख्या समझने के लिये धवल पु. १३ पृ. २२८ व २८९ पर जो शंकासमाधान है वह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। वह इस प्रकार है।

प्रश्न—उच्चगोत्र निष्फल है, क्योंकि (१) राज्यादिरूप सम्पदा की प्राप्ति में उच्चगोत्र का व्यापार होता नहीं है, उसकी उत्पत्ति सातावेदनीयकर्म के निमित्त से होती है। (२) पाँच महाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता भी उच्चगोत्र के द्वारा नहीं की जाती है, ऐसा मानने पर जो सब देव और अभव्य जीव पाँच महाव्रतों को नहीं धारण कर सकते हैं उनमें उच्चगोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होता है। (३) सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति भी उच्चगोत्र के द्वारा नहीं होती, उसकी उत्पत्ति तो ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से सहकृत सम्यग्दर्शन से होती है तथा ऐसा मानने पर सम्यग्ज्ञानी तिर्यंच व नारकियों के भी उच्चगोत्र का उदय मानना पड़ेगा। (४) आदेयता यश और सौभाग्य की प्राप्ति में भी उच्चगोत्र का व्यापार नहीं होता है इनकी उत्पत्ति नामकर्मोदय से होती है। (५) इक्ष्वाकु कुल आदि की उत्पत्ति में भी उच्चगोत्र का व्यापार नहीं होता। परमार्थ से उनका अस्तित्व ही नहीं वे काल्पनिक हैं। इसके अतिरिक्त वैश्य, ब्राह्मण साधुओं में उच्चगोत्र का उदय देखा जाता है। (६) सम्पन्न-जनों से जीवों की उत्पत्ति में भी उच्चगोत्र का व्यापार नहीं होता है, इस तरह तो म्लेच्छराज से उत्पन्न हुए बालक के भी उच्चगोत्र का उदय प्राप्त हो जायगा। (७) अणुव्रतियों से जीवों की उत्पत्ति में उच्चगोत्र का व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं, ऐसा मानने पर औपपादिकदेवों में उच्चगोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होता है तथा नाभिपुत्र नीचगोत्री ठहरता है। इसप्रकार उच्चगोत्र का अभाव ठहरता है। उच्चगोत्र का अभाव होने पर उसके प्रतिपक्षी नीचगोत्र का अभाव ठहरता है। अतः गोत्रकर्म है ही नहीं।

इस प्रश्न के उत्तर में श्री वीरसेन आचार्य कहते हैं कि गोत्रकर्म का अभाव नहीं है, क्योंकि जिनवचन के असत्य होने में विरोध आता है। यह विरोध भी वहाँ उसके कारणों के नहीं होने से जाना जाता है। दूसरे केवलज्ञान के द्वारा सभी अर्थों में छद्मस्थों के ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होता है। इसलिये छद्मस्थों को कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होता है तो इससे जिन वचनों को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है। गोत्रकर्म निष्फल भी नहीं है, क्योंकि जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है, साधु आचारवालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त हैं, उन पुरुषों की परम्परा को उच्चगोत्र कहा जाता है तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है।

इस धवल सिद्धांतग्रन्थ से इतना स्पष्ट हो जाता है कि गोत्रकर्म की सूक्ष्म व्याख्या केवलज्ञान गम्य है, छद्मस्थों के ज्ञानगम्य नहीं है।

जै. ग. 19-11-70/VII/प्रा. कु. बड़जात्या

उदय क्षय एवं अविपाक निर्जरा में अन्तर

शंका—उदयाभावीक्षय और अविपाकनिर्जरा में क्या अन्तर है?

समाधान—क्षायोपशमिकभाव में सर्वघातिस्पर्द्धक अपने रूप उदय में न आकर देशघातीरूप होकर उदय में आते हैं ऐसे सर्वघातिस्पर्द्धकों की उदयाभावीक्षय संज्ञा है। यह मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि दोनों के होता है। तपके द्वारा जिन कर्मों का स्थितिघात व अनुभागघात करके स्वरूप से या परप्रकृतिरूप से उदय में लाया जाता है उन कर्मों की अविपाकनिर्जरा ऐसी संज्ञा है। अविपाकनिर्जरा मिथ्यादृष्टि के नहीं होती। यह केवल सम्यग्दृष्टि के ही होती है।

—जै. सं. 24-1-57/VI/ब. बा. हजारीबाग

केवलज्ञान तथा केवलज्ञानावरण

शंका—केवलज्ञानावरणकर्म क्या बादलों के सदृश है? जिसप्रकार सूर्य का अन्तरङ्ग में प्रकाश रहता है, किंतु बादल आ जाने के कारण सूर्य का बाह्य प्रकाश रुक जाता है। श्री षट्खण्डागम में भी सूर्य, बादल का दृष्टान्त दिया है, किंतु श्रीमोक्षमार्गप्रकाशकजी में पण्डित टोडरमलजी ने इसका खण्डन किया है फिर केवलज्ञानावरणकर्म व छद्मस्थ-अवस्था में केवलज्ञान किसप्रकार है?

समाधान—षट्खण्डागम पु० ६ पत्र ७ पर यह शंका उठाई गई है कि 'ज्ञान के आवरण किये गये और आवरण नहीं किये गये अंशों में एकता कैसे हो सकती है?' इसका समाधान इसप्रकार किया गया है—'नहीं, क्योंकि राहु और मेघों के द्वारा सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल के आवरित और अनावरित भागों की एकता पाई जाती है।' यहाँ पर मेघ और सूर्यमण्डल का दृष्टान्त देकर यह समझाया गया है कि अनावरित सूर्यमण्डल भाग के द्वारा पदार्थ प्रकाशित होते हैं। आवरितभाग के अनावरित हो जाने पर उससे भी पदार्थ प्रकाशित होंगे अतः मेघों द्वारा सूर्यमण्डल के आवरितभाग में और अनावरितभाग में एकता है। इसीप्रकार ज्ञान के जो अंश अनावरित हैं उनसे पदार्थों का ज्ञान होता है और आवरित अंशों के अनावरित हो जाने पर उनसे भी पदार्थों का ज्ञान होगा। इस दृष्टान्त का यह अभिप्राय नहीं है कि जिसप्रकार मेघों के आ जाने पर भी सूर्य का बाह्य में प्रकाश रुक जाता है, किन्तु अन्तरंग में सूर्य पूर्ण प्रकाशमान रहता है, इसीप्रकार केवलज्ञानावरणकर्म के द्वारा ज्ञान बाह्य सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं जानता, किन्तु अंतरंग में पूर्ण ज्ञान प्रकाशमान रहता है। इसी बात को पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में सातवें अध्याय के आरम्भ में स्पष्ट किया है—'कोउ ऐसा मानै है, आत्मा के प्रदेशनिविषैं तो केवलज्ञान ही है, उपरि आवरण है तातैं प्रकट न हो है। सो यह भ्रम है। जो केवलज्ञान होइ तो वज्रपटल आदि आड़े होते भी वस्तु को जानैं। कर्म को आड़े आये कैसे अटके। तातैं कर्म के निमित्त तैं केवलज्ञान का अभाव ही है। बहुरि जो शास्त्रविषैं सूर्य का दृष्टान्त दिया है, ताका इतना ही भाव लेना जैसे—मेघपटल होते सूर्यप्रकाश प्रगट न हो है तैसे कर्म उदय होतैं केवलज्ञान न हो है बहुरि ऐसा भाव न लेना, जैसे सूर्यविषै प्रकाश रहे है तैसे आत्माविषैं केवलज्ञान रहे है। जातैं दृष्टान्त सर्वप्रकार मिलै नाहीं। बहुरि कोउ कहे कि आवरण नाम तो वस्तु के आच्छादने का है, केवलज्ञान का सद्भाव नाही है तौ केवलज्ञानावरण काहे को कहो हो? ताका उत्तर—यहाँ

शक्ति है ताकौ व्यक्त न होने दे, इस अपेक्षा आवरण कह्या है। जैसे देशचारित्र का अभाव होतैं शक्ति घातने की अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरणकषाय कह्या, तैसे जानना। बहुरि ऐसे जानो—वस्तु विषैं जो परनिमित्ततैं भाव होय, ताका नाम औपाधिकभाव है। सो जैसे जल कै अग्नि का निमित्त तातैं उष्णपनो भयो तहाँ शीतलपना का अभाव है। परन्तु अग्नि का निमित्त मिटैं शीतलता ही होय जाय तातैं सदाकाल जल का स्वभाव शीतल कहिए। जातैं ऐसी शक्ति सदा पाइए है बहुरि व्यक्त भए स्वभाव व्यक्त भया कहिए। कदाचित् व्यक्तरूप हो है। तैसे आत्मा कै कर्म का निमित्त होतैं अन्यरूप भयो, तहाँ केवलज्ञान का अभाव ही है, परन्तु कर्म का निमित्त मिटैं सर्वदा केवलज्ञान होय जाय। तातैं सदाकाल आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान कहिए है। जातैं ऐसी शक्ति पाइए है। व्यक्त भए स्वभाव व्यक्त भया कहिए। बहुरि जैसे शीतलस्वभाव करि उष्णजल को शीतल मानि पानादि करै तो दाझना ही होय तैसे केवलज्ञानस्वभाव करि अशुद्ध आत्मा को केवलज्ञानी मानि अनुभवै तो दुःखी ही होय। ऐसे जे केवलज्ञानादिकरूप आत्मा को अनुभवै हैं, ते मिथ्यादृष्टि हैं।

—जै. सं. 24-1-57/VI/ रा. दा. कैराना

नरक

सातवें नरक की जघन्य आयु का प्रमाण

शंका—जैसे सर्वार्थसिद्धि में तैंतीससागर से कम आयु नहीं होती तो क्या सातवें नरक में भी तैंतीससागर से कम आयु नहीं होती ?

समाधान—सातवेंनरक में जघन्यआयु एक समय अधिक बाईससागर होती है और उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर होती है। (धवल पु. ७ पृ. ११८ सूत्र ८ व ९)। सातवेंनरक में सब नारकियों की आयु तैंतीससागर की हो, ऐसा नियम नहीं है। जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट तीनों प्रकार की आयु होती है, किन्तु सर्वार्थसिद्धि में सब देवों की आयु तैंतीससागर होती है, ऐसा नियम है। (धवल पु. ७ पृ. १३५ सूत्र ३७-३८)।

जै. ग. 15-1-68/VII/ ....

मनुष्य-तिर्यंच में सभी स्थिति विभक्ति

शंका—क्या सामान्य स्थिति में मनुष्य, तिर्यंच व बारहवें स्वर्ग तक के मिथ्यादृष्टि देव के अल्पतरस्थिति विभक्ति ही होती है या अन्य भी ?

उत्तर—तिर्यंच, मनुष्य और भवनवासी से लेकर सहस्रारकल्प (बारहवं स्वर्ग) तक के देवों में भुजगार, अल्पतर और अवस्थित स्थितिविभक्ति वाले जीव हैं। मात्र एक स्थिति विभक्ति वाले जीव नहीं हैं, किंतु तिर्यंच, मनुष्य और बारहवें स्वर्ग तक के देवों में अल्पतर भुजगार और अवस्थित अर्थात् तीनों विभक्ति वाले जीव हैं।

जै. ग. 4-1-68/VII/ ज्ञां कु. बड़जात्या

२४ प्रकृतिक स्थितिविभक्ति का तिर्यंचों में उत्कृष्ट काल

शंका—मोहनीयकर्म की २४ प्रकृतियों की विभक्ति का उत्कृष्ट काल तिर्यंचों में देशोन तीन पल्य कहा है, पूरे तीनपल्य क्यों नहीं कहा ? कोई बद्धायुष्क मनुष्य २४ प्रकृतिवाला सम्यग्दृष्टि होकर उत्तमभोगभूमिया तिर्यंचों में उत्पन्न होने पर पूर्ण तीन पल्यकाल क्यों नहीं पाया जाता ? अथवा देशोनपूर्वकोटि अधिक तीन पल्यकाल क्यों नहीं पाया जाता, क्योंकि २४ प्रकृतिवाला तिर्यंच मरकर भोगभूमियाँतिर्यंच में उत्पन्न हो सकता है ?

समाधान—क्षायिकसम्यग्दृष्टि या कृतकृत्य वेदकसम्यग्दृष्टि पूर्व में बद्धायुष्क मनुष्य ही भोगभूमियाँ तिर्यंचों में उत्पन्न हो सकता है (ष० खं० पु० २, पृ. ४८१) कृतकृत्य वेदक के अतिरिक्त अन्य क्षयोपशमसम्यक्त्वी तिर्यंच या मनुष्य मरण करके एकमात्र देवगति को ही प्राप्त होते हैं (ष. खं. पु. ६ पृ. ४६४ सूत्र १३१ तथा पृ. ४७४-४७५ सूत्र १६४)। क्षायिकसम्यग्दृष्टि के मोहनीयकर्म की २१ प्रकृति की और कृतकृत्यवेदक के २२ प्रकृति की सत्ता होती है अतः २४ प्रकृति की सत्तावाला वेदकसम्यग्दृष्टि मरकर सम्यक्त्वसहित किसी भी तिर्यंचगति में उत्पन्न नहीं हो सकता। उसके मरण से एक अंतर्मुहूर्त पूर्व सम्यक्त्व छूट कर मोहनीय की २८ प्रकृतियों की सत्ता हो जावेगी। जब २४ प्रकृति की सत्तावाला कोई भी जीव तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं हो सकता तो पूर्ण तीनपल्य या तीनपल्य से अधिक कालघटित नहीं हो सकता। मोहनीयकर्म की २८ प्रकृति की सत्तावाला कोई मिथ्यादृष्टि-मनुष्य या तिर्यंच मरकर उत्कृष्ट भोगभूमियाँ-तिर्यंचों में उत्पन्न हो वहाँ पर क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि हो, अनन्तानुबंधीकषाय की विसंयोजना करनेवाले तिर्यंच के कुछ कम तीनपल्य उत्कृष्टकाल होता है।

—जै. सं. 31-7-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

मिथ्यादृष्टि के जघन्य सत्त्व प्रकृतियाँ १४४ होती हैं

शंका—पंचसंग्रह पेज ७० 'मिथ्यात्व गुणस्थान में देवायु नरकायु तिर्यंचायु बिना १४५ प्रकृतियों का सत्त्व और ३ का असत्त्व रहता है।' यह कैसे सम्भव है ?

समाधान—जिसने पर-भव सम्बन्धी आयु का बन्ध नहीं किया है ऐसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य के अथवा चरमशरीरी मिथ्यादृष्टि के देवायु, नरकायु, तिर्यंचायु के बिना १४४ प्रकृतियों का सत्त्व संभव है, क्योंकि ऐसे मनुष्य के मिथ्यात्वगुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व भी सम्भव नहीं है। १४५ के स्थान पर १४४ होना चाहिए।

—जै. ग. 27-8-64/IX/ ध. ला. सेठी

मोहनीय के विभिन्न सत्त्वस्थान एवं उनके स्वामी

शंका—मोहनीयकर्म के १५ सत्त्व स्थान बतलाये गये हैं। उसमें से दूसरा स्थान सम्यक्त्वप्रकृति के अभाव से होता है और पाँचवाँ स्थान मिथ्यात्व के अभाव से होता है। सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है और मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती है। अतः दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव होना चाहिये था। दूसरे गुणस्थानवाला जीव क्या मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि ?

समाधान—मोहनीयकर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं। अनादिमिथ्यादृष्टि के २६ प्रकृतियों का सत्त्व होता है, किंतु सम्यक्त्व होने पर मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होकर सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का भी सत्त्व हो

जाता है अतः अनादि मिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यक्त्व होने पर मोहनीयकर्म की २८ प्रकृतियों का सत्त्व हो जाता है। पुनः मिथ्यात्व में जाने पर सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति इन दोनों की उद्वेलना प्रारम्भ हो जाती है। उनमें से प्रथमसम्यक्त्वप्रकृति की उद्वेलना होकर २७ प्रकृति का दूसरा सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान मिथ्यादृष्टि के ही सम्भव है। सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की उद्वेलना हो जाने पर सादिमिथ्यादृष्टि के अथवा अनादि-मिथ्यादृष्टि के २६ प्रकृति का तीसरा सत्त्वस्थान होता है।

जब २८ प्रकृति के सत्त्ववाला सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसंयोजना कर देता है तब २४ प्रकृति का चौथा सत्त्वस्थान होता है। दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा करनेवाला सम्यग्दृष्टि जब मिथ्यात्वकर्म का क्षय कर देता है तब २३ प्रकृति का पाँचवाँ सत्त्वस्थान होता है। सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय कर देने पर २२ प्रकृति का छठवाँ सत्त्वस्थान होता है। सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय कर देने पर २१ प्रकृति का सातवाँ सत्त्वस्थान होता है।

इस सम्बन्ध में आर्षग्रन्थ का प्रमाण इस प्रकार है—

"अट्ठावीसाए विहत्तिओ को होदि ? सम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी वा। सत्तावीसाए विहत्तिओ को होदि ? मिच्छाइट्ठी। अट्ठावीससंतकम्मिओ उव्वेलिदसम्मत्तो मिच्छाइट्ठी सत्तावीस विहत्तिओ होदि। छव्वीस विहत्तिओ को होदि ? मिच्छाइट्ठी णियमा। चउवीसाए विहत्तिओ को होदि ? अणंताणुबंधिविसंजोइदे सम्माइट्ठी वा सम्मामिच्छाइट्ठी वा अण्णयरो। अट्ठावीस संतकम्मिएण अणंताणुबंधिविसंजोइदे चउवीसविहत्तिओ। को विसंजोअओ ? सम्माइट्ठी। चउवीससंतकम्मिय सम्माइट्ठीसु सम्मामिच्छत्तं पडिवण्णेसु तत्थ चउवीसपयडिसंतुव-लंभादो। तेवीसाए विहत्तिओ को होदि ? मणुस्सो वा मणुस्सिणी वा मिच्छत्ते खविदे सम्मत्त-सम्मामिच्छत्ते सेसे बावीसाए विहत्तिओ को होदि ? मणुस्सो वा मणुस्सिणी वा मिच्छत्ते सम्मामिच्छत्ते च खविदे समत्ते सेसे। एक्कावीसाए विहत्तिओ को होदि ? खीण दंसणमोहणिज्जो।" (जयधवल पु. २)

अर्थ—अट्ठाईसप्रकृतिक विभक्तिस्थान का स्वामी कौन होता है ? सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीव अट्ठाईस प्रकृतिकविभक्ति (सत्त्व) स्थान का स्वामी होता है। सत्ताईसप्रकृतिकसत्त्वस्थान का स्वामी कौन होता है ? मिथ्यादृष्टिजीव सत्ताईसप्रकृतिस्थान का स्वामी होता है। अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाला मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्वप्रकृति की उद्वेलना करके सत्ताईस प्रकृतियों की सत्तावाला होता है। छब्बीसप्रकृतिक स्थान का स्वामी कौन होता है ? नियम से मिथ्यादृष्टि जीव २६ प्रकृतिक स्थान का स्वामी होता है। चौबीस प्रकृतिक स्थान का स्वामी कौन होता है ? अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करनेवाला सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव चौबीसप्रकृतिक स्थान का स्वामी होता है। अट्ठाईसप्रकृतियों की सत्तावाला अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर देने पर चौबीसप्रकृतियों की सत्तावाला होता है। विसंयोजना कौन करता है ? सम्यग्दृष्टिजीव विसंयोजना करता है। चौबीसप्रकृतियों की सत्तावाले सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि के चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान बन जाता है।

तेईसप्रकृतिकस्थान का स्वामी कौन है ? जिस मनुष्य या मनुष्यिणी के मिथ्यात्वकर्म का क्षय हो गया है। दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दो प्रकृतियाँ शेष रह गई हैं वह तेईसप्रकृतिक स्थान का स्वामी है। बाईसप्रकृतिक स्थान का स्वामी कौन है ? जिस मनुष्य या मनुष्यनी के मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय हो गया है, सम्यक्त्वप्रकृति शेष रह गई है, वह २२ प्रकृतिकस्थान का स्वामी है। इक्कीसप्रकृतिक सत्त्व-स्थान का स्वामी कौन होता है ? जिसने दर्शनमोहनीयकर्म का क्षय कर दिया है वह इक्कीस प्रकृतिक स्थान का स्वामी है।

२७ प्रकृति सत्त्वस्थान सम्यक्त्वप्रकृति की उद्वेलना से होता है। तेईसप्रकृतिक सत्त्वस्थान मिथ्यात्व के क्षय से होता है उसके पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के क्षय से २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। उसके पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति के क्षय से २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम मिथ्यात्व का क्षय होता है। जो सर्वघाती है। उसके पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का क्षय होता है जो मिश्ररूप है। उसके पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति का क्षय होता है जो देशघातीरूप है।

—जै. ग. 9-4-70/VI/ टो. ला. मित्तल

नरक में २९–३० प्रकृतिक बन्धस्थान में ९१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान

शंका—दूसरी, तीसरी पृथिवी के नारकियों के २९ प्रकृति का बन्ध करते समय नामकर्म की ९१ प्रकृति का सत्त्व सम्भव है, फिर पंचसंग्रह पृ. ४०१ पंक्ति ७ पर नामकर्म की २९ प्रकृति का बंध करने वाले के ९१ प्रकृति का सत्त्व क्यों नहीं कहा ?

समाधान—दूसरे, तीसरे नरक में नामकर्म की २९ प्रकृति का बंध करनेवाले मिथ्यादृष्टि नारकी के ९१ प्रकृति का सत्त्व सम्भव है जैसा कि पंचसंग्रह पृ. ४०१ पंक्ति ३ व ४ में कहा है। किंतु पंक्ति सात में दूसरे, तीसरे नरक के असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कथन है। दूसरी, तीसरी पृथिवी के जिस नारकी के ९१ का सत्त्व होगा वह असंयतसम्यग्दृष्टि अवस्था में तीर्थंकरप्रकृति का अवश्य बन्ध करेगा अतः उसके २९ प्रकृति का बंध न होकर नामकर्म की ३० प्रकृति का बंध होगा। दूसरे, तीसरे नरक का सम्यग्दृष्टिनारकी यदि नामकर्म की २९ प्रकृतियों का बंध करता है तो वह तीर्थंकरप्रकृति का बंधक नहीं है। जो सम्यग्दृष्टिनारकी तीर्थंकरप्रकृति का बंध नहीं करता है उसके तीर्थंकरप्रकृति का सत्त्व संभव न होने से ९१ का सत्त्व नहीं हो सकता।

—जै. ग. 22-4-76/ज. ला. जैन, भीण्डर

८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान क्यों नहीं कहा ? एवं वैक्रियिक शरीर की उद्वेलना हो जाने पर वैक्रियिक बन्धन व संघात का सत्त्व रहता है

शंका—नामकर्म के सत्त्व स्थानों में एक स्थान आहारकशरीर और आहारकआंगोपांग के सत्त्व से रहित भी है वहां आहारक बंधन और आहारक संघात के सत्त्व का अभाव क्यों नहीं बतलाया ? जिस जीव ने आहारकद्विक का बंध नहीं किया उसके आहारक बंधन और आहारकसंघात पाया जा सकता है क्या ? यदि पाये जाते हैं तो कैसे ?

समाधान—नामकर्म की ९३ प्रकृतियाँ हैं। उनमें से पाँचबन्धन और पाँचसंघात और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण की १६ प्रकृतियाँ कुल २६ प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य हैं। ६७ प्रकृति बन्धयोग्य हैं। कहा भी है—

वण्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ दुगि सत्त सम्ममिच्छत्तं।
होंति अबंधा बंधण पण पण संघाय सम्मत्तं ॥६॥ (पंचसंग्रह ज्ञानपीठ पृ० ४८)

अर्थ—चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, पाँच बन्धन, पाँच संघात, वे इस प्रकार २६ नामकर्म की और २ मोहनीयकर्म की कुल २८ प्रकृतियाँ बंध के अयोग्य हैं।

देहे अविणाभावी बंधणसंघाद इदि अबंधुदया।
वण्ण चउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये ॥३४॥ (गो. क.)

अर्थ—शरीर नामकर्म के साथ बंधन और संघात अविनाभावी है। इस कारण पाँच बंधन और पाँच संघात में दश प्रकृतियाँ बंध और उदय अवस्था में अभेद विवक्षा में जुदी नहीं गिनी जाती, शरीर नामप्रकृति में ही गर्भित हो जाती हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इन चारों में इनके २० भेद शामिल हो जाते हैं। इस कारण अभेद की अपेक्षा से बंध व उदय अवस्था में इनके २० भेद की बजाय ४ गिने जाते हैं।

इन दो गाथाओं से इतना स्पष्ट हो जाता है कि पाँचसंघात और पाँचबन्धन ये दस प्रकृतियाँ, बंध व उदय की विवक्षा में, शरीर नामकर्म में गर्भित करके इनको बंध व उदय प्रकृतियों में नहीं गिनी गई। सत्त्व की विवक्षा में पाँचसंघात और पाँचबंधन को शरीर नामकर्म में शामिल नहीं किया गया है, इसीलिये नामकर्म के ९३ प्रकृति आदि सत्त्वस्थान बतलाये हैं। वे स्थान इसप्रकार हैं—

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदि य।
ऊणासीदट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता ॥६०९॥
सव्वं तित्थाहारुभऊणं सुरणिरयणर दुचारिदुगे।
उव्वेल्लिदे हदे चउ तेरे जोगिस्स दसणवयं ॥६१०॥ (गो. क.)

अर्थ—९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १०, ९ प्रकृतिरूप में नामकर्म के सत्त्व स्थान १३ हैं। नामकर्म की सर्व प्रकृतिरूप ९३ का स्थान है। उनमें से तीर्थंकर घटाने से ९२ का स्थान, आहारक-युगल घटाने से ९१ का, तीनों आहारकद्विक और तीर्थंकर घटाने से ९० का स्थान होता है। उस ९० के स्थान में देवगतिद्विक की उद्वेलना होने से ८८ का स्थान होता है। नरकगतिद्विक और वैक्रियिकद्विक की उद्वेलना होने पर ८४ का स्थान होता है। मनुष्यद्विक की उद्वेलना हो जाने पर ८२ का सत्त्वस्थान होता है। शेष सत्त्वस्थान क्षपक श्रेणी में सम्भव है।

इसीप्रकार ज्ञानपीठ से प्रकाशित पंचसंग्रह पृ० ३८३-३८९ पर गाथा २०८-२१९ में कथन है। तथा श्री अमितगति पंचसंग्रह पृ० ४६४-४६७ पर श्लोक २२१-२३० में कथन है।

हारदु सम्मं मिस्सं सुरदुग णारयचउक्कमणुकमसो।
उच्चागोदं मणुदुगमुव्वेल्लिज्जंति जीवेहिं ॥३५०॥

अर्थ—आहारकद्विक, सम्यक्त्वप्रकृति, मिश्रमोहनी, देवगति का युगल, नरकगति आदि ४ (नरकद्विक वैक्रियिकद्विक), ऊँच गोत्र, मनुष्यगतिद्विक ये १३ उद्वेलन प्रकृतियाँ हैं।

यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि आहारकशरीर और आहारकशरीरआंगोपांग तथा वैक्रियिकशरीर व वैक्रियिकशरीरांगोपांग का तो उद्वेलन कहा, किंतु आहारकसंघात व आहारकशरीरबंधन, तथा वैक्रियिकसंघात व वैक्रियिकशरीरबंधन इन प्रकृतियों का उद्वेलन क्यों नहीं कहा है ? जिसने आहारकशरीर का बंध नहीं किया उसके

(१) आहारकशरीर (२) आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग (३) आहारकशरीरसंघात, (४) आहारकशरीरबंधन इन चार प्रकृतियों का सत्त्व नहीं पाया जाता है। अतः ९३ में से इन चार को घटाने पर ८९ का सत्त्वस्थान होता है और ९२ में से इन चार को घटाने पर ८८ का सत्त्वस्थान होता है। इन ४ को न घटाकर मात्र आहारकशरीर व आहारकशरीरांगोपांग इन दो को घटाकर ९१ व ९० का सत्त्वस्थान बतलाया है, यह भी विचारणीय है।

नरकगति की उद्वेलना होने पर नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिकसंघात, वैक्रियिकशरीर बंधन इन छः प्रकृतियों को ८८ प्रकृति स्थान में घटाने से ८२ का सत्त्वस्थान होता है किन्तु छः को न कम करके ४ को कम करके ८४ का सत्त्वस्थान बतलाया है। यह भी विचारणीय है।

इन सब पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि आहारकशरीरद्विक की उद्वेलना हो जाने पर भी आहारकशरीरसंघात व बन्धन इन दो प्रकृतियों की उद्वेलना नहीं होती है। इसीप्रकार वैक्रियिकशरीरद्विक की उद्वेलना हो जाने पर भी वैक्रियिकशरीरसंघात व वैक्रियिकशरीरबंधन की उद्वेलना नहीं होती है। ९१, ९०, ८८, ८४, ८२ इन सत्त्वस्थानों का उद्वेलना की अपेक्षा से कथन है। ९३ व ९२ का सत्त्व वाले जीव जब आहारकद्विक की उद्वेलना कर देते हैं तब उनके क्रमशः ९१ व ९० का सत्त्वस्थान होता है। यदि यह कहा जाय कि सम्यग्दृष्टि के आहारकशरीर की उद्वेलना नहीं होती इसलिये ९३ के *सत्त्वस्थान वाले जीव के आहारकशरीर की उद्वेलना* नहीं हो सकती, क्योंकि तीर्थंकरप्रकृति का सत्त्व होने से वह एक अंतर्मुहूर्त से अधिक मिथ्यात्व में नहीं रह सकता है? ऐसा कहना सर्वथा ठीक नहीं है. क्योंकि संयम से च्युत होकर जब वह असंयम को प्राप्त हो जाता है, उसके आहारकशरीरद्विक की उद्वेलना प्रारम्भ हो जाती है। कहा भी है—

"असंजमं गदो आहारसरीरसंतकम्मियो-संजदो अंतोमुहुत्तेण उव्वेल्लणमाढवेदि जाव असंजदो जाव असंत-कम्मं च अत्थि ताव उव्वेल्लेदि।" (धवल पु० १६ पृ० ४१८)

अर्थ—आहारकशरीर-सत्कर्मिक-संयत असंयम को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त में उद्वेलना प्रारम्भ करता है, जब तक वह असंयत है और जब तक वह सत्कर्म से रहित होता है, तब तक वह उद्वेलन करता रहता है।

इसीप्रकार वैक्रियिकशरीर की उद्वेलना हो जाने पर भी वैक्रियिकसंघात व बंधन इन दो प्रकृतियों की उद्वेलना नहीं होती है।

नामकर्म के इन सत्त्वस्थानों में नित्यनिगोदिया जीव के सत्त्वस्थानों की विवक्षा नहीं है, क्योंकि जिसने वैक्रियिकशरीरचतुष्क व आहारकशरीरचतुष्क का कभी बंध ही नहीं किया उसके सत्त्वस्थान भिन्न प्रकार के होंगे।

—जै. ग. 3-4-69/VII/ क्षु. शीतलसागर

देशघाती / सर्वघाती

शंका—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायों में किन-किनके सर्वघाती व देश-घाती स्पर्द्धक होते हैं?

समाधान—अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय और प्रत्याख्यानावरण कषाय इन बारह प्रकृतियों में सर्वघाती स्पर्द्धक ही होते हैं, देशघाती स्पर्द्धक नहीं होते क्योंकि ये सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं।

(गो० सा० क० गाथा १९९)

—जै. ग. 1-2-62/VI/ ब. ला. सेठी, खुरई

देशघाती / सर्वघाती

शंका—संज्वलन और नव नोकषाय में क्या सर्वघाती और देशघाती दोनों प्रकार के स्पर्द्धक होते हैं या केवल देशघाती ही होते हैं ?

समाधान—चार संज्वलन कषाय और नव नोकषाय यद्यपि देशघाती प्रकृतियाँ हैं क्योंकि ये सकल चारित्र का घात नहीं करती, किंतु इनमें सर्वघाती स्पर्द्धक भी हैं, क्योंकि इनमें शैल, अस्थि व दारु रूप अनुभाग पाया जाता है। (गो. सा. क. १८२) शैल, अस्थि व दारु का बहुभाग सर्वघाती है। (गो. सा. क. गाथा १८०) बँटवारे में भी इनको सर्वघाती का द्रव्य मिलता है। (गो. सा. क. गाथा १९९)

—*जै. ग. 25-1-62/VII/ ब. ला. सेठी, खुरई*

चारों कषायों के उत्कृष्ट स्पर्धकों की असमानता

शंका—मोक्षमार्ग प्रकाशक नवमा अधिकार पृ. ४९९ पर लिखा है—'अनन्तानुबन्धी आदि भेद हैं, ते तीव्र मंदकषाय की अपेक्षा नहीं हैं। जातैं मिथ्यादृष्टि के तीव्रकषाय होते व मंदकषाय होते अनन्तानुबन्धी आदि चारों का उदय युगपत् हो है। तहाँ च्यारों के उत्कृष्टस्पर्द्धक समान कहे हैं।' इस पर यह शंका है कि अनन्तानुबन्धी आदि च्यारों का युगपत् उदय होते हुए भी च्यारों का विपाक भिन्न-भिन्न है फिर उनके उत्कृष्टस्पर्द्धक समान कैसे हो सकते हैं ? आगम प्रमाण सहित उत्तर देने की कृपा करें।

समाधान—अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यग्दर्शन की घातक है। अप्रत्याख्यानावरणकषाय देशसंयम की घातक है। प्रत्याख्यानावरणकषाय सकलसंयम की घातक है। संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र की घातक है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन दोनों में से सम्यग्दर्शनगुण महान् है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र होते हैं। देशसंयम, सकलसंयम और यथाख्यातचारित्र में यथाख्यातचारित्र सबसे महान् है, क्योंकि यह शुक्लध्यानपूर्वक होता है। देशचारित्र की अपेक्षा सकलचारित्र महान् है, क्योंकि सकलसंयम में सम्पूर्ण पापों का त्याग हो जाता है। महान् गुण को घात करने वाले कर्म में अनुभाग भी महान् (अधिक) होना चाहिए। कहा भी है—'देशसंयम के घाती अप्रत्याख्यानावरणकषाय के अनुभाग से प्रत्याख्यानावरणकषाय का अनुभाग यदि अनन्तगुणा न हो तो वह देशसंयम से अनन्तगुणे सकलसंयम का घाती नहीं हो सकता' (जयधवल पु. ९ पृ. ८७)

यद्यपि मिथ्यात्वादि सब कर्मों के स्पर्धक जघन्य से उत्कृष्ट तक बिना प्रतिषेध के हैं तो भी उन सबके अन्तिमस्पर्धक समान नहीं हैं जैसा कि महाबन्ध व जयधवल में कहा गया है—मिथ्यात्व के उत्कृष्टस्थान शैलसमान अन्तिमस्पर्धक से अनन्तानुबन्धी लोभ का अन्तिम अनुभागस्पर्धक अनन्तगुणाहीन है। उससे अनन्तानुबन्धीमाया का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेष हीन है। उससे अनन्तानुबन्धी क्रोध का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे अनन्तानुबन्धीमान का अंतिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे संज्वलनलोभ का अन्तिम अनुभागस्पर्धक अनन्तगुणाहीन है। उससे संज्वलनमाया का अंतिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे संज्वलन क्रोध का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे संज्वलनमान का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे प्रत्याख्यानावरणलोभ का अन्तिम अनुभागस्पर्धक अनन्तगुणाहीन है। उससे प्रत्याख्यानावरणमाया का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे प्रत्याख्यानावरणक्रोध का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे प्रत्याख्यानावरणमान का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे प्रत्याख्यानावरणलोभ का अन्तिम अनुभागस्पर्धक अनन्तगुणाहीन

है। उससे अप्रत्याख्यानावरणमाया का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे अप्रत्याख्यानावरणक्रोध का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। उससे अप्रत्याख्यानावरणमान का अन्तिम अनुभागस्पर्धक विशेषहीन है। यह अल्पबहुत्व जयधवल पुस्तक ५ पृ० ११३-१४ व पृ० २५७ तथा महाबन्ध पु० ५ पृ० २२१ पर कहा गया है। अतः इन आगमप्रमाणों से सिद्ध है कि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन चारों कषायों के उत्कृष्टस्पर्धक समान नहीं हैं।

—जै. ग. 6-6-63/IX/प्रकाशचन्द

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना-सम्यक्त्वी ही करता है

शंका—अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना सम्यग्दृष्टि करता है या मिथ्यादृष्टि ? किस ग्रंथ में यह कथन है ?

समाधान—अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि करता है और किसी आचार्य के मतानुसार प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि भी करता है, किंतु मिथ्यादृष्टि विसंयोजना नहीं करता है। कहा भी है—

"को विसंजोअओ ? सम्माइट्ठी। मिच्छाइट्ठी ण विसंजोएदि त्ति कुदो णव्वदे ? सम्माइट्ठी वा सम्मा-मिच्छाइट्ठी वा चउवीस विहत्तिओ होदि त्ति ऐदम्हादो सुत्तादो णव्वदे।" (जयधवल पु. २ पृ. २१८)

अर्थ इसप्रकार है—

प्रश्न—विसंयोजना कौन करता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव विसंयोजना करता है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीव विसंयोजना नहीं करता यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर—'सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टिजीव चौबीस प्रकृतिक स्थान का स्वामी है। इस सूत्र से जाना जाता है कि मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं करता है।

इस आर्षवाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क द्रव्यकर्म की विसंयोजना सम्यग्दृष्टि-जीव करता है मिथ्यादृष्टि विसंयोजना नहीं करता है।

—जै. ग. 12-8-65/V/ब्र. कुन्दनलाल

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना होती है, क्षय नहीं

प्रश्न—अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना होती है, क्षय क्यों नहीं होता ?

उत्तर—अनन्तानुबन्धीकषाय का द्रव्य अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायरूप संक्रमण करके स्थित रहता है और मिथ्यात्व या सासादनगुणस्थान में गिरने पर वही द्रव्य पुनः अनन्तानुबन्धी कषायरूप परिणम जाता है, इसलिये अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना होती है।

श्री वीरसेनआचार्य ने विसंयोजना का लक्षण तथा विसंयोजना व क्षपणा का अन्तर बतलाते हुए जयधवल में निम्न प्रकार लिखा है—

"का विसंजोयणा ? अणंताणुबंधिचउक्कक्खंधाणं परसरूवेण परिणमणं विसंजोयणा। ण परोदयकम्म-क्खवणाए वियहिचारो, तेसिं परसरूवेण परिणदाणं पुणरुप्पत्तीए अभावादो।" (जयधवल पु २ पृ २१९)

अर्थ—विसंयोजना किसे कहते हैं ? अनन्तानुबन्धी चतुष्क के स्कन्धों को पर प्रकृतिरूप से परिणमा देने को विसंयोजना कहते हैं। विसंयोजना का इस प्रकार लक्षण करने पर जिन कर्मों की परप्रकृति के उदयरूप से क्षपणा होती है उनके साथ व्यभिचार (अतिव्याप्ति) आ जायगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी को छोड़कर पररूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं पाई जाती है। अतः विसंयोजना का लक्षण अन्य कर्मों की क्षपणा में घटित न होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है।

"कम्मंतरसरूवेण संकमिय अवट्ठाणं विसंजोयणा, णोकम्मसरूवेण परिणामो खवणा त्ति अत्थि दोण्हं पि लक्खणभेदो। ण च अणंताणुबंधीणं व संछोहणाए वि णट्ठासेसकम्माणं विसंजोयणं पडि भेदाभावादो पुणरुप्पत्ती, आणुपुव्वीसंकमवसेण लोभभावं गंतूण अकम्मसरूवेण परिणमिय खवणभावमुवगयाणं पुणरुप्पत्तिविरोहादो। अणंता-णुबंधीण व मिच्छत्तादीणं विसंजोयण-पयडिभावो आइरिएहि किण्ण इच्छिज्जदे ? ण, विसंजोयणभावं गंतूण पुणो णियमेण खवणभावमुवणमंति त्ति तत्थ तदणुब्भुवगमादो। ण च अणंताणुबंधीसु विसंजोइदासु अंतोमुहुत्तकालब्भंतरे तासिमकम्मभावगमणणियमो अत्थि जेण तासिं विसंजोयणाए खवणसण्णा होज्ज। तदो अणंताणु-बंधीणं व सेस-विसंजोइद पयडीणं ण पुणरुप्पत्ती अत्थि त्ति सिद्धं।" (जयधवल पु. ५ पृ. २०७-२०८)

अर्थ—किसी कर्म का दूसरे कर्मरूप संक्रमण करके ठहरे रहना विसंयोजना है। और कर्म का नोकर्म अर्थात् कर्माभावरूप से परिणमन होना क्षपणा है। इस प्रकार दोनों के लक्षणों में भेद है। यदि कहा जाय कि प्रदेश क्षेपण से नष्ट हुए अशेष कर्मों में विसंयोजना के प्रति कोई भेद नहीं है अतः अनन्तानुबन्धी की तरह उन कर्मों की भी पुनः उत्पत्ति हो जायगी सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि संक्रमण के कारण लोभपने को प्राप्त होकर अकर्मरूप से परिणमन करके नष्ट हुई उन प्रकृतियों की पुनः उत्पत्ति होने में विरोध है। यदि कहा जाय कि अनन्तानुबन्धी की तरह मिथ्यात्वआदि प्रकृतियों को भी आचार्यों ने विसंयोजना प्रकृति क्यों नहीं माना ? तो ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वआदि प्रकृतियाँ विसंयोजनपने को प्राप्त होकर अनन्तर नियम से क्षयअवस्था को प्राप्त होती हैं, इसलिये इनमें विसंयोजनपना नहीं माना गया। किंतु अनन्तानुबन्धी कषायों का विसंयोजन होने पर अन्तर्मुहूर्तकाल के भीतर उनके अकर्मपने को प्राप्त होने का नियम नहीं है जिससे कि विसंयोजना की क्षपणा संज्ञा हो जाय। अतः अनन्तानुबन्धी की तरह शेष विसंयोजित प्रकृतियों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती यह सिद्ध हुआ।

"तेसिं पुणरुप्पज्जमाणसहावाणं खीणत्तविरोहादो।" (जयधवल पु. ५ पृ. २४४)

अर्थ—क्योंकि अनन्तानुबन्धी पुनः उत्पन्न स्वभाववाली है अतः उन्हें क्षीण मानने में विरोध आता है।

—जै. ग. 12-10-67/VII/शान्तिलाल

अनन्ता० विसंयोजना का स्वामी

शंका—अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना किस गुणस्थान में होती है ?

समाधान—अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना सम्यग्दृष्टिजीव चौथे से सातवें तक किसी भी गुणस्थान में कर सकता है।

—जै. ग. 30-11-67/VIII/ कँवरलाल

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना क्यों ?

शंका—चार अनन्तानुबन्धीकषाय और तीन दर्शन मोहनीयकर्म इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से उपशमसम्यग्दर्शन, क्षयोपशमसम्यग्दर्शन और क्षायिकसम्यग्दर्शन होता है फिर अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—पररूप से प्राप्त होकर कर्म के निःसत्त्व हो जाने पर जिस कर्म की पुनः उत्पत्ति नहीं होती उस कर्म के विनाश को क्षपणा कहते हैं। जिस प्रकार आठकषायों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु उस प्रकार अनन्तानुबन्धी की पुनः उत्पत्ति न होती हो, यह बात तो है नहीं, परिणामों के वशसे सासादन आदिक में इसका पुनः सत्त्व पाया जाता है, अतः अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना होती है। (जयधवल पु. ३ पृ. २४६, पु. ४ पृ. ११ व २४; पु. ५ पृ. २०७-२०८)

जिसने दर्शनमोहनीयकर्म का क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिकसम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व या सासादनगुणस्थान को प्राप्त नहीं होता, अतः उसके अनन्तानुबन्धीकषाय का पुनः सत्त्व नहीं पाया जाता है।

—जै. ग. 7-8-67/VII/ शांतिलाल

अनन्तानुबन्धी के सत्त्व बिना १६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्वी रह सकता है

शंका—कषायपाहुड पु० ४ पृ० २०६ पर अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना के पश्चात् पुनः उसके संयुक्त होने में सबसे अधिक काल कुछ कम १३२ सागर लगता है। एक जीव क्या इतने काल तक अनन्तानुबन्धी का विसंयोजक रह सकता है ?

समाधान—कोई मिथ्यादृष्टिजीव वेदकसम्यग्दृष्टि होकर अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना कर देता है। पुनः वेदकसम्यक्त्व के साथ कुछ कम ६६ सागर तक रहा, एक अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो गया, फिर वेदकसम्यग्दृष्टि होकर कुछ कम ६६ सागर तक सम्यग्दृष्टि बना रहा। फिर गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया और अनन्तानुबन्धीकषाय का बंध व संयोजना करली। ऐसा जीव कुछ कम दो ६६ सागर अर्थात् कुछ कम १३२ सागर तक अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना वाला रह सकता है।

(षट्खण्डागम पु० ५, पृ० ६ व कषायपाहुड पु० ५ पृ० २६९)

—जै. सं. 4-2-58/V/ ब्र. रा. म. (आ. श्री शिवसागरजी संघस्थ)

(१) अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों में दारु, अस्थि व शैलरूप स्पर्धक हैं
(२) देशघाती स्पर्द्धकोदय में भी आयुबन्ध सम्भव है

शंका—शास्त्रों में कषाय के ४ भेद किये हैं अनन्तानुबन्धी आदि की अपेक्षा से और शक्ति की अपेक्षा से शिला, पृथ्वी, धूलि, जल ये ४ भेद किये हैं कई विद्वान् इनको क्रमशः अनन्तानुबन्धी आदि के उदाहरण के रूप में

लेते हैं सो क्या यह वास्तव में ठीक है ? यदि ऐसा ही माना जाय तो जलरेखावत् संज्वलनकषाय में आयु का बंध नहीं होना चाहिये और देवायु का बन्ध सातवें गुणस्थान तक बतलाया है सो किस आधार पर बंधता है, स्पष्ट कीजिये।

समाधान—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार की कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये चार भेद हैं। इसप्रकार कषाय सोलहप्रकार की है।

"अनन्तानुबन्ध्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमाया लोभाः।" ॥ ८।९ ॥
[मोक्षशास्त्र]

अर्थ—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से सोलहकषाय हैं।

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयल-चारित्तं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि ॥४५॥ [गो. क.]

अर्थ—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये चारकषाय क्रम से सम्यक्त्व को, देश-चारित्र को सकलचारित्र को और यथाख्यातचारित्र को घातती हैं।

केवलणाणावरणं दंसण छक्कं कसायबारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि ॥३९॥ (गो. क.)

अर्थ—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण और पाँचनिद्रा इसप्रकार दर्शनावरण के छः भेद, तथा अनंतानु-बन्धी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-क्रोध-मान-माया-लोभ ये बारहकषाय और मिथ्यात्वमोहनीय सब मिलकर २० प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं तथा सम्यग्मिथ्यात्व अबन्धप्रकृति भी सर्वघाती है। अर्थात् १६ कषायों में से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, और प्रत्याख्यान तो सर्वघातिया प्रकृति हैं और संज्वलनदेशघाती है। प्रथम बारहकषाय में सर्व घातिस्पर्द्धक होते हैं, देशघाति स्पर्द्धक नहीं होते। चारसंज्वलनकषाय में सर्वघाती और देशघाती दोनों प्रकार के स्पर्द्धक होते हैं।

सत्ती य लदादारू अट्ठी सेलोवमाहु घादीणं दारु-अणंतिम-भागोत्ति देसघादी तदो सव्वे ॥१८०॥ (गो.क.)

अर्थ—घातियाकर्मों की शक्ति लता-काठ-हड्डी और पत्थर के समान है। लता और दारु का अनन्तवाँ भाग देशघातिया है शेष सब सर्वघातिया हैं।

आवरणदेस घादंतराय संजलण पुरिस सत्तरसं।
चदुविध-भावपरिणदा तिविधा भावाहु सेसाणं ॥१८२॥ (गो. क.)

अर्थ—आवरण की देशघातिया ७ प्रकृतियाँ, अंतराय ५, संज्वलनकषाय ४ और पुरुषवेद इन १७ प्रकृतियों में चारों प्रकार के स्पर्द्धक होते हैं और घातियाकर्म की शेष सब बंधप्रकृतियों में अस्थि, शैल, दारु, इन तीन प्रकार के सर्वघाति स्पर्द्धक होते हैं, लतारूप स्पर्द्धक नहीं होते, क्योंकि वे देशघाति हैं। इससे सिद्ध है कि अनंतानु-बन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चारों कषायों में शैल (पत्थर की रेखा, पत्थर, बाँस की जड़,

क्रिमिराग) के समान, अस्थि (पृथ्वी की रेखा, हड्डी, मेढे के सींग, चक्रमल) के समान दारु (धूलिरेखा, काठ, गोमूत्र, शरीर मल) के समान स्पर्द्धक होते हैं।

इन आर्षवाक्यों के विरुद्ध यह मान्यता कि अनन्तानुबन्धी में मात्र शैल (पत्थर की रेखा, पत्थर, बांस की जड़, क्रिमिराग) स्पर्द्धक, अप्रत्याख्यान में अस्थि (पृथ्वी की रेखा, हड्डी, मेढे के सींग, चक्रमल) स्पर्द्धक ही होते हैं, और प्रत्याख्यान में दारु (धूलिरेखा, काठ, गोमूत्र, शरीर मल) के समान और संज्वलन में लता, (जल रेखा, बेंत, खुरपा, हल्दी के रंग) के समान ही स्पर्द्धक होते हैं, उचित नहीं है। दूसरे अनन्तानुबन्धी के अभाव में अप्रत्याख्यान के उदय में तिर्यंचायु नहीं बँध सकती है।

छठे और सातवें गुणस्थानों में संज्वलनकषाय के देशघातियास्पर्द्धकों का उदय होता है, सर्वघातिया स्पर्द्धकों का उदय नहीं होता है। छठे और सातवें गुणस्थानो में देवायु का बन्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि देशघातिस्पर्द्धकों में भी आयु के बन्ध का विरोध नहीं है।

—जै. ग. 24-10-66/VI/ पं. शांतिकुमार

गुण श्रेणी

गुण श्रेणी

शंका—गुणश्रेणी तीन तरह की बताई है—१. उदयादि २. अवस्थित ३. गलितावशेष। ये तीनों कहां-कहां होती हैं ?

समाधान—१. जहां उदयावली भी गुणश्रेणी आयाम विषैं गर्भित होय तिसको उदयादि गुणश्रेणी कहे हैं। २. गुणश्रेणी का प्रारम्भ करने के प्रथम समय विषैं जो गुणश्रेणी आयाम का प्रमाण था तामें एक-एक समय व्यतीत होते ताके द्वितीयादि समयनिविषैं गुणश्रेणी आयाम क्रमतैं एक-एक निषेक घटता होइ अवशेष रहे ताका नाम गलितावशेष है। ३ गुणश्रेणी आयाम के प्रारम्भ करने का प्रथम द्वितीयादि समयनि विषैं गुणश्रेणी आयाम जेता का तेता रहे। ज्यूं ज्यूं एक-एक समय व्यतीत होइ त्यूं त्यूं गुणश्रेणीआयाम के अनन्तरवर्ती उपरितनस्थिति का एक-एक निषेक गुणश्रेणीआयाम विषै मिलता जाइ तहाँ अवस्थित गुणश्रेणीआयाम कहिए है।

(लब्धिसार पं० टोडरमलजी कृत भाषा टीका पृ० २१-२२)

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र ४५ में जो दस स्थान असंख्यातगुणनिर्जरा के कहे हैं उन स्थानों में गलितावशेष गुणश्रेणी होय है। संयम या संयमासंयम सम्बन्धी जो निरन्तर गुणश्रेणी निर्जरा होय है वह अवस्थित गुणश्रेणी है। उसमें भी जो उदयागत प्रकृतियाँ हैं उनकी उदयादि गुणश्रेणी होय है।

—पत्राचार / ब. प्र. स., पटना

स्थिति अनुभाग काण्डक

स्थितिकाण्डक घात एकेन्द्रिय भी करता है पर वह अविपाक निर्जरा नहीं करता

शंका— संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मरकर एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले जीव के पल्योपम के असंख्यातवेंभाग काल तक स्थितिकाण्डकों के द्वारा निर्जरा होती रहती है, यह अविपाकनिर्जरा है या नहीं ?

समाधान—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में मोहनीयकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध सत्तर कोडाकोडीसागर प्रमाण है। **"मोहणीयस्स उक्कस्सओ ट्ठिदि बंधो सत्तरिसागरोवम कोडाकोडीओ"** और एकेन्द्रिय जीवों में मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकसागर प्रमाण है। **"एइंदिएसु उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो सागरोवमस्स सत्तभागा वे सत्तभाग।"** जब एकसागर से अधिक कर्म स्थितिवाला जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न होता है तो उसकी पूर्वोक्त अधिक स्थिति स्थितिकाण्डकों द्वारा खंडित होकर एकसागर प्रमाण हो जाती है। कहा भी है—**"एइंदिय० अप्पद० उक्क० पलिदो असंखे० भागो।"** (ज. ध. पु. ३ पृ. १०२)। **"अप्पदरकालब्भंतरे चेव पलिदोवमस्स असंखेज्जदि-भागमेत्तट्ठिदि-खंडयघादेहि अंतोकोडाकोडिट्ठिदिसंतकम्मं घादिय सुहुमणिगोदट्ठिदिसंत-समाणकरणट्ठं।"** (ध. पु. १० पृ० २९१) अर्थात् अल्पतर काल के भीतर पल्योपम के असंख्यातवेंभाग प्रमाण स्थितिकाण्डकघातों के द्वारा अन्तः कोटाकोडिप्रमाण स्थितिसत्त्व का घात करके उस सूक्ष्मनिगोद जीव की स्थितिसत्त्व के समान कर लेता है। **"आगमदो णिज्जराए थोवात्ताभावादो।"** (ध. पु० १० पृ० २९२) उस अल्पतरकाल में कर्मास्रव की अपेक्षा निर्जरा का कम पाया जाना सम्भव नहीं है अर्थात् आस्रव की अपेक्षा निर्जरा अधिक होती है, क्योंकि अपकर्षित होकर पतित होने पर गोपुच्छायें स्थूल होकर निर्जरा को प्राप्त होने लगती हैं। **ओकड्डिदूण पदिदेसु गोवुच्छाओ थूला होदूण णिज्जरेंति।** (ध० १० पृ० २९२)

इससे यह ज्ञात हो जाता है कि उस जीवके स्थितिकाण्डकों द्वारा मात्र द्रव्य निर्जरा होती है, किंतु उदयागत कर्मों के अनुभाग में कमी नहीं होती। अतः यह अविपाकनिर्जरा नहीं है। अविपाकनिर्जरा तो करण-लब्धि से पूर्व सम्भव नहीं है। करण, सम्यक्त्व व संयम परिणामों के द्वारा जो निर्जरा होती है वह अविपाकनिर्जरा है। एकेन्द्रिय के ये परिणाम सम्भव नहीं हैं अतः उसके अविपाकनिर्जरा नहीं होती है।

—जै. ग. 19-9-74/X/ज. ला. जैन, भीण्डर

स्थितिकाण्डक विधान

शंका—काण्डकघात का क्या अर्थ है ?

समाधान—'काण्डक' का अर्थ खण्ड, अंश, पोरी का है। घात का अर्थ खरोंचना, मार डालना है।

कर्मों की स्थिति या अनुभाग के उपरिम अंश, खण्ड या पोरों को खरोंचकर नष्ट कर देने को स्थिति-काण्डकघात या अनुभागकाण्डकघात कहते हैं।

प्रत्येक स्थितिकाण्डकघात के द्वारा कर्मों का स्थितिसत्त्व कम हो जाता है और प्रत्येक अनुभागकाण्डकघात के द्वारा कर्मों का अनुभागसत्त्व घात होकर कम रह जाता है।

—जै. ग. 14-8-69/VII/ कमला जैन

एकेन्द्रियों में स्थितिकाण्डक व अनुभागकाण्डक घात का अस्तित्व व प्रमाण

शंका—क्या एकेन्द्रियों में भी स्थितिकाण्डकघात तथा अनुभागकाण्डक होते हैं ? इससे वे कितना अनुभाग घातित करते हैं ? उनके अपकर्षण व उत्कर्षण कितप्रमाण होते हैं ?

समाधान—जब कोई चतुःस्थानिक अनुभागकी सत्तावाला पंचेन्द्रियजीव मरकर एकेन्द्रियों में उत्पन्न होता है तो उसके तब तक अनुभागकाण्डकघात व स्थितिकाण्डकघात होता है जब तक कि अनुभाग द्विस्थानिक और स्थितिसत्त्व एकसागर न रह जावे। अनुभागकाण्डकघात तो अनन्त बहुभाग का होता है, किंतु उत्कर्षण व अपकर्षण षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप होता है।

—पत्र 16-12-78/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

अनुभागकाण्डकघात में कौनसा अनुभाग घातित होता है ?

शंका—अनुभागकाण्डकघात में बद्ध का घात विवक्षित है सत्त्वस्थ का ? क्या उस समय जघन्य अनुभाग भी घातित होकर उसका (जघन्य का) अनन्तगुणाहीन अवशिष्ट रह जाता है या उत्कृष्ट एवं उत्कृष्ट के समीप वाले अनुत्कृष्ट ही अनुभागस्पर्धक घातित होते हैं ?

समाधान—अनुभागकाण्डकघात में सत्त्वस्थित अनुभाग का घात ही होता है। उस समय जिस जिस स्पर्धक में तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट अनुभाग है उसका घात होकर अनन्तगुणाहीन हो जाता है। अनुभागकाण्डकघात होने पर जो अनुभाग शेष रहता है अब वह उत्कृष्ट कहलाता है। जैसे अनेक प्यालों में भिन्न-भिन्न तापक्रम वाला जल है। किसी में २००° C, किसी में १९०° C, किसी में १८५° C, अन्य में १७५° C, अन्य में १४५° C, अन्य में १५०° C; इतर में १४०° C इत्यादि। अब अनुभागकाण्डकघात होने पर जिनमें १५०° C से अधिक तापक्रम था उनका तापक्रम घातित होकर १५०° C रह जाता है। जिनका तापक्रम १५०° C से कम या १५०° C है उनके तापक्रम का घात नहीं होता। बन्ध होने पर एक आवलि काल तक तो घात होता नहीं; ऐसा सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए।

—पत्राचार 4-12-78/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

अनुभाग

आयुकर्म का "अनुभाग"

शंका—आयु का अनुभाग क्या है ?

समाधान—आयुकर्म में अनुभाग बन्ध का क्या कार्य है, इसका स्पष्ट कथन आगम में मेरे देखने में नहीं आया है। अनुमान या युक्ति से कथन करना उचित नहीं है, उसमें भूल हो सकती है।

—जै. ग. 20-4-72/IX/ यशपाल

द्विस्थानिक अनुभाग उदय की उत्पत्ति का विधान

शंका—द्विस्थानिक अनुभाग सर्वत्र कैसे हो जाता है ?

समाधान—जिन्होंने प्रायोग्यलब्धि में पापप्रकृतियों का अनुभागसत्त्व द्विस्थानिक कर दिया है उनके अथवा अनादि एकेन्द्रिय जीवों में, अथवा जिनको एकेन्द्रियों में भ्रमण करते हुए बहुत समय हो गया है ऐसे सादि एकेन्द्रियों के भी द्विस्थानिक अनुभाग होता है।

—पत्र 8-9-78/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

अनुभाग-अपकर्षण या उत्कर्षण होने पर प्रदेशों का ऊपर या नीचे के निषेकों में गमन नहीं होता

शंका—अनुभाग अपकर्षण की क्रिया में अनुभाग से अपकृष्यमाण प्रदेश या वर्ग स्थिति की अपेक्षा अपकृष्ट होता है या नहीं, अर्थात् अनुभाग अपकर्षण को प्राप्त वर्ग (प्रदेश) विवक्षित निषेक से, जहाँ कि वह है, हटकर नीचे के निषेकों में जाता है या नहीं ? कृपया स्पष्ट करावें। यह भी बतावें कि अवधिज्ञान के अभाव-में तदावरण कर्म के देशघाती स्पर्धक स्वमुख से उदय में आते हैं या परमुख से ?

समाधान—अनुभागकाण्डकघात तथा अनुभाग-अपकर्षण में अनुभाग कम हो जाता है, पर प्रदेशों का अपकर्षण नहीं होता। आप तो प्रयोगशालासहायक हैं। मानाकि एक टेबल पर दस जारों में भिन्न-भिन्न तापक्रम का पानी है। यदि किसी यन्त्र के द्वारा अधिक तापक्रम वाले जारों का तापक्रम कम कर दिया जाता है, जो अन्य जार के जल के तापक्रम के सदृश हो, तो क्या उसका जल दूसरे जार के जल में मिल जायगा ?

स्थितिबन्ध में काल की अपेक्षा होती है, अतः निषेकों की ऊर्ध्वरचना होती है। वहाँ स्थिति सदृश करने के लिये, अर्थात् स्थिति घटाने के लिये ऊपर के निषेक के द्रव्य को नीचे के निषेक के द्रव्य में मिलाना पड़ता है, क्योंकि उसकी स्थिति कम है, किंतु अनुभाग में स्पर्धकों में ऊर्ध्वरचना नहीं होती, क्योंकि यहाँ काल की अपेक्षा नहीं है। प्रत्येक निषेक में चारों प्रकार के स्पर्धक रहते हैं। यदि शैलरूप स्पर्धक का अनुभाग घटकर अस्थिरूप हो जाय तो उसके द्रव्य को ऊपर या नीचे के निषेक में जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उस निषेक में भी अस्थिरूप स्पर्धक विद्यमान हैं।

जैसा बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भाव मिलता है वैसा ही अनुभाग उदय में आता है। अन्य स्पर्धकों का द्रव्य स्तिबुकसंक्रमण द्वारा उदयस्पर्धकरूप परिणमन कर जाता है। जब तक देव या नारकी के अवधिज्ञान के सर्वघातीस्पर्धकों का घात होकर देशघातीरूप से उदय में आगमन होता है तब तक अवधिज्ञान का क्षयोपशम रहता है। देव या नारकी का मरण होने पर सर्वघातियास्पर्धकों का घात रुक जाता है और देशघातियास्पर्धकों के अनुभाग का उत्कर्षण होकर सर्वघातिरूप उदय में आने लगता है। प्रत्येक निषेक में चारों प्रकार के अनुभाग के स्पर्धक विद्यमान हैं। फिर अनुभाग के उत्कर्षण या अपकर्षण होने पर प्रदेशों के ऊपर-नीचे के निषेकों में जाने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

—पत्राचार 16-8-78/ज. ला. जैन, भीण्डर

अनुभाग उदय, अनुभाग अपकर्षण, अनुभाग बन्ध एवं अनुभागकाण्डकघात सम्बन्धी सूक्ष्म नियम

शंका—स्थिति-बन्ध तथा स्थिति-उदय; ये विषय तो स्पष्ट हैं, परन्तु अनुभाग बन्ध तथा अनुभाग उदय का परिज्ञान आगम पढ़ने के पश्चात् भी स्पष्टतया नहीं हो पा रहा है। वर्तमान में जैसे हमारे मनःपर्यय ज्ञानावरण के कौनसे स्पर्धक स्वमुख से उदित हो रहे हैं ? एक निषेक में क्या अनुभाग स्पर्धक अनन्त होते हैं ? यदि नहीं तो 'अनन्त स्पर्धक होते हैं', यह वचन भी बाधित हो जायगा, क्योंकि सकल स्थिति निषेक भी मध्यम असंख्यात से अधिक नहीं हैं। क्या प्रत्येक निषेक (उदीयमान निषेक) में देशघाती तथा सर्वघाती; दोनों प्रकार के स्पर्धक होते हैं ? स्पष्ट करें। इसके साथ ही अनुभागकाण्डकघात का स्वरूप स्पष्ट करें। क्या अनुभागकाण्डकघात में स्थितिघात होना जरूरी है ? क्या स्थितिकाण्डक के साथ अनुभागकाण्डकघात होना जरूरी है ? अनुभाग अपकर्षण कब तथा किस रूप होता है ?

समाधान—प्रत्येक समय एक-एक समयप्रबद्ध बँधता है जिसमें अनन्त कार्मणवर्ग होते हैं, जो अभव्यों से अनन्तगुणे एवं सिद्धों के अनन्तवेंभाग प्रमाण होते हैं। अङ्कसंदृष्टि में इस संख्या को ६३०० माना गया है। इस प्रबद्ध वर्गसमूह की स्थितिबन्ध की अपेक्षा अबाधा-काल को छोड़कर निषेकरूप रचना (बँटवारा) हो जाती है। स्थितिबन्ध असंख्यात समयों का होता है, अतः निषेक भी असंख्यात हो जाते हैं। प्रत्येक निषेक में अनन्त (अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवेंभाग) कार्मणवर्ग (परमाणु) होते हैं। प्रत्येक कार्मणवर्ग में फलदानशक्ति होती है। उसे अविभागप्रतिच्छेदों के द्वारा बताया जाता है। अनुभागबन्ध की अपेक्षा अनन्त कार्मणवर्गों की एक वर्गणा तथा अनन्तवर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। प्रथम वर्गणा में फलदानशक्ति हीन होती है। फिर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अन्तिमस्पर्धक की अन्तिमवर्गणा में सबसे (सर्व अधस्तन वर्गणाओं से) अधिक शक्ति होती है। इन शक्तियों को स्थूलरूप से ४ भागों में विभाजित किया गया है—१. लता २. दारु ३. अस्थि ४. शैल। पुण्य प्रकृतियों का गुड़ आदि रूप तथा पापप्रकृतियों का नीम, काँजीर आदि रूप शक्तिनाम है।

स्थिति की अपेक्षा जो निषेक रचना हुई है उसमें से प्रत्येक निषेक में अनुभाग की अपेक्षा अनन्तस्पर्धक होते हैं, क्योंकि प्रत्येक निषेक में मध्यम अनंतानन्त कार्मणवर्ग होते हैं। अतः उदयरूप प्रत्येक निषेक में अनन्त स्पर्धक उदय में आते हैं, किन्तु स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा समस्त स्पर्धकों का अनुभाग एकरूप से उदय में आता है। जैसे मतिज्ञानावरण के अस्थि व शैलरूप सर्वघाती स्पर्धकों का अनुभाग भी देशघातीरूप दारु में परिणत होकर उदय में आता है। वर्तमान में भरत क्षेत्र के मनुष्यों के मनःपर्ययज्ञानावरण के लता-दारु रूप देशघातीस्पर्धक भी स्तिबुकसंक्रमण द्वारा शैल नामक सर्वघातीस्पर्धकरूप परिणत होकर उदय में आते हैं। एक निषेक में अनन्त स्पर्धकों के होने में कोई बाधा नहीं है। प्रत्येक निषेक में देशघातीस्पर्धक भी होते हैं और सर्वघातीस्पर्धक भी होते हैं।

अनुभागकाण्डक द्वारा पाप प्रकृतियों का अनन्त बहुभाग अनुभाग घातित होता है, अर्थात् फलदानशक्ति अनन्तगुणी हीन हो जाती है। परन्तु कार्मणवर्ग अपने-अपने निषेक में स्थित रहते हैं; नीचे या ऊपर के निषेकों में नहीं जाते। अनुभागघात के साथ-साथ स्थितिघात होना आवश्यक नहीं है। इसका भी कारण यह है कि एक स्थितिकाण्डकघात के काल में हजारों अनुभागकाण्डकघात हो जाते हैं। स्थिति में अनन्तगुणी हानिवृद्धि नहीं होती। प्रथम अनुभागकाण्डकघात होने पर अनुभाग तो अनन्तगुणा हीन हो जाता है, किंतु कर्मस्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है, उसमें कोई हानि नहीं होती।

अनुभागकाण्डकघात के साथ स्थितिघात होना अवश्यम्भावी नहीं है। स्थितिकांडकघात के साथ अनुभाग-कांडकघात होना अवश्यम्भावी नहीं है, क्योंकि पुण्यप्रकृतियों का अपूर्वकरणादि परिणामों द्वारा स्थितिकांडकघात तो होता है, किंतु अनुभागकांडकघात नहीं होता।

अनुभाग सम्बन्धी अनन्तवर्गणाएँ प्रतिसमय उदय में आती हैं। अपूर्वकरणादि विशुद्ध परिणामों द्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकृतियों का स्थितिघात होता है। अकालमरण के समय आयु का स्थितिघात तो होता है, किंतु अनुभागघात नहीं होता।

संक्लेश परिणामों से शुभप्रकृतियों के अनुभाग का अपकर्षण हो जाता है, किंतु स्थिति का अपकर्षण नहीं होता, क्योंकि तीन शुभ आयु के अतिरिक्त शेष सब शुभ-अशुभ प्रकृतियों का स्थितिबन्ध अशुभ है। (गो. क. गा. १५४) अतः संक्लेश परिणामों से शुभप्रकृतियों का स्थितिबन्ध, जो अशुभरूप है, उसका घात नहीं हो सकता है। स्थितिसत्त्व से अनुभागसत्त्व की जाति भिन्न है। (जयधवल पु० १ पृ० १९४)

—पत्राचार 4-8-78/ज. ला. जैन, भीण्डर

अविभाग प्रतिच्छेद की परिभाषा

शंका—अविभागप्रतिच्छेद किसको कहते हैं ?

समाधान—अविभागप्रतिच्छेद का कथन दो अपेक्षाओं से पाया जाता है। एक तो कर्म व नोकर्मवर्गणा की अपेक्षा, दूसरे जीव प्रदेश व पुद्गल परमाणु के शक्तिअंश की अपेक्षा। इन दोनों अपेक्षाओं से अविभागप्रतिच्छेद का लक्षण भी दो प्रकार से पाया जाता जाता है। कर्म और नोकर्म की अपेक्षा लक्षण इस प्रकार हैं—

"सव्वमंदाणुभागपरमाणुं घेत्तूण वण्ण-गंध-रस मोत्तूण पासं चेव बुद्धीए घेत्तूण तस्स पण्णच्छेदो कायव्वो जाव विभागवज्जिद परिच्छेदात्ति।" (ध० पु० १२ पृ० ९२)

"तत्र सर्वजघन्यगुणः प्रदेशः परिगृहीतः तस्यानुभागः प्रज्ञाछेदेन तावद्धा परिच्छिन्नः यावत्पुनर्विभागो न भवति। ते अविभागपरिच्छेदाः।" (राजवार्तिक अ. २ सूत्र ५ वार्तिक ४)

"सरीर परूवणदाए अणंत अविभागपडिच्छेदो सरीरबंधणगुणपण्णच्छेदणणिप्पण्णा।" (धवल १४/४३४)

सर्वमन्द अनुभाग से संयुक्त कर्मपरमाणु को ग्रहण करके, वर्ण, गंध, रस को छोड़कर केवल स्पर्श का ही बुद्धि से ग्रहण कर उसका विभागरहित छेद होने तक प्रज्ञा के द्वारा छेद करना चाहिये। छेदन के अयोग्य उस अन्तिमखण्ड की अविभागप्रतिच्छेद संज्ञा है।

शरीरप्ररूपणा की अपेक्षा शरीर-बंधन के कारणभूत गुण (अनुभाग) का प्रज्ञा से छेद करने पर अनन्त अविभागप्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं।

"को अणुभागोणाम ? अट्ठण्णं वि कम्माणं जीवपदेसाणं च अण्णोण्णाणुगमणहेदु परिणामो।"

आठों कर्मों और जीव प्रदेशों की परस्पर एकरूपता के कारणभूत परिणाम अनुभाग है।

पुद्गलपरमाणु की अपेक्षा अविभागप्रतिच्छेद का लक्षण निम्न प्रकार से है—

"एगपरमाणुम्हि जा जहण्णिया वड्ढी सो अविभाग पडिच्छेदोणाम।" (धवल १४ पृ. ४३१)

"मात्राणाम अविभाग पडिच्छेदो। किं पमाणं तस्स ? जहण्णगुणवड्ढिमेत्तो।" (धवल १४ पृ. ३२)

एक परमाणु में जितनी जघन्य वृद्धि होती है वह अविभाग प्रतिच्छेद है। मात्रा का अर्थ अविभाग प्रतिच्छेद है। गुण की जघन्य वृद्धिमात्र उसका प्रमाण है।

योग की अपेक्षा अविभागप्रतिच्छेद का कथन इस प्रकार है—

"एक्कम्हि जीवपदेसे जोगस्स जा जहण्णिया वड्ढी सो जोगाविभागपडिच्छेदो।" (धवल १० पृ. ४४०)

"जीवप्रदेशस्य कर्मादानशक्तो जघन्यवृद्धिः योगस्याविभागप्रतिच्छेदः ।' (गो. क. जी. प्र. टीका २२८)

आत्मा के एकप्रदेश में योग (कर्मग्रहण की शक्ति) की जो जघन्यवृद्धि है वह योग अविभागप्रतिच्छेद है। यदि यह कहा जावे योग (कर्मग्रहण शक्ति) को बुद्धि से छेदने पर जो अविभागी अंश प्राप्त होता है वह अविभागप्रतिच्छेद है, सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पहले अविभागप्रतिच्छेद के अज्ञात होने पर बुद्धि से छेद करना सम्भव नहीं है। दूसरे जैसे कर्म के अविभागप्रतिच्छेद अनन्त हैं, वैसे ही योग के अविभागप्रतिच्छेद भी अनन्त हो जाने से 'योग के अविभागप्रतिच्छेद असंख्यातलोकप्रमाण हैं' इस सूत्र से विरोध हो जायगा।

(धवल १० पृ० ४४१)

जै. ग. 17-4-75/VI/प्रो. ल. च. जैन

वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक

शंका—एक वर्गणा में जितने वर्ग हैं उन सबमें अविभागप्रतिच्छेद समान ही रहते हैं या कम-ज्यादा भी ?

समाधान—एक वर्गणा में जितने भी वर्ग हैं उन सबमें अविभागप्रतिच्छेद समान ही रहते हैं, हीनाधिक नहीं होते।

शंका—प्रथमवर्गणा से द्वितीयवर्गणा में एक अधिक अविभागप्रतिच्छेद वाले वर्ग रहते हैं। लेकिन वर्ग कितने रहते हैं ? कम या ज्यादा ? क्या यह कोई नियम नहीं है, सिर्फ अविभागप्रतिच्छेद ज्यादा रहते हैं यही नियम है ? वर्ग कम-ज्यादा भी रह सकते हैं क्या ?

समाधान—प्रथमस्पर्द्धक की प्रथमवर्गणा में सबसे अधिक वर्ग होते हैं। द्वितीयवर्गणा में वर्गों की संख्या, प्रथमवर्गणा की अपेक्षा कम होती है। इसी प्रकार तृतीय आदि वर्गणाओं में वर्गों की संख्या हीन होती चली जाती है, किंतु अविभागप्रतिच्छेद प्रतिवर्गणा अधिक होते चले जाते हैं।

—पत्राचार/ब. प्र. स., पटना

सर्वघाती व देशघाती स्पर्द्धक

प्रश्न—सर्वघाति कर्मस्पर्द्धक व देशघातिकर्मस्पर्द्धक से क्या तात्पर्य है ?

समाधान—घातियाकर्मों का अनुभागबन्ध लता, दारु, अस्थि और शैल समान शक्ति को लिये हुए होता है। उनमें से लता के सम्पूर्ण और दारु के बहु भाग स्पर्द्धक देशघाती कहलाते हैं, क्योंकि ये स्पर्द्धक आत्मा के सम्पूर्ण गुण का घात नहीं करते हैं। दारु के शेष स्पर्द्धक और अस्थि व शैल के सम्पूर्ण स्पर्द्धक सर्वघाती कहलाते हैं, क्योंकि ये आत्मा के सम्पूर्ण गुणों का घात करते हैं अथवा सम्पूर्ण गुणों को उत्पन्न नहीं होने देते हैं।

—जै. सं. 24-5-56/VI/ फू. च. बामोरा

अनुभाग स्पर्द्धक

शंका—क्या स्थिति की तरह अनुभाग के स्पर्द्धकों का उदय बिना उत्कर्षण, अपकर्षण व काण्डकघात के भी क्रमशः नहीं होकर आगे पीछे होता है ? होता है तो कैसे ?

समाधान—अनुभागस्पर्द्धकों में भी स्थितिबन्ध होता है क्योंकि प्रत्येक कार्मणवर्गणा जो बन्ध को प्राप्त होती है उसमें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबन्ध अवश्य होता है। अनुभागस्पर्द्धकों में अनुभाग का उत्कर्षण, अपकर्षण व अनुभागकाण्डकघात के बिना भी स्थितिसंक्रमण होने के कारण उनका उदय आगे पीछे होना सम्भव है। स्थितिसंक्रमण होने पर अनुभाग का संक्रमण अवश्य हो, ऐसा नियम नहीं है।

—पत्राचार/ब. प्र. स.

क्षयोपशम दशा में कर्म की देशघाती व सर्वघाती प्रकृतियों की कार्य विधि

शंका—क्या किसी कर्म के क्षयोपशम में उस कर्म की देशघाती तथा सर्वघातीप्रकृतियां जब सम्मिलित होकर कार्य करती हैं तभी क्षयोपशम दशा होती है जैसे ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम में केवलज्ञानावरण तथा मतिज्ञानावरण आदि जो क्रमशः सर्वघाती व देशघाती हैं, ये सम्मिलित होकर कार्य करते हैं या अन्य प्रकार से ?

शंका—क्या किसी कर्म के क्षयोपशम में दूसरे कर्म के सर्वघाती कर्मस्पर्द्धकों व देशघातीस्पर्द्धकों के अर्थात् उस कर्म का कोई भी एक सर्व या देशघाती कर्मस्पर्द्धक तथा दूसरे कर्म का कोई भी एक सर्व या देशघाती-स्पर्द्धक की सम्मिलित दशा को क्षायोपशमिक कहते हैं जैसे मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम में केवलज्ञानावरण कर्म जो मात्र सर्वघाती है, उसके सर्वघातीस्पर्द्धकों व मतिज्ञानावरण जो मात्र देशघाती है उसके देशघाती कर्म-स्पर्द्धकों का सम्मिलित कार्य क्षयोपशम कहलाता है या क्या मात्र उसी कर्म के सर्व व देशघातीस्पर्द्धकों के सम्मिलित कार्य को क्षायोपशमिक कहते हैं ? यदि अन्तिम विकल्प को क्षयोपशम कहें जिसमें मतिज्ञानावरण के स्वतः के देशघाती व सर्वघाती कर्मस्पर्द्धक माने गये हैं तो क्या केवलज्ञानावरण को छोड़कर मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय के क्रमशः स्वतः के भी अलग-अलग तथा उनकी उत्तर प्रकृतियों के भी अलग-अलग सर्वघाती व देशघाती दोनों तरह के स्पर्द्धक होते हैं तथा यदि सबके दोनों तरह के नहीं होते हैं तो कौनसी उत्तर प्रकृतियां मात्र देशघाती ही व कौनसी मात्र सर्वघाती ही हैं ?

शंका—चारों घातिया कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की देशघाती व सर्वघाती सूची देने का कष्ट करें तथा यह भी सूचित करें कि इन देश या सर्वघाती प्रकृतियों में भी सर्वघाती तथा देशघाती दोनों तरह के स्पर्द्धक पाये जाते हैं या मात्र देश या सर्वघाती ?

समाधान—देशघाति का उदय और सर्वघाती का अनुदय हो उसको क्षयोपशम कहते हैं। जिस कर्म का क्षयोपशम होता है, तत्कर्म सम्बन्धी देशघाती का उदय और सर्वघाती का अनुदय होना चाहिये। यदि अन्य कर्म भी उस गुण के क्षयोपशम में बाधक हों तो उस कर्म के भी उस गुणको घात करने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों का अनुदय होना चाहिये जैसे मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम में मतिज्ञानावरण के सर्वघाती स्पर्द्धकों का तो वर्तमान में अनुदय होना चाहिये और मतिज्ञानावरण के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होना चाहिये; साथ ही साथ उसके अनुकूल वीर्य-अन्तराय कर्म के सर्वघातीस्पर्द्धकों का अनुदय और देशघाती का उदय होना चाहिये, क्योंकि आत्मा का वीर्यगुण, ज्ञानगुण में सहकारी कारण है। किंतु मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम में केवलज्ञानावरण आदि चार ज्ञानावरण कर्मों के सर्वघाती तथा देशघातीस्पर्द्धकों की कोई अपेक्षा नहीं है। जो सर्वघातीप्रकृति हैं, उनके स्पर्द्धक तो सर्वघाती होते हैं। सम्यक्त्वप्रकृति के अतिरिक्त जितनी देशघातीप्रकृति हैं उनके स्पर्द्धक देशघाती भी होते हैं और सर्वघाती भी होते हैं। सम्यक्त्वप्रकृति के स्पर्द्धक देशघाती होते हैं, सर्वघाती नहीं होते हैं। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानावरण में देशघाती और सर्वघाती दोनों प्रकार के स्पर्द्धक होते हैं। केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा पाँच, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों में सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं और घातिया कर्मों की शेष प्रकृतियाँ देशघाती हैं।

—जै. सं. 24-5-56/VI/फू. च. बामोरा

कषायों के शक्तितः चार भेदों [जघन्य अजघन्य आदि का अभिप्राय]

शंका—शक्ति की अपेक्षा कषायों के चार-चार भेद कहे गये हैं, उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य। क्या उत्कृष्ट से अनन्तानुबन्धीकषाय का अभिप्राय है? क्या अनुत्कृष्ट से अप्रत्याख्यानावरण का, अजघन्य से प्रत्याख्यानावरण का, जघन्य से संज्वलनकषाय का प्रयोजन है?

समाधान—अनुत्कृष्ट में जघन्य और अजघन्य दोनों गर्भित हैं। अजघन्य में उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट दोनों गर्भित हैं। कहा भी है—

"उक्कस्स अणुभागवेयणा सिया अजहण्णा, जहण्णादो उवरिमसव्ववियप्पाणमजहण्णम्हि दंसणादो।"
(धवल पु. १२ पृ. ५)

अर्थ—उत्कृष्ट अनुभाग वेदना कथञ्चित् अजघन्य है, क्योंकि अजघन्य पद में जघन्य से आगे के सभी विकल्प देखे जाते हैं।

"अणुक्कस्सवेयणा सिया जहण्णा, उक्कस्सादो हेट्ठिमसव्ववियप्पेसु अणुक्कस्ससण्णिदेसु जहण्णस्स वि पवेसदंसणादो। सिया अजहण्णा, जहण्णादो उवरिमवियप्पेसु अजहण्णसण्णिदेसु अणुक्कस्सपदस्स वि पवेसदंसणादो।
(धवल पु. १२ पृ. ६)

अनुत्कृष्ट अनुभाग वेदना कथञ्चित् जघन्य है, क्योंकि उत्कृष्ट से नीचे के अनुत्कृष्ट संज्ञावाले सब विकल्पों में जघन्य पद का भी प्रवेश देखा जाता है। कथञ्चित् अजघन्य है, क्योंकि जघन्य से ऊपर के अजघन्य संज्ञावाले समस्त विकल्पों में अनुत्कृष्टपद का भी प्रवेश देखा जाता है।

"जहण्णवेयणा सिया अणुक्कस्सा, उक्कस्सादो हेट्ठिमवियप्पम्मि अणुक्कस्ससण्णिदम्मि जहण्णस्स विसम्भवादो।" (धवल पु. १२ पृ. ६)

जघन्य अनुभाग वेदना कथञ्चित् अनुत्कृष्ट है, क्योंकि उत्कृष्ट से नीचे के अनुत्कृष्ट संज्ञावाले विकल्प में जघन्यपद की भी सम्भावना है।

"अजहण्णवेयणा सिया उक्कस्सा, सिया अणुक्कस्सा एदेसिं दोण्हं पदाणं तत्थुवलंभादो।"

(धवल पु. १२ पृ. ७)

अजघन्यअनुभागवेदना कथञ्चित् उत्कृष्ट है और कथञ्चित् अनुत्कृष्ट है, क्योंकि उसमें दोनों पद पाये जाते हैं।

इस आर्षवाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि उत्कृष्टअनुभाग से अनन्तानुबन्धी का, अनुत्कृष्ट अनुभाग से अप्रत्याख्यानावरण का, अजघन्य से प्रत्याख्यानावरण का और जघन्य से संज्वलन का अभिप्राय नहीं है।

अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन कषायों के उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अतिशय महान् हैं। कहा भी है—

"संजलण चउक्कं जहाक्खादसंजमघादयं पच्चक्खाणावरणीयं पुण सरागसंजमघादयं। तेण पच्चक्खाणादो संजलणाणु भाग महल्लत्तं णव्वदे। किं च पच्चक्खाणावरणस्स उदओ संजदासंजदगुणट्ठाणं जाव संजलणाणं पुण जाव सुहुमसांपराइय सुद्धिसंजद चरिमसमओ त्ति। उवरिमपरिणामेहि अणंतगुणेहि वि उदयविणासाणुवलंभादो वा णव्वदे जहा संजलणाणुभागादो पच्चक्खाणावरणीयपयडीए अणंत गुण हीणत्तं।" (धवल पु. १२ पृ. ५१-५२)। संजमासंजमघादयमपच्चक्खाणावरणीयं पच्चक्खाणावरणीयं पुण संजमघादयं। तेण अपच्चक्खाणावरणादो पच्चक्खाणावरणमहल्लत्तं णव्वदे।" (धवल पु. १२ पृ. ५३)

अर्थ—संज्वलन चतुष्क यथाख्यातसंयम का घातक है; परन्तु प्रत्याख्यानावरणीय सरागसंयम का घातक है। इससे प्रत्याख्यानावरण की अपेक्षा संज्वलन का अनुभाग अतिशय महान् है, यह जाना जाता है। दूसरे प्रत्याख्यानावरण का उदय संयतासंयत गुणस्थान तक होता है, परन्तु संज्वलन का उदय सूक्ष्म-साम्परायिकशुद्धिसंयत के अन्तिम समय तक रहता है। अर्थात् अनन्तगुणे उपरिम परिणामों के द्वारा संज्वलन के उदय का विनाश नहीं उपलब्ध होता, इससे भी जाना जाता है कि संज्वलन के अनुभाग की अपेक्षा प्रत्याख्यानावरणीयप्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणा हीन है।

अप्रत्याख्यानावरणीय संयमासंयम का घातक है, परन्तु प्रत्याख्यानावरणीय संयम का विघातक है। इससे अप्रत्याख्यानावरण की अपेक्षा प्रत्याख्यानावरण की महानता जानी जाती है।

जै. ग. 3-2-72/VI/प्यारेलाल

कर्मानुभाग तथा कर्म-निर्जरा में अन्तर

शंका—क्या निर्जरा अनुभागबन्ध का अन्तिम परिणाम होने से निर्जरा का अन्तर्भाव अनुभाग बन्ध में हो जाता है?

समाधान—अनुभागबंध और निर्जरा इन दोनों के लक्षणों में भेद होने से निर्जरा का अन्तर्भाव अनुभाग बन्ध में नहीं होता है। कहा भी है—

"फलदानसामर्थ्यमनुभव इत्युच्यते। ततोऽनुभूतानामात्तवीर्याणां पुद्गलानां निवृत्तिर्निर्जरेत्ययमर्थभेदः।"
(राजवार्तिक ८।२३।५)

कर्मों की फल देने की सामर्थ्य को अनुभव अर्थात् अनुभाग कहते हैं। अनुभव के पश्चात् जिनकी फलदान-शक्ति भोगी जा चुकी है ऐसे पुद्गलकर्मों की आत्मा से निवृत्ति हो जाना अर्थात् आत्मा से सम्बन्ध छूट जाने पर उन कर्मों की कर्मरूप पर्याय का नष्ट हो जाना ही निर्जरा है। इसप्रकार अनुभागबन्ध में निर्जरा का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 10-12-70/VI/रो. ला मित्तल

करण

बन्धकरण आबाधा का अर्थ तथा आयु के आबाधा-आयाम की विशेषता

शंका—आबाधाकाल का लक्षण क्या है? आयुकर्म का आबाधाकाल अपकर्षित या उत्कर्षित हो सकता है या नहीं? यदि हो तो कैसे? नहीं तो क्यों?

समाधान—बाधा के अभाव को आबाधा कहते हैं और अबाधा ही आबाधा है। बंधके समय से लेकर जितने काल तक निषेक रचना न हो उसको आबाधाकाल कहते हैं। (धवल पु. ६ पृ. १४८)

जिसप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों की आबाधा के भीतर अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के द्वारा निषेकों के बाधा होती है उस प्रकार आयुकर्म की बाधा नहीं होती है। कहा भी है—

"जधा णाणावरणादिजमाबाधाए अब्भंतरे ओकड्डुणउक्कड्डुण-परपयडिसंकमेहि णिसेयाणं बाधा होदि, तधा आउअस्स बाधा णत्थि।" (धवल पु. ६ पृ. १७१)

—जै. ग. 21-11-66/IX/ र. ला. जैन

उपशमकरण व उपशमभाव

शंका—नवें और दसवें गुणस्थान में उपशम तो होय है, किन्तु उपशमकरण नहीं होय है देखो गो. क. गा. ३४३ व ४४२। उपशम और उपशमकरण का क्या अभिप्राय है?

समाधान—आत्मपरिणामों की विशुद्धता के कारण जो कर्मप्रकृति उदीरणा के अयोग्य हो जाय वह उपशम है। वह दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो प्रकृतियों का ही होता है। इसीलिये मोहनीयकर्म का उपशम होकर उपशमसम्यक्त्व और उपशमचारित्र दो ही प्रकार का औपशमिकभाव होता है।

संक्लेशपरिणामों से बंध के समय जिन कर्मप्रदेशों में ऐसा बंध होय कि वे उदयावली में प्राप्त न किये जा सकें उसको उपशमकरण कहते हैं। उपशमकरण आठों कर्मों में होता है, किंतु उपशम मोहनीयकर्म का होता है। शेष सातकर्मों का नहीं होता। (गो. क. गाथा ४४१)

९ वें, १० वें गुणस्थानों में इतने संक्लेशपरिणाम नहीं होते जिससे उपशमकरण बंध हो सके, किन्तु इन गुणस्थानों में विशुद्ध परिणामों के कारण चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशम होता है।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/ र. ला जैन

उद्वेलना प्रकृतियाँ एवं उद्वेलनाकर्ता

शंका—गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ३५१ बड़ी टीका पृ. ५०५ तेजकाय-वायुकाय के उत्पन्न स्थान विषे १४४ की सत्ता और उद्वेलना करने पर १३१ की सत्ता बतलाई है। तो क्या वहाँ पर १४४ की सत्ता से भी मरण कर सकता है? हमारी यह शंका है कि तेजकाय-वायुकाय का जीव उद्वेलना प्रकृतियों में से प्रारम्भ की १० प्रकृतियों का तो नियम करके उद्वेलना करेगा ही, क्या यह ठीक है?

समाधान—१४४ प्रकृतियों की सत्ता के साथ जीव तेजकाय व वायुकाय में उत्पन्न होकर क्षुद्रभव ग्रहण मात्र काल के पश्चात् १४४ प्रकृतियों की सत्ता के साथ मरण करके अन्य काय में उत्पन्न हो सकता है। यदि वह दीर्घकाल तक तेजकाय-वायुकाय में भ्रमण करता रहे तो १३ प्रकृतियों की उद्वेलना कर १३१ प्रकृतियों के साथ अन्य काय में उत्पन्न हो सकता है। १० प्रकृतियों की उद्वेलना करने के पश्चात् ही तेजकाय, वायुकाय से निकलता है, ऐसा कोई नियम नहीं है।

—जै. ग. 25-7-66/IX/ र. ला. जैन

उद्वेलना संक्रम का स्वरूप व दृष्टान्त

शंका—उद्वेलना संक्रम का क्या स्वरूप है? दृष्टान्त द्वारा समझाइये।

समाधान—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों परिणामों के बिना विवक्षित कर्म-प्रकृति के प्रदेशों को अन्य प्रकृतिरूप से संक्रमण होकर उस विवक्षितप्रकृति का अभाव हो जाना उद्वेलना है। श्री वीरसेन स्वामी ने कहा भी है—

'तत्थुव्वेल्लणसंकमो णाम करणपरिणामेहि विणा रज्जुव्वेल्लणकमेण कम्मपदेसाणं परपयडिसरूवेण संछोहणा।' (कषायपाहुड़ पुस्तक ९ पृ० १७०)

अर्थ—करणपरिणामों के बिना रस्सी के उकेलने के समान कर्मप्रदेशों का पर-प्रकृतिरूप से संक्रान्त होना उद्वेलनासंक्रम है।

जैसे सम्यग्दृष्टिजीव मिथ्यात्व में जाकर अन्तर्मुहूर्त पश्चात् उद्वेलनासंक्रम का प्रारम्भ करे हैं। सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के स्थितिघातकाण्डकों के द्वारा पल्यके असंख्यातवेंभाग प्रमाण उद्वेलनाकाल के अन्त तक निरन्तर प्रदेश संक्रम होता है।

उद्वेलनप्रकृति तेरह हैं:—१. आहारकशरीर, २. आहारकशरीरांगोपांग, ३. सम्यक्त्वप्रकृति, ४. सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, ५. देवगति, ६. देवगत्यानुपूर्वी, ७. नरकगति, ८. नरकगत्यानुपूर्वी, ९. वैक्रियिकशरीर, १०. वैक्रियिकशरीरांगोपांग, ११. मनुष्यगति, १२. मनुष्यगत्यानुपूर्वी, १३. उच्चगोत्र।

हारदु सम्मं मिस्सं सुरदुग, णारयचउक्कमणुक्कमसो ।
उच्चागोदं मणुदुगमुव्वेल्लिज्जंति जीवेहिं ॥३५०॥ (गो० क०)

अर्थ—आहारकद्विक, सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, देवगति का युगल, नरकगति आदि ४, उच्चगोत्र और मनुष्यगति का जोड़ा; ये १३ प्रकृतियाँ उद्वेलना की जाति की हैं ।

—जै. ग. 20-8-64/IX/ ध. ला. सेठी

उद्वेलना—१. सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृति की मिथ्यात्व के कारण उद्वेलना
२. उद्वेलना से स्थिति घातित होती है ।

शंका—सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्रप्रकृति की पृथक्त्वसागर स्थिति अच्छे परिणामों से होती है या बुरे परिणामों से ? इससे पूर्व कितनी स्थिति होती है ? पृथक्त्वसागर की स्थिति क्या प्रथमगुणस्थान में होती है और अगर ऐसा है तो क्या मिथ्यात्व का बन्ध भी इतना ही होता है ।

समाधान—प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टिजीव के पाँच लब्धियाँ होती हैं । १. क्षयोपशमलब्धि, २. विशुद्धिलब्धि, ३. देशनालब्धि, ४. प्रायोग्यलब्धि, ५. करणलब्धि । इनमें से चौथी प्रायोग्यलब्धि वाला जीव आयु के बिना शेष सात कर्मों की स्थिति को घटाकर अंतःकोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण कर देता है । श्री लब्धिसार ग्रंथ में कहा भी है—

अंतोकोड़ाकोड़ी विट्ठाणे, ठिदिरसाण जं करणं ।
पाउग्गलद्धिणामा, भव्वाभव्वेसु सामण्णा ॥७॥

अर्थात्—स्थिति को अंतःकोड़ाकोड़ीसागर और अनुभाग को द्विस्थानिक करना इसका नाम प्रायोग्यलब्धि है । यह भव्य और अभव्य दोनों के हो सकती है ।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय मिथ्यात्व की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होती है । वह ही द्रव्य सम्यक्त्व व मिश्रप्रकृतिरूप संक्रमण करता है, अतः उनकी स्थिति भी अंतःकोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण होती है । प्रथमोपशमसम्यक्त्व से च्युत होकर जब मिथ्यात्वगुणस्थान में आता है तब वहां पर इन सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतियों की उद्वेलना करता है । (गो. क. गाथा ३५१) । उद्वेलना के द्वारा स्थिति का कम होना विशुद्ध या संक्लेश परिणामों पर निर्भर नहीं है, किन्तु मिथ्यात्वपरिणाम के कारण उद्वेलना होती है और पृथक्त्वसागर स्थिति रह जाती है । किंतु मिथ्यात्व का स्थितिबन्ध तीव्र व मंद परिणामों के द्वारा अपनी अपनी गति के योग्य होता है, उद्वेलना के अनुसार मिथ्यात्व का स्थितिबन्ध नहीं होता है ।

—जै. ग. 14-12-67/VIII/ र. ला. जैन

संक्रमण पुरुषवेद का बंधव्युच्छेद के बाद भी अधःप्रवृत्त संक्रम

शंका—नपुंसकवेदारूढ़ या स्त्रीवेदारूढ़ चारित्रमोह के क्षपक को पुरुषवेद के बन्धविच्छेद के बाद पुरुषवेद में कौनसा संक्रमण होता है ? एवं पुरुषवेदारूढ़ क्षपक को भी समयोन दो आवलिकाल में नवक बँधे हुए पुरुषवेद का कौनसा संक्रमण होता है ?

समाधान—नपुंसकवेद ग्रारूढ़, स्त्रीवेदआरूढ़ या पुरुषवेदग्रारूढ़ चारित्र मोह क्षपक के पुरुषवेद का बन्ध-विच्छेद हो जाने पर भी पुरुषवेद का ग्रध.प्रवृत्तसंक्रमण होता है, गुणसंक्रमण नहीं होता, क्योंकि पुरुषवेद के मात्र दो ही संक्रमण सम्भव हैं १. अधःप्रवृत्त सक्रमण, २. सर्वसंक्रमण। सर्वसंक्रमण तो उस समय होता है जब क्षपक पुरुषवेद के शेष सर्वद्रव्य को संज्वलनक्रोधरूप संक्रमण करता है उससे पूर्व अधःप्रवृत्तसंक्रमण ही होता है। (ज. ध. पु० ६ पृ० २९८, ३००, ३०२ इत्यादि तथा गो. क गा. ४२४ की संस्कृत टीका)। यदि कहा जाय कि गो. क. गा. ४१६ की संस्कृत टीका में तथा धवल पु. १६ पृ. ४०९ पर अधःप्रवृत्त संक्रमण मात्र सम्भव बन्धयोग्य प्रकृतियों का कहा है और पुरुषवेद के बन्धविच्छेद के पश्चात् पुरुषवेद का बंध सम्भव नहीं है ग्रतः पुरुषवेद के बंध विच्छेद के पश्चात् पुरुषवेद का ग्रध प्रवृत्तसंक्रमण कैसे हो सकता है गुणसंक्रमण होना चाहिए? धवल पु. १६ पृ. ४०९ तथा गो. क. गा. ४१६ में साधारण नियम दिया हुआ है, किन्तु धवल पु. १६ पृ. ४२० तथा गो. क. गा. ४२४ में पुरुषवेद के लिए विशेष नियम है जो सामान्य नियम से बाधित नहीं हो सकता। ग्रतः नपुंसकवेद आरूढ़ या स्त्रीवेद ग्रारूढ़ चारित्रमोहक्षपक के पुरुषवेद के बंध विच्छेद के पश्चात् पुरुषवेद का तथा पुरुषवेदग्रारूढ़क्षपक के एक समय कम दो आवलि नवकबंध पुरुषवेद का ग्रध.प्रवृत्तसंक्रमण होता है गुणसंक्रमण नहीं होता।

—जै. ग. 3-1-63/IX/ पन्नालाल

संक्रमण

शंका—अपूर्वकरण में गुणसंक्रमण होने का नियम है फिर दर्शनमोह के उपशम विधान के समय अपूर्वकरण में गुणसंक्रमण क्यों नहीं होता?

समाधान—ऐसी वस्तुस्थिति अर्थात् स्वभाव है। स्वभाव तर्क का विषय नहीं है। ग्रग्निउष्ण क्यों? इसका यही उत्तर हो सकता है कि ऐसा स्वभाव है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तर नहीं है।

अथवा, भिन्न-भिन्न ग्रवसरों पर होने वाले अपूर्वकरणों में लक्षण की समानता होने पर भी, भिन्न-भिन्न कर्मों के विरोधी होने से भेद को भी प्राप्त हुए जीव परिणामों के पृथक्-पृथक् कार्य के उत्पादन में कोई विरोध नहीं है। (ध० ख० ६।२८९)

—जै. ग. / …… / ……

तीर्थंकर प्रकृति का उदय से पूर्व स्तिबुक संक्रमण

शंका—तीर्थंकरप्रकृति का बंध अंतःकोटाकोटीसागर से अधिक नहीं पड़ता। अन्तःकोटाकोटीसागर की स्थिति में ग्रबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। किंतु तीर्थंकरप्रकृति का उदय अन्तर्मुहूर्त पश्चात् प्रारम्भ नहीं होकर बहुत काल पश्चात् अर्थात् तीसरे भव में होता है। तीर्थंकरप्रकृति की अबाधा का ठीक नियम क्या है?

समाधान—जिन कर्मों की स्थिति का बन्ध ग्रन्तःकोटाकोटीसागर या इससे भी कम होता है उनकी स्थिति का आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता। तीर्थंकरप्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि के ही होता है। सम्यग्दृष्टि के ग्रन्तःकोटाकोटीसागरोपम से ग्रधिक स्थितिबन्ध नहीं होता। अतः तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध भी अन्तःकोटाकोटीसागरोपमप्रमाण है ग्रौर आबाधा अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। (धवल पुस्तक ६ पृ० १७४-१७७ तथा पृ० १९७-१९८) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव ग्रौर भावका निमित्त पाकर कर्मका उदय-विपाक होता है अर्थात् स्वमुखउदय होता है (क० पा०

सुत्त पृ० ४६५, ४९८)। तेरहवें गुणस्थान से पूर्व तीर्थंकरप्रकृति के स्वमुखउदय के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव नहीं मिलते। अतः तेरहवें गुणस्थान से पूर्व तीर्थंकरप्रकृति के जो निषेक उदय में आते हैं तो उनका स्तिबुकसंक्रमण द्वारा परमुखउदय होता है। (ज. ध. पु. ३ पृ. २४४, २४५, २९५) आबाधाकाल पूर्ण हो जाने के कारण तीर्थंकरप्रकृति के जो निषेक उदय में आने के योग्य होते हैं उन निषेकों का (तेरहवे गुणस्थान से पूर्व) नामकर्म की अन्य प्रकृतिरूप स्तिबुकसंक्रमण होकर परप्रकृतिरूप उदय होता रहता है।

जै. ग. 9-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जैन

अप्रशस्त उपशम और स्तिबुक संक्रम में अन्तर

शंका—अनन्तानुबन्धी के अप्रशस्तउपशम का क्या लक्षण है ? अप्रशस्तउपशम और स्तिबुकसंक्रमण में क्या अन्तर है ? उपशमसम्यक्त्व में मिथ्यात्व का जिस प्रकार उपशम रहता है क्या उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी का भी उपशम रहता है ? या उसका स्वमुख उदय न होकर परमुख उदय होता है, इसलिये उसका उपशम कहा जाता है ?

समाधान—उपशमसम्यक्त्व के काल में जो निषेक उदय होने योग्य होते हैं उनमें दर्शनमोहनीयकर्म का द्रव्य नहीं होता, क्योंकि अन्तरकरण के द्वारा दर्शनमोहनीय का अन्तर कर दिया जाता है। इस अन्तर के पश्चात् द्वितीयस्थिति में स्थित दर्शनमोहनीय के द्रव्य का उपशम हो जाने से वह द्रव्य उदीरणा होकर उपशमसम्यक्त्व के काल में उदय नहीं आता है, किंतु अनन्तानुबन्धीकर्म का अंतर नहीं होता। उपशमसम्यक्त्व के काल में अनंतानुबन्धीकषाय का द्रव्य प्रतिसमय स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा परप्रकृतिरूप संक्रमण होकर परमुखरूप उदय में आता है। वर्तमान समय से ऊपर के निषेकों में अनन्तानुबन्धी का द्रव्य उपशम रहता, अर्थात् उदीरणा होकर वर्तमान समय में उदय में नहीं आता। 'उपशम' मोहनीयकर्म का ही होता है, किंतु स्तिबुकसंक्रमण ज्ञानावरणादि सात कर्मों में होता है, आयुकर्म में स्तिबुकसंक्रमण नहीं होता। आयु के अतिरिक्त शेष कर्मों का परमुख उदय सम्भव है, किन्तु 'उपशम' मात्र मोहनीयकर्म का होता है।

—जै. ग. 21-11-66/IX/ ट. ला. जैन

स्तिबुक संक्रमण का स्वरूप

शंका—क्या उदयावली के अन्दर स्तिबुकसंक्रमण होता है या उदयावली के ऊपर प्रथम निषेक का परप्रकृतिरूप संक्रमण होकर उदयावली में प्रवेश करता है ?

समाधान—उदयावली के अन्दर ही स्तिबुकसंक्रमण होता है उदयावली से बाह्य स्तिबुकसंक्रमण नहीं होता है। उदयरूप निषेक के अनन्तर ऊपर के निषेक में अनुदयरूप प्रकृति के द्रव्य का उदयप्रकृतिरूप संक्रमण हो जाना स्तिबुकसंक्रमण है।

जैसे नारकी के चार गतियों में से नरकगति का तो उदय पाया जाता है, अन्य तीन गतियों का द्रव्य प्रतिसमय स्तिबुकसंक्रमण द्वारा नरकगतिरूप संक्रमण होकर उदय में आ रहा है। कहा भी है—

पिंडपगईण जा उदय संगया तीए अणुदयगयाओ।
संकामिऊण वेयइ जं एसो थिबुगसंकामो॥

गति नाम कर्म की पिंड प्रकृतियों में से जिस प्रकृति का उदय पाया जाता है उसके अतिरिक्त अन्य तीन गतियों का द्रव्य प्रतिसमय उदयगतिरूप संक्रमण करके उदयरूप निषेक में प्रवेश करता है।

सप्तमनरक के नारकी के गतिके अंतिम समय में अनन्तर अगले निषेक में अनुदयरूप तीन गति के द्रव्य का नरकगतिरूप संक्रमण नहीं होगा, क्योंकि अगले समय में नरकगति का उदय नहीं होगा, किंतु तिर्यंचगति का उदय होगा। अतः गति के अन्तिमसमय में उदयरूप निषेक से अनन्तर ऊपर के निषेक मे जो द्रव्य नरकगति, मनुष्यगति, देवगतिरूप है वह स्तिबुकसंक्रमण द्वारा तिर्यंचगतिरूप संक्रमण कर जायगा और तिर्यंचगतिरूप उदय में आयगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

—जै. ग. 12-12-74/VI/ज. ला. जैन, भीण्डर

शंका—आगाल-प्रत्यागाल का क्या स्वरूप है ?

समाधान—प्रत्येक कर्म बन्धकाल (बन्ध के समय) से एक आवली (अचलावली) काल बीत जाने पर अपकर्षण और उत्कर्षण को प्राप्त होता है। अतः अन्तरकृत होने के पश्चात् जो मिथ्यात्वकर्म बँधता है उसकी आबाधा प्रथम स्थिति और अन्तरायाम इन दोनों के काल से अधिक होती है और अन्तरकरण के समय में जो मिथ्यात्व बँधा था उसका आबाधाकाल भी प्रथमस्थिति और अन्तरायाम से अधिक है; अतः इस नवीन मिथ्यात्व-कर्म का अपकर्षण-उत्कर्षण होने के कारण आगाल-प्रति आगाल होता है। यदि नवीन मिथ्यात्वकर्म का बन्ध न होता तो आगाल-प्रतिआगाल न होता, क्योंकि अपकर्षण-उत्कर्षण न होता। यहाँ पर अपकर्षण-उत्कर्षण का नाम आगाल-प्रतिआगाल रखा गया है क्योंकि अन्तरायाम में द्रव्य नहीं दिया जाता है।

—पत्राचार/9-11-54/ब. प्र. स., पटना

भविष्य के आयुबन्ध में उत्कर्षण-अपकर्षण के नियम

शंका—उत्कृष्टतः आठ अपकर्षों से आयु का बन्ध होता है। वहां किसी एक अपकर्ष के भीतर विवक्षित समय में आयु का जितना स्थितिबन्ध हो सकता है या नहीं ?

समाधान—किसी भी अपकर्ष के प्रथमसमय में आयु का जो स्थितिबन्ध होता है वह ही स्थितिबन्ध उस अपकर्ष के अनन्तर समयों में भी होता है उससे अधिक या हीन स्थिति बन्ध नहीं होता। अपकर्ष के प्रथम समय में आयु का जो स्थितिबंध होता है वह तो अवक्तव्यबंध कहलाता है, क्योंकि उससे पूर्वसमय में आयुबंध नहीं हो रहा था। अनन्तरसमय में यद्यपि स्थितिबंध में हीनाधिकता नहीं हुई तथापि अबाधाकाल प्रतिसमय कम हो रहा है अतः आबाधासहित आयु स्थिति की अपेक्षा स्थितिबंध भी प्रतिसमय कम होता रहता है, किंतु आबाधा रहित आयु स्थितिबंध की अपेक्षा विवक्षित अपकर्ष में हीनाधिकता नहीं होती।

(महाबंध पु. २ पृ. १४५-४६ व पृ. १८२)

शंका—एक विवक्षित अपकर्ष में आयु का जितना स्थितिबन्ध है, दूसरे अपकर्ष में स्थितिबन्ध उससे अधिक हो सकता है या नहीं ?

समाधान—विवक्षित अपकर्ष में आयु का जितना स्थितिबंध है, दूसरे अपकर्ष में उससे हीनाधिक स्थिति-बंध हो सकता है, क्योंकि आयु-स्थितिबंध में (असंख्यातगुणवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, असंख्यातभाग-

वृद्धि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि) चारवृद्धि और चारहानि संभव है।
(ध. खं. पु. १६ पृ. ३७३-३७४ व पृ. ३७०-३७१; गो. क. गाथा ४४१)

—जै. ग. 3-10-63/IX/ पन्नालाल

पुरुषवेद की अल्पतर स्थिति उदीरणा का काल

शंका—षट्खण्डागम में पुरुषवेद की अल्पतरस्थितिउदीरणाका उत्कृष्टकाल १३२ सागरोपम सातिरेक लिखा है जब कि जयधवलाकार ने १६३ सागरोपम सातिरेक लिखा है। क्या ये दो भिन्न-भिन्न आचार्यों के दो भिन्न-भिन्न उपदेश हैं।

समाधान—ष० खं० पु० १५ पृ० १६० पर पुरुषवेद की अल्पतर उदीरणा का काल उत्कर्ष से साधिक दो छ्यासठसागर कहा है। ज. ध. पु. ४ पृ. १९-२० पर पुरुषवेद की अल्पतरस्थिति विभक्ति का उत्कृष्टकाल साधिक १६३ सागर कहा है। इस 'साधिक' का प्रमाण जयधवल में 'दो अन्तर्मुहूर्त और तीन पल्य' लिया गया है जब कि धवल पु. १५ पृ. १६० पर, इस 'साधिक' का प्रमाण 'दो अन्तर्मुहूर्त, तीन पल्य और ३१ सागर' समझना चाहिये। इस प्रकार दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है। मात्र शब्दों में अन्तर है।

—जै. ग. 3-10-63/IX/ पन्नालाल

आयु बन्ध / परभविक आयु के उत्कर्षण व अपकर्षण कब-कब होते हैं ?

शंका—आगामी भवकी आयु का बन्ध हो जाने पर उसका अपकर्षण या उत्कर्षण अष्ट अपकर्षकाल में ही होता है, या कभी भी हो सकता है ?

समाधान—परभव की आयु का अपकर्षण तो हर समय हो सकता है, 'बंधकाल में ही अपकर्षण होता है' ऐसा नियम नहीं है। राजाश्रेणिक के ३३ सागरकी नरकआयु का बंध हुआ था; किंतु सम्यग्दर्शन होने पर नरक आयु का अपकर्षण होकर ८४००० वर्ष रह गई। सम्यग्दृष्टि के नरकायु का बंध नहीं होता। इसप्रकार आयुबंध के अभाव में परभविक आयु का अपकर्षण हुआ है।

उत्कर्षण नवीनबंध के समय ही होता है। नवीनबंध हुए बिना सत्ता में स्थित कर्मोंकी स्थिति की वृद्धि नहीं हो सकती। कहा भी है—

"बंधेण विणा तदुक्कड्डणाणुववत्तीदो" (जयधवल पु० ५ पृ० ३३६)

अर्थ—बंध के बिना उत्कर्षण नहीं बन सकता है।

"बंधे उक्कड्डदि त्ति सुत्तादो।" (ज. ध. पु० ६ पृ० ९५)

अर्थ—'बंध के समय उत्कर्षण होता है' ऐसा सूत्र है।

"बंधे उक्कड्डदि" (जयधवल पु० ७ पृ० २४५)

अर्थ—'बंध के समय ही उत्कर्षण होता है', ऐसा आगम वचन है।

'अहिणवट्ठिदिबंधवड्ढीए विणा उक्कड्डणाए ट्ठिदिसंतवड्ढीए अभावादो। (ज. ध. १।१४६)

अर्थ—नवीन स्थितिबंध की वृद्धि हुए बिना उत्कर्षणा के द्वारा केवल सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति की वृद्धि नहीं हो सकती है।

"अट्ठहि आगरिसाहि आउअं बंधमाणजीवाणमाउअपाणस्स वड्ढिदंसणादो" (ज. ध. १।१४६)

अर्थ—आठ अपकर्षों के द्वारा आयुकर्म का बंध करने वाले जीवों के आयुप्राण की वृद्धि देखी जाती है।

इन आगम प्रमाणों से सिद्ध होता है कि परभव आयु का उत्कर्षण केवल आठ अपकर्ष कालों में आयु बंध के समय ही होता है अन्य समय उत्कर्षण नहीं होता।

—जै. ग. 27-8-64/IX/ ब्र. ला. सेठी

बद्ध परभविक नरकायु का अपकर्षण कौन कर सकता है ?

शंका—क्या प्रशस्त परिणाम वाला अथवा मिथ्यात्वी तपस्वी सातवें नरक की बाँधी आयु का छेद कर सकता है ? अथवा क्या सम्यग्दृष्टि ही नीचे की पृथ्वी की आयु का छेदकर प्रथम पृथ्वी की आयु कर सकते हैं ? स्पष्ट कीजिये ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि तापसी सप्तमपृथ्वी की आयु को छेदकर प्रथम पृथ्वी की आयु प्रमाण नहीं कर सकता। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या कृतकृत्य वेदकसम्यग्दृष्टि ही सप्तम पृथिवी की आयु का छेदनकर प्रथम पृथिवी की आयुप्रमाण कर सकता है। श्रीकृष्णजी तीसरी पृथ्वी की आयु को छेदकर प्रथमपृथिवी की नहीं कर सके। यद्यपि उनको क्षायोपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त हो गया था और तीर्थंकरप्रकृति का बंध भी प्रारम्भ हो गया था।

—पत्राचार 15-11-75/ज. ला. जैन, भीण्डर

उदय और उदीरणा

शंका—उदय व उदीरणा का क्या लक्षण है ?

समाधान—षट्खण्डागम पुस्तक ६ पत्र २१३-१४ पर कहा है—जे कम्मक्खंधा ओकड्डुक्कड्डणादिप-ओगेण विणा ट्ठिदिक्खयं पाविदूण अप्पप्पणो फलं देंति, तेसिं कम्मक्खंधाणमुदओ त्ति सण्णा। जे कम्मक्खंधा महंतेसु ट्ठिदि-अणुभागेसु अवट्ठिदा ओकड्डिदूण फलदाइणो कीरंति, तेसिमुदीरणा त्ति सण्णा, अपक्कपाचनस्य उदीरणा व्यपदेशात्।

अर्थ—जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोग के बिना स्थितिक्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं, उन कर्मस्कन्धों की 'उदय' संज्ञा है। जो महान् स्थिति और अनुभागों में अवस्थित कर्मस्कन्ध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते हैं, उन कर्मस्कन्धों की 'उदीरणा' संज्ञा है, क्योंकि, अपक्व कर्मस्कन्ध के पाचन करने को उदीरणा कहा गया है। कषायपाहुड में इसप्रकार कहा है—अपक्क पाचणाए विणा बहु काल जनिदो

कम्माणं ट्ठिदिक्खएण जो विवागो सो कम्मोदयोत्ति सण्णदे। अर्थ—अपक्वपाचन के बिना यथाकालजनित कर्मों के विपाक को कर्मोदय कहते हैं। इससे यह भी ध्वनित होता है कि अपक्वपाचन सहित कर्मों के विपाक को उदीरणा कहते हैं।

—जै. सं. 21-2-57/VI/जु. म. दा. टूण्डला

निधत्ती का स्वरूप

शंका—निधत्तीकर्म का क्या स्वरूप है ?

समाधान—धवल पु. १६ पृ. ५१६ पर निधत्ती का स्वरूप इसप्रकार कहा है—

"जं पदेसग्गं णिधत्तीकयं उदए दादुं णो सक्कं, अण्ण पयडि संकामिदुं पि णो सक्कं, ओकड्डिदुमुक्कड्डिदुं च सक्कं, एवं विहस्स पदेसग्गस्स णिधत्तमिदि सण्णा।" (धवल पु. १६ पृ. ५१६)

अर्थ—जो प्रदेशाग्र निधत्तीकृत हैं वे उदय में देने के लिये शक्य नहीं हैं, अन्य प्रकृति में संक्रांत करने के लिये भी शक्य नहीं हैं, किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण करने के लिये शक्य हैं, ऐसे प्रदेशाग्र की निधत्त संज्ञा है।

—जै. ग. 30-12-71/VII/ टो. ला. मित्तल

गुणश्रेणीनिर्जरा का स्वरूप

शंका—गुणश्रेणीनिर्जरा का स्वरूप क्या है ?

समाधान—उदयावली के बाहर [1]प्रथम निषेक में जो अपकृष्टद्रव्य दिया जाता है उससे असंख्यातगुणा द्रव्य दूसरे निषेक में दिया जाता है। उससे भी असंख्यातगुणा द्रव्य तीसरे निषेक में दिया जाता है इसप्रकार यह क्रम गुणश्रेणीआयाम के अन्तिमसमय तक जानना चाहिये। श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पु० ६ में निम्न प्रकार कहा है—

"उदयावलिय बाहिरट्ठिदिम्हि असंखेज्जसमयपबद्धे देदि। तदो उवरिमट्ठिदीए सेडीए णेदव्वे जाव गुणसेडी चरिमसमओ त्ति। तदियट्ठिदीए तत्तो असंखेज्जगुणे देदि। एवमसंखेज्जगुणाए सेडीए णेदव्वं जाव गुणसेडी चरिम समओ त्ति।" (धवल पु० ६ पृ० २२५)

उदयावली के बाहर की स्थिति में असंख्यात समयप्रबद्धों को देता है। इससे ऊपर की स्थिति में उससे भी असंख्यातगुणित समयप्रबद्धों को देता है। तृतीय स्थिति में उससे भी असंख्यातगुणित समयप्रबद्धों को देता है। इसप्रकार यह क्रम असंख्यातगुणितश्रेणी के द्वारा गुणश्रेणी के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिये।

उक्कट्ठिदम्हि देदि हु, असंखसमयप्पबंधमादिम्हि।
संखातीदगुणक्कममसंखहीणं, विसेस हीण कमं ॥७३॥ (लब्धिसार)

—जै. ग. 2-3-72/VI/क. च. जैन

---

[1]. नोट—यह उदयावलि बाह्य गुणश्रेणी का स्वरूप है।

भाव

भावपञ्चक

शंका—जीव के भाव पाँच प्रकार के कहे गये हैं ? १. औपशमिक २. क्षायिक ३. क्षायोपशमिक ४. औदयिक ५. पारिणामिक । इनका मतलब क्या है और वे किस प्रकार होते हैं ?

समाधान—मोहनीयकर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मों का उपशम नहीं होता। मोहनीयकर्म के दो भेद हैं— दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण द्वारा दर्शनमोहनीय कर्म का एक अन्तर्मुहूर्त के लिये अन्तर करके उसके पश्चात् स्थित दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम करने पर जो सम्यग्दर्शनरूप आत्मा के भाव होते हैं वह उपशम सम्यग्दर्शन है। इस काल में अनन्तानुबन्धी कर्म का भी अनुदय रहता है। इसी प्रकार अधःकरण आदि तीन करणों द्वारा चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम होने पर जो यथाख्यातचारित्ररूप आत्मा का भाव होता है वह औपशमिकचारित्र है। कर्म का उपशम होना कारण है और आत्मा के परिणाम अर्थात् भाव कार्य हैं अतः वे भाव औपशमिकभाव हैं।

प्रतिपक्षी कर्मों के सत्ता में से नष्ट हो जाने से आत्मा में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे क्षायिक भाव हैं। क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यग्दर्शन, क्षायिकचारित्र, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक-उपभोग क्षायिकवीर्य। इसप्रकार ये नौ क्षायिकभाव हैं। ये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मके क्षय होने पर उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों के स्पर्द्धक दो प्रकार के फलदान शक्ति वाले होते हैं। एक सर्वघाती जो आत्मा के गुण का सर्वघात करे; दूसरे देशघाती–जो गुण का एकदेश घात करते हैं या उस गुण में दोष उत्पन्न करते हैं। वर्तमानकाल में उदय आने योग्य सर्वघातियों का तो उदयाभावी क्षय अर्थात् स्वोन्मुख उदय में न आकर देशघातीरूप में उदय में आवें और आगामी काल में स्थित सर्वघातियों का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती का उदय होने पर आत्मा के जो भाव होते हैं वे क्षायोपशमिकभाव हैं। अथवा सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय का अभाव और देशघाती का उदय होने पर जो भाव होते हैं वे क्षायोपशमिकभाव हैं। क्षायोपशमिकभाव १८ प्रकार के हैं—सात ज्ञान, तीन दर्शन, सम्यग्दर्शन, संयमासंयम, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्मों का फल देना उदय है। कर्म के उदय से जो भाव आत्मा में होते हैं वे औदयिकभाव होते हैं। आठों ही कर्मों के उदय से औदयिकभाव नाना प्रकार के होते हैं।

जो भाव कर्मों के उपशमादि की अपेक्षा न रखकर द्रव्य के निजस्वरूप मात्र से होते हैं वे पारिणामिकभाव हैं। जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व ये तीन पारिणामिकभाव हैं। अथवा कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम किसी की अपेक्षा न रखने वाले मात्र द्रव्य की स्वभावभूत अनादि पारिणामिक शक्ति से ही आविर्भूत ये भाव पारिणामिक हैं।

—जै. ग. 23-11-61/VII/........

एक जीव के युगपत् पाँचों भाव सम्भव हैं, जघन्यतः तीन

शंका—गोम्मटसार कर्मकांड में ५ भावों के वर्णन में एक जीव के एक समय में कितने भाव हो सकते हैं ? क्या मात्र एक औदयिकभाव भी हो सकता है ? क्या पारिणामिकभाव और क्षायोपशमिकभाव न हो और केवल औदयिकभाव हो ऐसा भी सम्भव है ? गाथा ८२४ का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—एक साथ एक जीव के कम से कम तीन भाव हो सकते हैं १. पारिणामिक, २. क्षायोपशमिक, ३. औदयिक। अधिक से अधिक एक जीव के एक साथ (औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक) पाँचों भाव हो सकते हैं।

क्षायिकसम्यग्दृष्टिजीव उपशांतमोह गुणस्थान में जब चारित्रमोह का उपशम कर देता है तो उसके चारित्रमोह की अपेक्षा औपशमिकभाव, दर्शनमोहनीय की अपेक्षा क्षायिकभाव, ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव, गतिजाति आदि की अपेक्षा औदयिकभाव तथा जीवत्व की अपेक्षा पारिणामिकभाव इस प्रकार एक जीव के एक साथ पाँचों भाव सम्भव हैं।

गति-जाति आदि का उदय चौदहवें-गुणस्थान के अन्त तक रहता है, अतः औदयिकभाव सब गुणस्थानों में रहता है। चेतनारूप जीवत्वपारिणामिकभाव संसारी और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों में सदा रहता है, किन्तु आयु आदि प्राणरूप जीवत्व अशुद्धपारिणामिकभाव चौदहवें गुणस्थान तक ही रहता है। मुक्त जीवों में आयु आदि प्राण नहीं पाये जाते हैं। ज्ञान, दर्शन और वीर्य की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं। जिनके उपशम या क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं है उन जीवों के औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं।

ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिसके मात्र औदयिकभाव रह सकता हो, क्योंकि चेतनारूप जीवत्वपारिणामिकभाव तो सब जीवों के होता है और औदयिकभाव सब संसारी जीवों के पहले गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक रहता है।

गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ८२४ में तो यह बतलाया है कि 'मिथ्यादृष्टि आदि दो गुणस्थानों में क्षायोपशमिकभाव के ३ स्थान, मिश्रादि तीन गुणस्थानों में क्षायोपशमिकभाव के २ स्थान और प्रमत्त आदि सात गुणस्थानों में क्षायोपशमिकभाव के ४ स्थान होते हैं; किंतु इन सब बारह गुणस्थानों में से प्रत्येक गुणस्थान में औदयिकभाव का एक एक ही स्थान होता है। इस गाथा से यह सिद्ध नहीं होता कि किसी भी जीव के मात्र एक औदयिकभाव हो सकता है।

—जै. ग. 9-5-66/IX/ र. ला. जैन

क्षायिक और औपशमिक भावों का सन्निकर्ष

शंका—क्षायिकभाव और औपशमिकभाव का सन्निकर्ष किसप्रकार सम्भव है ?

समाधान—क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि उपशमश्रेणी चढ़ता है तो उसके ग्यारहवें गुणस्थान में क्षायिकभाव और औपशमिकभाव का सन्निकर्ष सम्भव है।

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति) तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ; इन सात प्रकृतियों का क्षय कर देने से उसके क्षायिकभाव हैं तथा चारित्रमोहनीय की शेष २१ प्रकृतियों के उपशम करने से औपशमिक भाव है। इस प्रकार क्षायिकसम्यग्दृष्टि के उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान में क्षायिक और औपशमिक दोनों भाव एक साथ सम्भव हैं।

—जै. ग. 21-11-66/IX/ ज. प्र. म. कु.

क्षयोपशम में क्षय व उपशम से अभिप्राय

शंका—'क्षयोपशम' में आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम इसका तात्पर्य यही है न कि क्षयोपशम के काल में प्रतिसमय उदय में आने वाले सर्वघातिस्पर्द्धक देशघातिरूप में आते हैं और अगले समयों में उदय में आने वाले सत्ता में जैसे हैं वैसे ही स्थित रहते हैं अर्थात् उनकी उदीरणा नहीं होती। ऐसा तो नहीं कि क्षयोपशम का काल आरम्भ होने पर पहले समय में जो सर्वघातिस्पर्द्धक उदय में आये वे तो देशघातिरूप संक्रमण कर गये और बाकी काल के दूसरे तीसरे चौथे आदि समयों में सर्वघातिया का उदय ही नहीं होता। बस सत्ता में पड़े रहते हैं। इनमें से क्या सही है ?

समाधान—श्री वीरसेन आचार्य ने भिन्न-भिन्न स्थलों पर क्षयोपशम के भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं। तथापि शंकाकार के लिये निम्न लक्षण उपयोगी है।

"सव्वघादिफद्दयाणि अणंतगुणहीणाणि होदूण देसघादि फद्दयत्तणेण परिणमिय उदयमागच्छंति, तेसिमणंतगुणहीणत्तं खओ णाम। देसघादिफद्दयसरूवेणवट्ठाणमुवसमो। तेहि खओवसमेहि संजुत्तोदओ खओवसमोणाम।"
[ध. पु. ७ पृ. ९२]

अर्थ—सर्वघातीस्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघातीस्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं। उन सर्वघातीस्पर्धकों का अनन्तगुणा हीनत्व ही क्षय कहलाता है और उनका देशघातीस्पर्धकों के रूप से अवस्थान होना उपशम है। उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय क्षयोपशम कहलाता है।

—जै. ग. 6-12-65/VIII/र. ला. जैन

क्षयोपशम लब्धि व क्षयोपशम में अन्तर

शंका—मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३८४ पर क्षयोपशमलब्धि का जो स्वरूप लिखा है उससे यह समझ में नहीं आता कि क्षयोपशमलब्धि और क्षयोपशम में क्या अन्तर है ?

समाधान—मोक्षमार्ग प्रकाशक में श्री पं० टोडरमलजी ने क्षयोपशमलब्धि का स्वरूप इस प्रकार लिखा है—"उदयकाल को प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकनिके निषेकनिका उदय का अभाव सो क्षय और अनागतकाल विषै उदय आवने योग्य तिनही का सत्तारूप रहना सो उपशम, ऐसी देशघातीस्पर्द्धनिका उदय सहित कर्मनिकी अवस्था ताका नाम क्षयोपशम है। ताकी प्राप्ति सो क्षयोपशमलब्धि है।" (मो. मा. प्र. अधि. ७ पृ. ३८४-८५)

इन्हीं पं० टोडरमलजी ने लब्धिसार की टीका में लिखा है—"कर्मनिविषै मलरूप जे अप्रशस्त ज्ञानावरणादिक तिनिका पटल जो समूह ताकी शक्ति जो अनुभाग सो जिस काल विषै समय-समय प्रति अनन्तगुणा घटता अनुक्रम रूप होइ उदय होइ तिस काल विषै क्षयोपशमलब्धि हो है।" (ल. सा. गा. ४)

पंडितजी के इन दोनों कथनों में अन्तर है। किन्तु दूसरा कथन आर्ष ग्रन्थ का अनुवाद है अतः वही प्रामाणिक है।

—जै. ग. 26-12-68/VII/मगनमाला

शंका—क्षयोपशम में और क्षयोपशमलब्धि में क्या अन्तर है, क्योंकि दोनों अवस्था में संज्ञी के क्षयोपशम तो ज्ञानावरणी का ही है।

समाधान—ज्ञान का क्षयोपशम तो प्रत्येक जीव के क्षीणकषाय गुणस्थान तक सदा पाया जाता है, किंतु क्षयोपशम लब्धि हर एक जीव के नहीं होती और सदा नहीं होती। क्षयोपशमलब्धि का स्वरूप इसप्रकार है—पूर्व संचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है। (ध. खं. पु. ६ पृ. २०४ व लब्धिसार गाथा ४) क्षयोपशमलब्धि में मात्र ज्ञानावरणीय कर्म के अनुभाग की हीनता नहीं होती, किन्तु समस्त पापप्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुणाहीन होकर प्रति समय उदय में आता है। अर्थात् जितना अनुभाग प्रथम समय में उदय में आया था दूसरे समय में उससे अनन्तगुणहीन उदय में आता है और तीसरे समय में दूसरे समय से भी अनन्त गुणहीन अनुभाग उदय में आता है। इस प्रकार प्रतिसमय अनन्तगुणहीन होता हुआ चला जाता है। क्षयोपशमज्ञान में अनन्तगुणहीन अनुभाग प्रतिसमय उदय में आवे ऐसा नियम नहीं, किन्तु कभी षट्स्थानपतित हीन होकर उदय में आता है। कभी षट्स्थानपतित वृद्धि होकर उदय में आता है। षट्स्थान से अभिप्राय—अनन्तभाग, असंख्यात-भाग, संख्यातभाग, संख्यातगुणा, असंख्यातगुणा और अनन्तगुणे का है।

—जै. सं. 10-7-58/VI/ क. दे. गया

पुद्गल में औदयिकभाव का स्पष्टीकरण

शंका—पुद्गल के दो भाव कहे गये हैं। १. औदयिक २. पारिणामिक। पुद्गल द्रव्य अचेतन है, उसके औदयिक भाव कैसे हैं?

समाधान—जीव के रागादिभावों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा द्रव्यकर्मरूप परिणम जाती है। कार्माण वर्गणाओं के अतिरिक्त अन्य २२ पुद्गल वर्गणाओं में तो द्रव्यकर्मरूप परिणमने का सामर्थ्य ही नहीं है, मात्र कार्माण वर्गणाओं में द्रव्यकर्मरूप परिणमने का सामर्थ्य (शक्ति) है; किन्तु सामर्थ्य होते हुए भी वे कार्माण, बिना निमित्त के स्वयं कर्मरूप नहीं परिणम जाती। रागादि परिणाम के निमित्त बिना भी यदि कार्माण वर्गणा द्रव्यकर्मरूप परिणम जाती तो कार्माणवर्गणा हर समय द्रव्यकर्म अवस्था में ही रहनी चाहिये थी (परीक्षामुख छठा परिच्छेद सूत्र ६३-६४)। जीव के रागादिभाव तीव्र या मंद जिस प्रकार के होते हैं उसी प्रकार का अनुभाग अर्थात् फलदान शक्ति पुद्गलद्रव्यकर्म में पड़ती है। उदीरणा होकर या बिना उदीरणा जिस समय वह कर्म उदय में आता है उस समय उस कर्म के अनुभाग के अनुरूप जीव के परिणाम होते हैं और अगले समय वह निर्जीर्ण अर्थात् अकर्म अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कोई भी कर्म स्वरूप या पररूप फल दिये बिना निर्जीर्ण अर्थात् अकर्म अवस्था को प्राप्त नहीं होता। (क० पा० पु० ३, पृ० २४५)। पुद्गलकर्म का उदय में आकर फल देना पुद्गल द्रव्य का औदयिकभाव है।

—जै. सं. 4-12-58/V/ रा. दा. कैराना

गति और लिङ्ग—औदयिकभाव ?

शंका—'गति' जो कि जीव+पुद्गल की किसी पर्याय की एक अवस्था विशेष है तथा 'लिङ्ग' जो कि किसी एक चिन्हमात्र का द्योतक शब्द है, औदयिकभाव कैसे हो सकते हैं। मेरी समझ में साधारणतया तो क्रोध, मान, माया, लोभ रागद्वेष ही जीव के औदयिकभाव हो सकते हैं किन्तु 'गति' और 'लिङ्ग' औदयिकभाव कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ राजवार्तिक अ० २ सूत्र ६ में इस प्रकार कहा है—गतिनामकर्मोदयादात्मनस्तद्भावपरिणामाद् गतिरौदयिकी। येन कर्मणा आत्मनोनारकादिभावावाप्तिर्भवति तद्गतिनाम चतुर्विधम्। गतिनामकर्म के उदय के कारण आत्मा के उस गति भावरूप परिणाम होने से 'गति' औदयिकभाव है। जिस कर्म के कारण आत्मा के नारकादि भाव होते हैं वह गतिनामकर्म चार प्रकार का है।

यहाँ पर गति का अर्थ चलना नहीं है, किन्तु भव है। इसी प्रकार लिङ्ग का अर्थ चिह्न नहीं है, किन्तु यहाँ पर वेद से अभिप्राय है। कहा भी है—वेदोदयापादितोऽभिलाषविशेषो लिङ्गम्। भावलिङ्गमात्मपरिणामः स्त्रीपुंनपुंसकान्योन्याभिलाषलक्षणः। स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवतीत्यौदयिकः रा० वा० अ० २ सूत्र ६। वेद के उदय से उत्पन्न हुई विशेष अभिलाषा उसको वेद कहते हैं। स्त्री, पुरुष, नपुंसकरूप अभिलाषा लक्षण वाले आत्मा के परिणाम भावलिंग है। स्त्री, पुरुष व नपुंसक वेद नोकषाय चारित्रमोहनीय के उदय से वह भाववेद होता है अतः औदयिकभाव है। औदयिकभाव के २१ भेद गिनाये हैं उन २१ भेदों में चारकषाय भी हैं अतः क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष भी औदयिकभाव हैं।

—जै. सं. 23-8-56/VI/जी. एल. पद्म, ज्वालापुर

क्या व्रत औदयिक भाव हैं ?

शंका—व्रत क्या कर्मोदय से होते हैं और औदयिक भाव है ?

समाधान—पापों से विरक्त होने का नाम व्रत है और ये व्रत तो चारित्र हैं जैसा कि श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

> हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्यां च।
> पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥ (रत्नकरंड)

अर्थ—पाप की नाली स्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरक्त होना अर्थात् व्रत सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है।

तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में सम्यक्चारित्र को औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनभाव रूप बतलाया है। किसी भी आचार्य ने सम्यक्चारित्र को औदयिकभाव नहीं बतलाया है, क्योंकि रागादि औदयिकभाव बंध के अर्थात् संसार के कारण हैं, किन्तु सम्यक्चारित्र तो मोक्ष का कारण है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' ऐसा सूत्र है।

असंयम औदयिकभाव है, क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्मोदय जनित है। व्रत असंयमरूप नहीं हैं, किन्तु संयमरूप हैं अतः व्रत औदयिकभाव नहीं हैं।

जै. ग. 22-1-70/VII/क. च. मा. च.

द्विसंयोगी आदि सान्निपातिक भावों के उदाहरण

शंका—राजवार्तिक अ.–२ सू. ७ की टीका में सान्निपातिक भावों का कथन किया है। वे किस गुणस्थान में सम्भव हैं?

समाधान—द्विभाव संयोगी १. औदयिक-औपशमिक 'मनुष्य-उपशान्त क्रोध' यह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में सम्भव है। २. 'मनुष्य क्षीण कषाय' यह बारहवें गुणस्थान में सम्भव है। ३. 'मनुष्य-पंचेन्द्रिय मतिज्ञानी' यह चारों गतियों में पंचेन्द्रिय जीव के सम्भव है। ४. 'लोभी जीवः' यह प्रथम गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक संभव है। ५. 'उपशांत लोभः क्षीण दर्शनमोहः' क्षायिक सम्यग्दृष्टिके ग्यारहवें गुणस्थान में सम्भव है। ६. 'उपशान्त मान अभिनिबोधिक ज्ञानी' यह उपशमश्रेणी-नवमें गुणस्थान में सम्भव है। ७. 'उपशांत माया भव्य' यह भी उक्त नवमें गुणस्थान में सम्भव है। ८. 'क्षायिकसम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी' यह चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक सम्भव है। ९. 'क्षीणकषायभव्य' यह बारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक सम्भव है। १०. 'अवधिज्ञानी-भव्य' यह चौथे गुणस्थान से १२वें गुणस्थान तक जानना चाहिये।

इसी प्रकार त्रि भाव संयोगी आदि में जान लेना चाहिये। १. 'मनुष्य उपशांतमोह क्षायिक सम्यग्दृष्टि' यह ग्यारहवें गुणस्थान में सम्भव है। २. 'मनुष्य उपशान्त क्रोध वाग्योगी' यह उपशमश्रेणी-नवमें गुणस्थान में सम्भव है। ३. 'मनुष्य उपशांतमान जीवं' यह भी उक्त नवमें गुणस्थान में सम्भव है। ४. 'मनुष्य क्षीणकषाय श्रुतज्ञानी' यह बारहवें गुणस्थान में सम्भव है। ५. 'मनुष्य क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव' यह चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक सम्भव है। ६. 'मनुष्य मनोयोगी जीव' यह भाव मनुष्य के प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक सम्भव है। ७. 'उपशान्त मान क्षायिकसम्यग्दृष्टि काययोगी' यह भाव उपशमश्रेणी-नवमें गुणस्थान में संभव है। ८. 'उपशान्त वेद क्षायिकसम्यग्दृष्टि भव्य' यह भी उक्त नवमें गुणस्थान में सम्भव है। ९. 'उपशान्तमान मतिज्ञानी जीव' यह भी उक्त नवमें गुणस्थान में सम्भव है। १०. 'क्षीणमोह पंचेन्द्रिय भव्य' यह बारहवें गुणस्थान में सम्भव है। इसी प्रकार चतुरादि संयोगी भावों में भी लगा लेना चाहिये।

—जै. ग. 23-3-78/VII/ भँ. ला. सेठी

सान्निपातिक भाव अनेक प्रकार से बनाये जा सकते हैं

शंका—राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ७ वार्तिक २२ में औदयिक-औपशमिक-पारिणामिक त्रिसंयोगी सान्निपातिक भाव के कथन में 'मनुष्य उपशान्त मान जीव' ऐसा कहा है तो क्या 'देव उपशम सम्यक्त्वी जीव' ऐसा नहीं कह सकते? ऐसे ही अन्य भाव नहीं कह सकते क्या?

समाधान—श्री अकलंकदेव ने त्रिसंयोगी भावों के एक-एक भाव उदाहरणरूप से लिखे हैं, अपनी ओर से अन्य भाव भी बना सकते हैं अतः 'देव उपशमसम्यक्त्वी जीव' ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं है। इसीप्रकार अन्य त्रिसंयोगी भावों का कथन किया जा सकता है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

जीवत्व पारिणामिक, ध्रौव्यस्वरूप, नित्य, चैतन्यरूप व अविनाशी है

शंका—पारिणामिकजीवत्वभाव क्या द्रव्य है, या गुण है या पर्याय है? इसका कार्य क्या है? जब साधक का लक्ष्य शुद्ध जीवतत्व की प्राप्ति है तो पारिणामिक भाव को कारणशुद्धपर्याय मानने में क्या बाधा है? उसी का अवलंबन लेकर तो शुद्ध जीवतत्त्व की प्राप्ति होगी।

शंका—पारिणामिकभाव में उत्पाद व्यय होता है या नहीं ? नहीं होता तो क्यों ? क्या इसे कूटस्थ मान लिया जावे ?

शंका—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों में उत्पाद-व्यय कैसे घटित होता है ?

शंका—जीवत्वभावको चैतन्यभाव कह सकते हैं क्या ? चैतन्यभाव का क्या लक्षण है ? क्या जीवत्वभाव को चेतना भी कहा जा सकता है ?

शंका—जीव के पाँच भाव हैं सो भाव क्या हैं ? क्या ये जीव के गुण नहीं हैं ?

समाधान—प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। द्रव्यार्थिकनय सामान्य को ग्रहण करता है और पर्यायार्थिकनय विशेष को ग्रहण करता है। यद्यपि सामान्य के बिना विशेष और विशेष के बिना सामान्य कभी नहीं होता, क्योंकि दोनों का परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है फिर भी भिन्न-भिन्न दृष्टियों के द्वारा उनको पृथक् ग्रहण किया जा सकता है। जीव भी एक वस्तु है उसमें जीवत्व पारिणामिकभाव सामान्य है और औपशमिक आदि शेष चार भाव विशेष हैं। (रा० वा० अ० २ सू० १ वा० २३) ये (औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक, पारिणामिक) पाँचों भाव जीव के निजतत्त्व अर्थात् असाधारण धर्म हैं, गुण नहीं हैं (रा० वा० अ० २ सू० १ वा० ६)। अथवा औपशमिकादि पाँचों भाव गुण हैं, क्योंकि इनमें जीव रहते हैं (ध. पु. १ पृ. १६०)।

'जीवत्व' पारिणामिकभाव 'द्रव्य' या 'गुण' तो हो नहीं सकता, क्योंकि 'द्रव्य' और 'गुण' दोनों सामान्य-विशेष स्वरूप हैं, कारण कि द्रव्य पर्याय व गुण-पर्याय दोनों प्रकार के विशेष भी पाये जाते हैं (प्र. सा. गाथा ९३) 'जीवत्व' पारिणामिकभाव पर्याय भी नहीं है, क्योंकि पर्याय तो स्वयं विशेष है। जीवत्व उन सब पर्यायों में अन्यत्र रूप से रहने वाला और ध्रौव्य से लक्षित सामान्य है (प्र० सा० गाथा ९५) 'जीवत्व' पारिणामिक भाव ध्रौव्य स्वरूप होने से उत्पाद-व्यय स्वरूप नहीं है। 'जीवत्व' द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से अनादि-अनन्त नित्य अर्थात् कूटस्थ है।

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य (साधारण) गुण द्रव्य के आश्रय हैं। द्रव्य में उत्पाद-व्यय होता है अतः उस द्रव्य के आश्रित गुणों में भी उत्पाद-व्यय होता है। इस अपेक्षा से अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों में भी उत्पाद-व्यय स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं आती।

'जीवत्व' को 'चैतन्य' भी कह सकते हैं, क्योंकि अनादि द्रव्य-भवन का निमित्त पणा तैं पारिणामिक है। (रा० वा० अ० २ सूत्र ७ वा० ६) चेतना के विशेषों में अन्वय रूप से रहने वाला 'चैतन्य' है। 'जीवत्व' को चेतना नहीं कह सकते, क्योंकि 'चेतना' सामान्यविशेषात्मक है और 'चैतन्य' सामान्यरूप है।

साधक को शुद्ध आत्मा के अवलंबन से शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होगी। पारिणामिक 'चैतन्य' भाव अर्थात् 'जीवत्व' भाव आत्मा-द्रव्यपना तो जीव की शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाओं में अन्वयरूप से रहने वाला है। 'जीवत्व' को कारणसमयसार भी नहीं कह सकते, क्योंकि कारणसमयसार तो जीव की साधक अवस्था (पर्याय) है जो विनाशीक है और 'जीवत्व' पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त अविनाशी है। श्री प्रवचनसार गाथा १८ की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने कहा भी है—**शुद्धात्मरुचि-परिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादश्च भवति, तथापिउभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति।**

—जै. ग. 11-7-63/IX/म. ला. जैन

पुद्गल वर्गणा

२३ वर्गणाओं के कार्य

शंका—पुद्गलवर्गणा कितनी हैं, उनमें से प्रत्येक का क्या कार्य है ?

समाधान—पुद्गलवर्गणा २३ हैं। उनमें से 'आहार वर्गणा' से औदारिक, वैक्रियिकशरीर और आहारकशरीर बनता है। वचनवर्गणा से शब्द बनते हैं। मनोवर्गणा से मन बनता है। तैजसवर्गणा से तैजसशरीर और कार्माणवर्गणाओं से कार्माणशरीर बनता है। इसप्रकार पाँच वर्गणाओं का तो कार्य बतलाया गया है शेष वर्गणाओं का क्या कार्य है, ऐसा कथन देखने में नहीं आया।

—जै. ग. 24-9-67/VII/ज. प्र. म. कु.

अणुवर्गणा / अनादि बन्ध वाला परमाणु सम्भव नहीं

शंका—क्या कोई ऐसा पुद्गल परमाणु भी सम्भव है, जिसका बन्ध अनादि से चला आ रहा हो ? सामान्य की अपेक्षा तो महास्कन्ध आदि का बन्ध अनादि-अनन्त है ही।

समाधान—पुद्गल द्रव्य की दो पर्याय हैं। 'परमाणु' पुद्गल की शुद्ध पर्याय है 'स्कन्ध' पुद्गल की अशुद्ध पर्याय है। नियमसार गाथा २८ की टीका में कहा भी है—

"परमाणुपर्य्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्य्यायः। स्कन्धपर्य्यायः स्वजातीयबन्धलक्षण लक्षितत्वादशुद्धः इति।"

परमाणु पर्याय पुद्गल की शुद्धपर्याय है। स्कन्धपर्याय स्वजातीय बन्धरूप लक्षण से लक्षित होने के कारण अशुद्ध है।

'परमाणु' पुद्गल द्रव्य की पर्याय है अतः वह अनादि अनन्त काल तक अबन्ध या बन्ध अवस्था में नहीं रह सकता है, क्योंकि पुद्गल का लक्षण पूरण व गलन है।

> भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद्गलनादपि।
> पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति ॥५५॥ (तत्त्वार्थसार अधिकार ३)

भेद आदि के निमित्त से जिनमें पूरण (नये परमाणुओं का संयोग) और गलन (संयुक्त परमाणुओं का वियोग) होता है उन्हें पुद्गलों के स्वभाव के ज्ञाता पुरुष पुद्गल कहते हैं।

पुद्गल के परमाणुओं का परस्पर बन्ध अनादि कालीन नहीं है अतः ध. पु. १४ सूत्र ३१ पृ. २९ पर पुद्गल के अनादि बन्ध नहीं कहा है। वह प्रकरण इस प्रकार है—

"जो सो अणादिय विस्ससाबंधोणाम सो तिविहो-धम्मत्थिया, अधम्मत्थिया, आगासत्थिया चेदि ॥३०॥ जीवत्थिया पोग्गलत्थिया एत्थ किण्ण परूविदा ? ण, तासिं सकिरियाणं धम्मत्थियादीहि सह अणादियविस्ससाबन्धाभावादो। ण तासिं पदेसबंधो वि अणादियो वहसत्थियो अत्थि, पोग्गलतण्णहाणुववत्तीदो तप्पदेसाणं पि संजोग-विजोग सिद्धीए।"

अर्थ—जो अनादि विस्रसा बन्ध है वह तीन प्रकार का है—धर्मास्तिक विषयक, अधर्मास्तिक विषयक और आकाशास्तिक विषयक ॥३०॥ यहाँ जीवास्तिक और पुद्गलास्तिक विषयक अनादि विस्रसाबन्ध क्यों नहीं कहा ? नहीं कहा, क्योंकि उनकी अपनी गमन आदि क्रियाओं का धर्मास्तिक आदि के साथ अनादि से स्वाभाविक संयोग नहीं पाया जाता। यदि कहा जाय कि उनका प्रदेशबन्ध तो अनादि से स्वाभाविक है, सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा माना जायगा तो पुद्गलों में पुद्गलत्व नहीं बनेगा और पुद्गलों तथा जीव-प्रदेशों का भी संयोग-वियोग अनुभव सिद्ध है, अतः इनका अनादि विस्रसा बंध नहीं कहा है।

—जै. ग. 6-4-72/VII/ अनिलकुमार

३६ पृथ्वियों के नाम एवं इनका अन्तर्भाव

शंका—३६ प्रकार की पृथ्वियों के नाम बताने की कृपा करें। ये ३६ प्रकार की पृथ्वियाँ किस वर्गणा के अन्तर्गत आती हैं; क्योंकि २३ वर्गणाओं से व्यतिरिक्त पुद्गलों का तो जगत् में अभाव है ही।

समाधान—छत्तीस प्रकार की पृथ्वियों के नाम—१ मिट्टी आदि पृथिवी २ बालू (तिकोन-चोकोन रूप) ३ शर्करा ४ गोल पत्थर ५ बड़ा पत्थर ६ समुद्रादिक का लवण (नमक) ७ लोहा ८ तांबा ९ जस्ता १० सीसा ११ चाँदी १२ सोना १३ हीरा १४ हरिताल १५ इंगुल १६ मैनसिल १७ हरा रंग वाला सस्यक १८ सुरमा १९ मूंगा २० भोडल (अबरक) २१ चमकती रेत २२ गोरोचन वाली कर्केतन मणि २३ पुष्पवर्ण राजवर्तक मणि २४ पुलकवर्णमणि २५ स्फटिक मणि २६ पद्मराग मणि २७ चन्द्रकान्त मणि २८ वैडूर्य (नील) मणि २९ जलकान्त मणि ३० सूर्यकान्त मणि ३१ गेरुवर्ण रुधिराक्षमणि ३२ चन्दनगन्ध मणि ३३ बिलाव के नेत्र समान मरकत मणि ३४ पुखराज ३५ नीलमणि तथा ३६ विद्रुमवर्ण वाली मणि। (धवल १।२७२ तथा मू० आ० २०६-२०७)

ये सर्व पृथ्वियाँ आहारवर्गणा के अन्तर्गत हैं।

—पत्र 30-1-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

बर्फ जल धातुरूप है, पृथ्वीरूप नहीं

शंका—बर्फ जलधातुरूप है या पृथ्वीधातुरूप ?

समाधान—बर्फ जलधातुरूप है। (धवल पु० १ कायमार्गणा प्रकरण जलकाय तथा मूलाचार की टीका)

—पत्र 8-1-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

पृथ्वी आदि चारों धातुओं के लिए एक ही प्रकार का परमाणु कारण है

शंका—चार धातुओं (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) के लिए भिन्न-भिन्न परमाणु कारण होते हैं या परमाणु एक ही प्रकार का है और जैसा बाह्य निमित्त मिलता है वह परमाणु उस धातुरूप परिणम जाता है ?

समाधान—पंचास्तिकाय गाथा ७८ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि पृथ्वी आदि के लिये भिन्न-भिन्न जाति के परमाणु नहीं हैं। गाथा का शीर्षक इसप्रकार है—

अथ पृथिव्यादि जातिभिन्नाः परमाणवो न सन्ति।

आदेशमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणाम गुणो सयमसद्दो ॥७८॥

टीका—एकोपि परमाणुः पृथिव्यादि धातुचतुष्क रूपेण कालान्तरेण परिणमति स परमाणुरिति ज्ञेयः।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस गाथा द्वारा यह बतलाया है कि एक ही परमाणु कालान्तर में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार धातुरूप परिणमन कर सकता है अर्थात् प्रत्येक परमाणु में पृथ्वी आदि चारों धातुओंरूप परिणमन करने की योग्यता है। जैसा निमित्त मिलेगा उस धातुरूप परिणमन हो जायेगा। जैसे एक ही बीज जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भूमि के निमित्त से जघन्य मध्यम व उत्कृष्ट फल को उत्पन्न करता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—"णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव।"

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

चार धातुमयी वर्गणाएँ

शंका—२३ वर्गणाओं में से कौन-कौनसी वर्गणाएँ चार धातुओं से बनी हैं? अथवा कौन-कौनसी वर्गणाएँ चार धातुरूप हैं?

समाधान—आहारवर्गणा ही चारधातुमयी है। अन्य वर्गणाएँ चारधातुमयी नहीं हैं।

—पत्राचार 30-1-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

चक्षु इन्द्रिय मात्र आहार वर्गणा को विषय करती है

शंका—मतिश्रुतज्ञानी छद्मस्थ को तेवीस वर्गणाओं में से चक्षु इन्द्रिय से कितनी वर्गणाएँ दिखती हैं? क्या मात्र आहार वर्गणा ही दिखती है, अन्य वर्गणा नहीं दिख सकती?

समाधान—चक्षु इन्द्रिय मात्र आहार वर्गणाओं को ही जानती है, अन्य वर्गणाओं को नहीं; ऐसा उल्लेख शास्त्रों में नहीं पाया जाता। शास्त्राधार बिना कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु बुद्धि यह कहती है कि चक्षु इंद्रिय मात्र आहार वर्गणाओं से बने हुए स्थूल सूक्ष्म पुद्गल को जानती है।

—पत्राचार 7-4-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

वर्गणाओं का इन्द्रियग्राह्यत्व विषयक विचार

शंका—कौन-कौनसी वर्गणाएँ इन्द्रियग्राह्य हैं तथा कौन-कौनसी वर्गणाएँ इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं, इसका स्पष्टीकरण करने की कृपा करें।

समाधान—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा तथा निस्सरणात्मक तैजसवर्गणा इन्द्रियग्राह्य हैं। महास्कन्ध सूक्ष्म है, अतः वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। आगम में वर्गणाओं के इन्द्रिय-प्रत्यक्षत्व के विषय में कुछ नहीं लिखा है।

पत्राचार /30-1-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

भाषावर्गणा लोक में सर्वत्र है, तथापि शब्दपरिणमन सर्वत्र क्यों नहीं है ?

शंका—क्या भाषा वर्गणा लोक में सर्वत्र भरी हुई है ? यदि ऐसा है तो शब्द क्यों सुनाई नहीं देते हैं।

समाधान—भाषावर्गणा लोक में सर्वत्र भरी हुई है, किन्तु जहाँ पर बहिरंग कारण मिलते हैं वहाँ पर ही शब्द रूप परिणम जाती है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा भी है—

"स्वभावनिर्वृ त्ताभिरेवानंतपरमाणुमयीभिः शब्दयोग्यवर्गणाभिरन्योन्यमनुप्रविश्य समंततोऽभिव्याप्य पूरितेऽपि सकले लोके यत्र यत्र बहिरङ्गकारणसामग्री समुदेति तत्र तत्र ताःशब्दत्वेन स्वयं व्यपरिणमंते।"

(पं० का० गा० ७९ टीका)

शब्द योग्य वर्गणाओं से समस्त लोक भरपूर होने पर भी जहाँ-जहाँ बहिरंग कारण सामग्री मिलती है वहाँ-वहाँ पर वे शब्द वर्गणाएँ शब्दरूप परिणमन कर जाती हैं।

श्री जयसेन आचार्य ने भी इसी गाथा ७९ की टीका में कहा है—

"द्विविधाः स्कंधा भवन्ति भाषावर्गणायोग्या ये तेऽभ्यंतरकारणभूताः सूक्ष्मास्ते च निरंतरं लोके तिष्ठन्ति ये तु बहिरंगकारणभूता स्ताल्वोष्टपुटव्यापारघंटाभिघातमेघादयस्ते स्थूलाः क्वापि क्वापि तिष्ठन्ति न सर्वत्र यत्रेयमुभयसामग्री समुदिता तत्र भाषावर्गणाः शब्दरूपेण परिणमन्ति न सर्वत्र।"

अर्थ—शब्दरूप पर्याय उत्पन्न होने में दो प्रकार के पुद्गलस्कंध कारण होते हैं। एक तो भाषा वर्गणा योग्य स्कंध जो शब्द का अभ्यंतरकारण है वे भाषावर्गणा सूक्ष्म हैं तथा लोक में सर्वत्र निरंतर तिष्ठ रहे हैं। दूसरा बहिरंगकारणरूप स्कंध जो ओष्ट आदि का व्यापार, घंटा आदि का हिलना व मेघादिक का संयोग, ये स्थूल स्कंध हैं। ये स्कंध लोक में कहीं-कहीं हैं, सर्वत्र नहीं हैं। जहाँ अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणसामग्री का मेल होता है वहाँ पर ही भाषावर्गणा शब्दरूप परिणम जाती है, सर्वत्र नहीं परिणमती, क्योंकि बहिरंगकारण सर्वत्र नहीं है।

—जै. ग. 7-11-68/XIV/ टो. ला. मित्तल

मनोवर्गणा द्रव्यमन का स्वरूप व कार्य

शंका—मनोवर्गणा से जो द्रव्य मन बनता है उसका क्या स्वरूप है अथवा उसका क्या कार्य है ?

समाधान—श्लोकवार्तिक अ० ५ सूत्र १९ की टीका में श्री पं० माणकचन्दजी ने लिखा है—"हृदय में आठ पाँखुरी वाले कमल समान बन रहा द्रव्यमन मनोवर्गणा नामक पुद्गलों से निर्मित है।" ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांगनामकर्म के निमित्त से जो पुद्गल गुण-दोष का विचार और स्मरण आदि उपयोग के सन्मुख हुए आत्मा के उपकारक हैं वे पुद्गल ही द्रव्यमनरूप से परिणत होते हैं अतः द्रव्यमन पौद्गलिक है।

"द्रव्यमनश्च, ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभप्रत्यया गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम्।" (स० सि० ५/१९)

इसका अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है।

शिक्षा व आलाप आदि भावमन का कार्य है। उस भावमन की उत्पत्ति में द्रव्यमन उपकारक है। द्रव्य-मन के बिना भावमन की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

"संज्ञिनो शिक्षालापग्रहणादिलक्षणाक्रिया भवति।" (२/२४ तत्त्वार्थवृत्ति)

संज्ञियों के अर्थात् मनसहित जीवों के शिक्षा, शब्दार्थ ग्रहण आदि क्रिया होती हैं, क्योंकि मनका कार्य शिक्षा के शब्दार्थ को ग्रहण करना है।

—जै. ग. 8-1-70/VII/ टो. ला मित्तल

कार्माण वर्गणा में उपलभ्यमान गुण

शंका—पुद्गल के कर्म होने योग्य परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के २० गुणों में से कौन-कौन गुण पाये जाते हैं ? भरतेशवैभव के चतुर्थ खण्ड में स्पर्श के स्निग्ध व रूक्ष दो गुण लिखे हैं, किन्तु शेष रस गन्ध वर्ण में कौनसा गुण है ? सो नहीं लिखा।

समाधान—कर्म रूप होने योग्य कार्माणवर्गणा कर्कश (कठोर), मृदु, स्निग्ध रूक्ष ये चार स्पर्शवाली, पाँच रस, दो गन्ध और पाँच वर्णवाली होती हैं। किन्तु ईर्यापथ आस्रव द्वारा जो कर्म स्कन्ध आते हैं वे मृदु व रूक्ष स्पर्शवाले, अच्छी गन्धवाले, अच्छी कान्तिवाले, हंस के समान धवलवर्णवाले और शक्कर से भी अधिक माधुर्य युक्त होते हैं। (षट्खण्डागम पु० १३, पृ० ४८–५०)

—जै. सं. 17-10-57/ / ज्यो. प्र. सुरसिमेवाले

कार्माणवर्गणा के प्रकार

शंका—कार्माणवर्गणा सिर्फ एक ही प्रकार की है या मूल में ही आठ प्रकार की हैं ? प्रमाण सहित लिखें।

समाधान—धवल पु० १४ पृ० ५५३ सूत्र पर लिखा है—"ज्ञानावरणीय के योग्य जो द्रव्य हैं, वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के कारण पाँच ज्ञानावरणीयरूप से परिणमन करते हैं, अन्यरूप से वे परिणमन नहीं करते, क्योंकि वे अन्य के अयोग्य होते हैं। इसीप्रकार सब कर्मों के विषय में कहना चाहिये, अन्यथा ज्ञानावरणीय का जो द्रव्य है उन्हें ग्रहण कर मिथ्यात्वादि प्रत्ययवश ज्ञानावरणीयरूप से जीव परिणमन करते हैं", यह सूत्र नहीं बन सकता है। यदि ऐसा है तो कार्मणवर्गणाएँ आठ हैं ऐसा कथन क्यों नहीं किया है ? इसका समाधान—नहीं, क्योंकि अन्तर का अभाव होने से उस प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है। ये आठ ही वर्गणाएँ क्या पृथक्-पृथक् रहती हैं या मिश्रित होकर रहती हैं ? इसका समाधान यह है कि पृथक्-पृथक् नहीं रहती, मिश्रित होकर रहती हैं। यह किस प्रमाण से जाना जाता है ? "आयुकर्म का भाग स्तोक है, नामकर्म और गोत्रकर्म का भाग उससे अधिक है", इस गाथा से जाना जाता है।

कम्मं ण होदि एयं अणेयविहमेय बंध समकाले।
मूलुत्तरपयडीणं परिणामवसेण जीवाणं ॥ १७ ॥ (ध. पु. १५ पृ. ३२)

अर्थ—कर्म एक नहीं है, यह जीव के परिणामानुसार मूल व उत्तर प्रकृतियों के बंध के समानकाल में ही अनेक प्रकार का है ॥१७॥ जीव परिणामों के भेद से और परिणमायी जाने वाली कार्मणवर्गणाओं के भेद से बंध के समान काल में ही कर्म अनेक प्रकार का होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिये। (ध. पु. १५ पृ. ३२)

श्री राजवार्तिक अध्याय ९ के प्रारम्भ में भी "अष्टविधविशेषोपचितमूर्तिः।" अर्थात् आठ प्रकार के विशेष पुद्गल परमाणुओं से रचा हुआ मूर्तिक कर्म है।" ऐसा कहा गया है। जिसप्रकार औदारिकआहारवर्गणाओं से औदारिकशरीर बनता है, वैक्रियिकआहारवर्गणाओं से वैक्रियिकशरीर बनता है, तैजसवर्गणाओं से तैजसशरीर बनता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणरूप कार्मणवर्गणाओं से ज्ञानावरण कर्म की पाँच प्रकृतियों का बन्ध होता है, इत्यादि। मतिज्ञानावरण आदि पाँच कर्मप्रकृतिरूप कर्मबन्ध का होना प्रकृतिबंध है, उनका उपादान कारण वे ही पुद्गल परमाणु हैं जो ज्ञानावरणकर्मरूप परिणमन कर सकें, अन्य पुद्गल परमाणुओं में यह योग्यता नहीं है। पुद्गलद्रव्य की २३ वर्गणाओं में से मात्र कार्माणवर्गणा ही कर्मरूप परिणमन कर सकती है अन्य २२ वर्गणा कर्मरूप परिणमन नहीं कर सकतीं। ऐसा होने पर भी जब तक वे कार्माणवर्गणा जीव से बंध को प्राप्त नहीं होती हैं उस समय तक उनको 'कर्म' संज्ञा प्राप्त नहीं होती है। उसी प्रकार ज्ञानावरणकर्मवर्गणाओं के बंध के प्राप्त होने पर ही 'ज्ञानावरणकर्म' संज्ञा होती है, इसलिये प्रकृतिबंध सार्थक है।

—जै. ग. 1-2-68/VII/ब. ला. सेठी, बुरई

महास्कन्ध का स्वरूप

शंका—जगव्यापी महास्कन्ध क्या है? क्या लोक के सभी पुद्गल परमाणुओं के समूह का नाम है या किन्हीं परमाणु विशेष का स्कन्ध इतना बड़ा बना हुआ है?

समाधान—पुद्गल की २३ वर्गणा हैं। उन २३ वर्गणाओं में से महास्कंध भी एक वर्गणा है। लोक के सभी पुद्गलों का नाम महास्कंध नहीं है, किन्तु विशिष्ट पुद्गल परमाणुओं से महास्कंध बना है। महास्कंध अकृत्रिम तथा अनादि-अनन्त है।

> अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्झगेहि अंतरिया।
> आहारतेजभासामण कम्मइयाधुवक्खंधा ॥ ५९४ ॥
> सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा।
> बादरणिगोदसुण्णा सुहुमणिगोदाणभो महाक्खंधा ॥५९५॥ गो.जी.

१. अणुवर्गणा, २. संख्याताणुवर्गणा, ३. असंख्याताणुवर्गणा, ४. अनन्ताणुवर्गणा, ५. आहारवर्गणा, ६. अग्राह्यवर्गणा, ७. तैजसवर्गणा, ८. अग्राह्यवर्गणा, ९. भाषावर्गणा, १०. अग्राह्यवर्गणा, ११. मनोवर्गणा, १२. अग्राह्यवर्गणा, १३. कार्मणवर्गणा, १४. ध्रुववर्गणा, १५. सांतरनिरंतरवर्गणा, १६. शून्यवर्गणा, १७. प्रत्येक-शरीर वर्गणा, १८. ध्रुवशून्यवर्गणा, १९ बादरनिगोदवर्गणा, २०. शून्यवर्गणा, २१. सूक्ष्मनिगोद-वर्गणा, २२. शून्यवर्गणा, २३. महास्कंध-वर्गणा।

"महाखंधदव्ववग्गणा केवडिखेत्ते? लोगे देसूणे। महाखंधदव्ववग्गणाए केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगो देसूणो सव्वलोगो वा।" (ध० पु० १४ पृ० १४९, १५०)

अर्थ—महास्कन्ध द्रव्यवर्गणा का कितना क्षेत्र है? कुछ कम सब लोक क्षेत्र है। महास्कन्ध द्रव्यवर्गणा में कितने क्षेत्र का स्पर्शन किया है? कुछ कम लोकप्रमाण क्षेत्र का और सब लोक का स्पर्शन किया है।

"बदराद्यपेक्षया बिल्वादीनां स्थूलत्वं, जगद्व्यापिनि महास्कंधे सर्वोत्कृष्टमिति। पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकव्यापि-महास्कंधापेक्षया सर्वगतं, शेषं पुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवति।" (द्रव्यसंग्रह पृ० ५२ व ७७)

अर्थ—बेर आदि की अपेक्षा बेल आदि में बड़ापन है, तीन लोक में व्याप्त महास्कंध सबसे बड़ा है। पुद्गलद्रव्य लोक व्यापक महास्कंधकी अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत है।

"पुद्गलानामप्यूर्ध्वाधोमध्यलोकविभागरूपपरिणतमहास्कंधत्वप्राप्तिव्यक्तिशक्तियोगित्वात्तथाविधा सावयवत्वसिद्धिरस्त्येवेति। (पं० का० गा० ५ टीका)

यहाँ पर महास्कंध को तीनों लोक रूपव्यापी कहा गया है।

—जै. ग. 13-1-72/VII/र. ला. जैन

एक वर्गणा अन्य वर्गणारूप से परिणत हो सकती है

शंका—क्या कार्माणवर्गणा आहारवर्गणारूप हो सकती है ? कैसे ? क्या अन्य वर्गणाएँ भी वर्गणान्तरत्व को सम्प्राप्त हो जाती हैं ? स्पष्ट बताइये ? क्या परमाणु निर्जीर्ण हो, यह सम्भव है ?

समाधान—पुद्गल परमाणु में कर्मपना नहीं है। उसका अन्य परमाणुओं के साथ बन्ध होने पर कर्मवर्गणा बन जाती है; जिसमें अनन्त वर्ग होते हैं। कर्मवर्गणाएँ बंधती हैं और कर्मवर्गणाएँ निर्जरा को प्राप्त होती हैं। कर्मवर्गणा में से वर्गों की संख्या घटकर जब आहारवर्गणा की संख्या के समान हो जाती है तो वह आहारवर्गणारूप हो जाती है। किसी भी वर्गणा में परमाणुओं की संख्या हीनाधिक होने पर वह वर्गणा दूसरी वर्गणारूप परिणम जाती है। इसके लिये धवल पु. १४ वर्गणा खण्ड पृ. १२१ सूत्र १०० से पृ. १३५ सूत्र १०५ तक देखना चाहिए।

—पत्र 20-7-78/I,II/ज. ला. जैन, भीण्डर

शंका—वर्गणाखण्ड (ध० पु० १४) को देखते हुए क्या सोना चांदी रूप हो सकता है ?

समाधान—सोने के परमाणु स्वर्ण से पृथक् होकर चांदी के स्कन्ध में मिल जाने पर चांदीरूप परिणत हो सकते हैं।

—पत्र 13-2-79/I/ज. ला. जैन, भीण्डर

शरीर

मरण के तीन समय बाद नवीन शरीर ग्रहण

शंका—जब जीव पहिला शरीर छोड़ता है, दूसरा शरीर ग्रहण करता है, कहते हैं सात दिन के बाद तक गर्भ धारण कर सकता है ?

समाधान—पहला शरीर छोड़ने के पश्चात् तीन समय तक अनाहारक रह सकता है। चौथे समय में वह अवश्य नवीन शरीर धारण कर लेगा। कहा भी है—'एकं द्वौत्रीन्वाऽनाहारकः।' (मोक्ष शास्त्र अध्याय २ सूत्र ३०)। पहला शरीर छोड़ने के पश्चात् सात दिन तक जीव नवीन शरीर धारण न करे, ऐसा कहना आगम-विरुद्ध है। जो सज्जन पुरुष हैं उनको आगम का कथन प्रमाण होता है।

—जै. ग. 31-10-63/IX/ क्षु. श्री आदिसागर

१५ प्रकार के शरीर बन्ध

शंका—गो० क० गाथा २७ में १५ प्रकार के शरीरों का कथन है सो उनका क्या कार्य है ?

समाधान—गो० क० गाथा २७ में शरीरबन्ध का कथन है, जिसका सविस्तार कथन धवल पु. १४ में है।

"ओरालिय-ओरालियसरीर बंधो ॥४५॥ ओरालिय तेयासरीर बंधो ॥४६॥ ओरालिय-कम्मइय सरीर बंधो ॥४७॥ ओरालिय-तेया-कम्मइयसरीर बंधो ॥४८॥ वेउब्विय-वेउब्वियसरीर बंधो ॥४९॥ वेउब्विय-तेयासरीर बंधो ॥५०॥ वेउब्विय-कम्मइयसरीर बंधो ॥५१॥ वेउब्विय-तेया-कम्मइयसरीर बंधो ॥५२॥ आहार-आहारसरीर बंधो ॥५३॥ आहार-तेयासरीरबंधो ॥५४॥ आहार-कम्मइयसरीर बंधो ॥५५॥ आहारक-तैजस कम्मइयसरीर बंधो ॥५६॥ तेया-तेयासरीर बंधो ॥५७॥ तेया-कम्मइयसरीर बंधो ॥५८॥ कम्मइय-कम्मइयसरीरबंधो ॥५९॥ सो सब्वोसरीर बंधोणाम ॥६०॥

अर्थ—औदारिक-औदारिक शरीर बंध ॥४५॥ औदारिक-तैजस शरीर बंध ॥४६॥ औदारिक-कार्मण शरीर बंध ॥४७॥ औदारिक तैजस-कार्मण शरीर बंध ॥४८॥ वैक्रियिक-वैक्रियिक शरीर बंध ॥४९॥ वैक्रियिक-तैजस शरीर बंध ॥५०॥ वैक्रियिक-कार्मण शरीर बंध ॥५१॥ वैक्रियिक-तैजस कार्मण शरीर बंध ॥५२॥ आहारक-आहारक शरीर बंध ॥५३॥ आहारक-तैजस शरीर बंध ॥५४॥ आहारक-कार्मण शरीर बंध ॥५५॥ आहारकतैजस-कार्मण शरीर बंध ॥५६॥ तैजस-तैजस शरीर बंध ॥५७॥ तैजस-कार्मण शरीर बंध ॥५८॥ कार्मण-कार्मण शरीर बंध ।५९। यह सब शरीर बंध हैं ॥६०॥

"एसो पण्णारसविहो बंधो, सरीर बंधो त्ति घेतव्वो ॥"

यह १५ प्रकार का बंध शरीरबंध है ऐसा ग्रहण करना चाहिये। इसी को गो. क. गाथा में "चदु चदु चदु दुग एक्कं च पयडीओ" शब्दों द्वारा कहा गया है। अर्थात् औदारिक के चार, वैक्रियिक के चार, आहारक के चार, तैजस के दो, कार्मण का एक इस प्रकार १५ शरीर बंध का कथन सूत्र ४५ से ५९ तक में किया गया है।

—जै. ग. 2-1-75/VIII/ के. जी. शाह

'औदारिक शरीर तो जगत में असंख्यात ही हैं', पर जीव अनन्त हैं

शंका—औदारिकशरीर असंख्यात बतलाये थे, किन्तु चौबीस ठाने में अनन्तानंत लिखे हैं। जीव भी अनन्तानन्त हैं अतः औदारिक शरीर भी अनन्तानन्त होने चाहिये। फिर असंख्यात किस प्रकार हैं ?

समाधान—जीव अनन्तानन्त हैं यह बात सत्य है, किन्तु असंख्यात जीवों के अतिरिक्त अनन्तानन्त जीव साधारण अर्थात् निगोदिया हैं। अनन्तानन्त निगोदिया जीवों का एक औदारिक शरीर होता है। कहा भी है—

"एगणिगोदसरीरे जीवा दब्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सब्वेण वितीदकालेण ॥१९५॥ (कर्मकांड)

अर्थ—द्रव्य की अपेक्षा सिद्धराशि से और सम्पूर्ण अतीतकाल के समयों से अनन्तगुणे जीव एक निगोद-शरीर में रहते हैं। अतः जीवों की संख्या अनन्तानन्त होते हुए भी औदारिकशरीरों की संख्या असंख्यातलोकप्रमाण है (गो. जी. गाथा १९३, त० रा० अ० २, सूत्र ४९)। चौबीस ठाना मेरे पास नहीं है, किन्तु चौबीस ठाना

आचार्य रचित न होने से आगम की कोटि में नहीं हैं। गोम्मटसार व राजवार्तिक महान् आचार्यों द्वारा रची गई हैं अतः आगम हैं और प्रामाणिक हैं।

—जै. सं. 4-12-58/V/टा. दा. कैराना

विभिन्न शरीरों की हेतुभूत वर्गणाएँ

शंका—यदि औदारिक शरीर पृथ्वी जल वायु और अग्नि इन चार धातुओं से बना है तो वैक्रियिक और आहारकशरीर किन-किन धातुओं से बने हैं। तैजस और कार्मणशरीर किस धातु से निर्मित हैं? सप्तधातु रहित शरीर से क्या प्रयोजन है?

समाधान—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये तीन शरीर आहारवर्गणा से बनते हैं। कहा भी है—ओरालिय-वे उव्विय-आहारसरीर-पाओग्गपोग्गलक्खंधाणं आहारदव्ववग्गणा त्ति सण्णा—धवल पु० १४ पृ० ५९। औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीर के योग्य पुद्गल स्कन्धों की संज्ञा आहारवर्गणा है। आहार द्रव्यवर्गणा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार धातुमयी है अतः वैक्रियिक व आहारक शरीर भी इन चार धातुओं से बने हैं। तैजसशरीर व कार्मण शरीर आहार वर्गणाओं से निर्मित नहीं हुए, किन्तु तैजसवर्गणा व कार्मणवर्गणा से बने हैं अतः ये दो शरीर पृथ्वी आदि चार धातुओं में से किसी भी धातु से निर्मित नहीं हुए हैं।

'सप्तधातु से रहित शरीर' से प्रयोजन सप्त कुधातु (अस्थि रुधिर मांस आदि) से रहित शरीर से है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

औदारिक शरीर के निरन्तर बन्ध के स्वामी सभी एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय हैं

शंका—धवल पु० ८ पृ० ४७ हिन्दी पंक्ति ११-१२ में तेजकाय वायुकाय में औदारिकशरीर का निरंतर बंध कहा है। शेष तीन स्थावरों में औदारिकशरीर के निरंतर बन्ध का कथन क्यों नहीं किया है? वे भी तो स्वर्ग नरक नहीं जाते हैं।

समाधान—धवल पु० ८ पृ० ४७ हिन्दी पंक्ति बारह में पाठ छूटा हुआ है। "सर्व देव नारकी तथा सर्व एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथिवीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक जीवों में निरंतर बन्ध पाया जाता है," ऐसा पाठ होना चाहिये था। मूल में भी इसी के अनुसार त्रुटित पाठ को कोष्टक में लिख लेना चाहिये। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक जीवों के भी निरंतर औदारिकशरीर का बन्ध होता रहता है, क्योंकि प्रतिपक्ष प्रकृति के बन्ध का अभाव है।

—जै. ग. 20-4-72/IX/ यशपाल

तीर्थंकर भगवान का शरीर सप्तधातु रहित नहीं होता

शंका—तीर्थंकर भगवान के जब निहार नहीं होता तब धातु रहित शरीर से सन्तानोत्पत्ति कैसे संभव है?

समाधान—तीर्थंकर भगवान के मल-मूत्र का निहार नहीं होता, किन्तु उनका शरीर धातु रहित नहीं होता। यदि तीर्थंकर भगवान का शरीर सप्त धातु रहित मान लिया जावे तो अस्थि का अभाव होने से वज्रवृषभ-

नाराच संहनन का अभाव हो जायगा और वज्रवृषभनाराचसंहनन के अभाव में मोक्ष के अभाव का प्रसंग आजायगा अतः तीर्थंकर भगवान का शरीर सप्त धातु रहित नहीं होता। इसलिये तीर्थंकर भगवान के सन्तानोत्पत्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

—जै. ग. 6,13-5-65/मगनमाला

देवों के युगपत् अनेक वैक्रियिक शरीर

शंका—देव एक साथ कितने प्रकार के आकार वाले शरीर बना सकता है ?

समाधान—देव अनेक प्रकार के आकार वाले शरीर एक साथ बना सकता है, क्योंकि देव के पृथक् विक्रिया होती है।

—जै. ग. 20-3-67/VII/ ट. ला. जैन

वैक्रियिकशरीर कथंचित् इन्द्रियों के अगोचर है

शंका—औदारिकशरीर इन्द्रियों से जाना जाता है तब वैक्रियिक आदि शरीर इन्द्रियों से क्यों नहीं जाने जाते ?

समाधान—"परं परं सूक्ष्मं" सूत्र द्वारा बतलाया है कि औदारिकशरीर से वैक्रियिकशरीर सूक्ष्म है, वैक्रियिक से आहारक शरीर सूक्ष्म है। आहारक शरीर से तैजसशरीर सूक्ष्म है। तैजस से कार्मणशरीर सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने के कारण वैक्रियिकशरीर का मनुष्यों के इन्द्रिय गोचर होने का कोई नियम नहीं है। आहारक आदि शरीर तो इन्द्रियगोचर नहीं होते। (रा० वा० पृ० ७२५-७२६)

जै. ग. 23-1-69/VII/रो. ला. मित्तल

देवों का मूल शरीर भी मध्यलोक में आता है

शंका—रा. वा. अध्याय २ सूत्र ४९ वार्तिक ८ में काल के कथन में हिन्दी अनुवादक ने लिखा है—"मूलवैक्रियिकशरीर तो वहीं स्वर्ग में रहता है तथा उत्तर वैक्रियिकशरीर से ही वे पृथ्वी पर पंचकल्याणकादि में आते हैं।" पृथक् विक्रिया का उपयोग करके उत्तर वैक्रियिकशरीर से ही पृथ्वी पर आने का नियम क्यों है ? वे देव मूल वैक्रियिकशरीर द्वारा पृथ्वी पर क्यों नहीं आते ?

समाधान—उक्त वार्तिक ८ में काल के कथन में श्री अकलंकदेव ने ऐसा नियम नहीं लिखा है, हिन्दी भाषाकार ने ऐसा नियम क्यों लिख दिया ? ज्ञानपीठ से जो राजवार्तिक प्रकाशित हुई है उसकी हिन्दी भाषा में भी ऐसा नियम नहीं है। श्री अकलंकदेव ने तो इस प्रकार लिखा है—"उत्तरवैक्रियिकस्य जघन्य उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः। तीर्थंकर जन्मनन्दीश्वराहंदायतनादिपूजासु कथमिति चेत् ? पुनः पुनर्विकरणात् सन्तत्यविच्छेदः।" उत्तर-वैक्रियिक शरीर का जघन्य व उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। तीर्थंकर के जन्म समय नन्दीश्वर पूजा, अर्हंत् पूजा आयतन आदि की पूजा में तो अधिक काल लगता है, सो कैसे सम्भव है ? वे देव पुनः पुनः विक्रियाशरीर बनाते रहते हैं जिससे उत्तर वैक्रियिकशरीर की संतति का विच्छेद नहीं होता।

एक ही काल में नन्दीश्वरद्वीप में पूजा हो रही है, उसी समय किसी तीर्थंकर का जन्म होगया, किसी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और किसी को मोक्ष हो गया। मूल वैक्रियिकशरीर द्वारा एक ही काल में इन सब कार्यों में उपस्थित होना असम्भव है अतः एक स्थान पर देव मूल वैक्रियिक शरीर द्वारा आएगा और अन्य स्थानों पर उत्तर वैक्रियिक शरीर द्वारा उपस्थित होगा। उन कार्यों में एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल लगने पर वह देव पुनः पुनः विक्रिया के द्वारा अपनी उपस्थिति बनाये रखता है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

औदारिक तथा वैक्रियिक शरीर में अन्तर

शंका—देव और नारकियों का शरीर वैक्रियिक होता है, क्योंकि वे अपना आकार बदल सकते हैं। ऋद्धि धारी मुनि भी अपना आकार बदल लेते हैं जिनका शरीर औदारिक होता है। फिर औदारिक व वैक्रियिकशरीर में क्या अन्तर है ?

समाधान—द्वीन्द्रिय आदि तिर्यंचों के और मनुष्यों के औदारिकशरीर में हाड, मांस तथा रज-वीर्य आदि सप्त धातु होती हैं, किन्तु देव और नारकियों के वैक्रियिकशरीर में सप्त धातु नहीं होती हैं। इन दोनों शरीरों में इस प्रकार अन्तर है।

—जै. ग. /5-3-70/IX/जि. प्र. जैन

नोकर्म समयप्रबद्ध संबंधी प्ररूपणा

शंका—गोम्मटसार जीवकांड गाथा २५५ में औदारिक और वैक्रियिक शरीरों के समयप्रबद्धों की स्थिति आयु प्रमाण बतलाई है। वह समयप्रबद्ध कर्मवर्गणा है या नोकर्मवर्गणा है ? यदि नोकर्मवर्गणा है तो नोकर्मवर्गणा तो प्रतिसमय आती और जाती है। यदि कर्मवर्गणा है तो नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर फिर आयु प्रमाण कैसे होगी ?

समाधान—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २५५ में नोकर्म वर्गणा के समयप्रबद्ध से प्रयोजन है, कर्म वर्गणा-रूप समयप्रबद्ध से प्रयोजन नहीं है।

नोकर्म वर्गणारूप जो समयप्रबद्ध आता है, वह सबका सब दूसरे समय में निर्जीर्ण नहीं हो जाता है, किन्तु आयु पर्यंत उस समयप्रबद्ध की गुणहानिरूप रचना हो जाती है और आयुपर्यंत प्रतिसमय एक निषेक की निर्जरा होती रहती है।

—जै. ग. 15-11-65/IX/र. ला. जैन

आहारक शरीर तथा तैजस शरीर में अन्तर

शंका—आहारकशरीर और तैजसशरीर में क्या अन्तर है ?

समाधान—आहारकशरीर शुभ, विशुद्ध, व्याघात रहित है और प्रमत्तसंयतगुणस्थान वाले के ही होता है। आहारकशरीर कदाचित् लब्धि विशेष के सद्भाव को जताने के लिये, कदाचित् सूक्ष्म पदार्थ का निश्चय करने

के लिये और संयम की रक्षा करने के लिये उत्पन्न होता है। (स. सि. २/४९)। जो दीप्ति का कारण है या तेज में उत्पन्न होता है वह तैजसशरीर है (स. सि. २/३६)। तैजसशरीर का सब संसारी जीवों के साथ अनादि-काल से संबंध है (स. सि. २/४१-४२) आहारकशरीर की वर्गणासे तैजसशरीर की वर्गणा सूक्ष्म है। (स. सि. २/३७)। आहारकशरीर से तैजसशरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं (स. सि. २/३९)। इस प्रकार आहारकशरीर व तैजसशरीर में अंतर है।

—जै. ग. 8-1-70/VII/ रो. ला. मित्तल

विग्रहगति में तैजसशरीर नामकर्म का कार्य

शंका—रा. वा. अ० २ सूत्र ४९ वा० ८ में लिखा है—"औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीर की दीप्ति का कारण तैजसशरीर है।" कार्मणशरीर की दीप्ति का कारण न होने से विग्रहगति में तैजसशरीर नाम कर्मोदय क्या कार्य करता है ?

समाधान—विग्रहगति में प्रतिसमय जो तैजस वर्गणा आती है उनको तैजसशरीररूप परिणमन करना तैजसशरीर नाम कर्म का कार्य है। कहा भी है–'यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम'–रा. वा. ८/२२/३ जिसके उदय से शरीर की रचना होती है वह शरीर नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से तैजसवर्गणा के स्कन्ध निस्सरण अनिस्सरणात्मक और प्रशस्त अप्रशस्तात्मक तैजस-शरीर के रूप से परिणत होते हैं वह तैजसशरीर नामकर्म है। —(धवल पु० ६ पृ० ६९ सूत्र ३१ टीका)

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

तैजसशरीर निरुपभोग है

शंका—मोक्षशास्त्र अध्याय २ सूत्र ४४ में कार्मण शरीर को उपभोग रहित बतलाया है किन्तु तैजस शरीर को निरुपभोग क्यों नहीं बतलाया ? क्या तैजस शरीर का उपभोग होता है ? यदि होता है तो कैसे ?

समाधान—मोक्ष शास्त्र अध्याय २ सूत्र ४४ 'निरुपभोगमन्त्यम्।' अर्थात् अन्तिम शरीर (कार्मण शरीर) के द्वारा शब्दादिक का ग्रहण रूप उपभोग नहीं पाया जाता है। विग्रह गति में भावेन्द्रियाँ लब्धि रूप रहती हैं, किन्तु द्रव्येन्द्रियों के अभाव में शब्दादिक का उपभोग नहीं होता है। तैजस शरीर भी निरुपभोग है किन्तु उसके द्वारा कर्मास्रव या योग नहीं होता है। श्री अमितगति आचार्य ने भी पंचसंग्रह पृ० ६३ में कहा है—

तैजसेन शरीरेण बध्यते न न जीर्यते।
न चोपभुज्यते किंचिद्यतो योगोऽस्य नास्त्यतः ॥१७९॥

तैजस शरीर के द्वारा न कर्म बंधते हैं और न निर्जरा होती है। तैजस शरीर के द्वारा किंचित् भी उपभोग नहीं होता है इसलिये तैजस योग भी नहीं होता है।

—जै. ग. 2-3-72/VI/क. च. जैन

निस्सरणात्मक व अनिस्सरणात्मक तैजसशरीर

शंका—त० रा० वा० पृ० १५३ पर निःसरणात्मक तैजसशरीर का कथन है। निःसरणात्मक तैजसशरीर किसको कहते हैं ?

समाधान—औदारिकवैक्रियिकाहारकदेहाभ्यंतरस्य देहस्य दीप्ति हेतुरनिःसरणात्मकम्। औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीर में दीप्ति का कारण अनिःसरणात्मक तैजसशरीर है। निःसरणात्मक तैजसशरीर के विषय में ध० पु० ४ पृ० २७ पर निम्न प्रकार कथन है—

"उनमें जो निस्सरणात्मक तैजसशरीर विसर्पण है वह दो प्रकार का है, प्रशस्ततैजस और अप्रशस्ततैजस। उनमें अप्रशस्तनिस्सरणात्मक तैजसशरीर १२ योजन लम्बा, ९ योजन विस्तारवाला, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग मोटाईवाला, जपाकुसुम के सदृश लालवर्णवाला, भूमि और पर्वतादि के जलाने में समर्थ, प्रतिपक्ष रहित, रोषरूप ईन्धनवाला, बायें कन्धे से उत्पन्न होने वाला और इच्छित क्षेत्रप्रमाण विसर्प करनेवाला होता है। जो प्रशस्तनिस्सरणात्मक तैजसशरीर है वह भी विस्तारादि में तो अप्रशस्त तैजस के समान है, किन्तु इतनी विशेषता है कि वह हंस के समान धवल वर्णवाला है, दाहिने कंधे से उत्पन्न होता है, प्राणियों की अनुकम्पा के निमित्त से उत्पन्न होता है और मारी, रोग आदि के प्रशमन करने में समर्थ होता है।

—जै. ग. 27-3-69/IX/ क्षु. शीतलसागर

कार्मण शरीर भी सकारण है, अकारण नहीं

शंका—औदारिक, वैक्रियिक शरीर की उत्पत्ति में कार्मणशरीर निमित्त कारण है। कार्मणशरीर की उत्पत्ति में कौन निमित्त कारण है ?

समाधान—कार्मणशरीर की उत्पत्ति में मिथ्यादर्शन, अविरति आदि कारण हैं। कहा भी है—

"मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च। इतरथा ह्यनिर्मोक्षप्रसंगः।" (रा. वा. पृ. ७२३)

अध्याय ८ सूत्र १ में मिथ्यादर्शन, अविरति आदि कर्मबंध के कारण बतलाये गये हैं। उन कर्मों से ही कार्मणशरीर बनता है। अतः कार्मणशरीर का कोई निमित्त नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है। जिसका कोई कारण नहीं होता वह पदार्थ नित्य माना जाता है। नित्य का कभी विनाश होता नहीं, अत उसका सर्वदा अस्तित्व रहता है। यदि कार्मणशरीर को निष्कारण मान लिया जाय तो उसका कभी विनाश नहीं होगा। कर्मों का नाश न होने से आत्मा की कभी मुक्ति न होगी। अतः कार्मणशरीर सकारण है, अकारण नहीं है।

—जै. ग. 23-1-69/VII/ रो. ला. मित्तल

तैजस कार्मणशरीर नोकर्म नहीं हैं

शंका—औदारिक-वैक्रियिक-आहारक-शरीर को ही नोकर्म कहते हैं या तैजस-कार्मण शरीर को भी कहते हैं ?

समाधान—औदारिक-वैक्रियिक-आहारक शरीर को नोकर्म कहते हैं। तैजस-कार्मण शरीर को नोकर्म-वर्गणा नहीं कहते हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने कहा भी है—

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं, गहणं आहारयं णाम ॥६६४॥
आहरदि सरीराणं तिण्हं एयदरवग्गणाओ य।
भासमणाणं णियदं तम्हा आहारयो भणियो ॥६६५॥ (गो० जी०)

अर्थ—शरीर नाम कर्मोदय से देह वचन और द्रव्यमनरूप परिणमन के योग्य नोकर्मवर्गणा का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों में से किसी भी एक शरीर के योग्य वर्गणाओं को तथा वचन व मन के योग्य वर्गणाओं अर्थात् नोकर्म वर्गणाओं को यथायोग्य जीवसमास तथा काल में जीव आहरण (ग्रहण) करता है, इसलिए इसको आहारक कहते हैं।

यहाँ पर तैजसवर्गणा व कार्मणवर्गणा को नोकर्मवर्गणा नहीं कहा गया है, किन्तु औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर के योग्य वर्गणाओं को नोकर्मवर्गणा कहा है। इससे सिद्ध है कि औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर ही नोकर्म हैं, तैजस व कार्माण शरीर नोकर्म नहीं हैं।

—जै. ग. 16-1-69/..../र. ला. जैन

समुद्घात

समुद्घात

शंका—समुद्घात कितने प्रकार के होते हैं ? उन्हें जीव कब और किस तरह करता है ?

समाधान—वेदना आदि निमित्तों से कुछ आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है। समुद्घात सात प्रकार का है—१ वेदना २ कषाय ३ वैक्रियिक ४ मारणान्तिक ५ तैजस ६ आहारक और ७ केवली-समुद्घात। मूल शरीर को न छोड़ कर तैजस-कार्मण रूप उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। (गो० सा० जी० गा० ६६७-६८)

नेत्रवेदना, शिरोवेदना आदि के वश से जीवों के अपने शरीर से बाहर एक प्रदेश को आदि करके उत्कर्षतः अपने वर्तमान शरीर से तिगुणे प्रमाण आत्मप्रदेशों का फैलना वेदना समुद्घात है। क्रोध, भय आदि के वश से जीवप्रदेशों का अपने शरीर से तिगुने प्रमाण फैलने को कषाय समुद्घात कहते हैं। वैक्रियिकशरीर के उदयवाले देव और नारकी जीवों का अपने स्वाभाविक आकार को छोड़ कर अन्य आकार से रहने का नाम वैक्रियिक समुद्घात है अथवा किसी प्रकार की विक्रिया (छोटा या बड़ा शरीर अथवा अन्य शरीर) उत्पन्न करने के लिए मूल शरीर को न त्याग कर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है उसको 'विक्रिया' समुद्घात कहते हैं।

अपने वर्तमानशरीर को नहीं छोड़कर ऋजुगति द्वारा अथवा विग्रहगति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्र तक जाकर, शरीर से तिगुने विस्तार से अथवा अन्यप्रकार से अन्तर्मुहूर्त तक रहने का नाम मारणान्तिक समुद्घात है।

तैजस्क शरीर के विसर्पण (फैलने) का नाम तैजस्क शरीर समुद्घात है। वह दो प्रकार का होता है—निस्सरणात्मक और अनिस्सरणात्मक। उनमें जो निस्सरणात्मक तैजस्क शरीर विसर्पण है वह भी दो प्रकार का

है—प्रशस्त तैजस और अप्रशस्त तैजस। उनमें अप्रशस्त निस्सरणात्मक तैजस्क शरीर समुद्घात बारह योजन लम्बा, नौ योजन विस्तार वाला, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग मोटाई वाला, जपाकुसुम के सदृश लाल वर्ण वाला, भूमि और पर्वतादिक जलाने में समर्थ, प्रतिपक्षरहित, रोषरूप ईन्धनवाला, बायें कन्धे से उत्पन्न होने वाला और इच्छित क्षेत्र प्रमाण विसर्पण करने वाला होता है। जो प्रशस्त निस्सरणात्मक तैजस्क शरीर समुद्घात है वह भी विस्तार आदि में तो अप्रशस्त तैजस के ही समान है, किन्तु इतनी विशेषता है कि वह हंस के समान धवल वर्ण वाला है, दाहिने कन्धे से उत्पन्न होता है, प्राणियों की अनुकम्पा के निमित्त से उत्पन्न होता है और मारी, रोग आदि के प्रशमन करने में समर्थ होता है।

जिनको ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे महर्षियों के आहारक समुद्घात होता है। यह एक हाथ ऊँचा, हंस के समान धवल वर्ण वाला, सर्वांग सुन्दर, क्षणमात्र में कई लाख योजन गमन करने में समर्थ, अप्रतिहत गमन वाला, उत्तमांग अर्थात् मस्तक से उत्पन्न होने वाला, समचतुरस्र संस्थान से युक्त, सप्त धातुओं (रुधिर, मांस, मेदा आदि) से रहित, विष, अग्नि एवं शस्त्रादि समस्त बाधाओं से मुक्त, वज्र-शिला, स्तम्भ जल व पर्वत में से गमन करने में दक्ष होता है। ऐसे शरीर का शंका निवारण के लिए केवली के पादमूल में जाने का नाम आहारक समुद्घात है। दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के भेद से केवलिसमुद्घात चार प्रकार का है। उनमें जिसकी अपने विष्कम्भ से कुछ अधिक तिगुनी परिधि है ऐसे पूर्वशरीर के बाहल्यरूप अथवा पूर्वशरीर से तिगुने बाहल्यरूप दण्डाकार से केवली के जीवप्रदेशों का कुछ कम चौदह राजू फैलना दण्ड समुद्घात है। दण्ड समुद्घात में बताये गए बाहल्य और आयाम के द्वारा वातवलय से रहित सम्पूर्ण क्षेत्र के व्याप्त करने का नाम कपाट समुद्घात है। केवली भगवान के जीवप्रदेशों का वातवलय से रुके हुए लोकक्षेत्र को छोड़ कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने का नाम प्रतरसमुद्घात है। घनलोकप्रमाण केवली भगवान् के जीवप्रदेशों का सर्वलोक को व्याप्त करने को केवलिसमुद्घात कहते हैं।

(धवल पु० ४ पृ० २६-२९)

—जै. ग. 23-11-61/VII/.........

शुभ लेश्याओं में भी वेदना, कषाय व मारणांतिक समुद्घात सम्भव हैं

शंका—वेदना, मारणांतिक और कषाय ये समुद्घात अशुभ लेश्या वालों के ही होते हैं या शुभ लेश्या वालों के भी होते हैं ?

समाधान—वेदना, कषाय, मारणांतिक समुद्घात शुभलेश्या वालों के भी होते हैं। कहा भी है—

"वेयण कसाय-वेउव्विय पदेहि तेउलेस्सिया तिण्हं लोगाणमसंखेज्ज भागे, तिरियलोगस्स संखेज्जविभागे अड्डाइज्जादो असंखेज्जगुणे मारणंतियपदेण वि एवं चेव। वेयणकसायपदेहि पम्मलेस्सिया तिण्हं लोगाणमसंखेज्जदि-भागे। मारणंतिय-उववादेहि चदुण्हं लोगाणमसंखेज्जदिभागे। वेयणकसाय-वेउव्वियदंड-मारणंतियपदेहि सुक्कलेस्सिया चदुण्हं लोगाणमसंखेज्जदिभागे।" (धवल पु. ७ पृ. ३५८, ३५९, ३६०)

अर्थ—वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात और वैक्रियिकसमुद्घात पदों से तेजोलेश्यावाले जीव तीन लोकों के असंख्यातवें भाग में, तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग में और अढाई द्वीप के असंख्यातगुणे क्षेत्र में रहते हैं, मारणान्तिक समुद्घातपद की अपेक्षा भी इसी प्रकार ही क्षेत्र है। वेदनासमुद्घात और कषायसमुद्घात की अपेक्षा पद्मलेश्या वाले जीव तीन लोकों के असंख्यातवें भाग में और मारणांतिक समुद्घात व उपपाद पदों की अपेक्षा चार लोकों के

असंख्यातवें भाग क्षेत्र में रहते हैं। वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात और मारणान्तिक समुद्घात पदों की अपेक्षा शुक्ललेश्या वाले जीव चारों लोकों के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में रहते हैं।

इस आगम प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पीत, पद्म, शुक्ल इन तीनों शुभ लेश्याओं में भी वेदना, कषाय और मारणान्तिक समुद्घात होते हैं, क्योंकि देवों के ये तीनों लेश्या सम्भव हैं।

—जै. ग. 1-6-72/VII/ र. ला. जैन

मारणान्तिक समुद्घात का विस्तृत स्वरूप

शंका—जीव मृत्यु से पहिले ही भविष्य जन्म की खोज कर आता है। अधिकतर मनुष्य अन्त समय तक बोलते-बोलते मृत्यु को प्राप्त होते हैं। हार्टफेल वाले तो सभी कुछ करते-करते अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं। ऐसी मृत्यु में जीव कैसे दूसरा स्थान ढूंढने जाता है? यदि माना जाय कि कुछ प्रदेश जाते हैं तो जब पूर्ण रूप से ज्ञान चेतना बनी रहती है तब यह बात भी लागू नहीं होती। कुछ भी बीमारी या असावधानी नहीं देखी जाती। सामायिक या अनेक कार्य करते हुए भी चोला बदल जाता है। इसका क्या कारण है?

समाधान—आगम में सात प्रकार का समुद्घात कहा है। मूल शरीर को न छोड़कर तैजस कार्माण के साथ जीव प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। इन सात समुद्घातों में एक मारणान्तिक समुद्घात भी है (गोम्मटसार जीवकांड गाथा ६६६-६६७)। अपने वर्तमान शरीर को नहीं छोड़कर ऋजुगति द्वारा अथवा विग्रहगति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्र तक जाकर, शरीर से तिगुणे बिस्तार से अथवा अन्य प्रकार से अन्तर्मुहूर्त तक रहने का नाम मारणान्तिक समुद्घात है (धवल पु० ४ पृ० २६)। आयाम की अपेक्षा अपने-अपने अधिष्ठित प्रदेश से लेकर उत्पन्न होने के क्षेत्र तक तथा बाहल्य से एक प्रदेश को आदि करके उत्कर्षतः शरीर से तिगुणे प्रमाण जीव प्रदेशों के कांड, एक खम्भस्थित तोरण, हल व गोमूत्र के आकार से अन्तर्मुहूर्त तक रहने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। (धवल पु० ७ पृ० २९९-३००)

यद्यपि मारणान्तिक समुद्घात में आत्मा के कुछ प्रदेश मूल शरीर से बाहर निकलते हैं, किन्तु उनका तांता मूलशरीर से जुड़ा रहता है अतः उन प्रदेशों के निकलने से असावधानी आदि होने का नियम नहीं है। जैसे वैक्रियिक समुद्घात में आत्मप्रदेशों के मूल शरीर से बाहर निकलने पर भी असावधानी नहीं होती। सभी जीव मारणांतिक समुद्घात करते हों ऐसा नियम नहीं है। बहुभाग मारणान्तिक समुद्घात करते हैं एक भाग जीव मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते (गोम्मटसार जीवकांड गाथा ५४४ की टीका) मारणांतिक समुद्घात से मरने वाले जीवों के अन्त समय तक पूर्ण सावधानी बनी रहे इसमें कोई विरोध नहीं।

—जै. ग. 2-5-63/IX/मगनमाला

प्रमत्तसंयत भी मारणांतिक समुद्घात करते हैं

शंका—धवल पु० ४ पृ० १६३ सासादनसम्यग्दृष्टिदेव मारणान्तिक समुद्घात करके एकेन्द्रिय को स्पर्श करता है, उस समय उसके सासादन गुणस्थान रहता है, उसी प्रकार प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मारणान्तिक समुद्घात करके जिस क्षेत्र को स्पर्श करता है उस समय उसके प्रमत्तसंयत गुणस्थान रहता है या नहीं?

समाधान—प्रमत्तसंयत मुनि के मारणान्तिकसमुद्घात के समय भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान रहता है। कहा भी है—

"मारणांतिकसमुग्घादगदेहि चदुण्हं लोगाणमसंखेज्जदिभागो पोसिदो, माणुसखेत्तादो असंखेज्जगुणो।" (धवल पु० ४ पृ० १७१)

अर्थ—मारणान्तिक समुद्घातगत उन्हीं प्रमत्तसंयतादिकोंने सामान्यलोक आदि चार लोकों का असंख्यातवां भाग और मनुष्यक्षेत्र से असंख्यातगुणा क्षेत्र स्पर्श किया है।

इस आर्ष वाक्य से जाना जाता है कि प्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी मारणान्तिक समुद्घात संभव है, किन्तु मरण होने पर प्रमत्तसंयत गुणस्थान नहीं रहता, चतुर्थ गुणस्थान हो जाता है।

—जैं. ग. 17-4-69/VII/र. ला. जैन

मारणांतिकसमुद्घात में आत्मप्रदेशों का पुनः मूलशरीर में लौटना आवश्यक नहीं

शंका—मारणान्तिक समुद्घात में आत्मप्रदेश मूल शरीर को छोड़कर बाहर निकलते हैं तो वापस मूल शरीर में समाजाते हैं क्या ? यदि समाजाते हैं तो मारणांतिक समुद्घात क्या हुआ ?

समाधान—मारणांतिक समुद्घात में आत्मप्रदेश मूलशरीर को नहीं छोड़ते हुए भी कुछ प्रदेश आगामी उत्पन्न होने के स्थान तक प्रसार करते हैं। मारणान्तिक समुद्घात का काल अन्तर्मुहूर्त है और यह समुद्घात मरण से एक अन्तर्मुहूर्त पूर्व होता है। मारणान्तिक समुद्घात का स्वरूप इस प्रकार कहा है—अपने वर्तमान शरीर को नहीं छोड़ कर ऋजुगति द्वारा अथवा विग्रहगति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्र तक जाकर शरीर से तिगुणे विस्तार से अथवा अन्य प्रकार से अन्तर्मुहूर्त रहने का नाम मारणान्तिक समुद्घात है। जिन्होंने परभव की आयु बांधली है ऐसे जीवों के मारणान्तिकसमुद्घात होता है। मारणान्तिकसमुद्घात निश्चय से आगे जहाँ उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्र की दिशा के अभिमुख होता है और लम्बाई उत्कृष्टतः अपने उत्पद्यमान क्षेत्र के अन्त तक है। (ष. खं. पु० ४ पृष्ठ २६-२७) आयाम की अपेक्षा अपने अपने अधिष्ठित प्रदेश से लेकर उत्पन्न होने के क्षेत्र तक तथा बाहल्य से एक प्रदेश को आदि करके उत्कर्षतः शरीर से तिगुणे प्रमाण जीवप्रदेशों के काण्ड, एक खम्भ स्थित तोरण, हल व गोमूत्र के आकार से अन्तर्मुहूर्त तक रहने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।[1]

---

१. क्योंकि जैसे विग्रहगति अथवा ऋजुगति से जीव अपने आगामी भव में उत्पन्न होने जाता है वहां वह जिस ऋजुगति अथवा पाणिमुक्ता या लांगलिका या गोमूत्रिका से जाता है; तद्वत् मरण से अन्तर्मुहूर्त पूर्व भी जीव मारणांतिक समुद्घात में भी उसी मार्ग द्वारा तथा उतने ही समय में उसी ऋजु या विग्रह गति से अपने आगामी जन्म क्षेत्र को जाता है। इस तरह मूल शरीर पूर्वस्थान पर रहने से तथा आत्मप्रदेशों के आगामी जन्म स्थान तक पहुंचने से अन्तर्मुहूर्त तक जीव प्रदेश इस पूरी मार्ग की दूरी में पड़े रहते हैं। तब अन्तर्मु० तक इन आत्मप्रदेशों को देखने पर वे भी काण्ड (ऋजुगति वाले मार्ग में), एक खम्भ स्थित तोरण (एक विग्रह करके गये होवें), हल (दो विग्रह से गये हों तो) अथवा गोमूत्र (तीन विग्रह से गये हों तो) के आकार वाले होकर अवस्थित रहते हुए नजर आते हैं।—सम्पादक

(ध० खं० पु० ७ पृ० २९९-३००) मरण से पूर्व आत्मा के समस्त प्रदेश मूलशरीर में पुनः प्रवेश कर जावें ऐसा एकांत नियम नहीं है, क्योंकि मारणान्तिकसमुद्घात का काल पूर्ण होने से पूर्व भी मरण हो जाता है।

—जं. सं. 10-7-58/VI/क. दे. गया

निस्सरणात्मक तैजस व आहारक शरीर कथंचित् स्थूल हैं

शंका—निस्सरणात्मक तैजस शरीर सूक्ष्म है—या स्थूल ? वह किस इन्द्रिय का विषय है ? आहारक-शरीर स्थूल है या सूक्ष्म ?

समाधान—स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा निस्सरणात्मक तैजस वर्गणा ग्राह्य है। निस्सरणात्मक तैजसशरीर सूक्ष्म ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। आहारक शरीर स्थूल होते हुए भी अन्तर्मुहूर्त में ४५ लाख योजन तक चला जाता है।

—पत्र 31-3-79/II/ज. ला. जैन, भीण्डर

निस्सरणात्मक तैजसशरीर समुद्घात छठे गुणस्थान में ही होता है

शंका—राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ४९ वार्तिक ८ पृ० १५३ पर लिखा है कि "अथ चिरमवतिष्ठते अग्निसात् दाह्यार्थो भवति"। इसका स्पष्ट अभिप्राय समझाइये।

समाधान—जो मुनि उग्र चारित्र वाला है, किन्तु अतिक्रोध आजाने से जीवप्रदेश सहित औदारिकशरीर से बाहर निकलकर दाह्यपदार्थ को घेरकर उस दाह्य पदार्थ को इस प्रकार पकाता है जैसे कि हरी सब्जी अग्नि पर पकती है। यदि वह निस्सरणात्मक तैजस शरीर चिरकाल-देरी तक ठहर जाता है तो वह दाह्यपदार्थ जो पका था, भस्मीभूत हो जाता है। दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—(बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १० की टीका को देखते हुए) यदि निस्सरणात्मक तैजस शरीर चिरकाल तक ठहरता है तो वह निस्सरणात्मक तैजसशरीर स्वयं अग्निरूप दाह्य पदार्थ बन जाता है। (अर्थात् जलने लगता है) परन्तु तैजसशरीर सूक्ष्म है, अतः उसका जलना सम्भव नहीं है। यह तैजस शरीर प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान में ही निकलता है और जब तक शरीर में प्रवेश नहीं करता तब तक वह संयमी बना रहता है, क्योंकि तैजस समुद्घात प्रमत्तविरत के ही होता है। वह मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में नहीं होता।

—पत्र 25-4-79/I-II/ज. ला. जैन, भीण्डर

अशुभ तैजससमुद्घात का गुणस्थान

शंका—ध० पु० ५ की प्रस्तावना में अशुभ तैजस द्रव्यलिंगी के निकलता है तो वह किस आधार पर लिखा है ? ऋद्धियाँ तो सम्यग्दृष्टि के ही होती हैं।

समाधान—ध० पु० ५ की प्रस्तावना पृ० ३१ पर जो यह लिखा है—'अशुभ तैजस का उपयोग प्रमत्त साधु नहीं करते। जो करते हैं, उन्हें उस समय भावलिंगी साधु नहीं किन्तु द्रव्यलिंगी समझना चाहिये।' वह पूर्व संस्कार के बल पर लिखा गया है, किन्तु यह धारणा आगम के विरुद्ध है।

ध० पु० ४ पृ० ३८ पर लिखा है—"मिथ्यादृष्टि जीव राशि के शेष तीन विशेषण अर्थात् आहारक-समुद्घात, तैजससमुद्घात और केवलीसमुद्घात संभव नहीं हैं, क्योंकि इनके कारणभूत संयमादिगुणों का मिथ्यादृष्टि के अभाव है।" पृ० ३९ से ४७ तक सासादनगुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक के जीवों के क्षेत्र का कथन है। इसमें सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, अप्रमत्तसंयत आदि के तैजससमुद्घात का कथन नहीं है। मात्र प्रमत्तसंयतगुणस्थान वालों के तैजससमुद्घात का कथन है। प्रमत्तसंयतगुणस्थान भावलिंगी के अर्थात् सम्यग्दृष्टि के होता है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के तो प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थान होता है।

ध० पु० १ पृ० १३१ पर कहा कि सूत्र दो में 'इमानि' इस पद से प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणाओं का ग्रहण करना चाहिये। द्रव्य मार्गणाओं का ग्रहण नहीं किया गया। पृ० १४४ पर कहा है "संयमन करने को संयम कहते हैं।" संयम का इस प्रकार लक्षण करने पर द्रव्य-यम (भाव चारित्र शून्य द्रव्य चारित्र) संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि संयम शब्द में ग्रहण किये गये 'सं' शब्द से उसका निराकरण कर दिया है।' पृ० ३६९ पर कहा है—"सम् उपसर्ग सम्यक् अर्थ का वाची है, इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक 'यताः' अर्थात् जो बहिरंग और अंतरंग आस्रवों से विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं।" पृ० ३७८ पर कहा है "सम्यग्दर्शन बिना संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।"

इस प्रकार धवल ग्रंथ में मात्र द्रव्य संयम की अपेक्षा से कहीं पर भी कथन नहीं किया गया है। अतः प्रमत्तसंयत से सम्यग्दृष्टि संयमी छट्ठे गुणस्थान वाला मुनि ग्रहण करना चाहिये, न कि मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि। अशुभ तैजस समुद्घात भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान में होता है अन्य गुणस्थान में नहीं।

—जै. ग. 5-3-64/IX/ स. कु. सेठी

समुद्घात शरीर एवं ऋद्धि

शंका—आहारक शरीर व आहारक समुद्घात में क्या अन्तर है ? इसी तरह वैक्रियिक ऋद्धि व वैक्रियिक समुद्घात में क्या अन्तर है ?

समाधान—वेदना आदि निमित्तों से कुछ आत्मप्रदेशों का मूलशरीर से बाहर निकलना समुद्घात है। (त० रा० वा० अ० १ सूत्र २० वार्तिक १२) अतः ऋद्धिप्राप्त प्रमत्तसंयत मुनि के शंका आदि के उत्पन्न होने पर मूलशरीर से लेकर केवली भगवान के स्थान तक आत्मप्रदेशों का फैलना आहारक समुद्घात है। आहारकशरीर आहार वर्गणाओं से निर्मित एक हस्तप्रमाण समचतुरस्र संस्थान वाला होता है।

विशेष तप से औदारिक शरीर की नाना आकृतियों को उत्पन्न करने की लब्धि वैक्रियिक ऋद्धि है। वैक्रियिक वर्गणाओं से जो देव-नारकी जीवों का शरीर बनता है वह वैक्रियिक शरीर है। कहा भी है—"तिर्यंच व मनुष्यों के वैक्रियिक शरीर सम्भव नहीं है, क्योंकि इनके वैक्रियिक शरीर नामकर्म का उदय नहीं पाया जाता। किन्तु औदारिक शरीर विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है उसे यहाँ वैक्रियिक रूप से ग्रहण करना चाहिए। धवल पु० ९ पृ० ३२८; धवल पु० १ पृ० २९६)।" धवल पु० १५ पृ० ६४ पर वैक्रियिक शरीर नाम कर्म की उदीरणा (उदय) मनुष्य व तिर्यंचों के भी कही है। इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि ये दोनों भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से लिखे गए हैं। जिस प्रकार देव और नारकियों के सदा वैक्रियिक शरीर रहता है उस तरह तिर्यंच के और मनुष्यों के नहीं होता, इसलिए

तिर्यंच और मनुष्यों के वैक्रियिक शरीर का विधान नहीं किया है, किन्तु उसके सद्भाव मात्र से अन्यत्र उसका विधान कर दिया। (त० रा० वार्तिक अ० २ सूत्र ४९ वार्तिक ८)। विक्रिया के लिए आत्मप्रदेशों का मूल शरीर से बाहर फैलना वैक्रियिक समुद्घात है।

—जै. ग. 15-2-62/VII/म. ला.

आहारक शरीर के उत्पत्तिस्थान या उत्पत्तिकाल नियत नहीं होते

शंका—क्या आहारक शरीर समुद्घात का कोई काल या क्षेत्र नियत है, अर्थात् हस्तिनागपुर में ही निकलेगा, काशी में ही निकलेगा, पटना में ही निकलेगा, राजगृह में ही निकलेगा, अन्यत्र नहीं निकलेगा; क्या कोई ऐसा क्षेत्र विशेष नियत है ? अथवा प्रातःकाल निकलेगा अन्य काल नहीं निकलेगा, दोपहर को निकलेगा अन्य काल नहीं निकलेगा इत्यादि या बसंत आदि ऋतुओं में से कोई विशेष ऋतु क्या नियत है ?

समाधान—आहारक शरीर समुद्घात के लिये किसी ऋतु, घड़ी, घंटा आदि काल का नियम नहीं है और न ही किसी ग्राम, नगर आदि क्षेत्र का नियम है अतः इस प्रकार काल व क्षेत्र नियत नहीं है, किन्तु इतना नियम है, कि 'प्रमत्त संयत के ही आहारकशरीर होता है।' अर्थात् जिस समय मुनि आहारक शरीर की रचना करता है उस समय वह प्रमत्त संयत होता है। इसलिये तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र ४९ में 'प्रमत्तसंयतस्यैव' पद दिया गया है (राजवार्तिक अ० २ सूत्र ४९ वार्तिक ५-७)। प्रमत्तसंयत मुनि के द्वारा सूक्ष्म तत्त्वज्ञान और असंयम के परिहार के लिए आहारक शरीर की रचना की जाती है (राजवार्तिक अ० २ सूत्र ३६ वार्तिक ६)।

—जै. ग. 21-5-64/IX/सुरेशचन्द्र

आहारक तथा मारणांतिक समुद्घात में मोड़ा भी लिया जा सकता है

शंका—कलकत्ता से प्रकाशित राजवार्तिक पृष्ठ ३६९ पर आहारक तथा मारणांतिक समुद्घात का एक ही दिशा में गमन बताया है तो कैसे बनता है ? क्या तिरछा भी गमन करते हैं ? यदि नहीं तो मोड़ा जरूर लेते होंगे। मोड़ा लेने में दो दिशा में गमन हो ही जाता है।

समाधान—जिस प्रकार विग्रहगति में आत्मा के सब ओर (तरफ) न फैल कर एक ही दिशा को जाते हैं यदि आवश्यकता होती है तो मोड़ा भी लेते हैं उस ही प्रकार आहारक व मारणांतिक समुद्घात में आत्मा के प्रदेश सब ओर न फैल कर एक ही ओर प्रसार करते हैं। यदि आवश्यक्ता होती है तो मोड़ा भी लेते हैं। यहाँ पर एक दिशा से यह अभिप्राय है कि आत्मा के प्रदेश सब ओर प्रसार नहीं करते किन्तु एक दिशा की ओर ही प्रसार करते हैं किन्तु अन्य पाँच समुद्घातों आत्म प्रदेशों का सब ओर प्रसार होता है।

—जै. ग. 16-8-62/... / सु. प्र. जैन

शंका—कलकत्ता से प्रकाशित राजवार्तिक पृष्ठ ३७० पर केवली समुद्घात का काल ८ समय बताया है। कहीं पर ७ समय कहा है। कौनसा ठीक है ? शेष ६ समुद्घात का काल संख्यात समय लिखा है किन्तु ज्ञानपीठ से प्रकाशित सर्वार्थसिद्धि में असंख्यात समय लिखा है कौनसा ठीक है ? असंख्यात समय होना चाहिए, ऐसा जंचता है।

समाधान—केवली समुद्घात में आत्म प्रदेश निकलते समय; पहिले समय में दंडाकार, दूसरे समय में कपाटाकार, तीसरे समय में प्रतराकार और चौथे समय में लोक पूर्ण आकार होते हैं; अर्थात् आत्मप्रदेशों के फैलने में चार समय लगते हैं। संकोच होते; पहिले समय में प्रतर आकार, दूसरे समय में कपाट आकार, तीसरे समय में दण्ड आकार चौथे समय में शरीर में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार संकोच होने में भी चार समय लगते हैं। विस्तार व संकोच दोनों के काल को मिलाने से केवली समुद्घात का काल ८ समय होता है। कुछ ने शरीर में आत्म प्रदेशों के प्रवेश होने को केवली समुद्घात नहीं माना है अत: उनके मत में केवली समुद्घात का काल सात समय होता है। केवल दृष्टि का भेद है, वास्तव में कोई भेद नहीं है। एक अपेक्षा से ८ समय काल है और दूसरी अपेक्षा से ७ समय काल है।

शेष ६ समुद्घातों का काल असंख्यात समय है। कलकत्ता से प्रकाशित राजवार्तिक में असंख्यात के स्थान पर 'संख्यात' छप गया है। यह छापे की अशुद्धि है। सो अपनी प्रति शुद्ध कर लेनी चाहिये।

—जै. ग. 16-8-62/... /सु. प्र. जैन

केवली समुद्घात के बाद योगनिरोध

शंका—समुद्घात क्या १३ वें गुणस्थान के अन्त में ही होता है या समुद्घात के बाद भी १३ वाँ गुणस्थान रहता है?

समाधान—केवलीसमुद्घात के पश्चात् भी १३ वाँ गुणस्थान शेष रहता है, जिस में योगनिरोध होता है। कहा भी है—

"केवली-समुद्घात से अन्तर्मुहूर्त जाकर एक अन्तर्मुहूर्त में योग निरोध करता है। योग का निरोध हो जाने पर नाम, गोत्र व वेदनीय ये तीनों अघातिया कर्म आयु के सदृश हो जाते हैं। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक अयोगकेवली रहते हैं।" (ध. पु. ६ पृ० ४१२ से ४१७ तक विशेष कथन है)

—जै. ग. 5-12-66/VIII/र. ला. जैन

केवली समुद्घात का हेतुभूत कर्म

शंका—केवली भगवान के समुद्घात किस कर्म के उदय से होता है? आत्मा के प्रदेशों के सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने में कौनसे कर्म का उदय काम करता है या किसी कर्म की अपेक्षा बिना ही होता है?

समाधान—सभी केवली, केवली समुद्घात करते हैं या नहीं इस विषय में विभिन्न मत हैं। कौन केवली समुद्घात करते हैं, इस विषय में भी मतभेद है। जिसका कथन धवल पु० १ पृ० ३०२ पर किया गया है। कर्म प्रकृतियों के उत्तरोत्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं। संभव है उनमें कोई ऐसी कर्मप्रकृति हो जिसके कारण केवली-समुद्घात होता हो, किन्तु आर्ष ग्रन्थों में किसी ऐसी कर्मप्रकृति का उल्लेख देखने में नहीं आया। श्रीकुन्द-कुन्द आचार्य ने प्रवचनसार गाथा ४४ में केवली की क्रियाओं को बिना इच्छा के, स्वभाव से कहा है। वह गाथा इसप्रकार है—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥

अर्थात्—उन अरहंतों के अरहंत अवस्था में स्थान, आसन और विहारादि काययोग की क्रिया तथा धर्मोपदेश वचन योग की क्रिया, बिना इच्छा के स्वभाव से होती है, जैसे स्त्रियों के स्वभाव से कुटिल आचरण होता है।

—जै. ग. 8-2-68/IX/ध. ला. सेठी, खुरई

केवली समुद्घात के समय शरीर से सम्बन्ध

शंका—केवली समुद्घात के समय शरीर से आत्मप्रदेश क्या पूर्णतया निकल जाते हैं ? क्या अन्य समुद्घातों में भी आत्मप्रदेश पूर्णतः बाहर हो जाते हैं ? यदि केवलीसमुद्घात के समय पूर्ण आत्मप्रदेश निकल जाते हैं तो मूल शरीर में आत्मप्रदेश किस प्रकार रहते हैं ?

समाधान—केवलीसमुद्घात के दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण ये चार भाग होते हैं। प्रथम समय में दण्डाकार, दूसरे समय में कपाटाकार, तीसरे समय में प्रतर रूप और चौथे समय लोक पूरण आत्मप्रदेश फैल जाते हैं। चौथे समय लोक पूरण अवस्था में लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर केवली का एक-एक आत्म-प्रदेश होता है क्योंकि प्रत्येक जीव के प्रदेशों की संख्या और लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या समान है। अतः लोकपूरण अवस्था में केवली के समस्त आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकल कर सर्व लोकाकाश में फैल जाते हैं। उस समय मूल शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता है कहा भी है—"कपाट समुद्घात के समय चौदह राजु आयाम (लम्बाई) से और सात राजु विस्तार से अथवा चौदह राजु आयाम से और एक राजु को आदि लेकर बढ़े हुए विस्तार से व्याप्त जीव के प्रदेशों का संख्यात अंगुल की अवगाहनावाले पूर्व शरीर के साथ सबन्ध नहीं हो सकता है।"

(धवल पु० २ पृ० ६६०)[1]

अन्य समुद्घातों के अर्थात् वेदना कषाय आदि छह समुद्घातों के समय मूल शरीर से पूर्ण आत्मप्रदेश बाहर नहीं निकलते, क्योंकि उन छह समुद्घातों में लोकपूरण अवस्था का अभाव है।

यद्यपि केवलीसमुद्घात में समस्त आत्मप्रदेश मूल शरीर से बाहर निकलकर सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हैं तथापि वह मूल शरीर लोकाकाश के जितने प्रदेशों में स्थित है, उतने आत्मप्रदेश उस शरीर के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप होने के कारण उस शरीर में शरीर की अवगाहना प्रमाण आत्म-प्रदेश रहते हैं।

कायबल प्राण का हेतु

शंका—केवली समुद्घात के समय कायबल और आयु ये दो प्राण कहे गये हैं। जबकि वह अपर्याप्त अवस्था है और मूल शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं तो फिर कायबल प्राण किस अपेक्षा बनता है ?

---

१. नवीन संस्करण धवल २/६६१ तथा ऐसा ही कथन धवल २/६५५ (नवीन संस्करण) में भी आया है। परन्तु यहां इतना अवश्य ध्यान रहे कि मूल औदारिक शरीर आत्म-प्रदेशों से सर्वथा रिक्त नहीं हो जाता। सारतः सकल आत्मप्रदेश शरीर से बाहर नहीं होते। —सं०

समाधान—केवली समुद्घात के समय अपर्याप्त अवस्था में यद्यपि मूल शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाता है तथापि कार्माणशरीर के साथ तो सम्बन्ध बना ही रहता है। जिस प्रकार सामान्य संसारी जीवों के विग्रह गति में औदारिक आदि तीन शरीरों से सम्बन्ध नहीं रहता तथापि कार्माण शरीर के साथ सम्बन्ध रहने के कारण कार्माण काययोग होता है[1] और कायबल प्राण भी होता है, शरीर को ग्रहण कर लेने पर अपर्याप्त अवस्था में मिश्र काययोग होने के कारण कायबल प्राण भी होता है[2]। इसी प्रकार केवली समुद्घात में अपर्याप्त अवस्था के समय कार्माण काययोग अथवा मिश्र काय योग होने के कारण कायबल प्राण होता है। यदि कायबल प्राण केवली समुद्घात के समय न माना जावे तो तेरहवें गुणस्थान में भी समुद्घात के समय अयोग होजाने का प्रसंग आ जायगा जो आगम विरुद्ध है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में केवली सयोग होते हैं।

दण्ड समुद्घात काल में पर्याप्तता का हेतु

शंका—केवली को दण्ड समुद्घात के समय पर्याप्तक कहा है, सो वह किस प्रकार है?

समाधान—जिस प्रकार अन्य छह समुद्घातों के समय आत्मा के प्रदेश असंख्यात बहु भाग मूल शरीर में रहने के कारण जीव को अपर्याप्तक नहीं कहा है, उसी प्रकार दण्ड समुद्घात के समय केवली के असंख्यात बहुभाग आत्मप्रदेश शरीर में रहने से केवली को पर्याप्तक कहा है। धवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में दण्ड समुद्घात के समय केवली को पर्याप्तक कहा है और आगम तर्क का विषय है नहीं। (ध. पु. १ पृ० २११, पु० १४ पृ० १) अतः आगम प्रमाण के आधार पर, दण्ड समुद्घात के समय केवली को पर्याप्तक स्वीकार कर लेना चाहिये।

—जै. ग. 2-1-64/ ··· / प्रकाशचन्द

केवली समुद्घात में सर्व प्रदेश शरीर से बाहर नहीं निकलते हैं

शंका—केवली जो समुद्घात करते हैं तो उनके प्रदेश बाहर निकलते हैं; सो यह कैसे समझाया जावे। क्या जीव के कुछ प्रदेश बाहर निकलते हैं और कुछ भीतर रहते हैं?

समाधान—जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर होते हैं। जब जीव केवली समुद्घात करता है तब प्रथम समय में ऊपर और नीचे प्रदेश दण्डाकार निकल कर जाते हैं। दूसरे समय में दाईं और बाईं ओर फैलकर कपाट का आकार धारण करते हैं। तीसरे समय में वे कपाट का आकार छोड़कर चारों ओर फैल जाते हैं और चौथे समय में लोक के एक–एक प्रदेश पर एक–एक आत्मप्रदेश स्थित हो जाता है। इस समय उतने ही आत्मप्रदेश शरीर के भीतर रहते हैं जितने आकाश प्रदेशों में शरीर स्थित है। इसके बाद पाँचवें समय में पुनः प्रतररूप, छठे समय में कपाटरूप, सातवें समय में दण्डरूप होकर आठवें समय में सबके सब शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। यह केवली समुद्घात की प्रक्रिया है। इससे स्पष्ट है कि समुद्घात के समय कुछ प्रदेश शरीर से बाहर रहते हैं और कुछ शरीर में रहते हैं। समुद्घात भी इसी का नाम है।

—जै. सं. 6-12-56/VI/ ल. च. धरमपुरी

---

१. "विग्रहगतौ कर्मयोगः।" [मोक्षशास्त्र अध्याय २ सूत्र २५)

२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १४१ संस्कृत टीका।

अकालमरण
(कदलीघात)

उत्तम संहनन वालों का भी अकालमरण

शंका—वज्र-वृषभनाराच संहननवालों की आयु की असमय में उदीरणा (कदलीघात) होती है या नहीं ?

समाधान—जिन जीवों का अकाल (कदलीघात) मरण नहीं होता उनका कथन मोक्षशास्त्र अध्याय २ सूत्र ५३ में है। वह सूत्र इस प्रकार है—

"औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।"

अर्थात्—उपपाद जन्म वाले देव और नारकी, 'चरमोत्तमदेहा' तद्भव मोक्षगामी, असंख्यात वर्ष आयु वाले (भोग भूमिया, मनुष्य, तिर्यंच) इनका अकालमरण (कदलीघातमरण) नहीं होता है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र कथित जीवों का अकालमरण नहीं होता ऐसा नियम है, किंतु अन्य जीवों के विषय में ऐसा नियम नहीं है।

"एतेषां नियमेनायुरनपवर्त्यमितरेषामनियमः।" (रा. वा. २।५३।९)

अर्थात् इन जीवों का मरणकाल व्यवस्थित है। ऐसा नियम है, किन्तु शस्त्र प्रहार व विष आदि के कारणों के द्वारा अन्य जीवों का मरण-काल उत्पन्न भी हो सकता है, उनका मरण काल व्यवस्थित होने का नियम नहीं है।

उत्तमदेह (उत्तम संहनन वाले) चक्रधर आदि के अनपवर्त-आयु का नियम नहीं है, क्योंकि अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त तथा कृष्ण वासुदेव आदि की आयु का बाह्य निमित्तों के वश से कदली-घात हुआ है। कहा भी है—

"अन्तस्य चक्रधरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासुदेवस्य च कृष्णस्यअन्येषां च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त-दर्शनात्" (रा. वा. २।५३।६)

—जै. ग. 23-5-66/IX/हेमचन्द

चरमशरीरी के अकालमरण का निषेध

शंका—तद्भव मोक्षगामियों की अकाल मृत्यु होती है या नहीं ? जिसको जिस मनुष्य पर्याय में मोक्ष की प्राप्ति होती है वे सब चरमशरीरी होते हैं या अचरमशरीरियों को भी मोक्ष की प्राप्ति होती है ?

समाधान—तद्भव मोक्षगामियों की अकाल मृत्यु नहीं होती, क्योंकि मोक्षशास्त्र अध्याय २ सूत्र ५३ की टीका में कहा है कि 'चरमोत्तम देह वाले जीव अनपवर्त्य आयु वाले होते हैं।' इसी सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका में

श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा है कि "सूत्र में जो उत्तम विशेषण दिया है, वह चरमशरीर के उत्कृष्टपने को दिखलाने के लिये दिया है। यहाँ इसका और कोई विशेषार्थ नहीं है, अथवा चरमोत्तम देह पाठ के स्थान में "चरमदेहा", यह पाठ भी मिलता है।" किन्तु श्री श्रुतसागर सूरि ने तत्त्वार्थवृत्ति टीका में चरमशरीरी गुरुदत्त, पांडव आदि का मोक्ष, उपसर्ग के समय होने से उनकी अपमृत्यु स्वीकार की है; मात्र चरमशरीरियों में उत्तम पुरुष तीर्थंकर की अपमृत्यु नहीं मानी है। इस प्रकार मतभेद होते हुए भी श्री पूज्यपाद आचार्य का कथन विशेष माननीय है, क्योंकि वे महान् आचार्य थे तथा उनके कथन का समर्थन श्री अकलंक देव आदि आचार्यों ने भी किया है।

जो तद्भव मोक्षगामी होते हैं वे सब चरमशरीरी होते हैं, क्योंकि चरमशरीरी का अर्थ अन्तिम शरीर है। जिसको मोक्ष की प्राप्ति हो रही है वह उसका चरमशरीर ही तो है, क्योंकि उसके पश्चात् उसको अन्य शरीर धारण नहीं करना है। अतः अचरम-शरीरियों को भी मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

—जं. ग. 9-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जैन

कृष्ण व पाण्डव का अकालमरण नहीं हुआ

शंका—अकालमृत्यु तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य महान् पुरुषों को होती है। जैसे पांडव व कृष्ण आदि की हुई। क्या यह सत्य है?

समाधान—आयु कर्म के क्षय को मरण कहते हैं (धवल पु० १ पृ० २३४) आयु कर्म की स्थिति पूर्ण होने से पूर्व ही, विशेष कारणवश, आयु कर्म के क्षय हो जाने को अकालमृत्यु कहते हैं। उपपाद जन्म वालों (देव, नारकी), चरमोत्तम देह (तद्भव मोक्षगामी) और असंख्यात वर्ष आयु वालों (भोगभूमिया) की अकाल मृत्यु नहीं होती (मोक्षशास्त्र अध्याय २ सूत्र ५३)। इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में लिखा है—"सूत्र में जो उत्तम विशेषण दिया गया है वह चरमशरीर के उत्कृष्टपने को दिखलाने के लिये दिया है। यहाँ इसका और कोई विशेष अर्थ नहीं है। अथवा 'चरमोत्तमदेहा' पाठ के स्थान में 'चरमदेहा' यह पाठ भी मिलता है।" जयधवल पु० १ पृ० ३६१ पर भी कहा है—'चरमदेहधारीणमवमच्चुवज्जियाणं' अर्थात् चरमशरीरी जीव अपमृत्यु से रहित हैं। अतः जो पाण्डव मोक्ष गये हैं उनकी अपमृत्यु संभव नहीं है, क्योंकि चरमशरीरी की अकाल मृत्यु नहीं होती, ऐसा नियम है।[1]

---

१. परन्तु पूज्य प्रभाचन्द्रविरचित तत्त्वार्थवृत्तिपद में २/५३ में लिखा है चरमदेहस्योत्तमविशेषणात् तीर्थंकरदेहोगृह्यते। ततोऽन्येषां चरमदेहानामपि गुरुदत्तपाण्डवादीनामग्न्यादिना मरणदर्शनात्।

अर्थ—चरमशरीर के साथ उत्तम विशेषण लगाने से तीर्थंकर का शरीर ग्रहण किया जाता है, क्योंकि चरमशरीरी भी गुरुदत्त, पाण्डवों आदि का अग्नि आदि से मरण देखा जाता है।

श्लोकवार्तिक खण्ड ५ पृष्ठ २५८ पर भी लिखा है—चरमशरीरियों में तीर्थंकर परम देवाधिदेव की आयु ही अनपवर्त्य है। शेष मोक्षगामी जीवों की आयु के अनपवर्त्य होने का नियम नहीं; यह सिद्धांत स्थिर हो जाता है। —सम्पादक

कृष्ण के सम्यग्दर्शन व तीर्थंकर प्रकृति के बंध से पूर्व ही नरकायु बंध चुकी थी। और यह नियम है कि परभव सम्बन्धी आयु के बंधने के पश्चात् भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता, किन्तु वह जितनी थी उतनी का ही वेदन करता है। (धवल पु० १० पृ० २३७)। अतः कृष्ण की भी अकाल मृत्यु नहीं हुई।

—जै. ग. 26-9-63/IX/ब्र. पन्नालाल

परभव को आयु का बन्ध होने पर अकाल मरण नहीं होता

शंका—किसी जीव ने ९९ वर्ष की आयु का बन्ध किया और उसने ६६ वर्ष की आयु को भोगकर परभव की आयु का बन्ध कर लिया। फिर उसका यदि मरण हो जाता है तो ३३ वर्ष की आयु को अगली किस पर्याय में जाकर भोगेगा या नहीं भोगेगा ? यदि ३३ वर्ष को नहीं भोगता है तो आगम से विरोध आता है, कारण आगम में लिखा है कि जीव की आयु पूर्ण हुए बिना मरण होता नहीं और बिना आयु पूर्ण किये मरण होता है वह अकाल मरण है। परन्तु उस जीव के ९९ वर्ष में से ६६ वर्ष की आयु भोगने पर उसका अकालमरण नहीं होता। जबकि उसने अगली आयु का बन्ध कर लिया है।

समाधान—आगामी भव की आयु का बंध हो जाने के पश्चात् अकाल मरण नहीं होता है। अर्थात् परभव की आयु का बंध हो जाने पर भुज्यमान आयु जितनी शेष रह गई है उस आयुस्थिति के पूर्ण होने पर ही मरण होगा उससे पूर्व मरण नहीं होगा।

"परभवि आउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउअस्स कदलीघादो णत्थि जहासरूवेण चेव वेदेदित्ति।"

(धवल पु० १० पृ० २३७)

अर्थ—परभव सम्बन्धी आयु के बन्धने के पश्चात् भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता, किन्तु वह जितनी थी उतनी का ही वेदन करता है।

जिस कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यंच ने परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध नहीं किया है उसकी आयु का विष आदि के निमित्त से कदलीघात हो सकता है। अकालमरण में भी आयु कर्म के निषेक अपना फल असमय में देकर झड़ते हैं, बिना फल दिये नहीं जाते हैं। श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ५३ की टीका में कहा है—

"दत्त्वैव फलं निवृत्तेः, नाकृतस्य कर्मणः फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफलविनाशः अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, दानादिक्रियारम्भा-भावप्रसङ्गाच्च। किंतु कृतंकर्म कर्त्रे फलंदत्त्वैव निवर्तते विततार्द्रपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्तः पाक इत्ययं विशेषः।"

आयु उदीरणा में भी कर्म अपना फल देकर ही झड़ते हैं, अतः कृत नाश की आशंका उचित नहीं है। जैसे गीला कपड़ा फैला देने पर जल्दी सूख जाता है और वही यदि इकट्ठा रखा रहे तो सूखने में बहुत समय लगता है, इसी प्रकार बाह्य निमित्तों से समय से पूर्व आयु के निषेक झड़ जाते हैं। यही अकाल मृत्यु है।

—जै. ग. 29-8-68/VI/ टो. ला. जैन

शंका—यदि परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध हो जाने के पश्चात् भुज्यमान आयु का अन्त अर्थात् अकाल मरण नहीं होता है तो राजा श्रेणिक का अकाल मरण क्यों हुआ, क्योंकि उसके नरकायु का बन्ध सम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्व में हो चुका था ?

समाधान—राजा श्रेणिक को क्षायिक-सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया था और सम्यग्दृष्टि के नरकायु का बंध नहीं हो सकता, क्योंकि नरकायु की बंध व्युच्छित्ति प्रथम गुणस्थान में हो जाती है। अतः राजा श्रेणिक के नरकायु का बंध सम्यक्त्वोत्पत्ति से पूर्व हो चुका था। राजा श्रेणिक का अकाल मरण नहीं हुआ है, क्योंकि परभव की आयु बंध होने के पश्चात् अकाल मरण नहीं होता है। कहा भी है—

"पर-भवियआउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउअस्स कदलीघादो णत्थि जहासरूवेण चेव वेदेदित्ति। ध.१०।२३७।

परभव सम्बन्धी आयु के बंधने के पश्चात् भुज्यमान आयु का कदली घात नहीं होता, किन्तु वह जितनी थी उतनी का ही वेदन करता है।

—जै. ग. 3-12-70/X/टोडरमलाल

मरणकाल की व्यवस्था

शंका—मृत्यु काल जन्म से ही व्यवस्थित हो जाता है, या बाद में कभी होता है? यदि पहिले ही होता है तो जिन जीवों का मृत्युकाल अव्यवस्थित है उनका अकालमरण होगा। यदि अकालमरण के निमित्तभूत बाह्य कारण न मिलें तो कालमरण भी हो सकता है? यदि बाद में व्यवस्थित होता तो फिर देव नारकियों का कैसे होता है? उनका जन्म से व्यवस्थित होना चाहिये?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ५३ में कहा है कि औपपादिक (देव-नारकी), चरम शरीरी और असंख्यात वर्ष आयु वाले (भोगभूमिया) की आयु विष-शस्त्र आदि विशेष बाह्य कारणों से ह्रस्व (कम) नहीं होती, इसलिये ये अनपवर्त्य आयु वाले हैं। इनका मरण जन्म से ही व्यवस्थित है। इसी सूत्र की सामर्थ्य से यह भी सिद्ध होता है कि इनके अतिरिक्त अन्य संसारी जीवों (कर्मभूमिया मनुष्य व तिर्यंच) की आयु, विष शस्त्र आदि विशेष बाह्य कारणों से, ह्रस्व (कम) भी हो सकती है इसलिये वे अपवर्त्य आयु वाले भी हैं।

"तेभ्योऽन्ये तु संसारिणः सामर्थ्यादपवर्त्यायुषोऽपि भवन्तीति गम्यते।" (सुखानुबोध टीका)

"यद्येतेषामपवर्त्यं ह्रस्वमायुर्न भवति तर्हि अर्थादन्येषां विष-शस्त्रादिभिरायुर्दीर्घमाम्रफलादि वद् भवतीति तात्पर्यार्थः॥" (तत्त्वार्थवृत्ति टीका)

कर्मभूमिया मनुष्य व तिर्यंचों का मरण यदि विष शस्त्र आदि बाह्य विशेष कारणों से होता है तो उनका अकाल मरण होता है और वह मृत्युकाल व्यवस्थित न होकर विष शस्त्र आदि की सापेक्षता से उत्पन्न हो जाता है। (श्लोकवार्तिक अध्याय २ सूत्र ५३)।

—जै. ग. 19-12-66/VIII/ र. ला. जैन

क्या अकालमरण स्वेच्छामरण है?

शंका—क्या कदलीघात-मरण (अकाल मरण) का यह अर्थ है कि जो स्वेच्छा से विष आदि व शस्त्र आदि के द्वारा मरण हो वह अकाल मरण है, शेष सब काल मरण है?

समाधान—यदि आयु पूर्ण होने से पूर्व, स्वेच्छा से या स्वेच्छा के बिना शस्त्र आदि घात से या अन्य किन्हीं कारणों से भुज्यमान आयु का ह्रास होकर मरण होता है, तो वह अकाल मरण है अर्थात् कदलीघात मरण है। आयु पूर्ण होने पर जो मरण होता है वह स्वकाल मरण है।

एक मनुष्य या तिर्यंच की भुज्यमान आयु १०० वर्ष की थी। ४० वर्ष जीवित रहने के पश्चात् संक्लेश आदि परिणामों के द्वारा या अधिक परिश्रम के द्वारा या किसी अन्य कारण से उसकी शेष आयु ६० वर्ष से कम हो गई, जैसे शेष आयु कम होकर ६० वर्ष की बजाय ५० वर्ष रह गई। उस मनुष्य या तिर्यंच का जो ६० वर्ष की अवस्था में मरण होगा वह भी अकाल (कदलीघात) मरण है। कदलीघात मरण में शेष आयु घटकर कम से कम अन्तर्मुहूर्त तो रह जाती है, क्योंकि इस अन्तर्मुहूर्त काल में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होगा। परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध हो जाने के पश्चात् भुज्यमान शेष आयु का कदलीघात नहीं होता, किन्तु जितनी शेष आयु थी उतनी का ही वेदन करता है। कहा भी है—

"परभवियआउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउअस्स कदलीघादो णत्थि जहासरूवेणचेव वेदेदित्ति।" (धवल १० पृ. २३७) अतः कदलीघात में स्वेच्छा का कोई नियम नहीं है। बाह्य कारणों से भुज्यमान आयु की स्थिति का ह्रास हो जाना कदलीघात है।

—जै. ग. 29-1-76/VI/ज. ला. जैन, भीण्डर

भुज्यमान आयु का घात करके अन्तर्मुहूर्त से अधिक भी शेष रखी जा सकती है

शंका—अकालमृत्यु वाला जीव भुज्यमान आयु की शस्त्र आदि के लगने पर उदीरणा करता है या आयु का अपकर्षण करके भी उदीरणा करता है ? वह भुज्यमान आयु में पहिले भी अपकर्षण कर सकता है या नहीं ? दृष्टान्त—एक मनुष्य १०० वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। साठ वर्ष बीत जाने पर उसने अपकर्षण द्वारा अपनी तीस साल आयु कम करली तो क्या उसकी मृत्यु १० वर्ष पश्चात् अर्थात् ७० वर्ष की आयु में हो जावेगी ?

समाधान—कर्मभूमिज अचरमशरीरी मनुष्य व तिर्यंच भुज्यमान आयु का अपवर्तन करते हैं। विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, आहारनिरोध, उच्छ्वासनिरोध आदि कारणों से उक्त जीवों के भुज्यमान आयु का छेद (अपवर्तन अर्थात् ह्रास) होता है। कहा भी है—'**विस वेयण रत्तक्खय भय सत्थग्गहण संकिलेसेहिं। आहारुस्सासाणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ।**' सुखबोध टीका में भी कहा है—'**विषशस्त्रवेदनादि-बाह्यनिमित्त-विशेषेणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियत इत्यपवर्त्य-अपवर्तनीयमित्यर्थः।**' इन उपर्युक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आयु को अपवर्तित अर्थात् कम करने में मात्र शस्त्रघात व विष-भक्षण आदि ही कारण नहीं हैं, किन्तु संक्लेश परिणाम व वेदना भी कारण हैं। अतः संक्लेश व वेदना के द्वारा १०० वर्ष की आयु को लेकर उत्पन्न हुआ जीव, साठ वर्ष बीत जाने पर तीस साल की आयु का अपवर्तन करके ७० वर्ष की आयुस्थिति कर सकता है और ऐसे जीव का मरण ७० वर्ष की आयु में हो जावेगा। इस सम्बन्ध में यद्यपि आगम प्रमाण नहीं मिलता फिर भी उपर्युक्त आगम से तथा षट्खंडागम पुस्तक ६, पृ० १७० से ऐसा अभिप्राय ज्ञात होता है। यदि कहीं भूल हो तो विद्वान सुधार करने की कृपा करें।

—जै. सं. 4-12-58/V/रा. दा. कैराना

क्या आत्मघाती देवगति प्राप्त करता है ?

शंका—पहाड़ से गिरकर, फाँसी लगा कर, तालाब में डूब कर, विष खाकर मरने वाला क्या स्वर्ग जा सकता है ? वरांगचरित्र में स्वर्ग जाना लिखा है ?

समाधान—पूर्वबद्ध देवायु के कारण जो जीव भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिष देवों में उत्पन्न होते हैं उनके पूर्व भव में मरण के समय तथा देवों में उत्पन्न होने के समय कृष्ण, नील, कापोत तीन अशुभ लेश्या होती

हैं। ऐसे जीव पहाड़ से गिरकर, फाँसी लगाकर, तालाब में डूब कर, विष खाकर मरने पर भवनत्रिक में पूर्वबद्ध देवायु के कारण उत्पन्न होते हैं।

—जै. सं. /17-1-57/VI/ ब. बा. हजारीबाग

अकालमृत्यु और आत्मघात

शंका—अकालमृत्यु एवं आत्मघात में क्या अन्तर है ?

समाधान—कषायवश अपने प्राणों का घात करना आत्मघात है। आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होने से पूर्व ही शेष निषेकों की उदीरणा होकर उदय में आकर मृत्यु का होना अकालमृत्यु है। आत्मघात के समय अकालमृत्यु भजनीय है। अकालमृत्यु के समय आत्मघात भजनीय है।

—जै. सं. /21-2-57/VI/ जु. म. दा. टूण्डला

अविपाकनिर्जरा तथा अकालमरण में अन्तर

शंका—अकाल मृत्यु का तथा अविपाक निर्जरा का लक्षण एक ही बताया जैसे विषशस्त्रादि से मृत्यु होना वह अकाल मृत्यु है तथा पाल में देकर आम पकाना यह अविपाक निर्जरा है। परन्तु दोनों पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिये इनके लक्षण भी भिन्न होने चाहिये।

समाधान—अविपाक निर्जरा सम्यक् तप के द्वारा होती है और संवर पूर्वक होती है। अकालमरण में आयु कर्म के अपकर्षण द्वारा उदीरणा होती है। विष, शस्त्र आदि का निमित्त मिलने पर कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यंच की आयु के निषेकों का अपकर्षण होकर उदीरणा हो जाती है और अनियत काल में मरण हो जाता है।

—जै. ग. /17-7-69/..../ रो. ला. जैन

कदलीघात में स्थितिकाण्डकघात नहीं होता

शंका—कदलीघात मरण में क्या स्थितिकाण्डकघात के द्वारा आयु की स्थिति कम होती है या अन्य प्रकार से कम होती है ?

समाधान—कदलीघात मरण में स्थितिकाण्डकघात द्वारा आयु स्थिति कम नहीं होती है, किंतु अपकर्षण व उदीरणा द्वारा भुज्यमान आयु का स्थितिघात होता है।

सूक्ष्मएकेन्द्रिय के भी अकालमरण सम्भव है।

शंका—सूक्ष्म कायिक जीवों का स्वरूप ऐसा बतलाया है कि वे अग्नि में जलते नहीं, किसी से रुकते नहीं तब तो उनका अकालमरण नहीं हो सकता है। श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २ सूत्र ५३ में उनका उल्लेख क्यों नहीं किया ?

समाधान—सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों का भी अकाल मरण होता है। क्योंकि भय तथा संक्लेश परिणाम भी अकाल मरण के कारण हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

विसवेयणरत्तक्खय भय सत्थग्गहण संकिलेसाणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥२५॥ (भाव प्राभृत)

विष भक्षण, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र, संक्लेश, आहार निरोध, उच्छ्वास निरोध इन कारणों से आयु का क्षय होकर अकाल मरण हो जाता है ।

भय तथा संक्लेश आदि के कारण सूक्ष्म ऐकेन्द्रिय जीवों का भी अकाल मरण सम्भव है, अतः तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय दो सूत्र ५३ में उनका उल्लेख नहीं है ।

—जै. ग. 25-6-70/VII/का. ना. कोठारी

अकालमरण सत्य है

शंका—निश्चय नय में अकाल मरण नहीं होता है फिर अकाल मरण क्यों कहा जाता है ? जिनेन्द्र भगवान के ज्ञानानुसार तो सबका हो मरण होता है ।

समाधान—जन्म और मरण पर्याय की अपेक्षा हैं । निश्चयनय का विषय पर्याय नहीं है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—"निश्चयनयस्तु, द्रव्याश्रितत्वात् व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात् ।" अर्थात् निश्चयनय का विषय 'द्रव्य' है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है । श्री देवसेन आचार्य ने भी आलापपद्धति में कहा है ।

"णिच्छय ववहारणया मूलमेया णयाण सव्वाणं । णिच्छय साहण हेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ॥४॥"
संपूर्ण नयों के निश्चय नय और व्यवहार नय ये दो मूल भेद हैं । निश्चय नय का हेतु (विषय) द्रव्यार्थिक नय (द्रव्य) है और साधन अर्थात् व्यवहार नय का हेतु पर्यायार्थिक नय है ।

इसलिये काल मरण या अकाल मरण दोनों प्रकार का मरण व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय में न काल मरण है और न अकाल मरण है । निश्चयनय की अपेक्षा तो द्रव्य नित्य ध्रुव है, परिणमन तो व्यवहारनय का विषय है ।

अकालमरण असिद्ध भी नहीं है । श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने अकाल मरण का उपदेश दिया है । जो निम्न प्रकार है—

"विसवेयणरत्तक्खयभय सत्थग्गहण संकिलेसेणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥ २५ ॥
हिम-जलण-सलिलगुरुयरपव्वयतरु-रुहण-पडणभंगेहिं ।
रस विज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं" ॥ २६ ॥
(श्री कुन्दकुन्द कृत भावपाहुड)

"विष शस्त्र वेदनादि निमित्त, विशेषैणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते । इत्यपवर्त्य अपवर्तनामित्यर्थः ।"
(सुखबोध)

"न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात् । शस्त्र संपातादिबहिरंगकारणान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वस्यापमृत्युकालत्वोपपत्तेः । कस्यचिदायुरुदयांतरंगेहेतौ बहिरंग पथ्याहारादि विच्छित्तं जीवन-स्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधानमेवापमृत्योरस्तु प्रतिकारः ।" (श्लोक वार्तिक)

ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने उपदेश दिया जो आचार्यों को गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ और उनके द्वारा लिपिबद्ध किया गया है। जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी होते नहीं (नान्यथावादिनो जिनाः) इसलिये जिनेन्द्र भगवान् ने उपदेश दिया उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा जाना है। अतः केवलज्ञानानुसार अकाल मरण है।

—जै. ग. 16-2-78/VI/ शास्त्र सभा, जैनपुरी

अकालमरण का काल नियत नहीं

शंका—सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा अकाल मृत्यु न मानने में तथा द्रव्यदृष्टि से स्वकाल में ही प्रतिसमय परिणमन होने से अकाल मृत्यु न मानने में क्या दोष है ?

समाधान—अन्य जीव पदार्थ को किस रूप जानता है यह हम नहीं जानते। वह जीव पदार्थ के विषय में जो कहता है उसको हम जान सकते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञानी ने जो कहा है उसको तो हम जान सकते हैं। केवलज्ञानी ने स्वयं अकालमृत्यु का कथन किया है और उसके आधार पर श्री कुंदकुंद आचार्य ने भी भावप्राभृत २५ में कहा है।

आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी ने श्लोकवार्तिक अ० २ सूत्र ५३ की टीका में कहा है—

(भाग ५ पृ० २६१-६२ पर)

"न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात्। प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत् कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, द्वितीयपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंगः। सकल बहिः कारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकालव्यवस्थितेः। शस्त्रसंघातादि बहिरंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालस्योपपत्तेः।"

अर्थ—जिनका मरणकाल प्राप्त नहीं हुआ उनके मरण का अभाव है अर्थात् जिनका मरण-काल नहीं आया उनका मरण नहीं हो सकता, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि खड्गप्रहार आदि के द्वारा, मरणकाल प्राप्त न होने पर भी मरण प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि यह कहा जाय कि जिसका मरणकाल आ गया है, उसही का मरण देखा जाता है तो यह प्रश्न होता है कि जिसकी आयु पूर्ण हो गई अर्थात् जिसके आयुकर्म की स्थिति पूर्ण हो गई उसके मरणकाल से प्रयोजन है या अपमृत्युकाल अर्थात् जिसके आयुकर्म की स्थिति पूर्ण नहीं हुई है उसके मरणकाल से प्रयोजन है ? यदि यह कहा जाय कि जिसके आयुकर्म की स्थिति पूर्ण हो गई उसके मरणकाल से प्रयोजन है तो सिद्धसाध्यता का दोष आता है, क्योंकि आयुपूर्ण होने पर काल मरण होता है, यह तो इष्ट है, इसके सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहा जाय कि जिसकी आयुस्थिति पूर्ण नहीं हुई उसके मरणकाल से प्रयोजन है तो खड्गप्रहार आदि की निरपेक्षता का प्रसंग आ जायगा। जिसका मृत्यु कारण सम्पूर्ण विशेष बाह्य कारणों से निरपेक्ष है उसका मृत्युकाल व्यवस्थित है अर्थात् निश्चित है। शस्त्रप्रहार आदि का अपमृत्यु के साथ अन्वय व्यतिरेक का विधान होने से अपमृत्युकाल उत्पन्न होता है।

श्लोकवार्तिक के इस प्रमाण में "व्यवस्थिते." और "उपपत्तेः" ये दोनों शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। काल-मरण में मरण का समय व्यवस्थित अर्थात् निश्चित होता है, किंतु अकालमरण में बाह्य विशेष कारणों से मरणकाल उत्पन्न होता है। यदि बाह्य विशेष कारण न मिलें या मिलने पर उनका प्रतिकार कर दिया जाय तो मरणकाल उत्पन्न नहीं होगा। इसी बात को श्री विद्यानन्दाचार्य ने श्लोकवार्तिक में इसप्रकार कहा है—

"तदभावे पुनरायुर्वेद प्रमाण्य चिकित्सितादीनां क्व सामर्थ्योपयोगः। दुःखप्रतिकारादाविति चेत्, तथैवाप-मृत्युप्रतिकारादौ तदुपयोगोस्तु तस्योभयथा दर्शनात्।" (श्लोक वार्तिक पृ० ३४३)

अर्थ—अकाल मृत्यु अर्थात् जिस मृत्यु का काल व्यवस्थित (नियत) नहीं है, ऐसी अकाल मृत्यु के अभाव में आयुर्वेद की प्रमाणभूत चिकित्सा तथा शल्य चिकित्सा (आपरेशन) आदि की सामर्थ्य का प्रयोग किस प्रकार किया जायगा, क्योंकि चिकित्सा आदि का प्रयोग अकाल मृत्यु के प्रतिकार के लिये किया जाता है। यदि कहा जाय कि चिकित्सा आदि का प्रयोग दुःख के प्रतिकार के लिये किया जाता है, तो इस पर आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार चिकित्सा आदि के प्रयोग से दुःख की निवृत्ति होती है उसी प्रकार चिकित्सादि की सामर्थ्य के प्रयोग से अकालमृत्यु की भी निवृत्ति होती है, क्योंकि दुःख और अकालमृत्यु इन दोनों के प्रतिकार के लिये चिकित्सा का प्रयोग देखा जाता है।

श्री जिनेन्द्र भगवान ने उपर्युक्त उपदेश दिव्यध्वनि द्वारा दिया है अतः जैसा जिनेन्द्र भगवान ने उपदेश दिया है वैसा ही जाना है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं हैं।

जिनेन्द्र भगवान ने दया का उपदेश दिया है। जैसा कि श्री कुंदकुंद आचार्य ने बोधपाहुड में कहा है—'धम्मो दयाविसुद्धो' अर्थात् धर्म वही है जो दया करि विशुद्ध है।

यदि सबका मरण काल नियत होता तो सर्वज्ञ दयाधर्म का उपदेश तथा चिकित्साशास्त्र का उपदेश क्यों देते ? श्री सर्वज्ञदेव ने दयाधर्म तथा चिकित्साशास्त्र का उपदेश दिया है अतः इससे सिद्ध होता है कि सब जीवों का मरणकाल नियत नहीं है अर्थात् किन्हीं जीवों का अकालमरण भी होता है। श्री श्रुतसागर सूरि ने तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय २ सूत्र ५३ की टीका में कहा है—

"अन्यथा दयाधर्मोपदेशचिकित्साशास्त्रं च व्यर्थं स्यात्।"

अर्थ—अकाल मरण को न मानने से दयाधर्म का उपदेश और चिकित्सा शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे।

विष-भक्षण, शस्त्र-प्रहार आदि के द्वारा भुज्यमान आयु की स्थिति कम होकर अनियत समय में मरण संभव है इसीलिये मनुष्य विषभक्षण आदि से बचता है। श्री भास्करनन्दि आचार्य ने कहा भी है—

"विषशस्त्रवेदनादि–बाह्य–विशेष निमित्त–विशेषेणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते इत्यपवर्त्यं।" अर्थात् विषभक्षण, शस्त्र प्रहार और वेदना आदि बाह्य विशेष निमित्तों से आयु का ह्रस्व (कम) करना अपवर्त्य आयु है।

इस प्रकार सर्वज्ञ के उपदेश द्वारा अकाल मरण सिद्ध हो जाता है। कहा भी है—

> आयुर्यस्यापि दैवज्ञैः परिज्ञाते हितान्तके।
> तस्यापि क्षीयते सद्यो निमित्तान्तरयोगतः॥ ६७॥ (सार समुच्चय)

अर्थ—भविष्य के भाग्य-ज्ञाता द्वारा, किसी (कर्मभूमिज) की आयु का हितान्त अर्थात् अमुक समय पर मरण होगा, ऐसा जान भी लिया जावे तो भी विपरीत निमित्तों के मिलने पर उसकी आयु का शीघ्र क्षय हो जाता है।

जिस प्रकार भूतकाल अनादि होने से उसका आदि किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकता अथवा आकाश द्रव्य अनन्त होने से उसका अन्त किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। प्रत्येक सिद्ध सादि होने पर भी प्रथम सिद्ध या अन्तिम सिद्ध किसी के द्वारा जाना नहीं जा सकता है। उसी प्रकार अकालमरण का मरणकाल व्यवस्थित न होने से वह भी नहीं जाना जा सकता है। जैसा जिसका स्वरूप होता है वैसा ही सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। जीव अनन्त हैं तो सम्यग्ज्ञानी उनको अनन्तरूप से ही जानता है, सर्व जीवों को जानकर उनको सान्तरूप से नहीं जानता है, यदि सान्त रूप से जाने तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होगा। ज्ञेयों का परिणमन ज्ञान के आधीन नहीं है किन्तु अंतरंग बहिरंग निमित्ताधीन है, जैसा कि ऊपर के श्लोक मे श्री कुलभद्राचार्य ने कहा है।

—जै. ग. /27-11-69/VII/ब्र. सच्चिदानन्द

अकालमरण-मीमांसा

प्रश्न—अपमृत्यु अर्थात् अकालमरण नहीं है, क्योंकि आगम में इसका उपदेश नहीं पाया जाता। क्या यह ठीक नहीं है ?

उत्तर—संसारी जीव दो प्रकार के हैं। १. सोपक्रमायुष्क जीव और २. निरुपक्रमायुष्क जीव (धवल पुस्तक १० पृ० २३३–३४)। जिन जीवो का अकालमरण (अपमृत्यु) संभव है वे सोपक्रमायुष्क जीव हैं और जिन जीवों का अकाल-मरण संभव नहीं है वे निरुपक्रमायुष्क जीव हैं।

श्री तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ५३ में निरुपक्रमायुष्क जीवों का उल्लेख है। वह सूत्र इस प्रकार है—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

अर्थ—उपपाद जन्मवाले, चरमोत्तम देहवाले और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीव अनपवर्त्य आयु वाले (निरुपक्रमायुष्क) होते हैं।

इस सूत्र की टीका में महान् तार्किक आचार्य श्री विद्यानन्दि लिखते हैं कि इस सूत्र की सामर्थ्य से यह सिद्ध हो जाता है कि औपपादिक आदि के अतिरिक्त जो अन्य संसारी जीव हैं वे अपवर्त्य आयु वाले (सोपक्रमायुष्क) होते हैं।[1]

श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं कि इन औपपादिक आदि जीवों की आयु बाह्य निमित्त से नहीं घटती, यह नियम है, तथा इनसे अतिरिक्त शेष जीवों का ऐसा कोई नियम नहीं है अर्थात् बाह्य कारण मिलने पर आयु घट जायगी। यदि कारण नहीं मिलेंगे तो आयु नहीं घटेगी।[2]

श्री भास्करनन्दि आचार्य भी कहते हैं कि इस ५३ वें सूत्र की सामर्थ्य से यह भी सिद्ध हो जाता है कि औपपादिक से जो अन्य संसारी जीव हैं उनकी अकालमृत्यु भी होती है।[3]

---

१. 'सामर्थ्यतस्ततोन्येषामपवर्त्यं' श्लोकवार्तिक पृ० ३४३।

२. "न ह्येषामौपपादिकादीनां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त्यते इत्ययं नियमः इतरेषामनियमः।" सर्वार्थसिद्धि सूत्र ५३।

३. 'तेभ्योऽन्ये तु संसारिणः सामर्थ्यादपवर्त्यायुषोऽपि भवन्तीति गम्यते।'

श्री वीरसेन आचार्य ने तथा श्री १०८ पूज्यपाद आदि आचार्यों ने जो कुछ भी आर्षग्रंथों में कथन किया है वह सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार किया है, जो उन्हें गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ था। वे वीतरागी निर्ग्रंथ महान् आचार्य हुए हैं। अन्य पुरुषों के समान उन्होंने अपनी तरफ से कुछ नहीं लिखा है। अतः उपर्युक्त कथन प्रामाणिक हैं।

प्रश्न—अपमृत्यु सकारण है या निष्कारण ? क्या पर-भव का आयुबंध ही इस प्रकार का होता है ?

उत्तर—अमुक जीव की अपमृत्यु अवश्य होगी इस प्रकार का कोई आयुबंध नहीं होता। औपपादिक आदि जीवों के अतिरिक्त जो जीव हैं उनके भी अपमृत्यु का नियम नहीं है, क्योंकि उन सबकी अपमृत्यु नहीं होती। श्री धवल पु० ६ पृ० ७० पर कहा है कि संख्यात वर्ष की आयु वाले (कर्मभूमियां) मनुष्य, तिर्यंचों की आयु का कदलीघात भी होता है और अधः स्थिति गलन भी होता है। यहाँ पर अधःस्थिति गलन का अर्थ है कि कदलीघात के बिना आयु का प्रति समय एक–एक समय की स्थिति का कम होना। इतनी विशेषता है कि परभव सम्बन्धी आयुबंध के पश्चात् भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता। (धवल पु० १० पृ० २३७)

श्री सर्वार्थसिद्धि के *'इतरेषामनियमः'* इस वाक्य से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि औपपादिक आदि से भिन्न अन्य जीवों के कालमरण या अकालमरण का नियम नहीं है, अर्थात् इतर जीवों का अकालमरण ही होगा, ऐसा नियम नहीं है।

श्री भास्करनन्दि आचार्य के 'तेभ्योऽन्ये तु संसारिणः सामर्थ्यादपवर्त्यायुषोऽपि भवन्तीति गम्यते' इस वाक्य में 'अन्ये' शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि औपपादिक आदि से भिन्न अन्य संसारी जीवों के अपमृत्यु होती भी है और (अपमृत्यु) नहीं भी होती।

अमुक जीव की अपमृत्यु अवश्य होगी, इस प्रकार का कोई आयुबंध नहीं होता। जिन जीवों को करणानुयोग का ज्ञान नहीं है वे ही ऐसा कहते हैं कि 'जिस जीव की सोपक्रम आयु है उसकी मृत्यु के लिये ऐसा नियम है कि उसकी आयु नियम से उदीरणारूप होगी और उदयरूप से नहीं होगी।' उन अज्ञानियों को यह भी खबर नहीं कि जिस आयुकर्म का उदय नहीं है उस आयु कर्म की उदीरणा भी नहीं होती।[1] वे ख्याति व पूजा की चाह में यद्वा तद्वा आर्षविरुद्ध उपदेश देकर अपने को भी संसार में रुलाते हैं और अपने अनुयायी जीवों को भी संसार में रुलाते हैं।

नारकी, देव, भोगभूमियों के मनुष्य व तिर्यंच और तद्भव मोक्ष जाने वाले मनुष्यों की आयु का कदलीघात नहीं होता है। शेष जीवों की आयु के लिये नियम नहीं। यदि शेष जीवों की आयु के कदलीघात का नियम मान लिया जावे तो आयु कर्म के उत्कृष्ट अबाधाकाल पूर्व कोटि के त्रिभाग के अभाव का प्रसंग आ जायगा। किन्तु आर्ष ग्रन्थों में उत्कृष्ट अबाधाकाल पूर्व कोटि का त्रिभाग कहा है,[2] अतः कदलीघात का नियम नहीं है।

---

१. उदयस्सुदीरणस्स य सामित्ता दो ण विज्जइ विसेसो।
   मोत्तूण तिण्णिठाणं पमत्तजोई अजोई य ।।४४।। (पं. स. ३/४४ ज्ञानपीठ)

२. 'पुव्वकोडितिभागो आबाधा'। (षट्खण्डागम १, ८-९, सूत्र २३ ध. पु. ६, पृ. १६०)

अकालमरण के कारण :

कदलीघात मरण अर्थात् अकाल मरण किन कारणों से होता है, उन कारणों को श्री १०८ भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य निम्न दो गाथाओं में कहते हैं—

> **विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।**
> **आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥ २५ ॥**
> **हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।**
> **रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहि विविहेहिं ॥ २६ ॥ भावपाहुड़**

अर्थ—विषभक्षणतें, वेदना की पीड़ा के निमित्ततें, रक्त कहिये रुधिर ताका क्षयत, भय तें, शस्त्रघाततें, *संक्लेश परिणामतें आहार का तथा श्वास का निरोधतें, इन कारणनितें आयु का क्षय होय है ॥ २५ ॥* हिम कहिये शीत पालातें, अग्नितें जलनेतें, जलमें डूबनेतें, बड़े पर्वत पर चढ़कर गिरने तें, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने तें, शरीर का भंग होने से, रस कहिये पारा आदिक की विद्या ताका संयोग करि धारण करे भखे ऐसे अन्य अनेक प्रकार के कारणों तें आयु का व्युच्छेद होय है ॥ २६ ॥

यदि सोपक्रमायुष्क अर्थात् संख्यात वर्ष आयु वाले मनुष्य या तिर्यंच को उपर्युक्त कारणों में से एक या अधिक कारण मिल जायेंगे तो अकालमरण हो जायगा और यदि उपर्युक्त कारणों में से कोई भी कारण नहीं मिलेगा तो अकालमरण अर्थात् कदलीघात मरण नहीं होगा। कारण का कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है। कहा भी है—

"तत्कारणकत्वस्य तदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात् कुलालकारणस्य घटादेः कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धेः। सर्वत्र बाधकाभावात् तस्य तद्व्यापकत्वव्यवस्थानात्। यत्र यदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भस्तत्र न तन्निमित्तकत्वं दृष्टम्।" (आ० प० का० ९ टीका)

अर्थ—यह निश्चित है कि जो जिसका कारण होता है उसका उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है। जैसे कुम्हार से उत्पन्न होने वाले घट आदिक में कुम्हार का अन्वयव्यतिरेक स्पष्टतः प्रसिद्ध है। सब जगह बाधकों के अभाव से कारण की कार्य के अन्वय व्यतिरेक के साथ व्यापकत्व की व्यवस्था है। जिसका जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक का अभाव है वह उस जन्य नहीं होता है, ऐसा देखा जाता है।

"यस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्।" (ध० पु० १२ पृ० २८९)

अर्थ—जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नहीं होता वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है।

सर्वज्ञ वाणी के अनुसार श्री विद्यानन्दि स्वामी भी कहते हैं कि शस्त्र-परिहार आदि बहिरंग कारणों का अपमृत्यु के साथ अन्वय-व्यतिरेक है। (श्लोक पृ० ३४३)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब भी जिस जीव की अकाल मृत्यु होगी वह भी कुन्दकुन्द भगवान द्वारा कहे गये विषभक्षण आदि कारणों के द्वारा ही होगी, विषभक्षण आदि के अभाव में या अभाव कर देने पर अकालमृत्यु नहीं होगी।

अकालमरण की सिद्धि

शंका—श्री कुन्दकुन्द भगवान ने समयसार गाथा २४८-२५० में कहा कि कोई किसी की आयु नहीं हर सकता है और न बचा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अकालमरण एक कल्पना मात्र है?

समाधान—समयसार गाथा २४८-२५० बंध अधिकार की है, जिसमें अध्यवसान को बंध का कारण कहा है। उस अहंकार रूपी अध्यवसान को तथा द्वेष के छुड़ाने के लिए श्री कुन्दकुन्द भगवान ने गाथा २४९-२६९ तक ऐसा उपदेश दिया है। यदि श्री कुन्दकुन्द भगवान का सर्वथा यही आशय रहा होता तो वे भावपाहुड़ गाथा २५-२६ में शस्त्र-प्रहार आदि द्वारा आयु-क्षय का क्यों उपदेश देते, अथवा जीवदया का उपदेश भी क्यों देते? इस सम्बन्ध में विशेष विचार करने के लिये प्रथम श्री अकलंक देव के वाक्य उद्धृत किये जाते हैं, जो निम्न प्रकार है—

"अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेत; नः दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ॥ १० ॥ यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः। आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥ ११ ॥ यथा अष्टाङ्गायुर्वेदविद्भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात् प्राक् विरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति, अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम्। न चादोऽस्ति? अतः आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्युः।

दुःख-प्रतीकारार्थं इति चेत् न; उभयथा दर्शनात् ॥ १२ ॥ स्यान्मतम्-दुःखप्रतिकारोऽर्थ आयुर्वेदस्येति? तन्न; किं कारणम् उभयथा दर्शनात्।

स्व० पं० पन्नालालजी कृत अनुवाद वार्तिक १० का अर्थ—

'*प्रश्न—आयुबंध में जितनी स्थिति पड़ी है ताका अन्तिम समय आये बिना मरण की अनुपलब्धि है,* जातैं काल आये बिना तो मृत्यु होय नाहीं, तातैं आयु के अपवर्तना का कहना नाहीं संभवे है।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नाहीं है। जातैं आम्रफलादिक की ज्यों, अप्राप्तकाल वस्तु की उदीरणा करि परिणमन देखिये है। जैसे आम का फल पाल में दिये शीघ्र पके है, तैसे कारण के वशतैं जैसी स्थिति को लिये आयु बांध्याथा, ताकी उदीरणा करि अपवर्तन होय, पहले ही मरण हो जाय।

टीकार्थ—"जैसे आम के पकने का नियम रूप काल है, तातैं पहिले उपाय ज्ञान करि क्रिया का आरम्भ होते संते आम्र फलादिक के पकनो देखिये है। तैसे ही आयुबंध के अनुसार नियमित मरणकाल ते पहिले उदीरणा के बलते आयु कर्म का अपवर्त्तन कहिए घटना होय है।"

वार्तिक ११ का अर्थ—"बहुरि आयुर्वेद कहिये अष्टांग चिकित्सा कहिए रोग दूर करने में उपयोगी क्रिया ताका प्ररूपक वैद्यक शास्त्र ताकी सामर्थ्यतैं अर्थात् कथन तैं तथा अनुभवतैं आयु का अपवर्तन सिद्ध होय है।"

टीका अर्थ—जैसे अष्टांग आयुर्वेद कहिये वैद्यशास्त्र ताके जानने में चतुर वैद्यचिकित्सा में अतिनिपुण वायु आदि रोग का काल आए बिना ही पहिले वमन-विरेचन आदि प्रयोगकरि, उदीरणा को नहीं प्राप्त भये जे श्लेष्मादिक तिनका निराकरण करे हैं। बहुरि अकालमरण के प्रभाव के अर्थ रसायन के सेवन का उपदेश करे हैं, प्रयोग करे हैं ऐसा न होय तो वैद्यकशास्त्र के व्यर्थपना ठहरे। सो वैद्यकशास्त्र मिथ्या है नाहीं। वैद्यकशास्त्र के उपदेश की अकाल मृत्यु है ऐसा सिद्ध होय है।"

वार्तिक १२ का अर्थ—"प्रश्न—जो रोगते दुःख होय, तो दुःख को दूर करने के अर्थ वैद्यकशास्त्र का प्रयोग है अकाल मृत्यु के अर्थ नाहीं ?

उत्तर—ऐसे कहना ठीक नाहीं है, जातैं वैद्यक-शास्त्र का प्रयोग दोऊ प्रकार करि देखिए है। ताते दुःख होय ताका भी प्रतिकार है बहुरि अकाल मरण का भी प्रतिकार है।"

टीकार्थ—"प्रश्न—दुःख के दूर करने अर्थ वैद्यक का प्रयोग है ?

उत्तर—ऐसा नाहीं, जाते दोय प्रकार करि प्रयोग देखिए है। तहाँ वेदना जनित दुःख होय ताके दूर करने अर्थ भी चिकित्सा देखिए है और वेदना के अनुदय में भी अकालमृत्यु के दूर करने अर्थ चिकित्सा देखिये है। तातैं अपमृत्यु सिद्ध होय है।"

श्री भास्करनन्दि आचार्य भी सुखबोध टीका में कहते हैं—"विषशस्त्रवेदनादिबाह्यविशेषनिमित्तविशेषेणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते इत्यपवर्त्यं।" अर्थात् विष, शस्त्र, वेदनादि बाह्य विशेष निमित्तों से आयु का ह्रस्व (कम) करना अपवर्त्य आयु है। बाह्य निमित्तों से भुज्यमान आयु की स्थिति कम हो जाती है, यह इसका अभिप्राय है।

श्री विद्यानंदि आचार्य भी कहते हैं—"न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात्।" अर्थात्–अप्राप्त काल अर्थात् जिसका मरणकाल नहीं आया ऐसे जीव के भी मरण का अभाव नहीं है, क्योंकि खड्गप्रहार आदि से मरण देखा जाता है।

सर्वज्ञ के उपदेश अनुसार लिखे गये इन आर्षवाक्यों का यह अभिप्राय है कि जिन कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यंचों का मरणकाल नहीं आया है वे जीव भी खड्गप्रहार आदि के द्वारा मरण को प्राप्त होते हुए देखे जाते हैं, क्योंकि बाह्य निमित्तों से उनकी आयु-स्थिति कम हो जाती है।

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे जीवों के द्वारा भी आयु-स्थिति कम होकर मरण हो जाता है। अतः समयसार गाथा नं० २४८-२५० के कथन का एकान्त नियम नहीं है। यदि सर्वथा ऐसा मान लिया जाय कि एक दूसरे की आयु को नहीं हर सकता तो उपर्युक्त सर्वज्ञवाणी से विरोध आता है, तथा हिंसा का अभाव हो जाता है और हिंसा के अभाव से बंध मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जाता है। बंध मोक्ष के अभाव में धर्मोपदेश निरर्थक हो जाता है (समयसार गाथा ४६ टीका) किंतु बंध मोक्ष का अभाव है नहीं, अतः एक जीव के द्वारा दूसरे जीव का घात होता है यह आगम, युक्ति तथा प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अतः अकाल मृत्यु नहीं है, ऐसा एकान्त नहीं है।

यदि सर्वथा अकाल मरण न माना जावे तो सिंह, सर्प आदि, शस्त्र–प्रहार आदि से रक्षा का उपाय कौन करता ? किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव भी इनसे बचने का उपाय करते हुए देखे जाते हैं। सर्प के काट लेने पर उसके विष को दूर करने का उपाय किया जाता है तथा विषभक्षण कर लेने पर वमन आदि करा कर मरण से बचाया जाता है। शस्त्रप्रहार से बचने के लिये श्री अकलंक और निकलंक दोनों भाई विद्यालय से भाग निकले थे, इसपर भी श्री निकलंक का मरण शस्त्रप्रहार द्वारा हुआ और श्री अकलंक छिपकर बच गये।

यदि सर्वथा अकालमरण न माना जावे तो जीवदया का उपदेश निरर्थक हो जायगा। श्री श्रुतसागरसूरि ने तत्त्वार्थवृत्ति में कहा है—"अन्यथा दयाधर्मोपदेशचिकित्साशास्त्रं च व्यर्थं स्यात्।" अर्थ—अकाल मरण को न मानने से दयाधर्म का उपदेश और चिकित्साशास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि अकाल मरण न माना जावे तो चिकित्सा शास्त्र में अकालमरण के प्रतिकार का जो प्रयोग लिखा है वह व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि जब अकालमरण ही नहीं तो प्रतीकार किसका किया जावे ? दया धर्म का उपदेश भी व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि जब दूसरे के द्वारा कोई जीव मारा या बचाया नहीं जा सकता तो दया कैसे की जा सकती है ? किन्तु श्री कुन्दकुन्द भगवान ने दया का उपदेश स्वयं दिया है जो निम्न प्रकार है—

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ॥ १३१ ॥ भावपाहुड़

अर्थ—हे मुनिवर ! तू मन वचन काय के योगनिकरि छह काय के जीवनि की दया कर, बहुरि छह अनायतन कूं परिहर-छोड़ि।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥ २५ ॥ बोधपाहुड़

अर्थात्—धर्म वही है जो दया करि विशुद्ध है। प्रव्रज्या (दीक्षा) वही है जो परिग्रह रहित है, देव वही है जिसके मोह नष्ट हो गया है। ये तीनों भव्य जीवों के कल्याण करने वाले हैं।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥ १८ ॥ शीलपाहुड़

अर्थ—जीवदया, इंद्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन ज्ञान तप ये सर्व शील (स्वभाव) के परिवार हैं।

इन उपर्युक्त गाथाओं से तथा भावपाहुड़ की गाथा २५-२६ से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री कुन्दकुन्द भगवान को स्वयं दूसरों द्वारा आयु का हरा जाना तथा दूसरों के द्वारा मरण से रक्षा किया जाना इष्ट था। अतः समयसार २४७-२६८ के अभिप्राय को प्रकरण अनुसार समझ कर एकान्त पक्ष का आग्रह नहीं करना चाहिये। समयसार, भाव पाहुड़, बोधपाहुड़, शील पाहुड़ आदि में जो श्री कुन्दकुन्द भगवान के वाक्य हैं वे सर्व ही माननीय हैं। जो मात्र समयसार की कुछ गाथाओं को मानते हैं और श्री कुन्दकुन्द के भी अन्य वाक्यों को नहीं मानते वे सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते।

प्रश्न—क्या अकालमरण टल भी सकता है ?

उत्तर—अकाल मरण के कारणों से बचना अथवा अकाल मरण के कारणों के मिल जाने पर उनके प्रतिकार के द्वारा अकाल मरण टल जाता है। जैसे सर्प आदि से दूर हट जाना जिससे वह काट ही न सके अथवा सर्प आदि के काट लेने पर विष के प्रतिकार द्वारा अकालमरण टल भी जाता है।

श्री सर्वज्ञदेव के उपदेशानुसार श्री विद्यानन्दि महानाचार्य ने श्लोकवार्तिक भाग ५ पृ० २६८ में इस प्रकार कहा है—

तदभावे पुनरायुर्वेदप्रामाण्यचिकित्सितादिनां क्व सामर्थ्योपयोगः दुःखप्रतीकारादाविति चेत् तथैवापमृत्यु-प्रतीकारादौ तदुपयोगोऽस्तु तस्योभयथा दर्शनात्। न चायुःक्षयनिमित्तोपमृत्युः कथं केनचित्प्रतिक्रियतां ? सत्यम्-

सद्वेद्योदयेंतरङ्गे हेतौ दुःखं बहिरंगे वातादिविकारे तत्प्रतिपक्षौषधोपयोगोपनीतेदुःखस्यानुत्पत्तेः प्रतीकारः स्यादिति चेत्, तर्हि सत्यपि कस्यचिदायुरुदयेंतरंगे हेतौ बहिरंगे पथ्याहारादौ विच्छिन्ने जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधानमेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः।

अर्थ—अकालमृत्यु के अभाव में आयुर्वेद की प्रमाणभूत चिकित्सा तथा शल्य चिकित्सा (आपरेशन) आदिक की सामर्थ्य का प्रयोग किस पर किया जावेगा ? क्योंकि चिकित्सा आदि का प्रयोग अकालमृत्यु के प्रतीकार के लिये किया जाता है।

शंका—चिकित्सा आदि का प्रयोग दुःख के प्रतिकार के लिये किया जाता है। अतः चिकित्सा की सामर्थ्य के प्रयोग के अभाव का प्रसंग नहीं आता।

समाधान—जिस प्रकार चिकित्सा आदि के प्रयोग से दुःख की निवृत्ति होती है उसी प्रकार चिकित्सादि की सामर्थ्य के प्रयोग से अकालमृत्यु की निवृत्ति भी होती है, क्योंकि दोनों (दुःख–अपमृत्यु) के प्रतिकार के लिये चिकित्सा का प्रयोग देखा जाता है।

शंका—आयुक्षय के निमित्त से अकालमरण होता है। ऐसे अकालमरण का निराकरण नहीं किया जा सकता।

प्रतिशंका—असाता वेदनीय कर्मोदय के निमित्त से दुःख होता है। ऐसे दुःख का भी निराकरण कैसे और किसके द्वारा किया जा सकता है ?

प्रतिशंका का समाधान—असाता का उदय रूप अंतरंग कारण होते हुए भी वातादि का विकार रूप बहिरंग कारण होने पर दुःख होता है। उस बहिरंग कारण के प्रतिपक्षभूत औषध का प्रयोग करने पर दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। यही उसका इलाज है।

शंका का समाधान—यदि आप ऐसा मानते हो तो किसी के आयु का उदय अन्तरंग कारण होने पर भी किन्तु पथ्य आहार आदि के विच्छेद रूप बहिरंग कारण मिल जाने से जीवन के अभाव का प्रसंग आ जाता है। ऐसा प्रसंग आने पर जीवन की रक्षा करने के लिए जीवन के आधारभूत आहारादिक अकालमृत्यु के प्रतीकार हैं।

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—(१) बहिरंग कारणों से अकाल मरण होता है। (२) बहिरंग कारणों के प्रतीकार से अकाल मरण टल जाता है।

अकालमरण का अनियत काल

प्रश्न—अकालमरण का काल व्यवस्थित है, क्योंकि जिस समय जिसका मरण सर्वज्ञ ने देखा है उसी समय उसका मरण होगा जैसाकि स्वामी कार्तिकेय ने गाथा ३२१–३२२ में कहा है। अतः बाह्य कारणों से न तो अकालमरण हो सकता है और बाह्य कारणों के प्रतिकार से अकालमरण टल भी नहीं सकता। व्यवहार से जिसको अकालमरण कहा जाता है निश्चय नय से वह भी कालमरण ही है, क्योंकि प्रत्येक जीव का मरण व्यवस्थित है।

उत्तर—जिन जीवों का मरण, शस्त्र-प्रहार आदि बाह्य कारणों के बिना होता है उनका मरण-काल व्यवस्थित है किन्तु शस्त्रप्रहार आदि बाह्य कारणों से जिनका मरण होता है उनका अपमृत्यु काल उत्पन्न होता है। सर्वज्ञदेव ने भी 'काल नय' और 'अकाल नय' इस प्रकार परस्पर विरोधी दो नय कहे हैं। यदि सर्वज्ञदेव इन दोनों मे से एक ही नय को कहते तो एकांत मिथ्यात्व का दूषण आ जाता। काल नय, अकाल नय का स्वरूप सर्वज्ञदेव ने इस प्रकार कहा है—

'कालनयेन निदाघदिवसानुसारि पच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः, अकालनयेन कृत्रिमोष्मपच्यमान-सहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः।' (प्रवचनसार)

अर्थ—काल नय से कार्य की सिद्धि (कार्य का होना) समय के आधीन होती है। जैसे आम्रफल गर्मी के दिनों में पकता है। अर्थात् काल नय से कार्य अपने व्यवस्थित समय पर होता है। अथवा काल के अनुसार होता है।

अकाल नय से कार्य की सिद्धि समय के आधीन नहीं होती है। जैसे आम्रफल कृत्रिम गर्मी से पका लिया जाता है। अर्थात् अकाल नय से कार्य होने का काल व्यवस्थित नहीं है। जैसे आम्रफल के पकने का काल कृत्रिम गर्मी के द्वारा उत्पन्न कर लिया जाता है। यदि ऐसा माना जावे कि सर्व ही कार्य काल के अनुसार होते हैं तो अकाल नय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा। किन्तु सर्वज्ञ के वाक्य व्यर्थ नहीं होते। अतः सर्व ही कार्य काल के अनुसार होते हैं, ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

काल और अकालनयों की दृष्टि से भी सर्वज्ञदेव ने इस प्रकार उपदेश दिया है—न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात्। प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमितिचेत् कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, द्वितीयपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंगः। सकल बहिःकारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकालव्यवस्थितेः। शस्त्रसंपातादिबहिरंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्तेः। (श्लोकवार्तिक)

अर्थ—जिनके मरणकाल प्राप्त नहीं हुआ उनके मरणकाल का अभाव है अर्थात् उनका मरण नहीं होता, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि खड्गप्रहार आदि के द्वारा, मरणकाल प्राप्त न होने पर भी, मरण प्रत्यक्ष देखा जाता है।

शंका—जिसका मरणकाल आ गया है उसी का मरण देखा जाता है।

प्रतिशंका—मरणकाल से क्या प्रयोजन है ? जिसकी आयु पूर्ण हो गई अर्थात् जिसके आयु कर्म की स्थिति पूर्ण हो गई उसके मरणकाल से प्रयोजन है या अपमृत्युकाल अर्थात् जिसके आयुकर्म की स्थिति पूर्ण नहीं हुई है उसके मरणकाल से प्रयोजन है ?

शंका का समाधान—प्रथम पक्ष में सिद्धसाध्यता दोष आता है, क्योंकि आयु पूर्ण होने पर कालमरण होता है, यह तो इष्ट है, इसके सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। द्वितीय पक्ष में खड्गप्रहार आदि की निरपेक्षता का प्रसंग आ जायगा। जिसका मृत्युकारण सम्पूर्ण विशेष बाह्य कारणों से निरपेक्ष है उसका मृत्युकाल व्यवस्थित (निश्चित) है। शस्त्रप्रहार आदि का अपमृत्यु के साथ अन्वय व्यतिरेक का विधान होने से अपमृत्यु-काल उत्पन्न होता है।

यहाँ पर 'व्यवस्थितेः' और 'उपपत्तेः' ये दोनों शब्द ध्यान देने योग्य हैं। कालमरण में मरण काल व्यवस्थित (निश्चित) है किन्तु अकालमरण में बाह्य विशेष कारणों से मरणकाल उत्पन्न होता है। अन्यथा अकालमरण (अपमृत्यु) के अभाव का प्रसंग आ जायगा। यदि ऐसे अकालमरण का अभाव माना जावे तो आयुर्वेद की प्रमाणभूत चिकित्सा तथा शल्य आदि (ऑपरेशन आदि) की सामर्थ्य का उपयोग कैसे होगा ? क्योंकि उस चिकित्सा की सामर्थ्य का उपयोग तो अकालमरण के प्रतिकार में होता है। 'तदभावे पुनरायुर्वेदप्रामाण्यचिकित्सितादीनां च क्व सामर्थ्योपयोगः।'

जब अकालमरण का प्रतिकार भी हो सकता है तो इससे भी सिद्ध है कि अकालमरण का काल व्यवस्थित नहीं है।

कुछ एकान्तविमूढ़ अकालमरण के मानने पर यह आपत्ति उठाते हैं कि यदि अकालमरण माना जावेगा तो अकालजन्म भी मानना होगा और अकालजन्म के मानने पर करणानुयोग की यह व्यवस्था कि मरण से अधिक से अधिक तीन समय पश्चात् जीव जन्म ले लेता है, गड़बड़ा जाएगी। इस प्रकार की आपत्ति उठाने में दो ही कारण हो सकते हैं। या तो उन्होंने करणानुयोग के रहस्य को समझा ही नहीं या उनको किसी प्रकार का लालच है। इसलिये वे सर्वज्ञ वाक्यों पर आपत्ति उठाते हैं।

अकालमरण का उपर्युक्त वर्णन स्वयं सर्वज्ञदेव ने किया है। जिनको सर्वज्ञ—वाक्यों पर श्रद्धा नहीं है वे सम्यग्दृष्टि भी नहीं हैं।

'विषशस्त्रवेदनादिबाह्यनिमित्तविशेषेणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियत इत्यपवर्त्यं अपवर्तनायमित्यर्थः।

(सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ४५)

अर्थात्—विषभक्षण, शस्त्रप्रहार, वेदना आदि विशेष बाह्य कारणों से जिनकी आयु का ह्रास (कम) हो सकता हो उनकी आयु अपवर्तनीय है।

भावपाहुड़ में भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि विषभक्षण से, वेदना की पीड़ा से, रक्तक्षय से, भय से, शस्त्र घात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से, इन कारणों से आयु का क्षय अर्थात् आयु कम होती है।

भुज्यमान आयु की स्थिति के ह्रास होने को अकाल-मरण या अपमृत्यु कहते हैं। भुज्यमान आयुस्थिति के ह्रास हो जाने के पश्चात् और मरण से अन्तर्मुहूर्त (असंक्षेपाद्धा) काल से पूर्व परभव आयु का बन्ध होने पर ही मरण होता है। परभव की आयु का बन्ध हुए बिना किसी भी जीव का मरण नहीं होता। कालमरण वाले भी जिनके पूर्व में आयु का बन्ध नहीं हुआ, वे भी मरण से अन्तर्मुहूर्त काल (असंक्षेपाद्धा) पूर्व ही परभव आयु का बन्ध करते हैं। आयु का जघन्य आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त काल अर्थात् असंक्षेपाद्धा होता है (धवल पु० ६ पृ० १९३–१९४)। अतः अकाल जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अकाल जन्म का प्रश्न तो तब उठ सकता है जब परभव की आयु बंध के बिना मरण हो जावे या आबाधाकाल से पूर्व मरण हो जावे, किन्तु दोनों बातें संभव नहीं हैं (धवल पु० १०) आयु कर्म का जघन्य आबाधाकाल असंक्षेपाद्धा है अर्थात् अबाधाकाल इतना जघन्य है कि जिसका संक्षेप अर्थात् ह्रास नहीं हो सकता है।

मरण और जीवन पर्यायाश्रित हैं (समयसार गाथा ५६ टीका) अतः निश्चय से न कालमरण है और न अकाल मरण है। पर्यायाश्रित व्यवहार नय से ही काल और अकाल दोनों मरण हैं। समयसार गाथा ६ में भी कहा है कि निश्चयनय से जीव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, क्योंकि ये दोनों अवस्था पर्यायाश्रित हैं, अतः काल या अकालमरण निश्चयनय का विषय नहीं है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२ पर विचार

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥३२१॥

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥३२२॥

अर्थ—जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियत रूप से जाना है, उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से होने वाले उस जीवन या मरण को इन्द्र या जिनेन्द्र कौन टाल सकता है ?

अब प्रश्न यह होता है कि इन दो गाथाओं द्वारा स्वामी कार्तिकेय का 'अनियति निरपेक्ष' एकान्त नियति सिद्धान्त के उपदेश देने का अभिप्राय रहा है या अन्य कुछ अभिप्राय रहा है ?

जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अनेकान्त है। इसीलिए सर्वज्ञदेव ने नियति नय और अनियति नय इन दो परस्पर विरोधी नयों का उपदेश दिया है (प्रवचनसार) श्री सर्वज्ञदेव ने यह भी कहा है कि जो मात्र नियति नय को मानता है वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है अर्थात् गृहीत मिथ्यादृष्टि है। भगवान महावीर की दिव्यध्वनि के अनुसार गौतम गणधर ने द्वादशांग रूपी श्रुत की रचना की, जिसके दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग में परमतों (मिथ्या मान्यताओं) का कथन है, उसमें नियतिवाद परमत का भी कथन है। कहा भी है:—

सुत्तं अट्ठासीदि लक्खपदेहि ८८००००० अबंधओ अवलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो णिच्चो अणिच्चो अप्पेति वण्णेदि। तेरासियं णियदिवादं विण्णाणवादं सद्दवादं पहाणवादं दव्ववादं पुरिसवादं च वण्णेदि।

(धवल पु० १ पृ० ११०-१११)

अर्थ—दृष्टिवाद अङ्ग का सूत्र नामक अर्थाधिकार अठासी लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, सर्वगत ही है, अणु प्रमाण ही है, जीव नास्तिस्वरूप ही है, जीव अस्ति स्वरूप ही है। पृथ्वी आदि पांच भूतों के समुदाय रूपसे जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है। नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से परमतों का कथन करता है। इसमें त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद, परमतों का भी वर्णन है। अर्थात् दृष्टिवाद अङ्ग के सूत्र अधिकार में 'नियतिवाद' की पर मतों में गणना की है।

दृष्टिवाद अंग में गौतम गणधर ने जिस नियतिवाद को एकांत मिथ्यात्व अर्थात् गृहीत मिथ्यात्व कहा है उस नियतिवाद का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है—

"यद्भवति तद्भवति, यथा भवति तथा भवति, येन भवति तेन भवति, यदा भवति तदा भवति, यस्य भवति तस्य भवति, इति नियतिवादः।" (पंचसंग्रह पृ० ५४७)

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत्,
तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
स्फुटं नियत्येह नियन्त्रमाणं,
परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥३१२॥ (श्री अमितगतिः पंचसंग्रह)

जत्तु जदा जेण जहा, जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे, इदि वादो णियदिवादो दु ॥ ८८२ ॥ (गो० क०)

जो होना होता है वही होता है। जैसा होना है वैसा ही होता है। जिसके द्वारा होना है उसी के द्वारा होता है। जब होना है तब ही होता है, यह नियतिवाद है।

जब जैसे जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है तभी तैसे ही वहाँ ही उसी हेतु से उसी के द्वारा वह होता है। यह सर्व नियति के आधीन है। दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता है। अर्थात् यह सर्व क्रमबद्ध पर्याय के आधीन है। दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता।

जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है, वह उस समय उससे वैसे ही उसके ही होता है, ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते हैं।

श्री सर्वज्ञदेव ने जिस नियतिवाद को स्पष्ट रूप से परमत अर्थात् एकांत मिथ्यात्व कहा है उस एकांत नियतिवाद का पोषण स्वामी कार्तिकेय के द्वारा होना असम्भव है, क्योंकि स्वामी कार्तिकेय महानाचार्य थे, उनको सर्वज्ञवाक्य पर पूर्ण श्रद्धा थी, वे युक्ति के बल पर भी सर्वज्ञवाक्य के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं लिख सकते थे। स्वामी कार्तिकेय ने निम्नलिखित गाथाओं द्वारा अनेकान्त का कथन किया है—

संति अणंताणंता तीसु वि कालेसु सव्व दव्वाणि।
सव्वं पि अणेयंतं तत्तो भणिदं जिणेंदेहिं ॥ २२४ ॥

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहु-धम्म-जुदं अत्थं कज्ज-करं दीसदे लोए ॥ २२५ ॥

सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि।
तं सुयणाणं भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं ॥ २६२ ॥

णाणा धम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेयविवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ॥ २६४ ॥

जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।
लोयाण पण्ह-वसदो ववहार-पवत्तणट्ठं च ॥ ३११ ॥

जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णव-विहं अत्थं।
सुदणाणेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥ ३१२ ॥

अर्थ—सब द्रव्य तीनों ही काल में अनन्तानन्त हैं। अतः जिनेन्द्र ने सभी को अनेकान्तात्मक कहा है ॥२२४।

जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही नियम से कार्यकारी है, क्योंकि लोक में बहुत धर्मयुक्त अर्थ ही कार्यकारी देखा जाता है ॥२२५॥

जो परोक्ष रूप से सर्व को अनेकान्त रूप दर्शाता है और संशय आदि से रहित है उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं ॥२६२॥

यद्यपि अर्थ नाना धर्मों मे युक्त है तथापि नय एक धर्म को कहता है, क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा है, शेष विवक्षा नहीं है ॥२६४॥

लोगों के प्रश्नों के वश से तथा व्यवहार को चलाने के लिये सप्त भंगी के द्वारा जो नियम से अनेकान्तात्मक (जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष) इन सात तत्त्वों का श्रद्धान करता है तथा जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य और पाप इन नौ पदार्थों को श्रुतज्ञान और नयों के द्वारा आदरपूर्वक मानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥३११-३१२॥

इन गाथाओं से स्पष्ट है कि श्री १०८ स्वामी कार्तिकेय को अनेकान्त का सिद्धान्त इष्ट था। इसलिये उन्होंने यह कहा कि जो नियम से, जीव अजीव द्रव्य और आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पर्याय, इन सात तत्त्वों का श्रुतज्ञान और नयों के द्वारा अनेकान्त रूप से श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। यहाँ पर एकांत नियतिवाद के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन नहीं कहा है किन्तु श्रुतज्ञान के अंश रूप नियतिनय अनियतिनय कालनय, अकालनय आदि नयों के द्वारा अनेकान्त रूप से तत्त्व और अर्थ के श्रद्धान को शुद्ध सम्यग्दर्शन कहा है। गाथा ३१२ में 'सुदणाणेण' अर्थात् श्रुतज्ञान शब्द से यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो भी सर्वज्ञ ने द्रव्य श्रुतरूप कहा है उसके ज्ञान से जो तत्त्वों का श्रद्धान होगा वह शुद्ध सम्यग्दर्शन है अर्थात् जो सर्वज्ञ ने कहा है वह सत्य है, इस श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

जो ण विजाणदि तच्चं, सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं।
जं जिणवरभणियं तं, सव्वमहं सम्ममिच्छामि ॥३२४॥

अर्थ—जो तत्त्वों को नहीं जानता किन्तु जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर श्रद्धा करता है और जो जिनेन्द्र भगवान ने कहा है उसको मानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

गाथा ३११-३१२ और ३२४ में यह क्यों नहीं कहा कि जो सर्वज्ञ ने देखा है उसकी जो श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि है ?

श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने भी समयसार प्रथम गाथा में यह प्रतिज्ञा की है कि केवली (सर्वज्ञ) और श्रुतकेवली (पूर्ण द्रव्यश्रुत के ज्ञाता) ने जो कहा है वही मैं कहूँगा। यह प्रतिज्ञा क्यों नहीं की कि सर्वज्ञ ने जो देखा है वह मैं कहूँगा ! समयसार की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुड, मिणमो सुयकेवली भणियं ॥१॥

जिन स्वामी कार्तिकेय ने तत्त्वों की अनेकान्तरूप से श्रद्धा तथा सर्वज्ञ वाक्यों की श्रद्धा को शुद्ध सम्यग्दर्शन कहा है क्या वे ही स्वामी कार्तिकेय गाथा नं० ३२१–३२३ द्वारा सर्वज्ञ के ज्ञान के आधार पर एकान्त नियतिवाद को मानने वाला सम्यग्दृष्टि है ऐसा कहते ? अर्थात् एकान्त की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन नहीं कह सकते थे। अतः इन तीन गाथाओं के यथार्थ अभिप्राय को समझने के लिये यह देखना होगा कि ये तीन गाथा ३२१-३२३ किस प्रकरण में आई हैं।

गाथा ३२१–३२३ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की हैं। इस ग्रन्थ में द्वादश अनुप्रेक्षा का कथन है। प्रथम अनुप्रेक्षा 'अनित्य' है जिसका कथन २० गाथाओं द्वारा किया गया है। वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये इस अनित्य अनुप्रेक्षा में धन–यौवन–स्त्री–पुत्र आदि सब पदार्थों को अनित्य दिखलाया है। यदि कोई प्रकरण को न समझकर अनित्य के इस उपदेश द्वारा पदार्थों को सर्वदा क्षणिक मानकर एकान्त क्षणिकवादी मिथ्यादृष्टि बन जावे तो इसमें स्वयं उसी का दोष है, क्योंकि उसने प्रकरण के अनुसार अनित्य भावना की २० गाथाओं के यथार्थ अभिप्राय को नहीं समझा। पदार्थ तो नित्या–नित्यात्मक अनेकान्त रूप है। अनित्य भावना का उपदेश देने में स्वामी कार्तिकेय का यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता था कि पदार्थ अनित्य ही है। वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये 'अनित्यता' की मुख्यता से अनित्य अनुप्रेक्षा में कथन किया गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पदार्थ सर्वथा अनित्य है। इसी प्रकार अन्य अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) के सम्बन्ध में जान लेना चाहिये।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में इन बारह भावनाओं में अन्तिम भावना धर्मानुप्रेक्षा है। इसके प्रारम्भ में गाथा ३०२ व ३०३ के द्वारा सर्वज्ञ का कथन किया गया है, क्योंकि सर्वज्ञ के द्वारा ही धर्मोपदेश दिया गया है। गाथा ३०४ में सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार का धर्म बतलाया गया, जिस सागार धर्म के बारह और अनगार के दस भेद कहे हैं। गाथा ३०५–३०६ में सागार के बारह भेदों का नामोल्लेख किया गया है। इन बारह भेदों में प्रथम भेद शुद्ध सम्यग्दृष्टि है जिसका कथन गाथा ३०७–३२७ में किया गया है।

गाथा ३०७ में सम्यग्दर्शन के स्वामित्व का कथन है। गाथा ३०८ व ३०९ में बतलाया है कि कर्म के उपशम क्षय तथा क्षयोपशम से औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। गाथा ३१० में यह कथन है कि यह जीव असंख्य बार सम्यग्दर्शन, देशव्रत को ग्रहण करके छोड़ देता है।

गाथा ३११–३१२ जो पूर्व में उद्धृत की जा चुकी है, में यह स्पष्ट कहा गया है कि श्रुतज्ञान तथा नयों के द्वारा जो अनेकान्तमयी जीव–अजीव द्रव्य, आस्रव–बंध–संवर–निर्जरा–मोक्ष–रूप पर्याय इन सात तत्त्वों का श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। इसके सामर्थ्य से यह भी विदित हो जाता है कि एकान्त नियतिवाद आदि की श्रद्धा करने वाला मिथ्यादृष्टि है।

गाथा ३१३–३१६ इन ४ गाथाओं में सम्यग्दृष्टि के भावों का कथन है कि वह मद नहीं करता, मोह-विलास को हेय मानता है, गुण ग्रहण करता है, विनय करता है, उसमें साधर्मि अनुराग होता है, देह से जीव को भिन्न जानता है।

गाथा ३१७ में कहा है कि जो दोष रहित देव को मानता है, सर्व जीवों की दया को उत्कृष्ट धर्म मानता है और निर्ग्रन्थ गुरु को मानता है वही निश्चय में सम्यग्दृष्टि है। गाथा ३१८ में बतलाया है जो दोष सहित देव को, जीव हिंसा आदि को धर्म तथा वस्त्र सहित को गुरु मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। अर्थात् कुदेव, कुधर्म और कुगुरु को मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

यदि कोई यह मानकर कि कुदेव आदि लक्ष्मी, पुत्र आदि देकर जीव का उपकार करते हैं, कुदेव आदि को मानने लगे तो ग्रहीत मिथ्यात्व छुड़ाने के लिये स्वामी कार्तिकेय कुदेवादि की पूजा के निषेध के लिये गाथा ३१९ के द्वारा इस प्रकार उपदेश देते हैं—

णय कोवि देवि लच्छी, ण कोवि जीवस्स कुणवि उवयारं ।
उवयारं अवयारं कम्मपि सुहासुहं कुणवि ॥ ३१९ ॥

अर्थ—न तो कोई जीव को लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है, किन्तु शुभ अशुभ कर्म जीव का उपकार और अपकार करता है।

इस गाथा ३१९ में जो यह सिद्धान्त बतलाया है कि एक जीव दूसरे जीव का उपकार या अपकार नहीं कर सकता है, वह मात्र कुदेवादि की पूजा के निषेध के लिये है, किन्तु इस सिद्धान्त को सर्वथा नहीं मानना चाहिये। श्री स्वामी कार्तिकेय ने स्वयं यह कथन किया है कि एक जीव दूसरे जीव का अपकार या उपकार करता है।

तिरिएहिं खज्जमाणो, दुट्ठ-मणुस्सेहिं हम्ममाणो वि ।
सव्वत्थवि संतट्ठो, भय-दुक्खं विसहदे भीमं ॥४१॥
अण्णोण्णं खज्जंता, तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं ।
माया वि जत्थ भक्खदि, अण्णो को तत्थ रक्खेदि ॥४२॥

अर्थ—एक तिर्यंच को अन्य तिर्यंच खा लेते हैं, दुष्ट मनुष्य उसे मार डालते हैं, अतः सब जगह से भयभीत हुआ प्राणी भयानक दुःख सहता है। तिर्यंच एक दूसरे को खा जाते हैं, अतः दारुण दुःख पाते हैं। जहाँ माता ही भक्षक हो वहाँ दूसरा कौन रक्षा कर सकता है?

गाथा ३१७ में 'जीवाण दयाअरं धम्मं' तथा गाथा ४७८ में 'जीवाणं रक्खणं धम्मो।' इन शब्दों द्वारा यह बतलाया गया है कि जीवों की दया अथवा रक्षा करना उत्कृष्ट धर्म है। जीवों की रक्षा करना ही तो उन जीवों का उपकार है।

श्री सर्वज्ञदेव ने भी उपदेश दिया है कि एक जीव दूसरे जीव का उपकार कर सकता है। उस सर्वज्ञ वाणी के अनुसार—परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥ (मो० शा० अ० ५) इस सूत्र की रचना हुई है। अर्थात् परस्पर सहायक होना यह जीवों का उपकार है। इस सूत्र की टीका में श्री श्रुतसागरजी आचार्य ने कहा है—

"यथा बापः पुत्रस्य पोषणादिकं करोति, पुत्रस्तु बप्तुरनु-कूलतया वेवाचनादिकं कारयन् श्रीखण्डघर्षणादिकं करोति। यथाचार्यः इहलोक-परलोकसौख्यदायकमुपदेशं दर्शयति तदुपदेशकृतक्रियानुष्ठानं कारयति, शिष्यस्तु गुर्वनुकूल्यवृत्त्या तत्पादमर्दननमस्कारविधानगुणस्तवनाभीष्टवस्तुसमर्पणादिकमुपकारः करोति। यदि राजा किङ्करेभ्यो धनादिकं ददाति, भृत्यास्तु स्वामिने हितं प्रतिपादयन्ति अहितप्रतिषेधं च कुर्वन्ति, स्वामिनं च पृष्ठतः कृत्वा स्वयमग्रे भूत्वा स्वामिशत्रुभञ्जनाय युध्यन्ते। यो जीवो यस्य जीवस्य सुखं करोति स जीवस्तं जीवं बहुवारान् जीवयति, यो मारयति स तं बहुवारान् मारयति।"

इस सूत्र की टीका का यह अभिप्राय है कि पिता पुत्र का और पुत्र पिता का, आचार्य शिष्य का और शिष्य आचार्य का, स्वामी सेवक का और सेवक स्वामी का उपकार करते हैं। जो जीव दूसरे को सुखी करता है, दु:खी करता है, जिवाता है या मारता है, वह जीव भी उस जीव को बहुत बार सुखी करता है, दु:खी करता है, जिवाता है या मारता है।

श्री पद्मपुराणादि प्रथमानुयोग में इसके अनेक दृष्टान्त हैं। यदि उनका उल्लेख किया जाय तो बहुत विस्तार हो जायगा। अतः प्रथमानुयोग के ग्रन्थों से देखने की कृपा करें। श्री सर्वज्ञदेव ने जीवों का उपकार करने की प्रेरणा की है।

रोगेण वा क्षुधाए, तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू, पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥२५२॥ (प्रवचनसार)

अर्थ—रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा श्रम से आक्रान्त (पीड़ित) श्रमण को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्यादि करो।

यद्यपि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३१९ में यह कहा है—एक जीव दूसरे जीव का उपकार या अपकार नहीं कर सकता तथापि अन्य ग्रन्थों में यह कहा है और यही बात श्री कुन्दकुन्द भगवान ने प्रवचनसार में और श्री उमास्वामी आचार्य ने मोक्षशास्त्र में कही है। इस प्रकार परस्पर विरोधी ये दो उपदेश पाये जाते हैं। इन दोनों उपदेशों में से यदि कोई जीव किसी एक का सर्वथा पक्ष ग्रहण करके दूसरे को न माने तो वह गृहीत एकान्त मिथ्यादृष्टि है और जो नयविवक्षा से दोनों उपदेशों को यथार्थ मानता है वह स्याद्वादी सम्यग्दृष्टि है।

यदि ऐसा एकान्त माना जावे कि एक जीव दूसरे जीव का उपकार या अपकार नहीं कर सकता तो जीवदया रूपी धर्म तथा द्रव्य-हिंसा के अभाव का प्रसंग आ जाएगा और इनके अभाव से बंध और मोक्ष का अभाव हो जाएगा। द्रव्यहिंसा न होती हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि समयसार गाथा २८३–२८५ में अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमण द्रव्य और भाव से (द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा) दो प्रकार का कहा गया है।

स्थितिकरण अंग का वर्णन करते हुए श्री स्वामी कार्तिकेय धर्म में स्थापना के द्वारा दूसरे के उपकार का उपदेश देते हैं।

धम्मादो चलमाणं, जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि।
अप्पाणं पि सुदिढयदि, ठिदिकरणं होदि तस्सेव ॥४२०॥

अर्थ—धर्म से चलायमान अन्य जीव को जो धर्म में स्थिर करता है तथा अपने को भी धर्म में दृढ़ करता है उसके स्थितिकरण गुण होता है।

यदि कोई जीव गाथा ३१९ के कथन के अनुसार यह विचार कर कि कोई जीव दूसरे जीव का उपकार नहीं कर सकता, दूसरे जीव का स्थितिकरण न करे तो क्या वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है? इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की अनेकान्त दृष्टि होती है। वह किसी अपेक्षा से गाथा ३१९–३२२ के कथन को भी सत्य मानता है और किसी अपेक्षा से इनके प्रतिपक्षी कथन को भी सत्य मानता है।

व्यन्तर देवी-देवता को वीतराग सर्वज्ञदेव मानकर नहीं पूजना चाहिये, अथवा वीतराग सर्वज्ञदेव की पूजा के समान व्यन्तर देवी-देवता की पूजा नहीं करनी चाहिये। इस भाव को दृढ़ करने के लिये सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मेरी भवितव्यता को व्यन्तरदेव तो टाल ही नहीं सकते, किन्तु इन्द्र और जिनेन्द्र भी टालने में असमर्थ हैं। जिस लक्ष्मी आदि को व्यन्तर देवादिक नहीं दे सकते उस लक्ष्मी को मैं अपने धर्मपुरुषार्थ द्वारा अवश्य प्राप्त कर सकता हूँ। सम्यग्दृष्टि के इन विचारों का विवेचन स्वामी कार्तिकेय की गाथा ३२०–३२१–३२२ में है—

भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि देवि जवि लच्छी।
तो किं धम्मे कीरवि, एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥ ३२० ॥
जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णावं जिणेण णियवं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥३२२॥

व्यन्तर आदि की पूजा के निषेध को दृढ़ करने के लिये सम्यग्दृष्टि जो विचार करता है उन विचारों का कथन इन उपर्युक्त तीन गाथाओं में है, जैसा कि 'एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी' गाथा ३२० के इन शब्दों से स्पष्ट होता है।

सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि व्यन्तर आदि की पूजा या भक्ति करने से क्या लाभ, क्योंकि वे प्रसन्न होकर मुझको लक्ष्मी आदि इष्ट पदार्थ नहीं दे सकते। यदि व्यन्तर आदि इष्ट या अनिष्ट कर सकते होते तो धर्म करने की क्या आवश्यकता थी! व्यन्तर आदि न मुझको मार सकते हैं और न जीवित कर सकते हैं। जिस समय मेरा जन्म या मरण, सुख दुःख होना होगा उसी समय होगा, उसको टालने में व्यन्तरदेव तो क्या, इन्द्र या जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं। वह सम्यग्दृष्टि अपने विचारों को दृढ़तम बनाने के लिये यह युक्ति भी देता है कि जैसा सर्वज्ञ ने जाना है वैसा ही होगा। सर्वज्ञज्ञान के विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता।

विचारणीय बात यह है कि ये गाथाएँ व्यन्तर देव की पूजा के निषेध को दृढ़ करने के लिये हैं या एकान्त नियतिवाद सिद्धान्त का उपदेश देने के लिए हैं?

यदि प्रकरण के अनुसार विचार किया जायगा तो यही कहना होगा कि इन गाथाओं का अभिप्राय मात्र व्यन्तरदेव आदि की पूजा का निषेध करना है, क्योंकि ३१८ में दोषसहित देव के मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है और गाथा ३१९ में कहा है कि व्यन्तर देवादि किसी जीव का उपकार या अपकार नहीं कर सकते और गाथा ३२० में भी व्यन्तरादि देवों की पूजा का निषेध है।

यदि यह कहा जाय कि गाथा ३२१ व ३२२ में एकान्त नियति का उपदेश है तो उसमें अनेक दूषण आते हैं। जैसे—

१—गाथा ३११–३१२ में तत्त्वों (द्रव्य, पर्यायों) का जो अनेकान्तरूप से श्रद्धान है उसको सम्यग्दर्शन कहा है। इन गाथाओं के विपरीत गाथा ३२१ व ३२२ में एकान्त नियति की श्रद्धा को यदि सम्यग्दर्शन कहा जायगा तो पूर्वापर विरोध का दोष आ जायगा।

२—द्वादशांग के बारहवें अंग दृष्टिवाद में श्री गौतमगणधर ने कहा कि जो यह मानता है कि 'जब, जैसे, जहाँ, जिस हेतु से, जिसके द्वारा जो होना है, तभी तैसे ही, वहाँ ही, उसी हेतु से, उसी के द्वारा वह होता है,

यह सब नियत है, दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता।' वह नियतिवादी पर मत अर्थात् गृहीत मिथ्यादृष्टि है। अतः द्वादशांग रूप सर्वज्ञवाणी से विरोध का दूषण आ जायगा।

३—सर्वज्ञदेव ने अकालमरण का कथन करते हुए यह कहा है कि अपमृत्यु का समय नियत नहीं है, जैसा कि पहले आर्ष ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध किया जा चुका है। यदि सब जीवों के मरण का काल नियत माना जाएगा तो सर्वज्ञदेव के अकालमरण के कथन से विरोध का दूषण आ जाएगा।

४—सर्वथा नियति मानने से लक्ष्मी तो अपने नियत काल और नियत कारणों से मिलेगी, किन्तु गाथा ३२० में धर्म पुरुषार्थ से लक्ष्मी मिलती है ऐसा कहा गया है। इन दोनों उपदेशों में परस्पर विरोध का दूषण आ जाएगा।

५—सर्वज्ञदेव ने नियतिनय-अनियतिनय, कालनय-अकालनय इस प्रकार परस्पर विरोधी नयों का उपदेश दिया है। सर्वथा नियति मानने से सर्वज्ञदेव के इस उपदेश से विरोध का दूषण आ जाएगा।

६—सर्वज्ञदेव ने क्रम और अक्रम (नियति और अनियति) पर्यायों का कथन किया है और पर्यायों को इसी रूप से देखा है। क्योंकि जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं होते। यदि पर्यायों को सर्वथा नियत (क्रमबद्ध) माना जाय तो सर्वज्ञ के ज्ञान और सर्वज्ञ की वाणी दोनों से विरोध का प्रसंग आ जायगा।

७—श्री सर्वज्ञदेव ने अनेकान्त रूपी मूल सिद्धांत का उपदेश अपनी दिव्यध्वनि द्वारा दिया है। यदि सर्वथा नियति को माना जावे तो सर्वज्ञकथित अनेकान्त से विरोध आता है।

८—श्री सर्वज्ञदेव ने 'सर्व प्रतिपक्ष सहित हैं' ऐसा उपदेश दिया है जिसको श्री वीरसेन स्वामी ने धवल ग्रंथ में तथा श्री कुन्दकुन्द भगवान ने पंचास्तिकाय में गुंथित किया है। जैसे भव्य है तो उसका प्रतिपक्षी अभव्य अवश्य है। यदि मुक्त पर्याय है तो उसकी प्रतिपक्षी बंध पर्याय (संसार पर्याय) अवश्य है, यदि शुद्ध पर्याय है तो उसकी प्रतिपक्षी अशुद्ध पर्याय है। यदि नियत पर्याय है तो उसकी प्रतिपक्षी अनियत पर्याय अवश्य है। यदि प्रतिपक्षी का सद्भाव नहीं तो उसका भी सद्भाव नहीं है। सर्वथा नियति के मानने पर अनियति का अभाव हो जाएगा और अनियति के अभाव से नियति का सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार सर्वथा नियति मानने पर श्री सर्वज्ञदेव कथित 'सर्व सप्रतिपक्ष' सिद्धांत से विरोध आता है।

९—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२३ में यह नहीं कहा गया है कि सर्वज्ञदेव ने जब देखा है तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी, किन्तु जब नव पदार्थ, छह द्रव्य आदि का श्रद्धान कर लेगा उस समय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिये कोई काल नियत है, ऐसा नहीं कहा।

'राजवार्तिक' में "यदि उपदेश द्वारा नियत काल से पूर्व मोक्ष हो जाय तो अधिगमज सम्यक्त्व हो सकता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं। अतः अधिगमज सम्यक्त्व का अभाव है" इस शंका के उत्तर में श्री सर्वज्ञ के उपदेशानुसार इस प्रकार कहा गया है—

"यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात्।"

अर्थात् भव्यों के मोक्ष के काल का नियम नहीं है। यदि सब कार्यों के लिये काल को हेतु मान लिया जावे (जब जिस कार्य का काल आवेगा तब ही वह कार्य होगा) तो प्रत्यक्ष और परोक्ष के विषयभूत कारणों से विरोध हो जाएगा।

श्री स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१९ में भी कहा है कि पदार्थ में नाना प्रकार के परिणमन करने की शक्ति है। जिस शक्ति के अनुकूल बाह्य द्रव्य क्षेत्र काल आदि मिलेंगे वैसा परिणमन हो जायगा, उसको रोकने में कोई भी समर्थ नहीं है। जैसे चावल में भात रूप परिणमन करने की शक्ति है किंतु ईंधन अग्नि पतीली जल आदि प्राप्त करके ही वह चावल भात रूप पर्याय को प्राप्त होता है।

१०—ज्ञेयों के परिणमन में केवलज्ञान कारण नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान का ज्ञेयों के परिणमन के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञ देव ने कहा है कि जो जिसका कारण होता है उसका उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है।

क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा हो कार्य-कारण-भाव सुप्रतीत होता है, अतः केवलज्ञान को ज्ञेयों के परिणमन के प्रति कारण मानना सर्वज्ञवाणी के विरुद्ध है। अंतरंग और बहिरंग निमित्तों के अनुसार ज्ञेयों अर्थात् पदार्थों का परिणमन हो रहा है।

ज्ञेयों (पदार्थों) के परिणमन के अनुसार केवलज्ञान में परिणमन होता है, ऐसा उपदेश सर्वज्ञदेव ने दिया है जिसको आचार्यों ने आगम में गुंथित किया है, जो इस प्रकार है—

"ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति।"
(प्रवचनसार पृ० २५)

अर्थ—ज्ञेय पदार्थ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीन रूप से परिणमन करते हैं। उसी के अनुसार अर्थात् ज्ञेयों के परिणमन अनुसार ज्ञान भी जानने की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनरूप परिणमन करता है।

येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति। (बृहद् द्रव्य संग्रह गाथा १४ टीका)

अर्थ—ज्ञेय पदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप से प्रति समय परिणमते हैं, उन-उनके जानने रूप आकार से निरिच्छुक वृत्ति से (बिना इच्छा के) सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है।

"ण च णाणविसेसदुवारेण उप्पज्जमाणस्स केवलणाणंसस्स केवलणाणत्तं फिट्टदि, पमेयवसेण परियत्तमाणसिद्धजीवणाणंसाणं पि केवलणाणत्ताभावप्पसंगादो। (ज. ध. पु. १ पृ. ५१)

अर्थात्—यदि केवलज्ञान के अंश मतिज्ञानादि ज्ञान विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनमें केवलज्ञानत्व नहीं माना जा सकता है, तो प्रमेय के वश से सिद्ध जीवों के भी ज्ञानांशों में परिवर्तन देखा जाता है। अतः उन अंशों में केवलज्ञान नहीं बनेगा।

पदार्थों के परिणमन के आधार से केवलज्ञान का परिणमन होता है इसलिये केवलज्ञान को पदार्थों की सहायता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियादि की सहायता की आवश्यकता नहीं है। इसी बात को श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है—

"आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम् ।" (ज. ध. पु. पृ. २३)

उपर्युक्त सर्वज्ञवाणी के विरुद्ध जो अन्यमतों की तरह केवलज्ञान के आधीन पदार्थों का परिणमन मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञवाणी पर उसकी श्रद्धा नहीं है।

—जै. ग. 11, 25 मार्च तथा 1 और 8 अप्रेल 1965 के अंको में क्रमशः प्रकाशित

कुल, योनि, जन्म

कुल और योनि की संख्या

शंका—कुल और योनि आदि की आगम में जो संख्या दी है क्या वह निश्चित संख्या है? उसमें एक-दो, पाँच-दस की भी कमीबेशी सम्भव नहीं?

समाधान—कुल और योनि आदि की आगम में जो संख्या दी है वह उत्कृष्ट संख्या है अर्थात् उस संख्या से अधिक कुल, योनि आदि नहीं हो सकते हैं। (ध. खं. पुस्तक ३/७१)

—जै. सं. 28-6-56/VI/र. ला. जैन, केकड़ी

कुलों की संख्या

शंका—गोम्मटसार जीवकाण्ड में कुल कोडि १९७ ॥ लाख बताई है जब कि मूलाचार, हरिवंशपुराण, वरांगचरित्र एवं अनेक हिन्दी ग्रंथों में १९९ ॥ लाख बताई है ऐसा क्यों? क्या कोई आचार्यपरम्परा भेद है? धवला, जयधवलादि टीकाओं और पंचसंग्रहादि ग्रंथों का इस विषय में क्या मत है? श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी १९७॥ लाख की ही मान्यता है। अतः गोम्मटसार का कथन मूलाचार से विरुद्ध होने के कारण कहीं श्वेताम्बर सम्प्रदाय से प्रभावित तो नहीं है?

शंका—आगम में जो मनुष्यों के १४ लाख (गोम्मटसार के अनुसार १२ लाख) कोडि कुल बताये हैं वे किस तरह सम्भव हैं? कुछ नाम बताने की कृपा करें।

समाधान—गोम्मटसार जीवकाण्ड में कुलों का कथन करने वाली गाथायें इस प्रकार हैं—

बावीस सत्त तिण्णि य सत्त य कुलकोडिसय सहस्साइं।
णेया पुढविदगागणि, वाउक्कायाण परिसंखा ॥११३॥
कोडि सदसहस्साइं सत्तट्ठणव य अट्ठवीसं च।
वेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय हरिदकायाणं ॥११४॥
अद्धत्तेरस बारस दसयं कुल कोडिसदसहस्साइं।
जलचर पक्खि चउप्पय उरपरिसप्पेसु णव होंति ॥११५॥
छप्पंचाधिय वीसं बारसकुलकोडिसदसहस्साइं।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होंति णेयाणि ॥११६॥
एया य कोडिकोडी सत्ताणउदीय सदसहस्साइं।
पण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाणं य ॥११७॥

अर्थ—पृथिवीकाय के २२ लाख कोटि, जलकाय के ७ लाख कोटि, अग्निकाय के ३ लाख कोटि, वायुकाय के ७ लाख कोटि, द्वीन्द्रियों के ७ लाख कोटि, ते इंद्रियों के ८ लाख कोटि, चतुरिन्द्रियों की ९ लाख कोटि, वनस्पतिकाय के २८ लाख कोटि, जलचरों के १२॥ लाख कोटि, पक्षियों की १२ लाख कोटि, पशुओं की १० लाख कोटि, रेंगने वाले (छाती के सहारे चलने वाले) ६ लाख कोटि, देवों की २६ लाख कोटि, नारकियों की २५ लाख कोटि, मनुष्यों की १२ लाख कोटि, इस प्रकार सम्पूर्ण जीवों के समस्त कुलों की संख्या—१९७५०००००००००० होती है।

श्री मूलाचार के पर्याप्त्यधिकार में गाथा १६६ से १६८ तक ज्यों की त्यों वे ही हैं जो गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा ११३-११५ तक है। गोम्मटसार ११६ के स्थान पर मूलाचार गाथा १६९ इस प्रकार है—

छव्वीसं पणवीसं चउदस कुल कोडि सदसहस्साइं।
सुरणेरइयणराणं जहा कमं होइ णायव्वं ॥१६९॥

गोम्मटसार जीवकांड गाथा ११६ में 'बारस' है और मूलाचार पर्याप्त्यधिकार गाथा १६९ में 'चउदस' का शब्द है। अन्य शब्दों में भी अन्तर है किन्तु अर्थभेद नहीं है। किन्तु 'बारस' और 'चउदस' में अर्थभेद है। 'बारस' का अर्थ बारह है और 'चउदस' का अर्थ चौदह है। गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ११७ जिसमें समस्त कुलों की संख्या १९७॥ लाख कोटि बताई है उसके स्थान पर मूलाचार पर्याप्त्यधिकार में कोई गाथा समस्त कुल संख्या बतलाने वाली नहीं है। इन दोनों गाथाओं से (११६ व १६९) ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्यों में सम्भवतः मतभेद रहा है। लेखक की असावधानी के कारण मूलाचार में 'बारस' के स्थान पर चउदस' लिखा गया हो, ऐसी सम्भावना कम है।

—जै. सं. 21-6-56/VI/ र. ला. जैन, केकड़ी

निगोदराशि कुल/योनि

शंका—चौरासी लाख जीवयोनि के वर्णन में निगोद राशि की योनि संख्या बताई गई है पर कुल कोडि के वर्णन में निगोदों की कोई संख्या ही नहीं दी गई, इसका क्या कारण है? क्या निगोदों के कुल नहीं होते? जब योनियाँ होती हैं तो कुल क्यों नहीं होते? सप्रमाण उत्तर प्रदान करें।

समाधान—निगोद भी वनस्पतिकाय में सम्मिलित है। वनस्पतिकाय—'प्रत्येक और साधारण' से दो प्रकार हैं। उनमें से 'साधारण' को निगोद कहते हैं। कहीं कहीं पर 'प्रत्येक वनस्पति' को 'वनस्पति' के नाम से और 'साधारण' को 'निगोद' लिखा है और कहीं पर 'प्रत्येक' व 'साधारण' ऐसे दो भेदों की मुख्यता न करके दोनों को ही वनस्पति सामान्य से कह दिया है। 'निगोद' के भी कुल हैं जो वनस्पति की २८ लाख कोटि में सम्मिलित हैं। यहाँ पर 'प्रत्येक' व 'साधारण' की कुल संख्या पृथक्-पृथक् नहीं कही है।

—जै. सं. 28-6-56/VI/ र. ला. जैन, केकड़ी

नित्यनिगोद की सात लाख योनि कैसे ?

शंका—नित्य निगोद में सात लाख योनि किस अपेक्षा लिखी, जब कि नित्य-निगोद का मतलब है जहाँ से जीव अभी निकला ही नहीं?

समाधान—अनादि काल से जो जीव अभी तक निगोद में पड़े हुए हैं वे नित्य निगोदिया जीव हैं, किंतु उस निगोद में भी योनि अनेक प्रकार की है सब ही योनियाँ एक प्रकार की नहीं हैं। वे योनियाँ सात लाख प्रकार की हैं। इसलिये नित्य निगोद की सात लाख योनि हैं।

—जै. ग. 6-13/5/65/XIV/मगनमाला

तीर्थंकर भगवान् जरायुज जन्म वाले होते हैं

शंका—तीर्थंकर भगवान का पोत जन्म होता है, क्या यह ठीक नहीं है ?

समाधान—श्री तीर्थंकर भगवान जरायुज होते हैं, उनके पोत जन्म नहीं होता है। जो जीव जरायुज हैं वे ही मोक्ष जाते हैं। अन्य जन्म वाले जीव मोक्ष नहीं जा सकते हैं, क्योंकि श्री तीर्थंकर भगवान उसी भव से मोक्ष जाते हैं अतः वे जरायुज हैं।

श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक में कहा भी है—

"जरायुजग्रहणमादावभ्यर्हितत्वात् । सम्यग्दर्शनादि मार्गफलेन मोक्षसुखेन ह्यभिसंबन्धो नान्येषामित्य-भ्यर्हितत्वम् । रा० वा० २।३३ ।

अर्थ—सूत्र में आदि विषै जरायुज का ग्रहण है सो जरायुज जन्म के अण्डज और पोत की अपेक्षा पूज्यपना तथा प्रधानपना है ताते प्रथम निर्देश है। सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग का फल जे मोक्ष सुख, ताकरि अभिसम्बन्ध जरायुज जन्म के ही होय है, अन्य के नाहीं होय है। याते जरायुज जन्म सूत्र के विषै आदि में ग्रहण है।

श्री श्रुतसागर आचार्य ने जिनसहस्रनाम की टीका में 'पद्मभूः' का अर्थ निम्न प्रकार है—

"पद्मैरुपलक्षिता, भूर्मातुरंगणंयस्येति पद्मभूः। अथवा मातुरुदरे स्वामिनो दिव्यशक्त्या कमलं भवति, तत्कर्णिकायां सिंहासनं भवति, तस्मिन्सिंहासने स्थितो गर्भ-रूपो भगवान् वृद्धि याति, इति कारणात् पद्मभूर्भगवान् उच्यते, पद्माद् भवति पद्मभूः।" (जिनसहस्रनाम श्रुत०-३-३५ पृ० १५७)

अर्थ—आपके गर्भ काल में माता के भवन का आंगण पद्मों से व्याप्त रहता है। अतः आप पद्मभू हैं। अथवा गर्भकाल में आपके दिव्य पुण्य के प्रभाव से गर्भाशय में एक कमल की रचना होती है, उसकी कर्णिका पर एक सिंहासन होता है, उस पर अवस्थित गर्भरूप भगवान् वृद्धि को प्राप्त होते हैं, इस कारण से लोग भगवान् को पद्मभू कहते हैं। पद्म से उत्पन्न होते हैं अतः पद्मभू हैं।

श्री महापुराण में भी कहा है—

> सोऽभाद्विशुद्धगर्भस्थः त्रिबोध-विमलाशयः ।
> स्फटिकागारमध्यस्थः प्रदीप इव निश्चलः ॥२६४॥ पर्व १२

अर्थ—माता मरुदेवी के निर्मल गर्भ में स्थित तथा मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से विशुद्ध अन्तः करण को धारण करने वाले भगवान वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे जैसा कि स्फटिक मणि के बने हुए घर के बीच में रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है।

इस प्रकार श्री तीर्थंकर भगवान का जरायुज जन्म होते हुए भी वे माता के गर्भ में निर्मल रहते हैं।

—जै. ग. 23-9-65/IX/ब्र. पन्नालाल

गत्यागति

सातवें नरक से निकलकर तिर्यंच बना जीव पुनः सातवें नरक में नहीं जाता

शंका—सातवें से निकलकर जीव तिर्यंच होकर पुनः छठे या सातवें नरक में आ सकता है या नहीं ?

समाधान—सातवें नरक में पर्याप्त मनुष्य और स्वयंभूरमण समुद्र का मत्स्य मरकर उत्पन्न होता है। स्वयम्भूरमण का मत्स्य सम्मूर्च्छन होता है, किन्तु सातवें नरक से निकलकर गर्भज तिर्यंच होता है। अतः वह गर्भज तिर्यंच मरकर मत्स्य होकर सातवें नरक जा सकता है। सातवें नरक से निकल कर सिंह आदि क्रूर तिर्यंच होकर पांचवें नरक तक ही जा सकता है। कहा भी है—

"पंचम खिदिपरियंतं सिंहोइत्थि वि छट्ठखिदि-अंतं। आसत्तमभूवलयं मच्छा मणुवा य वच्चंति" ॥२-२८६॥ ति. प.। पाँचवीं पृथिवी पर्यन्त सिंह, छठी पृथिवी तक स्त्री और सातवीं भूमि तक, मत्स्य एवं मनुष्य (पुरुष) उत्पन्न होते हैं।

"णिक्कंता णिरयादो गब्भेसुकम्म सेणिपज्जत्ते। णरतिरिएसु जम्मदि तिरियंचिय चरमपुढवीए ॥२-२८९॥ (ति. प.) नरक से निकले हुए जीव गर्भज कर्मभूमिज, संज्ञी एवं पर्याप्त ऐसे मनुष्य और तिर्यंचों में ही जन्म लेते हैं। परन्तु अन्तिम पृथिवी से निकला हुआ जीव केवल तिर्यंच ही होता है। अर्थात् मनुष्य नहीं होता।

"मत्स्यः सप्तमनरकं गत्वा ततः प्रच्युत्य तिर्यगजीवो भूत्वा मृत्वा मत्स्यः संभूय मृत्वा सप्तमनरकं गच्छति।" (त्रि. सा. गा. २४४ टीका)

मत्स्य मरकर सातवें नरक गया, वहां से निकलकर गर्भज तिर्यंच हुआ फिर मरण कर मत्स्य हो सप्तम नरक गया।

—जै. ग. 16-3-78/VIII/र. ला. जैन, मेरठ

एक जीव की अपेक्षा देव या नारकी मरकर पुनः अन्तर्मुहूर्त बाद देव या नारकी बन जाता है

शंका—त० रा० वा० पृ० १५५ पर जो वैक्रियिक शरीर का जघन्य अन्तर बताया है वह कैसे घटित होता है ?

समाधान—वैक्रियिकशरीर का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त बतलाया है। देव व नरकगति का जघन्य अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है। ध. पु. ७ पृ. १८७ व १९० पर इस प्रकार कहा है—

"एगजीवेण अंतराणुगमेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइयाणं अंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥१॥ जहण्णेण अंतो मुहुत्तं ॥२॥ (धवल पु० ७ पृ० १८७)

अर्थ—एक जीव की अपेक्षा अन्तरानुगम से गतिमार्गणानुसार नरकगति में नारकी जीवों का अन्तर कितने काल तक होता है ? ॥१॥ कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक नरकगति से नारकी जीवों का अंतर होता है ॥२॥

"देवगदीए देवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ? ॥११॥ जहण्णेण अंतोमुहुत्तं ॥१२॥

अर्थ—देवगति से देवों का अन्तर कितने काल तक होता है ? कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ॥ ११-१२ ॥

"देवगति से आकर गर्भोपक्रान्तिक पर्याप्त तिर्यंचों व मनुष्यों में उत्पन्न होकर पर्याप्तियाँ पूर्णकर देवायु का बंधकर पुनः देवों में उत्पन्न हुए जीव के देवगति से अन्तर्मुहूर्त मात्र अन्तर पाया जाता है।" (ध. पु. ७ पृ. १९०)

—जै. ग. 27-3-69/IX/क्षु. शीतलसागर

तृतीय नरक से निकलकर तीर्थंकर सत्त्वी किसी भी क्षेत्र में तीर्थंकर हो सकता है

शंका—तीसरे नरक से निकलने वाला जीव किस क्षेत्र का तीर्थंकर होता है।

समाधान—तीसरे नरक में असंख्यात जीव तीर्थंकर प्रकृति के बंधक हैं। (महाबंध पुस्तक १, पृ. १७७)। तीसरे नरक से निकलकर ये जीव भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्र के आर्यखण्ड में तीर्थंकर होते हैं। कृष्णजी तीसरे नरक से निकलकर भरतक्षेत्र में तीर्थंकर होंगे।

—जै. सं. 19-3-59/V/ भँवरलाल जैन, कुचामन

नरक से निकला जीव तीर्थंकर हो सकता है

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि नारकी नरक से निकलकर तीर्थंकर हो सकता है ?

समाधान—ऊपर की तीन पृथिवियों से अर्थात् प्रथम, द्वितीय, तृतीय नरकों से निकलकर मनुष्यों में उत्पन्न होकर तीर्थंकर हो सकता है। कहा भी है—

तिसु उवरिमासु पुढवीसु णेरइया णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा कदि गदीओ आगच्छन्ति ॥२१७॥ दुवे गदीओ आगच्छन्ति तिरिक्खगदिं मणुसगदिं चेव ॥२१८॥ ...... मणुसेसु उववण्णल्लया मणुस्सा केइमेक्कारस उप्पाएंति केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति, केइं सुदणाणमुप्पाएंति, केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति, केइं ओहिणाण-मुप्पाएंति, केइं केवलणाणमुप्पाएंति, केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति, केइं सम्मत्तमुप्पाएंति, केइं संजमासंजममुप्पाएंति, केइं संजममुप्पाएंति। णो बलदेवत्तं णो वासुदेवत्तमुप्पाएंति, णो चक्कवट्टित्तमुप्पाएंति, केइं तित्थयरत्तमुप्पाएंति, केइमंतयडा होदूण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्व दुःखाणमंतं परिविजाणंति ॥२२०॥

—धवल पु० ६ पृ० ४९१-९२

अर्थ—ऊपर की तीन पृथिवियों के नारकी जीव नरक से नारकी होते हुए निकलकर कितनी गतियों में आते हैं ? ॥२१७॥ ऊपर की तीन पृथिवियों से निकलने वाले नारकी जीव दो गतियों में आते हैं तिर्यंचगति और मनुष्यगति ॥२१८॥ ऊपर की तीन पृथिवियों से निकलकर मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य कोई ग्यारह उत्पन्न करते हैं—कोई आभिनिबोधिक ज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई केवलज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्व उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं, कोई संयमासंयम उत्पन्न करते हैं और कोई संयम उत्पन्न करते हैं, किंतु वे जीव न बल-देवत्व उत्पन्न करते हैं, न वासुदेवत्व उत्पन्न करते हैं और न चक्रवर्तित्व उत्पन्न करते हैं। कोई तीर्थंकरत्व उत्पन्न

करते हैं, कोई अन्तकृत होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, वे सर्व दुःखों के अन्त होने का अनुभव करते हैं।

"उपरि तिसृभ्य उद्वर्तितास्तिर्यक्षु जाताः केचित्पञ्चमुत्पादयन्ति, मनुष्येषूत्पन्नाः केचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्यय-केवलसम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्वसंयमासंयमसंयमानुत्पादयन्ति, न च बलदेव वासुदेव चक्रधरत्वान्युत्पादयन्ति, केचित्तीर्थंकरत्वमुत्पादयन्ति, अपरे कर्माष्टकान्तकराः सिध्यन्ति। तत्त्वार्थ राजवार्तिक ३/६

यहाँ पर भी श्री अकलंकदेव ने प्रथम तीन नरक से निकले हुए नारकी के मनुष्य गति में तीर्थंकर पद प्राप्त करने का उल्लेख किया है।

"जायंते तित्थयरा तदीयखोणीय परियंतं ॥३।२९१॥ ति. प.

अर्थ—तीसरी पृथिवी तक के नारकी जीव वहाँ से निकलकर तीर्थंकर हो सकते हैं।

इस प्रकार नरक से निकल कर तीर्थंकर होना आर्ष ग्रन्थों से सिद्ध है। राजा श्रेणिक व कृष्णजी नरक से निकलकर तीर्थंकर होंगे।

—जै. ग. /17-6-71/IX/ रो. ला मित्तल

नारकी मरकर प्रतिचक्री नहीं होता

शंका—अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार, द्वितीय अधिकार, श्लोक १५२ में लिखा है कि 'नरक से निकल कर नारकी बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती नहीं होते।' क्या प्रतिनारायण हो सकते हैं?

समाधान—उक्त कथन में नारायण में प्रतिनारायण गर्भित होने से 'प्रतिनारायण' शब्द का पृथक् ग्रहण नहीं किया गया है। अर्थात् नरकों से निकला जीव प्रतिनारायण भी नहीं होता।

—पत्राचार 21-4-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

सप्तम पृथिवी से निर्गत जीव के सम्यक्त्व गुणोत्पादन

शंका—धवल पु० ६ पृ० ४८४ पर सातवें नरक से निकले हुए जीव के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं बतलाई, किन्तु तिलोयपण्णत्ती में सम्यग्दर्शन ग्रहण बताया है तथा धवल पु. ९ पृ. ३५२ में सातवें नरक से निकल कर मोक्ष जाना बताया है, सो कैसे?

समाधान—धवल पु० ६ पृ० ४८४ पर सातवें नरक से निकले हुए जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का निषेध किया है, किन्तु तिलोयपण्णत्ती अधिकार २, गाथा २९२ में बिरले जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कही है। ध० पु० ६ पृ० ४८४ पर बहुलता की अपेक्षा से सातवें नरक से निकले हुए जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं कही। तिलोयपण्णत्ती में सूक्ष्म दृष्टि से कथन है अतः वहाँ कभी किसी एक जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो जाने से विधान किया अथवा मतभेद समझना चाहिए।

सातवीं पृथ्वी से निकलकर जीव तिर्यंचों में उत्पन्न होता है एक अन्तर्मुहूर्तकाल में तिर्यंचों के दो-तीन भव धारण कर मनुष्यों में उत्पन्न हो आठ वर्ष की आयु में सम्यक्त्व व संयम को ग्रहण कर एक अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का

नाश कर मोक्ष को जा सकता है। ध. ध. पु. ६ पृ. ११, ८२, ११६, १९२ पु. ७ पृ. ७७, ८४, १७४, २७६, ४०६; पु. ९ पृ. १७७ पर भी इस प्रकार कथन है।

—जै. ग. 21-3-63/IX/ ब. प्र. स., पटना

तीसरी पृथ्वी से निकले हुए जीव के प्राप्य/अप्राप्य पद

शंका—तीसरे नरक तक का जीव निकलकर तीर्थंकर तो हो सकता है, किंतु बलदेव, चक्रवर्ती आदि नहीं हो सकता। क्या तीर्थंकर पद बलदेव, चक्रवर्ती आदि पद से हीन है ?

समाधान—किसी भी नरक से निकलकर कोई भी जीव बलदेव, वासुदेव व चक्रवर्ती नहीं हो सकता किंतु प्रथम, दूसरे और तीसरे नरक से निकलकर जीव तीर्थंकर हो सकता है।

मोक्षमार्ग की अपेक्षा तीर्थंकर पद सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि इससे तीर्थ की प्रवृत्ति होती है, किंतु सांसारिक वैभव की अपेक्षा बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती के अधिक वैभव होता है।

—जै. ग. 2-5-63/IX/मगनमाला जैन

नारकी अन्तर्मुहूर्त बाद पुनः नारकी

शंका—अन्तरानुगम अधिकार में नरकगति के 'जघन्य अन्तर' के विषय में यह प्रश्न है कि "इतने थोड़े समय का अन्तर लेकर तुरन्त फिर नरक जाने की योग्यता" यह कैसे ?

समाधान—एक जीव की अपेक्षा नरक गति में नारकी जीव का अन्तर कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल है (ध. पु. ७ पृ. १८७ सूत्र १-२) नरक से निकलकर गर्भोपक्रान्तिक तिर्यंच जीवों में अथवा मनुष्यों में उत्पन्न हो सब से कम आयु के भीतर नरकायु को बांध मरण कर पुनः नरकों में उत्पन्न हुए नारकी जीव के नरकगति से अन्तर्मुहूर्त मात्र अन्तर पाया जाता है (धवल टीका) सातों ही पृथिवियों में नारकी जीवों के गर्भोपक्रान्तिक पर्याप्त तिर्यंचों व मनुष्यों में उत्पन्न होकर सबसे कम अन्तर्मुहूर्त काल रहकर विवक्षित नरक में उत्पन्न हुए जीव का अंतरकाल होता है (पृ० १८८ सूत्र ४ पर टीका) पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् गर्भोपक्रान्तिक (गर्भज) तिर्यंच में नरक, स्वर्ग आदि आयु बांधने की योग्यता हो जाती है; किन्तु इस तिर्यंच की आयु अन्तर्मुहूर्त होनी चाहिए। नारकी जीव तिर्यंच या मनुष्य की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त बांध सकता है, क्योंकि संक्लेश परिणामों से तिर्यंचायु व मनुष्यायु का जघन्य स्थितिबन्ध होता है। नरक में संक्लेश परिणामों की बहुलता है।

—जै. ग. 29-3-62/VII/ जयकुमार

चतुर्थ पृथिवी से निष्कान्त जीव के मोक्ष

शंका—चौथे नरक से निकलकर जीव मनुष्य होकर क्या उसी भव से मोक्ष जा सकता है या वह दो तीन भव के पश्चात् मोक्ष जायगा ?

समाधान—चौथी पृथ्वी से निकलने वाले नारकी जीव दो गतियों में उत्पन्न होते हैं—तिर्यंचगति और मनुष्यगति। मनुष्यगति में उत्पन्न होने वाले नारकियों में से कोई उसी भव से मुक्त होते हैं (ध. पु. ६ पृ. ४८८-४८९)। उसी भव से मोक्ष जाने में कोई बाधा नहीं, किन्तु चौथे नरक से निकले हुए सभी जीव उस भव से मोक्ष नहीं जाते। बहुत से अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करते हैं।

—जै. ग. 12-5-63/IX/ म. मा. जैन

अन्तर्मुहूर्त बाद पुनः सप्तमनरक का नारकी हो जाना संभव है ।
अथवा
सप्तम नरक का एक जीव के जघन्य अन्तर

शंका – सातवें नरक से निकलकर कम से कम कितने काल के पश्चात् वह जीव पुनः सातवें नरक में आ सकता है ?

समाधान—सातवें नरक से निकलकर गर्भज संज्ञी पर्याप्त तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ । वहाँ अन्तर्मुहूर्त रहकर सम्मूर्च्छन मत्स्यों में उत्पन्न हो पर्याप्ति पूर्ण कर सातवें नरक की आयु का बंध कर मरा और सातवें नरक में उत्पन्न हो गया । इस प्रकार सातवें नरक से निकलकर पुनः अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सातवें नरक में पहुंच सकता है । कहा भी है—

"सत्तसु पुढवीसु णेरइयाणंतिरक्खमणुसगब्भोवक्कंतियपज्जत्तएसुप्पज्जिय सव्वजहण्णमंतोमुहुत्तमच्छिय अप्पिदपुढविणेरइएसुप्पण्णस्स अंतरकालो सरिसो त्ति वुत्तं होदि ॥' (ध. पु. ७ पृ. १८८)

अर्थ—सातों ही पृथिवियों अर्थात् नरकों में नारकी जीवों के गर्भोपक्रान्तिक पर्याप्तकों में उत्पन्न होकर सबसे कम अन्तर्मुहूर्त काल रहकर विवक्षित नरकों में उत्पन्न हुए जीव का अन्तर काल सदृश ही होता है, ऐसा प्रस्तुत सूत्र के द्वारा कहा गया है ।

—जै. ग. 15-1-68/VI/ ....

पंचमकाल में स्वर्ग-नरक में गमन कहाँ तक ?

शंका—पंचमकाल में जीव स्वर्ग या नरक में कहाँ तक जाते हैं ?

समाधान—पंचमकाल में अन्त के तीन संहनन हो सकते हैं । कहा भी है–

चउत्थे पंचम छट्ठे कमसो छिय छत्तिगेक्क संहडणी ॥८८॥ (कर्म प्रकृति ग्रंथ)

अर्थ—अवसर्पिणी के चौथे काल में छहों संहनन, पंचमकाल में अन्तिम के तीन संहनन और छठे काल में अन्तिम का एक सृपाटिका संहनन होता है ।

सेवट्टेण य गम्मइ आदिदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति ।
तत्तो दुजुगल जुगले कीलियणारायणद्धोत्ति ॥८३॥
छण्णी छसंहडणो वच्चई मेघं तदो परं चावि ।
सेवट्टादीरहिदो पण - पण चदुरेगसंहडणो ॥८५॥ (कर्म प्रकृति ग्रंथ)

अर्थ—सृपाटिका संहनन वाला जीव लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग तक, कीलक संहनन वाला बारहवें स्वर्ग तक और अर्धनाराच संहनन वाला १६वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है ॥८३॥ छहों संहनन वाले तीसरे नरक तक सृपाटिका संहनन से रहित पाँच संहनन वाले पाँचवें नरक तक और सृपाटिका व कीलक को छोड़कर शेष चार संहनन वाले छठे नरक तक और वज्रवृषभनाराच संहनन वाला सातवें नरक तक उत्पन्न हो सकता है ।

इससे सिद्ध होता है आजकल पंचम काल में सोलहवें स्वर्ग तक तथा छठे नरक तक जीव उत्पन्न हो सकता है ।

—जै. ग. 30-11-67/VIII/ कँवरलाल

सम्यक्त्वी देव-नारकी की उत्पत्ति मनुष्यों में

शंका—सागार धर्मामृत प्रथम अध्याय के तेरहवें श्लोक की टीका में लिखा है—'सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से पहले जिसने आयु का बन्ध नहीं किया है ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के भी देवगति में वैमानिक देवों के और मनुष्यगति में चक्रवर्त्यादिक उत्तम मनुष्यों के पदों की प्राप्ति को छोड़ करके शेष सम्पूर्ण संसार का नाश होने से कर्म जनित क्लेशों का अपकर्ष हो जाता है।' अर्थात् अबद्धायुष्क अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी वैमानिक देवों में तथा उत्तम मनुष्यों में ही पैदा होते हैं। अतः प्रश्न है कि क्या अबद्धायुष्क अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी मरकर के मनुष्य हो सकता है ?

समाधान—नारकी या देव अबद्धायुष्क अविरत सम्यग्दृष्टि मरकर उत्तम मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि नारकी या देव सम्यग्दृष्टि मनुष्यायु के अतिरिक्त अन्य आयु का बन्ध नहीं करते। नरकायु या देवायु का तो देव या नारकी के बन्ध नहीं होता, ऐसा स्वभाव है। तिर्यंचायु की बन्ध व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में हो जाती है। अतः देव व नारकी अविरत सम्यग्दृष्टि एक मनुष्यायु का ही बन्ध करते हैं और मरकर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। कहा भी है—"सम्यग्दृष्टि नारकी जीव नरक से निकलकर एक मनुष्य गति में ही आते हैं।" (ध० पु० ६ पृ० ४५१ सूत्र ८८)। "सम्यग्दृष्टि देव मरण कर केवल एक मनुष्य गति में ही आते हैं।" (ध० पु० ६ पृ० ४८० सूत्र १८५)। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर मनुष्य हो सकता है।

—जै. ग. 17-5-62/VII/सु. च. बगड़ा

नित्यनिगोद द्वारा सीधी मनुष्यपर्याय प्राप्ति

शंका—नित्यनिगोद से निकला हुआ जीव तिर्यंच पर्याय के धारण किए बिना ही मनुष्य पर्याय को धारण कर सकता है या नहीं ?

समाधान—नित्य निगोद से निकलकर जीव अन्य पर्याय को धारण किए बिना मनुष्य हो सकता है इसमें कोई बाधा नहीं है। कहा भी है—

पंचिंदियतिरिक्खसण्णी असण्णी अपज्जत्ता पुढवीकाइया आउकाइया वा, वणप्फइकाइया णिगोदजीवा बादरा सुहुमा बादरवणप्फदिकाइया पत्तेयसरीरा पज्जत्ता अपज्जत्ता बीइंदिय तीइंदिय-चउरिंदिय-पज्जत्ता-पज्जत्ता तिरिक्खा तिरिक्खेहि कालगदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति ॥११२॥ दुवे गदीओ गच्छंति, तिरिक्खगदिं, मणुसगदिं चेदि ॥११३॥ तिरिक्ख-मणुस्सेसु गच्छन्ता सव्वतिरिक्ख-मणुस्सेसु गच्छन्ति, णो असंखेज्जवस्साउएसु गच्छन्ति ॥११४॥

(ध० खं० पु० ६ पृ० ४५७)

अर्थ—पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी व असंज्ञी अपर्याप्त, पृथिवीकायिक या जलकायिक या वनस्पतिकायिक, निगोद जीव ये सब बादर या सूक्ष्म, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर पर्याप्त या अपर्याप्त, और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त तिर्यंच तिर्यंचपर्यायों से मरण करके कितनी गतियो में जाते हैं ? ॥११२॥ उक्त तिर्यंच जीव दो गतियों में जाते हैं—तिर्यंचगति और मनुष्यगति ॥११३॥ तिर्यंचों और मनुष्यों में जाने वाले उपर्युक्त तिर्यंच सभी तिर्यंच और मनुष्यों में जाते हैं, किंतु असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों और मनुष्यों में नहीं जाते ॥ ११४ ॥

—जै. ग. 23-5-66/IX/हेमचन्द

नित्यनिगोदिया जीव मनुष्यपर्याय प्राप्त कर उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं

शंका—क्या नित्य निगोद से निकलकर सीधा मनुष्य होकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है या नहीं ? मनुष्य आयु बांधने के योग्य परिणाम किस कर्म के उदय से हुए ? वह परिणाम उस जीव के ही क्यों हुए उसके साथी अनन्त जीवों के क्यों नहीं हुए ?

समाधान—नित्य निगोद से निकलकर सीधा मनुष्य होकर उसी भव से मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। कहा भी है—

"अनादि काल से मिथ्यात्व के तीव्र उदय से अनादिकाल पर्यन्त जिन्होंने नित्यनिगोद पर्याय का अनुभव लिया था ऐसे ९२३ जीव निगोद पर्याय छोड़कर भरत चक्रवर्ती के भद्रविवर्धनकुमार आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे। उनको श्री आदिनाथ भगवान के समवसरण में द्वादशांग वाणी का सार सुनने से वैराग्य हो गया। ये राजपुत्र इस ही भव में त्रस पर्याय को प्राप्त हुए थे। इन्होंने जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रयाराधना से अल्पकाल मे ही मोक्ष लाभ किया। (मूलाराधना गाथा १७ टीका)

मन्दकषायोदय के कारण विशुद्ध परिणामों से निगोदिया जीव के मनुष्यायु का बंध होता है। अन्य निगोदिया जीवों के कषाय का मन्द उदय न होने से विशुद्ध परिणाम नहीं होते अतः उनके मनुष्यायु का बंध नहीं होता। ऐसा नियम नहीं है कि सभी निगोदिया जीवों के एक ही साथ कषाय का मंद उदय हो। इसलिये सभी जीवों के विशुद्ध परिणाम नहीं हुए।

—जै. ग. 26-6-67/IX/र. ला. जैन, मेरठ

देवों में तिर्यंचों का उत्पाद कहाँ तक

शंका—धवल पुस्तक नं० ९ पृष्ठ ३०७ पर—"संजमासंजमेण विणा तिरिक्खअसंजद सम्माइट्ठीणमाणदादिसु उप्पत्ति-वेसणादो।' यहां प्रश्न है कि—असंयतसम्यग्दृष्टि जब कि बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जाता, तब संयमासंयम के बिना तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टि आनतादि स्वर्गों में कैसे उत्पन्न होंगे ? चौबीस दंडक में भी है— "अव्रत सम्यक्त्वी नरनाथ, बारम तें ऊपर नहीं जाय।" और भी कहा है—"सहस्रार ऊपर तिर्यंच, जाय नहीं ये तजि पर पंच" यह भी नियम है।

समाधान—कुछ विद्वानों ने भ्रमवश ऐसा नियम भाषा ग्रन्थों में लिख दिया कि अव्रत सम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा कोई भी तिर्यंच बारहवें स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न नहीं हो सकता। जिनको गुरु परम्परा से उपदेश प्राप्त हुआ ऐसे दिगम्बर जैन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी शास्त्र-रचना का अधिकार नहीं है। आजकल मानकषाय अथवा लोभकषाय वश बहुत से जीव दिगम्बर जैन शास्त्र अथवा पुस्तक रचने की अनधिकार चेष्टा करते हैं। उनमें प्रायः जैन सिद्धान्त के विरुद्ध कथन रहता है और एकांत का पोषण होता है। ऐसी पुस्तकों के स्वाध्याय द्वारा साधारण जनों की विपरीत श्रद्धा हो जाती है। किसी का कुछ भी बिगाड़ हो, उनको तो अपनी पूजा, मान-बड़ाई अथवा रुपये से काम।

षट्खण्डागम (जिसमें प्रायः द्वादशांग के सूत्र संकलित हैं) के **जीवस्थान के स्पर्शानुगम के सूत्र २७ व २८** में स्पष्ट कहा है कि "असंयत सम्यग्दृष्टि व संयतासंयत गुणस्थानवर्ती तिर्यंचों ने अतीत व अनागतकाल की अपेक्षा कुछ कम छह बटे चौदह त्रसनाड़ी स्पर्श की हैं।" यदि तिर्यंचों का उत्पाद सोलहवें स्वर्ग तक न माना जावे तो उक्त

स्पर्श घटित नहीं होता। असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच सोलहवें स्वर्ग तक मारणान्तिक समुद्घात करते हैं अतः उनका छह बटे चौदह स्पर्श होता है। इस षट्खण्डागम सूत्र के अनुसार श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सूत्र ८ की टीका में तथा श्री वीरसेन आचार्य ने धवल टीका में कथन किया। यह सिद्धांत श्री गौतम स्वामी गणधर द्वारा कहा गया है जो कि षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में लिपि बद्ध किया गया है। अतः ये ग्रन्थ प्रामाणिक हैं। अन्य मनुष्यों द्वारा रचित पुस्तकें प्रामाणिक नहीं हैं। उनके स्वाध्याय से लाभ के स्थान पर हानि होना सम्भव है।

—जै. ग. 29-3-62/VII/ ज. कु. जैन

१. मनुष्य का निगोदों में गमन एवं निगोदों का सीधा मनुष्यों में गमन

शंका—क्या पंचमकाल का जीव (मनुष्य देहधारी) सीधा निगोद जा सकता है, जब कि महाबल के समय में चौथे काल में दो मन्त्री निगोद गये लिखा है। दूसरे यह भी आता है कि निगोद से सीधा मनुष्य भी हो जाता है। किन परिणामों द्वारा कौनसी प्रकृति निर्मल हुई कि निगोद से मनुष्य बना और मनुष्य से निगोद में किस पाप प्रकृति के उदय से गया ?

समाधान—जीव के कर्मोदय सर्वथा एकसा नहीं होता। कभी मंदोदय होता है और कभी तीव्रोदय होता है। निगोदिया जीव के आयुबन्ध के समय यदि चारित्रमोह के मन्दोदय के कारण कषायों में मन्दता हो जाती है तो उस निगोदिया जीव के मनुष्य आयु का बंध हो जाता है और वह निगोद से निकलकर मनुष्य हो जाता है।

इसी प्रकार संक्लेश परिणामों द्वारा मनुष्य भी तिर्यंचायु का बंध कर निगोद में उत्पन्न हो जाता है। मनुष्यों से निगोद में और निगोद से मनुष्य में उत्पन्न होने में कोई विरोध नहीं है। तत्त्वार्थसार के जीव-तत्त्व-वर्णन में कहा भी है—

त्रयाणां खलुकायानां विकलानामसंज्ञिनाम्।
मानवानां तिरश्चां वाऽविरुद्धः संक्रमो मिथः ॥१५४॥

ध० पु० ६ पृ० ४५७ सूत्र ११२-११४ में भी कहा है कि निगोद जीव बादर या सूक्ष्म मरकर तिर्यंचगति और मनुष्यगति में आते हैं, किन्तु असंख्यात-वर्ष की आयु वाले नहीं होते। पृ० ४६८-६९ सूत्र १४१-१४४ में लिखा है कि 'मनुष्य मिथ्यादृष्टि कर्म भूमिज मरकर चारों गतियों में जाता है, तिर्यंचों में जाने वाले उपर्युक्त मनुष्य सभी तिर्यंचों में जाते हैं।' निगोद भी तिर्यंच हैं। अतः सब प्रकार के तिर्यंचों में निगोद भी आ गया।

—जै. ग. 3-10-63/IX/म. ला. फू. च.

तेजस्कायिक व वायुकायिक मनुष्य नहीं बनते

शंका—तेजस्कायिक व वायुकायिक से निकलकर जीव मनुष्य क्यों नहीं होता ?

समाधान—अग्निकायिक व वायुकायिक जीवों के परिणाम संक्लिष्ट होते हैं, अतः वे तिर्यंचगति के अतिरिक्त अन्य गतियों में नहीं जाते।

"सव्वतेउ-वाउकाइयाणं संकिलिट्ठाणं सेसगइजोग्गपरिणामाभावा।" (ध. पु. ६ पृ. ४५८)

समस्त अग्निकायिक और वायुकायिक संक्लिष्ट जीवों के शेष गतियों में जाने योग्य परिणामों का अभाव पाया जाता है।

—जै. ग. 4-9-69/VII/सु. प्र. जैन

सरीसृप दूसरे नरक तक जाते हैं

शंका—सरीसृप असंज्ञी होता है। वह दूसरे नरक तक कैसे जाता है?

समाधान—सरीसृप दूसरे नरक तक जाता है और असंज्ञी जीव प्रथम नरक तक जाता है ऐसा आर्ष वाक्य है। अतः सरीसृप संज्ञी है।

"पढमधरंतमसण्णी पढमंबिदिया सरिसओ जादि।" (ति० प० २।२८४)

प्रथम नरक के अन्त तक असंज्ञी उत्पन्न होता है तथा प्रथम और द्वितीय में सरीसृप जाता है।

"धर्मामसंज्ञिनो यान्ति वंशान्ताश्च सरीसृपाः।" (तत्त्वार्थसार २।१४६)

असंज्ञी जीव धर्मा-प्रथम नरक में जाते हैं और सरीसृप वंशा नामक दूसरे नरक तक जाते हैं।

प्रायः सभी आचार्यों ने सरीसृप को दूसरे नरक तक जाने का विधान किया है और असंज्ञी जीवों का प्रथम नरक तक जाना बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि सरीसृप संज्ञी होता है।

—जै. ग. 27-7-69/VI/सु. प्र. जैन

असंज्ञी भी नरक में जा सकता है

शंका—क्या बिना मन के भी असंज्ञी जीव इतना पाप कर सकता है कि वह मरकर नरक में चला जाय?

समाधान—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो इतना पुण्य-पाप नहीं कर सकते कि वे मरकर स्वर्ग या नरक में उत्पन्न हो जावें। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त इतना पुण्य या पाप कर सकता है जिससे उसको देवायु या नरकायु का बंध हो सकता है। कहा भी है—

"पंचिंदिय तिरिक्ख असण्णिपज्जत्ता तिरिक्खा तिरिक्खेहि कालगद-समाणा कदि गदीओ गच्छंति ॥१०७॥ चत्तारि गदीओ गच्छंति णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं देवगदिं चेदि ॥१०८॥ णिरएसु गच्छंता पढमाए पुढवीए णेरइएसु गच्छंति ॥१०९॥ देवेसु गच्छंता भवणवासिय-वाणवेंतरदेवेसु गच्छंति ॥१११॥ (ध. पु. ६ पृ. ४५५-४५६)

अर्थ—पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्त तिर्यंच जीव तिर्यंचपर्याय से मरण कर कितनी गतियों में जाते हैं? चारों गतियों में जाते हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। नरकों में जाने वाला प्रथम नरक में ही जाता है। देवों में जाने वाला भवनवासी और व्यन्तर देवों में ही जाता है।

अन्यत्र भी कहा है—**"पढमधरंतमसण्ण।"** (ति० प० २।२८४) **"प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यन्ते।"** (त. रा. ३।६) **"धर्मामसंज्ञिनो यान्ति।"** (त. सा. २।१६६)

इन उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थों में भी यही कहा गया है कि असंज्ञी जीव मरकर प्रथम नरक में भी उत्पन्न हो सकता है।

—जै. ग. 26-11-70/VII/ लालचन्द, टेवाड़ी

अपर्याप्तक निगोद मनुष्य बन सकता है

शंका—लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव क्या मनुष्यायु का बंध कर सकता है? यदि कर सकता है तो कब करता है और किन परिणामों से मनुष्यायु का बंध होता है?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव मनुष्यायु का बंध कर सकता है और मरकर मनुष्य हो जाता है। कहा भी है—

"पंचिदियतिरिक्खसण्णी असण्णी अपज्जत्ता पुढवीकाइया-आउकाइया वा वणप्फइकाइया णिगोद जीवा बादरा सुहुमा बादरवणप्फदिकाइया पत्तेयसरीरा पज्जत्ता अपज्जत्ता बीइंदिय-तीइंदिय-चउरिंदिय पज्जत्तापज्जत्ता तिरिक्खातिरिक्खेहिं कालगदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति? ॥११२॥ दुवे गदीओ गच्छंति तिरिक्खगदिं चेदि ॥ ११३ ॥" (ध. पु. ६ पृ. ४५७)

अर्थ—पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी व असंज्ञी दोनों अपर्याप्त, पृथिवीकायिक या जलकायिक या वनस्पतिकायिक या निगोद जीव इनके बादर या सूक्ष्म व बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर इन सबके पर्याप्त व अपर्याप्त जीव और द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियपर्याप्त व अपर्याप्त ये सब तिर्यंच मरण करके कितनी-कितनी गतियों में जाते हैं? दो गतियों में जाते हैं। तिर्यञ्च व मनुष्यगति इन दो गतियों में जाते हैं।

लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव की तृतीय भाग आयु शेष रहने पर मनुष्यायु का बंध हो सकता है और अपने योग्य विशुद्ध परिणामों से मनुष्यायु का बंध होता है।

—जै. ग. 28-11-70/VII/शास्त्र सभा, रेवाड़ी

अपर्याप्त (लब्ध्यपर्याप्तक) भी मनुष्यों में उत्पन्न हो सकते हैं

शंका—सर्वेऽपर्याप्तका जीवाः सूक्ष्मकायाश्च तैजसाः।
वायवोऽसंज्ञिनश्चैषां न तिर्यंग्भ्यो विनिर्गमः॥ (त. सा. २।१५३)

उपर्युक्त श्लोक शुद्ध नहीं लगता है। पंचसंग्रह २३१ गाथा ३५६-५७ के अर्थ में लिखा है कि पं. अपर्याप्त १०९ प्रकृतियों को बाँधते हैं, यानी मनुष्यायु को भी बाँधते हैं। अन्य सिद्धान्त ग्रंथों में भी ऐसा ही कथन है। फिर अपर्याप्त मनुष्यगति में कैसे नहीं जा सकता? इसके लिये धवल ग्रंथराज पु. ६ पृ. ४५७ सूत्र ११२ भी द्रष्टव्य है।

समाधान—तत्त्वार्थसार पृ० ७२, श्लोक १५३ अशुद्ध है। वस्तुतः ऐसा नहीं होना चाहिए। वैसे ही श्लोक सं० १५७ मे तैजसकायिक तथा वायुकायिक का कथन है। धवल पु० ६ का कथन ठीक है।

—पत्राचार 14-3-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

मनुष्यतिर्यंच की गत्यागति

शंका—मनुष्य मरकर मनुष्य ही हो, देव मरकर देव ही हो और नारकी मरकर नारकी ही हो, अन्य रूप से न हो तो क्या आपत्ति है? यथा हिंसा अहिंसा में, अन्धकार प्रकाश में, ज्ञान चारित्र में, जड़ चेतन में, नीम आम्र में, विष अमृत में कभी परिणत नहीं होते।

समाधान—मनुष्य व तिर्यञ्च मरकर चारों गतियों में उत्पन्न होते हैं। देव व नारकी मरकर केवल मनुष्य व तिर्यञ्च दो गतियों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा स्वभाव है और स्वभाव में प्रश्न नहीं होता। यदि स्वभाव में भी प्रश्न होने लगे तो यह प्रश्न हो सकता है कि अग्नि गर्म क्यों है?

यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही हो, देव मरकर देव ही हो, नारकी मरकर नारकी ही हो तो चतुर्गति भ्रमण का अभाव हो जाएगा। जो जीव नारकी और तिर्यञ्च हैं उनको कभी मनुष्य-पर्याय नहीं मिलेगी और वे तीन गतियों के जीव कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेंगे। मनुष्य संख्यात हैं, उनके मोक्ष प्राप्त कर लेने पर अन्य गति के जीवों के मनुष्यों में उत्पन्न न होने से, मोक्षमार्ग का अभाव हो जाएगा। (तथा आगम से भी विरोध आता है।)

एक जीव हिंसा को त्यागकर अहिंसक हो जाता है। जो पुद्गल अन्धकार रूप परिणमन कर रहा था वही पुद्गल दीपक या सूर्य आदि का निमित्त पाकर प्रकाशरूप परिणम जाता है। जब ज्ञान रागादि के त्याग स्वभाव रूप परिणमन करता है वह चारित्र है—रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रं—समयसार गाथा १५५ टीका। छद्मस्थों के ज्ञानावरण कर्म के उदय के कारण 'अज्ञान' औदयिक भाव है। जितने अंशों में ज्ञान का अभाव है उसको अज्ञान अथवा जड़ कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर अज्ञान (जड़) का नाश होकर चेतन (केवलज्ञान) रूप परिणमन हो जाता है। जो पुद्गल परमाणु नीम व विषरूप हैं वे ही परमाणु काल पाकर आम व अमृतरूप परिणम जाते हैं अतः इन दृष्टान्तों द्वारा भी शंकाकार के मत की सिद्धि नहीं होती है।

—जै. सं. 5-7-56/VI/ र. ला. जैन, केकड़ी

त्रेसठशलाका पुरुष की गत्यागति

शंका—त्रेसठ शलाका के पुरुष कौन जीव होते हैं? पूर्व में कितनी किस प्रकार की योग्यता होनी चाहिए तथा आगामी काल में क्या ऐसे सब पुरुष शीघ्र मोक्षगामी होते हैं।

समाधान—२४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र (२४+१२+९+९+९=६३) ये ६३ शलाका पुरुष होते हैं। कहा भी है—

> चउवीसबारतिघणं तित्थयरा छत्ति खंडभर हवई।
> तुरिए काले होंति हु तेवट्ठिसलागपुरिसा ते ॥८०३॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—चौबीस तीर्थंकर और बारह षट्खंड-भरत के पति अर्थात् चक्रवर्ती और तीन का घन अर्थात् सत्ताईस त्रिखंड-पति अर्थात् नवनारायण, नव-प्रतिनारायण, नव-बलभद्र ऐसे ये त्रेसठ शलाका पुरुष चौथे काल में होते हैं।

जो पूर्वभव में मनुष्य या तिर्यंच, नीचे की चार पृथ्वियों के नारकी, भवनवासी देव, वानव्यन्तर देव व ज्योतिषी देव ये मरकर त्रेसठ शलाका पुरुष नहीं होते। प्रथम तीन पृथ्वी के नारकी तीर्थंकर हो सकते हैं, किन्तु चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण व बलभद्र नहीं होते। सौधर्म आदि स्वर्गों से आकर त्रेसठ शलाका पुरुष होते हैं। (धवल पु. ६ पृ. ४८४-५००)

इन त्रेसठ शलाका पुरुषों में से चौबीस तीर्थंकर तो तद्भव मोक्षगामी होते हैं शेष निकट भव्य होते हैं—कहा भी है—

तित्थयरा तग्गुरओ चक्कीबल केसिरुद्दणारद्दा ।
अंगजकुलयरपुरिसा भविया सिज्झंति णियमेण ॥१४७३॥ ति० प० अ० ४

अर्थ—तीर्थंकर, उनके माता पिता, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण, रुद्र, नारद, कामदेव, कुलकर ये सब भव्य होते हुए नियम से सिद्ध होते हैं ।

—जै. ग. 4-7-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

सम्यक्त्वी मनुष्य विदेह क्षेत्र में नहीं जाता

शंका—भरत क्षेत्र का मनुष्य किस भाव से (मिथ्यात्व भाव से या सम्यक्त्व भाव से) विदेह क्षेत्र की मनुष्यायु का बंध करता है और किस भाव से मरकर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होता है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तो मनुष्यायु का बंध नहीं हो सकता क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ में 'सम्यक्त्वं च' सूत्र द्वारा यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन देवायु के बंध का कारण है, इसलिये सम्यग्दृष्टि मनुष्य के देवायु का ही बंध होता है । क्षयोपशम-सम्यग्दृष्टि मनुष्य मर कर देव गति को ही जाता है, अन्य गति को नहीं जाता है । कहा भी है—

एक्कं हि चेव देवगदिं गच्छंति । षट्खंडागम १, ९-९

अर्थात्—संख्यात वर्षायुष्क (कर्म-भूमिया) सम्यग्दृष्टि मनुष्य एक देव गति को ही जाता है । मिथ्यात्व भाव से मर कर मनुष्य विदेह क्षेत्र में मनुष्य उत्पन्न होता है ।

—जै. ग. 24-7-67/VII/ज. प्र. म. कु.

भरत क्षेत्र का मिथ्यादृष्टि मर विदेहक्षेत्र में जा सकता है

शंका—मनुष्य कौन से कर्म करे जिससे भरत क्षेत्र का मनुष्य मर कर विदेह क्षेत्र में मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर सके, क्योंकि वर्तमान में विदेह क्षेत्र का मनुष्य संयम धारण कर मोक्ष जा सकता है । भरत या ऐरावत क्षेत्र का मनुष्य मोक्ष नहीं जा सकता है ।

समाधान—भरत क्षेत्र का सम्यग्दृष्टि मनुष्य तो मर कर विदेह क्षेत्र में मनुष्य नहीं हो सकता है, इसी प्रकार विदेह क्षेत्र का सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी मर कर भरत या ऐरावत क्षेत्र का मनुष्य नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य या तिर्यंचों के सम्यग्दर्शन से मात्र देवायु का ही बंध होता है । ऐसा "सम्यक्त्वं च ॥२१॥" त० सू० के द्वारा कहा गया है ।

जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्यायु का बन्ध कर लिया था और उसके पश्चात् उनको सम्यग्दर्शन हो गया है ऐसे कर्मभूमिया मनुष्यों का यदि सम्यक्त्व सहित मरण होता है तो वे भोगभूमि के मनुष्यों में उत्पन्न होंगे; विदेह आदि की कर्मभूमि के मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होंगे ।

कर्मभूमिया मिथ्यादृष्टि मनुष्य मरकर विदेह आदि कर्मभूमि क्षेत्रों का मनुष्य हो सकता है। "अल्पारम्भ परिग्रहत्वं मानुषस्य ।।१७।।" त० सू० के सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है कि जिस मिथ्यादृष्टि के अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह है वह मनुष्यायु का बंध करता है।

—जै. ग. 23-12-71/VII/ जंनीमल जैन

विदेहक्षेत्र का सम्यग्दृष्टि मर कर यहाँ जन्म नहीं लेता

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर मनुष्य नहीं हो सकता? क्या भरत क्षेत्र का सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो, तीर्थंकर केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न कर मोक्ष नहीं जा सकता? श्री कानजी स्वामी विदेह क्षेत्र में सम्यग्दृष्टि मनुष्य थे वे वहाँ से चयकर भरत क्षेत्र में सम्यग्दृष्टि मनुष्य उत्पन्न हुए। जब विदेह क्षेत्र का सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर भरत क्षेत्र का सम्यग्दृष्टि मनुष्य हो सकता है तो भरत क्षेत्र का सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर विदेह क्षेत्र के सम्यग्दृष्टि मनुष्यों में क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता?

समाधान—सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर देवों में उत्पन्न होता है, यदि वह अन्य गति में उत्पन्न होता है तो उसका सम्यक्त्व छूटकर मिथ्यात्व अवस्था में मरण होता है। षट्खंडागम और उसकी धवल टीका में कहा भी है—

"मणुससम्माइट्ठी संखेज्जवासाउआ, मणुस्सा मणुस्सेहि कालगदसमाणा, कदि गदीओ गच्छंति ।।१६३।।

एक्कं हि चेव देवगदि गच्छंति ।। १६४ ।।

धवल टीका—देवगइं मोत्तूणण्ण गईणमाउअं बंधिदूण जेहि सम्मत्तं पच्छा पडिवण्णं ते एत्थ किण्ण गहिदा? ण तेसिं मिच्छत्तं गंतूणप्पणो बंधाउअवसेण उप्पज्जमाणाणं सम्मत्ता भावा। संख्यातवर्षायुष्क (कर्मभूमिजमनुष्य)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि मनुष्य पर्याय से मरण कर कितनी गतियों में जाते हैं। वे मात्र एक देवगति को ही जाते हैं ।। १६३–१६४ ।।

देवायु के अतिरिक्त अन्य गतियों को बाँध-कर जिन मनुष्यों ने पश्चात् सम्यक्त्व ग्रहण किया है उनका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया अर्थात् मात्र एक देवगति में ही जाते हैं अन्य गतियों में नहीं जाते ऐसा क्यों कहा? नहीं कहा, क्योंकि पुनः मिथ्यात्व में जाकर अपनी बाँधी हुई आयु के वश से उत्पन्न होने वाले उन जीवों के सम्यक्त्व का अभाव पाया जाता है। यदि किसी मनुष्य ने मनुष्यायु का बंध कर लिया उसके पश्चात् सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर लिया है तो वह सम्यक्त्व मरण के अन्तर्मुहूर्त पूर्व छूट जायगा और मिथ्यात्व में जाकर उसका मरण होगा।

—धवल पु० ६

"भोगभूमौ निवृत्यपर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक-सम्यग्दृष्टौ कापोतलेश्या जघन्यांशो भवति। कुतः कर्मभूमि-नरतिरश्चां प्राग्बद्धायुषां क्षायिकसम्यक्त्वे वा वेदकसम्यक्त्वे वा स्वीकृते तदंशजघन्येन तत्रोत्पत्ति संभवात्।"

यहाँ यह कहा गया है कि जिस मनुष्य ने मनुष्यायु या तिर्यंचायु का बंध कर लिया है पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व या कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त हो गया वह जीव मरकर भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यंचों में ही उत्पन्न होगा और उसके कापोत लेश्या का जघन्य अंश होगा। (गो० जी० ५३१)

"खवणाए पट्ठवगो जम्हि भवे णियमसा तदो अण्णे। णाधिच्छदि तिण्णिभवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥११३॥ क० पा० जयधवल टीका—जो उण पुव्वाउअबंधवसेण भोगभूमिअ तिरिक्खमणुस्सेसुप्पज्जइ तस्स खवणा-पट्ठवणभवं मोत्तूण अण्णे तिण्णिभवा होंति।" ज० ध० १३।१०

यहाँ पर कहा गया है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि उस भव से अतिरिक्त अन्य तीन भवों से अधिक संसार में नहीं रहता। जिसने पूर्व में तिर्यंच या मनुष्य आयु का बंध कर लिया है, वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरकर भोग भूमि का ही तिर्यंच या मनुष्य होगा उसके तीन भव होते हैं।"

"क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां भोगभूमिमन्तरेणोत्पत्तेरभावात्। धवल पु० १

क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर भोगभूमि के अतिरिक्त अन्यत्र उत्पन्न नहीं होता। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य मर कर भोगभूमि में ही क्यों उत्पन्न होता है कर्मभूमि के मनुष्य या तिर्यंच में क्यों नहीं उत्पन्न होता ? उत्तर यह है।

"यत्र क्वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यत इति गृह्यताम्।" ध० पु० १

मनुष्य सम्यग्दृष्टि जिस किसी गति में उत्पन्न होता है वह विशिष्ट वेद आदिक अर्थात् तत्र गति सम्बन्धी विशिष्ट गति में ही उत्पन्न होता है। यदि देवों में उत्पन्न होता है तो वैमानिक उच्च देवों में ही उत्पन्न होता है। यदि सम्यग्दृष्टि मनुष्य मर कर मनुष्य या तिर्यंचों में उत्पन्न होता है तो भोगभूमियों में ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर मनुष्यों में उत्पन्न होता है तो भोगभूमि में ही उत्पन्न होता है कर्म-भूमि में उत्पन्न नहीं होता। सम्यक्त्व की विराधना कर मिथ्यात्व में जाकर मिथ्यादृष्टि मनुष्य ही कर्मभूमि का मनुष्य या तिर्यंच हो सकता है। यह कहना ठीक नहीं है कि विदेह क्षेत्र का सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर सम्यक्त्व सहित भरत क्षेत्र के पंचमकाल में मनुष्य हुआ।

—जै. ग. 17-11-77/VIII/ नारेजी शास्त्री

पंचमकाल में सम्यक्त्वी जीवों का उत्पाद नहीं होता

शंका—क्या पंचम काल में भरत क्षेत्र में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—पंचमकाल निकृष्टकाल है, इस काल में भरत क्षेत्र में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते। प्रायः पापी जीव ही उत्पन्न होते हैं।

—जै. ग. 27-6-66/IX/ हेमचंद

भरतक्षेत्र का सम्यक्त्वी मरकर भरतक्षेत्र में जन्म नहीं लेता

शंका—क्या भरत क्षेत्र का चौथे-पंचम काल का मनुष्य सम्यक्त्व सहित मरण कर भरत क्षेत्र में मनुष्य नहीं हो सकता ? क्या देवों में ही पैदा होता है ?

समाधान—सम्यक्त्व सहित मनुष्य या तिर्यंच के देवायु का ही बन्ध होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन देवायु के बन्ध का कारण है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ में 'सम्यक्त्वं च' सूत्र के द्वारा कहा है। भरत क्षेत्र में चतुर्थ

व पंचम काल में मनुष्यों की आयु संख्यात वर्ष की होती है असंख्यात वर्ष की नहीं, क्योंकि कर्मभूमि प्रारम्भ हो जाती है। इसलिये कर्मभूमिया मनुष्य संख्यातवर्षायुष्क कहलाते हैं। इस सम्बन्ध में षट्खंडागम के निम्न सूत्र हैं—

मणुससम्माइट्ठी संखेज्जवासाउआ मणुस्सा मणुस्सेहि कालगदसमाणा कदि गदिओ गच्छंति ? ॥१६३॥

एक्कं हि चेव देवगदिं गच्छंति ॥ १६४ ॥ ध० पु० ६ पृ० ४७३-४७४

अर्थ—मनुष्य सम्यग्दृष्टि संख्यातवर्षायुष्क (कर्मभूमिया) मनुष्य, मनुष्य पर्याय से मरण कर कितनी गतियों में जाते हैं ?

संख्यातवर्षायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्य एकमात्र देवगति को ही जाते हैं।

इस सूत्र की टीका में श्री वीरसेन आचार्य ने यह स्पष्ट बतलाया है कि देवगति को छोड़कर अन्य गतियों को बांध कर जिन मनुष्यों ने पश्चात् सम्यक्त्व ग्रहण किया है वे अपनी बन्धी हुई आयु के वश से पुनः मिथ्यात्व में जाकर मरण करते हैं, उन जीवों के मरण काल में सम्यक्त्व का अभाव पाया जाता है। दर्शन मोह की क्षपणा करने वाले मनुष्य मरकर भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं, कर्मभूमियों के मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होते।

—जै. ग. 12-8-65/V/ ब्र. कुन्दनलाल

मनुष्यों व अग्निवायुकायिकों की गत्यागति

शंका—पंचास्तिकाय पृ० ६३ पर कृष्ण नील कापोत लेश्या के मध्यम अंश से मरे ऐसे तिर्यंच या मनुष्य अग्निकायिक वायुकायिक विकलत्रय असैनी पंचेन्द्री व साधारण वनस्पति में उपजे हैं। जबकि मनुष्य अग्निकाय और वायुकाय में पैदा नहीं होते ?

समाधान—मनुष्य मरकर अग्निकायिक व वायुकायिक में उत्पन्न हो सकता है, किन्तु अग्निकाय और वायुकाय का जीव मरकर मनुष्यों में उत्पन्न नहीं हो सकता। ष० खं० पु० ६ पृ० ४६८ सूत्र १४१, १४२ व १४४ में कहा है 'संख्यातवर्षायुष्क मनुष्य मरण कर चारों गतियों में जाते हैं। उनमें से तिर्यंचों में जाने वाले उपर्युक्त मनुष्य सभी तिर्यंचों में जाते हैं' 'इससे स्पष्ट है कि कर्मभूमिज मनुष्य मरकर सभी तिर्यंचों में अर्थात् पाँचों स्थावर-काय, विकलत्रय, संज्ञी-असंज्ञी तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं। किन्तु ष० खं० पु० ६ पृ० ४५८ सूत्र ११५ व ११६ में कहा है कि 'अग्निकायिक और वायुकायिक बादर व सूक्ष्म पर्याप्तक व अपर्याप्तक तिर्यंच मरण करके एकमात्र तिर्यंचगति में ही जाते हैं।

—जै. ग. 20-8-64/IX/ ध. ला. सेठी, खुरई

अभव्य की उत्पत्ति चरमग्रैवेयक तक

शंका—अभव्य जीव नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं या नहीं ?

समाधान—अभव्य जीव नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि पंच परिवर्तन में भव परिवर्तन में देवों की ३१ सागर आयु का कथन है।

णिरआउआ जहण्णा जाव दु उवरिल्लओ दु गेवज्जो।
जीवो मिच्छत्तवसा भवट्ठिदिं हिंडिदो बहुसो ॥ २५ ॥

ध. पु. ४ पृ. ३३३, स. सि. २।१०, गो. जी., जी. प्र. ५६०, बा. अनु. आदि

भवपरिवर्तन रूप संसार में भ्रमण करता हुआ यह जीव मिथ्यात्व के वश से जघन्य नरकायुसे लगाकर उपरिम ग्रैवेयक की भवस्थिति को बहुत बार प्राप्त हो चुका है।

—जै. ग. 20-6-68/VI/.... ... .

द्रव्यमुनि का चरमग्रैवेयक तक गमन

शंका—धवल में १६ वें स्वर्ग तक असंयत सम्यग्दृष्टि के उत्पाद का वर्णन है तथा जयधवल भाग १ में द्रव्यलिंगी मुनि के ही १६ वें स्वर्ग तक जाना बतलाया है सो परस्पर विरोध कथन कैसे ?

समाधान—सामान्य मिथ्यादृष्टि मरकर बारहवें स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु यदि वह द्रव्य-लिंगी मुनि है तो मरकर नवग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकता है। असंयत सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन के कारण सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता, किन्तु यदि वह सम्यग्दृष्टि मुनि है तो सर्वार्थसिद्धि विमान तक उत्पन्न हो सकता है। कहा भी है—

णरतिरियदेसअयदा उक्कस्सेणच्चुदोत्ति णिग्गंथा।
ण य अयद देसमिच्छा गेवेज्जंतोत्ति गच्छंति ॥५४५॥
सव्वट्ठोत्ति सुदिट्ठी महव्वई ....

॥५४६॥ त्रिलोकसार

अर्थ—असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य व तिर्यंच उत्कृष्टपने १६ वें स्वर्ग पर्यंत जाय हैं तातैं उपरि नाहीं। बहुरि द्रव्य करि संयत (मुनि) अर भाव असंयत देशसंयत व मिथ्यादृष्टि मनुष्य तो उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत जाय है। तातैं ऊपर नाहीं। सम्यग्दृष्टि द्रव्य व भाव करि महाव्रती मनुष्य सर्वार्थसिद्धि पर्यंत जाय है।

—जै. ग. 4-1-68/VII/ ब्रा. कु. बड़जात्या

महामुनि ही लौकान्तिक होते हैं

शंका—लौकान्तिक देवों में कौन जीव जन्म ले सकते हैं ?

समाधान—संयमी मुनि लौकांतिक देवों में उत्पन्न हो सकते हैं। कहा भी है—

इह खेते वेरग्गं बहुभेयं भाविदूण बहुकालं।
संजमभावेहि मुणी देवा लोयंतिया होंति ॥८।६४६॥ ति० प०
थुइणिदासु समाणो सहदुक्खेसु सबंधुरिउवग्गे।
जो समणो सम्मत्तो सो च्चिय लोयंतिओ होदि ॥८।६४७॥ ति० प०

अर्थ—इस क्षेत्र में बहुत काल तक बहुत प्रकार के वैराग्य को भाकर संयम से युक्त मुनि लौकांतिक देव होते हैं ॥६४६॥ जो सम्यग्दृष्टि मुनि स्तुति और निन्दा में सुख और दुःख तथा बन्धु और रिपु वर्ग में समान है वही लौकांतिक होता है ॥ ६४७ ॥

—जै. ग. 19-9-66/IX/र. ला. जैन, मेरठ

पंचम काल के मुनि अच्युत स्वर्ग तक जाते हैं

शंका—पंचमकाल के भावलिंगी मुनि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट कितने स्वर्गों तक जा सकते हैं ? एवं द्रव्यलिंगी शुद्ध व्यवहार चारित्र को पालन करने वाले मुनि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट कितने स्वर्ग तक जा सकते हैं ?

समाधान—भरतक्षेत्र आर्यखंड पंचमकाल में अन्त के तीन संहनन (सृपाटिकासंहनन, कीलितसंहनन और अर्धनाराचसंहनन) होते हैं। कहा भी है—

"चउत्थे पंचम छट्ठे कमसो छत्तिगेक्क संहडणी ॥ ८८ ॥" श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत विरचित कर्मप्रकृति

सृपाटिका संहनन वाले जीव स्वर्ग में चौथे युगल तक उत्पन्न हो सकते हैं। कीलित संहननवाले जीव छट्ठे युगल तक और अर्धनाराच संहननवाले जीव आठवें युगल तक उत्पन्न हो सकते हैं। गो. क. गाथा २९।

पंचमकाल में अर्धनाराचसंहनन तक हो सकता है। अतः जिन मुनियों के अर्धनाराच संहनन है वे भाव-लिंगी या द्रव्यलिंगी मुनि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं।

—जै. ग. 4-4-63/IX/ अमृतलाल शास्त्री

चक्रवर्ती की पटरानी के नरक जाने का नियम नहीं

शंका—चक्रवर्ती की पटरानी कौन से नरक में जाती है ? उसके नरक जाने का नियम है या नहीं ?

समाधान—चक्रवर्ती की पटरानी के नरक जाने का कोई नियम नहीं। यदि वह नरक जाती है तो छठे नरक तक जा सकती है। कहा भी है—"पंचम खिदि परियंतं सिंहो इत्थि वि छट्ठ खिदि अंतं।"

सिंह पाँचवें नरक तक उत्पन्न हो सकता है, स्त्री छठी पृथ्वी (छठे नरक) तक उत्पन्न हो सकती है। स्त्री छठे नरक से आगे नहीं जा सकती।

—जै. ग. 16-3-78/VIII/ र. ला. जैन मेरठ

शंका—क्या चक्रवर्ती की पटरानी नरक में ही जाती है ?

समाधान—चक्रवर्ती की पटरानी नरक में ही जाती है ऐसा कोई नियम नहीं है। अपने परिणामों के अनुसार चारों गतियों में जा सकती है। यह सब किंवदन्ती है कि तन्दुलमत्स्य तथा चक्रवर्ती की पटरानी नरक में ही जाते हैं। किसी भी आगम में ऐसा नियम नहीं लिखा।

—पत्राचार 28-10-77/ब. प्र. सरावगी, पटना

म्लेच्छखण्डोत्पन्न मनुष्य मोक्ष में नहीं जा सकता

शंका—क्या म्लेच्छ खण्ड का उत्पन्न हुआ मनुष्य सकल संयम ग्रहण कर सकता है ? क्या वह मोक्ष जा सकता है ?

समाधान—सर्व म्लेच्छ खण्डों में मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। कहा भी है—

"सव्व मिलिच्छम्मि मिच्छत्तं।" ति० प०

सब म्लेच्छ खण्डों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

यदि म्लेच्छखण्ड का उत्पन्न हुआ मनुष्य आर्यखण्ड में आ जावे तो वह सकल संयम धारण कर सकता है।

"म्लेच्छभूमिज मनुष्याणां सकल संयम ग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिक संबन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्।'

—ल० सा० पृ० २४९

कोऊ आशंका करे कि म्लेच्छ खंड का उपज्या मनुष्य के सकल संयम कैसे संभवे ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, दिग्विजय के समय जो म्लेच्छखंड के मनुष्य चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्ड विषै आवे और तिन से चक्रवर्ती आदि के विवाह आदि सम्बन्ध पाइए है तिनके सकल संयम होने में कोई विरोध नहीं है।

म्लेच्छखण्ड का मनुष्य जब आर्यखण्ड में आ जाता है और यहाँ पर उसके विवाह आदि सम्बन्ध हो जाते हैं तो उसके संस्कार कुछ बदल जाते हैं और वह मुनि दीक्षा ग्रहण के योग्य हो जाता है, किन्तु उसके परिणामों में इतनी विशुद्धता नहीं आती है कि वह क्षपक श्रेणी आरोहण कर सके, इसीलिये वह उसी भव से मोक्ष नहीं जा सकता है।

—जै. ग. 30-7-70/VIII/ शास्त्र सभा, रेवाड़ी

शंका—म्लेच्छ खण्ड की कन्या जिसका विवाह चक्रवर्ती से हो जाता है क्या उससे उत्पन्न हुई सन्तान मोक्ष जा सकती है ?

समाधान—इस विषय में स्पष्ट उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया, किन्तु उनके मोक्ष जाने में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि वे आर्य हैं तथा आर्यक्षेत्र में उत्पन्न हुए हैं।

—पत्राचार 3-8-60/ब. प्र. सरावगी, पटना

मनुष्य तेजस्कायिक व वायुकायिक में भी जाते हैं

शंका—चौबीस ठाणा में लिखा है कि मनुष्य तेजकाय वायुकाय में उत्पन्न नहीं होता है। क्या कारण है ?

समाधान—मनुष्य मरकर तेजकायिक और वायुकायिक में भी उत्पन्न होते हैं। कहा भी है—

"मणुसा मणुसपज्जत्ता संखेज्जवासाउआ मणुसा मणुसेहि कालगदसमाणा कदि गदिओ गच्छंति ? १४१।। चत्तारि-गदीओ गच्छंति णिरयगई तिरिक्खगई मणुसगई देवगई चेदि ।।१४२।। तिरिक्खेसु गच्छंता सव्वतिरिक्खेसु गच्छंति ।।१४४।।" धवल पु० ६ पृ० ४६८-६९ ।

अर्थ—मनुष्य व मनुष्य पर्याप्त मिथ्यादृष्टि संख्यातवर्षायुष्क मनुष्य मनुष्य पर्याय से मरण कर कितनी गतियों को जाते हैं ? उपर्युक्त मनुष्य चारों गतियों में जाते हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। तिर्यंचों में जाने वाले मनुष्य, उपर्युक्त मनुष्य सभी तिर्यंचों में जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि मनुष्य मरकर सभी तिर्यंचों में उत्पन्न होता है इस सूत्र से स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्यादृष्टि मनुष्य मरकर अग्निकायिक और वायुकायिक में भी उत्पन्न हो सकता है।

अग्निकायिक और वायुकायिक जीव मरकर मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होते हैं। कहा भी है—

सर्वेऽपि तैजसा जीवाः सर्वे चानिलकायिकाः ।
मनुजेषु न जायन्ते जन्मन्यनन्तरे ।।२।१५७।। तत्त्वार्थसार

सब अग्निकायिक और वायुकायिक जीव मरकर जन्मान्तर में मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

"तेउकाइया वाउकाइया, बादरा सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता तिरिक्खा तिरिक्खेहि कालगदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति ? ११५ ।। एक्कं चेव तिरिक्ख गदिं गच्छंति ।। ११६ ।। धवल पु० ६ पृ० ४५८ ।

अग्निकायिक और वायुकायिक बादर व सूक्ष्म पर्याप्तक व अपर्याप्तक तिर्यंच, तिर्यंचपर्याय से मरण करके कितनी गतियों में जाते हैं। उपर्युक्त तिर्यंच एकमात्र तिर्यंच गति में ही जाते हैं।

—जै. ग. 27-7-69/VI/सु. प्र. जैन

पंचमकाल के मनुष्य की स्वर्ग में गमन सीमा

शंका—पंचम काल का जीव कौनसे स्वर्ग तक जा सकता है ? कहीं सुनने में आता है कि पाँचवें स्वर्ग तक जाता है। कोई विद्वान् बारहवें स्वर्ग तक गमन बताते हैं। कृपया समाधान करावें।

समाधान—पंचमकाल में तीन हीन संहनन होते हैं। अर्द्धनाराच संहनन वाला अच्युत स्वर्ग तक जा सकता है। गो० क० गाथा २९, कर्मप्रकृति एवं त्रिलोकसार।

[उक्त कथन से प्रतीत होता है कि पंचम काल में जन्मा योग्य मनुष्य अच्युत स्वर्ग तक जा सकता है।]

—पत्राचार 28-1-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

लब्ध्यपर्याप्तक की आयु बाँधने वाला भोगभूमि में जा सकता है

शंका—लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य की आयु का बन्ध करने वाला जीव क्या दान देने पर भोगभूमि में जा सकता है ?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य की आयु का बन्ध करके दान देने पर अन्य अपकर्ष में वह पुनः एक पूर्वकोटि से अधिक आयु का बन्ध करके अथवा, अन्तिम असंक्षेपाद्धा में अधिक स्थिति वाली मनुष्यायु का बन्ध हो जाने पर वह भोगभूमि में उत्पन्न हो सकता है; इसमें कुछ भी बाधा नहीं है।

—पत्राचार 21-4-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

तीर्थंकर प्रकृतिबन्धक का तृतीय पृथिवी तक गमन

शंका—षोडशकारण भावना भाने से जिस जीव को तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो गया, क्या वह जीव पूर्व संचित कर्म से नरकों में जा सकता है, यदि हां तो कौन से नरक तक ?

समाधान—जिस मनुष्य ने नरकायु का बंध कर लिया है और उसके पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है तो वह मनुष्य मरकर तीसरे नरक तक उत्पन्न हो सकता है। महाबंध में श्री भूतबली भगवान ने कहा है—

"तित्थयर-जहण्णेण चदुरासीदि-वास सहस्साणि, उक्कस्सेण तिण्णि साग० सादिरेयाणि।"

—महाबंध पु० १ पृ० ४५

नरकगति में एक जीव की अपेक्षा तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य बंध काल ८४ हजार वर्ष है तथा उत्कृष्ट काल साधिक तीन सागर प्रमाण है।

साधिक तीन सागर की आयु तीसरे नरक में ही संभव है, क्योंकि दूसरे नरक में पूरे तीन सागर की है।

धवल पु० ६ पृ० ४९२ सूत्र २२० में भी कहा है—

नरक में ऊपर की तीन पृथिवियों से निकल कर मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले ग्यारह गुणों को प्राप्त कर सकते हैं (१) कोई अभिनिबोधिक ज्ञान उत्पन्न करते हैं, (२) कोई श्रुत ज्ञान उत्पन्न करते हैं, (३) मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न करते हैं, (४) अवधिज्ञान उत्पन्न करते हैं, (५) केवलज्ञान, (६) सम्यग्मिथ्यात्व, (७) सम्यक्त्व, (८) संयमासंयम, (९) संयम, (१०) तीर्थंकर उत्पन्न करते हैं, (११) अन्तकृत् होकर सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र से भी सिद्ध होता है कि तीसरे नरक से निकल कर तीर्थंकर हो सकता है।

—जै. ग. 10-4-69/V/........

देव पर्याय से तिर्यंच पर्याय

शंका—पहले और दूसरे स्वर्ग के देव क्या मरकर तिर्यंच होते हैं, ऐसा कोई नियम है ?

समाधान—बारहवें स्वर्ग तक के देव मर कर तिर्यंच हो सकते हैं और दूसरे स्वर्ग तक के देव मर कर एकेन्द्रिय भी हो सकते हैं; ऐसा शास्त्रवचन है।

—जै. सं 29-11-56/ल. च. धरमपुरी

सर्वार्थसिद्धि से आकर अवधि सहित ही मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं

शंका—भरतजी और बाहुबलीजी सर्वार्थसिद्धि से आये थे, क्या वे अवधिज्ञान साथ लाये थे ? जबकि तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य के साथ अवधिज्ञान नहीं आता।

समाधान—सर्वार्थसिद्धि से मनुष्यों में उत्पन्न होने वालों के अवधिज्ञान साथ आता है, ऐसा सर्वज्ञ का उपदेश है। द्वादशांग के सूत्र निम्न प्रकार हैं, जिनको भूतबलि आचार्य ने षट्खंडागम में ग्रंथित किया था—

सव्वट्ठसिद्धिविमाणवासियदेवा देवेहि चुदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति ॥२४१॥ एक्कं हि चेव मणुसगदिमागच्छंति ॥ २४२ ॥ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा तेसिमाभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं च णियमा अत्थि। .... ॥२४३॥ धवल पु० ६ ० ५००

अर्थ—सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव देवपर्यायों से च्युत होकर कितनी गतियों में आते हैं? सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव च्युत होकर केवल एक मनुष्यगति में ही आते हैं।

सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुत ज्ञान और अवधिज्ञान नियम से होता है।

—जै. ग. 12-8-65/V/ ब्र. कुन्दनलाल

जीवों का अन्य भव विषयक उत्पत्ति स्थान कथंचित् नियत व कथंचित् अनियत

शंका—जीवों का उत्पत्ति स्थान कैसे और कब नियत होता है अर्थात् मरने के बाद या मरने से कुछ पहले या आयु बंध के समय? किसी जीव का कोई उत्पत्ति स्थान नियत हुआ, किन्तु इसी बीच में वह योनि स्थान बिगड़ जाय तब वह जीव कहाँ उत्पन्न होगा?

समाधान—उत्पत्तिस्थान के नियत होने के विषय में कोई स्पष्ट निर्देश आर्ष ग्रन्थों में मेरे देखने में नहीं आया। विभिन्न ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्पत्ति स्थान के नियत होने का कोई एकान्त नियम नहीं है।

राजा श्रेणिक ने सातवें नरक की आयु का बंध किया था और आयु बंध के समय सातवाँ नरक उत्पत्ति स्थान नियत हो गया था, किन्तु आयु का अपकर्षण करके मात्र चौरासी हजार वर्ष की आयु कर ली जिससे राजा श्रेणिक मरकर प्रथम नरक के प्रथम पाथड़े में उत्पन्न हुए। घातायुष्क वाले जीव आयु बंध अन्य स्वर्ग की करते हैं और मरकर अन्य स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। इसलिये आयु बंध के समय उत्पत्ति स्थान नियत हो जाता है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

जो मारणान्तिक समुद्घात करने वाले जीव हैं, इनका मरण से अन्तर्मुहूर्त पूर्व उत्पत्ति स्थान नियत हो जाता है। कुछ का मरण समय उत्पत्ति स्थान नियत होता है।

तीर्थंकर आदि का उत्पत्तिस्थान बहुत पहले नियत हो जाता है।

श्रीकृष्ण के सुपुत्र शम्बु का उत्पत्ति स्थान हार पर निर्भर था। इस प्रकार जीव के उत्पत्ति स्थान के नियत होने का कोई एकान्त नियम नहीं है।

—जै. ग. 12-2-70/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

लोक-रचना

चित्रादि १६ पृथ्वियों का अवस्थान कहाँ है ?

शंका—चित्रादि १६ पृथ्वियाँ कहाँ हैं ? क्या ये मध्यलोक और प्रथम नरक के बीच में हैं ?

समाधान—रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं। उसमें जो ऊपर का खर भाग है उसमें ये चित्रादि १६ पृथ्वियाँ हैं और सबसे नीचे के अब्बहुल भाग में प्रथम नरक है।

खरपंकप्पब्बहुला भागा रयणप्पहाए पुढवीए। बहलत्तणं सहस्सा सोलस चउसीदि सीदी य ।। ९ ।।
खरभागो णादव्वो सोलसभेदेहिं संजुदो णियमा। चित्तादीओ खिदिओ तेसिं चित्ता बहुवियप्पा ।।१०।।

अधोलोक में सबसे पहली रत्नप्रभा पृथ्वी है। उसके तीन भाग हैं—खरभाग, पङ्कभाग और अब्बहुल भाग। इन तीनों भागों का बाहल्य क्रमशः १६०००, ८४०००, ८०००० योजन प्रमाण है ।। ९ ।। इनमें से खर भाग १६ भेदों सहित हैं। ये सोलह भेद चित्रादिक सोलह पृथ्वी रूप हैं ।। १० ।। ति. प. दू. अधि.

तत्र रत्नप्रभायां अब्बहुलभागे उपर्यधश्चैकैकंयो जन सहस्रं वर्जयित्वा मध्ये नरकाणि भवन्ति।

—रा. वा. ३।२।२ पृ० १६२

रत्नप्रभा पृथ्वी के अब्बहुल भाग के ऊपर नीचे के एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्यभाग में नरकबिल हैं। चित्रापृथ्वी के ऊपर मध्यलोक है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन; भीण्डर

जम्बूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप समुद्रों के नीचे खर पृथ्वी में देव नहीं रहते

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र ११ की स० सि० में लिखा है कि "इस जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप-समुद्र लांघकर ऊपर के खर-पृथ्वि भाग में सात प्रकार के व्यन्तरों के आवास हैं।" यहाँ असंख्यात द्वीपसमुद्रों के लांघने से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—जम्बूद्वीप आदि असंख्यात द्वीपसमुद्रों के नीचे खर पृथ्वी में देवों के [व्यन्तर देवों के] निवास स्थान नहीं हैं, किन्तु उन असंख्यात द्वीपसमुद्रों के पश्चात् जो असंख्यात द्वीपसमुद्र शेष रहते हैं उनके नीचे स्थित खर पृथ्वी में व्यन्तर देवों के निवास हैं। यह अभिप्राय है। असंख्यात के असंख्यात भेद होने से असंख्यात में से असंख्यात घटाने पर शेष भी असंख्यात रह जाता है।

INFINITE—INFINITE=INFINITE. इसको गणितज्ञ जानते हैं।

—पत्राचार अगस्त 77 ज. ला. जैन, भीण्डर

भोग भूमि में भोजन सामग्री अचित्त है

शंका—कल्पवृक्षों से जो भोजन सामग्री मिलती है क्या वह अचेतन होती है ? यदि ऐसा है तो क्या वह वनस्पति की श्रेणी में नहीं गिनी जा सकती ?

समाधान—कल्पवृक्षों से जो भोजन सामग्री मिलती है वह अचित्त (अचेतन) होती है। वह वनस्पति की श्रेणी में नहीं आती।

—जै. ग. 9-1-64/IX/र. ला. जैन, मेरठ

भोगभूमि में कपड़ों व वस्त्रों की कल्पवृक्षों से प्राप्ति

शंका—कल्प वृक्षों से कपड़े सिले हुए और गहने घड़े हुए मिलते हैं क्या? कल्पवृक्ष से प्राप्त वस्तुओं का प्रयोग कर्मभूमि के जीव भी कर सकते हैं या नहीं?

समाधान—ऐसा प्रतीत होता है कि भोग भूमिया जीव सिले हुए वस्त्र नहीं पहनते थे, धोती दुपट्टा में रहते थे इसलिये सिले हुए कपड़ों का प्रसंग नहीं आता था। आभूषण घड़े हुए मिलते थे कहा भी है—

> तरुओ विभूसणंगा कंकण कडिसुत्तहार केयूरा।
> मंजीर कडयकुण्डल तिरीडमउडादियं देंता ॥ ४।३४५ ति. प.

अर्थ—भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष कंकण, कटिसूत्र, हार, केयूर, मंजीर, कटक, कुण्डल, क्रिरीट और मुकुट इत्यादि आभूषणों को प्रदान करते हैं।

इसी प्रकार जंबूदीवं पण्णत्ती २।१२९ पृ. २३ व लोक विभाग पृ. ८४ अधिकार ५ गाथा १६ में कहा है। श्री तीर्थंकर भगवान स्वर्ग के कल्पवृक्षों से प्राप्त सामग्री का प्रयोग करते हैं। श्री तीर्थंकर भगवान कर्म भूमि के जीव होते हैं।

—जै. ग. 19-9-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

स्वर्ग व भोग-भूमि के कल्पवृक्षों में भेद

शंका—भोगभूमि के कल्प वृक्षों से स्वर्गों के कल्प वृक्षों में क्या विशेषता है?

समाधान—भोगभूमि के कल्प वृक्षों का कथन तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४ गाथा ३४२-३५४ लोक विभाग ५।१३-२४ तथा जम्बूदीवपण्णत्ती २।१२६-१३७ में पाया जाता है। स्वर्ग के कल्पवृक्षों का कथन वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा ४३१-४३२ में है। जिससे ज्ञात होता है कि स्वर्ग में भोजन पान आदि के कल्पवृक्ष नहीं हैं।

—जै ग. 19-9-66/IX/र. ला. जैन, मेरठ

मानुषोत्तर से परे सर्वत्र प्रकाश है

शंका—ढाई द्वीप से बाहर सूर्यों के स्थिर रहने से जहाँ रात्रि है, वहाँ रात्रि तथा जहाँ सूर्य का प्रकाश पहुँचता है वहाँ दिन ही शाश्वत रूप से रहते हैं। क्या यह ठीक है?

समाधान—एक सूर्य का प्रकाश पचास हजार योजन तक जाता है। ढाई द्वीप से बाहर यद्यपि सूर्य स्थिर हैं, किन्तु एक सूर्य से दूसरे सूर्य के एक लाख योजन की दूरी पर स्थित होने से सर्वत्र प्रकाश रहता है। हाँ, प्रकाश में हीनाधिकता का अन्तर अवश्य रहता है।

—पत्राचार 19-12-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

कैलास पर्वत कहाँ है

शंका—कैलासपर्वत कहाँ है ? बताइए। क्या इसके अवस्थान या क्षेत्र के बारे में कोई आगम-प्रमाण मिलता है ?

समाधान—कैलासपर्वत कहाँ पर है, इसका पता नहीं है। श्री आदिनाथ भगवान् को मोक्ष गये लगभग एक कोड़ाकोड़ी सागर बीत गये। उस समय से अब तक पृथ्वी में अनेक परिवर्तन हो गये। जहाँ पर्वत थे वहाँ आज समुद्र हैं तथा जहाँ समुद्र थे वहाँ आज पर्वत हैं, इसलिये कैलासपर्वत के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। आगम में कैलासपर्वत का उल्लेख अवश्य है, परन्तु कौन कह सकता है कि वह अमुक जगह पर है।[1]

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

कालोदसमुद्र का किनारा टाँकी से काट दिया गया हो, ऐसा है

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ० ३ सूत्र ३३ की टीका में पृ० १६६ पर लिखा है कि "कालोदसमुद्र का घाट ऐसा मालूम देता है [दिखाई पड़ता है] कि उसे टाँकी से काट दिया हो।"

समाधान—धातकीखण्ड द्वीप और कालोद का जो सन्धिभाग है वह घाट है। वहाँ पर कालोद समुद्र एक हजार योजन गहरा है। लवण समुद्र किनारे पर मक्खी के पंख के समान गहरा है और आगे-आगे अधिक गहरा है तथा वही बीच में एक हजार योजन गहरा है। पुनः दूसरे किनारे की ओर भी गहराई इसी प्रकार है। परन्तु कालोद किनारे आदि पर सर्वत्र एक हजार योजन गहरा है, इसलिए 'उसको टाँकी से काट दिया गया है,' ऐसा कहा गया है। कालोद [कालोदधिसमुद्र] का किनारा दीवार के समान है, ढालू नहीं है।

—पत्राचार अगस्त 77/ज. ला. जैन, भीण्डर

नन्दीश्वर द्वीप के ५२ चैत्यालयों की दिशादि का वर्णन

शंका—नन्दीश्वर द्वीप के ५२ चैत्यालय किस दिशा में हैं ? और किस प्रकार स्थित हैं ?

समाधान—तिलोयपण्णत्ती के पाँचवें महाधिकार में गाथा ५७ से ७८ तक निम्न प्रकार कथन आया है—

नन्दीश्वर द्वीप के बहुमध्यभाग में पूर्व दिशा की ओर अंजनगिरि पर्वत है। यह पर्वत १००० योजन गहरा ८४००० योजन ऊँचा, और सब जगह ८४००० योजन विस्तार वाला है। उस पर्वत के चारों ओर चार दिशाओं में चौकोण चार द्रह हैं। इनमें से प्रत्येक १००००० योजन विस्तार वाला है। ये द्रह एक हजार योजन गहरे हैं। नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा और नन्दिघोषा नामक ये चार द्रह, अंजनगिरी के पूर्वादिक दिशाओं में प्रदक्षिणारूप से स्थित हैं। इन द्रहों (वापिकाओं) के बहुमध्यभाग में दही के समान वर्ण वाले एक-एक दधिमुख नामक उत्तम पर्वत हैं। इनमें से प्रत्येक पर्वत की ऊंचाई १०००० योजन प्रमाण है, विस्तार भी १०००० योजन है गहराई १००० योजन है। ये पर्वत गोल हैं। वापिकाओं के दोनों बाह्य कोनों में से प्रत्येक में दधिमुख के सदृश सुवर्णमय रतिकर नामक दो पर्वत हैं। प्रत्येक रतिकर पर्वत का विस्तार व ऊंचाई १००० योजन है और गहराई २५० योजन है।

---

१. कैलाशपर्वत श्रीशिखर और सिद्धशिखर के बीच में है। यथा—लसं कैलाशमासाद्य श्री सिद्धशिखरान्तरे। पौर्णमासीदिने पौषे निरिच्छः समुपाविशत् ॥323॥ पर्व ४७ म. पु. —सम्पादक

एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर पर्वतों के शिखर पर उत्तम रत्नमय एक-एक जिनेन्द्र मंदिर स्थित हैं। पूर्व दिशा के समान ही दक्षिण, पश्चिम और उत्तर भागों में भी इसी प्रकार रचना है। विशेष इतना है कि इन दिशाओं में स्थित वापिकाओं के नाम भिन्न-भिन्न हैं। जैसे पश्चिम अंजनगिरि की पूर्वादिक दिशाओं में विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजित चार वापिकायें हैं। दक्षिण अंजनगिरि की चारों दिशाओं में अरजा, विरजा, अशोका, और वीतशोका चार वापिकायें हैं। उत्तर अंजनगिरि की पूर्वादिक दिशाओं में रम्या, रमणीया, सुप्रभा, और सर्वतोभद्रा नामक चार वापिकाएँ हैं।

—जै. ग. 1-5-75/VII/रो. ला. मित्तल

सुदर्शनमेरु के उत्तर में जंबूवृक्ष तथा दक्षिण में शालमली वृक्ष है

शंका—तीन लोक पूजा विधान पं० हेमचन्दजी कृत में जम्बू वृक्ष की स्थिति सुदर्शन मेरु के उत्तर में व शाल्मली वृक्ष की स्थिति सुदर्शन मेरु के दक्षिण में बताई है किन्तु पं० टेकचन्दजी कृत तीनलोक पूजाविधान में जम्बूवृक्ष सुदर्शनमेरु के दक्षिण में और शाल्मली वृक्ष सुदर्शनमेरु के उत्तर में बताया है। इन दोनों कथनों में कौनसा कथन ठीक है ?

समाधान—शाल्मली वृक्ष देवकुरु क्षेत्र के भीतर निषध पर्वत के उत्तर पार्श्वभाग में, विद्युत्प्रभ पर्वत से पूर्व दिशा में सीतोदा नदी की पश्चिम दिशा में और मन्दरगिरि (सुदर्शन मेरु) के नैऋत्य भाग में स्थित है। जम्बूवृक्ष मन्दर पर्वत (सुदर्शन मेरु) की ईशान दिशा में नीलगिरि के दक्षिण पार्श्व भाग में और माल्यवंत के पश्चिम भाग में सीता नदी के पूर्वतट पर स्थित है। तिलोयपण्णत्ती चौथा महाअधिकार गाथा २१४६ व २१९४। उत्तरकुरु के मध्य में सुदर्शन मेरु की उत्तर-पूर्व (ईशान) दिशा में महारत्नों के समूह से पिंजरित जम्बूवृक्ष है। जम्बूदीवपण्णत्ती, छठा उद्देश्य, गाथा ५७। सीता नदी के पूर्वतट पर, मेरु पर्वत तैं ईशान दिशा में उत्तरकुरु भोग भूमि विषैं जम्बूवृक्ष है; तथा सीतोदा नदी के पश्चिम तट पर, मेरु पर्वत तैं नैऋत दिशा में देवकुरु भोगभूमि में विषैं शाल्मली वृक्ष है। (त्रिलोकसार गाथा ६३९ व ६५१)। उत्तरकुरु के मध्य में मेरु की ईशान दिशा में सीता नदी और नील पर्वत के बीच में अनादि-अकृत्रिम-पृथ्वीकायिक जम्बूवृक्ष है (बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीका) इन आगम प्रमाणों से सिद्ध है कि सुदर्शन मेरु के उत्तर में जम्बूवृक्ष और दक्षिण में शाल्मली वृक्ष है।

—जै. सं. 8-1-59/V/ टी. च. जैन, पपौरा

सूर्य द्वारा एक दिन में एक गली का पार होना

शंका—सूर्य की जम्बूद्वीप में गमन करने की १८३ गलियाँ हैं। उत्तरायण में ६ महीने होते हैं। बाह्य वीथी से अभ्यन्तर वीथी तक आने में एक सूर्य को ६ मास लगे। इस प्रकार एक सूर्य ने एक दिन में एक गली पार की किन्तु सूर्य की चाल को देखते हुए एक सूर्य को एक गली को पार करने में दो दिन लगने चाहिये।

समाधान—जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं और उन दोनों सूर्यों के चार क्षेत्र एक ही हैं अतः दोनों सूर्यों द्वारा एक गली एक दिन में पार हो जाती है। तिलोयपण्णत्ती में कहा भी है—

जम्बूदीवम्मि दुवे दिवायरा ताण एक्क चारमही।
रविबिंबाधियपणसयदहुत्तरा जोयणाणि तव्वासो ॥७।२१७॥

अर्थ—जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं। उन दोनों की चार पृथ्वी एक ही है। इस चार पृथिवी का विस्तार सूर्यबिम्ब से अधिक चार सौ दस योजन प्रमाण है। इस प्रकार ६ महीने में १८३ गलियों को एक सूर्य पार कर लेता है।

—जै. ग. 15-1-70/VII राजकिशोर

जंबूद्वीप में सूर्य की संख्या और उनका चार-क्षेत्र

शंका—जम्बूद्वीप में सूर्य दो होय हैं जिनका गमन क्षेत्र ५१० योजन है। जिसमें से ३३० योजन गमन क्षेत्र जम्बूद्वीप से बाहर लवण समुद्र पर है। जम्बूद्वीप का सूर्य लवण समुद्र पर भ्रमण करे तो जहाँ लवण समुद्र में चार सूर्य बताये वहाँ पर सूर्यों की संख्या छह हो जायगी ?

समाधान—शंकाकार ने स्वयं जम्बूद्वीप में दो सूर्य माने हैं। इनका गमन क्षेत्र जम्बूद्वीप से मिले हुए बाहरी भाग में हो जाने से क्या ये जम्बूद्वीप के सूर्य नहीं रहेंगे। यदि जम्बूद्वीप से मिले हुए बाहरी क्षेत्र में इन सूर्य के गमन करने मात्र से ये लवणसमुद्र के सूर्य हो जावें तो जम्बूद्वीप में सूर्यों का अभाव हो जाने से आगम से विरोध आ जायगा, क्योंकि आगम में जम्बूद्वीप के दो सूर्यों का उपदेश पाया जाता है। वह आगम इस प्रकार है—

> **जंबूदीवम्मि दुवे दिवायरा ताण एक्कचारमही।**
> **रविबिंबाधियपणसयदहुत्तरा जोयणाणि तव्वासो ॥** ति० प० ७।२१७

अर्थ—जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं। उनकी चार पृथिवी (गमन क्षेत्र) एक ही है। इस चार पृथिवी का विस्तार सूर्य बिम्ब से अधिक पाँच सौ दश योजन प्रमाण है।

—जै. ग. 12-3-64/IX/स. कु. सेठी

ग्रहण आदि के समय चन्द्रविमानस्थ जिनबिम्ब की स्थिति

शंका—चन्द्रमा के विमान में जिनबिम्ब विराजमान हैं तो अमावस्या, प्रतिपदा व द्वितीया के दिन जिस समय चन्द्रमा की कला कम हो जाती है उस समय या ग्रहण के समय जिनबिम्ब कहाँ रहता है ?

समाधान—अमावस्या, प्रतिपदा व द्वितीया के दिन या अन्य तिथियों में अथवा ग्रहण के समय भी चंद्रमा का विमान ज्यों का त्यों पूर्ण रहता है। चन्द्रमा का विमान घटता बढ़ता नहीं है किंतु चन्द्रविमान के नीचे कृष्ण वर्णवाला राहु का विमान आ जाने से हमको पूर्ण चन्द्रविमान दिखाई नहीं देता। जब चन्द्रविमान ज्यों का त्यों बना रहता है तो उसमें विराजमान जिनबिम्ब भी ज्यों का त्यों रहता है। कहा भी है—

> **ससिबिंबस्सदिणं पडि एक्केक्क पहम्मिभागमेक्केक्कं।**
> **पच्छादेदि हु राहू पण्णरसकलाओ परियंतं ॥२११॥**
> **इय एक्केक्क कलाए आवरिदाये खु राहु बिंबेणं।**
> **चंदेक्क कला मग्गे जस्सि दिस्सेदि सो य अमवासो ॥२१२॥** ति. प. अ. ७

अर्थ—राहु प्रतिदिन एक-एक पथ में पन्द्रह कला पर्यन्त चन्द्रबिंब के एक-एक भाग को आच्छादित करता है। इस प्रकार राहु बिम्ब के द्वारा एक-एक करके कलाओं के आच्छादित हो जाने पर जिस मार्ग में चन्द्र की एक ही कला दिखती है वह अमावस्या दिवस होता है।

—जै. सं. 18-10-56/VI/ जैन वीर दल, भिवाड़

चन्द्रग्रहण व सूर्यग्रहण के हेतु का कथन

शंका—तिलोयपण्णत्ती में 'राहु' का कथन तो है, किंतु उसके कारण चन्द्रमा का ग्रहण होता है ऐसा कथन नहीं है। चन्द्रमा का ग्रहण राहु के कारण होता है या स्वभाव से होता है ?

समाधान—तिलोयपण्णत्ती सर्ग ७ गाथा २०५ में दो प्रकार के राहु का कथन है। एक राहु तो प्रतिदिन चन्द्रमा की एक-एक कला को आच्छादित करता है और दूसरे राहु के कारण ग्रहण होता है। वे गाथा इस प्रकार हैं—

राहूण पुरतलाणं दुविहप्पाणि हुवंति गमणाणि ।
दिणपव्ववियप्पेहिं दिणराहू ससिसरिच्छगदी ॥२०५॥
जावे ससहरमंडलसोलसभागेसु एक्कभागंसो ।
आवरमाणे दीसइ राहूलंघणविसेसेणं ॥२०८॥
ससिबिंबस्स दिणं पडि एक्केक्कपहम्मि भागमेक्केक्कं ।
पच्छादेदि हु राहू पण्णरसकलाओ परियंते ॥२११॥
पुह पुह ससिबिंबाणि छम्मासेसु च पुण्णिमंतम्मि ।
छादंति पव्वराहू णियमेण गदिविसेसेहिं ॥२१६॥

अर्थ—दिन और पर्व के भेद से राहुओं के पुरतलों के गमन दो प्रकार होते हैं। इनमें दिन-राहु की गति चन्द्र के सदृश होती है। द्वितीय वीथी को प्राप्त होने पर राहु के गमन-विशेष से चन्द्र मण्डल के सोलह भागों में से एक भाग आच्छादित दिखता है। राहु प्रतिदिन एक-एक पथ में पन्द्रह कला पर्यंत चन्द्र-बिम्ब के एक-एक भाग को आच्छादित करता है। पर्वराहु नियम से गति विशेषों के कारण छह मासों में पूर्णिमा के अन्त में पृथक्-पृथक् चन्द्रबिंबों को आच्छादित करते हैं।

लोक विभाग पर्व ६ श्लोक २२ तथा त्रिलोकसार गाथा ३३९ में भी चन्द्र व सूर्य के ग्रहण का कथन है। जो राहु व केतु के कारण होता है।

—जै. ग. 3-9-70/VI/ अनिलकुमार गुप्ता

मेरु से कल्पवासी के विमान की दूरी

शंका—सुमेरु पर्वत से कितनी ऊँचाई पर कल्पवासी देवों का विमान है ?

समाधान—सुदर्शन मेरु की चूलिका के और प्रथम ऋतु इंद्रक विमान के बीच एक बाल के अग्रभाग का अंतराल है। श्री १०८ नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य ने कहा भी है—

णाभिगिरिचूलिगुवरि बालग्गंतरट्ठियो हु उडुइंदो ॥ त्रिलोकसार गा० ४७०

श्री यतिवृषभाचार्य ने भी कहा है—

कणयद्दिचूलिउवरिं उत्तरकुरुमणुवएक्कबालस्स ।
परिमाणेणंतरिदो चेट्ठेदि हु इंदओ पढमो ॥ तिलोयपण्णत्ती

कनकाद्रि अर्थात् मेरु की चूलिका के ऊपर उत्तर कुरुक्षेत्रवर्ती मनुष्य के एक बाल मात्र के अन्तर से प्रथम इन्द्रक विमान स्थित है।

—जै. ग. 8-8-74/VI/ रो. ला. मित्तल

सौधर्म स्वर्ग के प्रथम विमान तथा उसमें स्थित प्रासादों की ऊँचाई

शंका—सुमेरुपर्वत के ठीक ऊपर पहला इंद्रक विमान है। उस इन्द्रक विमान के ध्वज-दण्ड का शिखर सुमेरु पर्वत के शिखर से कितनी दूरी पर है अर्थात् प्रथम इन्द्रक विमान की कुल कितनी ऊँचाई है ?

समाधान—प्रथम इन्द्रक विमान-तल का बाहल्य ११२१ योजन है तथा उस पर स्थित प्रासाद ६०० योजन ऊँचे हैं। इस प्रकार पहले इंद्रक विमान के ध्वजदण्ड का शिखर सुमेरु पर्वत के शिखर से एक बालाग्र सहित १७२१ योजन दूरी पर है। प्रथम इंद्रक विमान की कुल ऊँचाई १७२१ योजन है।

> एकविंशशत चैकं, सहस्रं च घनो द्वयो।
> एकोनशतहीनं च बहला परमोर्द्वयोः ॥७३॥
> प्रसादा षट्छतोच्छ्रायाः योजनैः पूर्वकल्पयोः।
> ततः पञ्चशतोच्छ्रायाः परयोः कल्पयोर्द्वयोः ॥७६॥ लोकविभाग सर्ग १०

सौधर्म और ऐशान इन दो कल्पों में विमान तल का बाहल्य एक हजार एक सौ इक्कीस योजन है तथा इन दो कल्पों में स्थित प्रासाद छह सौ योजन ऊँचे हैं।

प्रथम इंद्रक विमान सौधर्म स्वर्ग में है अतः उसके विमानतल का बाहल्य एक हजार एक सौ इक्कीस योजन है, उसमें स्थित प्रासाद छहसौ योजन ऊँचा है। (११२१+६००)=१७२१ योजन।

—जै. ग. 13-1-72/VII/र. ला. जैन, मेरठ

तमःस्कन्ध का अवस्थान; किन-किन स्वर्गों में अन्धकार है ?

शंका—अरुणवर समुद्र जिससे ब्रह्म स्वर्ग तक तमःस्कंध बना हुआ है, कौनसा समुद्र है ? बीच में जो विमान पड़ते होंगे वे भी उस तमःस्कंध से ग्रसित हैं या नहीं।

समाधान—अरुणवर समुद्र ६ वाँ समुद्र है। अर्थात् नंदीश्वर समुद्र के पश्चात् अरुणवर समुद्र है (ति० प० ५।१-७)। अरुणवर द्वीप की बाह्य जगती से जिनेन्द्रोक्त संख्या प्रमाण योजन जाकर अरुण समुद्र के प्रणिधि भाग में १७२१ योजन प्रमाण ऊपर आकाश में जाकर वलय रूप से तमस्काय स्थित है। यह तमस्काय आदि के चार कल्पों में देशविकल्पों को अर्थात् कहीं-कहीं अन्धकार उत्पन्न करके उपरिगत ब्रह्म कल्प सम्बन्धी प्रथम इंद्रक के प्रणिधितल भाग को प्राप्त हुआ है। उसकी विस्तार परिधि मूल में संख्यातयोजन, मध्य में असंख्यात योजन और इससे ऊपर असंख्यात योजन है। ८।५९७-६०० तिलोयपण्णत्ती।

इससे सिद्ध है कि ब्रह्म स्वर्ग से नीचे चार स्वर्गों में कहीं-कहीं पर अन्धकार है।

—जै. ग. 19-9-66/IX/ र. ला. जैन मेरठ

पांडुकशिला अर्द्धचन्द्राकार है

शंका—पाण्डुक शिला का आकार क्या चौकोर है या अर्धचन्द्राकार है ?

समाधान—तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४ गा. १८१८, जंबूदीव पण्णत्ती उद्देस ४ श्लोक १४१, लोक विभाग प्रथम विभाग श्लोक २८३, त्रिलोकसार गा० ६३५ में पाण्डुकशिला को अर्ध चन्द्राकार बतलाया है। अतः पाण्डुक शिला को अर्धचन्द्राकार बनाना चाहिये, चौकोर नहीं बनाना चाहिये।

अद्धिदुणिहा सव्वे सयपण्णासट्ठदीह वासुदया।
आसणतियं तदुवरि जिणसोहम्मदुगपडिबद्धं ॥ त्रि० सा० ६३५
विदिक्षु क्रमशो हैमी राजती तापनीयिका।
लोहिताक्षमयी चैता अर्धचन्द्रोपमाः शिलाः ॥ लो० वि० १।२८३
उत्तरपच्छिमभागे सुरिंदधणुसंणिभा परमरम्मा।
रत्तसिला णायव्वा तवणिज्जणिभा समुद्दिट्ठा ॥ ज० प० ४।१४१
पंडुवणे उत्तरए एदाण दिसाए होदि पंडुसिला।
तह वणवेदीजुत्ता अद्धेंदुसरिच्छ संठाणा। १८१८ ति० प० ४।१८१८

—जैं. ग. 29-8-74/VII/मगनमाला

सिद्धशिला

शंका—सिद्धशिला पैंतालीस लाख योजन की है। वहाँ पर सिद्ध जीव रहते हैं, वह पृथ्वीकायिक है अथवा अन्य रूप ?

समाधान—सिद्धशिला पृथ्वीकायिक है। सिद्ध जीव उस पर सटकर नहीं रहते किन्तु सिद्धशिला और सिद्धजीवों के निवास स्थान के मध्य काफी अन्तर है। सिद्धजीवों के निवास स्थान के सन्निकट होने से उसे सिद्धशिला कहते हैं।

—जैं. सं. 13-12-56/VII/ ल. च. धरमपुरी

सिद्धशिला

शंका—मूलाराधना गाथा २१३३ में "सिद्धक्षेत्र का ईषत्प्राग्भार पृथिवी ऐसा नाम है, एक योजन में कुछ कम है ऐसा निष्कंप स्थिर स्थान में सिद्ध प्राप्त होकर तिष्ठें हैं" ऐसा कहा है। जब सिद्धशिला ४५००००० योजन की बताई है तो सिद्धक्षेत्र का प्रमाण एक योजन कैसे ? यहाँ पर बड़े योजन से प्रयोजन है या छोटे योजन से ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक विमान के ध्वज दण्ड से बारह योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है जो पूर्व-पश्चिम में कुछ कम एक राजु प्रमाण है, उत्तर-दक्षिण में कुछ कम सात राजु लम्बी और आठ योजन बाहुल्यवाली है इसके बहु मध्य भाग में चांदी एवं सुवर्ण के सदृश और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है जो उत्तान धवल क्षेत्र के सदृश आकार से सुन्दर और पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार से संयुक्त है। उसका मध्य बाहुल्य आठ योजन और अन्त में एक अंगुल मात्र है। अष्टम भूमि में स्थित सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है। ति० प० महाधिकार ८/६५२-६५८। इस आठवीं पृथिवी के ऊपर सात हजार पचास धनुष (कुछ कम एक योजन) जाकर सिद्धों का आवास है—ति० प० अधिकार ९/३। आठवीं पृथिवी के ऊपर दो कोस अर्थात् ४००० धनुष का घनोदधि वातवलय उसके ऊपर एक कोस अर्थात् २००० धनुष का घनवातवलय उसके ऊपर १५७५ धनुष का अर्थात् ४२५ धनुष कम एक कोस का तनुवातवलय है। ४ कोस का एक योजन होता है। तीनों वातवलय की मोटाई ४२५ धनुष कम एक राजु है अतः गाथा २१३३ मे ईषत्प्राग्भार से कुछ कम एक योजन ऊपर जाकर सिद्धों का स्थान है, ऐसा कहा है। यहां पर एक योजन लम्बाई चौड़ाई का प्रमाण नहीं है किन्तु बाहुल्य का प्रमाण है। सिद्धों का आवास तो तनुवातवलय के अन्तिम भाग मे है। जो मनुष्य क्षेत्र के समान ४५००००० योजन का है। यहां पर बड़े योजन से प्रयोजन है।

—जैं. ग. 30-5-63/9-10/ प्या. ला. बड़जात्या, अजमेर

सिद्धशिला में एकेन्द्रिय; सिद्धशिला के ऊपर मुक्त जीवों का स्थान

शंका—सिद्ध शिला में क्या एकेन्द्रिय जीव भी होते हैं जैसे पृथिवीकाय पवनकाय आदि ? मुक्त जीवों का स्थान कहाँ पर है ?

समाधान—सिद्धशिला स्वयं पृथिवीकायिक है। उसमें असंख्याते एकेन्द्रिय पृथिवी जीव हैं। पृथिवी के अतिरिक्त अन्य चारों स्थावरकाय बादर जीव भी वहाँ पर हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तो लोक में सर्वत्र पाये जाते हैं। अतः सिद्ध-शिला में एकेन्द्रिय जीव हैं।

सिद्ध शिला के ऊपर दो कोस मोटा घनोदधि वातवलय, उसके ऊपर एक कोस मोटा घनवातवलय और उसके ऊपर १५७५ धनुष मोटा तनुवातवलय है। तनुवातवलय के ऊपरले भाग में मुक्त जीवों का स्थान है। लोकाकाश के अन्त तक ही मुक्त जीव जा सकते हैं। यद्यपि उनमे उससे ऊपर भी गमन करने की शक्ति है, क्योंकि उनका ऊर्ध्व-गमन स्वभाव है और कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाने से उस ऊर्ध्व-गमन शक्ति का कोई प्रतिबन्धक रहा नहीं फिर भी गमन में सहकारी कारण धर्म द्रव्य का अभाव हो जाने से मुक्त जीव लोकाकाश के आगे नहीं जा सकते। अन्तरङ्ग और बाह्य दोनों कारणों के मिलने पर कार्य की सिद्धि होती है। किसी भी एक कारण का अभाव हो जाने पर कार्य नहीं होता। अतः धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण मुक्त जीव लोक के अग्र भाग में स्थित हैं, वही मुक्त जीवों का स्थान है। त० सू०, अ० १०, सूत्र ५ से ८।

—जै. ग. 5-4-62/मगनमाला

ऊर्ध्वलोक सिद्धक्षेत्र अधोलोक सिद्धक्षेत्र

शंका—सर्वार्थसिद्धि अध्याय १० में ऊर्ध्व अधोलोक व सिद्धों का वर्णन आया है। इन क्षेत्रों का यहाँ क्या परिमाण है ?

समाधान—चित्रा पृथ्वी के ऊपरले तल भाग से ऊपर का प्रकाश क्षेत्र ऊर्ध्वलोक और ऊपरले तल भाग से नीचे का क्षेत्र जैसे कुआं खाई आदि अधोलोक कहलाता है। उपसर्ग के द्वारा ऊर्ध्व व अधः दोनों लोकों से भी सिद्ध होना सम्भव है। जैसे किसी देव ने मुनि महाराज को ऊपर आकाश में से छोड़ दिया वे पृथ्वी पर आने से पूर्व ही अधर से मोक्ष को प्राप्त हो गये। ये ऊर्ध्वलोक सिद्ध हैं। किसा देव ने मुनि महाराज को किसी कुएं या खाई में डाल दिया और वहाँ से सिद्धगति को प्राप्त हुए वे अधोलोक सिद्ध हैं।

—जै. ग. 16-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जैन

काल

हुंडावसर्पिणी की तरह हुंडोत्सर्पिणी काल नहीं होता

शंका—हुंडावसर्पिणी की तरह हुंडोत्सर्पिणी काल भी होता है क्या ?

समाधान—समयसार की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने तथा तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों में हुंडावसर्पिणी काल का कथन तो मिलता है, किन्तु हुंडोत्सर्पिणी काल का कथन नहीं पाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि हुंडोत्सर्पिणी काल नहीं होता है।

—जै. ग. 1-4-71/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

हुण्डककाल दोष, मात्र अवसर्पिणी में ही होता है

शंका—हुण्डक-काल-दोष उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी दोनों कालों में होता है या मात्र अवसर्पिणी में ही होता है ?

समाधान—हुण्डक काल का दोष अवसर्पिणी काल में ही होता है। उत्सर्पिणी काल में हुण्डक काल होता हो, ऐसा देखने में नहीं आया है। जो प्रमाण मिलता है उसमें भी हुण्डावसर्पिणी काल का ही कथन है। वह प्रमाण इस प्रकार है—

> 'अवसप्पिणिउस्सप्पिणि कालसलाया गदयसंखाणि।
> हुंडावसप्पिणी सा एक्का आएदि तस्स चिण्हमिमं॥'

अर्थ—असंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणीकाल की शलाकाओं के बीत जाने पर प्रसिद्ध एक हुण्डावसर्पिणी आती है; उसके चिह्न ये हैं। **ति० प० महाधिकार ४।१६१५ पृ० ३५४।**[1]

—**जै. सं. 25-12-58/V/ घ म. कै. च मुजफ्फरनगर**

नारद तथा रुद्र हुण्डावसर्पिणी में होते हैं

शंका—नारद तथा रुद्र हुण्डावसर्पिणी के प्रभाव से ही होते हैं या उत्सर्पिणी एवं अन्य अवसर्पिणी काल में भी होते हैं ?

समाधान—नारद तथा रुद्र हुण्डावसर्पिणी के प्रभाव से होते हैं। (**तिलोयपण्णत्ती ४।१६२० पृ० ३५५**) सामान्य (काल) में नहीं होते। किन्तु **हरिवंशपुराण सर्ग ६०, श्लोक ५७१-७२** में लिखा है कि उत्सर्पिणी में भी **११ रुद्र होते हैं। ह० पु० पृ० ९७६, श्री महावीरजी से प्रकाशित।**

—**पत्राचार 14-3-80/ज. ला. जैन, भीण्डर**

प्रलयकाल में आर्य खण्ड में एक योजन वृद्धिगत भूमि नष्ट हो जाती है

शंका—छठे काल के अन्त में जब प्रलय होता है, तब पृथिवी के एक योजन तक की मोटाई जलकर राख बन जाती है। तो फिर बीज रहित अनाविक कालान्तर में कैसे उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—प्रलयकाल में आर्यखण्ड में चित्रा पृथिवी के ऊपर एक योजन वृद्धिगत भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। (ति. प. ४।१५५१) किन्तु अवसर्पिणीकाल समाप्त होने पर उत्सर्पिणीकाल के प्रारम्भ में प्रथम सात दिन तक सुखोत्पादक जल की वर्षा होती है, पुनः सात दिन तक क्षीरजल बरसता है, पुनः सात दिन तक अमृत बरसता है जिससे भूमि पर लता, गुल्म इत्यादि उगने लगते हैं। **ति. प. ४।१५६०।**

—**जै. सं. 11-12-58/V/ब्र. राजमल**

प्रलय में अग्नि के नष्ट होने पर भी अग्निकायिक नष्ट नहीं होते

शंका—पंचमकाल के अंत में जब अग्नि नष्ट हो जाती है तो उस समय उन क्षेत्रों में अग्निकाय के जीवों का अभाव हो जाता होगा ?

---

१. समयसार गा. ३४५-४८ ता. वृ. भी द्रष्टव्य है।

समाधान—अग्नि के अभाव हो जाने पर भी उन क्षेत्रों में अग्निकाय जीवों का अभाव नहीं होता, क्योंकि अग्निकाय जीव सर्वत्र पाये जाते हैं। (ध. पु. ७, पृ. ३२९) बादर तेजकायिक जीव भी भवनवासियों के विमानों में व आठों पृथिवियों में निवास करते हैं किन्तु वे इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं। ध. पु. ७, पृ. ३३२।

—जै. सं. 11-12-58/V/ब्र. राजमल

कर्म भूमि के प्रलय और प्रारम्भ की तिथि; प्रलयकाल में धर्मात्माओं का अभाव आदि विषयक कथन

शंका—क्या कर्म भूमि और प्रलय का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को होता है ?

शंका—क्या प्रलय के प्रारम्भ में धर्म व धर्मात्मा होते हैं ? और उन धर्मात्माओं को ही देव विजयार्ध की गुफा में रखते हैं ?

शंका—क्या प्रलय के बाद देव उन धर्मात्माओं को गुफा में से निकाल देते हैं और वे धर्मात्मा यहां आकर भा. शु. ५ को प्रथम पर्युषण पर्व की आराधना करते हैं ?

(नोट—३-९-६४ के जैन मित्र के संपादकीय लेख पर उक्त शंकायें की गई हैं।)

समाधान—युग का प्रारम्भ श्रावण कृ. १ से होता है, किन्तु प्रलय का प्रारम्भ ज्येष्ठ कृ. १२ से होता है। पंचमकाल के अन्त में ही धर्म का लोप हो जाता है, अतः प्रलय के प्रारम्भ में न धर्म होता है और न धर्मात्मा होते हैं। विजयार्ध की गुफा में धर्मात्मा नहीं रखे जाते, क्योंकि उस समय धर्मात्मा पुरुष नहीं होते हैं। प्रलय के पश्चात् जो मनुष्य विजयार्ध की गुफा से आते हैं वे पर्युषण पर्व को व धर्म को जानते ही नहीं हैं अतः वे पर्युषण पर्व नहीं मनाते हैं। इस सम्बन्ध में आर्ष प्रमाण निम्न प्रकार है—

पंचमचरिमे पक्खडमासतिवासोवसेसए तेण ।
मुणिपढमपिंडगहणे सण्णसणं करिय दिवसतियं ॥८५९॥
सोहम्मे जायंते कत्तियअमवास सादि पुव्वण्हे ।
इगिजलहिठिदी मुणिणो सेसतिए साहियं पल्लं ॥८६०॥
तव्वासस्स आदी मज्झंते धम्मरायअग्गीणं ।
णासो तत्तो मणुसा णग्गा मच्छादि आहारा ॥८६१॥
पोग्गल अइरुक्खादो भरणे धम्मे णिरासएण हवे ।
असुरवइणा णरिंदे सयलो लोओ हवे अंधो ॥८६२॥
संवत्तयणामणिलो गिरितरुभूपहुदि चुण्णणं करिय ।
भमदि दिसंतं जीवा मरंति मुच्छंति छट्टंते ॥८६४॥
छट्टमचरिमे होंति मरुदादी सत्तसत्त दिवसवही ।
अदिसीदखारविसपरुसग्गीरजधुमवरिसाओ ॥ ८६६ ॥
वणगिरिगंगदुवेदी खुद्दबिलादिं विसंति आसण्णा ।
णेंति दया खचरसुरा मणुस्सजुगलादिबहुजीवे ॥८६५॥
तेहिंतो सेसजणा णस्संति विसग्गिवरिसदड्ढमही ।
इगिजोयणमेत्तमधो चुण्णीकिज्जदि हु कालवसा ॥८६७॥

उस्सपिणीयपढमे पुक्खरखीरघदमिदरसा मेघा ।
सत्ताहं वरसंति य णग्गा मत्ताविआहारा ॥८६८॥
उण्हं छंडवि भूमी छवि सणिद्धत्तमोसहि धरदि ।
वल्लिलदागुम्मतरू वड्ढ़ंति जलादिवरसेहि ॥८६९॥
णदितीरगुहाविठिया भूसीयलगंधगुणसमाहूया ।
णिग्गमिय तदो जीवा सव्वे भूमि भरंति कमे ॥८७०॥ त्रिलोकसार

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये चारों पंचमकाल के एक पक्ष आठ मास तीन वर्ष अवशेष रहे, तीन कल्की राजा करि मुनि का प्रथम ग्रास ग्रहण करते संते तीन दिन पर्यंत संन्यास मरण कर मुनि तो कार्तिक मास की अमावस्या तिथि को मरकर सौधर्म स्वर्ग में एक सागर की आयु वाला देव होगा और शेष ३ पल्य की आयु वाले सौधर्म देव होंगे । उस दिन क्रमशः धर्म, राजा और अग्नि का नाश होय है । पुद्गल द्रव्य अति रूखा भाव रूप परणया तातैं अग्नि का नाश भया । मुनि आदि के नाश ते धर्म के आश्रय का अभाव भया तातैं धर्म का नाश भया । असुरकुमार के इन्द्र ने राजा को मारया तातैं राजा का नाश भया । ऐसे नाश होते पीछें समस्त लोक आंधा हो है । छठा काल का अंत विषै संवर्तक नामा पवन सो पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि का चूर्ण करैं हैं । तिस पवन कर जीव मूर्च्छा को प्राप्त होय हैं, मरे हैं । छठा काल का अंत विषैं पवन (१) अत्यन्त शीत (२) क्षार रस (३) विष (४) कठोर अग्नि (५) धूलि (६) धुंवां (७) इन सात रूप परिणए पुद्गल की वर्षा ४९ दिन विषैं हो है । विजयार्द्ध पर्वत, गंगा सिंधु नदी, इनका वेदी और तिनके बिल आदि विषैं तिनही के निकटवर्ती प्राणी स्वयमेव प्रवेश करे हैं । दयावान विद्याधर व देव मनुस-युगल आदि बहुत जीवों को तिस बाधा रहित स्थान को ले जाते हैं । अवशेष मनुष्यादि सब नष्ट होय है । विष और अग्नि की वर्षा करि दग्ध भई पृथिवी एक योजन नीचे तक चूर्ण होय है ।

उत्सर्पिणी का अतिदुःषम प्रथम काल के आदि में जल, दुग्ध, घी, अमृत, रस, औषध और शीतल गन्ध युक्त पवन ये सात वर्षा सात सात दिन तक होती हैं । मनुष्य और तिर्यंच गुफाओं से बाहर निकल आते हैं ।

इसी प्रकार ति. प. अधिकार ४।१५३० से १५६६ तक सविस्तार कथन है ।

लोक विभाग अधिकार ५ में भी इसी प्रकार कथन है ।

अतः प्रलय के समय न धर्म रहता है और न धर्मात्मा रहते हैं ।

—जै. ग. 23-3-72/IX/ब्र. सरदारमल जैन सच्चिदानन्द

धर्म रहित म्लेच्छों में चतुर्थकाल से अभिप्राय

शंका—म्लेच्छ खंड में चतुर्थकाल कैसे सम्भव है ? क्योंकि वहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति का अभाव है ।

समाधान—म्लेच्छ खंडों में शरीर की अवगाहना तथा आयु चतुर्थ काल जैसी रहती है, इसलिये म्लेच्छ खंडों में सदैव चतुर्थ काल रहता है, ऐसा कहा गया है ।

—जै. ग. 9-4-70/VI टोडरमलाल

आज भी विद्याधरों को मोक्ष

शंका—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति-द्वितीय उद्देश गाथा ११६ में लिखा है कि विद्याधरों के नगरों में एक चौथा काल ही रहता है । त्रिलोकसार गाथा ८८३ में लिखा है कि विद्याधरों की श्रेणी में चतुर्थकाल के आदि-अन्तवत्

स्थिति है तथा त्रिलोक प्रज्ञप्ति-चतुर्थ अधिकार गाथा २९३८ में लिखा है कि विद्याधरों के विद्याएँ छोड़ देने पर चौदह गुणस्थान भी सम्भव है। शंका यह है कि क्या आज की तिथि में भी विद्याधर मोक्ष जाते हैं ? अर्थात् जब हमारे यहाँ पाँचवाँ व छठा काल होता है तब विजयार्ध पर्वत की ११० नगरियों से विद्याधर मोक्ष जाते हैं या नहीं ?

समाधान—विजयार्ध की ११० नगरियों में वर्तमान में चतुर्थ काल के अन्त जैसा काल वर्त रहा है और चतुर्थ काल में उत्पन्न हुआ जीव मोक्ष जा सकता है, जैसे गौतम। यदि उन ११० नगरियों में से कोई विद्याधर विदेह क्षेत्र में जाकर विद्याएँ छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर मोक्ष चला जावे तो सिद्धांत से कोई बाधा नहीं आती; किन्तु आगम में ऐसा कथन देखने मे नहीं आया और न यह कथन देखने में आया कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि विद्याधरों में उत्पन्न हो सकता है।

—पत्राचार 1-3-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

व्यवहार काल

शंका—**आवली, श्वासोच्छ्वास, स्तोक, लव, नालिका, मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त (जघन्य, उत्कृष्ट) इनका वर्तमान प्रणालिकानुसार प्रत्येक का सेकण्ड व मिनट कितना काल होता है ?**

समाधान—आवली का काल इतना छोटा (सूक्ष्म) होता है कि उसको सेकण्ड व मिनट में कहना असम्भव है। उच्छ्वास निःश्वास $\frac{४८}{३७७३}$ मिनट; स्तोक $=\frac{४८\times७}{३७७३}$ मिनट, लव $=\frac{४८}{७७}$ मिनट नालिका = २४ मिनट, मुहूर्त = ४८ मिनट, जघन्य अन्तर्मुहूर्त = समय अधिक आवली, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त = समय कम ४८ मिनट।

—जै. सं. 13-12-56/VII/ सौ. प. का. डबका

अन्तर्मुहूर्त काल का जघन्य व उत्कृष्ट परिमाण

शंका—**अन्तर्मुहूर्त का काल कितना है।**

समाधान—एक समय कम मुहूर्त (दो घड़ी, ४८ मिनट) तो उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है और आवली का असंख्यातवाँ भाग जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २२० की टीका में कहा है—

'एकसमयेन हीनो भिन्नमुहूर्तः उत्कृष्टान्तर्मुहूर्त इत्यर्थः। ततो अग्रेद्विसमयोनाद्या आवल्यसंख्यातैक भागांताः सर्वेऽन्तरमुहूर्ताः।

४८ मिनट से एक समय कम जो काल है वह भिन्न मुहूर्त अर्थात् उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। उससे दो समय कम तीन समय कम इत्यादि आवली के असंख्यातवें भाग अर्थात् एक सैकिण्ड के असंख्यातवें भाग तक जितने भी काल के भेद हैं वे सब अन्तर्मुहूर्त के विकल्प हैं।

—जै. ग. 26-2-70/IX/ रोशनलाल

अन्तर्मुहूर्त अर्थात् असंख्य आवली

शंका—**संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है और ३७७३ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है। षट्खंडागम पुस्तक ३ पृ० ६९-७० पर विशेषार्थ में लिखा है कि तीन गुणस्थानों की संख्या लाने के लिये अन्तर्मुहूर्त का अर्थ मुहूर्त से अधिक काल लेना चाहिये। प्रश्न यह है कि अधिक हो तो कितना अधिक ? क्या इस काल में असंख्यात आवलियाँ हो सकती हैं ?**

समाधान—३७७३ उच्छ्वासों का मुहूर्त होता है। एक समय कम का भिन्न मुहूर्त होता है। इससे भी एक समय कम का अन्तर्मुहूर्त होता है। इससे एक एक समय कम होता हुआ एक आवलिकाल तक अन्तर्मुहूर्त के नाना भेद होते हैं। (धवल पुस्तक ३ पृ० ६६-६७) किन्तु प्रसंगवश अन्तर्मुहूर्त का यह काल असंख्यात-आवलि भी लिया गया है। (धवल पु० ७ पृ० २८९, २९४) अन्तर्मुहूर्त' में अन्तर शब्द का अर्थ समीपवर्ती करके मुहूर्त के समीपवर्ती काल से असंख्यात आवलिकाल भी ग्रहण कर लिया है (धवल पु० ३ पृ० ६९) यदि श्री वीरसेन आचार्य इस प्रकार अर्थ न करते तो सूत्र के अभिप्राय का यथार्थ ग्रहण न होता।

—जै. ग. 30-5-63/IX/ध्या. ला. बड़जात्या, अजमेर

श्रेणी, मान

आकाशश्रेणी में नहीं आने वाला एक भी प्रदेश नहीं है

शंका—क्या ऐसा कोई आकाश-प्रदेश है, जो किसी भी श्रेणी में नहीं आता हो ?

समाधान—आकाश का कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जो किसी भी श्रेणी में नहीं आता हो। आकाश का प्रत्येक प्रदेश श्रेणि के अन्दर है। [अभिप्राय इतना मात्र है कि किसी भी दृष्टि से एक भी श्रेणी में परिगणित नहीं हो, ऐसे आकाश प्रदेश का अभाव है।]

—पत्राचार 3-8-77/ज. ला जैन, भीण्डर

आकाशश्रेणी का अर्थ

शंका—अनुश्रेणि गति होती है। आकाश की श्रेणी का क्या अभिप्राय है ? जीवों के मरण काल में भवान्तर संक्रम के समय तथा मुक्त जीवों के ऊर्ध्वगमन के समय अनुश्रेणि गति ही होती है। इसी तरह ऊर्ध्वलोक से अधोलोक के प्रति या अधोलोक से ऊर्ध्वलोक के प्रति या तिर्यग्लोक से अधोलोक के प्रति या ऊर्ध्वलोक के प्रति जाना-आना होता है, या पुद्गलों की लोकान्तप्रापिणी गति जब होती है तब नियम से अनुश्रेणी गति ही होती है। अन्यत्र नियम नहीं है। (स० सि० २।२६) यहां श्रेणी से क्या अभिप्राय है; कृपया सुस्पष्ट करें ? वहां प्रदत्त परिभाषा—"लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिः इत्युच्यते" से स्पष्ट नहीं समझा हूं। एक राजू अथवा घनाकाश में कियत्संख्यक श्रेणियां सम्भव हैं ?

समाधान—जैसे फर्श पर टाइलों की पंक्ति रहती है उसी प्रकार आकाश में प्रदेशों की पंक्ति है। श्रेणी का अर्थ पंक्ति अथवा लाइन (Line) है। जिस प्रकार लाइन_______में Dots......... होते हैं, उसी प्रकार जगत् श्रेणी में आकाश के प्रदेश होते हैं। एक Square Inch □ वर्ग इंच में पूर्व पश्चिम और उत्तर-दक्षिण उतनी सीधी रेखायें (Straight Lines) खींची जा सकती है जितने एक इन्च में Dots होंगे। उसी प्रकार एक राजू में उतनी श्रेणियां होंगी जितने एक राजू में प्रदेश होंगे। एक राजू में आकाश-प्रदेश असंख्यात हैं, अतः श्रेणियां भी असंख्यात हैं (यहां पर Digonal Line को Straight Line नहीं माना गया है, अतः Digonal (विदिशा) रूप श्रेणियां नहीं होती हैं।

इस चित्र में AC रूप श्रेणी नहीं होती है। AB या AD रूप पंक्तियां श्रेणी होती हैं।

—पत्राचार अगस्त 77/ ज. ला. जैन, भीण्डर

उत्तरोत्तर अधिक राशि की वर्गशलाकाएँ भी बहुत होती हैं

शंका—धवल पु० ३ पृ० २४ के नीचे से दसवीं पंक्ति में लिखा है—"प्रथम बार वर्गित संवर्गित राशि की वर्गशलाकाएँ और तृतीय बार वर्गित संवर्गित राशि की वर्गशलाकाओं की वर्गशलाकाएँ समान हैं।" सो कैसे? प्रथमबार वर्गित संवर्गित की वर्गशलाकाओं की अपेक्षा तृतीयबार वर्गित संवर्गित की वर्गशलाकाएँ अधिक होनी चाहिये।

समाधान—प्रथमबार वर्गित संवर्गित राशि की वर्गशलाकाओं से तृतीयबार वर्गित संवर्गित राशि की वर्गशलाकाएँ अवश्य अधिक हैं, समान नहीं हैं, किन्तु तृतीयबार वर्गित संवर्गित राशि की वर्गशलाकाओं की वर्गशलाकाएँ और प्रथमबार वर्गित संवर्गित राशि की वर्गशलाकाएँ समान हैं। प्रथमबार वर्गित संवर्गित राशि की वर्गशलाकाओं और तृतीयबार वर्गित संवर्गित राशि की वर्गशलाकाओं को परस्पर समान नहीं कहा गया है।

—जै. ग. 6-5-76/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

उत्कृष्ट संख्यात का स्वरूप

शंका—चर्चाशतक छंद ३३ में उत्कृष्ट संख्यात की गणना १५० अंक प्रमाण बताई है। इससे अधिक संख्या की संज्ञा असंख्यात है। यह कथन किस अपेक्षा किया गया है?

समाधान—उत्कृष्ट संख्यात जानने के निमित्त जम्बूद्वीप के समान विस्तार वाले और एक हजार योजन प्रमाण गहरे चार गड्ढे करना चाहिये। इनमें शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका ये तीन गड्ढे अवस्थित और चौथा अनवस्थित है। चौथे कुण्ड के भीतर दो सरसों डालने पर जघन्य संख्यात होता है। पुन: इस चौथे कुण्ड को सरसों से पूर्ण भर दो। इस सरसों से भरे हुए कुण्ड में से देव अथवा दानव हाथ में ग्रहण करके क्रम से द्वीप और समुद्र में एक-एक सरसों देता जाय। इस प्रकार जब वह कुण्ड समाप्त हुआ तब शलाका कुण्ड के भीतर एक सरसों डाला। जहाँ पर प्रथम कुण्ड की शलाकायें समाप्त हुई हों, उस द्वीप या समुद्र की सूची प्रमाण उस अनवस्थाकुण्ड को बढ़ा दें। पुन: उस सरसों से भरकर पहिले के ही समान हाथ में ग्रहण करके क्रम से आगे के द्वीप और समुद्र में एक-एक सरसों डालकर उन्हें पूरा कर दें। जिस द्वीप या समुद्र में इस कुण्ड के सरसों पूर्ण हो जावें उसकी सूची के बराबर फिर से उक्त कुण्ड को बढ़ावें और शलाका कुण्ड में एक अन्य सरसों डालें। इस प्रकार सरसों डालते डालते जब शलाका कुण्ड भरजावे तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्ड में डालना चाहिये। उपर्युक्त रीति से जब प्रतिशलाका कुण्ड भी भरजाय तब महाशलाका कुण्ड में एक सरसों डालें। इस प्रकार सरसों डालते डालते शलाका कुण्ड पूर्ण हो गये, प्रतिशलाका कुण्ड पूर्ण हो गये और महाशलाका कुण्ड भी पूर्ण हो गया। जिस द्वीप या समुद्र में शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका ये तीनों कुण्ड भरजावें उतने संख्यात द्वीप समुद्रों के विस्तार रूप और एक हजार योजन गहरे गड्ढे को सरसों से भरदेने पर उत्कृष्ट संख्यात का अतिक्रमण कर यह जघन्य परीतासंख्यात प्राप्त होता है। उसमे से एक कम कर देने पर उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण होता है। यह प्रमाण १५० अंक से बहुत बड़ा है। चर्चाशतक में 'डेढ़सौ थिति अच्छर वर' से स्वर्गीय पं० द्यानतरायजी का क्या अभिप्राय रहा है, कहा नहीं जा सकता।

—जै सं. 8-1-59/V/टी. च. जैन, पचेवर

असंख्यात से अभिप्राय

शंका—जगह-जगह पर असंख्यात के साथ में शत, सहस्र, लक्ष कोटि विशेषण लगे रहते हैं। इसका क्या मतलब है? क्या वहाँ पर असंख्यात की निश्चित संख्या है? यदि है तो कौनसी? यदि मध्यम के ही भेद हैं तो फिर विशेषण की क्या आवश्यकता है?

समाधान—असंख्यात के साथ में शत, सहस्र, लक्ष, कोटि आदि विशेषण लगाने से उन संख्याओं (प्रमाणों) के परस्पर अल्पबहुत्व का ज्ञान हो जाता है। जहाँ कहीं पर भी किसी राशि का प्रमाण संख्यात, असंख्यात या अनन्त द्वारा कहा जाता है वहाँ पर उस प्रमाण की निश्चित संख्या से अभिप्राय है। किसी भी राशि का प्रमाण अनिश्चित संख्या नहीं होती। यदि किसी राशि का प्रमाण न माना जाय तो उसके अभाव का प्रसंग आ जायगा (ध० पु० ३ पृ० ३०)। 'असंख्यात' व 'अनन्त' मतिज्ञान के विषय नहीं हैं। अतः उसकी निश्चित संख्या शब्दों द्वारा नहीं बतलाई जा सकती। कहा भी है—"जो संख्या पाँचों इन्द्रियों का विषय है वह संख्यात है। उसके ऊपर जो संख्या अवधिज्ञान का विषय है वह असंख्यात है। उसके ऊपर जो केवलज्ञान के विषय भाव को ही प्राप्त होती है वह अनन्त है।" वह असंख्यात यद्यपि मध्यम असंख्यात है तथापि उस मध्यम असंख्यात का निश्चित प्रमाण होने से उसके साथ शत, सहस्र, लक्ष, कोटि विशेषण लगाना सार्थक है। जैसे बीजगणित में a या b संख्या के साथ शत, सहस्र आदि विशेषण लगाना सार्थक है, क्योंकि इससे उसकी हीनाधिकता का ज्ञान हो जाता है।

—पत्राचार/ब. प्र. सरावगी पटना

अनन्त का स्वरूप

शंका—अनन्त का वास्तविक अर्थ क्या है? यदि अनन्त का अन्त नहीं होता है तो अनन्तानन्त, युक्तानन्त, परीतानन्त की कल्पना असत्य है। यदि अंत होता है तो अनन्त कहना व्यर्थ है।

समाधान—अनन्त का वास्तविक अर्थ यह है—'जिस राशि में से व्यय होने पर भी उस राशि का अन्त न हो, वह अनन्त है।' क्षायोपशमिकज्ञान के विषय से जो राशि बाहर अर्थात् जो राशि क्षायोपशमिकज्ञान का विषय नहीं है, किन्तु व्यय होने पर अन्त हो जाती है, उस राशि को भी उपचार से अनन्त कह देते हैं, क्योंकि वह अनन्त केवलज्ञान का विषय है। अतः परीतानन्त, युक्तानन्त, जघन्य अनन्तानन्त व कुछ मध्यम अनन्तानन्त उपचार से अनन्त है, क्योंकि यह राशि क्षय सहित है। इस विषय में श्री वीरसेन स्वामी ने धवल सिद्धान्त ग्रन्थ में इस प्रकार कहा है—"व्यय होने पर समाप्त होनेवाली राशि को अनन्त रूप मानने में विरोध आता है। इस प्रकार कथन करने से अर्धपुद्गल परिवर्तन के साथ व्यभिचार हो जायगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि अर्धपुद्गल परिवर्तन काल को उपचार से अनन्तरूप माना है।" ध० खं० पु० ३ पृ० २५-२६। 'एक एक संख्या के घटाते जाने पर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंख्यात है और जो राशि समाप्त नहीं होती है वह अनन्त है। व्यय सहित होने से नाश को प्राप्त होनेवाला अर्धपुद्गल परिवर्तन काल भी असंख्यात हो जाओ, फिर भी अर्धपुद्गल परिवर्तन काल को जो अनन्त संज्ञा दी गई है वह उपचार निमित्तक है। अनन्तरूप केवलज्ञान का विषय होने से अर्धपुद्गलकाल भी अनन्त है, ऐसा कहा जाता है।' ध० खं० पु० ३ पृ० २६७।

—जै. सं. 6-11-58/V/ जिनेन्द्र जैन

अक्षय अनन्त कहाँ से प्रारम्भ होता है ?

शंका—क्या जघन्य अनन्तानन्त राशि (तत्प्रमाण पदार्थ) का क्षय हो जाता है ? तथा यह भी बतावें कि अनन्तानन्त के किस भेद से वह अनन्तानन्त अक्षय अनन्तानन्त बनता है ?

समाधान—जघन्य अनन्तानन्त राशि का क्षय हो जाता है। मध्यम अनन्तानन्त के भी कुछ प्रारम्भिक भेदों तक सक्षयता है परन्तु मध्यम अनन्तानन्त में जीवादिक छह राशि का क्षेपण हो जाने के पश्चात् मध्यम अनन्तानन्त का क्षय सम्भव नहीं है।

—पत्राचार 17-2-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

उपमा मान

शंका—पल्य के असंख्यातवें भाग में करीब कितने वर्ष होते हैं ?

समाधान—पल्य के असंख्यातवें भाग में असंख्यात वर्ष होते हैं। (विशेष के लिए धवल पु० ६ प्रस्तावना पृ० ४ शंका-समाधान सं० ११ देखें।)

—जैं. ग. 8-2-62/VI/ मु. च. छ. ला.

सागरोपम के समयों का प्रमाण

शंका—क्या एक सागरोपम में अनन्त समय होते हैं, अथवा असंख्यात ? अनन्त तो नहीं होने चाहिए; अन्यथा उसे अक्षयत्व प्राप्त होगा ?

समाधान—एक सागरोपम में असंख्यात समय होते हैं, अनन्त नहीं।

—पत्राचार 17-2-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

चरणानुयोग

चारित्र सामान्य

स्वभाव चारित्र है

शंका—स्वभाव चारित्र है या नहीं ?

समाधान—चारित्र आत्मा का स्वभाव है अतः स्वभाव चारित्र है। कहा है—**स्वरूपे चरणं चारित्रं। स्वसमय प्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेवस्वभावत्वाद्धर्मः।** (प्र. सा. गाथा ७ तत्त्वबोधिका टीका) स्वरूप में चरण करना (रमना) सो चारित्र है। स्वसमय (अपने स्वभाव) में प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है। यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। अब स्वसमय को बतलाते हैं—**आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा** (**प्रवचनसार गाथा ९४**) जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं वे स्वसमय जानने। इस प्रकार स्वसमय अर्थात् आत्मस्वभाव में स्थितिरूप प्रवृत्ति वह चारित्र है अतः स्वभाव चारित्र है।

—जै. सं. 20-12-56/VI/ मं. ला. द्रोणगिरि

व्रत धर्म है वह सिद्धों में भी है

शंका—क्या व्रत धर्म है ? यदि धर्म है तो सिद्धों में भी होने चाहिये ?

समाधान—आगमप्रमाण द्वारा यह भलीभाँति सिद्ध है कि—रागादिभावों की उत्पत्ति हिंसा है। रागादि-भावों से विरत अर्थात् निवृत्त होना अहिंसा व्रत है अथवा निश्चय करके रागादि भावों का प्रगट न होना अहिंसा है। (**पुरुषार्थ सिद्धयुपाय**)। प्रत्याख्यान, संयम और महाव्रत ये तीनों एक अर्थ वाले नाम हैं (**पच्चक्खाणं संजमो महव्वयाइं ति एयट्ठो। षट्खंडागम पुस्तक ६ पृ० ४४**) व्रत अर्थात् संयम रागादि व कषाय के उदय के अभाव में होता है अतः यह संयम जीवों को संसार दुःख तैं निकाल कर उत्तमसुख (मोक्षसुख) में धरता है इस-लिये धर्म है '**संसारदुःखतः सत्वान्योधरत्युत्तमे सुखे।**' (**रत्नकरण्ड श्रावकाचार**) '**इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः।**' (**सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र २**)। उत्तम क्षमा आदि दस धर्म में उत्तम संयम को भी धर्म कहा है (**मोक्षशास्त्र अध्याय ९ सूत्र ६**) इसप्रकार आगम प्रमाण द्वारा यह सिद्ध हो गया कि 'व्रत' अर्थात् 'संयम' में धर्म का लक्षण (जो उत्तम सुख में धरे) पाये जाने से तथा १० धर्मों में भी नामोल्लेख होने से 'व्रत' धर्म है।

दूसरी बात यह है कि 'व्रत' वीतरागता का माप है। सिद्धों में पूर्ण वीतरागता है; अतः वहाँ पर रागादि का अभावरूप व्रत भी है। इसका खुलासा इस प्रकार है। व्रत, संयम, चारित्र पर्यायवाची नाम हैं। सकलकषाय से रहित चारित्र है। कहा भी है '**सकलकषायविमुक्तं चारित्रं।**' (**पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक ३९**) नव केवल-लब्धि अर्थात् नौ क्षायिकभावों में क्षायिकचारित्र भी है जो चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय से प्रगट होता है। जिसप्रकार

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीयकर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाले क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन व दर्शनमोहनीय के क्षय से उत्पन्न होनेवाला क्षायिकसम्यक्त्व सिद्धों में पाये जाते हैं उसीप्रकार चारित्रमोहनीय के क्षय से उत्पन्न होनेवाला क्षायिकचारित्र भी सिद्धों में पाया जाता है। चारित्र के दो भेद हैं—सकलचारित्र व देशचारित्र। सकलचारित्र को 'महाव्रत' अथवा संयम भी कहते हैं। चारित्र (व्रत) का सिद्धों में अभाव नहीं है, किन्तु क्षायिकचारित्र का सद्भाव है। उक्त समाधान में सर्व कथन 'व्रत' को निवृत्तिदृष्टि से ग्रहण करके किया गया है।)

—जै. ग. 29-5-58/V/ शिवप्रसाद

अव्यपदेश्य चारित्र, सिद्धों में चारित्र के सद्भाव की सप्रपञ्च सिद्धि

शंका—व्यपदिश्यमान सामायिकादि चारित्रोंमें यथाख्यातचारित्र चौदहवें गुणस्थान के पश्चात् कुछ बदल जाता है क्या ? यदि नहीं तो सिद्धों में भी यथाख्यातचारित्र नाम देने में क्या आपत्ति है ? यदि हाँ, तो वह भी क्षायिक भाव होने से उसका नाश नहीं होना चाहिए ? यदि सिद्धों में सामायिकादि पांचों चारित्रों का अभाव माना जाय तो वह कौन-सा चारित्र है जिसका सद्भाव सिद्धों में माना जाय ?

समाधान—साधन और साध्य के भेद से चारित्र दो प्रकार का है। जब तक द्रव्यमोक्ष नहीं होता तब तक साधनरूप चारित्र रहता है और द्रव्यमोक्ष हो जाने पर साध्यरूप चारित्र हो जाता है। चारित्र के जो सामायिक आदि पांच भेद किये हैं वे सब साधनरूप चारित्र के हैं। साध्यरूप चारित्र तो एक ही प्रकार का है, उसमें कोई भेद नहीं है। साधनरूप चारित्र कर्मनिर्जरा का कारण है, किन्तु साध्यरूप चारित्र कर्मनिर्जरा का कारण नहीं है।

केवलज्ञानादिरूप भावमोक्ष हो जानेपर भी द्रव्यमोक्ष अर्थात् शेष चार अघातियाकर्मों की निर्जरा के लिये शुक्लध्यानरूप साधनचारित्र केवलीभगवान के तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों में बतलाया गया है। पंचास्तिकाय गाथा १५३ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"अथ खलु भगवतः केवलिनो भावमोक्षे सति प्रसिद्धपरमसंवरस्योत्तरकर्मसन्ततौ निरुद्धायां परमनिर्जरा कारण-ध्यानप्रसिद्धौ सत्यां पूर्वकर्म-संततौ कदाचित्स्वभावेनैव कदाचित्समुद्घातविधानेनायुःकर्मसमभूतस्थित्यामायुः-कर्मानुसारेणैव निर्जीर्यमाणायामपुनर्भवाय तद्भवत्यागसमये वेदनीयायुर्नामगोत्ररूपाणां जीवेन सहात्यन्तविश्लेषः कर्म-पुद्गलानां द्रव्यमोक्षः।"

वास्तव में केवलीभगवान को, भावमोक्ष होनेपर, परमसंवर सिद्ध होनेके कारण उत्तरकर्मसंतति निरोध को प्राप्त होकर और परमनिर्जरा के कारणभूत ऐसे ध्यान (तृतीय व चतुर्थ शुक्लध्यान) की सिद्धि होने के कारण पूर्वकर्मसंतति निर्जरित होती हुई अर्थात् तीसरे व चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होने पर सिद्धगति के लिये भव (संसार) छूटने के समय जो वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार-अघातिया-कर्मपुद्गलों का जो जीव से अत्यन्त वियोग होता है वह द्रव्यमोक्ष है। कभी केवलीसमुद्घात के द्वारा कभी स्वभाव से (अपवर्तनाघात द्वारा) वेदनीय, नाम व गोत्रकर्मों की स्थिति का घात होकर आयुकर्म की स्थिति के समान हो जाती है।

"परे केवलिनः ॥ त० सू० ९/३८ ॥" इस सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है कि सयोगकेवली के सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है और अयोगकेवली के व्युपरतक्रियानिवृत्ति चौथा शुक्लध्यान होता है।

जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं णिरु'भए डंके ।
तत्तो पुणोऽवणिज्जदि पहाणझरमंतजोएण ।।
तह बादरतणु विसयं जोगविसं ज्झाणमंतबलजुत्तो ।
अणुभावम्मि णिरु'भदि अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो ।।
सुहुमम्मि कायजोगे वट्ट'तो केवली तदियसुक्कं ।
झायदि णिरु'भिदु' जो सुहुमं तं कायजोगं पि ।।

अर्थ—जिसप्रकार मंत्र के द्वारा सब शरीर में भिदे हुए विष का डंक के स्थान में निरोध करते हैं और प्रधान क्षरण करनेवाले मंत्र के बल से उसे पुनः निकालते हैं। उसीप्रकार ध्यानरूपी मंत्र के बल से युक्त हुआ यह सयोगकेवली जिनरूपी वैद्य बादरशरीर विषयक (कर्मों के आस्रवका कारणभूत) योगविष को पहले रोकता है और उसके पश्चात् उसे निकाल फेंकता है। जो केवलीजिन सूक्ष्मकाययोग में विद्यमान होते हैं वे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तीसरे शुक्लध्यान का ध्यान करते हैं। उस सूक्ष्मकाययोग का भी निरोध करने के लिये उस ध्यान को करते हैं। (धवल पु० १३)

"जोगम्हि णिरुद्धम्हि आउसमाणि कम्माणि होंति अंतोमुहुत्त'। से काले सेलेसियं पडिवज्जदि समुच्छिण्ण-किरियमणियट्टि सुक्कज्झाणं ज्झायदि। कधमेत्थ ज्झाणववएसो ? एयग्गेण चिंताए जीवस्स णिरोहो परिप्फंदाभावो-ज्झाणं णाम। किं फलमेदं ज्झाणं। अघाइ चउक्क विणासफलं। तदियसुक्कज्झाणं जोगणिरोहफलं।"

अर्थ—योग का निरोध होने पर शेष कर्मों की स्थिति आयुकर्म के समान अन्तर्मुहूर्त होती है। तदनन्तर समय में शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिशुक्लध्यान को ध्याता है। एकाग्ररूप से जीव के चिन्ता का निरोध अर्थात् परिस्पन्द का अभाव होना ही ध्यान है, इस दृष्टि से ध्यान संज्ञा दी गई है। अघाति-चतुष्क कर्मों का विनाश करना इस चतुर्थशुक्लध्यान का फल है। योगनिरोध करना तीसरे शुक्लध्यान का फल है।

समुच्छिन्नक्रियास्यातो ध्यानस्याविनिर्वतिनः ।
साक्षात् संसारविच्छेदसमर्थस्य प्रसूतितः ।। १/१/८३ ।।

अर्थात् संसार को ध्वंस करनेवाली साक्षात् सामर्थ्य क्षायिकचारित्रगुण में चतुर्थशुक्लध्यान से आती है।

इसलिये निश्चयनय से चौदहवें गुणस्थान के रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) को मोक्ष का मुख्य (साक्षात्) कारण कहा गया है।

"निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्ति--रत्न-त्रयमिति निरवद्यमेतत्तत्त्वविदामाभासते।"

इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है। इससे जाना जाता है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्तिमसमयतक चारित्र साधनरूप है साध्यरूप नहीं है।

"सामायिकच्छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम् ।। त. सू. ९/१८ ।। इस सूत्र की टीका में श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—

"चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात् कारणमिति ज्ञापनार्थम्।"

अर्थ—चारित्र मोक्षप्राप्ति का साक्षात् कारण है यह दिखलाने के लिये पृथक्रूप से उसका (चारित्र का) अन्त में ग्रहण किया है।

इससे भी स्पष्ट है कि यथाख्यात चारित्र भी साधनरूप है; साध्यरूप नहीं है, क्योंकि सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार जो चारित्र है, वह साधनरूप चारित्र है। साध्यरूपचारित्र अर्थात् सिद्धों का चारित्र इन पांचों नामों द्वारा व्यपदेश को प्राप्त नहीं हो सकता है, इसलिये सिद्धों में सामायिक आदि पाँच नामों से व्यपदेश होनेवाले साधनरूप चारित्र का अभाव कहा गया है।

"सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेन्न-कोपि। यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात्।" धवल पु० १ पृ० ३७८।

साधनरूप सामायिकादि पाँच संयमों में संयमासंयम में तथा असंयम में गुणस्थानों का कथन करके यह प्रश्न किया गया कि संयममार्गणा के इन सात भेदों में से सिद्धों में कौन-सा भेद संभव है? इसके उत्तर में श्री वीरसेन महानाचार्य धवल सिद्धान्त ग्रंथ में कहते हैं—"सिद्धों के एक भी संयम नहीं होता है। सिद्धों के बुद्धिपूर्वक निवृत्ति का अभाव होने से जिसलिये वे संयत नहीं हैं उसीलिये वे संयतासंयत नहीं हैं।" इस पर यह शंका हो सकती थी जब सिद्ध संयत भी नहीं हैं, संयतासंयत भी नहीं हैं तो परिशेष न्याय से सिद्ध असंयत हैं। इसका निराकरण करने के लिये आचार्य कहते हैं कि "सिद्ध असंयत भी नहीं हैं, क्योंकि सिद्धों के सम्पूर्ण पापरूप क्रिया नष्ट हो चुकी है।"

यदि सिद्धों में चारित्र का सर्वथा अभाव माना जाय तो सिद्ध के अचारित्र अर्थात् असंयतपने का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि चारित्र न होना ही तो असंयम है।

"असंयताः आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु। (सर्वार्थसिद्धि १/८) चारित्तं णत्थि जदो अविरद अंतेसु ठाणेसु।"
—गो. जी. गा. १२

आदि के चार गुणस्थानवाले असंयत हैं, क्योंकि इन चार गुणस्थानों में चारित्र नहीं होता है।

सिद्ध असंयत नहीं, क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव नहीं है। सामायिक आदि नामों से व्यपदेश किये जानेवाले साधनरूप चारित्र का अभाव होनेपर भी साध्यरूप चारित्र का सद्भाव सिद्धों में पाया जाता है। यदि सिद्धों में साध्य व साधनरूप दोनों चारित्रों का अभाव माना जायेगा तो सिद्ध भी असंयत हो जायेंगे, जिसप्रकार प्रथम चार गुणस्थान वाले असंयत हैं, क्योंकि उनमें साध्य व साधन दोनों प्रकार के चारित्र का अभाव पाया जाता है।

इसीप्रकार धवल पु० ७ पृ० २१, गो. जी. गाथा ७३२ तथा श्लोक वार्तिक १/१/३४ की टीका के विषय में जानना। यदि धवलाकार श्री वीरसेनाचार्य, गोम्मटसार के कर्ता श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, श्लोकवार्तिक के कर्ता श्री विद्यानन्दि आचार्य को सिद्धों में चारित्र का सर्वथा अभाव इष्ट होता तो वे सिद्धों में चारित्र के सद्भाव का कथन न करते। इन आचार्यों ने सिद्धों में चारित्र के सद्भाव का कथन किया है जो इस प्रकार है—

"एदस्स कम्मस्स खएण सिद्धाणमेसो गुणो समुप्पण्णो त्ति जाणावणट्ठमेदाओ गाहाओ एत्थ परूविज्जंति"—

मिच्छत्त-कसायासंजमेहि जस्सोदएण परिणमइ।
जीवो तस्सेव खया, तव्विवरीदे गुणे लहई॥

अर्थ—'इस कर्म के क्षय से सिद्धों के यह गुण उत्पन्न होता है' इस बात का ज्ञान कराने के लिये ये गाथायें यहाँ प्ररूपित की जाती हैं—

गाथार्थ—जिस मोहनीयकर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व, कषाय और असंयमरूप से परिणमन करता है, उस मोहनीयकर्म के क्षय से सिद्धों के मिथ्यात्व के विपरीत सम्यक्त्वगुण की, कषाय (रागद्वेष) के विपरीत अकषाय (वीतराग) गुण की, असंयम के विपरीत संयम (चारित्र) गुणों की प्राप्ति होती है।

धवल कर्ता श्री वीरसेनाचार्य ने इस उपर्युक्त गाथा में सिद्धों के अकषाय अर्थात् वीतराग-गुण और संयम (चारित्र) गुण को स्वीकार किया है।

उवसमभावो उवसमसम्मं चरणं च तारिसं खइओ।
खाइय णाणं दंसण सम्म चरित्तं च दाणादी ॥८१६॥
मिच्छतिये तिचउक्के दोसु वि सिद्धे वि मूलभावा हु।
तिग पण पणगं चउरो तिय दोण्णि य संभवा होंति ॥८२१॥ गो० क०

इन दो गाथाओं में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने क्षायिकभावों में क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, क्षायिकदानादि बतलाये हैं और सिद्धों में क्षायिकभाव व पारिणामिकभाव ये दो भाव बतलाये हैं। इसप्रकार इन गाथाओं द्वारा सिद्धों में क्षायिकचारित्र का सद्भाव स्वीकार किया गया है। श्री विद्या-नन्दस्वामी ने भी श्लोकवार्तिक में कहा है—

"सिद्धानामत एव प्रवेशस्पंदाभावस्तेषामयोगव्यपदेशः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वासिद्धे रव्यपदेश्य-चारित्रमयत्वात् कायादि वर्गणाभावाच्च सिद्धानां न योगोः युज्यते।" ६।१।१२ टीका।

यहाँ यह बतलाया गया है कि सिद्ध अव्यपदेशचारित्र से तन्मय हैं। अध्याय १० सूत्र ९ की टीका में भी कहा है—

सति तीर्थंकरे सिद्धिरसत्यपि च कस्यचित्।
अवेदव्यपदेशेन चारित्रेण विनिश्चयात् ॥ १० ॥

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी तत्त्वार्थसार का उपसंहार करते हुए कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्र-गुणानां य इहाश्रयः।
दर्शनज्ञान चारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १६ ॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणों का आश्रयभूत आत्मा है अतः दर्शन, ज्ञान, चारित्र में तीनों आत्मस्वरूप ही हैं।

यहाँ चारित्र को आत्मा का गुण बतलाते हुए आत्मस्वरूप बतलाया है। गुणों का नाश नहीं होता है यदि गुणों का नाश होने लगे तो द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जायगा। अतः सिद्धों में चारित्रगुण है जो सामायि-कादि साधनरूप नहीं है, किन्तु साध्यरूप है इसलिये वह सामायिकादि पाँच नामों से व्यपदिष्ट नहीं किया जा सकता है।

पुनः यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि चारित्रमोह के क्षयसे जो क्षायिकचारित्र उत्पन्न हुआ था और जिसे क्षायिकभाव के नौ भेदों में गिनाया गया है, क्या सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर उस क्षायिकचारित्र का अभाव हो जाता है ? या क्षायिकभाव शाश्वत है ?

सिद्धअवस्था प्राप्त होने पर क्षायिकचारित्र का अभाव हो जाता है ऐसा तो कोई आर्षवाक्य देखने में नहीं आया है, किन्तु इसके विरुद्ध धवलादि महान् ग्रन्थों में सिद्धों में क्षायिकचारित्र का कथन पाया जाता है। श्री विद्यानन्दिआचार्य ने श्लोकवार्तिक में कहा भी है—

"नहि सकलमोहक्षयादुद्भवच्चारित्रमंशतोऽपि मलवदिति शाश्वदमलवदात्यन्तिकं तदभिधूयते।"

संपूर्ण मोहनीयकर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाला क्षायिकचारित्र एक अंश भी मलयुक्त नहीं है। इस कारण वह क्षायिकचारित्र शाश्वत है उसका अन्त नहीं होता अर्थात् नाश नहीं होता है सदा अमर रहता है श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पंचास्तिकाय गाथा ५८ की टीका में कहा है—

"क्षायिकस्तु स्वभाव व्यक्तिरूपत्वादनंतोऽपि कर्मणः क्षयेणोत्पद्यमानत्वात् सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः।'

क्षायिकभाव स्वाभाविक होने से अनन्त अन्तरहित अविनाशी है तथापि कर्मक्षय से उत्पन्न होने के कारण सादि है इसलिये कर्मकृत कहा गया है।

क्षायिकचारित्र जो कि क्षायिकभाव है उसका सिद्धों में अन्त या विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वाभाविक है और प्रतिपक्षीकर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ है।

अभेदनिश्चयनय की दृष्टि में सम्यक्त्व व चारित्रगुण का अन्तर्भाव ज्ञान में हो जाता है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रं। तदेवं सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्यभवनमायातं।"

जो जीवादिपदार्थों का यथार्थ श्रद्धान उस स्वभावसे ज्ञान का परिणमना वह तो सम्यग्दर्शन है, उसी तरह जीवादि पदार्थों का ज्ञान उस स्वभावकर ज्ञान का होना वह सम्यग्ज्ञान है तथा जो रागादिका त्यागना उस स्वभावकर ज्ञान का होना वह चारित्र है। इसतरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों ही ज्ञान के परिणमन में आ जाते हैं।

इस दृष्टि से केवलज्ञान कहने से क्षायिकसम्यक्त्व व क्षायिकचारित्र का भी ग्रहण हो जाता है उनको पृथक्रूप से कहने की आवश्यकता नहीं है।

धर्म और धर्मी के अभेद को ग्रहण करनेवाली निश्चयनय की दृष्टि में सिद्धों के न दर्शन है न ज्ञान है और न चारित्र है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥ समयसार

ज्ञानी अर्थात् आत्मा के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीनों भाव व्यवहार अर्थात् भेदनय करि कहे गये हैं। निश्चयकर अर्थात् अभेदनय की दृष्टि में आत्मा के ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है, आत्मा तो एक शुद्ध ज्ञायक है।

"धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानंतपर्यायतयैकं किंचिन्मिलित स्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं ज्ञायक एवैकः शुद्धः।" समयसार गाथा ७ की टीका।

धर्म और धर्मीका यद्यपि स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद होने के कारण व्यवहार मात्रकर आत्मा के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। परमार्थ से देखा जाय तो द्रव्य अनन्तगुणों का पिंड होने पर भी एक है, उस एक अभेद-स्वभाव की दृष्टि में दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं हैं और चारित्र भी नहीं है।

इस दृष्टिसे सिद्धद्रव्य के ग्रहण होनेपर उसमें पृथक्‌रूप से ज्ञान, दर्शन, चारित्र का ग्रहण नहीं होता है।

इसप्रकार स्याद्वादियों के लिये सिद्धों में चारित्रगुण का सद्भाव व असद्भाव इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है, किन्तु सर्वथा एकान्तवादियों के उक्त दोनो कथन मिथ्या हैं क्योंकि उनका कथन नय निरपेक्ष है।

यथाख्यातचारित्र क्षायिकरूप ही हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि ग्यारहवें उपशांत मोहगुणस्थान में यथाख्यात-चारित्र उपशमरूप भी पाया जाता है। दूसरे यथाख्यात-चारित्र साधनरूप है इसलिये सिद्धों में यथाख्यातचारित्र नहीं है। चारित्र की साधनरूप पर्याय नष्ट होने पर ही साध्यरूप पर्याय का उत्पाद होता है।

अरहंतों का आत्मद्रव्य सलेप है और सिद्धों का आत्मद्रव्य निर्लेप है। श्री अमृतचन्द्राचार्य के 'द्रव्यानुसारि चरणं' इस पद के द्वारा यह कहा गया है कि चारित्र द्रव्यानुसार होता है। अतः द्रव्य में अन्तर होने से चारित्र में भी अन्तर होना सम्भव है।

—जै. ग. 20-5-71/VII/र. ला. जैन, एम. कॉम. मेरठ

क्षायिकचारित्र व यथाख्यातचारित्र में अन्तर

शंका—क्षायिकचारित्र और यथाख्यातचारित्र में क्या अन्तर है?

समाधान—क्षायिकचारित्र तो चारित्रमोहनीयकर्म के अत्यन्त क्षयसे उत्पन्न होता है, किन्तु उपशांतमोह-गुणस्थान में चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम से भी यथाख्यातचारित्र होता है। ग्यारहवेंगुणस्थान में यथाख्यातचारित्र तो होता है, किन्तु क्षायिकचारित्र नहीं हो सकता है। यथाख्यातचारित्र उपशम व क्षायिक दोरूप हैं, किन्तु क्षायिक चारित्र मात्र क्षायिक रूप ही है।

"षोडशकषायनवनोकषायक्षयात् क्षायिकचारित्रम्। सर्वस्य मोहनीयस्योपशमः क्षयो वा वर्तते यस्मिन् तत् परमौदासीन्यलक्षणं जीवस्वभाववशा यथाख्यात चारित्रम्।" तत्त्वार्थवृत्ति

अप्रत्याख्यानावरणादि सोलहकषाय और हास्यादि नव नोकषाय के क्षय से क्षायिकचारित्र होता है। जिसमें सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का उपशम या क्षय हो वह यथाख्यातचारित्र है।

यथाख्यातचारित्र का स्वामी उपशमसम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, किन्तु क्षायिकचारित्र का स्वामी क्षायिक-सम्यग्दृष्टि ही होगा।

इसप्रकार क्षायिकचारित्र व यथाख्यातचारित्र में अन्तर है। वीतरागता की अपेक्षा इन दोनों चारित्र में कोई अन्तर नहीं है। क्षीणमोह-बारहवेंगुणस्थान में जो क्षायिकचारित्र है वही यथाख्यातचारित्र है।

—जै. ग. 3-12-70/X/ रो. ला. मित्तल

चारित्र किन-किन गतियों में हो सकता है और किनमें नहीं

शंका—सम्यग्दर्शन चारों गतियों में हो सकता है तो चारित्र क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—देवगति व भोगभूमिया में यद्यपि शुभलेश्या है, किन्तु आहारादि पर्यायें नियत हैं अतः वे उपवास आदि नहीं कर सकते हैं। इस कारण देवों में व भोगभूमियाजीवों में चारित्र नहीं होता है। नारकियों में अशुभलेश्या होती है शुभलेश्या नहीं होती है। शुभलेश्या के अभाव में संयमासंयम या संयम नहीं हो सकता। कर्मभूमिया मनुष्य व तिर्यंचोंकी आहारादि पर्याय अनियत हैं तथा शुभलेश्या भी संभव है अतः इनमें अपनी-अपनी योग्यतानुसार चारित्र हो सकता है। जिनको चारित्र तथा चारित्रवान् पर श्रद्धा नहीं है वे बाह्य वातावरण अनुकूल होते हुए भी चारित्र धारण नहीं करते हैं। जिनको चारित्र पर श्रद्धा नहीं वे सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो सकते हैं।

—जै. ग. 15-6-72/VII/रो. ला. मित्तल

चारित्र बिना ज्ञान अकार्यकारी है

शंका—देखना जानना तो साधारण बात है, यह तो हर मनुष्य के होता है। सम्यक् श्रद्धान या प्रतीति विशिष्टपर्याय है। जिस मनुष्य ने देख जानकर भी अपने चारित्र में ढालना प्रारम्भ नहीं किया उस मनुष्य के सम्यक् प्रतीति या श्रद्धा कही जा सकती है या नहीं ?

समाधान—यहाँ पर प्रश्न मनुष्य की अपेक्षा से किया गया है, क्योंकि मनुष्य चारित्र धारण कर सकता है, अत. मनुष्य की दृष्टि से ही इस प्रश्न पर विचार होगा।

जो मनुष्य यह जानते हुए भी कि अग्नि में हाथ देने से हाथ जल जावेगा, अग्नि में हाथ देता है तो उसका जानना, न जानना समान है। यदि ज्ञान के अनुकूल मनुष्य का आचरण नहीं होता है तो वह ज्ञान व्यर्थ है। कहा भी है—

"यथा प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि। तथायं जीवः श्रद्धानज्ञान सहितोऽपि पौरुषस्थानीयचरित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति।"

जैसे दीपक को रखनेवाला स्वांखा पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूपपतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धान, दीपक व दृष्टि कुछ भी कार्यकारी नहीं हुई, वैसे ही यह मनुष्य श्रद्धान, ज्ञानसहित भी है, परन्तु पौरुष के समान चारित्रके बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयमभाव से यदि अपने को नहीं हटाता है तो श्रद्धान तथा ज्ञान उसका क्या हित कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी हित नहीं कर सकते हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी समयसार गाथा ३५ की टीका में कहा है—

"झङ्गु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठुपरीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात्।"

तू शीघ्र जाग, सावधान हो यह तेरा आत्मा ज्ञान-मात्र है अन्य सब परद्रव्यके भाव हैं, तब बारम्बार यह आगम वाक्य सुनता हुआ समस्त अपने पर के चिह्नों से अच्छी तरह परीक्षा कर ऐसा निश्चय करता है कि मैं एक ज्ञानमात्र हूँ अन्य सब परभाव हैं। इसप्रकार ज्ञानी होकर रागद्वेष आदि सब पर भावों को तत्काल छोड़ देता है।

"यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिक तद्भेदज्ञानासिद्धेः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपिनास्रवेभ्योनिवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवति।"

—समयसार गाथा ७२ टीका

जिस समय आत्मा और आस्रव का भेद जान लिया उसीसमय क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। जब तक उन क्रोधादि से निवृत्त नहीं हो तब तक उसके पारमार्थिक भेदविज्ञान की सिद्धि नहीं होती। आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान होने पर भी क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं। अर्थात् जिस मनुष्य ने चारित्र ग्रहण नहीं किया उस मनुष्य को पारमार्थिकज्ञान व श्रद्धान नहीं है।

—जै. ग. 4-5-72/VII/ सुलतानसिंह

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का फल चारित्र है

शंका—यदि ज्ञान का फल चारित्र है तो सम्यग्दर्शन का क्या फल है? सातिशयपुण्य का बन्ध होना क्या सम्यग्दर्शन का फल है?

समाधान—सम्यग्दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होने से सहचारी हैं, अतः इन दोनों में से किसी एक का ग्रहण करने से दोनों का ग्रहण हो जाता है। श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—

'युगपदात्मलाभे साहचर्यादुभयोरपि पूर्वत्वम्, यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयोः पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहणं, नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य तथा सम्यग्दर्शनस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम्।' रा. वा. १/१।

अतः ज्ञान का फल चारित्र कहने से यह समझना चाहिये कि चारित्र सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का फल है।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान जब तक जघन्यभाव से अर्थात् सरागावस्था में परिणमते हैं तबतक सातिशय-पुण्य का बन्ध होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥ १७१ ॥ समयसार

जबतक ज्ञानगुण जघन्यभाव से अर्थात् सकषायभाव से परिणमता है तबतक ज्ञानगुण कर्मबंध (पुण्यकर्म-बंध) करनेवाला कहा गया है।

उस सम्यग्दृष्टि के जो कर्मबंध होता है वह सातिशयपुण्यरूप होता है, इसलिये श्री समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन का फल निम्नप्रकार कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥
ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धि विजयविभवसनाथाः।
महाकुलाः महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥ ३६ ॥
अष्टगुणपुष्टितुष्टा, दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि, चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७ ॥

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्तयितुं प्रभवंति, स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्या विभवंविमलं भजन्तिदर्शनशरणाः ॥४०॥

निर्दोष सम्यग्दृष्टिजीव व्रतरहित होने पर भी नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, विकलाङ्ग, अल्पायु, दारिद्र को प्राप्त नहीं होता है, किंतु उसके इतना सातिशयपुण्यबंध होता है कि वह उत्साह, प्रताप, विद्या, वीर्य, कीर्ति, कुलवृद्धि, विजय और ऐश्वर्य से सहित उच्चकुल में उत्पन्न होता है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधक पुरुषों में श्रेष्ठ होता है, अणिमा आदि आठ गुणों तथा श्रेष्ठ शोभा से युक्त होता हुआ देवों और देवांगनाओं की सभा में बहुत काल पर्यन्त रमण करता है। वह सरागसम्यग्दृष्टिजीव उस अतिशय पुण्यबंध के कारण समस्त पृथ्वी का स्वामी चक्रवर्ती होता है तथा धर्मचक्र का धारक तीर्थंकर होकर मोक्ष सुख को प्राप्त होता है।

मिथ्यादृष्टि के सातिशयपुण्यबंध नहीं होता है इसीलिये वह देवेन्द्र, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त नहीं हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्यबंध मोक्षका कारण होता है, किंतु संसार का कारण नहीं होता है। श्री देवसेनाचार्य ने कहा भी है—

सम्माविट्ठी पुण्णं ण होइ संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥ ४०४ ॥

तम्हा सम्माविट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊणं गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥

सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्यबंध संसार का कारण कभी नहीं होता यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि के द्वारा किये हुए पुण्य मे निदान न किया जाय तो वह नियम से मोक्ष का ही कारण होता है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है इसलिये गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसारा, श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भव-भावनिष्ठं, आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यम् ॥२०२॥

अर्थ—सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदि के उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घआयु, अनुपमरूप, समृद्धि, उत्तमवाणी, चक्रवर्तीसाम्राज्य, इंद्रपद, जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता ऐसा अरहंतपद और अंत-रहित समस्त सुख देने वाला श्रेष्ठ निर्वाणपद इन सबकी प्राप्ति एक पुण्य से ही होती है।

पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं।
पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसींचाश्नुते ॥

पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं।
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥१२९॥

अर्थ—पुण्य से सबको विजय करने वाली लक्ष्मी मिलती है, इन्द्र की दिव्यलक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है, पुण्य से ही तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है और परमकल्याणरूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है, इसप्रकार यह जीव पुण्य से ही चारों प्रकार की लक्ष्मी का पात्र होता है, इसलिये जिनेन्द्र भगवान् के आगमानुसार पुण्य का उपार्जन करो।

नैकाक्षैर्विकलाक्षपंचकरणासंज्ञत्रजैर्जातु या ।
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यबलतः संपूर्णपर्याप्तिभिः ॥
भव्यैः संज्ञिभिराप्तलब्धिविधिभिः कैश्चित्कदाचित् क्वचित् ।
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥ १० ॥ ४३ ॥

श्री वीरनन्दि सैद्धान्तिकचक्रवर्ती आचार्य ने आचारसार के इस श्लोक में बतलाया है कि जिन जीवों के पुण्यकर्म का उदय महान् होता है उनको रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये महान् पुण्योदय की सहकारता भी जरूरी है।

"पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादिसुखखान्यः।"

पुण्य प्रकृतियाँ तीर्थंकर आदि पदों के सुख देने वाली हैं।

"काणि पुण्ण-फलाणि ? तित्थयर-गणहर रिसि चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहरिद्धीओ।"

—धवल पु. १ पृ. १०५

पुण्य का फल तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा ४५ में 'पुण्णफला अरहंता' इन शब्दों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है—'अरहन्तपद पुण्यप्रकृति का फल है।'

यह सातिशयपुण्यबंध सम्यग्दृष्टि के ही होता है और सम्यग्दृष्टि मोक्ष के कारणभूत पुण्य को उपादेय मानता है। कहा भी है—

"निर्निदानविशिष्टतीर्थंकरनामकर्मास्रव उपादेयो मोक्षहेतुत्वात्। तीर्थंकरनामकर्ममोक्षहेतुश्चतुर्विधोऽपि बंध उपादेयः।" भावपाहुड गाथा ११३ टीका

मोक्ष का कारण होने से निदानरहित तीर्थंकरनामक सातिशयपुण्यप्रकृति का आस्रव उपादेय है। मोक्ष का कारण होने से तीर्थंकर नामकर्म का चारों प्रकार का बंध उपादेय है।

सम्यग्दर्शन का विशिष्ट फल यह है कि जीव के अपरीत संसारीपना हटकर परीतसंसारी हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन अनन्तसंसार को काटकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कर देता है। कहा भी है—

"एगो अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि काऊण सम्मत्तं गहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गल-परियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि। धवल ४/३३५

अर्थ—एक अनादिमिथ्यादृष्टि अपरीतसंसारी (अमर्यादित संसारी) जीव, अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इस प्रकार तीनों ही करणों को करके सम्यक्त्वग्रहण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्वगुण के द्वारा पूर्ववर्ती अपरीतसंसारीपना हटाकर परीतसंसारी हो जाता है और अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तनप्रमाण काल तक ही संसार में ठहरता है।

"एक्को अणादियमिच्छादिट्ठी तिण्णि करणाणि करिय सम्मत्तं पडिवण्णो। तेण सम्मत्तेण उपज्जमाणेण अणंतो संसारो छिण्णो संतो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।"

अर्थ—कोई एक अनादिमिथ्यादृष्टिजीव तीनों करणों को करके सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। उत्पन्न होने के साथ ही उस सम्यक्त्व से अनन्तसंसार छिन्न होता हुआ अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल मात्र कर दिया गया।

"मिथ्यादर्शनस्यापक्षयेऽसंयतसम्यग्दृष्टेरनन्तसंसारस्य क्षीयमाणत्वसिद्धेः।"

श्री विद्यानन्द आचार्य ने भी श्लोक वार्तिक में कहा है— चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि मिथ्यादर्शन का नाश हो जाने पर अनन्त संसार का क्षय कर देता है।

परीक्षामुख सूत्र में श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने सम्यग्ज्ञान का फल निम्न प्रकार कहा है—

"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।"

अज्ञान की निवृत्ति, हान (त्याग), उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा ये ज्ञान के फल हैं। जब तक बुद्धिपूर्वक राग द्वेष है तब तक हान-उपादानरूप सविकल्प चारित्र होता है। जब बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष का अभाव हो जाता है अर्थात् वीतराग दशा को प्राप्त हो जाता है उस समय उपेक्षासंयम (उपेक्षाचारित्र) हो जाता है।

'राग आदिक हेय हैं', ऐसा ज्ञान व श्रद्धान हो जाने पर भी यदि जीव रागद्वेष से निवृत्त नहीं होता है तो उसका वह ज्ञान पारमार्थिक ज्ञान नहीं है।'

"यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते। तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवति।"

जिस समय आत्मा और रागादि आस्रवभावों का भेद जान लिया उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। और उनसे जब तक निवृत्त न हो तब तक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्चे भेदज्ञान की सिद्धि नहीं होती है तथा जो आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है वह भी आस्रवो से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं है।

इसप्रकार पारमार्थिक सम्यग्दर्शन व ज्ञान का फल चारित्र है यह स्पष्ट हो जाता है।

—जै. ग. 24-6-71/VII/ रो. ला. मित्तल

अणुव्रत व महाव्रत/व्रत न विभाव क्रिया हैं, न हेयरूप और न ही आस्रव तत्त्व

शंका—२ मार्च १९६४ को सोनगढ पत्रिका हिन्दी आत्मधर्म के पृ० ६०१ पर लिखा है कि 'अणुव्रत-महाव्रत विभावी क्रिया हैं।' पृ० ६०२ पर लिखा है—'असंयत-सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में अणुव्रत-महाव्रत हेय रूप हैं उपादेय रूप नहीं हैं।' क्या यह कथन ठीक है?

समाधान—श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि 'रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः । अर्थात् साधु पुरुष राग-द्वेष दूर करने के लिए चारित्र को धारण करते हैं । चारित्र का लक्षण तथा भेद निम्न प्रकार है—

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥
सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससंगानाम् ॥५०॥ र० क० श्रा०

टीका—हिंसादि विरतिलक्षणं यच्चरणं प्राक् प्ररूपितं तत्-सकलं विकलं च भवति । तत्र सकलं परिपूर्णं महाव्रतं । केषां तद्भवति ? अनगाराणां मुनीनाम् । किंविशिष्टानां सर्वसंगविरतानां ? बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितानाम् । विकलमपरिपूर्णम् अणुव्रतरूपम् । केषां तद्भवति ? सागाराणां गृहस्थानाम् । कथंभूतानां ? ससंगानां सग्रंथानाम् ॥ ५० ॥

पाप की प्रणालीरूप अर्थात् आस्रवरूप जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह से विरत होना व्रत है वह सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है । अर्थात् सम्यग्दृष्टि का व्रत धारण करना ही चारित्र है । वह चारित्र दो प्रकार का है । महाव्रतरूप सकलचारित्र और अणुव्रतरूप एकदेश चारित्र । समस्त परिग्रह से रहित मुनियों के महाव्रतरूप सकल चारित्र होता है । परिग्रह सहित गृहस्थों के अणुव्रतरूप एकदेश चारित्र होता है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम् ।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदास्तैकलक्षणम् ॥१॥
पंचव्रतं समितिपंच गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
श्री वीरवदनोद्‌गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥५॥
हिंसायामनृतेस्तेये मैथुने च परिग्रहे ।
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्वानुकम्पकैः ॥६॥
महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि, महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि ।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि, महाव्रतानीति सतां मतानि ॥
आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥

जो विशुद्धता का उत्कृष्टधाम है तथा योगीश्वरों का जीवन है और सर्व प्रकार की पापवृत्तियों से दूर रहना जिसका लक्षण है वह सम्यक्चारित्र है ।

श्री वर्द्धमान तीर्थंकर भगवान ने उस चन्द्रमा के समान निर्मल चारित्र को पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार का कहा है । हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापों से विरति भाव अर्थात् त्याग भाव व्रत है ।

ये व्रत महत्ता के कारण हैं, इस कारण गुणी पुरुषों ने–तीर्थंकरों ने इनका आश्रय किया है । दूसरे ये स्वयं महान् हैं इस कारण देवताओं ने भी इन्हें नमस्कार किया है । तीसरे महान् अतीन्द्रिय सुख (मोक्ष सुख) और ज्ञान के कारण हैं, इन कारणों से सत्पुरुषों ने इनको महाव्रत माना है ।

पांच महाव्रतों का तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने आचरण किया है तथा ये महाव्रत महान् पदार्थ अर्थात् मोक्ष को साधते हैं तथा स्वयं भी बड़े हैं। इन कारणों से ये महाव्रत हैं।

इन व्रतों के कारण ही सम्यग्दृष्टि के प्रतिसमय असंख्यातगुणित निर्जरा होती रहती है। अविरतसम्यग्दृष्टि के व्रत न होने के कारण प्रतिसमय असंख्यातगुणित निर्जरा नहीं होती है मात्र सम्यक्त्वोत्पत्ति के समय निर्जरा होती है।

'असंखेज्जगुणाए सेडिए कम्मणिज्जरणहेदू वदं णाम।'

अर्थात् व्रत असंख्यातगुणितश्रेणी से कर्मनिर्जरा का कारण है।

किन्तु जब तक दर्शन, ज्ञान, चारित्र जघन्यभाव से परिणमते हैं तब तक निर्जरा के साथ बन्ध भी होता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र जिस कारण जघन्यभावकर परिणमते हैं, इसकारण से ज्ञानी नाना प्रकार के पुद्गल कर्मों से बंधता है।

इन आर्षप्रमाणों से स्पष्ट है कि व्रत न विभाव क्रिया हैं न आस्रव भाव हैं न हेय रूप हैं किन्तु मोक्ष के कारण होने से उपादेय रूप हैं।

—जै. ग. 31-12-70/VII/अमृतलाल

१. शुभराग व शुभोपयोग में अन्तर एवं इन दोनों के स्वामी
२. रागांश से ही बन्ध तथा रत्नत्रयांश से ही संवर-निर्जरा

शंका—शुभराग व शुभोपयोग में क्या अन्तर है ?

समाधान—शुभराग का अर्थ प्रशस्तराग है। सरागसम्यग्दर्शन अथवा सरागसम्यक्चारित्र को शुभोपयोग कहते हैं। शुभोपयोग में वीतरागता व सरागता मिश्रितरूप से रहती हैं। जिसमें वीतरागता मिश्रित न हो ऐसा एकला शुभराग तो निरतिशयमिथ्यादृष्टि के होता है जिससे संवरनिर्जरा नहीं होती, मात्र पुण्यबंध होता है जो परम्परा संसार का ही कारण है, किन्तु इस पुण्य के उदय में देवगति की प्राप्ति होय है वहाँ जिनमत का निमित्त बना रहे हैं, यदि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होनी होय तो होय जावे है। यदि वह शुभराग अरहंतादि विषैं स्तवनादिरूप है तो वह कषाय की मंदता लिये है तातैं विशुद्ध परिणाम है। बहुरि समस्त कषायभाव मिटावने का साधन है, तातैं शुद्ध परिणाम का कारण है सो ऐसा परिणामकरि अपना घातक घातिकर्म का हीनपना होने तें सहज ही वीतराग विशेषज्ञान प्रगट होय है। अथवा अरहंतादि का आकार अवलोकना वा स्वरूप विचार करना वा वचन सुनना वा निकटवर्ती होना वा तिनके अनुसार प्रवर्तना इत्यादि कार्य तत्काल ही निमित्तभूत होय रागादिक को हीन करैं है। जीव, अजीवादि का विशेषज्ञान (भेदज्ञान) को उपजावे हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक) मिथ्यादृष्टि के अरहंत भक्ति आदि शुभराग को कहीं-कहीं पर शुभोपयोग भी कह दिया जाता है, किंतु प्रवचनसार गाथा ९ की तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका में श्री जयसेन आचार्य ने तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की संस्कृत टीका में तो मिथ्यादृष्टि के अशुभोपयोग ही कहा है। इसका कारण यह है—मिथ्यादृष्टि के ज्ञान वैराग्यशक्ति का अभाव होने से संवरपूर्वक निर्जरा का अभाव है। मात्र पुण्य का बंध होता है।

प्रवचनसार गाथा ११ की तात्पर्यवृत्ति टीका में श्री जयसेन आचार्य ने वीतरागचारित्र को शुद्धोपयोग कहा है 'शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं' और सरागचारित्र को शुभोपयोग कहा है 'शुभोपयोगरूपं सरागचारित्रं'। प्रवचनसार गाथा ९ की तात्पर्यवृत्ति टीका में तथा वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की संस्कृत टीका में सम्यग्दृष्टि के चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में एक शुभोपयोग ही कहा है। इससे सिद्ध है कि व्यक्तरागसहित सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोगी कहा है अर्थात् शुभोपयोग में दो अंश होते हैं, एक राग अंश दूसरा सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र अंश। जितने अंश में सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र है उतने अंश में बंध नहीं है अर्थात् संवर व निर्जरा है, किन्तु जितने अंशों में राग है उतने अंशों में बंध है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २१२-२१४।

शुभोपयोग में रागांश के द्वारा पुण्यबंध होता है, किंतु वह बंध अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बंध का उपाय नहीं है (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा २११ व भावसंग्रह गाथा ४०४)। इस बंध के द्वारा तीर्थंकर व उत्कृष्ट संहननादि विशिष्टपुण्यप्रकृति बंधती हैं जो मोक्ष के लिये सहकारी कारण होती हैं (पंचास्तिकाय गाथा ८५ तात्पर्यवृत्ति टीका) क्योंकि संहननादिशक्ति के अभाव में जीव के शुद्धात्मस्वरूप में ठहरना अशक्य होता है।

—पंचास्तिकाय गाथा १७१ व १७० पर तात्पर्यवृत्ति टीका

सम्यग्दर्शन की मुख्यता करके शुभोपयोग को निर्जरा का कारण कहा है। जैसा कि श्री कुंदकुंद आचार्य ने समयसार गाथा १९३ निर्जराअधिकार के प्रारम्भ में कहा कि सम्यग्दृष्टिजीव जो इन्द्रियों के द्वारा अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है यह सब निर्जरा के निमित्त है। तथा श्री वीरसेन स्वामी ने भी जयधवला पुस्तक १ पृष्ठ ६ पर कहा है कि—यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्म का क्षय न माना जावे तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता। श्री प्रवचनसार गाथा २६० में भी कहा—जो (श्रमण, मुनि) अशुभोपयोग रहित वर्तते हुए शुद्धोपयुक्त अथवा शुभोपयुक्त होते हैं वे (श्रमण) लोगों को तार देते हैं। श्री अमृतचन्द्रसूरि ने प्रवचनसार गाथा २५४ की टीका में लिखा है—गृहस्थ को रागसंयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और इसलिये वह शुभोपयोग क्रमशः परम निर्वाणसौख्य का कारण होता है। गाथा २२२ की टीका में तो मुनिपर्याय के सहकारी कारणभूत आहार-निहार को भी शुद्धोपयोग कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्रअंश की मुख्यता से शुभोपयोग को संवर, निर्जरा तथा मोक्ष का कारण कहा है, किन्तु वहाँ पर उस कथन में रागअंश और रागअंश से होने वाला बंध गौण समझना चाहिये, बंध का सर्वथा अभाव नहीं समझना चाहिये। सूक्ष्मराग दसवें गुणस्थान तक रहता है और तत्संबंधीबंध भी होता है। इसी कारण करणानुयोग में शुद्धोपयोग ग्यारहवें गुणस्थान से कहा गया है, किन्तु द्रव्यानुयोग में सातवें गुणस्थान में ही बुद्धिपूर्वक राग का अभाव हो जाने से यहीं से शुद्धोपयोग कह दिया गया है। सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग होते हुए भी समयसार ग्रंथ में सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है। यह कथन भी सम्यग्दृष्टि की ज्ञान-वैराग्यशक्ति की अपेक्षा से है, किन्तु सम्यग्दृष्टि को सर्वथा अबंधक न समझ लेना, जितने अंशों में कषाय का उदय है उतने अशों में बंध है।

रागअंश की मुख्यताकरि अथवा मिथ्यादृष्टि के शुभराग को उपचार से शुभोपयोग की दृष्टि से कहीं कहीं मात्र पुण्यबंध का ही कारण कहा है और पुण्यबंध इंद्रियसुख का साधन है। इंद्रियसुख वास्तविक सुख न होने से दुखमयी है। अत. शुभोपयोग को इसप्रकार दुख का साधनभूत सिद्ध करके हेय बताया है। यह कथन प्रवचनसार गाथा ६९ से ७९ तक तथा गाथा १५७ में स्वयं श्री कुंदकुंद आचार्य ने किया है। श्री अमृतचन्द्रसूरिजी ने भी गाथा ६ व ११ की टीका में किया है। व्यवहाराभासियों का कथन करते हुए श्री टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक में शुभोपयोग को बंध का ही कारण कहा है और यह भी कहा जो बंध का कारण है वह संवर व निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है? मोक्षशास्त्र अध्याय ६ में सम्यक्त्व व सरागसंयम को देवायु के आस्रव का कारण

कहा है। इन सब कथनों में तथा इसप्रकार के अन्य कथनों में शुभोपयोग के राग अंश की मुख्यता रही है और सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रअंश की गौणता रही है। ऐसा कथन होते हुए भी सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र के द्वारा होने वाली निर्जरा व संवर का सर्वथा अभाव न समझ लेना चाहिये, किन्तु राग अंश के द्वारा पुण्यबंध होने पर भी वीतराग अंश (सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र) के द्वारा शुभोपयोग से संवर और निर्जरा भी अवश्य होती है। यदि यह कहा जावे कि शुभराग को तो शुभोपयोग के नाम से पुकारा जावे तो शुभोपयोग से मात्र बंध और शुद्धोपयोग से मात्र संवर व निर्जरा सिद्ध हो जाने से सब कथन आगम-अनुकूल हो जाता है, किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवचनसार गाथा ९ में एक काल में एक जीव के एक उपयोग स्वीकार किया गया है। एक साथ एक जीव के एक से अधिक उपयोग नहीं माने गये हैं।

इस सब कथन का सारांश यह है कि मात्र शुभराग तो निरतिशय मिथ्यादृष्टि के होता है जिससे पुण्यबंध होता है और संवर-निर्जरा नहीं होती। उपशमसम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि के तथा सम्यग्दृष्टि के वीतराग मिश्रित शुभराग होता है, जिसको शुभोपयोग कहते हैं यह शुभोपयोग द्रव्यानुयोग की अपेक्षा चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक होता है और करणानुयोग की अपेक्षा चौथे से दसवें गुणस्थान तक होता है (मोक्षमार्गप्रकाशक) इस शुभोपयोग के द्वारा बंध कम होता है और निर्जरा अधिक होती है। जैसा कि कहा भी है—अरहंत नमस्कार से तात्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। जयधवल पु० १ पृ० ९।

—जै. सं. 6-5-58/IV/ जिनप्रसाद

अष्ट मूलगुण

१. सर्व प्रथम करणीय (पालनीय) क्रिया

२. मांस आदि भक्षण करने वाला सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता

शंका—जीव को सर्व प्रथम क्या करना चाहिये ?

समाधान—मनुष्य को सर्व प्रथम मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बरफलों का त्याग करना चाहिये, क्योंकि इनके त्याग किये बिना मनुष्य जैनधर्म के उपदेश का पात्र भी नहीं होता है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय में कहा भी है—

> अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
> जिन-धर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

अर्थ—दुखदायक, दुस्तर और पापों के स्थान इन आठ पदार्थों को (मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर फल को) परित्याग करके निर्मल बुद्धिवाला पुरुष जिनधर्म के उपदेश का पात्र होता है।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व पाँचलब्धियाँ होती हैं उनमें दूसरी विशुद्धलब्धि है अर्थात् मनुष्य के परिणामों में विशुद्धता-निर्मलता आने पर ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सम्भव है। मद्य, मांस आदि पदार्थों का भक्षण करनेवाले मनुष्य के परिणामों में विशुद्धता नहीं आ सकती है, क्योंकि क्रूर परिणामवाला मनुष्य ही मद्य, मांसादि पदार्थों का भक्षण कर सकता है। विशुद्ध परिणामवाला मद्य, मांसादि पदार्थों का सेवन नहीं कर सकता है। अतः मद्य,

मांसादि पदार्थों का भक्षण करनेवाले मनुष्य के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। मद्य व मांस का सेवन तो सम्यग्दर्शन का विरोधी है।

'मननदृष्टिचरित्रतपोगुणं दहति वह्निरिवेंधनमूर्जितं ।' सुभाषित-रत्न-संदोह

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि ईंधन के ढेर के ढेर जला डालती है उसी प्रकार मद्य सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र गुणों को बात की बात में भस्म कर डालती है।

धर्मद्रुमस्यास्तमलस्य मूलं निर्मूलमुन्मूलितमंगभाजां ।
शिवादिकल्याण फलप्रदस्य मांसाशिनास्यान्न कथं नरेण ॥५४७॥ सुभाषित रत्नसंदोह

अर्थ—जो मांस भोजी हैं वे पुरुष मोक्ष-स्वर्ग के सुखों के करनेवाले निर्दोष धर्मरूपी वृक्ष की जड़ उखाड़ने वाले हैं।

खदिरसार-भील ने जब धर्म का स्वरूप पूछा तो मुनि महाराज ने निम्न प्रकार उत्तर दिया था—

निवृत्तिर्मधुमांसादि सेवायाः पापहेतुतः ।
स धर्मस्तस्य लाभो यो धर्म-लाभः स उच्यते ॥ उत्तरपुराण सर्ग ७४ श्लोक ३९२-३९३

मधु, मांस आदि का सेवन करना पाप का कारण है, अतः उससे विरक्त होना धर्म है। उस धर्म की प्राप्ति होना धर्मलाभ है।

जो मनुष्य आत्मकल्याण चाहता है उसको सर्व प्रथम मद्य, मांस आदि का त्याग करना चाहिये।

—जै. ग. 22-10-70/VIII/ पद्मचन्द

अष्टमूलगुण धारण आदि सर्व गतियों के सम्यक्त्वियों में सम्भव नहीं है

शंका—क्या समस्त गतियों वाले जीव चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त कर अष्टमूलगुण धारण तथा सप्तव्यसन त्याग का पालन करते हैं?

समाधान—यद्यपि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव चारों गतियों में होते हैं तथापि अष्टमूलगुण धारण तथा सप्तव्यसन-त्याग चारों गतियों में सम्भव नहीं है।

—पत्राचार 5-12-75/ब. ला. जैन, भीण्डर

१. भोजन का आत्म-परिणामों पर प्रभाव पड़ता है
२. मांस भक्षी को सम्यक्त्व तो क्या, देशनालब्धि भी असम्भव है

शंका—क्या मांस भक्षण करने वाले मनुष्य के सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता? यदि यह माना जावे कि मांसभक्षण का त्याग करने पर सम्यग्दर्शन होगा तो मांसत्याग के लिये चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षयोपशम चाहिये और इसप्रकार चारित्रमोहनीयकर्म के क्षयोपशम को भी सम्यग्दर्शन के लिये कारण मानना होगा, किंतु सम्यग्दर्शन होने में दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय कारण है। सम्यग्दर्शन का बाधक मिथ्यात्वकर्म है, चारित्रमोहनीय कर्म बाधक-कारण नहीं अतः सम्यग्दर्शन के लिये मनुष्य को मांसत्याग की क्या आवश्यकता है?

समाधान—'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' इस नीति के अनुसार भोजन का आत्मपरिणामों पर प्रभाव पड़ता है। यद्यपि भोजन जड़ पदार्थ है और आत्मा चैतन्यद्रव्य है फिर भी आहार का प्रभाव आत्मपरिणामों पर पड़ता हुआ साक्षात् देखा जाता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

'मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।' पु० सि० ६२

अर्थात्—मदिरा (शराब) मन को मोहित करती है और मोहितचित्त मनुष्य धर्म को भूल जाता है।

'मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।' पु० सि० ७१

अर्थात्—शहद, मदिरा, मक्खन और मांस महाविकार को धारण किये हुए हैं (इनको खाने वाला विकारी हो जाता है)।

इसप्रकार मद्य, मांस, मधु को विकार का उत्पन्न करनेवाला बतलाकर, गाथा ७२ व ७३ में पांच उदम्बर फलों का निषेध करके श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि जिस मनुष्य के इन आठों का त्याग नहीं है वह जिनधर्मोपदेश का भी पात्र नहीं है।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिन-धर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥ पु० सि०

अर्थात्—मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बरफल ये आठों दुःखदायक दुस्तर और पापों के स्थान हैं। इन आठों का परित्याग करके निर्मल बुद्धिवाले जीव जिन-धर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मांसभक्षण करनेवाला मनुष्य जिनधर्म के उपदेश का भी पात्र नहीं है तो उसके सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि मांसभक्षण करनेवाले मनुष्य की बुद्धि मलिन रहती है।

खदिरसार भील को मुनि महाराज ने, आत्मा के स्वरूप का या भेदविज्ञान का उपदेश न देकर, मांस-त्याग का उपदेश दिया था, क्योंकि मास क त्याग बिना उस भील में जिनधर्मोपदेश ग्रहण करने की पात्रता नहीं आती। पात्र के योग्य ही उपदेश देना चाहिये। सम्यग्दर्शन की योग्यता के लिये मद्य, मांस, मधु और पांच-उदम्बर फल के त्यागरूप व्रत तो अवश्य होना चाहिये। जिसके इतना भी व्रत नहीं है वह सम्यग्दर्शन का पात्र भी नहीं है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही व्रत ग्रहण करना चाहिये, ऐसा एकान्त नहीं है। सम्यग्दर्शन की पात्रता के लिये सम्यग्दर्शन से पूर्व भी व्रत ग्रहण किये जाते हैं।

उपशमसम्यग्दर्शन से पूर्व क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच लब्धियां होती हैं। इनमें से पांचवीं करणलब्धि उसी भव्य जीव के होगी जिसका झुकाव सम्यक्त्व और चारित्र की ओर है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने लब्धिसार में कहा भी है—

"करणं सम्मत्त-चारित्ते।"

अर्थात्—सम्यक्त्व और चारित्र की तरफ झुके हुए भव्यजीव के ही करणलब्धि होती है।

इससे भी ज्ञात होता है सम्यग्दर्शन के लिये सम्यक्त्व की तरफ तो झुकाव होना ही चाहिए किन्तु उसके साथ-साथ चारित्र की तरफ भी झुकाव होना चाहिए। अर्थात् मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बरफल के त्यागरूप व्रत तो होने ही चाहिए।

"सम्मत्तहिमुहमिच्छो विसोहिवड्ढीहि वड्ढमाणो हु।" ल० सा०

अर्थात्—सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्धपने के वृद्धि से बढ़ता है।

जिस मनुष्य के मांसादि के भक्षण का त्याग नहीं है उसके विशुद्धि ही नहीं होती है, विशुद्धपने की वृद्धि तो हो ही नहीं सकती। जिस मनुष्य ने मांसादि का त्याग कर दिया है उसके ही विशुद्धपने की वृद्धि संभव है।

कषायपाहुड में श्री गुणधर आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिये मनुष्य के तेज (पीत) लेश्या के जघन्यअंश होने चाहिये, क्योंकि इतनी विशुद्धता के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता।

"जहण्णाए तेउलेस्साए।"

अर्थात्—तेजोलेश्या के जघन्यअंश में ही वर्तमान मनुष्य सम्यक्त्व का प्रारम्भक होता है, अशुभलेश्या वाला नहीं।

मांसभक्षण करनेवाले मनुष्य के प्रायः अशुभलेश्या रहती हैं। उसके पीतलेश्या के जघन्यअंश होने की सम्भावना नहीं है। पीतलेश्या के जघन्यअंश जैसी विशुद्धता के लिये मांसादि के त्यागरूप व्रत अवश्य होने चाहिये।

चारित्रमोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ हैं। उनमें चार अनन्तानुबन्धी की प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन की घातक हैं इसलिये दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ और चारित्रमोहनीय की चार अनन्तानुबन्धीप्रकृतियाँ इन सातप्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से सम्यक्त्व होता है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने चारित्रमोहनीयकर्म की चार अनन्तानुबन्धीप्रकृतियों को सम्यक्त्व की घातक कहा है।

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं।
जहाखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि ॥४५॥ गो० क०

अर्थात्—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये कषायें क्रमसे सम्यक्त्व को, देशचारित्र को, सकलचारित्र को और यथाख्यातचारित्र को घातती हैं।

चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी में सम्यग्दर्शन को घातती है। मात्र दर्शनमोहनीयकर्म की मिथ्यात्व प्रकृति ही सम्यग्दर्शन को घातती है ऐसा मानना उचित नहीं है। अतः दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय के साथ-साथ चारित्रमोहनीयकर्म की चार अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम, क्षय होने पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक्त्व के लिये मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव होना चाहिये।

—जै. ग. 13-12-65/XI/भगवानदास

अष्टमूलगुणधारी श्रावक को रात्रि में बने भोजन का तथा विदेशी दवाओं का सेवन नहीं करना चाहिये

शंका—पाक्षिक श्रावक रात्रि में बना हुआ भोजन तथा विदेशी दवा का प्रयोग कर सकता है या नहीं?

समाधान—अष्टमूलगुण में रात्रि भोजन त्याग भी एक मूलगुण है। कहा भी है—

मद्यपलमधुनिशाशनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥४८॥

अर्थ—मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पंचउदम्बरफलत्याग, देवदर्शन या पंचपरमेष्ठी स्मरण, जीवदया, छने जल का पान। ये आठ श्रावक के मूलगुण अर्थात् श्रावकधर्म के आधारभूत मुख्यगुण हैं।

श्रावक के रात्रिभोजनत्याग है अतः उनको रात्रि में बना हुआ भोजन भी नहीं करना चाहिये।

श्रावक के मद्य, मांस, मधु व पंचउदम्बरफल का त्याग होता है, विदेशी दवाओं में इनके प्रयोग की सम्भावना है, अतः विदेशी दवाओं का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

—जै. ग. 26-11-70/VII/ ग. म. सोनी

पानी छानने की समीचीन आगमोक्त विधि

शंका—जैन ग्रंथों में पानी छानने का सही-सही क्या विधान है? क्या कपड़े के छन्ने से छना हुआ पानी पूर्ण रूप से ग्रहण करने योग्य हो जाता है या नहीं? जबकि विज्ञान के प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित है कि पानी को जब तक उबाला या अन्य क्रियाओं द्वारा विश्लेषित न किया जाय तब तक पानी पीने योग्य नहीं होता। उबालने से तो जीव हिंसा होती है, उस समय कौनसा उपयुक्त जैनधर्मानुसार साधन अपनाना चाहिये, स्पष्ट लिखिये?

समाधान—पानी छानने के दो अभिप्राय हैं। पानी में त्रसजीव पाये जाते हैं यह विज्ञान के प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है। उन त्रसजीवों की हिंसा से निवृत्त होने के लिये पानी छाना जाता है। दूसरे उन जीवों के पेट में पहुंच जाने से स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है और स्वास्थ्य खराब हो जाने से संयम की साधना ठीक नहीं हो सकती। संयम मोक्षमार्ग है। अतः जो मोक्ष के इच्छुक हैं उनको अनछने पानी का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

छन्ना ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौड़ा होना चाहिये, किंतु किसी भी हालत में बर्तन (भांड) के मुख से तिगुने से कम नहीं होना चाहिये। छन्ने का कपड़ा इतना गाढ़ा हो कि उसको दोहरा करने पर उसमें से सूर्य की किरणें न दिखें। छन्ने को दोहरा करके बर्तन के मुंह पर रखें और उसमें गड्ढा कर दें। पानी छानते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अनछना पानी इधर-उधर गिरने न पावे और छन्ने के चारों कोने भी गीले न होने पावें। जब पानी छान लिया जावे तब उस छन्ने के उपरि भाग पर छना हुआ पानी डालकर उस पानी को एक बर्तन में ले लें जिससे उस छन्ने के ऊपर के त्रसजीव उस बर्तन में आ जावें। उस जीवानी के पानी को कड़ेदार बाल्टी द्वारा कुए में, जिस तरफ से पानी भरा था, पहुँचा दिया जावे। जिससे वे त्रसजीव जल में अपने स्थान पर पहुच जावे। छन्ना मैला नहीं होना चाहिए। पानी भरते समय डोल या बालटी को ऊपर से नहीं छोड़ना चाहिये। कड़ेदार बाल्टी जब पानी तक पहुँच जावे तब उलटी करनी चाहिये। जीवानी का जल ऊपर से नहीं डालना चाहिये। छनने का कपड़ा नया होना चाहिये अर्थात् अन्य किसी काम में न लाया गया हो।

इसप्रकार पानी छानने से पानी त्रसजीव रहित हो जाता है। जलकाय के जीव उसमें पाये जाते हैं और वे भी कभी कभी हानिकारक हो जाते हैं। इसलिये तथा रसना इंद्रिय को जीतने के लिये पानी उबालकर अथवा किसी पदार्थ से अचित्त करके जल ग्रहण करना उत्तम है। जो सचित्त त्यागी नहीं हैं वे जल छानकर बिना अचित्त किये भी ग्रहण कर सकते हैं। विशेष के लिये श्रावक धर्मसंग्रह व क्रियाकोष देखना चाहिये।

—जै. सं. 12-6-58/V/ कोमलचन्द जैन, किशनगढ़

करुणाभाव या जीवदया भी धर्म है

शंका—एकमत-जीवों के बचाने में व जीवों को दया पालन करने में मिथ्यात्व और हिंसा मानता है, और ऐसा ही उपदेश देता है। क्या यह मत, दिगम्बर-जैनधर्म के सर्वथा विपरीत नहीं है ? दिगम्बर-जैनधर्म का मूलसिद्धांत अहिंसापरमोधर्मः है। रात्रिभोजन नहीं करना, पानी छानकर पीना, मद्य, मांस, मधु, पांच उदम्बरफलों का सेवन न करना आदि श्रावकव्रत जीवों की रक्षा करने और उनकी दयापालन करने के लिये तो हैं। फिर जीवों की दया पालने में मिथ्यात्व और हिंसा बताना क्या दि० जैनधर्म के अनुसार ठीक है ?

समाधान—जीवदया धर्म है। पद्मनंदिपञ्चविंशतिका श्लोक ७ में कहा है—'धर्मो जीवदया।' तथा श्लोक १३ में कहा है—जिसमें उत्तमादिपात्रों को दान दिया जाता है तथा करुणा से दान दिया जाता है ऐसा गृहस्थ आश्रम विद्वानों के द्वारा पूजनीक होता है। श्री षट्खंडागम-धवल सिद्धान्तग्रंथ पुस्तक १३, पृ० ३६२ पर भी कहा—'करुणाए जीव सहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहदो' अर्थात् 'करुणा जीव का स्वभाव है अतएव उससे कर्मजनित मानने में विरोध आता है।' वस्तुस्वभाव ही धर्म है। अतः करुणा जीव का धर्म है। स्वभाव कर्मजनित नहीं होता है। विभाव कर्मजनित होता है। अतः कषाय का मंद उदय करुणा को कारण है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। अतः उपर्युक्त आगमानुसार 'जीवदया', 'करुणाभाव' धर्म है।

किन्तु जो एकान्त से ऐसी अहं बुद्धि करता है कि मैं परजीव को जिला सकता हूँ, बचा सकता हूँ पर जीव के कर्मोदय उसमें किंचित् भी कारण नहीं हैं उस जीव की ऐसी एकांत अहंकार बुद्धि मिथ्यात्व है। जिसका विस्तार पूर्वक कथन भी समयसार बंधाधिकार में है।

—जै. सं. 23-10-84/V/ ब. ला. छाबड़ा, लश्कर

सप्त व्यसन

१. परस्त्री सेवी का त्यागपूर्वक उसी भव में मोक्षगमन
२. एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव पड़ता है

शंका—क्या परस्त्रीगामी तथा मद्य, मांसभक्षण करनेवाला तद्भवमोक्षगामी हो सकता है या नहीं ?

समाधान—परस्त्रीसेवन करनेवाला तथा मद्य, मांसभक्षण करनेवाला उसी भव में उनका त्याग कर, सम्यग्दर्शन प्राप्त करके महाव्रतादिरूप चारित्र के द्वारा उसी मनुष्यभव से मोक्ष जा सकता है, किन्तु जिस समय तक परस्त्री, मद्य, मांस आदि का सेवन है उस समय तक सम्यग्दर्शन की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

परस्त्री, मद्य, मांस यद्यपि परद्रव्य हैं तथापि उनके सेवन से आत्मपरिणामों में इसप्रकार की मलिनता उत्पन्न होती है कि सम्यग्दर्शनरूपी आत्मगुण प्रकट नहीं हो सकता। ऐसा एकान्त नहीं है कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव न पड़ता हो। समयसार गाथा २८३, २८४, २८५ में द्रव्य और भाव से अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है। उसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—"अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश है, वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकत्व को प्रकट करता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य-अप्रतिक्रमण और द्रव्य-अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक

होगा। और उपदेश के निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आजायगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आजायगा, और उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त है।"

मद्य, मांसादि पापों के स्थानों का त्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं (पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ७४)। अंजनचोर आदि अनेक पुरुष सप्तव्यसन का त्याग करके उसी भव से मोक्ष गये हैं। पुराण ग्रन्थों से इनकी कथाएँ जानी जा सकती हैं।

—जै. ग. 26-9-63/IX/ आ. कु. बड़जात्या

मद्य-मांस आदि के सेवन करने वाले धर्मोपदेश के पात्र भी नहीं हैं

शंका — असंयतसम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यानकषाय का उदय है, इसलिये उसके चारित्र नहीं होता। चारित्र के अभाव में मद्य, मांस का त्याग भी नहीं होता। क्या सम्यग्दृष्टि मद्य, मांस, मधु का सेवन करता है ?

समाधान—असंयतसम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय होने से अहिंसा आदि व्रत नहीं होते हैं, किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सम्यग्दृष्टि मद्य, मांस, मधु का सेवन करता है। जिसके मद्य, मांस, मधु का त्याग नहीं है, उसको सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विशुद्धपरिणामवाले के सम्यग्दर्शन होता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व पाँचलब्धियाँ होती हैं उनमें से दूसरी विशुद्धिलब्धि (अर्थात् परिणामों की विशुद्धता) है। मद्य, मांस, मधु भक्षण करने वाले के परिणाम विशुद्ध नहीं हो सकते, अतः उसके सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता।

जो मद्य, मांस, मधु का सेवन करनेवाला है, वह जिनधर्म के उपदेश का भी पात्र नहीं है।

> अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
> जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥ पु. सि. उ.

मद्य, मांस, मधुत्याग बिना जब मनुष्य धर्मोपदेश का भी पात्र नहीं है, तो उसके सम्यग्दर्शन कैसे सम्भव हो सकता है ? अतः सम्यग्दर्शन से पूर्व मद्य, मांस, मधु आदि का त्यागरूप आचरण अवश्य चाहिये।

—जै. ग. 17-7-67/VI/ज. प्र. म. कु.

सप्त व्यसन त्यागी लाटरी का टिकिट नहीं खरीद सकता

शंका—सप्त व्यसन का त्यागी क्या लाटरी टिकिट खरीद सकता है ?

समाधान—सप्त व्यसन निम्न प्रकार हैं—

> जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर परयारं।
> दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥५९॥ वसुनन्दि श्रावकाचार

अर्थ—जुआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदार सेवन, ये सातों व्यसनदुर्गति-गमन के कारणभूत पाप हैं।

जूयं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण-लोहा य।
एए हवंति तिव्वा पावइ पावं तदो बहुगं ॥६०॥
पावेण तेण जर-मरणवीचिपउरम्मि दुक्खसलिलम्मि।
चउगइगमणावत्तम्मि हिंडइ भवसमुद्दम्मि ॥६१॥ वसुनन्दि श्रावकाचार

अर्थ—जुआ खेलनेवाले पुरुष के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय तीव्र होती हैं, जिससे जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है। उस पाप के कारण यह जीव जन्म-जरा-मरण रूपी तरंगों वाले, दुःखरूप सलिल से भरे हुए और चतुर्गतिगमनरूप आवर्तों (भंवरों) से संयुक्त ऐसे संसार-समुद्र में परिभ्रमण करता है।

विज्ञायेति महादोषं द्यूतं दीव्यंति नोत्तमाः।
जानानाः पावकोष्णत्वं, प्रविशन्ति कथं बुधाः ॥६२॥ अमितगति श्रावकाचार

अर्थ—जुआ को महादोषरूप जानकरि उत्तम पुरुष नाहीं खेलै हैं। जैसे अग्नि का उष्णपना जानते सन्ते विवेकीजन हैं ते अग्नि में प्रवेश कैसे करें, अपितु नाहीं करे हैं।

लाटरी भी एक प्रकार का जुआ है, क्योंकि इसमें जुए के दाव के समान एक रुपये के अनेक रुपये आ जाते हैं या वह रुपया हार दिया जाता है। लाटरी कोई व्यापार नहीं, दस्तकारी नहीं, न डाक्टरी है, न वकालत है, न अध्यापकपना है, अतः द्यूत में ही गर्भित होती है। अतः सप्तव्यसन के त्यागी या उत्तमपुरुष को लाटरी नहीं लगानी चाहिये।

—जै. ग. 13-1-72/VII/ ग. म. सोनी

अणुव्रती वेश्या सेवन नहीं कर सकता

शंका—ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन पृ. १९१ पर ब्रह्मचर्याणुव्रत का कथन करते हुए लिखा है—"अपनी विवाहित स्त्री और वेश्या के सिवाय अन्य सब स्त्रियों को अपनी माता बहिन और पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। विशेषार्थ—सब श्रावकाचारों में विवाहिता के सिवाय स्त्री मात्र के त्यागी को ब्रह्मचर्याणुव्रती बतलाया है। परनारी और वेश्या ये दोनों ही त्याज्य हैं। किन्तु पं० सोमदेवजी ने अणुव्रती के लिये वेश्या की भी छूट दे दी है। न जाने यह छूट किस आधार से दी गई है।"

क्या अणुव्रती भी वेश्यासेवन कर सकता है?

समाधान—सप्तव्यसन दुर्गति के कारण होने से, इनका त्याग अणुव्रत से पूर्व हो जाता है। वेश्या सेवन भी व्यसन है अतः उसका त्याग तो अणुव्रत से पूर्व हो जाता है अतः ब्रह्मचर्याणुव्रत में वेश्यासेवन की छूट श्री सोमदेव जैसे महानाचार्य नहीं दे सकते थे। वे महाव्रती थे आजकल के असंयमी पंडितों की तरह असंयम का पोषण करने वाले नहीं थे।

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥५९॥
पावेण तेण दुक्खं पावइ संसारसायरे घोरे।
तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा मण-वयणकाएहिं ॥९३॥ वसुनन्दि श्रावकाचार

जुआ, शराब, मांस, वेश्या शिकार, चोरी, परदारा सेवन, ये सातों व्यसन दुर्गति के कारणभूत पाप हैं। वेश्या सेवन जनित पाप से यह जीव घोरसंसारसागर में भयानक दुःखों को प्राप्त होता है, इसलिये मन, वचन, काय से वेश्या का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

> एवे महाणुभावा दोसं एक्केक्क-विसय-सेवाओ।
> पत्ता जो पुण सत्त वि सेवइ वण्णिज्जए किं सो ॥१३२॥ व. श्रा.

एक एक व्यसन का सेवन करने से ऐसे-ऐसे महानुभावों का पतन हुआ तो सातों ही व्यसन सेवन करने वाले के पतन का क्या वर्णन किया जा सकता है?

> सत्यशौचशमसंयमविद्या
> शीलवृत्तगुणसत्कृतिलज्जाः।
> याः क्षिपंति पुरुषस्य समस्तास्ता
> बुधः कथमिहेच्छति वेश्याः ॥५९६॥ सुभाषितरत्नसंदोह

वेश्यासेवन मनुष्य को सत्य, शौच, शम, संयम विद्या, शील, सच्चरित्रता, सत्कार और लज्जा आदि गुणों से बात की बात में रहित कर देता है। ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष है जो वेश्या-सेवन की इच्छा करेगा? अर्थात् नहीं करेगा।

> विमोहयति या चित्तं मदिरेव निषेविता।
> सा हेया दूरतो वेश्या शीलालंकारधारिणा ॥१२।६६॥ अमितगति श्रावकाचार

जो वेश्या मदिरा की ज्यों सेई भई चित्त को मोह उपजावे है सो वेश्या शीलवान पुरुष के द्वारा दूरतें ही त्यागने योग्य है।

> व्यसनान्यंवं यः त्यक्तुमशक्तो धर्ममीहते।
> चरणाभ्यां विना खंजो मेरुमारोहितुं स च ॥१२।५६॥
> दर्शनेन समं योऽत्र सोऽष्टमूलगुणान् सुधीः।
> दधाति व्यसनान्येव त्यक्त्वा दर्शनिको भवेत् ॥१२।६०॥ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

जो मनुष्य इन व्यसनों को बिना छोड़े ही धर्म धारण करने की इच्छा करता है वह मूर्ख बिना पैरों के ही मेरु-पर्वत पर चढ़ना चाहता है। जो बुद्धिमान सम्यग्दर्शन के साथ-साथ आठों मूलगुणों को पालन करता है और सातों व्यसनों का त्याग करता है वह दार्शनिक अथवा प्रथम प्रतिमा दर्शन प्रतिमा को धारण करने वाला होता है:

> न सा सेव्या त्रिधा वेश्या शीलरत्नं यियासता।
> जानानो न हि हिंस्रत्वं व्याघ्रीं स्पृशति कश्चन ॥१२।७६॥ अमितगति श्रावकाचार

शीलरत्न की रक्षा करनेवाले पुरुष के द्वारा वेश्या मन, वचन, काय करि सेवन योग्य नहीं। जैसे व्याघ्री को हिंसक जानकर कोई भी पुरुष व्याघ्री को नहीं स्पर्श करे है।

इतना स्पष्ट कथन करते हुए, यह असम्भव था कि श्री सोमदेव जैसे महानाचार्य ब्रह्मचर्य-अणुव्रत में वेश्या सेवन की छूट दे देते। इससे स्पष्ट है कि निम्नलिखित श्लोक के यथार्थ अभिप्राय को न समझने के कारण तथा श्री सोमदेवाचार्य पर श्रद्धा न होने के कारण निम्नलिखित श्लोक के अनुवाद में भूल हो गई है जिसके मात्र हिन्दी अनुवाद पढ़ने वाले को भ्रम हो जाता है। मूल श्लोक इस प्रकार है—

वधुवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने ।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्मगृहाश्रमे ॥४०५॥ उपासकाध्ययन पृ. १९१

'वधुवित्त' पर टिप्पण नं० २ में "परिणीता में अवधृता च।" लिखा है। 'वित्त' का अर्थ 'अवाप्त, अनुसंहित' भी है। इससे स्पष्ट है कि यहां पर 'वित्त-स्त्री' से श्री सोमदेवआचार्य का अभिप्राय 'वेश्या' से नहीं रहा है किन्तु 'अवधृता स्त्री' से रहा है अर्थात् वह स्त्री जिसके साथ विवाह होना दृढ़ निश्चित हो गया है।

अपनी विवाहिता स्त्री और अवधृता स्त्री के अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियों को अपनी माता बहिन और पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

ऐसा अर्थ होने से सिद्धान्त से विरोध भी नहीं आता और अन्य आचार्यों के कथन से समन्वय भी हो जाता है। 'वित्त-स्त्री' का वेश्या अर्थ करने से सिद्धान्त से विरोध आता है। अतः यहां पर 'वित्त-स्त्री' का अभिप्राय वेश्या नहीं है।

—जै. ग. 14-12-72/VII क. दे. गया

सप्तव्यसनसेवी के सम्यक्त्वोत्पत्ति नहीं हो सकती

शंका—श्री पं० कैलाशचन्दजी सम्पादक 'जैन सन्देश' का ऐसा मत है कि सप्तव्यसन का सेवन करते हुए सम्यग्दर्शन हो सकता है, सप्तव्यसन तो महान् पाप हैं। क्या इतने तीव्र-पापरूप परिणामों के होते हुए भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो सकती है?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं। १. क्षयोपशमलब्धि, २. विशुद्धिलब्धि, ३. देशनालब्धि, ४. प्रायोग्यलब्धि, ५. करणलब्धि।

१. पूर्व संचित पाप कर्मों का अनुभागस्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा अनन्तगुणाहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किया जाता है, उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है।

२. प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रम से उदीरत अनुभागस्पर्धकों से उत्पन्न हुआ, सातादि शुभकर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असातादि अशुभकर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है वह विशुद्धिलब्धि है।

३. छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं।

४. सर्वकर्मों की उत्कृष्टस्थिति को और पापकर्मों के उत्कृष्टअनुभाग को घात करके अन्तःकोड़ाकोड़ीस्थिति में और द्विस्थानीयअनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं।

५. अनन्तगुणीविशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ यह जीव अप्रशस्त कर्मों के द्विस्थानीय (निम्ब, कांजीरूप) अनुभाग को समय-समय के प्रति अनन्तगुणितहीन बाँधता है और प्रशस्तकर्मों के गुड़, खाँड आदिरूप चतुःस्थानीय अनुभाग को प्रतिसमय अनन्तगुणित बाँधता है। प्रत्येक स्थितिबन्धकाल के पूर्ण होने पर पल्योपम के संख्यातवेंभाग से हीन अन्य स्थिति को बाँधता है। इसीप्रकार स्थितिकांडकघात, अनुभाग-कांडकघात व गुणश्रेणी निर्जरा करता है। यह करणलब्धि है।

कृष्ण, नील, कापोत इन अशुभलेश्यारूप परिणामों के रहते हुए मनुष्य को प्रथमोपशमसम्यक्त्व नहीं हो सकता है। कहा भी है—

"तिरिक्ख मणुस्सेसु किण्हणील-काउलेस्साणं सम्मत्तुप्पत्तिकाले पडिसेहो कदो, विसोहिकाले असुहतिलेस्सा-परिणामस्स संभवाणुववत्तीदो।"

सम्यक्त्व उत्पत्तिकाल में तिर्यंच व मनुष्यों में कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभलेश्याओं का निषेध किया गया है, क्योंकि विशुद्धि के समय तीन अशुभ लेश्यारूप परिणाम संभव नहीं हैं।

जब सम्यक्त्वोत्पत्ति के समय तीन अशुभलेश्यारूप परिणाम सम्भव नहीं हैं तो सप्तव्यसन का सेवन तो सम्भव हो नहीं सकता, क्योंकि सप्तव्यसन सेवन के समय परिणामों में विशुद्धता आ ही नहीं सकती। शिकार आदि के समय तो अत्यन्त क्रूर परिणाम होते हैं।

अंजन चोर का दृष्टान्त देकर जनता को भ्रम में डालना भी ठीक नहीं है। जिस समय अंजन चोर को सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ उस समय अंजन चोर सप्तव्यसन का सेवन नहीं कर रहा था, किन्तु उसको सप्तव्यसन से ग्लानि हो चुकी थी। सम्यक्त्व और सप्तव्यसन का सेवन एक साथ सम्भव नहीं है, क्योंकि सप्तव्यसन सम्यग्दर्शन के घातक हैं।

ममनदृष्टिचरित्रतपोगुणं, दहति वन्हिरिवेंधनमूर्जितं।
यदिहमद्यमपाकृतमुत्तमैर्न परमस्ति ततो दुरितं महत् ॥५१४॥

जिसप्रकार अग्नि इंधन के ढेर के ढेर को जला डालती है, उसी प्रकार जो पिया गया मद्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी गुणों को बात की बात में भस्म कर डालता है।

धर्मद्रुमस्यास्तमलस्य मूलं, निर्मूलमुन्मूलितमंगभाजां।
शिवादिकल्याणफलप्रदस्य, मांसाशिना स्यान्न कथं नरेण ॥५४७॥

जो मांस भोजी हैं, पेट के वास्ते जीवों के प्राण लेते हैं वे लोग मोक्ष, स्वर्ग आदि के सुखों को देने वाले निर्दोष धर्मरूपी वृक्ष की जड़ (सम्यक्त्व) को उखाड़नेवाले हैं।

दृष्टिचरित्रतपोगुणविद्याशीलदया दम शौचशमाद्यान्।
कामशिखी दहति क्षणतो नुर्वह्निरिवेंधनमूर्जितमत्र ॥५९१॥

जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि इंधन के समस्त समूह को जला डालती है उसी प्रकार परस्त्रीसेवन (काम) रूपी अग्नि पुरुषों के दर्शन, चारित्र, तप, विद्या, शील, दया, दम, शौच, शम आदि समस्त गुणों के समूह को क्षण भर में जलाकर भस्म कर डालती है।

पशुवधपरयोषिन्मद्यमांसादिसेवा वितरति यदि धर्मं सर्वकल्याणमूलं निगदत मतिमंतो जायते केन पुंसां विविधजनितदुःखा श्वभ्रभूर्निन्दनीया ॥६९४॥

पशुओं के वध (शिकार), मांसभक्षण, परस्त्रीसेवन, मद्य के पान आदि असत्कार्यों को करने पर (व्यसनसेवन से) यदि धर्म (धर्म का मूल सम्यग्दर्शन) होता है, उससे सांसारिक पारमार्थिक समस्त कल्याणों की प्राप्ति होती है तो फिर निंदनीय नाना दुःखों से परिपूर्ण नरक और तिर्यंच भव किन कारणों से होंगे ?

इसप्रकार दिगम्बरजैनाचार्यों ने सप्तव्यसन करने से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का निषेध किया है।

—जै. ग. 20-8-70/VII/ सुलतानसिंह

भक्ष्याभक्ष्य

दूध भक्ष्य है

शंका—दूध भक्ष्य है या नहीं ?

समाधान—दूध भक्ष्य है। षट् रस में दूध भी एक रस है। यदि गाय या भैंस का सब दूध उनके बच्चों को पिला दिया जावे तो बच्चों को बड़ा कष्ट होता है और कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है। दूध निकालने से गाय या भैंस को कष्ट नहीं होता यदि दूध न निकाला जावे तो कष्ट होता है। तत्त्वार्थसार निर्जरा अधिकार श्लोक ११ में कहा है—तैल, दूध, मठा, दधि, घी इन पाँच रसों में से एक, दो, तीन, चार या पाँचों का त्याग करना रस परित्याग नाम तप होता है। यदि दूध अभक्ष्य होता तो उसके सर्वथा त्याग का उपदेश होता। इससे सिद्ध है कि गाय, भैंस का दूध भक्ष्य है।

—जै. सं. 25-9-58/V/ के. च. जैन, मुजफ्फरनगर

असंयतसम्यक्त्वी के मिल्क पाउडर भक्ष्य है या नहीं ?

शंका—एक अविरतसम्यग्दृष्टि अमेरिकनमिल्कपाउडर से बना हुआ दूध चाय पीते हुए अपने सम्यक्त्व को कायम रखता है या नहीं ?

समाधान—मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी चारों ही गतियों में अविरत सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसी प्रकार नाना-क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न कालों में अविरतसम्यग्दृष्टि होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव की अपेक्षा नाना अविरत-सम्यग्दृष्टियों के आहार में भी भेद हो जाता है, एकप्रकार का नहीं होता। अतः अविरतसम्यग्दृष्टि के आहार के विषय में कोई विशेष नियम नहीं कहा गया है। अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य अभक्ष्य का सेवन नहीं करता। यदि मद्य, मांस आदि अभक्ष्यपदार्थों का सेवन करता है तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं रह सकता। सम्यग्दृष्टि शरीर और भोगों से विरत रहता है वह शरीर या भोग उपभोग के लिये अभक्ष्य का सेवन नहीं करता। यदि अमेरिकनमिल्क-पाउडर में अशुद्धपदार्थ का मेल है तो अविरतसम्यग्दृष्टि उसको ग्रहण नहीं कर सकता।

—जै. ग 1-11-65/VII/ ओमप्रकाश

षट् रस

शंका—दूध की मलाई षट् रस में से किस रस में आती है ?

समाधान—दूध की मलाई दूध रस में आती है।

—जै. ग. 29-8-66/VII/र. ला. जैन, मेरठ

तीन दिन का दही अशुद्ध है।

शंका—आजकल कुछ लोग २४ प्रहर (तीन दिन) के दही की छाछ बनाकर घी निकालते हैं, तो क्या वह घी शुद्ध है ?

समाधान—तीन दिन (२४ प्रहर) का दही मर्यादा रहित हो जाने के कारण अशुद्ध है, अतः अशुद्ध दही से निकाला हुआ घी कैसे शुद्ध हो सकता है।[1]

—जै. ग. 5-9-74/VI/ ब्र. फूलचन्द

दही व छाछ की मर्यादा

शंका—दही व छाछ की क्या मर्यादा है ?

समाधान—दही व छाछ की मर्यादा आर्षग्रन्थों में दो दिन की कही गई है।

मौली पूरणकंदो दिवसद्वितयोषिते च दधिमथिते।
विद्धं पुष्पितमन्नं कालिंगं द्रोणपुष्पिका त्याज्या ॥६-८४॥ अमितगति श्रावकाचार

"षोडश प्रहरादुपरि तक्रं दधि च त्यजेत्।" (षट्प्राभृत संग्रह, चारित्रपाहुड़, श्लोक २१ की टीका पृ. ४३)

दधितक्रादिकं सर्वं त्यजेदूर्ध्वं दिनद्वयात्।
सुधीः पापादिभीतस्तु मृतं ह्येकेन्द्रियादिभिः ॥१७।१०९॥ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

इन सब आर्षग्रन्थों में दही व छाछ की मर्यादा सोलहपहर अर्थात् दो दिन बतलाई गई है। यदि उससे पूर्व भी रस चलित हो जावे तो वह अभक्ष्य हो जाता है।

—जै. ग. 26-10-67/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

मक्खन अभक्ष्य है

शंका—नौनी घी (मक्खन) की कुछ मर्यादा है क्या ? उस बीच तो वह खाया जा सकता है ?

समाधान—नवनीत (लूणी, मक्खन) की यद्यपि दो मुहूर्त की मर्यादा है सो तपावने की अपेक्षा है, खाने की अपेक्षा नहीं कही गई है। खाने का तो निषेध है।

यन्मुहूर्तयुगतः परः सदा, मूर्च्छति प्रचुरजीवराशिभिः।
तद्गिलंति नवनीतमत्र ये, ते व्रजंति खलु कां गतिंमृताः ॥५।३६॥

—अमितगति श्रावकाचार

अर्थ—लूणी दोय मुहूर्त पीछे प्रचुर जीवनि के समूहनि करि मूर्च्छित होय है। जो लूणी को खाय हैं वे मरकर कौन गति को जाय हैं ? अर्थात् कुगति को जाय हैं।

अल्प फलबहुविघातान्मूलक मार्द्राणि श्रृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमम्, कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थ—फल थोड़ा और हिंसा अधिक होने से गीले अदरक, मूली, मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल तथा इनके समान और दूसरे पदार्थ भी छोड़ने चाहिये।

---

१. गर्म दूध के दही की मर्यादा तीनों ऋतुओं में १६ पहर की है। अतः सोलह पहर से ऊपर के दही का त्याग कर देना चाहिये। चा. पा., टीका २१।४३; अमित. श्रा. ६।८४; सा. ध. ३।११; व्रतविधान संग्रह 31।

चर्मपात्रगतं तोयं, घृतं तैलं च वर्जयेत् ।
नवनीतं प्रसूनादिशाकं नाद्यात्कदाचन ॥६६॥ रत्नमाला

पाक्षिकश्रावक भी चर्म के बर्तन में रक्खे हुए जल, घी, तेल इनका खाना त्याग देवे। मक्खन तथा फूल वाले शाकों को कदाचित् न खावे। जिस रोटी, दाल, पूरी, लड्डू आदि में फूई आ जावे उसे न खावे।

शृंगवेरं तथानंगक्रीडां बिल्वफलं सदा ।
पुष्प शाकं च संधानं नवनीतं च वर्जयेत् ॥३७॥ श्री देवनन्दी श्रावकाचार

अदरक, अनंगक्रीड़ा, बेल का फल, फूल, शाक (पत्तों का शाक), आचार-मुरब्बा, मक्खन का सदा त्याग कर देना चाहिये।

प्रश्नोत्तरश्रावकाचार सर्ग १७ श्लोक १०६ में भी मक्खन अनेक दोषों का उत्पन्न करने वाला होने से त्याज्य बतलाया है।

—जै. ग. 4-2-71/VII/ कस्तूरचन्द

सैंधा नमक

शंका—क्या पिसा हुआ सैंधा नमक एक मुहूर्त बाद सचित्त हो जाता है ?

समाधान—धवला पु० १ पृ० २७२ पर मूलाचार के आधार से नमक, पत्थर, सोना, चाँदी, मूंगा, भोडल आदि को पृथिवीकायिक लिखा है। जिस प्रकार संगमरमर पत्थर का चूरा अचित्त हो जाने के पश्चात् पुनः सचित्त नहीं होता उसी प्रकार नमक पिस जाने पर अचित्त हो जाता है, वह अन्तर्मुहूर्त बाद क्यों सचित्त हो जाएगा? (मूंगा, भोडल आदि भी अचित्त होने के बाद सचित्त हो जावेंगे ?) यदि नमक में पानी का संयोग हो जावे तो सचित्त होना सम्भव है। यह मनमानी कल्पना है कि पिसे हुए नमक की मर्यादा एक मुहूर्त की है।

—पत्राचार 28-10-77/ब्र. प्र. स , पटना

प्याज—लहसुन अभक्ष्य हैं

शंका—प्याज-लहसुन का खाना ठीक है या नहीं, अगर ठीक नहीं है तो किस युक्ति से, शास्त्र के प्रमाण सहित समाधान करें ?

समाधान—प्याज-लहसुन कन्द हैं जो अनन्तकाय हैं। प्याज कामोत्पादक है अतः इसका खाना ठीक नहीं कहा भी है—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५॥
यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥८६॥ र० क० श्रा०

श्री पं० सदासुखदासजी ने इन श्लोकों की टीका में लिखा है—"जिनके सेवनतैं फल जो अपना प्रयोजन सो तो अल्पसिद्ध होय अर जिनके भक्षणतैं घात अनन्त जीवनि का होय ऐसे मूलकन्द आर्द्रक शृंगवेर इत्यादिक कन्दमूल अर नवनीत जो माखन निंबका फूल, केवड़ा, केतकी का फूल इत्यादिक जे अनन्त काय ते त्यागने योग्य हैं। एक देह में अनन्त जीव ते अनन्तकाय हैं।"

प्याज के खाने में अनन्त जीवों का घात होता है अतः इसका खाना ठीक नहीं है।

—जै. सं. 28-11-57/VI/...... ......

ककड़ी आदि तथा आलू आदि के भक्षण में दोष की समानता है या असमानता

शंका—सप्रतिष्ठित लौकी, ककड़ी आदि के खाने में तथा आलू, अदरक, मूली आदि कंदमूल खाने में क्या समान दोष हैं या हीनाधिक दोष हैं ?

समाधान—आलू, अदरक, मूली आदि कंदमूल भी तो सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं। श्री वीरसेन आचार्य ने षट्खंडागम सत् प्ररूपणा सूत्र ४१ की टीका में कहा भी है—

"बादरनिगोदप्रतिष्ठितश्चार्षान्तरेषु श्रूयन्ते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् ? प्रत्येकशरीरवनस्पतिष्विति ब्रूमः के ते ? स्नुगार्द्रकमूलकादयः।" धवल पु० १ पृ० २७१।

प्रश्न—बादर निगोद से प्रतिष्ठित वनस्पति दूसरे आगमों में सुनी जाती है, उसका अन्तर्भाव वनस्पति के किस भेद में होगा ?

उत्तर—प्रत्येक शरीर वनस्पति में उस सप्रतिष्ठित वनस्पति का अन्तर्भाव होगा।

प्रश्न—वे बादर निगोद प्रतिष्ठित अर्थात् सप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ कौन हैं ?

उत्तर—थूहर, अदरक और मूली आदि बादरनिगोद सप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ हैं। उस सप्रतिष्ठितप्रत्येक-वनस्पतियों की पहचान निम्न चिह्नों के द्वारा होती है:—

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ १८७ ॥

मूले कंदे छल्ली, पवाल सालदलकुसुम फलबीजे।
समभंगे सदिणंता, असमे सदि होंति पत्तेया ॥ १८८ ॥

कन्दस्स व मूलस्स व साला खंदस्स वावि बहुलतरा।
छल्ली साणंतजीवा, पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥१८९॥

(१) जिनके शिरा (बहिस्नायु) सन्धि (रेखा-बंध) और पर्व (गाँठ) अप्रकट हो।

(२) जिसका भंग करनेपर समानभंग हो और दोनों भंगों में परस्पर हीरुक (अन्तर्गत सूत्र) तन्तु न लगा रहे।

(३) छेदन करनेपर भी जिनकी पुनः वृद्धि हो जाय।

(४) जिनकी त्वचा, मूलकन्द, प्रवाल, नवीन कोंपल (नवीन कोंपल, अंकुर) क्षुद्रशाखा (टहनी) पत्र, फूल, फल, बीज तोड़ने से समान भंग हो।

(५) जिस कन्द, मूल, क्षुद्र शाखा, स्कंध की छाल मोटी हो।

जिस वनस्पति में उपर्युक्त लक्षणों में से कोई एक लक्षण भी हो वह वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक है। सप्रतिष्ठितप्रत्येक–वनस्पति के आश्रय अनन्त बादरनिगोदजीव रहते हैं। अतः सप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति के खाने में अनन्तजीवों का घात होता है और अल्पफल होता है इसलिये यह अभक्ष्य है। इतनी विशेषता है कि आलू, अदरक, मूली आदि कंदमूल की वृद्धि होनेपर भी अप्रतिष्ठित नहीं होते, किन्तु अन्य वनस्पतियों की वृद्धि होने पर अप्रतिष्ठित हो जाती हैं। श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा भी है—

अल्पफल-बहुविघातान्मूलकमार्द्राणिशृङ्गवेराणि ।
नवनीत-निम्ब-कुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अल्पफल और बहुविघात के कारण मूली आदि मूल, आर्द्र अदरक आदि कंद, नवनीत–मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल, ये सब और इसी प्रकार की दूसरी सब वस्तुएँ भी त्याज्य हैं।

यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि जिसप्रकार सूखी अदरक अर्थात् सोंठ व सूखी हल्दी अचित्त हो जाने के कारण भक्ष्य हो जाते हैं उसी प्रकार सूखे आलू भी भक्ष्य हो जाने चाहिये ? ऐसा तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि सूखी हल्दी व सोंठ का ग्रहण बहुत अल्प मात्रा में औषधिरूप में होता है, ये दोनों वात व कफ की नाशक हैं, अस्थि आदि को बल देती हैं, किन्तु इन्द्रिय लोलुपता के कारण विशेष रागभाव से आलू अधिक मात्रा में ग्रहण होता है—

यानितु पुनर्भवेयुःकालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥७३॥ पुरुषार्थसिद्धिउपाय

इस श्लोक में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने यह बतलाया है कि काल पाकर ये सूख भी जावें, किन्तु उनके भक्षण करनेवाले के विशेष रागरूप हिंसा अवश्य होती है।

—जै. ग. 20-5-76/VI/ सु. कु. अ. कु.

मटर आदि के भक्षण में निर्दोषता

शंका—मटर में जितने दाने होते हैं उतने ही जीव होते हैं। ऐसा ही अन्य साग–सब्जी में है। इसप्रकार प्रत्येक मनुष्य काफी मांस खाने का दोषी क्यों नहीं ?

समाधान—मटर आदि साग सब्जी में वनस्पतिकाय के जीव होते हैं, जो एकेन्द्रिय होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के संहनन नामकर्म का उदय नहीं होता (गोम्मटसार कर्मकाण्ड)। अतः एकेन्द्रिय जीवों का औदारिक-शरीर होते हुए भी उसमें धातु व उपधातु नहीं होते। जब धातु उपधातु नहीं होते तो मांस, रुधिर, अस्थि भी नहीं होते। अतः साग सब्जी व अनादि के भक्षण में मांस का दोष नहीं लगता। दो इन्द्रिय आदि जीवों के संहनन नामकर्म का उदय होता है, अतः उनके औदारिकशरीर में मांस आदि होते हैं। रात को भोजन करने में वे द्वीन्द्रियादि जीव भोजन में गिर जाते हैं, जिनकी अवगाहना छोटी होती है अतः वे रात के समय दिखाई नहीं देते, अतः रात को भोजन करने में मांस-भक्षण का दोष लगता है। इसी प्रकार बाजार का आटा आदि खाने में भी मांस भक्षण का दोष लगता है, क्योंकि उसमें प्रायः त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं अथवा वह घुने हुए अन्न आदि का होता है। अतः इनका त्याग अवश्य होना चाहिये।

—जै. ग. 3-10-63/IX/ ....

साबुत अनाज की भक्ष्याभक्ष्यता का विचार

शंका—साबुत अनाज अभक्ष्य है क्या ? अर्थात् भुने हुए चने, भुनी हुई मक्का ये अभक्ष्य हैं या भक्ष्य ? यदि ये अभक्ष्य हैं तो मटर का शाक अभक्ष्य क्यों नहीं ? चावल अभक्ष्य क्यों नहीं ?

समाधान—त्रसघात, मादक, बहुघात, अनिष्ट और अनुपसेव्य ये पाँच अभक्ष्य हैं। श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इनका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

त्रस हतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥ ८४ ॥

अल्प फलबहुविघातान्मूलक मार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमम्, कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ८५ ॥

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुप सेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृताविरति विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥८६॥

जिनेन्द्र भगवान के चरणों की शरण में आये हुए श्रावक को त्रसघात का त्याग करना चाहिये। मधु और मांस में त्रसघात का दोष लगता है अतः इनका सेवन नहीं करना चाहिए। मदिरा मादक है। अतः प्रमाद को दूर करने के लिये मदिरा छोड़ देनी चाहिये। जिनमें बहुघात होता हो ऐसे गीले अदरक, मूली, मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल, इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी छोड़ने चाहिये। जो वस्तु अनिष्ट है उसे छोड़ना चाहिये और जो अनुपसेव्य है उसे भी छोड़ देना चाहिये।

यदि चना, मक्का या मटर आदि घुन गई हैं या घुने हुए की सम्भावना है तो उनको सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके सेवन में त्रसघात का दोष लगता है अतः अभक्ष्य है। वर्षाऋतु में प्रायः अन्न घुन जाते हैं उनके अन्दर जीवोत्पत्ति हो जाती है अतः वर्षाकाल में साबुत अन्न का भक्षण नहीं करना चाहिये। जिस अनाज पर वर्षाकाल बीत गया है वह अनाज भी साबुत नहीं खाना चाहिये। वैसे साबुत अनाज अभक्ष्य नहीं है।

—जै. ग. 27-7-72/IX/र. ला. जैन, मेरठ

दान

सम्यक्त्वी दान व पूजा अवश्य करे

शंका—देवपूजा में आरम्भ भी होता है और राग भी होता है। ये दोनों बंध के कारण हैं। सम्यग्दृष्टि बंध के कारणों में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता है तो सम्यग्दृष्टिश्रावक को पूजन व दान का उपदेश क्यों दिया गया ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, यही समझकर गृहस्थों को यत्न पूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिए ॥४२४॥ जब तक सकल संयम प्राप्त न हो जाय तब तक समस्त पापों को नाश करने वाले और मोक्ष के कारण भूत ऐसे विशेष पुण्य को उपार्जन करते रहना चाहिए ॥४८७॥ पुण्य के कारणों में सबसे प्रथम भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा है, इसलिये समस्त श्रावकों को परमभक्ति पूर्वक भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा

करनी चाहिए ॥४२५॥ विशेष पुण्य को उपार्जन करने के लिये अणुव्रतों तथा शीलव्रतों का पालन करना चाहिए और नियमपूर्वक निरन्तर दान देना चाहिए ॥४८७॥ आचार्य श्री देवसेन विरचित भावसंग्रह।

इसप्रकार आगम से सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टिश्रावक को पूजन, दान, आदि अवश्य करने चाहिए, क्योंकि ये भी मोक्ष के कारण हैं।

—जै. ग. 5-12-63/IX/ प्रकाशचन्द

दानादि क्यों करने चाहिए ?

शंका—आत्मा तो खाता ही नहीं है ऐसा आगम में लिखा है, तब यह दानादि क्यों करना चाहिए ?

समाधान—जिस नय की दृष्टि से 'आत्मा खाता नहीं' ऐसा आगम में लिखा है उस नय की दृष्टि से आत्मा आहारादि का दान भी नहीं करता है। वह दृष्टि शुद्ध निश्चयनय की है। जो आत्मा की शुद्ध अवस्था का कथन करती है। किन्तु अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में आत्मा कर्मों से बद्ध होने के कारण अशुद्ध हो रहा है। कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मा रागद्वेष भी करता है और औदारिक आदि शरीरों को धारण करता है। अशुद्ध होने के कारण आत्मा के अनादिकाल से आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये चार संज्ञायें लगी हुई हैं। आत्मा के इन्द्रिय बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण भी हैं। इन प्राणों की रक्षा के लिये कर्मोदय के कारण स्वयं आहार ग्रहण करता है और आहारदान देकर दूसरों के प्राणों की रक्षा करता है। आहार आदि दान देने में परद्रव्य से ममत्व भाव (मूर्च्छा) का त्याग होता है। इसप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि में आत्मा खाता भी है और आहारदान आदिक भी करता है। यदि आत्मा खाता ही नहीं तो प्रवचनसार के चरित्र अधिकार में मुनियों के लिए आहार ग्रहण करने का और श्रावकों के लिए दान का उपदेश श्री कुन्दकुन्दाचार्य क्यों देते ?

—जै. सं. 20-12-56/VI/ मो. ला. उरसेवा

कौनसा दान–उत्तम ?

शंका—चार प्रकार के दान में से कौनसा दान उत्तम है ? विस्तार सहित समझाएँ।

समाधान—चारों प्रकार के दान ही उत्तम हैं। एक दान से अन्य तीन दान भी हो जाते हैं। आहार देने से आहारदान तो स्वयं हो जाता है। क्षुधारूपी रोग आहार से शान्त हो जाता है अतः आहार देने से औषध-दान भी बन जाता है। आहारदेने से मैत्री भाव होता है। मैत्री भाव के द्वारा अभयदान होता है। आहार से इन्द्रियाँ व मन ज्ञानाराधन का कार्य करते हैं अतः आहारदान के द्वारा ज्ञानदान भी हो जाता है। चारों प्रकार के दान में रागद्वेष भाव का त्याग होता है। अपने-अपने अवसर पर चारों ही दानों के द्वारा स्वपर का कल्याण होता है। चारों ही दान उत्तम हैं।

—जै. सं. 20-12-56/VI/ मो. ला. उरसेवा

दान का द्रव्य खाने वाला दुर्गति का पात्र है

शंका—दान लेने वाले को किस गति का बंध होता है ? किस पाप से वह अधीन बनता है जो दातारों का मंदिर के लिए दिया हुआ रुपया या कोई भी चीज लेता या खाता है ?

समाधान—दान के पात्र सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच होते हैं और वे देवगति का बंध करते हैं। जिन्होंने पूर्वभव में दान नहीं दिया और हिंसा आदि पाप किये हैं वे जीव धन हीन व दीन होते हैं और दूसरों के अधीन होते हैं। जिनके लोभकषाय अति तीव्र है वे मंदिरों का रुपया व अन्य वस्तु खाते हैं। इस महान् पाप के कारण वे दुर्गति-नरक या तिर्यंचगति को जाते हैं।

—जै. ग. 2-5-63/IX/ मगनमाला

चार प्रकार के आहार

शंका—धवल पुस्तक १३ पृ० ५५ पर चार प्रकार का आहार बतलाया है-अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य। कौन-कौन पदार्थ अशन आदि हैं?

समाधान—अशन जिससे भूख मिटती हो जैसे खिचड़ी, रोटी आदि। जिससे दसप्रकार के प्राणों पर अनुग्रह होता है उस को पान कहते हैं जैसे दूध आदि। लड्डू आदिक पदार्थों को खाद्य कहते हैं और इलायची आदि को स्वाद्य कहते हैं। श्री मूलाचार अधिकार ७ गाथा १४७ की टीका में भी लिखा है—"अशनं क्षुदुपशमनं बुभुक्षो-परतिः प्राणानां दशप्रकाराणामनुग्रहो येन तत्पानं खाद्यत इति खाद्यं रसविशुद्धलड्डुकादि पुनरास्वाद्यत इति आस्वा-द्यमेलाकक्कोलादिकमिति भणितमेवंविधस्य चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानमुत्तमार्थप्रत्याख्यानमिति।"

—जै. ग. 29-2-68/VII/ रामपतमल

(१) दान से कदाचित् पापबन्ध भी सम्भव है
(२) निमित्त अकिंचित्कर नहीं है

शंका—क्या दान से पुण्य के स्थान पर पाप भी हो सकता है?

समाधान—मो. शा. अ. ७ सूत्र ३९ में कहा गया है कि विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान के फल में विशेषता आ जाती है। जैसे भूमि आदि की विशेषता से उससे उत्पन्न हुए अन्न में विशेषता आ जाती है। एक ही प्रकार का बीज नाना प्रकार की भूमियों में बोने से फल में विशेषता हो जाती है (सर्वार्थसिद्धि) जिसप्रकार ऊषर खेत में बोया गया बीज कुछ भी फल नहीं देता, उसीप्रकार अपात्र में दिया गया दान फलरहित जानना चाहिए। प्रत्युत किसी अपात्र-विशेष में दिया गया दान अत्यन्त दुःख का देनेवाला होता है, जैसे विषधरसर्प को दिया गया दूध तीव्रविषरूप हो जाता है वसु. श्रा. गा. २४२—२४३। इन आगम प्रमाणों से सिद्ध है कि निमित्तों का प्रभाव कार्यों पर पड़ा करता है। निमित्तों को अकिंचित्कर मानना उचित नहीं है।

—जै. ग. 12-12-63/IX/ प्रकाशचन्द

पात्र के लक्षण

शंका—पात्र, कुपात्र और अपात्र के लक्षण क्या हैं?

समाधान—सम्यग्दृष्टि पात्र है, मिथ्यादृष्टिद्रव्यलिंगीमुनि कुपात्र है। अविरतमिथ्यादृष्टि अपात्र है। अ. ग. श्रा. दशमपरि० श्लो. १-३९।

जो पुरुष रागादि दोषोंसे छुआ भी नहीं गया हो और अनेक गुणों से सहित हो वह पात्र है। जो पुरुष मिथ्यादृष्टि है, परन्तु मंदकषाय होने से व्रत, शीलादि का पालन करता है वह जघन्यपात्र है। व्रत, शीलादि की

भावना से रहित सम्यग्दृष्टि मध्यमपात्र है, व्रत, शीलादि से सहित सम्यग्दृष्टि उत्तमपात्र है, व्रत, शीलादि से रहित मिथ्यादृष्टि अपात्र है। म. पु. पर्व २० श्लो. १३९-१४१।

श्री जिनसेनाचार्य ने पात्र और अपात्र ऐसे दो भेद कहे और व्रतसहित मिथ्यादृष्टि को जघन्यपात्र कहा है, किन्तु अन्य आचार्यों ने पात्र, कुपात्र, अपात्र ऐसे तीन भेद कहे हैं और व्रतसहित मिथ्यादृष्टि को कुपात्र कहा है।

—जै. ग. 19-12-66/VIII/र. ला. जैन, मेरठ

अपात्रों में करुणादान

शंका—सुपात्रों के अतिरिक्त क्या अन्य को भी दान देना चाहिये ?

समाधान—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ ये चार प्रकार की भावना मोक्षशास्त्र सप्तम अध्याय में कही गई है। जिन जीवों को दुःखी देखकर मन में करुणा उत्पन्न हो जावे ऐसे जीवों को करुणादान देना चाहिये। कहा भी है—'अतिवृद्ध, बालक, गूंगे, अंधे, बहरे, परदेशी, रोगी, दरिद्री जीवों को करुणादान देना चाहिए।' वसु. श्रा. गाथा २३५।

—जै. ग. 12-12-63/IX/ प्रकाशचन्द

पात्र-कुपात्र का स्वरूप एवं पात्र कुपात्र अपात्र दान का फल

शंका—पात्र और कुपात्र का क्या स्वरूप है ? पात्र और कुपात्र से पुण्यबन्ध में कैसे भेद पड़ता है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिजीव पात्र हैं। व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित जीव कुपात्र हैं। कहा भी है—

तिविहं मुणेहपत्तं, उत्तममज्झिम जहण्णभेएण।
वयणियमसंजमधरो उत्तमपत्तं हवे साहू ॥२२१॥
एयारस ठाणठिया, मज्झिमपत्तं खु सावया भणिया।
अविरदसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं ॥२२२॥
वयतवसीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जिओ कुपत्तं तु।
सम्मत्तसीलवयवज्जिओ अपत्तं हवे जीवो ॥२२३॥ वसु. श्रा.

अर्थ—उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के पात्र जानने चाहिये। उनमें व्रत, नियम और संयम को धारण करनेवाला साधु उत्तमपात्र है ॥२२१॥ ग्यारह प्रतिमास्थानों में स्थित श्रावक मध्यमपात्र कहे गये हैं। अविरतसम्यग्दृष्टिजीव को जघन्यपात्र जानना चाहिये ॥२२२॥ जो व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न हैं, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित हैं, वे कुपात्र हैं। सम्यक्त्व, शील और व्रतसे रहित जीव अपात्र हैं। गुण० श्रावकाचार में भी इसी प्रकार कहा है—

पात्रं त्रिधोत्तमं चैतन्मध्यमं च जघन्यकम्।
सर्वसंयमसंयुक्तः साधु स्यात्पात्र मुत्तमम् ॥ १४८ ॥
एकादशप्रकारोऽसौ गृहीपात्रमनुत्तमम्।
विरत्या रहितं सम्यग्दृष्टिपात्रं जघन्यकम् ॥ १४९ ॥

तपः शीलव्रतैर्युक्तः कुदृष्टिः स्यात्कुपात्रकम् ।
अपात्रं व्रतसम्यक्त्वतपः शीलविवर्जितम् ।। १५० ।।

विशेष जानकारी के लिए अमितगतिश्रावकाचार दशम् परिच्छेद श्लोक १-३९ तक देखने चाहिए। उनके लिखने से कथन बहुत बढ़ जावेगा अतः यहाँ पर नहीं दिये गये। पात्र के भेद से दान के फल में भेद पड़ जाता है। कहा भी है—

बलाहकादेकरसं विनिर्गतं, यथा पयो भूरिरसं निसर्गतः ।
विचित्रमाधारमवाप्य जायते, तथा स्फुटं दानमपि प्रदातृतः ॥५०॥ अ.ग.श्रा. परि. १०

अर्थ—जैसे मेघतैं निकस्या जो एक रसरूप जल सो स्वभाव ही तैं नाना प्रकार आधार कौं पाय करि अनेक रसरूप होय है तैसे दातातैं निकस्या दान भी प्रकटपने नाना प्रकार पात्रनिकौं पाय अनेकरूप परिणमै है।

वसुनन्दी श्रावकाचार में भी इस प्रकार कहा है—

जह उत्तमम्मि खित्ते पइण्ण मण्णं सुबहुफलं होई ।
तह दाण-फलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स ।। २४० ।।
जह मज्झिमम्मि खित्ते अप्पफलं होइ वावियं बीयं ।
मज्झिमफलं विजाणह कुवत्तदिण्णं तहा दाणं ।।२४१।।

अर्थ—जिस प्रकार उत्तम खेत में बोया गया अन्न बहुत अधिक फल को देता है, उसीप्रकार त्रिविधपात्र को दिये गये दान का फल जानना चाहिए ।।२४०।। जिसप्रकार मध्यम खेत में बोया गया बीज अल्प फल देता है उसी प्रकार कुपात्र में दिया गया दान मध्यमफल वाला जानना चाहिए ।।२४१।।

मेघजल व बीज एकप्रकार का होते हुए भी बाह्य में नानाप्रकार के निमित्त मिलने से नानारूप परिणम जाता है। इसी प्रकार एक द्रव्य व दातार होते हुए भी पात्र के भेद से दान के फल में अन्तर पड़ जाता है। कार्य उपादान और निमित्त दोनों के आधीन है। निमित्त मात्र उपस्थित ही नहीं रहता और न अकिंचित्कर ही है।

पात्रदान का फल पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका अधिकार २ श्लोक ९, ११, १२ व १६ में इस प्रकार कहा है—जिस प्रकार कारीगर जैसा-जैसा ऊंचा मकान बनाता जाता है उतना-उतना आप भी ऊंचा होता चला जाता है। उसीप्रकार जो मनुष्य मोक्ष की इच्छा करनेवाले मनुष्य को भक्तिपूर्वक आहारदान देता है वह उस मुनि को ही मुक्ति को नहीं पहुँचाता, किन्तु स्वयं भी जाता है। इसलिये ऐसा स्वपर हितकारी दान मनुष्यों को अवश्य देना चाहिए ।।९।। जो मनुष्य भलीभांति मनवचन काय को शुद्ध कर उत्तम पात्र के लिये आहारदान देता है उस मनुष्य के संसार से पार करने में कारणभूत पुण्य की नाना प्रकार की संपत्ति का भोग करनेवाला इन्द्र भी अभिलाषा करता है। इसलिये गृहस्थाश्रम में सिवाय दान के दूसरा कोई कल्याण करनेवाला नहीं है ।।११।। इस संसार में मोक्ष का कारण रत्नत्रय है तथा उस रत्नत्रय को शरीर में शक्ति होने पर मुनिगण पालते हैं और मुनियों के शरीर में शक्ति अन्न से होती है तथा उस अन्न को श्रावक भक्तिपूर्वक देते हैं। इसलिये वास्तविक रीति से गृहस्थ ने ही मोक्ष मार्ग को धारण किया है ।।१२।। जो मनुष्य मोक्षार्थीसाधु का नाम मात्र भी स्मरण करता है उसके समस्त पाप क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जो भोजन, औषधि, मठ आदि बनवाकर मुनियों का उपकार करता है वह संसार से पार हो जाता है इसमें आश्चर्य क्या है ।।१६।।

इससे स्पष्ट है कि दान का फल केवल पुण्यबंध नहीं है, किन्तु मोक्ष का कारण भी है।

—जै. ग. 24-1-63/VII/ मोहनलाल

दान-दाता-पात्र एवं द्रव्य-भावलिंग

शंका—पात्र-कुपात्र-अपात्र की पहचान चरणानुयोग से होती है या करणानुयोग से ? 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में तो पात्र का लक्षण उत्तम-तीर्थङ्कर, मुनि आदि; मध्यम—व्रती श्रावक आदि; जघन्य-अव्रती; कुपात्र-द्रव्यलिंगी मुनि, इनके अलावा सब अपात्र कहे गए हैं। सो द्रव्यलिंगी या भावलिंगी तो हमारे अनुभवगम्य नहीं है फिर चरणानुयोग से या आचरण से पात्र का अनुमान कैसे लगावें ? दानादि का क्या क्रम है सो भी लिखें।

समाधान—विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान के फल में विशेषता आती है। भले ही हमें पात्र की विशेषता ज्ञात न हो, किन्तु पात्र की विशेषता से दान के फल में विशेषता आती है जैसे ऋद्धिधारी को आहार देने से आहार की सामग्री या क्षेत्र अटूट हो जाता है, भले ही दातार या पात्र को भी उस ऋद्धि का ज्ञान न हो परन्तु फल तो हो ही जाता है। इसीप्रकार किसी मुनि के विषय में यह ज्ञान न हो कि वह भावलिंगी है या द्रव्यलिंगी है, किन्तु फल पर तो उस मुनि के लिंगानुसार प्रभाव पड़ेगा। द्रव्यलिंग या भावलिंग की पहचान मति-श्रुतज्ञान के द्वारा होना कठिन है (क्योंकि अपने ही सम्यक्त्व या मिथ्यात्वभाव का ज्ञान होना कठिन है।) एक मुनि उपशान्तमोह होकर गिरा, मिथ्यादृष्टि हो गया, पुनः सर्वलघु काल से सम्यग्दृष्टि हो गया। उस मुनि को स्वयं यह पता नहीं चलता कि कब वह मिथ्यादृष्टि हुआ था और कब वह पुनः सम्यग्दृष्टि हो गया। परिणामों के परिवर्तन की इतनी सूक्ष्मता है और इतना जघन्यकाल है कि उसका ठीक-ठीक ज्ञान मति-श्रुतज्ञान के द्वारा होना कठिन है। निमित्त का भी प्रभाव देखो कि द्रव्य और पात्र की विशेषता से दान के फल में विशेषता हो जाती है। यह सब कुछ आगम में स्पष्ट लिखा हुआ है।

—जै. स. 10-5-56/VI/ क. दे. गया

मुनिराजों को पड़गाहते समय त्रिप्रदक्षिणा उचित है

शंका—पू० मुनिराजों को पड़गाहते समय त्रिप्रदक्षिणा देने का विधान कौन से प्राचीन शास्त्र में है ?

समाधान—यद्यपि-प्रतिग्रह के समय त्रिप्रदक्षिणा का विधान शास्त्रों में देखने में नहीं आया[1] तथापि यह क्रिया परम्परा से चली आ रही है और यह आगम विरुद्ध भी नहीं है। शास्त्रों में प्रत्येक क्रिया का सविस्तार कथन हो ऐसा नियम भी नहीं है।

—जै. ग. 16-12-71/VII/ आदिराज अण्णा, गौंडर

आहार के पश्चात् मुनि का शरीर किसी शुद्ध कपड़े से पोंछना अनुचित नहीं

शंका—मुनि स्त्रियों या पुरुषों से गमछों से शरीर को पुछवा सकता है या नहीं ?

समाधान—गमछों से शरीर को पुछवाने की इच्छा मुनि महाराज को नहीं होती है। आहार के समय मुनि-महाराज के शरीर पर दूध आदि के छींटे पड़ जाते हैं। यदि उनको पोंछा न जावे तो चींटी मक्खी आदि की

1. देखो वसु० श्रा० २२८-२३१; म० पु० २०।८६-८७; पु० सि० उ० १६८ सा० श्रा० ५।४५; गुण० श्रा० १५२ आदि।

बाधा होने की सम्भावना रहती है। अतः श्रावक गमछे (अंगोछे) से मुनि महाराज का शरीर पूछ देता है। स्त्री के लिये मुनि महाराज का शरीर पोंछना उचित नहीं है। मूलाचार में आर्यिका के लिये भी साधु से सात हाथ दूर रहने की आज्ञा है।

—जै. सं. 27-11-58/V/ बंशीधर एम. ए शास्त्री

श्रावक को मुनि के आहार की वेला टाल कर फिर भोजन करना चाहिए

शंका—श्रावक का कर्तव्य सत्पात्र को आहारदान देकर भोजन करना है। मुनियों के अभाव में और उनकी आज्ञा के अभाव में क्या प्रतिदिन द्वारापेक्षण करना आवश्यक है ? तीनों प्रकार (उत्तम, मध्यम व जघन्य) के पात्रों का संयोग न होने पर भी क्या कुत्ते आदि को रोटी खिलानेमात्र से संतोष पाले ?

समाधान—मुनियों के अभाव में और उनकी आज्ञा के अभाव में द्वारापेक्षण करना आवश्यक नहीं है, किन्तु मुनियों की आहारवेला को टालकर श्रावक को भोजन करना चाहिए, भोजन से पूर्व इसप्रकार की भावना भानी चाहिए कि यदि मुनियों को आहार देने का शुभ अवसर प्राप्त होता तो उत्तम था, किन्तु मैं ऐसे निकृष्ट क्षेत्र व काल में उपस्थित हूँ कि जहाँ पर पात्र का समागम प्राप्त नहीं हो रहा है। कुत्ते आदि को रोटी खिलाना करुणादान है उससे पात्रदान की पूर्ति नहीं हो सकती।

—जै. सं. 8-3-57/ ....

आहारदान में पर-व्यपदेश दोष का स्पष्टीकरण

शंका—रा. वा. पृ. ५५८ में 'परव्यपदेश' आया है सो इसका स्पष्टार्थ क्या है ?

समाधान—राजवार्तिक में 'परव्यपदेश' का अर्थ इस प्रकार किया है—

"अन्यत्र दातारः सन्ति दीयमानोऽप्ययमन्यस्येति वा अर्पणं परव्यपदेश इति प्रतिपाद्यते।"

दातार अन्य स्थान पर है और दीयमान द्रव्य दूसरे का हो, इन अवस्थाओं में आहार देने पर व्यपदेश नाम का दोष है। इस का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—

"अपरदातुर्देयस्यार्पणं मम कार्यं वर्तते त्वं देहीति परव्यपदेशः परस्य व्यपदेशः कथनं परव्यपदेशः। अथवा परेऽत्र दातारो वर्तन्ते नाहमत्र दायको वर्ते इति व्यपदेशः परव्यपदेशः। अथवा परस्येदं भक्त्यादिकं देयं न मया इदमी-दृशं वा देयमिति परव्यपदेशः। ननु परव्यपदेशः कथ मतिचार इति चेत् ? उच्यते धनादिलाभाकाङ्क्षया अतिथि-वेलायामपि द्रव्याद्युपार्जनं परिहर्तुमशक्नुवन् परदातृहस्तेन योग्योऽपि सन् दानं दापयतीति महान् अतिचारः।"
तत्त्वार्थवृत्ति पृ. २५४

अर्थात्—दूसरे दातार के देयपदार्थ को देना, मुझे तो कार्य है, तुम दे देना यह परव्यपदेश है। दूसरे को कहना परव्यपदेश है। अथवा यहाँ दूसरे अनेक दातार हैं मैं यहाँ दायक नहीं हूँ, ऐसा कहना परव्यपदेश है। दूसरे ही यह और इस प्रकार का आहार दे सकते हैं मेरे द्वारा यह और इस प्रकार का आहार नहीं दिया जा सकता, यह भी परव्यपदेश है। परव्यपदेश अतिचार कैसे होता है ? धनादि लाभ की आकांक्षा से आहार देने के समय में भी व्यापार को न छोड़ सकने के कारण योग्यता होने पर भी दूसरों से दान दिलाने के कारण परव्यपदेश अतिचार होता है।

नोट—"अवस्थाजासंवेयं" इसका अर्थ स्पष्ट समझ में नहीं आया है संभव है अशुद्ध हो।

—जै. ग. 27-3-69/IX/ क्षु. शीतलसागर

अभिषेक-पूजा-भक्ति

जिन प्रतिमा की पूजा एवं स्थापना अनादि से है

शंका—दिगम्बर जैन समाज में जिन प्रतिमा की पूजा एवं स्थापना कब से चालू हुई है? नन्दीश्वरद्वीप में अकृत्रिम चैत्यालय होने का प्रमाण मूलसंघ आचार्यों के ग्रंथों के द्वारा देने की कृपा करें।

समाधान—जैनसमाज में जिनप्रतिमा की पूजा एवं स्थापना अनादिकाल से है, क्योंकि समवसरण में चैत्यवृक्ष तथा मानस्तम्भ में जिनप्रतिमा रहती है और जैनसमाज उनकी पूजा करता है। वे जिनेन्द्र भगवान की स्थापना के द्वारा ही जिनप्रतिमा कहलाती हैं, यदि उनमें जिनेन्द्र भगवान की स्थापना न होती तो वे जिनप्रतिमा न कहलातीं। तीर्थंकर भगवान अनादिकाल से होते आये हैं उनके समवसरण की रचना भी अनादिकाल से है। इसप्रकार जैनसमाज में अनादिकाल से जिनप्रतिमा की पूजा एव स्थापना है।

नन्दीश्वरद्वीप में अकृत्रिम चैत्यालय होने का कथन त्रिलोकसार गाथा ९१३, तिलोयपण्णत्ती पाँचवा अधिकार गाथा ७० में है। अन्य ग्रन्थों में भी है।

—जै. ग. 4-4-63/IX/ अ. ला. जैन, शास्त्री

वीतराग मूर्ति ही पूज्य है

शंका—क्या हथियार वाली मूर्ति जैनधर्म की दृष्टि से पूजने या मानने योग्य है?

समाधान—जैनधर्म का मूल सिद्धान्त व ध्येय अहिंसा व वीतरागता रहा है। जैनधर्म में वीतराग मूर्ति की पूजा एवं आराधना बतलाई गई है, क्योंकि वीतराग मूर्ति की पूजा से परिणामों में वीतरागता आती है। हथियार सहित मूर्ति के दर्शन-पूजन से परिणामों में वीतरागता नहीं आती, किन्तु परिणामों में क्रूरता आती है, अतः ऐसी मूर्ति की पूजा जैनधर्म के सिद्धान्त से विरुद्ध है।

—जै. ग. 4-4-63/IX/ हुकमचन्द

स्थावर व जंगम प्रतिमा से अभिप्राय

शंका—दर्शनपाहुड गाथा ३५ में १००८ शुभ लक्षण युक्त तथा ३४ अतिशय सहित समवशरण में विराजमान तथा विहार करते हुए तीर्थंकर भगवान को स्थावर प्रतिमा कहा गया है। सिद्धशिला की ओर जाते हुए उनको जङ्गम प्रतिमा कहा है। सो कैसे?

समाधान—१००८ शुभ लक्षण तथा ३४ अतिशय ये सब शरीर अथवा पुद्गल-आश्रित हैं। जीव के बिना शरीर इधर-उधर नहीं जा सकता है अतः शरीर को स्थावर कहा गया है।

शरीर रहित मात्र जीव ही मोक्ष को जाता है। जीव का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है अतः शरीर रहित जीव को जङ्गम कहा गया है। संभवतः इस दृष्टि से स्थावर प्रतिमा व जङ्गम प्रतिमा का कथन किया गया है।

व्यवहार की अपेक्षा पाषाण आदि से निर्मित प्रतिमा स्थावर प्रतिमा है और समवशरण से मण्डित जङ्गम जिन प्रतिमा है। कहा भी है—

'व्यवहारेण तु चन्दन–कनक–महामणि–स्फटिकादि घटित प्रतिमा स्थावरा। समवसरण·मण्डिता जङ्गमा जिनप्रतिमा प्रतिपाद्यते।' अष्टपाहुड़ पृ. ४५

—जै. ग. 2-11-72/VII/ टो. ला. जैन

प्रतिमा का अभिषेक आगमानुसारी है

शंका—प्रतिमा अरिहंत अवस्था की है। न्हवन जन्म समय की क्रिया है। पूजन विषयक प्रतिमा का न्हवन करना उचित है या नहीं ?

समाधान—केवलज्ञानी की साक्षात् पूजा विषै न्हवन नाहीं, प्रतिमा की पूजा न्हवनपूर्वक ही कही है। जहाँ पूजा की विधि का निरूपण है तहाँ प्रथम न्हवन ही कह्या है—

'स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः।
षोढा क्रियोदितासद्भिः देवसेवासु गेहिनां॥' यशस्तिलक काव्य

चर्चा समाधान पृ० ५७ पर पं० भूधरदासजी ने भी इसी प्रकार समाधान किया है।

—जै. सं. 27-3-58/VI/ कपूरीदेवी

मूर्ति पर अभिषेक आगमोक्त क्रिया है

शंका—अरहन्त भगवान का तो अभिषेक होता नहीं फिर उनकी मूर्ति का अभिषेक क्यों किया जाता है ? ब्राह्मणों में शिव की पिंडी पर जल चढ़ाया जाता है, संभव है यह अभिषेक की प्रथा ब्राह्मणों से आ गई हो। यदि ऐसा है तो इस का निषेध करना चाहिये। मूर्ति की सफाई के लिये मूर्ति को वस्त्र से पोंछा जा सकता है।

समाधान—साक्षात् अरहन्त भगवान और उनकी प्रतिमा में कथंचित् अंतर है, जिस प्रकार पिता और पिता के फोटू में अंतर है। पिता के फोटू को सुरक्षित रखने के लिये और आदर भाव के कारण फोटू को उत्तम चौखटे व कांच में जड़कर ऊपर दीवार पर टांगा जाता है, किन्तु पिता के साथ तो इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है। फोटू व पिता में अंतर होते हुए भी फोटू के देखने से पिता के गुणों का स्मरण होता है और जीवन में सफलता के लिये प्रेरणा मिलती है, क्योंकि पिता की मुद्रा ज्यों की त्यों फोटू में है।

जिस प्रकार पिता और पिता के फोटू के प्रति आदर आदि में अंतर है उसी प्रकार श्री अरहंत भगवान और प्रतिमा की पूजा में अंतर है। श्री अरहंत भगवान की तो प्रतिष्ठा नहीं होती है और न मंत्रों द्वारा शुद्धि होती है, किन्तु प्रतिमा की प्रतिष्ठा भी होती है और मंत्रों द्वारा शुद्धि भी होती है। यद्यपि श्री अरहंत भगवान का अभिषेक नहीं होता है और वे सिंहासन से अन्तरिक्ष में रहते हैं, किन्तु प्रतिमा का अभिषेक भी होता है और सिंहासन पर विराजमान की जाती है।

आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व महान विद्वान् वीतराग दिगम्बर आचार्य श्री यतिवृषभ हुए हैं जिन्होंने कषायपाहुड जैसे महान् ग्रन्थ पर चूर्णिसूत्र लिखे हैं तथा तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ लिखा है। उन्होंने नन्दीश्वरद्वीप का कथन करते हुए अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं के अभिषेक का कथन किया है।

कुव्वंते अभिसेयं ताण महाविभूदीहिं देविंदा।
कंचणकलसगदेहिं विमल जलेहिं सुगंधेहिं ॥ १०४ ॥

कुंकमकप्पूरेहिं चंदणकालागरुहिं अण्णेहिं।
ताणं विलेवणाइं ते कुव्वते सुगंधेहिं ॥ १०५ ॥

अर्थ—देवेन्द्र महान् विभूति के साथ इन प्रतिमाओं का सुवर्ण कलशों में भरे हुए सुगन्धित निर्मल जल से अभिषेक करते हैं। वे इन्द्र कुंकुम, कपूर, चन्दन, कालागरु और अन्य सुगन्धित द्रव्यों से उन अरिहंत प्रतिमाओं का विलेपन करते हैं।

अभिषेक पूजन का एक अंग है जो आगमोक्त है। जिनप्रतिमा की पवित्रता के लिये भी अभिषेक नहीं होता है, क्योंकि नन्दीश्वरद्वीप की अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं पर धूलि आदि नहीं बैठती है। पूजक अपनी पवित्रता के लिये अभिषेक करता है।

ऐसे प्रभू की शांतिमुद्रा को न्हवन जलते करें।
'जस' भक्ति वश मन उक्तितें हम भानु ढिग दीपकधरें॥
तुमतो सहज पवित्र यही निश्चय भयो।
तुम पवित्रता हेत नहीं मज्जन ठयो॥
मैं मलीन रागादिक मलतैं ह्वै रह्यो।
महा मलिन तन में वसु विधि वश दुख सह्यो॥
पापाचरण तजि न्हवन करता चित्त में ऐसे धरूं।
साक्षात श्री अरहंत का मानों न्हवन परसन करूं॥
ऐसे विमल परिणाम होते अशुभ नसि शुभ बंधतें।
विधि अशुभ नसि शुभ बंधतें शर्म सब विधि तासतें॥
धन्य ते बड भागि भवि तिन नीव शिवघर को धरि।
वर क्षीरसागर आदि जल मणि कुंभ भरि भक्ति करि॥

जिनवाणी संग्रह में प्रकाशित अभिषेक पाठ के कुछ पद्य दिये गये हैं इससे पूजक का भाव स्पष्ट हो जाता है।

—जैं. ग. 22-10-70/VIII/ हंसकुमार

अभिषेक के समय क्या बोलना चाहिए

शंका—भगवान का अभिषेक करते समय पंचमंगल बोलना ठीक है अथवा अभिषेक पाठ बोलना चाहिये ?

समाधान—अभिषेक के समय अभिषेक पाठ का ही उच्चारण होना चाहिये। जिस समय जो क्रिया हो रही है उस समय उसी के अनुरूप पाठ होना चाहिये।

—जै. ग. 12-8-71/VII/रो. ला. जैन

यज्ञ का अर्थ पूजा अथवा हवन है

शंका—जैनधर्म के अनुसार 'यज्ञ' शब्द का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—संस्कृत कोष में 'यज्ञ' का अर्थ है—पूजा का कार्य, कोई भी पवित्र या भक्ति सम्बन्धी क्रिया। अग्नि का नाम भी यज्ञ है।

जैनधर्म के अनुसार जो जल, चन्दन आदि अष्टद्रव्य से जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है, वह यज्ञ है। अथवा विशेष विधान के पश्चात् जैन शास्त्रानुसार जो अग्नि में हवन किया जाता है वह यज्ञ है।

जिसमें जीवहिंसा होती हो, पशु आदि का अग्नि में होम किया जाता हो वह वास्तव में यज्ञ नहीं है, क्योंकि वह पवित्र क्रिया नहीं है।

—जै. ग. 6-4-72/VII/ एन. जे. पाटील

पूजा के आरम्भ में आह्वान किसका होता है ?

शंका—पूजन के प्रारम्भ में अत्रावतर अवतर संवौषट् आह्वाननम् ....इत्यादि बोलते हैं। इस मंत्र द्वारा किनको सम्बोधन किया जाता है, किनसे सन्निधि करना अपेक्षित होता है तथा किनको निकट किया जाता है?

समाधान—पूजन के प्रारम्भ में ऐसा कहकर स्थापना में भगवान् का आह्वान किया जाता है तथा हृदय में विराजमान किया जाता है।

—पत्राचार 5-12-75/ब. ला. जैन, भीण्डर

जिनेन्द्र पूजा के समय ठोने की आवश्यकता

शंका—वेदी में भगवान की प्रतिमा स्थापित है तो ठोने में स्थापना करनी चाहिये या नहीं ?

समाधान—श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ११९ की टीका में पं० सदासुखदासजी ने इसप्रकार लिखा है—"बहुरि व्यवहार में पूजन के पंचअंगनि की प्रवृत्ति देखिये है। आह्वानन, स्थापना, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन सो भावनि के जोड़ वास्ते आह्वानन आदि के पुष्प क्षेपण करिये है। पुष्पनिको प्रतिमा नहीं जाने हैं। ए तो आह्वाननादिकनिका संकल्प तैं पुष्पांजलि क्षेपण है। पूजन में पाठ रच्या होय तो स्थापना करले नाहीं होय तो नाहीं करे। अनेकांतिनिके सर्वथा पक्ष नाहीं।" इससे स्पष्ट है कि यदि पूजन में आह्वानन आदि का पाठ हो तो ठोने में स्थापना करले, अन्यथा नहीं; किन्तु ठोने की स्थापना को प्रतिमा नहीं जानना। प्रतिमा में अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु के रूप का निश्चय कर 'प्रतिबिंब' में ध्यान पूजन स्तवन करना चाहिए। विशेष के लिये उक्त टीका देखनी चाहिये।

—जै. सं. 25-9-58/V/ कं. च. जैन, मुजफ्फरनगर

देवपूजा : स्थापना

शंका—जिन श्रीजी की प्रतिमा वेदी में विराजमान हो अगर उनका पूजन करना चाहें तो उनकी स्थापना करनी चाहिए या नहीं ? वेदी में श्री महावीर स्वामी विराजमान नहीं हैं, मुझे उनकी पूजन करना है तो स्थापना करनी चाहिए या नहीं ? जैसे नन्दीश्वर द्वीप की पूजा करते हैं तो स्थापना करते हैं कारण नन्दीश्वर अपने यहाँ पर स्थापित नहीं है। इसलिए जिस प्रतिमा की पूजा करे वे श्रीजी सन्मुख वेदी में विराजमान हैं तो उनकी स्थापना करना वाजिब है या नहीं ? प्रमाण लिखें।

समाधान—श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार (भाषा टीका) के श्लोक ११९ की टीका में पण्डित सदासुखदासजी ने इस प्रकार लिखा है—"पक्षपाती कहै है जिस तीर्थंकर की प्रतिमा होय तिनकैं आगैं तिनही की. पूजा-

स्तुति करनी अन्य तीर्थंकर की स्तुति पूजा नाहीं करनी अर अन्य तीर्थंकर की पूजा करनी होय तो स्थापना तन्दुलादिकतैं करके अन्य का पूजन स्तवन करना ऐसा पक्ष करैं हैं।

"तिनकूं इस प्रकार तो विचार किया चाहिये जे समन्तभद्र स्वामी शिवकोटिराजा के प्रत्यक्ष देखते स्वयम्भू स्तवन कियो तदि चन्द्रप्रभु स्वामी की प्रतिमा प्रगट भई तब चन्द्रप्रभ के सन्मुख अन्य षोडश तीर्थंकरनि का स्तवन कैसे किया ? बहुरि एक प्रतिमा के निकट एक ही का स्तवन पढ़ना योग्य होय तो स्वयम्भूस्तोत्र का पढ़ना ही नाही सम्भवै। आदि जिनेन्द्र की प्रतिमा बिना भक्तामरस्तोत्र पढ़ना नाहीं बनेगा, पार्श्वजिन की प्रतिमा बिना कल्याणमन्दिर पढ़ना नाहीं बनेगा, पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा बिना वा स्थापना बिना पंच नमस्कार कैसे पढ्या जायगा, कायोत्सर्ग जाप्यादिक नहीं बनेगा व पंच परमेष्ठी की प्रतिमा बिना नाम लेना, जाप्य करना, सामायिक करना नाहीं सम्भवेगा तथा अन्यदेश में मन्दिर में प्रतिमा का निश्चय बिना स्तुति पढ़ना नाहीं सम्भवेगा तथा रात्रि का अवसर होय, छोटी अवगाहना की प्रतिमा होय तहाँ पहले चिह्न का निश्चय करै, पाछै स्तवन में प्रवर्त्या जायगा तथा जिस मन्दिर में अनेक प्रतिमा होय तदि जाको स्तवन करै तिसके सम्मुख दृष्टि समस्या हस्त जोड़ विनती करना सम्भवै अन्य प्रतिमा के सम्मुख नाहीं संभवै, बहुरि जिस मन्दिर में अनेक प्रतिबिम्ब होय तहाँ जो एक का स्तवन वन्दना किया तदि दूजे का निरादर भया।

"बहुरि जो स्थापना के पक्षपाती स्थापना बिना प्रतिमा का पूजन नाहीं करैं तो स्तवन, वन्दना करने की योग्यता हू प्रतिमा कैं नाहीं रही। बहुरि जो पीत तन्दुलनि की अतदाकार स्थापना ही पूज्य है तो तिन पक्षपातीनि के धातु-पाषाण का तदाकार प्रतिबिम्ब स्थापना करना निरर्थक है। एक प्रतिमा के आगे एक का पूजन होय तो अन्य तेईस तीर्थंकर की पूजन करे सो पीत अक्षतनि की स्थापना करके करे, तदि तेईस प्रतिमा का संकल्प पीत अक्षतनि में भया, तदि जयमाल पूजन-स्तवन में अपनी दृष्टि पीत अक्षतनि में ही रखनी। ऐसे एकान्ती आगमज्ञान रहित स्थापना के पक्षपाती हैं, तिनके कहने का ठिकाना नाहीं किन्तु ऐसा जानना कि एक तीर्थंकर कै हू निरुक्ति द्वारै चौबीस नाम सम्भवै है। इस काल में अन्य मतीन की अनेक स्थापना हो गई तातैं इस काल में तदाकार स्थापना की ही मुख्यता है। रत्नत्रयरूप करि वीतराग भाव करि पंच परमेष्ठी रूप एक ही प्रतिमा जाननी। तातैं परमागम की आज्ञा बिना वृथा विकल्प करना शङ्का उपजावनी ठीक नहीं। सो भावनि कै जोड़ वास्तै आह्वाननादिकनि में पुष्पक्षेपण करिये है। पुष्पनि कूं प्रतिमा नहीं जानै है, ए तो आह्वाननादि का संकल्प तैं पुष्पांजलि क्षेपण है। पूजन में पाठ रच्या होय तो स्थापना कर ले नाहीं होय तो नाहीं करै। अनेकान्तनि के सर्वथा पक्ष नाहीं। तदाकार प्रतिबिम्ब में ध्यान जोड़ने के अर्थ साक्षात् अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधुरूप का प्रतिमा में निश्चय करि प्रतिबिम्ब में ध्यान पूजन स्तवन करना।"

—जै. सं. 17-5-56/VI/ का ला. अ. देहली

पूजा में चावलों का ही विशेष उपयोग क्यों ?

शंका—पूजन करने के लिए अथवा द्रव्य चढ़ाने के लिये चावल ही विशेष काम में क्यों लाये जाते हैं और कोई वस्तु काम में क्यों नहीं लाई जाती ?

समाधान—जीव का पूजन करते समय अथवा द्रव्य चढ़ाते समय यह ध्येय रहता है कि उसको अतीन्द्रिय अनन्त सुखरूप अक्षयपद की प्राप्ति हो। इसीलिए पूजक उस जीव के गुणों का स्तवन व चिंतवन करता है जिसने अक्षयपद को प्राप्त कर लिया है। अक्षयपद को प्राप्त करनेवाले जीवके गुणों का अर्थात् शुद्धआत्मा के गुणों का (अपने निजस्वभाव का) चिंतवन करने से पूजक के कर्मों का संवर व निर्जरा होती है। जिस प्रकार किसान

खेती द्वारा अन्न प्राप्त करना चाहता है फिर भी उस अन्न के साथ भूसा उत्पन्न हो ही जाता है। उसी प्रकार पूजा के द्वारा पूजक का लक्ष्य अक्षयपद की प्राप्ति है फिर भी पुण्यबंध हो जाता है जो भूसे के समान अक्षयपद रूपी अन्न को उत्पन्न करने में सहकारी कारण है।

अक्षयपद को प्राप्त कर लेने पर जीव पुनः संसाररूपी पौधे को उत्पन्न नहीं कर सकता और न कर्मरूपी तुष से लिप्त होता है। चावलरूपी अक्षत भी धान्यरूपी पौधे को उत्पन्न नहीं कर सकता और न तुष से लिप्त होता है। अतः पूजक, अक्षयपद की समानता रखने वाले चावलों का पूजा के समय उपयोग करता है अर्थात् उन्हें काम में लाता है।

—जै. ग. 21-1-63/IX/ मोहनलाल

निर्माल्य द्रव्य

शंका—जो द्रव्य पूजा में चढ़ाया जाता है उसका सदुपयोग क्या होना चाहिए?

समाधान—जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने में जो द्रव्य चढ़ा दिया गया है, उस द्रव्य मे किसी प्रकार से भी अपना स्वामित्व रखना या मानना उचित नहीं है। जब उस द्रव्य में स्वामित्व ही नहीं रहा तब उसके उपयोग का प्रश्न ही नहीं रहता। यदि स्वामित्व रहे तो सदुपयोग या असदुपयोग का प्रश्न हो सकता है।

—जै. सं. 25-9-58/कै. च. जैन, मुजफ्फरनगर

देवगति के मिथ्यादृष्टि देव कुदेव हैं

शंका—मिथ्यादृष्टि कुदेव होते हैं अथवा सुदेव होते हैं? यदि कहा जाय कि मिथ्यादृष्टि कुदेव ही होते हैं, तो फिर आगम में इनकी पूजा का विधान मिलता है, वह क्यों मिलता है?

समाधान—मिथ्यादृष्टि सुदेव तो हो नहीं सकते, क्योंकि सुदेव तो सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। आगम में कहीं पर भी मिथ्यादृष्टिदेव की पूजा का विधान नहीं है। श्री अरहंत व श्री सिद्धदेव के अतिरिक्त अन्य किसी देव की पूजा का विधान आगम में नहीं है। पंचकल्याणक आदि विधान के समय जो दिक्पाल आदि का आह्वानन किया जाता है वे सब सम्यग्दृष्टि हैं, जिनेन्द्रभक्त हैं। पंचकल्याणक आदि महायज्ञ में किसी प्रकार का विघ्न या बाधा न आजाय इसलिये सहयोग के लिये उन सम्यग्दृष्टि दिक्पाल आदि का आह्वानन किया जाता है। श्री अरहंत देव के समान उनको भी देव मानकर उनकी पूजा नहीं की जाती है।

—जै. ग. 8-6-72/VI/ रो. ला. जैन

पद्मावती आदि देवियों का स्वरूप व महत्त्व

शंका—पद्मावती आदि देवियाँ पूजनीय हैं या नहीं?

समाधान—पद्मावती आदि देवियाँ पाँच परमेष्ठियों में गर्भित नहीं होतीं। इसलिए अरहन्त आदि परमेष्ठी की तरह वे पूजनीय नहीं हैं किन्तु वे जैनधर्म की अनुयायी हैं, साधर्मी हैं इसलिये वे आदरणीय हैं। प्रतिष्ठा पाठ आदि में इनका आह्वान रक्षा हेतु किया जाता है।

—जै. ग. 5-1-78/VIII/ शान्तिलाल

पूज्य देवों की अपेक्षा सब देवगति के देव कुदेव (अपूज्य देव) हैं

शंका—अरहंत देव ही सच्चे देव हैं और अन्य सब कुदेव हैं। इससे चतुर्निकाय के देव भी कुदेव सिद्ध हो जाते हैं। अनुत्तर विमानों के देव जो नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं, कुदेव कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—पूज्यता की अपेक्षा श्री अरहंत भगवान को सुदेव और रागी द्वेषी को कुदेव कहा गया है। चतुर्निकाय के देवों के देवायु आदि का उदय होने से उन को देव कहा गया है। पूज्यता की अपेक्षा से उनको देव नहीं कहा गया है।

"देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूतिविशेषैः द्वीपादिसमुद्रादिप्रदेशेषु यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः।" सर्वार्थसिद्धिः

अभ्यन्तर कारण देवगति नाम कर्म के उदय होने पर जो नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप-समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं।

—जैं. ग. 7-1-71/VII/ रो. ला. जैन

सिद्धों से पूर्व अरहंत को नमस्कार करने का हेतु

शंका—सिद्ध भगवान अष्ट कर्म से रहित हैं और अरिहंत भगवान ने चार कर्मों का नाश किया है। किन्तु चार कर्मों से बँधे हुए हैं। फिर अरिहंत भगवान को प्रथम नमस्कार क्यों किया जाता है, सिद्ध परमेष्ठी को प्रथम नमस्कार करना चाहिये था ?

समाधान—इसी प्रकार की शंका धवल पु. १ में भी उठाई गई और श्री वीरसेन आचार्य ने उसका उत्तर इसप्रकार दिया है—

"विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात्। असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मदादीनाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया वादावर्हन्नमस्कारः क्रियते। न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्तेः श्रेयोहेतुत्वात्। अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च। आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वख्यापनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः।" धवल पु. १ पृ. ५३

अर्थ—सर्व प्रकार के कर्मलेप से रहित सिद्ध परमेष्ठी के विद्यमान रहते हुए चार अघातिया कर्मों के लेप से युक्त अरिहंत को आदि में नमस्कार क्यों किया जाता है ? यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सबसे अधिक गुणवाले सिद्धों में श्रद्धा की अधिकता के कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहंत परमेष्ठी के निमित्त से ही अधिक गुणवाले सिद्धों में सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि अरिहत परमेष्ठी न होते तो हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थ का परिज्ञान नहीं हो सकता था। किन्तु अरिहंत परमेष्ठी के प्रसाद से हमें इस बोध की प्राप्ति हुई है। इसलिये उपकार की अपेक्षा भी आदि में अरिहंतों को नमस्कार किया जाता है। यदि कोई यह कहे कि इस प्रकार आदि में अरिहंतों को नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है। किन्तु शुभ पक्ष में रहने से वह कल्याण का ही कारण है। तथा द्वैत को गौण करके अद्वैत की प्रधानता से किये गये नमस्कार में द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता। आप्त की श्रद्धा से ही आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिए भी आदि में अरिहंत को नमस्कार किया गया है।

श्री वीरसेन आचार्य के इस समाधान से शंकाकार की शंका का भी समाधान हो जाता है।

—जै. ग. 7-11-68/XIV/ रो. ला. जैन

पूजा-भक्ति आदि कार्यों से अविपाक निर्जरा होती है

शंका—पूजा, स्वाध्याय, भक्ति आदि कार्यों से गृहस्थी के अविपाक निर्जरा होती है या नहीं ?

समाधान—जिनेन्द्र भक्ति पूजा तथा आर्ष ग्रन्थ के स्वाध्याय से अविपाक निर्जरा तो होती ही है, किन्तु मोक्ष भी होता है। श्री समन्तभद्र आचार्य कहते हैं—

> जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे,
> भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा।
> वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा,
> दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥११५॥ स्तुति विद्या

अर्थ—जिनका स्तवन संसार रूप अटवी को नष्ट करने के लिये अग्नि के समान है, जिनका स्मरण दुःख-रूप समुद्र से पार होने के लिये नौका के समान है, जिनके चरण भक्त पुरुषों के लिये उत्कृष्ट निधानखजाने के समान हैं, जिनकी श्रेष्ठ प्रतिकृति–प्रतिमा सर्व कार्यों की सिद्धि करने वाली है, और जिन्हें हर्ष पूर्वक प्रणाम करने वाले एवं जिनका मंगल गान करने वाले नम्नाचार्य रूप से (पक्ष में स्तुतिपाठक-चरण-रूप से) रहते हुए भी मुझ समन्तभद्र की उन्नति में कुछ बाधा नहीं होती, वे देवों के देव जिनेन्द्र भगवान दान शील कर्म शत्रुओं पर विजय पाने वाले और सबके मनोरथों को पूर्ण करने वाले हों।

> चारित्रं यदभाणि केवलदृशादेव त्वया मुक्तये,
> पुंसा तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम्।
> भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः,
> संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम ॥५४४॥ पद्मनन्दि पंचविंशति

अर्थ—हे जिन देव ! केवलज्ञानी आपने जो मुक्ति के लिये चारित्र बतलाया है। उसे निश्चय से मुझ जैसा पुरुष इस विषम पंचम काल में धारण नहीं कर सकता। इसलिये पूर्वोपार्जित महान् पुण्य से यहाँ जो मेरी आपके विषय में दृढ़ भक्ति हुई है, वह भक्ति ही मुझे इस संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान होवे।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य भी कहते हैं—

> जिणवरचरणंबुरुहं, णमंति जे परम-भत्तिराएण।
> ते जम्मवेल्लिमूलं, खणंति वरभावसत्थेण ॥ १५३ ॥ भावपाहुड

अर्थ—जे पुरुष परम भक्ति अनुराग करि जिनवर के चरण कमल कूं नमैं है, ते पुरुष श्रेष्ठ भावरूप शस्त्र करि जन्म (संसार) रूपी बेल का मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म ताहि खणै है।

"जिणबिंब-दंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।" ध. पु. ६ पृ. ४२७

अर्थ—जिन बिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है।

एकापि समर्थं यं, जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं, दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥१५५॥

उपासकाध्ययन कल्प ६; पृ. ४८

अर्थ—अकेली एक जिन भक्ति ही भाग्यवान के दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य का संचय करने में और मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है।

सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो, मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं नः।
जाड्यात्तथा कुतनुतस्त्वयि भक्तिः देवसंवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ॥८७१॥ पद्म. पं. २१/६

अर्थ—हे देव ! मुक्ति का कारणीभूत जो तत्त्वज्ञान है, वह निश्चयतः समस्त आगम के जान लेने पर प्राप्त होता है, सो वह जड़बुद्धि होने से हमारे लिये दुर्लभ ही है। इसी प्रकार उस मोक्ष का कारणीभूत जो चारित्र है, वह भी शरीर की दुर्बलता से इस समय हमें नहीं प्राप्त हो सकता है। इस कारण आपके विषय में जो मेरी भक्ति है वही क्रम से मुझ को मुक्ति का कारण होवे।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण।
तह णट्ठं जह दिट्ठं, जहट्ठियं तं मए तच्चं ॥ ७४३ ॥ पद्म. पं. १४/२

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर दर्शन में बाधा पहुंचाने वाला समस्त मोहरूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया कि जिससे मैंने यथावस्थित तत्त्व को देख लिया है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, चम्ममएणच्छिणा वि तं पुण्णं।
जं जणइ पुरो केवलदंसण णाणाइं णयणाइं ॥ ७५७ ॥ पद्म. पं०, १४/१६

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है, जो कि भविष्य में केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप नेत्र को उत्पन्न करता है।

'अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति।' जयधवल पु० १ पृ० ९

अर्थ—अरहंत नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा का कारण है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य पूजा का फल अरहंत-पद बतलाते हैं—

'पूया फलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।'

अर्थ—शुद्ध मन वाले को पूजा का फल तीन लोक में सुरों से पूजित अरहंत पद मिलता है।

'जिन-पूजा-वंदणा-णमंसणेहि य बहुकम्मपदेसणिज्जरुवलंभादो।' धवल पु. १० पृ० २८९

अर्थ—जिन-पूजा, वन्दना और नमस्कार से भी बहुत कर्मप्रदेशों की निर्जरा पाई जाती है।

अरहंतणमोक्कारं, भावेण य जो करेदि पयडमदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावइ अचिरेण कालेण ॥ ६।७ ॥ मूलाचार

जो जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह अति शीघ्र सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

'तं च परमागमुवजोगादो चेव णस्सदि । ण वेदमसिद्धं, सुहसुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खया-भावे तक्खयाणु-ववत्तीदो ।' ज. ध. पु० १ पृ. ६

यदि कोई कहे कि परमागम के उपयोग से कर्मों का नाश होता है यह बात प्रसिद्ध है सो भी ठीक नहीं है, अर्थात् परमागम के उपयोग से कर्मों का नाश होता है। क्योंकि यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जांय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

स्वाध्याय अंतरंग तप है और तप से कर्मों का क्षय होता है।

'तपसा निर्जरा च । प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ।'

त. सू. अ. ९ सूत्र ३ व २०

यहाँ पर तप से कर्मों की अविपाक निर्जरा बतलाई है। स्वाध्याय अंतरंग तप है। अतः स्वाध्याय से कर्मों की अविपाक निर्जरा होती है।

—जै. ग. 25-11-71/VIII/र. ला. जैन

जिन भक्ति (दर्शन पूजन आदि) आस्रव बन्ध के साथ संवर निर्जरा की भी कारण है

शंका—भावपूर्वक देवदर्शन व पूजन पुण्यास्रव अर्थात् कर्मबंध करने वाली हैं या दोनों ? कैसे और क्यों ?

समाधान—इस शंका के समाधान के लिये प्रथम धर्म की व्याख्या और धर्म के भेद-प्रतिभेदों पर विचार करना होगा।

समन्तभद्र आचार्य धर्म का लक्षण निम्न प्रकार कहते हैं—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ।। २ ।।
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।

अर्थ—जो जीवों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचाता है वह कर्म-नाशक उभय लोक में उपकारक धर्म है। धर्म के उपदेशक जिनेन्द्र ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और व्रतों (चारित्र) को धर्म कहा है।

हिंसानृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकेभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ।। ४९ ।।
सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससङ्गानाम् ।। ५० ।। रत्न. श्रा.

अर्थ—पापास्रव के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरक्त होना सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है। वह चारित्र सर्वदेश और एक देश के भेद से दो प्रकार का है। समस्त परिग्रहादि पापों से विरक्त होना मुनियों का सकल चारित्र है। और परिग्रहधारी गृहस्थों के एक देश चारित्र होता है।

श्री स्वामी कार्तिकेय ने भी गृहस्थ और मुनि धर्म के भेद से दो प्रकार का धर्म कहा है—

तेसु दुगद्दो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं ।
पढमो बारह-भेओ दह भेओ भासिओ बिदिओ ।।३०४।।

अर्थ—सर्वज्ञ देव के द्वारा कहा हुआ धर्म दो प्रकार का है—एक गृहस्थ का धर्म, दूसरा निर्ग्रंथ मुनि का धर्म। प्रथम के बारह भेद और दूसरे के दस भेद कहे हैं।

सायारो आयारो भवियाणं जिणेण देसिओ धम्मो।
णमिऊण तं जिणिंदं सावयधम्मं परूवेमो॥ २॥
विउलगिरि पव्वए णं इंदभूइणा सेणियस्स जह सिट्ठं।
तह गुरुपरिवाडीए भणिज्जमाणं णिसामेह॥ ३॥
विणओ विज्जाविच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं।
सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं॥३१९॥ वसु. श्रा.

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने भव्य जीवों के लिये सागार (गृहस्थ) धर्म और अनगार (मुनि) धर्म का उपदेश दिया है ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके मैं (सिद्धान्तचक्रवर्ती वसुनन्दि आचार्य) श्रावकधर्म का प्ररूपण करता हूँ। विपुलाचल पर्वत पर (भगवान महावीर के समवसरण में) श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर ने बिम्बसार नामक श्रेणिक महाराज को जिसप्रकार से श्रावकधर्म का उपदेश दिया है उसी प्रकार गुरु-परम्परा से प्राप्त वक्ष्यमाण श्रावकधर्म को, हे भव्य जीवों! तुम सुनो। देशविरत श्रावकों को अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन विधान करना चाहिये।

देवाधिदेवचरणे परिचरणं, सर्व-दुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥११९॥ रत्न. श्रा.

अर्थ—इच्छित फल देने वाले और विषयवासना की चाह को नष्ट करने वाले देवाधिदेव अरिहंत देव के चरण में जो पूजा की जाती है वह पूजा भवभ्रमणरूपी सब दुःखों का नाश करने वाली है अतएव श्रावक (गृहस्थ) उस भगवत्पूजा को प्रतिदिन करें।

श्री पद्मनन्दि आचार्य श्री पद्मनन्दि पञ्चविंशति में इस प्रकार कहते हैं—

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पन्थाः स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः॥ २॥
संपूर्णदेश-भेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्थाः द्वितीये गृहिणः स्थिताः॥४॥
देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥ ७॥
प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥ १४॥
ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥१५॥
प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः॥ १६॥
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः॥ १७॥ छठा अधिकार

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को धर्म कहा जाता है। तथा वही मोक्षमार्ग है जो प्रमाण से सिद्ध है। वह धर्म सम्पूर्णधर्म और देशधर्म के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम भेद में दिगम्बर मुनि और द्वितीय भेद में गृहस्थ स्थित होते हैं। जिन पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह कर्म गृहस्थ के लिये प्रतिदिन करने योग्य हैं अर्थात् ये गृहस्थ के आवश्यक कार्य हैं। जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान के दर्शन, पूजन और स्तुति करते हैं वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य अर्थात् अर्हंत बन जाते हैं। अभिप्राय यह है कि वे स्वयं भी परमात्मा बन जाते हैं। जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान का न दर्शन करते हैं न पूजन करते हैं और न स्तुति ही करते हैं उनका जीवन निष्फल है, तथा उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। श्रावकों को प्रातःकाल उठ करके भक्ति से जिनेन्द्रदेव तथा निर्ग्रन्थगुरु का दर्शन और वन्दना करके धर्मश्रवण करना चाहिए। तत्पश्चात् अन्य कार्यों को करना चाहिए, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में धर्म को प्रथम बतलाया है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान ने भी कहा है कि दान और पूजा श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। जो जिनपूजा व मुनिदान करता है वह श्रावक मोक्षमार्ग में रत है।

> दाणं पूजा-मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
> झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥११॥
> जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
> सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥१३॥ रयणसार

अर्थात्—श्रावकधर्म में दान और पूजा मुख्य कर्तव्य हैं। जो दान व पूजा नहीं करता वह श्रावक नहीं है। जो निज शक्ति अनुसार जिनपूजा व मुनिदान करता है वह सम्यग्दृष्टि श्रावक मोक्षमार्ग में रत है।

इन उपर्युक्त आर्ष वाक्यों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जिनेन्द्र-भक्ति उस धर्म का अंग है जो धर्म प्राणी को संसार-दुःख से निकाल कर मोक्ष—सुख में रखता है। इसलिये जिनेन्द्र-भक्ति को मात्र आस्रव-बन्ध का कारण तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि आस्रव-बन्ध तो संसार के कारण हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं। मोक्ष के कारण संवर व निर्जरा हैं। इसलिए जिनेन्द्रभक्ति से संवर-निर्जरा अवश्य होनी चाहिये अन्यथा जिनेन्द्र-भक्ति धर्म का अंग नहीं हो सकती है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान ने कहा है कि जिनेन्द्र-भक्ति संसाररूपी बेल की जड़ को अर्थात् कर्मों को खणे (निर्जरा करे) है। गाथा इस प्रकार है—

> जिणवरचरणंबुरुहं णमंति, जे परमभत्तिराएण।
> ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभाव सत्थेण ॥ १५३ ॥ भावपाहुड

अर्थ—जे पुरुष परम भक्ति अनुराग करि जिनवर के चरण कमलनिकूं नमैं हैं ते श्रेष्ठ भावरूप शस्त्रकरि जन्म अर्थात् संसाररूपी बेलके मिथ्यात्वादि कर्मरूपी मूल (जड़) को खणे है अर्थात् क्षय करे है, निर्जरा करे है।

> भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परोभवति तादृशः।
> वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥ समाधि श०

अर्थ—यह जीव अपने से भिन्न अर्हंत-सिद्ध स्वरूप परमात्मा की उपासना करके उन्हीं सरीखा अर्हंत-सिद्ध रूप परमात्मा हो जाता है; जैसे कि बत्ती दीपक से भिन्न होकर भी दीपक की उपासना से दीपक स्वरूप हो जाती है।

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण भूतनाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवंतः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा, भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥ भक्तामर स्तोत्र

अर्थ—हे जगत्‌भूषण जगदीश्वर ! संसार में जो भक्त पुरुष आपके गुणों का कीर्तन करके आपका स्तवन करते हैं, वे आपके समान भगवान बन जाते हैं, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वह स्वामी किस काम का, जो अपने दास को अपने समान न बना सके ।

एकीभावं गत इव मया, यः स्वयं कर्मबन्धो,
घोरं दुःखं भवभवगतो, दुर्निवारः करोति ।
तस्याप्यस्य त्वयि जिन-रवे भक्तिरुन्मुक्तये चेत्,
जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥ १ ॥ एकीभाव स्तोत्र

अर्थ—हे जिनसूर्य ! आपकी भक्ति भव भव में उपार्जन किये हुए और निवारण करने के लिये अशक्य ऐसा जो कर्म-बंध मानो मेरे साथ एकत्व को प्राप्त होकर भयंकर दुःखों को देता है, ऐसे उस कर्म के भी नाश (निर्जरा) करने के लिये समर्थ है तो अन्य ऐसा कौनसा ताप होने वाला है जो उस भक्ति के द्वारा नहीं जीता जा सकता अर्थात् जिस जिनेन्द्र-भक्ति के द्वारा अनेकों भव में संचित किये कर्मों का नाश हो जाता है तो अन्य क्षुद्र उपद्रव उस भक्ति के द्वारा शांत हो जाते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ?

श्री वीरसेन स्वामी गुरु-परम्परा से प्राप्त सर्वज्ञोपदेशानुसार धवल व जयधवल जैसे महान् ग्रन्थों में लिखते हैं—

'जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो ।'

धवल पु० ६ पृ० ४२७-४२८

अर्थ—जिन बिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्म-कलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है ।

अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओत्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो ।"

ज. ध. पु. १ पृ. ९

अर्थ—अरहंत-नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा का कारण है इसलिए अरहंत-नमस्कार में भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है ।

श्री कुन्दकुन्द भगवान मूलाचार के सातवें अधिकार में कहते हैं—

अरहंतणमोक्कारं-भावेण, य जो करेदि पयडमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ, अचिरेण कालेण ॥ ६ ॥

सिद्धाणं णमोक्कारं भावेण, य जो करेदि पयडमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ९ ॥

एवं गुणजुत्ताणं पंचगुरूणं विसुद्धकरणेहिं ।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्घं ॥१९॥

अर्थ—जो विवेकी जीव भाव पूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।६।

जो विवेकी जीव भावपूर्वक सिद्धों को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।९।

इसप्रकार के गुणों से युक्त पंचपरमेष्ठियों को जो विशुद्ध परिणामों से नमस्कार करता है वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है।१७।

सर्वार्थसिद्धि में श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

"चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया।"

अर्थ—चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदिरूप क्रिया सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली है, अतः सम्यक्त्वक्रिया है

सर्वज्ञोपदेश अनुसार कहे गये इन आर्ष वचनों से यह सिद्ध हो जाता है कि जिनेन्द्र-भक्ति से संवर, निर्जरा, कर्मों का क्षय तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस पंचमकाल में संहनन व बुद्धि की हीनता के कारण विशेषचारित्र तथा विशेष श्रुतज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये जिनेन्द्रभक्ति ही क्रमसे मुक्ति का कारण है, क्योंकि पंचमकाल में उत्पन्न हुए मनुष्यों के साक्षात् मुक्ति का अभाव है। कहा भी है—

> सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो, मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं नः।
> जाड्यात्तथा कृतनुतस्त्वयि भक्तिरेव, देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम्।८७१। पं. नं. पं.

अर्थ—हे देव! मुक्ति का कारणभूत जो तत्त्वज्ञान है वह निश्चयतः समस्त आगम के जान लेने पर प्राप्त होता है, सो जड़बुद्धि होने से वह हमें दुर्लभ ही है। इसी प्रकार उस मोक्ष का कारणीभूत जो चारित्र है वह भी शरीर की दुर्बलता से इस समय हमें नहीं प्राप्त हो सकता है। इस कारण आप के विषय में जो मेरी भक्ति है वही क्रम से मुझे मुक्ति का कारण होवे।

> चारित्रं यदभाणि केवलदृशा देव त्वया मुक्तये,
> पुंसां तत्खलु मादृशेन विषमे, काले कलौ दुर्धरम्।
> भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढ़ा पुण्यैः पुरोपार्जितैः,
> संसारार्णवतारेण जिन ततः सैवास्तु पोतो मम॥५४४॥ पं. नं. पं.

अर्थ—हे जिनदेव केवलज्ञानी! आपने जो मुक्ति के लिए चारित्र बतलाया है, उस चारित्र को मुझ जैसा इस विषम पंचम काल में धारण नहीं कर सकता है। इसलिये पूर्वोपार्जित महान् पुण्य से जो मेरी आपके विषय में दृढ़ भक्ति है वही मुझे इस संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान होवे।

> दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, दिट्ठिहराले समोहतिमिरेण।
> तह णट्ठं जह दिट्ठं जहट्ठियं तं मए तच्चं॥ ७४३ ॥ पं. नं. पं.

अर्थ—हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर सम्यग्दर्शन में बाधा पहुँचाने वाला समस्त दर्शनमोहरूपी अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया है जिससे मैंने यथावस्थित तत्त्वों को देख लिया है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहं।
होही सो जेणासरिस सुहणिही अक्खओ मोक्खो ॥७४७॥ पं. मं. पं.

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर मैं अपने उस पुण्यलाभ को मानता हूँ जिससे कि मुझे अनुपम-सुख के भण्डार स्वरूप वह अविनश्वर मोक्ष प्राप्त होगा।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वहुव्वाखहि विसेस रूवम्मि।
दंसणसुद्धीए गयं दाणि मम णत्थि सव्वत्थ ॥७६०॥ पं. मं. पं.

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! सर्वाधिक दर्शनीय आपका दर्शन होने से जो दर्शनविशुद्धि हुई है, उससे यह निश्चय हुआ कि सब बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं।

श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि जो मात्र चर्मचक्षु से भी जिनेन्द्र के दर्शन कर लेता है उसको भी भविष्य में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणच्छिणा वि तं पुण्णं।
जं जणइ पुरो केवलदंसण णाणाइं णयणाइं ॥७५७॥ पं. मं. पं.

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है जो कि भविष्य में केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप नेत्र को उत्पन्न करता है।

श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शन और पूजन से सम्यग्दर्शन व मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु श्री जिनेन्द्रदेव के नाम मात्र से भी मोहनीयकर्म का नाश हो जाता है। इसी बात को आचार्य श्री मानतुंग कहते हैं—

आस्तां तवस्तवनमस्तसमस्तदोषं, त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव, पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥ ९ ॥ भक्तामर स्तोत्र

अर्थ—हे विभो ! आदि जिनेन्द्र ! आपकी स्तुति सर्व दोषों (राग, द्वेष, मोह) का क्षय करने वाली है। सो वह स्तुति तो दूर ही रहो, केवल आपके नाममात्र की कथा भी जगत के मोहनीयकर्मरूपी पापों को नष्ट कर डालती है। जिस तरह सूर्य बहुत दूर रहता हुआ भी अंधकार का नाश कर प्रकाश करता है तथा कमल-वन में कमल के फूलों को विकसित कर देता है।

इन आगम प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि जिनेन्द्रभक्ति, पूजा व दर्शन मात्र आस्रव व बंध का कारण नहीं है, किन्तु संवर–निर्जरा व मोक्ष का भी कारण है।

जिस प्रकार सराग–सम्यग्दर्शन, सराग–संयम से आस्रव बंध और संवर–निर्जरा भी होती है तथा मोक्ष का भी कारण है उसी प्रकार सराग भक्ति से आस्रव-बंध और संवर-निर्जरा भी होती है तथा वह मोक्ष का भी कारण है।

मिथ्यादृष्टि जीवों के द्वारा की गई जिनेन्द्र-पूजा आदि मात्र पुण्यबंध का कारण होती है, क्योंकि मिथ्या-दृष्टि जीव को जिनेन्द्र के गुण वीतरागता आदि का ज्ञान नहीं है और वह अतीन्द्रिय सुख को भी नहीं जानता, वह मात्र इन्द्रियजनित सुख को सुख जानता है और उसी सुख के लिए वह पूजन, दान, तप आदि करता है; इसीलिये उसको पुण्य बंध से इन्द्रिय सुख मिल जाता है। इसी दृष्टि से प्रवचनसार की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पूजा आदि को मात्र इन्द्रियसुख का साधनभूत कहा है।

वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित जीव के शुद्धोपयोग की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि की देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा तथा सम्यग्दर्शन के चिह्न अनुकम्पा को भी हेय कह दिया गया है; क्योंकि वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा के विकल्प तथा अनुकम्पा के विकल्प नहीं रहते।

किन्तु प्रवचनसार गाथा २५४ में कहा है कि शुद्धात्मानुराग युक्त प्रशस्तचर्या रूप जो शुभोपयोग अर्थात् शुद्धात्मारूप जिनेन्द्रदेव व निर्ग्रन्थगुरु में अनुराग (पूजा, वैयावृत्ति आदि) जो यह शुभोपयोग है, वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो मुख्य है, क्योंकि गृहस्थ के सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्म-प्रकाशन का अभाव है और कषाय के सद्भाव के कारण प्रवृत्ति होती है। जैसे ईंधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है और वह क्रमशः जल उठता है उसी प्रकार गृहस्थ को शुद्धात्मानुराग (जिनेन्द्रदेवनिर्ग्रन्थ गुरु आदि की पूजा, वैयावृत्ति आदि) के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और इसीलिए वह शुभोपयोग क्रमशः परम निर्वाण-सौख्य का कारण होता है।

जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अनेकान्त है। जैसे एक ही लकीर (Line) अपने से बड़ी लकीर की अपेक्षा छोटी है, किन्तु वही लकीर अपने से छोटी लकीर की अपेक्षा बड़ी है। वह लकीर न तो सर्वथा छोटी है और न सर्वथा बड़ी है। जो उस लकीर को सर्वथा छोटी मानता हो या सर्वथा बड़ी मानता है वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि लकीर न सर्वथा बड़ी है और न ही सर्वथा छोटी है।

इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि की देवपूजा आदि को जो सर्वथा आस्रव व बंध का कारण मानता है वह एकान्त-मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि समयसार गाथा १९३ में सम्यग्दृष्टि के इन्द्रियों द्वारा पर-द्रव्य के उपभोग को निर्जरा का कारण कहा तो सम्यग्दृष्टि की जिनेन्द्रपूजा कैसे निर्जरा का कारण नहीं होगी अर्थात् अवश्य होगी।

इसी प्रकार यदि कोई जिनपूजा आदि से अल्प कर्मबंध भी स्वीकार न करे तथा समस्त कर्मों की निर्जरा माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह कभी भी वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में स्थित होने का प्रयत्न नहीं करेगा।

आगम में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न भिन्न कथन पाये जाते हैं। जिस अपेक्षा से जो कथन किया गया है उसी अपेक्षा से वह कथन सत्य है, किन्तु उस कथन को जो सर्वथा मान लेते हैं वे मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं, क्योंकि 'सर्वथा' मिथ्यादृष्टियों का वचन है और 'कथंचित्' (किसी अपेक्षा से) सम्यग्दृष्टियों का वचन है। कहा भी है—

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि-वयणादो॥ ज.ध. पु. १ पृ. २४५

अर्थ—परसमयों (पर मतों) का वचन वास्तव में मिथ्या है क्योंकि उनका वचन 'सर्वथा' लिए हुए होता है। जैनों का वचन वास्तव में सम्यक् है क्योंकि वह 'कथंचित्' अर्थात् अपेक्षा को लिये हुए होता है, 'सर्वथा' नहीं होता।

—जै. ग. 22, 29-10-64/IX/र. ला. जैन, मेरठ

भक्ति व पूजा आदि व्यवहार से धर्म हैं तथा मोहादि की हानि के कारण हैं।

शंका—श्री भावपाहुड गाथा ८३ का क्या यह अभिप्राय है कि पूजादिक व व्रतादि केवल पुण्य बंध के ही कारण हैं।

समाधान—आज से डेढ़सौ वर्ष पूर्व श्री पं० जयचन्दजी हो गये हैं जो नयशास्त्र व अनेकान्त के ज्ञाता थे। उन्होंने इस गाथा के भावार्थ के अन्त में लिखा है 'एकदेश मोह व क्षोभ की हानि होय है, तातैं शुभ परिणाम कू भी उपचार करि धर्म कहिये है।' इस वाक्य से स्पष्ट है कि 'पूजादि व व्रत आदि शुभ परिणाम के कारण मोह व क्षोभ की एक देश हानि होय है।' मोह व क्षोभ की हानि धर्म है। अतः पूजादि एकदेश धर्म के कारण हैं। कारण में कार्य का उपचार करके पूजादि को भी धर्म कहा है, क्योंकि कारण का कार्य से अभेद है (ध० खं० पु० १२ पृष्ठ २८०)। पूजादि से पुण्यबंध होता है ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि पूजादि से कथंचित् मोह (मिथ्यात्व) क्षोभ (रागद्वेष) की हानिरूप धर्म भी होता है। एकान्त से धर्म या पुण्य माननेवाले लौकिकजन तथा अन्यमति हैं। विशेष के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ९ देखना चाहिए।

इसी भावपाहुड की गाथा १०५ में श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने भी भक्ति का उपदेश दिया है।

'णियसत्तिए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं॥' पं० जयचन्दजी कृत

अर्थ—हे महाशय ? हे मुने ! भक्ति का राग करि तिस वैयावृत्य कू सदाकाल अपनी शक्ति करि तू करि, कैसे—जिनभक्ति विषैं तत्पर होय तैसे, कैसा है वैयावृत्य—दश विकल्प है दशभेदरूप है।

यदि जिनेन्द्रभक्ति केवल बंध का ही कारण होतो तो श्री कुन्दकुन्द आचार्य मुनियों को भक्तिका उपदेश क्यों देते। जब मुनियों के लिए यथाशक्ति भक्ति का उपदेश है तो श्रावकों को तो भक्ति अवश्य करनी चाहिए। यदि जिनभक्ति कथंचित् भी धर्म न होकर अधर्म होता तो श्री कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य भावपाहुड ग्रन्थ में भक्ति करने का कैसे उपदेश देते ? वे तो वीतरागी, अभिमान से रहित, प्राणीमात्र के हितु थे। उन्होने तो धर्म करने का ही उपदेश दिया है जिससे जीवमात्र कर्मबंध से छूट अनन्त सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेवे।

—जै. सं. 19-12-57/V/ रतनकुमार जैन

प्रभु भक्ति से अपने प्रयोजन की सिद्धि होती है

शंका—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को परमइष्ट क्यों कहा जाता है जबकि जीव सुखी अथवा दुःखी अपने परिणामों से हो होता है। संसार व मोक्ष भी जीव के अपने परिणामों से ही है।

समाधान—जीव को सुख, दुःख, संसार व मोक्ष अपने परिणामों से होता है यह बात कथंचित् सत्य है। परन्तु यह भी विचारणीय है कि जीव के वे परिणाम परसापेक्ष हैं या परनिरपेक्ष ? यदि वे परिणाम परनिरपेक्ष हैं तो वे सदा ही रहने चाहिए (सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात्)। यदि वे परिणाम परसापेक्ष हैं तो पर सहकारी आया तब वे परिणाम हुए, जो ऐसा न मानिये तो कार्य होने का अभाव है (परापेक्षत्वे परिणामित्वमन्यथा तदभावात्)। क्योंकि इन परिणामों की सर्वकाल उत्पत्ति नहीं है इससे सिद्ध होता है कि ये परिणाम पर सापेक्ष हैं। सुख व मोक्षरूप परिणाम जीव के प्रयोजनीभूत हैं और ये परिणाम परसापेक्ष हैं अतः जिनकी सहकारिता से इन सुख व मोक्षरूप परिणामों की उत्पत्ति होय, तिनको इष्ट कहते हैं। श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी इसप्रकार कहा है—'जाकरि सुख उपजे वा दुःख बिनशे तिस कार्य का नाम प्रयोजन है। बहुरि तिस प्रयोजन की जाकरि सिद्धि होय सो ही अपना इष्ट है। सो हमारे इस अवसर विषैं स्व वीतराग विशेष ज्ञान का होना सो ही प्रयोजन है जातैं या करि निराकुल सांचे सुख की प्राप्ति होय है। और सर्व आकुलतारूप दुःख का नाश होय है। बहुरि इस प्रयोजन की सिद्धि अरहंतादिकरि करि होय है। कैसे ? सो विचारिए हैं। आत्मा के परिणाम तीन प्रकार के

हैं, संक्लेश, विशुद्ध, शुद्ध । तहाँ तीव्रकषायरूप संक्लेश है, मंदकषायरूप विशुद्ध हैं, कषायरहित शुद्ध हैं, तहाँ वीतरागं विशेषज्ञानरूप अपने स्वभाव के घातक जो ज्ञानावरणादि घातियाकर्म, तिनका संक्लेश परिणाम करि तो तीव्रबंध होय है और विशुद्ध परिणाम करि मंदबंध होय है वा विशुद्ध परिणाम प्रबल होय तो पूर्वं जो तीव्रबंध भया था ताको भी मंद करे । अर शुद्ध परिणाम करि बंध न होय है केवल तिनकी निर्जरा ही होय है। सो अरहंतादि विषै स्तवनादि रूप भाव होय है सो कषायनि की मन्दता लिये होय है तातैं विशुद्ध परिणाम है। बहुरि समस्त कषायभाव मिटवाने का साधन है, तातैं शुद्ध परिणाम का कारण है । सो ऐसे परिणाम करि अपना घातक घाति-कर्म का हीनपना के होने तैं सहज ही वीतराग विशेषज्ञान प्रगट होय है । जितने अंशनिकरि वह हीन होय है तितने अंशनिकरि यह प्रगट होय है । ऐसे अरहंतादिकरि अपना प्रयोजन सिद्ध होय है । अथवा अरहंत आदि का आकार अवलोकना वा स्वरूप विचार करना वा वचन सुनना वा निकटवर्ती होना वा तिनके अनुसार प्रवर्तना इत्यादि कार्य तत्काल निमित्त होय रागादि को हीन करे हैं । जीव अजीवादि का विशेषज्ञान (भेदविज्ञान) को उपजावे है तातैं ऐसे भी अरहंतादि करि वीतराग विशेषज्ञानरूप प्रयोजन की सिद्धि होय है ।

श्री भावपाहुड में भी कहा है—

'णियसत्तिए महाजस ! भत्तीराएण णिच्चकालम्मि ।
तं कुण जिनभत्तिपरं विज्जावच्चं दस-वियप्पं ॥१०५॥'

अर्थात्—हे महायश मुने ! अपनी शक्ति अनुसार भक्ति और अनुराग से नित्य जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में तत्पर दस प्रकार की वैयावृत्य को करता है ।

इसप्रकार अरहंत आदि की भक्ति के द्वारा अपने प्रयोजन की सिद्धि होती है अतः वे परमेष्ठी हैं ।

—जै. सं. 16-1-58/VI/ रामदास कैराना

व्याधिप्रशमन में जिनभक्ति सक्षम है

शंका—मुझे शारीरिक व्याधि है उसका प्रशमन करने हेतु क्या जिन-भक्ति सक्षम है ? औषधिसेवन तो कर ही रहा हूँ; अन्य क्या किया जाय जिससे व्याधि से मुक्ति मिले ।

समाधान—समस्त दुःखों के निवारण में जिन भक्ति अतिसक्षम है । भक्तामर स्तोत्र का ४५ वाँ काव्य (वसन्ततिलका छन्द) "उद्भूतभीषण ......" तथा उसकी ऋद्धि एवं मंत्र का सवा लक्ष जाप्य करने से लाभ हो सकता है ।

यह सब अपने पाप कर्म का ही फल है । अन्य किसी का कोई दोष नहीं है । मन्त्राराधन करने से पुण्य का बन्ध होगा और पूर्वकृत पाप का पुण्यरूप संक्रमण भी होगा ।

कर्म बहुत बलवान हैं । श्री आदिनाथ तीर्थंकर तथा श्री पार्श्वनाथ भगवान् को भी इन्होंने नहीं छोड़ा; हमारी बात तो दूर है ।

"पुण्य पाप फल माँहि, हरख बिलखो मत भाई ।
यह पुद्गल पर्याय, उपजि विनसे फिर नाहीं ॥

इसका निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिए ।

—पत्राचार 15-7-76/I, II/ज. ला. जैन, भीण्डर

मोक्षमार्ग की रुचि वाले को रागद्वेषनाशक भगवान की भक्ति अवश्य रुचती है

[1] प्रश्न—श्री रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुरः—

महाराज ! जिसे मोक्ष मार्ग रुचता है, उसे जिनेन्द्रदेव की भक्ति रुचती है या नहीं ?

उत्तर—पू० क्षु० वर्णीजी महाराजः—

मेरा तो विश्वास है कि जिसको मोक्षमार्ग रुचता है उसको जिनेन्द्रदेव की भक्ति तो दूर रही, सम्यक्दृष्टि की जो बातें हैं वह सब उसको रुचती हैं।

'ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।'

. आचार्य श्री उमास्वामी मोक्षमार्ग का निरूपण कर्ता, मंगलाचरण क्या करते हैं:—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, विश्व तत्त्व ज्ञातारं अहं वंदे, काहे के लिये तद्गुणलब्धये—तद्गुणों की लब्धि के लिये। तो उनमें जो भक्ति हुई, भगवान की जो भक्ति हुई, स्तवन हुआ, भगवान् का जो स्तवन हुआ तो भक्ति स्तवन वगैरह का वर्णन किया—स्तुति क्या चीज है ? गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद् बहुत्व कथा स्तुतिः। वह स्तुति कहलाती है कि थोड़े गुण को उल्लंघन करके उसको बहुत कथा करना उसका नाम स्तुति है। भगवान के अनन्त गुण हैं। वक्तुम् अशक्यत्वात् उनके कथन को करने में अशक्त हैं। अनन्त गुण हैं। भक्ति वह कहलाती है कि गुणों में अनुराग हो उसका नाम भक्ति है। भगवान् के अनन्त गुण हैं उनको कहने को हम अशक्त हैं, कह नहीं सकते तो भी जैसे कोई अमृत का समुद्र का अन्तस्तल स्पर्श करने में असमर्थ है; अगर उसे (उपरि) स्पर्श भी हो जाय तो शांति का कारण है, तो भगवान् के गुणों का वर्णन करना दूर रहा, उसका स्मरण भी हो जाय तो हमको संसार ताप की विच्छित्ति का कारण है इस वास्ते भगवान का जो स्तवन है वह गुणों में अनुराग है। गुणों में अनुराग कौन-सी कषाय को पोषण करनेवाला है। जिससमय भगवान की भक्ति करोगे। अनन्तज्ञानादिक गुणोंका स्मरण ही तो होगा। अनन्त ज्ञानादिक गुणों के स्मरण होने में कौन-सी कषाय पुष्टि हुई। क्या क्रोध पुष्ट हुआ या मान पुष्ट हुआ या माया पुष्ट हुई या लोभ पुष्ट हुआ। तो मेरा तो यह विश्वास है कि उन गुणों को स्मरण करने से नियम से अरहन्त को द्रव्य गुण पर्याय करके जो जानता है वो परोक्ष में अरहन्त है, वह साक्षात् अरहंत है। वह परोक्ष में वही गुण तो स्मरण कर रहा है। तो भगवान की भक्ति तो सम्यक्ज्ञानी हो कर सकते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं। परन्तु कबतक ? तो पंचास्तिकाय में कहा कि भगवान की भक्ति मिथ्यादृष्टि भी करता है और सम्यक्दृष्टि भी करता है। परन्तु यह जो है, उपरितन गुणस्थान चढ़ने को असमर्थ है इस वास्ते अस्थाने रागादि निषेधार्थं', अस्थान जो हैं कुदेवादिक हैं उनमें रागादिक न जाय अथवा 'तीव्ररागज्वर निषेधार्थं' उसको प्रयोजन—कहा है कि तीव्ररागज्वर मेरा चला जाय वो भगवान् की भक्ति करता है। इस वास्ते जो श्रेणी मांडते हैं वे उत्तम पुरुष हैं। उनको तो वस्तु-विचार रहता है। उनको तो आत्मा की तरफ दृष्टि है, नहीं जाने घर की, न पट की। कोई पदार्थ चिंतवन में आजाय तो वह विषका बीज जो रागद्वेष था वह उनका चला गया। हमारा विष का बीज

---

1. नोट—यहाँ यद्यपि समाधाता ही शंकाकारके रूप में प्रस्तुत हुए हैं और समाधाता महाविद्वान पू० क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य हैं। तदपि अत्युपयोगी जानकर इसे भी यहाँ लिया गया है। —सम्पादक

रागद्वेष बैठा है। इस वास्ते भगवान की भक्ति उनमें उनके गुणों का चिंतवन करने से रागद्वेष की निवृत्ति होती है। अतएव सम्यक्दृष्टि को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये।

अपने विरोधी मानकर, जैनधर्मी तो रागद्वेष रहित है, कोई उनका अन्तरंग से विरोधी नहीं है, भैया ! कोई भी मनुष्य जो है, कानजी स्वामी का विरोधी नहीं है, वह तो यह चाहता है कि तुम जो इतनी-इतनी भूल पकड़े हो, इससे तो तमाम संसार उल्टा डूब जायेगा। वो दो हजार के भले की बात कहते हों वह तो उल्टा डूबने का मार्ग है। मिथ्यात्व का अंश ही बुरा होता है। अरे हमारी बात रह जाय, वह बात काहे की। जब पर्याय ही चली जाय, जिस पर्याय में अहंबुद्धि है तब बात काहे की है। तुम्हारा यह पर्याय सम्बन्धी ज्ञान, यह पर्याय सम्बन्धी चारित्र, यह पर्याय सम्बन्धी सुन्दरता और आयु को अन्त। अरे ! सुन्दरता तो अब ही चली जाय। द्रव्य से विचार करो, वह रख लेवे अब ये जवान हैं, रख लेवे कि हम ऐसे ही बने रहें, नहीं रख सकते, अरे ! तुम जो बोलना चाहो उसको भी नहीं रख सकते। क्यों ? वह तो उदय में आया और चला गया ....।

हम तो अभी भी कहते हैं कि स्थितिकरण की आवश्यकता है—

> दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः ।
> प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥१६॥ र० श्रा०

आप, हमको तो शत्रुभाव उनमें रखना भी नहीं चाहिए। कषाय के उदय में मनुष्य क्या-क्या काम करता है—कौन नहीं जानता है ? हम तो कहते हैं अब भी समझाने की आवश्यकता है अब भी उपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा व्यवहार करो कि वो समझ जाँय। बड़े से बड़े आप समझो कि जो नाहरि-उसका पेट विदारण कर दिया, अपने बच्चे का—सुकोशल मुनि का। वो नाहरि ने जब विदारण कर दिया तब मुनि उनके पिता यशोधर वहाँ आये वो देव केवलज्ञान निर्वाण की पूजा करने वगैरह को, उससे कहते हैं कि जिस पुत्र के वियोग से यह दशा भई आज उसीको विदार दिया तो उसी समय उसके परिणामों ने पलटा खाया, वह सिर धुनने लगी। अरे ! सिर धुनने से क्या होता है। महाराज अब तो पाप का प्रायश्चित क्या है ? इस पाप का प्रायश्चित यही है—कि सबका त्याग करो, तब इससे बढ़कर क्या कर सकती थी ? और जब नाहरि जैसी सुधर जाती है तो मनुष्य न सुधर जाय ? मगर यह बात हमारे मनमें हो जब तो। यह कल्पना नहीं होनी चाहिये कि ये हमारे विरोधी हैं। वह कषाय के उदय में बोलता है—बड़े-बड़े बोलते हैं—क्या बड़ी बात है। रामचन्द्रजी कषाय के उदय में ६ महीने मुर्दा को लिए फिरे, सीता का वियोग हुआ तो मुनि से पूछता है कोई उपाय है बताओ तो हमारा कल्याण कैसे होगा ? तद्भव मोक्षगामी, देशभूषण—कुलभूषण से सुन चुका और एक स्त्री के वियोग में इतना पागल हो गया। अरे तुम बता तो दो जरा, कबै हमारो भलौ हुइयै, तो उन्होंने जो उत्तर दिया जो देना था—सीता के वियोग का उत्तर नहीं दिया। यह उत्तर दिया कि जब तक लक्ष्मण से स्नेह है, तब तक तेरा कल्याण नहीं होगा। और जिस दिन लक्ष्मण से स्नेह छूटा, तेरा कल्याण हो गया, देख लो उसी दिन हुआ। मेरी समझ में तो आप लोग विद्वानजन हैं। ऐसी कोई चिट्ठी लिखो जिससे मिथ्या मान्यता छूट जाय। हम तो यही कहेंगे ...... अन्त तक यही कहेंगे। ....[1] हमारो मत इन्होंने इन्कार कर दिया। जो उनकी इच्छा है—उसमें हम क्या कर सकते हैं। उनके पण्डाल में नियम से ३ दिन गये ४ दिन गये उनका सुना, करा, सब कुछ किया, उन्होंने जो अभिप्राय लगाया हो और आप लोगों ने जो

---

१. नोट— यहां कोई 10-15 शब्द मात्र छूट गये हैं। दीमक के ग्रास बन जाने से नोट नहीं किया जा सका।

—सम्पादक

लगाया हो अभिप्राय। मगर हम जो गये हमारा भीतर का तात्पर्य यही था कि हे भगवान् ! ये मिल जांय यहाँ तो एक बड़ा भारी उपकार जैनधर्म का होय ! अरे ! शिखरजी से निर्मल क्षेत्र और कौन है कि जहाँ पर नहीं होने की थी बात। हम क्या करें बताओ ? बात ही नहीं होनी थी। हमारी वश की बात तो नहीं थी। अच्छा और भिड़ानेवाले उनके अन्दर ऐसे होते ही हैं—हर कहीं ही ऐसे होते हैं जैसे—मन्त्री तो शनि भये और राजा होय बृहस्पति। और मन्त्री ही तो शनि बैठे, राजा बृहस्पति होने से क्या तत्त्व होय। वो तो अच्छी ही कहे मगर तोड़ने मरोड़ने वालो तो वो बैठो है बीच में मन्त्री बैठा है, सो बताइये कि कैसे बने ? हम तो यह कहें कि सम्यक्त्व में जो आठ अंग बताये हैं जिसमें 'दर्शनाच्चरणाद्वापि'। दर्शन यानि श्रद्धा से च्युत हो जाय, कदाचित् चारित्र से च्युत हो जाय। दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः। फिर उसीमें स्थापित करना उसीका नाम स्थितिकरण है और वात्सल्य जो है।

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भाव सनाथाऽपतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते ॥

अपनी ओर से जो कोई हो, अपने में मिलावो तत्त्व तो यह है भैया। और यह सम्यक्दृष्टि बने हो तो आठ अंग नहीं पालोगे। आठ अंग तो तुम्हारे पेट में पड़े हैं। क्योंकि वृक्ष चले और शाखा नहीं चले सो बात नहीं हो सकती। अगर सम्यक्दृष्टि बने हो तो आठ अंग होना चाहिये। यहाँ जोर दिया समंतभद्र स्वामी ने—नाङ्गहीनमलंछेत्तुं ....।

जन्मसन्तति को अङ्ग हीन सम्यक्दर्शन छेदन नहीं कर सकता। यह सांगोपांग होना चाहिये। कोई योंही में टल जाय तो नीचे लिख दिया है कि एक-एक अंग के जो उदाहरण दिये वो तो हम लोगों को लिख दिये। और जो पक्के ज्ञानी हैं उनके तो आठ ही अंग होना चाहिये। इस वास्ते हम तो कहते हैं कि स्थितीकरण सबसे बढ़िया है और आप लोग सब जानते हैं, हम क्या कहें ?

एक बात हो जाती तो सब हो जाता। "निमित्त कारण को निमित्त मान लेते तो सब शांति हो जाय।"

—जै. सं. 11-7-57/....../रतनचन्द मुख्तार

सच्चे देव गुरु शास्त्र की भक्ति कदापि मिथ्यात्व नहीं हो सकती

शंका—आचार्यों ने धर्म के दो भेद बतलाये हैं (१) मुनि धर्म, (२) गृहस्थ धर्म, गृहस्थ धर्म में देवपूजा और मुनिदान की सबसे अधिक मुख्यता है। परन्तु कानजी भाई सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु की पूजा भक्ति और उनकी श्रद्धा करने को भी मिथ्यात्व बतलाते हैं और देवपूजा, मुनिदान तथा तीर्थयात्रा को संसार का कारण बतलाते हैं। यदि देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करना, श्रद्धा करना मिथ्यात्व है तो फिर भगवान जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ गृहस्थधर्म क्या रह जाता है ?

नोट—हिन्दी आत्मधर्म वर्ष ४ पृ० २७ पर इस प्रकार लिखा है—'यद्यपि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष से ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है, किन्तु वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। देव गुरु-शास्त्र परद्रव्य हैं, उनके लक्ष से कषाय के मन्द करने पर ज्ञान का जो क्षयोपशम होता है वह ज्ञान आत्मा के सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं होता। जब उस पर के लक्ष को छोड़कर ज्ञान को स्वाभिमुख किया जाता है, तब ही सम्यग्ज्ञान होता है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान स्वाभिमुखता पूर्वक होता है, और उसके पश्चात् भी स्वाभिमुखता के द्वारा सम्यग्ज्ञान का विशेष विकास होता है। परोन्मुखता के द्वारा सम्यग्ज्ञान का विकास नहीं होता। "भगवान की भक्ति में कषाय की मंदता का भाव वह

शुभभाव है उसमें धर्म नहीं है किन्तु पुण्य है।" (२२ मार्च १९५६ के जैनगजट में प्रकाशित कानजी भाई का उपदेश)।

समाधान—धर्म दो प्रकार है—एक मुनिधर्म, दूसरा श्रावकधर्म। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य ने श्री रयणसार के प्रथम श्लोक में कहा है—'श्री परमात्मा वर्धमान जिनेन्द्रदेव को मनवचनकाय की शुद्धि से नमस्कार कर गृहस्थ और मुनि के धर्म का व्याख्यान करनेवाला रयणसार नामक ग्रन्थ कहता हूँ।' इस ही रयणसार ग्रन्थ के श्लोक ११ में कहा है—'दान व पूजा श्रावक धर्म में मुख्य है। दान पूजा के बिना श्रावक नहीं होता।' इस आगम प्रमाण से सिद्ध है कि जो दान व पूजा नहीं करता वह श्रावक ही नहीं है। जिनेन्द्रदेव की भक्ति को मात्र बंध का कारण मानना दि० जैन आगम अनुसार नहीं है। जिनेन्द्रदेव की पूजा और भक्ति से बंध की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। जैसा कि श्री कषायपाहुड जयधवल महान् सिद्धान्त ग्रंथ पुस्तक १, पृ० ९ में कहा भी है—

'अरहंतणमोक्कारो संपहिय बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो।'

अर्थ—अरहंत का नमस्कार तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा का कारण है इसलिये उसमें मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इसी के समर्थन में श्री कुन्दकुन्द आचार्य की गाथा है जिसका अर्थ इस प्रकार है—'जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। (मूलाचार ७१५)। असंख्यातगुणी निर्जरा मोक्षमार्ग है, संसार मार्ग नहीं है। अतः जिनपूजा व मुनि-दान आदि मोक्षमार्ग में सहायक हैं। श्री पद्मनन्दिपंचविंशतिका के श्रावकाचार के श्लोक १४ में कहा है—'जो जीव जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं, पूजा स्तुति करते हैं वे भव्य जीव तीनों लोक में दर्शनीय तथा पूजा व स्तुति के योग्य होते हैं।

सच्चे-देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा मिथ्यादर्शन कदापि नहीं हो सकती। सच्चे देव गुरु शास्त्र की श्रद्धा को जैन आगम में सम्यग्दर्शन कहा है—'आप्त, आगम और तत्त्व इन तीनों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है।' (नियमसार गाथा ५)। श्री षट्खंडागम धवल सिद्धान्त ग्रन्थ में भी कहा है—

'आप्तागमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु, श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः।'

अर्थ—आप्त, आगम और पदार्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं। और उनके विषय में श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहाँ पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। तथा आप्त, आगम और पदार्थ का श्रद्धान लक्षण है। (षट्खंडागम पुस्तक १, पृष्ठ १५१)।

उपर्युक्त आगमप्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि सच्चे-देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा अर्थात् अनुरक्ति सम्यग्दर्शन है। ऐसे देव, शास्त्र, गुरु की पूजा, भक्ति व मुनिदान मिथ्यात्व कैसे हो सकता है? प्रत्युत जो मनुष्य सुपात्र में दान नहीं देता और अष्टमूलगुण, व्रत, संयम, पूजा आदि अपने धर्म का पालन नहीं करता वह बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) है। रयणसार गाथा १२।

—जै. सं. 16-10-58/VI/ इन्दरचंद छाबड़ा, लश्कर

(१) सकल प्रमत्त जीव प्रभु-भक्ति से अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं
(२) लौकिकवैभवासक्त सकल जीव प्रभु भक्ति में जलन (दुःख) का अनुभव करते हैं

शंका—क्या छठे गुणस्थान तक के सम्यग्ज्ञानी जन प्रभु भक्ति में भट्टी से भयंकर दुःख की जलन का अनुभव करते हैं? प्रभु-भक्ति के विकल्प-काल में क्या सुख का अनुभव नहीं करते?

समाधान—श्री शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में और श्री श्रुतसागरजी आचार्य ने भावपाहुड की टीका में भक्ति का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

'अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।'

अर्थात्—अर्हंत आदि के गुणों में अनुराग भक्ति है। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, निर्ग्रंथ गुरु के मुख्यगुण वीतरागता तथा रत्नत्रय हैं। जिनको वीतरागता इष्ट है, वे ही अर्हंत और निर्ग्रंथ गुरु की भक्ति करते हैं। जिनको सरागता इष्ट है वे सग्रन्थ गुरु की भक्ति करते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भक्ति का फल निम्नप्रकार कहा है—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ६ ॥
सिद्धाण णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ९ ॥
आइरियणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ १२ ॥
उवज्झायणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥ १४ ॥
साहूण णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥ १६ ॥
एवं गुणजुत्ताणं पंचगुरूणं विसुद्धकरणेहिं।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदि सिग्घं ॥१७॥
भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥ १८ ॥
जम्हा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य।
तम्हा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा ॥१९॥
तम्हा सव्वपयत्तो विणएत्तं मा कदाइ छंडेज्जो।
अप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण ॥१०८॥

इस प्रकार इन गाथाओं द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नमस्कार, भक्ति और विनय का फल अष्टकर्मों का नाश तथा मोक्ष प्राप्ति बतलाया है इसीलिये साधु के २८ मूल गुणों में स्तवन व वन्दना ये दो मूलगुण बतलाये गये हैं तथा पूजा श्रावक का मुख्य धर्म बतलाया गया है। पूजा के बिना मनुष्य श्रावक नहीं हो सकता। श्री कुन्द-कुन्द आचार्य ने कहा भी है—

"दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मेण सावया तेण विणा"
"पूया फलेण तिलोके सुरपुज्जो हवई सुद्धमणो"

सुपात्र में चार प्रकार का दान देना और देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है। दान पूजा के बिना श्रावक नहीं हो सकता। जो श्रावक शुद्ध मन से पूजा करता है वह पूजा के फल से त्रिलोक का अधीश व देवताओं के इन्द्र से पूज्य हो जाता है। श्री सकलकीर्ति आचार्य कहते हैं—

अर्हत्सुश्रीतदोषेष्वाचार्योपाध्यायसाधुषु ।
धर्मे रत्नत्रयेऽनर्घ्ये जिनवाक्ये च धर्मिषु ॥ २१८ ॥
यतो जायतेरागः स्वभावेनयो गुणोद्भवः ।
सप्रशस्तो मतः सद्भिर्दृग्ज्ञानादि-धर्मकृत् ॥ २१९ ॥
मत्वेति श्रीजिनादीनां भक्तिरागादयोखिलाः ।
विश्वार्थसाधकाऽनिशं कर्तव्या भक्तिकैः पराः ॥ २२० ॥

(मू. प्र. तीसरा अधिकार)

यतोर्हद्गुणराशीनां स्तवनेन बुधोत्तमैः ।
लभ्यन्ते तत्समा सर्वेगुणाः स्व–र्मोक्षदायिनः ॥ २२४ ॥
कीर्तनेनाखिला कीर्तिस्त्रैलोक्ये च भ्रमेत्सताम् ।
इन्द्रचक्रिजिनादीनां कीर्तनीयं पदं भवेत् ॥ २२५ ॥
सम्पद्यतेऽर्हतां भक्त्या सौभाग्यभोगसम्पदः ।
पूजया त्रिजगल्लोके श्रेष्ठपूज्यपदानि च ॥ २२६ ॥
ज्ञात्वेति यतयो नित्यं तद्गुणाय जिनेशिनाम् ।
प्रयत्नेनप्रकुर्वन्त्वनुरागभक्तिः स्तवादिकान् ॥ २२९ ॥
जिनवरगुणहेतुं दोषदुर्ध्यानदक्षं सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलम् ।
परविमलगुणौघैस्तद्गुणग्रामसिद्धयै कुरुत बुधजनानित्यस्तवं तीर्थभाजाम् ॥२३०॥
विश्वेषां तीर्थकर्तृणां निर्दिश्येमं स्तवं ततः ।
हिताय स्वान्ययोर्वक्ष्ये वंदनां मुक्तिमातृकाम् ॥ २३१ ॥ (मू. प्र. अधिकार ३)

वीतराग भगवान अरहंतदेव में आचार्य, उपाध्याय, साधुओं में, सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रयरूप धर्म में और जिन-वचनों में, उन गुणों के कारण, उत्पन्न हुआ जो स्वाभाविक अनुराग, वह प्रशस्त अनुराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप धर्म को उत्पन्न करने वाला है। यही समझकर भक्त पुरुषों को समस्त अर्थों को सिद्ध करने वाली भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति और गुणों में उत्कृष्ट अनुराग सदा करते रहना चाहिये। भगवान अरहंतदेव के गुणों के समूह की स्तुति करने से उत्तम बुद्धिमान पुरुषों को उनके समान ही स्वर्ग मोक्ष को देने वाले समस्त गुण प्राप्त हो जाते हैं। भगवान जिनेन्द्रदेव के गुण कीर्तन करने से सज्जनों की समस्त शुभकीर्ति तीनों लोकों में भर जाती है तथा इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर के प्रशंसनीय पद प्राप्त हो जाते हैं। भगवान अरहंतदेव की पूजा करने से तीनों लोकों में श्रेष्ठ और पूज्यपद प्राप्त होते हैं। यही समझकर मुनियों को भगवान अरहंतदेव के गुण प्राप्त करने के लिये बड़े प्रयत्न के साथ भगवान अरहन्तदेव के गुणों में अनुराग, भक्ति और स्तुति आदि करनी चाहिए। भगवान तीर्थंकरदेव का स्तवन उनके गुणों की प्राप्ति का कारण है। समस्त दोष और अशुभ ध्यानों को नाश करने वाला है, समस्त गुणों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूलकारण है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को तीर्थंकरों के समस्त श्रेष्ठ गुणों को सिद्ध करने के लिये उनके निर्मलगुणों का वर्णन कर उनकी स्तुति सदा करते रहना चाहिए। इस प्रकार समस्त तीर्थंकरों की स्तुति का स्वरूप कहा अब आगे अपना और दूसरों का कल्याण करने के लिए मोक्ष की जननी ऐसी वंदना का स्वरूप कथन किया जायगा।

कालत्रयेऽपि य पूजां करोति जिननायके ।
तीर्थनाथस्य मूर्ति स भुक्त्वा मुक्त्यङ्गनां व्रजेत् ॥१५५॥

स्वर्गश्रीगृहसारसौख्यजनिकां स्वभ्रालयेऽर्गलां।
पापारिक्षयकारिकां सुविमलां मुक्त्यङ्गनादूतिकाम् ॥
श्री तीर्थेश्वर सौख्यदान कुशलां श्रीधर्मसंपादिकां।
भ्रातस्त्वंकुरु वीतरागचरणे पूजां गुणोत्पादिकाम् ।१५७। (सुभाषितावली)

इन श्लोकों में भी श्री सकलकीर्ति आचार्य ने कहा है—जो जिनेन्द्र भगवान की तीनों कालों में पूजा करता है वह तीर्थंकर की विभूति का उपयोग कर मुक्ति को प्राप्त करता है। जिनपूजा स्वर्ग सुखों को उत्पन्न करने वाली है, नरक रूप घर की अर्गला है, पापों का नाश करने वाली है, मुक्ति की दूती है, तीर्थंकर के सुख देने वाली है, श्री धर्म को उत्पन्न करने वाली है, इसलिये हे भाई ! तू निरन्तर जिनेन्द्र भगवान की पूजा कर।

श्री वीरसेन आचार्य ने भी कहा है—"जिणपूजावंदणणमंसणेहि य बहुकम्मपदेसणिज्जरुवलंभादो।" जिन-पूजा, वंदना और नमस्कार से भी बहुत कर्मों की निर्जरा होती है। "जिणबिंबदंसणेण णिधत्त–णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।" अर्थात् जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, इसलिये जिनबिम्ब दर्शन प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥१४॥ (पद्म. पंचवि. अ. ६)

जो भक्ति से जिन भगवान का दर्शन, पूजन और स्तुति करता है, वह तीनों लोक में स्वयं दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाता है अर्थात् स्वयं भी परमात्मा बन जाता है।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने और भी कहा है—

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, दिट्ठिहरा सेस मोहतिमिरेण।
तह णट्ठं जहदिट्ठं जहट्ठियं, तं मए तच्चं ॥१४।२॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वे, तं अप्पणो सुकयलाहं।
होइ सो जेणासरि सयुहणिही, अक्खओ मोक्खो ॥ ६ ॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, चम्ममएणच्छिणा वि तं पुण्णं।
जं जणइ पुरो केवलदंसण, णाणाइं णयणाइं ॥१४।१६॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, सुकयत्थो मुण्णिओ ण जेणप्पा।
सो बहुयबुडुबुडुणाइं भवसायरे काही ॥ १७ ॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, कल्लाणपरंपरा पुरो पुरिसे।
संचरइ अणाहूया वि, ससहरे किरणमालव्व ॥१४।२४॥ (प. पं.)

जिनवर के दर्शनों के फल का कथन करते हुए आचार्य कहते हैं—

हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर दर्शन में बाधा पहुँचाने वाला मोह (मिथ्यात्व) रूप अन्धकार इसप्रकार नष्ट हो जाता है जिससे यथावस्थित तत्त्व दिख जाता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। आपका दर्शन होने पर उस पुण्य का लाभ होता है जो अविनश्वर मोक्ष सुख का कारण है। हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है जो कि भविष्य में केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप नेत्रों को

उत्पन्न करता है। आपका दर्शन होने पर जो जीव अपने को अतिशय कृतार्थ नहीं मानता वह संसार में भ्रमण करता रहता है। हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर कल्याण की परम्परा बिना बुलाये पुरुष के आगे चलती है।

भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढ़ा पुण्यैः पुरोपार्जितैः।
संसारार्णवतारणे जिन ततः, सैवास्तु पोतो मम ।१।३०।

पूर्वोपार्जित महान् पुण्य से आपकी दृढ़ भक्ति का अवसर प्राप्त हुआ है, वह भक्ति ही संसार समुद्र से पार करने के लिये जहाज है। अर्थात् महान् पुण्य-उदय से जिन भक्ति मिलती है और वह जिन भक्ति ही संसार से पार कर मोक्ष प्राप्त करा देगी।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जिनेन्द्र भगवान परद्रव्य हैं, उनकी भक्ति से मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके उत्तर स्वरूप श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्यात्मा, भिन्ना भवति तादृशी ।।९७।। (स. श.)

यह आत्मा अपने भिन्न अर्हन्त सिद्ध रूप परमात्मा की उपासना (भक्ति) करके उन्हीं के समान परमात्मा बन जाता है, जैसे दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती भी दीपक की उपासना करके दीपक बन जाती है।

इन आर्ष वाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि जिनभक्ति बड़े सौभाग्य से प्राप्त होती है। जिनभक्ति करके सम्यग्दृष्टि अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। प्रभु-भक्ति के लिये सम्यग्दृष्टि उत्साहित रहता है। उसको आकुलता या दुःख नहीं होता है। लौकिक वैभव में जो आसक्त हैं, वे ही जिन भक्ति में दुःख की जलन का अनुभव करते हैं।

अव्रतीजनोचित क्रियाएँ

स्वाध्याय

शंका—अज्ञानरूपी अन्धकार में यदि गुरु रूपी दीपक न हों तो क्या स्वाध्याय मात्र से अज्ञान दूर हो जाएगा। जबकि हम शास्त्रों के शब्दों का अर्थ भी नहीं समझते हों ?

समाधान—विद्वानों द्वारा महान् ग्रन्थों का भी अनुवाद होकर सरल हिन्दी भाषा में उपलब्ध है। पं० सदासुखदासजी, पं० जयचन्दजी, पं० टोडरमलजी द्वारा विस्तार सहित अनेक ग्रन्थों की टीकायें लिखी गईं हैं जिनको साधारण जन भी सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। इन प्राचीन विद्वानों की टीकाओं का स्वाध्याय करने से अज्ञानरूपी अन्धकार दूर हो सकता है। स्वाध्याय के समय मन-वचन-काय एकाग्र रहते हैं। स्वाध्याय अन्तरंग तप है। स्वाध्याय के समय विषय-कषायरूप परिणति नहीं होती है। अतः स्वाध्याय के समय जो ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध भी होता है वह मंद अनुभाग को लिये हुए होता है। पहले बँधे हुए ज्ञानावरण कर्मों का तीव्र अनुभाग भी संक्रमण या अपकर्षण को प्राप्त होकर मन्द अनुभागरूप हो जाता है। स्वाध्याय के काल में प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इसप्रकार स्वाध्याय से अज्ञानरूपी अन्धकार दूर होता है। कहा भी है—अभिमत फलसिद्धे-

रभ्युपायः स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् । अर्थ—इष्टफल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। सो सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम (शास्त्र) से होता है और शास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है।

यद्यपि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और शास्त्र का गुण नहीं है फिर भी इस ज्ञान का अनन्त बहुभाग कर्मों द्वारा अनादि काल से घाता हुआ है। आत्मा अपने गुण का स्वयं घातक नहीं हो सकता है। यदि आत्मा स्वयं अपने गुण का घातक हो जावे तो सिद्धों में भी ज्ञान गुण का घात होना चाहिए, क्योंकि कारण के होते हुए कार्य अवश्य होना चाहिए, किन्तु सिद्धों में ज्ञान गुण का घात पाया नहीं जाता। यह सिद्ध है कि ज्ञानगुण का घात अर्थात् ज्ञानगुण में हीनता या ज्ञान का अटकना स्वयं आत्मा की योग्यता से नहीं हुआ किन्तु पर द्रव्य के निमित्त से हुआ है। वह परद्रव्य ज्ञानावरण कर्मोदय के अतिरिक्त अन्य हो नहीं सकता। कहा भी है—**णाणमवबोहो अवगमो परिच्छेदो इदि एयट्ठो। तमावारेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं।** अर्थात् ज्ञान, अवबोध, अवगम और परिच्छेद ये शब्द एकार्थवाचक नाम हैं। इस ज्ञान का जो आवरण करता है वह ज्ञानावरण कर्म है। इस ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम स्वाध्याय, शास्त्रदान, जिनपूजन आदि से होता है। ज्ञानावरण पापकर्म है और पूजन व दान आदि से पापकर्म का अनुभाग मन्द हो जाता है जिससे अज्ञानरूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह स्वानुभवगम्य है। पण्डित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ९ पर लिखा है—**अरिहंता विषै स्तवनादि रूप भाव हो है सो कषायनि की मन्दता लिये ही हैं तातैं विशुद्ध परिणाम हैं। बहुरि समस्त कषायभाव मिटावने को साधन है, तातैं शुद्ध परिणाम का कारण है सो ऐसे परिणाम करि अपना घातक घातिकर्म का हीनपना होने तैं सहज ही वीतराग विशेषज्ञान प्रकट होता है। जितने अंशनि करि वह हीन होय है तितने अंशनि करि वह प्रकट होय है। ऐसे अरिहंतादिकरि (देवगुरुशास्त्र) अपना प्रयोजन सिद्ध होता है।**

स्वाध्याय के समय शास्त्रविनय का विशेष ध्यान रखना चाहिए। शास्त्रसभा में बहुत से भाई अपने सामने शास्त्र खोलकर विराजमान कर लेते हैं। वक्ता का आसन इन शास्त्रों से ऊँचा रहने के कारण शास्त्र की अविनय होती है। शौचादि क्रिया के पश्चात् बिना स्नान किये श्रावक को शास्त्र का स्पर्श नहीं करना चाहिये, इससे भी शास्त्र-अविनय होती है। श्रावक को प्रतिदिन स्नान करके शास्त्र स्पर्श करना चाहिए। शास्त्रस्वाध्याय के समय दूधजलादि पान नहीं करना चाहिए—इससे भी अविनय होती है। पैर आदि के हाथ लगजाने पर हाथ धोने चाहिए।

सविनय स्वाध्याय करने से अज्ञानरूपी अन्धकार अवश्य दूर होगा।

—जै. सं. 10-10-57/VI/ भा. च. जैन, तारादेवी

शास्त्राध्ययन का क्रम क्या होना चाहिये ?

शंका—क्या केवल आध्यात्मिक ग्रन्थों से वस्तुस्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता ? यदि नहीं तो किस क्रम से शास्त्रस्वाध्याय करना चाहिए जिससे वस्तुस्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान हो सके ?

समाधान—आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुधा जीव द्रव्य का शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से कथन होता है और शुद्ध निश्चयनय द्रव्य की केवल शुद्ध अवस्था का कथन करता है। शुद्ध अवस्था वस्तु (द्रव्य) की शुद्ध पर्याय है। अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायों का समूह द्रव्य है। कहा भी है—**एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि। तीदाणागयभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं।** एक द्रव्य में जितनी अतीत अनागत वर्तमान (त्रिकाल)

सम्बन्धी अर्थपर्याय या व्यंजनपर्याय है उतना ही द्रव्य है। केवल आध्यात्मिक ग्रन्थों की स्वाध्याय करनेवाले अकसर जीव द्रव्य की शुद्ध अवस्थामात्र को ही जीव द्रव्य मान बैठते हैं। पर द्रव्य के निमित्त से जीव की अशुद्ध पर्याय होती है उसका ठीक-ठीक भान न होने से यह एकान्त श्रद्धान हो जाता है कि एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के परिणमन में अकिंचित्कर है और इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का लोप कर देने से द्रव्यसंयम से उनकी उपेक्षाबुद्धि हो जाती है और बिना द्रव्यसंयम के भावसंयम नहीं हो सकता। कहा भी है — न तासां भाव-संयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। उनके भावसंयम नहीं है, क्योंकि उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता। द्रव्यसंयम में केवल उपेक्षाबुद्धि ही नहीं हो जाती, किन्तु वह यह मानने लगता है कि जब द्रव्य के निमित्त से मेरी हानि या लाभ नहीं होता तो मैं त्याग क्यों करूँ और यदि त्याग करता हूँ तो परद्रव्य से हानि मानने से मिथ्यादृष्टि हो जाऊँगा। इस एकान्त श्रद्धा का यह दुष्परिणाम हुआ कि जिनके रात्रि जल त्याग था वे रात्रि में जल पीने लगे और कहते हैं कि परद्रव्य (रात्रि जल ग्रहण) से व्रत भंग नहीं होता। एक सज्जन ने सप्तम श्रावक के व्रत अंगीकार किये, क्षुल्लक व्रत के अभ्यास के लिए केवल एक लंगोट और एक चादर रखते थे, किन्तु आत्मधर्म मासिक पत्र को पढ़ना प्रारम्भ कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने फिर वस्त्र ग्रहण कर लिये, रात्रि में भोजन करने लगे, ढाबा अर्थात् होटल का बना भोजन खाने लगे। यहाँ तक ही नहीं, जिनके बहुत दिनों से हर प्रकार की सवारी का त्याग था वे भी अब निश्शङ्क रेल मोटर आदि की सवारी करने लगे। रेल या मोटर की सवारी मे जो पहले पाप था क्या अब वह पाप नहीं रहा ? आजकल बहुधा, मात्र अध्यात्मग्रन्थो का स्वाध्याय करने वाले, अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप न समझ कर एकान्त मिथ्यात्व का प्रचार कर रहे हैं जिसके कारण अनेक भोले दिगम्बर जैन भाई भी सत्यमार्ग से च्युत होकर एकान्त मिथ्यामार्ग में लग गये हैं।

श्रीमान् जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ने श्री समयसार टीका की भूमिका में इस प्रकार लिखा है "यह समयसार ग्रंथ बहुत उच्चतम कोटि का एक अतिगहन और सूक्ष्म मोक्षमार्ग पथ है। इस पर वही चल सकता है जो पहले और बहुत से उन ग्रन्थों का मनन कर चुका है जिनमें इन सात तत्त्वों का विस्तार से व्याख्यान है। इसलिए उचित है कि मुमुक्षु जीव द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड आदि का अवश्य अभ्यास करे। तो भी प्राचीनकाल के अनेक रोगी किस तरह (कर्म) रोग रहित हुए और भावों का क्या-क्या फल होता है। इनके दृष्टान्तों को जानने के लिए श्री ऋषभदेव आदि त्रेसठ महापुरुष व अन्य महापुरुषों के चरित्र को कहने वाले प्रथमानुयोग का अभ्यास करे। जिस लोक में यह सब चरित्र हुए उसका विशेष स्वरूप जानने के लिये त्रिलोकसार आदि करणानुयोग का अभ्यास करे। गृहस्थ और साधुओं को कैसे बाह्य आचरण करना, आहार-विहार व व्यवहार करना, इनका विशेष जानने को रत्नकरण्ड श्रावकाचार पुरुषार्थसिद्धयुपाय, चारित्रसार, मूलाचार आदि चरणानुयोग का अभ्यास करे। फिर पीछे सूक्ष्म आत्मतत्त्व की ओर लक्ष्य जमाने के लिए परमात्मप्रकाश, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय का अभ्यास करे तथा जैन न्याय का स्वरूप परीक्षामुख आदि ग्रन्थो से जाने। फिर जो कोई इस समयसार ग्रन्थ का अभ्यास करेगा वह इसके सूक्ष्म और आनन्दमय पथ पर स्थिर रह कर अपना हित कर सकेगा।"

इसी बात का समर्थन कविवर पण्डित बनारसीदासजी की जीवनी 'अर्धकथानक' से भी होता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय का निषेध नहीं है, किन्तु इतनी योग्यता होने पर ही उनका स्वाध्याय करना उचित है। पहले प्रथमानुयोग, फिर चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग, न्यायशास्त्र और अन्त में आध्यात्मिक ग्रन्थ-इस क्रम से स्वाध्याय करने से विशेष लाभ होगा। वस्तुस्वरूप में भूल नहीं होगी।

—जै. सं. 15-11-56/VI/ दे. च.

देवपूजा, पात्रदान व स्वाध्याय से पूर्व स्नान आवश्यक है

शंका—गृहस्थ को देवपूजन, स्वाध्याय व पात्रदान से पूर्व स्नान करना आवश्यक है या नहीं। यदि बीमारी के कारण गृहस्थ स्नान न करे तो क्या वह पूजन आदि नहीं कर सकता है ?

समाधान—रात्रि को निद्रा लेने के कारण और सुबह को शौचादि क्रिया के कारण गृहस्थ का शरीर अपवित्र रहता है। गृहस्थ के पाँच पापों का सर्वथा त्याग भी नहीं है जिसके कारण उसका मन भी पवित्र नहीं रहता है इसलिए गृहस्थ को स्नान करके ही शरीर और मन की शुद्धिपूर्वक स्वयं पूजन करनी चाहिए। इस विषय में भी भावसंग्रह ग्रंथ में इस प्रकार कहा है—

फासुय जलेण ण्हाइय णिवसिय वत्थाइं गंपि तं ठाणं ।
इरियावहं च सोहिय, उवविसियं पडिम आसेण ॥४२६॥

अर्थ—पूजा करने वाले गृहस्थ को सबसे पहले प्रासुक जल से स्नान करना चाहिए, फिर शुद्ध वस्त्र पहन कर पूजा करने के स्थान पर जाना चाहिए तथा जाते समय ईर्यापथ शुद्धि से जाना चाहिए वहाँ जाकर पद्मासन से बैठना चाहिए।

देव, शास्त्र व गुरु महान् पवित्र हैं अतः देवपूजा, शास्त्रस्वाध्याय तथा पात्रदान के लिये मन, वचन व काय की शुद्धता की आवश्यकता है। काय की शुद्धता के लिये स्नान व शुद्ध वस्त्र होने चाहिये।

यदि बीमारी के कारण गृहस्थ स्नान नहीं कर सकता तो उसको स्वयं पूजन न करके दूसरों के द्वारा पूजन कराना चाहिए और पूजन की अनुमोदना करनी चाहिए। स्वयं शास्त्र स्वाध्याय न करके दूसरों से शास्त्र सुनना चाहिये। स्वयं पात्रदान न देकर दूसरों के द्वारा दिये गये पात्रदान की अनुमोदना करनी चाहिये। बिना स्नान किये गृहस्थ के पूजन आदि करने से शास्त्राज्ञा का उल्लंघन होता है। गृहस्थ के आरम्भ आदि का त्याग न होने से स्नान का भी त्याग नहीं है। अतः गृहस्थ को प्रतिदिन प्रातः स्नान करना चाहिए और स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर प्रतिदिन पूजन करनी चाहिए। पूजन करते समय देव के गुणों का स्मरण होता है जिससे कर्मों का संवर व निर्जरा होती है। जिनपूजा का फल मोक्षसुख है। कहा भी है—

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः, स्तोता भव्यप्रसन्नधीः ।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः, फलं नैश्रेयसं सुखम् ॥ श्रीजिनसहस्रनामस्तोत्रम्

अर्थात्—महान् पुरुषों के गुणों का स्मरण करना स्तुति है। भक्तिभाव से भरा हुआ भव्य पुरुष स्तोता है। जिन पवित्र स्तोत्रों के द्वारा प्रभु की स्तुति की जाती है, वे प्रभु अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु हैं। स्तुति का फल निःश्रेयस् (मोक्ष) सुख है।

—जै. सं. 17-10-57/ /ज्यो. प्र मुटसिमे वाले

गृहस्थों को अंग-पूर्व पढ़ने का अधिकार नहीं है

शंका—क्या गृहस्थी अंगज्ञानी हो सकता है ?

समाधान—धवल पु० ९ पृ० ७० पर लिखा है कि एक अंगधारी को भी इसी सूत्र द्वारा नमस्कार किया गया है। तो क्या वहाँ गृहस्थ को नमस्कार किया गया है ? नहीं। वसुनन्दिश्रावकाचार में गृहस्थ को सिद्धान्त-

ग्रन्थों [जो कि गणधर या श्रुतकेवली द्वारा रचित हों] के पढ़ने का निषेध किया है। फिर गृहस्थ को गणधर-रचित अंग का ज्ञान कैसे हो सकता है। [अर्थात् नहीं हो सकता]

—पत्राचार 9-10 80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

समाचार पत्र [News Paper] कुशास्त्र हैं या अशास्त्र ?

शंका—रत्नकरण्ड श्रावकाचार पृ० ५९ श्लोक ३० की टीका के सन्दर्भ में समाचार पत्रों का वह अंश जिसमें मात्र समाचार हैं वह कुशास्त्र में आयेगा या उसे अशास्त्र कह सकते हैं ?

समाधान—समाचार पत्रों का समाचार अंश हिंसा आदि का पोषक नहीं है अर्थात् हिंसा आदि तथा विषय कषाय आरम्भ में धर्म नहीं बतलाता है अतः वह कुशास्त्र तो कहा नहीं जा सकता है। वह अंश विकथा है तथा उसका पढ़ना व सुनना अनर्थदण्ड है। यदि उससे पारमार्थिक या लौकिक कार्य की सिद्धि होती है तो अनर्थदण्ड नहीं है। मुनि को लौकिक समाचार पत्र नहीं पढ़ने चाहिए।

—जै. ग. 25-3-71/VII/ र. ला. जैन

स्वाध्याय के अयोग्यकाल

शंका—पठन-पाठन में अकाल समय कौनसा माना गया है।

समाधान—बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय श्रेष्ठ है। इसलिए पठन-पाठन के अकाल समय का अवश्य ज्ञान होना चाहिए।

तपसि द्वादशसंख्ये स्वाध्यायः श्रेष्ठ उच्यते सद्भिः।
अस्वाध्यायदिनानि ज्ञेयानि ततोऽत्र विद्वद्भिः ॥१०५॥

अर्थ—साधु पुरुषों ने बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय को श्रेष्ठ कहा है। इसलिए विद्वानों को स्वाध्याय न करने के दिनों को जानना चाहिये।

पर्वसु नन्दीश्वर-वरमहिमा दिवसेषु चोपरागेषु।
सूर्याचन्द्रमसोरपि नाध्येयं जानता व्रतिना ॥
अतितीव्रदुःखितानां रुदतां संदर्शने समीपे च।
स्तनयित्नुविद्युदभ्रेष्वतिवृष्टयाउल्कनिर्घाते ॥

अर्थ—पर्वदिनों में, नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिमा दिवसों अर्थात् अष्टाह्निका दिनों में और सूर्यचन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिये।

अतिशय तीव्र दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिये।

विशेष के लिये धवल पु० ९ पृ० २५७-२५८ देखना चाहिये।

—जै. ग. 1-7-65/VII/ ....

किस काल में कौनसे ग्रन्थ नहीं पढ़ने चाहिए ?

शंका—श्री धवल ग्रंथराज खण्ड ४ पुस्तक ९ पृ० २५५ व २५७ पर गाथा ९३ व १०६–१०९ तक यह लिखा है कि दावानल का धुंआ होने पर तथा पर्वादि के दिनों में अध्ययन नहीं करना चाहिये। यदि अध्ययन किया जायगा तो अनिष्ट फल होगा। प्रश्न यह है कि वे कौन से शास्त्र हैं जिनका अध्ययन नहीं करना चाहिये ?

समाधान—मूलाचार पंचाचाराधिकार में भी काल–शुद्धि का कथन करते हुए यही बतलाया गया है कि चन्द्रग्रहण आदि के समय स्वाध्याय वर्जित है। वहाँ पर बतलाया है–निम्न ग्रन्थों की स्वाध्याय काल–शुद्धि के समय करनी चाहिए, अस्वाध्याय–काल में नहीं करनी चाहिए। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आराधनासार आदि अन्य ग्रन्थों की स्वाध्याय अकाल में भी की जा सकती है। इसी प्रकार का कथन मूलाचार प्रदीप छठा अधिकार श्लोक ३२–३७ में भी है।

सुत्तं गणधरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्ण दसपुव्वकथिदं च ॥ ८० ॥
ते पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ॥ ८१ ॥
आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ ॥ ८२ ॥ (मूलाचार)

अंगपूर्वाणि वस्तुनि प्राभृतादीनि यानि च।
भाषितानि गणाधीशैः प्रत्येक बुद्धियोगिभिः ॥ ६।३२ ॥
श्रुतकेवलिभिः विद्भिः दशपूर्वधरैर्भुवि।
अप्रस्खलितसंवेगैस्तानि सर्वाणि योगिनाम् ॥ ३३ ॥
उक्तस्वाध्यायवेलायां युज्यन्ते चार्यिकात्मनाम्।
पठितुं चोपदेष्टुं च न स्वाध्यायं विना क्वचित् ॥ ३४ ॥
चतुराराधनाग्रंथा मृत्युसाधन सूचकाः।
पंचसंग्रहग्रंथाश्च प्रत्याख्यानस्त वोद्भवाः ॥ ३५ ॥
षडावश्यकसंद्भव्या महाधर्मकथान्विताः।
शलाकापुरुषाणांचानुप्रेक्षादि गुणै भृताः ॥ ३६ ॥
इत्याद्या ये परे ग्रंथाश्चरित्राद्य एव ते।
सर्वदापठितुं योग्याः सत्स्वाध्यायं विनासताम् ॥ ३७ ॥ मूलाचार प्रदीप

इन गाथा व श्लोकों में बतलाया गया है कि–अंग, पूर्व वस्तु तथा प्राभृत जो गणधरों के कहे हुए हैं तथा प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी के द्वारा कहे हुए हैं उन ग्रन्थों को स्वाध्याय के काल में ही पढ़ने चाहिए, अस्वाध्याय काल में नहीं पढ़ने चाहिए। आराधना ग्रन्थ, मृत्यु के साधनों को सूचित करने वाले ग्रंथ, पंचसंग्रह, प्रत्याख्यान तथा स्तुति के ग्रन्थ छह आवश्यक को कहने वाले ग्रन्थ, महाधर्म कथा ग्रन्थ, शलाका पुरुषों के चरित्र ग्रन्थ आदि जितने अन्य ग्रन्थ हैं उनको स्वाध्याय के अतिरिक्त अन्य काल में भी पढ़ सकते हैं।

—पै. ग. 6-6-68/VI/ बसन्तकुमार जैन

सम्यक्त्वी की क्रियाएँ

शंका—सम्यग्दृष्टि जितनी भी क्रिया करता है क्या अबुद्धिपूर्वक ही करता है ?

समाधान—समयसार गा० १७२, कलश ११६ की टीका के भावार्थ में पं० जयचन्द्रजी ने इसप्रकार लिखा है—"बुद्धिपूर्वक अबुद्धिपूर्वक की दो सूचनायें हैं। एक तो यह कि आप तो करना नहीं चाहता और परनिमित्त से जबरदस्ती से हो, उसको आप जानता है तो भी उसको बुद्धिपूर्वक कहना और दूसरा वह कि अपने ज्ञानगोचर ही नहीं, प्रत्यक्षज्ञानी जिसे जानते हैं तथा उसका अविनाभावी चिह्न कर अनुमान से जानिये उसे अबुद्धिपूर्वक जानना।"

रागद्वेषादि रूप कार्य सम्यग्दृष्टि करना नहीं चाहता किन्तु कर्मोदय के अनुसार उसको करना पड़ता है। जिसप्रकार रोगी औषधि सेवन करना नहीं चाहता किन्तु रोग की वेदना के कारण वह औषधि को जानबूझ अपनी इच्छा के बिना सेवन करता है किन्तु सेवन करते हुए भी यह परिणाम रहते हैं कि मैं किस दिन रोग से मुक्त होऊँ और औषधि से मुझको छुटकारा मिले। यद्यपि औषधि स्वादिष्ट क्यों न हो फिर भी रोगी की उक्त भावना रहती है; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की यह भावना रहती है कि कर्मों से कब मुक्त होऊँ जिससे इन क्रियाओं से छुटकारा मिले। इस भावना की दृष्टि से सम्यग्दृष्टि की क्रिया को अबुद्धिपूर्वक कह देते हैं किन्तु निचली अवस्था में सम्यग्दृष्टि जानबूझकर अपनी इच्छापूर्वक कार्य करता है अतः निचली अवस्था में सम्यग्दृष्टि की क्रिया बुद्धिपूर्वक होती है, ऐसा कहा भी है—**बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालंब्य प्रवर्तन्ते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवन्ति। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवागोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।** जो रागादि परिणाम मन के द्वारा बाह्यविषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं और जो प्रवर्तते हुए जीव को निज को ज्ञात होते हैं तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात होते हैं वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय, मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते वे अबुद्धिपूर्वक हैं। इन अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्षज्ञानी जानता है, और उनके अविनाभावी चिह्नों के द्वारा वे अनुमान से भी ज्ञात होते हैं। इसप्रकार अपेक्षाकृत भेद होने से सम्यग्दृष्टि की क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक भी होती हैं और अबुद्धिपूर्वक भी।

—जै. ग. 27-12-56/VI/क. दे. गया

सम्यक्त्वी की शुभ क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक होती हैं

शंका—सम्यग्दृष्टि के लिये व्रत, समितिआदिरूप चारित्र उपादेय बतलाया है। सम्यग्दृष्टि के व्रत-समिति आदिरूप जो क्रिया होती है वह बुद्धि पूर्वक होती है या बिना बुद्धि के ?

समाधान—जिस समय तक साधु निर्विकल्पसमाधि में स्थित नहीं होता है उस समय तक उस सम्यग्दृष्टि साधु के आहार-विहार आदि के लिये जो भी क्रिया होती है वह बुद्धिपूर्वक होती है। कहा भी है—

"बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालंब्य प्रवर्तन्ते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवंति। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवल मोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवागोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।"

जो परिणमन मन के द्वारा बाह्य विषय का आलंबन लेकर होता है और अपने अनुभव में आता है तथा दूसरे भी अनुमान द्वारा जानते हैं वह परिणमन बुद्धिपूर्वक होता है। जो परिणमन इन्द्रिय व मन के व्यापार के बिना मात्र मोहनीय-कर्मोदय के निमित्त से होता है और अपने अनुभव में भी नहीं आता वह अबुद्धिपूर्वक है।

वीतरागनिर्विकल्पसमाधि से पूर्व जो आहार-विहार धर्मोपदेश आदि क्रिया होती हैं वे मनोव्यापार द्वारा होती हैं तथा स्व और पर दोनों के ज्ञान-गोचर होती हैं अतः बुद्धिपूर्वक हैं। निर्विकल्पसमाधि में जो योगरूप क्रिया होती है वह कर्मोदय जनित होती है तथा स्व व पर के ज्ञानगम्य नहीं होती अतः अबुद्धिपूर्वक होती है।

वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में पापरूप प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् हिंसा आदि पापों से निवृत्ति है, अतः उस अवस्था में भी वह महाव्रती है।

—जै. ग. 22-1-70/VII/ कपूरचन्द मानचन्द

अव्रती और प्रतिक्रमण

शंका—क्या अव्रती को प्रतिक्रमण करना चाहिए ?

समाधान—व्रत में लगे हुए दोषों का पश्चाताप करना प्रतिक्रमण है तथा आगामी काल के लिए दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। जहाँ पर प्रतिक्रमण होता है वहाँ पर प्रत्याख्यान भी अवश्य होता है, क्योंकि पिछले दोषों का वास्तविक प्रतिक्रमण वहीं पर होता है जहाँ पर साथ-साथ यह दृढ़ त्याग होता है कि आगामी ऐसे दोष नहीं लगाऊँ। अव्रती के कोई व्रत ही नहीं होते जिसमें दोष लगे और जिनका वह प्रतिक्रमण करे और न आगामी वह व्रत धारण करके पूर्वकृत दोषों को त्यागने के लिए कटिबद्ध है फिर अव्रती के प्रतिक्रमण कैसे सम्भव है ? **प्रथम प्रतिमा से व्रत प्रारम्भ हो जाते हैं और वहीं पर प्रतिक्रमण प्रारम्भ हो जाता है।** आचार्यों ने भी प्रथम प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक श्रावकों के लिये और महाव्रतधारी मुनियों के लिए प्रतिक्रमण पाठ रचे हैं, किन्तु अव्रती के लिए किसी भी आचार्य ने प्रतिक्रमण पाठ नहीं रचा। कालदोष से कुछ ऐसे भी जीव उत्पन्न हो गए हैं जो त्यागी का भेष धारण करके आगमविरुद्ध पुस्तकें रचने लगे हैं और उनको प्रकाशित करके केवल अपने आप ही नहीं, किन्तु अन्य को भी कुगति का पात्र बनाते हैं।

—जै. सं. 20-12-56/VI/ क. दे. गया

अव्रती सम्यक्त्वी (मुनि) के कथंचित् यम-नियम

शंका—क्या असंयत सम्यग्दृष्टि के यम नियम होते हैं ? यदि होते हैं तो वह असंयत क्यों ?

समाधान—छठे सातवें गुणस्थानवर्ती संयत सम्यग्दृष्टि भावलिंगी मुनि के यदि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण चारित्र-मोहनीय प्रकृतियों का उदय आजाय तो वह छठे सातवें गुणस्थान से गिर कर चतुर्थ गुणस्थान में आजाता है और असंयत सम्यग्दष्टि हो जाता है। उस द्रव्यलिंगी मुनि के यम नियम तो पूर्ववत् रहते हैं, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण आदि कर्मों का उदय आजाने के कारण वह असंयत सम्यग्दष्टि हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण कर्म किंचिद् भी चारित्र नहीं होने देता है।

इस प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि के कथंचिद् यम-नियम होने में कोई बाधा नहीं है।

—जै. ग. 8-1-70/VII/र. ला. जैन

असंयत सम्यक्त्वी के पापों का अभाव नहीं है

शंका—क्या असंयत सम्यग्दृष्टि के पाप का अभाव नहीं होता है ?

समाधान—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप हैं। इन पांच पापों का त्याग अर्थात् इन पांच पापों से विरति चारित्र है। असंयतसम्यग्दृष्टि के इन पांच पापों से विरति नहीं है, क्योंकि वह अविरत है। अतः असंयत सम्यग्दृष्टि के पांच पापों का त्याग (अभाव) नहीं है।

> हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
> पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ ४९ ॥ (रत्न. श्राव.)

पाप स्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह से विरक्त होना (त्याग करना) सो सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है।

असंयतसम्यग्दृष्टि के एक देश या सकलदेश भी इन पांच पापों का त्याग नहीं है, यदि एकदेश त्याग होता तो वह संयमासंयमी हो जाता है। यदि सकलदेश त्याग हो तो सकल संयमी हो जाता है।

—जै. ग. 6-12-71/VII/सुलतानसिंह

बारह भावना सभी भा सकते हैं

शंका—बारह भावना जब तीर्थंकर वैराग्य प्राप्त करते हैं तभी भाई जाती है, क्या दूसरा नहीं भा सकता ?

समाधान—बारह भावनाओं का सम्यग्दृष्टि चितवन कर सकता है। संवर के अनेक कारणों में से बारह-भावना भी एक कारण है। कहा भी है—"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः। (मोक्षशास्त्र अ० ९, सूत्र २) किसी भी आगम में ऐसा कोई नियम नहीं दिया गया कि बारह भावनाओं का चितवन मात्र तीर्थंकर ही करते हैं, अन्य नहीं। प्रथमानुयोग में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्यों ने बारह भावना का चिंतवन किया है।

—जै. ग. 26-9-63/IX/ब्र. पन्नालाल

(अ) दर्शनहीन वन्दनीय नहीं (ब) द्रव्यलिंगमुनि का स्वरूप

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि को नमस्कार करता है ? द्रव्यलिंग मुनि का क्या स्वरूप है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि जीव नमस्कार करने योग्य नहीं है। दर्शनपाहुड़ में कहा भी है—

> "दंसण-हीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥"

अर्थात्—दर्शन हीन (मिथ्यादृष्टि) वन्दने योग्य नाहीं है।

> "जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण ।
> तेसिं पि णत्थि बोहि पावं अणुमोयमाणाणं ॥१३॥ [अ०पा०/द०पा०]

अर्थात्—जो जानते हुए भी लज्जा, भय, गारव करि मिथ्यादृष्टि की विनय आदि करे हैं तिनके भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं, क्योंकि वे पाप जो मिथ्यात्व ताको अनुमोदना करे हैं।

> "असंजदं ण वंदे वच्छविहीणोवि तो ण वंदिज्जो ।
> दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥"

असंयमी को नाहीं बंदिये, बहुरि भाव संयम नहीं होय अर बाह्य वस्त्र रहित होय सो भी बंदिवे योग्य नाहीं, जाते ये दोनों ही संयम रहित समान है। इन में एक भी संयमी नाहीं।

जिस मुनि की सब बाह्य क्रिया व भेष आचार शास्त्र के अनुकूल हों किन्तु भाव संयम न हो वह द्रव्यलिंग मुनि है।

—जै. ग. 2-5-63/IX/ श्रीमती मगनमाला

जिनवाणी–श्रवण के विषय को स्त्री विषय तुल्य कहना महामिथ्यात्व है

शंका—द्रव्यदृष्टि प्रकाश भाग ३ बोल नं० १०१ पृष्ठ २३ पर लिखा है—"भगवान की वाणी सुनने में अपना (सुनने के लक्ष में) नाश होता है। जैसा स्त्री का विषय है, वैसे यह भी विषय है। पर लक्षी सभी भावों का विषय भाव समान ही है, क्योंकि परमार्थ पर लक्ष होने में आत्मा का गुण का घात भी होता है।" क्या ऐसा उपदेश व लिखना आगमानुकूल है ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भगवान की वाणी के विषय में निम्न तीन विशेषण दिये हैं।

"तिहुअणहिव मधुर, विसदवक्काणं।"

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में कहा है—"त्रिभुवनमूर्ध्वाधोमध्यलोकवर्त्ती समस्त एव जीवलोकस्तस्मै निर्व्याबाध विशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भोपायाभिधायित्वाद्धितं, परमार्थरसिक जनमनोहारित्वान्मधुरं, निरस्तसमस्तशंकादि दोषास्पदत्वाद्विशदं वाक्यं दिव्यो ध्वनिः।"

जिनवाणी अर्थात् दिव्यध्वनि तीनलोक को ऊर्ध्व अधो-मध्यलोकवर्ती समस्त जीव समूह को निर्बाध विशुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहने वाली होने से हितकर है, परमार्थरसिक जनों के मन को हरनेवाली होने से मधुर है, समस्त शंकादि दोषों के स्थान दूर कर देने से विशद है।

श्री कुलभद्राचार्य ने स्त्री के निम्न तीन विशेषण दिये हैं—

संसारस्य च बीजानि, दुःखानां राशयः पराः।
पापस्य च निधानानि, निर्मिताः केन योषिताः॥ १२१॥

स्त्रियाँ संसार को उत्पन्न करने के लिए बीज के समान हैं, दुःखों की भरी हुई गंभीर खान के समान हैं, पापरूपी मैल के भंडार के समान है।

इन आर्षवाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान की वाणी सुनने का विषय और स्त्री का विषय दोनों समान नहीं हैं। इन दोनों विषयों में महान् अंतर है, जिनवाणी हितकर है, मोक्ष का कारण है। स्त्री अहितकर है और संसार का कारण है। इस प्रकार जिनवाणी सुनने के विषय से स्त्री का विषय विपरीत है वर्तमान में जिन-वाणी शास्त्रों में निबद्ध है। अतः शास्त्र के विषय में इस प्रकार कहा गया है—

यथोदकेन वस्त्रस्य, मलिनस्य विशोधनम्।
रागादि दोष–दुष्टस्य, शास्त्रेण मनसस्तथा॥७५॥

आगमे शाश्वती बुद्धिर्मुक्तिस्त्री शंफली यतः।
ततः सा यत्नतः कार्या, भव्येन भवभीरुणा॥७६॥

कान्तारे पतितो दुर्गे, गर्ताद्यपरिहारतः ।
यथान्धो नाश्नुते मार्गं, मिष्टस्थान प्रवेशकम् ॥७७॥
पतितो भव-कान्तारे, कुमार्गपरिहारतः ।
तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो, मार्गं मुक्ति प्रवेशकम् ॥७८॥
ना भक्तिर्यस्य तथास्ति, तस्य धर्म-क्रियाखिला ।
अन्ध लोक क्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥७९॥ [योगसार प्राभृत]

जिस प्रकार मलिन वस्त्र का जल से शोधन होता है, उसी प्रकार रागादि दोषों से दूषित मन का संशोधन जिनवाणी स्वरूप शास्त्र से होता है। चूंकि जिनवाणी रूप आगम में निरन्तर लगी हुई बुद्धि मुक्ति को प्राप्त कराती है, इसलिये संसार के दुःखों से भयभीत भव्य पुरुषों को आगम के अध्ययन श्रवण में मन को लगाना चाहिये। जिस प्रकार दुर्गम वन में पड़ा हुआ अन्धा मनुष्य खड्डे आदि से नहीं बच सकता और यथार्थ मार्ग को नहीं पाता है, उसी प्रकार भव वन में पड़ा हुआ यह जीव जिनवाणी के बिना कुमार्ग से नहीं बच सकता तथा यथार्थ मोक्ष–मार्ग को नहीं पाता। जिसकी जिनवाणी में भक्ति नहीं है उसकी समस्त धर्मक्रिया अन्धे व्यक्ति की क्रिया के समान होती है, अतः वह क्रिया दूषित होने के कारण यथार्थ फल को नहीं देती।

समुद्रघोषाकृतिरर्हति प्रभौ, यदात्वमुत्कर्षमुपागता भृशम् ।
अशेष भावात्मतया त्वया तदा, कृतं न केषां हृदि मातरद्भुतम् ॥१४॥
नृणां भवत्संनिधि संस्कृतं श्रवो, विहायनान्यद्धितमक्षयं च तत् ।
भवेद्विवेकार्थमिदं परं पुनर्विमूढतार्थविषयं स्वमर्पयत् ॥१७॥
अगोचरो वासरकृन्निशाकृतोर्जनस्य यच्चेतसि वर्तते तमः ।
विभिद्यते वागधिदेवते त्वया, त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रगीयसे ॥२०॥
परात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपूर्वकं, परंपदं यत्र सति प्रसिद्ध्यति ।
कियत्ततस्ते स्फुरतः प्रभावतो, नृपत्वसौभाग्यवराङ्गनादिकम् ॥२२॥

[पद्म. पं० विं० अधिकार १५]

जिनेन्द्र भगवान् की जो समुद्र के शब्द समान गम्भीर दिव्यध्वनि खिरती है यही वास्तव में जिनवाणी की सर्वोत्कृष्टता है। इसे ही गणधरदेव बारह अंगों में ग्रथित करते हैं। उसमें यह अतिशय है कि समुद्र शब्द के समान निरक्षरी होकर भी श्रोताजनों को अपनी-अपनी भाषास्वरूप प्रतीत होती है। जो मनुष्य अपने कानों से जिनवाणी का श्रवण करते हैं, उनके कान सफल हैं। जिनवाणी के श्रवण से भव्यों को अविनश्वर सुख की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य जिनवाणी को न सुनकर विषय भोग में प्रवृत्त होते हैं, वे असह्य दुखों को भोगते हैं। लोगों के चित्त में जो अज्ञानरूपी अंधकार स्थित है, उस अंधकार को सूर्य, चन्द्रमा नष्ट नहीं कर सकते, किंतु जिनवाणी उस अंधकार को नष्ट कर सकती है अतः जिनवाणी उत्तम ज्योति है। जिनवाणी के प्रभाव से स्व-पर का भेदज्ञान हो जाने से मोक्षपद की प्राप्ति हो जाती है। फिर जिनवाणी की उपासना से राजपद आदि मिलना तो सरल है।

इस प्रकार दि० जैन आचार्यों ने जिनवाणी के श्रवण विषय को मोक्ष का कारण कहा है। इसको स्त्री-विषय के समान कहना मिथ्यात्व की अति तीव्रता है।

—जै. ग. 10-7-75/VI/ र. ला. छाबड़ा, कुचामन सिटी

अव्रती को पिच्छिका रखना, लोंच करना, स्नान त्याग आदि क्रियाएँ आगमबाह्य हैं।

शंका—कानजी भाई अपने को अव्रती घोषित करते हुए भी पीछी रखते हैं, केशलोंच करते हैं, थाली में पैर धुलाते हैं, आहार लेते समय दक्षिणा के रूप में कुछ रुपये भी लेते हैं, क्या ये सब क्रियायें दिगम्बर जैन धर्म के अनुसार ठीक हैं ? जब कि दिगम्बर जैन धर्म में केशलोंच और पीछी का विधान क्षुल्लक, ऐलक और मुनियों के लिये ही बतलाया गया है। (नोट—'सोनगढ़ की संक्षिप्त जीवन झांकी' के पृष्ठ २ पर लिखा है कि स्वामीजी अर्थात् कानजी स्वामी के स्नान का त्याग है और केशोत्पाटन करते हैं। सागरविद्यालय के स्वर्ण जयन्ति संस्करण में जो कानजीस्वामी का फोटू १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ है, उसमें पीछी है)।

समाधान—श्री कानजी भाई असंयमी हैं। असंयमी के लिये पीछी रखना, केशलोंच करना, स्नान का त्याग करना इत्यादि सब क्रियायें दिगम्बर जैन आगम अनुसार नहीं हैं। आचार्यकल्प पंडितवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में कहा है—'बहुरि जिनके सांचा धर्म साधन नाहीं, ते कोई क्रिया तौ बहुत बड़ी अंगीकार करै अर कोई हीन क्रिया किया करें। जैसे धनादिक का तो त्याग किया अर चोखा भोजन चोखा वस्त्र इत्यादि विषयनि विषैं विशेष प्रवर्तै। कोई क्रिया अति ऊंची, कोई क्रिया अति नीची करैं तहाँ लोकनिंद्य होय, धर्म की हास्य करावें। जैसे कोई पुरुष एक वस्त्र तौ अति उत्तम पहरैं, एक वस्त्र अतिहीन पहरैं, तो हास्य ही होय। तैसे यहु हास्य को पावे है। सांचा धर्म की तो यह आम्नाय है, जेता अपना रागादि दूरि भया होय, ताके अनुसार जिस पद विषैं जो धर्म क्रिया संभवै सो अंगीकार करें।'

—जै. सं. 16-10-58/VI/इ. च. छाबड़ा, लश्कर

असंयमी पूजनीय नहीं; उसकी फोटो भी मन्दिरजी में वर्जनीय है

शंका—क्या असंयत पूजनीय है ? क्या उसकी फोटू जिन मंदिरजी में लगाई जा सकती है ?

समाधान—रत्नत्रय को ही देव-पना प्राप्त है और वही पूजनीय है। अतः जो रत्नत्रय से युक्त है अथवा जो रत्नत्रय के आयतन हैं वे भी रत्नत्रय के कारण देवपने को प्राप्त हो जाते हैं अतः वे भी पूजनीय हैं। किंतु जो रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र से युक्त नहीं हैं वे श्रावकों के द्वारा पूजनीय नहीं हैं।

"देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः। धवल पु० १ पृ० ५२

अर्थ—अपने अपने भेदों से अनन्तभेदरूप रत्नत्रय ही देव हैं, अतः रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव हैं। यदि रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की अपेक्षा देवपना न माना जाय तो सम्पूर्ण जीवों को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जायगी।

प्रथम चार गुणस्थान वाले जीव असंयत होते हैं, अतः उनके रत्नत्रय संभव नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में यद्यपि सम्यग्दर्शन हो जाता है, किंतु संयम नहीं होता है अतः उसकी असंयतसम्यग्दृष्टि ऐसी संज्ञा है।

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥ गो० जी०

अर्थ—जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किंतु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

"चारित्तं णत्थि जदो, अविरदअंतेसु ठाणेसु ॥१२॥" गो० जी०

अर्थ—चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त चारित्र नहीं होता है।

समेतमेव सम्यक्त्वज्ञानाभ्यां चरितं मतम्।
स्यातां विनापि ते तेन गुणस्थाने चतुर्थके ॥५४३॥

अर्थ—सम्यक् चारित्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान से सहित होते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान चतुर्थ गुणस्थानों में सम्यक् चारित्र बिना भी होते हैं।

रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) ही मोक्ष मार्ग है अतः जो असंयत है उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** तथा **श्री अमृतचन्द्र आचार्य** ने कहा है—

"सद्दहमाणो अत्थे असंजदा वा ण णिव्वादि ॥२३९॥" प्रवचनसार

संस्कृत टीका—असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्व प्रतीतिरूप श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्। ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानद्वानास्ति सिद्धिः। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थ श्रद्धान संयतत्वानाम यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥

अर्थ—पदार्थों का श्रद्धान करने वाला यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है। यथोदित-आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान व यथोदित-आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान असंयत को क्या करेगा ? अर्थात् कुछ नहीं करेगा, क्योंकि आगमज्ञान तत्त्वार्थ-श्रद्धान संयतत्व के अयुगपत् वाले के मोक्षमार्ग घटित नहीं होता है।

मूलाचार की टीका में श्री वसुनन्दि आचार्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने कहा है कि यदि असंयत सम्यग्दृष्टि तप भी करे तो भी उसके जितनी कर्म निर्जरा होती है उस कर्म निर्जरा से अधिकतर व दृढ़तर कर्मों को असंयम के कारण बाँध लेता है।

"तपसा निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं प्रह्लाति कठिनं च करोतीति।"

इसलिये **श्री अकलंक देव** ने राजवार्तिक में कहा है कि जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान के बिना आचरण पालने वाला संसार में दुःख उठाता है उसी प्रकार चारित्र रहित सम्यग्ज्ञानी भी संसार में दुःख भोगता है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥

वन में अग्नि लग जाने पर जिस प्रकार अंधा मार्ग न जानने से नष्ट होता है दुःख उठाता है और स्वांखा-लँगड़ा मार्ग जानते हुए भी न चलने के कारण कष्ट उठाता है दुःख भोगता है। उसी प्रकार ज्ञान रहित आचरण करने वाला और चारित्र रहित सम्यग्ज्ञानी दोनों संसाररूपी वन में दुःख भोगते हैं।

इससे स्पष्ट है कि असंयमी श्रावकों के द्वारा पूजनीय नहीं है। जब असंयमी पूजनीय नहीं है तो उसका फोटू जिन मन्दिर में क्यों लगाया जाय ?

—जै. ग. 13-5-71/VII/ र. ला. जैन

सूतक-पातक विधान आगमानुसार होने से मान्य है

शंका—सूतक-पातक मान्य हैं या नहीं ?

समाधान—सूतक-पातक मान्य हैं। जिसके मृतक-सूतक है वह मुनियों को आहार नहीं दे सकता है। मूलाचार पिंडशुद्धि अधिकार में दायक के दोषों का कथन करते हुए कहा गया है—

"मृतकं, सूतकेन श्मशाने परिक्षिप्यागतो यः स मृतक इत्युच्यते।"

जो मृतक को श्मशान में जलाकर आया है ऐसा मृतक सूतकवाला आहारदान देने योग्य नहीं है।

सूतक करि जो अपवित्र है यदि ऐसा मनुष्य आहार दान करे है, कुमनुष्य विषै उपजै है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने त्रिलोकसार में कहा भी है—

जुम्भाव असुचिसूदगपुप्फवई आइ संकराहीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते ॥९२४॥

इससे सिद्ध है कि जन्म व मरण का सूतक मान्य है।

—जै. ग. 13-5-71/VII/र. ला. जैन

गर्भस्राव व गर्भपात में लगने वाले सूतक की अवधि

शंका—गर्भपात १, २, ३, ४, ५, माह तक (में) स्त्री को सूतक कितने दिन का लगता है ? वह कब तक मन्दिर नहीं आयेगी ?

समाधान—चार माह तक का गर्भस्राव कहलाता है और ५-६ माह का गर्भपात। जितने माह का स्राव और पात हो उतने ही दिन का सूतक ग्रन्थों में बताया गया है। अगर रजस्राव ज्यादा दिन तक जारी रहे तो तब तक अशौच रहता है, उसके बाद शुद्ध होने पर ही मन्दिर जाना चाहिये। इसके अलावा जहाँ जैसा रिवाज हो, वैसा करना चाहिए। देशकालादि के अनुसार इन विषयों में अनेक विभेद होते हैं इसीलिये कहा गया है कि—अनुक्तं यद् यदत्रैव तज्ज्ञेयं लोकवर्तनात् अर्थात् जो इस विषय में नहीं बताया गया हो, उसे लोकव्यवहार से जानना चाहिए।

—जै. सं. 21-11-57/VI/ प. ला. अम्बालावाले

नाइलोन की ऊन पहिनकर देव-गुरु-शास्त्र का स्पर्श नहीं करना चाहिये

शंका—नाईलोन की ऊन पहनकर शास्त्र का स्पर्श करना चाहिये या नहीं ?

समाधान—ऊन प्रायः केशों (बालों) की बनती है। केश (बाल) मल हैं, अशुद्ध हैं। अतः ऊनी वस्त्र पहनकर देव गुरु शास्त्र का स्पर्श नहीं करना चाहिये। नाइलोन की ऊन में यदि बालों का प्रयोग होता हो तो उसके वस्त्र पहनकर भी शास्त्र का स्पर्श नहीं करना चाहिये। आर्षग्रन्थों में मात्र मयूर-पिच्छी को किसी सीमा तक शुद्ध माना गया है, अन्य केशों को शुद्ध नहीं माना गया है।

—जै. ग. 29-8-74/VII/ मगनमाला

'विधान आदि से कार्यसिद्धि' आगमानुकूल है

शंका—प्रथमानुयोग ग्रंथों में इस प्रकार जो वर्णन आता है कि मनोरमा आदि महिलाओं ने जो कार्य की सिद्धि हेतु विधान किया था और उस विधान से कार्य की सिद्धि हो गई। क्या यह कथन आगमानुकूल है ?

समाधान—यह कथन आगम के अनुकूल है, क्योंकि प्रथमानुयोग स्वयं द्वादशांगरूप जिनवाणी का एक अभिन्न अंग है। द्वादशांग के १२वें दृष्टिवाद अंग के ५ भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका। इनमें से पूर्वगत के १४ भेद हैं जिनमें से १०वां विद्यानुवादपूर्व है जिसमें अंगुष्ठप्रसेना आदि ७०० अल्पविद्या तथा रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं का स्वरूप सामर्थ्य मन्त्र, तन्त्र, पूजा-विधान आदि का तथा सिद्धविद्याओं का फल और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यन्जन, छिन्न इन आठ महानिमित्तों का वर्णन है **(देखो-राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र २० की टीका में वार्तिक १२)**

—जै. ग. 5-1-78/VIII/ शान्तिलाल जैन

रोट तीज व्रत विधान

शंका—रोट तीज व्रत का क्या विधान है ?

समाधान—भादों सुदी तीज को उपवास करके चौबीस तीर्थंकरों के ७२ कोठे का मंडल मांडकर तीन-चौबीसी पूजा-विधान करें और तीनों काल १०८ जाप (**ओम् ह्रीं भूतवर्तमानभविष्यत्कालसम्बन्धीचतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमः**) इस मंत्र को जपें। रात्रि का जाप करके भजन व धर्मध्यान में काल बितावें। इस प्रकार तीनवर्ष तक यह व्रत कर, पीछे उद्यापन करें। उद्यापन करने के समय तीन-चौबीसी का मण्डल मांडकर बड़ा विधान पूजन करें और प्रत्येक प्रकार के उपकरण तीन-तीन श्री जिनमंदिरजी में भेंट करें। चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान देवें। शास्त्र लिखाकर बांटें। यह रोट तीज व्रत का विधान है। इसको त्रिलोक तीज व्रत भी कहते हैं।[1]

—जै. सं. 29-1-59/V/ घा. ला. जैन, अलीगढ़-टोंक

शुभ मुहूर्त में कार्य करना मिथ्यात्व नहीं है।

शंका—यात्रा आदि के प्रस्थान के समय दिन व तिथि आदि का विचार कर प्रस्थान करना क्या मिथ्यात्व है ?

समाधान—यात्रा आदि के लिये शुभ दिन-तिथि-मुहूर्त में प्रस्थान करना चाहिये। अतः इसका विचार मिथ्यात्व नहीं है। सग्रन्थ को गुरु मानना, रागीद्वेषी असंयमी के द्वारा बनाई हुई पुस्तकों को, जिनमें एकान्त का पोषण हो, धर्म शास्त्र मानकर स्वाध्याय करना, दया में धर्म न मानना यह सब तो मिथ्यात्व है, किन्तु मुहूर्त विचार मिथ्यात्व नहीं है।

—जै. ग. 11-7-66/IX/कस्तूरचन्द

---

१. व्रतविधानसंग्रह १०९ भी द्रष्टव्य है।

यज्ञोपवीत

शंका—क्या जैनबन्धु के लिए यज्ञोपवीत धारण करना अनिवार्य है ? यदि है तो किस अवस्था में ? और धारण करने के क्या-क्या नियम हैं ?

समाधान—श्री महापुराण पर्व ३० श्लोक १०४ से १२२ में यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में लिखा है—गर्भ से आठवें वर्ष में बालक की उपनीत (यज्ञोपवीत धारण) क्रिया होती है। इस क्रिया में केशों का मुण्डन, व्रतबन्धन तथा मौञ्जिबन्धन की क्रियाएँ की जाती हैं। प्रथम ही जिनालय में जाकर बालक जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है, फिर उस बालक को व्रत देकर उसका मौञ्जिबन्धन किया जाता है अर्थात् उसकी कमर में मूंज की रस्सी बाँधी जाती है। उस बालक को चोटी रखनी चाहिए, सफेद धोती-दुपट्टा पहनना चाहिए। वह बालक व्रत के चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीत धारण करता है, उस समय वह ब्रह्मचारी कहलाता है। विद्याध्ययन के पश्चात् वह साधारण व्रतों का तो पालन करता है, परन्तु अध्ययन के समय जो विशेष व्रत ले रखे थे, उनका परित्याग कर देता है। उसके मद्य, मांस, मधु, पाँच उदम्बर फलों तथा हिंसा आदि पाँच स्थूल पापों का त्याग जीवन पर्यन्त रहता है।

—जै. सं. 10-5-56/VI/ आ. सो. बारां

यज्ञोपवीत आगमानुकूल है

यज्ञोपवीत—१४ मार्च १९५७ के जैनसंदेश में श्री मोहनलाल की शंका का समाधान करते हुए पं० नाथूलालजी प्रतिष्ठाचार्य इंदौर ने संक्षेप में इतना लिख दिया था कि 'यज्ञोपवीत संस्कार महापुराण आदि शास्त्रों में बताया है। यज्ञोपवीत रत्नत्रय का चिह्न है। प्रतिष्ठा में इन्द्र की दीक्षाविधि में इसको आभूषण माना है।'

२० जून १९५७ के जैनसंदेश में श्री बंशीधर जैन एम. ए. शास्त्री का इस समाधान के विषय में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें यज्ञोपवीत अनावश्यक बताते हुए यह लिखा है कि 'महापुराण मात्र में जो यज्ञोपवीत का उल्लेख मिलता है वह वैदिक संस्कारों का प्रभावमात्र है। ग्रन्थकर्ता ने समय की आवश्यकता देखते हुए इसका उल्लेखमात्र कर दिया है। महापुराण में इसे चक्रवर्ती भरत के पूछने पर भ० ऋषभदेव से पाप सूत्र कहलाकर निषेध कर दिया है।'

इस लेख के विषय में अधिक न लिखकर केवल इतना ही लिखना पर्याप्त समझता हूँ कि 'महापुराण' में यज्ञोपवीत को पापसूत्र कहा हो ऐसा मेरे देखने में नहीं आया। शास्त्रीजी ने भी सर्ग व श्लोक संख्या आदि का उल्लेख नहीं किया। महापुराण सर्ग ३९ में सज्जाति नाम की पहली क्रिया का कथन करते हुए श्री भगवज्जिनसेन ने श्लोक ९४ व ९५ व ११७ में इस प्रकार कहा है—सर्वज्ञदेव की आज्ञा को प्रधान माननेवाले वह द्विज जो मंत्रपूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतों का चिह्न है, वह सूत्र द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार का है ॥९४॥ तीनलार का जो यज्ञोपवीत है वह उसका द्रव्यसूत्र है और हृदय में उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी गुणों से बना हुआ जो श्रावक का सूत्र है वह उसका भावसूत्र है ॥९५॥ 'हम लोग स्वयं के मुख से उत्पन्न हुए हैं इसलिये देवब्रह्म हैं और हमारे व्रतों का चिह्न शास्त्रों में कहा यह पवित्र सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत है ॥११७॥' महापुराण सर्ग चालीस में भी इसप्रकार कहा है 'तदनन्तर गणधरदेव के द्वारा कहा हुआ व्रतों का चिह्न-स्वरूप और मन्त्रों से पवित्र किया हुआ सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। यज्ञोपवीत धारण करने पर वह बालक द्विज कहलाने लगता है ॥१५८॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है ऐसे बालक के लिए शिर का चिह्न (मुण्डन) वक्षःस्थल का चिह्न यज्ञोपवीत, कमर का चिह्न-मूंज की रस्सी और जांघ का चिह्न सफेद धोती ये चार

प्रकार का चिह्न धारण करना चाहिए। इनका निर्णय पहले हो चुका है ॥१६६॥ जो लोग अपनी योग्यता के अनुसार तलवार आदि शस्त्रों के द्वारा, स्याही अर्थात् लेखनकला के द्वारा, खेती और व्यापार के द्वारा अपनी आजीविका करते हैं ऐसे सद्दृष्टि द्विजों को वह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए ॥१६७॥ जिसके कुल में किसी कारण से दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदि की सम्मति से अपने कुल को शुद्ध कर लेता है तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करने के योग्य कुल में उत्पन्न हुए हों तो उसके पुत्र, पौत्र आदि संतति के लिए यज्ञोपवीत धारण करने की योग्यता का कहीं निषेध नहीं है ॥१६८-१६९॥ जो दीक्षा के अयोग्य कुल में उत्पन्न हुए हैं तथा नाचना, गाना आदि विद्या और शिल्प से अपनी आजीविका करते हैं ऐसे पुरुषों को यज्ञोपवीत आदि संस्कारों की आज्ञा नहीं है ॥१७०॥ किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न हो सकता है कि वे संन्यासमरण में एक धोती पहनें ॥१७१॥ यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषों को मांसरहित भोजन करना चाहिए, अपनी विवाहिता कुल-स्त्री का ही सेवन करना चाहिए। अनारम्भी हिंसा का त्याग करना चाहिए, अभक्ष्य तथा अपेय पदार्थों का परित्याग करना चाहिए ॥१७२॥ इसप्रकार जो द्विज व्रतों से पवित्र हुई अत्यन्त शुद्ध वृत्ति को धारण करता है उसके व्रतचर्या की पूर्ण विधि समझनी चाहिए।"

इस महापुराण आगम के उक्त श्लोकों द्वारा शास्त्रीजी की सब बातों का उत्तर हो जाता है। उक्त आगम में यह कहीं पर नहीं कहा गया है कि यज्ञोपवीत का विधान वैदिक-संस्कारों के प्रभाव में आकर किया जारहा है। किन्तु सर्ग ४० श्लोक १५८ में 'गणधरदेव द्वारा कहा हुआ व्रतों का चिह्न' ऐसा लिखा है। क्या उस समय के वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि भी किसी बात को अपने मन से लिख कर और ऐसा लिख दें कि यह गणधरदेव द्वारा कहा हुआ है। यदि महापुराण के कर्ता आचार्य के विषय में शास्त्रीजी ऐसा विचार सकते हैं तो अन्य आचार्यों के विषय में भी ऐसा विचार हो सकता है। इसप्रकार कोई भी ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं ठहरेगा।

प्रमाण दो प्रकार कहे हैं एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष। परोक्षप्रमाण 'स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम' पाँच प्रकार का है। अर्थात् आगम भी प्रमाण है (परीक्षामुख)। महापुराण आगम होने से स्वयं प्रमाण है। एकप्रमाण दूसरेप्रमाण की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था का प्रसंग आता है। ण च पमाणं पमाणंतरमवेक्खदे, अणवत्थापसंगादो। षट्खंडागम १४, पत्र ३५०, ५०७। महापुराण ग्रन्थ महान् आचार्य द्वारा रचित है उसके कथन के विषय में अप्रमाणता की आशंका करना उचित नहीं है। श्री वीरसेन स्वामी ने स्वयं आगम का प्रमाण दे-देकर अपने कथन को सिद्ध किया है। अतः यज्ञोपवीत के विषय में महापुराण आगम का प्रमाण ही पर्याप्त है, अन्य प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

'यदि कहा जाय कि युक्ति विरुद्ध होने से यह आगम ही नहीं है, तो ऐसा कहना शक्य नहीं है, क्योंकि जो युक्ति सूत्र के विरुद्ध हो वह वास्तव में युक्ति ही नहीं है। इसके अतिरिक्त अप्रमाण के द्वारा प्रमाण को बाधा भी नहीं पहुँचायी जा सकती, क्योंकि वैसा होने में विरोध है।' (षट्खंडागम पुस्तक १२, पृष्ठ ३९९-४००)

—जैनसंदेश 1/8/57

जैनधर्म डॉक्टरी पढ़ने की सम्मति नहीं देता

शंका—डॉक्टरी पढ़ना और करना चाहिए या नहीं इसमें जैनधर्म क्या सम्मति देता है ?

समाधान—डाक्टरी पढ़ने में मेंढ़क आदि जीवित (जिन्दा) जानवरों को चीरना पड़ता है जिसमें संकल्पी हिंसा होती है। जैनधर्म अहिंसामयी है। स्व और पर दोनों की हिंसा का त्याग 'अहिंसा' है। श्रावक

यद्यपि सर्वथा हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, किन्तु उसे संकल्पी हिंसा का त्याग तो अवश्य करना चाहिए। बिना संकल्पी हिंसा का त्याग किये कोई भी मनुष्य 'जैन' कहलाने का अधिकारी नहीं है। डाक्टरी पढ़ने में संकल्पी हिंसा होती है, अतः जैनधर्म डाक्टरी पढ़ने की सम्मति कैसे दे सकता है? यदि बिना संकल्पी हिंसा के डाक्टरी पढ़ना संभव हो तो मेरी समझ में डाक्टरी पढ़ने व करने में कोई हानि नहीं है।

—जै. सं. 8-1-59/V/ प्रे. च. जैन, दमोह

कौनसी हिंसा किस गुणस्थान तक होती है?

शंका—हिंसा के चार भेद हैं। उनमें से किस गुणस्थान तक कौनसी हिंसा होती है? स्पष्ट करें।

समाधान—त्रस संकल्पी हिंसा चतुर्थ गुणस्थान तक हो सकती है। आरंभी, उद्योगी तथा विरोधी हिंसा पंचम गुणस्थान तक होती है।

—पत्राचार 5-12-75/ ज. ला. जैन, भीण्डर

द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा

शंका—हलवाई, डाक्टर, कसाई अथवा जघन्य शूद्र इनमें विशेष हिंसक कौन है? द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा की अपेक्षा।

समाधान—हलवाई, डाक्टर और कसाई इन तीनों में विशेष हिंसक कसाई है, क्योंकि संकल्पी हिंसा करता है। हलवाई और डाक्टर के व्यवसाय में यद्यपि हिंसा होती है किन्तु वह संकल्पी हिंसा नहीं है। यदि हलवाई और डाक्टर भी संकल्पी हिंसा करते हैं तो वे भी कसाई के तुल्य हो जायेंगे। कहा भी है—

'आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥८२॥ सागा. धर्मा. अध्याय २

अर्थात्—मांस प्राप्ति आदि हेतुओं से मैं इसे मारता हूँ इस बुद्धि का नाम संकल्प है। ऐसे संकल्प पूर्वक होनेवाली हिंसा को संकल्पी हिंसा कहते हैं। सुधी श्रावक कृषि आदि कर्म में प्रवृत्ति करते समय भी संकल्पी हिंसा का सदैव त्याग करें। मछली को मारने के लिये तत्पर धीवर यद्यपि साक्षात् मार नहीं रहा परन्तु मारने के संकल्प सहित है, इसलिये वह आरम्भ में प्रवृत्त किसान से अधिक पापी है (उक्त श्लोक की टीका) अतः भावहिंसा की अपेक्षा कसाई के विशेष हिंसा है। द्रव्यहिंसा की अपेक्षा हलवाई के अधिक हिंसा की सम्भावना है। भावहिंसा परिणामों पर निर्भर है, अतः डाक्टर व हलवाई में से किस के भावहिंसा अधिक है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। 'अघन्यशूद्र' से क्या प्रयोजन है, समझ में नहीं आया अतः इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

—जैं. सं. 19-2-59/V/ क्षु. कीर्तिसागर

चूहे पर झपटती हुई बिल्ली को चूहे से दूर करना चाहिए

शंका—बिल्ली ने चूहा पकड़ा या उस पर वार करने को झपटी और उसे खाने के लिये उद्यत हुई। लेकिन अभी चूहा मरा नहीं है। इस समय दयालु एवं अहिंसा उपासक जन को क्या करना चाहिये? जबकि एक तरफ चूहे की जान जा रही है और दूसरी ओर बिल्ली का मुख्य उदरपोषण उससे छिन जाने का कारण बनता है।

समाधान—इस समय तो वह दयालु जन एवं अहिंसा उपासक निचली भूमिका में है अर्थात् श्रावक है उसके कषाय अत्यन्त मंद न होने के कारण वह चूहे की जान बचाने का प्रयत्न करेगा, किन्तु प्रयत्न करता हुआ भी अथवा चूहे को छुड़ा लेने पर इस कार्य में अहंबुद्धि नहीं करता, क्योंकि इस प्रकार दया कार्य नहीं करने के भाव मिथ्यात्व के उदय में होते हैं। अहिंसा धर्म का वास्तविक उपासक मिथ्यादृष्टि नहीं होता।

बिल्ली दूध व अन्न के द्वारा अपनी उदरपूर्ति कर सकती है। अतः चूहे को छुड़ाकर अन्न आदि द्वारा बिल्ली की उदरपूर्ति हो जाने से अहिंसा का पालन होता है।

—जै. सं. 12-6-58/V/ को. ब. जैन, किशनगढ़

अहिंसा

शंका—किसी जीव को बचाया तो हिंसा हुई या अहिंसा ?

समाधान—अहिंसामयी धर्म है। दयामूलक धर्म है। इस प्रकार धर्म के लक्षण से ज्ञात होता है कि प्राणी मात्र पर दया अहिंसा है। कहा भी है—

पवित्रीक्रियते येन, येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय, धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥—ज्ञानार्णव १०-१

जो जगत् को पवित्र करे, संसार के दुःखी प्राणियों का उद्धार करे, उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म दयामूलक है और कल्पवृक्ष के समान प्राणियों को मनोवाञ्छित सुख देता है, ऐसे धर्मरूप कल्पवृक्ष के लिये मेरा नमस्कार है।

सत्त्वे सर्वत्रचित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥—यशस्तिलक० पृ० ३२३

सर्व प्राणिमात्र का चित्त दयार्द्र (दया से भीग जाना) होने को अनुकम्पा कहते हैं। दयालु पुरुषों ने धर्म का परम मूल कारण अनुकम्पा कहा है। जीव दया अर्थात् जीव को बचाना श्रावक का धर्म है किन्तु इस दया में अहंकार नहीं होना चाहिए। क्योंकि जीव के बचने में मूल कारण जीव की आयु है। यदि जीव की आयु ही समाप्त हो गई तो उसे बचाने में कोई भी समर्थ नहीं है। अन्य प्राणी तो उस जीव के बचने में बाह्य निमित्त मात्र है। यह अनुकम्पा भाव यद्यपि पुण्यबन्ध का कारण है तथापि परम्परा मोक्ष का कारण है। इस सम्बन्ध में 'समयसार' में 'बन्ध अधिकार' भी देखना चाहिए।

—जै. ग. 11-1-62/VIII/ ....

जीवों को मारने से हिंसा होती है; यह भगवान की देशना है

शंका—कानजी भाई जीवों के मारने में कोई हिंसा नहीं समझते। वे कहते हैं कि जीव और शरीर दोनों पृथक्-पृथक् स्वतंत्र द्रव्य हैं। तब दोनों को अलग-अलग कर देने में हिंसा कैसी ? इससे क्या प्रतिदिन लाखों जीवों को मारनेवाले अनेक बड़े-बड़े कसाईखानों में जो जीव मारे जाते हैं उन मारनेवाले कसाइयों को भी हिंसा करने का पाप नहीं लगना चाहिए। फिर तो धीवर कसाई आदि को पापी नहीं समझना चाहिए। क्या कानजी भाई का यह मत दिगम्बर जैनधर्म के अनुसार है ?

समाधान—जीव चेतन है, अमूर्तिक, अविनाशी है। शरीर अचेतन (जड़) है। मूर्तिक व विनाशी है। इस प्रकार लक्षण भेद से यद्यपि जीव और शरीर दोनों पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं, किन्तु दोनों का अनादिकाल से परस्पर बंध हो रहा है। इस बंध के कारण ही जीव का लक्षण यह कहा गया है—'इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुप्राण व उच्छ्वासप्राण इन चार प्राणों के द्वारा जो जीता था, जीता है और जीवेगा वह जीव है।' (बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३) जीव के मारने में इन प्राणों का घात होता है और प्रमत्तयोग होने से मारनेवाले के प्राणों का भी घात होता है अतः जीव के मारने में हिंसा है। समयसार गाथा ४६ की टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा भी है—'परमार्थनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है। उसका ही एकान्त किया जाय तो त्रस, स्थावर जीवों का घात निःशंकपने से करना सिद्ध हो जायगा। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है उसी तरह उन जीवों के मारने में भी हिंसा सिद्ध नहीं होगी, किन्तु हिंसा का अभाव ठहरेगा तब उन जीवों के घात होने से बंध का भी अभाव ठहरेगा।' श्री पं० जयचन्दजी ने भी विशेषार्थ में कहा—ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण मिथ्या-अवस्तु रूप ही है। इसलिए व्यवहार का उपदेश न्यायप्राप्त है। इस तरह स्याद्वाद कर दोनों नयों का विरोध मेट श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।"

इस उपर्युक्त आगम प्रमाण से सिद्ध हो गया कि जीवों के मारने में हिंसा है। धीवर कसाई आदि जितने भी हिंसक जीव हैं वे सब पापी हैं। एकान्तपक्ष ग्रहण कर जीवों के मारने में हिंसा का अभाव कहना दिगम्बर जैन आगम अनुकूल नहीं है।

—जै. सं. 23-10-58/V/इ. ला. छाबड़ा, लश्कर

भाव अहिंसा का साधन द्रव्य अहिंसा है

शंका—भावहिंसा के त्याग से ही कर्मबन्ध रुक जाता है, फिर द्रव्यहिंसा के त्याग की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—द्रव्य-हिंसा का त्याग भावहिंसा के त्याग का साधन है, अतः द्रव्यहिंसा के त्याग की आवश्यकता है। प्रवचनसार गा. २२९ की टीका में कहा भी है—

"चिदानन्दैकलक्षण निश्चयप्राणरक्षणभूता रागादिविकल्पोपाधिरहिता या तु निश्चयनयेनाहिंसा तत्साधकरूपा बहिरङ्गपरजीवप्राणव्यपरोपण निवृत्तिरूपा द्रव्याहिंसा च सा द्विविधापि तत्र युक्ताहारे सम्भवति। यस्तु तद्विपरीतः स युक्ताहारो न भवति। कस्मादिति चेत् ? तद्विलक्षणभूताया द्रव्यरूपाया हिंसाया सद्भावादिति।"

चिदानन्द एक लक्षणरूप निश्चयप्राण की रक्षाभूत रागादि विकल्परूप उपाधि न होने देना सो भावअहिंसा है तथा इसकी साधनरूप बाहर में पर-जीवों के प्राणों को कष्ट देने से निवृत्त रहना सो द्रव्यअहिंसा है। योग्य आहार में दोनों अहिंसा का प्रतिपालन होता है। जो इसके विरुद्ध आहार है वह योग्य आहार नहीं है, क्योंकि उसमें द्रव्य-अहिंसा से विलक्षण द्रव्यहिंसा का सद्भाव होता है।

पयदम्हि सामरद्धे, छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया॥२११॥ प्रवचनसार

टीका—यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धाया कायचेष्टायाः कथंचिद् बहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरंगच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतिकारः।

भावार्थ—साधु के सावधानी पूर्वक की जाने वाली कायचेष्टा (अशन, शयन, स्थान, विहार आदि क्रिया) द्वारा यदि छेद (प्राणीघात) होता है तो उस साधु को आलोचना पूर्वक क्रिया करना चाहिये।

टीकार्थ—यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमण (साधु) के प्रयत्नपूर्वक कायचेष्टा में (उठने, बैठने, चलने, भोजन आदि में) कथंचित् संयम का बहिरंग छेद (जीव-घात) होता है, तो वह सर्वथा अन्तरंग छेद (भावहिंसा) से रहित है, इसलिए आलोचना पूर्वक क्रिया से ही उस बहिरंगछेद (द्रव्यहिंसा) का प्रतिकार होता है।

जे तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा ते।
एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥२०९॥ वसु. श्राव.

जो त्रसजीव पहले बतलाये गये हैं, उन्हें नहीं मारना चाहिए और निष्कारण (बिना प्रयोजन) एकेन्द्रिय जीवों को भी नहीं मारना चाहिए। यह पहला स्थूल अहिंसाणुव्रत है।

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्यचरसत्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥५३॥ रत्न. श्राव.

मन, वचन, काय तीनों योगों के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से त्रसजीवों को सङ्कल्प से नहीं मारना अहिंसा अणुव्रत है।

इसप्रकार आर्षग्रन्थों में द्रव्यहिंसा के त्याग को अहिंसा व्रत कहा गया है।

—जै. ग. 2-11-72/VII/ टोप्पनलाल

होटल के भोजन, तथा पार्टी आदि से दूर ही रहना चाहिए

शंका—यदि धर्म का आचरण करते समय परिस्थिति से कुछ त्रुटियाँ उपस्थित हुई तो क्या करना चाहिये, जैसे प्रवास में होटल का भोजन या पानी पीना, पार्टी में या दावत में अजैनों के साथ भोजन करना।

समाधान—यदि होटल आदि में तथा पार्टी आदि में भोजन करने का त्याग है तो अपने नियम को तोड़ना नहीं चाहिये। अज्ञानता या प्रमाद के कारण नियम में कोई दोष लग गया हो तो उसको प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिये। यदि नियम नहीं है तो भी होटल आदि में भोजन करना उचित नहीं है। अशुद्ध भोजन से मन अपवित्र रहता है। कहा भी है 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन।' प्रवास में भोजन साथ लेजाया जा सकता है। फलाहार व मेवा (Dry fruits) खाकर दो चार दिन रहा जा सकता है। भुने हुए चने आदि का भी उपयोग किया जा सकता है। पार्टी या दावत से बचना चाहिए यदि ऐसा प्रसंग आ ही जावे तो वहाँ पर भी फल व मेवा ही लेने चाहिए, छन्ना अपने साथ रखें, जिससे छान कर पानी पी लिया जावे।

—जै. सं. 10-4-58/VI/उ. च. देवराज, दौउल

आहार पानी की अनुपसेव्यता

शंका—यदि छना हुआ शुद्ध पानी, शुद्ध आचरणवाला कोई हरिजन भाई या ब्राह्मण भाई देवे तो धर्म के नाते ग्रहण करना उचित है या नहीं?

समाधान—शुद्ध आचरण वाला ब्राह्मण यदि छना हुआ शुद्ध पानी दे तो ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। शूद्र के संबंध में दि० जैन आगम की आज्ञा पालना उचित है। निम्न बातें भी विचारणीय हैं। (१) गऊ

आदि पशुओं की उत्तम नस्ल के लिये उत्तम जाति के सांड आदि की आवश्यकता होती है। वर्तमान में भारत सरकार ने उत्तम नस्ल के सांड आदि हर एक जिले व तहसील में रक्खे हैं जिससे उत्तम नस्ल की गऊ आदि की उत्पत्ति हो। सहारनपुर में घोड़ों का सरकारी रिमाउंट डिपो है। उसमें उन घोड़े और घोड़ी का मिलान नहीं कराया जाता जो सात पीढ़ी (Pedigrees) से या उससे कम से फंटे हुए हैं, क्योंकि इनके मेल से उत्तम नस्ल का घोड़ा उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि रज व वीर्य जिससे शरीर बनता है, का असर जीव के विचारों पर पड़ता है।

(२) एक क्षत्रिय के रण में जाते समय परिणामों में कुछ कायरता आ गई, उसने अपनी माता से पूछा कि मेरा जन्म किसके वीर्य से हुआ है। माता ने उत्तर दिया कि तेरा जन्म तो तेरे पिता के वीर्य से ही हुआ है। किन्तु जब तू बच्चा था और रोने लगा था तो एक बार धाय ने तुझे चुप करने के लिए अपना दूध पिला दिया था। मैंने तुरन्त वमन भी करा दिया था। उस दूध के कारण तेरे परिणामों में कायरता आई है। इससे स्पष्ट है कि धाय के दूध का कितना असर उच्च कुली के परिणामों पर पड़ा।

(३) वीर अभिमन्यु ने चक्रव्युह की रचना गर्भ अवस्था में सीखी थी इससे यह सिद्ध होता है कि माता पिता के विचारों का असर बच्चे के विचारों पर पड़ता है।

(४) संगति का भी असर परिणामों पर पड़ता है।

(५) एक नगर के मनुष्य क्रूर परिणामी थे। कारण की जाँच करने पर ज्ञात हुआ कि नगर के आस-पास कसाई खाने (Slaughter house) हैं इसीलिये इस नगर के मनुष्य क्रूर परिणामी होते हैं। इस प्रकार क्षेत्र का असर भी परिणामों पर पड़ता है।

अतः जिनका जन्म उच्च कुलीन स्त्री-पुरुषों के रजोवीर्य से न हुआ हो, जिनका खान-पान उत्तम न हो, जिनकी संगति व निवासस्थान (क्षेत्र) उत्तम न हो ऐसे जीवों के परिणाम उत्तम नहीं हो सकते, उनके हाथ का भोजन या जल नहीं ग्रहण करना चाहिये।

उच्छिष्ट भोजन, अशुद्ध भूमि में पड्या भोजन, म्लेच्छादिकनि कर स्पर्श्याभोजन व पान, अस्पृश्य शूद्र का लाया जल, शूद्रादिक का किया भोजन, अयोग्य क्षेत्र में धर्या भोजन, मांस भोजन करनेवाले का भोजन, नीचकुल के गृहनि में प्राप्त भया भोजन जलादिक अनुपसेव्य है। (भगवती आराधनासार, पृ० ६७५)।

—जै. सं. 10-4-58/VI/ उ. च. देवराज, दोउल

देशव्रत

प्रथम प्रतिमाधारी अन्याय व अभक्ष्यसेवन नहीं करता

शंका—रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १३७ में जो लक्षण पहली प्रतिमा का दिया है, उसके अनुसार उसमें अन्याय और अभक्ष्य के सेवन का त्याग नहीं आता। तब क्या इस मतानुसार अन्याय और अभक्ष्य का सेवन पहली प्रतिमा में सम्भव है?

समाधान—रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ८४ में कहा है कि 'जिनचरणौ शरणमुपयातैः।' जिसने जिनेन्द्र भगवान के चरणों की शरण लेली है वह अभक्ष्य का सेवन नहीं करता। श्लोक १३७ में कहा है कि पहली प्रतिमा वाले के पञ्चपरमेष्ठियों के चरण ही शरण है (पञ्चगुरुचरणशरणः), तो वह अभक्ष्य का सेवन कैसे कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता।

पहली प्रतिमा वाला (संसारशरीरभोगनिर्विण्णः) संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होता है। जो अन्याय और अभक्ष्य का सेवन करता है, वह संसार शरीर और भोगों में रत होता है, विरक्त नहीं होता है। अतः पहली प्रतिमा वाला अन्याय व अभक्ष्य का सेवन नहीं करता है।

—जै. ग. 27-7-72/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

पाप का एकदेश त्याग ही अणुव्रत है

शंका—क्या पाप का त्याग और अणुव्रत में कोई अन्तर नहीं है ? यदि है तो क्या ?

समाधान—पाप का एकदेश त्याग अणुव्रत है और सकलदेश त्याग महाव्रत है। कहा भी है।

"देशसर्वतोणुमहती।" मोक्षशास्त्र ७/२

पाप के एकदेश त्याग और अणुव्रत में कोई अन्तर नहीं है।

—जै. ग. 16-12-71/VII/ सुलतानसिंह

तिर्यंच के देशसंयम

शंका—क्या कच्छप, मच्छ जीव को पंचम गुणस्थान तीन अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटिपूर्व प्रमाण तक रह सकता है ? उस समय उनका मांसाहार होता है या क्या आहार होता है ?

समाधान—मच्छ कच्छप जीवों को पंचम गुणस्थान तीन अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व तक रह सकता है। कहा भी है—"मोहकर्म की २८ प्रकृतियों की सत्तावाला एक मिथ्यादृष्टि मनुष्य या तिर्यंच मर कर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक सम्मूर्च्छन तिर्यंच मच्छ-कच्छप मेंढकों आदि में उत्पन्न हुआ, सर्व लघु अन्तर्मुहूर्त द्वारा सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त हो [१] विश्राम ले [२] विशुद्ध होकर के [३] संयमासंयम को प्राप्त हुआ। इस प्रकार आदि के तीन अन्तर्मुहूर्तों से कम पूर्व कोटि प्रमाण संयमासंयम पंचम गुणस्थान का काल होता है" धवल पृ. ३५० ये जीव त्रसहिंसा के त्यागी होते हैं अतः इनके मांसाहार नहीं होता। वहाँ पर होने वाली वनस्पति आदि से अपनी भूख मिटा लेते हैं।

—जै. ग. 25-1-62/VII/ ध. ला. सेठी, खुरई

तिर्यंच के अणुव्रत

शंका—अणुव्रत मनुष्य तथा तिर्यंच ग्रहण करते हैं तब तिर्यंच परिग्रहपरिमाणव्रत में क्या मर्यादा करता होगा ? मनुष्य पानी छान कर त्रस की रक्षा कर जल पीता है तब तिर्यंच पानी कैसे छानता होगा और त्रस की कैसे रक्षा करता होगा ? त्रस रूपी मांस आहारवाला जल तिर्यंच श्रावक कैसे पीता होगा ?

समाधान—अणुव्रती तिर्यंच बाह्य पदार्थ में मूर्च्छा को सीमित करके परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का पालन करता है। तिर्यंचों के भी बाह्य पदार्थों में मूर्च्छा होती है अन्यथा तिर्यंचों के निर्ग्रन्थता का प्रसंग आ जायगा।

दलमला हुआ जल तथा सूर्य की धूप से तप्तायमान जल को अणुव्रती तिर्यंच पीता है, कपड़े के द्वारा जल छानना तिर्यंच के लिये शक्य नहीं है। श्री पार्श्वपुराण में कहा भी है—

अब हस्ती संजम साधै, त्रस जीव न भूल विराधै।
समभाव छिमा उर आनै, अरि मित्र बराबर जानै ॥
काय कसि इन्द्री दंडै, साहस धरि प्रोषध मंडै।
सूखे तृण पल्लव भच्छै, परमर्दित मारग गच्छै ॥
हाथीगन डोह्यो पानी, सो पीवै गजपति ज्ञानी।
देखे बिन पाँव न राखै, तन पानी पंक न नाखै ॥
निज शील कभी नहीं खोवै, हथिनी दिशि भूल न जोवै।
उपसर्ग सहै अतिभारी, दुर्ध्यान तजै दुःखकारी ॥

—जै. सं. 23-5-57/जैन स्वा. म., कुचामन

अव्रती समकिती मनुष्य तथा देशसंयमी तिर्यंच "श्रावक" नहीं हैं

शंका—चतुर्थगुणस्थानी श्रावक है या नहीं और पंचमगुणस्थानी तिर्यंच भी श्रावक है या नहीं ?

समाधान—श्रावक पद का इसप्रकार अर्थ है 'अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात्साधूनामागारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः।" अर्थात्—जो सम्यक्त्वी और अणुव्रती होने पर भी प्रतिदिन साधुओं से गृहस्थ और मुनियों के आचारधर्म को सुने वह श्रावक कहलाता है। कहीं पर 'श्रावक' शब्द का अर्थ इसप्रकार किया गया है—

"श्रद्धालुतां श्रातिशृणोति शासनं, दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृतत्वं पुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमीविचक्षणाः ॥

अर्थ—जो श्रद्धालु होकर जैन शासन को सुने, दीन-जनों में अर्थ का वपन करे अर्थात् दान दे, सम्यग्दर्शन को धारण करे, सुकृत और पुण्य के कार्य करे, संयम का आचरण करे उसे विचक्षणजन श्रावक कहते हैं। श्री पद्मनन्दि-पंच-विंशतिका में भी इसप्रकार कहा है—

"सम्यग्दृग्बोध चारित्र त्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पन्था स एव स्यात्प्रमाण परिनिष्ठितः ॥२॥
सम्पूर्ण देशभेदाभ्यां स च धर्मोद्विधाभवेत्।
आद्यो भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थिताः ॥४॥
देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥७॥
देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद् व्रतम् ॥२२॥"

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं तथा प्रमाण से निश्चित यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है ॥ २ ॥ और वह रत्नत्रयात्मक धर्म सर्वदेश तथा एकदेश के भेद से दो प्रकार का है। उसमें सर्वदेशधर्म का तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं और एकदेश धर्म का गृहस्थ पालन करते

हैं ।। ४ ।। जिनेन्द्रदेव की पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छहकर्म गृहस्थों को प्रतिदिन करने के हैं ।। ७ ।। धर्मात्मा गृहस्थों को एकदेशव्रत के अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिए जिससे उनका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे ।। २२ ।। यहाँ पर गृहस्थी शब्द से अभिप्राय पञ्चमगुणस्थानवर्ती का है। और पञ्चमगुणस्थानवर्ती गृहस्थी को ही श्रावक संज्ञा है। "श्रावक तो पंचमगुणस्थानवर्ती भए होय है" मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ८, पत्र ४०२ (सस्ती ग्रन्थमाला)। श्रावकधर्म मे ग्यारह प्रतिमा हैं। प्रथम प्रतिमावाला 'दर्शन श्रावक' कहलाता है उसका स्वरूप इसप्रकार है—

> पंचुंबरसहियाइं परिहरे इय जो सत्त विसणाइं ।
> सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ।।२०५।। वसु. श्रावकाचार

अर्थ—सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है बुद्धि जाकी ऐसा जो जीव पाँच उदुम्बर फल सहित सातों ही व्यसनों का त्याग करता है, वह दर्शन श्रावक कहा गया है ।। ५७ ।।

> "बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादिणिदिदं दव्वं ।
> जो ण य सेवदि णियमा सो दंसण सावओ होदि ।।३२८।। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—बहुत त्रस जीवनि के घातकरि तथा तिनकरि सहित जो मदिरा तथा अति निन्दनीक जो मांस आदि द्रव्य तिनिकूं जो नियम तें न सेवै सो दर्शन श्रावक है। इन सब आगम प्रमाणों से यह सिद्ध है कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती अर्थात् अव्रत सम्यग्दृष्टि की श्रावक संज्ञा नहीं है। पंचमगुणस्थानवर्ती तिर्यंच की भी श्रावक संज्ञा नहीं है, क्योंकि वह गृहस्थ नहीं है। पंचमगुणस्थानवर्ती मनुष्य की श्रावक संज्ञा है। यदि यह कहा जावे कि पाक्षिक श्रावक अव्रती है फिर भी उसको श्रावक संज्ञा है। सो यह ठीक नहीं है पाक्षिक का भेद सर्वप्रथम श्री जिनसेन आचार्य ने किया है और इसका स्वरूप इसप्रकार कहा है—

> "तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्न-हिंसा विवर्जनम् ।
> मैत्री-प्रमोद कारुण्य माध्यस्थैरुपबृंहितम् ।। १४६ ।।" महापुराण सर्ग ३९

अर्थ—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थभाव से वृद्धि को प्राप्त हुआ। समस्त हिंसा का त्याग करना जैनियों का पक्ष कहलाता है। अहिंसाव्रत में अन्य चार व्रत भी आ गये (देखो पुरुषार्थसिद्धयुपाय) अतः पाक्षिक श्रावक भी अव्रती नहीं है।

—जैनसन्देश 16-5-57/ ''''/ रतनलाल कटारिया; केकड़ी

अस्पर्श्य शूद्र अणुव्रती हो सकता है

शंका—अस्पर्श्य शूद्र व्रत कहाँ तक और किस मर्यादा से धारण करता है ?

समाधान—रायचन्द्र ग्रंथमाला से प्रकाशित श्री प्रवचनसार पृष्ठ ३०५ पर दीक्षाग्रहण योग्य वर्णव्यवस्था का कथन करते हुए गाथा १५ में 'वण्णेसु तीसु एक्को' का अर्थ श्री जयसेन आचार्य ने इसप्रकार किया है 'वर्णेषु त्रिष्वेकः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यवर्णेष्वेकः' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण वाले दीक्षा ग्रहण के योग्य हैं। प्रायश्चित्तचूलिका गाथा १५४ में 'कारु शूद्र के दो भेद, भोज्य और अभोज्य तथा उनमें से भोज्य शूद्र को क्षुल्लक व्रत देना चाहिये', ऐसा लिखा है। इसकी संस्कृत टीका में इसप्रकार कहा है—'जिनके हाथ का अन्न-पान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र खाते हैं, उन्हें भोज्य कारु कहते हैं। इनसे विपरीत अभोज्य कारु जानना चाहिए।

क्षुल्लक व्रत की दीक्षा भोज्य कारुओं में ही देना चाहिये, अभोज्य कारु में नहीं।' अतः अभोज्य कारु जैन मुनि या क्षुल्लक व्रत धारण नहीं कर सकता, किन्तु पाँच पापों का एक देश त्याग कर अणुव्रत पालन कर सकता है।

—जै. ग. 18-6-64/IX/ ब्र. लाभानन्द

स्वस्त्री सेवन में भी पाप तो है ही

शंका—स्वदारासंतोषव्रतधारी को क्या स्वस्त्री के भोग करने में पाप नहीं है ?

समाधान—स्वस्त्री के साथ सम्भोग करने में पाप अवश्य है, किन्तु उससे अनन्तगुणा पाप पर-स्त्रीसेवन में है। यदि स्वस्त्री के सेवन में पाप न होता तो सप्तम प्रतिमा में श्रावक के और महाव्रतों में मुनि के स्त्री मात्र के साथ सम्भोग का क्यों त्याग होता।

मैथुनाचरणे मूढ़ म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघप्रपीडिताः ॥२१॥ ज्ञानार्णव सर्ग १३

अर्थ—हे मूढ़ ! योनिरन्ध्र में असंख्यात करोड़ जीव होते हैं। स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन करने से उनके योनि रूप छिद्र में उत्पन्न हुए असंख्यात करोड़ जीव लिङ्ग के आघात से पीड़ित होकर मरते हैं।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥ १०८ ॥ पुरुषार्थ सिद्धि उपाय

अर्थ—जिस प्रकार तिलों की नली में तप्त लोहे के डालने से तिल नष्ट होते हैं, इसी प्रकार मैथुन के समय योनि में भी बहुत से जीव मरते हैं।

"घाए घाए असंखेज्जा।" अर्थात्—लिंग के प्रत्येक आघात में असंख्यात करोड़ जीव मरते हैं।

संजदधम्मकहा वि य उवासयाणं सदारसंतोसो।
तसवहविरईसिक्खा थावरघादो त्ति णाणुमदो ॥ जयधवल पु. १ पृ. १०५

संयमी जनों की धर्म कथा भी उपासकों के स्वदारासन्तोष और त्रसवधविरति की शिक्षारूप होती है, अतः उसका यह अभिप्राय नहीं कि स्थावर घात की या स्वस्त्री रमण की अनुमति दी गई हो। तात्पर्य यह है कि संयम रूप किसी भी उपदेश से निवृत्ति ही इष्ट रहती है, उससे फलित होनेवाली प्रवृत्ति इष्ट नहीं।

—जै. ग. 10-8-72/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

प्रतिमा ग्रहण करना मनुष्यों में ही सम्भव है

शंका—क्या मनुष्य ही प्रतिमा धारण कर सकते हैं ? शेष गतियों के जीव प्रतिमा धारण नहीं करते हैं ?

समाधान—मनुष्य ही प्रतिमा धारण कर सकते हैं। सम्यग्दर्शन के २५ दोषों का त्याग, निरतिचार सप्तव्यसन-त्याग तथा अष्ट मूल गुण धारण करना; यह प्रथम प्रतिमा में पालनीय होता है।

—पत्राचार 5-12-75/—/ ज. ला. जैन, भीण्डर

व्रत-प्रतिमा राग का माप नहीं, वीतरागता का माप है

शंका—हिन्दी आत्मधर्म नं० १५१ के पृष्ठ २५० पर लिखा है—'प्रतिमा कितनी है ? व्रत कितने हैं ? इसप्रकार मात्र शुभराग से अज्ञानी जिनधर्म का माप निकालते हैं। व्रत, प्रतिमा आदि का शुभराग ही जिनधर्म है—ऐसा लौकिक जन तथा अन्यमति मानते हैं, किन्तु लोकोत्तर ऐसे जैन मत में ऐसा नहीं मानते।' क्या व्रत वा प्रतिमा शुभ राग का माप है या वीतरागता का माप है ? इसको समझाने की कृपा करें।

समाधान—हिन्दी आत्मधर्म के लेखक महोदय ने किस अपेक्षा से उपर्युक्त वाक्य लिखे हैं और क्या अभिप्राय रहा होगा इसका विचार न करके इस समाधान में मूल शंका 'क्या व्रत व प्रतिमा शुभराग का माप है या वीतरागता का' पर आगमप्रमाण सहित विचार किया जावेगा।

'व्रत' का लक्षण इसप्रकार है—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं ॥१॥ मोक्षशास्त्र अध्याय सात।

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है। ये हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह, पाँच होने पर भी एक हिंसा में गर्भित हो जाते हैं, क्योंकि इन पाँचों के द्वारा आत्मपरिणाम (स्वभाव) का घात होता है (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय गाथा ४२)। रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है (पु० सि० गाथा ४४) अतः रागादि से विरत (विरमण, निवृत्त) होना व्रत है। रागादि से निवृत्त होना राग का माप कैसे हो सकता है वह तो वीतरागता का माप है।

हिंसादि अर्थात् रागादि से सर्वदेश निवृत्त होना मुनि धर्म है और एकदेश विरति श्रावकधर्म है। ये दोनों धर्म चारित्र के भेद हैं और चारित्र आत्मा का स्वरूप है। समयसार के टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रन्थ में इसप्रकार कहा है—

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैकदेश विरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति समयसार-भूतोऽयं।
यात्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

अर्थ—क्योंकि समस्त पाप युक्त योगों के त्याग से सम्पूर्ण कषायों से रहित, निर्मल उदासीनतारूप चारित्र होता है अतः वह आत्मा का स्वरूप है ॥३९॥ हिंसा, असत्य वचन, चोरी, कुशील और परिग्रह से सर्वदेश और एक देश त्याग होने पर चारित्र दो प्रकार का होता है ॥४०॥ उस सर्वदेश निवृत्ति (त्याग) में लवलीन यह मुनि शुद्धोपयोग-स्वरूप में आचरण करने वाला होता है और एकदेश विरति में लगा हुआ उपासक (श्रावक) होता है ॥४१॥ इस प्रकार हिंसा आदि पाँच पापों से एकदेश विरति (ग्यारह प्रतिमा रूप) श्रावकधर्म व सम्पूर्ण विरतरूप मुनिधर्म चारित्र होने के कारण आत्मस्वरूप है। अतः प्रतिमा या व्रत आत्मस्वरूप होने के कारण राग का माप कैसे हो सकते हैं ? ये तो वीतरागता के माप हैं, क्योंकि आत्मस्वरूप वीतरागता है।

इस बात को श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इसप्रकार कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शन–लाभादवाप्त–संज्ञानः ।
रागद्वेष–निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥
रागद्वेषनिवृत्ते हिंसादि-निवर्तना कृताभवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥
हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥

अर्थ—दर्शनमोहरूप तिमिर को दूर होते संते सम्यग्दर्शन का लाभ तें प्राप्त भया है सम्यग्ज्ञान जाकें ऐसा साधु अर्थात् निकट भव्य रागद्वेष का अभाव के अर्थि चारित्र अंगीकार करे है। ४७॥ रागद्वेष के अभाव तें हिंसादि का अभाव होय है ॥४८॥ हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, परिग्रह; ये पाप आवने के पनाला हैं इनसे विरति (विरक्त) होना सो चारित्र (व्रत) है ॥४९॥ इसप्रकार श्री समन्तभद्राचार्य ने भी हिंसा आदि पाँच पापों से विरति (व्रत) को चारित्र कहकर रागद्वेष के अभाव के लिये अंगीकार करना कहा है। श्लोक १३७ में प्रथम प्रतिमा के श्रावक का स्वरूप बतलाते हुए ('संसार-शरीर-भोगनिर्विण्णः' पद दिया है अर्थात् प्रथम प्रतिमा धारक श्रावक 'निरन्तर संसार, शरीर और इन्द्रियों के भोग तें विरक्त होय है। इन आगम प्रमाणों से सिद्ध है कि 'व्रत व प्रतिमा वीत-रागता का माप है न कि रागद्वेष का। यदि यहाँ पर कोई यह तर्क करे कि 'समयसार गाथा २६४ में अहिंसा आदि व्रतों को बंध का कारण कहा है और गाथा १०५ में 'रागी जीव कर्म है' ऐसा कहा है अतः अहिंसा आदि व्रत राग हैं।' तो ऐसा तर्क उचित नहीं है, क्योंकि समयसार गाथा २६४ में व्रतों को पुण्यबंध का कारण नहीं कहा है किन्तु यह कहा है कि—जो व्रतों में अध्यवसान करता है वह पुण्य बाँधता है। अर्थात् 'अध्यवसान' को बंध का कारण कहा है। गाथा २७१ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'अध्यवसान' का लक्षण इसप्रकार कहा है—स्वपर का अविवेक हो (भेदज्ञान न हो) तब जीव की अध्यवसिति मात्र (मिथ्या परिणति, मिथ्या निश्चय होना) अध्यवसान है।'

समयसार गाथा १९० में आस्रव का हेतु अध्यवसान कहा और अध्यवसान का लक्षण मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत व योग कहा है। मोक्षशास्त्र में भी मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय व योग को बंध का कारण कहा है (अध्याय ८ सूत्र १)। किसी ने भी व्रत को आस्रव या बंध का कारण नहीं कहा है। व्रत से तो अविरत संबंधी आस्रव रुककर संवर हो जाता है। मिथ्यात्व के उदय के अभाव में १६ प्रकृतियों का; अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में २५ प्रकृतियों का, अप्रत्याख्यानावरणीयकषाय के अभाव में एकदेश व्रत हो जाने पर १० प्रकृतियों का और प्रत्याख्यानावरणीय के अभाव में सर्वदेश (मुनि) व्रत होने पर ४ प्रकृतियों का आस्रव व बंध रुककर संवर हो जाता है और व्रतों के प्रभाव से देशसंयमी व सकल संयमी के प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहती है। (षट्खंडागम पृ० ७ व १० व १२)। अन्यत्र भी कहा है—

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवर णामा जोगा–भावो तहच्चेव ॥९५॥ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायनि का जीतना तथा योगनिका अभाव एते संवर के नाम हैं।

भावार्थ—पूर्वे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योगरूप पाँच प्रकार आस्रव कहा था, तिनका रोकना सो ही संवर है। अविरति का अभाव एकदेश तो देशविरत विषै होय और सर्वदेश प्रमत्तगुणस्थान विषै भया तहाँ अविरत का संवर भया। (पं० जयचन्दजी कृत भाषा टीका)

वदसमिदी गुत्तीओ धम्माणुपेहा परिसहजओ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवर-विसेसा ॥३५॥ बृहद् द्रव्यसंग्रह

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और बहुत प्रकार का चारित्र ये सब भावसंवर के भेद जानने चाहिए ॥३५॥ इस गाथा में भी श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतदेव ने व्रत को भावसंवर कहा है। वीतरागरूप परिणाम ही भावसंवर हो सकते हैं अतः व्रत भावसंवररूप होने से वीतरागता का माप है। यदि व्रत को राग का माप माना जावे तो व्रत को भावसंवर की बजाय भाव आस्रव मानना पड़ेगा और भाव आस्रव मानने से उपर्युक्त आगम से विरोध आवेगा।

इसप्रकार इन उपर्युक्त आगमों से यह स्पष्ट है कि **बंध का कारण अध्यवसाय है व्रत नहीं हैं। व्रत तो संवररूप होने से वीतरागता के द्योतक हैं, राग के द्योतक नहीं हैं। अतः व्रत वीतरागता के माप हो सकते हैं, राग के माप नहीं हो सकते।**

यदि यहाँ कोई यह आशंका करें कि **मोक्षशास्त्र** में व्रतों को पुण्यास्रव का कारण कहा है तो उस पर प्रतिशंका की जा सकती है कि—**मोक्षशास्त्र अध्याय ६ सूत्र २१** में सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) को देवायु के आस्रव का कारण भी तो कहा है। वास्तव में व्रत (चारित्र) या सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) आस्रव के कारण नहीं है यदि सम्यग्दर्शन व चारित्र आस्रव के कारण हो जावें तो संवर निर्जरा व मोक्ष किन परिणामों से होगा ? अतः सम्यक्त्व व व्रत तो संवर, निर्जरा व मोक्ष के साधन अथवा भावसंवर निर्जरा एवं मोक्षरूप हैं। सम्यक्त्व व व्रत के होते संते जो कषाय व योग होता है वह राग व योग आस्रव को कारण है। सम्यक्त्व व व्रत के साथ कषाय व योग कहाँ पर होता है इस का खुलासा इसप्रकार है।

सम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली (चौदहवें) गुणस्थान तक होते हैं (**षट्खंडागम पुस्तक १ पृष्ठ ३९६ सूत्र १४५**) व्रती अर्थात् संयतजीव प्रमत्तसंयत (छठे) गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवलीगुणस्थान तक होते हैं (**षटखंडागम पु० १ पृष्ठ ३७४ सूत्र १२४**)। असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें) गुणस्थान तक कषाय का उदय रहता है और उपशांतमोह, क्षीणमोह व सयोगिकेवली गुणस्थानों में योग रहता है अतः सम्यग्दर्शन व संयम (व्रत) के साथ होनेवाले कषाय व योग अथवा मात्रयोग के कारण सयोगी तेरहवें गुणस्थान तक आस्रव होता है।

सम्यक्त्व व व्रत आस्रव के कारण न होते हुए भी योग व कषाय की संगति से आस्रव के कारण कह दिये जाते हैं अर्थात् **मोक्षशास्त्र** में कह दिये गये हैं। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी **पुरुषार्थसिद्धयुपाय** मे इसप्रकार कहा है जितने अंशों में सम्यग्दर्शन व चारित्र है उतने अंशों में बंध नहीं है जितने अंशों में राग है उतने अंशों में बंध है। योग से प्रदेशबंध होता है कषाय से स्थितिबंध होता है। दर्शन व चारित्र न योगरूप हैं, न कषायरूप हैं। सम्यक्त्व और चारित्र के होते हुए तीर्थंकर व आहारक का बंध योग व कषाय से होता है। (**गाथा २१२, २१३, २१४, २१५ व २१८**)

यदि व्रत संवर के कारण हैं आस्रव के कारण नहीं हैं तो समाधिशतक **श्लोक ८३ व ८४** में अव्रतों के समान व्रतों के छोड़ने का उपदेश क्यों दिया ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर इस प्रकार है—समाधिशतक में व्रतों के विकल्प के छोड़ने का उपदेश है। व्रतों के विकल्प को भी उपचार से 'व्रत' शब्द से संकेत कर देते हैं। अतः उक्त **श्लोक ८३ व ८५** में 'व्रत शब्द से अभिप्राय व्रतों के विकल्प का है। रागादि की निवृत्ति व्रत है और व्रत भावसंवर है; जैसा कि ऊपर आगम प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। फिर ऐसे लक्षण वाले व्रत को छोड़ने का उपदेश वीतरागी आचार्य कैसे दे सकते हैं ? क्योंकि व्रत तो मोक्षमार्ग हैं। व्रत को छुड़ाना अर्थात् मोक्षमार्ग को छुड़ाना है।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में हिंसादि त्याग के विषय में इस प्रकार कहा है—'जे जीव हित अहित को जानै नाहीं, हिंसादि कषाय कार्यनिविषै तत्पर होय रहे हैं, तिनको जैसे वे पाप कार्यनि को छोड़ि धर्मकार्य विषै लागे तैसे उपदेश दिया। ताको जिन धर्म आचरण करने को सन्मुख भए, ते जीव गृहस्थधर्म का विधान सुनि आपतैं जैसा धर्म सधै तैसा धर्म साधन विषै लागे हैं। ऐसे साधन तें कषाय मंद हो है। ताके फल तैं इतना हो है, जो कुगति विषै दुःख न पावे अर सुगति विषै सुख पावै। ऐसे साधन ते जिनमत का निमित्त बनया रहे। तहाँ तत्त्वज्ञान-प्राप्ति होनी होय तो होय जाय बहुरि जीवतत्त्व के ज्ञानी होय कर चरणानुयोग को अभ्यासे है तिन को ए सर्व आचरण अपने वीतरागता भासैं हैं। एकदेश वा सर्वदेश वीतरागता भये ऐसी श्रावक ऐसी मुनि दशा होय है।'

इस प्रकार श्रावकव्रत या मुनि व्रत वीतरागभाव के माप हैं रागभाव के माप नहीं हैं।

—जै. सं. 22 व 29-5-58/VI/ला. शिवप्रसाद

दूसरी प्रतिमा में व्रतों का पालन सातिचार या निरतिचार

शंका—दूसरी व्रत प्रतिमा वाला बारह व्रतों को क्या निरतिचार पालेगा ?

समाधान—दूसरी प्रतिमा वाले श्रावक को बारह व्रतों का निरतिचार पालन करना चाहिए। यदि कोई अतिचार लग जाय तो तुरन्त प्रायश्चित द्वारा उस दोष को धो डालना चाहिए।

—जै. ग. 14-12-72/VII/ कमलादेवी

देशसंयत के स्वल्पनिदान सम्भव है

शंका—मोक्ष शास्त्र अध्याय ७ सूत्र १८ में निःशल्यो व्रती, कहा है किन्तु अध्याय ९ सूत्र ३४ में निदान आर्तध्यान देशविरत के कहा है। जिसके निदान है उसके सूत्र १८ के अनुसार व्रत कैसे सम्भव हैं ?

समाधान—इस प्रकार की शंका का उत्तर तत्त्वार्थवृत्ति टीका में इस प्रकार दिया गया है—

"देशविरतस्यापि निदानं न स्यात् सशल्यस्य व्रतित्वाघटनात्। अथवा स्वल्प निदानशल्येनाणुव्रतित्वा-विरोधात् देशविरतस्य चतुर्विधमप्यार्तं संगच्छत एव।"

शल्यवाले के व्रतपना घटित नहीं होता है अतः देशविरत के निदान आर्तध्यान नहीं होता है। अथवा स्वल्प निदान शल्य का अणुव्रत से विरोध नहीं है, अतः देशविरत के चारों प्रकार के आर्तध्यान की संगति बैठ जाती है।

—जै. ग. 1-1-76/VIII/ ....

तीर्थंकरों के देशसंयम यथाकाल नियम से हो जाता है

शंका—तीर्थंकर अणुव्रत ग्रहण करते हैं या सीधा महाव्रत लेते हैं ? श्री पार्श्वनाथ भगवान की जयमाल में आठ वर्ष की अवस्था में अणुव्रत का कथन है।

समाधान—सभी तीर्थंकरों के अपनी आठ वर्ष की आयु के पश्चात् अणुव्रत ग्रहण हो जाता है। उत्तर पुराण के ५३वें पर्व में कहा भी है—

स्वायुराद्यष्ट वर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत् ।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ॥३५॥

प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन आठ कषायों का उदय तो नष्ट नहीं हुआ है। किन्तु अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों का उदयअभाव हो जाने से सभी तीर्थंकरों के अपनी आयु के प्रारम्भिक आठ वर्ष के पश्चात् देश संयम हो जाता है।

इस आर्ष वाक्य से तीर्थंकरों के अणुव्रत की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि अणुव्रत के बिना देश संयम नहीं हो सकता।

—जै. ग. 13-1-72/VII/ ग. म. सोनी

श्रावक खेती कर सकता है

शंका—अहिंसा अणुव्रत वाला श्रावक खेती आदि तथा अन्य व्यापार कैसे कर सकता है, क्योंकि इनमें महारंभ व त्रस हिंसा होती है। खेती आदि में भावहिंसा व द्रव्यहिंसा दोनों होती हैं?

समाधान—श्रावक संकल्पी हिंसा का त्यागी है। उद्योगी, आरंभी व विरोधी हिंसा का उसके त्याग नहीं है।

हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽरंभानारंभजत्वतोदक्षैः ।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च ॥ ६/६ ॥
गृहवाससेवनरतो मंद कषायः प्रवृत्तितारंभाः ।
आरंभजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥६/७॥ अमित. श्राव.

अर्थ—हिंसा दो प्रकार की है (१) आरम्भ जनित (२) अनारम्भ जनित। गृहवास से निवृत्त मुनि तो दोनों प्रकार की हिंसा का त्याग करे है। गृहवास के सेवने में रत श्रावक मंदकषाय से आरंभ करे हैं, इसलिये आरम्भ-जनित हिंसा का त्याग करने को समर्थ नहीं है। खेती आदि के आरम्भ में जो त्रसहिंसा होती है श्रावक उसका त्यागी नहीं है।

—जै. ग. 25-12-69/VIII/ रो. ला. जैन

[अधस्तन प्रतिमाधारी] पंचमगुणस्थानवर्ती युद्ध में लड़ सकता है

शंका—क्या पंचमगुणस्थानवर्ती युद्ध में लड़ता भी है? देशसंयमी कैसे लड़ सकते हैं?

समाधान—अपने देश व धर्म की रक्षा हेतु पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक युद्ध में लड़ सकता है, क्योंकि वह विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं है। वह तो मात्र संकल्पीहिंसा का त्यागी है।

—पत्राचार 15-11-75/ ज. ला. जैन, भीण्डर

सामायिक काल में श्रावक के महाव्रतों का उपचार

शंका—सर्वार्थ सिद्धि ग्रंथ अध्याय ७ सूत्र २१ में सामायिक के काल में श्रावक के महाव्रत कहे हैं। क्या चौथे गुणस्थान वाला महाव्रती हो सकता है? यदि सवस्त्र के महाव्रत हो सकते हैं तो सवस्त्र के मुक्ति भी सिद्ध हो जायगी?

समाधान—सामायिक में स्थित श्रावक के सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के हिंसा आदि पापों का त्याग हो जाने से यद्यपि महाव्रत कहा है तथापि यह कथन उपचार से है, क्योंकि उसके महाव्रत को घात करने वाली प्रत्याख्यानरूप चार कषायों का उदय पाया जाता है (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र २१)।

जिस समय तक वस्त्र आदि उतारकर केशलोंच आदि करके गुरु से मुनिदीक्षारूप महाव्रत ग्रहण नहीं करता उस समय तक वह पुरुष महाव्रती नहीं हो सकता। यद्यपि वस्त्र आदि परद्रव्य है तथापि महाव्रत के लिए उनका त्याग अनिवार्य है क्योंकि, वस्त्र आदि का भाव-असंयम के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है (धवल पु. १ पृ. ३३३)। समयसार गाथा २८३-२८५ की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है कि 'परद्रव्य ही आत्मा के रागादि भावों के निमित्त हैं और ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है। तथापि जब तक निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक नैमित्तिकभूत रागादिभावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता।'

अतः वस्त्रादि के त्याग किये बिना, महाव्रत नहीं हो सकते और जब महाव्रत नहीं हो सकते तो मोक्ष कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। जो बाह्य निमित्त कारणों को अकिंचित्कर मानते हैं उनके मत से वस्त्र आदि का त्याग किये बिना भी मोक्ष हो जाता है। जिनके आजन्म से ये संस्कार रहे हैं कि सवस्त्र मुक्ति होती है क्योंकि परद्रव्य अकिंचित्कर है, व आज भी पूर्व संस्कार वश निमित्तकारणों को अकिंचित्कर कहकर मात्र आत्मयोग्यता से ही मुक्ति मानते हैं।

चौथे गुणस्थान वाले के सामायिक के समय भी सातवां गुणस्थान नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय पाया जाता है और इन दोनों कषायों का उदय आत्मा के संयमभाव का घातक है।

—जै. ग. 12-12-63/IX/ प्रकाशचन्द

सामायिक के समय बातचीत नहीं करनी चाहिए

शंका—सामायिक के समय श्रावक को बात करनी चाहिए या नहीं ? क्योंकि अवलम्बन से श्रावक का मन स्थिर रह सकता है।

समाधान—सामायिक के समय श्रावक को बातचीत नहीं करनी चाहिए। उस समय मन, वचन, काय को स्थिर रखना चाहिये। बात करने से मन, वचन व काय स्थिर नहीं रहते हैं। अतः सामायिक के समय मौन रहना चाहिए। कहा भी है—

आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वान्तिवत्।
मौनं कुर्वीतशश्वद्वा, भूयो वाग्दोषविच्छिदे॥ (सा. ध. अ. ४/३८)

वमन की तरह सामायिक आदि छह आवश्यक कर्मों में, मलमूत्र के क्षेपण करने में, पापकार्यों में (मैथुनादिक में), तथा स्नान व भोजन में मौन रखे अथवा वचन सम्बन्धी बहुत से दोषों को दूर करने के लिए निरन्तर ही मौन करे।

मन को स्थिर रखने के लिए अवलम्बन की आवश्यकता है, क्योंकि श्रावक का मन बिना अवलम्बन के स्थिर नहीं रह सकता है। गृहस्थ को सदाकाल बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह परिमितरूप से रहते हैं तथा आरम्भ भी

अनेक प्रकार के होते हैं। गृहस्थों को घर के कितने ही व्यापार करने पड़ते हैं। जब वह गृहस्थ अपने नेत्र बन्द करके ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार आ जाते हैं। निरालम्ब ध्यान करने वाले गृहस्थ का चित्त कभी स्थिर नहीं रहता। कहा है—

> जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाणणिच्चलं झाणं।
> सुद्धं च णिरालंबण मुणइसो आयमो जइणो ।। ३८२ ।। भावसंग्रह

यदि कोई पुरुष यह कहे कि गृहस्थों के भी निश्चल, निरालम्ब और शुद्ध ध्यान होता है तो समझना चाहिए कि इस प्रकार कहने वाला पुरुष मुनियों के शास्त्रों को नहीं मानता।

गृहस्थ को मन स्थिर करने के लिये पंचपरमेष्ठियों के वाचक शब्दों का तथा पंच परमेष्ठियों के स्वरूप का आलम्बन लेना चाहिये। कहा भी है—

> पणतीस सोलछप्पणचउदुगमेगं च जवहज्झाएह।
> परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ।। ४९ ।। बृ. द्र. सं. ।।

पंचपरमेष्ठियों के कहने वाले जो पैंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षररूप मंत्रपद हैं, उनका जाप्य करो और ध्यान करो। इनके सिवाय अन्य जो मंत्रपद हैं उन्हें भी गुरु के उपदेशानुसार जपो और ध्यावो। सामायिक के समय 'अरिहन्त आदि' पदों का उच्चारण करते समय अरिहन्त आदि के स्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए। जो अरिहन्त का स्वरूप है सो ही मेरा स्वरूप है। इस ओर भी लक्ष्य रखना चाहिए।

—जै. सं. 10-10-57/ ...... /भा. व. जैन, ताडदेवी

पंचम प्रतिमा

शंका—पंचम प्रतिमाधारी कच्चे पानी से स्नान कर सकता है या नहीं ?

समाधान—रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक १४१ तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३७९–३८१ में पंचम प्रतिमावाले को सचित्त भक्षण का निषेध किया है, स्नान का निषेध नहीं किया है; फिर भी व्रतों की वृद्धि के लिए पंचम प्रतिमाधारी को अचित्त जल से स्नान करना उचित है।

—जै. ग. 11-1-62/VIII/ ....

फलों का अचित्तीकरण

शंका—सिजाये बिना क्या मात्र गर्म कर देने से फल आदि अचित्त हो जाते हैं ?

समाधान—फल आदि को अचित्त करने के लिये सिजाने की कोई आवश्यकता नहीं है। गर्म कर देने से भी अचित्त हो जाते हैं। पाँचवीं प्रतिमा सचित्त त्याग प्रतिमा है। अतः चौथी प्रतिमा से उपरांत फल आदि सचित्त नहीं ग्रहण करने चाहिए। इन्द्रिय विजय के लिये सचित्त त्याग अति आवश्यक है।

—जै. ग. 3-10-63/IX/ मगनमाला

छठी प्रतिमा का नाम रात्रिभोजन-त्याग या दिवामैथुन त्याग

शंका—श्रावक को छठी प्रतिमा में रात्रि भोजन का त्याग बतलाया गया है और कहीं कहीं दिवस मैथुन त्याग भी बतलाया है। रात्रि भोजन त्याग तथा दिवस मैथुन त्याग का परस्पर क्या संबन्ध है ?

समाधान—श्रावक की छठी प्रतिमा के दो नाम हैं (१) रात्रि भोजन त्याग (२) दिवस मैथुन त्याग। अतः इन दोनों नामों की अपेक्षा से छठी प्रतिमा के दो प्रकार के स्वरूप का कथन पाया जाता है। श्रावक के अभक्ष्य का त्याग होता है। उस अभक्ष्य के त्याग में रात्रि भोजन त्याग हो जाता है। मांस के त्याग से भी रात्रि-भोजन का त्याग हो जाता है। हिंसा-त्याग में भी रात्रि भोजन त्याग गर्भित है। अतः छठी प्रतिमा में रात्रि भोजन त्याग न बतलाकर दिवस मैथुन त्याग बतलाया गया है। क्योंकि सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा में मैथुन का सर्वथा त्याग किया जाता है।

रात में स्वयं भोजन करने का त्याग तो पूर्व में ही हो गया था। छठी प्रतिमा में कारित और अनुमोदन का भी त्याग हो जाता है। इसलिये इसका नाम रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा रखा गया है। कहा भी है—

"ण य भुंजावदि अण्णं णिसि-विरओ सो हवे भोज्जो ॥३८२॥ (स्वा. का. अ.)

इसके अर्थ में श्री पं० कैलाशचन्द्रजी ने लिखा है–रात्रि में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय चारों ही प्रकार के भोजन को स्वयं न खाना और न दूसरे को खिलाना रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा है। वैसे रात्रि भोजन का त्याग तो पहली–दूसरी प्रतिमा में ही हो जाता है, क्योंकि रात में भोजन करने से मांस खाने का दोष लगता है। रात में जीव जन्तुओं का बाहुल्य रहता है और तेज से तेज रोशनी होने पर भी उनमें धोखा हो जाता है, अतः त्रसजीव घात भी होता है। परन्तु यहाँ कृत और कारितरूप से चारों ही प्रकार के भोजन का त्याग निरतिचाररूप से होता है।

छठीप्रतिमावाला श्रावक रात्रि में मेहमान रिश्तेदार आदि को भी भोजन नहीं करायेगा। यदि घर का अन्य कोई भोजन करा देता है तो उसकी अनुमोदना नहीं करेगा। इसलिये छठी प्रतिमा का नाम रात्रिभुक्ति त्याग रखा गया है।

छठी प्रतिमा के दो नाम होने में कोई बाधा भी नहीं है। धर्मध्यान के दूसरे भेद के भी दो नाम हैं एक उपायविचय दूसरा अपायविचय। सम्यग्दर्शन के पाँचवें अंग के दो नाम हैं उपगूहन और उपबृंहण।

—जै. ग. 18-12-69/VII/ बलवन्तराय

ब्रह्मचारी संज्ञा किसकी ?

शंका—जैनागमानुसार ब्रह्मचारी संज्ञा कौनसी प्रतिमाधारी को होती है ?

समाधान—ब्रह्मचारी के पाँच भेद हैं—१. उपनय ब्रह्मचारी—गणधर सूत्र को धारण कर आगम का अभ्यास करते हैं फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं। २. अवलम्ब ब्रह्मचारी—क्षुल्लक का रूप धारण कर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं फिर गृहस्थ अवस्था धारण कर लेते हैं। ३. अदीक्षा ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी भेष के बिना आगम का अभ्यास करते हैं फिर गृहस्थ धर्म में निरत हो जाते हैं। ४. गूढ़ ब्रह्मचारी—कुमार अवस्था में मुनि हो आगम का अभ्यास कर बंधुवर्ग के कहने से तथा परीषह सहन न होने से अथवा राजा की आज्ञा से मुनि दीक्षा छोड़ गृहस्थ में रहने लगते हैं। ५. नैष्ठिक ब्रह्मचारी—समाधिगत, सिर पर चोटी का लिंग, उर (छाती) पर गणधर सूत्र का लिंग, लाल या सफेद खंड वस्त्र व कोपीन, कटि, लिंग, स्नातक, भिक्षावृत्ति, जिन पूजा में तत्पर रहते हैं (चारित्रसार पृ० ४२)।

सातवीं प्रतिमा ब्रह्मचर्य प्रतिमा है अतः सातवीं प्रतिमा से ब्रह्मचारी संज्ञा है। निचली प्रतिमा वालों को भी जिन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया है और गृह निरत हैं उनको भी उपचार से ब्रह्मचारी कहते हैं।

—जै. ग. 27-6-63/IX-X/ मो. ला. सेठी

राज्यसंचालन के योग्य प्रतिमा

शंका—देशव्रती श्रावक राज्य संचालन करते हुए कौनसी प्रतिमा तक के व्रतों का पालन कर सकता है ?

समाधान—देशव्रती श्रावक राज्य-संचालन करते हुए सप्तम प्रतिमा के व्रतों का पालन कर सकता है, क्योंकि अष्टम प्रतिमा में आरम्भ का त्याग हो जाने से राज्य–संचालन का कार्य नहीं कर सकता। कहा भी है—

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमिति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४॥ (रत्न. श्राव.)

अर्थात्—जो जीव हिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापार, आदिक आरम्भ के कामों से विरक्त होता है वह आरम्भत्याग–प्रतिमा का धारी कहलाता है। राज्य संचालन करते हुए जीव–हिंसा के कारण-भूत आरम्भ आदि का त्याग नहीं हो सकता, अतः सप्तमप्रतिमा तक के व्रत पालन कर सकता है।

—जै. ग. 14-5-64/IX/ ब्र पं० सरदारमल

आठवीं प्रतिमा

शंका—अष्टम प्रतिमाधारी अपने कपड़े धो सकता है या नहीं ? पूजन सामग्री धोने के लिए कुए से जल निकाल सकता है अथवा नहीं ?

समाधान—अष्टमप्रतिमाधारी श्रावक अर्थात् आरम्भत्यागी श्रावक शुद्धि के पश्चात् अपना लंगोट आदि निचोड़ कर सुखा सकता है, किन्तु सोड़ा, साबुन लगाकर कपड़े नहीं धो सकता, क्योंकि इसमें जीवों की विराधना होती है। उस विवेकी ने षट्कायिक जीवों का घात देखकर ही तो आरम्भ का त्याग किया है अतः वह स्नान-दान-पूजाविधानादि का आरम्भ नहीं करता। (**रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक १४४ पर संस्कृत टीका**)

—जै. ग. 11-1-62/VIII/ ....

नवम प्रतिमाधारी कदाचित् सवारी में बैठ सकता है

शंका—नवमीं अथवा दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक रेल, मोटर में बैठ सकता है या नहीं, अथवा पंच-कल्याणक-प्रतिष्ठा करा सकता है या नहीं ?

समाधान—नवमीं तथा दसवीं प्रतिमा का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है—

जो आरंभं ण कुणदि, अण्णं कारयदि णेव अणुमण्णे।
हिंसा संतट्ठ मणो, चत्तारंभो हवे सो हु ॥३८५॥
जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतर-बाहिरं च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणो, णिग्गंथो सो हवे णाणी ॥३८६॥ स्वामि कार्तिकेय अ०
सेवाकृषिवाणिज्य, प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भ विनिवृत्तः ॥ २३ ॥

बाह्य ेषु दशसु वस्तुषु, ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः सन्तोषपरः, परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥२४॥ रत्न. श्रा. पंचमपरिच्छेद

श्री स्वामिकार्तिकेय ने तथा श्री समन्तभद्राचार्य ने जो आठवीं प्रतिमा का स्वरूप कहा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि आजीविका संबंधी आरम्भ का त्याग आठवीं प्रतिमा में होता है, धर्म-कार्य सम्बन्धी आरम्भ का त्याग नहीं होता है। धर्म-कार्य के लिये आठवीं प्रतिमावाला सवारी में बैठ सकता है। नवमीं प्रतिमा में परिग्रह का भी त्याग हो जाता है, उसके पास रुपया-पैसा नहीं है, जिससे वह किराया देकर धर्म कार्य के लिये सवारी में जा सके, यदि कोई श्रावक नवमीं-प्रतिमाधारी को अपने साथ सवारी में धर्म कार्य के लिये ले जाय तो नवमी प्रतिमाधारी उसके साथ जा सकता है, किन्तु स्वयं याचना नहीं करेगा।

पंच कल्याणक प्रतिष्ठा धर्म—कार्य है, अतः उसके कराने में भी कोई बाधा नहीं है।

—जै. ग. 5-9-74/VI/ ब्र. फूलचन्द

क्षुल्लक भी मुनियों को आहारदान दे सकता है

शंका—लाटीसंहिता में देवपूजा और मुनियों को आहार देने का उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक-ऐलक) तक के लिये प्रतिपादन किया है, वह कहाँ तक ठीक है ?

समाधान—लाटीसंहिता सर्ग ७, श्लोक ६७-६८-६९ में क्षुल्लक के लिये दान व पूजन का विधान लिखा है, किन्तु नीचे टिप्पण भी लिखा है कि 'यह कथन काष्ठासंघ की अपेक्षा से है। मूलसंघ से इसमें अन्तर है।' जिनेन्द्रदेव की भाव-पूजा और पात्रदान की अनुमोदना क्षुल्लक अवश्य कर सकता है और इसप्रकार पूजा व दान के द्वारा कर्मों का संवर व निर्जरा होती है।

—जै. सं. 25-7-57/ ...... /र. ला. कटारिया, केकड़ी

क्षुल्लक एवं वीरचर्या

शंका—श्रावकाचार ग्रंथों में श्रावक के लिये वीरचर्या का निषेध है। क्या वीरचर्या में केशलोंच भी आ जाता है ? क्या क्षुल्लक केशलोंच कर सकता है ? क्या क्षुल्लक की भी नवधा भक्ति होती है ?

समाधान—'केशलुंचन' वीर चर्या नहीं है। क्षुल्लक केशलोंच कर सकता है। क्षुल्लक भी अतिथि है उसकी भी उसके पद के अनुकूल भक्ति होनी चाहिये।

— जै. ग. 5-6-67/IV/ ब्र. कँवरलाल, जैन

क्षुल्लक "वर्णी" नहीं है

शंका—क्षुल्लक का अपने आपको वर्णी लिखना क्या उचित है ? कौनसी प्रतिमाधारी वर्णी होते हैं ?

समाधान—श्रावक की ग्यारह प्रतिमा होती है। उनमें से आदि की छहप्रतिमा के धारी तो गृहस्थ हैं। मध्य की तीन अर्थात् सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाधारी वर्णी अर्थात् ब्रह्मचारी है और अन्त की दो अर्थात् दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी भिक्षुक हैं, कहा भी है—

षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युः ब्रह्मचारिणः ।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात् सर्वतो यतिः ॥८५६॥ उपासकाध्ययन

अर्थ—इन ग्यारह प्रतिमाओं में से पहले की छहप्रतिमा के धारक गृहस्थ कहे जाते हैं। सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमा के धारक ब्रह्मचारी कहे जाते हैं तथा अन्तिम दो प्रतिमा वाले भिक्षु कहे जाते हैं। और उन सबसे ऊपर मुनि या साधु होते हैं।

अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः।
अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥३॥ सागारधर्मामृत अ. ३

अर्थ—अब्रह्मविरत, आरम्भविरत और परिग्रहविरत ये तीन मध्यमश्रावक वर्णी अर्थात् ब्रह्मचारी होते हैं और अनुमतिविरत तथा उद्दिष्ट-विरत ये दो श्रावक उत्तम और भिक्षुक होते हैं।

इन श्लोकों से ज्ञात होता है कि क्षुल्लक को अपने लिये वर्णी शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं है।

—जै. ग. 5-12-63/IX/ एकाग्रचन्द

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के ११ असंयम

शंका—ग्यारहवीं प्रतिमा वाले श्रावक के ११ अव्रत बतलाये हैं वे कौन कौन से हैं?

समाधान—पाँच स्थावर काय और त्रसकाय इन छह काय जीवों की रक्षा करना तथा पाँच इन्द्रियों और छठे मन को वश में करना ये १२ व्रत हैं। इन बारह व्रतों का न होना १२ प्रकार का असंयम अर्थात् अविरति है। कहा भी है—

"असंजमपच्चओ दुविहो इन्दियासंजम-पाणासंजमभेएण। तत्थ इन्दियासंजमो छव्विहो परिसरस-रूव-गंध-सद्द-णोइंदियासंजमभेएण। पाणासंजमो वि छव्विहोपुढवि-आउ-तेउ-वाउ-वणप्फदितसासंजमभेएण। असंजमसव्व-सम्मासो बारस।"

इन बारह असंयमों में से त्रस असंयम ग्यारहवीं प्रतिमावाले पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक के नहीं होता है शेष ग्यारह असंयम अर्थात् अविरत होते हैं। (धवल पु० ८ पृ० २१-२२)

—जै. ग. 4-9-69/VII/ जैन समाज, रोहतक

क्षुल्लक सवारी का उपयोग नहीं कर सकता

शंका—क्या क्षुल्लक सवारी का उपयोग कर सकता है?

समाधान—क्षुल्लक समस्त परिग्रह का त्यागी होता है। यदि वह सवारी में बैठता है तो उसके किराये के लिए उसको पैसा अर्थात् परिग्रह रखना पड़ेगा तथा उस पैसे के लिए याचना करनी पड़ेगी। दूसरे, क्षुल्लक के सर्व प्रकार के आरम्भ का भी त्याग है, अतः यदि वह सवारी का उपयोग करता है तो उसको आरम्भ सम्बन्धी दोष लगता है। तीसरे, सवारी में बैठकर सामायिक आदि करने से क्षेत्रपरिणाम नहीं बनता, अतः सामायिक में दोष लगता है। सारतः क्षुल्लक को सवारी में नहीं बैठना चाहिए।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

✡

ध्यान

मिथ्यात्वी के निर्विकल्प ध्यान का अभाव

शंका—क्या सातिशय मिथ्यादृष्टि के निर्विकल्पध्यान होता है ?

समाधान—सातिशयमिथ्यादृष्टि के धर्म तथा शुक्लध्यान नहीं होता है, उसके तत्त्वाभ्यास होता है। अतः सातिशयमिथ्यादृष्टि के निर्विकल्पध्यान नहीं होता है। धर्म व शुक्लध्यान सम्यग्दृष्टि के होते हैं, मिथ्यादृष्टि के नहीं होते हैं।

—जै. ग. 4-1-68/VII/ ब्रा. कु. बड़जात्या

प्रतिसमय कोई एक ध्यान होने का नियम नहीं

शंका—क्या संसारी जीव के हरसमय कोई एक ध्यान रहता है ?

समाधान—ध्यान का लक्षण 'एकाग्र चिन्ता निरोध' है जो किसी भी जीव के हरसमय नहीं रहता। अधिकतर भावना रहती है।

एकं प्रधानमित्याहु रग्रमालम्बनं मुखम्।
चिन्ता स्मृतिर्निरोधस्तु तस्यास्तत्रैव वर्तनम् ॥५७॥
द्रव्य-पर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम्।
तत्र चिन्ता-निरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिनाः ॥५८॥

अर्थ—'एक' प्रधान को और 'अग्र' आलम्बन को तथा मुख को कहते हैं। 'चिन्ता' स्मृति का नाम है और 'निरोध' उस चिन्ता का उसी एकाग्र विषयमें वर्तन का नाम है। द्रव्य और पर्याय के मध्य में प्रधानता से जिसे विवक्षित किया जाय उसमें चिन्ता का जो निरोध है, उसको सर्वज्ञ भगवन्तों ने ध्यान कहा है।

संसारी जीव के कोई एक ध्यान हरसमय रहता हो ऐसा नियम नहीं है।

—जै. ग. 23-9-65/IX/ ब्र. पन्नालाल

मिथ्यात्वी के देवायु का बन्ध कैसे ?

शंका—मिथ्यादृष्टि के धर्मध्यान तो होता नहीं। हरसमय आर्त या रौद्रध्यान रहता है जिससे पाप बंध होता है। फिर वह नवग्रैवेयक तक कैसे जा सकता है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि के हरसमय ध्यान रहता हो, ऐसा नियम नहीं है। मिथ्यादृष्टि के मंदकषाय के उदय से परिणामों में विशुद्धता आ जाती है। जिससे ३१ सागर की देवायु का बंध हो जाता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि नवग्रैवेयक में उत्पन्न होता है।

—जै. ग. 26-6-67/IX/ र. ला. जैन

आर्तध्यान क्षायोपशमिक भाव है

शंका—आर्तध्यान को क्षायोपशमिकभाव कहा सो कैसे ?

समाधान—ज्ञान की विशेष पर्याय का नाम ध्यान है। कहा भी है—

"चिन्तायाः ज्ञानात्मिकायाः, वृत्तिविशेषे ध्यानशब्दो वर्तते।" रा. वा. ९/२७/१३

"ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्नि शिखावदवभासमानं ध्यानमिति।" सर्वार्थसिद्धि ९/२७

छद्मस्थ का ज्ञान क्षायोपशमिकभाव है अतः ध्यान भी क्षायोपशमिकभाव है, क्योंकि निश्चल अग्निशिखा के समान निश्चलरूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है। आर्तध्यान भी ज्ञान की पर्याय विशेष है अतः आर्तध्यान भी क्षायोपशमिकभाव है।

—जै. ग. 10-8-72/X/ र. ला. जैन, मेरठ

आर्त्त, रौद्र ध्यान

शंका—आर्त्त, रौद्र ध्यान तीन अशुभलेश्या वाले कृष्ण, नील, कापोत में ही उत्पन्न होना बताया लेकिन रौद्र ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक, आर्त्तध्यान छठे तक (निदान छोड़कर) होना बताया है तो वहाँ पर तो अशुभ लेश्या होती नहीं, सो कैसे बने ?

समाधान—यह कोई नियम नहीं है कि आर्त्त और रौद्रध्यान अशुभ लेश्याओं में ही होते हों, शुभ लेश्याओं में भी हो जाते हैं। किन्तु अधिकतर अशुभ लेश्या में होते हैं अतः आर्त्त और रौद्रध्यान अशुभ लेश्या में होते हैं ऐसा कह दिया जाता है।

—पत्राचार 29-5-54/ ब. प्र. स. पटना

शंका—आर्त रौद्रध्यान एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के होता है क्या ? मन के बिना स्मृति-समन्वाहार कैसे सम्भव है ?

समाधान—असंज्ञीजीवों के मति व श्रुत दोनों प्रकार के ज्ञान होते हैं। स्मृति भी मतिज्ञान है ऐसा सूत्र है—मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। मो० शा० १/१३। जब एकेन्द्रिय जीव के स्मृति ज्ञान हो सकता है तो रौद्रध्यान होने में क्या बाधा है ? एकेन्द्रिय जीव के धर्म व शुक्लध्यान नहीं होता। अतः आर्त व रौद्रध्यान होता है।

—जै. सं. 9-8-56/VI/ क. दे. गया

आर्त रौद्र ध्यान तप नहीं हैं, हीन संहनन वाले के शुक्लध्यान नहीं होता

शंका—ध्यान नामक तप के चार भेद किये। आर्त और रौद्र भी तप हुए ? तप नहीं है तो इन्हें तप के भेदों में क्यों कहा ? ये दोनों हीन संहननवालों के भी हो सकते हैं क्या ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र ३ में तप के द्वारा कर्मों को अविपाक निर्जरा व संवर बतलाया है। उस तप के ६ बहिरंगतप और ६ अन्तरंगतप ऐसे १२ भेद किये हैं। ध्यान को अन्तरंग तप कहा है। यहाँ पर संवर, निर्जरा तत्त्व का प्रकरण है अतः ध्यान से धर्मध्यान व शुक्लध्यान को ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ये ही संवर-निर्जरा के कारण होने से मोक्ष के कारण हैं, जैसा 'परे मोक्षहेतू' सूत्र में कहा है। आर्त और रौद्र कुध्यान होने से संसार के कारण हैं अतः उनके त्याग हेतु उनका भी ध्यान के प्रकरण में कथन दिया गया है। आर्त व रौद्र ध्यान सुतप नहीं हैं, कुतप हो सकते हैं। शुक्लध्यान के अतिरिक्त अन्य तीन ध्यान हीन संहननवालों के भी

हो सकते हैं। शुक्लध्यान श्रेणी में होता है और हीन संहननवाला श्रेणी चढ़ नहीं सकता है अतः हीन संहननवाले के शुक्लध्यान नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 10-8-72/X/ र. ला. जैन, मेरठ

(१) शुभाशुभ उपयोगों के गुणस्थान
(२) सम्यक्त्वी के आर्तरौद्र ध्यान भी क्या शुभोपयोग हैं ?

शंका—आगम में प्रथम से तीसरे गुणस्थान तक अशुभोपयोग कहा है तथा चतुर्थगुणस्थान से छठे गुणस्थान तक शुभोपयोग बताया है। [बृ० द्र० सं० ३४ टीका; प्र० सा० ९ जयसेनीय०] परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि 'सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणिपुण्यम्। अतोऽन्यत् पापम्।' [त० सू० ८।२५-२६] अर्थात् सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम एवं शुभगोत्र पुण्य प्रकृतियाँ हैं तथा इनके अतिरिक्त शेष पाप प्रकृतियाँ हैं। साता आदि शुभप्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत परिणामों को विशुद्धि तथा असाता आदि अशुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत परिणामों को संक्लेश कहते हैं। [धवल ६।१८०] आगमानुसार असाता आदि अशुभ प्रकृतियाँ छठे गुणस्थान तक बँधती हैं। [गो० क० ९८] अतः सिद्ध हुआ कि छठे गुणस्थान तक संक्लेश है। यह तो सर्वविदित ही है कि चतुर्थगुणस्थान में कृष्ण लेश्या भी होती है तथा प्रमत्तसंयतों के भी आर्तध्यान-अशुभध्यान पाया जाता है। देशसंयतों के परिग्रहानन्दी आदि रौद्रध्यान पाये जाते हैं। [त० सू० ९।३४-३५ एवं ध० २।४३५] इन सबकी जहाँ संभावनाएँ हैं, ऐसे चतुर्थ से षष्ठ गुणस्थान वालों के शुभोपयोग भी कैसे माना जा सकता है ? ये क्रियाएँ तो अशुभोपयोग को बताती हैं। [भावपाहुड ७६] क्या संक्लेश, कृष्णलेश्या आदि के काम में भी असंयत सम्यक्त्वी आदि के शुभोपयोग भाव कहा जाय ?

समाधान—संसार में दो पाप हैं—१. मिथ्यात्व और २. कषाय। प्रथम से तीसरे गुणस्थान तक दोनों पाप रहते हैं, अतः दोनो पापों की सदा विद्यमानता की दृष्टि से वहाँ अशुभोपयोग कहा है तथा चतुर्थ से छठे गुणस्थान में मिथ्यात्व नामक पाप चला गया तथा केवल कषाय पाप ही अवशिष्ट है, अतः इस दृष्टि [एक पाप के अभाव की दृष्टि] से वहाँ शुभोपयोग कहा है। आगे के गुणस्थानों में [अप्रमत्त से क्षीणकषाय तक] बुद्धिपूर्वक कषाय [राग-द्वेष] का भी अभाव हो गया तथा शुक्लध्यान है अतः वहाँ शुद्धोपयोग कहा गया है। सातिशय अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में भी शुक्लध्यान है, अतः सातवें गुणस्थान मे भी शुद्धोपयोग है।

इस प्रकार एक विवक्षा में पापों के अभाव की अपेक्षा शुभाऽशुभ उपयोग कहा गया।

अन्यत्र तीव्र कषाय की अपेक्षा [संक्लेश की अपेक्षा] अशुभोपयोग और मन्द कषाय अर्थात् विशुद्धपरिणाम की अपेक्षा शुभोपयोग कहा गया है।

दोनों कथनों में भिन्न-भिन्न विवक्षा है, अन्य कोई बाधा नहीं है। [प्रवचनसार गा० ९ की जयसेनाचार्य कृत टीका भी द्रष्टव्य है।]

—पत्राचार 7-3-76/ ... /ब. ला. जैन, भीण्डर

आर्त व रौद्र ध्यान में भी "एकाग्रचिन्तानिरोध" होता है

शंका—आर्त व रौद्र परिणामों को 'ध्यान' संज्ञा क्यों दी गई है ?

समाधान—आर्त व रौद्र परिणामों को 'ध्यान' संज्ञा नहीं दी गई है, किन्तु आर्त या रौद्र परिणाम के विषयभूत किसी भी द्रव्य या पर्याय में एकाग्रता का होना आर्त या रौद्रध्यान है, क्योंकि ध्यान का लक्षण 'एकाग्र-चिन्ता निरोध' वहाँ पर पाया जाता है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों अशुभ ध्यान हैं।

—जै. ग. 23-9-65/IX/ ब्र. पन्नालाल

विषयानन्दी रौद्र ध्यान में कुशीलपाप गर्भित है

शंका—रौद्रध्यान चार प्रकार का बतलाया गया उनमें चार पाप आ गये। पाँचवें पाप कुशील सम्बन्धी रौद्रध्यान क्यों नहीं कहा गया ?

समाधान—रौद्रध्यान के चार भेद निम्न प्रकार हैं—

"हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत देशविरतयोः।" तत्त्वार्थ सूत्र

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के लिये सतत चिन्तन करना रौद्र ध्यान है। इनमें चौथे भेद विषयसंरक्षण में कुशील व परिग्रह दोनों पाप गर्भित हैं। कुशील भी स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है।

—जै. ग. 10-8-72/X/ र. ला. जैन, मेरठ

निदान शल्य, निदान आर्तध्यान व निदानबन्ध में अन्तर

शंका—निदान से क्या तात्पर्य लेना चाहिये ? निदान शल्य, निदान-आर्तध्यान, निदानबन्ध और कांक्षा इनमें परस्पर क्या अन्तर है ?

समाधान—निदान का अर्थ है बन्धन के उपयोग में आनेवाली रस्सी। शल्य का अर्थ है पीड़ा देनेवाली वस्तु। जब शरीर में काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीड़ा का भाव है, वह शल्य शब्द से लिया गया है। भोगों की लालसा निदान शल्य है। सर्वार्थ सिद्धि ७।१८। भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति के आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए जो मनः प्रणिधान का होना अर्थात् संकल्प तथा निरन्तर चिन्ता करना निदान नाम का चौथा आर्तध्यान है। स. सि. ९।३३।

"उभयलोकविषयोपभोगाकाङ्क्षा।" रा. वा. ६।२४।

इस लोक और परलोक दोनों लोकसम्बन्धी विषयों के उपभोग की आकांक्षा यह सम्यग्दर्शन का दोष है।

निदान अर्थात् आगामी पर्यायसम्बन्धी आकांक्षा के अनुसार गति का बन्ध हो जाना निदान बन्ध है।

यद्यपि इनमें अन्तर बहुत सूक्ष्म है, तथापि इन लक्षणों के द्वारा इनका पारस्परिक अन्तर जाना जाता है।

—जै. ग. 10-8-72/X/र. ला. जैन, मेरठ

धर्मध्यान

शंका—क्या धर्मध्यान बन्ध का कारण है ? यदि धर्मध्यान बन्ध का कारण नहीं है तो आर्तध्यान भी बन्ध का कारण नहीं होना चाहिए।

समाधान—जो जीव-परिणाम बन्ध के कारण होते हैं वे संसार के हेतु होते हैं और जो जीवपरिणाम संवर-निर्जरा के कारण होते हैं वे मोक्षहेतु होते हैं। मो० शा० अध्याय ९ सूत्र २९ इस प्रकार है—परे मोक्षहेतू

अर्थात् शुक्लध्यान और धर्मध्यान मोक्षहेतु हैं। परे मोक्षहेतू इति वचनात्पूर्वे आर्तरौद्रे संसारहेतू इत्युक्तं भवति। कुतः ? तृतीयस्य साध्यस्याभावात्। पर मोक्ष के हेतु हैं इस वचन से पूर्व के आर्त व रौद्र ये संसार के हेतु हैं, यह तात्पर्य फलित होता है, क्योंकि मोक्ष और संसार के सिवा और कोई तीसरा साध्य नहीं है। (स. सि. टीका)

मोह सव्वुवसमो पुण धम्मज्झाण फलं, सकसायत्तणेण धम्मज्झाणिणो सुहुमसांपराइयस्स चरिमसमए मोहणीयस्स सव्वुवसमुवलंभादो। मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं सुहुमसांपराय चरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।

(ध० खं० पु० १३।८०-८१)

अर्थ—मोह का उपशम करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि कषायसहित धर्मध्यानी के सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थान के अन्तिमसमय में मोहनीयकर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। मोहनीय का विनाश करना भी धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है।

मोहनीयकर्म का उदय ही बन्ध का कारण है, किन्तु धर्मध्यान उस मोहनीयकर्म की सर्वोपशमना तथा क्षय का कारण है, फिर वह धर्मध्यान बंध का कारण किसप्रकार हो सकता है ? दर्शनमोह का उपशम तथा क्षय सातवें गुणस्थान तक ही होता है, उससे ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होता है। दर्शनमोह की उपशामना तथा क्षय में भी धर्मध्यान कारण है। ऐसा धर्मध्यान बंध का कारण किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। वस्तुस्वरूप को समझे बिना जो धर्मध्यान को बन्ध का कारण कहते हैं, उन्हें आगमवाक्य का भय नहीं है। आगमविरुद्ध कथन करने से मिथ्यात्व का तीव्रबन्ध होता है।

—जै. सं. 27-12-56/ क. दे. गया

धर्मध्यान के योग्य गुणस्थान

शंका—धर्मध्यान किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक होता है ? क्या १२ वें गुणस्थान में भी धर्मध्यान होता है ? क्या तीसरे गुणस्थान में भी धर्मध्यान होता है ?

समाधान—धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि दसवें गुणस्थान तक ही कषाय का सद्भाव है। अकषाय जीव के धर्मध्यान नहीं होता, शुक्लध्यान होता है। श्री वीरसेनाचार्य ने कहा भी है—

"असंजदसम्माइट्ठि – संजदासंजद- पमत्तसंजद– अप्पमत्तसंजदअणियट्टिसंजद–सुहुमसांपराइय – खवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो। धवल पु० १३ पृ० ९४।

अर्थ—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक और उपशामक अपूर्वकरणसंयत, क्षपक और उपशामक, अनिवृत्तिकरणसंयत तथा क्षपक और उपशामक, सूक्ष्मसाम्परायसंयत अर्थात् चौथे से दसवें गुणस्थानवर्ती जीवों के धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान कषाय सहित सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है।

बारहवाँ गुणस्थान कषायरहित अकषाय जीवों का है, अतः बारहवें गुणस्थान में धर्मध्यान नहीं होता है।

तीसरे गुणस्थान में जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है अतः तीसरे गुणस्थान में धर्मध्यान नहीं होता।

कषाय अथवा राग दो प्रकार का है बुद्धिपूर्वक राग और अबुद्धिपूर्वक राग। इनका लक्षण निम्न प्रकार है—

"बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारेण बाह्यविषयानालम्ब्य प्रवर्तंते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवंति। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इंद्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवागोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।" समयसार पृ० २४६ रायचन्द्र ग्रंथमाला।

अर्थ—जो परिणाम मन के द्वारा बाह्यविषय का आलंबन लेकर प्रवर्तता है वह बुद्धिपूर्वक है, क्योंकि वह स्वानुभवगम्य है और अनुमान से दूसरे भी जान लेते हैं। जो अबुद्धिपूर्वक परिणाम हैं वे इन्द्रिय व मन के व्यापार के बिना केवल मोहनीयकर्म के उदय से होते हैं और स्वानुभवगोचर भी नहीं हैं इसलिये अबुद्धिपूर्वक हैं।

जिन आचार्यों ने बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनों प्रकार के कषाय के अभाव में शुक्लध्यान माना है उनके मत के अनुसार तो धर्मध्यान दसवेंगुणस्थान तक है, क्योंकि वहाँ तक ही बंध है। किन्तु जिन आचार्यों ने बुद्धिपूर्वक कषाय के अभाव में जीव को वीतरागी और अबंधक माना है अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कषाय को तथा उससे होने वाले बंध को गौण कर दिया है उन आचार्यों के मतानुसार धर्मध्यान सातवेंगुणस्थान तक है और उपशम तथा क्षपक श्रेणी में शुक्लध्यान है, क्योंकि वहाँ पर बुद्धिपूर्वक राग का अभाव है।

श्री पूज्यपाद आचार्य तथा अन्य आचार्यों ने आठवें आदि गुणस्थानों में भी शुक्लध्यान का कथन किया है।

इसप्रकार इन दोनों कथनों में मात्र विवक्षा भेद है। कषाय के अभाव में शुक्लध्यान और कषाय के सद्भाव में धर्मध्यान होता है यह बात दोनों आचार्यों को इष्ट है। कुछ आचार्यों ने बुद्धिपूर्वक कषाय के सद्भाव में धर्मध्यान और बुद्धिपूर्वक कषाय के अभाव में शुक्लध्यान माना है और कुछ आचार्यों ने बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक दोनों कषाय के अभाव में शुक्लध्यान माना है।

गृहस्थ के धर्मध्यान नहीं होता, क्योंकि गृह कार्यों में उसका मन लगा रहता है (भाव संग्रह गाथा ३५९ व ३८३-३८९) किन्तु गृहस्थ के भद्र ध्यान होता है (भाव संग्रह गाथा ३६५)। वास्तव मे धर्मध्यान अप्रमत्त के होता है (हरिवंश पुराण ५६-५१-५२)।

—जै. ग. 16-9-65/VIII/ ब. पन्नालाल

निर्विकल्प समाधि प्राप्ति की भावनारूप विकल्प से जायमान सुख

शंका—द्रव्य दृष्टि प्रकाश भाग ३ बोल नं० १११ इसप्रकार है—'निर्विकल्प होते ही ज्ञाता द्रष्टा हो सकता है। ऐसे विकल्प से ही ज्ञाता मानकर जो होने वाला था सो हुवा, ऐसा मानकर समाधान में सुख मानते हैं, जो तो (मांस खानेवाले) मांस खाने में अघोरी और भुंड (शूकर) विष्टा खाने में, पतंग दीपक में सुख मानते हैं, वैसा जो सुख है ? निर्विकल्प अनुभव बिना धारणा में ठीक माने जो तो कल्पनामात्र है, वास्तविक सुख नहीं।" प्रश्न यह है निर्विकल्प समाधि अवस्था को प्राप्त करने के लिये जो भावनारूप विकल्प है, क्या उस भावना में वैसा ही सुख है जैसा कि मांस भक्षी को मांस खाने में तथा शूकर को विष्टा खाने में सुख होता है ?

समाधान—द्रव्यदृष्टि प्रकाश भाग ३ मेरे सामने नहीं है अतः शंकाकार ने जो लिखा है तथा प्रश्न किया है उसके आधार पर समाधान किया जाता है। निर्विकल्पसमाधि अवस्था से पूर्व जो निर्विकल्पसमाधि के लिये

भावनारूप विकल्प होता है, वह भावना उत्तम है मोक्षमार्ग स्वरूप है, क्योंकि ऐसी सम्यग्दृष्टि संयमी-साधु के ही हो सकती है, उस भावना में सांसारिक विकल्पों से छूट जाने के कारण जो किंचित् आनन्द प्राप्त होता है, वह मांस भक्षी को मांस खाने में तथा शूकर को विष्टा खाने मे प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि ये तो विषय-भोग हैं, विषय-भोग तो दुःखरूप हैं। विषय-भोगों में मिथ्यादृष्टि असंयमी ही सुख मानता है। वहाँ वास्तविक सुख नहीं है सुखाभास है। निर्विकल्पसमाधि की भावना के लिये मांस-भक्षण व विष्टाभक्षण जैसी निकृष्टतम उपमा देना, मात्र हीनभावों का प्रदर्शन है। आर्ष वाक्य इसप्रकार हैं।

"आर्तरौद्रधर्म्यं शुक्लानि ॥२८॥ परे मोक्ष-हेतू ॥ २९ ॥ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥"
[मोक्षशास्त्र अध्याय ९]

"तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुतः? प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्। अप्रशस्तम-पुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम् ॥२८॥ परमुत्तरमन्त्यम्। तत्सामीप्याद्धर्म्यमपि परमइत्युपचर्यते। द्विवचन-निर्देशसामर्थ्याद्। परे मोक्ष-हेतू इति वचनात्पूर्वे आर्तरौद्रे संसार-हेतू इत्युक्तं भवति। कुतः तृतीयस्य साध्यस्याभावात् ॥२९॥ विचयनं विचयो विवेको विचारणेत्यर्थः। मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपाय-विचयः। कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकाल-भवभावप्रत्यय-फलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। लोकसंस्थान-स्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः ॥३६॥" [सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९]

आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं। यह चारप्रकार का ध्यान दो भागों में विभक्त है, क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से वह दो प्रकार का है। जो अपुण्य (पाप) आस्रव का कारण है वह अप्रशस्त है। जो कर्मों के निर्दहन करने की सामर्थ्य से युक्त है वह प्रशस्त है। इन चारध्यानों में से अन्त के दो (धर्म व शुक्ल) ध्यान मोक्ष के कारण हैं। पर, उत्तर और अन्त्य इनका एक अर्थ है। अन्तिम शुक्लध्यान है और उसका समीपवर्ती होने से धर्मध्यान भी पर है ऐसा उपचार किया जाता है, क्योंकि सूत्र में 'परे' यह द्विवचन दिया है, इसलिये उसकी सामर्थ्य से गौण का भी ग्रहण होता है। पर अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ये दोनों मोक्ष के कारण हैं। इस वचन से पहले के दो अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान संसार के हेतु (कारण) हैं, यह तात्पर्य फलित होता है, क्योंकि मोक्ष और संसार के सिवा और कोई तीसरा साध्य नहीं है ॥२९॥

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनके विषय में विचारणा धर्मध्यान है। विचय, विवेक और विचारणा ये एकार्थवाची नाम हैं। ये संसारी प्राणी मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से कैसे दूर होंगे, इसप्रकार पुनः पुनः चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय होता है अर्थात् फल का अनुभव होता है। उस फल अनुभव के उपयोग को ले जाना विपाकविचय धर्मध्यान है। लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

'निर्विकल्प होते ही ज्ञाता-द्रष्टा हो जाता है' ऐसा विकल्प भी धर्मध्यान है तथा निर्विकल्प अवस्था का कारण है। कारण मे कार्य का उपचार करके ज्ञाता-द्रष्टा कहने में कोई बाधा नहीं है।

मांसभक्षी जो मांस खाने में सुख मानता है तथा शूकर विष्टा खाने में जो सुख मानता है वह तो रौद्रध्यान है जो अप्रशस्त है, पाप-बध का कारण है, संसारवृद्धि का कारण है। जबकि धर्मध्यान प्रशस्त है, मोक्ष का कारण है। इस शुभोपयोगरूप धर्मध्यान के द्वारा ही मोहनीयकर्म का क्षय होता है। कहा भी है—

"मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं सुहमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।" धवल १३/८१।

मोहनीयकर्म का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय–गुणस्थान के अन्तिमसमय में मोहनीयकर्म का विनाश देखा जाता है।

मोहनीयकर्म का क्षय होने से ही ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का युगपत् क्षय होता है। यदि मोहनीय कर्म का क्षय न हो तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का भी क्षय नहीं हो सकता और इन तीनों कर्मों के क्षय के अभाव में केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कहा भी है—

"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥" [मोक्षशास्त्र अध्याय १०]

—जै. ग. 31-7-75/X/ राजमल छाबड़ा

गुणस्थानों में धर्मध्यान

शंका—श्रेणी में धर्मध्यान कौनसे गुणस्थान तक रहता है और क्यों ?

समाधान—इस विषय में जैन आचार्यों के दो मत हैं। श्रीमदाचार्य पूज्यपाद का तो यह मत है कि श्रेणी के पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणी में शुक्लध्यान होता है (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९, सूत्र ३६ व ३७ की टीका) श्री अकलंकदेव राजवार्तिककार का भी यही मत है। श्री षट्खंडागम पुस्तक १३ की 'धवल' टीका में पृ० ७४ व ७५ पर श्री वीरसेनाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि सूक्ष्मसाम्परायसंयत (दसवें गुणस्थान) तक धर्मध्यान रहता है और अकषायी जीवों अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान से शुक्लध्यान होता है। दोनों महान् आचार्य हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसा कथन युक्त है और कौनसा अयुक्त है। आगम प्रमाण के अतिरिक्त इस विषय में अन्य युक्ति कोई नहीं है।

—जै. सं 30-1-58/VI/ रा दा. कैराना

करणानुयोग की अपेक्षा असम्यग्दृष्टि जीव के धर्मध्यान संभव नहीं

शंका—जो करणानुयोग की दृष्टि से सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्या उसके धर्मध्यान हो सकता है ? क्या शुक्ललेश्यावाले मिथ्यादृष्टि के धर्मध्यान हो सकता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीयकर्म की तीनप्रकृति (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति) तथा अनन्तानुबन्धीक्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय के बिना कोई भी जीव किसी भी अनुयोग से सम्यग्दृष्टि नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन का अभ्यन्तर साधन दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय है और साधन के बिना साध्य की उपलब्धि नहीं होती। इस विषय में आर्ष वाक्य निम्नप्रकार है—

"साधनं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च। अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा।"

—सर्वार्थसिद्धि १।७

अर्थ—सम्यग्दर्शन का साधन दो प्रकार का है, अभ्यन्तर और बाह्य। दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम क्षय तथा क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है।

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥ ५३ ॥ नियमसार

अर्थ—सम्यक्त्व का बहिरंग निमित्त जिन सूत्र तथा उसका जानने वाला पुरुष है और दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदिक सम्यग्दर्शन के अन्तरंग कारण हैं।

जो करणानुयोग की दृष्टि में सम्यग्दृष्टि नहीं है वह किसी भी अनुयोग की दृष्टि में सम्यग्दृष्टि नहीं है[1] अतः उसके धर्मध्यान सम्भव नहीं है।

शुक्ललेश्या वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के भी धर्मध्यान सम्भव नहीं है क्योंकि उसके मिथ्यात्व और कषाय दोनों पाप हैं। मंद कषाय के सद्भाव में विशुद्ध परिणामों के कारण वह संसार के हेतुभूत ऐसे पुण्य कर्म का बन्ध करता है।

—जै. ग. 16-9-65/VIII/ ब्र. पन्नालाल

(१) धर्मध्यान के भेद, स्वरूप व स्वामी
(२) वर्तमान में उत्कृष्ट धर्मध्यान का अभाव

शंका—आगम में धर्मध्यान के चार भेद कहे हैं। क्या वर्तमान में धर्मध्यान के चारों भेद सम्भव हैं ?

---

१. *करणानुयोग की अपेक्षा असम्यग्दृष्टि जीव भी प्रथमानुयोग व चरणानुयोग से सम्यग्दृष्टि कहा/माना* जा सकता हैं। जो निम्न प्रमाणों से विदित होता है:—(१) प्रथमानुयोग विषै उपचाररूप कोई धर्म का अंग भए सम्पूर्ण धर्म भया कहिए। जैसे जिन जीवनि के शंका, कांक्षादिक न भए, तिनके सम्यक्त्व भया कहिए। सो एक कोई कार्य विषै ही शंका, कांक्षा न किये ही तो सम्यक्त्व न होय, सम्यक्त्व तो तत्त्व श्रद्धान भए होय हैं। परन्तु निश्चयसम्यक्त्व का तो व्यवहार विषै उपचार किया, बहुरि व्यवहारसम्यक्त्व के कोई एक अंग विषै सम्पूर्ण व्यवहारसम्यक्त्व का उपचार किया; ऐसे उपचार करि सम्यक्त्व भया कहिए हैं। बहुरि कोई भला आचरण भए सम्यक्चारित्र भया कहिए हैं। जानैं जैनधर्म अंगीकार किया होय या कोई छोटी-मोटी प्रतिज्ञा गृही होय, ताकौं श्रावक कहिए, सो श्रावक तो पंचम गुणस्थानवर्ती भए होहैं। परन्तु पूर्ववत् उपचार करि याकौं श्रावक कया (प्रथमानुयोग में)। [मोक्षमार्ग प्रकाशक, सस्तीग्रंथमाला, अ० ८ पृष्ठ ४०१]

(२) चरणानुयोग विषैं जैसें जीवनिकैं अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण होय सो उपदेश दिया है। (वही ग्रंथ पृ० ४०७)

(३) चरणानुयोग विषैं व्यवहार लोक-प्रवृत्ति अपेक्षा ही नामादिक कहिए है। यहाँ जाकैं जिनदेवादिकका श्रद्धान पाइए सो तौ सम्यग्दृष्टि, जाकैं तिनका श्रद्धान नाहीं सो मिथ्यात्वी जानना। ... . (वही ग्रंथ, पृ० ४१६)

(४) चरणानुयोग विषै बाह्यतप की प्रधानता है। (वही, पृ० ४१७)

(५) चरणानुयोग विषैं तो बाह्यक्रिया की मुख्यता करि वर्णन करिए है। (वही, पृ० ४१९)

(६) चरणानुयोग विषैं ... चरणानुयोग ही के सम्यक्त्व; मिथ्यात्व ग्रहण करने। (वही, पृ० ४१६)

उक्त सब कथनों से विदित होता है कि करणानुयोग की अपेक्षा असम्यग्दृष्टि शेष अनुयोगों की अपेक्षा भी असम्यग्दृष्टि ही कहा/माना जाय; ऐसा नहीं है। इसके लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक का सम्पूर्ण अष्टम अध्याय पठनीय है।

—सम्पादक

समाधान—धर्मध्यान के चार भेद हैं—१. आज्ञाविचय २. अपाय या उपायविचय ३. विपाकविचय ४. संस्थानविचय। इन चारों का स्वरूप इसप्रकार है—

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत्।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुङ्गवैः ॥३३/२२॥

जिस ध्यान में सर्वज्ञ की आज्ञा को अग्रेसर (प्रधान) करके पदार्थों को सम्यक्प्रकार चितवन करें सो मुनीश्वरों ने आज्ञाविचय नाम धर्मध्यान कहा है।

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥३४।१॥ (ज्ञानार्णव)

जिस ध्यान में कर्मों का अपाय (नाश) हो तथा सोपाय कहिये पंडितजनों करके इसप्रकार जिसमें चिन्तवन किया जाय कि इन कर्मों का नाश किस उपाय से होगा उस ध्यान को बुद्धिमान पुरुषों ने अपायविचय धर्मध्यान कहा है।

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥३५।१॥ [ज्ञानार्णव]

इत्थं कर्म कटुप्रपाककलिताः संसारघोरार्णवे,
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासन्तानसंतापिताः।
मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिता मिथ्यात्ववातेरिताः,
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्ध्यर्थिनः ॥३५।३१॥

प्राणियों के अपने उपार्जन किये कर्म के फल का जो उदय होता है, वह विपाक जानना चाहिये। संसारी-जीवों के कर्म प्रतिक्षण उदय होता है जो ज्ञानावरण आदि अनेकरूप हैं। इसप्रकार भयानक संसाररूप समुद्र मे जो जीव हैं वे ज्ञानावरण आदि कर्मों के तीव्रोदय (कटुपाक) से संयुक्त हैं। वे दुर्गति के दुःखरूपी बड़वानल की ज्वाला के संताप से संतापित हैं तथा मरण-जन्मरूपी बड़ी लहर के समूह से परिपूर्ण भरे हैं, मिथ्यात्वरूप पवन के प्रेरे हुए क्लेश भोगते हैं। जो पुरुष धन्य हैं वे अपनी मुक्ति की सिद्धि के लिए इस विपाक-विचय (कर्मों के उदयरूप विपाक का चिंतवन) धर्मध्यान का स्मरण करें।

समस्तोऽयमहो लोकः केवलज्ञानगोचरः।
तं व्यस्तं वा समस्तं वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यतिः ॥ ३६।१८४ [ज्ञाना०]

यह समस्तलोक केवलज्ञानगोचर है तथापि संस्थानविचय धर्मध्यान में मुनि सामान्य से समस्तलोक के आकार का तथा ऊर्ध्वआदि लोक के भिन्न-भिन्न आकार को अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तवन करता है।

द्रव्याद्युत्कृष्टसामग्री मासाद्योग्रतपोबलात्।
कर्माणि घातयत्युच्चैस्तुर्य-ध्यानेन योगिनः ॥३५।२८॥ [ज्ञानार्णव]

योगीश्वर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव की उत्कृष्टसामग्री को प्राप्त होकर उग्रतप के बलसे चौथे संस्थान विचय धर्मध्यान के द्वारा कर्मों को अतिशयता के साथ नष्ट करता है।

वर्तमान पंचमकाल में उत्कृष्ट सामग्री के अभाव में उत्कृष्ट धर्मध्यान नहीं हो सकता है तथापि मध्यम धर्मध्यान तो हो सकता है।

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमा।
धर्म्यंध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां ॥८३॥ [तत्त्वानु०]

इस कलिकाल में जिनेन्द्र भगवान ने शुक्लध्यान का निषेध किया है, किन्तु उपशम तथा क्षपकश्रेणी से पूर्व होनेवाला ऐसा धर्मध्यान तो पंचमकाल मे हो सकता है।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥ [मोक्षपाहुड]

भरतक्षेत्र में दुःषमनामक पंचमकाल में मुनि के धर्मध्यान होता है तथा वह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित साधु (मुनि) के होता है। ऐसा जो नहीं मानता है वह अज्ञानी है।

यहां पर यह बतलाया है कि आत्म-स्वभाव में स्थित मुनि के ही धर्मध्यान होता है।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥५१॥ [तत्त्वानुशासन]

धर्म के ईश्वर गणधरादिदेव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। इसलिये जो उस रत्नत्रयरूप धर्म से उत्पन्न हो उसे ही वे आचार्यगण धर्मध्यान कहते हैं।

"चत्तासेसबज्झंतरंगगंथो।" श्री वीरसेनाचार्य ने ध्याता का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि समस्त बहिरंग और अंतरंग परिग्रह के त्यागी के ही धर्मध्यान होता है। इसी बात को श्री नागसेन आचार्य ने कहा है—

तत्रासन्नीभवेन्मुक्तिः किंचिदासाद्य कारणं ।
विरक्तः कामभोगेभ्यस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥४१॥
अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः।
तपः संयमसम्पन्नः प्रमादरहिताशयः ॥४२॥
सम्यग्निर्णीत जीवादिध्येय वस्तुव्यवस्थितः।
आर्त्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिकः ॥४३॥
मुक्तलोकद्वयापेक्षः षोढाशेषपरीषहः ।
अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ॥४४॥
महासत्त्वः परित्यक्त दुर्लेश्याशुभभावनः।
इती दृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः ॥४५॥

ध्याता का स्वरूप इस प्रकार है—मुक्ति जिसके समीप आ चुकी है अर्थात् जो निकट भव्य है, कारण पाकर जो कामभोगों से विरक्त हो गया है, जिसने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया है, उत्तम आचार्य के समीप जिसने जिनदीक्षा धारण कर ली है, जो तप और संयम को अच्छी तरह पालन करता है, जो प्रमाद से रहित है, जिसने ध्यान करने योग्य जीवादिक पदार्थों की अवस्था का भले प्रकार निर्णय कर लिया है, आर्त-रौद्रध्यान के त्याग के कारण जिसका चित्त सदा निर्मल रहता है, जिसने इस लोक और परलोक दोनों लोकों की अपेक्षा का

त्याग कर दिया है जो समस्त परीषहों को सहन कर चुका है जिसने समस्त क्रियायोगों का अनुष्ठान कर लिया है जो ध्यान धारण करने के लिये सदा उद्यम करता रहता है, जो महाशक्तिशाली है और जिसने अशुभलेश्याओं और अशुभभावनाओं का सर्वथा त्याग कर दिया है। इसप्रकार के सम्पूर्ण लक्षण जिसमे विद्यमान हैं वह धर्मध्यान के ध्यान करने योग्य ध्याता माना जाता है।

श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने आत्मस्वभावस्थित मुनि के धर्मध्यान बतलाया है, किन्तु कुछ आचार्यों ने धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से बतलाया है सो इन में कौनसा कथन ठीक है ?

मुख्य और उपचार के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का है। अप्रमत्तगुणस्थान में मुख्य धर्मध्यान होता है और उससे नीचे के गुणस्थानों में उपचार से धर्मध्यान होता है। कहा भी है—

मुख्योपचार भेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचरिकं ॥४७॥ [तत्त्वानुशासन]

इसका भाव ऊपर लिखा जा चुका है।

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥३७१॥ [भावसंग्रह]

धर्मध्यान मुख्यता से प्रमादरहित सातवेंगुणस्थान में होता है। देशविरत-पांचवेंगुणस्थान में और प्रमत्त-संयत-छठेगुणस्थान मे धर्मध्यान उपचार से होता है।

वर्तमान में धर्मध्यान सम्भव है, किंतु उत्कृष्टधर्मध्यान नहीं हो सकता, जघन्य व मध्यम धर्मध्यान सम्भव है, क्योंकि उत्कृष्ट सामग्री का अभाव है।

—जै. ग. 18-3-71/VIII/ टी. ला. जैन

अव्रती सम्यक्त्वी के ध्यान का आलम्बन

शंका—चौथे गुणस्थानवाला सामायिक के समय परिग्रह से नहीं, कर्मों से बंधा है। उस समय आत्मा का ही अनुभव करे अरहन्त का ध्यान न करे, क्योंकि परद्रव्य है। ऐसा कहना कहाँ तक ठीक है ?

समाधान—चौथे गुणस्थानवाला जीव असंयतसम्यग्दृष्टि होता है। उसके तो एकदेश परिग्रह का भी त्याग नहीं, समस्त परिग्रह का त्याग तो कैसे सम्भव है ? चौथे गुणस्थानवाला जीव तो बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों से बंधा हुआ है। उसके शुद्धोपयोग तो सम्भव ही नहीं। शुभोपयोग होता है। (**प्रवचनसार गाथा ९ पर श्री जयसेनाचार्य की टीका तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ पर संस्कृत टीका**)। असंयतसम्यग्दृष्टि को आत्म-स्वभाव की रुचि आदि होती है। आत्मस्वभाव श्री अरहंत-भगवान के व्यक्त हो चुका है, अतः उस चौथे गुणस्थान वाले को श्री अरहंत भगवान का बहुमान होता है और श्री अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के चिंतवन के द्वारा अपने आत्म स्वभाव को जानता है। कहा भी है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥ प्रवचनसार ॥

अर्थ—जो अरहंत को द्रव्य गुण पर्यायरूप से जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त हो जाता है।

इसकी टीका में कहा—'जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप से गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है, क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है। अरहंत का स्वरूप, अन्तिम ताव को प्राप्त सोने की भांति, परिस्पष्ट है, इसलिये उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है।'

शुद्धात्मा के अवलम्बन बिना असंयतसम्यग्दृष्टि का चित्त ठहरना कठिन है अतः उसको श्री अरहंत भगवान का चितवन करना चाहिये। स्व आत्मा का चितवन करो या श्री अरहंत भगवान का चितवन करो, असंयत-सम्यग्दृष्टि के लिये इन दोनों के चितवन में कोई विशेष भेद नहीं है। दोनों का फल शुभोपयोग है।

—जै. ग. 25-4-63/IX/ ब्र. पन्नालाल जैन

भद्रध्यान एवं धर्मध्यान

शंका—पांचवें गुणस्थान में क्या धर्मध्यान नहीं होता? भद्रध्यान पांचवें गुणस्थान में किस प्रकार है?

समाधान—यह ठीक है कि धर्मध्यान का स्वामी संयतासंयत जीव भी है, (धवल पु. १३ पृ. ७४) किंतु गृहस्थ के गृह सम्बन्धी कार्यों की निरन्तर चिंता रहने से उनका उपयोग स्थिर नहीं हो पाता (भावसंग्रह गाथा ३५७ व ३८३-३८५)। अंतरंग और बहिरंग परिग्रहत्यागी ध्याता होता है (धवल पु. १३ पृ. ६५)। इसप्रकार का धर्मध्यान अप्रमत्त गुणस्थान में होता है, प्रमाद के अभाव से उत्पन्न होता है (हरिवंश पुराण ५६।५१ ५२)।

भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिंतेइ भोयपरिमुक्को।
चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥६६५॥ [भावसंग्रह]

अर्थ—भद्रध्यान का लक्षण-जो जीव भोगों का त्याग कर धर्म का चितवन करता है। धर्म का चितवन हुआ भी फिर भी अपनी इच्छानुसार भोगों का सेवन करता है उसके भद्रध्यान समझना चाहिए।

—जै. ग. 7-11-66/VII/ ताराचन्द

हीन संहनन वालों के ध्यान की स्थिति

शंका—हीनसंहननवालों का ध्यान कम से कम कितने समय तक स्थिर रह सकता है?

समाधान—हीनसंहननवालों का ध्यान अधिक से अधिक एक आवलि से कम काल तक स्थिर रह सकता है और कम से कम दो चार समय ध्यान रह सकता है।

—जै. ग. 16-5-63/IX/प्रो. म. ला. जैन

ध्यान का स्वामी

शंका—क्या मुनि ही ध्यान के पात्र होते हैं?

समाधान—मुक्ति के कारणस्वरूप ध्यान की सिद्धि उन मुनीश्वरों के ही होती है जो प्रशान्तात्मा हैं, जिनका नगर पर्वत है, पर्वत की गुफायें वसतिका (गृह) हैं, पर्वत की शिला शय्या है, चन्द्रमा की किरणें दीपक हैं, मृग सहचारी हैं, सर्वभूत-मैत्री कुलीन स्त्री है (ज्ञानार्णव अध्याय ५)[1]।

—जै. ग. 4-7-63/IX/ ब्र. सुखदेव

---

१. वैसे धर्मध्यान चतुर्थगुणस्थान से दसमगुणस्थान तक होता है। [धवल. १३/७४] परन्तु यहाँ उत्कृष्ट ध्यान की-मुक्ति के कारणस्वरूप ध्यान की अपेक्षा से उत्तर दिया गया है, ऐसा जानना चाहिये।

(करणानुयोग विषयक) गणित के सवाल में निरपेक्ष भाव से लगना धर्मध्यान है

शंका—एक आदमी किसी गणित के प्रश्न में निरपेक्ष भाव से लगा हुआ है, क्या इसको धर्मध्यान माना जावे ?

समाधान—यदि वह जीव सम्यग्दृष्टि है और मात्र उपयोग को एकाग्र करने की दृष्टि से, रागद्वेष के बिना किसी गणित के प्रश्न के अवलम्बन से एकाग्रचित्त होता है तो वह धर्मध्यान है, क्योंकि गणितशास्त्र भी तो द्वादशांग का भाग है। श्री तत्त्वानुशासन में भी कहा है—

> स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः ।
> पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्र - चेतसा ॥८०॥
> स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमाऽऽमनेत् ।
> ध्यान-स्वाध्याय-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥८१॥

अर्थात्—पंचनमस्कृतिरूप णमोकार मंत्र का जो चित्त की एकाग्रता के साथ जपना है वह परमस्वाध्याय है अथवा जिनेन्द्र कथित शास्त्र का जो एकाग्रचित्त से पढ़ना है वह स्वाध्याय है। स्वाध्याय से ध्यान को अभ्यास में लावे और ध्यान से स्वाध्याय को चरितार्थ करे। ध्यान और स्वाध्याय दोनों की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है–स्वानुभव में लाया जाता है।

—जै. ग. 16-2-65/VIII/ ब्र. पन्नालाल

अपायविचय व उपायविचय धर्मध्यान में भेद

शंका—स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ० ३६७-३६८ पर धर्मध्यान के दस भेद कहे हैं। पहला अपायविचय, दूसरा उपायविचय है। इन दोनों में कोई अन्तर दिखाई नहीं पड़ता ?

समाधान—'अपाय' का अर्थ 'सर्वनाश' है। 'विचय' का अर्थ खोज करना या विचार करना। अर्थात् कर्मरूपी शत्रु के नाश का विचार करना 'अपायविचय' धर्मध्यान है। 'उपाय' का अर्थ 'साधन' है। मोक्ष के साधनों का विचार करना 'उपायविचय' धर्मध्यान है।

—जै. ग. 11-7-66/IX/ कस्तूरचन्द

पिण्डस्थ व पदस्थ ध्यान

शंका—पिण्डस्थ व पदस्थध्यान धर्मध्यान हैं या शुक्लध्यान हैं ?

समाधान—पिण्डस्थ व पदस्थध्यान धर्मध्यान हैं शुक्लध्यान नहीं हैं। मुनि के मुख्यरूप से होते हैं। इन ध्यानों का विशेष कथन ज्ञानार्णव ग्रन्थ से अथवा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४८२ की संस्कृत टीका से जानना चाहिए।

— जै. ग. 21-11-63/X/ ब्र. पन्नालाल जैन

गृहस्थी के निरन्तर धर्मध्यान प्रायः नहीं रह सकता

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि श्रावक के चौबीस घन्टे मुख्यता से धर्मध्यान बना रहता है ? जैसा कि वर्ष १० अंक ५ के सन्मति संदेश पृ० ६१ पर लिखा है।

समाधान—गृहस्थ के मुख्यरूप से धर्मध्यान नहीं होता उसके तो आर्तध्यान व रौद्रध्यान की मुख्यता है। श्री देवसेनाचार्य ने कहा भी है—

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाणं जाणि झाणाणि।
तम्हा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥३८३॥

अर्थ—बारहवें दृष्टिवाद अङ्ग में गुणस्थान को लेकर ही ध्यान का स्वरूप बतलाया है, जिससे सिद्ध होता है कि देशविरतों के मुख्यरूप से धर्मध्यान नहीं होता।

आगे इसका कारण बतलाते हैं—

किं जं सो गिहवंतो बहिरंतरगंथपरिमिओ णिच्चं।
बहु - आरम्भपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥३८४॥
घरवावारा केई करणीया अत्थि ते ण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥३८५॥
अह ढिंकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥३८६॥

अर्थ—गृहस्थ के मुख्यरूप से धर्मध्यान न होने का कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य-आभ्यंतर-परिग्रह परिमितरूप से रहते हैं तथा आरम्भ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते हैं। इसलिये वह शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता ॥३८४॥ गृहस्थों को घर के कितने ही व्यापार करने पड़ते हैं। जब वह गृहस्थ अपने नेत्रों को बन्द कर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार आ जाते हैं ॥३८५॥ गृहस्थ का वह ध्यान ढेकी के समान होता है। जिस प्रकार ढेकी धान कूटने में लगी रहती है, परन्तु उससे उसको कोई लाभ नहीं होता; उसको तो परिश्रम मात्र ही होता है इसी प्रकार गृहस्थों का ध्यान परिश्रम मात्र होता है, लाभ कुछ नहीं होता। अथवा वह गृहस्थ उस ध्यान के बहाने सो जाता है तब उसका व्याकुल चित्त ध्येय पर नहीं ठहरता।

गेहे वट्टंतस्स य वावारसयाई सया कुणंतस्स।
आसवइ कम्ममसुहं अट्टरउद्दे पवत्तस्स ॥३९१॥
जह गिरिणई तलाए अणवरयं पविसए सलिलपरिपुण्णं।
मणवयतणुजोएहिं पविसइ असुहेहिं तह पावं ॥३९२॥

अर्थ—जो पुरुष घर में रहता है और सदाकाल गृहस्थी के सैकड़ों व्यापार करता रहता है वह आर्तध्यान और रौद्रध्यान में भी प्रवृत्ति करता रहता है इसलिये उसके अशुभ कर्मों का आस्रव होता रहता है ॥३९१॥ जिस प्रकार किसी पर्वत से निकलती हुई नदी का पानी किसी जल से भरे हुए तालाब में निरन्तर पड़ता रहता है। उसी प्रकार गृहस्थी के व्यापार में लगे हुए पुरुष के अशुभ-मन, वचन, काय इन तीनों अशुभ योगों के द्वारा निरंतर पापकर्मों का आस्रव होता रहता है ॥३९२॥ [प्राकृत भावसंग्रह]

—जै. ग. 1-7-65/VII/ ....

गृहस्थावस्था में धर्मध्यान अमुख्यतया तथा अल्पकाल भावी होता है

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५५-४५६ 'सामान्य और विशेषरूप से कहे गये इस चारप्रकार के धर्मध्यान और शुक्लध्यान को पूर्वोक्त गुप्ति आदि बहुत प्रकार के उपायों से युक्त होने पर, संसार का नाश करने के लिये जिसने भले प्रकार से परिकर्म को किया है, ऐसा मुनि ध्यान करने के योग्य होता है।' प्रश्न यह है कि धर्मध्यान तो मुनि अवस्था से पूर्व भी हो सकता है। फिर यहां ऐसा क्यों लिखा है कि ऐसा मुनि ध्यान करने के योग्य होता है।

समाधान—मुनि अवस्था से पूर्व गृहस्थ-अवस्था है। गृहस्थ अवस्था में गृहसम्बन्धी अथवा परिग्रहसंबंधी नानाविकल्प रहते हैं, जिसके कारण गृहस्थ का मन एकाग्र नहीं हो पाता। इसलिये ध्यान की बात तो दूर रही, उपयोग की अस्थिरता के कारण आचार्य ग्रन्थों के अनुवाद में भी भूल कर जाता है, जिसकी परम्परा चल जाती है। श्री देवसेन आचार्य ने कहा भी है—

> अट्टरउद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे।
> बहुआरंभपरिग्गहजुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं ॥३५७॥ [भावसंग्रह]

अर्थ—इस पांचवें गुणस्थान में आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान और भद्रध्यान ये तीन प्रकार के ध्यान होते हैं। इस गुणस्थानवाले जीव के बहुत-सा आरम्भ होता है और बहुत सा ही परिग्रह होता है, इसलिये इस गुणस्थान में धर्मध्यान नहीं होता।

> घर वावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
> झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥३८५॥ [भावसंग्रह]

अर्थात् – गृहस्थों को घर के कितने ही व्यापार करने पड़ते हैं। जब वह गृहस्थ अपने नेत्रों को बन्द कर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार आ जाते हैं।

> अह ढिंकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
> सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥३८६॥

अर्थ—जो कोई गृहस्थ ध्यान करना चाहता है तो उसका वह ध्यान ढेकी के समान होता है। जिसप्रकार ढेकी धान कूटने में लगी रहती है, परन्तु उससे उसको कोई लाभ नहीं होता उसको तो परिश्रम मात्र ही होता है। इसी प्रकार गृहस्थों का ध्यान परिश्रम मात्र होता है अथवा ध्यान करने वाला वह ध्यानी गृहस्थ सो जाता है। तब उसके व्याकुल चित्त में ध्यातव्य नहीं ठहरता।

> मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
> देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥३७१॥

अर्थ—धर्मध्यान मुख्यता से प्रमादरहित अर्थात् सातवेंगुणस्थान से होता है तथा देशविरत-पाँचवेंगुणस्थान में व प्रमत्त संयत नामक छठे गुणस्थान में यह धर्मध्यान उपचार से जानना चाहिए।

इसी बात को श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में तथा श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा है। अतः गृहस्थके लिये दान पूजन का उपदेश द्वादशांग जिनवाणी में दिया गया है।

—जै. ग. 10-6-65/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

(१) धर्मध्यान मोक्ष का ही कारण है

(२) ध्यान अवस्था का स्वरूप

(३) धर्मध्यान व शुक्लध्यान में कथंचित् भेद एवं कथंचित् अभेद

(४) धर्मध्यान शुभोपयोगरूप है

(५) शुभ परिणामों से भी कर्म-क्षय सम्भव है

शंका—आठवें, नौवें, दसवें गुणस्थानों में धर्मध्यान नहीं है। यदि है तो कैसे? आगम प्रमाण क्या है?

समाधान—ध्यान चार प्रकार का है—(१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्म-ध्यान, (४) शुक्ल-ध्यान। अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से ध्यान दो प्रकार का है। इनमें से आर्तध्यान और रौद्रध्यान अथवा अप्रशस्तध्यान संसार का कारण है। धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान अथवा प्रशस्तध्यान मोक्ष का कारण है। आर्ष-प्रमाण इस प्रकार है—'आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि। परे मोक्षहेतू ॥२८॥' [तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ—'आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं। इनमें से अंत के दो ध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु (कारण) हैं।' इसी की सामर्थ्य से यह भी सिद्ध हो जाता है कि शेष दो ध्यान अर्थात् आर्त और रौद्रध्यान संसार के कारण हैं। यहां पर स्पष्टतया धर्मध्यान को मोक्ष का कारण कहा है अर्थात् धर्म-ध्यान को संसार का कारण नहीं कहा यानि धर्मध्यान से आस्रव-बंध नहीं होता।

प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं शरीरिणाम् ॥१७॥
आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा ।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पतः ॥२०॥
स्यातां तत्रार्त्तरौद्रे द्वे दुर्ध्यानेऽत्यन्त दुःखदे ।
धर्मशुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्म-निर्मूलनक्षमे ॥२१॥ [ज्ञानार्णव पृ. २५६ सर्ग २५]

अर्थ—पूर्वोक्त ध्यान प्रशस्त अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है, सो जीवों के इष्ट अनिष्टरूप फल की प्राप्ति का बीजभूत (कारणस्वरूप) है ॥१७॥

जीवों के अप्रशस्तध्यान आर्त और रौद्र के भेद से दो प्रकार का है तथा प्रशस्तध्यान भी धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का कहा गया है ॥२०॥

उक्त ध्यानों में आर्त-रौद्र ये दो अप्रशस्तध्यान अत्यन्त दुःख देने वाले हैं। और उनसे भिन्न धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्तध्यान कर्म को निर्मूल करने में समर्थ हैं ॥२१॥

इस श्लोक २१ से इतना स्पष्ट हो जाता है कि धर्मध्यान से कर्मों का क्षय होता है। मोहनीय कर्म का क्षय धर्मध्यान से होता है। अतः दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान होता है।

धर्मध्यान का विषय, काल, स्वामी, फल का कथन धवल पुस्तक १३ पृ० ७४, ७५, ७६, ७७, ८०, ८१ पर निम्न प्रकार है—

किं बहुसो सव्वं चिय जीवादिपयत्थवित्थरो वेयं ।
सव्वणयसमूहमयंज्झायज्जो समयसब्भावं ॥४९॥ [धवल १३ पृ. ७३, ध्यानशतक गाथा ५६]

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ, यह जितना भी जीवादि पदार्थों का विस्तार कहा है उस सबसे युक्त और सर्वनय समूहमय समय सद्भाव का ध्यान करे।

प्रश्न—यदि समस्त समय सद्भाव धर्मध्यान का ही विषय है तो शुक्लध्यान को कोई विषय शेष नहीं रहता ?

उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि धर्म और शुक्ल दोनों ही ध्यानों में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो दोनों ही ध्यानों में एकत्व अर्थात् अभेद प्राप्त होता है, क्योंकि दशमशक, सिंह, भेड़िया, व्याघ्र आदि द्वारा भक्षण किया गया भी, वसूला द्वारा छीला गया भी, करोतों द्वारा फाड़ा गया भी, दावानल के सिखमुख द्वारा ग्रसित किया गया भी, शीत, वात और आताप द्वारा बाधा गया भी, और सैंकड़ों करोड़ों अप्सराओं द्वारा लालित किया गया भी जो जिस अवस्था में ध्येय से चलायमान नहीं होता वह जीव की अवस्था ध्यान कहलाती है। इसप्रकार यह स्थिर भाव धर्म और शुक्ल दोनों ध्यानों में समान है, अन्यथा ध्यानरूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती ?

उत्तर—यह बात सत्य है कि इन दोनों प्रकार के स्वरूपों की अपेक्षा धर्म और शुक्लध्यान में कोई भेद नहीं है, किन्तु इतनी विशेषता है कि धर्मध्यान एक वस्तु में स्तोककाल तक रहता है, क्योंकि कषायसहित परिणाम का गर्भगृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं बन सकता।

प्रश्न—धर्मध्यान कषायसहित जीवों के ही होता है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

उत्तर—असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक और उपशामक अपूर्वकरणसंयत, क्षपक और उपशामक, अनिवृत्तिकरणसंयत क्षपक और उपशामक तथा सूक्ष्मसाम्परायसंयत जीवों के धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान कषायसहित जीवों के होता है। परन्तु शुक्लध्यान के एक पदार्थ में स्थित रहने का काल धर्मध्यान के अवस्थान काल से संख्यातगुणा है, क्योंकि वीतरागपरिणाम मणि की शिखा के समान बहुत काल के द्वारा भी चलायमान नहीं होता। इसलिये सकषाय और अकषाय स्वामी के भेद से तथा अचिरकाल और चिरकाल तक अवस्थित रहने के कारण धर्म और शुक्लध्यानों में भेद सिद्ध है।

इस धर्मध्यान में पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन ही लेश्यायें होती हैं, क्योंकि कषायों के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होने पर धर्मध्यान की प्राप्ति सम्भव है। इस विषय में गाथा—

होंति कमविसुद्धाओ लेस्साओ पीय-पउम-सुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मंदादिभेयाओ ॥ ५३ ॥

(धवल १३ पृ० ७६, ध्यान शतक गा० ६६)।

अर्थ—धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्रमन्द आदि भेदों को लिये हुए क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हुई पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें होती हैं।

प्रश्न—धर्मध्यान से परिणमता है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

उत्तर—इस विषय में गाथायें हैं—

आगमउवदेसाणा णिसग्गदो जं जिणप्पणीयाणं ।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्सतल्लिंगं ॥ ५४ ॥ (ध्यानशतक गा० ६७)
जिणसाहुगुणुक्कित्तण-पसंसणाविणय-दाणसंपण्णा ।
सुद-सील-संजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा ॥५५॥
(धवल १३ पृ० ९६, ध्यानशतक ६८)

अर्थ—आगमोपदेशसे अथवा निसर्ग से जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये पदार्थों का श्रद्धान होता है वह धर्मध्यान का लिंग है ॥५४॥ जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता श्रुत, शील और संयम में रत होना, ये सब कार्य धर्मध्यान मे होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥५५॥

धर्म-ध्यान का फल

अक्षपक (क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ नहीं हुए) जीवों को देवपर्यायसम्बन्धी विपुलसुख मिलाना उसका फल है और गुणश्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा उसका फल है तथा क्षपक (क्षपकश्रेणी पर आरूढ़) जीवों के तो असंख्यात गुणश्रेणीरूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभकर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना धर्मध्यान का फल है। इस विषय में गाथायें हैं—

होंति सुहासव-संवर-णिज्जरामरसुहाइं विउलाइं ।
ज्झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ५६ ॥ (ध्यानशतक ६८)
जह वा घणसंघाया खणेण पवहणाहया विलिज्जंति ।
ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥ ५७ ॥
(धवल १३ पृ० ७७, ध्यानशतक ६९)

अर्थ—उत्तम ध्यान से शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख ये शुभानुबंधी विपुल फल होते हैं ।५६।

जैसे मेघपटल पवन से ताड़ित होकर क्षणमात्र में विलीन (नष्ट) हो जाता है वैसे ही धर्मध्यानरूपी पवन से उपहृत होकर कर्मरूपी बादल भी विलीन (नष्ट) हो जाते हैं ॥५७॥

अट्ठाईसप्रकार के मोहनीय की सर्वोपशामना होनेपर उसमें स्थित रखना, पृथक्त्ववितर्कवीचारनामक शुक्लध्यान का फल है। परन्तु मोह का सर्वोपशम करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि कषायसहित धर्मध्यानी के सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्तिमसमय में मोहनीयकर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन घातियाकर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्ववितर्क-अवीचारध्यान का फल है। परन्तु मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है; क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्तिमसमय में उसका विनाश देखा जाता है।

इन आर्ष वाक्यों से यह स्पष्ट है कि चतुर्थगुणस्थान से दसवेंगुणस्थानतक साम्परायिक (कषायसहित) जीव होते हैं, अतः उनके धर्मध्यान होता है। उनके शुक्लध्यान नहीं होता, क्योंकि वह वीतरागी (अकषायी) जीवों के होता है। यद्यपि धर्मध्यान शुभोपयोगरूप है, क्योंकि यह सरागीपुरुष के होता है तथापि मोहनीयकर्म को जो कि सर्व कर्मों का राजा है, उन्मूलन कर देता है। एक छत्र जिसका राज है ऐसे मोहनीयकर्म का नाश, शुभोपयोगरूप धर्मध्यान ही करता है। शुक्लध्यान तो शेष तीनघातिया कर्मों को और चार अघातियाकर्मों का नाश करता है।

श्री जयधवल भाग १ पृ० ९ पर भी कहा है—

"सुह-सुद्ध परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है।

शुभ परिणामों से मोहनीयकर्म का क्षय सिद्ध हो जाने पर भी यदि कोई एकान्तवादी शुभ परिणामों से मोहनीय का क्षय स्वीकार नहीं करता तो चतुर्थ-आदि गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का तो अभाव होने से मोहनीय के क्षय का अभाव होगा। मोहनीय के क्षय के अभाव में चतुर्थादि गुणस्थानों में क्षायिकसम्यक्त्व के अभाव का प्रसंग आ जायगा। क्षायिकसम्यक्त्व के अभाव में क्षपकश्रेणी के अभाव का प्रसंग आ जायगा।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि टीका अ० ९ सूत्र ३७ में श्रेणी-आरोहण से पूर्व धर्मध्यान और दोनों श्रेणियों में शुक्लध्यान कहा है।

—जै. ग. 30-9-65/IX/ ब्र. सुखदेव

धर्मध्यान का फल सातिशय पुण्यबन्ध, संवर, निर्जरा व भावमोक्ष है

शंका—धर्मध्यान क्या संवर, निर्जरा का कारण है या मात्र पुण्य-बन्ध का कारण है?

समाधान—धर्मध्यान सकषाय सम्यग्दृष्टिजीव के होता है। सकषायजीव के कषाय के सद्भाव के कारण बन्ध होता है। कहा भी है—

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।" [त० सू० ८।२]

अर्थात्—कर्मोदय के कारण कषायसहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है।

किन्तु, धर्मध्यान अंतरंग तप है और तप से संवर व निर्जरा होती है। इसीलिये धर्मध्यान मोक्ष का कारण है। यदि धर्मध्यान से संवर-निर्जरा न होती तो धर्मध्यान मोक्ष का कारण भी न होता है। कहा भी है—

"तपसा निर्जरा च ॥३॥ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥ परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥ तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९।

अर्थ—तप से संवर और निर्जरा होती है। प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छहप्रकार का आभ्यन्तरतप है। अन्त के दो ध्यान अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु अर्थात् कारण हैं।

श्री वीरसेनाचार्य ने धर्मध्यान का फल निम्नप्रकार कहा है—

"अक्खवएसु विउलामरसुहफलं गुणसेडीए कम्मणिज्जराफलं च। खवएसु पुण असंखेज्जगुणसेडीए कम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभागविहाणफलं च। अतएव धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानमिति सिद्धम्।"

[धवल पु० १३, पृ० ७७]

अर्थ—अक्षपक जीवों को देवपर्यायसम्बन्धी विपुलसुख मिलना उसका फल है और गुणश्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है, तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यातगुणश्रेणीरूप से कर्म-प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभकर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है। अतएव जो धर्म से अनपेत है वह धर्मध्यान है।

"मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।"
[धवल पु० १३, पृ० ८१]

अर्थ—मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्तिमसमय में उसका विनाश देखा जाता है।

इस आर्षवाक्य से यह सिद्ध हो जाता है कि धर्मध्यान भावमोक्ष के लिये साक्षात् कारण है और द्रव्यमोक्ष के लिये परम्परा कारण है। यदि कहा जाय कि भावमोक्ष असिद्ध है, सो ऐसा कहना ठीक नहीं है। भावमोक्ष की सिद्धि के लिये युक्ति और आगम निम्न प्रकार है।

कर्म दो प्रकार का है, भावकर्म और द्रव्यकर्म। मोहनीय कर्मोदय से होनेवाले आत्मा के राग, द्वेष, मोहरूप औदयिक भाव तो भावकर्म है। इन भावकर्म के निमित्त से जो पौद्गलिक ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बन्ध होता है वह द्रव्यकर्म है। कहा भी है—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा ॥ ११६ ॥ [समयसार]

अर्थात्—बन्ध के कारण सामान्य से चार कहे गये हैं। मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग।

मात्र योग से ईर्यापथ-आस्रव होता है अथवा मात्र एकसमय की स्थितिवाला बन्ध होता है, जो उसीसमय निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। यह बन्ध संसार का कारण नहीं है। मिथ्यात्व आदि भावों से होने वाला बन्ध ही संसार का कारण है। अतः मोहनीयकर्मोदय से होनेवाले मिथ्यात्वादि ही भावकर्म हैं। इन भावकर्मों से मुक्त होना अर्थात् भावकर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाना भावमोक्ष है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पंचास्तिकाय गाथा १५०-१५१ की टीका में 'स एव जीवन्मुक्तिनामा भाव-मोक्षः।' इन शब्दों द्वारा भावमोक्ष का कथन किया है और इसको द्रव्यमोक्ष का हेतु भी कहा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ गाथा ७६ में 'सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं' इन शब्दों द्वारा धर्मध्यान को शुभ-भाव कहा है। इसका कारण यह है कि जिन भावों से संवर, निर्जरा तथा आस्रव व बन्ध होता हो वे भाव शुभभाव या मिश्रभाव हैं। धर्मध्यान का फल भी सातिशय-पुण्यबन्ध तथा संवर, निर्जरा व मोहनीयकर्म का क्षय है इसलिये धर्मध्यान भी शुभ भाव है। धर्मध्यान भावमोक्ष का साक्षात् कारण है और द्रव्यमोक्ष का परम्परा कारण है।

—जै. ग. 16-9-65/IX/ ब्र. पन्नालाल

शुद्धोपयोग का आद्य गुणस्थान

शंका—शुद्धोपयोग कौनसी अवस्था में अर्थात् कौनसे गुणस्थान में होता है? द्रव्यलिंगीमुनि के शुद्धोपयोग होता है या नहीं?

समाधान—द्रव्यानुयोग की दृष्टि से शुद्धोपयोग अप्रमत्तसंयतगुणस्थान से क्षीणकषायगुणस्थान तक होता है अर्थात् सातवें से बारहवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि, वहाँ पर बुद्धिपूर्वक राग का अभाव है। कहा भी है— 'अप्रमत्तादि-क्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः।' (प्रवचनसार तात्पर्यवृत्तिः टीका)। 'अप्रमत्तादि क्षीणकषाय-पर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते।' (बृहद्द्रव्यसंग्रह गा० ३४ टीका) अर्थात्—अप्रमत्तादि क्षीणकषायगुणस्थान पर्यंत छहगुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टभेद से विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग वर्तता है।

किन्तु करणानुयोग की अपेक्षा से शुद्धोपयोग उपशांतमोहादि गुणस्थानों में रहता है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में कषायोदय होने से शुद्धोपयोग नहीं हो सकता। मोक्षमार्गप्रकाशक अष्टम अध्याय में इसप्रकार कहा है—करणानुयोग विषै तो रागादिरहित 'शुद्धोपयोग' यथाख्यातचारित्र भए होय है, सो मोह का नाश भए स्वयमेव होगा। नीचली अवस्थावाला शुद्धोपयोग साधन कैसे करे। और द्रव्यानुयोगविषै शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है, तातैं यहाँ छद्मस्थ जिस काल विषै बुद्धिगोचरभक्ति आदि वा हिंसा आदि कार्यरूप परिणामनि को छुड़ाय आत्मानुभवन आदि कार्य विषें प्रवर्तें, तिस काल ताको शुद्धोपयोग कहिए। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं, तथापि ताकी विवक्षा यहाँ न कही; अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ि तिस अपेक्षा याको शुद्धोपयोगी कह्या है। यथाख्यातचारित्र भए तो दोऊ अनुयोग अपेक्षा शुद्धोपयोग है, बहुरि नीचली दशाविषैं द्रव्यानुयोग अपेक्षा तो कदाचित् शुद्धोपयोग होय अर करणानुयोग अपेक्षा सदाकाल कषाय अंश के सद्भाव तैं शुद्धोपयोग नाहीं।

इसप्रकार दोनों अनुयोग अपेक्षा शुद्धोपयोग का कथन जान किसी एक अनुयोग अपेक्षा की हठ ग्रहण नहीं करना। यही समीचीन मार्ग है।

—जै. सं. 12-6-58/V/ दि. जैन पंचान, मुहारी

वस्तुतः चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग व धर्मध्यान नहीं होते

शंका—धर्मध्यान कौनसे गुणस्थान में होता है ?

समाधान—धर्मध्यान असंयत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से होता है। अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित मुनि के मुख्य रूप से होता है।

"असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसांपराइयखवगो-वसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो।" (धवल पु० १३ पृ० ७४)

अर्थात्—असंयतसम्यग्दृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान से सूक्ष्मसाम्परायसंयत दसवें गुणस्थान तक धर्मध्यान होता है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है।

"मुख्योपचार-भेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा। अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम्।"

(स्वा. का. गा. ४८७ की टीका)

अर्थ—मुख्य और उपचार के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का है। अप्रमत्तों में मुख्य धर्मध्यान होता है और प्रमत्तों में उपचार धर्मध्यान होता है।

अप्रमत्तगुणस्थानभूमिकं ह्यप्रमादजम्।
पीत-पद्मसल्लेश्या बलाधानमिहाखिलम् ॥५६।५१॥
कालभावविकल्पस्थं धर्म्यध्यानं बशान्तरम्।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यातव्यं ध्यानतत्परैः ॥५६।५२॥ हरिवंशपुराण

अर्थ—'यह धर्मध्यान अप्रमत्तगुणस्थान में होता है', प्रमाद के अभाव से उत्पन्न होता है। पीत, पद्म शुक्लरूप शुभ लेश्याओं के बल से होता है। काल और भाव के विकल्प में स्थित है तथा स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देनेवाला है।

"सम्माइट्ठी—ण च णवपयत्थविसयरुइपच्चय-सद्धाहिविणा झाणं संभवदि, तप्पवुत्ति कारणसंवेग-णिव्वेयाणं असंभवादो। चत्तासेसबज्झंतरंगगंथो।" (धवल पु० १३ पृ० ६५)

अर्थात्—धर्मध्यान का ध्याता सम्यग्दृष्टि होता है, कारण कि नौ पदार्थ विषयक रुचि प्रतीति और श्रद्धा के बिना ध्यान की प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के मुख्यकारण संवेग और निर्वेद अन्यत्र नहीं हो सकते। वह ध्याता समस्त बहिरंग और अंतरंग परिग्रह का त्यागी होता है।

खपुष्पमथवाशृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥४।१७॥ (ज्ञानार्णव)

अर्थ—आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश व काल में इन के होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में संभव नहीं है।

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्चगुणठाणं जाणि झाणाणि।
तम्हा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥ ३८३ ॥
किं जं सो गिहवंतो बहिरंतरगंथपरिमिओ णिच्चं।
बहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥ ३८४ ॥
घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥३८५॥
अह ढिकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ, चित्तम्मि वियलम्मि ॥३८६॥ (भावसंग्रह)

अर्थात्—दृष्टिवादनामक बारहवेंअंगमें गुणस्थानों की अपेक्षा से ध्यान का कथन किया है जिससे सिद्ध होता है कि गृहस्थ के मुख्य धर्मध्यान नहीं होता। गृहस्थों के मुख्य धर्मध्यान न होने का कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहते हैं तथा आरंभ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते हैं, इसलिये वह शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। गृहस्थों को घर के कितने ही व्यापार करने पड़ते हैं। जब वह गृहस्थ अपने नेत्रों को बंद कर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार आ जाते हैं। वह गृहस्थ उस ध्यान के बहाने सो जाता है जब वह सो जाता है तब उसका व्याकुल चित्त ध्येय पर कभी नहीं ठहर सकता।

अट्टरउद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे।
बहुआरंभपरिग्गहजुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं ॥ ३५७ ॥ (भावसंग्रह)

अर्थात्—पाँचवें गुणस्थान में आर्त, रौद्र और भद्र ये तीन ध्यान होते हैं। इस गुणस्थान वाले जीव के बहुतसा आरंभ होता है और बहुतसा परिग्रह होता है, इसलिये इस गुणस्थान में धर्मध्यान नहीं होता।

श्री शुभचन्द्र, श्री देवसेन, श्री जिनसेन (श्री वीरसेन) आदि आचार्यों ने गृहस्थ के धर्मध्यान का भी निषेध किया है तब उनके शुद्धोपयोग कैसे हो सकता है? अर्थात् असंयतसम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानवर्ती के शुद्धोपयोग संभव नहीं है। संयत के ही शुद्धोपयोग संभव है।

—जै. ग. 23-11-67/VIII/ कँवरलाल

सम्यक्त्वी गृहस्थ के शुद्धात्मध्यान के अस्तित्व—नास्तित्व सम्बन्धी ऊहापोह

शंका—भावसंग्रह में निरालम्बध्यान ७ वें गुणस्थान में बताया है। ऐसा ध्यान गृहस्थ के बतानेवालों को आगम का अज्ञाता और दुर्धिय व स्ववंचक बताया है। गृहस्थ को सालंब ध्यान और पुण्योपार्जन के कार्य करने का ही उपदेश दिया है। इसके विपरीत पंचाध्यायी आदि अनेक संस्कृत-प्राकृत एवं भाषा के ग्रन्थों में गृहस्थ सम्यक्त्वी के शुद्धात्मध्यान का उल्लेख किया है। इस विषय में पंचाध्यायी के निम्नस्थल विचारणीय हैं, अध्याय २ के श्लोक ८२४ से ८६० तथा ९१४ से ९३४ (पं० मक्खनलालजी की टीका)। श्लोक ८६० में तो यहाँ तक बताया है कि शुद्धात्मानुभव वास्तव में निर्विकल्पक है, ऐसा चतुर्थगुणस्थान से ही न मानकर जो ७ वें गुणस्थान से मानते हैं उन्हें श्लोक ८२७, ८३१ तथा ९१६ में वासनाग्रस्त मोहशाली प्रज्ञापराधी, दुराशय एवं कायक्लेशरूप श्रुताभ्यासी बताया है। इस तरह दोनों ग्रन्थों में परस्पर विरोध क्यों ? भावसंग्रह का समर्थन किन ग्रन्थों से होता है ?

समाधान—श्री देवसेनसूरि विरचित भावसंग्रह ग्रन्थ में इसप्रकार कहा है—

"मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥ ३७१ ॥
जं पुणु वि णिरालंबं तं झाणं गयपमायगुणठाणे।
चत्तगेहस्स जायइ धरियंजिणलिंग रूवस्स ॥ ३८१ ॥
जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाणणिच्चलंझाणं।
सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥३८२॥
कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि।
तह्मा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएइं ॥ ३८३ ॥
किं जं सो गिहवंतो बहिरंतर गंथ परिमिओ णिच्चं।
बहु आरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥ ३८४ ॥
घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ।३८५।
अहढिकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥३८६॥
झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स।
आलंवणरहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा ॥३८७॥
तम्हा सो सालंबं झायउ झाणं पि गिह वई णिच्चं।
पंचपरमेट्ठीरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं ॥ ३८८ ॥
अह भणइ को वि एवं गिह वावारेसु वट्टमाणो वि।
पुण्णे अम्ह ण कज्जं जं संसारे सुपाडेइं ॥ ३८९ ॥
जाम ण छंडइ गेहं ताम ण परिहरइ इंतयं पावं।
पावं अपरिहरंतो हेओ पुण्णस्स मा चयउ ॥ ३९३ ॥
असुहस्स कारणेहिं य कम्मछक्केहिं णिच्च वट्टंतो।
पुण्णस्स कारणाइं बंधस्स भएण णिच्छंतो ॥ ३९७ ॥
ण मुणइ इय जे पुरिसो जिणकहियपयत्थणवसरूवं तु।
अप्पाणं सुयणमज्झे हासस्स य ठाणयं कुणई ॥ ३९८ ॥

अर्थ—अप्रमत्तगुणस्थान में मुख्यता से धर्मध्यान कहा गया है; देशव्रत तथा प्रमत्तगुणस्थान में धर्मध्यान उपचार से समझना चाहिये। और धर्मध्यान निरालम्बरूप से गृहत्यागी, जिनलिंगरूपधारी ऐसे अप्रमत्तगुणस्थान में ही होता है। गृहस्थियों के निश्चल, शुद्ध एवं निरालम्ब धर्मध्यान होता है ऐसा जो कहता है वह ऋषियों के आगम को नहीं मानता। दृष्टिवाद में कहे गये गुणस्थानों को तथा ध्यानों को श्रद्धापूर्वक जानो, उसके अनुसार देशव्रती, मुख्यता से धर्मध्यान का ध्याता नहीं है (किन्तु उपचार से है), क्योंकि नित्य ही बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से घिरा हुआ वह आरम्भ संयुक्त गृहस्थी शुद्धात्मा को कैसे ध्या सकता है? गृह के व्यापार क्या-क्या करने हैं वे सब आँखें मूंदे हुए ध्यान में तिष्ठे हुए (गृहस्थी) के समक्ष रहते हैं। ऐसा गृहस्थी टिंकुलिक (अस्थिर) ध्यान को ध्याता है। अथवा ध्यान करते हुए सोता है और सोते हुए के विकल चित में ध्येय ठहरता नहीं है। आलम्बन रहित ध्यान में ध्यानों की सन्तति चलती रहती है, क्योंकि चित्त स्थिररूप से नहीं ठहरता है। इसलिए गृहस्थ को नित्य ही पंचपरमेष्ठी के रूप का अथवा मन्त्रों के अक्षरों का आलम्बन लेकर ध्यान करना चाहिए। गृह के व्यापारों में रहता हुआ भी यदि कोई ऐसा कहता है कि हमारा पुण्य से कुछ काम नहीं, क्योंकि वह संसार में गिराता है; तो उसका ऐसा कथन ठीक नहीं है। जब तक घर को नहीं छोड़ता तब तक पाप नहीं छूटते और पाप के छोड़े बिना पुण्य के कारण को मत छोड़ो। अशुभ के कारणभूत, ऐसे षट् कर्मों में नित्य लगा हुआ और बन्ध के भय से पुण्य के कारणों की इच्छा नहीं करता हुआ जो पुरुष है वह जिनदेव द्वारा कहे गये नौ पदार्थों के स्वरूप को नहीं मानता है और सत्पुरुषों द्वारा स्वयं को हास्य का पात्र बनाता है। इसी बात को श्रीमद् वामदेवविरचित भावसंग्रह में कहा है कि—

ये वदन्ति गृहस्थानामस्ति ध्यानं निराश्रयम्।
जैनागमं न जानन्ति दुर्धियः ते स्ववञ्चका ॥६२५॥

अर्थ—जो गृहस्थों के धर्मध्यान कहते हैं वे दुर्बुद्धि अपने आपको वंचन करने वाले हैं तथा जैनागम को नहीं जानते हैं। पद्मनन्दि पंचविंशतिका मे दानअधिकार, श्लोक २ में इसप्रकार कहा है—

प्रायः कुतो गृहगते परमात्मबोधः शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः।
दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था सा लीलयैव कृतपात्रजनानुसंगात् ॥ १५ ॥

भाषाकार का अनुवाद—जिस परमात्मा के ज्ञान से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन पुरुषार्थों की सिद्धि होती है उस परमात्मा का ज्ञान सम्यक्त्वी को घर पर रहकर कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। परन्तु उन पुरुषार्थों की सिद्धि उत्तम आदि पात्रों को आहार, औषध, अभय व शास्त्ररूप चार प्रकार का दान देने से पल भर में हो जाती है। अतः धर्म, अर्थ आदि पुरुषार्थों के अभिलाषी सम्यग्दृष्टि को उत्तम आदि पात्रों में अवश्य दान देना चाहिए ॥१५॥ पंचाध्यायी २।८२४–८६० तथा ९१४-९३४ में यह बात कही गई है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान चेतना होती है। सम्यग्दृष्टि के वह ज्ञानचेतना लब्धिरूप तो सदैव रहती है, किन्तु कभी-कभी उपयोगात्मक भी हो जाती है। श्री समयसार गाथा ३८७ से ३८९ तक इन तीन गाथाओं की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने इस-प्रकार कहा है "ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना। सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्य-त्रेदमहं करोमीति अज्ञानचेतना। ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। सा तु समस्तापि संसारबीजं। संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकल-कर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूतः भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या।" अर्थ—ज्ञान से अन्य भावों में ऐसी चेतना (अनुभवन) करना कि "यह मैं हूँ" सो अज्ञानचेतना है। वह दो प्रकार की है

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उसमें ज्ञान से अन्य भावों में ऐसा चेतना कि 'इसको मैं करता हूँ' सो कर्मचेतना, और ज्ञान से अन्य भावों में ऐसा चेतना कि 'इसे मैं भोगता हूँ' सो कर्मफलचेतना है। वह समस्त अज्ञानचेतना संसार का बीज है, क्योंकि संसार के बीजभूत आठ प्रकार के कर्म, उनका बीज वह अज्ञानचेतना है। इसलिये मोक्षार्थी पुरुष को अज्ञानचेतना का प्रलय करने के लिये सकल कर्मों के संन्यास (त्याग) की भावना को तथा सकल कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाकर स्वभावभूत ऐसी भगवती चेतना को ही सदा नचाना चाहिए। श्री प्रवचनसार गाथा १२४ तथा टीका में 'ज्ञानचेतना' में 'ज्ञान' शब्द का अर्थ इसप्रकार किया है "णाणं अट्ठवियप्पो। टीका—अर्थविकल्पस्तावत् ज्ञानम्। तत्र कः खल्वर्थः, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम्" अर्थ—प्रथम तो अर्थविकल्प ज्ञान है। वहाँ, अर्थ क्या है? स्वपर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है। श्री पंचास्तिकाय गाथा ३९ की टीका में 'चेतना' शब्द का अर्थ इसप्रकार कहा है "चेतनानुभूत्युपलब्धि-वेदनानामेकार्थत्वात्।" अर्थात्—चेतना, अनुभूति, उपलब्धि, वेदना ये सब एकार्थवाची हैं। इसी गाथा की टीका में ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के स्वामी बताये हैं "तत्र स्थावराः कर्मफलं चेतयते। त्रसाः कार्यं चेतयते केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयत इति।" अर्थ—स्थावरकायजीव कर्मफल को वेदन करते हैं, त्रस कर्म को वेदते हैं। केवलज्ञानी ज्ञान को वेदते हैं।

नोट—स्थावर तो मिथ्यादृष्टि होते ही हैं, किन्तु त्रस कहने से अभिप्राय त्रस-मिथ्यादृष्टि का है, क्योंकि, पंचास्तिकाय गाथा ३८ की टीका में "प्रकृष्टतर-मोहमलीमसेन" का शब्द दिया है तथा समयसार गाथा ३८७—३८९ की टीका में 'कर्मचेतना' संसार का बीज कहा है। इसप्रकार बहिरात्मा के कर्म तथा कर्मफलचेतना और परमात्मा के ज्ञानचेतना कही गई है, परन्तु अन्तरात्मा के कौनसी चेतना होती है इसका कथन श्री पंचास्तिकाय में नहीं किया। इस सब कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तरात्मा के भी ज्ञानचेतना होती है, किन्तु उसकी पूर्णता परमात्मा के होती है। अंतरात्मा जब बाह्यपदार्थ को जानती है तो उस पदार्थ के निमित्त से रागद्वेष होता है। रागद्वेष से कर्मबन्ध होता है, किंतु जब आत्मा स्वोन्मुख होती है (स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्यव्यवसायः ॥ ६ ॥ अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥७॥ घटमहमात्मना वेद्मि ॥८॥ कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥ शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥१०॥ परीक्षामुख प्रथम अध्याय) उस समय तत्सम्बन्धी रागद्वेष न होने के कारण निर्विकल्प कहा है। इसलिये पंचाध्यायीकार ने यह कहा है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतना निर्विकल्प है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि गृहस्थी के निर्विकल्पध्यान होता है, क्योंकि ज्ञानचेतना का अर्थ ध्यान नहीं है। इसप्रकार पंचाध्यायी तथा भावसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों के कथन में विरोध नहीं है।

—जै. सं 9-5-57/ ... / र. ला. कटारिया, केकड़ी

असंयत सम्यक्त्वी के शुक्लध्यान या निर्विकल्प समाधि नहीं होती

शंका—धर्मध्यान व शुक्लध्यान तथा निर्विकल्पसमाधि अवस्था कौनसे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है? स्वानुभूति के समय अविरतसम्यग्दृष्टि के उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं में से कौनसी अवस्था होती है?

समाधान—ध्यान का लक्षण तथा ध्याता का लक्षण इस प्रकार है—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्। एयग्गाहा जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलंतयं चित्तं। तं होइ भावणा व अणुपेहा वा अहव चिंता।" [धवल पु० १३ पृ० ६४]

अर्थ—उत्तमसंहननवाले का एकाग्र होकर चिंता का निरोध करना ध्यान नाम का तप है। इस विषय में

गाथा—जो परिणामों की स्थिरता होती है उसका नाम ध्यान है और चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होना वह या तो भावना है या अनुप्रेक्षा है या चिंता है।

"सम्माइट्ठी—ण च णवपयत्थविसयरुइ-पच्चय-सद्धाहि विणा झाणं संभवदि, तप्पवुत्तिकारणसंवेग-णिव्वे-याणं अण्णत्थ असंभवादो। चत्तासेस बज्झंतरगगंथोखेत्तवत्थु–धण–धण्ण–दुवय–च उप्पय–जाण-सयणासण–सिस्स-कुल–गण–संघेहि जणिद मिच्छत्त-कोह–माण–माया–लोह·हस्स-रइ-अरइ–सोग–भय–दुगुंछा–त्थी–पुरिस–णवुंस्य-वेदादि अंतरंगगंथकंखा परिवेढियस्स सुहज्झाणाणुववत्तीदो।" धवल १३ पृ० ६५।

अर्थ—वह ध्याता सम्यग्दृष्टि होता है। कारण कि नौ पदार्थ विषयक रुचि, प्रतीति और श्रद्धा के बिना ध्यान की प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि ध्यान की प्रवृत्ति के मुख्य कारण संवेग और निर्वेद अन्यत्र नहीं हो सकते। वह ध्याता समस्त बहिरंग और अन्तरग परिग्रह का त्यागी होता है, क्योंकि जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन, आसन, शिष्य, कुल, गण, और संघ के कारण उत्पन्न हुए मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद आदि अंतरंगपरिग्रह की कांक्षा से वेष्टित है उसके शुभध्यान नहीं बन सकता।

इससे स्पष्ट है कि गृहस्थ के शुभध्यान नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके अंतरंग व बहिरंग परिग्रह का त्याग नहीं है। इसी बात को श्री शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में कहा है—

> खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।
> न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७॥ [ज्ञानार्णव सर्ग ४]

अर्थ—आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश या काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में एकाग्रतारूप ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में सम्भव नहीं है।

> विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
> यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥३॥ [ज्ञानार्णव सर्ग ५]

अर्थ—जिस मुनि का चित्त कामभोगों से विरक्त होकर और शरीर में स्पृहा को छोड़कर स्थिरीभूत हुआ है, वही ध्याता कहा गया है।

जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता आदि क्रिया को चतुर्थ व पंचमगुणस्थानों में धर्मध्यान कहा है। कहा भी है—

> जिण–साहुगुणुक्कित्तण–पसंसणाविणय-दाणसंपण्णा।
> सुद-सील-संजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा ॥५५॥ [धवल पु० १३ पृ० ७६]

जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता, श्रुत, शील और संयम में रत होना ये सब क्रिया धर्म में होती हैं, ऐसा जानना चाहिये।

श्री वीरसेनाचार्य के मतानुसार धर्मध्यान (शुभोपयोग) दसवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि वहाँ तक जीव सकषाय है, सरागरत्नत्रय है, कर्मबंध (स्थिति, अनुभागबन्ध) है। ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में अकषाय हो

जाने से पूर्ण वीतराग है, वीतरागरत्नत्रय है तथा वहाँ कर्मबन्ध नहीं होता, अतः ग्यारहवें गुणस्थान से शुक्लध्यान (शुद्धोपयोग) कहा गया है। कहा भी है—

"असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसांपराइयखवगो-वसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो।" [धवल पु० १३ पृ० ७४]

अर्थ—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक और उपशामक अपूर्वकरणसंयत, क्षपक और उपशामक, अनिवृत्तिकरणसंयत, क्षपक और उपशामक, सूक्ष्मसाम्परायसंयत जीवों के धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान (शुद्धोपयोग) कषायसहित जीवों के होता है।

"तिण्णं घादिकम्माणं णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्कअविचारज्झाणं। मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाण-फलं, सुहुमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।" [धवल पु० १३ पृ० ८१]

अर्थ—तीन घातिकर्मों का (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय का) निर्मूल विनाश करना एकत्ववितर्क-अविचार नामा दूसरे शुक्लध्यान का फल है। परन्तु दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान (शुभोपयोग) का फल है। क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्तिमसमय में मोहनीय का विनाश देखा जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र की टीका के कर्ता श्री पूज्यपाद आदि आचार्यों के मत से धर्मध्यान स्वस्थान अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान तक होता है, क्योंकि वहीं तक बुद्धिपूर्वक राग है। उसके आगे बुद्धिपूर्वक राग का अभाव हो जाने से श्रेणी में (उपशमश्रेणी व क्षपकश्रेणी मे) शुक्लध्यान होता है। कहा भी है—

"तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति। श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते।"
[सर्वार्थसिद्धि अ. ९ सूत्र ३६ व ३७ टीका]

अर्थ—वह धर्मध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और स्वस्थानअप्रमत्तसंयत के होता है। श्रेणि चढ़ने से पूर्व धर्मध्यान होता है। उपशम व क्षपक दोनों श्रेणियों में आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं। अर्थात् चौथे-गुणस्थान से स्वस्थान—सातवेंगुणस्थान तक धर्मध्यान होता है। सातिशय—अप्रमत्तसंयत (अधःकरण) से श्रेणि का प्रारम्भ होता है, क्योंकि वहाँ से बुद्धिपूर्वक राग का अभाव हो जाता है। अतः सातिशय अप्रमत्तसंयत से शुक्ल-ध्यान हो जाता है।

यहाँ पर श्री पूज्यपादस्वामी ने बुद्धिपूर्वक राग का अभाव हो जाने से वीतराग मानकर सातवेंगुणस्थान से शुक्लध्यान का कथन किया है। 'धवलसिद्धान्तग्रंथ में श्री वीरसेनाचार्य ने समस्त राग के अभाव हो जाने पर वीतरागता स्वीकार करके ग्यारहवेंगुणस्थान से शुक्लध्यान का कथन किया है। अपेक्षा भेद होने से कथन में भेद है। सरागरत्नत्रय मे धर्मध्यान (शुभोपयोग) और वीतरागरत्नत्रय में शुक्लध्यान (शुद्धोपयोग) होता है, यह सिद्धान्त दोनों आचार्यों को स्वीकार है। वीतरागनिर्विकल्पसमाधि भी वीतरागरत्नत्रय में होती है, सरागरत्नत्रय में वीतरागनिर्विकल्पसमाधि सम्भव नहीं है।

अविरतसम्यग्दृष्टि की स्वानुभूति पर विचार किया जाता है—

श्री देवसेन आचार्य ने आलापपद्धति गाथा ६ में लिखा है—"चैतन्यमनुभूतिः" टिप्पण "अनुभूतिः द्रव्य-स्वरूपचिंतनं।"

जीव-अजीव आदि पदार्थों के अनुभवन को—जानने को चेतना कहते हैं। वह अनुभवन ही अनुभूति है। अतः चैतन्य नाम अनुभूति का है। द्रव्यस्वरूप चिंतन को अनुभूति कहते हैं। स्व-द्रव्यस्वरूप का चिंतन स्वानुभूति है। पंचास्तिकाय गाथा ३९ की टीका में भी कहा है कि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि, वेदना इनका एकार्थ है।

धवल पु० १३ पृ० ६४ पर कहा है जो एकाग्रता है वह ध्यान है। चिन्तन, अनुप्रेक्षा, भावना ध्यान नहीं है। अतः स्वानुभूति अर्थात् स्वस्वरूपचिंतन के समय न धर्मध्यान है न शुक्लध्यान है और न निर्विकल्पसमाधि है। शुभचिंतन अथवा प्रशस्तचिंतन है।

अविरतसम्यग्दृष्टि की सरागअवस्था है उसके सराग सम्यग्दर्शन है अतः उसके शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि शुद्धोपयोग तो वीतरागरत्नत्रयवाले के श्रेणी में होता है। अविरतसम्यग्दृष्टि अर्थात् चतुर्थगुणस्थान में शुभोपयोग होता है। कहा भी है—

"अथ प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि। कथमिति चेत्-मिथ्यात्व सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि–देशविरत–प्रमत्तसंयतगुण-स्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्ताद्क्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः तदनन्तरं सयोग्ययोगीजिन-गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमितिभावार्थः।" [प्रवचनसार गा. ९ टीका]

मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीनगुणस्थानों में तारतम्य से घटता–घटता अशुभोपयोग है। इसके पश्चात् असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत ऐसे तीनगुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुभोपयोग है। उसके पश्चात् अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक छह गुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है। सयोगि-जिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है।

प्रवचनसार के इस कथन से भी स्पष्ट है कि अविरतसम्यग्दृष्टि के शुद्धोपयोग नहीं है शुभोपयोग है। स्वानुभूति के समय भी शुद्धोपयोग नहीं है।

—जै. ग. 15-2-73/VII/ गम्भीरमल सोनी

प्रथम शुक्लध्यान के भेद

शंका—प्रथम शुक्लध्यान के ४२ भेद कौन २ से हैं ?

समाधान—प्रथम शुक्लध्यान के ४२ भेद चारित्रसार पृ० १९३–१९४ पर तथा सार समुच्चय पृ० ३०३ पर लिखे हैं। वे इस प्रकार हैं–अर्थ, अर्थान्तर, गुण, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर इन छहों के योग त्रय संक्रमण से १८ भेद। अर्थ से गुण, गुणान्तर, पर्याय या पर्यायान्तर में इन चारों में आ जाने पर योग त्रय के सक्रमण से १२ भेद, अर्थान्तर से गुण, गुणान्तर, पर्याय या पर्यायान्तर इन चारों में आ जाने से योग त्रय के संक्रमण से १२ भेद। १८+१२+१२=४२ भेद हुए।

—पत्राचार 4-11-77/ ब. प्र. स. पटना

प्रथम शुक्लध्यान में योगादि की बुद्धिपूर्वक पलटन का अभाव

शंका—प्रथम शुक्लध्यान में योग की पलटन होती है तथा द्रव्य, गुण व पर्याय की पलटन होती है वह पलटन उनके उपयोग में आती है या नहीं ?

समाधान—प्रथमशुक्लध्यान में जो द्रव्य, गुण व पर्याय की तथा योग की पलटन होती है वह बुद्धिपूर्वक नहीं होती और न यह विकल्प होता है कि पूर्व में द्रव्य का ध्यान था अब पर्याय का ध्यान है। द्रव्य, गुण या पर्याय मे से जो ध्येय होता है उस पर ही उपयोग एकाग्र हो जाता है। योग कौनसा है ऐसा विकल्प भी नही होता। योग की पलटन उपयोग में नहीं आती है।

—जै. सं. 25-9-58/V/ ब्र. बसंतीबाई, हजारीबाग

प्रथम शुक्लध्यान में "संक्रान्ति"

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५६ पंक्ति १६–अर्थ और व्यञ्जन तथा काय और वचन में पृथक्त्वरूप से संक्रमण करने वाले मन के द्वारा मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का उपशमन और क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को धारण करनेवाला होता है। इसका क्या तात्पर्य है ? क्या मन के साथ काय और वचन में ही पलटन होती है ?

समाधान— 'मन के द्वारा' इसका तात्पर्य यह है कि 'मन की एकाग्रता द्वारा अर्थात् ध्यान द्वारा'। अर्थ से अर्थान्तर और एक व्यञ्जन से व्यञ्जनांतर तथा काय की क्रिया से वचन की क्रिया इसप्रकार पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यान मे पलटन होती रहती है।

—जै. ग. 10-6-65/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

आदि के दो शुक्लध्यानों के ध्याता के श्रुतज्ञान

शंका—अध्याय ९ सूत्र ४१ की सर्वार्थसिद्धि टीका में लिखा है—'एक आश्रयो ययोस्ते एकाश्रये।' अर्थात् जिन दो ध्यानों का एक आश्रय होता है वे एक आश्रयवाले कहलाते हैं। आगे लिखा है 'उभयेऽपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्यते इत्यर्थः।' अर्थात् जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान आरम्भ किये जाते हैं; यह उक्त कथन का तात्पर्य है। प्रश्न यह है कि 'एक आश्रयवाले' इसका क्या तात्पर्य है ? क्या यही कि ये दोनों ध्यान सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लेने वाले अर्थात् श्रुतकेवली के ही होते हैं—अर्थात् उनके आश्रय से होते हैं अन्य के आश्रय नहीं होते।

समाधान—ध्यान जीव का परिणाम है, अतः ध्यान जीव के आश्रय से रहता है। पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो शुक्लध्यान किस जीव के आश्रय रहते हैं, ज्ञान की अपेक्षा इसका विचार किया जाता है। ये दोनों शुक्लध्यान उस जीव के आश्रय रहते हैं जिसको पूर्व का ज्ञान हो। अध्याय ९ सूत्र ३७ में कहा है—"शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।" अर्थात् आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद् (श्रुतकेवली) के होते हैं। इसी बात को सूत्र ४१ में 'एकाश्रये' शब्दों द्वारा कहा गया है। किन्तु यह कथन उत्कृष्ट की अपेक्षा से है। जघन्य की अपेक्षा आठ प्रवचनमातृकाप्रमाण जिनके श्रुतज्ञान होता है उनके भी ये दोनों ध्यान सम्भव हैं। अध्याय ९ सूत्र ४७ की टीका में श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है—

"श्रुतं—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्च चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। बकुश-कुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। स्नातकाः अपगतश्रुता केवलिनः।"

अर्थ—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्टरूप से अभिन्नाक्षर दशपूर्वधर होते हैं, कषायकुशील और निर्ग्रन्थ (उपशान्तमोह, क्षीणमोह) चौदह पूर्वधर होते हैं। जघन्यरूप से पुलाक का श्रुत आचार वस्तु

प्रमाण होता है; बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ का श्रुतज्ञान आठ प्रवचनमातृकाप्रमाण होता है। स्नातक श्रुतज्ञान से रहित केवली होते हैं।

यहाँ पर निर्ग्रन्थ के जघन्य श्रुतज्ञान आठ प्रवचनमातृकाप्रमाण कहा है। निर्ग्रन्थ उपशान्तमोह और क्षीणमोह को कहते हैं। उपशान्तमोह और क्षीणमोह के आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं। अतः आठ प्रवचनमातृका श्रुतज्ञानवाले के भी आदि के दो शुक्लध्यान हो सकते हैं।

—जै. ग. 10-6-65/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

(१) मन वचन काय की क्रिया तथा इनके योगों में अंतर है
(२) मन की एकाग्रता ही "निश्चल मन" है
(३) निश्चल मन वाले के भी मनोयोग संभव है

शंका—एकत्ववितर्कअवीचारध्यान में यदि मनोयोग नहीं है तो क्या बिना मन के भी ध्यान बन सकता है? अर्थात् मनोयोग न रहते हुए भी भावमन या द्रव्यमन का कुछ कार्य होता रहता है या नहीं? यदि नहीं तो फिर सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४५६ पर जो लिखा है—'योग की संक्रान्ति से रहित है, निश्चल मन वाला है' यदि उसके काय या वचनयोग इनमें से कोई एक हो तो निश्चल मनवाला कैसे होगा जबकि उसके मनोयोग होगा ही नहीं? या मनोयोग का न होना निश्चल मन कहलाता है?

समाधान—एकत्ववितर्क अवीचारध्यान में मन, वचन, काय इन तीनों में से कोई एक योग होता है। मनोयोग ही हो, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि किसी जीव के मनोयोग हो सकता है, किसी के वचनयोग और किसी के काययोग हो सकता है। मन के बिना एकत्ववितर्कवीचारध्यान नहीं बन सकता, किन्तु मनोयोग के बिना एकत्व-वितर्कअवीचारध्यान हो सकता है। मनोयोग के रहते हुए भी भावमन या द्रव्यमन का कार्य हो सकता है। धवल पु. १ पृष्ठ २७९ पर कहा भी है—

"मनोवाक्कायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां प्रवृत्तिर्दृष्टत्वात्, न तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिस्तथोपदेशाभावादिति।"

अर्थ—'शंका-कहीं पर मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ युगपत् देखी जाती हैं?

समाधान—यदि देखी जाती तो उनकी युगपत् प्रवृत्ति होओ। परन्तु इससे मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है उनकी युगपत् प्रवृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि आगम में इस प्रकार का उपदेश नहीं मिलता है।"

इस आगम से सिद्ध है कि मन, वचन और काय की क्रिया में तथा मन, वचन और काय योग में अन्तर है। मन की एकाग्रता को निश्चलमन कहते हैं। निश्चलमनवाले के मन, वचन, काय इन तीनों योगों में से कोई भी एक योग सम्भव है। मनोयोग के होने या न होने को निश्चलमन नहीं कहते हैं।

—जै. ग. 3-6-65/XI/ र. ला. जैन, मेरठ

शुक्लध्यान और ज्ञान

शंका—शुक्लध्यान होने के पहले क्या द्वादशाङ्ग का ज्ञान होना जरूरी है? जिसप्रकार कि तत्त्वार्थसूत्र में शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ९।३७ सूत्र है। लेकिन पंचास्तिकाय (टीका ब्र. शीतलप्रसादजी) पृष्ठ १५५ पर लिखा है कि अष्टप्रवचनमातृका ज्ञानवाले को भी शुक्लध्यान हो सकता है? कृपया समाधान करें।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र ३७ में आदि के दो शुक्लध्यान (पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क) पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवली के कहे हैं, किन्तु यह उत्कृष्ट की अपेक्षा कथन है। जघन्य से पाँच समिति, तीन गुप्ति के प्रतिपादक आगम के जाननेवाले के भी आदि के शुक्लध्यान हो जाते हैं। इस प्रकार कहा भी है—

श्रुतं—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीलानिर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः स्नातका अपगतश्रुताः केवलिनः॥ स० सि० अ० ९ सूत्र ४७।

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियों के उत्कृष्ट की अपेक्षा से एक अक्षर घाट दशपूर्व का श्रुतज्ञान होता है। जघन्य की अपेक्षा पुलाक के आचारवस्तु का; वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ मुनियों के अष्ट-प्रवचन मात्र (पाँच समिति तीन गुप्ति) के प्रतिपादक आगम का ज्ञान होता है।

नोट—कषायकुशील मुनि छठे अप्रमत्त संयत से दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक के मुनि होते हैं। ग्यारहवें और बारहवें (उपशान्त तथा क्षीणमोह) गुणस्थानवर्ती मुनि निर्ग्रन्थ होते हैं।

—जै. सं. 27-9-56/VI/ ध. ला. सेठी, खुरई

शुक्लध्यान के लिए आवश्यक संहनन

शंका—क्या शुक्लध्यान होने के लिये वज्रवृषभनाराचसंहनन होना आवश्यकीय है या तीन संहनन जो उत्तम माने गए हैं उन तीनों संहननवालों के शुक्लध्यान हो सकता है क्या ?

समाधान—प्रथमशुक्लध्यान उपशमश्रेणी में भी होता है। उपशमश्रेणी तीनों उत्तम संहनन से चढ़ सकता है, क्योंकि ग्यारहवें उपशान्तमोह–गुणस्थान में वज्रनाराच और नाराचसंहनन की उदयव्युच्छित्ति होती है। कहा भी है—

वेदतिय कोहमाणं मायासंजलणमेव सुहुमते।
सुहुमो लोहो संते वज्जंणारायणा रायं॥ गो० क० गाथा २६९॥

अर्थात्—अनिवृत्तिकरणगुणस्थान के सवेदभाग में "तीनवेद", अवेदभाग में 'संज्वलनक्रोध, मान, माया ये तीन' इसप्रकार कुल छह प्रकृतियाँ उदय से व्युच्छिन्न होती हैं। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्तसमय में संज्वलन-लोभ उदयव्युच्छिन्न होता है। ग्यारहवें उपशान्तमोहगुणस्थान में वज्रनाराच और नाराच इन दोनों संहनन की उदयव्युच्छित्ति है, किन्तु क्षपकश्रेणीमें केवल एक वज्रवृषभनाराचसंहनन का ही उदय रहता है।

—जै. सं. 27-9-56/VI/ ध. ला. सेठी, खुरई

शंका—क्या शुक्लध्यान प्रथम उत्कृष्ट तीनसंहनन वालों के अतिरिक्त अन्तिम तीन हीनसंहनन में भी होता है ?

समाधान—श्रेणी चढ़ने से पूर्व धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों (उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणी) में शुक्लध्यान होता है (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र ३७)। धर्मध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त-संयत जीवों के होता है (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र ३६)। इससे सिद्ध है कि शुक्लध्यान आठवेंगुणस्थान से पूर्व नहीं होता। अर्धनाराच आदि अन्तिमतीन हीनसंहनन की उदय-व्युच्छित्ति सातवें अप्रमत्तगुणस्थान में हो जाती है (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा २६८)। अतः शुक्लध्यान अन्तिमतीन हीनसंहननवाले जीवों के संभव नहीं है।

आदि के दो शुक्लध्यान तीन उत्तमसंहननवालों के हो सकते हैं, किन्तु तीसरा शुक्लध्यान तो प्रथम उत्कृष्टसंहनन के उदयवाले जीव के संभव है। अन्तिम चौथा शुक्लध्यान अयोगीजिन के होता है। वहाँ पर वज्रवृषभनाराचसंहनन का भी उदय नहीं है, क्योंकि वज्रवृषभनाराचसंहनन की उदय-व्युच्छित्ति तेरहवेंगुणस्थान में हो जाती है।

—जै. ग. 28-3-63/IX/ ब्र. प्यारेलाल

ग्यारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान होता है

शंका—क्या उपशमश्रेणी में शुक्लध्यान होता है ?

समाधान—उपशमश्रेणीमें पृथक्त्ववितर्क नामक प्रथमशुक्लध्यान होता है। श्री पूज्यपाद आचार्य ने आठवेंगुणस्थान से शुक्लध्यान कहा है, किन्तु श्री वीरसेनाचार्य ने दसवेंगुणस्थानतक धर्मध्यान और ग्यारहवेंगुणस्थान में शुक्लध्यान कहा है।

"श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते।" [सर्वार्थसिद्धि ९/३७]

अर्थ—श्रेणी चढ़ने से पूर्व धर्मध्यान होता है और उपशम व क्षपक दोनों श्रेणियों में आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं।

"सकसायाकसाय सामिभेदेण दोण्णं ज्झाणाणं सिद्धो भेओ।" [धवल पु० १३ पृ० ७५]

अर्थात्—धर्मध्यान सकषाय जीव के होता है और शुक्लध्यान अकषायजीव के होता है। इसप्रकार स्वामी के भेद से इन दोनों ध्यानों का भेद सिद्ध है।

"धम्मज्झाणं सकसाएसु चेव होदि त्ति कधं णव्वदे ? असंजदसम्माइट्ठि–संजदासंजद–पमत्तसंजद–अप्पमत्तसंजद–अपुव्वसंजदअणियट्टिसंजद–सुहुमसांपराइय खवणोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो।"

[धवल पु० १३ पृ० ७४]

अर्थ—धर्मध्यान कषायसहित जीवों के ही होता है यह किस प्रमाण से जाना जाता है ? असंयत-सम्यग्दृष्टि संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत क्षपक और उपशामक, अपूर्वकरणसंयत, क्षपक और उपशामक, अनिवृत्तिकरणसंयत, क्षपक और उपशामक तथा सूक्ष्मसाम्परायसंयत जीवों के धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान कषायसहित जीवों के होता है।

"कुदो एदस्स सुक्कत्तं ? कसायमलाभावादो।" [धवल पु० १३, पृ० ७७]

अर्थ—इस ध्यान को शुक्लपना किस कारण से है ? कषायमल का अभाव होने से यह ध्यान शुक्लध्यान है।

"अट्ठावीस भेयभिण्णमोहणीयस्स सव्वुवसमावट्ठाणफलं पुधत्तविदक्कवीचारसुक्कज्झाणं। मोहसव्वुवसमो पुण धम्मज्झाणफलं, सकसायत्तणेण धम्मज्झाणिणो सुहुमसांपराइयस्स चरमसमए मोहणीयस्स सव्वुवसमुवलंभादो।"

[धवल पु० १३ पृ० ८०]

अर्थ—अट्ठाईसप्रकार के मोहनीय की सर्वोपशमना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान का फल है। परन्तु मोह का सर्वोपशम करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि कषायसहित धर्मध्यानी के सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्तिमसमय में मोहनीयकर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है।

श्री वीरसेनाचार्य के इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि धवलग्रंथ में ग्यारहवेंगुणस्थान में शुक्लध्यान बतलाया है और उससे पूर्व धर्मध्यान बतलाया है।

—जै. ग. 31-7-67/VII/ जयन्तीप्रसाद

(१) केवली के वस्तुत: ध्यान नहीं है
(२) तृतीय शुक्लध्यान सयोग केवली गुणस्थान के अन्त में होता है
(३) इसके पूर्व केवली के कोई ध्यान नहीं होता

शंका—शुक्लध्यान के चार पाये हैं। जिसमें दूसरा-शुक्लध्यान बारहवेंगुणस्थान के अन्त में होता है। तीसरा शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थान के अंत में होता है। ऐसा आगम में बतलाया है तो तेरहवें के बीच के काल में केवलज्ञानी के कौनसा ध्यान है या ध्यान नहीं है?

समाधान—तीसरा शुक्लध्यान तेरहवेंगुणस्थान के अन्त में होता है, क्योंकि इसमें योग का निरोध किया जाता है। दूसरे शुक्लध्यान का आलम्बन श्रुतज्ञान है इसलिये यह तेरहवेंगुणस्थान में केवलज्ञानी के संभव नहीं है। तेरहवेंगुणस्थान के बीच के कालमें कोई ध्यान नहीं होता है, धवल पु० १३ पृ० ७५ पर कहा भी है—

"वीयरायत्ते संते वि खीणकसायज्झाणस्स एयत्तवियक्कावीचारस्स विणासो दिस्सदि त्ति-चे-ण, आवरणाभावेण असेसदव्वपज्जाएसु अवजुत्तस्स केवलोवजोगस्स एगदव्वम्हि पज्जाए वा अवट्ठाणाभावं दट्ठूण तज्झाणा-भावस्स परुवित्तादो।"

अर्थ—इसप्रकार है—

प्रश्न—वीतरागता के रहते भी क्षीणकषाय में होनेवाले एकत्ववितर्कअविचारध्यान का विनाश देखा जाता है।

उत्तर—क्योंकि आवरण का अभाव होने से केवलीजिन का उपयोग अशेष द्रव्य-पर्यायों में उपयुक्त होने लगता है। इसलिए एकद्रव्य में या एकपर्याय में अवस्थान का अभाव देखकर उस ध्यान का अभाव कहा है।

"एवम्हि जोगणिरोह-काले सुहुमकिरियमप्पडिवादिज्झाणं ज्झायदि त्ति जं भणिदं तण्ण घडदे; केवलिस्स विसईकयासेसदव्वपज्जायस्स सगसव्वद्धाए एगरूवस्स अणिदियस्स एगवत्थुम्हि मणिणिरोहाभावादो। ण च मणिणिरोहेण विणाज्झाणं संभवदि अण्णत्थ तहाणुवलंभादो त्ति? ण एस दोसो, एगवत्थुम्हि चिंताणिरोहोज्झाणमिदि जदि घेप्पदि तो होदि दोसो। ण च एवमेत्थ घेप्पदि। पुणो एत्थ कधं घेप्पदि त्ति भणिदे जोगो उवयारेणंचिता; तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि एत्थ घेतव्वं; तेण ण पुव्वुत्तदो-ससंभवो त्ति।

(धवल पु. १३ पृ० ८६)

अर्थ—इसप्रकार है—

प्रश्न—इस योगनिरोध के काल में केवलीजिन सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपातीध्यान को ध्याते हैं, यह जो कथन किया है वह नहीं बनता, क्योंकि केवलीजिन अशेषद्रव्य-पर्यायों को विषय करते हैं, अपने सबकाल में एकरूप रहते हैं और इन्द्रियज्ञान से रहित हैं, अतएव उनका एक वस्तु में मन का निरोध करना उपलब्ध नहीं होता और मन का निरोध किये बिना ध्यान का होना संभव नहीं है। क्योंकि अन्यत्र वैसा देखा नहीं जाता?

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि प्रकृत में एकवस्तु में चिन्ता का निरोध करना ध्यान है, यदि ऐसा ग्रहण किया जाता है तो उक्त दोष आता है। परन्तु यहाँ ऐसा ग्रहण नहीं करते हैं।

प्रश्न—तो यहाँ किसरूप में ग्रहण करते हैं ?

उत्तर—यहाँ उपचार से योग का अर्थ चिंता है। उस योग का एकाग्ररूप से निरोध अर्थात् विनाश जिस ध्यान में किया जाता है वह तीसरा शुक्लध्यान है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये, यहाँ पूर्वोक्त दोष संभव नहीं है।

ध्यान मनसहित जीवों के होता है केवली के मन नहीं, वहाँ ध्यान नहीं है (भावसंग्रह गा० ६८३) किंतु कर्मों की निर्जरा को देखकर उपचार से ध्यान कहा गया है (पंचास्तिकाय गाथा १५२ की टीका)।

—जै. ग. 8-11-65/VII/ ब्र. कँवरलाल

तेरहवें गुणस्थान के शुक्लध्यान का फल एवं ध्यान का स्वरूप

शंका—ध्यान करने से कर्मों की निर्जरा होती है। ठीक इसी सिद्धान्त से १२ वें गुणस्थान तक ६३ प्रकृतियों की निर्जरा होती है और चौदहवेंगुणस्थान में शेष ८५ प्रकृतियों की निर्जरा होती है फिर १३ वें गुणस्थान में सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति यह तीसरा शुक्लध्यान है। इस ध्यान से तेरहवें-गुणस्थान में किस कर्म की निर्जरा होती है ? यदि नहीं तो तेरहवें-गुणस्थान में तीसरे शुक्लध्यान का क्या प्रयोजन रहा ?

समाधान—तप बारहप्रकार का है। उनमें से छह प्रकार का बहिरंगतप है और छह प्रकार का अंतरंगतप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अंतरग तप हैं।

ध्यान अंतरंगतप है। तप से संवर और निर्जरा होती है।

तेरहवेंगुणस्थान में सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति तीसरे शुक्लध्यान से 'सातावेदनीयकर्म' की बंधव्युच्छित्ति होती है तथा आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य ८४ प्रकृतियों की स्थिति कटकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण (अर्थात् शेष आयुप्रमाण यानी चौदहवें गुणस्थान के काल प्रमाण) रह जाती है। इसप्रकार तीसरे शुक्लध्यान से कर्मस्थिति निर्जरा भी होती है और संवर भी होता है तथा योग का अभाव भी होता है। कहा भी है—

"ण च मणणिरोहेण विणा ज्झाणं संभवदि, अण्णत्थ तहाणुवलंभादो त्ति ? ण एस दोसो एगवत्थुम्हि चिंताणिरोहो ज्झाणमिदि जदि घेप्पदि तो होदि दोसो, ण च एवमेत्थ घेप्पदि। पुणो एत्थ कधं घेप्पदि त्ति भणिदो जोगो यारेण चिंता, तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि एत्थ घेतव्वं; तेण ण पुव्वुत्तदोससंभवो त्ति। एत्थ गाहाओ—

तोयमिव णालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा।
परिहादि कमेण तहा जोगजालं ज्झाणजलणेण ॥७४॥
जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं णिरुंभए डंके।
तत्तो पुणोऽवणिज्जदि पहाणज्झरमंतजोएण ॥७५॥
तह बादरतणुविसयं जोगविसंज्झाणमंत बलजुत्तो।
अणुभावम्मि णिरुंभदि अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो ॥७६॥

(धवल पु० १३ पृ० ८६)

अर्थ—इसप्रकार है—केवलीजिन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तीसरे शुक्लध्यान को ध्याते हैं यह कथन नहीं बनता, क्योंकि केवलीजिन अशेषद्रव्य-पर्यायों को विषय करते हैं, अपने सब कालमें एकरूप रहते हैं और इन्द्रिय ज्ञान से रहित हैं, अतएव उनका एक वस्तु में मन का निरोध करना उपलब्ध नहीं होता और मन का निरोध किये बिना

ध्यान का होना संभव नहीं है, क्योंकि अन्यत्र वैसा देखा नहीं जाता ? शंका में जो दोष दिया गया वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में एक वस्तु में चिन्ता का निरोध करना ध्यान है, यदि ऐसा ग्रहण किया जाता है तो उक्त दोष आता है। परन्तु यहाँ ऐसा ग्रहण नहीं करते हैं। यहाँ उपचार से योग का अर्थ चिन्ता है। उसका एकाग्ररूपसे निरोध अर्थात् विनाश जिस ध्यान में किया जाता है उस ध्यान का यहाँ ग्रहण करना चाहिये।

जिसप्रकार नाली द्वारा जल का क्रमशः अभाव होता है या तपे हुए लोहे के पात्र में स्थित जल का क्रमशः अभाव होता है, उसीप्रकार ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा योगरूपी जल का क्रमशः नाश होता है।७४। जिसप्रकार मन्त्र के द्वारा सब शरीर में भिदे हुए विष का डंक के स्थान में निरोध करते हैं और प्रधान क्षरण करनेवाले मन्त्र के बल से उसे पुनः निकाल लेते हैं। उसी प्रकार ध्यानरूपी मन्त्र के बल से युक्त हुए सयोगिकेवली जिनरूपी वैद्य बादर-शरीर विषयक योगविष को पहले रोकता है और इसके बाद उसे निकाल फेंकता है।

"अंतोमुहुत्तं किट्टीगदजोगो होदि। सुहुमकिरियं अप्पडिवादिज्झाणं ज्झायदि। किट्टीणं च चरिमसमए असंखेज्जे भागे णासेदि। जोगम्हि णिरुद्धम्हि आउसमाणि कम्माणि भवन्ति।" [कषाय पाहुड सुत्त पृ० ९०५]

अंतर्मुहूर्त काल तक कृष्टिगत योगवाला होता है। उससमय केवलीभगवान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्ल-ध्यान को ध्याते हैं। सयोगिगुणस्थान के अन्तिमसमय में कृष्टियों के असंख्यातबहुभागों को नष्ट करते हैं। (स्थिति-कांडकघात द्वारा घात होने से) योग का निरोध हो जानेपर नाम, गोत्र व वेदनीय इन तीन कर्मों की स्थिति शेष आयु के सदृश हो जाती है।

"एकाग्रचिंतानिरोधोध्यानमित्यत्र च सूत्रे, चिंताशब्दो ध्यानसामान्यवचनः। तेन श्रुतज्ञानं क्वचिद्ध्यान-मित्युच्यते, क्वचित् केवलज्ञानं, क्वचिन्मतिज्ञानं, क्वचिच्चश्रुतज्ञानं, मत्यज्ञानं वा यतोऽविचलमेव ज्ञानं ध्यानम्।"

[मूलाराधना पृ० १६८९]

'एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्र में चिन्ता शब्द ज्ञानसामान्य का वाचक है, इसलिये क्वचित् श्रुत-ज्ञान को ध्यान कहते हैं क्वचित् केवलज्ञान को, क्वचित् मतिज्ञान को तथा मति और श्रुतज्ञान को भी ध्यान कहते हैं, क्योंकि अविचल ज्ञान ही ध्यान है।

—जै. ग. 21-8-69/VII/ ब्र. हीरालाल

अनगार चारित्र

गणधर एवं श्रुतकेवली के अंतरंगबहिरंग परिग्रह से रहितता एवं वीतरागता

शंका—श्रुतकेवली और गणधर को अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित और वीतरागी कहा है। सो किस प्रकार संभव है ?

समाधान—श्रुतकेवली या गणधर संयमी ही होते हैं, असंयमी नहीं होते हैं। कहा भी है—

"चोद्दसपुव्वहरो मिच्छत्तं ण गच्छदि, तम्हि भवे असंजमं च ण पडिवज्जदि।" धवल पु० ९ पृ० ७१

अर्थ—चौदहपूर्वका धारक मनुष्य अर्थात् श्रुतकेवली मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है और उस भव में असंयम को भी प्राप्त नहीं होता है।

संयत वह है जिसके पाँचमहाव्रत होते हैं अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह का पूर्णरूप से त्याग होता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥२०॥ (सूत्र पाहुड)

जो पाँचमहाव्रत और तीनगुप्तिसहित है वह संयत होता है और वही निर्ग्रंथमोक्षमार्ग है और वही वन्दनीय है।

अंतरग और बहिरंग परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ होता है। निर्ग्रंथ के ही वीतरागता होती है। इस अपेक्षा से श्रुतकेवली और गणधर को अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित कहा है।

—जै. ग. 24-4-69/V/र. ला. जैन

उपाध्याय व श्रुतकेवली में भेद

शंका—उपाध्याय और श्रुतकेवली में क्या अन्तर है ?

समाधान—चौदह विद्यास्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर पहले कहे गये आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं। धवल १ पृ० ५०

चोद्दसपुव्वमहोयहिमहिगम्म सिवत्थिओ सिवत्थीणं।
सीलंधराण वत्ता होइ मुणीसो उवज्झाओ ॥

अर्थ—जो साधु चौदहपूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं उन मुनीश्वरों को उपाध्यायपरमेष्ठी कहते हैं।

यह उपाध्याय का विशेष स्वरूप है। उपाध्याय का सामान्य स्वरूप इस प्रकार है—

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥ द्रव्यसंग्रह

अर्थ—जो रत्नत्रय से सहित है, निरंतर धर्म का उपदेश देने में तत्पर है तथा मुनिश्वरों में प्रधान है, वह आत्मा उपाध्याय है। उसके लिए नमस्कार हो।

इससे सिद्ध है कि उपाध्याय का मुख्यस्वरूप अन्य मुनियों को धर्मोपदेश देना है। यदि वे उपाध्याय श्रुतकेवली हैं तो यह उनकी विशेषता है। जितने भी श्रुतकेवली होते हैं वे सब उपाध्याय होते ही हैं, ऐसा नियम नहीं है। आचार्य व साधु भी श्रुतकेवली हो सकते हैं।

—जै. ग. 4-7-66/IX/ रतनलाल एम कॉम.

उपाध्याय में भी २८ मूलगुण होते हैं

शंका—साधुपरमेष्ठी में २८ मूलगुण होते हैं, जब कि उपाध्याय परमेष्ठी में २५ गुण होते हैं। क्या साधु के मूलगुण उपाध्याय में नहीं होते हैं ?

समाधान—उपाध्याय भी साधु परमेष्ठी होते हैं, किन्तु वे पठन-पाठन का कार्य विशेषरूप से करते हैं अतः उनको उपाध्यायपद दे दिया जाता है। पंचमहाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रियरोध, षडावश्यक, लोच, अचेलत्व, अस्नान, भूमि शयन, अदंतधावन, खड़े होकर भोजन करना, एक बार आहार ये मुनि (साधु) के २८ मूल गुण हैं। कहा भी है—

वदसमिदिंदियरोधो, लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदि भोयणमेगभत्तं च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो, छेदोवट्ठावगो होदि। २०९॥ [प्रवचनसार]

अर्थ—व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक, अचेलत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खड़े-खड़े भोजन, एकबार आहार, यह वास्तव में श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं। उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

उपाध्याय भी श्रमण हैं इसलिये उनमें भी उपर्युक्त २८ मूलगुण होते ही हैं। इनके अतिरिक्त ग्यारहअङ्ग और चौदहपूर्व के पठन-पाठन से उनमें (११+१४=२५) पच्चीस गुण और कहे गये हैं। जिनमें २८ मूलगुण नहीं है वह श्रमण ही नहीं है और जो श्रमण नहीं है वह उपाध्याय भी नहीं हो सकता।

—जै. ग. 23-3-72/IX/ विमलकुमार जैन

स्पृश्य शूद्र ही क्षुल्लक दीक्षा के योग्य हैं

शंका—पूज्य वर्णीजी ने अपनी जीवन गाथा में पृष्ठ ३५२ में लिखा है कि अस्पृश्यशूद्र क्षुल्लक पद का धारक हो सकता है। किंतु पंडित दीपचंदजीकृत भावदीपका पृष्ठ १५४ में लिखा है कि अस्पृश्यशूद्र दूसरी प्रतिमा से अधिक धारण नहीं कर सकता। वास्तविक क्या है और दोनों में किस अपेक्षा से लिखा है ?

समाधान—'मेरी जीवन गाथा' पृष्ठ ३५२ पर 'क्षुल्लक भी हो सकता है' इन शब्दों से पूर्व स्थान रिक्त है जिससे स्पष्ट है कि यहाँ पर शब्द 'शूद्र' रह गया है। पूज्य वर्णीजी का यह अभिप्राय नहीं था और न है कि अस्पृश्य शूद्र क्षुल्लक हो सकता है।

'शूद्र' क्षुल्लक हो सकता है, यह बात स्पष्ट है। किन्तु प्रश्न यह है कि स्पृश्यशूद्र या स्पृश्य व अस्पृश्य दोनों। इस विषय में प्रायश्चित्तचूलिका ग्रंथ में निम्न प्रकार गाथा है—

'कारिणो द्विविधाः सिद्धा भोज्याभोज्य प्रभेदतः।
भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ॥१५४॥'

अर्थ—कारूशूद्र भोज्य और अभोज्य के भेद से दो प्रकार के प्रसिद्ध हैं, उनमें से भोज्यशूद्रों को ही सदा क्षुल्लकव्रत देना चाहिए। संस्कृत टीका में 'भोज्य' पद की व्याख्या इसप्रकार है—'यदन्नपानं ब्राह्मण-क्षत्रियविट्-शूद्रा भुंजन्ते भोज्याः। अभोज्याः-तद्विपरीतलक्षणाः। भोज्येष्वेव प्रदातव्या क्षुल्लकदीक्षा, नापरेषु।'[1] अर्थात्—जिनके हाथ का अन्न-पान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र खाते हैं, उन्हें भोज्यकारू कहते हैं। इनसे विपरीत अभोज्य-कारू जानना चाहिए। क्षुल्लकव्रत की दीक्षा भोज्यकारूओं में ही देना चाहिए, अभोज्यकारूओं में नहीं। इस आगमप्रमाण से स्पष्ट हो जाता है कि अस्पृश्यशूद्र क्षुल्लक नहीं हो सकता।

—जै. सं. 30-1-58/XI/ गुलजारीलाल, रफीगंज

---

१. प्रायश्चित्तचूलिका गाथा १५४ तथा टीका एवं प्र. सा. । ता. वृ । २२५ । प्रक्षेपक 10 की टीका ।

शंका—प्रवचनसार के चारित्राधिकार में ४९ वें श्लोक में सत् शूद्र भी मुनि हो सकता है सो यह ठीक है या शूद्र के कहाँ तक के भाव हो सकते हैं ? हमारे देखने में तो यह आया है कि अस्पृश्य शूद्र दर्शन प्रतिमा तक और स्पृश्य शूद्र क्षुल्लक तक हो सकता है । यह कहाँ तक हो सकते हैं ? समझावें ।

समाधान—प्रवचनसार चारित्राधिकार गाथा ४९ में चाउव्वण्णस्स शब्द है, छाया में 'चातुर्वर्णस्य' शब्द है जिसका अर्थ 'चार वर्णवाले' नहीं है, किन्तु चार प्रकार के है । यहाँ पर 'चातुर्वर्णस्य' शब्द से ऋषि, मुनि, यति व अनगार ग्रहण करना चाहिए अथवा श्रावक-श्राविका–मुनि व आर्यिका ग्रहण करना चाहिये । (देखें—टीका श्री जयसेनाचार्यकृत) प्रवचनसार गाथा ४९ में शूद्र का कथन ही नहीं है । अस्पृश्यशूद्र हिंसादि पाँच पापों का एक देश त्याग कर अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों को धारण कर सकता है और स्पृश्यशूद्र क्षुल्लक तक हो सकता है । नीचगोत्र का उदय पाँचवें गुणस्थान तक है, आगे के गुणस्थानों में नीचगोत्र का उदय नहीं है ।

—जै. सं. 24-5 56/VI/ क. दे. गया

शूद्र में मुनिदीक्षा की पात्रता नहीं

शंका—ता० २०-१०-५५ न० ३ के शंका समाधान में शूद्रमुक्ति के प्रश्न से किनारा करते हुए जो यह समाधान किया है कि "अब इस क्षेत्र और इस काल में किसी को मुक्ति सम्भव नहीं तो शूद्रमुक्ति का सवाल बेकार है" इससे शंकाकार का समाधान हुआ या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मैं यह पूछना चाहता हूँ कि—असत् और सत् दोनों प्रकार के शूद्र मुनिदीक्षा के योग्य हैं या नहीं ? सप्रमाण समाधान करें ।

समाधान—मुनिदीक्षा होने पर नियम से प्रमत्त व अप्रमत्तगुणस्थान होते हैं । प्रमत्त और अप्रमत्त अर्थात् छठे, सातवेंगुणस्थान में नीचगोत्र का उदय नहीं है । नीचगोत्र की उदयव्युच्छित्ति पाँचवें गुणस्थान में हो जाती है । दोनोंप्रकार के शूद्र अर्थात् नीचगोत्रियों के छट्ठा-सातवाँ आदि गुणस्थानों का होना असम्भव है ।

(गोम्मटसार (क०) गा० ३००)

शूद्र मरणकाल में भी मुनि नहीं बन सकता

शंका—क्या शूद्र मरते समय मुनि बन सकता है ?

समाधान—शूद्र मरते समय भी मुनि नहीं बन सकता है । आर्ष प्रमाण इस प्रकार है ।

कुल-जाति वयो-देह-कृत्य बुद्धि-क्रुधादयः ।
नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्ये लिङ्गयोग्यता ॥८।५२॥
यो व्यावहारिको व्यङ्गो मतो रत्नत्रय-ग्रहे ।
न सोऽपि जायतेऽव्यङ्गः साधुः सल्लेखना-कृतौ ॥ ५४ ॥

कुकुल, कुजाति, कुवय, कुदेह, कुकृत्य, कुबुद्धि और कुक्रोधादिक ये मनुष्य के जिनलिंग ग्रहण में बाधक हैं इनसे भिन्न सुकुलादिक जिनलिंग ग्रहण की योग्यता को लिये हुए हैं ।

जो जिनलिंग ग्रहण में व्यवहारिक बाधक माने गये हैं वे सल्लेखना के समय भी बाधक ही रहते हैं अबाधक नहीं हो जाते हैं ।

योगसारप्राभृत के इन दोनों श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है कि शूद्र मरणसमय भी मुनि नहीं बन सकता है ।

—जै. ग. 14-1-71/VII/ शास्त्र सभा, नजफगढ़

शुद्धि कर्मक्षपणा में कारण है

शंका—क्या शुद्धि कर्मक्षपणा में कारण नहीं है ?

समाधान—शुद्धि भी क्षपणा में कारण है। दिगम्बर लिंग धारण किये बिना समस्त कर्मों की क्षपणा नहीं हो सकती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सूत्र पाहुड में कहा भी है—

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥ १० ॥
"णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥"

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि नग्नता मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥२२४।१०॥

प्रवचनसार चारित्राधिकार

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनवर्णों में कोई एक वर्ण धारी हो, जिसका शरीर नीरोग हो और तप करने में समर्थ हो, अतिवृद्ध या अति बाल न होकर योग्य वयसहित हो, जिसका मुख का भाग भंग दोषरहित हो अर्थात् सुंदर हो, अपवादरहित हो ऐसा पुरुष ही दिगम्बरी जिन दीक्षा के योग्य होता है।

"शेषखण्डमुंडवातवृषणादि भगेनं लोकजुगुप्साभयेन निर्ग्रन्थरूपयोग्यो न भवति।"

शरीर के अंग के भंग होने पर अर्थात् मस्तक भंग, अंडकोष या लिंग भंग है या वातपीड़ित आदि शरीर की अवस्था होने पर लोक में निरादर के भय से निर्ग्रन्थभेष के योग्य नहीं होता है।

इसप्रकार शरीरशुद्धि अर्थात् द्रव्यशुद्धि होने पर मोक्षमार्ग अर्थात् कर्मक्षपणा के योग्य होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर की शुद्धि कर्मक्षपणा में सहकारीकारण है।

कर्मक्षपणा में क्षेत्रशुद्धि की भी आवश्यकता है। म्लेच्छखण्ड में उत्पन्न हुए मनुष्य के म्लेच्छखण्ड में रहते हुए सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता है। इसी अपेक्षा से म्लेच्छखंड में एक मिथ्यात्वगुणस्थान बतलाया है।

"सव्वमिलिच्छम्मि मिच्छत्तं ॥ २९३ ॥" (ति० प० पृ० ५२५)

अर्थ—सर्व म्लेच्छखण्डों में एक मिथ्यात्वगुणस्थान ही रहता है।

कालशुद्धि भी कर्मक्षपणा में सहकारीकारण है। दुष्षमा और अतिदुष्षमा कालों में उत्पन्न हुए मनुष्यों के कर्मक्षपणा संभव नहीं है। धवल पु० ६ पृ० २४७

कर्मक्षपणा के लिये भव अर्थात् वर्तमान पर्याय की शुद्धि भी होनी चाहिये। नारक और तिर्यंच दोनों अशुभपर्यायें हैं।

मनुष्य और देव ये दो शुभ गति हैं। देवों में यद्यपि शुभलेश्या हैं, सम्यक्त्व भी हैं। शक्ति भी है तथापि आहारादि की नियत पर्याय होने के कारण वे संयमधारण नहीं कर सकते, अतः कर्मों की क्षपणा भी नहीं कर

सकते हैं। इसी कारण से भोगभूमिया के मनुष्य भी संयम धारण नहीं कर सकते हैं। मात्र वज्रवृषभनाराचसंहनन-वाले कर्मभूमिया के मनुष्य ही द्रव्य आदि की शुद्धि मिलने पर कर्मों की क्षपणा कर सकते हैं।

भावशुद्धि अर्थात् क्षपकश्रेणी के योग्य रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग के बिना भी कर्मों की क्षपणा नहीं हो सकती है।

—जै. ग. 2-12-71/VIII/ टोडरमलाल जैन

साढ़े तीन हाथ से कम ऊँचाई वाले मुनि नहीं हो सकते

शंका—प्रमत्तगुणस्थान में कम से कम साढ़े तीन हाथ की अवगाहना कही है। आजकल चार हाथ का शरीर होता है। आठवर्ष की आयु में दीक्षा लेनेवाले का दो हाथ का शरीर होगा। साढ़े तीनहाथ का नियम कैसे हो सकता है?

समाधान—श्री धवलशास्त्र पुस्तक ४ पृ० ४५ पर संयतों के क्षेत्र का कथन करते हुए कहा है—"प्रमत्त-संयतगुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक जीवों की जघन्य-अवगाहना साढे तीन अरत्नि (हाथ) प्रमाण और उत्कृष्ट-अवगाहना पाँचसौ पच्चीसधनुष है। ये दोनों ही अवगाहनाएँ भरत और ऐरावतक्षेत्र में ही होती हैं, विदेह में नहीं, क्योंकि विदेह में पाँचसौ धनुष के उत्सेध का नियम है।" इस आगम के अनुसार जिन जीवों की अवगाहना आठवर्ष की अवस्था में या उसके पश्चात् भी, साढ़े तीनहाथ से कम है वे मुनि नहीं हो सकते। पंचम-काल के अन्त में भी भरतक्षेत्र में भावलिंगी मुनि होंगे। उससमय मनुष्यों की अवगाहना साढ़े तीनहाथ होगी (जम्बूदीवपण्णत्ती, सर्ग २ श्लोक १८७)।

—जै. ग. 5-12-63/IX/ पन्नालाल

युवावस्था में भी परिवार की स्वीकृति के बिना दीक्षित होने में दोष नहीं

शंका—नं० १—कोई मनुष्य घर-बार छोड़कर मुनिदीक्षा ले तब क्या उसकी जिम्मेदारी स्त्री आदि परिवार के पोषण की रहती है या नहीं? वह स्वयं निःशल्य हो जाय, किन्तु उसकी स्त्री–पुत्रादि को शल्य बन जाय तथा उनका जीवन–यापन कठिन हो जाय ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति दोषी है या नहीं? है तो कहाँ तक व किस अपेक्षा से? इसके अतिरिक्त यदि कोई मनुष्य विवाह के शीघ्र ही पश्चात् उदासीन होकर भरपूर यौवनावस्था में स्त्री की Consent (स्वीकारता, मरजी) के बिना घर छोड़कर मुनि हो जावे और कारणवशात् वह स्त्री अपनी इच्छाओं का दमन न कर सकने के कारण Corrupt (व्यभिचारी) हो जाय तो वह व्यक्ति कहाँ तक दोषी है, या है भी या नहीं? समाज में Corruption (व्यभिचार) उत्पन्न करने का भी वह दोषी है या नहीं?

समाधान—यह जीव (मैं) अनादिकाल से कर्मबंधन के कारण परतंत्र हो रहा है, क्योंकि जो जीव को परतंत्र करें वह कर्म है। कहा भी है—

"जीवं परतंत्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि। तानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवत्। क्रोधादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वरूपत्वात्। पारतन्त्र्यं हि जीवस्य क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम्।"

अर्थ—जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है, उन्हें कर्म कहते हैं। वे सब पुद्गलपरिणामात्मक हैं, क्योंकि जीव की परतंत्रता के कारण हैं। जैसे निगड (बेड़ी) आदि। प्रश्न—

उपर्युक्त हेतु क्रोधादि के साथ व्यभिचारी है ? उत्तर—नहीं, क्रोधादि जीव के परिणाम हैं इसलिये वे परतंत्रतारूप हैं, परतंत्र में कारण नहीं। प्रकट है कि जीव का क्रोधादि परिणाम स्वयं परतंत्रता है, परतंत्रता का कारण नहीं है। अतः उक्त हेतु क्रोधादि के साथ व्यभिचारी नहीं है।

इस परतंत्रता से मुक्त होने पर अर्थात् स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर जीव सुखी हो सकता है। कहा भी है—

"पारतन्त्र्यनिवृत्तिलक्षणस्य निर्वाणस्य शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भरूपस्य" [पं० का० गा० २ टीका]

अर्थात्—परतंत्रता से छुटकारा है लक्षण जिसका, ऐसा निर्वाण वही शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि है। और वही वास्तविक सुख है।

इसप्रकार प्रत्येक जीव का कर्तव्य है कि वह मोक्ष अर्थात् स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये मोक्षमार्ग को ग्रहण करे। मोक्ष के लिये निर्ग्रन्थ मुनिलिंग धारण करना आवश्यक है, क्योंकि वस्त्र का असंयम के साथ अविनाभावी संबंध है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥ [सूत्र-प्राभृत]

अर्थात्—जिनशासन में वस्त्र धारण करनेवाले को मुक्ति नहीं होती। यद्यपि वह तीर्थंकर ही क्यों न हो। नग्नता अर्थात् समस्त परिग्रहरहित अवस्था मोक्षमार्ग है। शेष अर्थात् वस्त्रादि परिग्रहसहित जो साधु हैं वे मिथ्यामार्गी हैं।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥ २० ॥ [सूत्र प्राभृत]

अर्थात्—जो पंचमहाव्रत व तीनगुप्ति करि संयुक्त है वह संयमवान है। बहुरि निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है सो ही प्रगटपणे करि वन्दने योग्य है।

"न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।" [धवल १ पृ० ३१३]

अर्थ—उनके भावसंयम नहीं है, क्योंकि भावअसंयम का अविनाभावी वस्त्र आदि का ग्रहण करना नहीं बन सकता।

अब विचारने की बात यह है कि जो स्वतंत्रता (मोक्ष) प्राप्त करने के लिये अपना कर्तव्य पालन कर रहा है वह दोषी है या वह दोषी है जो न तो स्वयं कर्तव्य का पालन करता है और दूसरों के लिये बाधक होता है।

एक सैनिक का पहले दिन विवाह हुआ और दूसरे दिन देश पर शत्रु का आक्रमण हो गया। वह सैनिक देश की रक्षा के लिये अपना कर्तव्य पालन करने को स्त्री तथा वृद्ध माता-पिता को छोड़कर युद्ध में जाता है, यदि स्त्री अपनी कामवासना आदि के कारण पति को रोकती है या उसके चले जाने पर व्यभिचारी हो जाती है तो दोषी कौन स्त्री या सैनिक ?

दूसरी दृष्टि इस प्रकार है—

पुरुष, स्त्री, पुत्र आदि सब भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। पुरुष मोह के कारण स्त्री को अपनी पत्नी मानता है और बच्चों को अपने पुत्र मानता है, किन्तु मोह के अभाव हो जाने पर न कोई किसी की स्त्री, न पुत्र, न पिता, न माता, न पति; क्योंकि प्रत्येक अपनी भिन्नसत्ता को लिये हुए एक भिन्नद्रव्य है। मोह के कारण सब सम्बन्ध था, मोह के अभाव में कोई भी सम्बन्ध नहीं। मोह के अभाव में जब शरीर भी अपना नहीं रहता तब अन्य की क्या कथा। कहा भी है—

अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥ ८० ॥
एवं बाहिर दव्वं जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो ॥ ८१ ॥
जो जाणिऊण देहं जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥ ८२ ॥ [स्वामि कार्तिकेय अनुप्रेक्षा]

अर्थ—अपने उपार्जित कर्मों के उदय से जीव भिन्न शरीर को ग्रहण करता है। माता भी उससे भिन्न होती है। स्त्री भी भिन्न होती है और पुत्र भी भिन्न ही पैदा होता है। इस प्रकार शरीर माता स्त्री-पुत्र आदि की तरह हाथी घोड़ा रथ धन मकान आदि बाह्य द्रव्यों को आत्मा से भिन्न जानता है, किन्तु भिन्न जानते हुए भी मूर्ख प्राणी उन्हीं से राग करता है। जो आत्मस्वरूप से शरीर को यथार्थ में भिन्न जानकर अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसीकी अन्यत्वअनुप्रेक्षा कार्यकारी है।

दो व्यक्तियों में झगड़ा हो गया उनमें से एक व्यक्ति ने अपनी भूल का अनुभव कर दूसरे व्यक्ति से द्वेष दूर कर लिया और क्षमा की याचना करली, किन्तु दूसरा व्यक्ति क्षमा नहीं करता और शल्य बनाये रखता है। तो दोषी कौन ? द्वेष छोड़ने वाला या द्वेष रखने वाला ? इसी प्रकार दो व्यक्तियों में राग था, किन्तु एक व्यक्ति ने अपनी भूल का अनुभव कर दूसरे व्यक्ति से राग हटा लिया और क्षमा-याचना करली कि भ्रम के कारण अब तक अपना मानकर राग करता चला आ रहा था सो मेरी यह बहुत भूल थी, किन्तु दूसरा व्यक्ति भूल को न स्वीकार करता है और न राग छोड़ता है शल्य बनाये रखता है। दोषी कौन राग को छोड़ने वाला या राग रखने वाला ?

इस शंका के विषय में तीसरी दृष्टि इस प्रकार है—

सब जीवों के साथ कर्म बंधे हुए हैं और उन कर्मों के उदय के अनुसार सुखी-दुखी होते हैं। एक जीव दूसरे जीव को न तो कर्म दे सकता है और न कर्म हर सकता है, इसलिये प्रत्येक जीव अपने कर्मोदय के अनुसार सुखी-दुःखी होता है उसका यह मानना कि दूसरे जीव ने मुझको दुःखी कर दिया एक भ्रम है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है। किन्तु इसका एकान्त पक्ष ग्रहण करके अनर्गल प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये अथवा कृतघ्न नहीं होना चाहिए।

"सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्। स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्। ततो न कथंचनापि अन्योन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात्।" [समयसार पृ. ३४६]

अर्थात्—प्रथम तो सुख-दुःख जीवों के अपने कर्म के उदय से ही होते हैं। इसलिये कर्मोदय का अभाव होने से उन सुख दुःखों के होने का असमर्थपना है। तथा अन्य पुरुष अपने कर्म को अन्य को नहीं दे सकता वह कर्म अपने परिणामों से ही उत्पन्न होता है, इस कारण एक दूसरे को सुख-दुःख किसी तरह भी नहीं दे सकता।

श्री जयसेन आचार्य ने भी कहा है—

"तत्त्वज्ञानी जीवस्तावत् अन्यस्मै परजीवाय सुखदुःखे ददामि, इति विकल्पं न करोति। यदा पुनर्निर्विकल्प समाधेरभावे सति प्रमादेन सुख-दुःखं करोमीति विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति-अस्य जीवस्यांतरंगपुण्यपापोदयो जातः अहं पुनर्निमित्तमात्रमेव, इति ज्ञात्वा मनसि हर्षविषादपरिणामेन गर्वं न करोति इति।" [समयसार पृ. ३४६]

अर्थ—प्रथम तो तत्त्वज्ञानी जीव अन्य-परजीव को सुख-दुःख देने का विकल्प नहीं करता। यदि निर्विकल्प-समाधि के अभाव में प्रमादवश 'मैं सुखी, दु:खी करता हूं' ऐसा विकल्प हो भी जावे तब मन में यह चिंतवन करता है कि इस जीव के सुख-दु:ख का अंतरंगकारण पुण्य-पाप का उदय है मैं तो निमित्तमात्र हूं। इस प्रकार मन में विचार कर हर्ष विषाद या गर्व नहीं करता।

स्त्री पुत्र आदि का जीवनयापन कठिन हो जाना उन स्त्री पुत्र आदि के कर्मोदय पर निर्भर है, न कि अन्य व्यक्ति पर। यह भी एक अपेक्षा है।

यदि व्यक्ति बीमार (रोगी) हो जाय, वर्षों तक उसको आराम न हो, आय का अन्य कोई साधन है नहीं, रोगी की औषधि को भी धन चाहिये और स्त्री, पुत्र आदि के पालन-पोषण के लिये भी धन की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में स्त्री, पुत्र आदि का जीवन-यापन कठिन हो रहा है क्या वह रोगी व्यक्ति दोषी है? यदि स्त्री अपनी कामवासना के कारण व्यभिचारी हो जाती है तो क्या वह रोगी व्यक्ति दोषी है?

—जै. ग. 24-4-67/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

द्रव्य संयम बन्ध का नहीं, मोक्ष का हेतु है

शंका—द्रव्य संयम क्या बन्ध का कारण है?

समाधान—द्रव्यसंयम बंध का कारण नहीं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं।

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥" [त. सू. अ. ८]

द्रव्यसंयम न मिथ्यात्वरूप है, न अविरतिरूप है, न प्रमादरूप है, न कषायरूप है, न योगरूप है अतः द्रव्य-संयम बन्ध का कारण नहीं है।

द्रव्यसंयम अर्थात् जिनमुद्रा मोक्षसुख का कारण है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीव अच्छंति भवगहणे ॥४॥

जिनवर के द्वारा प्रतिपादित जिनमुद्रा सिद्ध-सुख अर्थात् मोक्ष की देने वाली है। जिसको जिनमुद्रा नहीं रुचती वह संसार में भ्रमण करता है। यह जिनमुद्रा द्रव्यसंयम अर्थात् द्रव्यलिंग भावलिंग का कारण है—

"द्रव्यलिंगमिदं ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणं।" अष्टपाहुड़ टीका

द्रव्यलिंग भावलिंग का कारण है। द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग नहीं होता है।

मात्र द्रव्यसंयम अर्थात् द्रव्यलिंग से मोक्ष नहीं होता। द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों से मोक्ष होता है। इन दोनों में से किसी एक से मोक्ष नहीं होता।

"द्वाभ्यां भावद्रव्यलिंगाभ्यां कर्मप्रकृतिनिकरो नश्यति न त्वेकेन भावमात्रेण द्रव्यमात्रेण वा कर्मक्षयो भवति।" अष्टपाहुड़ टीका

भावलिंग और द्रव्यलिंग इन दोनों से कर्मों का नाश होता है। एक से अर्थात् मात्र भावलिंग से या मात्र द्रव्यलिंग से कर्मों का क्षय नहीं होता है।

—जै. ग. 13-8-70/IX/ .. ....

द्रव्यलिङ्गी मुनि का स्वरूप

शंका—द्रव्यलिंगी मुनि का स्वरूप क्या है? कौन-कौन गुणस्थान वाले होते हैं? आजकल बहुत लोगों का खयाल है कि वे पहले गुणस्थान वाले ही होते हैं अन्य गुणस्थान वाले नहीं होते और क्रिया से ही मोक्ष मानने वाले होते हैं।

समाधान—मुनि का चारित्र दो प्रकार का होता है (१) द्रव्य चारित्र (२) भाव चारित्र। पांच महाव्रतों को तथा पांच समिति और तीन गुप्ति को अथवा अट्ठाईस मूल गुणों को निरतिचार पालन करना द्रव्यचारित्र है और यह द्रव्यचारित्र भावचारित्र का सहकारी कारण है जैसा कि स्वरूप सम्बोधन श्लोक १५ में श्रीमद्भट्टाकलंकदेव ने कहा है—

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम्।
यद्बाह्यं देशकालादिः, तपश्च बहिरङ्गकम्॥

अर्थ—पहले ११-१४ श्लोक में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष प्राप्ति का मूल कारण बताया है, उनके सहकारी कारण देशकालादि को, अनशन अवमौदर्य आदि तप को समझना चाहिए।

मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीकषाय, अप्रत्याख्यानावरणकषाय प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदयाभाव में आत्मा के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं, उसको भावसंयम कहते हैं। जिसके भावसंयमसहित, द्रव्यचारित्र होता है उसको भावलिंगी मुनि कहते हैं। जिसके द्रव्यसंयम तो है, किंतु प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय के कारण उसके भाव सकलसंयम न होने से देशसंयम रूप भाव हो जाने के कारण वह मुनि यद्यपि सम्यग्दृष्टि है, द्रव्यलिङ्गी मुनि है, क्योंकि उसके भाव मुनिसंयम (भाव सकलचारित्र) का अभाव है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय में भावसंयम का अभाव होने के कारण वह सम्यग्दृष्टि मुनि द्रव्यलिङ्गी होता है। मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीकषाय का उदय होने से सम्यग्दर्शन भी नहीं होता अतः ऐसे द्रव्यसंयम को पालन करने वाला मुनि, मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि होता है।

स्थूलदृष्टि से यह कहा जाता है कि द्रव्यलिङ्गीमुनि क्रिया से मोक्ष मानने वाले होते हैं, किन्तु आत्म-परिणामों की तरतमता का काल इतना सूक्ष्म है कि मति-श्रुत ज्ञानी स्वयं अपने सूक्ष्म भावों को नहीं जान सकता, दूसरे जीवों के सूक्ष्म भावों को जानने की बात तो दूर रही। कहा भी है—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं, केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधि स्वान्तः, पर्ययः ज्ञानयोर्द्वयोः॥३७५॥
न गोचरं मतिज्ञान-श्रुतज्ञान द्वयोर्मनाक्।
नापिदेशावधेस्तत्र, विषयानुपलब्धितः॥३७६॥

अर्थ—वास्तव में, सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है। जो या तो केवलज्ञान का विषय है या अवधि और मनः पर्ययज्ञान का विषय है ॥३७५॥ यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों का किंचित् भी विषय नहीं है। साथ ही यह देशावधि ज्ञान का भी विषय नहीं है, क्योंकि इन ज्ञानों के द्वारा सम्यग्दर्शन की जानकारी नहीं होती है।

—जै. सं. 19-7-56/VI/ ला. रा. दा. कैराना

शंका—मुनि पहले द्रव्यलिंग धारण करता है या भावलिंग ?

समाधान—द्रव्यलिंग और भावलिंग धारण करने पर ही मुनि होता है। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि मुनि पहले कौनसा लिंग धारण करता है ? मुनि होने के पश्चात् लिंग धारण नहीं किये जाते, किंतु लिंग धारण कर लेने पर मुनि होता है।

जो सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष का साक्षात् कारण ऐसी मुनि अवस्था को धारण करना चाहता है वह प्रथम वस्त्रादि परिग्रह का त्याग कर यथाजात (नग्न) होता है, सिर-दाढी-मूछ के बालों का लोच करता है इत्यादि क्रियाओं के द्वारा बहिरंग लिंग को धारण करने से मूर्छा और आरम्भ से रहित तथा उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त होता है। तत्पश्चात् श्रमण (मुनि) होने का इच्छुक वह पुरुष गुरु को नमस्कार करके व्रत सहित क्रिया को सुनकर स्वीकार कर आत्म स्वरूप में स्थित होते हुए श्रमण (मुनि) होता है। प्र. सा. गा. २०५-२०७

—जै. ग. 28-12-61/........

१. द्रव्यलिंगपूर्वक ही भावलिंग होता है २. भावलिंगी के ही द्रव्यलिंग का याथार्थ्य है

शंका—भावपाहुड़ गाथा २ में भावलिंग प्रथम कहा। श्री जयचन्दजी ने टीका में द्रव्यलिंग के पहले भावलिंग होय कहा। भावपाहुड़ गाथा ३४ की टीका के भावार्थ में द्रव्यलिंग को भावलिंग का साधन कहकर मोक्षमार्ग में प्रधानता भावलिंग की कही। भावपाहुड़ गाथा ७३ में तो पीछे द्रव्यलिंग की बात कही है। जैन समाज के कुछ मान्य विद्वानों ने प्रथम भावलिंग पीछे द्रव्यलिंग माना है। उपर्युक्त कथन का क्या अभिप्राय समझना ? क्या पहले सातवाँ गुणस्थान हो जाय है बाद में वस्त्र-त्याग आदि होय है ? क्या पहले पाँचवाँ गुणस्थान होय बाद में देशव्रत ग्रहण करे ? श्री कुंदकुंद आचार्य के अभिप्राय को व टीकाकार के अभिप्राय की पुष्टि अन्य आचार्य के कथन से कैसे होती है ? निमित्त-उपादान, निमित्त-नैमित्तिक, कारण-कार्य साधन-साध्य, निश्चय-व्यवहार दृष्टि से समाधान करने की कृपा करें ?

समाधान—प्रत्याख्यान (त्याग) के दो भेद हैं। एक द्रव्यप्रत्याख्यान दूसरा भावप्रत्याख्यान[1]। द्रव्य-प्रत्याख्यान को द्रव्यलिंग और भावप्रत्याख्यान को भावलिंग समझना चाहिये। समयसार गाथा २८३-२८५ की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है 'अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध का उपदेश है वह द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तकत्व को प्रगट करता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि पर-द्रव्य निमित्त हैं और आत्मा के रागादि भाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जावे तो द्रव्य अप्रति-क्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक होगा, और वह निरर्थक होने पर एक आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जायगा, जिससे नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आ जायगा, और उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही रागादि भावों का निमित्त है। और ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि

1. समयसार गाथा २८३-२८५।

आत्मा रागादि का अकारक ही है। जब तक वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता।' इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द ने तथा श्री अमृतचंद्र आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि द्रव्य प्रत्याख्यान (द्रव्यलिंग) पूर्वक ही भावप्रत्याख्यान (भावलिंग) होता है।

श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पु. १ पृ. ३३३ पर भी कहा है—'वस्त्रसहित के भावसहित भावसंयम के मानने पर, उनके भावप्रसंयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण नहीं बन सकता है।' अर्थात् वस्त्रादि त्याग किये (द्रव्यलिंग धारण किये) बिना संयम (भावलिंग) नहीं हो सकता।

मोक्षमार्ग मे मात्र द्रव्यलिंग कार्यकारी नहीं। भावलिंग होने पर ही द्रव्यलिंग की सार्थकता है, क्योंकि भावशून्य क्रिया से फल की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कल्याण मन्दिर स्तोत्र श्लोक ३८ में श्री कुमुदचन्द्र आचार्य ने कहा है।

भावपाहुड़ गाथा २—'भावो य पढमलिंगं' में आये हुए 'य' पद से द्रव्यलिंग धारण करके भावलिंग धारण करता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये (श्री श्रुतसागर सूरिकृत संस्कृत टीका)। किन्तु श्री पं० जयचन्दजी के सामने 'भावोहि पढमलिंगं' ऐसा पाठ था। अतः उन्होंने गाथा २ का यह अर्थ किया है—'भाव है सो प्रथमलिंग है याही तैं हे भव्य ! तू द्रव्यलिंग है ताहि परमार्थ रूप मति जाणैं, जातैं गुण और दोष इनका कारणभूत भाव ही है। ऐसा जिन भगवान कहें हैं।' यद्यपि द्रव्यलिंग पूर्व में हो जाता है, किंतु उस द्रव्यलिंग की सार्थकता भावलिंग होने पर होती है अतः भावलिंग को प्रथम कहा है। जैसे सम्यग्दर्शन से पूर्व तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यथार्थ तत्त्वज्ञान से सम्यग्दर्शन यथार्थ (श्रद्धान) की उत्पत्ति नहीं होती है, अयथार्थ तत्त्वज्ञान से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती, तथापि सम्यग्दर्शन के होने पर उस ज्ञान को 'सम्यग्ज्ञान' संज्ञा प्राप्त होती है। इसीलिये प्रथम सम्यग्दर्शन को कहा जाता है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में प्रथम 'सम्यग्दर्शन' पश्चात् सम्यग्ज्ञान कहा है। इसी प्रकार द्रव्यलिंग और भावलिंग के विषय में जानना।

भावपाहुड़ गाथा ३४ के विशेषार्थ में श्री पं० जयचन्दजी ने कहा है कि 'द्रव्यलिंग पहले धारना, ऐसा न जानना जो याहीतैं सिद्धि है'।

भावपाहुड़ गाथा ७३—'भावेण होइ णग्गो........' में 'भावेन' शब्द का अर्थ 'परमधर्मानुरागलक्षणजिन-सम्यक्त्वेन' और 'णग्गो' शब्द का अर्थ 'वस्त्रादि परिग्रह रहित' संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर आचार्य ने किया है। अर्थात् जिसके परमधर्मानुरागरूप भाव होंगे उसके ही वस्त्रत्याग के भाव होंगे और वस्त्रत्यागरूप भाव होने पर वस्त्रादि परिग्रहरहित नग्न अवस्था होगी।

श्रीमान् पं० जयचन्दजी ने इस गाथा ७३ का अर्थ इस प्रकार किया है—पहले मिथ्यात्व आदि दोषनिकूं छोड़ि और भावकरि अन्तरंग नग्न होय एकरूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करे, पीछे मुनि द्रव्यकरि बाह्यलिंग जिन आज्ञा करि प्रगट करे यह मार्ग है।' यहाँ पर यह बतलाया गया है कि जो केवल देखा-देखी ख्याति-पूजा लाभ की चाह से बाह्यलिंग धारण कर लेते हैं, वे उपसर्ग, परीषह आ जाने पर बाह्यलिंगसे भी भ्रष्ट हो सकते हैं, किंतु जिन्होंने सम्यक्त्वपूर्वक संसार देह भोगों का स्वरूप विचार कर मुनि होने का निर्णय किया है (ये भाव ही अन्तरंग की नग्नता हैं) वे ही जिन-आज्ञा के अनुसार द्रव्यलिंग धारण करते हैं। इन भावों के बिना जो द्रव्यलिंग है वह जिन आज्ञा अनुसार नहीं है।

इन आगम प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि प्रथम वस्त्रत्याग के भाव होते हैं पश्चात् वस्त्रत्यागादिरूप द्रव्यलिंग होता है। उसके पश्चात् भावलिंगरूप सातवाँगुणस्थान होता है। बारहभावना आदिरूप भाव कारण है,

द्रव्यलिंग कार्य है। द्रव्यलिंग कारण है और संयमरूप भावलिंग कार्य (साध्य) है। संसार, देह भोगों का स्वरूप विचार निमित्त है, वस्त्रत्यागादिरूप द्रव्यलिंग नैमित्तिक क्रिया है। तत्पश्चात् द्रव्यलिंग निमित्त है और भावलिंग (संयम) नैमित्तिक भाव हैं।

—जै. ग. 7-5-64/XI/ ब सरदारमल

द्रव्यलिंग व भावलिंग में कारण-कार्यपना

शंका—क्या द्रव्यलिंग के बिना भावलिंगी मुनि हो सकता है ?

समाधान—द्रव्यलिंग के बिना संयम अर्थात् भावलिंग नहीं हो सकता है, क्योंकि वस्त्र भावअसंयम का अविनाभावी है। श्री वीरसेनाचार्य ने धवल पु. १ में कहा भी है।

"भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।"

अर्थ—वस्त्रसहित होते हुए भी भावसंयम के होने में कोई विरोध नहीं आना चाहिए ? वस्त्र सहित के भावसंयम नहीं है, क्योंकि भावसंयम के मानने पर, उनके भावअसंयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है—

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि।
एक्को वि मोक्खमग्गोसेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥ सूत्रपाहुड़

वस्त्ररहित दिगम्बरमुद्रारूप और करपात्र में खड़ा होकर आहार करना ऐसा द्रव्यलिंग एक अद्वितीय मोक्ष-मार्ग तीर्थंकर परमदेव जिनेन्द्र ने उपदेश्या है। इस सिवाय अन्य रीति हैं वे सर्व अमार्ग हैं।

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासण जइ वि होई तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसाउम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥ सूत्रपाहुड़

जिन शासन विषैं ऐसा कहा है कि वस्त्र का धरने वाला मोक्ष नहीं पावे है। तीर्थंकर भी होय तो जैतै गृहस्थ रहै तैतैं मोक्ष न पावे, दीक्षा लेय दिगम्बर रूप धारे तब मोक्ष पावे, जाते नग्नपणा है सो ही मोक्षमार्ग है शेष सब लिंग उन्मार्ग हैं।

'द्रव्यलिंगमिदं ज्ञेयं भावलिंगस्यकारणं।' (षट्प्राभृत संग्रह १२९)

यह द्रव्यलिंग भावलिंग का कारण है। इसलिये कहा है—

'द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः।'

द्रव्यलिंग को धारण करके ही यति भावलिंगी होते हैं।

जिनके दिगम्बरेतर समाज के संस्कार हैं वे उन संस्कारों के वश सवस्त्र को परमगुरुदेव मानते हैं, वस्त्र-सहित के अप्रमत्तसंयत नामक सातवाँगुणस्थान मानते हैं, क्योंकि उनका ऐसा सिद्धान्त है कि परद्रव्यरूप वस्त्र से भावसंयम की हानि नहीं हो सकती है।

—जै. ग. 10-4-69/V/ इन्दौरीलाल

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव पड़ता है

शंका—अंतरंगभाव क्या बाह्यधर्म का कारण है ?

समाधान—बाह्यधर्म अंतरंगभाव का कारण है। कहा भी है—

> **द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः।**
> **विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतधरोपि ॥**
> **द्रव्यलिंगमिदं ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणं।**
> **तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः ॥ (भावप्राभृत गाथा २ की टीका)**

अर्थ—मुनि द्रव्यलिङ्ग धारणकर भावलिङ्गी होता है, नानाव्रतों का धारक होने पर भी द्रव्यलिंग के बिना मुनि वन्दनीय नहीं है। इस द्रव्यलिंग को भावलिंग का कारण जानना चाहिये। आत्मा के भीतर होनेवाला भावलिंग नेत्रों का स्पष्ट विषय नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि बाह्यधर्म कारण है और अंतरंग भाव कार्य है। बाह्यधर्म के बिना अंतरंग भाव नहीं होता, यह सिद्ध है। जो वस्त्रसहित के सातवाँगुणस्थान मानते हैं, इससे उसका भी खण्डन हो जाता है। जो एक द्रव्य का प्रभाव दूसरे द्रव्य पर नहीं मानते हैं, इन आर्षवाक्यों से उस सिद्धांत का भी खंडन हो जाता है।

—जै. ग. 25-12-69/VIII/ रो. ला. मित्तल

प्रथम पांच गुणस्थान वाले मुनि द्रव्यलिंगी ही होते हैं

शंका—मुनि के दो भेद हैं, द्रव्यलिंगी व भावलिंगी। इनमें द्रव्यलिंगी पहिले गुणस्थान वाले ही होते हैं या १ से ५ गुणस्थान वाले ?

समाधान—प्रत्याख्यान दो प्रकार का है, द्रव्यप्रत्याख्यान और भावप्रत्याख्यान। जिन द्रव्यों के निमित्त से क्रोध, मान, माया, लोभकषाय तथा हिंसा आदि पाप उत्पन्न होते हैं उनके त्याग को द्रव्यप्रत्याख्यान कहते हैं। और क्रोधादि कषाय व हिंसादि पापरूप भावों का त्याग भावप्रत्याख्यान है।

श्री समयसार गाथा २६५ व टीका में भी कहा है कि बाह्य वस्तु अध्यवसान (रागादिभावों) का कारण है। इसलिये अध्यवसान को आश्रयभूत बाह्यवस्तु का अत्यन्त निषेध किया है, क्योंकि कारण के निषेध से ही कार्य का प्रतिषेध है[1]।

श्री समयसार गाथा २८३-२८५ में द्रव्य और भाव से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो प्रकार का बतलाया है। उसकी टीका मे निम्न प्रकार कहा है—

"आत्मा स्वतः रागादिका अकारक ही है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमण की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता है। अप्रत्याख्यान और अप्रतिक्रमण का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश है, वह द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकत्व को प्रगट करता है और आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिये यह

---

१. "वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।" टीका—"तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः हेतुप्रतिषेधेन हेतुमत्प्रतिषेधात्।"

निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य-अप्रत्याख्यान और द्रव्यअप्रतिक्रमण का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जायगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जाने से मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो, और ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिका अकारक ही है। तथापि जब तक निमित्तभूत परद्रव्य का प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण नहीं करता तब तक नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण नहीं करता।[1]"

इन आर्ष वाक्यों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यप्रत्याख्यानपूर्वक ही भावप्रत्याख्यान हो सकता है, क्योंकि निमित्तभूत कारणों के त्याग के बिना नैमित्तिकभूत भावों का त्याग नहीं हो सकता है।

द्रव्यप्रत्याख्यान से उत्पन्न हुआ जो मुनिलिंग है वह द्रव्यलिंग है और भावप्रत्याख्यान से उत्पन्न हुआ जो मुनिलिंग वह भावलिंग है। द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसीलिये श्री कुंदकुंद भगवान ने सूत्रप्राभृत गाथा २० में "णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य॥" इन शब्दों द्वारा यह कहा है कि निर्ग्रन्थता (नग्नता) मोक्षमार्ग है और वही वन्दनीय है। इसी बात को पुनः गाथा २३ में 'णग्गो विमोक्खमग्गो' अर्थात् नग्नता मोक्षमार्ग है, इन शब्दों द्वारा कहा है।

शंकाकार ने मुनि के दो भेद किये हैं—द्रव्यलिंगी व भावलिंगी। जिसको शंकाकार भावलिंगी मुनि कहना चाहता है वह द्रव्यलिंगी मुनि भी अवश्य है, क्योंकि द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि के द्रव्यलिंग के होने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय के अभाव में भावलिंग होता है। जो सम्यग्दृष्टि बाह्यवस्तु का त्याग कर देने से द्रव्यलिंगी मुनि तो हो गया, किन्तु प्रत्याख्यानावरणकषाय चतुष्क के उदय का अभाव न होने से अथवा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय का अभाव न होने से भावलिंग नहीं हुआ वह सम्यग्दृष्टि मात्र द्रव्यलिंगीमुनि है। मिथ्यादृष्टि के तो निरंतर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय रहता है अतः मिथ्यादृष्टि के द्रव्यलिंग के सद्भाव में भी भावलिंग नहीं होता, इसी कारण वह मिथ्यादृष्टि भी मात्र द्रव्यलिंगी है। इसलिए १ से ५ गुणस्थानवाले जीव द्रव्यलिंगी मुनि हो सकते हैं। विशेष के लिए गोम्मटसार की संस्कृत टीका देखनी चाहिये।

एक सम्यग्दृष्टिजीव भावलिंगी मुनि है किन्तु प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय हो जाने से अथवा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से अथवा अनन्तानुबन्धीकषाय व मिथ्यात्वादि के उदय से भावलिंग नष्ट हो गया और मात्र द्रव्यलिंगी मुनि हो गया, किन्तु अतिशीघ्र उपर्युक्त प्रकृतियों के उदय का अभाव हो जाने से पुनः भावलिंगी मुनि हो गया।

---

१. आत्मात्मना रागादिनामकारक एव अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्य-भावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्त-नैमित्तिक-भावं प्रथयन् कर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः यद्येवं नेष्यते तदा द्रव्याप्रतिक्रमणा-प्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्। तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथासति तु रागादिनाम-कारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूत-भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च।

इसीप्रकार एक मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगीमुनि सम्यक्त्वोत्पत्ति के साथ-साथ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणकषायोदय का अभाव हो जाने से भावलिंगी मुनि हो गया, किन्तु अतिशीघ्र उपर्युक्त कषायों का तथा मिथ्यात्वादि का उदय हो जाने से पुनः मिथ्यादृष्टिद्रव्यलिंगी हो गया।

अतः कौन मुनि किस समय मात्र द्रव्यलिंगी और भावलिंगी है यह मति-श्रुतज्ञान द्वारा जानना कठिन है।

—जै. ग. 15-10-64/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

शंका—द्रव्यलिंगी मुनि पहले से पांचवेंगुणस्थानवर्ती होते हैं, इसका क्या प्रमाण है ?

समाधान—णरतिरिय देस अयदा उक्कस्सेणच्चुदोत्ति णिग्गंथा।
ण य अयद देसमिच्छा गेवेज्जंतोत्ति गच्छंति ॥५४५॥ त्रिलोकसार

अर्थ—असंयत व देशसंयत मनुष्य या तिर्यंच उत्कृष्टपने अच्युतकल्पपर्यंत जाय हैं। द्रव्य करि निर्ग्रन्थ और भावकरि असंयत व देशसंयत व मिथ्यादृष्टि मनुष्य ते उपरिमग्रैवेयक पर्यंत जाय है तातैं ऊपरि नाहिं जाय है।

—जै. ग. 19-12-66/VIII/र. ला. जैन

क्षायिक सम्यक्त्वी संयमी छठे में भी रहता है

शंका—श्री समयसारजी में आता है कि जिसे क्षायिकसम्यग्दर्शन पांचवेंगुणस्थान में हो जाता है वह छठे गुणस्थान में नहीं आता, सीधा सातवेंगुणस्थान में भावलिंग धारण करता है। क्या इसका तात्पर्य यह है कि छठा गुणस्थान द्रव्यलिंग का ही है। जितनी देर सातवेंगुणस्थान में रहता है वह भावलिंग है अन्यथा द्रव्यलिंग है। द्रव्यलिंग का निषेध क्यों किया जाता है ?

समाधान—द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग नहीं हो सकता है। कहा भी है—

द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः।
विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥१॥
द्रव्यलिंगमिदं ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणं।
तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः ॥२॥
मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते।
राजमुद्राधरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥३॥

"द्रव्यलिंगे सति भावं विना परमार्थ-सिद्धिर्न भवति तेन कारणेन द्रव्यलिंगं परमार्थसिद्धिकरं न भवति मोक्षं न प्रापयति, तेन कारणेन द्रव्यलिंगपूर्वकं भावलिंगं धर्तव्यमिति भावार्थः ये तु गृहस्थवेषधारिणोऽपि वयं भावलिंगिनो वर्तामहे दीक्षायामन्तर्भावत्वात्ते मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्या विशिष्टजिनलिंगविद्वेषित्वात्, योद्धुमिच्छवः कातरवत्स्वयं नश्यन्ति, अपरानपि नाशयन्ति, ते मुख्यव्यवहारधर्मलोपकत्वाद्विशिष्टैर्वञ्चनीयाः।" अष्टपाहुड पृ. २०७

श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य कृत अर्थ—मुनि द्रव्यलिंग धारणकर भावलिंगी होता है, क्योंकि नानाव्रत धारण करने पर भी मुनि द्रव्यलिङ्ग के बिना वन्दनीय नहीं है, नमस्कार करने के योग्य नहीं है ॥१॥ इस द्रव्यलिङ्ग को भावलिङ्ग का कारण जानना चाहिये, क्योंकि भावलिङ्ग आत्मा के भीतर होने से स्पष्ट ही नेत्रों का विषय नहीं है ॥२॥ सब जगह मुद्रा मान्य होती है, मुद्रा हीन मनुष्य की मान्यता नहीं होती। जिस प्रकार

राजमुद्रा (चपरास) को धारण करने वाला अत्यन्तहीन व्यक्ति भी लोक में मान्य होता है, उसी तरह द्रव्यलिङ्गी नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारण करनेवाला साधारण पुरुष भी मान्य होता है, यह शास्त्र का निर्णय है ॥३॥ द्रव्यलिंग होने पर भी यदि भावलिङ्ग नहीं है तो वह द्रव्यलिंग परमार्थ की सिद्धि करनेवाला नहीं है इसलिये द्रव्यलिङ्गपूर्वक भावलिंग धारण करना चाहिये। इसके विपरीत जो गृहस्थवेष के धारक होकर भी 'हम भावलिङ्गी हैं क्योंकि दीक्षा के समय हमारे अन्तःकरण में मुनिव्रत धारण करने का भाव था' ऐसा कहते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये, क्योंकि वे विशिष्ट जिनलिङ्ग के विरोधी हैं, उसमें द्वेष रखने वाले हैं। युद्ध की इच्छा करते हुए कायर की तरह स्वयं नष्ट होते हैं और दूसरों को भी नष्ट करते हैं। मुख्य व्यवहार धर्म के लोपक होने के कारण वे विशिष्ट पुरुषों द्वारा दण्डनीय हैं। अष्टपाहुड़ पृ. २०८ महावीरजी से प्रकाशित।

समयसारग्रंथ में ऐसा कहीं पर भी कथन नहीं है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि छठेगुणस्थान में नहीं आता है। छठेगुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि होते हैं।

"सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥१४५॥

—धवल पु० १ पृ० ३९६

अर्थ—सामान्यसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली नामक चौदहवेंगुणस्थान तक होते हैं।

द्वादशांग के इस सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि को छठागुणस्थान होता है।

उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक इन तीनों में से कोई भी सम्यग्दृष्टि हो जब वह संयम को धारण करता है तो वह एकदम सातवेंगुणस्थान में जाता है। वहां एक अन्तर्मुहूर्त काल ठहरकर फिर छठेगुणस्थान में आता ही है। फिर छठेगुणस्थान से सातवें में और सातवेंगुणस्थान से छठेगुणस्थान में हजारों बार भ्रमण करने के पश्चात् श्रेणी चढ़ सकता है।

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन बारह कषायों के उदयाभाव मे ही छठागुणस्थान होता है। इन चौदह प्रकृतियों में से यदि किसी एक प्रकृति का भी उदय है तो छठागुणस्थान संभव नहीं है। अतः छठेगुणस्थान में मुनि के द्रव्यलिंग व भावलिंग दोनों होते हैं। क्योंकि द्रव्यलिंग के बिना न तो मुनि संज्ञा हो सकती है और न भावलिंग हो सकता है।

जिस मुनि के उपर्युक्त चौदह प्रकृतियों में से एक या अधिक प्रकृतियों का उदय आ जाता है तो उसका भावलिंग समाप्त हो जाता है और वह मात्र द्रव्यलिंगी मुनि हो जाता है। ऐसे मुनि अर्थात् द्रव्यलिंगीमुनि पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें इन पाँचगुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में हो सकते हैं और वे मरकर नव-ग्रैवेयक तक ही जा सकते हैं। इससे ऊपर अर्थात् अनुदिश या अनुत्तर विमानों में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

छहढाला में जो यह लिखा है—'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' यहां पर अनन्तबार' विपुल संख्या का वाचक है।

चौथेगुणस्थान से चौदहवेंगुणस्थान तक सब जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। चौथे व पाँचवें गुणस्थान में जो मुनि हैं वे सम्यग्दृष्टि होते हुए भी मात्र द्रव्यलिंगी मुनि हैं। छठे से चौदहवें गुणस्थान तक जो मुनि हैं वे सब सम्यग्दृष्टि हैं, उनके द्रव्यलिंग के साथ-साथ भावलिंग भी है। मिथ्यादृष्टिजीव के प्रथम गुणस्थान होता है।

मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टिजीव के यदि द्रव्यचारित्र है और भावचारित्र नहीं है तो वह जीव द्रव्यलिंगी मुनि है, उसके भावलिंग नहीं है।

णरतिरिय देसअयदा उक्कस्सेणच्चुदोत्ति णिग्गंथा।
ण य अयददेसमिच्छा गेवेज्जंतोत्ति गच्छंति ॥५४५॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—असंयत वा देशसंयत मनुष्य और तिर्यंच उत्कृष्टपने अच्युत कल्पपर्यंत जाय हैं, तातैं उपरि नहीं। बहुरि द्रव्य करि निर्ग्रन्थ और भाव करि असंयत व देशसंयत व मिथ्यादृष्टि मनुष्य ते उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत जाय हैं, तातैं ऊपरि नाहीं।

—जै. ग. 13-5-71/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

१. पंचमकाल में भावलिंगी मुनि होते हैं
२. जिस मुनि के द्रव्यलिंग भी पूरा नहीं पलता वे अपूज्य हैं

शंका—श्री कानजी वर्तमान के सभी मुनियों को द्रव्यलिंगी बताते हैं और इसी अभिप्राय से वे किसी भी वर्तमान मुनि को नमस्कार नहीं करते तो क्या दिगम्बर जैन शास्त्रों के अनुसार सभी वर्तमान मुनि द्रव्यलिंगी ही हैं?

समाधान—इस पंचमकाल के अंत तक भावलिंगी मुनि होंगे। इस पंचमकाल के ३ वर्ष ८ मास १५ दिन के शेष रहने तक अन्तिम भावलिंगी मुनि श्री वीरांगद समाधिमरण को प्राप्त होंगे (तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार गाथा १५२१-१५३५)। जब इस पंचमकाल के अन्त तक भावलिंगी मुनि होंगे ऐसा आगमप्रमाण है तो वर्तमान काल में भावलिंगी मुनि होने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु कौन मुनि भावलिंगी है उसकी पहिचान होना कठिन है। सो ही मोक्षमार्ग-प्रकाशक में कहा है—'तारतम्यकरि केवलज्ञान विषै भासै है—कि इस समय श्रद्धान है कि इस समय नहीं है। जातैं यहाँ मूलकारण मिथ्यात्वकर्म है। ताका उदय होय, तब तो अन्य विचारादिक कारण मिलो वा मत मिलो स्वयमेव सम्यक् श्रद्धान का अभाव होय है। बहुरि ताका उदय न होय तब अन्य कारण मिलो वा मत मिलो स्वयमेव सम्यक् श्रद्धान होय जाय है। सो ऐसी अंतरंग समय सम्बन्धी सूक्ष्मदशा का जानना छद्मस्थ के होता नाहीं। तातैं अपनी मिथ्या-सम्यक्श्रद्धानरूप अवस्था का तारतम्य याको निश्चय होय सके नाहीं। केवलज्ञान विषै भासै है। (पृ० ३९०) एक अंतर्मुहूर्त विसै ग्यारवां गुणस्थान सों पडिक्रमतैं मिथ्यादृष्टि होय बहुरि चढ़िकरि केवलज्ञान उपजावे। सो ऐसे सम्यक्त्व आदि के सूक्ष्मभाव बुद्धिगोचर आवते नाहीं (पृ० ४०६)।' 'बहुरि द्रव्यानुयोग अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहैं मुनि संघ विषैं द्रव्यलिंगी भी हैं भावलिंगी भी हैं सो प्रथम तो तिनका ठीक होना कठिन है। जातैं बाह्य प्रवृत्ति समान है। व्यवहार धर्म का साधन द्रव्यलिंगी के बहुत है। अर भक्ति करनी सो भी व्यवहार है। तातैं जैसे कोई धनवान् होय, परन्तु जो कुल विषै बड़ा होय ताको कुल अपेक्षा बड़ा जान ताका सत्कार करे, तैसे आप सम्यक्त्वगुण सहित है, परन्तु जो व्यवहारधर्म विषै प्रधान होय, ताको व्यवहार धर्म अपेक्षा गुणाधिक मानि ताकि भक्ति करे हैं।' (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ४१६-४१७ सस्ती ग्रंथमाला)

इस कथन अनुसार द्रव्यलिंगी मुनि भी नमस्कार करने योग्य हैं। किन्तु द्रव्यलिंगी मुनि के बाह्य आचरण में कोई दोष नहीं होता।

जिन मुनियों के पाँच महाव्रत भी पूर्ण नहीं हैं, पाँच समिति और तीन गुप्ति का जिनके निशान नहीं, वे मुनि तो द्रव्यलिंगी भी नहीं हैं। जो मुनि अपनी पीछी में रुपया रखते हों या कमंडल में या पुस्तक में नोट (रुपये) रखते हों उनके परिग्रहत्याग महाव्रत कहाँ रहा। जो मुनि स्त्रियों से तैल की मालिश कराते हों अथवा शरीर का

मर्दन कराते हों अथवा स्त्री के शरीर का स्पर्श करते हों उनके ब्रह्मचर्य-महाव्रत कहाँ रहा। ऐसे मुनि तो भ्रष्ट मुनि हैं। वे द्रव्यलिंगी मुनि भी नहीं हैं वे नमस्कार करने योग्य नहीं हैं। देव, गुरु, शास्त्र की परीक्षा करना गृहस्थ का प्रथम कर्तव्य है, क्योंकि उसको तो कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्र का भक्ति से बचना है।

—जै. सं 23-10-84/V/ इंद्रलाल छाबड़ा, लश्कर

शंका—क्या द्रव्यलिंगी मुनि को तीन प्रकार के सम्यक्त्व में से कोई भी सम्यक्त्व नहीं होता? यदि नहीं होता तो उन्होंने मुनिव्रत कैसे धारण किया? क्या बिना पहली प्रतिमा के मुनिव्रत हो सकता है?

समाधान—जिन मुनियों के भावलिंग न हो और मुनि का द्रव्यलिंग हो ऐसे मुनि द्रव्यलिंगी मुनि कहलाते हैं। वे द्रव्यलिंगी मुनि पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। इनमें से जो द्रव्यलिंगी मुनि चौथे और पाँचवें गुणस्थान वाले होते हैं उनके तीनों प्रकार के सम्यक्त्व मे से कोई सा एक सम्यक्त्व हो सकता है। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनियों के सम्यक्त्व नहीं होता है। बहुत से भावलिंगी मुनियों के मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय या सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय आ जाने से वे सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिंगी मुनि हो जाते हैं। प्रथमानुयोग में बहुत सी ऐसी कथायें हैं कि जिन्होंने अवधिज्ञान के लालच के कारण, भाई की लाज रखने के कारण और ऐसे ही अनेक कारणों से मुनिव्रत धारण किये। ये तो स्थूल बातें हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी सूक्ष्म कारण होते हैं जो केवलज्ञानगम्य हैं। **मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ** में अनेक स्थलों पर द्रव्यलिंगी मुनि का प्रकरण आया है वहाँ से विशेष जानकारी हो सकती है। **पहली प्रतिमा पंचमगुणस्थान का भेद है।** पंचम गुणस्थान को प्राप्त किये बिना भी पहले और चौथे गुणस्थानवर्ती जीव मुनिव्रत धारण कर सकते हैं, क्योंकि पहले और चौथे गुणस्थान से जीव एकदम सातवें गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है।

—जै. सं 21-2-57/VI/ जु. म दा. टूण्डला

शंका—जिसके प्रत्याख्यान वा अप्रत्याख्यान कषाय का उदय है क्या वह भावलिङ्गी मुनि है?

समाधान—चौथे व पाँचवें गुणस्थान वाले भी द्रव्यलिंगी होते हैं। यद्यपि वे सम्यग्दष्टि हैं तथापि प्रत्याख्यानावरण व अप्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय हो जाने से उनके छठा या सातवाँगुणस्थान नहीं रहता। छठे-सातवें गुणस्थानवाले भावलिंगी होते हैं; उनके मात्र संज्वलनकषाय का उदय रहता है। त्रि० सा० गाथा ५४५ की श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव कृत संस्कृत टीका में गाथार्थ लिखा है—**द्रव्यनिर्ग्रन्था नरा भावेन असंयताः देशसंयताः मिथ्यादृष्टयो वा उपरिमग्रैवेयकपर्यन्तं गच्छन्ति।** जो द्रव्य से निर्ग्रन्थ हैं और भाव से असंयत हैं वे सम्यग्दष्टि अथवा देशसंयत सम्यग्दष्टि अथवा मिथ्यादष्टि मुनि अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं। **यही गाथा गोम्मटसारकर्मकाण्ड बड़ी टीका** में उद्धृत की गई है। जिसके प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान का उदय है वह यद्यपि सम्यग्दष्टि है, किन्तु वह भावलिंगी मुनि नहीं हो सकता। मात्र संज्वलन का उदय होने पर ही भावलिंगी मुनि हो सकता है, द्रव्य से निर्ग्रन्थ होने के कारण मात्र द्रव्यलिंगी है।

—पत्राचार 11-9-78/ ब. प्र. स. पटना

१. द्रव्यलिंगी मुनि भव्य व अभव्य दोनों प्रकार के होते हैं
२. ग्रैवेयक के देव मिथ्यात्वी भी होते हैं, सम्यक्त्वी भी
३. विजयादिक देव द्विचरमशरीरी होते हैं

शंका—जैन शास्त्रों में कहा गया है कि द्रव्यलिंगी मुनि तथा अभव्य मोक्ष नहीं जा सकते। लेकिन फिर भी वे अपने तप के बल पर अहमिन्द्र एवं नवग्रैवेयक के देव हो सकते हैं। आप हमें बतावें कि अहमिन्द्र एवं

नवग्रैवेयक देवों को सम्यग्दर्शन ही होता है अथवा मिथ्यादर्शन भी होता है ? साथ-साथ जहाँ तक मेरी सूक्ष्मबुद्धि है अहमिन्द्र आदि देव दो भव को प्राप्त करके नियम से मोक्ष जाते हैं ऐसा भी जैन शास्त्र बतलाते हैं। यदि अहमिन्द्र आदि देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं तथा दो भव के बाद नियम से मोक्ष जाते हैं इस कथन को सही मानूँ तो फिर दूसरा कथन कि द्रव्यलिंगी मुनि और अभव्य कभी मोक्ष नहीं जा सकता, यह मानना मेरा दिल स्वीकार नहीं करता। अतः आशा है आप इस शंका का समाधान विश्लेषण पूर्वक करेंगे।

समाधान—अभव्य कभी मोक्ष नहीं जा सकता, किन्तु द्रव्यलिंगी मुनि के विषय में ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि द्रव्यलिङ्गी मुनि भव्य-अभव्य दोनों प्रकार के होते हैं अथवा सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के होते हैं। नवग्रैवेयक में अहमिन्द्र सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी होते हैं [धवल पु० २]।

विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र द्विचरम अर्थात् दो भव धारण करके मोक्ष जाते हैं—मोक्षशास्त्र अध्याय ४ सूत्र २६ किन्तु नवग्रैवेयक के अहमिन्द्रों के लिये ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि नवग्रैवेयक तक अभव्य का उत्पाद भी सम्भव है।

—जै. ग. 29-7-65/IX/ मो. ला. जैन

(कथंचित्) सम्यक्त्व बिना भी अन्तः बाह्य परिग्रह में कमी सम्भव है

शंका—बिना सम्यग्दर्शन परिग्रह-विषयक मूर्च्छा में कुछ कमी सम्भव हो सकती है या नहीं ? यदि संभव है तो वह अंतरंग परिग्रह में संभव है या बाह्य परिग्रह में ?

समाधान—सम्यग्दर्शन के बिना भी द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनि के अंतरंग व बहिरंग परिग्रह में कमी सम्भव है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगीमुनि के बाह्य परिग्रह तो है ही नहीं, किन्तु अंतरंगपरिग्रह अर्थात् मिथ्यात्व व कषाय के अनुभागोदय में कमी हो जाने से अर्थात् द्विस्थानिक उदय होने से अंतरंग आत्म परिणामों में परिग्रह में तीव्रमूर्च्छा नहीं रहती है। अन्यथा मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगीमुनि नवग्रैवेयक तक उत्पन्न नहीं हो सकता।

अंतोकोडाकोडी विट्ठाणे ठिदिरसाण जं करणं।
पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्णा ॥७॥ [लब्धिसार]

द्रव्यकर्मों का स्थितिघात करके अतः कोड़ाकोड़ी मात्र रखे और अप्रशस्तकर्मों की फलदान शक्ति को घटाकर द्विस्थानीय करदे, वह प्रायोगलब्धि है, जो सामान्य रीति से भव्यजीव और अभव्यजीव दोनों के ही हो सकती है।

—जै. ग. 10-8-72/X/ ट. ला. जैन, मेरठ

द्रव्यलिंगी भी प्रणम्य है

शंका—आचार्य प्रणीत ग्रंथों में द्रव्यलिंगी मुनि को सम्यग्दृष्टि श्रावक नमस्कार करे ऐसा कहीं कथन आया है ?

समाधान—श्री सोमदेव आचार्य ने उपासकाध्ययन में इस प्रकार कहा है—

यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादि निर्मितम् ।
तथा पूर्व मुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः ॥ ७९७ ॥ पृ. ३०० ॥

श्रीमान् पं० कैलाशचन्दजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—जैसे पाषाण वगैरह में अंकित जिनेन्द्र भगवान की प्रतिकृति पूजने योग्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकल के मुनियों को भी पूर्वकाल के मुनियों की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए। इसीप्रकार धर्मरत्नाकर पृ० १२६ श्लोक ६३ तथा प्रबोधसार पृ० १९७, श्लोक ३४ में कहा है। इससे यह भी अर्थग्रहण किया जा सकता है कि द्रव्यलिंगीमुनि को भावलिंगीमुनि की प्रतिकृति मानकर सम्यग्दृष्टि पूजन कर लेवे तो कोई हानि नहीं है। अथवा द्रव्यलिंगी और भावलिंगी की पहचान होना कठिन है क्योंकि एक भावलिंगी मुनि क्षुद्रभव से भी अल्पकाल के लिये द्रव्यलिंगी मुनि हो गया पुनः भावलिंगी हो गया और इतने सूक्ष्मकाल का परिणमन परोक्षज्ञान द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता; अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक मुनि भावलिंगी है तथा अमुक द्रव्यलिंगी है। विद्वान् इस शंका पर आगम प्रमाण सहित विशेष विचार करने की कृपा करें।

—जै. ग. 14-5-64/IX/ ब्र. पं. सरदारमल

द्रव्यसंयम एवं भावसंयम क्रमशः अनंत एवं ३२ बार हो सकते हैं

शंका—गो. क. गाथा ६१९ में लिखा है कि सकलसंयम ३२ बार से अधिक धारण नहीं करता, इसके बाद वह नियम से मोक्ष जायगा। अन्यत्र यह लिखा है कि अनेक बार मुनिव्रत धारण किया है कि उसके पिच्छिकाओं का ढेर लगाया जाय तो मेरु पर्वत से भी बड़ा होगा। फिर अधिक से अधिक ३२ बार संयम धारणकर मोक्ष जायगा यह कैसे सम्भव है ?

समाधान—जो मनुष्य मुनिव्रत तो धारण कर लेता है, किन्तु आत्मबोध की ओर दृष्टि नहीं है उस जीव को समझाने के लिये यह उपदेश है कि सम्यग्दर्शन के बिना इस जीव ने अनेक बार मात्र द्रव्यसंयम धारण किया, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई। भवपरिवर्तन में बतलाया है कि एक भवपरिवर्तन के काल में यह जीव ग्रैवेयकों में और उपरिम चार स्वर्गों में असंख्यातबार उत्पन्न होता है, क्योंकि १८ सागर की आयु से ३१ सागर की आयुतक क्रम से एक-एक समय आयुस्थिति बढ़ते हुए उत्पन्न होता है। उपरिम चार स्वर्गों में तथा नवग्रैवेयकों में मिथ्यादृष्टि मुनिलिंग धारण किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः यह कथन भावसंयम से रहित मात्र द्रव्यसंयम की अपेक्षा से ठीक है।

गो. क. गाथा ६१९ में उत्कृष्टरूप से जो ३२ बार संयम ग्रहण का कथन है वह भावसंयमसहित द्रव्यसंयम की अपेक्षा से कथन है। इन दोनों कथनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि भावसंयमसहित और भावसयम रहित का भेद है। संयम शब्द से भावसंयमशून्य द्रव्यसंयम का ग्रहण नहीं होता है। कहा भी है—'संयमनं संयमः। न द्रव्यसंयमः संयमस्तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात् ।'

अर्थ—संयम करने को संयम कहते हैं। संयम का इस प्रकार लक्षण करने पर द्रव्यसंयम अर्थात् भावसंयम शून्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि संयम शब्द में ग्रहण किये गये 'सं' शब्द से उसका निराकरण कर दिया है।

—जै. ग. 21-8-69/VII/ ब्र. हीरालाल

कथंचित् भावलिंगी भी मुक्ति हेतु अनन्त भव ले सकता है

शंका—भावलिंगी मुनि तो ३२ भव लेकर मोक्ष जाते हैं जबकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ३-४ भव में कैसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ?

समाधान—भावलिंगी मुनि तो ३२ भव लेकर मोक्ष जाते हैं, यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि एकबार भावलिंगी होने के पश्चात् अर्धपुद्गल परिवर्तन कालतक भी संसार में परिभ्रमण कर सकता है। कहा भी है—

'उक्कस्सेण अद्धपोग्गलपरियट्टं देसूणं ॥११॥' धवल पु. ५ पृ. १४

अर्थ—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानवालों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण है।

भावलिंगी मुनि छठे, सातवेंगुणस्थान से च्युत होकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक, अर्थात् अनन्तभव धारणकर पुनः भावलिंगी मुनि होकर मोक्ष जाता है।

मोक्ष जाने से पूर्व ३२ बार भावलिंगी मुनि हो सकता है इससे अधिक नहीं। कहा भी है—

चत्तारि वारमुवसमसेढि समरुहदि खविदकम्मंसो।
बत्तीसं वाराइं संजममुवलहिय णिव्वादि ॥६१९॥ [गो० क०]

इस गाथा में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने यह बतलाया है कि सकलसंयम को उत्कृष्टपने से ३२ बार धारण करता है, पीछे मोक्ष को प्राप्त होता है।

—जै. ग. 4-1-68/VII/ शां. कु. बड़जात्या

तप परीषह आदि से द्रव्यलिंग / भावलिंग नहीं पहिचाना जाता

शंका—(क) जो मुनि शरीर पर डांस, मच्छर आदि जब-जब भी आवे तब-तब हमेशा उड़ाता रहता है अर्थात् पूरे मुनि-जीवन में डांस-मसक परीषह कभी नहीं जीत सका तो क्या उसके भी भावलिंग पूरे जीवनकाल तक रहा हो, यह सम्भव है ?

(ख) जिस मुनि ने कभी कायक्लेश तप नहीं किया हो तो क्या उसके भी मुनिपना नष्ट नहीं होता ?

(ग) पूरे जीवन काल में जिस मुनि ने २२ परीषहों में से एक भी परीषह कभी सहन नहीं किया हो अर्थात् कदाचित् भी परीषहजय नहीं की हो, उसके भी क्या पूरे जीवन काल तक भावलिंग रहा हो, यह संभव है ?

(घ) जिस मुनि ने पूरे मुनिकाल में कभी १२ तपों में से एक भी तप नहीं किया हो तो क्या उसके पूरे जीवन तक भावलिंग रहा हो यह सम्भव है ?

समाधान—२२ परीषहों व १२ तपों से भावलिंग या द्रव्यलिंग नहीं पहचाना जाता। भावलिंगी या द्रव्यलिंगी की बाहर में कोई पहचान नहीं होती। अवधि या मनःपर्ययज्ञानी जान सकता है। बाह्य क्रियाएँ उच्च-कोटि की होते हुए भी यदि प्रत्याख्यानकषाय का उदय आ गया तो वह द्रव्यलिंगी साधु है। मुनि शांतभाव से

पाणी में पिल आवे पर यदि प्रत्याख्यानकषाय का उदय है तो द्रव्यलिंगी है। जिस मुनि के इतना क्रोध आजाए कि अशुभ तैजस शरीर द्वारा ९ योजन चौड़े और १२ योजन लम्बे स्थान के जीवों को जला देवे-वह भी भावलिंगी मुनि है, क्योंकि अशुभ तैजस समुद्घात छठे गुणस्थान में ही होता है। पुलाक, बकुश कषायकुशील ये सब भावलिंगी मुनि हैं।

बाह्य क्रियाओं पर द्रव्यलिंग और भावलिंग निर्भर नहीं हैं।

—पत्राचार 18-7-80/ / ज. ला. जैन, भीण्डर

शंका—द्रव्यलिंगी मुनि का अन्तर्भाव क्या पुलाक, बकुश आदि मुनियों में होता है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनियों का अन्तर्भाव पुलाक, बकुश आदि मुनियों में नहीं होता है, क्योंकि पुलाक, बकुश आदि सम्यग्दृष्टि होते हैं। कहा भी है—दृष्टिरूपसामान्यात् ॥९॥ सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः। अन्यस्मिन् सरूपेऽतिप्रसंग इति चेत्, न; दृष्ट्यभावात् ॥११॥ स्यादेतत् यदि रूपं प्रमाणमन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेशः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? दृष्ट्यभावात्। दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः न रूपमात्र इति। रा० वा० ९।४७। वार्तिक ९, ११। पृ० ६३७।

अर्थ—सम्यक्त्व तथा भेष की समानता होने से ॥९॥ सम्यग्दर्शन भी पुलाकादि मुनियों में पाया जाता है और आभूषण वस्त्र युक्त भेष तथा आयुध आदि परिग्रह से सभी पुलाकादि मुनि रहित हैं। अर्थात् सम्यक्त्व तथा बाह्य परिग्रह से रहितपना सभी मुनियों में समान है। अतएव सामान्य दृष्टि से सभी निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। प्रश्न—दूसरे भेषधारी में भी अतिव्याप्ति का दोष आ जावेगा ? उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि सम्यग्दर्शन का अभाव है ॥११॥ फिर यहाँ पर यह शंका होती है कि यदि नग्न दिगम्बर रूप ही दि० जैनधर्म में प्रमाणरूप है तो यह नग्नपना तो अन्य मतों में भी पाया जाता है ? उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस परमहंसादि स्वरूप के मानने वालों में सम्यग्दर्शन का अभाव है। जहाँ पर सम्यक्त्वपूर्वक ही निर्ग्रन्थपना है वहीं पर निर्ग्रन्थ-मुनि का व्यवहार होता है। भेषमात्र को निर्ग्रन्थ नहीं कह सकते।

—जैनसन्देश 13-6-57/... .../.......

द्रव्यलिंगी मुनि के भाव-शुभ अथवा अशुभ ?

शंका—मिथ्यादृष्टि-द्रव्यलिंगी मुनि के मंदतमकषाय, उच्चकोटि का व्यवहारचारित्र तथा एकादशांग तक श्रुतज्ञान हो सकता है; वह नवें ग्रैवेयक जाने योग्य पुण्य बन्ध कर लेता है तब क्या ये भाव अशुभ ही हैं ? क्या मिथ्यादृष्टि के शुभभाव नहीं होते ? शुभ और अशुभभावों के लक्षण क्या हैं ?

समाधान—हिंसा, चोरी और मैथुन आदिक अशुभ काययोग हैं। असत्य, कठोर और असभ्य वचन आदि अशुभवचनयोग हैं। मारने का विचार, ईर्ष्या और डाह आदि अशुभमनोयोग है। तथा इनसे विपरीत शुभ-काययोग, शुभवचनयोग और शुभमनोयोग हैं। जो योग शुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह शुभयोग है और जो योग अशुभपरिणामों के निमित्त से होता है वह अशुभयोग है सर्वार्थसिद्धि अध्याय ६ सूत्र ३। इस कथन का यह अभिप्राय है कि हिंसादिरूप परिणाम अशुभोपयोग और इससे विपरीत परिणाम शुभोपयोग है। किन्तु यह सूत्र ३ आस्रव के प्रकरण में है अतः यहाँ पर कषाय की तीव्रतारूप संक्लेश स्थानों को अशुभ परिणाम और कषाय की मन्दतारूप विशुद्धस्थानों को शुभपरिणाम कहा गया है। कहा भी है—'साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदि शुभप्रकृतियों के कारणभूत कषायस्थानों को विशुद्ध स्थान कहा है। और असाता, अस्थिर, अशुभ,

दुर्भग, दुस्वर और अनादेय आदि परिवर्तमान अशुभप्रकृतियों के बंध के कारणभूत कषायों के उदय-स्थानों को संक्लेशस्थान कहते हैं (धवल पु० ११ पृ० २०८)। इसी दृष्टि से मिथ्यादृष्टि के भी शुभोपयोग हो सकता है जो मात्र पुण्यबन्ध का कारण है।

किन्तु एक दूसरी दृष्टि है जिसमें मिथ्यात्व को हिंसादि से भी अधिक पाप कहा गया है अर्थात् मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं, क्योंकि यह अनन्त संसार का कारण है और सम्यक्त्व के समान अन्य कोई पुण्य नहीं, क्योंकि निज व पर का विवेक (भेद विज्ञान) प्रगट होने पर समस्त दुःख विलय को प्राप्त हो जाते हैं। पं० दौलतरामजी ने कहा भी है—

'बाहर नारक कृत दुःख भुंजे अन्तर सुख रस गटागटी'।

इस दृष्टि से जब तक सम्यग्दर्शनरूपी पुण्य प्रगट नहीं हुआ उससमय तक वह जीव दुःखी है और उसके अशुभोपयोग है, किन्तु सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते ही वास्तविक सुख की रुचि, प्रतीति, श्रद्धा हो जाने से वह जीव शुभोपयोगी हो जाता है। प्रवचनसार गाथा ९ की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने कहा भी है—"मिथ्यात्वगुणस्थान, सासादनगुणस्थान और सम्यग्मिथ्यात्व इन तीन गुणस्थानों मे तरतमता से अशुभोपयोग है। उसके आगे असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से शुभोपयोग है। इसके पश्चात् अप्रमत्तसंयत से क्षीणकषायगुणस्थान तक तरतमता से शुद्धोपयोग है। सयोगी और अयोगीजिन इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है।" इसीप्रकार वृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की संस्कृत टीका में कहा गया है—"मिथ्यादृष्टि सासादन और मिश्र, इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दता से अशुभोपयोग होता है। उसके आगे असंयत-सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत, इन तीन गुणस्थानों में, परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक, ऐसा शुभोपयोग तारतम्य से ऊपर-ऊपर होता है। तदनन्तर अप्रमत्तसंयतादि क्षीणकषायतक ६ गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसे विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्धउपयोग वर्तता है।" मिथ्यात्वादि तीन गुणस्थानों में जहाँ पर मिथ्यात्वरूपी पाप है वहाँ पर शुभोपयोग कैसे संभव है। अतः इस दृष्टि की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि के शुभोपयोग का निषेध किया गया। अनेकान्त की दृष्टि में दोनों कथन सुघटित हो जाते हैं। एकदृष्टि में मिथ्यात्व गौण और दूसरीदृष्टि में मिथ्यात्व की मुख्यता है।

—जैं. ग. 27-6-63/IX/ मो. ला. सेठी

एकल विहार निषेध

शंका—वर्तमान पंचमकाल में क्या दिगम्बर साधु या ऐलक व क्षुल्लक एकल-विहारी हो सकते हैं ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मूलाचार समाचार अधिकार में यह वर्णन किया है कि किस प्रकार का मुनि एकल विहारी हो सकता है—

तवसुत्तसत्तएगत्त-भाव संघडणधिदिसमग्गो य।
पविआ आगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥ २८ ॥

अर्थ—अनशनादि बारह प्रकार के तप हैं। बारहअंग को सूत्र कहते हैं। काल और क्षेत्र के अनुरूप आगम को भी सूत्र कहते हैं। प्रायश्चित्तादि ग्रन्थों को भी सूत्र कहते हैं। सत्त्वशरीर और हाडों को मजबूतपना अथवा मनोबल अथवा सत्त्व कहते हैं। एकत्व-शरीरादिक से भिन्नस्वरूप ऐसे आत्मा का विचार करना, आत्मा में रति करनेरूप भाव-शुभ परिणाम। यह शुभ परिणाम मनोबल आदि का कार्य है। संहनन-हाड़ों की और त्वचा की

दृढ़ता वज्रवृषभनाराचादि तीनसंहनन। धृति-मनोबल-क्षुधादिकों से व्याकुल न होना इत्यादि गुणों से जो साधु युक्त है तथा दीक्षा से और आगम से जो बलवान है अर्थात् जो तपोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध है। आचार पालन में और सिद्धान्त जानने में जो चतुर है। ऐसे मुनि को जिनेश्वर ने अकेले विहार के लिए सम्मति दी है। [फलटन से प्रकाशित मूलाचार पृ० ८८]

आचार्यवर्य श्री वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी आचारसार में इसीप्रकार कहा है—

ज्ञानसंहननस्वांत भावनाबलवन्मुनेः।
चिरप्रव्रजितस्यैकविहारस्तु मतः श्रुते ॥ २७ ॥
एतद्गुणगणापेतः स्वेच्छाचाररतः पुमान्।
यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि ॥२८॥ (अधि० २)

जो मुनि बहुत दिन के दीक्षित हैं और ज्ञान, संहनन तथा अपने अंतःकरण की भावना से बलवान हैं ऐसे ही मुनि एकलविहारी हो सकते हैं। जिनमे ज्ञान, संहनन, अंत करण का बल आदि गुण नहीं है, ऐसे साधारण मुनियों को, चाहे वे मेरे रिपु क्यों न हों, कभी भी अकेले विहार नहीं करना चाहिये।

श्री आचार्यवर्य सकलकीर्ति ने भी मूलाचारप्रदीप में इसीप्रकार कहा है—

सर्वोत्कृष्टतया द्वादशांगपूर्वाखिलार्थवित्।
सद्वीर्यधृतिसत्त्वाद्यस्त्रयादि संहननोबली ॥ ५४ ॥
एकत्वभावनापन्नः शुद्धभावोजितेन्द्रियः।
चिरप्रव्रजितो धीमान् जिताशेषपरिग्रहः ॥५५॥
इत्याद्यन्यगुणग्रामोमुनिः संमतो जिनैः।
श्रुतेस्वैकविहारी, हि नान्यस्तद्गुणवर्जितः ॥५६॥

जो मुनि अत्यन्त उत्कृष्ट होने के कारण ग्यारहअंग और चौदहपूर्व के पाठी हैं, श्रेष्ठवीर्य, श्रेष्ठधैर्य और श्रेष्ठशक्ति को धारण करते हैं, जो प्रथम तीनसहननों को धारण करनेवाले हैं, बलवान हैं जो सदा एकत्वभावना में तत्पर रहते हैं शुद्ध भावों को धारण करते हैं जो जितेन्द्रिय हैं, चिरकाल के दीक्षित हैं बुद्धिमान् हैं समस्त परिग्रहों को जीतनेवाले हैं तथा और भी अन्य समस्त गुणों से सुशोभित हैं ऐसे मुनियों को शास्त्रो में एकलविहारी होने की आज्ञा है। जो इन गुणों से रहित हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव ने एकलविहारी होने की आज्ञा नहीं दी है।

कोई सव्व-समत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं।
विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥ २४ ॥ [समाचाराधिकार]
तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं।
तिण्णि व पंच व छा वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ ॥२५॥
एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो।
अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वा सो तदो णीदी ॥२६॥ मूलाचारः फलटन

धैर्य, विद्या, बल, उत्साह आदि गुणों से समर्थ ऐसा कोई मुनिरूपी शिष्य अपने गुरु से संपूर्ण श्रुतों का शास्त्रों का अध्ययन करके मन, वचन और शरीर के द्वारा विनयकर उनके पास आता है तथा प्रमाद छोड़ अपने गुरु से विनती करता है। हे गुरु! आपकी अनुज्ञा से अन्य आयतन को अर्थात् सर्वशास्त्र पारंगत और चारित्रपालन

करने में उद्यत ऐसे आचार्य के पास जाने की इच्छा है; आप अनुज्ञा से अनुगृहीत करें। इसप्रकार पूछकर जब वह शिष्य–मुनि गुरु से आज्ञा पाता है तब वह अन्यत्र ज्ञानाध्ययन के लिए अकेला नहीं जाता है। वह तीन मुनि, दो मुनि अथवा एक मुनि अपने साथ लेकर जाता है।

पुरा स्वगुरुपादांते शास्त्रं श्रुत्वाऽखिलं पुनः।
जिज्ञासायां स्वलोकान्यथा ग्रंथातिशये मुनिः ॥२४॥

भक्त्योपेत्य गुरून् नत्वा युष्मत्पादप्रसादतः।
अन्यन्मुनीन्द्रवृन्दं मे द्रष्टुं वांछा प्रवर्त्तते ॥२५॥

इत्येवं बहुशः स्पृष्ट्वा लब्धाऽनुज्ञां गुरोर्व्रजेत्।
यतिर्नैकेन वा द्वाभ्यां बहुभिः सह नान्यथा ॥२६॥ आचारसार

जो कोई मुनि अपने गुरु के समीप समस्त शास्त्रों का पठन–पाठन करले तथा सब शास्त्रों को सुनले, फिर उसकी इच्छा अन्य मुनियों के दर्शन करने की हो अथवा अन्य ग्रन्थों को देखने की इच्छा हो व अन्य ग्रन्थों के अर्थ जानने की इच्छा हो तो उनको बड़ी भक्ति से गुरु के पास आकर नमस्कार कर प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो! आपके चरणकमलों का प्रसाद हो तो अन्य मुनिराजों के समूह के दर्शन के लिये मेरी इच्छा उत्पन्न हुई है। इस-प्रकार अपने गुरु से बार-बार पूछकर तथा आज्ञा लेकर वह मुनि अन्य अनेक मुनियों के साथ वा दो मुनियों के साथ वा एक मुनि के साथ विहार करे, अकेले विहार न करे।

एवमापृच्छ्य योगीन्द्रप्रेषितो गुरुणा यतिः।
आत्मचतुर्थ एवात्मतृतीयो वा जितेन्द्रियः ॥५०॥

अथवात्मद्वितीयोऽसौनत्वाचार्यविपाठकान् ।
निर्गच्छति ततः संघादेकाकी न तु जातुचित् ॥५१॥ मूलाचारप्रदीप

इसप्रकार वह अपने गुरु से पूछता है और यदि गुरु जाने की आज्ञा दे देते हैं तो अन्य तीन साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा अन्य दो साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा कम से कम एक मुनि को अपने साथ लेकर अत्यन्त जितेन्द्रिय वह साधु आचार्य उपाध्याय तथा वृद्ध मुनियों को नमस्कार कर उस संघ से निकलता है। किसी भी मुनि को अकेले कभी नहीं निकलना चाहिये।

अत्राहोपंचमेकाले मिथ्यादृग्दुष्टपूरिते ।
हीनसंहननानां च मुनीनां चंचलात्मनाम् ॥७७॥

द्वित्रिचतुर्यादि संख्येनसमुदायेन क्षेमकृत्।
प्रोक्तोवासो विहारश्च व्युत्सर्गं करणादिकः ॥७८॥

सर्वो यति-शुभाचारो यत्याचारो जिनेश्वरैः।
आचारगुणविद्वृद्धैनान्यथा कार्यं कोटिभिः ॥७९॥

यतोत्र विषमेकाले शरीरेचाक्षकीटके।
निसर्गचंचले चित्ते सत्त्व हीनेऽखिले जने ॥८०॥

जायतैकाकिनां नैवनिर्विघ्नेन व्रतादिकः।
स्वप्नेपि न मनः शुद्धिः निष्कलंकं न वीक्षणम् ॥८१॥

विज्ञायेत्यखिलाः कार्याः संघाटकेन संयतैः।
विहारस्थितियोगाद्यास्तन्निर्विघ्नाय शुद्धये ॥८२॥

इमां तीर्थंकृतामाज्ञामुल्लंघ्य ये कुमार्गगाः।
स्वेच्छावासविहारादीन्कुर्वंतेदृष्टिदूरगाः ॥ ८३ ॥

तेषामिहैवनूनं स्याद्दृग्ज्ञानचरणक्षयः।
कलंकता च दुस्त्याज्या ह्यपमानः पदेपदे ॥८४॥

परलोके सर्वज्ञाज्ञोल्लंघनाद्यति पापतः।
श्वभ्रादिदुर्गतौघोरे भ्रमणं च चिरंमहत् ॥८५॥

इत्यपायं विदित्वात्रामुत्रचैक विहारिणाम्।
अनुल्लंघ्यां जिनेन्द्राज्ञां प्रमाणी कृत्यमानसे ॥८६॥

स्थितिस्थानविहारादीन् समुदायेन संयताः।
कुर्वन्तु स्वगणादीनां वृद्धये विघ्नहानये ॥८७॥ मूलाचार प्रदीप सप्तम अधिकार

यह पंचमकाल मिथ्यादृष्टि और दुष्टों से भरा हुआ है। तथा इसकाल में जो मुनि होते हैं वे हीनसंहनन को धारण करनेवाले और चंचल होते हैं। ऐसे मुनियों को इस पंचमकाल में दो, तीन चार आदि की संख्या के समुदाय से ही निवास करना, समुदाय से विहार करना और समुदाय से ही कायोत्सर्ग आदि करना कल्याणकारी होता है। भगवान जिनेन्द्र की वाणी के अनुसारी ग्रन्थों में यतियों के समस्त शुभाचार गुण और आत्मा की शुद्धता की वृद्धि के लिये कहे हैं, इसलिये अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये यह पंचमकाल विषमकाल है इसमें मनुष्यों के शरीर अन्न के कीड़े होते हैं तथा उनका मन स्वभाव से ही चंचल होता है और पंचमकाल के सभी मनुष्य शक्तिहीन होते हैं। अतएव एकाकी विहार करने वालों के व्रतादिक स्वप्न में भी कभी निर्विघ्न पल नहीं सकते। तथा उनके मन की शुद्धि भी कभी नहीं हो सकती और न उनकी दीक्षा कभी निष्कलंक रह सकती है। इन सब बातों को समझकर मुनियों को अपने विहार, निवास व योगधारण आदि समस्त कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने के लिये तथा उनको शुद्ध रखने के लिए संघ के साथ ही विहार आदि समस्त कार्य करने चाहिये, अकेले नहीं। तीर्थंकर परमदेव की इस आज्ञा को उल्लंघन कर जो अकेले विहार व निवास आदि करते हैं उनको सम्यग्दर्शन से रहित समझना चाहिये। ऐसे मुनियों के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नष्ट हो जाते हैं। इस लोक में उनका कलंक दुस्त्याज्य हो जाता है और पद-पद पर उनका अपमान होता है। भगवान सर्वज्ञदेव की आज्ञा को उल्लंघन करनेरूप महापाप से वे साधु परलोक में भी नरकादिक दुर्गतियों में चिरकाल तक महा घोर दुःखों के साथ परिभ्रमण किया करते हैं। इसप्रकार अकेले विहार करनेवाले मुनियों का इस लोक में नाश होता है और परलोक भी नष्ट होता है। यही समझकर अपने मन में भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को ही प्रमाण मानना चाहिये और उसको प्रमाण मानकर उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये। मुनियों को अपने गुणों की वृद्धि करनेके लिये तथा विघ्नों को शांत करने के लिये अपना निवास व विहार आदि सब समुदाय के साथ ही करना चाहिये, अकेले नहीं रहना चाहिये, न विहार ही करना चाहिये।

गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो, तित्थस्स मइलणा जडदा।
भिंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥ १५१ ॥ मू. चा. समाचाराधिकार

श्री वसुनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने भी मूलाचार की इस गाथा की टीका में कहा है।

'मुनिनैकाकिना विहरमाणेन गुरुपरिभवश्रुतव्युच्छेदाः तीर्थमलिनत्वजडताः कृता भवन्ति तथा विह्वलत्व-कुशीलत्वपार्श्वस्थत्वानि कृतानीति ।'

मुनि के एकल विहार से गुरु की निंदा होती है अर्थात् जिस गुरु ने इनको दीक्षा दी है वह गुरु भी ऐसा ही होगा । श्रुतज्ञान का अध्ययन बंद होने से श्रुत का आगम का व्युच्छेद होगा, तीर्थ मलिन होगा अर्थात् जैन मुनि ऐसे ही हुआ करते हैं, इसप्रकार तीर्थ मलिन होगा तथा जैनमुनि मूर्ख, आकुलित, कुशील, पार्श्वस्थ होते हैं, ऐसा लोगों के द्वारा दूषण दिया जायगा । जिससे धर्म की अप्रभावना होगी ।

श्रुतसंतानविच्छित्ति रत्नत्रयस्यायमक्षयः ।
आज्ञाभंगश्च दुष्कीर्तिस्तीर्थस्य स्याद् गुरोरपि ॥२९॥
अग्नितोयगराजीर्णसर्पक्रूरादिभिः क्षयः ।
स्वस्याप्यार्तादिना वैकविहारेनुचिते यतः ॥३०॥ आचारसार, अधिकार २

मुनि के अकेले विहार करने से शास्त्रज्ञान की परम्परा का नाश हो जाता है, मुनि अवस्था का नाश होता है, व्रतों का नाश होता है, शास्त्र की आज्ञा का भंग होता है, धर्म की अपकीर्ति होती है, गुरु की अपकीर्ति होती है, अग्नि, जल, विष, अजीर्ण, सर्प और दुष्ट लोगों से तथा और भी ऐसे ही अनेक कारणों से अपना नाश होता है, अथवा आर्तध्यान रौद्रध्यान और अशुभ परिणामों से अपना नाश होता है । इसप्रकार अनुचित अकेले विहार करने में इतने दोष उत्पन्न होते हैं । अतएव पंचमकाल में मुनियों को अकेले विहार कभी नहीं करना चाहिये, आर्यिकाओं के लिए तो सर्वकाल एकल विहार का निषेध है ।

—जै. ग. 13-2-69/VII-IX/ जितेन्द्रकुमार

अवधिज्ञानी ऋद्धिधारी साधु का सद्भाव

शंका—क्या पंचमकाल में भरतक्षेत्र में अवधिज्ञानी या ऋद्धिधारी साधु का सद्भाव है ?

समाधान—पंचमकाल में भरतक्षेत्र आर्यखण्ड में अवधिज्ञानी व ऋद्धिधारी मुनि हो सकते हैं ।

—जै. ग. 15-2-62/VII/ म. ला.

आजकल भी मुनि हो सकते हैं

शंका—लोगों का कहना है कि आजकल मुनि होने का समय नहीं है । मुनि पंचमकाल के अन्त तक होंगे यह बात आगम में कही है । कितने ही लोगों का कहना है कि अब जो मुनि होंगे वे सब मिथ्यादृष्टि होंगे । क्या यह सत्य है ?

समाधान—'आजकल मुनि होने का समय नहीं है', ऐसा कहना उचित नहीं है । आजकल भी जिसके हृदय में वास्तविक वैराग्य है वह मुनि हो सकता है । ऐसा मुनि ही २८ मूलगुणों को यथार्थ पालन करता है । जिन्होंने ख्याति-पूजा लाभ आदि के कारण नग्नवेश धारण किया है वे वास्तविक मुनि नहीं हैं उनसे न तो २८ मूल-गुण पलते हैं न जैनधर्म की प्रभावना होती है, अपितु अप्रभावना होती है । शान्ति के स्थान पर अशान्ति हो जाती है । अब जो मुनि होंगे वे सब मिथ्यादृष्टि होंगे; ऐसा नियम नहीं है । श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मोक्षपाहुड में कहा है—

'भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहावठिदे णहुमण्णइ सो दु अण्णाणि॥
अज्जवितिरयणसुद्धा अप्पाज्झाऊण लहइ इंदत्तं।
लोयंतिदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति॥'

अर्थ—भरतक्षेत्र विषै दुःषमा नामक पंचमकाल में ज्ञानी जीव के धर्मध्यान होय है। जो यह नहीं मानता वह अज्ञानी है। इससमय भी जो रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद अथवा लौकान्तिक देवपद को प्राप्त कर वहाँ से चय नरदेह ग्रहण करके मोक्ष को जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वानुशासनग्रन्थ में भी कहा है—

'अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनाम् ॥८३॥'

अर्थ—इस समय में जिनेन्द्र शुक्लध्यान का निषेध करते हैं, किन्तु श्रेणी से पूर्व में होनेवाले धर्मध्यान का अस्तित्व बतलाया है ॥८३॥ अतः वर्तमान में भी मुनि हो सकते हैं।

—जै. सं. 19-2-59/V/ क्षु. कीर्तिसागर

वीतराग निर्विकल्प समाधि कब ?

शंका—वीतरागनिर्विकल्प समाधि किस गुणस्थान से किस गुणस्थान में होती है ?

समाधान—वीतराग निर्विकल्प समाधि श्रेणी से पूर्व नहीं होती है। श्री वीरनन्दि आचार्य के शिष्य श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कहा भी है—

"साम्यंस्वास्थ्यंसमाधिश्चयोगश्चेतोनिरोधनं।
शुद्धोपयोग इत्येते, भवन्त्येकार्थवाचकाः॥" षट्प्राभृत संग्रह पृ० ८

अर्थ—साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध, शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाची हैं।

प्रवचनसार ७ की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने "साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोह-क्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।" इस वाक्य द्वारा यह बतलाया है कि दर्शनमोहनीय व चारित्रमोह-नीयकर्म के उदय से होनेवाले मोह व क्षोभ, उनसे रहित जीव के जो अत्यन्त निर्विकार परिणाम है वह साम्य है। और गाथा २३० की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने सर्वपरित्याग परमोपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोप-योग को एकार्थवाची कहा है। इससे सिद्ध हो जाता है कि समाधि परमोपेक्षासंयम में होती है। और वह श्रेणी से पूर्व नहीं होती है।

—जै. ग. 8-2-68/IX/ ध. ला. सेठी

मुनि वर्षायोग में भी कदाचित् देशान्तर जा सकता है

शंका—वर्षायोग के काल में मुनि सीमित क्षेत्र से बाहर किसी भी परिस्थिति में गमन कर सकते हैं या नहीं ? यदि हाँ तो किन परिस्थितियों में व कितने क्षेत्र में ?

समाधान—श्री सिद्धान्तसार संग्रह में इस विषय में निम्न गाथा है—

द्वादश योजनान्येष वर्षाकालेऽभिगच्छति।
यदि संघस्य कार्येण तदा शुद्धो न दुष्यति ॥१०।५९॥

यदि वादविवादः स्यान्महासंघविघातकृत ।
देशान्तरगतिस्तस्मान्न च दुष्टो वर्षास्वपि ॥१०।६०॥

अर्थ—वर्षाकाल में संघ के कार्य के लिये यदि मुनि बारह योजन तक कहीं जायगा तो उसका प्रायश्चित्त ही नहीं है। यदि वाद-विवाद से महासंघ के नाश होने का प्रसंग हो तो वर्षाकाल में भी देशान्तर जाना दोष युक्त नहीं है।

—जै. ग. 18-1-68/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

केशलोंच का अधिकारी कौन ?

शंका—जैनागमानुसार केशलोंच के अधिकारी कौन होते हैं ?

समाधान—केशलोंच के अधिकारी उद्दिष्ट भोजन त्यागी होते हैं अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक, मुनि व आर्यिका केशलोंच के अधिकारी हैं किन्तु नीचे की अवस्था वाला भी अभ्यास रूप से केशलोंच कर सकता है जैसे श्रावक भी एकान्त में नग्न होकर सामायिक आदि कर सकते हैं।

—जै. ग. 27-6-63/IX-X/मो. ला. सेठी

मुनिसंघ में मोटर

शंका—क्या मुनि या आचार्य अपने साथ में मोटर रखने की प्रेरणा दातारों से कर सकते हैं ?

समाधान—मुनि या आचार्य के समस्त परिग्रह का त्याग होता है। उनके अयाचक वृत्ति होती है। वे किसी से भी किसी प्रकार की याचना नहीं करते। जो ऐसा करते हैं वे वास्तव में जैन मुनि नहीं। मुनि की बात जाने दो यदि कोई क्षुल्लक भी चन्दा करता है, पुस्तकें बेचता है, प्रेस लगाता है, मकान खरीदता है, उसकी मरम्मत कराता है तो यह सब अनुचित है, क्योंकि यह सब आरम्भ है और आरम्भ में छह काय के जीवों की हिंसा होती है।

—जै. ग. 15-2-62/VII/ ब्र. व. जैन, महमूदाबाद

मिथ्यात्वी मुनि के उपदेश से भी सम्यक्त्व सम्भव है

शंका—द्रव्यलिंगी–मिथ्यादृष्टिमुनि का उपदेश उस ही भव में या भवान्तर में किसी अन्य जीव को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण हो सकता है या नहीं ?

समाधान—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण जिनवाणी है अर्थात् भगवान ने जो उपदेश दिया है वह सम्यग्दर्शन में कारण है। यदि उसी उपदेश को द्रव्यलिंगी मुनि सुनाता है तो उससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि वह मूल उपदेश तो तीर्थंकर भगवान का है। जैसे एक राजा का दूत अन्य राजा से अपने राजा का संदेश कहता है। यद्यपि उससमय संदेश को दूत कह रहा है, किन्तु मूल संदेश तो राजा का है।

—जै. ग. 12-12-66/VII/ ट. ला. जैन

आहार का काल

शंका—मूलाचार पिंडशुद्धि अधिकार गाथा ७३ में भोजन के लिये तीन मुहूर्त, दो मुहूर्त और एक मुहूर्त का समय कहा है तो क्या यह काल मुद्रा लगाने के बाद से है ? दोपहर पश्चात् मुनियों की चर्या का कौनसा काल है ?

समाधान—मूलाचार की संस्कृत टीका में भी इसका विशेष कथन नहीं है। किन्तु ज्ञात ऐसा होता है कि यह काल की मर्यादा सिद्धभक्ति से लेकर भोजन के अंत तक समझनी चाहिये। मूलाचार प्रदीप पृ० ६७। दोपहर की सामायिक के पश्चात् और सूर्य अस्त होने से तीनमुहूर्त पूर्व तक भी आहारकाल है।

—जै. ग. 31-7-67/VII/ जयन्तीप्रसाद

अन्तराय

शंका—मुनि को भोजन में बीज आए तो अन्तराय है या मुख में आए तब अन्तराय है। हाथ में बीज आए तो अपने हाथ से बीज निकाल सकता है या नहीं?

समाधान—मूलाचार–पिण्डशुद्धि अधिकार गाथा ६५ की टीका में श्री वसुनन्दिश्रमण ने लिखा है—

कणकुण्डबीजकंदफलमूलानि परिहारयोग्यानि।
यदि परिहर्तुं न शक्यन्ते, भोजनपरित्यागः क्रियते॥

अर्थ—परिहार करने योग्य ऐसे कण, कुण्ड, बीज, कन्द, फल–मूल को यदि आहार से अलग करना अशक्य हो तो आहार का त्याग कर देना चाहिए।

उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि मुनि के भोजन में बीज आ जाए और उसका अलग करना अशक्य हो तो अन्तराय है। मुख में बीज आ जाने पर तो अन्तराय है ही। हाथ में बीज आ जाय और यदि शक्य हो तो उसको निकाल सकता है।

—जैन गजट/11-1-62/VIII

मुनि अन्धा हो जाने पर क्या करे?

शंका—मुनि महाराज अन्धे हो गए हैं। समाधिमरण लेने की शक्ति नहीं है तो क्या करना चाहिए?

समाधान—मुनिदीक्षा ग्रहण करते समय जिन व्रत-नियमों व मूल गुणों को धारण किया था उनका आजन्म निर्वाह करना आवश्यक है। संयम रूपी रत्न खोकर जीना निरर्थक है। अतः संयमसहित मरण करना उत्सर्ग मार्ग है। मुनिधर्म को छोड़ देना यह अपवाद मार्ग है। अन्धे हो जाने के बाद ये दो मार्ग हैं। तीसरा कोई मार्ग नहीं है। अन्धे होकर मुनिवेष को न छोड़कर मुनि की भाँति ही आहार-विहारादि चर्या करना अधोगति का कारण है। इससे उस मुनि का तो अकल्याण होगा ही, किंतु अधर्म की परिपाटी का कारण होने से अन्य जीवों का भी अकल्याण होगा। जैनधर्म की अप्रभावना होगी।

—जै. ग. 11-1-62/VIII

अपघात से मृत साधु के पण्डित मरणपने का अभाव

शंका—क्या अपघात करनेवाले मुनि के पंडितमरण के (प्रायोपगमन, इंगिनीमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण) तीन भेदों में से कोई भेद सम्भव है?

समाधान—संयम के विनाश के भय से श्वासोच्छ्वास का निरोध करके मरे हुए साधु के प्रायोपगमन, इंगिनि तथा भक्तप्रत्याख्यान में से किसी भी भेद में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के निमित्त, जिसने अंतरंग और बहिरंगपरिग्रह का त्यागकर दिया है, ऐसे साधु के जीवन और मरण की आशा के बिना

कदलीघात से अथवा इतर कारणों से छूटे हुए शरीर को त्यक्त शरीर (पंडित मरण या समाधिमरण) कहते हैं। (धवल पु० १ पृ० २५ व २६)।

—जै. ग. 23-5-63/म. ला. जैन

श्वासोच्छ्वास निरोध से कुमरण होता है

शंका—संयम के विनाश के भय से श्वासोच्छ्वास के निरोध से छोड़े हुए शरीर को च्यावित क्यों माना जाता है ? जबकि त्यक्त शरीर वाला भी संयम के विनाश के भय से भोजन, जल आदि को छोड़ता है, श्वासोच्छ्वास निरोध और भोजननिरोध इन दोनों में निरोध के द्वारा मरण होने से कोई भेद नहीं है।

समाधान—संयम शरीरके आश्रित है। शरीर भोजन के आश्रित है अतः संयम की रक्षा के लिए साधु आहार लेते हैं। कहा भी है—

> आहारसणे-देहो, देहेणतवो, तवेण रयसडणं।
> रयणासे वरणाणं, णाणे मोक्खोभ्र्णुवोभणइ ॥५२१॥ भावसंग्रह

अर्थ—आहार से शरीर रहता है। शरीर से तपश्चरण होता है। तप से कर्मरूपी रज का नाश होता है। कर्मरूपी रज का नाश होने पर उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है। उत्तम ज्ञान से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

> मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्रलोके, तद्धार्यते मुनिभिरंगबलात्तदन्नात्।
> तद्दीयते च गृहिणा, गुरु-भक्ति-भाजा, तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्गः ॥२।१२॥ प. पं.

अर्थ—लोक में मोक्ष के कारणीभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की जाती है, वह मुनियों के द्वारा शरीर की शक्ति से धारण किया जाता है। वह शरीर की शक्ति भोजन से प्राप्त होती है और वह भोजन अतिशय भक्ति से संयुक्त गृहस्थ के द्वारा दिया जाता है। इसी कारण वास्तव में उस मोक्षमार्ग को गृहस्थ जनों ने ही धारण किया है।

> सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्षएव स्फुटं।
> दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् ॥
> तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः।
> काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥७८॥ [पद्म पं०]

अर्थ—प्राणी सुख की ही इच्छा करते हैं, वह सुख स्पष्टतया मोक्ष में ही है। वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि-स्वरूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होता है। वह रत्नत्रय दिगम्बर साधु के ही होता है, उक्त साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है, उस शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है। और वह भोजन श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इसप्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल में भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावकों के निमित्त से ही हो रही है।

> सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणं।
> रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति काये सति ॥
> वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते।
> तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः ॥१।१२॥ [पद्म. पं.]

अर्थ—जो रत्नत्रय समस्त देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रों से पूजित है, मुक्ति का अद्वितीय कारण है तथा तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला है। उस रत्नत्रय को साधुजन शरीर की स्थिति रहने पर ही धारण करते हैं। उस शरीर की स्थिति उत्कृष्ट भक्ति से जिन गृहस्थों द्वारा दिये गये अन्न से रहती है। उन गुणवान सद्‌गृहस्थों का धर्म भला किसे प्रिय न होगा ? अर्थात् सभी को प्रिय होगा।

यद्यपि संयम की रक्षा के लिये साधु आहार लेते हैं तथापि उस आहार को खड़े होकर पाणि पात्र में लेकर सोधन के पश्चात् ही लेते हैं। श्री कुंदकुंद आचार्य ने प्रवचनसार में कहा भी है—

> वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
> खिदिसयणमदंतवणं ठिदि-भोयणमेगभत्तं च ॥२०८॥
> एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
> तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥

अर्थ—व्रत, समिति, इंद्रियरोध, केशलोंच, षट् आवश्यक, अचेलत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खड़े-खड़े भोजन, एकबार आहार, यह वास्तव में श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं, उनमें प्रमत्त होता हुआ साधु छेदोपस्थापक होता है।

यदि किन्हीं कारणों से साधु खड़े होकर पाणि-पात्र में सोधकर भोजन नहीं कर सकें तो वे संयम की रक्षार्थ भोजन का त्याग कर देते हैं। किंतु आहारवत् श्वासोच्छ्‌वास के लिये इसप्रकार के कोई नियम नहीं हैं जिससे कि साधु सयम की रक्षा के लिये श्वासोच्छ्‌वास का निरोध करे।

'भोजन' भोग है। भोग के त्याग के निमित्त मुनि यथाशक्ति भोजन का त्याग करते रहते हैं किन्तु श्वासोच्छ्‌वास भोग नहीं है, अतः मुनि उसका त्याग नहीं करते। उपवास आदि में भोजन का त्याग तो होता है, किंतु श्वासोच्छ्‌वास का त्याग नहीं होता।

काय और कषाय को भले प्रकार कृश करना सल्लेखना है। बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का, उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। कहा भी है—

'सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।' सर्वार्थसिद्धि ७।२२

> आहारं परिहाप्य, क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
> स्निग्धं च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥१२७॥
> खरपानहापनमपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
> पंचनमस्कारमनास्तनु त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥१२८॥ रत्न. क. श्रा.

अर्थ—सल्लेखनाधारी व्यक्ति अन्न के भोजन को छोड़कर क्रमशः दूध और छाछ के पान को बढ़ावे। दूध व छाछ को छोड़कर कांजी और गर्मजल को बढ़ावे। कांजी और गर्मजल को भी त्यागकर फिर शक्ति से उपवास को करके सर्वप्रकार व्रत संयम आदिक में यत्न से पंच नमस्कार मंत्र का जाप करता हुआ शरीर छोड़े।

शरीर प्रबल रहने से इन्द्रियाँ प्रबल रहेंगी और वे विषयों की ओर दौड़ेंगी, अतः शरीर को भी क्रमशः कृश करने का उपदेश है। किन्तु श्वासोच्छ्वास-निरोध से शरीर कृश नहीं होता है, इसीलिये धवल पु. १ पृ. २५ पर कहा है कि संयम के विनाश के भय से श्वासोच्छ्वास का निरोध करके मरे हुए साधु के शरीर का त्यक्त के किसी भी भेद में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि इसप्रकार से मृत शरीर को मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 14-10-65/IX/ शान्तिलाल

रोगी को मुनि-दीक्षा

शंका—रोग अवस्था में क्या मुनि दीक्षा ली जा सकती है ?

समाधान—सल्लेखना के समय रोग-अवस्था में भी मुनि दीक्षा ली जा सकती है। मुनि दीक्षा के समय केशलोंच आदि सब क्रिया आगम के अनुसार होनी चाहिए।

—जै. ग. 5-12-63/IX/ पन्नालाल

मुनि की पहचान

शंका—यदि किसी सम्यग्दृष्टि को यह पता चल जाय कि अमुक मुनि मिथ्यादृष्टि है तो क्या उसे उन मुनि को नमस्कारादि करने चाहिए ? जब तक पता न चले तब तक उसका क्या कर्त्तव्य है ? ऐसे भी बहुत से मिथ्यादृष्टि मुनि होते हैं जो कि उपदेश कर सैकड़ों का कल्याण कर देते हैं, उनके प्रति सम्यग्दृष्टि का क्या कर्त्तव्य है ?

समाधान—व्यवहार धर्म का साधन द्रव्यलिंगी मुनि के बहुत है अर भक्ति करनी सो भी व्यवहार है। तातैं जैसे कोई धनवान होय, परन्तु जो कुल विषैं बड़ा होय ताको कुल अपेक्षा बड़ा जान ताका सत्कार करे, तैसे आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहार धर्म विषैं प्रधान होय, ताकौ व्यवहार धर्म अपेक्षा गुणाधिक मानि ताकी भक्ति करे हैं। (मो० मा० प्र० आठवाँ अधिकार)

—जै. सं 17-5-56/VI/ मू. च. मुजफ्फरनगर

मूलगुणों की आवश्यकता

शंका—यदि कोई मुनि २८ मूलगुणों का ठीक प्रकार पालन नहीं करता तो सम्यग्दृष्टि को उसे नमस्कार करना चाहिये या नहीं ? यदि वह एक या दो मूलगुणों का बिल्कुल ही पालन नहीं करता तो फिर वह नमस्कार का पात्र है या नहीं ?

समाधान—जो मुनि के २८ मूलगुणों का ठीक-ठीक पालन नहीं करता अथवा एक या दो मूलगुणों की सर्वथा उपेक्षा कर देता है, वह मुनि ही नहीं है, अतः वह नमस्कार का पात्र नहीं है। द्रव्यलिंगी मुनि तो २८ मूलगुणों का यथार्थ रीति से पालन करते हैं और उनके अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु व अहिंसामयी धर्म का सच्चा श्रद्धान भी है।

—जै. सं. 17-5-56/VI/ मू. च. मुजफ्फरनगर

मुनिराजजी अंगीठी, हीटर या कूलर में रति न करे [इनका उपयोग वर्ज्य है।]

शंका—पूज्य मुनिराजों को ठंड या गर्मी आदि में कोई व्यक्ति अंगीठी आदि जला दें या पंखा आदि से हवा करें तो इसमें मुनिराजों को दोष लगता है या नहीं ? क्या ऐसे कार्यों के लिये मुनिराजों को मना करना चाहिये ?

समाधान—गर्मी के समय कोई व्यक्ति हवा करने लगे बिजली का पंखा, कूलर आदि लगा देवे या प्राकृतिक ठंडी वायु चलने लगे यदि मुनिराज उसमें रति करते हैं, तो उनको दोष है। इसी प्रकार ठंड के समय कोई आग की अंगीठी रख देवे, हीटर लगा देवे या प्राकृतिक तेज धूप निकलकर गर्मी हो जावे, यदि मुनिराज उसमें रति करते हैं तो उनको दोष है। सर्दी या गर्मी में रति या अरति करना मुनिराज के लिए दोष है। मुनिराज श्रावक को अनुचित क्रिया न करने का उपदेश दे सकते हैं, आदेश नहीं देते।

—जैन गजट/2-2-78/ /दि. जैन धर्म रक्षक मंडल, फुलेरा

पुलाकमुनि रात्रि भोजन त्याग का विराधक कैसे होता है ?

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ. ९ सूत्र ४७ में प्रतिसेवना का कथन करते हुए लिखा है—'दूसरों के दबाववश जबरदस्ती से पांच मूलगुण और रात्रि भोजनवर्जनव्रत में किसी एक की प्रतिसेवना करने-वाला पुलाक होता है।' इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—तत्त्वार्थवृत्ति में श्री श्रुतसागरसूरि ने इस सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है—'महाव्रतलक्षण पञ्चमूलगुणविभावरी-भोजनवर्जनानां मध्येऽन्यतमं बलात् परोपरोधात् प्रतिसेवमानः पुलाको विराधको भवति। रात्रिभोजनवर्जनस्य विराधकः कथम् इति चेत् ? उच्यतेश्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधकः स्यात्।'

पुलाक के पांच महाव्रतों अर्थात् पंच मूलगुण और रात्रि-भोजन-त्याग व्रत में विराधना होती है। बलात् से या दूसरों के उपरोध से किसी एक व्रत की प्रतिसेवना होती है। रात्रि-भोजन त्याग व्रत में विराधना कैसे होती है ? इसके द्वारा श्रावक आदि का उपकार होगा, ऐसा विचार कर पुलाक मुनि विद्यार्थी आदि को रात्रि आदि में भोजन कराकर रात्रि भोजनत्याग व्रत का विराधक होता है।

इस कथन से स्पष्ट है कि पुलाक मुनि अपनी इच्छा से पंचमहाव्रतों की विराधना नहीं करता है, किन्तु दूसरों की जबरदस्ती से तथा कष्ट पहुँचाये जाने पर मजबूर होकर विराधना करनी पड़ती है। रात्रिभोजनत्यागव्रत की विराधना में धर्मप्रचार व धर्मप्रभावना की दृष्टि रहती है, अर्थात् यदि यह विद्यार्थी रात्रि को औषधि आदि के सेवन करने से जीवित रह गया तो इसके द्वारा श्रावकों में धर्म का प्रचार होगा तथा इसके द्वारा धर्म की प्रभावना होगी आदि।

—जै. ग. 5-9-74/VI/ब्र. फूलचन्द

महाव्रती साधु के रात्रि भोजन विरमण अणुव्रत

शंका—तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सूत्र १ की सर्वार्थसिद्धि टीका में 'ननु च षष्ठमणुव्रतं रात्रिभोजनविरमणं' (अर्थात्—रात्रिभोजनविरमण नामका साधुओं और श्रावकों के अणुव्रत होता है) ऐसा लिखा है। तो महाव्रती साधु के 'अणुव्रत' कैसे ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७, सूत्र १ में महाव्रत या अणुव्रत का कथन नहीं है, किंतु व्रत सामान्य का कथन है। सूत्र २ में व्रत सामान्य के दो भेदों (अणुव्रत और महाव्रत) का कथन है। सूत्र ३ से ८ तक प्रत्येक व्रत की भावनाओं को बताया। सूत्र १ की टीका में 'ननु च ' से शंकाकार ने शंका उठाई है 'रात्रिभोजन-विरमण नामका छठा अणुव्रत है उसकी भी यहां परिगणना करनी थी' अर्थात् पांच व्रतों के अतिरिक्त 'रात्रिभोजन-विरमण' नामका छठा अणुव्रत पाया जाता है। इस पर श्री पूज्यपाद आचार्य उत्तर देते हैं—'ऐसी शंका ठीक नहीं

है, क्योंकि, उस 'रात्रिभोजनविरमण' व्रत का भावनाओं में अन्तर्भाव हो जाता है। आगे अहिंसाव्रत की भावनाएं कहेंगे उनमें एक आलोकितपानभोजन नाम की भावना है उसमें रात्रिभोजनविरमण नामक व्रत का अन्तर्भाव हो जाता है।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'ननु च' आदि शब्दों से सर्वार्थसिद्धि टीकाकार का प्रयोजन महाव्रतीसाधु के अणुव्रत कहने का नहीं है।[1]

साधु किसी भी सवारी का उपयोग नहीं कर सकता

शंका—क्या मुनि चेतन या अचेतन सवारी का अपने आवागमन के लिये उपयोग कर सकता है ?

समाधान—मुनि को जलयान अथवा अन्य किसी भी चेतन या अचेतन सवारी को अपने आवागमन के लिए उपयोग में नहीं लाना चाहिये। मूलाचार प्रदीप (सकलकीर्ति आचार्य); दूसरा अधिकार श्लोक १५ पृ. ३ पर ईर्यासमिति के प्रकरण में लिखा है—

काष्ठं पाषाणमन्यद्वा ज्ञात्वा चलाचलं बुधैः।
तेषु पादं विधायाशु न गन्तव्यं दयोद्यतैः॥

अर्थ—दया धारण करने वाले बुद्धिमानों को काष्ठ, पाषाण आदि को चलाचल जान लेने पर, उनमें पैर रखकर गमन नहीं करना चाहिए। किसी भी प्रकार की गाड़ी आदि में चलने से ईर्यासमिति का पालन नहीं हो सकता तथा अहिंसा महाव्रत में दोष लगता है, अथवा नष्ट हो जाता है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

साधु जान बूझकर व्रतों के प्रतिकूल परिस्थितियाँ न जुटावे

शंका—कोई व्रत लेने या कोई त्याग किये पीछे उस व्रत या त्याग की परीक्षा के लिये कुछ प्रतिकूल परिस्थितियाँ जुटानी चाहिए क्या ? जिस प्रकार गांधीजी ने किया कि ब्रह्मचर्य व्रत की दृढ़ता से आश्वस्त होकर अपनी जाँच के लिये एक बार वे युवतियों के साथ अकेले सोये ? या और किसी प्रकार भी ?

इसी प्रकार कड़ी धूप में तप करना, श्मसान में मुनित्व का अभ्यास करने हेतु श्रावक द्वारा कायोत्सर्ग करना आदि तथा मुनि द्वारा वर्षाऋतु में पेड़ के नीचे, गर्मियों में पहाड़ पर और शीत में नदी के किनारों पर ध्यान करना अपने व्रत की दृढ़ता जांचने के लिये समुचित है या नहीं ? और क्या यह करना प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना नहीं है अपनी दृढ़ता जांचने के लिये ?

---

१. इस विषय में अनगारधर्मामृत ४/१५० टीका में लिखा है; जिसका भाव यह है कि रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना छठा अणुव्रत है। उसे अणुव्रत इसलिये कहा है कि रात्रि में ही भोजन का त्याग बताया है, दिन में तो यथासमय भोजन करने की छूट है अतः आहार का त्याग केवल रात्रि में ही होने से यह काल की अपेक्षा अणु (लघुव्रत) है।

इन्हीं पण्डित आशाधरजी ने भगवती आराधना की टीका में भी आश्वास ६ गा० ११८५-८६ में लिखा है—इस व्रत की अणु संज्ञा दिन में भोजन करने की अपेक्षा से है। तथा त्याग मात्र रात्रि में भोजन करने का ही है। इस कालिक अपूर्णता की दृष्टि से यह अणु=लघु व्रत है। यही छठे अणुव्रत का रहस्य है।

अणु शब्द यहाँ काल कृत अल्पता से लघु-छोटे के अर्थ में प्रयुक्त है। यह एक देश त्याग से श्रावकों और सर्वदेश त्याग से मुनियों; दोनों के होता है। —सं०-विशेष के लिए देखिये जैन निबंधरत्नावली पृ. २०५-२१७ ले० पण्डित मिलापचन्द रतनलाल कटारिया।

समाधान—कोई व्रत लेने के पश्चात् उसकी दृढ़ता के लिये भावना भानी चाहिये।

'तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण समित्यालोकितपान भोजनानि पंच ॥४॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कार त्यागाः पंच ॥७॥

—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७

व्रतों की दृढ़ता के लिये श्री उमास्वामी आचार्य ने पाँच पाँच भावनायें कही हैं। जैसे अहिंसाव्रत की दृढ़ता के लिये वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति (चार हाथ पृथिवी देखकर चलना), आदाननिक्षेपणसमिति (देखकर पदार्थ को रखना और उठाना). सूर्यप्रकाश में देखकर भोजन करना। इन कार्यों से अहिंसाव्रत में दृढ़ता आती है और इनसे विपरीत कार्यों से अहिंसाव्रत में कमजोरी आती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत की दृढ़ता के लिये (१) स्त्रियों में राग उत्पन्न करने वाली कथा के सुनने का त्याग, (२) स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, (३) पूर्व में भोगे हुए भोगों को याद करने का त्याग, (४) कामोत्पादक भोजन का त्याग, (५) अपने शरीर को सजाने का त्याग; ये पाँच भावना हैं। इन पाँच भावनाओं से विपरीत कार्यों से ब्रह्मचर्यव्रत कमजोर होता है।

यस्तपस्वी व्रती मौनी संवृतात्मा जितेन्द्रियः।
कलङ्कयति निःशंकं स्त्रीसखः सोऽपि संयमं ॥३॥ ज्ञानार्णव, सर्ग १४

अर्थ—जो मुनि तपस्वी, व्रती, मौनी, संवरस्वरूप तथा जितेन्द्रिय हो और स्त्री की संगति करले तो वह अपने संयम को कलंक ही लगावे है। इस प्रकार व्रतों को दृढ़ करने के लिये व्रतों के अनुकूल वातावरण बनाये रखना चाहिये, व्रतों के प्रतिकूल वातावरण नहीं उत्पन्न करना चाहिये। परीषह या उपसर्ग के आने पर व्रत की दृढ़ता की जांच स्वयमेव हो जायगी।

श्मसान में मुनित्व का अभ्यास करना, कड़ी धूप में तप करना, वर्षाॠतु में, वृक्ष के नीचे और शीत में नदी के तीर ध्यान लगाना, ये सब कार्य अभ्यास के लिये हैं, न कि व्रतों की दृढ़ता की जांच के लिये। अवसर आने पर व्रतों की दृढ़ता की परीक्षा स्वयमेव हो जाती है। जान बूझकर व्रतों के प्रतिकूल परिस्थितियां नहीं जुटानी चाहिए, किन्तु जहां तक सम्भव हो उन परिस्थितियों से दूर रहना चाहिए।

—जै. ग. 10-8-72/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

मुनि रात्रि में न बोलें

शंका—मुनि रात्रि में १०-११ बजे तक स्त्री पुरुषों से संकेतों से बात कर सकता है या नहीं?

समाधान—रात्रि में मुनि महाराज मौन से रहते हैं। फिर भी रात्रि में धर्मकार्यवश कुछ संकेत कर दें तो वह अपवाद है। हस्तिनागपुर में श्री अकंपन आदि ७०० मुनियों पर जब उपसर्ग हुआ तो अन्य स्थान में रात्रि को नक्षत्र देखकर दूसरे मुनि महाराज ने 'हा' शब्द का उच्चारण किया था।

—जै. सं. 27-11-58/V/ पं. वंशीधर शास्त्री

चिकित्सा हेतु श्रावक मुनि के शरीर पर चन्दन के तेल की मालिश कर सकता है

शंका—मुनि चन्दन के तेल की मालिश करवा सकता है या नहीं?

समाधान—मुनि किसी भी तैल की मालिश नहीं कराते। किन्तु औषधि रूप से श्रावक चन्दन आदि के तैल की मालिश द्वारा रोग की चिकित्सा कर सकता है।

—जै. सं. 27-11-58/V/ पं. बंशीधर शास्त्री

धार्मिक कार्य के लिए कदाचित् मुनि रात्रि को बोल सकते हैं

शंका—चातुर्मास स्थापना के समय पू० मुनि महाराज एवं त्यागी वर्ग रात्रि के होते ही यानी संध्या समय के बाद बोलते हुए चातुर्मास स्थापन क्रिया करते हैं। क्या यह उचित है? क्या रात्रि के समय बोलना भी आगमानुकूल है? पू० मुनिराज किस-किस स्थिति में रात्रि के समय बोल सकते हैं?

समाधान—मुनिराज के निम्न २८ मूलगुण हैं—

महाव्रतानि पंचैव पंचसमितयः ।
पंचेन्द्रियनिरोधाश्च लोच आवश्यकानि षट् ॥४६॥
अचेलत्वं ततोऽस्नानम् धराशयनमेव हि ।
अदन्त-घर्षणरागदूरं च स्थिति-भोजनम् ॥४७॥
एकभुक्तं समासेनामी सन्मूलगुणा बुधैः ।
विज्ञेयाः कर्महन्तारः शिवशर्म गुणाकराः ॥४८॥

पाँच महाव्रत, पाँचसमिति, पंचेन्द्रिय विजय, षडावश्यक, लोच, अचेलत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन, एकभुक्ति। ये २८ मूलगुण कर्मों का नाश करने वाले हैं और मोक्षसुख करने वाले हैं। रात्रिमौन मुनियों के २८ मूलगुणों में नहीं है। तथापि प्रत्येक मनुष्य को विशेष कर मुनि महाराज को तो कम से कम बोलना चाहिए। अति आवश्यकता होने पर हित, मित, प्रियवचनों का प्रयोग करना चाहिए। विशेष धार्मिक कार्यों के लिये मुनिराज रात्रि में बोलते हैं। वैयावृत्ति के लिये समाधिमरण आदि के अवसर पर संबोधन के लिये मुनिराज बोलते हैं।

त्यागीगण तो श्रावक हैं। श्रावक तो रात्रि को बोलता ही है। श्रावक को रात्रि में मौन से रहना चाहिये ऐसा कथन आर्ष ग्रन्थ में देखने में नहीं आया। फिर भी विकल्पों को रोकने के लिये मौन बहुत उत्तम है। प्रत्येक मनुष्य को मौन से रहने का अभ्यास करना चाहिये।

—जै. ग. 2-2-78/....... / श्री दि. जैन धर्मरक्षक मण्डल, फुलेरा

मुनि होने पर पूर्व में त्यक्त रसों को ग्रहण करे या नहीं ?

शंका—जिस जीव ने गृहस्थ अवस्था में जीवन भर का नमक त्याग कर दिया है फिर मुनि हो गया तो आहार में नमक मिल गया तो क्या वह नमक का आहार कर सकता है?

समाधान—दीक्षा संस्कार होने पर मुनि द्विजन्मा हो जाता है अतः पूर्वजन्म समाप्त हो जाता है। अतः मुनि होने के पश्चात् यदि इस जीव ने नमक का पुनः त्याग नहीं किया तो वह नमक का आहार ले सकता है, किंतु उत्तम यह है कि रसपरित्यागतप के लिये ऐसे जीव को मुनि होने के पश्चात् नमक का पुनः त्याग कर देना चाहिये। इस विषय में मुझको आगम प्रमाण नहीं मिला, यदि कहीं भूल हो तो ज्ञानीजन सुधार लेने की कृपा करें।

—जै. सं. 15-8-57/......../श्रीमती कपूरीदेवी

मुनि प्रकृति के अनुकूल भोजन करे तथा चबा-चबा कर खावे

शंका—मुनियों को भोजन लेने में अपने स्वास्थ्य की अनुकूलता ध्यान में रखनी चाहिये या नहीं अर्थात् वे जानते हुए भी ऐसा आहार ग्रहण कर लेते हैं क्या जो उनके स्वास्थ्य को हानिकारक हो ?

समाधान—जो भोजन स्वास्थ्य को हानिकर है, वह अनिष्ट है। अभक्ष्य के पाँच भेदों (त्रसघात, मादक, बहुघात, अनिष्ट, अनुपसेव्य) में से अनिष्ट भी अभक्ष्य का एक भेद है। अतः मुनियों व गृहस्थ दोनों को ही स्वास्थ्य के लिये हानिकर अनिष्ट आहार का त्याग कर देना चाहिए। रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ८६ में कहा भी है—

"यदनिष्टं तद्व्रतयेत् ।"

संस्कृत टीका—'यदनिष्टं' उदरशूलादि हेतुतया प्रकृतिसात्म्यकं यन्नभवति 'तद्व्रतयेत्' व्रतं निवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः ।

जो आहार उदरशूल आदि का कारण होने से प्रकृति के अनुकूल नहीं है वह अनिष्ट आहार है, उसको त्याग देना चाहिये।

शंका—मुनियों को भोजन दाँतों से चबा-चबा कर खाने में कोई दोष तो नहीं है ? या उनको निगलकर ही भोजन करना चाहिये, ऐसा नियम है क्या ?

समाधान —मुनियों को भोजन दाँतों से चबाकर ही करना चाहिये, क्योंकि दाँतों द्वारा चबाकर किये हुए भोजन का पाचन ठीक होता है। जो भोजन बिना चबाये निगल लिया जाता है उसका पाचन ठीक प्रकार से नहीं होता है और वह स्वास्थ्य को हानिकर होता है।

भोजन को चबाते समय जो रसका (स्वाद का) ज्ञान होता है उसमें उनको रुचि या अरुचि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि इन्द्रियजय मूलगुण है। स्वास्थ्य की अनुकूलता या प्रतिकूलता का ध्यान अवश्य रहना चाहिये तथा ऐसा भोजन करना चाहिये जो संयम व तप में सहायक हो, बाधक न हो। कहा भी है—

छयालीस दोष बिना सुकुल, श्रावकतणे घर अशन को।
लें तप बढ़ावन हेत नहिं तन, पोषते तजि रसन को ॥

—जै. ग. 23-1-70/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

क्या मुनि या अन्य जन ८–१० घन्टे तक निद्रा ले सकते हैं ?

शंका—मुनि निद्रा का काल जो आपने बताया, क्या इसी तरह आगम में मिनट–सेकण्डों में आता है ? लोग तो ८–१० घन्टे तक जागृत या सुप्त नजर आते हैं। फिर आपका कथन किस प्रकार समझना चाहिए ?

समाधान—मैंने मिनट-सेकण्ड में जो सुप्तावस्था का काल लिखा है वह एक ROUGH IDEA है। आगम में मिनट-सेकण्ड आदि में समय नहीं दिया गया है। अन्तर्मुहूर्त को ४८ मिनट और उच्छ्वास को $\frac{3}{4}$ सेकण्ड मानकर अल्पबहुत्व को दृष्टि में रखते हुए गणनाएँ की गई थी। धवल पु० १५ पृ० ६१, ६२ व ६८ के कथनानुसार कोई भी जीव निद्राओं में परिवर्तन होने पर भी एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक सुप्त या जागृत नहीं रह सकता, यह ध्रुव सत्य है, क्योंकि सुप्तावस्था में दर्शनावरण का ५ प्रकृतिरूप उदयस्थान है और जागृत अवस्था में

चारप्रकृतिक उदयस्थान होता है। दोनों के अवस्थित उदय का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है। एक अन्तर्मुहूर्त के बाद ४ प्रकृतिक स्थान से भुजगार होकर पांचप्रकृतिक उदयस्थान हो जायगा। पुनः एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ५ के बजाय अल्पतर होकर ४ का उदय हो जायगा। सुप्त व जागृत अवस्था का जघन्य काल १ समय है। एक समय के लिए जागृत या सुप्त अवस्था हुई तथा फिर सुप्त या जागृत हो गया। वह एक समय की अवस्था छद्मस्थ के पकड़ में नहीं आती, अतः यह प्रतीत होता है कि अमुक जीव ८ या १० घण्टे तक जागृत या सुप्त रहता है। [अतः] निद्रासम्बन्धी आपकी शंका ठीक है।

—पत्राचार 20-7-78/ / जवाहरलाल भीण्डर

कायोत्सर्ग काल की गणित

शंका—एक कायोत्सर्ग का काल कितने मिनट का है? संध्यासम्बन्धी प्रतिक्रमण में १०८ उच्छ्वास मात्र, प्रभात सम्बन्धी प्रतिक्रमण ५४ उच्छ्वास मात्र, बहुरि अन्य कायोत्सर्ग सत्ताईस उच्छ्वास मात्र कहा है उनका वर्तमान में कितने मिनट या सेकण्ड काल है?

समाधान—कायोत्सर्ग का काल निश्चित नहीं है। भिन्न-भिन्न समयों के कायोत्सर्ग का काल भिन्न २ है जैसा कि स्वयं शंकाकार ने लिखा है। एक उच्छ्वास का काल $\frac{४८}{३७७३}$ मिनट है। अतः १०८ उच्छ्वास मात्र कायोत्सर्ग का काल $\frac{४८}{३७७३} \times \frac{१०८}{१}$ = १ मिनट २२½ सेकण्ड, ५४ उच्छ्वास मात्र कायोत्सर्ग का काल ४१ सेकण्ड और २७ उच्छ्वास मात्र कायोत्सर्ग का काल २०½ सेकण्ड है। स्वाध्याय के समय बारह कायोत्सर्ग का काल चार मिनट छह सेकण्ड, वन्दना के समय कायोत्सर्ग काल दो मिनट तीन सेकण्ड, इसी प्रकार प्रतिक्रमणों के कायोत्सर्ग का काल गणित द्वारा निकाल लेना चाहिए।

—जै. सं 13-12-56/VII/ सो. च. का इकका

परोक्षविनय आभ्यन्तर तप है

शंका—परोक्ष विनय का क्या स्वरूप है?

समाधान—आचार्यादि के परोक्ष होने पर भी उनके प्रति अंजलि धारण करना, उनके गुणों का संकीर्तन व अनुस्मरण और मन, वचन, काय से उनकी आज्ञा का पालन करना 'परोक्ष उपचारविनय' है।

—जै. ग. 21-5-64/IX/ सुरेशचन्द

बाह्यतप नियमरूप होते हैं

शंका—मुनियों के छह बाह्य तप यमरूप होते हैं या नियमरूप?

समाधान—मुनियों के छह बाह्यतप नियतकाल के लिये होते हैं अर्थात् काल की मर्यादा लिये हुए होते हैं। जैसे उपवास तप एकदिन दोदिन आदि उत्कृष्ट छहमाह की मर्यादारूप होता है। अतः छह बाह्य तप नियमरूप अर्थात् मर्यादितकाल के लिये होते हैं यमरूप नहीं, किन्तु सल्लेखना इसके लिये अपवाद है।

—जै. ग. 29-7-65/XI/ कैलाशचन्द

आहार–विहार के समय सप्तमगुणस्थान सम्भव

शंका—छठे गुणस्थानवर्ती संयमी के ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए दृष्टि युगप्रमाण सामने के मार्ग पर रहती है। तब उपयोग भी जीवरक्षा तथा मार्ग देखने में रहता है। जब आहार ग्रहण करते हैं तब उपयोग भी एषणासमितिरूप रहता है। ऐसी स्थिति में सातवाँ गुणस्थान कैसे संभव है? सातवाँगुणस्थान हो जाने पर उपयोग अन्यत्र चला जाने से जो उपयोगशून्य बाह्यक्रिया होंगी क्या वे समितिरूप हो सकती हैं? सातवेंगुणस्थान में असाता की उदीरणा के अभाव में आहारसंज्ञा नहीं होती तब आहारसंज्ञारूप कारण के अभाव में आहारग्रहणरूप कार्य कैसे होगा?

समाधान—छठे और सातवेंगुणस्थान का काल बहुत अल्प है। धवल पुस्तक ६ पृ० ३३५ से ३४२ तक जो काल सम्बन्धी ८७ पदों का अल्पबहुत्व दिया गया है उसमें ३१ नम्बर पर 'क्षुद्रभव' पड़ा हुआ जो उच्छ्वास के अठारहवें भागप्रमाण अथवा पौन सेकेंड के अठारहवेंभागप्रमाण है। इससे आगे ४६ नम्बर पर 'दर्शनमोहनीय का उपशान्तकाल' है और ५५ नम्बर पर 'अन्तर्मुहूर्त' है। अल्पबहुत्व के अनुसार द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शनका काल लगभग पाँच सेकेंड आता है। पृ० २९२ पर कहा है कि 'द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि होकर सहस्रों बार अप्रमत्त से प्रमत्त और प्रमत्त से अप्रमत्तगुणस्थान में जाकर, कषायों के उपशमाने के लिये अधः प्रवृत्तकरण परिणामों से परिणमता है।' छठेगुणस्थान से सातवेंगुणस्थान का काल आधा होता है (धवल पु० ३ पृ० ९०)। इसप्रकार सातवें-गुणस्थान का काल एक सैकेंड के हजारवेंभाग से भी कम होता है।

हाथ में रखे हुए ग्रास को देख लेने के पश्चात् जिस समय मुनि उस ग्रास को मुख में रखकर चबाता है उस समय सातवाँ गुणस्थान हो जाने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि उस समय न तो एषणासमिति के लिये कोई कार्य है और न आहार संज्ञा है, क्योंकि इनका कार्य तो उससे पूर्व समाप्त हो चुका था। मुख में रखे हुए ग्रास को चबाते समय आहार ग्रहण की क्रिया नहीं हो रही है जिसके लिये आहार संज्ञा की आवश्यकता हो। इसीप्रकार चारहाथ-प्रमाण पृथिवी को देख लेने के पश्चात् गमन करते हुए साधु के अपना पैर आगे रखते समय सातवाँगुणस्थान होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि उससमय ईर्यासमिति के लिये कोई कार्य नहीं है।

यदि क्रिया के समय सातवाँगुणस्थान स्वीकार न किया जावे तो परिहारशुद्धिसंयत के भी अप्रमत्तसंयत—सातवेंगुणस्थान के अभाव का प्रसंग आ जाने पर आगम से विरोध आ जायगा। धवल पु० १ पृ० ३७५ सूत्र १२६ में कहा है 'परिहारशुद्धिसंयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में होता है।' इसकी टीका में श्री वीरसेन स्वामी ने आठवें आदि गुणस्थानों का निषेध करते हुए कहा है—"गमनागमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करने वाला नहीं। इसलिये ऊपर के आठवेंआदि गुणस्थानों में परिहार शुद्धि-संयम नहीं बन सकता। यद्यपि आठवेंआदि गुणस्थानों में परिहारऋद्धि पाई जाती है, परन्तु वहाँ पर परिहार करनेरूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये आठवेंआदि गुणस्थानों में परिहारशुद्धिसंयम का अभाव कहा गया है।"

यदि यह स्वीकार कर लिया जावे कि आहार व विहार के समय सातवाँगुणस्थान नहीं होता तो आहार व विहार करते हुए मुनि के प्रमत्तसंयत छठे गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने पर पाँचवें या चौथे गुणस्थान में प्रवेश करना अनिवार्य हो जायगा। ऐसा होने से वह मुनि ही नहीं रहेगा। अतः आहार व विहार के समय भी अप्रमत्त-संयत—सातवाँगुणस्थान हो सकता है यह आगम तथा युक्ति से सिद्ध है।

—जै. ग. 27-6-63/IX/ मो. ला. सेठी

चौथे से सातवें गुणस्थान तक प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों हैं

शंका—क्या चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीवों का मुक्ति परवाना बन्द है ? क्या इन गुणस्थानों में मात्र प्रवृत्ति ही है ? क्या निवृत्ति नहीं है ?

समाधान—छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती जीव महाविरति होते हैं। वे हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह और अब्रह्म इन ५ पापों से निवृत्त होते हैं, क्योंकि व्रत का लक्षण ही पंच पापों से निवृत्तिरूप है, जैसा कि मोक्षशास्त्र में कहा भी है—

"हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योविरतिर्व्रतम् ॥१॥"

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से बुद्धिपूर्वक निवृत्त होना–विरक्त होना व्रत है। इस प्रकार छठे और सातवें गुणस्थानों में निवृत्ति है।

पाँचवें संयमासंयमगुणस्थान में हिंसा आदि पाँच पापों से एकदेश निवृत्ति है।

"देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥ अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

हिंसा आदि पापों से एकदेश विरक्त अर्थात् निवृत्त होना अणुव्रत है और हिंसा आदि पापों से सर्वतः विरक्त होना महाव्रत है। अणुव्रत पालनेवाला अगारी अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है।

पंच पापों से बुद्धिपूर्वक निवृत्त होने के कारण ही पाँचवें, छठे, सातवेंगुणस्थानों में प्रतिसमय गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि जीव पंच पापों से तथा पंचेन्द्रियों के विषयों से बुद्धिपूर्वक एकदेश भी निवृत्त नहीं है अतः उसके प्रतिसमय गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती है मात्र सम्यक्त्व प्राप्ति के समय अथवा अनन्तानुबंधीकषाय की विसंयोजना के समय तथा दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा के समय गुणश्रेणीनिर्जरा होती है। वह यथा सम्भव सम्यक्त्व के २५ दोषों से निवृत्त है।

चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ आदि गुणस्थान परम्परा मोक्ष के कारण हैं। साक्षात् कारण तो चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय का रत्नत्रय है।

—जै. ग. 8-1-76/VI/ रो. ला. मित्तल

मरण के भेद

शंका—आपने लिखा कि इस (आचार्य श्री शान्तिसागर) तरह का समाधिमरण सम्यग्दृष्टि के ही होता है। कृपया लिखें कि द्रव्यलिंगी के मरण से इस मरण में क्या विशेषता है जिससे हम सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की पहचान कर सकें ?

समाधान—द्रव्यलिंगी अनेक प्रकार के होते हैं। शंकाकार का अभिप्राय शायद मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी से है। मिथ्यादृष्टि के समाधि होती ही नहीं अतः मिथ्यादृष्टि के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का अभाव होने से बालबालमरण होता है, किन्तु श्री तपोनिधि आचार्य शान्तिसागर महाराज का तो पण्डितमरण हुआ है। कहा भी है—

पण्डितं पंडितादिस्य पंडितं बालपण्डितम् ।
चतुर्थं मरणं बालं बालबालं च पंचमम् ॥२॥

टीका—सुतवे सम्मते वा णाणे चरणे य पंडिदं जम्हा । पंडिद मरणं भणिदं चदुव्विहं तव्विदूहिं जए ॥ एवंविध चतुर्विधपण्डितानां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपसु स पंडित पंडितः सम्पूर्णं क्षायिकज्ञानादिरित्यर्थः। ततोऽन्यः पंडितः प्रमत्तसंयतादिः। पंडाहु रत्नत्रयपरिणता बुद्धिः संजाता अस्येति पण्डितः। अतएव संयतासंयतो बालपण्डित इत्युच्यते। कुतश्चित् असूक्ष्मावसंयमादनिवृत्तित्वाद्बालस्ततोऽन्यत्र रत्नत्रये परिणतबुद्धित्वाच्चपंडितः, बालश्चासौ पंडितश्च बालपण्डितः। यतश्च सर्वत्रासंयतोऽसंयतसम्यग्दृष्टिस्ततो यथोक्त पाण्डित्यवियुक्तत्वाद्बाल इत्युच्यते। दर्शनज्ञानद्वये सत्यपि सर्वथा चारित्ररहित्वात् अतएव मिथ्यादृष्टिर्बालबाल इत्युच्यते। सम्यक्त्वस्याप्यभावेन प्राप्त बाल्यातिशयत्वात्।

भावार्थ—ज्ञानदर्शनचारित्र और तप में जिसके अतिशय पाण्डित्य है वह 'पण्डितपण्डित' मरण है अर्थात् सम्पूर्ण क्षायिकज्ञानादि वाले के (केवली)। प्रमत्तसंयतादि मुनियों का 'पण्डित' मरण है। सूक्ष्म असंयम का अंग होने से संयतासंयत का 'बालपण्डित' मरण है। सर्वथा संयम का अभाव होने से असंयतसम्यग्दृष्टि के 'बाल' मरण है। सम्यक्त्व का भी अभाव होने से मिथ्यादृष्टि के अतिशय बाल अर्थात् 'बालबाल' मरण है। (मूलाराधना)

—जै. सं. 31-1-57/VI/ मो. ला. स., सीकर

समाधिमरण का काल १२ वर्ष कबसे माना जाय ?

शंका—समाधिमरण का उत्कृष्टकाल बारहवर्ष बतलाया है उसका क्या अभिप्राय है ? आयु का तो पता नहीं कि कितनी शेष है और बारह वर्ष की सल्लेखना लेने पर तो बारह वर्ष पूर्ण होने पर शरीर छोड़ना ही होगा।

समाधान—बाह्य लक्षणों के द्वारा आयु का ज्ञान हो सकता है। निमित्त ज्ञानियों के द्वारा भी शेष आयु का ज्ञान हो सकता है। जिनको इसप्रकार ज्ञान हो गया उन्हीं के लिये भक्तप्रत्याख्यान का उत्कृष्टकाल बारह वर्ष कहा गया है। भक्तप्रत्याख्यान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। मध्यमकाल के अनेक भेद हैं। अतः जिनकी आयु बारह वर्ष की शेष रह गई है वे ही बारह वर्ष का भक्तप्रत्याख्यानव्रत ले सकते हैं।

—जै. ग. 3-6-71/VI/ र. ला. जैन, मेरठ

सन्यास कब धारण किया जाय ?

शंका—जो गत वर्ष कोटा अजमेर में ब्रह्मचारी अवस्था में मरण से कुछ घण्टे पूर्व मुनि बने वह कहाँ तक ठीक है। भगवती आराधनासार में तो सल्लेखना १२ वर्ष पूर्व में प्रारम्भ होती है।

समाधान—गृहस्थ के लिये मरण के समय सल्लेखनाव्रत भी अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् मरण समय संयम धारण करना चाहिये।

"गृहस्थस्य पञ्चाणुव्रतानि सप्तशीलानि गुणव्रतशिक्षाव्रतभांजीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्वपूर्वकाः सल्लेखनान्ताश्च।" (श्लोकवार्तिक ७।२१)

गृहस्थ के अहिंसादि पाँच अणुव्रत और गुणव्रत व शिक्षाव्रत के भेद से सात शीलव्रत ये बारह व्रत हैं। इन बारह व्रतों के पूर्व में सम्यक्त्व है और अन्त में सल्लेखना है।

'कदा सल्लेखना कर्तव्येत्याह ।' (श्लोकवार्तिक)

अर्थ—सल्लेखना कब करनी चाहिये ।

'मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥७।२२॥' (मोक्षशास्त्र) ।

मारणान्तिक सल्लेखना प्रीति पूर्वक सेवन करनी चाहिये ।

इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

अर्थ—मैं मरणकालमें अवश्य ही शास्त्रोक्त विधिसे समाधिमरण करूंगा । मरणकाल आने से पूर्व इस प्रकार की भावना के द्वारा यह शीलव्रत पालना चाहिए ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सल्लेखना की भावना तो मरण से पूर्व निरंतर रहती है, किन्तु सन्यास (संयम) मरण समय ही धारण किया जाता है । छहढाला में भी कहा गया है—

"मरण समय धर संन्यास तसु दोष नशावे ।"

अतः श्रावक मरणसमय राग-द्वेष के त्याग के लिये समस्त परिग्रह का त्यागकर नग्न साधु हो सकता है इसमें कुछ बाधा नहीं है । श्री अमितगति आचार्य ने श्रावकाचार में कहा है—

ज्ञात्वा मरणागमनं तत्त्वमतिर्दुर्निवारमतिगहनम् ।
पृष्ट्वा बांधववर्गं करोति सल्लेखनां धीरः ॥६।९८॥
आराधनां भगवतीं हृदये निधत्ते सज्ञानदर्शनचरित्रतपोमयीं यः ।
निर्धूतकर्ममलपंकमसौ महात्मा शर्मोदकं शिवसरोवरमेति हंसः ॥६।९९॥

दुर्निवार और अतिगहन अर्थात् भयानक ऐसा जो मरणका आगमन ताहि जान करि निश्चय रूप मति वाला धीर पुरुष बांधव के समूह को पूछकर मोह छुड़ाय के आगम प्रमाण सल्लेखना विधि को श्रावक मांडै है । जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपमयी भगवती आराधना को हृदय में धारे है सो यह हंसरूपी महात्मा मोक्षसरोवर को प्राप्त होय है । कैसा है मोक्षसरोवर जा विषै कर्ममलरूप कीच का नाश भया है और सुखरूप जल जा विषै है ।

जिन मनुष्यों के अंडकोष या लिंग विकारी हैं वे समाधिमरण के योग्य नहीं होते हैं अर्थात् लोक में दुगुञ्छा के भय से निर्ग्रन्थ नहीं होते, कोपीन ग्रहण करके साधुपद की भावना करने के योग्य होते हैं ।

प्रवचनसार चारित्राधिकार में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो ।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ॥

[महावीरजी से प्रकाशित प्रवचनसार पृ० ५३८]

टीका—न भवति सल्लेखनार्हः लोक दुगुञ्छाभयेन निर्ग्रन्थरूपयोग्यो न भवति । कोपीनग्रहणेन तु भावना-भवतीत्यभिप्रायः । [गाथा २२४ की टीका]

इसका अभिप्राय ऊपर लिखा जा चुका है ।

—जै. ग. 25-2-69/VIII/ शास्त्र सभा रेवाड़ी

दन्त मंजन न करने पर भी मुनि के दाँतों में जीवोत्पत्ति नहीं होती

शंका—मुनियों का एक मूलगुण दंतमंजन न करना है। जब वे दाँतों से चबाकर खाते हैं तो बिना मंजन आदि किये दांत साफ तो रह नहीं सकते, तब उसमें जीवोत्पत्ति हो जावेगी। फिर दंतमंजन न करना कैसे ठीक हो सकता है ?

समाधान—भोजन के पश्चात् कुरलों के द्वारा दाँतों व मुख की शुद्धि हो जाती है। अन्न आदि एक कण भी नहीं रहता है। मुनि सात्त्विक शुद्ध ऊनोदर भोजन करते हैं अतः उनके दाँतों में कोई रोग उत्पन्न नहीं होता जिससे कि जीवोत्पत्ति की सम्भावना हो। शरीर-संस्कार के कारण दाँतों को चमकाने के लिये मंजन किया जाता है। मुनियों के लिये शरीर-संस्कार वर्जित है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ सूत्र ७ में 'स्वशरीर-संस्कारत्यागः' के द्वारा कहा गया है।

आज से ५०-६० वर्ष पूर्व अधिकतर मनुष्य दंतमंजन नहीं करते थे, क्योंकि भोजन सात्त्विक था और मात्र दो बार घर पर ही अल्प भोजन करते थे। उनके दाँतों में कभी जीवोत्पत्ति नहीं होती थी और न मुख से दुर्गंध आती थी। अब भी जो इस नियम का पालन करते हैं उनको दंतमंजन की आवश्यकता नहीं होती है।

—जै. ग. 10-12-70/VI/ र. ला. जैन, मेरठ

केशलोंच में राख का उपयोग

शंका—मुनि केशलोंच करते समय राखड़ लगाते हैं। इसमें उद्दिष्ट दोष (मुनि के लिये राखड़ तैयार करने का दोष) लगता है या नहीं ? नहीं लगता तो क्यों ?

समाधान—औद्देशिक दोष आहार संबंधी होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मूलाचार में कहा है—

> देवदपासंडट्ठं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं।
> कदमण्णसमुद्देसं चदुव्विहं वा समासेण ॥६।६॥ (मूलाचार)

अर्थ—देवताओं के लिये, पाखंडी साधुओं के लिये, दीनजनों के लिये जो आहार तैयार किया जाता है उसे औद्देशिकआहार कहते हैं। उसके चार भेद हैं।

> सामान्यांश्च जनान्कांश्चित्तथा पाखंडिनोऽखिलान्।
> श्रमणांश्च परिव्राजकादीन्निर्ग्रंथ संयतान् ॥
> उद्दिश्य यत्कृतं चान्नमौद्देशिकं चतुर्विधं।
> तत्सर्वं मुनिभिस्त्याज्यं पूर्वसावद्यदर्शनात् ॥

सामान्य मनुष्यों के उद्देश्य से, पाखंडियों के उद्देश्य से, परिव्राजक आदि श्रमणों के उद्देश्य कर और निर्ग्रंथ संयतों के उद्देश्य कर जो अन्नरूप आहार बनाया जाता है चारप्रकार का औद्देशिकदोष है। मुनियों को यह सब छोड़ने योग्य है, क्योंकि इनमें सावद्य देखा जाता है।

केशलोंच करते समय हाथ की सचिक्कणता को दूर करने के लिए राख का प्रयोग किया जाता है। यह राख प्रायः जंगल आदि में उपलब्ध होती है। यदि श्रावक भी दे देवे तो भी उद्देशिक दोष नहीं लगता है, क्योंकि राखड़ अन्न नहीं है।

—जै. ग. 21-8-69/VII/ ब्र. हीरालाल

व्रत भंग कदापि उपादेय नहीं है

शंका—रत्नकरण्ड श्रावकाचार पृ० ३९५ के प्रसंग से कोई नियमादि का भंग समाधिमरण के अवसर में या अन्य प्रकार आकस्मिक मृत्यु की सम्भावना आदि के किसी अवसर में अपवादस्वरूप जीवन रक्षा के लिये और अन्य किसी कारण से करना और पीछे प्रायश्चित्त लेना ऐसा किन्हीं भी परिस्थितियों में उपादेय है या नहीं? यदि है तो किस प्रकार ?

समाधान—व्रत का भंग करना किसी भी अवस्था में उपादेय नहीं है। अपवाद का कोई नियम नहीं होता है। समाधिमरण के समय निर्यापकाचार्य जो कुछ भी उचित समझते हैं वह क्षपक के परिणामों को सुधारने के लिये परिस्थिति अनुसार करते हैं। जीवन-रक्षा के लिये व्रत भंग करना तो महान् पाप है। समाधिमरण की विशेष जानकारी के लिये भगवती आराधनासार का अध्ययन करना चाहिये।

—जै. ग. 10-8-72/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

महाव्रत 'प्रमाद' नहीं है, किन्तु कषायों की निवृत्तिरूप है

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित द्रव्यसंग्रह पृ० ३८ पर प्रमत्तसंयत की व्याख्या करते हुए अहिंसादि शुभोपयोगरूप महाव्रतों को प्रमाद कहा है। क्या यह ठीक है ?

समाधान—गोम्मटसार जीवकांड में प्रमत्तसंयत का कथन करते हुए प्रमाद के निम्न १५ भेद बतलाये हैं—

विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस ॥ ३४ ॥

अर्थ—चार विकथा (स्त्री कथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपाल कथा) चारकषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र) एक निद्रा और एक स्नेह इसप्रकार ४+४+५+१+१ कुल मिलाकर प्रमाद के १५ भेद हैं।

अथवा विकथा के भेद २५ (राजकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा, धनकथा, वैरकथा, परखण्डनकथा, देशकथा, कपटकथा, गुणबन्धकथा, देवीकथा, निष्ठुरकथा, शून्यकथा, कन्दर्पकथा, अनुचितकथा, भंडकथा, मूर्खकथा, आत्मप्रशंसाकथा, परिवादकथा, ग्लानिकथा, परपीड़ाकथा, कलहकथा, परिग्रहकथा, साधारणकथा, संगीतकथा), कषाय २५ (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरणक्रोध मान, माया, लोभ, संज्वलनक्रोध, मान, माया, लोभ ये १६ कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, पुरुषवेद ये नवनोकषाय कुल २५ कषाय), पाँचइन्द्रिय और मन ये छह, निद्रा ५ (प्रचला, निद्रा, प्रचला-प्रचला, निद्रा-निद्रा, स्त्यानगृद्धि), प्रणय २ (मोह, स्नेह) इसप्रकार २५×२५×६×५×२ को परस्पर गुणा करने से ३७५०० प्रमाद के भेद हैं।

श्री वीरसेनाचार्य ने प्रमाद का लक्षण निम्नप्रकार किया है—

"को पमादो णाम ? चदुसंजलणणवणोकसायाणं तिव्वोदओ।" (धवल पु० ७ पृ० ११)

चारसंज्वलनकषाय और नवनोकषाय, इन तेरह के तीव्रउदय का नाम प्रमाद है।

प्रमाद के इस लक्षण से यह सिद्ध हो जाता है कि महाव्रत प्रमाद नहीं है, क्योंकि वह कषाय के तीव्रउदयरूप नहीं है, किन्तु कषाय की निवृत्तिरूप है। इसीलिये प्रमाद के १५ भेदों अथवा ३७५०० उत्तर भेदों में महाव्रत का उल्लेख नहीं किया गया है।

प्रमाद बंध का कारण है। जैसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है—

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥"

महाव्रत मोक्ष के कारण हैं। जैसा कि श्री शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में कहा है—

महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि ॥

अर्थ—प्रथम तो ये महाव्रत महत्ता के कारण हैं, इसकारण गुणी पुरुषों ने आश्रय किया है अर्थात् धारण करते हैं। दूसरे ये स्वयं महान् हैं इस कारण देवताओं ने भी इन्हें नमस्कार किया है। तीसरे महान् अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान के कारण हैं, इस कारण ही सत्पुरुषों ने इनको महाव्रत माना है।

आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥

अर्थ—इन पाँच महाव्रतों को महापुरुषों ने आचरण किया है तथा महान् पदार्थ जो मोक्ष उसको साधते हैं तथा स्वयं भी बड़े हैं इसकारण इनका महाव्रत ऐसा नाम कहा गया है।

इन आर्षवाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाव्रत प्रमाद नहीं है। जिनको दिगम्बराचार्य के वाक्यों पर श्रद्धा नहीं है वे ही आर्षग्रन्थ विरुद्ध महाव्रत को प्रमाद लिखने व कहने का साहस कर सकते हैं।

—जै. ग. 13-8-70/IX/.................

सभी कर्मभूमिज मनुष्य महाव्रत धारण नहीं कर सकते

शंका—क्या कर्मभूमिज सभी मानव अणुव्रत, महाव्रत धारण करने के अधिकारी हैं?

समाधान—आर्यखण्ड में कर्मभूमिज सभी मनुष्य अणुव्रत धारण कर सकते हैं, किन्तु महाव्रत धारण करने के अधिकारी निम्न पुरुष ही हैं।

शान्तस्तपः क्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु।
कल्याणाङ्गो नरो योग्यो लिंगस्य ग्रहणे मतः ॥५१॥
कुलजातिवयोदेहकृत्यबुद्धिक्रुधादयः।
नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्येलिङ्गयोग्यता ॥५२॥
(अमितगतियोगसारप्राभृत चारित्राधिकार)

जो पुरुष शान्त है, तपश्चरण में समर्थ है, दोषरहित है, तीन वर्णों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] में से किसी एक वर्ण का धारक है और कल्याणरूप सुन्दर शरीर के अंगों से युक्त है वह जिनलिंग के ग्रहण में अर्थात् महाव्रत धारण करने के योग्य माना गया है। कुकुल, कुजाति, कुवय, कुदेह, कुकृत्य, कुबुद्धि और कुक्रोधादिक ये मनुष्य के जिनलिंग ग्रहण में बाधक हैं। इनसे भिन्न सुकुलादिक पुरुष जिनलिंग ग्रहण की योग्यता को लिए हुए हैं।

—जै. ग. 19-11-70/VII/ ब्रो. कु. बड़जात्या

उपवास तप एवं चार भुक्ति, षट् भुक्ति, आदि का अर्थ

शंका—मुनि के २८ मूलगुणों में 'एक भक्त' यह एक मूलगुण है। फिर भी शास्त्र में तीर्थंकरादि ने चार-भक्त त्याग किया अर्थात् एक उपवास किया, षष्ठभक्त त्याग किया अर्थात् बेला किया, अष्टभक्त त्याग किया अर्थात् तेला किया इत्यादि उल्लेख आता है अर्थात् एक दिन में दो भोजन समझकर चार भोजन त्याग को एक उपवास कहा गया है। प्रश्न यह है कि मुनियों के लिये एक दिन में एक ही भोजन त्याग हो सकता है कारण दो भोजन में से एक भोजन तो पहले से ही त्याग हो चुका है, किन्तु मुनियों के लिये चार भोजन त्याग को एक उपवास क्यों कहा गया है ?

समाधान—कर्मभूमिजमनुष्यों का भोजन प्रायः एक दिन में दो बार होता है। एक उपवास में चारभुक्ति का त्याग होता है। धारणा के दिन एकभुक्ति का त्याग, उपवास के दिन दोभुक्ति का त्याग और पारणा के दिन एकभुक्ति का त्याग इसप्रकार चारभुक्ति त्याग से एक उपवास होता है। छहभुक्ति त्याग से बेला अर्थात् दो उपवास होते हैं। इसमें भी धारणा के दिन एकभुक्ति का त्याग, प्रथम उपवास के दिन दोभुक्ति का त्याग, दूसरे उपवास के दिन दो भुक्ति का त्याग, पारणा के दिन एकभुक्ति का त्याग। इसप्रकार छहभुक्ति के त्याग से दो उपवास होते हैं। आठभुक्ति त्याग से तीन उपवास होते हैं, इत्यादि।

गृहस्थ तो एकउपवास, दोउपवास, तीनउपवास आदि की धारणा करते समय क्रमशः चारभुक्ति, छहभुक्ति, आठभुक्ति आदि का त्याग करता है। मुनि के इनमें से तीन, चार, पाँचभुक्ति का त्याग तो मुनि व्रत ग्रहण करते समय ही हो गया था और शेष एक, दो, तीन भुक्ति का त्याग एक उपवास, दो उपवास, तीन उपवास करते समय हो जाता है। इसप्रकार मुनि के भी एक उपवास, दो उपवास, तीन उपवास मे क्रमशः चारभुक्ति का त्याग, पाँच-भुक्ति का त्याग, छहभुक्ति का त्याग होता है।

—जै. ग. 21-8-69/VII/ब्र. हीरालाल

उग्रतप महातप से बिना आहार के भी शरीर का टिकाव बन जाता है

शंका—उग्रतप, महातप आदि ऋद्धिधारी मुनि जब महीनों तक का उपवास करते हैं तो क्या वे बाह्य उपकरणों के द्वारा आहार ग्रहण करके अपना शरीर पुष्ट बनाए रखते हैं ? यदि वे आहार ग्रहण नहीं करते तो बिना आहार के उनका शरीर किस प्रकार पुष्ट रहता है ?

समाधान—जिन कोटिपूर्व आयुवाले मनुष्यों को ८ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान हो जाता है उनका शरीर बिना कवलाआहार के व नली आदि से प्राण वायु के ग्रहण बिना ८ वर्ष कम एककोटिपूर्व तक पुष्ट बना रहता है, क्योंकि उनके आहारवर्गणाओं का स्वयमेव ग्रहण होता रहता है जिससे उनका शरीर पुष्ट बना रहता है। उसीप्रकार उग्रतप, महातप आदि ऋद्धिधारी मुनियों के भी आहारवर्गणाओं के ग्रहण से शरीर पुष्ट बना रहता है। बाह्यनली आदि के द्वारा प्राणवायु पहुंचाने की आवश्यकता नहीं रहती और न ही वे अन्नादिक कोई पदार्थ ग्रहण करते हैं।

—जै. ग. 5-1-78/VIII/ शान्तिलाल

वीतराग छद्मस्थों के प्रज्ञा परिषह उपचार से है

शंका—अल्पज्ञान तथा तीव्रकषाय इन दोनों कारणों से ज्ञानमद होता है ऐसा आगम में कहा है। तीव्र-कषायोदय को कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कषाय के सर्वथा अभाव में वीतरागछद्मस्थ के भी प्रज्ञापरीषह का कथन पाया जाता है।

समाधान—यद्यपि कषाय के मंदतर उदय व अभाव में प्रज्ञापरीषह कार्यरूप नहीं होती है, किन्तु ज्ञानावरणकर्म के सद्भाव की अपेक्षा उपचार से वहाँ पर प्रज्ञापरीषह का कथन किया है। अ० ९ सूत्र १० व ११ की सर्वार्थसिद्धि टीका में कहा भी है—'जिसप्रकार सर्वार्थसिद्धि के देव के सातवींपृथ्वी का सामर्थ्य निर्देश किया जाता है उसीप्रकार ज्ञानावरणकर्म की सामर्थ्य का निर्देश करने के लिये शक्ति मात्र की विवक्षा करके परीषह कही गई है। ज्ञानमद का अभाव होने पर भी द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा यहाँ परीषह का उपचार किया गया है।

—जैं. ग. 26-2-70/IX/ रो. ला. मित्तल

परीषह जय के अभाव में भी कदाचित् मुनित्व रहता है

शंका—परीषह जय मुनि के २८ मूलगुणों में नहीं है। कहा भी है—"१२ तप और २२ परीषह ये साधु के उत्तर गुण हैं।" मूलाचार एवं नयचक्र गा० ३३६ पृ० १६८-६९; अतः किसी काल में मुनि कोई परीषह न भी जीत सके तब भी मुनित्व का नाश होता है या नहीं?

समाधान—मुनित्व का नाश नहीं होता।

—पत्राचार 4-7-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

परीषह

शंका—परीषह बाईस से ज्यादा भी हो सकती हैं या नहीं? इसके अधिकारी श्रावक तथा मुनि दोनों हो सकते हैं या नहीं? 'वध परीषह' में वर्णित 'वध' उपसर्गजय सिद्ध होता है, परीषहजय नहीं। अगर इसे ही परीषह माना जाय तो उपसर्ग किसे कहेंगे? नग्नत्व जब मूलगुणों में आ गया तो फिर इसे परीषह में रखने से क्या फायदा? आर्यिका इस परीषह का जय कैसे करेगी? अतः इसकी जगह 'लज्जा परीषह' जैसा व्यापक नाम रख दिया जाता तो क्या आपत्ति थी? इससे परिचर्या, वैयावृत्य सेवा आदि में भी प्रेरणा मिलती। 'याचना' को 'अयाचना' और 'अरति' को 'रति' परीषह कहा जाय तो क्या हानि है? इनके लक्षणों से भी यही प्रकट है। 'सत्कार पुरस्कार' जैसे दो बड़े नाम रखने की क्या जरूरत थी, आदर जैसा कोई एक ही छोटा और व्यापक नाम रखा जा सकता था और वैसे भी इसका ग्रहण 'अलाभ परीषह' के व्यापक अर्थ में मजे से हो सकता है, फिर इसे अलग से देने में क्या प्रयोजन है? इस विषय में एक बात और है, लक्षण से इसका नाम 'असत्कार-पुरस्कार' प्रकट होता है। क्या 'प्रज्ञा' और 'अज्ञान' परीषह दोनों में से किसी एक से काम नहीं चल सकता था? आर्यिकादि के लिये 'स्त्री परीषह' क्या 'पुरुष परीषह' के नाम से होगी? ब्रह्मचर्यव्रत की तरह इसका 'काम परीषह' या 'रतिपरीषह' जैसा कोई व्यापक नाम क्यों न रखा? 'अरति परीषह' के व्यापक अर्थ में भी यह परीषह गर्भित हो सकती थी। शीत (सर्दी) उष्ण (गर्मी) की तरह वर्षापरीषह क्यों न रखी? इस विषय में और भी अनेक बातें कही जा सकती हैं पर कथनवृद्धि से छोड़ी जाती हैं। जितनी आपत्तियाँ उठाई गई हैं उन्हें प्रमाणपूर्वक स्पष्टतया निरसन करेंगे।

समाधान—परीषह बाईस होती हैं विशेष के लिए श्री रा० वा० ९।९ पर अन्तिम दो तीन वार्तिक व टीका देखनी चाहिए। उपसर्ग भी वध में गर्भित है अथवा बाइसों परीषह उपसर्ग हैं। अथवा उपसर्ग पूर्व वैर के कारण होता है और वधपरीषह धर्म द्वेष अथवा घृणा के कारण होता है।

नाग्न्यपरीषह जय—जातरूपधारणं नाग्न्यं (त० रा० वा०) अर्थात् निर्विकार जातरूप का धारण करना मोक्ष का कारण है। (टीका) समस्त परिग्रह का त्याग करने पर भी मन में विकार उत्पन्न न होने देना इसको

नाग्न्यपरीषहजय कहते हैं। जिसको मन में विकार उत्पन्न होने की सम्भावना है या भय है वह परिग्रह न होते हुए भी पिच्छी आदि से अपने अङ्ग को ढकने की चेष्टा करेगा जिससे विकार यदि आ जावे तो प्रकट न हो। उसके बालकवत् निर्विकार 'यथाजात रूप' नहीं होता है। वह नाग्न्यपरीषह को भी नहीं जीत सकता है। इस परीषह का नाम 'लज्जा परीषह' नहीं हो सकता क्योंकि विकार व लज्जा में अन्तर है।

याचनापरीषहजय—संकेतादि करने पर आहारादि की प्राप्ति हो सकने पर भी जो आहारादि के लिए संकेत नहीं करते, भले ही उपवासादि के कारण क्षुधा सता रही हो। इसप्रकार याचना का अवसर आने पर भी जो याचना नहीं करते अर्थात् जिनके मन में याचना का भाव भी नहीं आता, उनके याचनापरीषह जय होता है। इसको अयाचनापरीषहजय नहीं कह सकते।

अरतिपरीषहजय—संयम की रक्षा करने के लिए उपवास, विहारादि करने पड़ते हैं जिनसे खेद उत्पन्न होता है। खेद उत्पन्न होने पर भी अथवा अन्य कारणों के उपस्थित होने पर भी जो संयम में अरति नहीं करते उनके 'अरतिपरीषहजय' होती है। संयम में अरति का भाव न आना इसको रतिपरीषहजय कैसे कह सकते हैं?

सत्कारपुरस्कारपरीषहजय—सत्कार व पुरस्कार के अवसर प्राप्त होने पर सत्कार पुरस्कार के न होने पर भी मन में विकार का न आना सत्कारपुरस्कारपरीषहजय है। यदि इस परीषहजय का यह अर्थ किया जाता कि अनादर और निन्दा होने पर भी मन में विकार न आवे तो इस परीषह का नाम 'असत्कार-पुरस्कार' हो सकता था।

प्रज्ञा और अज्ञान—इन दोनों परीषहों का किसी एक परीषह से काम नहीं चल सकता है। 'ज्ञान का मद' और 'अज्ञान का खेद' इन दोनों में अन्तर है। अतः इन दोनों को एक नाम से कहना कठिन है।

प्रमत्त आदिक संयतों के कषाय और दोषों के क्षीण न होने से सब परीषह सम्भव हैं। (स० सि० ९।१२) आर्यिका के प्रमत्तादि गुणस्थान सम्भव नहीं है। अतः उनकी परीषह का यहाँ पर कथन नहीं है।

[उक्त समाधान अपनी तुच्छबुद्धि के आधार पर किया है। यदि कहीं पर भूल रह गई हो या कोई विशेष बात रह गई हो तो ज्ञानीजन लिखने की कृपा करें।]

—जै. सं. 12-7-56/VI/ र. ला. जैन, केकड़ी

गुप्ति

शंका—संवररूपी गुप्ति कौनसे गुणस्थानक से होती है? या किस गुणस्थान में होती है?

समाधान—मुनि के तेरह प्रकार का चारित्र कहा है—पाँच महाव्रत, पाँचसमिति और तीनगुप्ति। गुप्ति संवररूप है। (मो० शा० अ० ९/सू० २) अतः छठे गुणस्थान से संवररूपी गुप्ति होती है। साम्परायिक आस्रव दसवें गुणस्थान तक होता है ग्यारहवें गुणस्थान से साम्परायिकआस्रव का संवर हो जाता है, किन्तु ईर्यापथआस्रव होने लगता है जो तेरहवेंगुणस्थान तक होता है। चौदहवें में पूर्ण संवर हो जाता है, क्योंकि वहाँ पर योग का सर्वथा अभाव है अतः पूर्ण गुप्ति चौदहवेंगुणस्थान में होती है।

—जै. सं. 10-1-57/VI/ दि. जै. स. एत्मादपुर

सत्यवचन, भाषासमिति एवं वचनगुप्ति में अन्तर

शंका—सत्यमहाव्रत, भाषासमिति, वचनगुप्ति इन तीनों में क्या अन्तर है?

समाधान—सत्यमहाव्रत में असदभिधान का अर्थात् अप्रशस्तवचनों का त्याग अर्थात् निवृत्ति हो गई है तथापि सत्य वचन में प्रवृत्ति देखी जाती है। कहा भी है—

"अनृताऽदत्तादानपरित्यागे सत्यवचन-दत्तादान क्रियाप्रतीतेः।" (राजवार्तिक ७।१।१३)

अर्थ—महाव्रत में अनृतवचन तथा अदत्तादान का परित्याग होने पर भी सत्यवचन तथा दत्तादानक्रिया में प्रवृत्ति देखी जाती है।

"परिमितकालविषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्तिः। तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्ति समितिः।" रा. वा. ९।५।९

परिमितकाल के लिये सर्वयोग का निग्रह करना गुप्ति है। गुप्ति पालन करने में असमर्थ होने पर आत्मकल्याण में प्रवृत्ति करना समिति है।

"ननु सत्यवचनं भाषासमितावन्तर्गर्भितं वर्तत एव किमर्थमत्र तद्ग्रहणम्? साधूक्तं भवता, भाषासमितौ प्रवर्तमानो यतिः साधुषु असाधुषु च भाषाव्यापारं विदधन् हितं मितञ्च ब्रूयात, अन्यथा असाधुषु अहितभाषणे च रागानर्थदण्डदोषो भवेत्, तदा तस्य का भाषा समितिः न कापीत्यर्थः। सत्यवचने त्वयं विशेषः सन्तः प्रव्रज्यां प्राप्तास्तद्भक्ताः वा ये वर्तन्ते तेषु यद्वचनं साधु तत् सत्यम्, तथा च ज्ञानचारित्रादिशिक्षणे प्रचुरमपि अमितमपि वचनं वक्तव्यम्। इतीदृशो भाषासमिति सत्यवचनयोर्विशेषो वर्तते।" तत्त्वार्थवृत्ति ९।६।

सत्यवचन तो भाषासमिति में गर्भित हो जाता है इन दोनों में क्या भेद है? भाषासमिति वाला मुनि—साधु और असाधु दोनोंप्रकार के पुरुषों में हित और परिमित वचनों का प्रयोग करेगा। यदि वह असाधु पुरुषों में अहित और अमित भाषण करेगा तो राग और अनर्थदण्ड दोष हो जाने के कारण भाषासमिति नहीं बनेगी। "सत्य बोलने वाला" साधुओं में और उनके भक्तों में सत्यवचन का प्रयोग करेगा, किन्तु ज्ञान और चारित्र आदि के शिक्षणकालमें प्रचुर अमित वचनों का भी प्रयोग कर सकता है।

भाषासमिति वाला असाधु पुरुषों (लौकिकपुरुषों) में भी वचन का प्रयोग कर सकता है किन्तु उसके वचन मित ही होंगे। सत्यवचन वाला (सत्य महाव्रतधारी) साधु पुरुषों में ही वचन का प्रयोग करेगा, किन्तु उसके वचन अमित भी हो सकते हैं। यह भाषासमिति और सत्यवचन में अन्तर है। वचनगुप्ति में तो वचनयोग का निग्रह है अतः साधु या असाधु पुरुषों से वचन का प्रयोग नहीं कर सकता है।

"ससमिदि महव्वयाणुव्वयाइं संजमो। समईहि विणा महव्वयाणुव्वया विरई।" [धवल पु. १४ पृ. १२]

अर्थ—समितियों के साथ महाव्रत और अणुव्रत संयम कहलाते हैं और समितियों के बिना महाव्रत और अणुव्रत विरति कहलाते हैं।

—जै. ग. 25-3-71/VII/ र. ला. जैन

मुनिराज समुद्रवत् निस्तरंग तथा प्रदीपवत् निष्कम्प होते हैं

शंका—उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक ३ में बताया कि—'धर्मरुचि मुनिराज समुद्र के समान निस्तरंग और प्रदीप के समान निष्कंप थे। पर न तो समुद्र निस्तरंग है और न दीपक निष्कम्प। ऐसी हालत में इस उलटे उदाहरण का क्या तात्पर्य है।

समाधान—समुद्र व प्रदीप निस्तरंग व निष्कम्प हैं, किन्तु वायु (पवन) का निमित्त मिलने पर समुद्र तरंग सहित व प्रदीप सकम्प हो जाता है और निमित्त दूर हो जाने पर उपरि (बाह्य में) निस्तरंग व निष्कम्प हो जाते हैं। किन्तु नीचे (अन्तरंग में) सतरंग, सकम्प रहते हैं इसी प्रकार धर्मरुचि मुनिराज ने द्रव्य प्रत्याख्यान के द्वारा निमित्तों को दूर कर दिया था इसलिये मुनिराज बाह्य में निस्तरंग व निष्कम्प थे, किन्तु अंतरंग में कषायोदय के कारण नानाप्रकार के विकल्पों से सतरंग व सकम्प थे। इसप्रकार उक्त उदाहरण ठीक है।

—जै. सं. 6-3-58/VI/ र. ला. कटारिया, केकड़ी

तीनों योगों की शुद्धि का उपाय

शंका—त्रियोग की शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

समाधान—कपट अर्थात् मायाचारी के त्याग से और आर्जव धर्मपालन से मन, वचन, काय इन तीनों योगों की शुद्धि हो सकती है। जो मन में हो वही वचन से कहना चाहिये और वही काय से करना चाहिये। पाँचों पापों का त्यागकर मुनिव्रत धारण करने से अथवा विषय और कषाय का त्याग करने से मन, वचन, कायरूप योगों की शुद्धि होती है। धर्मध्यान व शुक्लध्यान के द्वारा ये तीनों योग शुद्ध होते हैं।

—जै. ग. 12-8-71/VII/ रो. ला. मित्तल

प्रतिक्रमण का स्वरूप

शंका—प्रतिक्रमण का क्या स्वरूप है ?

समाधान—गुरुओं के सामने आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेद युक्त 'फिर से कभी ऐसा न करूंगा' यह कहकर अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमणनाम का प्रायश्चित्त है। षट्खंडागम पु० १३, पृ० ६०।

—जै. सं. 27-3-58/VI/ कपूरीदेवी

नग्नत्व : मूलगुण

शंका—मुनि के २८ मूलगुणों में—जब पंच महाव्रतों में परिग्रह परित्याग महाव्रत है तो फिर—नग्नत्व नाम का पृथक् मूलगुण क्यों माना जाता है ? नग्नत्व का ग्रहण परिग्रहत्याग महाव्रत में क्यों नहीं होता ? अट्ठाईस मूलगुणों पर ऐतिहासिक क्रम से प्रकाश डालिए और साथ में यह भी बताइए कि सम्यक्त्व को इनमें क्यों ग्रहण नहीं किया ?

समाधान—'परिग्रहत्याग महाव्रत' के अन्दर नग्नत्व गर्भित है, किन्तु नग्नत्व को पृथक् मूलगुण कहने का अभिप्राय लज्जा को जीतने का है। परिग्रह का सर्वथा त्याग करने पर भी यदि कोई मुनि खड़े होते समय या चलते समय अपने अंग को छिपाने के लिए पिच्छी को आगे कर लेता है तो उसके नग्नत्व मूलगुण में दूषण आ जाता है। २८ मूलगुण प्रवाहरूप से अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे क्योंकि जब से मोक्षमार्ग है तभी से २८ मूलगुण हैं और जब तक मोक्षमार्ग रहेगा उस समय तक २८ मूलगुण रहेंगे। २८ मूलगुण का पालन करना चारित्र है और चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है अतः २८ मूलगुणों में सम्यग्दर्शन ग्रहण नहीं किया है।

—जै. सं. 28-6-56/VI/ र. ला. कटारिया, केकड़ी

मुनि एवं प्रोषधप्रतिमा

शंका—गृहस्थावस्था में ग्रहण की हुई प्रोषधप्रतिमा का पालन मुनि के लिए आवश्यक है या नहीं ? अगर नहीं तो क्यों ?

समाधान—गृहस्थावस्था में ग्रहण की हुई प्रोषधप्रतिमा का पालन मुनि के लिए आवश्यक नहीं है। गृहस्थ के प्रतिदिन आरम्भी व उद्योगी हिंसा होती है। वह इन हिंसा का त्यागी नहीं है। गृहस्थ श्रावक के निरन्तर मुनिव्रत धारण करने की भावना रहती है। मुनि के सर्वप्रकार की हिंसा का त्याग होता है; वे दिन में एक बार भोजन करते हैं, उपवास भी करते हैं। इस मुनिव्रत की शिक्षा के लिए प्रोषधोपवास का व्रत पाला जाता है। इसीकारण प्रोषधोपवास को शिक्षाव्रत कहा है। जब स्वयं मुनि हो गया फिर प्रोषधप्रतिमा की क्या आवश्यकता रही। मुनि के तो निरन्तर ही प्रोषध है।

—जै. सं. 28-6-56/VI/ र. ला. कटारिया, केकड़ी

एषणासमिति व दस धर्म

शंका—मुनराज जो आहार लेते हैं वह, तथा एषणासमिति पापरूप है या पुण्यरूप, क्योंकि इच्छा से ही तो आहार लेते होंगे, वह इच्छा पापरूप है या पुण्यरूप? मिश्रधारा की बात नहीं, वो तो है ही। भावलिंगी मुनि को और मुनिराज की क्रिया शुभ, अशुभ दोनों ही होती होंगी, वह कौनसी और क्या है? तथा दस धर्मरूप आत्मा का जो भाव है, वह पुण्यरूप है या धर्मरूप?

समाधान—एषणासमिति न पापरूप है न पुण्यरूप, किन्तु संवररूप है। आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥ (मो० शास्त्र ९)

अर्थ—आस्रव का रुकना सो संवर है। वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के द्वारा होता है।

वद समिदगुत्तिओ धम्माणुपेहा परीसह जओय।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा, भावसंवर बिसेसा ॥३५॥ द्र. सं.

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा अनेक प्रकार का चारित्र ते सब भाव संवर के विशेष (भेद) जानने चाहिए।

कर्म के उदय की बरजोरी से मुनि महाराज को भोजन की इच्छा होती है, किन्तु मुनि महाराज संयम की रक्षा के लिए आहार लेते हैं। पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है—लें तप बढ़ावत हेत, नहीं तन पोषतें तज रसन को ॥ ६।३ ॥ मुनि महाराज का आहार भी संवर का कारण है।

मुनिराज की क्रियाएँ अशुभ नहीं होती हैं, क्योंकि उन्होने सब पापों का, आरम्भ और परिग्रह का पूर्णरूप से त्याग कर दिया है। यदि कभी तीव्र कर्म के उदय से आर्त्तरूप अशुभ परिणाम प्रमत्तअवस्था में हो जावें तो उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है।

उत्तमक्षमा आदि दसधर्म तो जीव का स्वभाव है। जो वस्तु का स्वभाव होता है, वह धर्म होता है। कहा भी है—वत्थुसहावो धम्मो अतः उत्तम क्षमादिरूप आत्मा के परिणाम धर्मरूप हैं।

—जै. सं. 31-5-56/VI/ क. दे. गया

मुनि के पांच मूलगुण

शंका—सर्वार्थसिद्धि ९।४९ की टीका में "पंचानां मूलगुणानां" शब्द से कौनसे पांच मूलगुणों से प्रयोजन है?

समाधान—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह; इन पाँच पापों के त्यागरूप जो पाँचमहाव्रत हैं वे ही यहाँ पर पाँच मूलगुण कहे गये हैं।

—पत्राचार 77-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

उद्दिष्ट आहार के भेद

शंका—मुनियों के आहार में श्रावक के आश्रित १६ उद्गम दोषों में उद्दिष्ट का क्या अर्थ है ?

समाधान—मूलाचार पिंड शुद्ध्यधिकार में औद्देशिक दोष का निम्नप्रकार कथन किया है—

जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ॥ ७ ॥

अर्थ—औद्देशिक के चार भेद हैं। (१) यावानुद्देश (२) पाखंडी समुद्देश (३) श्रमणादेश (४) निर्ग्रन्थ-समादेश। सामान्यों के उद्देश्य से, पाखंडियों के उद्देश्य से, श्रमणों के उद्देश्य से और निर्ग्रंथों के उद्देश्य कर जो आहार बनाना वह चार प्रकार का औद्देशिक दोष होता है। उद्देश से बनवाये आहार को औद्देशिक आहार कहना चाहिए। विशेष इसप्रकार है—१. जो कोई आवेंगे उन सबको मैं भोजन दूंगा ऐसा उद्देश-संकल्प मन में करके जो भोजन बनाया जाता है उसको यावानुद्देश कहते हैं। २. जो कोई पाखंडी आवेंगे उन सबको आहार देऊंगा ऐसे उद्देश से बनाये गये आहार को पाखंडी समुद्देश कहते हैं। ३. जो कोई श्रमण आजीवक तापस, रक्तपट, परिव्राजक और छात्रशिष्य आवेंगे उन सबको मैं आहार देऊंगा, ऐसे संकल्प से बनाये हुए आहार को श्रमणादेश कहते हैं। ४. जो कोई निर्ग्रन्थ मुनि आवेंगे उनको मैं आहार देऊंगा। ऐसे उद्देश से आहार बनाया जाता है उसको निर्ग्रन्थ समादेश कहते हैं। [मूलाचार पृ० २४३]

जो आहार अपने लिये तो न बनाया जावे मात्र उपर्युक्त चार प्रकार के उद्देश से बनाया जावे वह उद्दिष्ट आहार है।

—जै. ग. 29-7-65/XI/ कैलाशचन्द

उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक) मुनि को आहार दे सकता है

शंका—क्या क्षुल्लक मुनि को आहार दे सकता है ? कैसे।

समाधान—क्षुल्लक के आहार के दो विधान हैं। (१) एक ही श्रावक के यहाँ भोजन करे। (२) नाना श्रावकों के घर से—थोड़ा-थोड़ा भोजन लाकर अन्तिम श्रावक के घर पर उस प्राप्त भोजन को ग्रहण करे। जो भोजन नाना श्रावकों के घर से वह (क्षुल्लक) लाया है, उसका स्वामी अब वह स्वयं है। अतः यदि उस अन्तिम श्रावक के घर पर मुनि आजाय तो वह क्षुल्लक अपने प्राप्त आहार में से मुनि को दे सकता है।

—पत्राचार 9-8-77/ / ज. ला. जैन, भीण्डर

महाव्रती आर्यिकाएं मुनि-स्तुत्य होती हैं

शंका—स्त्रियों के पाँचवां गुणस्थान ही होता है फिर उन्हें आगम में मुनियों के द्वारा स्तुत्य क्यों कहा गया है ?

समाधान—यद्यपि द्रव्य स्त्री के पाँचवां गुणस्थान ही होता है तथापि वह शील आदि गुणों के कारण वे मुनियों के द्वारा स्तुतियोग्य अर्थात् प्रशंसनीय होती हैं, जैसे सीता आदि। यहां स्तुतियोग्य से प्रशंसनीय लेना चाहिए।

—पत्राचार 15-4-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

(१) आर्यिका की नवधा भक्ति होनी चाहिए
(२) आर्यिका उत्तम पात्र हैं तथा ऐलक द्वारा भी वन्दनीय होती हैं

शंका—नवधाभक्ति में पू० आर्यिका माताजी को, ऐलक को प्रदक्षिणा, पाद-प्रक्षालन, पूजा आदि करने का विधान आता है क्या ?

समाधान—मूलाचार, आचारसार, मूलाचारप्रदीप आदि शास्त्रों में यह कथन आया है कि जो आचार मुनियों के लिये है वही आचार यथायोग्य आर्यिकाओं के लिये है।

> एसो अज्जाणंपि अ समाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
> सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥१८७॥ (मूलाचार अ. ४)
> लज्जाविनयवैराग्यसदाचाराविभूषिते।
> आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह ॥८९॥ (आचारसार अ. २)
> अयमेवसमाचारो यथाख्याततस्तपस्विनाम्।
> तथैवसंयतीनां च यथायोग्यं विचक्षणैः ॥ ४२ ॥ मूलाचार प्रदीप पृ० २९८

जिसप्रकार यह समाचारनीति मुनियों के लिये बतलाई है, उसीप्रकार लज्जा, विनय, वैराग्य, सदाचार आदि से सुशोभित होनेवाली आर्यिकाओं को भी इन्हीं समाचारनीतियों का पालन करना चाहिये।

मूलाचार गाथा १८९ में "तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजुत्ताओ" आर्यिकाओं को तप, विनय, संयम से युक्त कहा है। गाथा १९१ की टीका में "आर्याः संयतिकाः।" अर्थात् आर्या संयमी होती हैं। गाथा १९६ में "ते जगपुज्जं। अर्थात् आर्यिका जगत्पूज्य हैं।" ऐसा कहा गया है।

जहां पर मुनियों के चारित्र का कथन है वहीं पर आर्यिकाओं के चारित्र का कथन है। श्रावकाचार ग्रन्थों में आर्यिकाओं के आचार का कथन नहीं है, किन्तु क्षुल्लक आदि ग्यारहवीं प्रतिमा धारियों का कथन श्रावकाचार ग्रन्थों में है।

मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका चार प्रकार का संघ है। आर्यिका को श्राविका से पृथक् कहा गया है। आर्यिका को ग्यारहअङ्ग का ज्ञान हो सकता है और उपचार से महाव्रत हैं (प्रवचनसार पृ. ५३५) तथा आर्यिका दीक्षा दे सकती हैं। अतः आर्यिका की नवधा-भक्ति होनी चाहिये।

शंका—पू० आर्यिका माताजी उत्तम पात्र हैं या नहीं ?

समाधान—पू० आर्यिका माताजी के उपचार से महाव्रत हैं। मूलाचार गाथा १८९ में 'संयमेषु उपयोग-युक्तः अर्थात् आर्यिका संयम से युक्त हैं।' ऐसा कहा है। मूलाचार गाथा १९१ की टीका में श्री वसुनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य ने 'आर्याः संयतिकाः अर्थात् आर्यिका संयमी है।' ऐसा कहा है। संयमी उत्तमपात्र होते हैं अतः आर्यिका की गणना उत्तमपात्र में होनी चाहिए। वे श्राविका नहीं हैं, इसलिये वे मध्यम पात्र नहीं मानी जा सकती हैं।

शंका—यदि पू० माताजी को पू० मुनिराज के समान पूर्णरूप से नवधा भक्ति की जाय तो मुनिराज और आर्यिका में क्या भेद रह गया ?

समाधान—श्री सिद्ध भगवान की भक्ति पूजा के समान ही श्री अरहंत भगवान की पूजा भक्ति की जाती है और दोनों की परमात्मा संज्ञा भी है। क्या पूजनभक्ति की समानता के कारण श्री अरहंत भगवान श्री सिद्ध भगवान के समान हो जायेंगे? श्री अरहंत भगवान सकल परमात्मा हैं और चार अघातिया कर्मों से बंधे हुए होने के कारण सलेप हैं, किन्तु श्री सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं और कर्मों से सर्वथा निर्लेप हैं। कहा भी है—

"किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्।" (धवल पु० १ पृ० ४७)

अर्थ—सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा और देशभेद की अपेक्षा श्री अरहंत और सिद्ध इन दोनों परमेष्ठियों में भेद है।

यद्यपि पू० आर्यिका और पू० मुनिराज की नवधाभक्ति में भेद नहीं है, तथापि उन दोनों में वस्त्रसहित और वस्त्ररहितपने का इत्यादि अनेक भेद हैं।

शंका—क्या आर्यिका को मुनिराज के बराबर समान अधिकार हैं? यदि समानाधिकार हैं तो आपस में मुनियों के समान मुनि और आर्यिका वंदना प्रतिवंदना क्या सशास्त्र है? फिर पूर्ण रूप से मुनियों के समान नवधा भक्ति कैसे?

समाधान—आर्यिका और मुनिराज के अधिकार कथंचित् समान हैं कथंचित् असमान हैं। जिसप्रकार पुरुषों में उत्कृष्टव्रत मुनि के हैं उसीप्रकार स्त्रियों में उत्कृष्टव्रत आर्यिका के हैं। आगम में स्त्रियों के लिये नग्नता की आज्ञा नहीं है इसलिये आर्यिका को साटिका धारण करनी पड़ती है। मूलाचार में मुनिराज और आर्यिका माताजी दोनों को संयमी कहा है और दोनों का समाचार बतलाया है अतः दोनों की समानरूप से नवधाभक्ति होने में कोई बाधा नहीं है।

शंका—मुनियों को आर्यिका नमोस्तु करती हैं। आर्यिकाजी के प्रति ऐलक को क्या करना और कहना चाहिये?

समाधान—ऐलक को आर्यिका के लिए वन्दामि कहना चाहिये। क्षुल्लक, ऐलक के उपचार से भी महाव्रत नहीं है एक देशव्रत है, किन्तु आर्यिका के उपचार से महाव्रत हैं।

—जै. ग. 16-12-71/VII, IX/ आदिराज अण्णा, गोंदर

उपांगहीन को आर्यिका-दीक्षा

शंका—हरिवंशपुराण सर्ग ४९ में लिखा है कि यशोदा की लड़की जिसकी नाक कंस ने चपटी कर दी थी आर्यिका हुई, समाधिमरण करके स्वर्ग गई। ग्वाले की पुत्री और अंगहीन क्या आर्यिका हो सकती है?

समाधान—यशोदा उच्चकुल वाली थी। तभी तो श्री कृष्णजी का उसके यहाँ पालन-पोषण हुआ। ग्वाले शूद्र या नीचकुल वाले होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। श्री प्रवचनसार ग्रंथ के आधार से यह बतलाया गया है कि शूद्र को मुनिदीक्षा या आर्यिका की दीक्षा नहीं दी जा सकती है।

कंस ने नाक चपटी कर दी थी। नाक चपटी कर देने से अङ्गहीन नहीं होता। नाक अङ्ग नहीं है, किन्तु उपाङ्ग है। अतः नाक चपटी होना भी आर्यिका की दीक्षा में बाधक नहीं है।

प्रत्येक को समाधिमरण की भावना रखनी चाहिये।

—जै. ग. 12-12-63/IX/ प्रकाशचन्द

चारित्तं खलु धम्मो

शंका—'चारित्तं खलु धम्मो' से क्या अभिप्राय है।

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने "चारित्तं खलु धम्मो" इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि सम्यक्चारित्र ही वास्तव में धर्म है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, ये धर्म के दसलक्षण हैं। धर्म के इन दसलक्षणों से भी यही प्रतीत होता है कि धर्म वास्तव में चारित्रस्वरूप है। चारित्र के द्वारा ही धर्म की प्रभावना होती है। आज से ५०–६० वर्ष पूर्व जैनियों का आचरण व खानपीन बहुत उज्ज्वल था। कोई भी जैनधर्म का अनुयायी कारागृह में नहीं था। इसका मुख्य कारण यह था कि विद्वानों के तथा त्यागीगणों के उपदेशों में चारित्र की मुख्यता रहती थी। प्रतिदिन की शास्त्र–सभा में भी प्रायः चरणानुयोग और प्रथमानुयोग के ग्रन्थों की वांचना होती थी, जिसके कारण जैन-समाज पाप से भयभीत रहती थी और चारित्र का पालन करती थी। सामूहिक प्रीतिभोज में रात्रिभोजन करनेवाला कोई नहीं होता था। प्रायः सभी प्रतिदिन देवदर्शन करके भोजन करते थे, तथा अनछने जल का तो प्रयोग होता ही नहीं था।

किन्तु २०–३० वर्षों से कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ कि विद्वानों ने चरणानुयोग का उपदेश देना बन्द कर दिया और मात्र एक शुद्ध आत्मा की कथनी प्रारम्भ कर दी। इतना ही नहीं त्याग, नियम, व्रत आदि को हेय तथा संसार का कारण बतला कर जनता को चारित्र से विमुक्त करने लगे। 'दया अधर्म है,' ऐसा उपदेश सुनकर नवयुवकों के हृदयों में से दया जाती रही है जिसके कारण मांस व अंडे का प्रचार जैनों में बढ़ता जा रहा है। सामूहिक रात्रि भोजन व अनछने जल का प्रयोग होने लगा है। आज ऐसा कोई अपराध नहीं कि जिस के आरोप में जैन-भाई कारागृह में बन्द न हों। "देव, गुरु, शास्त्र परद्रव्य हैं, इनसे आत्मा का भला होनेवाला नहीं है" इस उपदेश को सुनकर युवकों तथा युवतियों ने देवदर्शन, स्वाध्याय आदि छोड़ दी है। शारीरिक क्रिया का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता इस ऐकान्तिक उपदेश के द्वारा भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक जाता रहा है, अनर्गल प्रवृत्ति होने लगी है, प्रत्येक अपने को शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, अबंधक मानने लगा है। आज चारित्र हीन जैन समाज के कारण जैनधर्म की अप्रभावना ही हो रही है।

आत्मज्ञान व श्रद्धान यद्यपि आवश्यक है, किन्तु उससे पूर्व उसकी योग्यता की भी तो आवश्यकता है। उस योग्यता के बिना उस आत्म-कथनी का वही फल होगा जो फल बीज को बंजड़ भूमि में बोने से होता है। सर्व प्रथम आत्मज्ञान-श्रद्धान की योग्यता का उपदेश होना चाहिये। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

> अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
> जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥ (पुरुषार्थ. सि०)

अर्थ—दुःखदायक, दुस्तर और पापों के स्थान मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बरफल इन आठ पदार्थों का त्याग करने पर ही पुरुष निर्मलबुद्धिवाला होता हुआ जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है।

इस श्लोक द्वारा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जिससमय तक पुरुष मद्य-मांस-मधु आदि के त्याग द्वारा अपना आचरण पवित्र न बना लेवे उससमय तक वह जैनधर्म के उपदेश का पात्र नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पात्र की योग्यता अनुसार ही उपदेश देना चाहिए। इसका दृष्टान्त इसप्रकार है—

विन्ध्याचल पर्वतपर एक कुटज नामक वन था। उसमें खदिरसार भील रहता था। एक दिन उसने श्री समाधिगुप्त मुनिराज के दर्शन कर बड़ी प्रसन्नता से नमस्कार किया। इसके उत्तर में मुनिराज ने यह आशीर्वाद

दिया कि तुझको धर्मलाभ हो। भील ने पूछा कि हे प्रभो! धर्म क्या है? मुनिराज ने भील को धर्म का स्वरूप निम्नप्रकार बतलाया—

"निवृत्तिर्मधुमांसादि सेवायाः पापहेतवः।
स धर्मस्तस्य लाभो यो धर्म-लाभः स उच्यते॥

श्री मुनिराज ने कहा कि मधु, मांस आदि का सेवन करना पाप का कारण है। अतः मद्य, मांस, मधु आदि का त्याग धर्म है। उस धर्म की प्राप्ति होना धर्मलाभ है।

आज बहुत से जैनियों की स्थिति उस भील से अधिक कम नहीं है। मद्य, मांस, मधु की प्रवृत्ति प्रतिदिन बढ़ती आरही है। जिस पदार्थ का नाम सुनने मात्र से भोजन में अंतराय हो जाती थी आज उन्हीं पदार्थों का खुल्लमखुल्ला सेवन होने लगा है। श्री समाधिगुप्त मुनिराज ने खदिरसाल भील को जो धर्म का स्वरूप बतलाया था, उसी उपदेश की आज अत्यन्त आवश्यकता है। मनुष्य को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये भी शुभपरिणामरूप विशुद्धिलब्धि की आवश्यकता है (लब्धिसार गाथा ५)। विशुद्धिलब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु कुछ का यह मत है कि मद्य, मांस तथा सप्तव्यसन का सेवन करते हुए भी सम्यक्त्वोत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि मद्य, मांस आदि-अचेतन पदार्थ हैं। जड़शरीर के द्वारा इनका सेवन आत्मा में सम्यक्त्वोत्पत्ति को नहीं रोक सकता। आज इसी मत का प्रचार है कुछ विद्वान् भी इसी मत का उपदेश देने लगे हैं और जनता भी इसी मत को पसन्द करने लगी है, क्योंकि इस मत में त्याग का उपदेश नहीं है। इस नवीन मत वाले पुरुषों में उस मत के पूर्व संस्कार हैं, जिस मत में बुहारी देते हुए केवलज्ञान की उत्पत्ति मानी गई है, क्योंकि उनके अनुसार शारीरिक क्रिया का आत्म-परिणामों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता इसलिये बुहारी देना केवलज्ञानोत्पत्ति में बाधक नहीं है। दिगम्बर जैन आर्ष ग्रन्थों में तो इसप्रकार उपदेश पाया जाता है।

मननहृष्टिचरित्रतपोगुणं, बहति वह्निरिवेंधनमूर्जितं।
यदिह मद्यमपाकृतमुत्तमैनं परमस्ति भो दुरितंमहत्॥ ५१४॥ सुभाषित रत्नसंदोह

जिसप्रकार अग्नि ईंधन के ढेर को जला डालती है, उसीप्रकार जो पीया गया मद्य वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी गुणों को बात की बात में भस्म कर डालता है। उसका सेवन करना बहुत अहितकर है। उससे बड़ा इस संसार में कोई भी पाप नहीं है। इसलिये जो उत्तम पुरुष हैं वे इसका सर्वथा त्याग कर देते हैं।

धर्मद्रुमस्यास्तमलस्य मूलं, निर्मूलमुन्मूलितमंगभाजां।
शिवादिकल्याणफलप्रदस्य मांसाशिना स्यात्र कथं नरेण॥५४७॥ [सु. र. सं०]

अर्थ—जो मांस भोजी हैं, पेट के वास्ते जीवों के प्राण लेने वाले हैं वे लोग मोक्ष स्वर्गादि के सुखों को देने वाला ऐसा धर्म, उस धर्म की जड़ जो सम्यग्दर्शन, उसको नाश करने वाले हैं।

मद्य, मांस आदि का सेवन करनेवाले को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः सर्वप्रथम मद्य, मांसादि के त्याग का उपदेश होना चाहिए, किन्तु इस नवीन मत के अनुसार वे शास्त्र तो कुशास्त्र हैं जिनमें मद्य, मांसादि पदार्थों के त्याग का उपदेश है, क्योंकि परपदार्थों से आत्मा की हानि-लाभ मानना इस नवीन मत की दृष्टि में मिथ्यात्व है।

जिस समय तक आचरण शुद्ध नहीं होगा उससमय तक मात्र शुद्धात्मा की कथनी से मनुष्य को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन शुभलेश्याओं के होने पर ही मनुष्य को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो सकती है। अतः सम्यग्दर्शनोत्पत्ति के लिये आचरण विशुद्धि का उपदेश अत्यन्त आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र की प्रधानता पर विचार

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'दंसणमूलो धम्मो' और 'चारित्तं खलु धम्मो' इन दो वाक्यों द्वारा यह बतलाया है कि सम्यग्दर्शन तो धर्म की जड़ है और सम्यक्चारित्र ही वास्तव में धर्म है। अर्थात् मोक्षरूपी फल सम्यक्चारित्ररूप धर्मवृक्ष पर ही लगता है। क्योंकि वृक्ष पर ही फल लगता है, वृक्ष की मूल पर नहीं लगा करता। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि मात्र सम्यग्दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥" [प्रवचनसार]

अर्थ—पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला अर्थात् सम्यग्दृष्टि भी यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है।

इसी गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि निज-शुद्धात्मा का ज्ञान और श्रद्धान भी हो गया (आजकल के नवीन मत में जिसको निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है, वह भी हो गया), किन्तु संयम नहीं हुआ तो वह ज्ञान और श्रद्धान निरर्थक है।

"सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव संयमं न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेवस्थानान्निर्वासननिःकम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम संयतः स्यात्। असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्। ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥२३७॥"

यद्यपि सकल ज्ञेय पदार्थोंकर प्रतिबिम्बित निर्मलज्ञानाकार आत्मा का कोई श्रद्धान भी करता है तथा अनुभव भी करता है तो भी यदि वह अपने में संयमभाव धरके निश्चल होकर नहीं प्रवर्तता तो उस सम्यग्दृष्टि के आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान तथा आत्मानुभूतिरूप ज्ञान संयमभाव बिना क्या करे ? क्योंकि यह जीव अनादिकाल से लेकर राग, द्वेष, मोह की वासना से पर में लगा हुआ है, इसकारण इस जीव की चित्तवृत्ति पर में रमती है और अपने निष्कंप एक आत्मीक रस में मग्न नहीं होती। संयमभाव से रहित ज्ञान, श्रद्धान से सिद्धि नहीं होती। आगमज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान और संयमभाव इन तीनों की एकता हो, तभी मोक्षमार्ग होता है।

इसी विषय को श्री जयसेन आचार्य ने दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है—

"यथा वा स एव प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि। तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्परूपाद-संयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति।" [प्रवचनसार गाथा २३७]

जैसे दीपकसहित सुआँखा नेत्रवान पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूप पतन से नहीं बचता तो उसके श्रद्धान दीपक व दृष्टि ने क्या किया ? कुछ नहीं किया अर्थात् कुछ कार्यकारी नहीं हुई। तैसे ही यह मनुष्य सम्यक्श्रद्धान और ज्ञानसहित है, परन्तु सम्यक्चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयमभाव से यदि अपने को नहीं हटाता है अर्थात् चारित्र को धारण नहीं करता है तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान ने उस मनुष्य का क्या हित किया ? कुछ भी हित नहीं किया।

जितनी यह बात सत्य है कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र निरर्थक हैं। उतनी ही यह बात भी सत्य है कि चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान मनुष्य के लिये निरर्थक हैं। इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अकलंकदेव ने इसप्रकार कहा है—

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥५॥ (सील पाहुड़)

अर्थ—सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन तो होय और चारित्र न होय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान निरर्थक हैं। मुनिलिंग तो ग्रहण कर लिया और सम्यग्दर्शन न होय तो मुनिलिंग ग्रहण करना निरर्थक है। सम्यग्दर्शन तो होय पर संयम न होय अर्थात् असंयतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाले का तप निरर्थक है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हताचाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ॥१॥ (रा. वा. १।१)

श्री पं० मक्खनलालजी कृत

अर्थ—चारित्र के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं है, जब ज्ञान किसी काम का नहीं तब उसका सहचारी दर्शन भी किसी काम का नहीं है। जिस तरह वन में आग लग जाने पर उसमें रहने वाला लंगड़ा मनुष्य नगर को जानेवाले मार्ग को जानता है। 'इस मार्ग से जाने पर मैं अग्नि से बच सकूंगा' इस बात का उसे श्रद्धान भी है, परन्तु चलनेरूप क्रिया नहीं कर सकता इसलिये वहीं जलकर नष्ट हो जाता है। उसीप्रकार ज्ञान (और दर्शन) रहित क्रिया भी निरर्थक है। जिसप्रकार वन में आग लग जाने पर उसमें रहने वाला अन्धा जहाँ-तहाँ दौड़ना रूप क्रिया करता है, किन्तु उसको नगर में जानेवाले मार्ग का ज्ञान नहीं है और न उसको यह श्रद्धान ही है कि अमुक मार्ग नगर में पहुँचाने वाला है, इसलिये वह वहीं जल कर नष्ट हो जाता है।

इस दृष्टान्त द्वारा श्री अकलंकदेव ने यह बतलाया कि चारित्र के बिना असंयतसम्यग्दृष्टि नष्ट हो जाता है और सम्यग्दर्शन के बिना मात्र क्रिया करने वाला मनुष्य भी नष्ट हो जाता है।

—जै. ग. 5-12-68/VI/ ....

चारित्र की पूर्णता कब होती है ?

शंका—रत्नत्रय की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्त में होती है या उससे पूर्व ?

समाधान—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की रत्नत्रयसंज्ञा है। सम्यग्दर्शन का घातक दर्शनमोहनीयकर्म है, ज्ञान का घातक ज्ञानावरणकर्म है और सम्यक्चारित्र का घातक चारित्रमोहनीयकर्म है। दर्शनमोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोहनीय इन तीनों कर्मों के क्षय हो जाने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् रत्नत्रय की पूर्णता हो जाती है, क्योंकि इन तीन गुणों के पूर्ण अविभागपरिच्छेद व्यक्त हो जाते हैं। इन तीनों कर्मों का अभाव तेरहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय में हो जाता है अतः रत्नत्रय की पूर्णता तेरहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय में हो जाती है।

यद्यपि तेरहवेंगुणस्थान में योग है, किन्तु वह रत्नत्रय या चारित्र का विघातक नहीं है। श्री अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र १ वार्तिक ३ की टीका में कहा है—

"बाह्यो वाचिकः कायिकश्च बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आभ्यन्तरो मानसः छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्, तस्योपरमो सम्यक् चारित्रमित्युच्यते। स पुनः परमोत्कृष्टो भवति वीतरागेषु यथाख्यातचारित्रसंज्ञकः। आरोतीयेषु संयता-संयतादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु प्रकर्षाप्रकर्षयोगी भवति।"

अर्थ—वचन संबंधी और कायसम्बन्धी क्रिया विशेष का नाम बाह्यक्रिया है, जातें, बाह्यइन्द्रियों के प्रत्यक्ष का विषय है। बहुरि मानसिक क्रिया विशेष को आभ्यन्तरक्रिया विशेष कहिये है, जाते छद्मस्थ को प्रत्यक्ष का विषय न होने ते तिन बाह्य-आभ्यंतर दोनों क्रियाओं का जो उपरम कहिये, उदासीन परिणति को लिये विषय-कषायादिकों से निवृत्तिरूप परिणाम ताकूं सम्यक्चारित्र कहिये है। सो यह सम्यक्चारित्र यथाख्यातचारित्रस्वरूप करि वीतराग जे ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवेंगुणस्थानवर्ती संयमीनिके परमउत्कृष्टस्वरूप करि होवे है। संयतासंयत और छट्ठे गुणस्थान कूं आदि लेकर दशवेंगुणस्थानपर्यंत जे संयमी हैं, जिन्होंके यथासंभव कषायों की जैसी-जैसी मंदता होवे ताके अनुसार उत्कृष्ट अनुत्कृष्टरूप होवे है। (स्व. श्री पं० पन्नालाल न्यायालंकारकृत अर्थ)।

श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने चारित्र का लक्षण इसी प्रकार बृहद् द्रव्यसंग्रह में कहा है—

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

अर्थ—संसार के कारणों को नष्ट करने के लिये ज्ञानी जीवों के जो बाह्य और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध है, वह उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है, ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है—

इस गाथा की संस्कृत टीका में कहा गया है—"परम उपेक्षा लक्षणवाला तथा निर्विकार स्वसंवेदनरूप शुद्धोपयोग का अविनाभूत उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र जानना चाहिये। बाह्य में वचन, काय के शुभाशुभ व्यापाररूप और अंतरंग में मन के शुभाशुभ विकल्परूप, ऐसी क्रियाओं के व्यापार का निरोध (त्याग) रूप वह चारित्र है। यह चारित्र, संसार के व्यापार का कारणभूत शुभाशुभ कर्म-आस्रव, उस आस्रव के विनाश के लिये है।

संसार का कारण राग-द्वेषरूप मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है। श्रेणी में बुद्धिपूर्वक राग-द्वेषरूप क्रिया का अभाव हो जाता है तथा यथाख्यातचारित्र में अबुद्धिपूर्वक राग-द्वेष का भी अभाव हो जाता है। रागद्वेष ही संसार का कारण है। इसीलिये यथाख्यातचारित्र परमोत्कृष्टचारित्र है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी चारित्र का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥ प्रवचनसार

अर्थ—चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है। दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयकर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम सो साम्य है, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

इस गाथा में भी श्री कुन्दकुन्दआचार्य ने भी साम्य को चारित्र कहा है। अर्थात् चारित्रमोहनीयकर्मोदय से होनेवाले विकारों से रहित जो निर्विकार परिणाम वह चारित्र है। यथाख्यातचारित्र में चारित्रमोहनीयकर्मोदय का अभाव होता है। अतः यथाख्यातचारित्र आत्मा का अत्यन्त निर्विकार परिणाम होने से परमोत्कृष्ट चारित्र है।

श्री कुन्दकुन्दआचार्य ने पंचास्तिकाय में साक्षात् मोक्षमार्ग का स्वरूप निम्नप्रकार कहा है—

जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ॥१५४॥

अर्थ—जीव का स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन है, जो कि जीव से अभिन्न है। उस ज्ञान, दर्शन में नियतरूप अस्तित्व जो कि अनिंदित है वह चारित्र है।

श्री अमृतचन्द्रआचार्य ने इसकी संस्कृत टीका में कहा है—

"द्विविधं हि किल संसारिषु चरित्रं–स्वचरित्रं परचरित्रं च, स्वसमयपरसमयावित्यर्थः तत्र स्वभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं स्वचरितं, परभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं परचरितम्। यत्स्वभावावस्थितास्तित्वरूपं परभावावस्थितस्तित्वव्यावृत्तत्वेनात्यन्तमनिन्दितं तदत्र साक्षान्मोक्षमार्गत्वेनावधारणीयमिति।"

अर्थ—संसारियों में चारित्र वास्तव में दो प्रकार का है—(१) स्वचारित्र और (२) परचारित्र, स्व-समय और परसमय ऐसा अर्थ है। स्वभाव में अवस्थित अस्तित्वरूप चारित्र वह स्वचारित्र है और परभाव में अवस्थित अस्तित्वस्वरूप चारित्र वह परचारित्र है। उन दो प्रकार के चारित्र में से स्वभाव में अवस्थित अस्तित्वरूपचारित्र, जो कि परभाव में अवस्थित अस्तित्व से व्यावृत होने के कारण अत्यन्त अनिंदित है वह यहाँ साक्षात् मोक्षमार्गरूप से अवधारण करना।

इसप्रकार रागद्वेष से निवृत्तिरूप जो यथाख्यातचारित्र है वह ही साक्षात् मोक्षमार्ग है ऐसा इस गाथा व टीका में कहा गया है। यद्यपि तेरहवेंगुणस्थान के प्रारम्भ में रत्नत्रय की पूर्णता हो जाती है तथापि द्रव्यमोक्ष नहीं होता। उसमें आयुकर्म बाधक कारण है।

आयु के क्षय होने पर शेष तीन अघातियाकर्म वेदनीय, नाम, गोत्र का भी क्षय हो जाता है और जीव को द्रव्यमोक्ष हो जाता है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण जीव ऊपर की ओर जाता है, किन्तु लोकाकाश से बाहिर धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण श्री सिद्धभगवान लोकाग्र में स्थित हो जाते हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार में कहा भी है—

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥ १७६ ॥

अर्थ—आयु के क्षय से शेष प्रकृतियों अर्थात् वेदनीय, नाम, गोत्रकर्मों का सम्पूर्ण नाश होता है। फिर वे सिद्ध भगवान समयमात्र में शीघ्र लोकाग्र में पहुँचते हैं।

रत्नत्रय के घातककर्म दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय और ज्ञानावरणकर्मों का क्षय हो जाने से तेरहवें-गुणस्थान के प्रथमसमय में रत्नत्रय पूर्ण हो जाता है और रत्नत्रय के संपूर्ण अविभागप्रतिच्छेद व्यक्त हो जाते हैं। इस अपेक्षा से तेरहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय में रत्नत्रय की पूर्णता हो जाती है और रत्नत्रय ही साक्षात् मोक्षमार्ग है। यह रत्नत्रय भुज्यमानमनुष्यायु की स्थिति व अनुभाग छेदने में असमर्थ है इसीलिये जितनी मनुष्यायु शेष है उतने कालतक इस जीव को अरहंतअवस्था में रहना पड़ता है। शेष आयुकर्म क्रमशः नाश हो जाने से समस्तकर्मों का क्षय हो जाता है और जीव को द्रव्यमोक्ष हो जाता है। इस अपेक्षा अर्थात् बाधककारण के अभाव की अपेक्षा से

रत्नत्रय की पूर्णता चौदहवेंगुणस्थान के अन्तिमसमय में होती है, क्योंकि उसके अनन्तरसमय में द्रव्यमोक्ष हो जाता है।[1]

—जै. ग. ...... / ... / ......

(१) ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में परमउत्कृष्ट चारित्र
(२) मोह-नाश का गुणस्थान [दसवाँ अथवा बारहवाँ]
(३) केवली के उपचार से ध्यान
(४) साक्षात् मोक्ष का कारण [सम्यक् चारित्र]

शंका—सर्वार्थसिद्धि प्रथम अध्याय प्रथम सूत्र की टीका में सम्यक्चारित्र का लक्षण निम्नप्रकार लिखा है—'संसारकारणनिवृत्तिंप्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्।' क्या यह लक्षण मात्र चौदहवेंगुणस्थान के चारित्र में घटित है या उससे पूर्व के चारित्र में भी घटित होता है ? एक विद्वान् का ऐसा विचार है कि "योग भी बन्ध का कारण है। योग से तेरहवेंगुणस्थान तक आस्रव होता है। इसलिये योग के अभाव में चौदहवेंगुणस्थान में ही कर्मादाननिमित्तक्रियोपरम होने से चारित्र होता है" क्या यह विचार ठीक है ?

समाधान—श्री उमास्वामी तथा श्री पूज्यपाद आचार्य का यह अभिप्राय नहीं था कि सम्यक्चारित्र चौदहवेंगुणस्थान में ही होता है, क्योंकि चारित्र के पाँच भेद बतलाये गये हैं, जिनमें से सामायिक, छेदोपस्थापना-चारित्र छठेगुणस्थान से नवेंगुणस्थानतक होता है, सूक्ष्मसाम्परायचारित्र दसवेंगुणस्थान में होता है और यथाख्यात-चारित्र ग्यारहवेंगुणस्थान से चौदहवेंगुणस्थानतक होता है।

"सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥९।१८॥"

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार का चारित्र है।

इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में श्री पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है—

"अतिसूक्ष्मकषायत्वात्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रम्। मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावाव-स्थापेक्षालक्षणं यथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते। इति शब्दः परिसमाप्तौ द्रष्टव्यः। ततो यथाख्यातचारित्रात्सकल-कर्मक्षयः परिसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते। सामायिकादीनामानुपूर्व्यवचनमुत्तरोत्तर-गुण-प्रकर्षख्यापनार्थं क्रियते।"

अर्थ—जिसचारित्र में कषाय अतिसूक्ष्म हो जाती हैं वह सूक्ष्मसाम्परायचारित्र है। समस्त मोहनीयकर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है उस अवस्थारूप जो चारित्र होता है वह अथाख्यातचारित्र है। सूत्र में आया हुआ 'इति' शब्द परिसमाप्ति अर्थ में जानना चाहिये। इसलिये इससे यथाख्यातचारित्र से समस्त

---

१. तेरहवेंगुणस्थान में योगत्रय का व्यापार चारित्र में मल पैदा करता है। अयोगकेवली के भी चरम-समय के सिवा (अन्यसमय में) अघातिकर्मों का तीव्र उदय चारित्र में मल उत्पन्न करता है। अतः चरम समयवर्ती अयोगकेवली के मंद उदय होनेपर चारित्र में दोष का अभाव होता है और इस कारण द्रव्यमोक्ष हो जाता है।
[बृ. द्र. सं० गाथा 13 टीका]

कर्मों के क्षय की परिसमाप्ति होती है, यह जाना जाता है। उत्तरोत्तर गुणों के प्रकर्ष का ख्यापन करने के लिये सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि क्रम से इनका नाम निर्देश किया है।

सर्वार्थसिद्धि प्रथम अध्याय प्रथमसूत्र में जो 'संसारकारणं निवृत्तिंप्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्त-क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्।' यह वाक्य दिया है उसका अर्थ इसप्रकार है—"जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत हैं उस ज्ञानी के कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के त्याग को सम्यक्चारित्र कहते हैं।"

'संसार के कारणों को दूर करने के लिये', इस पद में "संसार का कारण क्या है", यह विचारणीय है। संसार का कारण मात्र योग नहीं है, जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा है—

पुण्णफला अरहंता तेंसि किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥४५॥

अर्थात्—पुण्य का फल अर्हन्त पद है और उन अर्हन्तों की काय तथा वचन की क्रिया (योग) निश्चय से कर्मोदय के निमित्त से है, परन्तु वह क्रिया मोह, राग, द्वेषादिभावों से रहित है। इसलिये वह क्रिया (योग) बन्ध का अकारण होने से और मोक्ष का कारण होने से, क्षायिकी ही है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी इसकी टीका में कहा है—

"अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एवं भवन्ति। क्रिया तु तेषां या कायम सा सर्वापि तदुदयानुभाव सभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव। अथैवंभूतापि सा समस्तमहामूर्छाभिविक्त-स्कन्धावारस्यात्यन्त-क्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासदयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारण-भूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव।"

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥८।२॥" मोक्षशास्त्र

अर्थ—कषायसहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध है।

इससे स्पष्ट है कि राग, द्वेष, मोहरहित क्रिया अथवा योग बन्ध का कारण नहीं है। बन्ध का कारण अथवा संसार का कारण राग, द्वेष, मोह है, उस संसार के कारण राग, द्वेष को दूर करने के लिये साधु चारित्र अंगीकार करते हैं।

"रागद्वेषनिवृत्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥"—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थात्—रागद्वेष को दूर करने के लिये सत्पुरुष चारित्र को अंगीकार करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सर्वार्थसिद्धि में राग, द्वेषसहित कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के त्याग को सम्यक्चारित्र कहा है, न कि क्रिया मात्र के त्याग को।

राग, द्वेष के निमित्तभूत हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग छठेगुणस्थान में हो जाता है अतः छठेगुणस्थान से चारित्र अर्थात् संयम प्रारम्भ हो जाता है। कहा भी है—

"संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽयोग-केवल्यन्ताः।" सर्वार्थसिद्धि १।८

अर्थात्—संयममार्गणा के अनुवाद से प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगकेवलीगुणस्थान तक संयतजीव होते हैं।

"स पुनः परमोत्कृष्टो भवति वीतरागेषु यथाख्यातचारित्रसंज्ञकः। आरातीयेषु संयतासंयतादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु प्रकर्षाप्रकर्षयोगी भवति।" रा. वा. ९।१।३

अर्थात्—वीतरागियों में अर्थात् ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों में वह चारित्र परमोत्कृष्ट होता है, जिसका नाम यथाख्यातचारित्र है। उससे नीचे संयतासंयत से सूक्ष्म साम्पराय–दसवेंगुणस्थान तक विविध-प्रकार का तरतमचारित्र होता है।

शंका—जैनसंदेश २२ अप्रेल १९६५ पृ० ३१ कालम १ में लिखा है "सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय बारहवेंगुणस्थान के अन्त्य समय तक हो जाता है। जिससे क्षायिकचारित्र प्रगट हो जाता है।" क्या संपूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय बारहवेंगुणस्थान के अन्तसमय में होता है या दसवेंगुणस्थान के अन्त समय में होता है। यदि सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय दसवेंगुणस्थान के अन्तिमसमय में होता है तो श्री पं० भगवानदासजी जैन शास्त्री डोंगरगढ़ वालों ने बारहवेंगुणस्थान के अन्तिमसमय में क्यों लिखा?

समाधान—दसवेंगुणस्थान के अन्तिमसमयतक मोहनीयकर्म अर्थात् सूक्ष्मलोभ का उदय है और बारहवें-गुणस्थान के प्रथमसमय में मोहनीयकर्म की सत्ता नहीं है। अतः द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा दसवेंगुणस्थान के अन्तिम-समय में संपूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय होता है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा बारहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय में सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय होता है। कहा भी है—

"विणासविसय दोण्णिणया होंति उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो चेदि। तत्थ उप्पादाणुच्छेदो णाम दव्वट्ठियो। तेण संतावत्थाए चेव विणासमिच्छदि, असंते बुद्धिविसयं चाइक्कंतभावेण वयणगोयराइक्कंते अभाववबहा-राणुववत्तीदो। अणुप्पादाणुच्छेदोणाम पज्जवट्ठियो णयो। तेण असंतावत्थाए अभाववएसमिच्छदि, भावे उवलब्भ-माणे अभावत्तविरोहादो। ण च पडिसेहविसओ भावो भावत्तमल्लियइ, पडिसेहस्स फलाभावप्पसंगादो।

(धवल पु० १२ पृ० ४५७–५८)

अर्थ—विनाश के विषय में दो नय हैं उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उत्पादानुच्छेद का अर्थ द्रव्यार्थिकनय है, इसलिए वह सद्भाव की अवस्था में ही विनाश को स्वीकार करता है, क्योंकि असत् और बुद्धि-विषयता से अतिक्रान्त होने के कारण वचन के अविषयभूत पदार्थ में अभाव का व्यवहार नहीं बन सकता। अनुत्पा-दानुच्छेद का अर्थ पर्यायार्थिकनय है। इसीकारण वह असत् अवस्था में अभाव संज्ञा को स्वीकार करता है, क्योंकि इस नय की दृष्टि में भाव की उपलब्धि होने पर अभावरूपता का विरोध है और प्रतिषेध का विषयभूत भाव भावस्वरूपता को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर प्रतिषेध के निष्फल होने का प्रसंग आता है।

'बारहवेंगुणस्थान के अन्त्यसमय तक संपूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय हो जाता है। यह कथन तो किसी भी अपेक्षा ठीक नहीं है। श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि टीका में लोभ संज्वलनरूप मोहनीयकर्म का नाश दसवें-गुणस्थान के अन्तिमसमय में स्वीकार किया है। वे वाक्य इस प्रकार हैं—

"लोभ संज्वलनः सूक्ष्मसाम्परायान्ते यात्यन्तम्। [१०।२] प्रागेव। मोहं क्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्तं क्षीण-कषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति इति। लोभ–संज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसाम्परायक्षपकत्वमनुभूय निरवशेषं मोहनीयं निर्मूलकषायं कषित्वा क्षीणकषायतामधिरुह्य। [१०।१]"

अर्थ—लोभसंज्वलन सूक्ष्मसाम्पराय–दसवें गुणस्थान के अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। पहिले ही मोह का क्षय करके और अन्तर्मुहूर्त कालतक क्षीणकषाय संज्ञा को प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म का एक साथ क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है। लोभसंज्वलन को कृष करके, सूक्ष्मसाम्पराय-क्षपकत्व का अनुभव करके, समस्त मोहनीय का निर्मूल नाश करके क्षीणकषायगुणस्थान पर आरोहण करता है।

"जाधे चरिमसमयसुहुम सांपराइयो जादो ताधे............मोहणीयस्सट्ठिदिसंतकम्मं तत्थ णस्सदि। तदो स काले पढमसमय–खीण–कसाओ जादो।" धवल ६ पृ० ४१०-११

अर्थात्—जिससमय अन्तिमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक (दसवाँगुणस्थान) होता है उससमय में मोहनीय का स्थितिसत्त्व वहाँ नष्ट हो जाता है। चारित्रमोहनीय के क्षय के अनन्तरसमय में प्रथमसमयवर्ती क्षीणकषाय होता है।

इसप्रकार सभी आचार्यों ने दसवेंगुणस्थान के अन्तिमसमय में सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय स्वीकार किया है। इसीलिये बारहवेंगुणस्थान की क्षीणमोह संज्ञा है। इतना स्पष्ट विवेचन होते हुए भी न मालुम जैनसंदेश में 'संपूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय बारहवेंगुणस्थान के अन्त्यसमय तक हो जाता है' यह वाक्य किस आधार पर लिखा गया है। श्री सम्पादक महोदय भी इतनी स्थूल अशुद्धि को नहीं पकड़ सके, यह भी एक आश्चर्य की बात है।

शंका—केवलीभगवान के भावमन का अभाव है उनके ध्यान किसप्रकार संभव है? क्योंकि 'एकाग्रचिन्ता निरोधः' ध्यान का लक्षण केवली में घटित नहीं होता।

समाधान—मूलाचार के पंचाचार अधिकार की गाथा २३२ की टीका में इसी प्रकार की शंका का निम्न प्रकार उत्तर दिया है, अर्थात् श्री केवलीभगवान में उपचार से ध्यान माना है।

"तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में उपचार से ध्यान माना जाता है। पूर्व प्रवृत्ति की अपेक्षा लेकर अर्थात् पूर्वगुणस्थानों में मन की एकाग्रता करके ध्यान होता था। इस पूर्व की प्रवृत्ति की अपेक्षा लेकर अब भी मनो-व्यापार के अभाव में भी ध्यान की कल्पना की गई है। पूर्वकाल में जिसमें घी भरा हुआ था ऐसे घड़े को कालान्तर में घी के अभाव में घृत का घड़ा, ऐसा उपचार से कहते हैं। अथवा दसवें आदि गुणस्थानों में वेद का अभाव है तो भी दसवें के पूर्व गुणस्थानों में वेद का सद्भाव था उसकी अपेक्षा लेकर आगे के गुणस्थानों में भी उसका सद्भाव उपचार से माना जाता है।" [देवचन्द्र रामचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित मूलाचार]

"विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।" धवल पु. १ पृ. ३३३

अर्थ—विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषणयुक्त संज्ञा को धारण करनेवाली मनुष्य-गति में चौदहगुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता अर्थात् वेद का नाश हो जाने पर भी मनुष्य पर्याप्त व मनुष्यनी में चौदहगुणस्थान संभव हैं।

पंचास्तिकाय गाथा १५२ की टीका में श्री जयसेनाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने श्री केवलीभगवान के उपचार से ध्यान कहा है—

"तत्पूर्वसंचितकर्मणां ध्यानकार्यभूतं स्थितिविनाशं गलनं च दृष्ट्वा निर्जराकारणध्यानस्य कार्यकारणमुपचर्योप-चारेण ध्यानं भण्यते।......केवलिनामुपचारेण ध्यानमिति वचनात्।"

अर्थ—ध्यान के फलस्वरूप पूर्व संचित कर्मों की स्थिति के विनाश और उनके गलने को देखकर केवली-भगवान के उपचार से ध्यान कहा गया है, क्योंकि निर्जरा का कारण ध्यान है और निर्जरा वहाँ पाई जाती है। केवलियों के ध्यान उपचार से ही कहा है।

शंका—साक्षात् मोक्ष का कारण क्या है ?

समाधान—यथाख्यातचारित्र साक्षात् मोक्षका कारण है, कहा भी है—

"यथा आत्मस्वभावोऽवस्थितः तथैवाख्यातत्वात् यथाख्यातमित्याख्यायते। ...... इतिरिह विवक्षातः समाप्ति-द्योतनो द्रष्टव्यः। ततो यथाख्यातचारित्रात् सकलकर्मक्षयसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते।"

[रा. वा. ९।१८/१२–१३।पृ० ६१७–१८]

अर्थात्—इसे यथाख्यातचारित्र इसलिये कहते हैं कि जैसा आत्मस्वभाव है वैसा ही इसमें आख्यात प्राप्त होता है। यहाँ 'इति' शब्द समाप्ति सूचक है, इसलिये इस यथाख्यातचारित्र से सकलकर्मक्षय की परिसमाप्ति होती है।

"यत्स्वभावावस्थितास्तित्वरूपं परभावावस्थितास्तित्वव्यावृत्तत्वेनात्यन्तमनिन्दितं तदत्र साक्षान्मोक्षमार्गत्वेनावधारणीयमिति।" पंचास्तिकाय गाथा १५४ टीका।

अर्थ—स्वभाव में अवस्थित अस्तित्वरूप चारित्र, जो कि परभाव में अवस्थित अस्तित्व से भिन्न होने के कारण अत्यन्त अनिन्दित (राग, द्वेषरहित) है वह चारित्र (यथाख्यातचारित्र) यहाँ साक्षात् मोक्षमार्गरूप अवधारना।

—जै. ग. 17-6-65/VIII-IX/........

(१) उपशान्त कषाय आदि चारों गुणस्थानों के चारित्र में किंचित् भी अन्तर नहीं
(२) रत्नत्रय में मोक्ष हेतुत्व

अनादिकाल से भ्रमण करते हुए इस जीव को मनुष्य पर्याय का पाना अति–दुर्लभ है। विशेष पुण्योदय से यह मनुष्य पर्याय मिलती है, क्योंकि साक्षात् मुक्ति का मार्ग ऐसा सम्यक्चारित्ररूप धर्म इस मनुष्यपर्याय में ही धारण हो सकता है। यद्यपि अन्य पर्यायों में धर्म का मूल सम्यग्दर्शन (दंसण मूलो धम्मो) प्राप्त हो सकता है तथापि चारित्र नहीं हो सकता। इस मनुष्यपर्याय को पाकर जिसने सम्यक्चारित्र धारण नहीं किया उसका मनुष्य जन्म पाना व्यर्थ है। सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन का विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि मात्र सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं होता। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा भी है कि अविरतसम्यग्दृष्टि का तप भी कर्मों के निर्मूल करने में असमर्थ है।

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिद कम्मं तं तस्स ॥ ४९ ॥ (मूलाचार अधिकार)

श्री १०८ वसुनन्दि आचार्य कृत संस्कृत टीका–"कर्मनिर्मूलनं कर्तुमसमर्थं तपोऽसंयतस्य दर्शनान्वितस्यापि कुतो यस्माद्भवति हस्तिस्नानं।"

अर्थात्—व्रतरहित सम्यग्दृष्टि का तप महागुण-महोपकारक नहीं है। अविरतसम्यग्दृष्टि का तप हस्तिस्नान के समान है अथवा छेद करनेवाले चर्मा के समान है। जैसे हाथी स्नान करके भी निर्मलता धारण नहीं करता है क्योंकि अपनी सूंड से गीले शरीर पर धूलि डालकर सर्व अंग मलिन करता है वैसे तप से कर्मांश निर्जीर्ण होने पर भी असंयतसम्यग्दृष्टि जीव असंयम के द्वारा बहुतर कर्मांश को ग्रहण करता है। दूसरा दृष्टान्त चर्मा का है—जैसे चर्मा छेद करते समय डोरी बांधकर घुमाते हैं उससमय उसकी डोरी एक तरफ खुलती है तो दूसरी तरफ से दृढ़ बद्ध करती है। वैसे अविरतसम्यग्दृष्टि का पूर्वबद्धकर्म निर्जीर्ण होता हुआ उसीसमय असंयम द्वारा नवीन कर्म बंध जाता है। अतः असंयतसम्यग्दृष्टि का तप भी महोपकारक नहीं होता है।

अतः श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने 'चारित्तं खलु धम्मो' इस वाक्य के द्वारा चारित्र को धर्म कहा है। अनेक विवक्षाओं से इस सम्यक्चारित्र के नानाप्रकार से भेद किये गये हैं।

सम्यक्चारित्र को घातनेवाला चारित्रमोहनीयकर्म है। चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम से उपशमचारित्र, क्षयोपशम से क्षयोपशमचारित्र, क्षय से क्षायिकचारित्र उत्पन्न होता है। क्षयोपशमचारित्र में देशघातिया संज्वलन-कषाय का उदय रहता है अतः यह निर्मल नहीं होता, किंतु उपशमचारित्र तथा क्षायिकचारित्र में चारित्रमोहनीय-कर्म की किसी प्रकृति का भी उदय नहीं होता। अतः उपशांतमोह और क्षीणमोह अर्थात् ग्यारहवें, बारहवेंगुण-स्थानों में भी चारित्र निर्मल अथवा पूर्ण वीतरागरूप होता है। इन दोनों गुणस्थानों का नाम छद्मस्थवीतराग है। (तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र १०)। इस वीतरागचारित्र से ही मोक्ष प्राप्त होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेश-रूपो बन्धः।" (प्रवचनसार गाथा ६ की टीका)।

अर्थ—दर्शन और ज्ञान जिसमें प्रधान हैं ऐसे वीतराग चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यदि वह चारित्र सराग है तो उस सरागचारित्र से देवेन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती के विभव, जो संक्लेशरूप हैं, का बंध होता है।

श्री १०८ कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

> रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
> ऐसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥ (समयसार)

अर्थात्—रागीजीव कर्म बांधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

इसलिये ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवेंगुणस्थानों में योग के कारण मात्र ईर्यापथ-आस्रव है और पूर्ण वीत-रागता के कारण निर्जरा है, बंध नहीं है।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये चारित्र के पाँच भेद हैं। कहा भी है—

"सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम्।" तत्त्वार्थसूत्र ९।१८।

इन पाँच चारित्रों में से सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय ये चार चारित्र तो सकषायजीव के होते हैं, किन्तु यथाख्यातचारित्र अकषायजीव के होता है। यह यथाख्यातचारित्र ही सर्वोत्कृष्ट है। इसमें चारित्रमोह के उदय का सर्वथा अभाव होने से संयम लब्धिस्थान एक है। कहा भी है—

"एवं जहाक्खादसंजमट्ठाणं उवसंत-खीण-सजोगि-अजो-गिणऐक्कं चेव जहण्णुक्कस्स वदिरित्तं होदि, कसायाभावादो।" (धवल ६ पृ० २८६)

अर्थात्—यह यथाख्यात संयमस्थान उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली इनके एक ही जघन्य व उत्कृष्ट भेदों से रहित होता है, क्योंकि इन सबके कषायों का अभाव है।

श्री वीरसेनाचार्य के इस आर्षवाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि ११ वें १२ वें १३ वें और चौदहवें-गुणस्थानों में यथाख्यातसंयम है और वह यथाख्यातचारित्र इन चारों गुणस्थानों मे एक ही प्रकार का है, क्योंकि यथाख्यातचारित्र में जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट का भेद नहीं है। फिर भी कुछ विद्वानों का ऐसा कहना है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" इस सूत्र में कहे गये क्रमानुसार यह सिद्ध होता है कि ज्ञान की पूर्णता अर्थात् क्षायिक ज्ञान हो जाने पर यथाख्यातचारित्र की पूर्णता होनी चाहिये, अतः ११ वें १२ वें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्र की पूर्णता नहीं है, यहाँ तक कि तेरहवें और चौदहवेंगुणस्थानों में भी यथाख्यातचारित्र की पूर्णता स्वीकार नहीं करते, किन्तु चौदहवेंगुणस्थान के अन्त में यथाख्यातचारित्र की पूर्णता बतलाते हैं। इसप्रकार यथाख्यातचारित्र मे भी भेद करते हैं। नयविवक्षा न समझने के कारण ऐसी मान्यता बना रखी है।

सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान तो उसके साथ–साथ हो जाता है कहा भी है—

"युगपदात्मलाभे साहचर्यादुभयोरपि पूर्वत्वम्, यथा साहचर्यात्पर्वतनारदयोः, पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहणं नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम्।"

(रा. वा. १/१)

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोनों का एक ही काल आत्म लाभ है, अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान इन दोनों के पूर्वपना है। जैसे साहचर्य से पर्वत और नारद इन दोनों का एक के ग्रहण से ग्रहणपना होता है, पर्वत के ग्रहण करने से नारद का भी ग्रहण हो जाता है और नारद का ग्रहण करने से पर्वत का भी ग्रहण हो जाता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनों के साहचर्यसम्बन्ध से एक के ग्रहण करनेपर उन दोनो का ग्रहण हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान इन दोनों में से एक का आत्मलाभ होने पर उत्तर जो चारित्र है सो भजनीय है।

"पूर्वं सम्यग्दर्शनलाभे देशचारित्रं संयतासंयतस्य, सर्वचारित्रं च प्रमत्तादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायान्तानां यथा-यावच्च नियमादस्ति, संपूर्णयथाख्यातचारित्रं तु भजनीयम्।" रा. वा. १।१।

अर्थात्—नय की विवक्षा से सम्यग्दर्शन का तथा सम्यग्ज्ञान का आत्मलाभ एक ही काल में होता है, इसलिये पूर्वपना सम्यग्दर्शन को सम्यग्ज्ञान से समानरूप से है। वहाँ पूर्व जो सम्यग्दर्शन, उसका लाभ होने पर संयतासंयत का देशचारित्र भजनीय है। देशचारित्र का लाभ होने पर उत्तर जो सर्वचारित्र, अर्थात् सकलचारित्र प्रमत्तगुणस्थान से सूक्ष्मसाम्परायपर्यंत, भजनीय है। सकलचारित्र हो जाने पर उत्तर यथाख्यात जो सम्पूर्ण चारित्र है, वह भजनीय है।

श्री अकलंकदेव के इन आर्षवाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दर्शन का सहचर सम्यग्ज्ञान पूर्व में हो जाता है और चारित्र के तीन भेद देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र बाद में होते हैं, किन्तु क्षायिकज्ञान यथाख्यातचारित्र के पश्चात् होता है। इसीप्रकार **श्री उमास्वामि आचार्य** ने भी कहा है—

"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । (त० सू० १०।१)

अर्थात्—मोहकर्म के क्षय हो जाने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होता है और इन कर्मों का क्षय हो जाने से केवल (क्षायिक) ज्ञान होता है।

इस सूत्र से भी सिद्ध है कि मोह के क्षय होजाने से क्षायिक (यथाख्यात) चारित्र होता है और उसके पश्चात् क्षायिक (केवल) ज्ञान होता है। यदि क्षायिकचारित्र में तरतमता मानी जायगी तो क्षायिकज्ञान क्षायिक-दर्शन और क्षायिकवीर्य में भी तरतमता का प्रसंग आ जायगा और इससे अरहंत भगवान व सिद्ध भगवान में गुणकृत भेद हो जायगा, किन्तु इन दोनों में गुणकृत भेद नहीं है। श्री वीरसेनस्वामी ने धवल पु० १ पृ० ४७ पर कहा है—'अस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात् ।' अर्थात् यदि अरिहंत और सिद्धों में गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता है तो मत होओ, क्योंकि वह न्यायसंगत है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

> जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
> अण्णत्तं णाणगुणो तेणं दु सो बंधगो भणिदो ॥१११॥ समयसार

टीका—स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ।

गाथा अर्थ—क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण फिर से भी अन्यरूप से परिणमन करता है इसलिये कर्मों का बंधक कहा गया है।

टीकार्थ—वह ज्ञानगुण यथाख्यातचारित्र अवस्था से नीचे अवश्यंभावी राग के सद्भाव होने से बंध का कारण ही है।

इससे सिद्ध होता है कि यथाख्यातचारित्र में राग-द्वेष आदि कषाय नहीं हैं, अर्थात् पूर्ण वीतरागरूप होने से उसमें वीतरागता की तरतमता नहीं है। चारित्र का घातक अथवा चारित्र में तरतमता उत्पन्न करनेवाले चारित्र-मोहनीयकर्म का उदय है। चारित्रमोहनीयकर्म की सर्वप्रकृतियों के उदय का अभाव होने से यथाख्यातचारित्र में तरतमता सम्भव नहीं है।

कुछ का कहना है कि यदि यथाख्यातचारित्र में तरतमता न होती तो तेरहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय में सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र क्षायिक अर्थात् पूर्ण हो जाने से तत्काल मोक्ष हो जाना चाहिये था। अन्यथा 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्गः' यह सूत्र बाधित होता है। किन्तु उनका ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोकवार्तिक में कहा है कि क्षायिकसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र हो जाने पर भी काल आदि की अपेक्षा रहती है, इसलिये तेरहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय में मोक्ष नहीं होता।

> ननु रत्नत्रयस्यैव मोक्षहेतुत्वसूचने ।
> किं चार्हतः क्षणादूर्ध्वं मुक्तिं सम्पादयेन्न तत् ॥४१॥
> सहकारिविशेषस्या पेक्षणीयस्य भाविनः ।
> तदैवासत्त्वतोनेति स्फुटंकेचित्प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

कः पुनरसौ सहकारी सम्पूर्णेनापि रत्नत्रयेणापेक्ष्यते ? यदभावात्तन्मुक्तिमर्हतो न सम्पादयेत् इति चेत् ।

स तु शक्तिविशेषः स्याज्जीवस्याघातिकर्मणाम् ।
नामादीनां त्रयाणां हि निर्जराकृद्धि निश्चितः ॥४३॥

दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षणपरप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः सोऽन्तरंङ्गसहकारीनिःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य: तदभावे नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेः निःश्रेयसानुत्पत्तेः। आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा न पुनरुपक्रमात्तस्यानपवर्त्यत्वात् । तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्ति न सम्पादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात् ।

क्षायिकत्वान्न सापेक्षमर्हद्रत्नत्रयं यदि ।
किन्न क्षीणकषायस्यदृक्चारित्रे तथा मते ॥४४॥
केवलापेक्षिणी ते हि यथा तद्वच्च तत्त्रयम् ।
सहकारिव्यपेक्षं स्यात् क्षायिकत्वेनपेक्षिता ॥४५॥

इसका अभिप्राय निम्नप्रकार है—

प्रश्न—यदि रत्नत्रय को ही मोक्ष के कारणपने का सूचना करनेवाला पहला सूत्र रचा गया है तो केवलज्ञान उत्पन्न होने पर वह रत्नत्रय अरहंतदेव को एकक्षण पश्चात् ही मोक्ष क्यों उत्पन्न नहीं करा देता ?

उत्तर—कार्य की उत्पत्ति में सहकारी कारणों की भी अपेक्षा रहती है, किन्तु वह सहकारीकारण केवलज्ञान के प्रथम क्षण में नहीं है इसलिये मुक्ति नहीं होती ।

प्रश्न—वह सहकारी कारण कौनसा है जो रत्नत्रय के पूर्ण होने पर भी अपेक्षित हो रहा है, जिसके अभाव में अर्हन्तदेव मुक्ति को प्राप्त नहीं करते हैं ?

उत्तर—नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मों की निर्जरा करनेवाली आत्मा की विशेषशक्ति सहकारीकारण निश्चितरूप से मानी गयी है । दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण क्रिया तथा अपकर्षण, पर-प्रकृति संक्रमण के कारण परिणाम विशेष; ये आत्मा की विशेष शक्तियाँ मोक्ष की उत्पत्ति में रत्नत्रय के अंतरंग सहकारी कारण हो जाती हैं जिनके अभाव में नाम, गोत्र और वेदनीय; इन तीन अघातियाकर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती और मोक्ष भी प्राप्त नहीं हो सकता । आयु तो अपने समयपर फल देकर निर्जरा को प्राप्त होती, उसकी उपक्रम विधि से निर्जरा नहीं होती, क्योंकि वे अनपवर्त्यायुष्क हैं । सहकारीकारणों की अपेक्षा रखनेवाला क्षायिकरत्नत्रय तेरहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय में मुक्ति को प्राप्त नहीं करा सकता, क्योंकि उससमय सहकारीकारणों का अभाव है ।

प्रश्न—श्री अर्हंतभगवान के क्षायिकरत्नत्रय होने से वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता ।

प्रतिप्रश्न—क्षीणकषाय का क्षायिकसम्यग्दर्शन-चारित्र मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त करा देता ?

प्रतिप्रश्न का उत्तर—क्षीणकषाय का क्षायिकदर्शन व चारित्र केवलज्ञान की अपेक्षा रखता है । इसलिये मुक्ति नहीं प्राप्त करा सकता ।

प्रश्न का उत्तर—उसीप्रकार क्षायिकरत्नत्रय भी सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है । क्षायिकगुण किसी की अपेक्षा नहीं रखता है इसका अभिप्राय यह है कि अपने स्वरूप को प्राप्त कराने में वे अन्य गुणों की आवश्यकता नहीं रखते हैं ।

न च हैवं विरुध्यते त्रैविध्यं मोक्षवर्त्मनः।
विशिष्टकालयुक्तस्य तत्त्रयस्यैव शक्तितः ॥४६॥

अभिप्राय इस प्रकार है—

प्रश्न—यदि रत्नत्रय को अन्य सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता हुआ मोक्ष का कारण माना जायगा तो 'रत्नत्रय मोक्ष मार्ग है', यह कथन विरोध को प्राप्त हो जायगा ?

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्टकाल से युक्त रत्नत्रय के ही मोक्ष प्राप्त कराने की शक्ति है।

इस आर्ष प्रमाण से भी सिद्ध हो जाता है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रथम क्षण में मोक्ष की अप्राप्ति का कारण चारित्र की अपूर्णता नहीं है, क्योंकि वहाँ पर रत्नत्रय तो पूर्ण ही है, किन्तु अन्य सहकारी कारणों के अभाव के कारण मोक्ष नहीं होता। अतः क्षायिकरत्नत्रय या क्षायिकचारित्र तो पूर्ण ही हैं उसमें अपूर्णता का विकल्प करना आर्षग्रन्थ विरुद्ध है।

सम्पादकीय अभिमत—रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। तदनुसार वह जीवन्मुक्ति यानी अर्हंत दशा का साक्षात् कारण है और पूर्णमुक्ति का परम्पराकारण है। चारित्रमोहनीयकर्म के निर्मूल नाश से बारहवेंगुणस्थान का तथा चारित्रमोहनीयकर्म के सम्पूर्ण उपशम से प्रगट होनेवाला यथाख्यातचारित्र पूर्णचारित्र है, उसमें फिर चारित्र का एक अंश भी और नहीं कहीं से बढ़ सकता है या बढ़ता है। ११ वें, १२ वें, १३ वें, १४ वें गुणस्थानों के तथा सिद्ध परमेष्ठी के चारित्रगुण में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है। अतः प्रारम्भ होने की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र से पहले होता है, पूर्ण होने की अपेक्षा चारित्र (यथाख्यातचारित्र) पहले होता है और ज्ञान की पूर्णता पीछे, १३ वें गुणस्थान में होती है।

स्वरूपाचरणचारित्र

चतुर्थगुणस्थान और चारित्र

शंका—२३ नवम्बर १९६७ के जैनसंदेश के सम्पादकीय लेख में लिखा है—'आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने यदि चतुर्थगुणस्थान तक चारित्र नहीं बतलाया है तो हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि उन्होंने सिद्धों में भी चारित्र का निषेध किया है। अतः जो चारित्र चतुर्थगुणस्थान में नहीं है, वह सिद्धों में भी नहीं है। और जो चारित्र सिद्धों में है, उसकी झलक चतुर्थ गुणस्थान में भी है, क्योंकि सम्यक्त्वगुण दोनों में है अतः उसका सह-भावी चारित्र भी दोनों में है।' इस पर निम्न बातें समझने योग्य हैं—

(क) क्या आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने सिद्धों में चारित्र का निषेध किया है ? क्या क्षायिकभाव भी नष्ट हो जाता है ?

(ख) क्या असंयतसम्यग्दृष्टि के भी चारित्र है ? क्या यह चारित्र उसी जाति का है जिस जाति का चारित्र सिद्धों में है ?

(ग) क्या सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र भी अवश्यंभावी है ? क्या चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता ?

सिद्धों के क्षायिक चारित्र का सद्भाव

समाधान—(क)—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने गोम्मटसारकर्मकाण्ड में सिद्धों में चारित्र का विधान निम्न गाथाओं द्वारा किया है—

> उवसमभावो उवसमसम्मं चरणं च तारिसं खइओ ।
> खाइय णाणं दंसण सम्म चरित्तं च दाणादी ॥ ८१६ ॥
> मिच्छतिये तिचउक्के दोसुवि सिद्धे वि मूलभावा हु ।
> तिग पण पणगं चउरो तिग दोण्णि य संभवा होंति ॥८२१॥

अर्थ—औपशमिकभाव उपशमसम्यक्त्व और उपशमचारित्र के भेद से दो प्रकार का है। क्षायिकभाव के भेद, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र व क्षायिकदानादि हैं ॥ ८१६ ॥ मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानों में तीन भाव, असंयत आदि चार गुणस्थानों में पाँचों भाव, उपशम श्रेणी के चार गुणस्थानों में भी पाँचों भाव, क्षपकश्रेणी के चार गुणस्थानों में उपशम के बिना शेष चार भाव, सयोग और अयोग केवली के क्षायिक पारिणामिक और औदयिक ये तीन भाव हैं। सिद्धों के पारिणामिक और क्षायिक भाव ये दो भाव हैं।

इसप्रकार क्षायिकभावों में क्षायिकचारित्र को गिनाकर और सिद्धों में क्षायिक भावों को बतलाकर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने सिद्धों में क्षायिकचारित्र का स्पष्टरूपसे विधान किया है।

किसी भी दिगम्बर जैन आचार्य ने सिद्धों के क्षायिकभावों का निषेध नहीं किया है, किन्तु मात्र औपशमिक क्षायोपशमिक, औदयिक व भव्यत्व पारिणामिक भावों का निषेध किया है।

यदि कहा जाय कि गो० जी० गाथा ७३२ में सिद्धों के संयम मार्गणा का अभाव है तथा धवल पु० १ पृ० ३७८ व पु० ७ पृ० २१ पर सिद्धों के संयम के सद्भाव से इन्कार किया है इसलिये सिद्धों में चारित्र का अभाव है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है।

गोम्मटसार जीव काण्ड में संयममार्गणा को प्रारम्भ करते हुए संयम का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

> वदसमिदि कसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
> धारण पालण णिग्गह चागजओ संजमो भणिओ ॥४६५॥

अर्थ—हिंसा, चौर्य, असत्य, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों के बुद्धिपूर्वक सर्वथा त्यागरूप पंचमहाव्रत को धारण करना, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग इन पाँच समितियों को पालना, चार प्रकार की कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग तथा पाँच इन्द्रियों का जय इसको संयम कहते हैं।

इस प्रकार का संयम सिद्धों में नहीं है तथा केवलियों में नहीं है इसलिये केवलियों में उपचार से संयम कहा है—

'अभेदनयेन ध्यानमेव चारित्रं तच्च ध्यानं केवलिनामुपचारेणोक्तं चारित्रमप्युपचारेणेति।'

प्रवचनसार पृ० ३०८

अर्थ—अभेदनय से ध्यान ही चारित्र है और वह ध्यान केवलियों में उपचार से कहा गया है इसलिये केवलियों में चारित्र भी उपचार से है, किन्तु क्षायिकचारित्र तो अनुपचार से है।

संयम के उपर्युक्त लक्षण वाली संयममार्गणा सिद्धों में नहीं है अतः इस दृष्टि से गो० जी० गाथा ७३२ में सिद्धों में संयममार्गणा का अभाव बतलाया है। संयममार्गणा के भेदों में क्षायिकसम्यक्चारित्र ऐसा कोई भेद नहीं है अतः गो० जी० गा० ७३२ में सिद्धों में क्षायिकचारित्र का निषेध नहीं है, अपितु गो० क० गाथा ८२१ के अनुसार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने सिद्धों में क्षायिकचारित्र का विधान किया है।

धवल पुस्तक १ पृ० ३६८ पर संयममार्गणा का प्रारम्भ करते हुए लिखा है—

संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावण-सुद्धि-संजदा, परिहार-सुद्धि-संजदा, सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा, जहाक्खादविहार-सुद्धि-संजदा, संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥१२३॥

अर्थ—संयममार्गणा के अनुवाद से सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहारशुद्धिसंयत, सूक्ष्म-सांपरायशुद्धिसंयत, यथाख्यात-विहार-शुद्धिसंयत ये पाँच प्रकार के संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं ॥१२३॥

इस सूत्र से स्पष्ट हो जाता है कि धवलसिद्धान्तग्रंथ में संयममार्गणा में मात्र उपर्युक्त सात भेदों में से सिद्ध जीव किसी भी भेद में गर्भित नहीं होते, अतः संयममार्गणा के कथन में धवल पु० १ पृ० ३७८ पर कहा है—"सिद्ध जीवों के संयम के उपर्युक्त पाँच भेदों में से एक भी संयम नहीं है। उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्ति का अभाव होने से जिसलिये वे संयत नहीं, इसीलिये वे संयतासंयत भी नहीं हैं। असंयत भी नहीं हैं, क्योंकि उनके संपूर्ण पापरूप क्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं।" इसी बात को धवल पु० ७ पृ० २१ पर निम्न शब्दों में कहा है—

"विषयों में दो प्रकार के असंयमरूप से प्रवृत्ति न होने के कारण सिद्ध असंयत नहीं हैं। सिद्ध संयत भी नहीं हैं, क्योंकि प्रवृत्तिपूर्वक उनमें विषयनिरोध का अभाव है। तदनुसार संयम और असंयम इन दोनों के संयोग से उत्पन्न संयमासंयम का भी सिद्धों के अभाव है।"

क्षायिकचारित्र को संयममार्गणा के उपर्युक्त भेदों में नहीं लिया गया, अतः संयममार्गणा के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धों में क्षायिकचारित्र का निषेध धवलसिद्धान्त ग्रंथ में किया गया है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्र को जीव का स्वभाव बतलाते हैं—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥ प्रवचनसार

चारित्र वास्तव में धर्म है अर्थात् जीव-स्वभाव है। धर्म है वह साम्य है। मोह-क्षोभरहित आत्मा का भाव साम्य है।

सिद्धों में भाव है तथा वह मोह-क्षोभ से रहित है। यदि सिद्धों का परिणाम (भाव) मोह, क्षोभ से रहित है तो उनमें चारित्र अवश्य है। यदि सिद्धों में चारित्र नहीं है तो उनमें धर्म भी नहीं है तथा साम्य भी नहीं है। यदि सिद्धों में साम्य का अभाव है तो मोह-क्षोभ का प्रसंग आ जायगा। जिससे सिद्धान्त का ही अभाव हो जायगा।

जीव सहावं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ॥१५४॥ (पंचास्तिकाय)

जीव का स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन है जो कि जीव से अनन्यमय है, उन ज्ञान, दर्शन में नियतरूप से अस्तित्व चारित्र है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

श्री जिनेन्द्रदेव की साक्षी देते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन जीवस्वभाव नियतरूप से अस्तित्व है अतः सिद्ध भगवान के चारित्र है।

यदि सिद्ध भगवान के चारित्र न माना जाय तो ज्ञान-दर्शनरूप जीवस्वभाव में नियतरूप से अस्तित्व के अभाव का प्रसंग आजाने से सिद्धान्त के अभाव का प्रसंग आ जायगा।

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥ (समयसार)

ज्ञानी के चारित्र, दर्शन व ज्ञान ये तीनों भाव व्यवहारनय के उपदेश अनुसार हैं अर्थात् भेद विवक्षा से ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीनों भाव हैं। अभेदनय की विवक्षा से ज्ञानी के ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है दर्शन भी नहीं है, शुद्ध ज्ञायक है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं ।
मेचको मेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥
दर्शनज्ञान चारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

प्रमाणदृष्टि से एक काल में यह आत्मा अनेक अवस्थारूप भी है, और एक अवस्थारूप भी है, क्योंकि इसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र कर तो तीनपना है और आपकर अपने एक पना है ॥१६॥ व्यवहार नयकर अर्थात् भेदकर देखा जाए तब आत्मा एक है तो भी तीन स्वभावपने से अनेक आकाररूप है, क्योंकि दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन भावों से परिणमता है ॥१७॥

यदि सिद्धों में चारित्र न माना जाय तो प्रमाण की अपेक्षा सिद्धों में जो तीनपना व एकपना है उसमें से तीनपना नहीं बनेगा। जिस व्यवहारनयकर सिद्धों में दर्शन, ज्ञान है, उस व्यवहारनयकर चारित्र भी है।

तत्त्वार्थसार उपसंहार अधिकार श्लोक ९ से १५ तक यह बतलाया है कि कर्त्ता-कर्म-करण आदि सातों विभक्ति की अपेक्षा आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों से तन्मय है—'दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः।' श्लोक नं० १६ में बताया है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र में तीनों गुण आत्मा के आश्रित हैं इसलिये इन तीन गुणमयी आत्मा है।

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १६ ॥

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन गुण सिद्ध करके या आत्मा को इन तीन गुणरूप बतलाकर यह सिद्ध कर दिया है कि सिद्धों में चारित्रगुण होता है।

श्री वीरसेनाचार्य ने भी धवल सिद्धान्तग्रंथ में सिद्धों के क्षायिकचारित्र बतलाया है। श्री वीरसेनाचार्य के वाक्य इसप्रकार हैं—

"एदस्स कम्मस्स खएण सिद्धाणमेसो गुणो समुप्पण्णो त्ति जाणावणट्ठमेदाओ गाहाओ एत्थ परुविज्जंति—

मिच्छत्तं-कसायसंजमेहि जस्सोदएण परिणमइ।
जीवो तस्सेव खयात्तव्विवरीदे गुणे लहइ ॥ ७ ॥" ध. पु. ७ पृ० १४

अर्थ—इस 'कर्म के क्षय से सिद्धों के यह गुण उत्पन्न हुआ है' इस बात का ज्ञान कराने के लिए ये गाथायें यहाँ प्ररूपित की जाती हैं—

जिस मोहनीय-कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व, कषाय और असंयमरूप से परिणमन करता है, उसी मोहनीय के क्षयसे इनके विपरीत गुणों को अर्थात् सम्यक्त्व, अकषाय और संयमरूपसे गुणों को सिद्ध जीव प्राप्त करता है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने गो० क० गाथा ८१६ व ८२१ में तथा श्री वीरसेनाचार्य ने धवल पु० ७ पृ० १४ पर चारित्रमोहनीय के क्षय से सिद्धों में क्षायिकचारित्र का स्पष्टरूपसे उल्लेख किया है। फिर भी कुछ विद्वानाभास इन महान आचार्यों के नाम पर सिद्धों मे क्षायिकचारित्र का अभाव बतलाते हैं। इसका कारण यह है कि उनके पास इन महान ग्रन्थों का सूक्ष्मदृष्टि से स्वाध्याय करने का अवकाश नहीं है।

आयु आदि प्राण सिद्धों में नहीं, अतः आर्ष ग्रन्थों में सिद्धों को जीव नहीं कहा है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि चैतन्य गुण की अपेक्षा से भी सिद्ध जीव नहीं हैं।

"आउआदिपाणाणं धारणं जीवणं। तं च अजोगिचरिमसमयादो उवरिणत्थि, सिद्धेसु पाणणिबंधणट्ठकम्मा भावादो। तम्हा सिद्धाण जीव जीविदपुव्वा इदि।' (धवल पु० १४ पृ० १३)

अर्थ—आयु आदि प्राणों का धारण करना जीवन है। वह अयोगकेवली के अंतिम समय से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि सिद्धों के प्राणों के कारणभूत आठों कर्मों का अभाव है। इसलिये सिद्ध जीव नहीं हैं; अधिक से अधिक वे जीवित-पूर्व कहे जा सकते हैं।

आर्षग्रन्थ के इस कथन को देखकर यदि कोई विद्वानाभास अपेक्षा को न समझकर सिद्धों के जीवत्वभाव का सर्वथा निषेध करने लगे तो यह उसकी मिथ्या कल्पना है, क्योंकि चेतनगुण की अपेक्षा से सिद्ध जीव हैं। इसी-प्रकार प्रवृत्तिपूर्वक विषयनिरोध की अपेक्षा सिद्धों में संयमाभाव के कथन को देखकर यदि कोई विद्वानाभास सिद्धों में चारित्र का सर्वथा निषेध करने लगे तो यह उसकी मिथ्या कल्पना है, क्योंकि सिद्धों में क्षायिक चारित्र पाया जाता है।

क्षायिकभाव कभी नष्ट नहीं होता है, क्योंकि बंध के हेतु का अभाव है, यदि क्षायिकभाव भी नष्ट होने लगे तो सिद्धों का पुनः संसार में अवतार होने लगेगा, जिससे आगम में विरोध आ जायगा, क्योंकि सिद्धपर्याय को सादि अनन्त कहा है। 'सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायोनित्यः।' आलापपद्धति

'नहि सकलमोह क्षयादुद्भवच्चारित्रमंशतोऽपि मलवदिति शश्वदमलवदात्मस्तिकं तदभिधीयते।'
(श्लोकवार्तिक)

अर्थात्—चारित्रमोह के क्षय से उत्पन्न होनेवाला क्षायिकचारित्र शाश्वत है, कभी नष्ट होने वाला नहीं है।

चतुर्थगुणस्थान में चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव नहीं

समाधान—(ख) अब प्रश्न यह है कि क्या चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के चारित्र होता है? यह प्रश्न ऐसा है जैसे कोई यह प्रश्न करे कि 'क्या मेरी माँ बंध्या है?' एक ओर तो 'मेरी माँ' ऐसा कहा जा रहा है दूसरी ओर बंध्या का प्रश्न किया जारहा है। जो माँ है वह बंध्या कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। जो बंध्या है वह 'माँ' नहीं हो सकती। इसी प्रकार जो असंयतसम्यग्दृष्टि है उसके संयम कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। जिसके संयम है वह असंयतसम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि चारित्र को घात करनेवाली अनन्तानुबन्धीकषायरूप चारित्रमोहनीयकर्मप्रकृति के उदय का अभाव होने के कारण असंयतसम्यग्दृष्टि के चारित्र का अंश अवश्य प्रगट हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि चारित्र को घात करने की अपेक्षा से अनन्तानुबन्धी को चारित्र मोहनीयप्रकृति नहीं की गई है, किन्तु चारित्र की विघातक अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहनीयकर्मोदय के प्रवाह को अनन्तरूप कर देता है इसलिये अनन्तानूबन्धीकषाय को चारित्रमोहनीयकर्मप्रकृति कहा गया है—

"ण चाणंताणुबंधि–चउक्कवावारो चारित्ते णिप्फलो अपच्चक्खाणादिअणंतोदयपवाहकारणस्स णिप्फलत्त-विरोहा।" (धवल पु० ६ पृ० ४३)

अतः अनन्तानुबन्धी के उदय के अभाव में अप्रत्याख्यानावरणादि कर्मोदय का अनन्तप्रवाह नहीं रहता है।

यदि अनन्तानुबन्धीकर्मोदय के अभाव में चारित्र की उत्पत्ति मानी जायगी तो तीसरे गुणस्थान में भी अनन्तानुबन्धीकर्मोदय के अभाव में चारित्र की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो कि किसी को भी इष्ट नहीं है। असंयम का कारण अप्रत्याख्यानावरणकर्मोदय है। अप्रत्याख्यानावरणकर्म का उदय प्रथम–मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से असंयत–सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान तक पाया जाता है। अतः प्रथम चार गुणस्थानों को असंयत कहा गया है।

"समीचीना दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च, असंयतसम्यग्दृष्टिः। असंजद इदि जं सम्माइट्ठिस्स विसेसण-वयणं तमंतदीवयत्तादो हेट्ठिल्लाणं सयल-गुणट्ठाणाणमसंजदत्तं परूवेदि।"

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और संयमरहित सम्यग्दृष्टि को असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। सम्यग्दृष्टि के लिये जो असंयत विशेषण दिया गया है, वह अंतदीपक है, इसलिये वह अपने से नीचे के समस्त गुणस्थानों के अर्थात् पहिले, दूसरे, तीसरे गुणस्थानों के भी असंयतपने का निरूपण करता है। (धवल पु० १)

'कथमेवं मिथ्यात्वादित्रयं संसारकारणं साध्यतः सिद्धान्तविरोधो न भवेदिति चेन्न चारित्रमोहोदयेऽन्तरंग-हेतौ सत्युत्पद्यमानयोरसंयममिथ्यासंयमयोरेकत्वेन विवक्षितत्वाच्चतुष्टयकारणत्वासिद्धेः संसारणस्य तत एवाविरति-शब्देनासंयमसामान्यवाचिना बंधहेतोरसंयमस्योपदेशघटनात्।' श्लोकवार्तिक

अर्थ—यहाँ किसी का तर्क है कि मिथ्याचारित्र और असंयतसम्यग्दृष्टि का असंयम जब भिन्न-भिन्न है तो संसार के कारण चार हुए। 'मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र ये तीन ही संसार के कारण हैं, इस सिद्धान्त के साथ क्यों विरोध नहीं होगा? आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्याचारित्र और चतुर्थगुणस्थान के असंयम इन दोनों का कारण चारित्रमोहनीयकर्म है। चारित्रमोहनीयकर्म के उदय होने पर अचारित्र (असंयम) व मिथ्याचारित्र उत्पन्न होने से इन दोनों की एकरूप से विवक्षा की गई है। अतः संसार

के कारणों को चारपना सिद्ध नहीं होता है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग को बंध का हेतु बतलाया (अ० ८ सू० १) वहाँ पर अविरत शब्द से मिथ्याचारित्र और चतुर्थगुणस्थान का असंयम दोनों ग्रहण किये गये हैं।

प्रथमगुणस्थान से चतुर्थगुणस्थान तक चारित्रमोहनीयकर्मोदय से जो असंयमभाव उत्पन्न होता है वही प्रथम व दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी की सहचरता से मिथ्याचारित्र कहलाता है।

श्री पुष्पदंत-भूतबली को श्री धरसेनाचार्य से जो द्वादशांग के सूत्रों का ज्ञान प्राप्त हुआ था, उन्होंने उन सूत्रों को षट्खंडागम में लिपिबद्ध किया है। उन सूत्रों में कहा है—

असंजदसम्माइट्ठि त्ति को भावो, उवसमिओ वा खइओ वा खइओ वा खओवसमिओ वा भावो ॥ ५ ॥ ओदइएण भावेण पुणो असंजदो ॥ ६ ॥

अर्थ—असंयतसम्यग्दृष्टि के कौनसा भाव है ? औपशमिकभाव भी है, क्षायिकभाव भी है और क्षायोपशमिकभाव भी है, किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टि का असंयतभाव औदयिक है।

इसपर यह प्रश्न हुआ कि अधस्तन गुणस्थानों में औदयिक-असंयतभाव है, ऐसा द्वादशांग सूत्रों में क्यों नहीं कहा गया है ? इसका श्री वीरसेनाचार्य उत्तर देते हैं—

'इसी सूत्रसे उन अधस्तन गुणस्थानों के औदयिकअसंयतभाव की उपलब्धि होती है। चूंकि यह सूत्र अंतदीपक है, इसलिये असंयतभाव को अन्त में रख देने से वह पूर्वोक्त सभी सूत्रों का अंग बन जाता है या अतीत सर्व सूत्रों में अपने अस्तित्व को प्रकाशित करता है, इसलिये सभी अतीत गुणस्थानों का असंयतभाव औदयिक होता है यह बात सिद्ध होती है। *यहाँ तक अर्थात् चतुर्थगुणस्थान तक के गुणस्थानों के असंयमभाव की* सीमा बतलाने के लिये और ऊपर के गुणस्थानों में असंयतभाव का प्रतिषेध करने के लिये यह 'असंयत' पद यहाँ पर कहा है।'

यदि यह कहा जाय कि व्रतरूप चारित्र तो चतुर्थगुणस्थान में नहीं होता है, किन्तु स्वरूप में स्थिरतारूप जो अनुभूति होती है वह चारित्र वहाँ पर होता है। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। यदि चतुर्थगुणस्थान में लेशमात्र भी चारित्र होता तो चतुर्थगुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म की अपेक्षा से भी क्षायोपशमिकभाव कहते, औदयिकभाव न कहते, क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्म के क्षयोपशम बिना क्षण भर के लिये भी लेश-मात्र चारित्र नहीं हो सकता है।

यदि कहा जाय कि अप्रत्याख्यानावरण सर्वघातिप्रकृति का उदय चतुर्थगुणस्थान में रहता है इसलिए चारित्र की अपेक्षा चतुर्थगुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव नहीं कहा गया सो ऐसी कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पंचम गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण सर्वघातिप्रकृति का उदय रहता है, किन्तु एकदेश चारित्र प्रगट हो जाने से पंचमगुणस्थान में चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव कहा है। कहा भी है—

'संजदासंजद-पमत्त अप्पमत्तसंजदा त्ति को भावो, खओवसमिओ भावो ॥७॥

अर्थ—संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत यह कौनसा भाव है ? क्षायोपशमिकभाव है।

धवल पु० ५ पृ० २०१ सूत्र ७

तीसरे गुणस्थान में दर्शनमोहनीयकर्म की सम्यग्मिथ्यात्व सर्वघातिप्रकृति का उदय रहता है फिर भी सम्यग्दर्शन का अंश प्रगट हो जानेसे तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव कहा है।

"सम्मामिच्छादिट्ठि त्ति को भावो, खओवसमिओ भावो ॥४॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह कौनसा भाव है ? क्षायोपशमिक भाव है। (धवल पु० ५ पृ० १९८)

इस सूत्र की टीका में श्री वीरसेन आचार्य ने लिखा है—सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय रहते हुए अवयवी-रूप सम्यक्त्वगुण का तो निराकरण रहता है, किन्तु सम्यक्त्व का अवयवरूप अंश प्रगट रहता है। इसप्रकार क्षायो-पशमिक भी वह सम्यग्मिथ्यात्व द्रव्यकर्म सर्वघाति ही होते, क्योंकि जात्यन्तरभूत सम्यग्मिथ्यात्व के सम्यक्त्वका अभाव है। किन्तु श्रद्धान भाग अश्रद्धान भाग नहीं हो जाता है, क्योंकि श्रद्धान और अश्रद्धान के एकता का विरोध है और श्रद्धान भाग कर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि उसमें विपरीतता का अभाव है और न उनमें सम्यग्मिथ्यात्व संज्ञा का ही अभाव है, क्योंकि समुदायों में प्रवृत्त हुए शब्दों की उनके एकदेश में भी प्रवृत्ति देखी जाती है। इस-लिये यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यात्वक्षायोपशमिकभाव है।"

इसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थान में चारित्रगुण का अभाव रहते हुए भी चारित्र का अवयवरूप अंश भी प्रगट रहता तो श्री गौतम गणधर चतुर्थगुणस्थान में चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव कहते, औदयिकभाव न कहते।

द्वादशांग के सूत्रों में श्री गौतमगणधर का इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी जो विद्वान् चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का समर्थन करते हैं, उनको द्वादशांगपर श्रद्धा नहीं है।

चारित्र में लब्धि और उपयोग रूप दो भेद सम्भव नहीं

यदि यह कहा जाय कि चतुर्थगुणस्थान में हरसमय स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता, किन्तु जिससमय स्वानुभूति होती है उसीसमय स्वरूप मे स्थितिरूप स्वरूपाचरणचारित्र होता है इसीलिये चतुर्थगुणस्थान में चारित्र की अपेक्षा औदयिकभाव कहा गया है क्षायोपशमिकभाव नहीं कहा गया है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, इसपर यह प्रश्न होता है कि चतुर्थगुणस्थान में हरसमय स्वानुभूति व स्वरूप में स्थिति क्यों नहीं होती ? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि स्वानुभूति लब्धि व उपयोगरूप दो प्रकार की होती है। लब्धिरूप स्वानु-भूति तो हरसमय रहती है, किन्तु जिससमय ज्ञानावरणकर्म के विशेष क्षयोपशम के कारण उपयोगरूप स्वानुभूति होती है उसीसमय स्वरूपमें स्थितिरूप स्वरूपाचरणचारित्र होता है।

ज्ञानावरणकर्मोदय या क्षयोपशम के कारण तो स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव या सद्भाव हो नहीं सकता है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्मोदय या क्षयोपशम से ज्ञानका अभाव या सद्भाव तो संभव है, क्योंकि ज्ञानावरण का कार्य ज्ञान को आवरण करने का है चारित्र को आवरण करने का नहीं है। चारित्र का घातक चारित्रमोहनीयकर्म है। दूसरी बात यह है कि लब्धि और उपयोग में दो अवस्था क्षायोपशमिकज्ञान और दर्शन में तो होती है, किन्तु चारित्र में लब्धि और उपयोगरूप में दो अवस्था संभव नहीं है। अतः यह प्रश्न बना रहता है कि चारित्रमोहनीय-कर्म की किस प्रकृति के उदय से चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव रहता है और चारित्रमोहनीयकर्म की किस प्रकृति के अनुदय से चतुर्थगुणस्थान में प्रगट हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि अनन्तानुबन्धी के उदय से स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव होता है तो अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव तो हरसमय रहता है इसलिये हरसमय चतुर्थगुणस्थान में स्वरूप में स्थिरतारूप अथवा स्वरूप में रमणतारूप स्वरूपाचरणचारित्र रहना चाहिये, किन्तु ऐसा किसी को इष्ट नहीं है। दूसरे यदि चतुर्थगुणस्थान में हरसमय स्वरूप में स्थिरता या रमणता रहती है तो हर-समय बंध का अभाव या बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणीकर्म निर्जरा होनी चाहिये थी, किन्तु चतुर्थगुणस्थान में जितनी कर्म निर्जरा होती है उससे अधिक कर्मबन्ध होता है।

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥ ५२ ॥ मूलाचार पृ० ४७५

अर्थ—व्रतरहित सम्यग्दृष्टि का तप महागुण महोपकारक नहीं है। जैसे हाथी स्नान करके भी निर्मलता धारण नहीं करता, क्योंकि अपनी सूंड से धूलि डालता रहता है और सर्वअंग मलिन करता है। वैसे अविरत-सम्यग्दृष्टिजीव असंयम के द्वारा बहुतर कर्मांश को बांधता रहता है। जैसे लकड़ी में छिद्र पाड़ने वाला बर्मा छेद करते समय डोरी बांध कर घुमाते हैं। उससमय उसकी डोरी एक तरफ से ढीली होती हुई दूसरी तरफ उसको दृढ़ बद्ध करती है। वैसे चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि का पूर्वबद्धकर्म निर्जीर्ण होता हुआ उसीसमय असंयम द्वारा बहुतर नवीनकर्म बंध कर लेता है।

यदि चतुर्थगुणस्थान में हरसमय स्वरूप में रमणता अथवा स्थिरता होती तो इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। और द्वादशांग में उसके क्षयोपशमचारित्र का कथन अवश्य होता। अतः चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपा-चरणचारित्र नहीं होता है।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरतगृहस्थ के स्वरूप में स्थिरता भी संभव नहीं है, क्योंकि स्वरूप में स्थिरता ध्यान है—"स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं" किन्तु गृहस्थ के ध्यान की सिद्धि किसी देश व काल में संभव नहीं है। कहा भी है—

खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७॥ ज्ञानार्णव

अर्थ—आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में संभव नहीं है।

प्रायः कुतो गृहगते परमात्मबोधः
शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः ।
दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था,
सा लीलयैव कृतपात्र–जनानुषंगात् ॥२।१५॥ (पद्मनन्दि पं० वि०)

जिस उत्कृष्ट आत्म–स्वरूप के ज्ञान से शुद्ध आत्मा के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, वह आत्मज्ञान गृहस्थों के कहाँ से हो सकता है ? नहीं हो सकता है।

"मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते। तप्तलोहगोलकसमानं गृहिणां परमात्मध्यानं न संगच्छते। तेषां दानपूजा-पर्वोपवास सम्यक्त्वप्रतिपालनशीलव्रतरक्षणादिकं गृहस्थधर्मं एवोपदिष्टं भवतीति भावार्थः। ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्म–भावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः।"

मोक्ष-प्राभृत, गाथा २ टीका

मुनियों के ही परमात्मा का ध्यान घटित होता है। गृहस्थ तप्त लोहे के गोले के समान होते हैं, उनके परमात्मा का ध्यान नहीं होता। उनके लिये दान, पूजादि गृहस्थधर्म का ही उपदेश दिया गया है। किंचित् आत्म-भावना को प्राप्तकर जो गृहस्थ यह कहते हैं कि हम ध्यानी हैं, उनको जिनधर्म के विराधक मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।

"सम्माइट्ठी—ण च णवपयत्थविसय-रुइ-पच्चय-सद्धाहि विणा झाणं संभवदि, तप्पवुत्तिकारणसंवेग-णिव्वेयाणं अण्णत्थ असंभवादो चत्तासेसबज्झंतरंगगंथो ...." (धवल पु० १३ पृ० ६५)

वह ध्याता सम्यग्दृष्टि होता है, कारण कि नौ पदार्थ विषयक रुचि प्रतीति और श्रद्धा के बिना ध्यानकी प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के मुख्य कारण संवेग और निर्वेद अन्यत्र नहीं हो सकते। वह ध्याता समस्त बहिरंग-अंतरंग परिग्रह का त्यागी होता है।

यदि यह कहा जाय कि चतुर्थगुणस्थान में धर्मध्यान का कथन आर्षग्रन्थों में पाया जाता है फिर गृहस्थ के ध्यान अर्थात् स्वरूप स्थिरता का क्यों निषेध किया गया है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि गृहस्थ के जो दान, पूजा, भक्ति आदि होती है वह धर्मध्यान है।

जिण-साहुगुणुक्कित्तण पसंसणा विणय दाणसंपण्णा।
सुद-सील-संजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा ॥ (धवल पु० १३ पृ० ७६)

इस गाथा में बतलाया गया है कि "जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता आदि ये सब धर्मध्यान हैं।"

इन आर्ष ग्रन्थों से सिद्ध हो जाता है कि चतुर्थगुणस्थानवाले के स्वरूप में स्थिरता, रमणता अर्थात् स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता है। दूसरे "चैतन्यमनुभूतिः स्यात्।" इन आर्षवाक्यों में यह बतलाया गया है कि अनुभूति चैतन्यगुण की पर्याय है, चारित्रगुण की पर्याय नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के जो संवर व निर्जरा होती है, वह चारित्र के बिना नहीं हो सकती अतः असंयतसम्यग्दृष्टि के चारित्र मानना चाहिये, सो यह भी ठीक नहीं है।

प्रथम तो असंयतसम्यग्दृष्टि के निर्जरा नहीं होती है उसके पूर्वबद्धकर्म जो प्रतिसमय निर्जीर्ण होता है उससे अधिक कर्म असंयम के कारण बांध लेता है। ऐसा मूलाचार गाथा ५२ के आधार पर बतलाया है जाचुका है। दूसरे, मिथ्यादृष्टि के भी चारित्र मानना पड़ेगा, क्योंकि उसके भी प्रायोग्यलब्धि व करणलब्धि में संवर व निर्जरा, स्थितिकांडकघात व अनुभागकाण्डकघात पाया जाता है।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि जब असंयतसम्यग्दृष्टि के चारित्र का अभाव है तो उसकी निरर्गल प्रवृत्ति होगी और निरर्गल प्रवृत्तिवाले के सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता ? सम्यग्दृष्टि की ऐसी क्रिया नहीं होती जिससे सम्यग्दर्शन में अतिचार या दोष लगे।

"शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः।"

"मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥

अर्थात्—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिस्तवन ये पाँच सम्यग्दृष्टि के अतिचार हैं। तीन मूढ़ता, आठमद, छहअनायतन और शंकादि दोष आठ ये २५ सम्यग्दर्शन के दोष हैं।

सम्यग्दृष्टि की लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़तारूप प्रवृत्ति नहीं होती है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और सुंदरशरीर का मद सम्यग्दृष्टि नहीं करता, कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र और इन तीनों के भक्त ये छह

अनायतन हैं। सम्यग्दृष्टि इन छह अनायतनों का त्याग करता है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना इन आठ दोषरूप सम्यग्दृष्टि प्रवृत्ति नहीं करता।

"प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षणं सम्यक्त्वम्।" धवल पु० १ पृ० १५१

अर्थात्—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रगटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं।

रागादि का अनुद्रेक-प्रशम है, संसारादि से भीरुता संवेग है, सर्वप्राणियों में मैत्री अनुकम्पा है, जीवादि पदार्थों का जैसा स्वभाव है वैसा मानना आस्तिक्य है।

"चैत्यगुरुप्रवचनपूजादि-लक्षणा सम्यक्त्ववर्धनीक्रिया सम्यक्त्वक्रिया।" (सर्वार्थसिद्धि)

अर्थ—चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदिरूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्वक्रिया है।

इसरूप सम्यग्दृष्टि की क्रिया या प्रवृत्ति होती है इसी को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्यक्त्वाचरण कहा है जो असंयतसम्यग्दृष्टि के संभव है, किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टि के स्वरूपाचरणचारित्र किसी भी आचार्य ने नहीं कहा है।

यदि यह कहा जाय कि सम्यक्त्व के शंकादि पच्चीस दोषों के त्याग को स्वरूपाचरणचारित्र कह दिया जावे तो इसमें क्या हानि है? चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व के पच्चीस दोष त्यागरूप आचरण को स्वरूपाचरणचारित्र संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि मोह–क्षोभ से रहित अत्यन्त निर्विकार आत्म–परिणाम को अर्थात् यथाख्यातचारित्र की स्वरूपाचरणचारित्र संज्ञा है।

"रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यात-रूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति इदानीं तदभावेऽन्यच्चारित्रमाचरन्तु तपोधनाः। प० प्रा० १० पृ० १५७।

अर्थ—राग-द्वेष के अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरणचारित्र ही निश्चयचारित्र है, वह इस-समय पंचमकाल में भरतक्षेत्र में नहीं है इसलिये साधुजन अन्यचारित्र का आचरण करें।

चारित्र के पाँच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात। यह पाँचों प्रकार का चारित्र निर्ग्रंथमुनि के छठवें आदि गुणस्थानों में ही संभव है। चतुर्थ गुणस्थान में गृहस्थियों के इन पाँचों प्रकार के चारित्र का अंश भी संभव नहीं है। अतः चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के स्वरूपाचरण-चारित्र (यथाख्यातचारित्र) या उसके अंश की कल्पना करने से जिनवाणी का अपलाप होता है।

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान के क्षायिक-चारित्र है और चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के चारित्रमोहनीय के अप्रत्याख्यानावरणादि सर्वघातिप्रकृतियों का उदय होने से अचारित्र औदयिकभाव है। क्षायिकभाव व औदयिकभाव एक जाति के नहीं हो सकते। अतः यह लिखना कि 'जो चारित्र सिद्धों में है उसकी झलक चतुर्थगुणस्थान में भी है,' एक उन्मत्तवाली चेष्टा है।

क्या सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र भी अवश्यम्भावी है?

समाधान—(ग)—प्रश्न यह है कि क्या सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र भी अवश्यंभावी है? क्या चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता?

यह प्रश्न श्री अकलंकदेव आचार्य के सामने भी था, इसीलिये उन्होंने कहा है—

"एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् । उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः । युगपदात्मलाभे साहचर्यादुभयोरपि पूर्वत्वम्, यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयोः, पर्वतग्रहणेन नारदस्यग्रहणं नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम् ।" (राजवार्तिक १।१)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों में पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर की प्राप्ति भजनीय है, किन्तु उत्तर का लाभ होनेपर पूर्व के लाभ का नियम है । सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान इन दोनों का एक ही काल आत्मलाभ है । तातें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोनों के पूर्वपना है । जैसे साहचर्य तैं पर्वत और नारद इन दोऊनिका एकके ग्रहण से ग्रहणपना होय है । पर्वत के ग्रहण करि नारद का ग्रहण होय और नारद का ग्रहण करि पर्वत का ग्रहण होय । साहचर्य हेतु तें एक के ग्रहण तैं दोऊनिका ग्रहण होइ है । तैसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोऊनिका साहचर्य संबंध तैं एक के ग्रहण किये तिन दोऊनिका ग्रहण होय है । यातैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोऊनि में से एक का आत्मलाभ होते उत्तर जो चारित्र है सो भजनीय है, ऐसा अर्थ जानना । अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर सम्यक्चारित्र का होना अवश्यंभावी नहीं है ।

इसी बात को श्री गुणभद्र आचार्य ने भी उत्तरपुराण में कहा है—

समेतमेव सम्यक्त्व ज्ञानाभ्यां चरितं मतम् ।
स्यातां विनापि ते तेन गुणस्थाने चतुर्थके ।।७४।५४३ ।। (उत्तरपुराण)

अर्थ—सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानसहित होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चतुर्थगुणस्थान में सम्यक्चारित्र के बिना भी होते हैं ।

श्री अकलंकदेव व श्री गुणभद्र दोनों वीतरागी महानाचार्य हुए हैं उन्होंने किसी की वकालात करने के लिए ऐसा नहीं लिखा कि सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र अवश्यम्भावी नहीं है, किन्तु उन्होने वह लिखा जो उनको गुरु परम्परा से उपदेश में प्राप्त हुआ था । इन आचार्यों के इतने स्पष्ट वाक्य होते हुए भी जो यह लिखते हैं तथा उपदेश देते हैं—"सम्यक्त्व के साथ चारित्र भी अवश्यंभावी है जिसे मिथ्यात्वमोहनीय नहीं, अनन्तानुबन्धी रोकता है और जब मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी के उपशम आदि से सम्यक्त्व प्रगट होता है तब उसका सहभावी चारित्र भी अवश्य प्रकट होता है वह चारित्र ही स्वरूपाचरण चारित्र है ।" (जैन संदेश २३-११-६७)

ऐसे लिखने वाले ने या तो उपर्युक्त आर्षग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया और यदि अध्ययन किया तो उनको आर्ष वाक्यों पर श्रद्धा नहीं है । जिनको स्वयं आर्ष वाक्यों पर श्रद्धा नहीं है और आर्ष वाक्यों का खंडन करना ही जिनका स्वभाव बन गया है, उनकी क्या गति होगी वे स्वयं जानें ।

—जै. ग. 20 व 27-2-69 तथा 13-3-69/VII, VIII, III/... ......

दसवें गुणस्थान तक स्वरूपाचरण का अंश भी नहीं है

शंका—स्वरूपाचरण चारित्र कौन से गुणस्थान में होता है ?

समाधान—सर्वप्रथम स्वरूपाचरणचारित्र का लक्षण जान लेना आवश्यक है, क्योंकि स्वरूपाचरणचारित्र का लक्षण जान लेने से ही यह ज्ञात हो जावेगा कि स्वरूपाचरणचारित्र कौनसे गुणस्थान में होता है तथा चौथे गुणस्थान में क्यों नहीं होता ?

(१) "रागद्वेषा-भावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति, इदानीं तदभावे-ऽन्यच्चारित्रमाचरन्तु तपोधनाः।" परमात्मप्रकाश २।३६।

अर्थ—रागद्वेष के अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरण ही निश्चयचारित्र है। वह इस पञ्चमकाल में भरत क्षेत्र में नहीं है, इसलिए साधुजन अन्य चारित्र का आचरण करो।

(२) "स्वरूपेचरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं।" परमात्मप्रकाश २।४०।

अर्थ—स्वरूप में आचरणरूप चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र है वह वीतरागचारित्र है।

(३) "शुद्धोपयोगलक्षणं निश्चयरत्नत्रयपरिणते शुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थानं चारित्रम्।"

अर्थ—शुद्धोपयोग लक्षणात्मक निश्चयरत्नत्रयमयी परिणतिरूप आत्मस्वरूप में जो आचरण या स्थिति सो स्वरूपाचरणचारित्र है।

(४) "स्वरूपे चरणं चारित्रं। स्वसमय प्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वात् धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव यथावस्थितात्मगुणत्वात् साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावा-दत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥७॥" प्रवचनसार

अर्थ—स्वरूपमें चरण (स्थिरता) सो चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना, ऐसा इसका अर्थ है। वही वस्तुस्वभाव होने से धर्म है। शुद्धचैतन्य का प्रकाश करना इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है। और साम्य, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण जीवका अत्यन्त निर्विकार परिणाम है। अर्थात् जीव का वह अत्यन्त निर्विकार परिणाम ही स्वरूपाचरणचारित्र है।

बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र का प्रारम्भ श्रेणी में होता है अथवा बुद्धि-अबुद्धिपूर्वक समस्तराग का अभाव उपशांतमोह आदि गुणस्थानों में होता है इसलिए शुद्धोपयोगरूप वीतराग-चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरणचारित्र उपशांतमोह आदि गुणस्थानों में होता है। अतएव स्वरूपाचरणचारित्र चतुर्थादि गुणस्थानों में संभव नहीं है। चतुर्थगुणस्थान में तो संयम नहीं है, क्योंकि उसका नाम ही असंयतसम्यग्दृष्टि है। अतः चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र संभव नहीं है। किसी आचार्य ने भी चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरण-चारित्र के सद्भाव का कथन नहीं किया है।

स्वरूपाचरणचारित्र की घातक संज्वलनकषाय है, क्योंकि स्वरूपाचरणचारित्र को परम यथाख्यातचारित्र कहा है। अनन्तानुबन्धीकषाय तो सम्यग्दर्शन की घातक है अथवा चारित्र को घात करने वाली अप्रत्याख्यानादि प्रकृतियों के अनन्त उदयरूप प्रवाह की कारण है। कहा भी है—

पढमो दंसणघाई बिदिओ तह घाई देसविरइत्ति।
तइओ संजमघाई चउत्थो जहखाय घाईया ॥१।११५॥ प्रा. पं. सं.

अर्थ—प्रथम कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शन का घात करती है। द्वितीय अप्रत्याख्यानावरणकषाय देशव्रत की घातक है। तृतीय प्रत्याख्यानावरणकषाय सकलसंयम का घात करती है। और चतुर्थसंज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र अर्थात् स्वरूपाचरणचारित्र का घात करती है।

"ण चारित्ते अणंताणुबंधिचउक्कवावारो णिप्फलो, अपच्चक्खाणादिअणंतोदयपवाहकारणस्स णिप्फलत्त-विरोहा।" धवल पु० ६ पृ० ४३।

अर्थात्—चारित्र के घात में अनन्तानुबंधी चतुष्क का व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय के अनन्त उदयरूप प्रवाह में अनन्तानुबंधीकषाय कारण है। इसलिये निष्फलत्व का विरोध है।

यदि अनन्तानुबंधीकषाय को स्वरूपाचरणचारित्र का घातक मान लिया जायगा और उसके उदयाभाव में स्वरूपाचरणचारित्र का सद्भाव स्वीकार किया जायगा तो सम्यग्मिथ्यात्व तीसरे गुणस्थान में भी स्वरूपाचरण-चारित्र के सद्भाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि तीसरे गुणस्थान में भी अनन्तानुबंधी कषाय के उदय का अभाव है। यदि यह कहा जाय कि चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र प्रारम्भ हो जाता है पूर्णता बारहवें गुणस्थान में होती है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि दसवें गुणस्थान तक भी स्वरूपाचरणचारित्र (यथाख्यातचारित्र) रूप पर्याय का अंश प्रगट नहीं होता। चारित्रमोह के उदय के अभाव में स्वरूपाचरणचारित्र होता है।

दर्शनमोहनीय भी स्वरूपाचरणचारित्र का घातक नहीं है, क्योंकि ऐसा किसी भी आचार्य का उपदेश नहीं है। सम्यक्त्व के घातक कुदेव आदि इनकी पूजा न करना तथा जिन-वचन मे शंका न करना इत्यादि ऐसा आचरण सम्यग्दृष्टि का होता है।

—जै. ग. 23-11-67/VIII/ कँवरलाल

चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता

शंका—फरवरी १९६६ के सन्मति संदेश में श्री पं० फूलचंदजी ने लिखा है "प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी की अनुदय-उपशम होने से स्वरूपाचरणचारित्र की प्राप्ति आगम में बतलाई है।" इस पर यह प्रश्न होता है कि स्वरूपाचरणचारित्र कौन से गुणस्थानों में होता है ? क्या प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि श्रेणी चढ़ सकता है ? क्या अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में भी स्वरूपाचरण संभव है ?

समाधान—वीतरागचारित्र को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। श्री परमात्म-प्रकाश अध्याय २ गाथा ४० की टीका में "स्वरूपेचरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं" इन शब्दों द्वारा वीतरागचारित्र को स्वरूपाचरणचारित्र कहा है। गाथा ३६ की टीका में "रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपेचरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति।" अर्थात्—रागद्वेष के अभाव लक्षणवाले परमयथाख्यातरूप स्वरूपाचरणचारित्र को निश्चय चारित्र कहा है। बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीका में "शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणतेस्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थानं चारित्रम्।" अर्थात्—शुद्धोपयोग लक्षणवाला निश्चयरत्नत्रय परिणतिरूप स्वशुद्धात्मस्वरूप में चरणं अथवा अव-स्थानं स्वरूपाचरणचारित्र है।

श्री प्रवचनसार गाथा ७ की टीका में श्री १०८ अमृतचन्द्र आचार्य लिखते हैं—"स्वरूपेचरणं चारित्रं। .... समस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।" अर्थात्—स्वरूप में चरण करना या रमना सो चारित्र है और वह समस्त मोह क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार, ऐसा जीवका परिणाम है।

श्री जयसेन आचार्य ने भी पंचास्तिकाय गाथा १५४ की टीका में कहा है कि पूर्व में कहे हुए केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप जीव-स्वभाव से अभिन्न यह चारित्र है, जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप है, इन्द्रियों का व्यापार

न होने से विकार रहित व निर्दोष है, तथा जीव के स्वभाव में निश्चल स्थितिरूप है, क्योंकि स्वरूपेचरणं चारित्रम्, अर्थात् आत्मभाव में तन्मय होना चारित्र है, ऐसा आगम वचन है।

इन आर्ष वाक्यों से स्पष्ट है कि स्वरूपाचरणचारित्र ग्यारहवें बारहवें आदि गुणस्थानों में होता है। बुद्धिपूर्वक राग के अभाव के कारण जिन आचार्यों ने श्रेणी में शुक्ल ध्यान का कथन किया है उनकी अपेक्षा से श्रेणी में भी स्वरूपाचरणचारित्र हो सकता है, किन्तु चतुर्थ गुणस्थान में असंयत-सम्यग्दृष्टि के स्वरूपाचरणचारित्र का किसी भी दि० जैन आचार्य ने कथन नहीं किया है।

अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यग्दर्शन का घात करने वाली है। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने गोम्मटसार कर्म-काण्ड गाथा ४५ व गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २८२ में कहा है—

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व को, अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्र को, प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलचारित्र को और संज्वलनकषाय यथाख्यात चारित्र को घातती है। इसी कारण इनके नाम भी वैसे ही हैं जैसे इनके गुण (स्वभाव) हैं। अन्य प्रकृतियों के नाम भी सार्थक हैं।

अनन्तानुबन्धीकषाय के अनुदय-उपशम होने से सम्यग्दर्शनगुण प्रगट होता है, स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट नहीं हो सकता, क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय देशचारित्र, सकलचारित्र या स्वरूपाचरणचारित्र का घातक नहीं है।

आर्ष ग्रन्थो में इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी कुछ विद्वानों ने भाषा ग्रन्थों में असंयत सम्यग्दृष्टि के स्वरूपाचरणचारित्र क्यों लिखा, यह विषय विचारणीय है। हमें तो आर्षग्रन्थों के अनुसार ही अपनी श्रद्धा बनानी चाहिए और आर्षग्रन्थों के अनुसार ही विवेचन करना चाहिये, क्योंकि इसी में आत्महित है।

—जै. ग. 11-4-66/IX/ र. ला. जैन

शंका—सम्यग्दृष्टि के ही स्वरूपाचरणचारित्र होता है अतः चतुर्थ गुणस्थान में भी स्वरूपाचरणचारित्र होना चाहिये, क्योंकि वह भी तो सम्यग्दृष्टि है?

समाधान—सम्यग्दृष्टि के ही स्वरूपाचरणचारित्र होता है, किन्तु वह सकलसंयमी मुनि के ही होता है, चौथे गुणस्थान वाले असंयतसम्यग्दृष्टि के नहीं हो सकता, क्योंकि उस चौथे गुणस्थान वाले के तो किंचित् भी चारित्र को न होने देने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से चारित्र का अभाव है, इसीलिये उसका नाम असंयत सम्यग्दृष्टि है। स्वरूपाचरणचारित्र का लक्षण इस प्रकार है—

"स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमय प्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।" प्रवचनसार गा. ७

अर्थ—अपने स्वरूप में रमणता स्वरूपाचरण चारित्र है। वह स्वरूपाचरण चारित्र ही यथावस्थित आत्म-गुण होने के कारण साम्य है। दर्शन मोहनीय व चारित्रमोहनीय कर्मोदय से होने वाले जो मोह और क्षोभ हैं, उन समस्त मोह क्षोभ से रहित आत्मा के अत्यन्त निर्विकार जो जीवपरिणाम वह ही साम्य अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र है।

स्वरूपाचरण चारित्र के इस लक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि स्वरूपाचरण चारित्र अकषाय जीवों के होता है। इसीलिये स्वरूपाचरण चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते हैं, क्योंकि यथाख्यातचारित्र भी अकषाय जीवों के ही होता है। इसी बात को परमात्मप्रकाश में कहा गया है—

"रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति इदानीं तदभावेऽन्यच्चारित्र-माचरन्तु तपोधनाः।"

अर्थ—रागद्वेष के अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र रूप स्वरूप में रमणता ही निश्चय चारित्र है, वह स्वरूपाचरणचारित्र इस समय पंचमकाल में भरत क्षेत्र में नहीं है, इसलिये तपोधन (साधुजन) इस स्वरूपा-चरणचारित्र के अतिरिक्त अन्य चारित्र का आचरण करें।

यहाँ पर स्वरूपाचरणचारित्र का लक्षण रागद्वेष का अभाव बतलाया है इसीलिये उस स्वरूपाचरण चारित्र को परमयथाख्यातचारित्र अथवा निश्चयचारित्र कहा गया है। अतः स्वरूपाचरण-चतुर्थ गुणस्थान में नहीं हो सकता है।

शंका—तब फिर चतुर्थ गुणस्थान में कौनसा चारित्र होता है और उसका घातक कौन कर्म है ?

समाधान—चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होता है, इसीलिये उसकी संज्ञा 'असंयत-सम्यग्दृष्टि' है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गो० जी० में कहा है—

"चारित्तं णत्थि जदो अविरदअंतेसु ठाणेसु ॥१२॥"

प्रथम चार गुणस्थानों में अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानतक चारित्र नहीं होता।

समेतमेव सम्यक्त्वज्ञानाभ्यां चरितं मतम्।
स्यातां विनापि ते तेन गुणस्थाने चतुर्थके ॥७४।५४३॥ उत्तरपुराण

अर्थ—सम्यक् चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित ही होता है परन्तु चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तो होता है, सम्यक् चारित्र नहीं होता है।

"ओदइएण भावेण पुणो असंजदो ॥६॥" (धवल पु० ५ पृ० २०१)

अर्थ—असंयतसम्यग्दृष्टि का असंयतत्व औदयिकभाव है।

"संजमघादीणं कम्माणमुदएण जेणेसो असंजदो तेण असंजदो त्ति ओदइओ भावो।"

अर्थ—क्योंकि संयम को घात करनेवाले कर्मोदय से यह असंयत होता है, अतः 'असंयत' औदयिकभाव है।

यदि चतुर्थ गुणस्थान में किंचित् भी संयम मान लिया जायगा तो उसकी संज्ञा असंयतसम्यग्दृष्टि नहीं हो सकती और न ही उसके औदयिकभाव हो सकता है, किंतु क्षायोपशमिकभाव होगा। जैसे कि तीसरे गुणस्थान में किंचित् सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव कहा गया है उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान में भी स्वरूपाचरणचारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव होगा।

"सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयादिव ततः सम्यक्त्व-स्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात्।" [धवल पु० १ पृ० १६८]

अर्थ—तीसरे गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने से वहाँ औदयिकभाव क्यों नहीं कहा है ? नहीं कहा, क्योंकि मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से जिसप्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है, उसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है, इसलिए तीसरे गुणस्थान में औदयिकभाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव कहा है।

इसी प्रकार यह भी कहना चाहिये था—अनन्तानुबन्धी प्रकृति के उदय से जिसप्रकार चारित्र का निरन्वय नाश होता है, उसप्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय से चारित्र का निरन्वय नाश नहीं होता, इसलिए चतुर्थगुणस्थान में औदयिकभाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव कहा है। किन्तु किसी भी आर्ष ग्रन्थ में चतुर्थ गुणस्थान मे चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव नही कहा गया है, सर्वत्र औदयिकभाव कहा गया है। श्री गौतम गणधर ने भी द्वादशांग में चारित्र की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान मे औदयिकभाव कहा है और द्वादशांग का वह सूत्र षट्खंडागम में श्री भूतबली द्वारा लिपिबद्ध किया गया था और वह सूत्र धवल पु० ५ पृ० २०१ पर प्रकाशित हो चुका है।

यदि यह कहा जाय कि अप्रत्याख्यानावरण सर्वघाति प्रकृति है, इस अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र की अपेक्षा से औदयिकभाव कहा गया है तो इस युक्ति के अनुसार तीसरे गुणस्थान में भी औदयिकभाव कहना चाहिये था, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति भी सर्वघाती है।

यदि यह कहा जाये कि चतुर्थ गुणस्थान में हर समय स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता, किन्तु जिस समय क्षण मात्र के लिए स्वरूप में रमणता होती है उससमय स्वरूपाचरणचारित्र हो जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि स्वरूप में रमणता व अरमणता को किस कर्म प्रकृति का अनुदय या उदय कारण है। अथवा स्वरूपाचरणचारित्र की बाधक कौन कर्म प्रकृति है जिसके उदय के कारण हर समय स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता है। अनन्तानुबन्धीप्रकृति को स्वरूपाचरणचारित्र की बाधक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चौथे व तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का सर्वदा अनुदय रहता है अतः तीसरे चौथे गुणस्थानों में सर्वदा स्वरूप मे रमणतारूप स्वरूपाचरणचारित्र पाया जाना चाहिए था। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध आता है तथा आर्ष ग्रन्थों मे ऐसा कथन पाया भी नहीं जाता है।

यदि मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों को स्वरूपाचरणचारित्र की घातक कहा जाय तो दर्शनमोहनीयकर्म को द्विस्वभावी होने का प्रसंग आजायेगा, किन्तु आर्ष ग्रन्थों में ऐसा कथन पाया नहीं जाता तथा दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व का उदय नहीं है, अतः दूसरे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का प्रसंग आ जायेगा, जो किसी को भी इष्ट नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि चतुर्थ गुणस्थान में जो प्रतिसमय निर्जरा होती है वह चारित्र का फल है और उस चारित्र को स्वरूपाचरणचारित्र कहा गया है। सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि निर्जरा को चारित्र का कार्य माना जायगा तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व से पूर्व मिथ्यादृष्टि के करणलब्धि में प्रतिसमय जो असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, वह भी चारित्र का फल मानना पड़ेगा अर्थात् मिथ्यादृष्टि के चारित्र का प्रसंग आ जायगा जो कि इष्ट नहीं है। दूसरे चतुर्थ गुणस्थान में प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा भी नहीं होती, क्योंकि असंयम के कारण, निर्जरा से अधिक बंध हो जाता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥ ४९ ॥

[मूलाचार, समयसार अधिकार]

जिसप्रकार हाथी स्नान करके अपने गीले शरीर पर बहुतेरी धूल डाल लेता है अथवा लकड़ी में छिद्र करनेवाले बर्मे के घूमने से जितनी डोरी खुलती है उससे अधिक बंधती है उसी प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि तप के द्वारा जितने कर्मों की निर्जरा करता है, असंयम के कारण वह उससे अधिक कर्मों को दृढ़ बांध लेता है।

इसी बात को श्री वसुनन्दि सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य ने भी इस गाथा की टीका में कहा—

"दृष्टान्तद्वयोपन्यासः किमर्थं इति चेन्नैष दोषः अपगतात्कर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः, आर्द्रतनुतया हि बहुतरमुपादत्ते रजः। चुंदच्छिदः कर्मेव-एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति तपसा निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति ॥ ४९ ॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रवचनसार में भी कहा है—

"सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ २३७ ॥"

अर्थ—पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला अर्थात् सम्यग्दृष्टि भी यदि असंयत है तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि यदि निज शुद्धात्मा का ज्ञान और श्रद्धान भी हो गया (आजकल के नवीन मत की परिभाषा मे जिसको निश्चयसम्यग्दर्शन कहा जाता है, ऐसा सम्यग्दर्शन भी हो गया) किंतु संयम नहीं हुआ तो वह ज्ञान और श्रद्धान निरर्थक है।

"सकलपदार्थज्ञेयाकार करम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मनं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव संयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निर्वासननिःकम्पकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम संयतः स्यात्। असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्। ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव।"

अर्थ—सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलित होता हुआ विशद एक ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे आत्मा का श्रद्धान करता हुआ भी, अनुभव करता हुआ भी यदि जीव अपने में ही संयमित होकर नहीं रहता वह कैसे संयत होगा, क्योंकि अनादि मोह, राग, द्वेष की वासना से जनित जो परद्रव्य में भ्रमण के कारण स्वेच्छाचारिणी चिद्वृत्ति के, स्वमें स्थिति से उत्पन्न निर्वासना निष्कंप, एक तत्त्व में लीनतारूप चिद्वृत्ति का अभाव है। असंयत को आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान या यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान क्या करेगा? अर्थात् कुछ नहीं करेगा। इसलिये संयमशून्य श्रद्धान-ज्ञान से सिद्धि नहीं होती है। इससे आगम-ज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व यदि ये तीनों युगपत् नहीं हैं तो मोक्षमार्ग घटित नहीं होता है।

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी नहीं है, क्योंकि उसके ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र की युगपत्ता नहीं है। [मो० मा० प्र० पृ० ४६३ अ० ९] जो मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है उसको मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, इसीलिये संयम रहित सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन को निरर्थक कहा है। इतना ही नहीं उसको अज्ञानी कहा है, क्योंकि मोक्षमार्गी ज्ञानी होता है। ज्ञान होते हुए भी यदि रागद्वेष से निवृत्त नहीं होता अर्थात् रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र धारण नहीं करता तो वह कैसा ज्ञानी? वह तो अज्ञानी है। इसी बात को श्री अमृतचन्द्र आचार्य समयसार में कहते हैं—

"यस्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोपि निरस्तः।" [स० सा० गा० ७२ आ० ख्या०]

जो आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञानी है यदि वह भी क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्त नहीं होता तो वह ज्ञानी ही नहीं है। ऐसा कहने से ज्ञान नय का निराकरण हुआ।

इसी बात को श्री जयसेन आचार्य ने दृष्टान्त द्वारा बहुत ही सुन्दर रूप से स्पष्ट किया है—

"यथा वा स एव प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि। तथाय जीवः श्रद्धानज्ञान सहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्परूपा-दसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति।"

अर्थ—जैसे दीपक को रखने वाला पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूप पतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धान, दीपक व दृष्टि कुछ भी कार्यकारी नहीं हुई। तैसे ही श्रद्धान और ज्ञान सहित भी है, परन्तु चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयमभाव से यदि अपने को नहीं हटाता है अर्थात् चारित्र को धारण नहीं करता है तो सम्यग्श्रद्धान तथा सम्यग्ज्ञान उसका क्या हित कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी हित नहीं कर सकते।

इन आर्ष प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं है, क्योंकि चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानावरणकषायरूप कर्म का उदय है तथा संयम रहित चतुर्थ गुणस्थान का सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में हितकारी नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि असंयतसम्यग्दृष्टि की क्या अनर्गल प्रवृत्ति होती है ? क्या वह मांस आदि का भक्षण करता है ? क्या वह भैरों, पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि असंयत देवियों व देवों की पूजा करता है ? क्या वह कुगुरु, कुदेव आदि की पूजा करता है ? यदि इन कार्यों को नहीं करता तो उस प्रवृत्ति को स्वरूपाचरणचारित्र या उसका अंश क्यों नहीं कहा जाता ?

यह बात सत्य है कि असंयतसम्यग्दृष्टि मनुष्य मद्य, मांस आदि का सेवन नहीं करता और न जुआ आदि सप्त व्यसन का सेवन करता है, क्योंकि इनके सेवन से सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, जैसा कि श्री अमितगति आचार्य ने सुभाषितरत्नसंदोह श्लोक ५१४, ५४७, ५९१, ६३४ में कहा है। तथा जिन-वचन में शंका आदि दोषों को नहीं लगने देता। तथा कुगुरु, कुदेव आदि की पूजा भी नहीं करता। यद्यपि असंयत सम्यग्दृष्टि की ऐसी प्रवृत्ति होती है, किन्तु आचार्यों ने इसी प्रवृत्ति की संज्ञा सम्यक्त्वाचरण दी है, स्वरूपाचरणचारित्र नहीं कहा है (श्री कुन्दकुन्द आचार्य विरचित चारित्र पाहुड़)।

कुछ ऐसे भी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि हैं जो पूर्व में सम्यग्दृष्टि संयत मुनि थे, किन्तु प्रत्याख्याना-वरण-अप्रत्याख्यानावरणरूप चारित्रमोह का उदय हो जाने से चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त हो गये हैं। यद्यपि उनका आचरण पूर्ववत् मुनि सदृश है तथापि उस आचरण को चारित्र संज्ञा नहीं दी गई। इतना ऊँचा आचरण होते हुए भी वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि असंयत ही है, क्योंकि उसके सर्वघाति अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-रूपचारित्रमोह का उदय है।

जिस चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि का आचरण श्रावक (देशव्रती) या मुनितुल्य नहीं, किन्तु माना-कि मांसाहार आदिरूप प्रवृत्ति नहीं है उस असंयतसम्यग्दृष्टि के ऐसे आचरण को जो विद्वान स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं उनके मत में, जिसकी प्रवृत्ति तथा आचरण मुनि तुल्य है, उस आचरण को परम स्वरूपाचरणचारित्र

कहना पड़ेगा, क्योंकि इसका आचरण तो बहुत ऊँचा है। मात्र आचरण या प्रवृत्ति को चारित्र संज्ञा नहीं दी गई है। यदि आचरण के साथ-साथ अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरणरूप चारित्र मोहनीय का अनुदय है तो उसको चारित्र संज्ञा दी गई है अन्यथा नहीं।

यदि कहा जाय कि मात्र अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहोदय से असंयत नहीं हो जाता, आचरण से भ्रष्ट होने पर ही असंयत होता है तो उन विद्वानों का ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्धान्त ग्रन्थों से विरोध आता है। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण के उदय होने पर लेश मात्र भी चारित्र नहीं रहता है। यदि अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण के उदय में भी चारित्र स्वीकार किया जायगा तो मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहने में भी कोई बाधा नहीं आयगी। तथा ऐसा मानने पर उन विद्वानों के मन में कर्मसिद्धान्त ग्रन्थों का सम्पूर्ण विवेचन व्यर्थ हो जायगा, निमित्त अकिंचित्कर हो जायगा। "घातिया कर्मोदय होनेपर जीव उसमें जुडे या न जुड़े यह सब मात्र उपादान के पुरुषार्थ पर निर्भर है; इस मिथ्या-सिद्धान्त की सिद्धि हो जायगी। इस सिद्धान्त की सिद्धि हो जाने पर कर्मों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी; क्योंकि ज्ञानावरण-कर्मोदय रहते हुए भी जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर उसमें नहीं जुड़ता तो केवलज्ञान की उत्पत्ति को कौन रोक सकेगा? किन्तु ये सब मिथ्या कल्पना है। श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।" (१०।१)

पहले ही मोहनीयकर्म का क्षय करके अन्तर्मुहूर्तकाल के अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का एक साथ क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है। अर्थात् इन कर्मों का क्षय केवलज्ञानोत्पत्ति में कारण है।

यदि यह कहा जाय कि पूर्ण स्वरूपाचरणचारित्र तो संज्वलन कषाय के अभाव में होगा, किन्तु उसका अंश चतुर्थगुणस्थान में प्रगट हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यथाख्यात (स्वरूपाचरण) चारित्र से पूर्ववर्ती सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय इन चार चारित्रों का अंश भी चतुर्थ गुणस्थान में मानना पड़ेगा। पाँचों चारित्र एक साथ किसी भी एक जीव के नहीं हो सकते हैं। फिर उन पाँचों के अंश एक साथ एक जीव में कैसे सम्भव हो सकता है। जब पंचम गुणस्थान में मात्र संयमासंयम चारित्र होता है, सूक्ष्म साम्पराय तथा यथाख्यात चारित्र (स्वरूपाचरण) का अंश भी नहीं होता, फिर चतुर्थ गुणस्थान मे स्वरूपा-चरणचारित्र के अंश की कल्पना करना मिथ्यात्व नहीं तो क्या सम्यक्त्व है?

चारित्र का लेश मात्र भी जहाँ पर होता है वहाँ पर असंख्यात गुणीनिर्जरा होती है, किंतु श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मूलाचार के समयसार अधिकार में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के असंयतभाव के कारण निर्जरा से अधिक बंध बतलाया है। असंयत सम्यग्दृष्टि के तप को भी अकिंचित्कर कहा है। संयममार्गणा के भेदों में स्वरूपाचरणचारित्र कोई भेद नहीं है। यथाख्यातचारित्र का ही दूसरा नाम स्वरूपाचरणचारित्र है, जैसा कि परमात्म प्रकाश अ. २ गा. ३६ की टीका में कहा है। संयममार्गणा में तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को असंयत कहा है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्रपाहुड़ में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वाचरण बतलाया है। जो इन आर्ष वाक्यों की श्रद्धा नहीं करता, किन्तु इन आर्ष वाक्यों के विपरीत अनार्ष वाक्यों पर श्रद्धा कर

चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का कदाग्रह करता है वह तो प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य के वचनानुसार चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण कहने में कोई बाधा नहीं है।

वह आचरण मुनि तुल्य भी हो सकता है, श्रावक तुल्य भी हो सकता है, साधारण पुरुष जैसा भी हो सकता है, किन्तु सबका नाम सम्यक्त्वाचरण है, क्योंकि अप्रत्याख्यान का उदय पाया जाता है।

—जै. ग./16-1-69/VII to IX/ र. ला. जैन

शंका—लाटीसंहिता पृ० १७९ पर कहा है कि चारित्रमोहनीय कर्म चारित्र गुण का ही घात करता है, आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात नहीं करता है। क्या यह कथन आर्ष ग्रन्थों के अनुकूल है ?

समाधान—चारित्रमोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ हैं। जिनमें से अनन्तानुबन्धी-चारकषाय तो सम्यग्दर्शन का घात करती हैं और शेष २१ प्रकृतियाँ चारित्र का घात करती हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा भी है—

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं ।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि ॥४५॥ (गो. क.)

अर्थ—पहली अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन का घात करती है। दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्र का घात करती है अर्थात् किंचित् भी चारित्र उत्पन्न नहीं होने देती। प्रत्याख्यानावरण-कषाय सकल चारित्र को घातती है। संज्वलन कषाय यथाख्यात-चारित्र को घातती है। इस कारण इनके नाम भी वैसे ही हैं जैसे कि इनमे गुण हैं।

प्रथम आदि अर्थात् अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय क्रमशः सम्यक्त्व, देशसंयम, सकल संयम और पूर्ण शुद्धिरूप यथाख्यात-चारित्र का घात करती हैं। किन्तु अनन्तानुबन्धी के नाश (उदयाभाव) होने पर आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। इसी प्रकार शेष के अभाव में देशसंयम आदि गुण प्रगट होते हैं।

आर्षग्रन्थों में तो यह स्पष्ट कथन है कि चारित्रमोहनीयकर्म की अनन्तानुबन्धीप्रकृति सम्यग्दर्शन का घात करती है।

शंका—लाटीसंहिता पृ० १९३ पर पंचाध्यायी के आधार से चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ स्वरूपाचरण चारित्र का प्रगट होना लिखा है सो क्या स्वरूपाचरणचारित्र संभव है ?

समाधान—पंचाध्यायी में श्री पं० राजमल्ल ने तो स्वरूपाचरणचारित्र का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैव चारित्रसंज्ञकः ॥२/७६३॥

अर्थ—कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही चारित्र है।

चतुर्थगुणस्थान में तो पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों का आस्रव व बंध होता है अर्थात् ग्रहण होता है अतः वहाँ पर स्वरूपाचरण कैसे संभव हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि ४१ प्रकृतियों का संवर हो जाने

की अपेक्षा से स्वरूपाचरण है तो इन ४१ प्रकृतियों का संवर तो सम्यग्मिथ्यात्व तीसरे गुणस्थान में भी है अतः तीसरे गुणस्थान में भी स्वरूपाचरण का प्रसंग आ जायगा। मिथ्यात्व गुणस्थान में भी प्रायोगलब्धि में ३४ बंधापसरण द्वारा ४६ प्रकृतियों का ग्रहण रुक जाता है वहाँ भी स्वरूपाचरण का प्रसंग आजायगा।

जब दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्म का अभाव हो जाता है और आत्मा के समस्त मोह-क्षोभ विहीन परिणाम हो जाते हैं उससमय स्वरूपाचरण प्रगट होता है। ऐसा पंचाध्यायी में श्री पं० राजमल्ल ने कहा है फिर वे अपने इस कथन के विरुद्ध लाटीसंहिता में चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का कथन नहीं कर सकते थे। संभवतः भाषाकार ने अपना मत लिखा है।

शंका—लाटीसंहिता पृ० १९४ पर भाषाकार लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन का अविनाभावी स्वरूपाचरण-चारित्र है, क्रियारूप चारित्र नहीं, क्योंकि क्रियारूप चारित्र पांचवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, इसलिये चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र होता है। क्या यह कथन ठीक है ?

शंका—ला. सं. पृ० १९४ पर लिखा है "स्वरूपाचरण चारित्र व सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यग्दर्शन के साथ होने वाले हैं, क्योंकि यह तीनों ही अविनाभावी हैं।" भाषाकार ने इन तीनों को अखंडित कहा है। प्रश्न यह है कि यदि यह तीनों अखंडित हैं तो तीनों एक साथ क्षायिक हो जाने चाहिये थे, किन्तु सम्यग्दर्शन सातवें गुणस्थान तक क्षायिक हो जाता है। बारहवेंगुणस्थान में सम्यक्चारित्र क्षायिक होता है और सम्यग्ज्ञान तेरहवेंगुणस्थान में क्षायिक होता है। फिर यह तीनों अखंडित कैसे ?

समाधान—सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र का अविनाभावी संबंध नहीं है। क्योंकि चतुर्थगुणस्थान में चारित्र के अभाव में भी सम्यग्दर्शन होता है।

समेतमेव सम्यक्त्वज्ञानाभ्यां चरितं मतम्।
स्यातां विनापि ते तेन गुणस्थाने चतुर्थके ॥७४/५४३॥ (उ. पु.)

अर्थ—सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सहित ही होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चतुर्थगुणस्थान में सम्यक्चारित्र बिना भी होता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रवचनसार में कहते हैं—

"सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥"

अर्थ—पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला अर्थात् सम्यग्दृष्टि यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है।

"संयम शून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।" (गाथा २३७ की टीका)

अर्थ—संयम शून्य श्रद्धान व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती।

श्री कुन्दकुन्द व श्री अमृतचन्द्र आचार्य के उपर्युक्त वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि चारित्ररहित भी सम्यग्दर्शन होता है। इससे 'सम्यग्दर्शन का अविनाभावी स्वरूपाचरणचारित्र है।' लाटी संहिता के भाषाकार के इस सिद्धान्त का खंडन हो जाता है।

श्री अकलंकदेव श्री राजवार्तिक में कहते हैं।

"सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम् ।"

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर चारित्र की प्राप्ति का नियम नहीं है, भजनीय है अर्थात् चारित्र प्राप्त हो न भी हो।

प्राचीन आचार्यों का इतना स्पष्ट कथन होते हुए यह कहना ठीक नहीं है कि "सम्यग्दर्शन का और स्वरूपाचरणचारित्र का अविनाभावी सम्बन्ध है।"

चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र के विषय में कुछ विद्वानों की निजी कल्पना है जिसका समर्थन आर्ष ग्रन्थों से नहीं होता है।

—जै. ग. 1-1-70/VII/ टो. ला. मित्तल

शंका—उपासकाध्ययन पृ० १२० पर भावार्थ में श्री पंडित कैलाशचन्दजी ने प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के साथ स्वरूपाचरणचारित्र का भी कथन किया है और हेतु यह दिया है कि चारित्र के बिना संवर व निर्जरा संभव नहीं है। स्वरूपाचरणचारित्र को शुद्धात्मानुभव का अविनाभावी भी बतलाया है। क्या चतुर्थगुणस्थान में चारित्र सम्भव है? यदि चारित्र होता है तो उसका नाम असंयतसम्यग्दृष्टि क्यों रखा गया है?

समाधान—किसी भी दि० जैन आचार्य ने चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का कथन नहीं किया है। चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र की कुछ विद्वानों की निजी कल्पना है जिसका समर्थन किसी भी आर्षग्रन्थ से नहीं होता है।

यदि श्री पं० कैलाशचन्दजी के उल्लेखानुसार चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र स्वीकार कर लिया जाय तो प्रश्न यह होता है कि वह स्वरूपाचरणचारित्र, औपशमिक आदि पाँचभावों में से कौनसा भाव है? स्वरूपाचरणचारित्र औपशमिकभाव तो हो नहीं सकता, क्योंकि औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र के भेदसे औपशमिकभाव दो प्रकार का है, जैसा कि 'सम्यक्त्वचारित्रे' सूत्र द्वारा कहा गया है। औपशमिकचारित्र तो उपशमश्रेणी में संभव है, किन्तु चतुर्थगुणस्थान में उपशमश्रेणी है नहीं। स्वरूपाचरणचारित्र को क्षायिकचारित्र भी नहीं कह सकते, क्योंकि क्षायिकचारित्र क्षपकश्रेणी में होता है।

यदि यह कहा जाय कि स्वरूपाचरणचारित्र क्षायोपशमिकभाव है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी सर्वघातीप्रकृति के उदयाभावक्षय से और सदवस्थारूप उपशमसे उत्पन्न हुआ है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी का उदयाभावक्षय और सदवस्थारूप उपशम तो तीसरे गुणस्थान में भी पाया जाता है, अत: तीसरे गुणस्थान में भी क्षायोपशमिकचारित्र का प्रसंग आ जायगा। जिनके अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना हो गई है उनके तीसरे व चौथे गुणस्थान में क्षायोपशमिकचारित्र नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी का सत्त्व न रहने से सर्वघातिया का उदयाभावक्षय और सदवस्थारूप उपशम नहीं घटित होता है, ऐसे जीवों के तो तीसरे-चौथे गुणस्थान में ही चारित्र की अपेक्षा क्षायिकभाव का प्रसंग आ जायगा। द्वादशांग के सूत्र में तो चारित्र की अपेक्षा तीसरे-चौथे गुणस्थान में औदयिकभाव कहा गया है।

"ओदइएण भावेण पुणो असंजदो ॥६॥ सम्मादिट्ठीए तिण्णि भावे भणिऊण असंजदत्तस्स कदमो भावो होदि त्ति जाणावणट्ठमेदं सुत्तमागदं। संजमघादीणं कम्माणमुदएण जेणेसो असंजदो तेण असंजदो त्ति ओदइओ भावो। हेट्ठिल्लाणं गुणट्ठाणाणमोदइयमसंजदत्तं किण्ण परूविदं? ण एस दोसो, एदेणेव तेसिमोदइयअसंजदभावोवलद्धीदो।"

धवल पु० ५ पृ० २०१।

असंयतसम्यग्दृष्टि का (चतुर्थ गुणस्थान में) असंयतत्व औदयिकभाव है ॥६॥ असंयतसम्यग्दृष्टि के सम्यग्दर्शन की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक तीनों भाव कहकर उसके असंयतत्व की अपेक्षा कौनसा भाव होता है, इस बात को बतलाने के लिये यह सूत्र आया है। चूंकि संयम के घात करनेवाले कर्मों के उदय से यह असंयत होता है इसलिये 'असंयत' औदयिकभाव है। इसी सूत्र से अधस्तन (तीसरे, दूसरे, प्रथम) गुणस्थानों में औदयिक-असंयतभाव की उपलब्धि होती है।

यदि श्री पं० कैलाशचन्दजी के मतानुसार यह मान लिया जाये कि चारित्र के बिना संवर निर्जरा नहीं होती तो मिथ्यादृष्टि के प्रायोग्यलब्धि में स्थितिघात-अनुभागघात व ४६ प्रकृतियों के संवर होने से तथा कारणलब्धि में प्रतिसमय असंख्यातगुणित निर्जरा व स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात होने से मिथ्यादृष्टि के भी चारित्र के सद्भाव का प्रसंग आ जायगा।

यदि चतुर्थगुणस्थान में शुद्धात्मानुभवरूप सम्यक्त्व का अविनाभावी स्वरूपाचरणचारित्र का नियम माना जावे तो चतुर्थगुणस्थान की असंयतसम्यग्दृष्टि ऐसी संज्ञा नहीं रहेगी तथा श्री अकलंकदेव के 'सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम्।' अर्थात् सम्यग्दर्शन के होनेपर चारित्र होने का नियम नहीं है' इन वाक्यों से विरोध आ जायगा। श्री कुन्दकुन्द आचार्य का, 'सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।' अर्थात् पदार्थों का श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि असंयत को निर्वाण प्राप्त नहीं होता, यह वाक्य व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि सम्यक्त्व का अविनाभावी स्वरूपाचरणचारित्र को मानने से कोई भी सम्यग्दृष्टि असंयत नहीं होगा। अतः चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र की कल्पना आगम अनुकूल नहीं है।

—जै. ग. 4-1-73/V/ कमलादेवी

शंका—चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होता, इसका क्या प्रमाण है ?

समाधान—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के वाक्य निम्न प्रकार हैं—

"चारित्तं णत्थि जदो अविरदअंतेसु ठाणेसु।"

अर्थ—चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त चारित्र नहीं होता है।

समेतमेव सम्यक्त्वज्ञानाभ्यां चरितं मतम्।
स्यातां विनापि ते तेन गुणस्थाने चतुर्थके॥ (उत्तरपुराण ७४।५४३)

अर्थ—सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से सहित ही होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक् चारित्र के बिना भी होते हैं।

—जै. ग. 29-1-70/VII/ ब्र. पं. सच्चिदानन्द

शंका—१० अप्रेल ६९ के जैन सन्देश के लेख में पं० राजधरलाल ने सर्वार्थसिद्धि से जो चारित्र का लक्षण उद्धृत करते हुए बतलाया है कि चतुर्थ गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का संवर हो जाने के कारण वहाँ पर चारित्र की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि संवर चारित्र का कार्य है। क्या यह ठीक है ?

समाधान—चतुर्थ गुणस्थान में यदि मात्र ४१ प्रकृतियों के संवर के कारण संयम माना जायगा तो तीसरे गुणस्थान में भी संयम मानना होगा क्योंकि वहाँ पर भी उन्हीं ४१ प्रकृतियों का संवर है। इतना ही नहीं दूसरे

गुणस्थान में भी मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का संवर है। वहाँ भी चारित्र का प्रसंग आ आयगा। मिथ्यादृष्टि के करणलब्धि में ४६ प्रकृतियों का संवर है, अतः मिथ्यादृष्टि के भी चारित्र का प्रसंग आ जायगा।

कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूतक्रिया पाँच पाप हैं। उन पाँच पापों के त्याग को अथवा सर्वसावद्ययोग के त्याग को चारित्र कहा गया है। इसीलिये सामायिक आदि के भेद से चारित्र को पाँच प्रकार का कहा गया है—

"सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम्।" मोक्षशास्त्र ९।१८

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात, यह पाँच प्रकार का चारित्र है।

"सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिकशुद्धिसंयमः।" धवल पु० १ पृ० ३६९

अर्थ—सकल सावद्ययोग के त्याग को सामायिकचारित्र कहते हैं।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, अतः वह असंयत है। अर्थात् उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत पाँच पापरूप क्रिया का त्याग नहीं है।

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे तसे चावि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥ धवल पु० १ पृ० १७३

अर्थ—जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

इस अविरत अर्थात् असंयम के कारण उसके अधिक व दृढ़तर कर्मबन्ध होता है।

सम्माविट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदव कम्मतं तस्स॥ १०।४९॥ मूलाचार

संस्कृत टीका—"अपगतात्कर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः। चुंदच्छिदः कर्मेव एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति तपसः निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति॥४९॥"

अविरतसम्यग्दृष्टि का तप उपकारक नहीं है, क्योंकि गज स्नान के समान जितना कर्म आत्मा से छूट जाता है उससे बहुतर कर्म असंयम से बंध जाता है अथवा जैसे बर्मा का एक पार्श्वभाग रज्जू से दृढ़ वेष्ठित होता है और दूसरा मुक्त होता है वैसे ही तप से असंयतसम्यग्दृष्टि जितनी कर्म निर्जरा करता है उससे अधिक व दृढ़ कर्मबंध असंयम के द्वारा कर लेता है। अतः चतुर्थगुणस्थान में चारित्र या संयम नहीं है।

—जै. ग. 30-4-70/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित प्रवचनसार गाथा ९ के भावार्थ में लिखा है—

"सिद्धान्त ग्रन्थों में जीव के असंख्यपरिणामों को मध्यम वर्णन से चौदह-गुणस्थानरूप कहा गया है। उन गुणस्थानों को संक्षेप से 'उपयोग'रूप वर्णन करते हुए, प्रथम तीन गुणस्थानों में तारतम्य पूर्वक (घटता हुआ) अशुभोपयोग, चौथे से छट्ठे गुणस्थान तक तारतम्य पूर्वक (बढ़ता हुआ) शुभोपयोग, सातवें से बारहवें गुणस्थान

तक तारतम्यपूर्वक शुद्धोपयोग और अन्तिम दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल कहा गया है, ऐसा वर्णन कथंचित् हो सकता है।"

यह कथन किस आर्ष वाक्यों के आधार से किया गया है ?

समाधान—भावार्थ में उपर्युक्त कथन प्रवचनसार गाथा नं० ९ पर श्री जयसेन आचार्य की टीका के आधार पर किया गया है, किन्तु उस टीका में "ऐसा वर्णन कथंचित् हो सकता है।" इसका द्योतक कोई शब्द नहीं है। श्री जयसेन आचार्य ने टीका में इस प्रकार कहा है—

"किंच जीवस्यासंख्येयलोकमात्रपरिणामाः सिद्धान्ते मध्यम प्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथिताः। अत्र प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभ–शुद्धोपयोग–रूपेण कथितानिकथमितिचेत्–मिथ्यात्व सासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरसयोग्य-योगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः ॥९॥"

श्री जयसेन आचार्य की इस संस्कृत टीका में "ऐसा वर्णन कथंचित् हो सकता है।" इसका द्योतक एक भी शब्द नहीं है। सोनगढ़वालों को चतुर्थगुणस्थान में भी शुद्धोपयोग का कथन करना इष्ट है और श्री जयसेनाचार्य ने उपर्युक्त टीका में चतुर्थगुणस्थान में मात्र शुभोपयोग का कथन किया है, जो कि सोनगढ़वालों को इष्ट नहीं है। अतः **श्री जयसेनाचार्य की उपर्युक्त टीका को हलका करने के लिये सोनगढ़वालों ने "ऐसा वर्णन कथंचित् हो सकता है।" ये शब्द अपनी ओर से बढ़ा दिये हैं। जो उचित नहीं है।**

चतुर्थगुणस्थान में संयम की भावना होती है, किन्तु मात्र भावना से संयम नहीं हो जाता है। इसीप्रकार चतुर्थगुणस्थान में शुद्धोपयोग की भावना हो सकती है किन्तु मात्र भावना से शुद्धोपयोग नहीं हो जाता।

—*जै. ग. 24-4-69/VI/ र. ला. जैन, मेरठ*

शंका—आंशिक शुद्धता के नाते चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग क्यों न मान लिया जावे ?

समाधान—प्रवचनसार गाथा १४ में शुद्धोपयोग से परिणत आत्मा का स्वरूप इसप्रकार कहा है—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतव संजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥१४॥

अर्थ—पदार्थों और सूत्रों को भलीभांति जानकर जो संयम और तप में युक्त होकर वीतराग हो गये हैं अर्थात् राग-द्वेष का अभाव कर दिया है और जिनके सुख-दुःख समान हैं ऐसा मुनि शुद्धोपयोगी कहा गया है।

इस गाथा से इतना स्पष्ट हो जाता है कि शुद्धोपयोग मुनि के हो सकता है श्रावक के शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है। प्रत्येक मुनि के भी शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है, किन्तु जो मुनि वीतरागी हो गये हैं। अर्थात् जिन मुनियों ने राग-द्वेष का अभाव कर दिया है वे मुनि ही शुद्धोपयोगी हो सकते हैं। फिर चतुर्थगुणस्थान में शुद्धोपयोग कैसे हो सकता है ? चतुर्थगुणस्थान में शुभोपयोग हो सकता है, किन्तु शुद्धोपयोग या उसका अंश भी नहीं हो सकता। उपयोग की एकसमय में शुभ और शुद्ध दो पर्याय नहीं हो सकती हैं। शुभोपयोगरूप पर्याय का व्यय होने पर ही शुद्धोपयोगरूप पर्याय का उत्पाद हो सकता है। शुभोपयोगरूप पर्याय का व्यय तो हो नहीं और शुद्धोपयोग-रूप पर्याय के अंश का उत्पाद हो जावे सो संभव नहीं है।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥ भावपाहुड़

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस गाथा में जीव के भाव तीन प्रकार के बतलाये हैं, (१) शुभ (२) अशुभ (३) शुद्ध। आर्त-रौद्ररूप परिणाम अशुभ हैं और धर्मध्यान शुभपरिणाम है। चतुर्थगुणस्थान में शुक्लध्यान तो हो नहीं सकता। धर्मध्यान हो सकता है जो शुभोपयोगरूप है शुद्धोपयोगरूप नहीं है। किसी भी आर्षग्रन्थ में चतुर्थगुणस्थान में शुद्धोपयोग का कथन नहीं है।

—जै. ग. 20-11-69/VII/ ब्र. स. म. जैन, सच्चिदानन्द

शुद्धोपयोग अव्रती के नहीं होता

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित २ मार्च १९६४ के हिन्दी आत्मधर्म पृष्ठ ६०९ पर लिखा है कि 'शुद्धोपयोग की शुरूआत चौथे गुणस्थान में होती है।' क्या यह कथन ठीक है?

समाधान—चतुर्थगुणस्थान में चारित्र नहीं है और वह इन्द्रियों के विषयों से विरक्त भी नहीं है, ऐसा आर्ष ग्रन्थों में सिद्ध किया गया है। चारित्ररहित के शुद्धोपयोग सम्भव नहीं है। शुद्धोपयोग तो शुक्लध्यान के समय होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्धोपयोगी का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥ प्रवचनसार

जिसने पदार्थों को और सूत्रों को भली-भांति जान लिया है और जो संयम व तप से युक्त है, रागरहित है तथा सुख-दुःख में समता भाववाला है ऐसा श्रमण (मुनि) शुद्धोपयोगी कहा गया है।

श्री कुन्दकुन्दस्वामी के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरागसंयमवाले मुनि के भी शुद्धोपयोग की शुरुआत सम्भव नहीं है। वीतराग संयमवाले मुनि के अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग की शुरुआत होती है।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ अष्टपाहुड़

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस गाथा में शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनप्रकार के भाव बतलाये हैं। आर्त और रौद्र-रूप परिणाम तथा ध्यान अशुभोपयोग है। धर्मध्यान शुभोपयोग है। इसीसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि शुक्ल-ध्यान शुद्धोपयोग है।

अप्रमत्त संयत से पूर्व शुक्लध्यान नहीं हो सकता है अतः अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थान से पूर्व शुद्धोपयोग भी संभव नहीं है।

इसी बात को श्री जयसेन आचार्य ने प्राभृत शास्त्र के आधार से प्रवचनसार गाथा ९ की टीका में निम्न प्रकार कहा है—

"अथ प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि। कथमिति चेत्-मिथ्यात्व सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरत-प्रमत्तसंयतगुणस्थान-

त्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः। तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः।"

प्राभृतशास्त्र में १४ गुणस्थानों की अपेक्षा उन्हीं शुभ-अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगों का संक्षेप से कथन किया गया है। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान, दूसरा सासादन गुणस्थान और तीसरा मिश्रगुणस्थान इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से कम-कम होता हुआ अशुभोपयोग है। इसके पश्चात् चौथा असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान, पाँचवाँ देशविरत गुणस्थान, छठा प्रमत्तसंयत गुणस्थान इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुभोपयोग है। उसके पश्चात् सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक इन छह गुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है। सयोगिजिन और अयोगिजिनरूप तेरहवें चौदहवें गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि शुद्धोपयोग की शुरुआत सातवेंगुणस्थान से होती है और आठवें आदि गुणस्थानों में वह वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

शुद्धोपयोग के पर्यायवाची नामों से भी यही सिद्ध होता है कि चतुर्थगुणस्थान में शुद्धोपयोग की शुरुआत नहीं होती है।

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चिन्तानिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थ वाचकाः॥ षट्प्राभृत संग्रह टीका

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चिन्तानिरोध और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थ के वाचक हैं।

षट्प्राभृत-संग्रह टीका, पद्मनन्दि पंचविंशति ४।६४

"सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः।"

प्रवचनसार गा० २३० टीका

सर्वपरित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतरागचारित्र, शुद्धोपयोग ये सब एकार्थ के वाचक हैं।

—जै. ग. 31-12-70/VII/ अमृतलाल

शंका—चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव के निर्विकल्प अनुभूति का काल कितना है?

समाधान—चतुर्थगुणस्थान में निर्विकल्प अनुभूति होना ही असम्भव है। किसी भी असंयतसम्यक्त्वी को निर्विकल्प अनुभूति नहीं हो सकती।

—पत्राचार 25-6-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती का सम्यक्त्वाचरण चारित्रगुण की पर्याय नहीं है

शंका—क्या चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण चारित्र नहीं होता है? यदि होता है तो किसप्रकृति के अभाव में होता है?

समाधान—जो आचरण सम्यक्त्वगुण का बाधक है वह आचरण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के नहीं होता है। जैसे कुदेव कुगुरु आदि की प्रशंसा, स्तवन आदि, देवमूढता, गुरुमूढ़ता, लोकमूढ़ता आदि जिन-वचन

में शंका आदि, जातिमद, कुलमद आदिरूप आचरण असंयतसम्यग्दृष्टि के नहीं होता है। इसरूप आचरण न होने का नाम सम्यक्त्वाचरण है। यह सम्यक्त्वाचरण सम्यग्दर्शनगुण का अविनाभावी है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क सम्यग्दर्शन की घातक कर्मप्रकृतियाँ हैं, इनके उदय के अभाव में सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इन कर्मप्रकृतियों के उदयाभाव में जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसके साथ-साथ उस सम्यग्दर्शन के अनुकूल आचरण भी होने लगता है, वही सम्यक्त्वाचरण है। सम्यक्त्वाचरण का कथन करने के लिये श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इसप्रकार कहा है—

एवं चिय णाऊण य सव्वं मिच्छत्तदोस संकाई।
परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शन में मल उत्पन्न करनेवाले शंकादि मिथ्या दोषों का मन, वचन, काय इन तीनों योगों से त्याग करो। इस प्रकार सम्यक्त्वाचरण को जानो।

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशति ॥

तीन मूढ़ता, आठमद, छह अनायतन और शंकादि आठ दोष ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं।

यह सम्यक्त्वाचरण चारित्रगुण की पर्याय नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शनगुण की पर्याय है

—जै. ग. 30-4-70/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

शंका—आगमपद्धति से सम्यक्त्वाचरण, अध्यात्मपद्धति से स्वरूपाचरण मानने में कोई दोष होगा क्या ?

समाधान—ऐसा कोई आर्ष वचन नहीं है। बिना आर्ष वचन के मात्र अपनी कल्पना के आधार पर सम्यक्त्वाचरण को स्वरूपाचरण मानना उचित नहीं है। जो साधु पुरुष हैं उनका नेत्र मात्र एक आगम ही है। कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदोचक्खू ॥ ३।३४॥ प्रवचनसार

—जै. ग. 29-1-70/VII/ सच्चिदानन्द

शंका—चारित्रपाहुड़ में जो सम्यक्त्वाचरण कहा है क्या वह अविरती के द्रव्यचारित्र (निर्दोष-सम्यक्त्व) को प्रधान कर कहा है।

समाधान—सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं (शंकादि ८, मद ८, अनायतन ६, मूढ़ता ३)। अपने आचरण के द्वारा इन २५ दोषों को न लगने देना वही सम्यक्त्वाचरणचारित्र है। जिसका कथन श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्रपाहुड़ में किया है। असंयत सम्यग्दृष्टि के द्रव्यचारित्र तो मुनि तुल्य हो सकता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायोदय के कारण उसकी चारित्र संज्ञा नहीं है।

—जै. ग. 29-1-70/VII/ ब्र. पं. सच्चिदानन्द

स्वरूपाचरण व सम्यक्त्वाचरण में अन्तर

शंका—सम्यक्त्वाचरण को ही स्वरूपाचरण कहें तो क्या हानि है ? कौनसा दोष आता है ?

समाधान—सम्यक्त्वाचरण और स्वरूपाचरण इन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है अतः इन दोनों को एक नहीं कहा जा सकता है।

"जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं।" [चारित्रपाहुड़]

संस्कृत टीका—"जिनस्य सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धि यज्ज्ञानं दृष्टिर्दर्शनं च ताभ्यां शुद्धं पञ्चविंशति-दोष-रहितं प्रथमं तावदेकं सम्यक्त्वाचरणचारित्रं।"

अर्थ—वीतरागसर्वज्ञदेव सम्बन्धी ज्ञान व दर्शन का शुद्ध होना सम्यक्त्वाचरण है। २५ दोषों से रहित जो दर्शन है वही सम्यक्त्वाचरण है।

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशति॥

अर्थ—तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ दोष ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं।

इन २५ दोषों द्वारा सम्यग्दर्शन को मलिन न होने देना सम्यक्त्वाचरण है। जिन सात प्रकृतियों के उपशम आदि से सम्यग्दर्शन होता है, उन्हीं सात प्रकृतियों के अभाव में सम्यक्त्वाचरण होता है, किन्तु स्वरूपाचरण चारित्रमोहनीयकर्म की २८ प्रकृतियों के अभाव में होता है, क्योंकि स्वरूपाचरणचारित्र यथाख्यातचारित्र है। जो उपशांतमोह–ग्यारहवें गुणस्थान में, क्षीणमोह-बारहवें गुणस्थान में, सयोगकेवली-तेरहवें गुणस्थान में और अयोग-केवली-चौदहवें गुणस्थान में होता है।

"रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भवन्ति इदानीं तदभावेऽन्यच्चारित्र-माचरन्तु तपोधनाः।" परमात्म प्रकाश २।३६।

अर्थ—राग-द्वेष के अभावरूप यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरण ही निश्चयचारित्र है, वह स्वरूपाचरण-चारित्र इससमय पंचमकाल में भरतक्षेत्र में नहीं है, इसलिये साधुजन मुनि महाराज सामायिकादि अन्य चारित्र का आचरण करो।

"यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः उपशान्तकषायादयोऽयोग केवल्यन्ता।" स. सि. १।८

अर्थ—उपशान्तकषाय ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थानतक यथाख्यातचारित्र होता है। अर्थात् ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें इन चार गुणस्थानों में ही यथाख्यातचारित्र होता है, किन्तु सम्यक्त्वाचरण चौथे गुणस्थान में हो जाता है।

स्वरूपाचरणचारित्र अपरनाम यथाख्यातचारित्र का स्वरूप निम्न प्रकार है—

"मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणं अथयाख्यातचारित्रमित्याख्यायते। पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तत्प्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम्। अथशब्दस्यानन्तर्यार्थवृत्तित्वा-न्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः।" सर्वार्थसिद्धि ९।१८

अर्थ—समस्त मोहनीयकर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है उस अवस्थारूप जो चारित्र होता है वह अथाख्यातचारित्र अथवा यथाख्यातचारित्र है। मोहनीयकर्म के क्षय या उपशम होने के पूर्व जिसे प्राप्त नहीं किया इसलिये वह अथाख्यात है। 'अथ' शब्द 'अनन्तर' अर्थवर्ती होने से समस्त मोहनीयकर्म के क्षय या उपशम के अनन्तर वह यथाख्यातचारित्र आविर्भूत होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

समस्त मोहनीयकर्म के उपशम या क्षय से पूर्व स्वरूपाचरणचारित्र उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः सम्यक्त्वाचरण को स्वरूपाचरणचारित्र नहीं कहा जा सकता है।

प्रवचनसार में भी कहा है—

"स्वरूपेचरणं चारित्रं। दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादित समस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्त निर्विकारो जीवस्य परिणामः।"

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्मोदय से उत्पन्न हुए जो मोह, क्षोभरूप भाव, उन समस्त मोह-क्षोभरूप भावों के अभाव से उत्पन्न हुआ जो जीव का अत्यन्त निर्विकार परिणाम, वह अत्यन्त निर्विकार परिणाम स्वरूपाचरणचारित्र है। जिससमय तक सूक्ष्मचारित्रमोहनीयकर्मोदय से लेशमात्र भी अबुद्धिपूर्वक क्षोभ परिणाम है, उससमय तक स्वरूपाचरणचारित्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। स्वरूपाचरणचारित्र, चारित्रगुण की विशेष पर्याय है। जिससमय तक क्षोभरूप पूर्वपर्याय का व्यय नहीं हो जाता उससमय तक अत्यन्त निर्विकाररूप चारित्रगुण की स्वरूपाचरणचारित्रपर्याय का उत्पाद नहीं हो सकता। स्वरूपाचरणचारित्र से पूर्व सूक्ष्म साम्परायरूप चारित्रगुण की पर्याय रहती है। चारित्रगुण की सूक्ष्मसाम्परायरूप पर्याय का तो व्यय न हो और स्वरूपाचरण अर्थात् यथाख्यातरूप पर्याय का उत्पाद हो जावे सो सम्भव नहीं है। एक पर्याय में दूसरी पर्याय या दूसरी पर्याय का अंश संभव नहीं है। दर्शनगुण की मिथ्यात्वरूप पर्याय में सम्यक्त्वरूप पर्याय का अंश भी सम्भव नहीं है। मिथ्यात्वरूप पर्याय के व्यय होने पर ही सम्यक्त्वरूप पर्याय का उत्पाद सम्भव है। जो चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र का अंश मानते हैं, उन्होंने पर्याय व स्वरूपाचरणचारित्र का स्वरूप ही नहीं समझा। सम्यक्त्वाचरण को स्वरूपाचरण कहने से जिन वचनों पर अश्रद्धा का दोष आता है।

—जै. ग. 20-11-69/VII/ ब्र पं सरदारमल जैन, सच्चिदानन्द

स्वसंवेदन तथा स्वरूपाचरण में अन्तर

शंका—स्वसंवेदन और स्वरूपाचरण में क्या अन्तर है?

समाधान—स्वसंवेदन ज्ञानगुण की पर्याय है और स्वरूपाचरण चारित्रगुण की पर्याय है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने प्रवचनसार गाथा ३० की टीका में कहा है।

"यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते।"

जैसे दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपने प्रभासमूह से दूध में व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है, वैसे ही संवेदन अर्थात् ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होने से कर्ता-अंश से आत्मा को प्राप्त होता है। करण-अंश के द्वारा वह संवेदन ज्ञानपने को प्राप्त हुआ कारणभूतपदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंमें व्याप्त होकर वर्तता है।

इसलिये कार्य में कारण का उपचार करके यह कहने में विरोध नहीं आता कि ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।

"चेतयंते अनुभवन्ति उपलभंते विंदंतीत्येकार्थाः।" पंचास्तिकाय गा० ३८ टीका।

अर्थ—चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है, वेदन करता है, ये एकार्थ हैं।

इसप्रकार प्रवचनसार और पंचास्तिकाय की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने संवेदन का अर्थ ज्ञान किया है। अतः स्वसंवेदन का अर्थ स्व का ज्ञान हो जाता है श्री नागसेन आचार्य ने तत्त्वानुशासन में कहा है—

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥१६१॥

अर्थ—योगियों को जो स्वयं के द्वारा जो स्वयं का ज्ञेयपना और ज्ञातापन है उसका नाम स्वसंवेदन है। उसी को आत्मा का अनुभव या दर्शन कहते हैं।

इससे इतना और स्पष्ट हो जाता है कि स्व का ज्ञान अर्थात् स्वसंवेदन यथार्थरूप से योगियों को होता है।

"ननु स्वसंवेदनमेकमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति तत्कथं नोक्तमिति न वाच्यम्; तस्य सुखादिज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य मानसप्रत्यक्षत्वात्, इन्द्रिय ज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य चेन्द्रिय समक्षत्वात्। अन्यथा तस्य स्वव्यवसायायोगात्। स्मृत्यादि स्वरूपसंवेदनं मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नामाध्यक्षमस्ति।" (प्रमेयरत्नमाला २।५)

अर्थ—कोई शंका करता है एक अन्य भी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है उसे आपने क्यों नहीं कहा ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सुख, दुःख आदि के ज्ञानस्वरूप जो स्वसंवेदन होता है, उसका मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है और जो इन्द्रियज्ञान स्वरूप संवेदन होता है, उसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है। यदि ऐसा न मान जाय तो स्वसंवेदनरूप ज्ञान के स्वव्यवसायकता नहीं बन सकती है। तथा स्मृति आदि स्वरूप जो संवेदन होता है वह भी मानस प्रत्यक्ष ही है। इसलिये इससे भिन्न स्वसंवेदन नाम का कोई प्रत्यक्ष नहीं है।

इसप्रकार स्व के ज्ञान को स्वसंवेदन कहा गया है जिसका मानसप्रत्यक्ष व इन्द्रिय में अन्तर्भाव हो जाता है।

"स्वरूपेचरणं चारित्रमिति वीतरागं चारित्रं।" परमात्म प्रकाश २।४०।

अर्थ—स्वरूप में चरणरूप जो चारित्र, वह वीतरागचारित्र है। "रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति।" परमात्म प्रकाश २।३६।

अर्थ—रागद्वेष का अभाव है लक्षण जिसका ऐसे परम यथाख्यातरूप स्वरूपाचरण को चारित्र कहा है। "स्वरूपे चरणं चारित्रमिति" पंचास्तिकाय गा० १५४ की टीका, प्रवचनसार गाथा ९ की टीका। अर्थात् स्वरूप में जो चर्या वह चारित्र है।

इन आर्ष प्रमाणों से स्पष्ट है कि स्वरूपाचरण चारित्रगुण की पर्याय है जो रागद्वेष का अभाव होने पर ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में होता है। इसीलिये स्वरूपाचरण को वीतरागचारित्र कहा गया है।

अतः स्वसंवेदन ज्ञान है और स्वरूपाचरण चारित्र है दोनों भिन्न-भिन्न गुणों की पर्याय है।

—जै. ग. 19-2-70/VI/ कैलाशचन्द राजा टॉयज, दिल्ली

क्या चौथे गुणस्थान में साक्षात् रत्नत्रय प्रकट होता है ?

शंका—२ मार्च १९६४ के सोनगढ़ के पत्र हिन्दी आत्मधर्म पृ० ६१५ पर लिखा है—"चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व का त्याग होने पर साक्षात् रत्नत्रय प्रगट होता है।" क्या यह कथन ठीक है ?

समाधान—रत्नत्रय का अभिप्राय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीनरत्न से है। सम्यक्-चारित्र का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥ (रत्न. क. श्रा.)

पाप की प्रणालीरूप अर्थात् आस्रवरूप जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनसे विरत होना व्रत है वह सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है।

चतुर्थगुणस्थान का नाम अविरतसम्यग्दृष्टि है। जिस जीवके मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, अनन्तानुबन्धी-क्रोध-मान-माया-लोभ इन छह प्रकृतियों के अनुदय के कारण मिथ्यात्व का त्याग हो जाने से सम्यक्त्व तो प्रगट हो गया, किन्तु हिंसा आदि पाप-प्रणाली से विरत न होने के कारण चारित्र प्रगट नहीं हुआ है वह चौथे गुणस्थान वाला अविरत-सम्यग्दृष्टि है अथवा असंयतसम्यग्दृष्टि है। कहा भी है—

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे तसे चावि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ धवल पु. १ पृ. ७३

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

इस अविरति अर्थात् असंयम के कारण उस चतुर्थगुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि के अधिक व दृढ़तर कर्मबंध होता है।

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्मतं तस्स ॥ १०।४९ ॥ मूलाचार

संस्कृत टीका—अपगतात् कर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः। चुंदच्छिदः कर्मेव एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति तपसः निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति ॥ ४९ ॥

अविरतसम्यग्दृष्टि का तप उपकारक नहीं है, क्योंकि गजस्नान के समान जितना कर्म आत्मा से छूट जाता है उससे बहुतर कर्म असंयम से बंध जाता है। अथवा जैसे बर्मा का एक पार्श्व भाग रज्जू से मुक्त होता है, दूसरा भाग रज्जू से दृढ़ वेष्टित होता है। वैसे ही तप से असंयतसम्यग्दृष्टि जितनी कर्म-निर्जरा करता है उससे अधिक व दृढ़ कर्मबंध असंयमसे कर लेता है।

इन आर्ष वाक्यों से स्पष्ट है कि चतुर्थगुणस्थान में अविरतसम्यग्दृष्टि के चारित्र न होने के कारण रत्नत्रय नहीं है। इतना ही नहीं मोक्षमार्ग भी नहीं है, क्योंकि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। कहा भी है—

सद्दहमाणो अत्थे असंजदा वा ण णिव्वादि ॥ २३७ ॥

संस्कृत टीका—असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपश्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् ? ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । अतः आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतेव ॥२३७॥

अर्थ—पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है। यथोक्त आत्मतत्त्व का प्रतीतिरूप श्रद्धान व यथोक्त आत्मतत्त्व का अनुभूतिरूप ज्ञान असंयम को क्या करेगा ? अर्थात् कुछ नहीं करेगा। इसलिये संयमशून्य श्रद्धान व ज्ञान से मोक्ष–सिद्धि नहीं होती। इस आगम ज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्व के अयुगपतत्ववाले के मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता है।

इसप्रकार असंयतसम्यग्दृष्टि के चारित्र हीनता के कारण मोक्षमार्ग घटित नहीं होता है। इसीलिये चारित्र हीन (चारित्र रहित) सम्यग्दृष्टिपुरुष का सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान निरर्थक है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अष्टपाहुड़ मे कहा भी है—

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥

श्री अकलंक देव ने भी कहा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि चारित्रहीन पुरुष का सम्यग्ज्ञान व उसका अविना-भावी सम्यग्दर्शन निरर्थक है।

श्री अकलंकदेव ने यह बतलाया है—जंगल में दो मनुष्य थे एक अंधा दूसरा स्वांखा था, किन्तु लंगड़ा था। जंगल में अग्नि लग जाने पर अन्धा मनुष्य इधर-उधर दौड़ता है, किन्तु यथार्थ मार्ग ज्ञात न होने के कारण जंगल से बाहर निकल नहीं पाता और अग्नि में जलकर नष्ट हो जाता है।

स्वांखा मनुष्य यथार्थ मार्ग तो जानता है और उस मार्ग का श्रद्धान भी है, किन्तु लंगड़ा होने के कारण जंगल से बाहर नहीं जा सकता है वह स्वांखा भी अंधे के समान अग्नि में जलकर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार असंयत-सम्यग्दृष्टि संसार से निकलने का यथार्थ मार्ग जानता है और श्रद्धान भी है, किन्तु चारित्रहीन होने के कारण संसार से निकल नहीं सकता। वह भी मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि के समान संसार में दुःख उठाता है, अतीन्द्रिय सुख नहीं प्राप्त कर सकता।

णाणं चरित्तहीणं, दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं, लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥ अष्टपाहुड़

इन आर्ष प्रमाणों से सिद्ध है कि चौथेगुणस्थान में रत्नत्रय प्रगट नहीं होता है। इसलिये चौथे गुणस्थान वाला मोक्षमार्गी नहीं है और निर्वाण भी प्राप्त नहीं कर सकता अतः उसका सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तत्कालिक मोक्षमार्ग की अपेक्षा निरर्थक है।

—जै. ग. 31-12-70/VII/ अमृतलाल

अनन्तानुबन्धी की चारित्र प्रतिबन्धकता का स्पष्टीकरण

शंका नं० १—धवल पु० १ पृ० १६९ पर समाधान करते हुए जो कहा है कि—"नहीं क्योंकि अनन्तानुबन्धीकषाय चारित्र का प्रतिबन्ध करती है इसलिये यहां उसके क्षयोपशम से तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है" तो इससे क्या यह ध्वनित नहीं होता कि अनन्तानुबन्धीकषाय चारित्र की ही प्रतिबंधक है, सम्यक्त्व की प्रतिबंधक नहीं है, किन्तु ऐसा मानने पर विरोध होता है। इसका समन्वय कैसे हो ? यहां किस विवक्षा से अनन्तानुबन्धी को मात्र चारित्र की प्रतिबंधक कहा गया है ?

समाधान—धवल पु० १ पृ० १६८ पर यह लिखा है—"तस्य चारित्रप्रतिबन्धकत्वात्।" इसका अर्थ यह है कि "अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है अतः उसके क्षयोपशम से तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव नहीं कहा, क्योंकि प्रथम चार गुणस्थानों में दर्शनमोहनीयकर्म की विवक्षा है।" यहां पर 'चारित्र-प्रतिबंधक' का अर्थ 'चारित्रमोहनीय' है। इसका खुलासा इसप्रकार है—

मिच्छे खलु ओदइओ, बिदिये पुण पारणामिओ भावो।
मिस्से खओवसमिओ, अविरदसम्मम्हि तिण्णेव ॥११॥
एदे भावा णियमा, दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारित्तं णत्थि जदो, अविरद अंतेसु ठाणेसु ॥१२॥ (गो जी.)

प्रथम गुणस्थान में औदयिकभाव है, दूसरे गुणस्थान में पारिणामिकभाव है, तीसरे मिश्रगुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव है, चौथे अविरत-सम्यक्त्व गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीनों भाव हैं। ये भाव दर्शनमोहनीयकर्म की अपेक्षा से कहे गये हैं, क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानपर्यंत चारित्र नहीं होता है।

इस आर्ष प्रमाण से सिद्ध है कि प्रथम चार गुणस्थानों में दर्शनमोहनीयकर्म की विवक्षा है, अन्यथा सासादन में अनन्तानुबन्धी के उदय की अपेक्षा से औदयिकभाव कहते।

"आदिमचदुगुणट्ठाणभावपरूवणाए दंसणमोहवदिरित्तसेसकम्मेसु विवक्खाभावा।"

अर्थ—आदि के चार गुणस्थानों सम्बन्धी भावों की प्ररूपणा में दर्शनमोहनीयकर्म के सिवाय शेष कर्मों के उदय की विवक्षा का अभाव है। (धवल पु. ५ पृ. १९७)

"सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। किमिति मिथ्यादृष्टिरिति न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादन परिणामः प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत। यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबंधिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात्। तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात्। सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यर्पितनयापेक्षः। विवक्षित दर्शनमोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिकः सासादनगुणः।" (धवल पु० १ पृ० १६४-१६५)

—सम्यग्दर्शन और चारित्र[1] को प्रतिबन्ध करने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किन्तु

---

१. यद्यपि अनुवादक महोदय ने 'स्वरूपाचरणचारित्र' लिखा है, किन्तु मूल में 'स्वरूपाचरण' का द्योतक कोई शब्द नहीं है। यही भूल अक्टूबर १९८८ के 'सन्मति संदेश' में की गई है।

मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहाँ नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, केवल सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

प्रश्न—ऊपर के कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी जाती?

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादनगुणस्थान को स्वतंत्र कहने से अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों की द्विस्वभावता का कथन सिद्ध हो जाता है।

दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से जीवों के सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है, जिससे कि सासादनगुणस्थान को मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता। तथा जिस अनन्तानुबन्धी के उदय से दूसरे गुणस्थान में जो विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीय का भेद नहीं, क्योंकि वह चारित्रमोहनीय है।

प्रश्न—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का प्रतिबन्धक होने से उसे उभयरूप (दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है?

उत्तर—यह आरोप ठीक नहीं, क्योंकि यह तो हमें इष्ट ही है, अनन्तानुबन्धी को उभयरूप माना ही है। फिर भी परमागम में मुख्य नय की अपेक्षा इस तरह का (उभयरूप संज्ञा का) उपदेश नहीं दिया है।

विवक्षित दर्शनमोहनीयकर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना सासादनगुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है। [धवल पु० १ पृ० १६४-१६५]

तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव बतलाया है, वहाँ पर यह प्रश्न हुआ कि अनंतानुबन्धी के क्षयोपशम से क्या क्षायोपशमिक भाव कहा गया है? इसके उत्तर में भी यही कहा गया कि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकर्म की प्रकृति है और प्रथम चार गुणस्थानों में चारित्रमोहनीयकर्म की विवक्षा नहीं, दर्शनमोहनीय की विवक्षा है। दर्शनमोहनीयकर्म की अपेक्षा से तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव कहा गया है। आगम इस प्रकार है—

"पंचसु गुणेषु कोऽयं गुण इति चेत् क्षायोपशमिकः।" (धवल पु० १ पृ० १६७)

अर्थ—पाँच प्रकार के भावों में से तीसरे गुणस्थान में कौनसा भाव है? क्षायोपशमिक भाव है।

"मिथ्यात्वक्षयोपशमादिवानन्तानुबन्धीनामपि सर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यते इति चेन्न, तस्य चारित्रप्रतिबन्धकत्वात्। येऽनन्तानुबन्धिक्षयोपशमादुत्पत्तिं प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदयिकः स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात्।" (धवल पु० १ पृ० १६८-१६९)

प्रश्न—जिसप्रकार मिथ्यात्व के क्षयोपशम से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति बतला कर क्षायोपशमिकभाव सिद्ध किया है, उसीप्रकार अनन्तानुबन्धीकर्म के सर्वघातिस्पर्धकों के क्षयोपशम से उत्पत्ति बतलाकर क्षायोपशमिकभाव क्यों नहीं कहा?

उत्तर—क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रमोहनीय है, इसलिये यहाँ उसके क्षयोपशम से तृतीयगुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव नहीं कहा गया।

जो आचार्य तीसरे गुणस्थान की उत्पत्ति अनन्तानुबन्धी के क्षयोपशम से मानकर क्षायोपशमिकभाव कहते हैं उनके मत में सासादनगुणस्थान में औदयिकभाव मानना पड़ेगा, किन्तु आगम में दूसरे गुणस्थान में औदयिकभाव स्वीकार नहीं किया गया है।

इन उपर्युक्त आर्ष वाक्यों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में अनंतानुबंधी का क्षयोपशम तो है, किंतु उसके क्षयोपशम की अपेक्षा से तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव नहीं कहा गया है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकर्म की प्रकृति है। यदि अनन्तानुबन्धी के क्षयोपशम से तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव माना जायेगा तो दूसरे गुणस्थान में, अनन्तानुबन्धी का उदय होने से, औदयिकभाव मानना पड़ेगा, जिसके कारण आर्ष ग्रन्थों से विरोध आ जायेगा, क्योंकि आर्ष ग्रन्थों में दूसरे गुणस्थान में पारिणामिकभाव माना गया है।

इन आर्ष वाक्यों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि अनन्तानुबन्धी के क्षयोपशम से चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र की कल्पना की जायगी तो तीसरे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के अभाव में भी स्वरूपाचरण-चारित्र की कल्पना का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का क्षयोपशम धवलाकार ने उपर्युक्त वाक्यों में स्वीकार किया है।

चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र की कल्पना करने वालों का यह प्रश्न हो सकता है कि यदि अनन्तानुबन्धी स्वरूपाचरणचारित्र को नहीं घात करती तो चारित्र के विषय में उसका क्या व्यापार है? इसका उत्तर धवल ग्रंथराज में इस प्रकार दिया गया है—

"ण चारित्तमोहणिज्जा वि. अपच्चक्खाणावरणादीहि आवरिद-चारित्तस्स आवरणे फलाभावा।" (धवल पु० ६ पृ० ४२)।

यहाँ पर यह प्रश्न किया गया है कि अनन्तानुबन्धी को चारित्रमोहनीयकर्म भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण आदि कषाय चारित्र का घात करती है अतः चारित्र के घात करने में अनन्तानुबन्धी के फल का अभाव है। अर्थात् अनन्तानुबन्धी चारित्र का घात नहीं करती है, क्योंकि चारित्र का घात तो अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय करती है अतः अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय कर्म नहीं हो सकता?

"ण चाणंताणुबंधिचउक्कवावारो चारित्ते णिप्फलो, अपच्चक्खाणावरणादि-अणंतोदय पवाह कारणस्स णिप्फलत्तविरोहा।" (धवल पु० ६ पृ० ४३)

धवलाकार उपर्युक्त शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं—चारित्र में अनन्तानुबन्धी चतुष्क का व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानावरणादि के उदय को अनन्तरूप प्रवाह करने में अनन्तानुबन्धी कारण है। अतः अनन्तानुबन्धी के चारित्र में निष्फलत्व का विरोध है। अर्थात् अनन्तानुबन्धी स्वयं चारित्र का घात नहीं करती, किन्तु चारित्र का घात करने वाली अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदय को अनंत-प्रवाहरूप कर देती है। इसीलिए इसका नाम अनन्तानुबन्धीकषाय रखा गया है तथा चारित्रमोहनीयकर्म के भेदों में कहा गया है।

धवल ग्रन्थराज से तो यह सिद्ध होता है कि अनंतानुबंधी कषाय चारित्र की घातक नहीं है, किंतु चारित्र-घातक कर्म प्रकृतियों को बल देने वाली है फिर धवलाकार अनन्तानुबन्धी को स्वरूपाचरणचारित्र की घातक कैसे कह सकते हैं। धवलाकार ने तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का क्षयोपशम बतलाया है, किंतु किसी भी आचार्य

से तीसरे गुणस्थान में चारित्र स्वीकार नहीं किया है, इससे भी सिद्ध होता है कि अनन्तानुबन्धी चारित्र की घातक नहीं है किंतु चारित्र की घातक प्रकृतियों की अनन्तता में कारण है।

गोम्मटसार में भी अनन्तानुबन्धी को चारित्र की घातक नहीं बतलाया है।

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि ॥४५॥ (गो० क०)

अर्थ—पहली अनन्तानुबंधीकषाय सम्यग्दर्शन को घात करती है, दूसरी अप्रत्याख्यानावरणकषाय देशचारित्र को, तीसरी प्रत्याख्यानावरणकषाय सकल चारित्र को, चौथी संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र को घातती हैं। इसी कारण इनके नाम भी वैसे ही हैं जैसे इनमें गुण हैं।

सम्मत्तदेससयलचरित्त-जहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया, चउसोल असंखलोगमिदा ॥२८३॥ (गो० जी०)

अर्थ—अनन्तानुबन्धी चतुष्क सम्यक्त्व को घातती है, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क देशसंयम को, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क सकलसंयम को, संज्वलन चतुष्क यथाख्यातचारित्र को घातती हैं। कषायों के चार, सोलह अथवा असख्यातलोकप्रमाण भेद हैं।

पञ्चसंग्रह में कहा गया है—

पढमो दंसणघाई बिदिओ तह घाई देसविरइत्ति।
तइओ संजमघाई चउथो जहखायघाईया ॥११५॥ (ज्ञानपीठ पञ्चसंग्रह पृ० २५)

अर्थ—प्रथम अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यग्दर्शन का घात करती है, द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशविरति की घातक है। तृतीय प्रत्याख्यानावरणकषाय सकलसंयम की घातक है और चतुर्थ संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र की घातक है।

सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक में भी श्री पूज्यपाद व श्री अकलंकदेवादि आचार्यों ने कहा है कि अनन्तानुबंधी का फल तो अनन्तसंसार परिभ्रमण है। चारित्र का घात करना तो अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों का कार्य है।

"अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्, तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्देशविरतिंसंयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः।" [अ० ८ सूत्र ९ की टीका]

अनन्तसंसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है, जो कषाय उस मिथ्यात्व की अनुबन्धी हैं वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। जिसके उदय में यह जीव स्वल्प देशचारित्र को भी करने में समर्थ नहीं होता वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। जिसके उदय में पूर्ण विरति को करने में समर्थ नहीं होता वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ हैं।

तत्त्वार्थवृत्ति में भी कहा है कि अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व को घातने वाली है और अनन्तसंसार का कारण है, किन्तु चारित्र की घातक नहीं है, क्योंकि चारित्र की घातक तो अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय हैं।

"अनन्तं मिथ्यादर्शनमुच्यते, अनन्तभवभ्रमणहेतुत्वात् । अनन्तं मिथ्यात्वम् अनुबध्नन्ति सम्बन्धयन्ति इत्येवंशीला ये क्रोधमानमायालोभास्ते अनन्तानुबन्धिनः । अनन्तानुबन्धिषु कषायेषु सत्सु जीवः सम्यक्त्वं न प्रतिपद्यते तेन ते सम्यक्त्वघातकाः भवन्ति । येषामुदयात् स्तोकमपि देशव्रतं संयमासंयमनामकं जीवो धर्तुं न क्षमते ते अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः ।" [अ० ८ सूत्र ९]

मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं, क्योंकि वह मिथ्यादर्शन अनन्तभव भ्रमण का कारण है । जिस क्रोध, मान, माया, लोभकषाय का स्वभाव उस अनन्तरूप मिथ्यात्व का बन्ध कराना है, अर्थात् जिस कषाय का सम्बन्ध मिथ्यात्व से है वह अनन्तानुबंधी है । अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता, अतः अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व की घातक है । जिस कषाय के उदय में स्तोक भी चारित्र धारण न कर सके वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है ।

"ईषत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानम् तदावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभा उच्यन्ते ।"

किञ्चित् त्याग को अप्रत्याख्यान कहते हैं । जो किंचित् भी त्याग अर्थात् चारित्र न होने देवे उसको अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ कहते हैं ।

इन सब आर्ष प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यक्त्व की घातक है किसी विवक्षित चारित्र की घातक नहीं है । फिर भी यह चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के प्रवाह को अनन्तरूप कर देती है अतः इसको चारित्रमोहनीय या चारित्रप्रतिबंधक प्रकृति कहा है । फिर भी सम्यग्दृष्टि ऐसे कार्य नहीं करता जिनसे सम्यग्दर्शन में बाधा आती हो जैसे मिथ्यादृष्टियों की, अन्य मत वालों की प्रशंसा या स्तवन नहीं करता और जिनवाणी में शंका नहीं करता, इत्यादि ।

—जै. ग./9-1-69/VII, IX/ ट. ला. जैन

शंका—षट्खंडागम सूत्र १० की टीका में अनन्तानुबन्धी को सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरणचारित्र को घातने वाली बतलाया है ।

समाधान—षट्खंडागम पु० १६४ सूत्र १० की टीका में "सम्यग्दर्शनचारित्र–प्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्धी" ऐसा कहा है । इसमें 'स्वरूपाचरण' का शब्द नहीं है । अनुवादक महोदय ने अपनी धारणा के अनुसार हिंदी भाषा में 'स्वरूपाचरण' का शब्द जोड़ दिया है, जो उचित नहीं था ।

—जै. ग. 29-1-70/VII/ ब्र. पं. सच्चिदानन्द

अनन्तानुबन्धी कषाय का कार्य

शंका—श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य ने गोम्मटसार की रचना धवल व जयधवल के अनुसार की है अतः गोम्मटसार के कथन में तथा धवल सिद्धांत ग्रंथ के कथन में परस्पर मतभेद नहीं होना चाहिए, किन्तु ७ मई १९७० के 'जैन सन्देश' में श्री पं० कैलाशचन्दजी ने लिखा है कि गोम्मटसार में तो अनन्तानुबन्धी कषाय को सम्यग्दर्शन की घातक बतलाया है और धवल में अनन्तानुबन्धी को सम्यग्दर्शन व चारित्र की घातक बतलाया है, इस प्रकार श्री पं० कैलाशचन्दजी ने दोनों ग्रंथों में परस्पर मतभेद दिखलाया है ।

इस मत भेद का क्या कारण है ?

समाधान—धवल में अनन्तानुबन्धीकषाय का कथन करते हुए उसका स्वरूप निम्न प्रकार लिखा है—

"अनंतभवों को बांधना ही जिनका स्वभाव है, वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। जिन अविनष्ट स्वरूपवाले अर्थात् अनादि परम्परागत क्रोध, मान, माया, लोभ के साथ जीव अनंतभव में परिभ्रमण करता है, उन क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों की अनंतानुबंधी संज्ञा है। इस पर शंका की गई—अनंतानुबंधी क्रोधादि कषायों का उदयकाल अंतर्मुहूर्त मात्र ही है और स्थिति चालीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपमप्रमाण है अतएव इन कषायों के अनंतभवानुबंधिता घटित नहीं होती है? आचार्य कहते हैं—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि इन कषायों के द्वारा जीव में उत्पन्न हुए संस्कार का अनंतभवों में अवस्थान माना गया है। अथवा जिन क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुबंध अनंत होता है वे अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। इनके द्वारा वृद्धिगत संसार अनंतभवों में अनुबंध को नहीं छोड़ता है, इसलिये अनंतानुबंध यह नाम संसार का है। यह संसारात्मक अनंतानुबंध जिनके होता है वे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं।"

श्री पूज्यपाद तथा श्री अकलंकदेव ने भी अनंतानुबंधीकषाय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

"अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनं अनन्तं तदनुबंधिनोऽनंतानुबंधिनः क्रोधमानमायालोभः।"
स० सि० व रा० वा० ८/९।

"अनंतसंसारकारणत्वादनंतं मिथ्यात्वं अनुबध्नंतीत्यनंतानुबंधिनः।" मूलाराधना पृ० १८०५

इन आर्ष ग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनंतानुबंधीकषाय किसी विवक्षित चारित्र का आवरण करने वाली नहीं है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के द्वारा चारित्र का अभाव हो जाता है। कहा भी है—

"ण चारित्तमोहणिज्जत्तं पि, अपच्चक्खाणावरणादीहि आवरिदचारित्तस्स फलाभावादो।"

अनंतानुबन्धीकषाय चारित्र को मोहन करनेवाली भी नहीं है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के द्वारा आवरण किये गये चारित्र के आवरण करने में फल का अभाव है।

जब अनन्तानुबन्धीकषाय चारित्र का आवरण नहीं करती है तो उसको चारित्रमोहनीय प्रकृति क्यों कहा गया है? इसका समाधान निम्न प्रकार दिया गया है—

"ण चाणंताणुबंधिचउक्कवावारो चारित्ते णिप्फलो, अपच्चक्खाणादि अणंतोदयपवाहकारणस्स णिप्फलत्तविरोहा।"

चारित्र में अनन्तानुबन्धी चतुष्क का व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि चारित्र के घातक अप्रत्याख्याना-वरणादि के उदय को अनन्त प्रवाह में कारणभूत अनन्तानुबन्धीकषाय के निष्फलत्व का विरोध है।

अनन्तानुबन्धीकषाय विवक्षित चारित्र का आवरण न करने पर भी चारित्र को आवरण करने वाली अप्रत्याख्यानावरणादि कर्मप्रकृतियों के उदय को अनन्त प्रवाहरूप कर देती है इसलिये अनन्तानुबन्धी कषाय को चारित्रमोहनीयकर्म कहा गया है।

अनन्तानुबन्धीकषाय चारित्रमोहनीयकर्म-प्रकृति होते हुए भी इसके निमित्त से विपरीताभिनिवेशरूप मिथ्यात्व उत्पन्न होता है अतः सम्यग्दर्शन की घातक है। कहा भी है—

"मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते।"

विपरीताभिनिवेश को मिथ्यात्व कहते हैं। वह विपरीताभिनिवेश मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इनके निमित्त से उत्पन्न होता है।

अनन्तानुबन्धी का चारित्र सम्बन्धी फल मात्र इतना है कि वह चारित्र को आवरण करने वाली अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियों के उदय को अनन्त प्रवाहरूप कर देवे और सम्यग्दर्शन सम्बन्धी फल यह है कि अनन्तानुबन्धी विपरीताभिनिवेशरूप मिथ्यात्व उत्पन्न करके सम्यग्दर्शन का घात कर देवे।

अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शन का तो घात करती है, किन्तु किसी विवक्षित चारित्र का घात नहीं करती है, ऐसा धवलग्रंथ का स्पष्ट मत है। इसी मत को ध्यान में रखकर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार में निम्न प्रकार कहा है—

सम्मत्तदेससयल–चरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कषाया चउसोल असंखलोगमिदा॥

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयल चारित्तं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि॥

इसी बात को अन्य आचार्यों ने भी निम्न गाथाओं में कहा है—

सम्मत्त-देससंजम संजुहीखाइकसाइं पढमाइं।
तेसिं तु भवे नासे सद्दाई चउहं उप्पत्ती॥

पढमो दंसणघाई विदिओ तह घाइ देसविरइ त्ति।
तइओ संजमघाई चउत्थो जहखायघाईया॥

अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शन का घात करती है। अप्रत्याख्यानावरण देशसंयम को घातती है। प्रत्याख्यानावरण सकलसंयम को घातती है। संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र की घातक है।

जो यह मत श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का है वह मत श्री वीरसेन आचार्य का था, क्योंकि श्री वीरसेन आचार्य ने अनन्तानुबन्धी को विवक्षित चारित्र की घातक नहीं कहा है, किन्तु चारित्र की घातक तो अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों को बतलाया है। अनन्तानुबन्धी कषाय तो चारित्र की घातक प्रकृतियों के उदय को अनन्त प्रवाहरूप कर देती है। यदि अनन्तानुबन्धी को किसी भी चारित्र की घातक माना जायगा तो उसके अभाव में

तीसरे गुणस्थान में वह चारित्र होना चाहिये, किन्तु तीसरे गुणस्थान में चारित्र का सद्भाव किसी को भी इष्ट नहीं है। अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शन की घातक है इसीलिये दूसरे गुणस्थान में कुमति व कुश्रुतज्ञान कहा गया है।

—जै. ग. 9-7-70/VII/ हंसकुमार ओवरसियर

शंका—श्री पं० राजधरलालजी व्याकरणाचार्य का यह मत है कि अनन्तानुबन्धी कषायोदय के अभाव में चारित्र गुण का अंश प्रगट होता है। उनसे प्रश्न हुआ कि अनन्तानुबन्धी के अभाव में जो चारित्र गुण प्रगट हुआ वह औपशमिकचारित्र है या क्षायोपशमिकचारित्र है या क्षायिकचारित्र है या औदयिकभाव है पारिणामिकभाव है? श्री पं० राजधरलालजी ने कहा कि अनन्तानुबन्धी के अभाव में जो चारित्रगुण का अंश प्रगट होता है वह क्षायोपशमिकभाव है। क्या यह ठीक है?

समाधान—पंडितजी की यह कल्पना निम्न सूत्रों के विरुद्ध है—

"असंयताः आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु। असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन।" (सर्वार्थसिद्धि १।८)

प्रथम चार गुणस्थानों में जीव असंयत होते हैं। वह असंयतभाव औदयिकभाव है। द्वादशांग में भी इसी प्रकार कहा है—

"ओदइएण भावेण पुणो असंजदो ॥६॥ सम्मादिट्ठीए तिण्णि भावे भणिऊण असंजदत्तस्स कदमो भावो होदि त्ति जाणावणट्ठमेदं सुत्तमागदं। संजमघादीणं कम्माणमुदएण जेणसो तेण असंजदो त्ति ओदइओ भावो।"

(धवल पु० ५ पृ० २०१)

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि का असंयतत्व औदयिकभाव है ॥६॥ सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्व को औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक ऐसे तीन भाव कहकर उसके असंयतत्व की अपेक्षा कौनसा भाव होता है इस बात को बतलाने के लिये यह सूत्र आया है। चूंकि संयम को अर्थात् चारित्र को घात करनेवाले कर्मों के उदय से यह असंयतरूप होता है, इसलिये 'असंयत' औदयिकभाव है।

इसप्रकार श्री गौतम गणधर आदि सभी आचार्यों ने चारित्रगुण की अपेक्षा इस गुणस्थान में औदयिकभाव कहा है क्षायोपशमिकभाव नहीं कहा है। यदि चारित्रगुण का कुछ अंश भी प्रगट हो जाता तो आचार्य महाराज औदयिकभाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव कहते, जैसा कि तीसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व के अवयव को क्षायोपशमिक कहा है।

'पडिबंधिकम्मोदए संते वि जो उवलब्भइ जीवगुणावयवो सो खओवसमिओ उच्चइ।'

अर्थ—प्रतिबन्धी कर्म के उदय होने पर भी जीव के गुण का जो अवयव अर्थात् अंश प्रगट होता है, वह गुणांश क्षायोपशमिक कहलाता है।

"सम्मामिच्छत्तुदए संते सद्दहणासद्दहणप्पओ करंचिओ जीवपरिणामो उप्पज्जइ। तत्थ जो सद्दहणंसो सो सम्मत्तावयवो। तं सम्मामिच्छत्त्‌दओ ण विणासेदि त्ति सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं।"

अर्थ—सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के उदय होने पर श्रद्धानअश्रद्धानात्मक मिश्रित जीवपरिणाम उत्पन्न होता है, उसमें जो श्रद्धान का अंश है वह सम्यक्त्व का अवयव है। उस श्रद्धानांश को सम्यग्मिथ्यात्वकर्मोदय नहीं नष्ट करता है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक है।

इसीप्रकार यदि अनन्तानुबन्धीकर्मोदय के अभाव में अप्रत्याख्यानावरणचारित्र प्रतिबंधी कर्मोदय होनेपर भी जीवके चारित्रगुण का यदि कोई अवयव (अंश) प्रगट होता तो वह चारित्र गुणांश क्षायोपशमिक कहलाता; किन्तु द्वादशांग में चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के चारित्र की अपेक्षा औदयिकभाव कहा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का अभाव हो जाने पर भी चारित्र गुण का अंश प्रगट नहीं होता है। कहा भी है—

"ण चारित्तमोहणिज्जा वि, अपच्चक्खाणावरणादीहि चेव आवरिदचारित्तस्स आवरणे फलाभावा।"

अनन्तानुबंधी कर्म चारित्र को मोहन (घात) करने वाला भी नहीं है, अन्यथा अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के चारित्र को आवरण करनेरूप फल का अभाव हो जायगा।

यदि अनन्तानुबन्धीकषाय चारित्रगुण को घात नहीं करती है तो उसको चारित्रमोहनीयकर्म क्यों कहा गया है? इसका उत्तर श्री वीरसेनाचार्य ने निम्न प्रकार दिया है—

"ण चाणंताणुबंधिचउक्कवावारो चारित्ते णिप्फलो, अपच्चक्खाणादिअणंतोदयपवाहकारणस्स णिप्फलत्त-विरोहा।" धवल ६।४३।

अर्थ—चारित्र में अनन्तानुबन्धिचतुष्कका व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि चारित्र की घातक अप्रत्याख्यानावरणादि के उदय को अनन्तप्रवाह में अनन्तानुबन्धी कारण है। अतः अनन्तानुबन्धी के चारित्र में निष्फलत्व का विरोध (अभाव) है।

इन आर्ष प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अनन्तानुबन्धी किसी चारित्र की घातक नहीं है और न उसके अभाव में कोई चारित्र प्रगट होता है।

—जै. ग. 30-4-70/IX/ र. ला. जैन

स्वरूपाचरण जीव की प्रत्येक अवस्था में नहीं पाया जाता

शंका—क्या स्वरूपाचरण व्यापक है? क्या यह जीव की प्रत्येक अवस्था में पाया जाता है?

समाधान—'स्वरूपाचरण' चारित्र गुण की पर्याय है, जिसका स्वरूप श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने निम्नप्रकार कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो, अप्पणो हु समो॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका—स्वरूपे चरणं चारित्रम्, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्त मोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।

यहाँ यह बतलाया गया है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्मोदय से मोह-क्षोभ उत्पन्न होते हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्मोदय के अभाव में मोह और क्षोभ का भी अभाव हो जाता है। मोह-क्षोभ के अभाव हो जानेपर जीव का जो अत्यन्त निर्विकारपरिणाम होता है वह स्वरूप में रमणरूप चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरणचारित्र है।

चारित्रमोहनीयकर्मोदय का अभाव उपशांतमोहादि गुणस्थानों में होता है अतः उन्हीं गुणस्थानों में स्वरूपाचरणचारित्र होता है उपशांतमोह से नीचे के गुणस्थानों में स्वरूपाचरण नहीं होता है। स्वरूपाचरण चारित्रगुण की शुद्धपर्याय है, अतः यह जीव की सब अवस्थाओं में नहीं पाई जाती है। पर्याय क्रमवर्ती होती है, वह व्यापक नहीं हो सकती, वह तो व्याप्य होती है। गुण या द्रव्य व्यापक होता है।

—जै. ग. 12-7-74/VII/ रो. ला. मित्तल

निश्चयोचित चारित्र का अर्थ सम्यक्त्वाचरण चारित्र है

शंका—उपासकाध्ययन की गाथा २४२ का अर्थ करते हुए श्री पं० कैलाशचन्दजी ने 'निश्चयोचितचारित्रः' का अर्थ स्वरूपाचरणचारित्र किया है किन्तु फुट नोट (Foot Note) में उसका अर्थ 'अव्रतोऽपि योग्यचारित्रः' किया गया है। निश्चयोचितचारित्र का क्या अभिप्राय है?

समाधान—इस विषय को समझने के लिये श्री कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा विरचित चारित्रपाहुड व प्रवचनसार का आश्रय लेना होगा। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने सम्यक्त्वाचरणचारित्र और संयमाचरणचारित्र, ऐसे दो प्रकार के चारित्र का कथन चारित्रपाहुड में किया है, जो इस प्रकार है—

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरण-चारित्तं।
बिदियं संजमचरणं जिणणाण संदेसियं तं पि ॥५॥

संस्कृत टीका—जिनस्य सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धि यज्ज्ञानं दृष्टिर्दर्शनं च ताभ्यां शुद्धं पञ्चविंशतिदोषरहितं प्रथमं तावदेकं सम्यक्त्वाचरणचारित्रं भवति। द्वितीयं संयमाचरणं चारित्राचारलक्षणं चारित्रं भवति। जिनस्य सम्बन्धि यत्सम्यग्ज्ञानं तेन सन्देशितं निरूपितं तदपि चारित्रं भवति। उक्तञ्च—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ, तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति, दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ उपासकाध्ययन श्लोक २४१

श्री पं० पन्नालालजी सागर द्वारा कृत अर्थ—चारित्र के दो भेद हैं। उनमें से पहला जिनेन्द्रवीतरागसर्वज्ञदेव के ज्ञान और दर्शन से शुद्ध सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और दूसरा जिनेन्द्रदेव के सम्यग्ज्ञान के द्वारा निरूपित संयमाचरणचारित्र है।

सम्यक्त्वाचरणचारित्र का दूसरा नाम दर्शनाचारचारित्र है। यह दर्शनाचारचारित्र सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान और दर्शन से शुद्ध है अर्थात् आगे कहे जाने वाले पच्चीस दोषों से रहित है। तथा संयमाचरण चारित्र का दूसरा नाम चारित्राचार है यह चारित्राचारचारित्र जिनेन्द्रदेव के सम्यग्ज्ञान द्वारा अच्छी तरह निरूपित है। पच्चीस दोष इसप्रकार हैं—

तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शङ्का आदि आठ दोष ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं।

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द आचार्य तथा संस्कृत टीकाकार ने यह बतलाया है कि सम्यग्दर्शन की शुद्धता अर्थात् सम्यग्दर्शन में २५ दोष न लगने देना सम्यक्त्वाचरणचारित्र है। टीकाकार ने २५ दोषों को बतलाने के लिये जो श्लोक उद्धृत किया है वह उपासकाध्ययन का श्लोक नं० २४१ है। इससे विदित होता है कि उपासकाध्ययन के श्लोक नं० २४१ में सम्यक्त्व के २५ दोषों के कथन द्वारा सम्यक्त्वाचरण चारित्र का कथन किया गया है और उसके अनन्तर ही श्लोक २४२ में निश्चयोचितचारित्रः का प्रयोग किया गया है। श्री कुन्दकुन्द-आचार्य ने जिसको सम्यक्त्वाचरणचारित्र कहा है उसी को सोमदेव सूरि ने "निश्चयोचितचारित्र" कहा है। अतः "निश्चयोचित-चारित्र" का अर्थ—"सम्यक्त्वाचरणचारित्र" करना उचित है।

चारित्रपाहुड़ गाथा ५ की टीका का समर्थन चारित्रपाहुड़ की गाथा ६, ७, ८ और ९ में होता है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं।

एवं चिय णाऊण य सव्वे, मिच्छत्तदोस संकाई।
परिहर सम्मत्तमला, जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

णिस्संकिय णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं, वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाए।
जं चरइ णाणजुत्तं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

सम्मत्तचरणसुद्धा, संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे, पावंति णिव्वाणं ॥९॥

संस्कृत टीका—सम्यक्त्वचारित्रे ये सूरयः शुद्धाः सम्यक्त्वदोषरहिताः सम्यक्त्वगुणसहिताश्च भवन्ति ।

—जै. ग. 4-9-75/VIII/ सुलतानसिंह

(१) चतुर्थ गुणस्थान में "चारित्र स्पर्शन" या चारित्र की प्राथमिक अवस्था नहीं है।

(२) रुचि प्रतीति, श्रद्धा व स्पर्श शब्दों में अन्तर

शंका—१८ दिसम्बर १९६९ के 'जैन सन्देश' में लिखा है—"श्री वीरसेनस्वामी ने चारित्र के साथ 'स्पर्शन' शब्द का व्यवहार तो बहुत ही उचित किया है यह चारित्र की प्राथमिक अवस्था का द्योतक है।" क्या ज्ञान का फल चारित्र की प्राथमिक अवस्था ही है ? यदि ऐसा है तो दसवें गुणस्थान का व ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान का चारित्र किसका फल है ? रुचि, प्रतीति, श्रद्धा, स्पर्श शब्दों में क्या अन्तर है ?

समाधान—धवल पु० १ पृ० ३५३ पर ज्ञान के कार्य का कथन श्री वीरसेन आचार्य ने इस प्रकार किया है—"किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च" यहाँ पर रुचि प्रतीति श्रद्धा और स्पर्श का प्रयोग हुआ जिनका अर्थ इस प्रकार है—

"श्रद्दधाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति। प्रत्येति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथावत्सम्प्रतिपद्यते, रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचिं करोति। मोक्षार्थित्वात्तत्साधनतया स्पर्शति अवगाहयति।"

भावपाहुड़ गा. ८२ टीका

विपरीताभिनिवेश से रहित होना 'श्रद्धा' है। 'प्रतीति' करता है अर्थात् प्रवेश करता है। रुचि का अर्थ इच्छा है। स्पर्शति का अर्थ अवगाहन करना, डुबकी लगाना है। 'चारित्रस्पर्शनं' का अर्थ 'चारित्र की प्राथमिक अवस्था' किसी भी आचार्य ने नहीं किया है। दि० जैन आचार्य महाराज ने तो 'स्पर्शन' शब्द का अर्थ अवगाहन किया है। कोष में अवगाहन का अर्थ डुबकी लगाना किया है। प्राथमिक अवस्था में डुबकी लगाना असंभव है।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात इन पाँचोंरूप सकलचारित्र, संयमासंयमरूप देशचारित्र और असंयमरूप अचारित्र, इस प्रकार चारित्र की तीन अवस्था हैं। इनमें से अचारित्र (असंयम) तो चारित्र की प्राथमिक अवस्था हो नहीं सकती, क्योंकि अचारित्र (असंयम) चारित्र के अभाव का द्योतक है। यदि अचारित्र का अर्थ चारित्र की प्राथमिक अवस्था किया जायगा तो मिथ्यात्वगुणस्थान में भी चारित्र की प्राथमिक अवस्था का प्रसंग आजायगा, क्योंकि प्रथम चार गुणस्थानों में अचारित्र है अर्थात् चारित्र नहीं है। कहा भी है—

"चारित्तं णत्थि जदो अविरदअंतेसु ठाणेसु।" (गो. जी. गा १२)

यदि देशचारित्र (संयमासंयम) को चारित्र की प्राथमिक अवस्था कहा जाय तो देशचारित्र चतुर्थगुण-स्थान में होता नहीं है, पाँचवें गुणस्थान में होता है। यदि सकलचारित्र को चारित्र की प्राथमिक अवस्था कहा जाय तो सकल चारित्र छठे आदि गुणस्थानों में होता है, चतुर्थ गुणस्थान में सकलचारित्र नहीं होता है। इसप्रकार ज्ञान का कार्य चारित्रस्पर्शन कहने से चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र सिद्ध नहीं होता है। किन्तु कुदेव आदि की पूजन, सप्त व्यसन-सेवन आदि ऐसा आचरण नहीं होता है जिससे सम्यग्दर्शन में बाधा आजाय। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने भी 'उपेक्षा संयम' ज्ञान का फल कहा है—

"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।"

सूक्ष्मसांपरायचारित्र, यथाख्यातचारित्र भी तो ज्ञान का फल है। यदि 'चारित्रस्पर्शन' का अर्थ चारित्र की प्राथमिक अवस्था किया जायगा तो यथाख्यातचारित्र ज्ञान का कार्य नहीं रहेगा, किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि उपेक्षासंयम भी ज्ञान का कार्य (फल) बतलाया गया है। अतः 'चारित्रस्पर्शन' का अर्थ चारित्र की प्राथमिक अवस्था करना आर्ष ग्रन्थों का अपलाप करना है।

—जै. ग. 24-12-70/VII-VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

☸

पं. रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व

卐 मत-सम्मत 卐

- "उनके स्मृतिग्रन्थ के बहाने जिस प्रकार उनके विस्तृत कृतित्व का यह प्रसाद पुञ्ज सम्पादकों ने जिज्ञासुओं में वितरित करने के लिए तैयार किया है, यह सचमुच बहुत उपयोगी बन गया है। ....मैं समझता हूँ कि किसी अध्येता विद्वान् को आदरपूर्वक स्मरण करने का इससे अच्छा कोई और माध्यम नहीं हो सकता है।"
  —ब्र. पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी (म.प्र.)

- "इसमें जो ज्ञानराशि भरी हुई है, विद्वज्जन उसका निश्चय ही समादर करेंगे। युगल सम्पादकों का श्रम गजब का एवं अकल्प्य है। इनकी यह अपूर्व देन विद्वानों और स्वाध्यायी बन्धुओं को अपूर्व लाभ पहुँचावेगी।"
  – पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य, पं. दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य

- "....यह विविध शंकाओं का समाधान करने वाला 'आकर ग्रन्थ' है।"
  —पद्मश्री पं. (डॉ.) पन्नालाल साहित्याचार्य, जबलपुर

- "....जो व्यक्ति इस ग्रन्थ का मनोयोगपूर्वक कम-से-कम तीन बार स्वाध्याय कर ले, वह जैनागम के चारों अनुयोगों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ...आज इस महान् ग्रन्थ को पढ़कर मैं अपने को धन्य समझ रहा हूँ। मेरी इच्छा बार-बार इस कृति को पढ़ने की होती है।"
  —प्रो. उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

- "स्व. श्री मुख्तार सा. द्वारा प्रस्तुत समाधानों का यह संग्रह वास्तव में एक सन्दर्भ-ग्रन्थ है जिसमें धवला, जयधवला आदि श्रुत के सागर को भर दिया गया है। जैन विद्या के अध्येताओं के लिए यह संग्रह पठनीय व मननीय है।"
  —डॉ. दामोदर शास्त्री सर्वदर्शनाचार्य, दिल्ली

- "यह विशाल ग्रन्थ अपनी विस्तृत और प्रामाणिक सामग्री के कारण सहज ही 'आगम ग्रन्थ' की कोटि में रखा जा सकता है।........"
  —नीरज जैन, सतना (म. प्र.)